# गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थ

•

सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
पं० जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री
प्रो० दरबारीलाल कोठिया आचार्य
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, डी० लिट्

•

प्रकाशक
अ० भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्

प्रकाशक
मंत्री, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्

◆

प्राप्ति-स्थान
मंत्री अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कार्यालय, वर्णीभवन,
सागर ( म० प्र० )

◆

मुख्य-वितरक
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,
चमेली-कुटीर,
डुमरावबाग, अस्सी, वाराणसी—५

◆

प्रथम संस्करण
१९६७
मूल्य बीस रुपये

◆

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
बी० २०/४४, भेलूपुर, वाराणसी-१

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्यायवाचस्पति गुरुवर्य गोपालदासजी वरैया

# स म र्प ण

प्रथम जन्म की शती तुम्हारी, प्रथम तुम्हारी अर्चा;<br>
जग-जीवन के श्वास श्वास में, दिव्य तुम्हारी चर्चा।<br>
स्याद्वादाम्बुधि! देव! वादिगज-कण्ठीरव! बुधवन्दित;<br>
शिष्य-प्रशिष्य जनों की कृति यह, सादर तुम्हें समर्पित॥

# प्रकाशककी ओरसे

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति श्रीमान् पं० गोपालदासजी बरैयाके असीम उपकारोंसे जैन समाज अत्यन्त उपकृत है। जिस समय जैन समाजमें एक भी विद्यालय ऐसा न था, जो जैन सिद्धान्तके उच्चतम ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी व्यवस्था कर भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्य देशनाका प्रसार कर रहा हो, उस समय स्वान्त: करणकी प्रबल प्रेरणासे बरैयाजीने किसी गुरुकी सहायताके बिना ही स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञानको इतना वृद्धिगत कर लिया था कि वे विद्वत्परम्पराके स्वयंबुद्ध गुरु हो गये। वे अप्रतिम प्रतिभा और अपरिमित वाक्कौशलके धनी थे। उन्होंने उच्चकोटीके धर्मग्रन्थोंके पठन-पाठनको प्रारम्भकर जैनसिद्धान्तके ज्ञाता वर्तमान विद्वानोंकी पीढ़ीको जन्म दिया। आपकी शिष्यपरम्परामें आज ऐसे विद्वान् हैं जो उच्चकोटीके साहित्य निर्माता, व्याख्याकार, कुशलवक्ता एवं सुलेखक माने जाते हैं। आपने अपना व्यापारिक कार्य करते हुए नि:स्वार्थभावसे स्थान-स्थानपर जाकर जैन सिद्धान्तकी दुन्दुभि बजाई थी तथा अजमेरमें आर्यसमाजसे शास्त्रार्थकर जैनधर्मकी विजय-वैजयन्ती फहराई थी।

इस लोकोत्तर विभूतिके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना कर्तव्य समझकर भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्ने अपने सिवनी अधिवेशनमें निमाङ्कित प्रस्ताव पारित किया था—

"वर्तमान विद्वत्समाजके साक्षात् या परम्परा विद्यागुरु गोपालदासजी बरैयाका न केवल विद्वत्समाज पर किन्तु समस्त जैन समाजपर महान् उपकार है। आगामी चैत्र कृष्ण १२ वि० सं० २०२३ में उनकी सौवीं जयन्ती आनेवाली है अत: विद्वत्परिषद् उस अवसरपर पूज्य गुरुजीकी जन्मशताब्दी मनानेकी समाजसे अपील करती है तथा गुरु गोपालदास जन्मशताब्दी स्मारिका प्रकाशित करनेका संकल्प करती है और विद्वानोंसे उसमें सहयोगका अनुरोध करती हुई उसके संपादनार्थ निम्नलिखित विद्वानोंकी उपसमिति नियुक्त करती है—

१. श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर
२. श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी
३. श्री डा० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, आरा
४. श्री पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, एम० ए०, वाराणसी
५. श्री पं० जगमोहनलालजी शास्त्री, कटनी

उक्त प्रस्तावके अनुसार शताब्दी समारोह मनाने और श्री गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी योजनाका प्रसार समाजमें किया गया। प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि समाजने इन दोनों योजनाओंको क्रियान्वित करनेमें अच्छी अभिरुचि दिखलाई। उस अभिरुचिके अनुरूप ही इस स्मृति ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है। इस ग्रन्थमें पूज्य बरैयाजीसे सम्बद्ध जैन समाजका तत्कालीन इतिहास, उनके साहित्यका परिचय तथा उनके लेखों आदिका संकलन तो है ही, उसके साथ धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास तथा पुरातत्व आदि विषयों पर उच्चकोटीके लेखकोंके द्वारा लिखित श्रेष्ठ लेखोंका संकलन भी है। इस ग्रन्थके संपादनमें श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य, एम०ए० पी० एच० डी०, डी० लिट् संस्कृत प्राकृत विभागाध्यक्ष हरप्रसाद दास जैन कालेज आरा तथा पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, प्राध्यापक जैनदर्शन, काशी विश्वविद्यालयने पर्याप्त श्रम किया है तथा उपसमितिके अन्य विद्वानोंने भी यथाशक्य सहकार दिया है। इसके लिये भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी इन विद्वानोंके प्रति नम्र आभार प्रदर्शित करती है। जिन विद्वानोंने अपने लेख तथा श्रद्धा-ञ्जलियाँ भेजकर ग्रन्थकी गरिमा बढ़ाई है और जिन विद्वानों तथा धीमानोंने औदार्यपूर्ण आर्थिक सहयोग देकर इसकी प्रकाशन व्यवस्थाको सुकर बनाया है उन सबके प्रति विद्वत् परिषद्की कार्यकारिणी हार्दिक आभार प्रकट करती है। किसी भी सम्पादक या लेखकने पारिश्रमिकके रूपमें एक पैसा भी नहीं लिया है। आर्थिक सहयोग दाताओंकी सूची अलगसे दी गई है।

उसी सिवनी अधिवेशनमें यह प्रस्ताव भी पारित किया गया था कि उच्चकोटीके साहित्य निर्माणको प्रेरणा देने तथा सुलेखक विद्वानोंका सम्मान करनेके लिये प्रति दो वर्षोंमें एक-एक हजार रुपयोंके 'बरैया पुरस्कार' और 'वर्णी पुरस्कार' चालू किये जावें। प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि इस कार्यके लिये श्रावकशिरोमणि दानवीर साहु शान्तिप्रसाद

जीकी ओरसे १०००) वार्षिकका आर्थिक सहयोग विद्वत्परिषद्के लिये प्राप्त हुआ है तथा निश्चयानुसार प्रथम बरैया पुरस्कार इस वर्ष दिया जा रहा है। अग्रिम वर्ष वर्णी पुरस्कार दिया जावेगा। इस औदार्यपूर्ण सहयोगके लिये भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् साहूजीके प्रति नम्र आभार प्रदर्शित करती है।

स्मृति ग्रन्थ सिर्फ ८०० छपाये गये हैं। आर्थिक सहयोग कर्ताओं, लेखकों तथा सम्माननीय व्यक्तियोंको समर्पित करनेके बाद शेष ग्रन्थोंकी बिक्रीसे जो द्रव्य वापिस आवेगा उसे बरैया स्मारक निधिमें जमा किया जावेगा और इसकी आयसे कार्यकारिणीकी आज्ञानुसार साहित्य प्रकाशन आदि कार्य किये जावेंगे।

अन्तमें महावीर प्रेसके मालिक श्रीबाबूलालजी फागुल्लके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने सीमित समयमें सुन्दर रीतिसे इस ग्रन्थका प्रकाशन किया है।

सागर
चैत्र कृष्णा १२, वि० सं० २०२३
वी० नि० २४९४

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य
मंत्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
( कार्यालय-वर्णीभवन, सागर )

# सम्पादकीय

**ज्ञानी के पूजन-वन्दन में, सदा ज्ञान की पूजा होती।**
**ज्ञानी की वाणी से झरते अमल ज्ञान के मोती ॥**

सौन्दर्य और उपयोगिताकी भावनाने रागात्मक अभिव्यञ्जनाके क्षेत्रको इस वर्तमान युगमें पर्याप्त विस्तृत किया है और इस विस्तारभावनाके फलस्वरूप साहित्य जगत्में रिपोर्ताज, वैयक्तिक निबन्ध, अभिनन्दन-ग्रन्थ एवं स्मृति-ग्रन्थ आदि नयी विधाओंका प्रादुर्भाव हुआ है। अभिनन्दन अथवा स्मृति-ग्रन्थ प्राचीन किस साहित्य-विधासे सम्बद्ध हैं, इस प्रश्नका उत्तर सन्तोषजनक नहीं मिलता। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दिमें कुछ ऐसे प्रबन्ध संग्रह लिखे गये, जो एक प्रकारसे अभिनन्दन या स्मृतिग्रन्थोंकी पूर्वज साहित्यविधाके अन्तर्गत समाविष्ट हो सकते हैं। संस्कृतके क्रोड-पत्र भी प्रकारान्तरसे अभिनन्दन ग्रन्थोंके पूर्वरूप माने जा सकते हैं, अतएव अभिनन्दन या स्मृतिग्रन्थोंकी वर्त्तमान परम्परा प्राचीन प्रबन्ध-संग्रहका नया चोला धारण कर अभिनवरूपमें प्रस्तुत हुई है। सत्य यह है कि मानवताका इतिहास केवल स्थूल जगत्के उपकरणोंसे निर्मित नहीं होता; उसपर अन्तर्जगत्का भी प्रभाव पड़ता है, जिससे भव्य-भावनाएँ और ललित कल्पनाएँ शत-शत रूप धारण कर प्रकाश पुञ्जोंकी भाँति जगमगाती रहती हैं, तथा जीवनकी आकाश गंगामें सौन्दर्य-कमल विकसित हो, समाजके लिए नये मूल्याङ्कन स्थापित करते हैं। समाज व्यक्तिके व्यक्तित्वमें गुणविस्तार भावनाका आरोप कर व्यक्तिके द्वारा गुणोंकी मान्यता प्रतिष्ठित करता है। इसीके फलस्वरूप अभिनन्दन या स्मृति-ग्रन्थोंका प्रणयन इस बीसवीं शताब्दिमें होता आ रहा है।

'गुणा पूजास्थानं'का जीवन-मूल्याङ्कन सम्बन्धी सिद्धान्त बहुत पुराना है। सेवा, दान, शिक्षा, साहित्य-प्रणयन, संयम, त्याग ऐसे जीवनमूल्य हैं जिनके सद्भावसे व्यक्तिके व्यक्तित्वको भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। त्याग और सेवाके समक्ष सामान्य हृदयकी तो बात ही क्या, क्रूर और कठोर हृदयको भी झुकना पड़ता है। फलत. जिन पुण्य-व्यक्तियोंने अपने जीवनमें त्याग और सेवाके कार्य सम्पन्न किये हैं, अपनी महत्त्वाकाक्षाओंको समाज या देशकी महत्त्वाकाक्षाओंके रूपमें परिवर्तित कर दिया है, ऐसे व्यक्तियोंका सम्मान कर हृदयको सन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है। निश्चयत. कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनका आदान भी समाज निर्माणके लिए ही होता है। जीवन या समाजोत्थानके लिए वे कतिपय नये प्रतिमानोंकी स्थापना करते हैं जिन प्रतिमानोंका उत्तरवर्त्ती समाज अवलम्बन कर अपने कार्यकलापोंको स्वस्थ और सबल बनाता है, साथ ही भावी समाजके हेतु जीवनमूल्योंका संशोधन प्रस्तुत करता है। अतः पूज्य, त्यागी, सेवाभावी, ज्ञानी एवं अन्य महत्त्वपूर्ण गुणोंसे युक्त व्यक्तिका सम्मान सत्कार करना मानवताको शाश्वतिक बनाये रखनेका एक लघुतम उपाय है।

जहाँ तक हमें स्मरण है, हिन्दी साहित्यमें सर्वप्रथम अभिनन्दन ग्रन्थ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीको उनके त्याग और सेवाओंके उपलक्षमें समर्पित किया गया। इसके पश्चात् तो 'हरिऔध-अभिनन्दन ग्रन्थ', 'राजेन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' आदि शतश अभिनन्दन ग्रन्थोंकी परम्परा चली है। जैन समाजमें प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थके पश्चात् वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, सेठ हुकुमचन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ आदि कई अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। स्मृति ग्रन्थोंमें महावीर स्मृतिग्रन्थ, भिक्षु-स्मृतिग्रन्थ, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, तनसुखराय स्मृतिग्रन्थ प्रभृति स्मृतिग्रन्थोंकी भी परम्परा उपलब्ध है।

गुरु गोपालदास त्यागी, कर्मठ, नैष्ठिक, सत्यशोधक, विद्वान् कुशलवक्ता, सुलेखक एवं युगनिर्माता तथा सफल अध्यापक थे। उनकी ज्ञानज्योतिको प्राप्त कर ही आज जैन विद्याके ज्ञाता विद्वान् दिखलायी पड़ रहे हैं। वे ऐसे प्रकाश-पुञ्ज थे जिन्होंने अपने आलोकसे समाजकी सभी दिशाओंको भर दिया। उन पारसमणिका स्पर्श पा कितने सोना बन गये। अतएव इस शताब्दिके परोपकारी गुरु गोपालदास की स्मृतिको धरोहरके रूपमें संजोए रखना प्रत्येक सदस्यका सामाजिक दायित्व है।

फरवरी १९६५ में सिवनीमें पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाके अवसर पर व्याकरणाचार्य पण्डित बंशीधरजी शास्त्री, बीनाकी अध्यक्षतामें दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशनमें सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसीने गुरु गोपालदासके महनीय कार्यों और सेवाओं पर प्रकाश डालते हुए गुरु गोपालदास शताब्दि समारोह

मनानेका प्रस्ताव उपस्थित किया जो सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ। इस प्रस्तावका एक अंश गुरुजीकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें 'स्मारिका' प्रकाशित करनेका भी था। उक्त 'स्मारिका' के सम्पादन हेतु एक सम्पादक-मण्डल सुगठित किया गया।

दिसम्बर १९६५ में दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्की कार्य समिति की बैठक वाराणसीमें सम्पन्न हुई। इसी अवसर पर 'स्मारिका' के सम्पादक मण्डलकी भी बैठक हुई। उक्त बैठकमें निश्चय किया गया कि गुरु गोपालदासजीके व्यक्तित्व और सेवाओंकी तुलनामें स्मारिकाका प्रकाशन बहुत ही हल्का पड़ेगा, अतएव एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय, जो गुरुजीकी सेवाओंके अनुरूप हो। इस स्मृतिग्रन्थकी रूपरेखाके निर्माणका भार डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, आराको सौंपा गया। फलतः उन्होंने शीघ्र ही एक रूपरेखा सम्पादक मण्डलके समक्ष प्रस्तुत की, जो सर्वसम्मतिसे स्वीकृत की गयी और जिसका प्रकाशन तथा वितरण आरासे किया गया। यह रूपरेखा ६ खण्डोंमें विभक्त थी—

१. जीवन परिचय, संस्मरण और श्रद्धाञ्जलियाँ।
२. गुरु गोपालदासजीके निबन्ध, कार्य-प्रवृत्तियाँ एवं उनकी रचनाओंका अनुशीलन।
३. जैन समाजका एक सौ वर्षोंका इतिहास और गुरुगोपालदासजीकी उसको देन।
४. धर्म और दर्शन।
५. साहित्य और संस्कृति।
६. इतिहास, पुरातत्त्व और कला।

उक्त रूपरेखाके आधार पर विद्वानोंसे संस्मरण, निबन्ध, श्रद्धाञ्जलियाँ आदि भेजनेके लिए अनुरोध किया गया। प्रायः समस्त विद्वद्वर्गने उस रूपरेखाका स्वागत किया और अपनी रचनाएँ भेजनेका आश्वासन भी दिया।

विद्वत्परिषद्के कार्यालयसे श्रीमानों द्वारा आर्थिक सहयोग प्राप्त करनेकी विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी। इस विज्ञप्तिके फलस्वरूप समाजके गणमान्य श्रीमान् उदारदानियोंने आर्थिक सहायता प्रेषित की।

इस प्रकार धीमन्त और श्रीमन्त दोनोंका सहयोग हमें इस स्मृति-ग्रन्थके प्रकाशनमें प्राप्त हुआ। कई महानुभावोंने तो हमारे इस कार्यकी पर्याप्त प्रशंसा की जिससे हमें इस कार्यके सम्पन्न करनेमें कई गुना उत्साह प्राप्त हुआ।

स्मृति-ग्रन्थ सम्बन्धी सामग्रीके सङ्कलनके अनन्तर जब उसका वर्गीकरण किया जाने लगा, तो निर्धारित रूपरेखाके अनुसार उक्त षट्खण्डोंकी सामग्री अत्यल्प दिखलायी पड़ी। फलतः सम्पादक मण्डलने प्राप्त सामग्रीको निम्नलिखित चार वर्गोंमें विभक्त किया—

१. सन्देश, सन्तोंके आशीर्वाद, जीवन-परिचय, संस्मरण, एवं श्रद्धाञ्जलियाँ।
२. प्रवृत्तियाँ, विचार, गुरुजीके स्फुट निबन्ध एवं उनकी रचनाओंका अनुशीलन।
३. धर्म और दर्शन।
४. साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति।

प्रथम खण्डकी सामग्रीके सङ्कलन-हेतु पर्याप्त प्रयास करना पड़ा है। यद्यपि इस खण्डकी जीवन-परिचय और संस्मरण सम्बन्धी कुछ सामग्री श्री कपूरचन्द जैन बरैया, एम० ए० लश्कर (ग्वालियर) ने संकलित की है। उन्होंने अपनी इस सङ्कलित सामग्रीको श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनीको प्रकाशनार्थ सुपुर्द किया था। लश्करमें सम्पन्न होनेवाली गुरु गोपालदास बरैया जयन्तीके अवसर पर उक्त पण्डितजीकी अध्यक्षतामें 'स्मारिका' प्रकाशित करनेका प्रस्ताव हुआ था। इसी प्रस्तावके आधार पर श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री उक्त सामग्रीको अपने पास प्रकाशनार्थ सुरक्षित रखे हुए थे; पर जब विद्वत्परिषद्के सभा-मञ्चसे ग्रन्थ प्रकाशनका प्रस्ताव पारित हुआ, तो उन्होंने उक्त सामग्री श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य वाराणसीको सौंप दी। विद्वानों एवं गणमान्य व्यक्तियोंसे सन्देश शुभकामनाएँ एवं श्रद्धाञ्जलियाँ एकत्र करनेमें डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने पर्याप्त श्रम किया। जो सामग्री श्री कपूरचन्दजी द्वारा सङ्कलित की गयी थी, उसका भी यथेष्ट सम्पादन कर उसे नया ही रूप दे दिया गया।

द्वितीय खण्डकी सामग्रीके सङ्कलनमें जैन-मित्र, जैन-गजट एवं अन्य प्राचीन पत्र-पत्रिकाओंसे यथेष्ट सहायता ग्रहण की गयी है। गुरु गोपालदासजीके जो फुटकर निबन्ध 'जैन हितैषी' एवं 'जैनमित्र' आदि पत्रिकाओंमें तथा पृथक् ट्रैक्टके रूपमें प्रकाशित हुए थे, उनका चयन बड़ी ही सतर्कतापूर्वक किया गया है। जिन निबन्धों और रचनाओंमें गुरुजीने बड़े-बड़े सैद्धान्तिक विषयोंको संक्षेपमें निबद्ध किया था; उन्हीं निबन्धोंको इस ग्रन्थमें प्रकाशित किया गया है। गुरुजीके ये निबन्ध किसी एक स्थानपर उपलब्ध भी न थे। अतः उपयोगिताकी दृष्टिसे इन निबन्धोंका मूल्य अनल्प है। गुरुजीकी कार्य

प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थीं, उन्होंने साहित्य-सृजन, शिक्षा-प्रचार, धर्म-प्रचार, समाज-जागरण, परीक्षालय-स्थापन आदि अनेक कार्योंको अपने अल्प-जीवनमें ही सम्पन्न किया। वास्तवमें गुरुजी व्यक्ति नहीं एक संस्था थे। उनके समस्त कार्यों और प्रवृत्तियोंका मूल्याङ्कन प्रस्तुत करना सामान्य कार्य नहीं। अतएव सम्पादकमण्डलने उनकी विभिन्न कार्य-प्रवृत्तियोंको संक्षेपमें सङ्कलित करनेका आयास किया है।

गुरुजीकी बड़ी रचनाओंमें तीन ग्रन्थ ही उल्लेख्य हैं—(१) सुशीला उपन्यास (२) जैनसिद्धान्त दर्पण एवं (३) जैनसिद्धान्त प्रवेशिका। इन तीनों रचनाओंका अधिकारी विद्वानों द्वारा अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इस अनुशीलनसे गुरुजीकी सृजनात्मक प्रज्ञाका भलीभाँति परिचय प्राप्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि गुरु गोपालदासजी सभी दृष्टिकोणोंसे युगनिर्माता थे। उनकी रचनाएँ भी दर्शन, धर्मशास्त्र कथात्मक-प्रज्ञाकी सूचक हैं।

तृतीय खण्ड धर्म और दर्शन संज्ञक है। इस खण्डमें जैन-धर्म और जैनदर्शन सम्बन्धी बाईस निबन्ध सङ्कलित हैं। इन निबन्धोंमेसे कई निबन्ध मौलिक विचारपूर्ण सामग्रीसे युक्त हैं। सम्पादक-मण्डलने विशेषतया डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने इस तृतीय खण्डके निबन्धोंके सङ्कलनमें पूरा प्रयास किया है। डा० रामजीसिंहके 'ज्ञानकी सीमा और सर्वज्ञताकी सम्भावना' शीर्षक निबन्धमें एक विचारणीय प्रश्न आया है। इस प्रश्न पर चिन्तकोंको अवश्य ऊहापोह करना चाहिये। प्रश्न है कि जैन तार्किक समन्तभद्रने सर्वज्ञसिद्धिके लिए 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है और अकलङ्कने 'प्रमेयत्व' हेतु। इन दोनों हेतुओंके प्रयोगमें कुछ अन्तर है या नहीं। निबन्ध लेखकने समन्तभद्रके हेतुकी अपेक्षा अकलङ्कके प्रमेयत्व हेतुको अधिक तर्कसङ्गत माना है। उनका अभिमत है कि हेतु ऐसा होना चाहिये, जो वादी, प्रतिवादी दोनोंको मान्य हो। अनुमेयत्व हेतु सर्वज्ञत्वके प्रतिवादी मीमांसकको मान्य नहीं; क्योंकि मीमांसक समस्त पदार्थोंका अवगम आगमसे मानता है, अनुमानसे नहीं। इसी प्रकार सर्वज्ञका प्रतिपक्षी चार्वाक भी अनुमानको प्रमाण नहीं मानता। अतएव इन दोनों प्रतिपक्षियोंकी दृष्टिमें 'अनुमेयत्व' हेतु अमान्य है। इस प्रकार समन्तभद्रका अनुमेयत्व हेतु वादीको तो सिद्ध है, पर प्रतिवादियोंको नहीं। अकलङ्क देव द्वारा प्रयुक्त प्रमेयत्व-हेतु वादी और प्रतिवादी दोनोंको ही मान्य है। समस्त सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रमेय हैं और प्रमेय होनेसे वे किसीके भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। जैसे घट पट आदि पदार्थ प्रमेय होनेसे हमारे प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार लेखकने विचारके लिए कुछ नये प्रश्न उपस्थित किये हैं।

'देवागमका मूलाधार' शीर्षक निबन्धमें प्रो० दरबारीलाल कोठियाने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गलश्लोकको आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा रचित सिद्ध किया है। यद्यपि यह चर्चा बहुत नयी नहीं है, इसके पूर्व भी इस मङ्गलश्लोक पर विचार-विनिमय प्रस्तुत किया गया है, तो भी विद्वानोंके विचारार्थ उन्होंने उस पुराने प्रश्नको नये समाधानोंके साथ निबद्ध कर चिन्तनकी दिशाको एक नया मोड़ दिया है।

'णमोकार मन्त्र' के पाठालोचनमें 'अरहन्त' पद पर नया प्रकाश डाला गया है। लेखकने वर्त्तमानमें प्रचलित 'अरिहन्त' पदकी समीक्षा करते हुए बताया है कि 'अरि' शब्दमें निहित इकार शक्ति बोधक बीज है, और इसका व्यवहार उस शक्तिके लिए किया गया है, जो लौकिक कामनाओंको पूर्ण करने वाली होती है। इसी प्रकार 'अरुहन्त' पदमें निहित रकारोत्तरवर्त्ती उकार उद्वेग या स्तम्भनबीज है। अतएव उक्त दोनों पदोंका प्रयोग छठवीं सातवीं शतीमें उस समय प्रचलित हुआ होगा, जब मारण, मोहन और उच्चाटनकी विधियाँ प्रचलित हो चुकी थीं। गुप्तकालमें जब संस्कृतियोंका समन्वय हुआ; तो जैन-वाङ्मयमें उक्त बीजाक्षर प्रविष्ट हुए और मङ्गलमन्त्रमें उनका अध्याहार हो गया। खारवेलके शिलालेखमें तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियोंमें 'अरहन्त' पद ही उपलब्ध होता है। कुलार्णव तन्त्रमें 'अ' कल्याण-बीज; 'इ' शक्ति-बीज, और 'उ' को उद्वेग-बीज कहा है। अतः यह निबन्ध भी चिन्तनके क्षेत्रमें एक नयी दिशाकी ओर ले जाता है।

'जैनधर्म और दर्शन : संक्षिप्त इतिवृत्त' ( ई० पू० २७०–३०० ) में रत्नकारण्डश्रावकाचारमें आये हुए मूलगुण बोधक पद्यको प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यह निबन्धांश भी विद्वानोंके लिए विचारोत्तेजक है।

'देवदर्शनमें प्रयुक्त प्रतीक' शीर्षक निबन्धमें प्रतीकोंका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। इस निबन्धमें पर्याप्त ज्ञातव्य सामग्री है।

'अमराविक्खेपवाद और स्याद्वाद'का तुलनात्मक अध्ययन भी पठनीय है। 'जैनदर्शनमें नयवाद' शीर्षक निबन्धमें की गयी नयमीमांसा ज्ञान वर्द्धक है। शेष निबन्ध भी अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे लिखे गये हैं और उनमें भी पर्याप्त उपयोगी सामग्री है।

चतुर्थखण्ड साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति शीर्षक है। इस खण्डके लगभग सभी निबन्ध विशिष्ट दृष्टिकोणोंसे लिखे गये हैं और उनमें प्रचुर अध्ययनीय सामग्री है। 'गद्यचिन्तामणि : परिशीलन' शीर्षक निबन्धमें कथावस्तुके गठन पर जिन प्रवृत्तियों और तत्त्वोंका निर्देश किया गया है, वे अन्य कथा ग्रन्थोंके अध्ययनके लिए प्रतिमान हैं। प्रत्येक

अध्येता नवीन सामग्री प्राप्त करेगा। 'महाकवि धनपाल और उनकी तिलकमञ्जरी' शीर्षक निबन्धमें तिलकमञ्जरीका तुलनात्मक विश्लेषण एवं उसकी विशेषताएँ स्वस्थ अध्ययनकी सामग्री है। 'अपभ्रंश दोहा साहित्य : एक दृष्टि' शीर्षक निबन्धमें अपभ्रंश दोहा साहित्यका संक्षिप्त विवेचन और विविध विषयक दोहोंका विषय प्रतिपादन ज्ञातव्य सामग्रीमें परिगणित है। 'मोहन बहोत्तरी' और अणथमिउकहा' ये दोनों रचनाएँ अप्रकाशित है। 'मोहन बहोत्तरीके काव्य सौष्ठवका परिचय भी कुन्दनलालजीने विद्वत्तापूर्ण उपस्थित किया है। प्रो० डा० राजाराम जैनने अणथमिउकहा' का काव्य-सौष्ठव प्रतिपादित कर पाण्डुलिपि भी प्रकाशित की है। महाकवि रइधूने जहाँ बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्योंका सृजनकर जैन वाङ्मयको समृद्ध किया है, वहाँ "अणथमिउकहा" जैसी लघुकाय कृतियाँ भी लिखी हैं। डा० जैनने इस कृतिका बहुत सुन्दर ज्ञातव्य तथ्योंसे परिपूर्ण परिचय प्रस्तुत कर चिन्तनकी दिशाको कुछ नये तथ्य प्रदान किये हैं। इस खण्डका शोधपूर्ण ऐतिहासिक निबन्ध आचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्यका है जिसमें पण्डित आशाधरकी कृतियोंमें समाहित लेखक और आचार्योंको प्रकाशमें लानेका सर्वप्रथम प्रयास किया है। इस निबन्धमें ज्ञात आचार्योंके अतिरिक्त-अनेक अज्ञात विद्वान् मनीषियोंके सम्बन्धमें भी निर्देश आये हैं। इन अज्ञात लेखकोंके व्यक्तित्व और कृतित्वके सम्बन्धमें अन्य तथ्य ज्ञात करना अन्वेषण की दिशाको प्रगति देना है। 'आगरामें निर्मित वाङ्मय' शीर्षक निबन्धमें आगराकी उर्वर साहित्य भूमिका अतीत अङ्कित किया गया है। आश्चर्य यह है कि जिस भूमिका अतीत इतना गौरवमय हो वह भूमि आज अपनी थाती गुरुगोपालदास जैसे महनीय व्यक्तित्व को भी भूल रही है। काश, इस बञ्जरभूमिको सिञ्चित करनेका कार्य कोई प्रतिभाशाली मनीषी सम्पन्न कर सके तो फिरसे गुरु गोपालदास की यह भूमि शिष्योंकी और मनीषियोंकी परम्परा को समृद्ध बनानेमें सक्षम हो सकेगी।

इतिहास उपखण्डमें "बिहारमें मध्यकालीन जैन-धर्मकी स्थिति : संक्षिप्त इतिवृत्त" शीर्षक निबन्धमें अनेक ज्ञातव्य तथ्य तो हैं ही, साथ ही जिनसेनाचार्यकी कर्मभूमि और उपदेश भूमि बिहारको सिद्ध कर विचारके लिए नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। जैनमूर्ति कलापर श्री नीरज जैनका निबंध भी पठनीय है। सांस्कृतिक दृष्टिसे लिखे गये निबंधोंमें प्रो० रामनाथ पाठक'प्रणयी' का "मैथिली-कल्याण नाटकमें प्रतिपादित संस्कृति" शीर्षक निबन्ध महत्त्वपूर्ण है। जैन चित्र-कला : संक्षिप्त सर्वेक्षण" में जैन चित्रकलाका इतिवृत्त भी ज्ञातव्य तथ्योंसे परिपूर्ण है। प्रो० श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, सागर विश्वविद्यालयका "मथुराका कङ्काली टीला : एक अनुशीलन" शीर्षक निबन्ध लघुकाय होने पर भी पठनीय है। श्री डा० ज्योतिप्रसाद जैनने 'जैन इतिहासके उपकरणों पर जो प्रकाश डाला है, वह भी श्लाघनीय है।

## आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थके समस्त लेखकों, श्रद्धाञ्जलि एवं शुभ कामना प्रेषकों तथा सफलताके लिए शुभसन्देश भेजने वालोंके प्रति सम्पादक-मण्डल आभारी है। विद्वान् मनीषियोंके सहयोगसे ही यह प्रयास सम्पन्न हो सका है।

इस स्मृति ग्रन्थके संयोजनमें कतिपय महानुभावोंने सम्पादक मण्डलको विशेष सहयोग प्रदान किया है। अत उन महानुभावोंके प्रति विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करना परमावश्यक है। ग्रन्थकी साजसज्जा स्वच्छ कलापूर्ण मुद्रण, गेट-अप जिल्द प्रभृति समस्त उपकृत्योंको श्री महावीर प्रेसके सञ्चालक भाई बाबूलाल जैन फागुल्लने किया है। उनकी तत्परता एवं लगनने इस ग्रन्थको समयपर प्रकाशित करनेके लिए सम्पादकमण्डलको पर्याप्त उत्साहित किया है। अतः श्री फागुल्लजीके प्रति सम्पादक-मण्डल आभार व्यक्त करता है। फागुल्लजीको मुद्रण सम्बन्धी सूझबूझ उच्चकोटिकी है।

सामग्री सङ्कलनमें सहयोग प्रदान करनेवाले व्यक्तियोंमें हम श्री कपूरचन्द जैन बरैया एम० ए० के प्रति अपना आभार व्यक्त करते है, जिनके प्रयाससे हमें जीवन परिचय सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हुई।

रचनाएँ प्राप्त करनेके हेतु पत्राचार करनेमें प्रो०डॉ० राजाराम जैन एवं उदीयमान प्रो०कृष्णमोहन अग्रवालसे पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है। अधिकांश निबन्धोंको संशोधन कर पुनः लेखनका कार्य सम्पन्न करना पड़ा। इस कार्यमें प्रो० अग्रवालसे सर्वाधिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अतएव सम्पादक मण्डल दोनों युवक प्रोफेसरोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

सम्पादकोंका काम उस पाचकका है जो स्वादिष्ट व्यञ्जन उपभोक्ताओंके समक्ष प्रस्तुत कर उनकी रसज्ञता द्वारा ही अपने कार्योंका मूल्याङ्कन प्राप्त करता है। अन्तमें हम उस महान् आत्माके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति समर्पित करते हैं जिनकी ज्योतिसे आज जैन विद्वत्परम्परा उद्भासित हो रही है और जिनकी स्मृतिमें यह ग्रन्थ निर्मित हुआ है—

हम अनन्ततक सदा तुम्हारा गायेंगे यश-गीत।<br>
हम अनन्ततक सदा तुम्हारे चरणों में सुविनीत॥

चैत्र कृष्णा द्वादशी, २०२३

सम्पादकमण्डल

# विषयक्रम



## प्रथम खण्ड

### जीवन परिचय



### संस्मरण



### श्रद्धाञ्जलियाँ

# द्वितीय खण्ड

## प्रवृत्तियाँ



## विचार

## निबन्ध



## रचनाओंका अनुशीलन



# तृतीय खण्ड

## धर्म और दर्शन

# चतुर्थ खण्ड

## साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति



●

# कतिपय सन्देश

SECRETARY TO THE PRESIDENT OF INDIA
RASTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI

The President is glad to know that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad will shortly celebrate the centenary of the birth of Shri Gopaldas Baraiya. He sends his best wishes on the occasion.

**Y.D Gundevia**

VICE PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

I am happy to learn of the Centenary Celebrations of Shri Guru Gopaldas Baraiya, a renowed scholar of 19th Century, organized in a befitting manner by the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad. I send my best wishes for the success of the Centenary Celebrations.

**Zakir Hussain**

RAJ BHAVAN
PATNA

Shri M. Anantasayanam Ayyangar, Governor of Bihar welcomes the proposal to celebrate in the month of Chaitra the Centenary of Guru Gopaldas Bariaya. He was a great scholar and was the founder progenitor of a new school of studies in the most literary tradition of the other languages. His contribution in the literary and social sphers is great and will stand for all time. He wishes the Celebration every success.

GOVERNOR'S CAMP,
UTTAR PRADESH.
LUCKNOW.

With reference to your letter dated September 30, 1965, I am desired to say that the Governor is glad to know that the birthday centenary celebrations of Guru Gopaldas Bariaya is being held at Agra

The Governor sends his best wishes for the success of the celebrations.

**B. Dey**
Assistant Secretary Uttar Pradesh.

RAJ BHAVAN,
BHOPAL

I am glad to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to celebrate the centenary of Guru Gopaldas Bariaya, one of the pioneering scholars of India in Sanskrit, Prakrit and Apabhransa.

I send my best wishes for the function and offer at the same time my own homage to the great scholar.

**K.C. Reddy**
Governor
Madhya Pradesh.

MINISTER OF
LABOUR AND EMPLOYMENT
NEW DELHI

I am glad to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad is going to observe centenary celebrations of Guru Gopaldas Bariaya.

Guru Gopaldas was an institution in himself. He was a versatile genius and had great love for Sanskrit. He brought Jain literature into limelight and made it popular.

I wish the Centenary Celebrations all success.

**Jagjiwan Ram**

HOME MINISTER
INDIA.
NEW DELHI
October 29, 1965.

I am glad to know that it has been decided to observe Shree Guru Gopaldas Bariaya Centenary Celebrations and to bring out a commemoration volume on this occasion. Guru GopaldasJi's contribution in the literary and social spheres and especially in the study of Sanskrit has been commendable.

I wish the function all success.

**G. L. Nanda**

MINISTER OF COMMUNICATIONS
AND PARLIAMENTARY AFFAIRS,
NEW DELHI.

I am glad to know that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to observe the centenary celebrations of Shree Guru Gopaldas Bariaya in the month of Chaitra of 2023 Vikramiya.

I send my best wishes for the success of the function.

**S. N. Sinha**

MINISMER OF STATE FOR RAILWAYS
INDIA
NEW DELHI

I am glad to know that Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to observe Shri Guru Gopaldas Bariaya's Centenary Celebrations in the month of Chaitra-2023 Vikramiya.

Shri Guru Gopaldas Bariaya is held in great reverence for his unique services in literary and social fields. He was an enlightened soul and his contributions towards the Sanskrit education and Jain literature was commendable.

I wish the Centenary Celebrations all success.

**Ram Subhag Singh**

MINISTER
EDUCATION AND FORESTS
MAHARASHTRA
Sachivalaya, Bombay-32

I am glad to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to observe Shri Guru Gopaldas Bariaya's Centenary Celebrations in Chaitra of 2023 Vikaramiya and that it is publishing a commemoration volume on the occasion.

Shri Guru Gopaldas Bariaya is one of the pioneering scholars of the nineteenth century and has made valuable contributions to Sanskrit and Prakrit literature. He took a keen interest in the advancement of Sanskrit education and literature. He was a devout worker, truth seeker, a great scholar, orator and a successful teacher.

Sanskrit, Pali, Prakrit are classical languages in which most of our ancient books are written which give a glimpse of Indian culture and civilization. It is in the fitness of things that Shri Guru Gopaldas's teachings are made known to the coming generations so that they could derive inspiration from his life and work.

I send my good wishes for the success of the celebrations and publication.

**M. D. Chaudhari**

CHIEF MINISTER
WEST BENGAL
CALCUTTA

The Digambar Jain Vidwat Parishad is shortly celebrating the centenary of Guru Gopaldas Bariaya, a Jain scholar, greatly honoured in his times for literary studies and interpretation of religious thought.

In India we look forward to the past that is, our glorious heritage, our inspiration to-day and our promise of a peaceful and prosperous to-morrow, both in the realm of matter and spirit.

**P. C. Sen**

CHIEF MINISTER,
PUNJAB.

I am glad to know that the "Indian Digambar Jain Vidwat Parishad" has decided to observe Centenary celebrations in a befitting manner to pay homage to the great Shree Guru Gopaldas Bariaya. It is indeed an excellent idea to bring out a commemoration volume on the occasion as a humble tribute to the great son of India.

The services of the Reverened Guru towards the advancement of Sanskrit education and Jain literature are well known. The nation will always remember him with gratitude as a devout worker, truth seeker, a great scholar, orator, author, teacher and a maker of history.

I send my good wishes on the occasion.

**Ram Kishan**

MINISTER,
EDUCATION DEPARTMENT, PUNJAB
CHANDIGARH

The greatest heroes of India are not warriors. Throughout the length and breadth of this ancient country our places of worship are those which have been haloed by pious men who dedicated their lives for the good of mankind. In Indian history the last century is truly an era of renaissance. It gave birth to scores of great souls who kindled a new spirit in the country. The seeds of re-birth of new India were sown by these great sons of our motherland. Shree Guru Gopaldas Bariaya belonged to the long line of our saviours who, by his life and actions, set an example that a man can attain his heights by living a life of 'Girhasti'.

The present generation is indebted to him for the noble path shown by him, and coming generations will draw inspiration from his life.

**Prabodh Chandra**

MINISTER-IN-CHARGE
LABOUR AND PUBLICITY
GOVERNMENT OF WEST BENGAL

I am glad to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad is organising centenary celebration of Guru Gopaldas Bariaya. Guru Gopaldas Bariaya was a profound scholar in Jain Philosophy, Sanskrit, Prakait and Apabhransa literature. He worked throughout his life for the propagation of literature and had started several institutions through India for the mission. But for his selfless activities in the cause of Jain literature, many Jain scriptures would have remained unknown. He was the pioneer in inspiring the high ideals of Five Bratas to thousands of his devotees. His life was a fine coordination of knowledge and character. I offer my respectful homage to his memory and I wish the celebration all success.

**Bijoy Singh Nahar**

SPEAKER
LEGISLATIVE ASSEMBLY
WEST BENGAL
CULCUTTA

I am glad to know that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad is going to celebrate birthday centenary of Guru Gopaldas Bariaya, an outstanding Indian scholar of the 19th Century, in the month of Chaitra next. The study of the life of such great men always inspire the younger generation of the country to enable them to follow their footsteps in the path of progress.

I wish your celebration all success.

**Keshab Chandra Basu**

CHAIRMAN
LEGISLATIVE COUNCIL
WEST BENGAL
CALCUTTA

It is quite in the fitness of things that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to bring out a commemoration volume in connexion with the centenary celebrations of Pandit Gopaldas Ji Baraiya in the month of Chaitra of 2023 Vikramiya. Pandit Gopaldas Ji Bariaya is a pioneer in the field of Sanskrit, Prakrit and Apabhransa on the one hand and a social and religious worker on the other. This combination has brought the Panditji to the fore-front of Indian culture and civilization.

I wish the sponsors of the Centenary Celebration all success.

**Pratap Chandra Guha Ray**

RAGHAVA SADAN
6-3-1248 SOMAJIGUDA.
HYDERABAD-4.

I am happy to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to observe the Centenary Celebrations of Guru Gopaldas Baraya and to bring out a commemoration volume to perpetuate his hallowed memory. I gladly associate myself with the Vidwat Parishad in paying my respects and sending my own tribute of praise on his long record of public service.

I am proud to note that Guru Gopaldas is one of those great men of India whose services and sacrifice glorify the History of India. His selfless service towards the advancement of Sanskrit education and Jain literature is praiseworthy. I am sure the Nation will remember him for all time to come witn gratitude for bringing the vast Jain literature into limelight and in providing social welfare through his impressive speeches and writings. His life is surely be a source of inspiration to the future generation.

I wish every success to the Celebrations.

**Gottipati Brahmayya**
**Chairman**
Andhra Pradesh Legislative Council

VARANASEYA SANSKRIT VISHWAVIDYALAYA
VARANASI-2

I am very glad to hear that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to observe the Centenary celebrations in honour of Shree Guru Gopaldas Baraya. Guru Gopaldas Ji's life was one of devotion and dedication to the cause of true knowledge as expounded in the ancient Sanskrit and Prakrit literature of India and was exemplary in everyway. He is rightly classed as one of the great men of India who reinter-preted the tradition and learning of this country, especially in regard to the religion and philosophy of the Jains, and has left his impress on a large section of the people of India. It is therefore right and proper that we should remind ourselves of his life and work by means of the Centenary celebrations. I wish the celebrations every success.

**S. N. M. Tripathi**
Vice-Chancllor

BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI-5

दिनांक १० मार्च १९६६ ई०

आपका दिनांक १८ फरवरी १९६६ का पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप लोग भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड मनीषी 'स्याद्वादवारिधि' पण्डित गोपालदास बरैया का स्मृति-शताब्दी-समारोह मना रहे हैं।

जैन ग्रन्थों, विद्वानों और साधु-वर्ग से मुझे जैन तत्वज्ञान की कतिपय विशेषताएँ ज्ञात हुई हैं। वे सचमुच में ऐसी हैं, जिनमें मानव के ही नहीं, समस्त जीव जगत के भी हित की क्षमता निहित है। अहिंसा, स्याद्वाद, अनेकान्त, नयवाद, अपरिग्रह आदि ऐसे सिद्धान्त हैं जो जैन-दर्शनकी उपलब्धियाँ कही जा सकती है।

पं० गोपालदास बरैया इन सिद्धान्तों के तल-द्रष्टा मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे अपने समय के एक प्रतिभाशाली विचारक, लेखक और धारा-प्रवाही प्रवक्ता थे। उनकी साहित्यिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सेवायें अपूर्व हैं। जैन शिक्षाओं के प्रसार तथा शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना में उनका योगदान सराहनीय है। जो व्यक्ति रेलवे यात्रा में अपना सामान तौलवा कर सफर करे और तीन वर्ष से ऊपर एक दिन अधिक होने पर अपने बच्चे के टिकट का पूरा किराया स्वयं चुकाये, उससे बढ़कर राष्ट्रसेवी और राष्ट्र-हितचिन्तक कौन हो सकता है ?

ऐसे सुश्रावक प्रकाण्ड विद्वान् का स्मृति-शताब्दी-समारोह मनाया जाना उपयुक्त है। समारोह की सफलता के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ हैं।

**न० प० भगवती**
कुलपति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

PATNA UNIVERSITY
PATNA-5

I convey herewith my sincerest good wishes and most respectful homage to the sacred memory of Shree Guru Gopaldas Bariaya, one of the most inspiring thinkers and creative genius of our country in the 19th century.

With kind regards,

**K. K. Datta**
Vice-Chancellor

UNIVERSITY OF LUCKNOW

I am happy to hear that you are shortly bringing out a Commemoration Volume in honour of Shree Guru Gopaldas Bariaya.

I wish the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad every success in their efforts to spread the message of this great saint and scholar.

With best regards,

**A. V. Rao**
Vice-chancellor

UNIVERSITY OF SAUGOR
SAGAR M.P.

I am glad to learn that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad has decided to celebrate his centenary to Guru Gopaldas Baraiya the founder of the new school of studies in Sanskrit, Prakrit and Apabhransa.

This would be a fitting tribute to the scholar and I wish for success of the venture.

**M. P. Sharma**
Vice Chancellor

MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH.

With reference to your letter of 16 February 1966, I am sending you my best wishes on the occasion of the Centenary Celebration of Guru Gopaldas Bariaya.

**Ali Yavar Jung**
Vice Chancellor

PANJAB UNIVERSITY
DEPARTMENT OF SANSKRIT
CHANDIGARH

On behalf of Vice Chancellor of Panjab University and also on my own, I send the most cordial and gracious greetings in connection with the Centenary celebrations in the Memory of Guru Gopaldas Bariaya.

The Jainas have immensely contributed towards the noble ideals of society and humanity at large with special reference to right conduct and non-violent approach.

Once again we wish you a success in this loudable undertaking.

**D. N. Shukla**

EMBASSY
OF THE
UNITED STATES OF AMERICA

The Ambassador has asked me to thank you for your letter of September 30.

He is happy to note that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad is going to observe the Centenary Celebrations of Guru Gopaldas Bariaya. The Ambassador is extremely busy at this time and he regrets that he cannot write a special message, but he sends his best wishes for the success of the celebrations.

**Richard F. Celeste,**
Personal Assistant to the Ambassador

HIGH COURT
ALLAHABAD

Thank you for yours dated September 30, 1965. I am pleased to hear that the Indian Digambar Jain Vidwat Parishad is celebrating the Centenary of the birthday of Guru Gopaldas Bariaya and will publish a Commemoration Volume on the occasion I wish the celebration all success and hope that the Commemoration Volume will be read with interest and benefit by all interested in true religion and Sanskrit.

**M. C. Desai,** I.C.S.

CEYLON HIGH COMMISSION
224, JOR BAGH NURSERY,
NEW DELHI.

Thank you very much for your letter of 30. 9. 65 regarding the Centenary Celebrations in the month of Chaitra of 2023 Vikramiya.

The High Commissioner wishes the function every success.

**D. Samansehun**
for High Commissioner

BRITISH INFORMATION SERVICES
BRITISH HIGH COMMISSION
CHANAKYAPURI, NEW DELHI

Thank you so much for your letter dated 30 September about Guru Gopal das Bariaya.

I was most interested to learn of the proposal to publish a commemorative volume next year and take this opportunity of wishing you every success with the venture.

**G. R. Gauntlett**
Acting Director

PATNA UNIVERSITY
PATNA-5

It is very gratifying that a Commemoration Volume is under preparation to pay homage to Shree Guru Gopaldas Bariaya. The ideals the Gurudeva stood for and the way he struggled to achieve them should inspire social workers of the future. The Commemoration Volume, is expected, will record those ideals and also acquaint the readers with notable instances in the life of the Gurudeva and should thus be an invaluable asset for social workers.

**S. R. Prasad**
Registrar

# सन्तों के आशीर्वाद

भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्ने 'गुरु गोपालदास बरैया' का शताब्दपूर्ति महोत्सव आयोजित किया है, पत्र द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई। समाजके सांस्कृतिक पक्षको धन्य तथा यशस्य बनानेमे पण्डितकुलका महनीय योगदान सदैव अपेक्षित रहा है। अध्ययन-अध्यापन द्वारा शास्त्र परम्पराको विशृंखलतासे बचाकर उज्जीवित रखनेमे बीसवीं शतीमें जिस विशिष्ट व्यक्तित्वने जैन वाङ्मयको गतिशीलता एवं पुनर्जागरण प्रदान किया, वह 'गुरु गोपालदास' थे। तत्सम्बन्धी 'स्मृतिग्रन्थ' के प्रकाशनका निर्णय लेकर विद्वत् परिषद्ने एक अपेक्षित अभावकी पूर्ति करनेका शुभारम्भ किया है। आशा है, जैसाकि प्रसारित रूपरेखाके आकलनसे प्रतीत होता है, यह 'स्मृतिग्रन्थ' जिन सरस्वतीके सांस्कृतिक इतिहासकी पृष्ठभूमिको उजागर करनेमे सहायक होगा। आशीर्वाद सहित—

**—मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज**

एक दीपसे हजारो दीप जल जाते है। जिस दीपमे हजारों दीप जलें, उसे महादीप ही कहा जायगा। पण्डित गोपालदासजी बरैयाका जीवन ऐसा ही महादीप था। उन्होने प्रज्वलनकी जिस परम्परा का सूत्रपात किया, वह आज भी अनुकरणीय है। उससे जो ज्योति फूटी उसमें आज भी प्रकाश देनेकी क्षमता है।

जैन दर्शन सत्यकी उपलब्धिका प्रबलतम माध्यम है। किन्तु उसके सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रकी सम्बुद्धि और जन साधारणके बीच अत्यन्त दूरी उत्पन्न हो गई थी। उसे पाटनेमे पण्डितजीका प्रयत्न विरल-कोटिमे रहा है। उनकी शासन-समुन्नतिका मनोभाव, साहित्य-सर्जन, दृष्टि-परिशोध और चारित्रिक-आराधन सहज प्रशस्त था। ऐसे व्यक्तिके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनको मै स्वयंके प्रति कृतज्ञ होना मानता हूँ।

१२ अक्टूबर १९६६<br>
बीदासर ( राजस्थान )

**—आचार्य तुलसी**

इस युगमे गुरु गोपालदासजीने समाजमें जैन शास्त्रोंकी शिक्षाका आरम्भ सबसे पहले किया है। मै उन्हें आदि गुरु मानती हूँ, वे वह दीपक थे, जिसकी लौ से अगणित दीपक प्रज्वलित हुए है। उनकी जीवन साधना, त्याग, सेवाभावना एवं निस्वार्थ कार्य करनेकी प्रवृत्ति आजके नेता और कार्य-कर्त्ताओंको प्रेरणा देनेके लिए अद्भुत स्तम्भ है। गुरुजीकी जैसी मेधा कम ही व्यक्तियोंको प्राप्त होती है। उन्होंने अपनी बहुमुखी साहित्यिक प्रवृत्तियों द्वारा जनमनको उद्बुद्ध किया था। जैन सिद्धान्त दर्पण जैसी गम्भीर रचनाके लेखकने सुशीला उपन्यास जैसी मनोरंजक रचनाका निर्माण कितनी स्वाभाविक शैलीमे किया है, यह देखते ही बनता है। शास्त्रार्थों द्वारा धर्म और दर्शनकी मूलमान्यताओंको सिद्ध कर गुरु गोपालदासजीने वही कार्य किया है, जो कार्य अपने युगमें स्वामी अकलंकदेवने। निन्दा और आक्षेप करनेवालोंको मुँहतोड़ उत्तर देकर स्याद्वादवाणीकी महत्ता सिद्ध करनेवाले गुरु गोपालदासको समाज भूल नहीं सकता है। सरस्वतीके सेवक होनेके कारण लक्ष्मी उनसे सदा ही असन्तुष्ट रही, या कर्मठ गोपाल-दासजीने लक्ष्मीकी कभी आवभगत नही की। उन्होंने ज्ञानका अलख जगाया विद्यालय और परीक्षालयोकी स्थापना कर जैनविद्याके अध्ययन-अध्यापनको गति प्रदान की।

दि० जैन विद्वत्परिषद् गुरु गोपालदास स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित कर गुरु ऋणसे मुक्त होनेका जो प्रयास कर रही है, यह स्तुत्य है। अत भूली हुई कडीको जोडकर इतिहासकी शृंखलाको सुसम्बद्ध करने-के इस कार्यकी मै श्लाघा करती हूँ।

पं० ब्र० चन्दाबाई
अधिष्ठात्री श्रीजैन बालाविश्राम, आरा

# प्रथम खण्ड

## जीवन परिचय



## संस्मरण



## श्रद्धाञ्जलियाँ

# जीवन परिचय

•

# पण्डित श्री गुरु गोपालदास वरैया : जीवनवृत्त

स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी

●

पंडितजीका जन्म वि० सं० १९२३ के चैत्रमें आगरेमें हुआ था। आपके पिताका नाम लक्ष्मणदासजी था। आपकी जाति 'वरैया' और गोत्र 'एछिया' था। आपके बाल्यकालके विषयमें हम विशेष कुछ नहीं जानते। इतना ही मालूम है कि आपके पिताकी मृत्यु छुटपनमें ही हो गई थी। आपकी माताकी कृपासे आप मिडिल तक हिन्दी और छठी सातवीं तक अंग्रेजी पढ़ सके थे। बचपनमें धर्मकी ओर आपकी जरा भी रुचि नहीं थी। अंग्रेजीके पढ़े लिखे लड़के प्रायः जिस मार्गके पथिक होते हैं, आप भी उसी पथके पथिक थे। खेलना कूदना, मजामौज, तम्बाकू, सिगरेट पीना, शेर और चौबोला गाना आदि आपके दैनिक कृत्य थे। १९ वर्ष की अवस्थामें आपने अजमेरमें रेलवेके दफ्तरमें पन्द्रह रुपये महीनेकी नौकरी कर ली। उस समय आपको जैनधर्मसे इतना भी प्रेम न था कि कमसे कम जिनमन्दिरमें दर्शन तो प्रतिदिन कर लिया करें। अजमेरमें पंडित मोहनलालजी नामके एक जैन विद्वान् थे। एक बार उनसे आपका जैनमन्दिरमें परिचय हुआ। उनकी संगतिसे आपका चित्त जैनधर्मकी ओर आकर्षित हुआ और आप जैनग्रन्थोंका स्वाध्याय करने लगे। दो वर्षके बाद आपने रेलवेकी नौकरी छोड़ दी और रायबहादुर सेठ मूलचन्दजी नेमिचन्दजीके यहाँ इमारत बनवानेके कामपर २० रु० मासिककी नौकरी कर ली। आपकी ईमानदारी और होशियारीसे सेठजी प्रसन्न रहे। अजमेरमें आप ६, ७ वर्ष तक रहे। इस बीच आपका अध्ययन बराबर होता रहा। संस्कृतका ज्ञान भी आपको वहीं पर हुआ। वहाँकी जैनपाठशालामें आपने लघुकौमुदी और जैनेन्द्रव्याकरणका कुछ अंश और न्यायदीपिका ये तीनों ग्रन्थ पढ़े थे। गोम्मटसारका अध्ययन भी आपने उसी समय शुरू कर दिया था। अजमेरके सुप्रसिद्ध पंडित मथुरादासजी और 'जैनप्रभाकर'के वास्तविक सम्पादक बाबू बैजनाथजीसे आपका बहुत मेल-जोल रहता था।

## कुशल व्यापारी

संवत ४८ में सेठ मूलचन्दजी जैनबिद्री मूडबिद्रीकी यात्राको निकले और आपको साथ लेते गये। लौटते समय आप बम्बई आये और यहाँ आपकी तबियत ऐसी लग गई कि फिर आपने यहीं रहनेका निश्चय कर लिया। हिसाब-किताब के काममें आप बहुत तेज थे, इस कारण यहाँ आपको एस० जे० टेलरी नामकी यूरोपियन कम्पनीमें ४५ रु० मासिककी नौकरी मिल गई। आपके कामसे कम्पनीके मालिक बहुत खुश रहते थे। उन्होंने थोड़े ही समयमें आपका वेतन ६० रु० मासिक कर दिया। उसी समय आपकी माताजीका स्वर्गवास होगया और आप बिना छुट्टी लिये ही आगरे चल दिये। फल यह हुआ कि आपको नौकरीसे हाथ धोना पड़ा। इसके बाद आप फिर बम्बई आये और जुहारूमल मूलचन्दजीकी दूकान-पर मुनीम हो गये। कुछ समय पीछे एस० जी० टेलरीने आपको फिर रख लिया। अबकी बार आपने कई वर्ष तक यह काम किया। सं० ५१ में दिल्लीवाले लाला श्यामलालजी जौहरीके साथ आप जवाहरातकी कमीशन एजेंटीका काम करने लगे। इस कामको आपने कोई छः महिने तक किया, पर इसमें अपने अचौर्य और सत्यव्रतका पालन न होते देखकर आप इससे अलग हो गये और 'गोपालदास लक्ष्मणदास' के नामसे गल्लेका काम करने लगे। यथेष्ट लाभ न होनेसे पाच-छः महीनेके बाद यह काम उठा दिया। संवत् ५२ में पंडित धन्नालालजी काशलीवालके साझेमें आपने रूई, अलसी, चाँदी आदि की दलालीका काम करना शुरू किया और तीन-चार वर्ष तक जारी रक्खा। संवत् ५६ में इसी कामको आप स्वतन्त्र होकर करने लगे और दो वर्षतक करते रहे।

बम्बईमें सेठ नाथारंगजी गांधीके फर्मके मालिक सेठ रामचन्द्र नाथाजीसे आपका अच्छा परिचय होगया था। सेठजी बड़े ही सज्जन और धर्मात्मा थे। सं० ५८ में आपके ही साझेमें पंडितजीने मोरेनामें आढ़तकी दूकान खोल ली और

१. आपका स्वर्गवास बम्बईमें दि० ३० जनवरी १९६० को हुआ है। उस समय आपकी अवस्था ७८ वर्ष की थी। सं०

बम्बईका रहना छोड़ दिया। यह काम आपने कोई चार वर्ष तक किया। गांधी नाथारंगजीको जब मोरेनामें लाभ नहीं दिखाई दिया, तब उन्होंने सं० ६२ में शोलापुर बुला लिया और वहाँ आप लगभग दो वर्ष तक काम करते रहे। इसके बाद आप फिर मोरेना चले गये और वहाँ आपने सेठ हरिभाई देवकरण और सेठ रावजी मानचन्द्र की सहायता से 'गोपालदास माणिकचन्द्र' के नाम से स्वतन्त्र आढत की दूकान खोली। इस कामको करते हुए आपने 'माधव जीनिंग फैक्टरी लिमिटेड' की स्थापना की। इस काममें आपने बहुत परिश्रम किया, पर कई कारणों से आपको कोई दो वर्षके बाद इससे सम्बन्ध छोड़ना पड़ा। इसके बाद आपने फिर गाधी नाथारंगजीके साथ काम किया। सं० ७०,७१ में रायबहादुर सेठ कल्याणमलजीके और उनके बाद अभी दो वर्षसे आप रायबहादुर सेठ कस्तूरचन्द्रजीके साझेमें काम करते थे।

जिस समय पण्डितजी अजमेरमें थे उस समय उनकी शादी हो चुकी थी। सं० ४५ में आपको प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ, जो थोड़े ही दिन जिया। सं० ४७ में कौशल्याबाई और ४९ में चि० माणिकचन्द्रका जन्म हुआ। इसके बाद आपके कोई सन्तान पैदा नहीं हुई। भाई माणिकचन्द्रके बालमुकन्द और चन्द्रभान नामके दो पुत्र हैं।

## सार्वजनिक जीवन

पण्डितजीके सार्वजनिक जीवनका प्रारम्भ बम्बईसे होता है। यहाँ आपके और पं० धन्नालालजीके उद्योगमें मार्गशीर्ष सुदी १४ सम्वत् १९४९ को दिगम्बर जैन सभाकी स्थापना हुई। पण्डित धन्नालालजी आपके अनन्य मित्रोंमें से थे। लोग आप दोनोंको 'दो शरीर एक प्राण' कहा करते थे। पण्डित धन्नालालजी आपके प्रत्येक काममें प्रधान सहायक थे। इसी वर्षके माघमें श्रीमन्त सेठ मोहनलालजीकी ओरसे खुरई (सागर) की सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठा हुई। इतना बड़ा जनसमूह शायद ही किसी मेलेमें इकट्ठा हुआ होगा। दिगम्बर जैनसमाजके प्रायः सभी धनी-मानी और पण्डित जन उपस्थित हुए थे। इस अवसरको बहुत ही उपयुक्त समझकर बम्बई सभाने आपको और पण्डित धन्नालालजीको सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाजकी एक महासभा स्थापित करनेके लिये खुरई भेजा। इसके लिये वहाँ यथेष्ट प्रयत्न किया गया, परन्तु यह जान कर कि जम्बूस्वामी मथुराके मेलेमें महासभाकी स्थापनाका निश्चय हो चुका है, इन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद सं० ५० के जम्बूस्वामीके मेलेमें भी बम्बई सभाने इन्हें भेजा और उनके उद्योगसे वहाँ पर महासभाका कार्य शुरू हुआ। महासभाके महाविद्यालयके प्रारम्भका काम आपके ही द्वारा होता रहा है। सं० ५३ के लगभग भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालय स्थापित हुआ और उसका काम आपने बड़ी ही कुशलतासे सम्पादन किया। इसके बाद आपने दिगम्बर जैन सभा बम्बईकी ओरसे जनवरी सन् १९०० में (सं० ५६ के लगभग) 'जैनमित्र' निकालना शुरू किया। पण्डितजी की कीर्तिका मुख्य स्तम्भ 'जैनमित्र' है। यह पहले ६ वर्ष तक मासिक रूपमें और फिर सम्वत् ६२ की कार्तिक सुदीसे २-३ वर्ष तक पाक्षिक रूपमें पण्डितजीके सम्पादकत्वमें निकलता रहा। सं० १९६५ के १८ वें अंक तक जैनमित्रकी सम्पादकीमें पण्डितजीका नाम रहा। इसकी दशा उस समयके तमाम पत्रोंमें अच्छी थी, इस कारण इसका प्रायः प्रत्येक आन्दोलन सफल होता था। सं० ५८ के आसोजमें बम्बई प्रान्तिक सभाकी स्थापना हुई और इसका पहला अधिवेशन माघ सुदी ८ को आकलूजकी प्रतिष्ठा पर हुआ। इसके मन्त्रीका काम पण्डितजी करते थे और आगे बराबर आठ दस-वर्ष तक करते रहे। प्रान्तिक सभाके द्वारा संस्कृत विद्यालय बम्बई, परीक्षालय, तीर्थक्षेत्र, उपदेश भण्डार आदिके जो-जो काम होते रहे है, वे पाठकोंसे छिपे नहीं हैं।

बम्बईकी दिगम्बर जैन पाठशाला सं० ५० में स्थापित हुई थी। यह पाठशाला अब भी चल रही है। पंडित जीवराम लल्लूराम शास्त्रीके पास आपने परीक्षामुख, चन्द्रप्रभकाव्य और कातन्त्र व्याकरण इसी पाठशालामें पढ़ा था।

## जैनसिद्धान्त विद्यालय

कुण्डलपुरके महासभाके जलसेमें यह सम्मति हुई कि महाविद्यालय सहारनपुरसे उठाकर मोरेनामें पंडितजीके पास भेज दिया जाय। परन्तु पंण्डितजीका वैमनस्य मुंशी चम्पतरायजीके साथ इतना बढ़ा हुआ था कि उन्होंने उनके अन्डरमें रहकर इस कामको स्वीकार न किया। इसी समय उन्हें एक स्वतन्त्र जैन पाठशाला खोलकर काम करनेकी इच्छा हुई। आपके पास पं० वंशीधरजी कुण्डलपुरके मेलेके पहले ही पढ़ते थे। अब दो-तीन विद्यार्थी और भी जैन सिद्धान्तका अध्ययन करनेके लिए उनके पास जाकर रहने लगे। इन्हें छात्रवृत्तियाँ बाहरसे मिलती थीं। पंडितजी केवल इन्हें पढ़ा देते थे। इसके बाद कुछ विद्यार्थी और भी आगये और एक व्याकरणका अध्यापक रखनेकी आवश्यकता हुई, जिसके लिये सबसे पहिले सेठ सूरचन्द्रजी शिवरामजीने ३० रु० मासिक सहायता देना स्वीकार किया। धीरे-धीरे छात्रोंकी संख्या इतनी हो गई कि

पण्डितजीको उनके लिये नियमित पाठशालाकी स्थापना करनी पड़ी। यही पाठशाला आज 'जैन सिद्धान्त विद्यालय' के नामसे प्रसिद्ध है और इसके द्वारा जैनधर्मके बड़े-बड़े ग्रन्थोंके पढ़नेवाले अनेक पण्डित तैयार हो गये हैं। पाठशालाके साथमें एक छात्राश्रम भी है। छात्राश्रम और पाठशालाके लिये एक अच्छी इमारत लगभग दस हजार रुपयोंकी लागतकी बन गई है। पाठशाला और छात्राश्रमका वार्षिक खर्च उस समय कोई दस हजार रुपया था, यह सब रुपया पंडितजी चन्देसे वसूल करते थे।

## उपाधियाँ

गवालियर स्टेटकी ओरसे पण्डितजीको मोरेनामें ऑनरेरी मजिस्ट्रेटका पद प्राप्त था। वहाँके चेम्बर आफ कामर्स और पंचायती बोर्डके भी आप मेम्बर थे। बम्बई प्रान्तिक सभाने आपको 'स्याद्वाद वारिधि' इटावेकी जैनतत्त्व प्रकाशिनी सभाने आपको 'वादिगज केशरी' और कलकत्तेके गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके पण्डितोंने 'न्याय वाचस्पति' पदवी प्रदान की थी। सन् १९१२ मे दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाने आपको वार्षिक अधिवेशनका सभापति बनाया था और आपका बहुत बड़ा सम्मान किया था।

## अगाध पांडित्य

पण्डितजीकी पठित विद्या बहुत ही थोड़ी थी। जिस संस्कृतके वे पण्डित कहलाये, उसका उन्होंने कोई एक भी व्याकरण अच्छी तरह नही पढ़ा था। गुरुमुखसे तो उन्होंने बहुत ही थोड़ा नाममात्रको पढा था। तब वे इतने बडे विद्वान् कैसे हो गये? उसका उत्तर यह है कि उन्होंने स्वावलम्बनशीलता और निरन्तरके अध्यवसायसे पाण्डित्य प्राप्त किया था। पण्डितजी जीवनभर विद्यार्थी रहे। उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह अपने ही अध्ययनके बलपर, और इस कारण उसका मूल्य रटे हुए या घोखे हुए ज्ञानसे बहुत अधिक था। उन्हें लगातार दस वर्षतक बीसों विद्यार्थियोंको पढ़ाना पडा और उनकी शंकाओंका समाधान करना पडा। विद्यार्थी प्रौढ़ थे, कई न्यायाचार्य और तर्कतीर्थोंने भी आपके पास पढा है। इस कारण प्रत्येक शंकापर आपको घण्टों परिश्रम करना पडता था। जैनधर्मके प्राय. सभी बडे-बड़े उपलब्ध ग्रन्थोंको उन्हें आवश्यकताओंके कारण पढना पड़ा। इसीका यह फल हुआ कि उनका पाण्डित्य असामान्य हो गया। वे न्याय और धर्मशास्त्रके बेजोड विद्वान् हो गये और इस बातको न केवल जैनोंने, किन्तु कलकत्तेके बडे-बडे महामहोपाध्यायों और तर्क-वाचस्पतियोने भी माना। विक्रमकी बीसवीं शताब्दिके आप सबसे बडे दिगम्बर जैन पण्डित थे, आपकी प्रतिभा और स्मरणशक्ति विलक्षण थी।

## व्याख्यान कला

पंडितजीकी व्याख्यान देनेकी शक्ति भी बहुत अच्छी थी। यह भी आपको अभ्यासके बल पर प्राप्त हुई थी आपके व्याख्यानोंमें यद्यपि मनोरंजकता नही रहती थी और जैन सिद्धातके सिवाय अन्य विषयो पर आप बहुत ही कम बोलते थे, फिरभी आप लगातार दो, दो, तीन, तीन घंटे तक व्याख्यान दे सकते थे। आपके व्याख्यान विद्वानोंके ही कामके हुआ करते थे। वाद या शास्त्रार्थ करने की शक्ति आपमे बडी विलक्षण थी। जब जैन तत्व प्रकाशिनी सभा इटावेके दौरे शुरू हुए और उसने पंडितजीको अपना अगुआ बनाया, तब पंडितजी की इस शक्तिका खूब ही विकास हुआ। आर्यसमाजके कई बड़े-बड़े शास्त्रार्थमे आपकी वास्तविक विजय हुई और उस विजयको प्रतिपक्षियोंने स्वीकार किया। बड़ेसे बड़ा विद्वान् आपके आगे बहुत समय तक न टिक सकता था। आपको अपनी इस शक्तिका अभिमान था। कभी-कभी आप कहा करते थे कि मैं अमुक-अमुक महामहोपाध्यायोंको भी बहुत जल्दी पराजित कर सकता हूँ, परन्तु क्या करूँ उनके सामने घंटों तक धारा प्रवाह संस्कृत बोलनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। पंडितजी संस्कृतमें बातचीत कर सकते थे और अपने छात्रोंके साथ तो वे घंटों बोला करते थे, परन्तु व्याकरण इतना पक्का नहीं था कि वे इसकी सहायतासे शुद्ध संस्कृतके प्रयोग औरोंके सामने निर्भय होकर करते रहे।

## उनकी रचनाएँ

पंडितोंको लिखनेका अभ्यास प्रायः नहीं रहता है, पर पंडितजी इस विषयमें अपवाद थे। उनमे अच्छी लेखनशक्ति थी। यद्यपि अन्यान्य कार्योंमें फँसे रहनेके कारण उनकी इस शक्तिका विकास नहीं हुआ, फिर भी हम उन्हें जैन समाजके अच्छे

लेखक कह सकते हैं। उनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ हैं—जैनसिद्धांत दर्पण, सुशीला उपन्यास, और जैन सिद्धान्त प्रवेशिका। 'जैन सिद्धान्त दर्पण' का केवल एक ही भाग है। यदि इसके आगेके भी भाग लिखे गये होते, तो जैन साहित्यमें यह एक बड़े काम की चीज होती। यह पहला भाग भी बहुत अच्छा है। 'प्रवेशिका' जैनधर्मके विद्यार्थियोंके लिए एक छोटेसे पारिभाषिक कोषका काम देती है। इसका बहुत प्रचार है। सुशीला उपन्यास उस समय लिखा गया था, जब हिन्दीमें अच्छे उपन्यासोंका एक तरहसे अभाव ही था और आश्चर्यजनक घटनाओंके बिना उपन्यास ही नहीं समझा जाता था। उस समय की दृष्टिसे इसकी रचना अच्छे उपन्यासोंमें की जा सकती है। इसके भीतर जैनधर्मके कुछ गंभीर विषय डाल दिये गये हैं, जो एक उपन्यासमें नहीं चाहिये थे, फिर भी वे बड़े महत्वके हैं। इन तीन पुस्तकोंके सिवाय पंडितजीने सार्वधर्म, जैन जागरफी आदि कई छोटे-छोटे ट्रेक्ट भी लिखे थे।

## चारित्रिक दृढ़ता

पंडितजीका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल था। इस विषयमें वे पंडित मंडलीमे अद्वितीय थे। उन्होंने अपने चरित्रसे दिखला दिया था कि ससारमे व्यापार भी सत्य और अचौर्यव्रतको दृढ रखकर किया जा सकता है। यद्यपि इन दो व्रतोंके कारण उन्हे बार-बार असफलताएँ हुई, फिर भी उन्होने इन व्रतोको मरण पर्यन्त अखंड रखा। कड़ी परीक्षाओमे भी आप इन व्रतोसे नही डिगे। एक बार मडीमे आग लगी और उसमे आपका तथा दूसरे व्यापारियोका माल जल गया। मालका बीमा बिका हुआ था। दूसरे लोगोने बीमा कम्पनियोंसे इस समय खूब रुपये वसूल किये, जितना माल था उससे भी अधिकका बतला दिया। आपसे भी कहा गया। आप भी उस समय अच्छी कमाई कर सकते थे, पर आपने एक कौडी भी अधिक नही ली। रेलवे और पोस्ट आफिसका यदि एक पैसा भी आपके यहाँ भूलसे अधिक आजाता था तो उसे वापिस किये बिना आपको चैन नही पड़ती थी। रिश्वत देनेका आपको त्याग था। इसके कारण आपको कभी-कभी बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, पर आप उसे चुपचाप सह लेते थे।

पडितजीको कोई भी व्यसन नहीं था। खाने पीने की शुद्धता पर आपको अत्यधिक ख्याल था। खाने पीनेकी अनेक वस्तुएं आपने छोड रखी थी। इस विषयमें आपका व्यवहार बिलकुल पुराने ढगका था। आपका रहन-सहन बहुत ही सादा था। कपडे आप इतने मामूली पहनते थे कि अपरिचित लोग आपको कठिनाईसे पहचान सकते थे।

धर्मकार्योंके द्वारा आपने अपने जीवनमे कभी एक पैसा भी नही लिया। यहाँ तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियोको दुखी तक कर दिया करते थे, पर भेंट या बिदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपडेका टुकडा भी ग्रहण नही करते थे। हाँ, जो कोई बुलाता था, उससे आने-जानेका किराया ले लिया करते थे।

## उत्साह और लगन

पंडितजीमे गजबका उत्साह और गजब की काम करने की लगन थी। पिछले दिनोमे उनका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था, पर उनके उत्साहमे जरा भी अन्तर नही पडा था। वे धुनके पक्के थे। जो काम उन्हे जच जाता था, उसे वे करके छोडते थे। उन्हे अपनी शक्तियों पर विश्वास था। इस कारण वे कठिनसे कठिन काममे हाथ डाल देते थे। मोरेनामे पाठशाला की इमारत उनके इसी गुणके कारण बनी थी। लोग नही चाहते थे कि मोरेना जैसे अयोग्य स्थानमे इमारत जैसा स्थायी काम हो, पर उन्हे विश्वास था कि पाठशालाका ध्रुव फंड एक लाख रुपयेका हो जायगा और तब मोरेनामे भी पाठशालाका काम मजेसे चलता रहेगा। कहते हैं कि पंडितजी अन्तिम समय तक यह कहते रहे कि यदि एक बार अच्छा होजाउं, तो एक लाख रुपया पूरा कर डालूँ और फिर सुखसे परलोक की यात्रा करूँ।

## निर्भीकता

पंडितजी जिस बातको सत्य मानते थे, उसके कहनेमे उन्हें जरा भी संकोच या भय नहीं होता था। खतौलीके दस्सा और बीसा अग्रवालोंके बीचमें जो पूजाके अधिकारके सम्बन्धमें मामला चला था, उसमें आपने निर्भीक होकर साक्षी दी थी कि दस्सोंको पूजा करनेका अधिकार है। जैन जनताका विश्वास इससे बिलकुल उल्टा था। परन्तु आपने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। इस विषयको लेकर कुछ 'धर्मात्माओं' और 'सेठो' ने बडा ऊधम मचाया, पंडितजीको हर तरहसे बदनाम करनेकी कोशिशें कीं, परन्तु अन्तमें जनताने पंडितजीके सत्यको समझ लिया और वह शान्त हो गई। इसके बाद 'मासभोजी भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है या नहीं' इस विषयमें भी पंडितजीने एक 'अप्रिय सत्य कहा था, और उस

गुरुजी
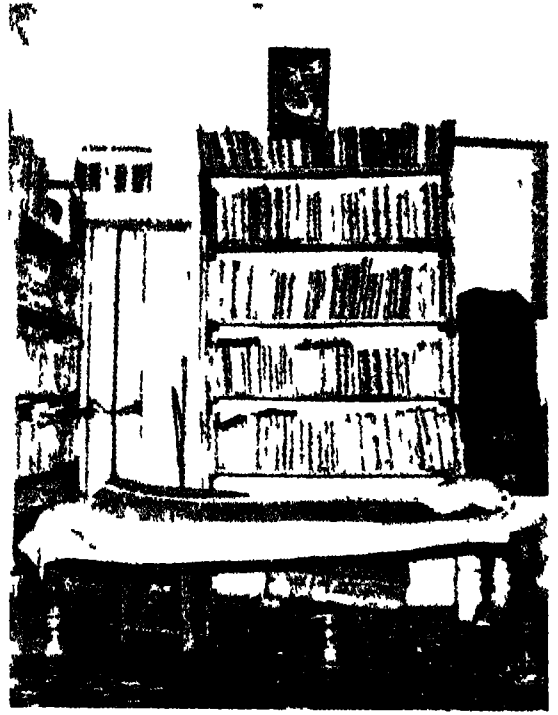
गुरुजीका अध्ययन तथा शयन कक्ष

गुरुजीके मकान और दुकानका बाहरी दृश्य

गुरुजीके मकान और दुकानका भीतरी दृश्य

वह हाल जिसमें शरद् प्रवास में गुरुजी अध्यापन करते थे।

गुरुजीके हस्ताक्षर

पर भी बड़ी उछल कूद मची थी । इस विषयमें वे जैन समाजके वर्तमान पंडितोंसे बहुत ऊँचे थे । हमने प्रतिष्ठाएँ कराने वाले एक प्रतिष्ठित पंडितजीको छापेके विरोधी धनियोंके सामने छापेकी घोर निन्दा करते और छापेवालोंके सामने उसीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते देखा है । ऐसे लोग वही बात कहते हैं, जो लोगोंको अच्छी लगती है, पर पंडितजी बड़े निर्भीक थे । चापलूसी और खुशामदसे उन्हें चिढ़ थी । वे बड़े-बड़े लखपतियों और करोड़पतियोंको उनके मुँह पर खरी-खरी सुना दिया करते थे । इसी स्वभावके कारण अनेक धनी उनके शत्रु बन गये थे ।

## प्रगाढ़ श्रद्धा

जैन ग्रन्थोंपर पण्डितजीकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी, बल्कि सत्यके अनुरोधसे कहना पड़ेगा कि जरूरतसे ज्यादा थी । एक बार आपने जोशमें आकर यहाँतक कह डाला कि यदि कोई पुरुष जैन भूगोलको असत्य सिद्ध कर देगा, तो मैं उसीदिन जैनधर्मका परित्याग कर दूँगा । इससे पाठक जान सकेंगे कि उनकी श्रद्धा कितनी ऊँची बढ़ी हुई थी । इस श्रद्धाके अतिरेक के कारण ही जैन पाठशालाओंके कोर्सके द्वारपर 'दिगम्बर जैनधर्ममें अविरुद्ध' की मजबूत अर्गला लगाई गई थी । पण्डितजी नहीं चाहते थे कि किसी भी जैन पाठशालामें कोई ऐसी पुस्तक पढ़ाई जाय तो जैनधर्मके विरुद्ध हो । उन्होंने अपने विद्यालयमें भूगोल, इतिहास आदि विषयोंको कभी जारी नही होने दिया । अजैनोंके संस्कृत ग्रन्थ भी, यहाँतक कि व्याकरण, काव्य, नाटक आदि भी पढ़ाना पसन्द न था । काशीकी पाठशालाके विद्यार्थी गवर्नमेण्टकी संस्कृत परीक्षाके ग्रन्थ पढा करते थे । इसपर पण्डितजीने जैनमित्रमें 'काशीका कटुक फल' शीर्षक बडा ही कडा लेख लिखा था । सिद्धान्त विद्यालयके किसी भी विद्यार्थीने विद्यालयमें रहते हुए कोई भी सरकारी परीक्षा नही दी ।

आजकलके पण्डितोको हम जीते-जागते या सजीव शास्त्र समझते है । उन्हें शास्त्र याद भर रहता है, विचार करना वे नही जानते । जड़ शास्त्रोंसे जो उपकार होता हे, वही उपकार इनसे होता है, इससे अधिक नही । पर पण्डितजी इस विषयमें अपवाद थे । वे अच्छे विचारक थे । वे अपनी विचार-शक्तिके बलपर पदार्थका स्वरूप इस ढंगसे बतलाते थे कि उसमें एक नूतनता मालूम होती थी । उन्होने जैन सिद्धान्तकी ऐसी अनेक गाठे सुलझाई थी, जो इस समयके किसी भी विद्वान्से नही खोली जा सकती थी । वे गोम्मटसारके प्रसिद्ध टीकाकार प० टोडरमलजीकी भी कई सूक्ष्म भूलें बतलाने मे समर्थ हुए थे । जैन भूगोलके विषयमें उन्होने जितना विचार किया था और इस विषयको सच्चा समझानेके लिये जो-जो कल्पनाएँ की थी, वे बडी ही कुतूहलवर्धक थी । एक बार उन्होने उत्तर दक्षिण ध्रुवोकी छ. महीनेकी रात दिनको भी जैन भूगोलके अनुसार सत्य सिद्ध करनेका यत्न किया था । वर्तमानके यूरोप आदि देशोको उन्होने भरतक्षेत्रमें ही सिद्ध किया था और शास्त्रोक्त लम्बाई-चौडाईसे वर्तमानका मेल न खानेका कारण पृथिवीका वृद्धि-ह्रास या घटना बढना 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ' आदि सूत्रके आधारसे बतलाया था । यदि पडितजीके विचारोका क्षेत्र केवल अपने ग्रंथोंकी ही परिधिके भीतर कैद न होता, सारे ही जैनग्रन्थोको प्राचीनो और अर्वाचीनोको वे केवली भगवान की ही दिव्यध्वनिके सदृश न समझते होते, तो वे इस समयके एक अपूर्व विचारक होते, उनकी प्रतिभा जैनधर्म पर एक अपूर्व ही प्रकाश डालती और उनके द्वारा जैन समाजका आशातीत कल्याण होता ।

## निस्वार्थ सेवा

पंडितजीकी प्रतिष्ठा और सफलताका सबसे बडा कारण उनकी निःस्वार्थ सेवाका या परोपकारशीलता का भाव था । एक इसी गुणसे वे इस समयके सबसे बडे जैन पंडित कहलाये । जैन समाजके लिये उन्होंने अपने जीवनमे जो कुछ किया उसका बदला कभी नही चाहा । जैनधर्मकी उन्नति हो, जैनसिद्धान्तके जाननेवालोंकी संख्या बढे, केवल इसी भावनासे उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया । अपने विद्यालयका प्रबंधसम्बन्धी तमाम कामकरनेके सिवाय अध्यापन कार्य भी उन्हें करना पड़ता था । हमने देखा है कि शायद ही कोई दिन ऐसा जाता होगा जिस दिन पंडितजीको अपने कम-से-कम चार घंटे विद्यालयके लिए न देने पड़ते हों । जिन दिनों पंडितजीका व्यापार सम्बन्धी काम बढ जाता था और उन्हें समय नहीं मिलता था, उस समय बडी भारी थकावट होजाने पर भी वे कभी-कभी १०, ११ बजे रातको विद्यालय में आते थे । गत कई वर्षोंमें पंडितजीका शरीर बहुत शिथिल हो गया था । फिर भी धर्मके कामके लिए वे बडे-बडे लम्बे सफर करने से भी नहीं चूकते थे । अभी भिन्डके मेलेके लिए जब आप गये, तब आपका स्वास्थ्य बहुत ही चिंतनीय था और वहां जानेसे ही, इसमें सन्देह नहीं कि आपकी घटिका और जल्दी आ गई ।

पंडितजीकी निःस्वार्थ वृत्ति और दयानतदारी पर लोगोंको दृढ़ विश्वास था। यही कारण है जो बिना किसी स्थिर आमदनीके वे विद्यालयके लिये लगभग दस हजार रुपया साल की सहायता प्राप्त कर लेते थे।

## कौटुम्बिक विपदाएँ

पंडितजीको, जहाँ तक हम जानते हैं कुटुम्बसंबंधी सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। इस विषयमें हम उन्हें ग्रीसके प्रसिद्ध विद्वान सुकरातके समकक्ष समझते हैं। पंडितानीजीका स्वभाव बहुत ही कर्कश, क्रूर, कठोर, जिद्दी और अर्धविक्षिप्त था। जहाँ पंडितजीको लोग देवता समझते थे, वहाँ पंडितानीजी उन्हें कौड़ी कामका आदमी नहीं समझती थी। वे उन्हें बहुत तंग करती थीं और इस बातका जरा भी खयाल न रखती थीं कि मेरे बर्तावसे पंडितजी की कितनी अप्रतिष्ठा होती होगी। कभी-कभी पंडितानीजीका धावा विद्यालय पर भी होता था और उस समय छात्रोंतक की शामत आ जाती थी। अभी पंडितजी जब आगरेमें बहुत ही सख्त बीमार थे, तब पंडितानीजी की विक्षिप्तता इतनी बढ़ गई थी कि छात्रोंको उनके आक्रमणसे पंडितजीका जीवन बचाना भी कठिन हो गया था। वे बड़ी मुश्किलसे पिंड छुड़ाकर उन्हें अपने घरसे बेलनगंज ले गये थे। सारा समाज आज जिनके लिए रो रहा है, उनके लिये पंडितानीजी की आँखसे शायद एक आँसू भी न पड़ा होगा। इस अप्रिय कथाके उल्लेख करनेका कारण यह है कि पंडितजी इस निरन्तर यातनाको, कलहको, उपद्रवको बड़ी धीरतासे बिना उद्वेगके भोगते थे और अपने कर्त्तव्यमें जरा भी शिथिलता नही आने देते थे और यह पण्डितजीका अनन्य साधारण गुण था। सुकरातकी स्त्री खिसियानी हुई बैठी थी, सुकरात कई दिनके बाद घर आये। खाने-पीनेकी वस्तुओंका इन्तजाम किये बिना ही वे घरसे चले गये थे और कहीं लोकोपकारी व्याख्यानादि देनेमें लग कर घरकी चिन्ता भूल गये थे। पहले तो श्रीमतीने बहुत सा गर्जन-तर्जन किया, पर जब उसका कोई भी फल नहीं हुआ तब उसका वेग निःसीम हो गया और उसने बर्फ जैसे पानीका एक घड़ा उस शीतकालमें सुकरातके ऊपर औंधा दिया। सुकरातने हँसकर कह दिया कि गर्जनके बाद वर्षण तो स्वाभाविक ही है। पण्डितजीके यहाँ इस प्रकारकी घटनाएँ, यद्यपि वे लिखनेमें इतनी मनोरंजक नही हैं अक्सर हुआ करती थी और पण्डितजी उन्हें सुकरातके ही समान चुपचाप सहन किया करते थे।

विद्यालयसे पंडितजीको बहुत मोह हो गया था। उसे तो वे अपना सर्वस्व समझते थे। पण्डितजी बड़े ही स्वाभिमानी थे। किसीसे एक पैसेकी भी याचना करना उनके स्वभावके विरुद्ध था। शुरू-शुरूमें जब मैं सिद्धान्त विद्यालयका मन्त्री था, पण्डितजी विद्यालयके लिये सभाओंमें सहायता माँगनेके सख्त विरोधी थे, पर पीछे पंडितजीका यह सख्त अभिमान विद्यालयके वात्सल्यकी धारामें गल गया और उसके लिए 'भिक्षां देहि' कहनेमें भी उन्हें संकोच नही होने लगा।

## अन्य विशेषताएँ

पण्डितजी बहुत सीधे और भोले थे। उनके भोलेपनसे धूर्त लोग अक्सर लाभ उठाया करते थे। एकाग्रताका उन्हें बहुत ही ज्यादा अभ्यास था। चाहे जैसे कोलाहल और अशान्तिके स्थानमें वे घण्टों तक विचारोंमें लीन रह सकते थे। स्मरणशक्ति भी उनकी बड़ी विलक्षण थी। बरसों की बातें वे अक्षरशः याद रख सकते थे। विदेशी रीति रिवाजोंमें उन्हें अरुचि थी। जब तक कोई बहुत जरूरी काम न पड़ता था तब तक वे अंग्रेजीका उपभोग नहीं करते थे। हिन्दीसे उन्हें बहुत ही ज्यादा प्रेम था। अन्य पण्डितोंके समान वे इसे तुच्छ दृष्टिसे नहीं देखते थे। उनके विद्यालयकी लायब्रेरीमें हिन्दीकी अच्छी-अच्छी पुस्तकोंका संग्रह है। पण्डितजी बड़े देशभक्त थे। 'स्वदेशी' आन्दोलनके समय आपने 'जैनमित्र' के द्वारा जैन समाजमें अच्छी जागृति उत्पन्न की थी।

मनुष्यके स्वभाव और चरित्रका अध्ययन करना बहुत कठिन है और जब तक यह न किया जाय, तब तक किसी पुरुषका चरित्र नहीं लिखा जा सकता। पण्डितजीके सहवासमें थोडे समय ( छः सात महीने ) रहकर हमने उनके विषयमें जो कुछ जाना था उसीको यहाँ सिलसिले से लिख दिया है।

—जैन हितैषी, अप्रैल १९१७

●

# अन्तिम सत्रह वर्ष

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री भू० पू० अध्यक्ष भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
प्राचार्य—स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी, वाराणसी

●

गुरुवर्य गोपालदासजीका स्वर्गवास केवल ५१ वर्षकी अवस्थामें हो गया था। उनके जीवनके अन्तिम त्रिभाग—१७ वर्षोंकी एक झलक यहाँ प्रस्तुतकी जाती है। वस्तुत यही काल उनके जीवनका उल्लेखनीय काल था। इसी कालमें वह भाई गोपालदाससे स्याद्वादवारिधि, न्याय वाचस्पति, वादिगज केसरी, गुरुवर्य प० गोपालदास बने। इसी कालमें उनकी विद्वत्ता, समाज सेवा और प्रखर वक्तृत्व शक्तिका लोहा मान्य हुआ। इसी कालमें उनकी कीर्तिपताका फहराई और विरोधका भी प्राबल्य रहा। इसी कालमें उन्होने मोरेनामें जैन सिद्धान्त विद्यालयकी स्थापनाके द्वारा गोम्मटसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक और पञ्चाध्यायी जैसे महान् जैन ग्रन्थोके पठन-पाठनकी प्रणालीको प्रवर्तित करके दिगम्बर जैन समाजमे जैन सिद्धान्तके वेत्ता विद्वानोंकी परम्पराको जन्म दिया।

## बम्बई प्रान्तिक सभा और गुरुजी

गुरुजीका सामाजिक जीवन बम्बईसे आरम्भ होता है। बम्बईमे एक स्थानीय दिगम्बर जैन सभा थी। उसी सभाके द्वारा बम्बई प्रान्तिक जैन सभाकी स्थापना हुई और गुरुजीके सम्पादकत्व मे मासिक पत्रके रूपमे जैनमित्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। उस समय इस सभाके अधिवेशन महाराष्ट्र और गुजरातमे बडे शानदार हुए। और उनसे सामाजिक और धार्मिक जागृतिको बडा बल मिला। उस समयके प्राय प्रत्येक अधिवेशनमें गुरुजी सम्मिलित होते थे और उनके भाषणोकी धूम रहती थी। वह इस सभाके महामन्त्री भी थे और इस प्रकार एक तरहसे बम्बई प्रान्तिक सभा उनके कार्यके लिए प्रधान क्षेत्र बन गई थी। इसी सभाके संचालकोंकी दूर दृष्टि और प्रयत्नसे भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटीकी स्थापना हुई थी। इसी सभाके अन्तर्गत बम्बईमे एक संस्कृत जैन विद्यालय भी चलता था, जिसके छात्रोंमे स्व० पं० लालारामजी भी थे। यह सब गुरुजीकी प्रेरणाका ही फल था।

## जैनमित्र और गुरुजी

बम्बई प्रान्तिक सभाके मुखपत्रके रूपमे जनवरी १९०० मे जैनमित्रका प्रथम अंक प्रकाशित हुआ था। यह मासिक था। डिमाई आकारके १६ पृष्ठ रहते थे। सातवे वर्षमे यह पाक्षिक हो गया और आठवें वर्षसे इसका वही आकार हो गया जिस आकारमे वह आज भी प्रकाशित होता है। गुरुजीका नाम सम्पादक रूपमे १५ जुलाई १९०८ तक के अंकोंके मुख पृष्ठ पर मुद्रित है, आगे नही।

उस कालमे जैन समाचार नामक कोई स्तम्भ नही था। यदि कोई समाचार होता था तो कही भी छाप दिया जाता था।

बम्बईमे हिन्दीकी छपाई पहलेसे ही सुन्दर होती थी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण जैनमित्रके पुराने अंक है। जैन-मित्रकी उस समयकी भाषा भी परिमार्जित थी। इसका कारण यह भी हो सकता है कि हिन्दी संसारके सुप्रसिद्ध लेखक और प्रकाशक श्री नाथूरामजी प्रेमी जैनमित्रमे कार्य करते थे और जब गुरुजीने सम्पादन भारसे मुक्ति ली तो प्रेमीजी उसके सहायक सम्पादक थे किन्तु उनका नाम नही छपता था। प्रेमीजीकी दृष्टि और लेखनी प्रारम्भसे ही बडी परि-मार्जित थी। उन्होने अपने कार्यकालमे जैनमित्रको अच्छी सामग्री प्रदान की।

गुरुजीकी भाषा भी कोरी पण्डिताऊ भाषा नही थी, किन्तु पाण्डित्यको लिए हुए सुसंस्कृत भाषा थी। वह जो कुछ लिखते उसमें तार्किकताका पुट रहता था। उस समय भी आजकलकी तरह सामाजिक और धार्मिक विवाद चलते

थे किन्तु सामाजिक विवादोंकी अपेक्षा धार्मिक विवादोंका बाहुल्य रहता था और गुरुजी बराबर उसमें योगदान करते थे निर्माल्य चर्चा तेरहपन्थ बीस पन्थकी चर्चा आदि उस समय भी चलती थीं। इन चर्चाओंमें सबसे प्रमुख भाग रहता था शोलापुरके सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीका। उनके लेख प्रमाण पुरस्सर होते थे। उन्हें पढ़नेसे ऐसा लगता है कि उनका शास्त्रज्ञान परिमार्जित था और वह तेरह पन्थके पक्षपाती थे।

गुरुजीने 'उन्नति' शीर्षक से एक लेख माला भी चालूकी थी उसका प्राप्त अंश इसी ग्रन्थमें अन्यत्र मुद्रित है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि गुरुजी 'एक जैनी' आदि नामोंसे भी प्रचलित विवादों पर लिखते थे। विरोधसे वह घबराते नहीं थे। जैनमित्रके प्रथम वर्षके अंक ६ में उन्होंने 'उन्नतिका मार्ग विरोधके दांतोंमें होकर है' शीर्षक सम्पादकीय लिखा था।

## महासभा और गुरुजी

महासभाकी स्थापनाके पश्चात् उसकी प्रगतिमें गुरुजीका बहुत सहयोग था। वह उसको अभ्युन्नति और प्रगति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे महासभाके महाविद्यालयके वह महामन्त्री भी थे। किन्तु महाविद्यालयमें पाश्चात्य शिक्षा प्रणालीको लेकर गुरुजीका महासभाके एक वर्गसे तीव्र विरोध चलता था। महासभाका महाविद्यालय उस समय वर्षों तक पारस्परिक खींचातानीका ऐसा अखाड़ा बन गया था कि उसकी दशा पढ़कर आज भी खेद हो आता है।

गुरुजी जब बम्बई छोड़कर मोरेनामें रहने लगे तो उन्होंने वहाँ जैन सिद्धान्त पाठशालाकी स्थापनाकी। उसके सम्बन्धमें उन्होंने जो विज्ञप्ति प्रकाशितकी थी उसे जैनमित्र [ ९-१०-१९०७ ] से नीचे उद्धृत किया जाता है।

## मुरेनामें नवीन पाठशालाकी स्थापना

'बहुत दिनोंसे इस कामको प्रारम्भ करना चाहते थे। परन्तु प्रत्येक कार्यकी सिद्धि तथा प्रारम्भमें काल भी एक कारण है। वह हमारा कार्य जिसका कि बहुत दिनोंसे विचार तथा पुरुषार्थ करते थे, आज दिन शुरू हो गया। इस कार्यको जिस प्रकार शुरू करना चाहते थे उसी प्रकारसे शुरू हुआ है। अब भी देवाधिदेवसे प्रार्थना इस विषयकी करते हैं कि इस कार्यके बाधक कारण आपके स्मरण तथा स्तवन से उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा विलयको प्राप्त हों जिससे यह कार्य प्रतिदिन निर्विघ्न वृद्धिको प्राप्त होता रहे।

इस पाठशालामें सम्पूर्ण कार्योंकी योजना इस प्रकार है—पाठशालामें अध्यापक अवैतनिक हैं। विद्यार्थी अपनी स्कालर्शिपका प्रबन्ध जिस प्रकार सुभीता हो सके उसी प्रकार दूसरे स्थानोंसे करते हैं। मकान, रसोइया तथा खिदमतगारका प्रबन्ध यहाँ पर कर रखा है। इसमें ६) रु० माहवार प्रत्येक विद्यार्थीसे लेकर भोजन कराया जाता है। धर्मशास्त्र, काव्य, न्याय और व्याकरण की पढ़ाईका क्रम नीचे लिखेंगे। जिस विद्यार्थीकी जैसी योग्यता हो वह उसी कक्षामें भर्ती किया जाता है। जैनधर्म शास्त्रके रहस्यके जिज्ञासु विद्यार्थियोंको जरूर आना चाहिए। इस कार्यको वृद्धिगत करनेमें हम प्रतिदिन प्रयत्न करते हैं। इस प्रबन्धमें विद्यार्थी तथा धनकी जिस प्रकार सम्पत्ति बढ़ेगी उसी प्रकार इस प्रबन्धकी तरक्की होती जायगी।'

श्री मती दिगम्बर जैन सिद्धान्त
पाठशाला ( मुरेना )
अस्याः पठनक्रमः

( शास्त्रीय कक्षायाः )

प्र० खण्डे एक वर्षे—गोम्मटसारस्य जीवकाण्डम्। राजवार्तिकालंकारस्य चतुरध्यायी वा।

द्वि० ,, ,,—गोम्मटसारस्य कर्मकाण्डम्।
राजवार्तिकावशिष्टपूर्णभागो वा

त्रि० ,, ,,—लब्धिसार क्षपणासारौ पञ्चाध्यायी वा।

( पण्डित कक्षायाः )

प्र० खण्डे एक वर्षे—पञ्चमाध्यायान्ता सर्वार्थसिद्धिः। पूर्णा न्यायदीपिका। चन्द्रप्रभस्याद्यं सर्गसप्तकम्।
अलंकार चिन्तामणि पूर्वभागश्च।

द्वि० खण्डे एक वर्षे—सर्वार्थसिद्धि पूर्णा, चन्द्रप्रभचरितं पूर्णम् । अलंकार चिन्तामणेरुत्तरभागः, सागारधर्मामृतम्, आलापपद्धतिः, प्रमेयरत्नमाला च ।

( प्रवेशिकायाः कक्षायाः )

प्र० खण्डे एक वर्षे—जैन व्याकरणस्य पूर्वार्द्धम्, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा च प्राग्लोकानुप्रेक्षायाः ।

द्वि० ,, ,,—तद्व्याकरणोत्तरार्द्धम्, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पूर्णा च ।

यहाँ पर सायंकालमें विद्यार्थियोंको उपर्युक्त क्रमके अतिरिक्त बहीखाता या उसकी फैलावट वगैरह भी सिखाई जाती है ।

प्रधानाध्यापक तथा प्रबन्धकर्ता
गोपालदास बरैया
मुरैना ( राज्य ग्वालियर )

## दस्सा काण्ड

गुरुजी बड़े प्रखर वक्ता, शास्त्रार्थी और तार्किक थे । अच्छे-अच्छे विद्वान् शास्त्रार्थ मे उनका सामना नहीं कर सकते थे । अजमेरमें दर्शनानन्द सरस्वतीके साथ उनका जो शास्त्रार्थ हुआ, वह चिरस्मरणीय रहेगा । उसमें उनकी युक्तियोंके प्राबल्यकी सराहना सम्पादकाचार्य और प्रबल समालोचक पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीने अपनी पत्रिका 'सरस्वती' में भी की थी । यह घटना सम्भवतया १९१२ की है । इसी समयके लगभग उनके जीवनकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना दस्सा बीसा कांड है । उसमें उन्होंने जिस निर्भीकता और साहसका परिचय दिया, वह एक विद्वान्के लिए गौरव और अभिमानकी वस्तु है । ऐसे सामूहिक प्रबल प्रतिरोधका सामना शायद ही कभी किसी जैन विद्वान्को करना पड़ा हो । कुछ लोग तो उनकी आनके ही नहीं, जानके भी ग्राहक बन गये थे । पं० देवकीनन्दनजी सुनाते थे कि हमारा काम था गुरुजीके साथ लट्ठ लिये हुए रहना। संक्षेपमें घटना इस प्रकार है—

देहलीके निकट, मेरठ जिलेके अन्तर्गत हस्तिनापुर नामक तीर्थस्थानमें प्रतिवर्ष कार्तिकीय अष्टान्हिकाके दिनोंमें बड़ा भारी मेला भरता है, जिसमें मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि जिलोंकी जैन जनता एकत्र होती है । पहले कई स्थानोंके लोग अपने साथ मन्दिर और मूर्ति भी लाया करते थे ।

सन् १९०९ मे इस मेलेके अवसर पर मेरठसे आये हुए मन्दिरजीमें अग्रवाल जैनोंकी एक बृहत् पंचायत हुई । प्रस्ताव उपस्थित हुआ कि सरधना और खतौलीके दस्सा अग्रवाल जैन प्राचीन दस्तूर और धार्मिक रिवाजके विरुद्ध नई बात अर्थात् जिनेन्द्रमूर्तिकी प्रक्षाल पूजा करना चाहते है, यह कहाँ तक ठीक है ? अग्रवाल बिरादरीकी आम पंचायतसे यह निश्चित हुआ कि प्राचीन दस्तूर और रिवाजके विरुद्ध दस्सा जातिवाले नया दस्तूर नहीं चला सकते, यानी पूजा प्रक्षाल नहीं कर सकते ।

उक्त प्रस्ताव २६ नवम्बर १९०९ की रात्रिमें पास हुआ और ५ दिसम्बर १९०९ के दिन इस पंचायती फैसले-के कारण खतौलीके जैनोंमें मार-पीट हो गई । मामला फौजदारी कचहरी तक पहुँचा । अन्तमें लोगोंके समझानेसे १८ जनवरी १९१० को राजीनामा हो गया । इसके बाद ३ फरवरी १९१० को खतौलीके लाला माड़ेलालने सबजजी मेरठमें बीसा अग्रवाल जैनियोंके विरुद्ध नालिश कर दी ।

माडेलालके बैरिस्टर अब्दुल्लाशाहने अर्जीमें लिखा कि खतौलीके जैन मन्दिर मुहल्ला कानूनगोयानमें माड़ेलाल दस्सा अग्रवाल जैनीको प्रक्षाल, पूजासे रोकनेका कोई अधिकार बीसा अग्रवाल जैनियोंको न था । सब जज और हाईकोर्ट जजने फैसला दिया कि हस्तिनापुरकी पंचायतके सामने माड़ेलालने यह स्वीकार कर लिया था कि उसके पुरखोंने कभी पूजा नहीं की थी, किन्तु जैन शास्त्रोंमें इसका निषेध नहीं है और उसको पूजा प्रक्षालकी आज्ञा मिलनी चाहिये । इस बयानके ऊपर माड़ेलालका दावा और उसकी अपील खर्चे समेत खारिज कर दिए ।

इस मुकदमेमें माड़ेलालकी तरफसे दस्सा पूजाधिकारका समर्थन स्व० पं० गोपालदासजी और पं० जुगल-किशोरजी मुख्तारने किया । तथा बीसा पक्षकी ओरसे स्व० पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकर और स्व० हकीम कल्याणरायने कहा कि पतित जातिके लिए पूजा अधिकारका निषेध है ।

सब जजके सामने बैरिस्टर अब्दुल्लाशाहके प्रश्न पर पं० गोपालदासजीने जवाब दिया, वह उर्दूमें लिखनेवालेने इस प्रकार लिखा—

'कई हजार वर्ष पहिले बमूजिब त्रिवर्णाचार जैनशास्त्रके सब लोग जिनाकार थे। उसके पीछे उन्हींकी औलाद-में तीर्थंकर वगैरह पैदा हुए, जिनकी मूर्ति पूजी जाती है। जिस त्रिवर्णाचारका मैंने हवाला दिया है, जिनसेनका बनाया हुआ है।'

इस बयानको छपवाकर वितरण किया गया और द्वेषाग्नि भड़क उठी। जगह-जगह पंडितजीके बहिष्कारका आन्दोलन किया जाने लगा, उनके मुखसे शास्त्रश्रवण न करनेकी प्रेरणाकी जाने लगी। इस विषयको लेकर अजमेरमें एक सभा हुई। इस सभामें पंडितजीको बुलानेका भी प्रयत्न किया गया, परन्तु आवश्यक कार्यवश पंडितजी नहीं जा सके और अपना प्रतिवादरूप एक वक्तव्य लिखकर भेज दिया। यहाँ हम उस प्रतिवादकी अविकल प्रतिलिपि 'सत्यवादी' पत्रसे दे रहे हैं, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुरुजीने दस्सोंके पक्षमें अपनी गवाहीमें क्या कहा था—

## प्रतिवाद

प्रिय सज्जनों और महानुभावों!

मुझे खेदके साथ लिखना पड़ता है कि सेठ साहबकी सूचनानुसार मैं आपके समक्ष उपस्थित नहीं हो सका। अतः अपने वक्तव्यको परोक्ष पत्र द्वारा उपस्थित करके आशा करता हूँ कि सर्व महाशय थोड़ी देरके लिये खुशामद और पक्षपातसे उपेक्षित होकर मेरे इस छोटेसे लेखको न्यायदृष्टिसे विचारपूर्वक पढ़ेंगे और सत्यासत्यका निर्णय करके सत्य पक्षको ग्रहण कर असत्य पक्षको घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे।

दस्से और बीसोंका मुकदमा सदर आला साहब मेरठकी अदालतमें था। बीसोंकी तरफसे पं० पन्नालालजी दस्सोंकी तरफसे मैं तलब कराया गया था। पं० पन्नालालजीने दस्सोंके पूजाधिकारके निषेधमें श्लोक पेश किये थे और इजहारोंमें यह भी कहा था कि व्यभिचारियोंकी सन्तान प्रति सन्तान अनन्तकाल बीतने पर भी कभी पूजनकी अधिकारी नहीं हो सकती है।

मैंने उसके विपक्षमें यह कहा था कि यह अशुद्धता हमेशा तक नहीं रहती है किन्तु थोड़े काल तक रहती है। यदि यह अशुद्धता हमेशाके लिये मानोगे तो इस अशुद्धताका प्रसंग तीर्थंकरोंमें भी आवेगा, क्योंकि छट्ठम छट्ठे कालमें राजा, धर्म और अग्निका सर्वथा लोप हो जाता है और सर्व मनुष्य पशुवत् नग्न और व्यभिचारी हो जाते हैं। उत्सर्पिणीके द्वितीय काल दुःषमामें २०,००० वर्ष तक कुलाचारका प्रचार नहीं होता है। १००० वर्ष शेष रहने पर कुलकरोंकी उत्पत्ति होती है और कुलकरोंके उपदेशसे विवाहादि कुलाचारका प्रचार होता है। इसके बाद जिस कुलमें १००० वर्ष तक शुद्धता रहती है, उसी कुलमें तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी प्रतिमादि बनाकर पूजी जाती है।

यह मेरा इजहार अदालतमें लगभग एक घंटे तक विस्तारपूर्वक हुआ था, इसलिये अदालतमें उसका सारांश लिखा गया है। इसी सारांशकी टीका हमारे सुयोग्य न्यायदिवाकरजीने लोगोंको यों समझाई है कि 'गोपालदासने महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरोंको व्यभिचारियोंकी सन्तान कहा है। सो गोपालदासने हमारे पूज्य तीर्थङ्करों पर मिथ्यारोप करके जैन मजहबकी तौहीन की है।' जिससे हमारे बहुतसे भोले भाई आपेसे बाहर हो गये हैं। मैंने जो बयान ऊपर लिखा है, वह त्रिलोकसार ग्रन्थके आधार पर लिखा है जो आपसे छिपा नहीं है। पं० पन्नालालजीने जो नोटिसमें यह जाहिर किया कि, गोपालदासने शूद्रोंको भी पूजाका अधिकारी कहा है, सो आपके सम्मुख इजहार मौजूद है, बाँच लीजिये, उसमें क्या लिखा है। और जरा कृपा करके पं० पन्नालालजीके पेश किये श्लोकोंको भी बांचिये, उनमें क्या लिखा है। धर्म संग्रह और 'पूजासार' दोनों ग्रन्थोंके श्लोक उन्होंने प्रमाणमें पेश किये थे, जिनमें साफ तौर पर शूद्रोंको पूजाका अधिकारी कहा है।

अन्तमें मेरी प्रार्थना है कि यह धर्मका मामला है, कुलियामें गुड़ फोड़कर भोले भाईयोंको अन्धकूपमें डालना न्यायसंगत नहीं हो सकता। इसलिये इस विषयमें पं० पन्नालालजीका और मेरा लिखित शास्त्रार्थ हो जाय और दोनों तरफके शास्त्रार्थके पर्चे समाचार पत्रोंमें प्रकाशित हो जांय कि जिससे सर्वसाधारण विवादस्थ विषयको अच्छी तरह समझ लें। इतनी प्रार्थनाके बाद भी यदि आप कुलियामें गुड़ फोड़ें तो आपको अधिकार है कि अपनी स्वतंत्रताका उपयोग चाहें जिस प्रकार करें।

गोपालदास बरैया

गुरुजीके उक्त प्रतिवादसे उनकी निर्भीकता और विद्वत्ता दोनों ही व्यक्त होती हैं।

इस तरह जहाँ एक ओर उनके विरुद्ध आंदोलन चल रहा था, दूसरी ओर गुणग्राहक सज्जन उनका समादर भी करते थे। कलकत्तेके सुप्रसिद्ध अटर्नी बा० धन्नूलालजी अग्रवालने अपनी पूज्य माताके स्वर्गवासके उपलक्षमें एक स्मृति समारोह किया था। जैनियोंमें यह एक बिल्कुल अभिनव बात थी।

इस स्मृति समारोहमें बाबू धन्नूलालजीने पं० गोपालदासजी, बाबू अर्जुनलालजी सेठी, कुंवर दिग्विजयसिंहजी और पं० माणिकचन्दजी आदि विद्वानोंको बहुत आग्रह और सत्कारके साथ बुलवाया और कलकत्तेके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जैनेतर विद्वानोंके समक्ष उनके जैनधर्म सम्बन्धी व्याख्यान कराये।

४ जून १९११ को जो सार्वजनिक सभा हुई, उसके सभापति महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण बनाये गये। इस सभामें स्याद्वाद वारिधि पं० गोपालदासजीका 'जैन सिद्धान्त'के विषय पर बड़ा ही महत्वपूर्ण भाषण हुआ। इस व्याख्यानकी प्रशंसामें जस्टिस सर गुरुदासजी बनर्जीने कहा—'मैंने आज जो परम तत्त्व पंडितजीके मुखसे सुने हैं, वे अत्यन्त गंभीर और महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे सुपंडित और सुवक्ताको धन्यवाद देना मेरे लिए आनन्दजनक है।' इसके पश्चात् महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषणने कहा—'हम स्याद्वादवारिधि, वादिगज केसरी पं० गोपालदासजीकी वक्तृता सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। मैं सारे बंगदेशकी ओरसे पंडितजीको धन्यवाद देकर कहता हूँ कि पंडितजीने जैनमतके कठिन तत्त्वोंको बहुत ही सरलतासे समझाया है। पंडितजीका तत्त्वज्ञान प्रगाढ़ है। आपकी अन्य धर्मोंकी खण्डन शैली बहुत सुन्दर और तर्कयुक्त है।' अन्तमें सभापतिजीने कहा—'मैं बड़ी प्रसन्नतासे कहता हूँ कि आज तक मुझे जैनधर्मका जानकार एक भी विद्वान् आप जैसा नहीं मिला। पंडितजीकी तत्त्व, द्रव्य, स्याद्वादनय, कर्म फिलासफी आदिकी धाराप्रवाह वक्तृता अद्वितीय है। मेरा अनुरोध है कि पंडितजीके व्याख्यानोंके लिये और भी सभाएँ की जायें।

उक्त घटनाके कुछ दिनों बाद ही 'जैनगजट' में कलकत्तेके ही एक जैन महाशयने एक लेख प्रकाशित कराया। उसका निष्कर्ष यह था कि 'जैनियोंमें जो अशान्ति फैल रही है, उसका प्रधान कारण पंडितजीको दी हुई स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी आदि उपाधियाँ हैं। यह भी बड़ा अन्याय है कि लोग उनके नामके साथ प्रातःस्मरणीय पंडितवर्य विद्वच्छिरोमणि आदि विशेषण जोड़ने लगे हैं, क्योंकि वे कहीं की परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हैं। अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकादि कोई ग्रन्थ उन्होंने पढ़े नहीं हैं। लोगोंने छोटी-छोटी सभाओंमें सिद्धसाधक बनकर उनके पीछे यह पुछल्ले जोड़ दिये हैं, और इन पुछल्लोंका प्रयोजन दक्षिणके भोले सेठोंके समान उत्तरके पंडित सेठोंको जालमें फँसाना है।'
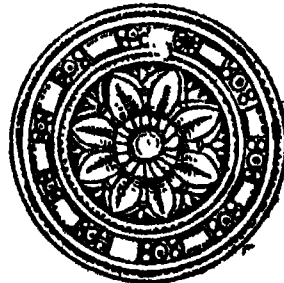
# गुरु गोपालदास : जीवन झाँकी

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, एम० ए० ( संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी ), पी-एच० डी०, डी० लिट्०
अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत विभाग—एच० डी० जैन कालेज, आरा

●

## चिन्तित जगका अणु-अणु

मधुमासके पदार्पण करते ही चराचर नयी दीप्ति और नये उल्लाससे भर उठा। आम्र मञ्जरियाँ अपनी भीनी-भीनी गन्धसे प्रकृतिके अणु-अणुको भावविभोर बनाने लगीं। सुगन्धसे मह'मह खिले फूलभरी वनपंक्तियोंमें कोकिलकी मधुर-कूंज जनमानसमें अनुराग-अमृतकी धारा उडेलने लगी। मधूक पुष्पके परागके कणोंको लेकर पवन मधुमासका स्वागत करनेमें संलग्न हो गया।

पर आश्चर्य यह है कि प्रकृतिका यह मधुमय वातावरण भी हार्दिक अनुराग उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। अतः आचार्यकल्प महापण्डित टोडरमलजीके उपरान्त एक सौ वर्षोंके बीच जैन समाजमें ऐसा सारस्वत नहीं जन्मा, जो अपनी असाधारण प्रतिभाके द्वारा सर्वत्र ज्ञानकी दुन्दुभि बजाकर जैनवाङ्मयका गौरव प्रतिष्ठित कर सके। वर्तमानमें 'निरालम्बा सरस्वती' है, अतएव समाजके साथ जगतका अणु-अणु भविष्यकी चिन्तासे आक्रान्त है।

## मुस्कुरा उठी मानवता

जगत्की चिन्ता अवगतकर मानवता मुस्कुराई। उसके अधरोंसे अस्फुट ध्वनि निकली—'जैनशास्त्रोंके अध्येताओंकी भगीरथ परम्पराका सूत्रपात होनेमें अब विलम्ब नहीं है। आगराके शीतलनाथ मन्दिरके पार्श्वमें एक मानपाड़ा मोहल्ला है। इसमें लाला लक्ष्मणदास वरैया निवास करते हैं। इन्हींके घर एक कुमार का जन्म होगा, जिससे जैनवाङ्मयके अनुशीलन-परिशीलनकी अनवच्छिन्न गंगोत्री निकल वंशीधर, माणिक्यचन्द, मक्खनलाल, देवकीनन्दन, उमरावसिंह रूप तटोंका स्पर्श करती हुई कैलाशचन्द्र, फूलचन्द्र और जगमोहन रूप सरोवरको प्राप्त होगी। सततवाहिनी इस स्रोतस्विनीके उक्त तट और सरोवर विश्राम स्थल नहीं होंगे, अपितु स्रोतस्विनीमें विकसित कमलकी गन्ध गणेशवर्णीके रूपमें अटकसे कटक तक और हिमालयसे कन्याकुमारी तक मानवताको त्राण प्रदान करेगी। उपन्यासमें रहनेवाली प्रतीक योजना जिस प्रकार कथानकको गतिशील बनाती है, दुरूह वर्णनोंमें सरसता उत्पन्नकर तत्त्वदर्शनकी प्रवृत्तियोंका उद्घाटन करती है, उसी प्रकार लक्ष्मणदासका यह नौनिहाल भी सामान्य घटनाओं, वस्तुओं और परिस्थितियोंका तात्त्विक दृष्टिसे विवेचन करेगा। अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा बहुचर्चित होगा।

## उतर पड़ा आलोक धरा पर

रूपचन्द, भैया भगवतीदास, पाण्डे जिनदास, पाण्डे हेमराज, पं० द्यानतराय, भूधरमिश्र, भूधरदास, बुलाकीदास एवं कवि नथमल विलालाकी जन्मभूमि और कर्मभूमि तथा महाकवि बनारसीदासकी कविताभूमि आगराको बाबा शीतलनाथका अनुग्रह प्राप्त है। अनेक कवि और विद्वानोंको जन्म देनेका श्रेय आगराकी सूखी मिट्टीको सर्वदासे उपलब्ध रहा है, अतः सिद्धान्त ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी उच्छिन्न परम्पराको पुनः संस्थापित करनेवाले पं० गोपालदासको जन्म देनेका गौरव अन्य स्थानको प्रदान करना आगराकी भूमिको स्वीकार नहीं था। फलतः वि० सं० १९२३ की चैत्र कृष्ण द्वादशीके दिन लाला लक्ष्मणदासजीके घर एक प्रकाशपुञ्जने जन्म ग्रहण किया। माताकी ममताके मेरु और पिताकी आशाके केन्द्र इस बालकका नाम गोपालदास रखा गया। कालिन्दीके तटपर बालक्रीड़ा करनेवाला यह गोपालदास बचपनसे ही असाधारण प्रतिभाशाली था। उसकी बालक्रीडाओंमें साहित्य और संस्कृतिकी अरुणिमा दिखलायी पड़ती थी। उसकी विलक्षण बाल सुलभ चेष्टाएँ भविष्यके गौरवकी अभिव्यञ्जना कर रही थीं। वसन्तकी मनभावनी ऋतु नैसर्गिक सुषमाको विकीर्ण कर नवजात शिशुकी भाल लिपिको पढ़नेकी चेष्टा कर रही थी। निमित्तज्ञानी और ज्योतिर्विदोंने भविष्यवाणियाँ की—शिशु

असाधारण ज्ञानी होगा, इसके गौरव-गरिमायुक्त जीवनका स्पर्श पा मूँक व्यक्ति भी वाचाल हो जायगा। जो एक शब्दका भी शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता है, वह पण्डित बन जायगा। गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसारकी चर्चा घर-घर होने लगेगी। अब पण्डित टोडरमलजीके रिक्त स्थानकी पूर्ति होनेका समय आचुका है। इस देवोपम व्यक्तित्वको पाकर माता-पिता या आगराका समाज ही अहोभागी नहीं है, किन्तु समस्त जैन समाजके लिए यह प्रकृतिका अनुपम वरदान होगा। शताब्दियों तक इतिहास इस व्यक्तिके गुणोंका अमर अंकन करता रहेगा। सर्वत्र इसके ज्ञानका सौरभ व्याप्त होकर जनमानसको तृप्ति प्रदान करेगा। उज्ज्वल अतीत साकार हो जायगा। हिमशीतलकी सभामें ताराको पराजित करनेवाले अकलंकके अद्भुत ज्ञान और आध्यात्मिक पराक्रमका समन्वय इस बालकमें उपलब्ध होगा।

ज्योतिर्विदोंकी उक्त वाणीको सुनकर परिवारके व्यक्तियोंको अपार हर्ष हुआ। माताने पुत्रकी दिव्यछविका जीभर कर पान किया। पिता शिशुकी मंगल कामना करनेके हेतु 'णमोकार मन्त्र' का चिन्तन करने लगे। शिशु माता-पिताके स्नेहको प्राप्तकर द्वितीयाके चन्द्रमा के समान वृद्धिंगत होने लगा।

## सहना पड़ा वियोग पिता का

जिस प्रकार पाटल-पुष्पका संवर्द्धन कण्टकोंके बिना संभव नहीं, उसी प्रकार महान् व्यक्तित्वका विकास भी विपत्तियोंके अभावमें नहीं होता है। 'चन्दन' घर्षित होने पर ही सुगन्ध उत्पन्न करता है, व्यक्ति भी कष्टोंके बीच महान् बनता है। अभी गोपालदासको नेत्रोन्मीलन किये दो ही वर्ष हुए थे, शिशुने सम्यक् रूपसे पिताको पहचाना भी नहीं था कि अकस्मात् लाला लक्ष्मणदासको मृत्युका निमन्त्रण मिल गया। आयुकर्म रूपी रस्सी छिन्न हो गयी और गोपालदास पितृसुखसे सदाके लिए वंचित हो गये। माँने सिर पीट लिया, परिवारके व्यक्ति करुण क्रन्दन करने लगे। अबोध शिशु माँ की इस अनिर्वचनीय पीड़ाको न समझ सका। उसके हाथकी चूड़ियाँ और माँगका सिन्दूर कालिन्दीकी भेंट चढ़ा दिये गये। अब वह रंगीन वस्त्रोंके स्थान पर धौत वस्त्र धारण करने लगी। उसकी समस्त जीवन आकांक्षाएँ पतिकी चिताके साथ जलकर भस्म हो गईं। पुत्रके लालन-पालनका दायित्व उसे कर्त्तव्यकर्म करनेके लिए प्रेरित करने लगा।

अबोध गोपालदास हँसकर माताके मनको ममतामें बाँधने लगा। उसकी तोतली वाणी माताको संबल देने लगी। उसने निश्चय किया, जीवन रोनेके लिए बना है। मेरे रोनेका प्रभाव इस सुकुमार बालकपर भी पड़ता है। अतः अब हृदयको कड़ा कर कर्त्तव्यमार्गमें जुट जाना चाहिए। पतिके अभावमें अब गोपालदासकी शिक्षा-दीक्षाका भार भी मेरे ही ऊपर है। अतएव गोपालदासको ज्ञानका गौरीशंकर बनाना है। जीवनकी समस्त उपलब्धियाँ कुमारके सम्मुख उपस्थित कर देनी है।

गोपालदासका विद्यारंभ संस्कार सम्पन्न हुआ। माँने अपने सीमित साधनोंके बीच बच्चे की शिक्षाकी पूर्ण व्यवस्था की। गोपालदास स्वभावतः क्रीड़ाप्रिय थे, पर थे तीव्र-बुद्धि। अंग्रेजी और गणित दोनों ही विषय इनको प्रिय थे, फलतः इन विषयोंमें इन्होंने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। जिस-किसी प्रकार इन्होंने मैट्रिकको परीक्षा उत्तीर्ण की। इनकी यह किशोर अवस्था महनीय नहीं थी, इस अवस्थाके गोपालदासको देखकर कोई यह अनुमान भी नहीं कर सकता था कि यही व्यक्ति गुरु गोपालदास हो जायगा, इसी शिल्पीके स्पर्शमात्रसे कोटि-कोट मानव ज्ञानी बन सम्यग्ज्ञानका अलख जगायेंगे। सन्तान युग-युगोंतक कृतज्ञतावश अवनत हो इसका नाम जपेगी। अगणित शास्त्री और आचार्य साक्षात् या परम्परया शिष्यत्व स्वीकार कर अपने जीवनको धन्य समझेंगे, सरस्वती अपने इसी लाडलेपर सर्वाधिक स्नेह वर्षा करेगी।

## बस गया संसार

गोपालदासकी शिक्षा अधिक दिनोंतक न चल सकी और घरेलू एवं आर्थिक परिस्थितियोंने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। माँकी साध पुत्रवधू प्राप्त करनेकी थी, वह पूरी हो गयी। गोपालदासजीका विवाह १९ वर्षकी अवस्थामें सम्पन्न हो गया। इन्हें २२ वर्षकी अवस्थामें प्रथम पुत्रलाभ हुआ। माता पौत्रका मुख देखकर प्रसन्नतासे भर गयी, घरमें उत्सव मनाया जाने लगा। विधिका विधान कुछ और ही था, जिस नौनिहालको लेकर खुशियाँ मनायी जा रही थी, जो बरैया परिवारका आलोक स्तम्भ था, वह एक दिन चल बसा। गोपालदासको पुत्रवियोगका दुःख सहन करना पड़ा। विचारशील, कर्त्तव्यपरायण और संसारकी वास्तविक परिस्थितिके ज्ञाता गोपालदासपर इस स्थितिका प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। वे हिमालयकी उस चट्टानके समान अडिग थे, जो गर्मी और सर्दीको समानरूप सहन करती है; जिसे शीत, आतपकी तो बात ही क्या, झंझावात भी विचलित करनेमें असमर्थ रहता है।

वि० सं० १९४७ में अर्थात् २४ वर्षकी अवस्थामें एक कन्यारत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम कौशल्याबाई रखा गया। गोपालदासकी माँ पौत्रीको अपार स्नेह करती थीं और वे कौशल्याको उभयकुल मङ्गलदायक मानती थीं। वि० सं० १९४९ अर्थात् २६ वर्षकी अवस्थामें एक पुत्रका जन्म हुआ, जिसका नाम माणिकचन्द रखा गया। कुछ दिनोंके पश्चात् किसी रोगविशेषके कारण माणिकचन्दकी एक आँख खराब हो गयी। गोपालदासजीने पुत्र माणिकचन्दकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध किया, पर भाग्यने साथ नहीं दिया। फलतः माणिकचन्द शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका।

श्री पं० गोपालदासजीका यह संसार—गार्हस्थिक जीवन सुखमय नहीं था। पत्नीका उग्र-स्वभाव एवं माणिकचन्दकी अज्ञानता उनके लिए शल्यतुल्य थे, पर वे अपने आन्तरिक बोधके प्रकाशमें सब कुछ धैर्यपूर्वक सहन कर लेते थे। उनके सम्यक्त्व विवेक और चारित्र्य सर्वदा जाज्वल्यमान थे, जिससे उन्हें कभी किसी प्रकारके कष्टका अनुभव नहीं हुआ।

## पावन-भू अजमेरकी जीवन-ज्योति बनी

गृहस्थीका भार आते ही गोपालदासको व्यवसायकी चिन्ता हुई। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने अजमेरमें रेलवेके कार्यालयमें नौकरी कर ली। अल्हड़ युवकके समान आप अपने ही कार्योंमें व्यस्त रहते थे और अपनी ही आवश्यकताओंके घेरेमें आबद्ध थे। समाज, संस्कृति और साहित्यके कार्योंमें आप भाग नहीं लेते थे। धर्म एवं संस्कृतिके प्रति आपका आकर्षण नाममात्र भी नहीं था। अतएव किसी भी सामाजिक उत्सवमें सम्मिलित न होना एक साधारण बात थी। युवक गोपालदास अपनी ही समस्याओंके समाधानमें व्यस्त थे। भवितव्यताकी बात कि एक दिन उनका साक्षात्कार अजमेरके जैन विद्वान् पण्डित मोहनलालजीसे हुआ। पण्डितजीसे साहित्य, धर्म और दर्शनकी चर्चा सुन, गोरा रंग और साधनाकी लिपिको व्यंजित करनेवाली चेहरेकी दीप्ति तथा 'रेटिना'में असाधारण पैनी परख अर्जित करनेवाली आँखें चमक उठीं। उनके कंचन जैसे व्यक्तित्वको कुन्दन बननेका अवसर प्राप्त हुआ।

पं० मोहनलालजीके व्यक्तित्वने गोपालदासको मोहित कर लिया। उनकी प्रतिभाको विकासका पूरा अवसर प्राप्त हुआ। 'पारस परसि कुधातु सुहाई' की किवदन्ती चरितार्थ होने लगी। इनके जीवनमें एक नया मोड़ उत्पन्न हुआ। संस्कृत-साहित्य, जैनदर्शन और जैनवाङ्मयका अध्ययन प्रारम्भ हो गया। सतत अभ्यास और अप्रतिम प्रतिभाके समक्ष सरस्वतीको गोपालदासकी वशवर्तिता स्वीकार करनी पड़ी। ज्ञानाराधनामें बाधा पड़ती देख आपने रेलवेकी नौकरीको तिलाञ्जलि देकर रायबहादुर सेठ मूलचन्द्र नेमिचन्द्रके यहाँ कार्य आरम्भ किया। इनकी ईमानदारी, परिश्रम और सत्य-निष्ठासे सेठजी बहुत प्रभावित थे। अजमेरमें ये छः-सात वर्षतक रहे और यहीं संस्कृत व्याकरण एवं जैनन्यायका ज्ञान प्राप्त कर लिया।

पं० मोहनलालजीके साथ पं० बलदेवदासजी आगरा भी आपके विद्या गुरु थे। कहा जाता है कि पं० बलदेवदासने महाभाष्यपर्यन्त व्याकरणका अध्ययन किया था। राजवार्त्तिक और सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ इन्हें कण्ठस्थ थे। पञ्चाध्यायीका अध्ययन भी गोपालदासजीने पं० बलदेवदासजीसे ही किया था। श्रीचेतनस्वरूपजी एम० ए०, एल० टी० ने अपने दादा बलदेवदासजीके सम्बन्धमें अनेक तथ्योंकी जानकारीसे अवगत कराया।

## कर्मक्षेत्र बन गयी बम्बई

कुछ वर्षोंके उपरान्त आप बम्बई चले आये और यहाँ एम० जे० टेलर्स नामकी यूरोपियन कम्पनीमें कार्य करना आरम्भ किया। आपकी प्रखर प्रतिभा, कर्त्तव्य परायणता एवं ईमानदारीसे कम्पनीके अधिकारी बहुत ही प्रसन्न थे, फलतः कुछ ही दिनोंमें वेतनवृद्धिके साथ पदवृद्धि भी कर दी गयी। एक दिन आपको अपनी स्नेहमयी माताके स्वर्गवासका दुःखद समाचार मिला। आप मातृभक्तिमें विह्वल हो गये और कम्पनीसे अवकाश लेना भी भूल गये। आगरा चले आने पर आपको कम्पनीका तार मिला कि अवकाशके बिना चले जानेके अपराधमें आपको कम्पनीकी सेवासे मुक्त किया जाता है। मातृशोकके कम होने पर आप पुनः बम्बई गये और कई प्रकारके व्यवसायों द्वारा आजीविका उपार्जन करते रहे।

बम्बईमें निवास करते हुए आपके सार्वजनिक जीवनका प्रारम्भ हुआ। भा० दि० जैन महासभाकी स्थापना और उसकी प्रगतिमें आपका प्रमुख हाथ था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओंके विशाल वाङ्मयकी उपेक्षा आपको खटक रही थी। इस प्राचीन ज्ञाननिधिका उद्घाटनकर आप समाजको आलोकित करना चाहते थे। फलतः भारतीय दिगम्बर जैन महासभाकी ओरसे संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापनामें आपकी प्रेरणा उल्लेख्य है।

जैन वाङ्मयके अध्ययनको सार्वजनीन बनानेके हेतु अपने भा० दि० जैन परीक्षालयकी स्थापना की और उसका संचालन बड़ी योग्यतासे किया। जैन वाङ्मयके अध्ययनका प्रचार और प्रसार बढ़ा। उपेक्षित साहित्य जनताके समक्ष आने लगा और जनसाधारण उसके यथार्थ महत्त्वसे परिचित होने लगा। पण्डित गोपालदासने स्वार्थ त्यागकर शिक्षा, साहित्य और सांस्कृतिक कार्योंमें अपना अमूल्य समय लगाना आरम्भ किया। कम्पनीने आपको पुनः अपने यहाँ नियुक्त किया, पर अब साहित्य, शिक्षा और संस्कृतिके अभ्युदय हेतु कृतसंकल्प गोपालदासको वह नौकरी रुची नहीं और कुछ ही समयके उपरान्त उसे सदाके लिए छोड़ दिया। सार्वजनिक उन्नतिको महत्त्व देनेके कारण आपके आजीविका सम्बन्धी प्रयत्न व्यर्थ होने लगे। कर्तव्यपालन करनेकी दृढ़ता और अथक परिश्रम आपके जीवनके प्रधान गुण थे फलतः दिन-रात जैन वाङ्मयके रत्नोंके प्रकाशको जनताके समक्ष उपस्थित करने में लग गये।

## अलख जगा फिर ज्ञान ज्योतिका

स्वाध्यायी साधकको वाग्देवीकी जितनी कृपा प्राप्त होती है, उतनी संभवतः विद्यालयों एवं महाविद्यालयोंकी कक्षाओंमें सम्मिलित होकर सीमित समय तक पुस्तकोंके भारसे लदे रहनेवाले महानुभावोंको नहीं। गोपालदासजीने सतत् स्वाध्यायसे दुरूह और विशाल ग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आप सरस्वती मन्दिरके वह प्रदीप थे, जो केवल शुद्ध गो-घृतसे ही जलता है। इस दीपका प्रकाश अब अन्य व्यक्तियोंको भी प्राप्त होने लगा था। समाजकी प्रत्येक सभामें आप सम्मिलित होते और अपने प्रवचनोंसे जनताको मन्त्र-मुग्ध कर देते। आप जैन वाङ्मयके मात्र शिल्पी ही नहीं थे, बल्कि महर्षि दधीचिकी तरह आपने अपनी हड्डियोंको गला-गलाकर जैनधर्म और जैन साहित्यका प्रसार किया। आपका त्याग और संयम भी कम उल्लेखनीय नहीं है।

बम्बई छोड़कर आपने मध्यप्रदेशके भिण्ड नामक स्थानमें आकर ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित की। स्वतन्त्र व्यवसायके साथ आपने एक पाठशाला भी संचालित की, जिसमें स्थानीय बालक जैनधर्मकी शिक्षा प्राप्त करते थे। भिण्डका स्थान जलवायुकी दृष्टिसे उत्तम था, पर साहित्य और शिक्षाके विकासके लिए जिस वातावरणकी आवश्यकता होती है, उसका वहाँ अभाव था। फलतः पण्डित गोपालदासजीका आचार्यत्व विकसित न हो पाया और अन्तरात्मामें मुक्त हस्तसे ज्ञान वितरण करनेकी भावना द्वन्द उत्पन्न करने लगी।

## हिमगिरि-सा आचार्यत्व

दस-बारह वर्षोंकी साधना द्वारा गोम्मटसार, त्रिलोकसार जैसे करणानुयोगके महनीय ग्रन्थोंका मननचिन्तन कर आपने शिक्षाकी दिशा में प्रगति की। ज्ञानसौरभ जनमानसको उल्लसित करने लगा था। भीतरका आचार्यत्व विकसित होनेके लिए जोर मार रहा था। अतएव आप व्यापारके सिलसिलेमें मध्यप्रदेशके मोरेना नामक स्थानमें आये। चम्बल घाटीके इस स्थानने गुरुजीके मनको अत्यन्त आकृष्ट किया। आपने अपना व्यवसाय करते हुए यहाँ पर एक संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापना की और स्वयं ही निःशुल्क रूपसे छात्रोंको जैन वाङ्मय और दर्शनके प्रमुख ग्रन्थोंका अध्यापन आरम्भ किया। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंके समान आप छात्रोंकी सब प्रकारसे सहायता करते, उन्हें ज्ञानदान देते एवं अस्वस्थ होने पर उनकी सेवा भी करते थे। आपकी जिह्वा पर सरस्वतीका वास था, अतः मन्त्रमुग्ध होकर शिष्य गुरुवर्यका प्रवचन सुनते रहते थे। आपका यश अहर्निश वृद्धिगत होता जा रहा था। कालिन्दीने जिस नैनिहालको अपनी गोदमें दुलराया था, उसीके जीवनका समस्त सौरभ चम्बलने शीतल कर दसों दिशाओंमें विकीर्ण कर दिया। अब वह कालिन्दीके तट पर विहार करने वाला गोपाल न रहकर गुरु गोपालदासके नामसे विख्यात हो गया। गुरुवर्यके ज्ञानका पराग प्राप्त करनेके लिए दूर-दूर वर्ती छात्र एकत्र होने लगे। चारों ओर उनके ज्ञान और पाण्डित्य की दुन्दुभि बज उठी। ज्ञान सुरभि व्याप्त होने लगी। आपमें ज्ञान की अपेक्षा मेधाका बाहुल्य था। इसका उचित संवर्धन आपने अपने स्वाध्याय द्वारा किया था। शिष्यवत्सल आचार्य गोपालदासकी पाठनशैली छात्रोंके लिए आकर्षण की वस्तु थी। उनके चरणोंमें बैठकर ज्ञान प्राप्त करनेका सौभाग्य जिन्हें मिला है, वे धन्य हैं। आपके आचार्यत्वकी छाप शिष्योंके साथ स्वाध्याय प्रेमी बड़े-बूढ़ों पर भी अंकित थी। शंका- समाधानके लिए जिस प्रत्युत्पन्नमतित्वकी आवश्यकता होती है, वह आपके पास सुरक्षित थी। आपका यह आचार्यत्व अन्य समकालीन विद्वानोंके लिए ईर्ष्याकी वस्तु था।

## धन्य-धन्य हो गया मोरेना

जिस प्रकार कमलकी गन्ध पत्तोंके मध्यसे भी कमलकी उपस्थितिकी सूचना दे देती है, उसी प्रकार मनुष्यके गुण भी मनुष्यकी जनताके मध्य उपस्थित कर देते हैं। मोरेनाकी धरतीने भी गोपालदासको पहचाना और

उनके व्यक्तित्वका उपयोग करना आरम्भ किया। तत्कालीन सिन्धिया सरकार भी उनके यशसे मुग्ध हो गयी और गुरुजीको मोरेना जिलेका ऑनरेरी मजिस्ट्रेट नियत किया। ये यहाँ चेम्बर आफ कामर्स एवं पंचायत बोर्डके भी सदस्य थे। मोरेना एवं उसके आसपासकी कोई भी पंचायत गुरुजीकी उपस्थितिके अभावमें असफल समझी जाती थी। वाचा शक्ति अपूर्व थी। जिस सभामें गुरुवर्य उपस्थित रहते थे, उसमें उनका भाषण सुननेके लिए कई कोस दूरसे जनता उमड़ पड़ती थी। उनका भाषण तात्त्विक होता था, पर वाणीमें अमृत और मिश्रीका घोल एक साथ था, अतः कठिन और दुरूह विषय भी बिना किसी कष्टके कण्ठमें समाविष्ट हो जाते थे।

मोरेना विद्यालयको ये बिना किसी मोह-ममताके चलाते थे। अध्यापनके अतिरिक्त विद्यालयकी अन्य व्यवस्थाएँ भी इन्हींके द्वारा संचालित होती थीं। इन्होंने कई प्रकारके व्यवसाय भी मोरेनामें चालू किये, पर सफलता नहीं मिली। सरस्वती और लक्ष्मीका ईर्ष्याभाव गुरुदेवके व्यक्तित्वसे स्पष्ट परिलक्षित होता था। गुरुजीके निवासके कारण मोरेना तीर्थभूमि बन गया था। मोरेनाकी मोहर लगे बिना विद्वत्ता ही नहीं मानी जाती थी। उस समय मोरेनाके नामके साथ ही धर्मशास्त्र विषयक ज्ञानका साहचर्य माना जाता था।

## सम्मानित फिर हुए बंग से

गुरु गोपालदासके यशकी गन्ध कस्तूरीकी गन्धके समान व्याप्त होने लगी। ४ जून सन् १९११ में कलकत्ता नगरमें एक सार्वजनिक सभाका आयोजन किया गया था। उस सभाके अध्यक्ष थे महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्या-भूषण। इस सभामें गुरुजीका जैन सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। इस भाषणकी प्रशंसामें जस्टिस सर गुरुदास बनर्जीने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा—'मैंने आज जो परमतत्त्व पण्डितजीके मुखसे सुने है, वे अत्यन्त गम्भीर और महत्त्व-पूर्ण हैं। ऐसे पण्डित और सुवक्ताको धन्यवाद देना मेरा परम कर्त्तव्य है।' जस्टिस सर गुरुदास बनर्जीके पश्चात् महामहो-पाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषणने कहा—'हम स्याद्वाद वारिधि, वादिगजकेसरी पं० गोपालदासजी वरैयाकी वक्तृता सुनकर बहुत प्रसन्न हुए हैं। मैं समस्त बंग देशकी ओरसे पण्डितजीका अभिनन्दन करता हुआ उन्हें धन्यवाद देता हूं। मैं बार-बार कहूंगा कि पण्डितजीने जैन दर्शनके कठिन तत्त्वोंको बहुत ही सरलतासे समझा है। पण्डितजीका तत्त्वज्ञान प्रगाढ़ है। आपकी अन्य धर्म-दर्शनोंकी समीक्षात्मक शैली बहुत सुन्दर और तर्कयुक्त है। सभापति विद्या भूषणने कहा—'मैं बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार करता हूं कि आज तक मुझे आप जैसा जैनदर्शनका जानकार एक भी विद्वान् नहीं मिला। पण्डितजीको तत्त्व, द्रव्य, स्याद्वादनय, कर्मसिद्धान्तकी धारा प्रवाह वक्तृत्व शैली अद्वितीय है। मेरा अनुरोध है कि पण्डितजीके भाषणोंकी पुनः योजनाकी जाय। इस प्रकारके यशस्वी विद्वान् ही वस्तुतत्त्वकी यथार्थ जानकारी दे सकते हैं।'

कलकत्ताके समस्त संस्कृतज्ञ विद्वानोंने एकत्र होकर गुरुजीको 'न्यायवाचस्पति' की उपाधि प्रदान की, साथ ही आपका प्रशंसनीय अभिनन्दन भी किया।

'न्यायवाचस्पति' उपाधिके पूर्व गुरुजीको जैन समाजकी प्रमुख सभाओंकी ओरसे स्याद्वादवारिधि और वादिगज-केसरी उपाधियाँ भी प्राप्त हो चुकी थीं। गुरुजीकी व्याख्यान शैली और तर्कशैली इतनी मनोरम थी, जिससे उनके समक्ष वाद-विवादमें ज्ञानके हिमालय पर आसीन रहनेवाले विद्वान् भी नहीं ठहर सकते थे। स्याद्वादनय, कर्मसिद्धान्त एवं आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्ववादका समर्थन न्यायशैली द्वारा करते थे। पक्ष समर्थनमें दी गयी युक्तियोंका खण्डन करनेमें बड़े-बड़े नैयायिक भी असमर्थ थे। उत्तर भारतकी समस्त जैन सभाओंका नेतृत्व उनके ही हाथमें था। जैनदर्शन और जैन सिद्धान्त-के सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी उठायी गयीं शंकाओंका समाधान गुरु गोपालदास ही करते थे। उन जैसे विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्ति विश्वमें अति स्वल्प ही होते हैं।

## जो दिग्गज शास्त्रार्थ विजेता

प्रतिभा धनी गुरु गोपालदास शास्त्रार्थ करनेमें भी किसीसे कम नहीं थे। गुरुजीके आविर्भावके पूर्वसे ही आर्य समाज धर्म प्रचारका कार्य कर रहा था। ईसाइयों द्वारा प्रत्येक नगरमें मिशन शिक्षा-केन्द्रोंका जालसा बिछाया जा रहा था। आर्य समाज शास्त्रार्थोंकी योजना कर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें सर्वाधिक गतिशील था। गुरुजीका कई बार आर्य-समाजके साथ शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा अजमेरमें दर्शनानन्द सरस्वतीको शास्त्रार्थमें पराजित किया। आपके इस शास्त्रार्थकी प्रशंसा सरस्वतीके तत्कालीन सम्पादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदीने भी की थी।

## पत्रकारितामें रुचि जागी

पत्रकार लोक चक्षु और लोक जिह्वा है। वह समाज और देशके लिए देखता और बोलता है, वह जो स्वाध्याय करता है, वह भी परहितके लिए। वह मुखके समान है, जिस पर समाज रूपी अंगोंका पालन-पोषण और संगठनका दायित्व रहता है। वह भूतकालका विश्लेषक, वर्तमानका संस्थापक और भविष्यका अग्रदूत है। उसके विशाल हृदयमें शान्तिका सरोवर, जिह्वामें अग्नि स्फुलिङ्ग और लेखनीमें कठोर तीक्ष्णता होती है। गुरुगोपालदास इन्हीं गुणोंसे अलंकृत एक यशस्वी पत्रकार थे। उनके युगतक भारतकी पत्रकारिता शैशवावस्थामें थी। गुरुजीने दि० जैन बम्बई प्रान्तिक सभाके मुखपत्र 'जैनमित्र'का सम्पादन आरम्भ किया। लगभग दस वर्षों तक आप इस पत्रके सम्पादक रहे। पत्रमें विषयोंका चयन, रचनाओंका सकलन, उनका क्रम, सजधज आदि सभी चीजोंसे गुरुजीके संपादनकी रुचि और आदर्शप्रियताका पता चलता है। इन्होंने जो सपादकीय लेख लिखे है, उनसे उनके व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश पड़ता है। शिक्षा, शिष्टा-चार, उन्नति, सभा, संस्था, संस्कार, समस्याएं आदि विषयो पर विस्ताररूपसे गुरुजीने लिखा है। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। धर्म, दर्शन, समाजविज्ञान एवं राजनीति विषयो पर आपने प्रकाश डाला है। गुरुजी धार्मिक विद्याको उतना ही आवश्यक समझते थे, जितना आवश्यक शरीरके लिए भोजन होता है। जैनमित्रमें जैन जगतके ताजे और तात्कालिक समाचार भी प्रकाशित होते थे। जैन बन्धुओंसे अपील करने तथा जातीय विषयके सम्बन्ध सुझाव उपस्थित करने के लिए यह पत्र एक सुगम साधन था।

## चमक उठी साहित्य सर्जना

गुरु गोपालदासका साहित्यिक जीवन जैनमित्रके सम्पादनमें आरम्भ हुआ। दर्शन जैसे गूढ विषयका निरूपण करनेके साथ उपन्यास जैसी सरस साहित्य विधाका प्रणयन करना आपकी अपनी विशेषता है। सुशीला उपन्यासमें गुरुजीने धार्मिक सिद्धान्तोंकी व्यंजनाके लिए काल्पनिक चित्रोंको इतनी मधुरता और मनोमुग्धतासे खींचा है, जिससे पाठक गुणस्थान जैसे कठिन विषयोंको कथामाध्यम द्वारा सहजमें अवगत कर लेता है। इस उपन्यासका कथानक अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है। घटनाएं शृंखला बद्ध हैं। घटनाओंका आरम्भ और अन्त ऐसे कलापूर्ण ढंगसे होता है, जिसमे पाठककी उत्सुकता बढती जाती है। इसकी शैली प्रौढ और प्रवाह पूर्ण है। काव्यका चमत्कार सर्वत्र विद्यमान है। भावनाओंके साथ घटनाओंका साकार रूप प्रदर्शित किया गया है, प्राकृतिक चित्र भी मनोहर और सरस है। अलंकारोंका आकर्षक प्रयोग, चित्रमय वर्णन, अभिनयात्मक कथोपकथन, उदात्तचरित्र एवं रचना कौशल प्रत्येक आलोचकको भावविभोर बना देते है।

'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' एक उपयोगी कृति है। इसे गुरुजीने अपने शिष्य मोतीलालके अध्यापनार्थ लिखा था। पाँच अध्यायोंमें ग्रन्थ समाप्त होता है। इसे जैन सिद्धान्तका कोषग्रन्थ कहा जा सकता है। प्रमाण, नय, द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्मबन्ध, गुणस्थान एवं मार्गणा आदि का स्वरूप, भेद-प्रभेद इस ग्रन्थमें वर्णित है। इसमें ६६८ प्रश्नोंका उत्तर दिया है। प्रश्नोत्तर शैलीमें यह रचना लिखी गयी है।

गुरुजीकी तीसरी कृति 'जैनसिद्धान्त' दर्पण है। इस ग्रन्थमें जैनागमके समस्त ज्ञातव्य तथ्य सकलित है। हिन्दी भाषाका ज्ञाता प्रत्येक व्यक्ति आपकी इस रचनासे जैन सिद्धान्तोंकी जानकारी प्राप्त कर सकता है। जैन जागरफी, प्रभृति अनेक निबन्ध भी आपके द्वारा लिखित उपलब्ध है।

## सदाचार-नैष्ठिकता

गुरुजी चरित्रकी मूर्ति थे। आपका उज्ज्वल चरित्र अन्य लोगोंके लिए भी अनुकरणीय है। आपके जीवनसे स्पष्ट है कि संसारमें व्यापार भी सत्य, अहिंसा और अचौर्यव्रतको दृढ रखकर किया जा सकता है। कडीसे कडी परीक्षाका अवसर आने पर भी आपने अणुव्रतोंका रंचमात्र भी त्याग नहीं किया।

गुरुजीका अखण्ड ब्रह्मचर्य और हाथके सच्चे थे। निकट परिवारके व्यक्ति आपको देवता समझते थे। आपके जीवनका आदर्श सहस्त्रोंको अनुप्राणित करता था। आपमें रत्नत्रयका अपूर्व समन्वय था। आपके विचारमें आचार और आचारमें विचार था। मनोविजेता होनेके कारण ही आप जगत् विजेता थे। आपने सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय अपना जीवन समर्पित कर दिया था। गृहस्थ होने पर भी आपका जीवन मुनितुल्य प्रतीत होता था। असत्य भाषण आपने

कभी नहीं किया था। पञ्चाणुव्रत जीवनके संबल थे, अतः सादा रहन-सहन और शुद्ध भोजन आप सर्वदा ग्रहण करते थे।

## शुभ-संघर्ष-सफलता

जीवनका विकास संघर्षोंके बीचसे होता है। आपके विचार क्रान्तिकारी और विवेकपूर्ण थे। बिना किसी प्रलोभनमें पड़े आप निष्पक्ष निर्णय देते थे। लल्लो-चप्पो करना या खुशामदी बातें कहना आपको नहीं आता था। बड़े-बड़े लखपतियों और करोड़पतियोंको उनके मुँह पर खरी-खरी सुना दिया करते थे। धर्मकी बातोंको यथार्थ रूपमें उपस्थित करते थे। दस्सा पूजाधिकार मुकदमेमें दी गयी गवाहीके कारण कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियोंने आपके विरोधमें जातिच्युत एवं सभा बहिष्कारके प्रस्ताव स्वीकृत कराये। परन्तु इन विरोधोंसे गुरुजीका यश मलिन नहीं हुआ, प्रत्युत उज्वल ही होता गया।

सन् १९१२ ई० में 'दक्षिण महाराष्ट्र सभा' का विशिष्ट अधिवेशन वेलगाँवमें हुआ था। गुरु गोपालदास इस अधिवेशनके अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। पूनामें वेलगाँव तक प्रत्येक स्टेशन पर गुरुजीके स्वागतकी भव्य योजनाकी गयी थी। वेलगाँवमें स्टेशनसे पंडाल तक सहस्त्र नर-नारियोंने अभूतपूर्व स्वागतकी तैयारियाँ की थी।

## वीणाकी अन्तिम झंकार

गुरु गोपालदासने विच्छिन्न होती हुई विद्वानोंकी परम्पराको सुदृढ बनाया। सतत् अध्यवसायके कारण कार्याधिक्यने आपके स्वास्थ्य-संस्थानको विघटित कर दिया। आर्थिक और घरेलू परिस्थितियाँ भी आपको झकझोर रही थीं। सन् १९१७ ई० में आप अत्यन्त बीमार पड़े, रातभर आपको नींद नहीं आती और बेचैनी बढ़ती जाती थी। अब ऐसा आभासित होने लगा था कि यह दीप बुझने वाला है। एक दिन रात्रिमें वीणाकी वह झंकार जिसने समग्र भारतमें एक नये संगीतका सृजन किया था, शान्त हो गयी।

भारतीय किसान जैसा दुबला-पतला शरीर, गौर वर्ण, लम्बा कद, गोलाकार मुखमण्डल, कटी-छँटी घनी मूँछे, आँखो पर चश्मा, सिर पर पगड़ी, तन पर मिरजई, नीचे घुटनों तक धोती और पैरमें चमरूहा जूता, मस्तकका विशाल चन्दन-तिलक और गलेका दुपट्टा सभीको अपनी ओर आकृष्ट करते थे। वे पुण्योंके दुर्ग थे। उन्हें पण्डितका आत्मगौरव और स्वाधीनचेता कलाकारके मनकी मस्ती प्राप्त थी। प्रतिभा और विद्वत्ताका ऐसा मणिकाञ्चन संयोग बहुत कम स्थलों पर दिखलायी पड़ता है। उनके द्वारा प्रवर्तित सारस्वतोंकी परम्परा युग-युगों तक उन्हें अमर बनाये रखेगी। वे साक्षात् या परम्परया वर्तमान समस्त जैन विद्वद्वर्गके गुरु है, उनका व्यक्तित्व महनीय गुणोंके संघातसे निर्मित है, जिससे वे अनन्तकाल तक अधूमिल और प्रकाशमान रहेंगे।

आये हैं सो जायँगे, राजा रंक फकीर।<br>
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बँधे जञ्जीर॥

यद्यपि उनका पार्थिवशरीर आज नहीं है, पर यशःशरीर इस भूतल पर अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगा।

# गुरु गोपालदासके जीवनके कुछ पहलू

श्री पंडित बाबूलालजी, पनागर

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाकी स्थापनाके थोडे ही वर्षके पश्चात् पूज्य श्री गुरु गोपालदासजीने जैन समाजकी सेवामें भाग लिया। आप पहिले ही स्कूलमें हिन्दी और अंग्रेजी भाषाकी मैट्रिक कक्षा तकका ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, समाज-सेवामें प्रवेश करनेके पूर्व आप जैनधर्म-विषयक ज्ञान और संस्कृत भाषासे पूर्ण अनभिज्ञ थे। उस समय आर्य-समाजकी जोरोंसे प्रगति हो रही थी, अतएव आप भी उसके प्रवाहमें बह रहे थे। दैवयोगसे आपको अजमेरमें स्व० पण्डित मोहनलालजीका और आगरामें स्व० पंडित बल्देवदासजीका समागम प्राप्त हो गया; जिसके कारण आपकी तीक्ष्ण बुद्धि और प्रखर प्रतिभाने जैनधर्मके मार्मिक तत्त्वज्ञानकी ओर प्रगति की। अपने सत्प्रयत्नसे आप अति अल्प समयमें जैनधर्मके करणानुयोग और द्रव्यानुयोग विषयक तत्त्वोंके अच्छे वेत्ता बन गये। बम्बई पहुँचनेपर आपने स्व० पं० जीवारामजी शास्त्रीके समीप संस्कृत व्याकरणका अभ्यास कर लिया। स्व० पूज्य पं० धन्नालालजी काशलीवाल और स्व० गुरु पं० पन्नालालजी बाकलीवाल आपके परम हितैषी मित्र थे और जैनधर्मकी प्रभावना बढ़ाने तथा जिनवाणीके प्रकाशित करने और प्रसारित करानेमें आपके परम सहायक बन गये।

पंडितजीकी लगन और अपूर्व उत्साहका परिचय पाकर महासभाने आपको अपने जैन परीक्षालयके मंत्रित्व पदपर प्रतिष्ठित किया। महासभाकी स्थापनाके कुछ ही समय पश्चात् बम्बईके परमोपकारी, सद्दानी, विद्याप्रेमी, तीर्थभक्त-शिरोमणि स्व० सेठ माणिकचन्दजी जवेरी जे० पी० तथा शोलापुरके श्री स्व० सेठ हीराचन्दजी और उपर्युक्त त्रय पंडितोंके सत्प्रयत्नसे मुम्बई दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभाकी स्थापना हुई। सभाने अपना 'जैनमित्र' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया और गुरु गोपालदासजीको उसका सम्पादकीय भार सौंपा, जिसे पंडितजीने भलीभाँति सम्हाला और पत्रको समाज-सेवा करनेमें उत्तेजित करनेवाले, तत्त्वज्ञान करानेवाले, धर्मविपक्षी जैनेतर बन्धुओंको मुखतोड उत्तर देनेवाले उत्तमोत्तम लेखोंसे सुसज्जित करके मासिक और फिर पाक्षिक रूपमें परिणत कर दिया। इस पत्रके साथ 'जैन सिद्धान्त-दर्पण' सरीखे अत्यन्त गहन विषयोंका सरल सुबोध वाक्योंद्वारा ज्ञान करानेवाले तथा 'सुशीला' उपन्यास सरीखे उच्चकोटिके उपन्यासको लिखकर समाजको भेंट किया। 'जैनमित्र' के सम्पादनमें हिन्दी भाषाके आचार्य स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमीने आपके कार्यमें सहयोग दिया।

बम्बई प्रान्तिक सभाके जैन विद्यालयके सिवाय महासभाके महाविद्यालयके प्रबन्धक रहकर इनकी काफी उन्नति करनेके पश्चात् गुरुजी मोरेना ( स्टेट ग्वालियर ) में आगये और वहाँ दूकान खोलकर व्यापारी बन गये, परन्तु समाज सेवाके भाव तथा कार्यमें कुछ भी कमी नहीं होने दी। श्रीमान् स्व० पं० लालारामजी, स्व० पं० वंशीधरजी शोलापुर, स्व० पं० खूबचन्दजी आदि विद्वानोंको जैन तत्वज्ञानमें खूब शिक्षित बना देने पर आपके मनमें यह विचार आया कि जैन सिद्धान्त विद्यालयकी स्थापनाकी जावे। उस समय मोरेनामें आपके पास केवल पंडित खूबचन्दजी शास्त्री, श्री गोम्मटसार ग्रन्थ का अध्ययन करते थे। माघ सुदी सं० १९६६ में श्रीमान् रायबहादुर सेठ पूरण शाहजी, सिवनीने श्री सम्मेदशिखरमें पंचकल्याणक गजरथ महोत्सव कराया था। उस उत्सवके अवसर पर भा० दिगम्बर जैन महासभाका वार्षिक अधिवेशन श्रीमान् सेठ हुकमचन्दजी इन्दौरकी अध्यक्षतामें हुआ। उस अवसर पर वहाँ पर जैन समाजके प्रमुख विद्वान्, श्रीमान्, सामाजिक कार्यकर्ता उत्साही युवकों और सर्व साधारण जैन जनताका भारी जमाव हुआ था। महासभाकी सबजेक्ट कमेटीमें सौभाग्यसे मुझे भी प्रवेश करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। सेठ साहिबके डेरे पर इस कमेटीकी बैठकमें प्रस्तुत किये इस प्रस्तावपर भारी विवाद हुआ कि बनारसमें चालू स्याद्वाद पाठशालामें महासभाके मथुरामें चल रहे महाविद्यालयको वहाँसे ले जाकर सम्मिलित कर दिया जावे और पाठ्य-विषयोंमें अंग्रेजी भाषाका प्राधान्य रख करके इन

दोनोंका नाम जैन कालेज रखा जावे, ऐसा श्रीमान् डिप्टी चम्पतराय सा० महामंत्री महासभाका सुझाव था। परन्तु गुरु गोपालदासजी द्वारा सारगर्भित विरोधमें उपस्थित सदस्योंको लाभांश अधिक जँचनेके कारण वैसा न हो सका और संस्थाका 'श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय' नाम रखा गया। उस समय संस्कृत भाषामें ही व्याकरण, न्याय, साहित्य, जैन धर्मशास्त्र आदि विषयोंकी शिक्षा देना निश्चित हुआ। गुरुजी जबतक जैन परीक्षालयोंके मंत्री रहे, तबतक परीक्षाके विषयोंमें किसी भी जैनेतर आचार्य या विद्वान्‌के रचित ग्रन्थको सम्मिलित नहीं होने दिया। कारण यह रहा कि परीक्षाके लिये आवश्यक होनेसे ही महत्वपूर्ण उच्चकोटिके जैन आचार्यों, विद्वानोंके रचित ग्रन्थोंका प्रकाशन हो सकेगा और हुआ भी ऐसा, कातन्त्र, शाकटायन, जैनेन्द्र व्याकरण, परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड न्याय ग्रन्थ, द्रव्य-संग्रह, योगसार, पंचास्तिकाय, आत्मख्याति, समयसार, प्रवचनसार, पंचाध्यायी, गोम्मटसार, रत्नकरंडश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, त्रिलोकसार आदि धर्मशास्त्र, क्षत्रचूड़ामणि, जीवंधरचम्पू, यशस्तिलकचम्पू आदि साहित्य विषयक शास्त्रोंका संशोधनपूर्वक शुद्ध प्रकाशन हुआ जिससे जैन शासन वाङ्मयके ज्ञाता उच्चकोटिके विद्वान् तैयार हुए। गजरथ महोत्सवमें आये हुए बनारसकी स्याद्वाद पाठशालाके संस्कृत प्रथमोत्तीर्ण पं० देवकीनन्दनजी, पं० वंशीधरजी, पं० मक्खनलालजी, पं० उमरावसिंहजी इन चार विद्यार्थियोने गुरुजीकी सिद्धान्त विषयक ज्ञान-गरिमासे प्रभावित होकर सिद्धान्तके अध्ययन करनेकी अपनी अभिरुचि प्रकट की और मोरेनामे आकर उपस्थित हुए। इन छात्रोंके आनेपर गुरुजीने मोरेनामे जैन सिद्धान्त पाठशाला स्थापित की और उसमें शिक्षा देनेके लिये न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजीको आमंत्रित करके न्यायके शिक्षक पदपर नियुक्त किया और आप सिद्धान्त विषयकी शिक्षा देने लगे। इस प्रकार जैन सिद्धान्त पाठशालाको स्थापित करके उसे प्रगति-पथपर बढ़ाते हुए जैन सिद्धान्त महाविद्यालय बनाया और उसके द्वारा सैकड़ों विद्यार्थियोंको जैन सिद्धान्तके प्रौढ़ विद्वान् बना दिया। पाठशाला तो स्थापित कर दी, दिनोंदिन भारी संख्यामें प्रविष्ट होनेवाले छात्रोंको भरती करना व आवश्यक संस्कृत व्याकरण साहित्यके शिक्षकोंको नियत करनेका क्रम जारी रखा। परन्तु न तो एक पैसा स्थायी कोषमे था, न कहींसे स्थायी रूपसे मासिक सहायता थी और न आपकी स्वयं आर्थिक परिस्थिति व व्यापारकी स्थिति ही ऐसी थी जिससे निर्विघ्न रूपसे गृहस्थीका संचालन हो सके। ऐसी अत्यन्त कठिन परिस्थितिमें भी गुरुजीने अपनी इस संस्थाकी आश्चर्यजनक उन्नति की तथा इसकी सहायताके लिए किसीसे याचना करना अपनी प्रकृति विरुद्ध समझते रहे। गुरुजीकी यह प्रतिज्ञा थी कि धर्मोपदेशके अथवा किसी भी धर्मकार्यके लिए बुलाये जानेपर या स्वतः पहुंच जानेपर किसी प्रकारकी भेंट ( विदाई ) द्रव्य, वस्त्र, आदि रूपमें नहीं लेना और वहां वालोंने अधिक आग्रह किया तो मात्र मोरेना तककी यात्राका मार्ग व्यय लेना। अपनी इस निस्पृह वृत्ति-के कारण ही आप श्रीमान् महाराज छतरपुर द्वारा विदाईमें दिये जानेवाले मूल्यवान् भेंट व हारको न लेकर केवल पुष्पमाला द्वारा नरेशके करकमलोंसे सम्मानित हुए थे। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि विद्यालयके हजारों रुपयोंके मासिक व्ययको जुटानेके लिए गुरुजीको कितनी भारी चिन्ता रहती होगी तथा कितना अथक घोर परिश्रम करना पड़ा होगा। इतना होते हुए भी अपनी सरल रीतिसे मृदु वाणीमें दी हुई मार्मिक शिक्षासे तथा अपनी निस्पृहता और नैष्ठिक प्रतिमाके प्रतिपालनके आचरणसे जीवनभर छात्रोंको सुशिक्षित व सदाचारी बनाते रहे।

## स्थितिकरण अंगका पालन

एक बार गुरुवर्य पं० गोपालदासजी कार्यवश खुरई ( सागर ) पधारे थे। वहाँ श्रीमंत सेठ मोहनलालजीके यहाँ पर बैठे हुए सेठजीसे व्यापार सम्बन्धमें बातचीत कर रहे थे, उसी समय वहाँ दो जैन महाशय आये और उन्होंने अपना परिचय देकर आनेका कारण बतलाया कि हम खतौली ( यू० पी० ) से आये है और अग्रवाल हैं। हमारे यहाँ माड़ेमलजी ( दस्सा अग्रवाल जैन ) के पूर्वजों द्वारा निर्मापित प्राचीन विशाल जैन मन्दिर है, जिसमें हम दस्सा जैन बिना किसी भेदभावके अपने यहाँके बीसा जैन बन्धुओंके समान भगवान् जिनेन्द्रको पूजन आदि करते हुए आ रहे थे, परन्तु हाल ही समाजमे हम लोगोंसे और बीसा जैन बन्धुओंसे मनमुटाव हो गया जिससे उन्होंने माड़ेमलके पूर्वजों द्वारा निर्मापित जैन मन्दिर पर अपना अधिकार जमा लिया है और हम सबको जैन मन्दिरोंमें जानेकी रोक लगा दी है। बहुत कुछ अनुनय विनय करने पर भी जब हमारी प्रार्थना नहीं सुनी गई तब हमने कोर्टमें दर्शन-पूजन करनेके अधिकारको पानेके लिये नालिश कर दी है। परन्तु हमारी संख्या अति अल्प है और बीसा भाइयोंकी बहुत ज्यादा है, दूसरे उनमें धनिक और विद्वान् भी अधिक है जिससे हमें आशा नहीं है कि हमे नालिशमें सफलता मिलेगी। हमने अनेक जैन विद्वानोंके पास प्रार्थनाकी परन्तु बीसा भाइयोंके विरुद्ध प्रायः सबने हमारे पक्षके समर्थन करनेमें असमर्थता दिखाई है, अब आपके पास आये है। यदि आप भी हमें रूष्ट करेंगे तो अब हम लोग जिनकी संख्या पन्द्रह सौ ( १५०० ) के लगभग है, आर्य समाजमें मिल जावेंगे।

गुरुजीने उनके अंतिम वाक्यको सुना, अत्यन्त खेदित हुए और बोले, भगवान महावीरने पतितोंको पावन करनेमें ही तो अपना जीवन बिताया है और फिर तुम तो पतित नहीं हो, तुम्हारे पूर्वजोंमें भले ही कोई दोष से पतित हो गया होगा। खैर, धीरज रखो, मैं तुम्हारे पक्षका न्यायालयमें समर्थन करनेका यथासाध्य प्रयत्न करूँगा। पंडितजीसे आश्वासन मिलने पर आगन्तुक बन्धुओंको सान्त्वना मिली और वे अपने स्थानको चले गये। उनके चले जाने पर श्रीमंत सेठ साहिबने पंडितजीको समझाया कि आप इस झंझटमें न पड़िये, यह कोई सैद्धान्तिक मामला नहीं है, उनका आपसका जातीय झगड़ा है, दूसरे बीसा समाजके विरोधमें पड़ना आपके लिये बहुत ही हानिकारक है। इसमें पड़नेसे आपके बड़ेसे बड़े हितैषी बीसा, हर जातिके ( अग्रवाल, खंडेलवाल, परवार, गोलापूर्व आदि जातियोंके ही नहीं, आपकी बरैया जातिके भी ) जैन भाई आपके पूर्ण विरोधी हो जावेंगे। पंडितजीने सेठ साहिबकी बातें सुनी और बोले कि इन १५०० भाइयोंको आर्य-समाजमें मिलते हुए देखनेको गोपालदास जीवित न रह सकेगा। पंडितजी बहुसि चले आये और दस्सोंके पक्ष मे कोर्टमें गवाही देनेको हाजिर हुए। आपने गवाहीमे कहा—वर्तमान २१००० वर्षके इस पंचमकालके अन्तमें जैनधर्मके पालक एक मुनि, एक अर्जिका तथा एक श्रावक और श्राविका मात्र ये चार व्यक्ति रहेंगे, सो भी राजाके अन्यायसे मरणको प्राप्त होवेंगे। पश्चात् इस आर्यखंडमे धर्म कर्मका पालक कोई मनुष्य नही रहेगा, सब ही नर-नारी पशुओंके समान माता पुत्र, पिता पुत्री आदिका विचार किये बिना ही काम सेवन ( व्यभिचार ) करेंगे। हिंसा,झूठ, चोरी आदि पापोंमें रत होवेंगे और छठमें कालके पूरे २१००० वर्षों तक इसी प्रकार घोर अनाचाररूप प्रवृत्ति रखेंगे। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी कालके प्रथम कालमें पूरे २१००० वर्षोंमे और द्वितीय कालके २०००० वर्षों तक घोर अनाचारकी प्रवृत्ति रहेगी। २१०००+ २१०००+२०००० कुल ६२००० वर्षोंमें सन्तान परम्परासे व्यभिचार जनित संतान होती रहेगी। फिर किसी एक कुटुम्बमें पहिले कुलकरका जन्म होवेगा, जो लोगोंको सदाचारकी आंशिक रूपमें शिक्षा देगा। तत्पश्चात् १००० वर्षोंमें तेरह कुलकर और होवेंगे और सदाचार तथा कुलाचारकी शिक्षा देकर लोगोंको सदाचारी बनाते रहेंगे और उनकी धर्मके प्रति रूचि करावेंगे। चौदहवें कुलकरके घरमें प्रथम तीर्थंकर श्रीपद्मरायका जन्म होवेगा, जो विरक्त होकर, श्रावक और मुनि धर्मको पालनेवाले और उपदेश देनेवाले होवेंगे तथा तपश्चरण करके मोक्ष पद प्राप्त करेंगे। इस प्रकार तीन कालके ६२००० वर्षोंमें प्रचलित घोर अनाचार व्यभिचारसे दूषित मानव, श्रीकुलकर महाराजोंके साधारण उपदेशोंसे केवल १००० वर्षमे ही इतने पवित्र बन जायेंगे कि उनके घरमे परम पूज्य तीर्थंकर भगवान जन्म धारण करेंगे। तब फिर यह कैसे माना जा सकता है कि कदाचिद् कभी एक व्यक्तिके व्यभिचारित हो जानेसे उसकी संतान, प्रति संतान तथा उनका साथ देने वाले अन्य गृहस्थ सदैवके लिए दूषित मान लिये जावें और श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा व दर्शन करनेके अधिकारोंसे वंचित किये जावें? हाँ, यह बात अवश्य है कि व्यभिचारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये व्यभिचारी व्यक्तिके लिये जातीय बंधनके रूपमें कुछ समयको रूकावट लगा दी जाय, सो भी कितने समयके लिये।

अपनी गवाहीकी सबूतीमें पंडितजीने श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य रचित 'श्रीत्रिलोकसार' की गाथा और पंडित प्रवर मेधावी द्वारा संगृहीत 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार'के श्लोक प्रमाण स्वरूप पेश किये। यद्यपि पंडितजीने अपनी गवाही शास्त्रानुकूल ही दी थी, परन्तु उससे बीसा समाजमे हलचल मच गई। बड़ी बड़ी सभाएँ बुलाई गईं और उनमें प्रस्ताव पास किये जाने लगे कि गोपालदास बरैया उत्सूत्री हैं। इसने परम पूज्य तीर्थंकरोंको जार संतान निरूपित करके जैनधर्मके विरुद्ध कार्य किया है, इससे जाति बहिष्कृत किया जाता है तथा जिन दर्शन व सभामें प्रवचन करनेमे रोका जाता है आदि। उत्तर प्रदेश, मारवाड़, गुजरात, बुन्देलखंड आदि प्रान्तोंमे भारी हो हल्ला मचा, पंडितजीके विरोधमें खूब आन्दोलन चालू हुआ। उसी समय जैन दक्षिण प्रांतिक सभाका वार्षिक अधिवेशन बेलगांवमें होना निश्चित हुआ और उसकी अध्यक्षताके लिये गुरु गोपालदास चुने गये। इस प्रांतिक सभाके स्थायी सभापति सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, बम्बई वाले थे। इन पर उत्तरवासी जैन बीसा सेठोंने भारी दबाव डाला कि पं० गोपालदासजी सभापति न बनाये जावें। परन्तु दक्षिण वालोंने, जिनमें प्रमुख श्री चौगुले वकील थे, सेठोंकी बातको यह कहकर न मानी कि 'हमने खतौलीके मुकद्दमेंमें पंडितजीके बयानोंको अक्षरश: सत्य और आगमानुकूल पाया है। इस अधिवेशनमें मैं भी सम्मिलित हुआ था, वहाँ पर विद्वान्, श्रीमान् एवं कर्मठ कार्यकर्ताओंका अच्छा जमाव हुआ था। अधिवेशनमें गुरुजीने विचार-विमर्शोंके संघर्षको अपनी दूरदर्शी विद्वत्ता, कार्य-कुशलता एवं वाक्पटुतासे शांत करके सभा द्वारा सम्यक् सम्मान प्राप्त किया था।

## अनोखी सूझ

इटावामे संस्थापित 'जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभा' के वार्षिक अधिवेशनमे आनेवाले जैनेतर विद्वानों द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर देने, शंकाओंका समाधान करनेमे पंडितजी सदैव अग्रसर रहते थे। एक दिन एक आर्यसमाजी विद्वान्ने पूछा

कि इंग्लैण्ड सरीखे ठण्डे मुल्कमें वहाँका निवासी अव्रत सम्यग्दृष्टि व्यक्ति, क्या मांस खा सकता है ? पंडितजी बोले, उस व्यक्तिकी अप्रत्याख्यावरण कषायोंका क्षयोपशम न होनेसे वह मांसका प्रतिज्ञापूर्वक त्याग नहीं कर सकेगा, परन्तु सम्यग्दर्शन भाव होनेसे उसके खानेको हेय मानकर उदास रहेगा। इसी प्रकारकी अनेक विचित्र शंकाओंका समाधान पंडितजी बड़ी सरलतासे करते थे। उनके भाषणोंमें की जानेवाली तत्त्वचर्चासे प्रभावित होकर बीधूपुरा निवासी कुंवर दिग्विजयसिंहजी (क्षत्रिय) ने आर्यसमाजसे विलग होकर जैनत्व स्वीकार किया था। जैन समाजके निर्भीक, कर्मठ कार्यकर्त्ता, पंडित अर्जुनलालजी सेठी बी० ए० द्वारा श्रीगोम्मटसारादि ग्रन्थोंके विषयोंमें की गई गूढ़-से-गूढ़ शंकाओंका समाधान शीघ्र ही कर देनेकी क्षमताको देखकर उपस्थित विद्वन्मंडली अवाक् रह जाती थी। उस समय षोडशकारण भावनाओंमें प्रथम भावना, दर्शन विशुद्धिका समास विश्लेषण जैन पंडित 'दर्शने विशुद्धि इति दर्शन विशुद्धि' ऐसा करते थे। सेठीजीने पूछा, जीवके सम्यक्दर्शन भाव जो कि शुद्ध हैं, उनमें और विशुद्धि कैसी ? यह सुनकर पंडितजीने झट उत्तर दिया 'सेठीजी ! सम्यग्दर्शनेन सह विशुद्धिः इति दर्शन विशुद्धिः' अर्थात् शुद्ध भाव, सम्यग्दर्शनके साथ विश्वकल्याण करनेकी तीव्र भावना, जो कि चारित्रमोहनीय कर्मके कारण शुभराग रूप होती है वही विशुद्धि है, न कि सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि। सेठीजीका समाधान हो गया।

अजमेरमें स्वामी दयानन्दजीके पट्ट शिष्य स्वामी दर्शनानन्दजीके साथ जैनोंके हुए शास्त्रार्थमें अपनी रुग्ण अवस्था-के कारण भारी निर्बलताके होते हुए भी पंडितजीने उस शास्त्रार्थमें विजय पाई थी। इतना ही नहीं उस समय स्वामीजीने हर्षित होकर कहा था कि मुझे स्वप्नमें भी भरोसा नहीं था कि सरस्वतीजीके मुझ शिष्यको जिसने जन्मभर 'ईश्वर सृष्टिका कर्त्ता है' इसका समर्थन किया है, मेरी इस धारणाको कोई भी वाद-विवाद करके ठेस पहुँचा सकेगा, परन्तु आज अपनेको पंडितजी द्वारा अत्यन्त क्षीणकाय निर्बल और निरुत्तर हुआ पा रहा हूँ और पंडितजीकी प्रशंसनीय तर्कशैलीपर मुग्ध होकर हर्षित हो रहा हूँ।

सन् १९११ के दिसम्बर मासमें स्याद्वाद महाविद्यालय काशीका वार्षिक अधिवेशन हुआ था, जिसमें जर्मनीके फिलासफर श्री डा० हर्मन जैकोबी सा०, भारतकी थियोसोफिकल सोसाइटीकी अध्यक्षा श्रीमती विदुषी एनी बिसेन्ट महोदया, कलकत्ताके श्रीमान् डाक्टर सतीशचन्द्रजी विद्याभूषण एम० ए०, पी-एच० डी० सरीखे उच्च कोटिके अनेक गण्यमान जैनेतर तथा जैन विद्वानोंने उपस्थित होकर अधिवेशनको सफल बनाया था। इतना ही नहीं, उसी अवसर पर महाविद्यालयके अधिष्ठाता बाबू नन्दकिशोरजीने एक मुद्रित पर्चा शहरमें बँटवाकर जैनधर्मके प्रति शंका करने वाले जैनेतर विद्वानोंको अपनी शंकाओंका समाधान करनेके लिये आमंत्रित किया था। पर्चा इस प्रकार था—

'कल प्रातःकाल ८ बजेसे १० बजे तक टाउनहालके मैदानमें स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजीका प्रवचन होगा। जैनधर्मके सम्बन्धमें जिन महाशयोंको शंका होवे, वे वहाँ पधारकर पंडितजीसे समाधान कर समुचित उत्तर प्राप्त कर लें आदि।'

पिछली रात्रिका समय था, श्रीब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी श्री सेठी अर्जुनलालजीसे बातचीत करते हुए कह रहे थे कि काशी सरीखे संस्कृतज्ञ विद्वानोंको विवादके लिये आह्वान करके बाबूजीने ठीक काम नहीं किया है। सेठीजी भी उनकी इस आशंका से सहमत थे, परन्तु साथ ही साथ यह भी कह रहे थे कि पंडितजीकी सबल युक्तियोंसे सबका समाधान हो जावेगा, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

प्रातःकाल टाउनहालके मैदानमें शामियानेके नीचे नियत समय पर भरी हुई सभामें अनेक संस्कृत तथा अंग्रेजीके विद्वान् आये। पंडितजीका शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ हुआ। सभा मंडप श्रोताओंसे खचाखच भरा था। पधारे हुए अनेक जैनेतर वेदान्त, नैयायिक, आर्यसमाजी आदि विद्वानोंने संस्कृत भाषामें अनेक प्रश्न पूछे—विवाद ग्रस्त विषयों पर तर्क-वितर्क किये जिनका उचित उत्तर पंडितजीने उन्हें दिया। उनके द्वारा दिये गये उत्तरोंसे तथा समाधानोंसे उन विद्वानोंको बड़ा सन्तोष हुआ। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि बातचीतके समय संस्कृतके न्याय, साहित्य, दर्शन आदिके विद्वानोंके परिमार्जित भाषामें पूछे गये प्रश्नोंका पंडितजीने उन्हीं सरीखे प्रौढ़ शब्दोंमें धारावाही भाषामें उत्तर दिया। उस समय ऐसा विदित होता था कि पंडितजीको जैनधर्मके समान अन्य दर्शन, तर्क तथा संस्कृत भाषापर भी पूर्ण अधिकार है।

## निस्पृहता तथा दृढ़ प्रतिज्ञता

एक बार बुंदेलखंडमें छतरपुर राज्यके महाराजा द्वारा जीवके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाके निवारणार्थ निमंत्रित होकर पंडितजी छतरपुर पधारे और वहाँ महाराजा साहिबके आतिथ्यमें कई दिन रहकर उनकी शंकाओंका भली-भाँति

समाधान करके उन्हें सन्तुष्ट किया, जिसका महाराजा साहबने भारी आभार माना। उन्होंने पंडितजीसे और कुछ दिन ठहरनेका—यहाँ तक कि अपने स्थापित किये हुए सिद्धान्त विद्यालय सहित सकुटुम्ब छतरपुरमें आकर बसनेका आग्रह किया। आग्रह करने पर जब पंडितजीने ठहरना स्वीकार नहीं किया तब आपने राजमहलके फाटकके बाहर तक आकर एक बहुमूल्य मुक्ताओंकी मालासे आपको सम्मानित करनेके लिये हाथ बढ़ाये। तब पंडितजीने नम्रतापूर्वक कहा, जब आप सरीखे उदार महाराजाके सन्मुख मेरी प्रतिज्ञाका निर्वाह न हो सकेगा तो फिर वह जीवित कैसे रह सकेगी? महाराज। उपहारमें इस मालाके स्थान पर पुष्पमाला प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत करनेकी कृपा करें। मैंने बहुत वर्षों पूर्व प्रतिज्ञाकी है कि धार्मिक कार्योंके उपलक्षमें द्रव्य या वस्त्र आदि सामग्रीको बिदाईमें न लूँगा, यदि कोई देवेगा तो मात्र मार्ग व्यय ही लूँगा।

पंडितजीका चरित्र बहुत ही श्लाघनीय था। आपने जिस विषम झंझटयुक्त परिस्थितिमें रहकर अपना जीवन बिताते हुए जो महान् कार्य किया है, उसकी समतामें आपके स्वर्गवासी होनेपर आजतक कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया है। वे अपने वचनके धनी थे।

आपकी तीन प्रतिज्ञाएँ थीं—(१) किसीके यहाँ नौकरी न करेंगे, (२) धर्म-कार्यके अर्थ जानेपर बिदाईमें कुछ न लेवेंगे और (३) उदर पोषणादिके लिये किसीसे द्रव्यकी भावना न करेंगे। इसके सिवाय अन्त समयतक जैनधर्मकी प्रभावना व जैन सिद्धान्तकी शिक्षाके प्रचारमें शक्तिभर योग देते रहेंगे।

आपकी गृहलक्ष्मी उन्माद रोगसे ग्रसित थीं। भौतिक लक्ष्मी ( सम्पत्ति ) ने कभी भी आपका आलिंगन नहीं किया। शरीर सदैव रोगोंसे विभूषित रहा। पुत्र परिस्थितिवश अपढ़ ही रहा। ऐसी महा विषम परिस्थितिमें रहते हुए भी आपने जन्मभर जैनधर्म, जैनवाङ्मय तथा राष्ट्रकी मन, वचन, काय इन तीनों योगों द्वारा जो सेवा की, वह जैन इतिहासमें सदैव अविस्मरणीय रहेगी।

आपने अनेक शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना कराई, जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ अनेक विद्वान् बनाये। आपकी निर्भीकता, निस्पृहता, कर्त्तव्यपालक वृत्ति, सदाचारिता, स्पष्टवादिता, सत्साहस आदि अनुपम गुणों द्वारा आप सर्वत्र सम्मानित हुए। आपके गुरुभाई पंडितप्रवर बल्देवदासजीके सुपुत्र श्री प्रेमराजजीने आपके पास मुनीम रहकर व्यापारिक कार्यमें आपको अच्छी सहायता पहुँचाई।

पूजनीय पंडित शिरोमणि पंडितजीने मोरेनामें ही अपनी शिष्यमंडलीके बीच समाधिमरण सहित अपनी जीवन-लीला समाप्त की।
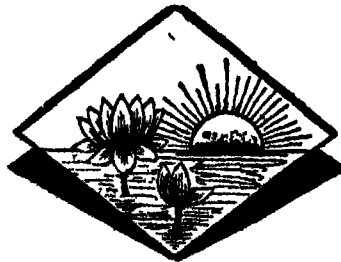
# सुधारकशिरोमणि वरैयाजी

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, लखनऊ

●

आधुनिकयुगीन भारतीय इतिहासमें १९वीं शती ई० का उत्तरार्ध पुनरुत्थान एवं नवजागृतिका युग था। उस नवचेतनाके बीज उक्त शताब्दीके पूर्वार्धमें ही वपन होने प्रारम्भ हो गये थे और वर्तमान शतीके प्रथमपादका अन्त होते न होते उसके सुफल सर्व ओर लक्षित होने लगे थे। एक ओर पश्चिमी ( यूरोपीय ) सभ्यता और शिक्षाके प्रभावके कारण तथा दूसरी ओर उन्हींकी प्रतिक्रियास्वरूप इस देशने एक अँगड़ाई ली और राजनीतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रोंमें ही नवजीवनका सूत्रपात नहीं किया, वरन् विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों, पुरातत्त्व और कला, भाषा और साहित्य, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रोंमें भी क्रान्तिकारी मोड़ लिये और प्रगतिके पथपर नये सिरेसे अग्रसर हुआ। इस जागृतिकी लहरने समस्त देशको, भारतीय समाजके प्रायः सभी विभिन्न अंगोंको झंकृत कर दिया और प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें अनेक ऐसे कर्मठ, सेवाभावी, प्रतिभासम्पन्न एवं प्रभावपूर्ण नेताओंको जन्म दिया, जो इस जागृतिके पुरस्कर्त्ता और अग्रदूत हुए।

जैन समाज भी उस नवचेतनाकी छूतसे बचा नहीं रह सकता था। उसमें भी युगानुसारी नवीन प्राणोंके सञ्चारकी अत्यन्त आवश्यकता थी और इस महत्कार्यका सम्पादन करनेके लिये समर्थ एवं सुयोग्य नेताओंकी आवश्यकता थी। अतएव उस युगने उस समाजको भी वैसे पथप्रदर्शक और क्रान्तिकारी जनसेवक प्रदान किये ही। जैनजागृतिके इन पुरस्कर्ताओंकी अंतिम पंक्तिमें ही स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्यायवाचस्पति आदि विरुद प्राप्त स्वनामधन्य गुरुवर्य पं० गोपालदासी वरैया आते हैं।

पं० गोपालदासजी वरैयाका जन्म मुगलबादशादशाहोंकी प्रिय राजधानी उत्तरप्रदेशस्थ आगरा नगरमें वि० सं० १९२३ में हुआ था। पिताका नाम लक्ष्मणदास था। घरकी स्थिति अति सामान्य थी। साधारण अंग्रेजी स्कूलकी सामान्य शिक्षा प्राप्त की और आजीविकाके लिये रेलवेमें क्लर्कीकी नौकरी की। विवाह हुआ, किन्तु पत्नी मनोनुकूल नहीं थी और अपने कर्कश स्वभावके कारण उनके लिये त्रासदायक ही बनी रही। तथापि उन्होंने उसके साथ अन्त-पर्यन्त निर्वाह किया। लड़कपनमें संगति भी कुछ अच्छी नहीं मिली, कोई प्रेरणा भी किसी दिशामें नहीं मिली और इस प्रकार उनके मात्र ५१ वर्षके जीवनकालका पूर्वार्ध प्रायः निरर्थक रहा, उनके अन्तरमें छिपी प्रतिभा और क्षमताओंके प्रस्फुटनका कोई सुयोग नहीं मिला और किसीको उनका आभास भी न हुआ। अकस्मात् एक विद्वान्के शास्त्रप्रवचनको सुनकर जीवनमें एक ऐसा जबरदस्त मोड आया कि उसने उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी कायापलट कर दी। अपनी परंपराके शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करने का उन्हें ऐसा चस्का लगा कि सब कुछ भूलकर उसीमें संलग्न हो गये। इतने तीव्र मेधावी और परिश्रमी थे कि कुछ ही वर्षोंमें, बिना किसी विद्यालयमें प्रविष्ट हुए ही और प्रायः बिना गुरुविशेषकी चरणसेवा किये ही, उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया और जैन सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, दर्शन और न्यायको आर्षग्रन्थोंकी सहायतासे हस्तामलकवत् कर लिया।

उन्हें इतनेपर ही सन्तोष नहीं हुआ—जिन अमूल्य तत्त्वरत्नोंका उन्होंने रसास्वादन किया था उसे सबके लिये उन्मुक्त करने और सबको उसका रसास्वादन करानेकी महत्त्वाकांक्षासे प्रेरित होकर वे उसके प्रचारमें जुट गये। उस प्रचारके प्रायः सभी आधुनिक साधनोंका उन्होंने यथाशक्य उपयुक्त प्रयोग किया। वैयक्तिक शिष्य बनाये, विद्यालय खोले और खुलवाये, पठनक्रमकी व्यवस्थाके लिये परीक्षालय एवं परीक्षाबोर्डकी स्थापना की, यत्रतत्र घूम-घूमकर प्रवचन किये, भाषण और व्याख्यान दिये, वादियोंके साथ—विशेषकर आर्यसमाजी विद्वानोंके साथ—महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक शास्त्रार्थ किये, कलकत्ता आदि महानगरियोंमें जैनेतर प्राच्यविदों एवं दार्शनिक विद्वानोंकी सभाओंमें जैनदर्शनपर प्रभावशाली गंभीर व्याख्यान देकर सम्मान प्राप्त किया, पत्रोंमें लेख लिखे, जैनसिद्धान्तों एवं दार्शनिक मन्तव्योंको नवीन शैलीमें प्रस्तुत करनेवाली कई छोटी-बड़ी पुस्तकोंका निर्माण किया जिनमें एक रोचक उपन्यास भी है। शीघ्र ही वह आदरके साथ

'गुरुजी' कहलाने लगे और अपने समयके सर्वश्रेष्ठ जैन विद्वान्‌के रूपमें सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये। इतना सब करते हुए भी वे कभी भी किसी धनवान्‌की दया या आश्रयके पात्र नहीं बने, स्वतंत्र आजीविकाद्वारा अपना जीवन-निर्वाह अन्ततक करते रहे।

जैनत्वका उद्योत उनका परम लक्ष्य था और उसके लिये जैनसमाजमें जागृति उत्पन्न करना आवश्यक था। यह समयकी माँग थी और समय स्वयं साथ दे रहा था। अन्य समाजों और सम्प्रदायोंमें उनकी अपनी-अपनी प्रतिनिधि संस्थाएँ स्थापित हो रही थीं। आर्यसमाज आन्दोलन तो अपने उत्कर्षपर था, आर्यप्रतिनिधि सभाकी स्थापना हो चुकी थी, उसके प्रतिवादमें सनातनधर्म सभाएँ भी स्थापित हो रही थीं और अखिल भारतवर्षीय समस्त हिन्दुओंका प्रतिनिधित्व करनेके लिये हिन्दूमहासभा भी स्थापित हो चुकी थी। अतएव जैनोंका प्रतिनिधित्व करनेके लिये पंडितजीने जैनमहासभाकी स्थापनामें पूर्ण योग दिया और कई वर्षतक उसका संचालन किया। वह कुछ काल बम्बईमें रहे तो वहाँ बम्बई प्रान्तीय दि० जैन सभाकी स्थापना कर दी और उसके मुखपत्रके रूपमें 'जैनमित्र' नामक सामयिक पत्र निकाला जिसका सम्पादन भी लगभग दस वर्षतक स्वयं ही किया।

उनके इन विविध समाजोन्नायक कार्यों एवं प्रवृत्तियोंके कारण अनगिनत व्यक्ति, विशेषकर वह जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे अथवा नवजागृतिकी लहरसे प्रभावित थे, उनके समर्थक, सहायक और अनुयायी बन गये। किन्तु उनके विरोधी भी अनेक उत्पन्न हो गये। पुरानी शैलीके कुछ पंडित उस समय भी थे जो अधिकतर किसी एक या अनेक धनिकोंके आश्रयमें पलते थे। यह पंडितवर्ग और इनका प्रश्रयदाता धनिकवर्ग रूढिग्रस्त, स्थितिपालक और संकीर्ण मनोवृत्तिके लोग थे। समाजपर अपनी सत्ता एवं नेतृत्व बनाये रखनेके लिये वे परस्पर निर्भर थे। पंडितजीके स्वतन्त्र, निर्भीक एवं क्रान्तिकारी विचारोंसे उनकी सत्ताकी नींव हिलने लगी। जनसामान्यकी शास्त्रीय अनभिज्ञताका लाभ उठाकर उसपर मनमाना शासन करनेके, उनके एकाधिकारको चुनौती दी जा रही थी, परिणामस्वरूप उनके भयङ्कर विरोधका सामना पं० बरैयाजीको करना पड़ा।

उनके विरुद्ध जो विरोधाग्नि बहुत समयसे भीतर-ही-भीतर सुलग रही थी और अवसरकी ताकमें थी उसका तीव्र स्फोट दस्सा-बीसा प्रसंगको लेकर हुआ। दिगम्बर जैनधर्मानुयायी अग्रवालोंमें उस समय दो समूह थे—बीसा अग्रवाल और दस्सा अग्रवाल। प्रथमकी तुलनामें दूसरा समूह ( दस्साका ) जनबल और धनबल दोनों ही दृष्टियोंसे अत्यधिक निर्बल था। पूर्वकालमें जब जिस व्यक्तिने जातीय परम्पराकी अवहेलना करके किसी स्त्रीको अवैध रूपसे पत्नी बना लिया उसे और उसकी सन्ततिको दस्सा घोषित कर दिया जाता था, उनके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार भी बन्द कर दिया जाता था और उन्हें जिनमंदिरमें देवपूजन एवं प्रक्षालके अधिकारसे भी वंचित कर दिया जाता था। शनैः-शनैः इन दस्साओंकी संख्या काफी बढ़ गई और उनकी एक पृथक बिरादरी बन गई। उनमेंसे अनेकोंने जैनधर्मका त्याग भी कर दिया, किन्तु जो परिवार धर्मप्रेमी थे वे सब लांछन सहते हुए देवदर्शनसे ही सन्तोष करके जैन ही बने रहे। किन्तु अब समय बदल रहा था, प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारोंकी माँग करने लगा था। दस्सोंने भी यह आन्दोलन चलाया कि उनके ऊपरसे प्रतिबन्ध उठा लिये जायें और उन्हें भी बीसोंकी भाँति ही भगवान्‌का पूजन प्रक्षाल करने तथा अन्य धार्मिक कार्योंमें भाग लेनेका समान अधिकार मिले। यह माँग इसलिये भी उचित समझी जा रही थी कि न जाने कब, किस पूर्वजने, कौन ऐसे कार्य किये थे जिनके कारण उसकी वर्तमान सन्तति—बेशुमार पीढ़ियाँ बीत जानेपर भी—इस सामाजिक अत्याचारकी शिकार हो रही है जबकि वर्तमानमें अनेक प्रतिष्ठित घरोंके बीसे उनसे भी अधिक घृणित एवं निन्दनीय कार्य कर रहे हैं और उन्हें दस्सा कहने या बनानेका कोई साहस नहीं करता। दस्सोंको अपनी इस माँगमें अनेक सुधारप्रेमी बीसोंका भी समर्थन प्राप्त हुआ, राज्यका कानून भी अनुकूल था। अतएव जब समाजके श्रीमान् और धीमान् नेताओंको अनुकूल करनेके सब प्रयत्न व्यर्थ हो गये तो खतौली ( जिला मुजफ्फरनगर, उ० प्र० ) के निवासी लाला माड़ेलालने, जो दस्सा अग्रवाल थे और दिगम्बर जैनधर्मके कट्टर अनुयायी थे, स्थानीय बीसोंके विरुद्ध उनके धार्मिक अधिकारोंमें रोक लगानेका दावा अदालतमें कर दिया। इस दावेकी सुनवाई मेरठकी जजीमें हुई। इस मुकदमेमें समाजमें बड़ा बवण्डर मचा, आसपासके पाँच-छः जिलोंकी जैन-जनताने ( जो अधिकांशतः बीसा अग्रवाल दिगम्बर जैनोंकी थी ) उसमें गहरी एवं सक्रिय दिलचस्पी ली और समाजमें पक्ष-विपक्षरूपसे दो दल हो गये। बीसोंने अपने पक्षके शास्त्रीय समर्थनके लिये पं० पन्नालाल न्याय-दिवाकरको जो पुरानी शैलीके ऊँचे विद्वान् मान्य किये जाते थे और सहारनपुरके धर्मप्रेमी रईस लाला जम्बूप्रसादजीके प्रायः आश्रित थे, साक्षीके रूपमें पेश किया। दस्सोंके पक्षमें साक्षी देनेके लिये एक भी पंडित तैयार न हुआ। अन्ततः पं० गोपालदास बरैयासे प्रार्थना की गई और उस सुधारक शिरोमणि धर्मवीरने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

संयोगसे जज ( न्यायाधीश ) ईसाई या ऐंग्लोइंडियन था और उसका पेशकार मुसलमान था, उभयपक्षके वकील भी अजैन थे और अदालतकी भाषा—जिसमें गवाहोंके बयान आदि लिखे जाते थे—फ़ारसी लिपिमें लिखित उर्दू थी। बरैयाजीका बयान हो रहा था। मुख्य प्रश्न यह था कि व्यभिचारज व्यक्ति और उसकी सन्तति दस्से कहलाते हैं। किसी अपने ही जानकार व्यक्तिके संकेतपर दस्सोंके वकीलने बरैयाजीसे प्रथम तीर्थङ्कर भ० ऋषभदेव और उनके माता-पिताके सम्बन्धमें प्रश्न करने प्रारंभ कर दिये। त्रिलोकसारादि प्रमाणिक आर्ष ग्रन्थोंके आधारपर पंडितजीने भोगभूमिकी व्यवस्था, उस कालके स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदिका विवेचन किया जिसका फलित जज, पेशकार और वकीलोंने यह निकाला कि क्योंकि आदि तीर्थङ्करके माता-पिताका तथा उनके भी (भोगभूमिया) पूर्वजोंका परस्पर विधिवत् विवाह नहीं हुआ था अतः वह आजकी भाषामें व्यभिचारज कहे जा सकते हैं और उर्दू भाषामें जो इज़हार कलमबन्द हुआ उसमें उन्हें 'जिनाकारोंकी औलाद' लिखा गया।

अब क्या था! समाजमें भयङ्कर विक्षोभ उत्पन्न कर दिया गया। न्यायदिवाकरजी अदालतमें न तो अपने प्रतिपक्षीकी ही कोई काट कर सके और न उनके बयानका ही कोई उचित समन्वय या समाधान कर सके, किन्तु बाहर आकर उनके दलने सारा आक्रोश बरैयाजीके ऊपर उतारा। इजहारकी नकलें ली गईं, उसकी प्रतियाँ छपवाई गईं और सर्वत्र जैनसमाजमें भेजी गईं। जगह-जगह सभाएँ की गईं, पत्रोंमें लेखबाजी चली, अनेक पम्फलेट छपाये गये। बरैयाजीको जी भरकर बदनाम किया गया, धमकियाँ दी गईं और समाजसे उन्हें बहिष्कृत करनेके प्रयत्न किये गये। दिगम्बर जैन समाजके उस कालके प्रायः समस्त पुरानी शैलीके पंडित और प्रायः समस्त अग्रवाल, खण्डेलवाल, परवार धनिक नेता बरैयाजीके विरोधमें एक हो गये थे किन्तु वह थे कि तनिक भी विचलित नहीं हुए।

किसी व्यक्तिके शिष्य, भक्त, अनुयायी या समर्थक उसके विषयमें जो कुछ लिखते हैं या उसका जो गुणानुवाद करते हैं वह बहुधा अतिशयोक्तिपूर्ण और कभी-कभी पक्षपातपूर्ण भी हो जाता है। उसके व्यक्तित्वकी अनेक विशेषताओंका उससे सम्यक् बोध नहीं हो पाता। किन्तु उस व्यक्तिके विरोधी प्रसंगवश, अनजाने या कभी-कभी विवश होकर उसके जिन गुणोंका परिचय दे जाते हैं वह अन्यत्र नहीं मिलता। उसकी सत्यतामें भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उपरोक्त विस्फोटके परिणामस्वरूप जो दो-एक वर्षतक पक्ष-विपक्षकी ओरसे आन्दोलन ओर पैम्फलेटबाजी हुई उसमें कलकत्ता और बम्बईके किन्हीं आठ प्रतिष्ठित व्यक्तियोंने, जो संभवतया बरैयाजीके समर्थक थे, 'जैनियोंमें अशान्ति' शीर्षकसे २४ पृष्ठोंकी एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसके उत्तरमें विपक्षकी ओरसे 'अशान्तिका प्रतीकार' नामक २६ पृष्ठोंकी पुस्तिका प्रकाशित की गई थी। इसके प्रकाशक दिगम्बर जैनाम्नाय संरक्षिणी सभा खुर्जाके मन्त्री सेठ जयनारायण रानीवाले थे, मुद्रक—बम्बईभूषण प्रेस, मथुरा था और यह पुस्तिका उक्त सभाके उन ३७ सदस्योंकी आज्ञानुसार प्रकाशित एवं प्रचारित की गई बताई गई है जिनकी सूची इस वक्तव्यके साथ उसके अन्तमें ही है। इन सज्जनोंमें तत्कालीन दिगम्बर जैन समाजके प्रायः सभी श्रीमान् और पंडितजन समाविष्ट हैं, यथा, मथुराके सेठ दामोदरदास, इन्दौरके सर सेठ हुकुमचन्द, अजमेरके सेठ नेमिचन्द सोनी, सहारनपुरके लाला० जम्बूप्रसाद और हुलासराय, खुरईके सेठ मोहनलाल, ललितपुरके टड़ैयाजी, खुर्जाके सेठ मेवाराम, अम्बालाके लाला शिब्बामल, फिरोजपुरके लाला देवीसहाय, ब्यावरके सेठ चम्पालाल इत्यादि, पंडितोंमें सुनपतके उमरावसिंह, जयपुरके जवाहरलाल, अलीगढ़के श्रीलाल व प्यारेलाल, कोसीके कन्हैयालाल इत्यादि हैं। पुस्तिकापर प्रकाशन आदिकी कोई तिथि-वर्ष नहीं है किन्तु उपरोक्त घटनाके चार-छः मासके भीतर ही यह प्रकाशित हुई प्रतीत होती है। इस पुस्तिकामें पं० बरैयाजी और उनके अनुयायियों या समर्थकोंको भरपेट प्रसाद वितरण किया गया है।

नीचे इस पुस्तिकामेंसे कतिपय वह अंश उद्धृत किये जाते हैं जिनसे पं० गोपालदासजी बरैयाके विचारों, दृष्टिकोण, व्यक्तित्व एवं उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभावका परिचय उनके कट्टर विरोधियोंकी लेखनी द्वारा प्राप्त होता है—

पृ० २–३—'पुस्तक ( जैनियोंमें अशान्ति ) के लेखकोंने जो दस्सा बीसा अग्रवालोंके मुकदमेको अग्निकी उपमा दी है उसे हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु इस आगको सुलगानेका कलंक बीसाओंके मस्तकपर कदापि नहीं मढ़ा जा सकता क्योंकि उन्होंने तो दस्साओंको प्रक्षालपूजाका अधिकार न देकर आर्षवाक्योंका पालन किया है। अतः धर्मविरुद्ध अधिकारको प्राप्त करनेकी लालसासे अदालतमें पहिले जानेवाले दस्सा लोग ही इस यशके भागी हैं और इसी तरह इस आगकी चिनगारियोंसे समूचे जैनसमाजको सुलगानेका महायश भी पं० गोपालदासजी व उनके अनुयायी भाइयोंके ही भाग्यमें है। जो तीर्थङ्करोंको जिनाकारोंकी औलाद बतलाकर भी अबतक भूल स्वीकार न कर प्रत्युत अपने कथनकी पुष्टि ही कर

रहे हैं और यह पुष्टि पंडितजीकी बरेलू सभा ( दिगम्बर जैन महासभा ? ) के मन्त्री एवं शिष्य महाशय द्वारा जैनप्रचारक अंक नौमें किये हुए २४ प्रश्नोंसे साफ़ टपक रही है।'

पृ० ३—'फिर भी आप लोग हमको ही विरोधवर्धक समझें तो पं० गोपालदासजीकी सुबुद्धिसे उत्पन्न हुए 'इक्षसिका मार्ग विरोध के दाँतोंमें होकर है' इस सिद्धांतके अनुसार हम विरोधी ही सही क्या हर्ज है।"

पृ० ४—'पं० गोपालदासजीके इजहार सर्प के समान हैं ये आपको हमारी सभाकी तरफसे लिखे हुए लेखों द्वारा विदित हो गया और हो जायगा।'

पृ० ५—'पं० गोपालदासजी अग्रवालोंके दस्सोंको बीसोंमे मिलानेकी फिकरकर तीर्थंकरोंको कलंकित कर रहे हैं यह कहाँकी बुद्धिमत्ता है। क्या पंडितजी महाराज दूसरोंको ही डुबोना जानते हैं। अपने प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुजी (गोपालदासजी) के कदम पर कदम धरनेवाले अशांतिजनकों ने अवसर्पिणीके छठे कालके जीवोंको व्यभिचारी बताया है सो सर्वथा व्यवहार व आगमके विरुद्ध है।'

पृ० १०—'हाँ दस्सोंको शुद्ध करनेवाले पण्डितजी व उनके अनुयायिओंको कर्णपिशाचिनी सिद्ध हो गई हो या उनके पास मथुराके पण्डों व गया के गुरुओंकी तरह दस्सोंकी वंशावली मौजूद हो तो दूसरी बात है।'

पृ० ११—'यदि फिर भी जातिभेदके शत्रु जबरदस्ती त्रिवर्णाचारके कथनको अमलमें लावें तो उससे जैन-समाजमे इकदम नये परिवर्तनके कारण अशान्ति फैलनेके सिवाय कुछ भी फल न होगा; क्योंकि जैसे उच्च आचरणको देखकर नीच उच्च बनाये जावेंगे ठीक वैसे ही वर्तमानमें नीचाचरण करनेवाले बीमा जैनी उच्चोंमेसे निकालकर नीचोंमे शामिल किये जावेंगे। और ऐसी हालतमें उन्नतिकी लालसासे जैनसमाजमे सर्वमयी भगवान्‌की कहावतको चरितार्थ करने-वाले लेखकोंके मनोरथमें कुछ भी सफलता न होगी।'

पृ० १२—'पं० गोपालदासजी व उनके अनुयायियोंके, जिसकालमें विवाह सम्बन्ध नहीं होता उस कालके इन्सान व्यभिचारी होते हैं इस सिद्धातके अनुसार श्रीमदादितीर्थंकर व्यभिचारज सिद्ध हो जावेंगे। क्योंकि इनके पूर्वजोंमें पाँच पुश्तसे विवाह सम्बन्ध जारी नहीं था तब कहिये पाँच पीढ़ोमे शुद्ध होनेका नियम कहाँ छिपता फिरेगा।'

पृ० १३—'स्वतन्त्रताके प्रेमियोंने पूर्वजों द्वारा सुविचारसे स्थापित की हुई वर्ण और जाति सम्बन्धी व्यवस्थाके अनुसार चलनेवाले आप व हमको जो लकीर के फकीर व रूढ़ीके गुलामोंकी उपमा दी है और हमारे अगुए दो प्रकारके हैं इस शब्दके छलसे हमलोगोंके श्रीमानोंको मूर्खा सदसद्विवेकशून्या लक्ष्मीके दास और विद्वानोंको स्वार्थसाधक तथा बुरे कार्योंमें योग देनेवाले लिखे गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि जैसे मिष्ट पदार्थसे द्वेष रखनेवाला ऊँट उसके आधार भूत पौंडेको भी बुरी दृष्टिसे देखता है उसी प्रकार सदाचारके द्वेषी और विदेशियोंको देखा देखी येन केन उपायसे लौकिकोन्नतिके इच्छुक इन लेखक महात्माओंको भी सदाचारके प्रचारक हम लोग अपने कर्त्तव्यपथके कंटक दिखलाई देते है।'

पृ० १५—'जिन लोगोंके जोशके विषयमें यह लिखा गया है कि 'अज्ञानांधकारको देखकर इससे मस्त नहीं हुआ; सो तो खरविषाणवत् सर्वथा असत्य है। क्योंकि वे लोग लाखों रुपये विद्या वृद्धिके कार्योंमें खर्च करने के सिवाय तन-मनसे भी प्रयत्नशील हैं। और यदि इन लोगोंने कुछ नहीं किया है तो लेखकोंने ही कौनसा यशका कार्य कर लिया है।'

पृ० १६—'लेखक सूना मैदान देख यह कनकव्वा उड़ा रहे हैं कि पं० गोपालदासजीने तीर्थंकरोंपर आनेवाले कलंकका प्रक्षालन किया है।'

पृ० १७—'लेखकोंके धुरन्धर परमगुरु पं० गोपालदासजी ऐसे दोषी वचन नहीं कह सकते तो उनसे न्याय व्याकरण, साहित्य और आगमरूप चारों विद्याओं तथा वक्तृत्व वादित्व आदि गुणोंमें अधिकतर श्रीमान् न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजी........तीर्थंकरोंको कलंक लगानेवाले वाक्य कैसे कह सकते थे जिससे कि पं० गोपालदासजीको उस कलंक का प्रक्षालन करते हुए छब्बे बननेके बदले चोबेसे दूबे होना पड़ा।'

पृ० २०—'वरैयाजातिके पं० गोपालदासजीको जातिच्युत किये ही किसने है!....हाँ अन्तरंगमें पं० गोपालदासजीसे द्विधाभाव रख उन लोगोंने हमें मार्ग सुझानेकी कृपा की हो तो दूसरी बात है।'

'पंडितजीके मुखका शास्त्र न सुननेसे ज्ञानप्रचारके रोकनेका भागी कौन होगा ? इस लेखकोके प्रश्नका उत्तर यही है कि कोई भी नही और होंगे तो आप। हमने तो 'अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विष संसर्गः'....इस नीति वाक्यानुसार कहीं कहीं सर्वथा आगमविरुद्ध कथनकर जानेकी आदतसे अपनी विद्याशक्तिका दुरुपयोग करनेवाले पं० गोपालदासजीके मुखसे शास्त्र सुननेका निषेध किया है सो ठीक ही है।'

'महासभाका कार्य पं० गोपालदासजीसे छीननेवाले हम तो नहीं परन्तु 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन धर्मसंरक्षिणी महासभा' यह महासभाका नाम ही कभी न कभी उनके हाथमेंसे कार्य छीन लेनेकी शक्ति रखता है।'

पृ० २०-२१—'रही एकाधिपत्यकी बात सो यह नहीं है तभी तो लोग कोठे कोठे मीर बन मनमानी कर रहे हैं। नहीं तो क्या मजाल था कि जो पं० गोपालदास जी सरे अदालतमें तीर्थंकरोंको व्यभिचारज कह आते और उनके चेले समर्थन करनेका हौसला बढाते।'

पृ० २१—'धनाढ्योंकी एकत्रतासे जात्युद्धार होनेकी आशाको भ्रम कहा है सो लेखकोंको बुद्धिका ही भ्रम है क्योंकि उन्नतिरूप रथके एक चक्र (पहिया) रूप होनेसे धनिकोंके बिना जात्युद्धार न कभी हुआ न होनेकी संभावना है।'

पृ० २२—'पं० गोपालदासजीके शास्त्रविरुद्ध इजहारोंका प्रतीकार करनेके लिये इतना आडम्बर रचनेकी आवश्यकता यों हुई कि जैसा विपक्षी होता है उसके लिये वैसी ही सामग्री जोड़ी जाती है। भला विचार तो कीजिये शिष्टवर! जो पं० गोपालदासजी कुछ लोगोंकी सहायतासे मानके अटल सिंहासन पर आरूढ़ हो अधिकांश जैनसमाजको तुच्छ समझ अब तक सभाके प्रार्थी नहीं हुए है वे अन्य उपायोंसे कैसे बाजि आ सकते थे।'

'पक्षपातकी निद्रामें पण्डितोंको धनाढ्योंकी खुशामदमें लगे हुए दिखलानेका स्वप्न देखनेवाले लेखक सज्जन धोखा खा रहे हैं। आज तो जैन समाजमे कुछ अजब-गजब रंग-ढंगका ही साज-बाज है। वह यह कि एक अकिंचन और निर्धन पण्डितके मुखसे निकले हुए शब्दोंको वेदवाक्य समझकर कुछ लक्ष्मीपात्र ही प्रातःस्मरणीय पूज्यपादादि विशेषण लगाकर पण्डितोंके पृष्ठमर्दक बन गये है।'

पृष्ठ २३—'कि पं० गोपालदासजी आपके और हमारे कहनेसे विचार नहीं बदल सकते तो लेखक और हम तो क्या हमारी समझमें वे अपने हठको बृहस्पतिके समझानेपर भी नहीं छोड़ सकते।'

ऐतिहासिक महत्त्वके इन उपरोक्त उद्धरणोंमें पं० गोपालदासजी वरैयाके युगकी जैनसमाजकी भी अच्छी झाँकी मिल जाती है और पंडितजीके व्यक्तित्वका वह पक्ष जिसकी ओर अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान दिया जाता है स्पष्टतया उभरकर सामने आ जाता है। वह एक उत्कृष्ट समाज-सुधारक थे और समाज विरोधोंका निर्भीकताके साथ डटकर मुकाबिला करते थे। उनका यह वाक्य तो स्वर्णाक्षरोंमें अंकित किये जाने योग्य है कि—

उन्नतिका मार्ग विरोधके दाँतोंमें होकर है।'

# संस्मरण

•

# विलक्षण प्रतिभाके धनी

स्व० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ( मुनिश्री गणेशकीर्त्तिजी महाराज )

●

श्रीमान् गुरुवर्य पंडित गोपालदासजी बरैया इस युगके महापुरुष थे। आपकी सहनशीलता, उदारता, समयानुकूल बुद्धि, निस्पृहता निर्भीकता, तथा अचौर्यादि अनेक विशेषताएँ थीं जो स्वयं प्रसिद्ध हैं। उनका कहाँ तक वर्णन किया जाय, हमारी बहुत असमर्थता है।

## प्रथम घटना

आप परीक्षाप्रधानी प्रथम श्रेणीके थे। एक बारका जिक्र है—जब हम महाविद्यालय मथुरामें पढ़ते थे तब पंडितजी उसके मुख्य मन्त्री थे, आगरामें रहते थे। मथुरामें पढ़ते हुये एक दिन हमारी इच्छा सागर जानेकी हुई। तब यह विचार किया कि कोई ऐसा बहाना किया जाय जिससे छुट्टी मिल जाय। तत्काल एक युक्ति सूझ आई। हमने मथुरा से ही एक कार्ड लिया और उसमें बाईजीकी तरफसे लिखा कि 'बेटा, मेरी तबियत ठीक नहीं है। तुम १५ दिनके लिए चले जाओ।' चिरोंजाबाई

यह कार्ड मैंने अपने पतेसे डाकखानेमें डाल दिया। दूसरे दिन वह पत्र मुझे मिल गया। मैंने वह पत्र लिफाफेमें बन्द करके पंडितजीके पास भेज दिया। पंडितजीने कार्डकी मुहर पर मथुरा देखकर समझ लिया कि यह छात्र घर जाना चाहता है। इसको रोकना अच्छा नहीं है। उसी समय एक पत्र पंडितजीने लिखा कि इस छात्र को जाने दिया जाय, १५ दिनकी छुट्टी दी जाती है। छुट्टी बाद जब घरसे लौटे, तब पहले हमसे मिलकर मथुरा जाय। पत्र मिलते ही मैं घरको चल दिया। सागर पहुँचा, बाईजीने पूछा—भैया! अचानक बिना सूचनाके कैसे आगये। अच्छे तो हो। मैंने अपने बहानेकी, मन न लगनेकी बात ज्यों की त्यों बता दी। १५ दिन पूर्ण हुये, फिर मैं बाईजीसे आज्ञा माँगकर सागरसे चल दिया और प्रातःकाल आगरा पंडितजीके पास पहुँच गया। पंडितजीने मुस्कराते हुये बड़े प्रेमसे बैठाया और कहा कि आ गये। अच्छा ठहरो! भोजन कर लो!! फिर मथुरा जाना। मैंने कहा ठीक है। दर्शन आदिके अनन्तर भोजन किया फिर पंडितजीसे मथुरा जानेकी आज्ञा माँगी। तब पंडितजीने कहा—पहले एक श्लोक याद करलो तब मथुरा जाना—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्त्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥

यह श्लोक मुझे शीघ्र ही याद हो गया। मैंने कहा, पंडितजी! मुझे याद हो गया। पंडितजीने कहा—इसका क्या अर्थ समझे? मैंने नम्र प्रार्थना करते हुए कहा 'महाराज! मैंने बड़ी गलती की है जो आपको पत्र देकर असभ्यताका व्यवहार किया।' गुरुजीने कहा 'हम तुमसे खुश हैं, यदि इसी प्रकारकी प्रकृति ( अपराध स्वीकृत कर लेनेके स्वभाव ) को अपनाओगे तो आजन्म आनन्दसे रहोगे। हम तुम्हारे व्यवहारसे सन्तुष्ट हैं और तुम्हारा अपराध क्षमा करते हैं। तुम्हें जो कष्ट हो हमसे कहो, हम निवारण करेंगे। जितने छात्र हैं, हम उन्हें पुत्रसे भी अधिक समझते हैं। यदि जैनधर्मका विकास होगा तो इन्हीं छात्रोंके द्वारा होगा। इन्हींके द्वारा धर्मशास्त्र तथा सदाचार की परिपाटी चलेगी। जाओ, आनन्दसे पढ़ो। अब आगे ऐसा न करना।'

तब मैं मथुरा चला गया। पंडितजीने पीछेसे एक पत्र लिख दिया कि इस विद्यार्थी का दिमाग कमजोर है, अतः चार रुपया मासिक दूध पीनेके लिये दिया जावे। इस तरह मैं पंडितजीका कृपापात्र बन गया।

## द्वितीय घटना

आप धर्मशास्त्रके अपूर्व विद्वान् थे। आपका ध्येय इतना उच्चतम था कि चूँकि जैनियोंमें प्राचीन विद्या व धार्मिक ज्ञानकी महती त्रुटि हो गई हैं, अतः उसे पुनरुज्जीवित करना चाहिये। आपका निरन्तर यही ध्येय रहा कि जैनधर्ममें सर्वविषयके शास्त्र हैं, अतः पठनक्रममें जैनधर्मके ही शास्त्र रक्खे जावें। आपका यहाँ तक सदाग्रह था कि व्याकरण भी पठनक्रममें जैनाचार्यकृत ही होना चाहिये।

एक समय महाविद्यालय मथुरामें पठनक्रमके निर्धारण करनेके लिए समिति हो रही थी, जिसमें पंडितजी भी आगरासे आये थे। मध्याह्नमें बैठक हो रही थी। विषय यह था कि व्याकरणमें कौनसी पुस्तक रखी जाय। पंडितजीने 'कातंत्रव्याकरण' रखनेका निर्णय किया। प्रसंगवश मैं भी विद्यार्थी अवस्थामें विनयपूर्वक पंडितजीके पास पहुँच गया और भक्तिपूर्वक कहा कि 'लघुकौमुदी' को रखना चाहिये। पंडितजी नाराज होकर बोले—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैंने कहा कि क्या इससे जैनधर्मकी उन्नति घट जायगी? तब पंडितजीने कहा कि इस छात्रको पृथक् कर दो। मैंने निवेदन किया कि मैं अन्यत्र जाकर पढ लूँगा, इसमें आप चिन्ता नहीं कीजिये। यह वृत्तान्त लाला छन्नोमलजी बम्बई वालोंने सुना, जिससे कुछ उनके हृदयमें क्षोभ हुआ। आपने पंडितजीको लिखा कि ऐसा नहीं करें। छात्रको पृथक् न किया जाय। छात्र मिलते कहाँ है जो आप ऐसा कर रहे है। इसपर पंडितजीने पढनेकी पुनः स्वीकारता दे दी।

मैंने भी मुरैनामें तीन मास तक पंडितजीके सन्निधानमें कुछ अध्ययन किया था। फिर कारणवश पढ़ाई छोड़कर अन्यत्र चला जाना पड़ा।

## तृतीय घटना

एक बार मुरैनामें डाकू आ गये, बाजारमें हल्ला हो गया। पंडितजी भी दुकान खोलकर दिनमें बैठे थे। पंडितजीको एक युक्ति सूझ आई—दुकानमें सब जगह बोरा फैला दिये, सन्दूक भी वहीं रखी रहने दी। उसपर भी बोरा डाल दिया। दुकान खुली छोड कर पंडितजी बाहर निकल गये। कुछ समय बाद डाकू दुकानमें घुस गये तथा सब जगह बोरा फैले हुए देखकर वे खाली हाथ चले गये। उन डाकुओंने कोई चीज नहीं छुई। पंडितजी कुछ समय बाद दुकानमें आये और सब चीज व्यवस्थित देखकर प्रसन्न हुए। धर्मके प्रसादसे सर्वत्र विजय और लाभ होता है।

## चतुर्थ घटना

श्री स्व० पूज्य पं० बलदेवदासजी भी आगरेमें रहते थे तथा अपने समयके अद्वितीय महाविद्वान् थे, जिन्होंने भाष्यान्त व्याकरण पढा था। 'सर्वार्थसिद्धि' की पचासों बार आवृत्ति की थी। आपकी मंदकषायकी सर्वत्र प्रसिद्धि थी। व्याकरण विद्याके गुरु पं० ठाकुरदासजी दो विषयके आचार्य थे। जब वे आपके पास आते थे तो उनको देखते ही उठकर खडे हो जाते थे। तब आचार्यजी कहते थे कि पंडितजी, उठनेकी क्या जरूरत है, आप तो बलदेव नहीं देव है। ऐसे महाविद्वान् पंडितजीके पास कोई पुरुष करणानुयोगकी शङ्का लेकर आता था तो वे स्पष्ट कह देते कि भाई! इस बातको पं० गोपालदासजीसे पूछो, वे अच्छी तरह तुम्हारा समाधान कर देंगे। लिखनेका मतलब यह है कि उस समय वरैयाजी करणानुयोगमें अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। यह उन्हींका प्रताप है जो आज धवलादि सिद्धान्तशास्त्रोंके विद्वान् देखे जाते हैं। समाजमें गोम्मटसारका अध्ययन आपसे ही प्रारम्भ हुआ है। मुरैनामें महाविद्यालयकी स्थापना आपकी ही अनुपम देन है। 'सुशीला उपन्यास', जैनसिद्धान्त दर्पण', 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' और 'जैन-जागरफी' आदि ग्रन्थोंकी रचना कर आपने जैन-साहित्यकी विस्तृत सेवा की है।

## पंचम घटना

आप केवल विद्वान् ही नहीं, सदाचारी भी अद्वितीय थे। आपका आगरेमें मकान था। म्युनिसिपल जमादारने शौच-गृहके बनानेमें बहुत बाधा दी। यदि आप दस रुपये घूस दे देते तो मुकदमा न चलता, परन्तु पंडितजीको घूस देनेका त्याग था। मुकदमा चला, बहुत परेशानी उठानी पड़ी। सैकड़ों रुपयोंका व्यय हुआ। अन्तमें आप विजयी हुए।

## षष्ठ घटना

पंडितजी अजमेरमें रेलवेकी नौकरी करते थे। आपको गणितका ज्ञान अच्छा था। इस विशेषताको देखकर एक ओसवाल भाईने कहा कि आप मन्दिर आते हो, थोड़ा स्वाध्याय किया करो। वरैयाजीने कहा—मैं संस्कृत-प्राकृत नहीं

जानता। तब उन्होंने कहा कि मैं आपको बताऊँगा। तब दोनोंने बैठकर जीवकाण्डकी २०० गाथा तक परस्परमें स्वाध्याय किया। तत्पश्चात् भाईजीने कहा कि पंडितजी आप विज्ञ हैं—स्वयं स्वाध्याय करिये। पंडितजीकी ऐसी रुचि हुई कि फिर गोमटसारको छोड़ा ही नहीं।

आप धर्मशास्त्रके अपूर्व विद्वान् थे। केवल धर्मशास्त्रके ही नहीं, द्रव्यानुयोगके भी अपूर्व विद्वान् थे। 'पंचाध्यायी' के पठन पाठनका प्रचार आपहीके प्रयत्नका फल है। इस ग्रन्थके मूल अन्वेषक श्रीमान् पंडित बलदेवदासजी हैं। उन्होंने अजमेरके शास्त्र भंडारमें इसे देखा और श्री बरैयाजीको अध्ययन कराया। अनन्तर उसका प्रचार बरैयाजीने अपने शिष्योंमें किया।

रामपुरमें वहाँके स्थानीय जैनसमाजके भाइयोंने पंडितजीका अभूतपूर्व स्वागत किया और हाथीपर जुलूस निकाला। कई आम सभाएँ हुई।

## सप्तम घटना

एक बार पंडितजी और देवकीनन्दनजी इटावा गये। वहाँ पंडितजीको दस्त लगने लगे, जिससे कोई उपाय सूझ न पड़ा, बड़ा ही कष्टका अवसर था; क्योंकि पंडितजी जब शौच जाते, तब धोती बदलकर जाते तथा पीछे हाथ-पैर धोनेको जल चाहिये। जल रखनेको वर्तन भी न था। रात्रिका समय था। श्री पं० देवकीनन्दनजीको एक युक्ति सूझ पड़ी। एक हलवाईके पास गये—उससे कहा, भाई! हमको इस कड़ाहेकी जरूरत है, जो भाड़ा लगे सो ले लीजिये। हलवाईने भाड़ेपर कड़ाहा दे दिया। तब अपने स्थानपर उठा लाये और छने जलसे भर दिया जिससे हाथ-पैर धोनेका काम चला। धोतीके टुकड़े कर लिये गये—जिससे धोती बदलनेकी कोई कठिनाई नहीं हुई। तब ४०-५० दस्त लगनेके बाद कुछ शान्ति आई और कुछ समय बाद दस्त बन्द होने लगे। पं० देवकीनन्दनजीने यह सेवा बहुत आनन्द एवं धैर्यपूर्वक की। पंडितजीने शान्त परिणामोंसे सब सहन किया।

पंडितजीकी अन्तरंग बहिरंग दोनों ही निर्मलताएँ थी। वह सतत अपनी चर्यामें सावधान रहते थे। इसी अलौकिक वृत्तिके कारण आप सबके आदर्श थे। गुरुजीने कभी अपने मुखसे किसीके प्रति अपशब्द नहीं कहे। सर्व जीवोंके प्रति उनकी अमोघ मैत्री थी। लोभ किसी प्रकारका नहीं था, इसीसे प्रतिभा शक्ति विलक्षण थी। दूरसे ही आदमीको पहचान लेते थे।

एक बार पंडितजी घरमें भोजन कर रहे थे। उस समय दो विद्यार्थी बाहरसे पढनेके लिये आये। पंडितजीने बुलाया और ठहरनेके लिये कहा। पंडितानीजी बहुत नाराज हुई और बोलीं कि इन्हें कौन बनाकर खिलावेगा। पंडितजी चुप ही रहे। पंडितानीजी अधिक बोलती रहीं। सुनते-सुनते जब पंडितजी घरसे बाहर निकले तब पंडितानीने उठकर क्रोधमें पंडितजीके ऊपर पानी डाल दिया। पंडितजीने प्रसन्नमुद्रामें कहा कि गरजी तो बहुत, बरषी आज ही। इन मधुर शब्दोंको सुनकर पंडितानी भी शान्त हो गई और हँसने लगीं।

इस तरह पंडितजी अपनी दुकानका काम तथा विद्यालयका काम किया करते थे। व्यापारकी अपेक्षा पढ़ानेकी तरफ ही आपका विशेष झुकाव था, जिससे विद्यालयका रूप स्वयं ही बन गया। उस समय मोरेना विद्यालयकी गिनती श्रेष्ठ विद्यालयोंमें मानी जाती थी।

वह युग था, जिसमें धर्मस्नेहवश छात्र पढ़ा करते थे। आजके युगमें धर्मका स्नेह बहुत दुर्लभ होता जा रहा है। जैनधर्मके प्रचारकी तो सदैव आवश्यकता है। इस युगमें तो और अधिक है। जो वीतराग प्रभुने देखा है सो होगा। हमें विकल्प करनेकी जरूरत नहीं है।

वास्तवमें पंडितजीका जीवन इस युगमें धर्मके उद्धारके लिये ही हुआ था। आचार-विचार, ज्ञान-दर्शन मत आदिमें सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। प्रथमानुयोगका स्वाध्याय उस कालमें सर्वत्र प्रचलित था। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोगका स्वाध्याय तथा शिक्षण आपके ही अथक परिश्रमका फल है। आज जो भी विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब आपके ही शिष्य-प्रशिष्य हैं।

महाराष्ट्र प्रान्तमें आपके निमित्तसे धर्मका प्रचार हुआ। सोलापुरके दानवीर सेठ हरीभाई देवकरणजीने आपके उपदेशसे प्रभावित होकर मोरेनामें 'जैन सिद्धान्त विद्यालय'की स्थापना कराई थी, जो आज भी अपना कार्य कर रहा है।

आपके साथमें बाबा ठाकुरदासजी भी रहते थे, जिन्होंने अन्तिम जीवनमे सानन्द धर्म साधन विद्यालयमें किया। ऐसी धर्मशिक्षा अन्यत्र दुर्लभ थी। उसी शिक्षाको प्राप्त करनेके लिये श्री अनन्तकीर्ति मुनि महाराज दक्षिण देशसे पधारे थे, परन्तु उनकी असमयमे समाधि हो गई। उनकी तपस्या इतनी प्रबल थी कि उनके निमित्तसे मोरेना एक तीर्थस्थान बन गया।

पंडितजीने अपने जीवनमे धन-धान्यादिसे तथा पुत्र-पौत्रादिकी समृद्धि देखी। वह युग था जब पंच-अणुव्रतोंका कथन और ग्रहण बड़ा कठिन माना जाता था, तब पंडितजीने उनकी सरलता दिखाकर बहुतोंको व्रती बनाया। उस समय जितने भी सेठ श्रीमन्त थे, वे सब आपका आदर करते थे तथा समय-समयपर उत्सवोंमे आपको आमन्त्रित करते थे। आपकी वाणी बड़ी ओजपूर्ण आगमके अनुकूल थी, जिसको सब श्रोतागण चित्रलिखितसे होकर सुना करते थे। सिद्धान्तके गूढ़ प्रश्नोंका वे समाधान कर देते थे। ऐसे पंडितजी चतुरस्त्रयबुद्धि ( वादी, वाग्मी, गमक और कवि ) थे। उनकी जो भी महिमा लिखी जाय थोड़ी है।

# उनकी सीख

स्व० महात्मा भगवानदीनजी

●

हमने 'पं० गोपालदासजी बरैया जैसा दूसरा आदमी समाजमें आजतक नहीं देखा, पर यह बात तो हर आदमीके लिए कही जा सकती है। नीमके पेड़के लाखों पत्ते एकसे नहीं होते, पर सब हरे और नुकीले तो होते हैं। समाजके हर आदमीसे यह आशा की जाती है कि वह कम-से-कम अपने समाजके मेम्बरोंको सताये नहीं, उनसे झूठा व्यवहार न करे, उनके साथ ऐसे काम न करे, जिनकी गिनती चोरीमें होती है। समाजमें रहकर अपनी लँगोटी और अपने आँखके बाँकपनपर पूरी निगाह रखे और अपनी ममताकी हद बाँधकर रहे। इन पाँच बातोंमें जिन्हें अणुव्रत यानी छोटे व्रतके नामसे पुकारा है, वे पूरे-पूरे पक्के थे और पाँचों अणुव्रतोंको ठीक-ठीक निभानेवाला समाजमें हमारे देखनेमें कोई दूसरा आदमी नहीं मिला। वह पूरे गृहस्थ थे, दूकानदारी भी करते थे और पंडित और विद्वान् होनेके नाते जगह-जगह व्याख्यान देते भी जाते थे और इस नाते आने-जानेका किराया और खर्च भी लेते थे, पर दूकानदारी और इन सब बातोंमें जितनी सचाई वे बरतते थे, और किसीको बरतते हुए नहीं देखा है। अगर उन्हें कोई ५० रु० पेशगी भेज दे और घर पहुँचते-पहुँचते उनके पास १० रु० बच रहे तो वह १० वापिस कर देते थे और दो पैसे बच रहे तो दो पैसे भी वापिस कर देते थे। वे हर तरहसे हिसाबके मामलेमें पैसे-पैसेका ठीक-ठीक हिसाब रखते थे। पाँचों व्रतोंमेंसे हर व्रतका पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और इन व्रतोंके प्रति सचाई ही उनमें एक ऐसा जादू बनी हुई थी, जिसमे सभी उनकी तरफ खिंचते थे।

धर्मके मामलेमें आमतौरसे लोग अणुव्रतोंमेंसे किसी व्रतकी परवाह नहीं करते और सचाईके अणुव्रतकी तो बिल्कुल ही परवाह नहीं करते। एक पंडितजी ही थे जो धर्म और व्यवहारमें कही भी सचाईको हाथसे नहीं खोते थे। तभी तो वह उन पंडितोंकी नजरमे गिर गये जो धर्मके ज्ञाता थे, पर उसपर अमल करनेके अभ्यासी नहीं थे।

पंडितजी अणुव्रती थे, पर साथ-ही-साथ परीक्षा प्रधानतामें पूरा विश्वास रखते थे और जैसे-जैसे वह परीक्षा प्रधानताको समझते जाते थे, वैसे-वैसे उसपर अमल करते जाते थे। दूसरे शब्दोंमें वह धीरे-धीरे परीक्षा प्रधानी बनने जा रहे थे कि मौत उन्हें उठाकर ले गई। कोई मनचला यह सवाल उठा सकता है कि क्या वह शुरू-शुरूमें परीक्षा प्रधानी नहीं थे ? हम उसे जवाब देंगे—'हाँ, वह नहीं थे। वह शुरू-शुरूमें अन्ध श्रद्धानी थे, कोरे कट्टर दिगम्बरी थे। उनकी कट्टरता दिनोंदिन कम होती जा रही थी और अगर वह जीते रहते तो वह कट्टरता खत्म हो जाती और फिर वे दिगम्बरी न रहकर जैन बन जाते और अगर कुछ और उभर पाते तो सर्वधर्म समभावी होकर इस दुनियासे कूच करते।

हम ऊपरके पैरेमें बहुत बड़ी बात कह गये है, पर वह छोटे मुँह बड़ी बात नहीं है। हमने पंडितजीको बहुत पाससे देखा है। पंडितजी हमको बहुत प्यार करते थे और जब भी हम उनसे मिले, उन्होंने पूरी रात हमसे बिल्कुल जी खोलकर बातें कीं और हमारी बातें खुले दिलसे सुनीं। हमसे जब वह बात करते थे तो एकदम अभिन्न हो जाते थे। हम ये सब कहकर भी यह नहीं कहना चाहते कि उन्होंने हमसे कबूला कि वे कट्टर दिगम्बरी थे। इस तरह बेतुकी बात हम क्यों पूछने लगे और वे हमसे क्यों कहने लगे। हम तो ऊपरकी बात सिर्फ इसलिये लिख रहे हैं कि हमने उन्हें पाससे देखा है और उनका खुला हुआ दिल देखा है। बस उस नाते और सिर्फ उस नाते हम यह कहना चाहते है कि हम जो-कुछ ऊपर कह आये हैं, वो वह है कि जो हमने नतीजा निकाला है।

हमने यह नतीजा कैसे निकाला, यह बतानेसे पहले हम यह कह देना चाहते हैं कि जो आदमी परीक्षा प्रधानी बनने जा रहा है वह किसी धर्म या पन्थका कितना ही कट्टर अनुयायी क्यों न हो, उस आदमीसे लाख दरजे अच्छा है, जो अन्धश्रद्धानी होते हुए सर्वधर्म समभावी होनेका दावा करता है। वह तो सर्वधर्म समभावीका नाटक खेलता है, या ढोंग रचता है। पंडितजीने क्यों किसी चीजका नाटक नहीं खेला, वे जब जो-कुछ थे, सच्चे जीसे थे और सचाई ही तो पूज्य है, वही तो धर्म है, वही तो अँधेरेसे उजालेकी तरफ ले जानेवाली चीज है और वह पंडितजीमें थी। इस सचाईके बलपर ही

वह झट ताड़ जाते थे कि मैं अबतक कौन-सा नाटक खेलता रहा हूँ और कौन-सा ढोंग रचता रहा हूँ। अपनी परीक्षामें जैसे ही उन्होंने नाटकको नाटक और ढोंगको ढोंग समझा कि उसे छोड़ा। जैसे ही उन्होंने परीक्षासे यह जाना कि सोमदेवकृत 'त्रिवर्णाचार' आर्ष ग्रन्थ नहीं है, वैसे ही उन्होंने उसको अलग किया और उसके आधारपर जो पूजाकी क्रियाएँ करते थे, उन्हें धता बताई। धता बताई शब्द जरा भी हम बढ़कर नहीं कह रहे हैं, उन्होंने इससे ज्यादा कड़ा शब्द इस्तेमाल किया था।

धर्मके मामलेमें उनकी कही हुई खरी-खरी बातें आज बच्चे-बच्चेकी जबान पर हैं, उन्हें हम दुहराना नहीं चाहते। हम तो यहाँ सिर्फ इतना ही कहेंगे कि पंडित गोपालदासजी वरैया सचाईके साथ विचारस्वाधीनताका दरवाजा खोल गये।

पंडितजीने सम्यक्त्व, देवता, कल्पवृक्ष, केवलज्ञान, भक्ति इनके बारेमें ऐसी-ऐसी बातें कहीं, जिनसे एक मर्तबा समाजमें खलबली मची, पर वैसा तो होना ही था, कुछ दिनों पंडितजीकी हँसी उड़ाई गई, फिर जोरका विरोध किया गया फिर सहन किया गया और फिर मान लिया गया।

पंडितजीने क्या-क्या काम किये, इनको गिनाकर हम क्या करें, ये काम मुरैना महा विद्यालयका है। हम तो सिर्फ वो ही बातें लिखना चाहते हैं, जिनका हमारे दिल पर असर है। पंडितजीको जो संगिनी मिली थी, वह उन्हींके योग्य थी, उनकी संगिनी उनके अणुव्रतोंकी परीक्षाकी कसौटी थी, पर पंडितजी उस कसौटी पर हमेशा सौटंच सोना ही साबित हुए। उनकी संगिनीके स्वभाव के बारेमें हमने सुना ही सुना है, पर वह सुना ऐसा नहीं है कि जिस पर विश्वास न किया जाय। हमारा देखा हुआ कुछ भी नहीं है कि कोई ये न समझे कि हम ऐसी बातें कहकर पूर्वापर विरोध कर रहे हैं। चूँकि अभी तो हम कह आये हैं कि हमने पंडितजीको पाससे देखा है और जब पाससे देखा है तो क्या संगिनीको नहीं देखा था, हाँ, देखा था पर हमने कभी उनको ऐसे रूपमें नहीं देखा, जैसा सुन रक्खा था, और इसके लिए तो हम एक घटना लिखे ही देते हैं।

इटावामें 'तत्व प्रकाशिनी सभा' का जलसा था। पंडितजी अपनी संगिनी समेत वहाँ आये हुए थे। उनकी संगिनी उस वक्त प्रेमीजीके लड़केको जो उस वक्त वर्ष या डेढ़ वर्षका होगा, गोदमें खिला रही थीं। वह लड़का उनकी गोदमें बुरी तरह रो रहा था, हम उस वक्त तक उनको पंडितजीकी संगिनीकी हैसियतमें नहीं जानते थे। इसलिये हमने उनकी गोदमें उस लड़केको छीन लिया, और सचमुच छीन लिया, ले लिया नहीं। छीन लिया हम यो कह रहे हैं कि हमने उस बच्चेको लेते वक्त कहा तो कुछ नहीं पर लेनेके तरीकेसे ये बताया कि हम यह कह रहे हैं कि तुम्हें बच्चा खिलाना नहीं आता और होनहारकी बात कि वह बच्चा हमारी गोदमें आकर चुप हो गया। यह सब कुछ प्रेमीजी खड़े-खड़े देख रहे थे। वे थोड़ी देरमें चुपकेसे हमारे पास आकर बोले कि 'आप बड़े भाग्यशाली हैं।' मैंने पूछा क्यों ? बोले—'आपने पंडितानीजीसे बच्चा छीन लिया और आपको एक शब्द भी सुननेको नहीं मिला। हम तो उस वक्त न जाने क्या क्या अंदाजा लगा रहे थे।'

उस दिनके बाद हम जब भी पंडितजीसे मिले, हमने तो उनको इसी स्वभावमें पाया। यही वजह है कि हम उनके स्वभावके बारेमें जो कुछ कह रहे हैं, वह सब सुनी सुनाई बात है।

कुछ भी सही, हाँ तो उनकी संगिनी उनके अणुव्रतकी कसौटी थी और जीवनभर उनका साथ ऐसा निभाया कि जो एक अणुव्रती ही निभा सकता था।

पंडितजीने जीतेजी दूसरी प्रतिमासे आगे बढ़नेकी कोशिश नहीं की, लेकिन एकसे ज्यादा ब्रह्मचारियोंको हमने उनके पाँव छूते देखा, वह सचमुच इस योग्य थे।

आज जो तत्व-चर्चा घर-घरमें फैली हुई है और ऐसी बन गई है, मानो वह माँके पेटसे ही साथ आती हो, ये सब पंडितजीकी मेहनतका ही फल है। वे गहरीसे गहरी चर्चाको इतनी आसान बना देते थे कि एक बार तो तत्वोंका बिलकुल अजानकार भी ठीक-ठीक समझ जाता था, यह दूसरी बात है कि अपनी अजानकारीके कारण वह उसे ज्यादा देरके लिए याद न रख सके। इसलिये उन्होंने 'जैन सिद्धान्त-प्रवेशिका' नामकी एक किताब लिख डाली थी। उसे आप जैन सिद्धान्तका जेबीकोश यानी पाकेट डिक्शनरी कह सकते हैं।

## गुरुजी के मित्र एवं सहयोगी

# गुरुजीका शिष्य परिवार

पं० माणिकचन्द्रजी कौन्देय

स्व० पं० धन्नालालजी जैन
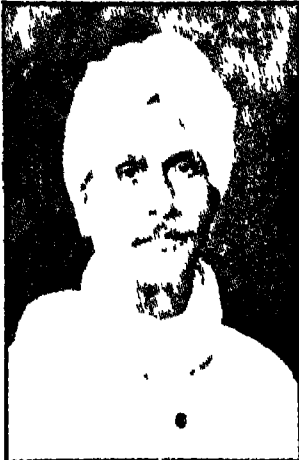
स्व० पं० वंशीधरजी शास्त्री, शोलापुर
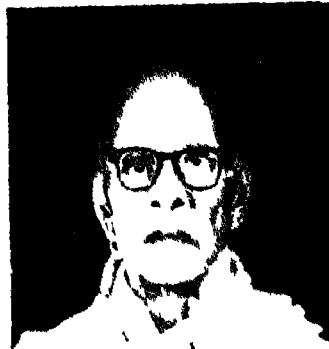
पं० वंशीधरजी न्यायालंकार

स्व० ब्र० ज्ञानानन्दजी

स्व० पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री
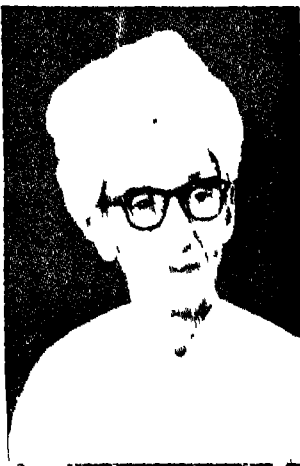
स्व० पं० देवकीनन्दनजी शास्त्री

पं० मक्खनलाल जी शास्त्री

पंडितजीकी जीवनीसे जो कुछ सीख ली जा सकती है, उसका निचोड़ हम यह समझते हैं—

१. सच्चे या अणुव्रती बनना है तो निर्भीक बनो।

२. निर्भीक बनना है तो किसीकी नौकरी मत करो, अपना कोई रोजगार करो।

३. रोजगार करते हुए अगर धर्म या धर्मचर्चाके वक्ता बनना चाहते हो तो अणुव्रतका ठीक-ठीक पालन करो, तभी दुकान चल सकती है।

४. अणुव्रतोंको अगर ठीक-ठीक पालन करना है तो अपनी हद बाँधो।

५. अपनी हद बाँधनी है तो किसी कर्त्तव्यसे बाँधो।

६. कर्त्तव्यको ही अधिकार मानो।

७. अधिकारी बनो, अधिकारके लिए मत रोओ।

'मेरे साथी' भारत जैन महामण्डल, फरवरी १९५०

●

# ज्ञाननिधि गुरुदेव

सिद्धान्त महोदधि पं० माणिकचन्द कौन्देय, न्यायाचार्य
हनुमानगंज, फिरोजाबाद

●

प्रात स्मरणीय, स्याद्वादवारिधि, न्यायवाचस्पति, स्व० पूज्य गुरु प० श्री गोपालदासजी बरैया इस शताब्दिमे एक धुरन्धर विद्वान् हो गये हैं। वि० स० १९५४मे चौरासी मथुरामे खुले दिगम्बर जैन महाविद्यालयके वे मन्त्री रहे। जब उसमे अग्रेजी, गणित, आदि विषय भी पढाये जाने लगे तो पडितजीको मन्त्रिकार्यसे अरुचि हो गई। गुरुजीका लक्ष्य जैन प्रकाण्ड आचार्योंके बनाये गये ग्रन्थोके ही अध्ययन अध्यापनकी ओर था। ये अग्रेजी आदि तो अन्य स्कूलोमे भी साधारणरीत्या पढाये जा रहे है, फिर जैन महाविद्यालय स्थापनाका क्या उद्देश्य रहा? प्रकृष्ट तपस्याको गौणकर श्री समन्तभद्र, अकलंक देव, विद्यानन्द, नेमिचन्द्र प्रभृति आचार्योंने जो गोम्मटसार आदि महान ग्रन्थ बनाये हैं उनका पठन-पाठन होना चाहिये। जैन ग्रन्थो और जैनधर्मके प्रचारकी भारी धुन उनको लगी थी। तदनुसार कुछ वर्षों पश्चात् वि० सं० १९६७ मे गुरुजीने मोरेनामे जैन सिद्धान्त विद्यालय खोल उसमे मुझे न्यायकी गद्दी पर नियुक्त किया। उस समय उमरावसिहजी, देवकीनन्दनजी, बशीधरजी, खूबचन्दजी आदि छात्र और मै स्वयं गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पचाध्यायी आदि ग्रन्थोको गुरुजीसे पढते थे तथा उक्त छात्र सोत्साह प्रमेयकमलमार्तंड, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि न्यायग्रन्थोंको मुझसे पढते थे।

गुरुजी गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पचाध्यायीके अंतस्तलस्पर्शी विद्वान् थे। इन ग्रन्थोको उन्होने कई बार पढाया। मैने भी गुरुमुखसे उक्त ग्रन्थ पढे। अन्य भी अनेक चर्चाएं कर तत्त्वबोध प्राप्त किया। मै उनके अविस्मरणीय उपकारोसे आनखसिख अत्यन्त आभारी हूँ। उनको अपना सद्‌गुरु मानता हूँ। वे भी मुझसे प्रिय शिष्यवत् अखण्ड स्नेह रखते थे।

श्री त्रिलोकसारमे ऊर्ध्वलोककी आकार रचना पिनष्टि (पीनस) बताई गई है जो कि किसी पडितसे नही लगी थी। आचार्यदेशीय पं० टोडरमलजीने लिख दिया था कि यह मेरी समझमे नीके नही बैठ रही। किन्तु दो घटे श्रमकर गुरुजीने उस रचनाको सुस्पष्टतया हम लोगोको समझा दिया। वे रेखागणित, बीजगणित और अकगणितके मर्मस्पर्शी विद्वान् थे। पडितजी उत्कट सम्पादक थे, उद्भट पुस्तक लेखक भी थे। उन्होने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, जैन सिद्धान्त दर्पण और सुशीला उपन्यासकी रचना की थी। कुछ गीत भी बनाये थे।

गुरुजीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये। बीमार अवस्थामें भी शास्त्रार्थके लिये बाहर गये। अनेक शास्त्रार्थ जीते। कलकत्ता, देहली, अजमेर, अटेर आदि अनेक स्थानोंपर वे मुझे भी साथ ले गये थे। उन्होंने अजमेरमें दर्शनानन्द सरस्वतीको परास्त किया। कलकत्तामें महत्त्वपूर्ण अजैन विद्वानोंमें जैन सिद्धान्तका ठोस व्याख्यान देकर 'न्यायवाचस्पति'की उपाधि प्राप्त की।

एक बार पंडितजी ज्वराक्रान्त थे किन्तु बाहर शास्त्रार्थके लिये जाना आवश्यक था। पंडितजीने उस अवस्थामें ही प्रस्थान कर दिया और हार्दिक प्रभावनोत्साहके अनुसार जय प्राप्त की। इसी प्रकार एक बार पंडितजी प्रभावनार्थ बाहर जानेको उत्सुक थे किन्तु पण्डितानीजीने निषेध किया कपड़े, लोटा आदि नहीं लेने दिये। वे अकेले शरीरपर कुर्ता पहिने ही बाहर चले गये और वहां स्वकीय व्ययसे कपड़े बनवाये। पंडितजीकी लगन और धुनके ये कतिपय उदाहरण हैं। वे पक्के सत्यव्रती और निःस्पृह थे। समाजसे कोई भेंट नहीं लेते थे।

गुरुजीके तलस्पर्शी पाण्डित्यका क्या कहना! न्याय, काव्य, व्याकरणकी अच्छी व्युत्पत्ति थी। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिककी कठिन पंक्तियोंके सम्मुख आ जानेपर हम सन्दिग्ध रहते थे कि देखें ये इन दार्शनिक पंक्तियोंको दार्शनिक संकेतोंको जाने बिना कैसे लगावेंगे? किन्तु दूसरे मिनटमें ही हम आनन्द-विभोर हो जाते थे, जबकि वे उन राक्षसी स्वरूप पंक्तियोंके अन्तस्तलीय अभिप्रायको सम्मुख रख देते थे। हमें भारी आश्चर्य उपजता था। उनका अनुभव दार्शनिक आचार्योंसे मिल जाता था 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः।'

गुरुजी जैनधर्मके बड़े प्रचारक थे। कई जैन विद्यालयोंमें अजैन ग्रन्थ भी पढ़ाये जाते थे। इस प्रकरणको लेकर उन्होंने लेख लिखकर समाजको प्रबोधित किया। तब सभी जैन विद्यालयोंमें जैनग्रन्थोंमें भी वार्षिक परीक्षा देना अनिवार्य कर दिया गया। उनका निर्णय था कि जैनाचार्योंने भी व्याकरण, न्याय, काव्य सिद्धान्तके उच्चकोटिके ग्रन्थ बनाये हैं। अतः जैनवाङ्मयका ही अध्ययन क्यों न किया जाय? अजैन ग्रन्थ तो अन्यत्र भी पढ़ाये जा सकते हैं।

यों ठोस विद्वान् गुरुजीने जिनागमोंका प्रचार करते हुए अनेक जैनग्रन्थोंकी उलझी हुई गुत्थियोंको सुलझाया। यज्ञोपवीत आदि क्रिया-कलापका भी प्रचार किया। सिद्धान्त ग्रन्थोंका प्रचार जो वर्तमानमें दीखता है उसमें गुरुजीका प्रधान हाथ था। उनके गुणोंका वर्णन लेखनी-कला-क्रियासे बाह्य है। वे गृहस्थ होकर होकर साधु जीवन व्यतीत करते थे। उनके सदृश उद्भट विद्वान्की स्थानपूर्ति होना नितान्त कठिन है। मैं ऐसे पुण्यात्मा गुरुजीके चरणोंमें शतशः श्रद्धाजलियाँ अर्पित करता हूं।

# अविस्मरणीय मेरे विद्यागुरु

न्यायालंकार पं० वंशीधर जी शास्त्री, इन्दौर

●

बात उस समयकी है जब मेरी उम्र १२॥ वर्षकी थी, तब प्राथमिक शिक्षणके बाद हमारे पिताने हमें हजारी-लालजीके साथ समीपस्थ स्थान बरुवासागर भेजा। वहाँ सेठ श्री मूलचन्दजी प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ और शिक्षा प्रेमी थे। हम दोनोंको होनहार समझकर उन्होंने वीर सं० २४३२ विक्रमाब्द १९६१ मे वाराणसी (बनारस) भेज दिया। वहाँ आकर मैदागिनकी धर्मशालामें आश्रय मिला।

वहाँ ठाकुरदासजी भगत उस समय रहते थे, उनकी भाभी साथ थी जो अत्यन्त धर्मनिष्ठ थी। मुझे भी उनका धर्मस्नेह प्राप्त हो गया। श्री स्वर्गीय पं० पन्नालालजी बाकलीवाल भी उस समय वहीं पर थे। हम और हजारीलाल दो छात्र जिस समय विद्यालाभके लिये पहुँचे थे, पूज्य पं० गणेशप्रसादजीके सत्प्रयत्नोंसे उस समय काशीमें विद्यालयकी संस्थापनाका निश्चित विचार हो चुका था।

## काशी विद्यालयकी स्थापना

ज्येष्ठ शुक्ला ५ (श्रुत पचमी) के पवित्र दिन मैदागिनमें ही 'स्याद्वाद जैन महाविद्यालय' की स्थापना हुई। स्थापनाके समय श्री बाबू अजितप्रसादजी, बाबू जुगमन्दिरदासजी, सेठ माणिकचन्दजी मुंबई और ब्र० शीतलप्रसादजी पधारे थे। श्रीमान् स्व० पं० अम्बादासजी शास्त्री अध्यापकके रूपमें हमें प्राप्त हुए और उन्होंने हम दोनों छात्रोंको लेकर विद्यालयका मुहूर्त किया। दो दिन बाद हम सब भदैनी आ गये। कुंवरसेन शर्मा नामक एक रसोईदार रखा गया। ५ वर्ष तक हमारी शिक्षा चलती रही। प्रथमा, न्याय मध्यमा दूसरा खंड पास किया। जैन न्यायमें आप्तपरीक्षा, धर्ममें सर्वार्थ-सिद्धिका अध्ययन किया। विक्रमाब्द १९६५ मे सर्वार्थसिद्धिकी परीक्षा दी। हमारे परीक्षक थे माननीय स्व० पं० गोपाल-दासजी वरैया। हमारी कापी जाचकर उन्होंने ६९ नम्बर दिये। इस परीक्षा सम्बन्धने ही हमे पण्डितजीके विशाल हृदयके एक कोनेमें स्थान दे दिया।

## शिखरजीमें पंच कल्याणक

सं० १९६६ मे सिवनीके प्रसिद्ध धर्मात्मा श्रीमन्त सेठ पूरणसाहजीकी ओरसे परम पवित्र धाम श्री सम्मेद-शिखरजी पर भगवानके पंचकल्याणक तथा गजरथ महोत्सवका आयोजन था। लाखों जैन बन्धु समस्त भारतसे एकत्रित हुए थे। गजरथके साथ पंचकल्याणक महोत्सव बुन्देलखण्डकी विशेष प्रतिष्ठित प्रथा है, फिर इस पवित्र क्षेत्र पर तो उसका महत्त्व सौगुना था। आगत समस्त बंधुओंका ३ दिन भोजन पानका (जेवनार) प्रबध सेठ पूरणशाहजीकी ओरसे था। हमे भी अपनी १८ वर्षकी उम्रमें उस पवित्र धर्मोत्सवका शुभ अवसर प्राप्त हुआ। मैदागिनमें जब चलनेवाले थे तब वहाँ गुरुवर पं० गोपालदासजी भी शिखरजी यात्राके प्रसंगमे आ गये थे। गुरुजीसे साक्षात् परिचयका मुझे प्रथम सुअवसर प्राप्त हुआ। यह दिवस मेरा सौभाग्य दिन था। इस समय एक छात्र श्री उदयलालजी काशलीवाल भी हमारे साथ थे। इन्हें अपनी विद्याका कुछ ऐसा अभिमान था कि वह अपने को सबसे समझदार और विद्वान् मानता था।

## एक प्रश्न

उदयलालजी गुरु गोपालदासजीसे मिले। उन्होंने गुरुजीसे प्रश्न किया कि पंडितजी! किसीने आलू छोड दिए हैं पर अचित्त दशामे यदि खाय तो कोई हानि तो नही है। गुरुजीने उसे समझाया कि भाई, अनन्तकायका घात तो उसमें होगा। इसीसे वे अभक्ष्य है, और फिर जिसने जो वस्तु छोड दी हो वह पवित्र भी हो तो वह उसे कैसे खायगा, यह प्रश्न तो गलत है। उदयलालजी चुप हो गये। दूसरे दिन पुनः गुरुजीके पास जाकर उनसे नैगमसंग्रहादि सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमेंसे समझनेकी प्रार्थना की। गुरुजीने मेरी सर्वार्थसिद्धिकी कापी जाँची थी, अतः उन्हें मुझपर विश्वास था कि

यह बालक ठीक-ठीक समझता है। तब उन्होंने मुझसे कहा कि भाई, अपने साथी को उक्त सूत्रकी टीका समझा दो। उदयलालजी यह सुनकर कुछ लज्जितसे हुए और जो एक मिथ्या अहकार छात्रावस्थामें आ गया था वह दूर हुआ।

## मेरी उद्धतता

उसी दिन सन्ध्या समयमें गुरुजीसे मिलने मैदागिन गया। गुरुजीने मुझसे प्रश्न किया कि क्यों, बंशीधर, 'जैनधर्म पढना चाहते हो।' छात्रावस्थामें अल्हणपना तथा कुछ मिथ्या अहकार मुझे भी था। मैंने उत्तर दिया कि 'गुरुजी जब बुड्ढे होंगे तब धर्मशास्त्र पढ लेंगे। गुरुजी हँसे और बोले कि बच्चे, धर्मशास्त्रका पढना हंसी-खेल नहीं है, बडा गम्भीर विषय है। जब पढोगे तब मालूम होगा। मैं चुप रह गया।

## शिखरजीमें गुरुजीका स्नेह

यथासमय सब लोग शिखरजी पहुँचे। हम भी गये। सभाएँ भरती थी। अनेक विद्वानोंके भाषण होते थे। मेरे अन्त करणमें भी प्रेरणा हुई और मैंने भी एक भाषण संस्कृत भाषामें तैयार किया तथा समय लेकर सभामें व्याख्यान दिया। श्री ब्र० दरियावसिंहजी सोधियाने मुझे हर्षसे गोदमें उठा लिया। सर सेठ हुकुमचन्दजी भी प्रसन्न हुए और गुरुवर्य पं० गोपालदासजीने मुझे स्नेहदृष्टिसे देखा।

## नियम पालनका दृढ़ संकल्प

मेलेकी समाप्ति थी, लोग अपने-अपने घर वापिस हो रहे थे। इससे स्टेशनपर बडी भीड थी। मुसाफिरखानेमें गुरुजी भी थे और हम भी। गाडी आनेका समय हो रहा था। सभी मुसाफिर प्लेटफार्मपर जानेको उत्सुक थे। फाटक खुला नहीं था, अत मुसाफिर लोग तार लाँघ-लाँघ कर प्लेटफार्म पर पहुचने लगे।

मैंने गुरुजी से कहा कि चलिए, प्लेटफार्म पर चले, भीड बहुत है, नहीं तो पीछे रह जायेंगे। गुरुजी बोले कि भाई! फाटक नहीं खुला है, नियम-विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। रेलवे अधिकारी यथासमय फाटक खोल देते हैं और तब ही जाना नियमानुकूल सही है। इस तरह लाँघकर जाना उचित नहीं। थोडी देरमें फाटक खुला और गुरुजीके साथ हमलोग फाटकमें निकलकर प्लेटफार्मपर आये, गाडी भी आगई और कठिनाईसे हम सब चढ पाये। नियमोंके यथाविधि पालनकी दृढताका पाठ उसी दिन मैंने गुरुजीसे सीखा। अनेक अनियमितताएँ जीवनसे दूर हो गईं। यह मेरा उनके पास प्रथम पाठ था।

गुरुजी आगरा वापिस चले गए और हम बनारसमें अध्ययन करने लगे। पर धर्मशास्त्र पढनेकी बात मनमें घर कर गई थी। गुरुवर पडित गोपालदासजीके प्रति श्रद्धा ऊँची हो गई थी, ऐसा लगता था कि यहाँसे भाग जाय और उनके चरणसान्निध्यमें कुछ धर्मका मर्म समझ ले।

## गुरुजीके पास पढ़नेकी तैयारी

बनारसमें अध्ययनके समय पर जो गुरु गोपालदासजी का परिचय मुझे प्राप्त हुआ, उस क्षणिक परिचयने ही मेरे हृदयमें बहुत बडा स्थान ग्रहण कर लिया। मुझे यह अनुभव होने लगा कि बिना इनके पासकी विद्या सीखे ज्ञान अधूरा है। श्री उमरावसिहजीसे हमने इस सम्बन्धमें चर्चाकी और दोनोंने यह स्थिर किया कि गुरु गोपालदासजीके पास अवश्य पढना है। एक समय अपने उक्त विचारोंसे प्रेरित होकर हम चल पडे। सुना कि गुरुजी भिन्डमें हैं। बनारससे चलकर इलाहाबाद आए, यहाँ बुखार आ गया अत ८ दिन रुकना पडा। सुपरिटेन्डेन्ट ऋषभचन्दजी साथ थे, उनने मेरी बहुत सेवा परिचर्या की। ८ दिन बाद बुखार ठीक हुआ, तभी उमरावसिहजी भी आ गए। दोनो मिलकर भिण्ड गए।

## गुरुजीकी खोज

नया स्थान था। स्टेशनसे तागा पर चले। तांगावालेने पूछा कहाँ जाओगे? उत्तर न सूझा कि क्या कहे। उसने बाजारमें लेजाकर एक दूकानके सामने तागा खडा कर दिया। हमने भी सामान उतार लिया और सामनवाली दूकानपर रख दिया। दुकानदारने भी हमें आश्रय दिया। भोजनादिकी व्यवस्था की, तदुपरान्त क्रमश परस्पर परिचयमें उन्हें ज्ञात हुआ कि हम दोनो विद्यार्थी हैं और गुरुजीके पास पढने आये हैं। साथ ही हमें भी यह ज्ञात हुआ कि यद्यपि हम भूले-भटके थे पर स्थानपर ही भाग्यवश अनायास पहुँच गए, क्योंकि जिन सज्जनने हमें आश्रय दिया था वे उस समय उस

पाठशालाके मन्त्री थे। किन्तु दुर्भाग्यसे गुरुजी उस समय वहाँ नहीं थे, शायद आगरा गये थे। बड़ा सस्ता समय था, एक आना सेर बढ़िया दूध मिलता था। हमलोग पाठशाला पहुँचे, रसोई बनाते खाते १५ दिन बीत गये थे। खर्च पास न रहा। एक दुलाई ओढ़नेकी थी। उस समय एक क्षेमचन्दजी उपदेशक आये थे। हमारी दुलाई उन्हें बड़ी पसन्द आई, बोले हमें चाहिये। हमने ३ रू० में उनको बेंच दी। रुपये पास आनेसे हिम्मत आगई। यह जानकर कि गुरूजी मोरेना आगये हैं, हम दोनों वहाँसे चलकर मोरेना आगए। गुरुजीके चरण छुए। गरुजी बहुत प्रसन्न हुए, हमारे तो हर्षका पारावार न था जैसे निधि मिल गई हो।

## माँजीसे प्रथम परिचय

गुर्वाणीजीकी प्रकृति कुछ तेज थी। हमारे आनेके एक दिन पूर्व कोई गबदूलालजी पंसारी आये थे। गुरुजीने उन्हें भोजन कराया था। माताजी कुछ अप्रसन्न थी कि दूसरे दिन हम दो आ पड़े। गुरुजीने अपनी उदार स्नेहमयी प्रवृत्तिके अनुसार पत्नीसे कहा कि २ बालक आए हैं, पराबठे बना लेना। माताजी एकदम नाराज होकर बोलीं 'कल एक गबदुआ आया था, आज दो गबदुआ आगये। कहाँतक तुम्हारे गबदुओंको आटा थोपूँ ? बड़बड़ाती गईं और रसोई बनाई। हम दोनोंने भोजन किया। उस समय पाठशालाका निजी भवन न था, बल्कि पाठशालाके लिए स्थान किरायेपर ले लिया था, जिसका किराया ३ रु० मासिक था। सायंकाल हमलोग शाला भवनमें चले गये।

## मोरेना विद्यालयकी संस्थापना

इस प्रकार मोरेनामे पाठशाला हम दो विद्यार्थियोंसे शुरू हुई। 'जैन सिद्धान्त पाठशाला' उसका नाम रखा गया। एक वृद्धा थी जो रसोई बनानेको रखी गई, वह रसोई बना देती थी। डिप्टी चम्पतरायजीका नाम उस समय प्रख्यात था, बड़े धर्मात्मा व लगनशील व्यक्ति थे। हम दोनोंको १०) १०) रु० मासिक छात्रवृत्ति उनकी तरफसे प्राप्त होने लगी। १०, १२ दिन बाद श्री देवकीनन्दनजी, वरूवासागरमे यहाँ अध्ययन हेतु आये। अब हम ३ विद्यार्थी उसी वृत्तिमे अपना निर्वाह करने लगे। करीब ३ सप्ताह बाद श्री मक्खनलालजी आगए। गुरुजी इन दिनों भा० दि० जैन महासभाके मन्त्री थे, अत: मक्खनलालजीको महासभाके क्लर्कके रूपमें नाम लिखकर महासभामें १०) रु० मासिक वृत्ति देने लगे। यह समय वीर सं० २४३६ का था। सर्वप्रथम हमें श्री गोम्मटसार ( जीवकांड ) पढ़ाना प्रारम्भ हुआ। चूँकि बनारसमें 'सर्वार्थसिद्धि' पढ चुके थे, अत: पढनेमें कठिनाई नहीं हुई। क्रमशः कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार आदि अनेक ग्रन्थ हम लोगोंने गुरुमुखसे पढे।

## ग्रन्थ समाप्तिका प्रकार

प्रत्येक ग्रन्थ जब समाप्तिपर आता था तो अन्तका थोड़ा-सा भाग गुरुजी छोड़ देते थे। ग्रन्थ पूरा नही करते थे। कालान्तरमें जब सुविधा मिलती थी तब 'श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिर' ले जाते और ग्रन्थका शेष भाग वहाँ पढ़ाकर ग्रन्थकी समाप्ति करते थे। गुरुजीमें जितनी धर्मके प्रति श्रद्धा थी, भगवान्‌के प्रति उतनी ही प्रगाढ़ भक्ति भी थी। एक बार सोनागिरमें मूल मन्दिरजीके दर्शनार्थ गये। दर्शन स्तुतिके अनन्तर गुरुजीने एक प्राचीन पद्य अपनी मधुर वाणीसे पढ़ना प्रारम्भ किया—

नाथ सुधि लीजो जी म्हारी।
मोहि भव भव दुखिया जान के, सुधि लीजो जो म्हारी॥

गुरुजी पद्य पढ़ते जाते थे, आँखोंमे अविरल अश्रुधारा बह रही थी। उनकी उस सातिशय भक्तिसे हम सब शिष्य भी गद्‌गद् होगए, शरीरमें रोमाञ्च होगया, नेत्र भींग गये। ५, ६ दिन इसी तरह श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का विशेषरूप में पूजन विधान, भक्ति चलती। इसके बाद ही अन्तिम दिन हमारे वे ग्रन्थ जिनका थोड़ा २ पाठ शेष छोड़ दिया था—पूर्ण किए जाते थे।

## कंटकमय गार्हस्थिक जीवन

मोरेना वापिस आनेपर पठनपाठन पूर्ववत् चालू रहा। एक दिन 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ पढ़ाते जाते थे, और यहाँ-वहाँ देखते जाते थे। क्या चिन्ता थी, हम समझ न सके। आग्रहपूर्वक पूछनेपर भी कुछ उत्तर नही दिया और अपनी पगड़ी उठा सिरपर रखकर जीन चले गये। मोरेनामे उन दिनों रुईकी मीलें थी जिन्हें जीन कहते थे। हमलोग पीछे २ गये। बार-बार आग्रहपूर्वक पूछा कि गुरुजी क्या चिन्ता है, पर कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देरमें स्वयं बोले, तुम सब अपने

स्थान चले जाओ। हम आत्मघात न करेंगे, इतना समझते हैं। यह सुनकर हमलोगोंको बड़ा दुःख हुआ। सोचने लगे कि ऐसी क्या घटना होगई, जो गुरुजीने इतनी वजनदार बात कही।

हम सब चिन्तित और सचेत हो गये। आग्रहपूर्वक पूछनेपर भी उत्तर नहीं दिया पर वही त्रिलोकसारका पाठ पढ़ाने लगे, और कुछ समयके बाद ही पाठशाला लौट आये। थोड़ी देर बाद देखा कि माताजी एक ईंट हाथमें लेकर बड़बड़ाती आ रही हैं। घटनाचक्रको समझनेमें देर न लगी। साहूकार एक वहीं जो उपस्थित था, उसने माताजीको बहुत समझाया पर उनकी समझमें आना कठिन था। तब साहूकारने धमकी दी कि माजी थानेमें रिपोर्ट कर दूँगा तो मुश्किल हो जायगी। अब क्या था, आगमें घी पड़ गया। महाजनको लेनेके देने पड़ गये। ईंटा लेकर उसके पीछे पड़ गईं। वह बेचारा छिप गया। जब उसे ढूंढ न पाई तो बड़बड़ाती घर वापिस चली गई। यह था गुरुजीका गार्हस्थिक जीवन।

## परिहासपूर्वक माँजीका पश्चाताप

एक दिन गुरुजी और माजीमें किसी बातको लेकर विवाद छिड़ गया। माजी बोली कि तुम तो हो भाग्यहीन। गुरुजी बोले, भाग्यहीन तू होगी, हम क्यों भाग्यहीन हों? माजीको पुरानी घटनाका स्मरण हो आया था, उस पर पश्चाताप भी था, बोली—'मैं तो भाग्यवान हूँ जो तुम जैसा गुणवान्, विद्वान्, सहनशील, गंभीर पति पाया है, और तुम भाग्यहीन हो जो मुझ जैसी कलहकारिणी पत्नी पाई है।' गुरुजी आज तर्कमें हार गए और अपनी पराजय पर मुस्कुरा दिए। गर्म वातावरण शान्त हो गया।

## सादगी व सरलता

गुरुजी कुछ ऊँचा सुनते थे। एक श्वेताम्बर जैन व्यापारीके साथ कुछ लेन-देनके बीच कुछ विवाद था। वह गुरुजीको अपनी बात समझाता था पर उन्हें सुनाई नहीं पड़ता था। गुरुजीने कहा, जरा जोरसे बोलिए। उसे कुछ गुस्सा-सा आ गया और जोरसे चिल्लाने लगा। गुरुजी बोले बस ! बस !! भाई, इतना जोरसे बोलने पर मैं अच्छी तरह सुन सकता हूँ। इस उत्तर पर वह हँसने लगा। नाराजी काफूर हो गई।

गुरुजीकी यह विशेषता थी कि यदि उनके कथनमें कोई भूल हो जाय तो उसे भरी सभामें स्वीकार कर लेते थे और क्षमा याचना कर लेते थे। यह उनकी सरलता, निरभिमानता तथा महत्ता थी।

## खतौली दस्सा केस

खतौलीमें माणिकलालजी दस्सा थे। 'जिनेन्द्र पूजन दस्सा कर सकता है या नहीं, वह कितनी पीढ़ी बाद शुद्ध हो सकता है अथवा हो ही नहीं सकता' इस विषयको लेकर वहाँकी पंचायतके साथ उनका विवाद था। विवाद इस सीमा पर पहुँच गया कि मुकदमा भी चलने लगा था। इस केसमें गुरुजीकी गवाही दी गई थी। गुरुजीने अपने बयानमें बताया कि दस्सा भी कालान्तरमें शुद्ध हो सकता है, ऐसा नहीं है कि दस्सा की सन्तानपरम्परा सदाके लिए अशुद्ध ही बनी रहेगी। 'त्रिलोकसार' ग्रन्थके अनुसार उन्होंने बताया कि छठे कालमें सर्व प्रजा मद्य-मांस भोजी और व्यभिचारी हो जाती है। पशुवत् मनुष्यका आचरण हो जाता है पर कालान्तरमें जब उत्सर्पिणी कालका तीसरा काल आता है तब उसी मनुष्य समाजकी सन्तान परम्परामें तीर्थंकरादि महापुरुषोंका जन्म होता है। यदि सन्तान शुद्ध न हो जाती होती तो अशुद्ध कुलमें तीर्थंकरादि महान् पुरुष कैसे जन्म लेते ?

इन दिनों न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजी, पं० प्यारेलालजी आदि भी समाजमें प्रख्यात विद्वान् थे। गुरुजीके ख्यातिसे उन्हें कुछ चिढ़ सी होगई थी, अतः इस अवसरको उचित समझकर सर्वत्र ऐसी प्रसिद्धि की गई कि गोपालदासजी तीर्थंकरोंको दस्साओंकी सन्तान बताते हैं इसलिये इनका बहिष्कार किया जाय। इनका व्याख्यान कोई न सुने। अनेक जगह इस आन्दोलनकी प्रतिक्रिया अनुकूल भी हुई और प्रतिकूल भी।

देहलीमें एक बार गुरुजीका भाषण हो रहा था। श्री पं० प्यारेलालजी भी सभामें थे। चूँकि इन्होंने गुरुजीके व्याख्यान सुननेका विरोध किया था, अतः लोग इन्हें सभामें देखकर चकित थे। मायलजी अच्छे शायर थे। तत्काल एक कविता बनाकर सभामें पढ़ी, जिसमें बताया था कि बहिष्कृत भाषण सुनने आज पं० प्यारेलालजी भी पधारे हैं, और उन्हें भाषण सुननेकी इतनी रुचि हुई है जो अनिमंत्रित भी पधार गये हैं।

## निर्भीकता और प्रामाणिकता

एक बार प्रसंगतः मुंबई जाना था। एक ही पुत्र था माणिकचन्द्र, जिसे साथ लेकर यात्रार्थ गये, उम्र छोटी थी

इस ख्यालसे उसका टिकट नहीं लिया था। मुंबई पहुँचनेपर जब उनका ध्यान गया और हिसाब लगाया तो उम्र ३ वर्ष ६ दिन की थी। गुरुजीको इस बातका अत्यन्त दुःख हुआ कि उन्हे यह ध्यान क्यों नही आया कि इसकी उम्र ६ दिन ज्यादा है, इसका टिकट लेना चाहिये था। उन्होंने आधे टिकटका पैसा घर बैठे ही मनिआर्डरसे ट्रैफिक मैनेजर मुंबईको भेजा और लिखा कि मुझसे गलती होगई, क्षमा करें।

उस दिनो अंग्रेजी राज्य था। अंग्रेज जाति नियम पालनमें बडी दृढ होती है। मैनेजर अंग्रेज था। इस घटनाका उसपर बडा प्रभाव पडा, वह सोचने लगा कि हिन्दुस्तानी व्यक्ति भी क्या इतना प्रामाणिक हो सकता है ? उसने इनसे प्रत्यक्ष वार्ता की और गुरुजीकी ईमानदारी तथा सत्यप्रियतापर उसने इनका सम्पूर्ण नाम ग्रामादि पता लिखकर यह सूचना प्रसारित की, 'पंडित गोपालदास वरैया' मोरेना ( ग्वालियर ) न्यायप्रिय व्यक्ति हैं यात्रामें इनके टिकट और लगेज पर कोई पूछ-ताछ न की जाय। यदि कोई कमी होगी तो वे स्वयं पूर्ति कर देंगे।

## विद्यालयके प्रति लगन

विद्यालयके प्रति आपकी बडी लगन थी। यह तो सर्व विदित था कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नही रहता था। बहुमूत्रकी शिकायत तो जीवनभर रही। उन दिनों स्वास्थ्य ज्यादा खराब था। चिन्ता यह थी कि विद्यालयकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही हो पाई। ऐसी बीमारीकी हालतमें भी गुरुजीने शोलापुर आदि स्थानोंकी यात्रा विद्यालयकी सहायता प्राप्त करने हेतु की। सेठ हरीभाई देवकरणने गुरुजीकी इस लगनको देखकर ३८०००) रु० की एक मुश्त सहायता ध्रौव्य कोषमें दी। आठ आना सैकडा माहवारसे १९०) रु० मासिक ब्याज वे विद्यालयको देते थे।

## सर्वभौम कीर्ति व सम्मान

कलकत्ता विश्वविद्यालयमें सर्वधर्म सम्मेलन था। प्रख्यात विद्वानोंको आह्वान किया गया था। जैनधर्मकी ओरसे प्रतिनिधि गुरु गोपालदासजी थे। यद्यपि जैनधर्मके प्रति विद्वानोंमें विरोधी भावनाएं थी तथापि सम्मेलनकी सफलता तो सभी धर्मोंके प्रतिनिधियोंमें होनी थी। सबहीके भाषण विभिन्न विषयोंपर थे। अन्तमें १० मिनिट जैन प्रतिनिधिको दिये गये थे। गुरु गोपालदासजीने इस थोडेसे समयमें जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धान्तका इस सुन्दरतासे प्रतिपादन किया, जिसे सुनकर सभी विद्वान् चकित होगये। अध्यक्ष थे सर गुरुदास बनर्जी। १० मिनटकी समाप्ति होनेपर गुरुजीने अपना अधूरा भाषण समाप्त कर बैठ जाना चाहा। गुरुजी तो अनधिकार न किसीका पैसा लेना चाहते थे, न अधिकार और न समय, इस सम्बन्धमें वे बडे प्रामाणिक थे। अध्यक्षने देखा कि विषय बडा मनहरण तथा तर्कसंगत है। अतः उन्होंने गुरुजीसे अपना भाषण जारी रखनेकी प्रार्थना की तथा उन्हे यथेष्ट समय दिया। अपने भाषणको पुनः प्रारम्भ करते हुए गुरुजीने जिस खूबीसे जैनधर्मका समर्थन किया, उसे देखकर सभी विद्वान् आश्चर्य चकित थे। उनके सिद्धान्त इस भाषणमें स्वयं खण्डित होते जाते थे पर गुरुजीकी सुन्दर अकाट्य तर्कोंपर वे भी मुग्ध थे। भाषणकी समाप्तिपर अध्यक्षीय भाषण हुआ। अध्यक्षने सभी भाषणोंके सम्बन्धमें विधिवत आलोचना की। अन्तमें गुरुजीके भाषण की उन्होने सर्वाधिक प्रशंसा करते हुए कहा, 'पण्डित गोपालदासजीको मैं अनेक धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होने अपने भाषणमें अपने मतका इतने सुन्दर ढगसे प्रतिपादन किया है कि जिससे यद्यपि सभी अन्य सिद्धान्तोपर प्रकाश पडता है तथापि उनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता जिस स्याद्वाद सिद्धान्तपर आधारित है, उससे वे विभिन्न सिद्धान्त एक प्रकारसे स्वयं खण्डित हो जाते है। मैंने अपने जीवनमें किसीको धन्यवाद नही दिया पर आज मैं इस तर्कशील विद्वान्के सुन्दर सरल सरस और सर्वप्रिय भाषणपर इन्हें धन्यवाद देता हूँ।'

स्पष्ट है कि गुरुगोपालदासजी अपने समयके अद्वितीय विद्वान् और तार्किक थे। अतः उनका सम्मान और अभिनन्दन अनेक सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओंने किया था तथा उन्हे न्यायवाचस्पति, वादि गजकेशरी एवं स्याद्वाद-वारिधि जैसी उपाधियाँ प्रदान की थी।

●

# उनकी गौरवमयी गाथा

पं० मक्खनलाल शास्त्री न्यायालङ्कार

प्रधानाचार्य श्री गोपाल दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, मोरेना

●

स्याद्वाद वारिधि, वादिगज केसरी, न्यायवाचस्पति श्रीमान् श्रद्धेय गुरुवर्य पं० गोपालदासजी वरैया आधुनिक विद्वानोमे सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। उनमे इतनी क्या विशेषता थी, उनके समकक्ष और उनसे भी बढकर पाडित्य रखने वाले कई विद्वान् उनके ही समयमे हो गये है परन्तु इतना नाम और महत्व उनका नहीं हुआ जितना श्रद्धेय गुरु गोपालदासजी वरैयाका हुआ है। इसके कारणो पर लक्ष्य डालनेमे पता चलता है कि उक्त गुरुवरमे दो कारण ऐसे थे, जिनसे वे सर्वमान्य बन गये और समकक्ष विद्वानोमे बढकर महत्त्वशाली माने गये। पहिला कारण तो यह है कि वे विद्वत्ताके साथ पूर्ण निष्पृह वृत्तिवाले और गृहस्थोचित न्याय्य और धार्मिक आचरणवाले थे, दूसरा कारण उनकी धार्मिक गहरी लगन एवं धर्म प्रचारकी तीव्र भावना तथा प्रयत्न था। बस, ये दो ही कारण ऐसे थे जिनके फलोंको पाकर समाज आज उनका श्रद्धामे सदैव स्मरण करता है और उनकी जयन्ती मनाकर भूरि-भूरि प्रशसा करता है। अब हम उन्ही दो बातो पर अन्य सम्बन्धित बातोके साथ कुछ प्रकाश डालना चाहेगे।

## प्रारम्भिक जीवन

श्रद्धेय पडितजी आगरा शहरके रहनेवाले और वरैया जातिमे जन्म लेनेवाले साधारण श्रेणीके गृहस्थ थे। लगभग २१, २२ वर्षकी आयु तक वे केवल सरकारी स्कूलमे मैट्रिक तक पढकर सामान्य जीवनमे रहे थे। उस समय तक उनमे धार्मिक वृत्ति और धार्मिक बोध नहीके बराबर था। अपनी आजीविकाके लिये उन्होने रेलवे कर्मचारी रहकर कार्य किया, पश्चात् बम्बईमे किसी अग्रेज कम्पनीमे भी वे कर्मचारी रहे। तत्पश्चात् वे अजमेरमे रहने लगे थे। वहाँ पर प्रसिद्ध श्रीमान् सेठ मूलचन्द नेमीचन्दजी सोनीके यहाँ कुछ समय तक कार्य किया था, ऐसा हमने सुना है। जिस रूपमे भी रहे हो, अजमेरमे ही उनके धार्मिक अभ्युदयका बीज उनके हृदय पटल पर अकुरित हुआ! वही पर उक्त सेठ सा० के यहाँ एक मोहनलाल नामके सद्गृहस्थ कार्य करते थे, जो प्रात मन्दिरमे प्रतिदिन १, २ घण्टे 'गोम्मटसार' ग्रन्थका स्वाध्याय करते थे। उस ग्रन्थमे गणितकी अनेक सहनानी ऐसी है जो बडे २ विद्वानोसे भी नही सुलभ पाती है। श्रद्धेय प० गोपालदासजीका गणित विषयक ज्ञान बहुत अच्छा था, अत उस गृहस्थने पडितजीसे कहा कि आप कुछ गणितकी बातोका समाधान करते जाय तो हमारा गोम्मटसारका स्वाध्याय अच्छा हो जाय। गणित प्रकरणोको हम छोड देते है। पडितजी झट राजी हो गये और प्रतिदिन मन्दिर जाकर उन्हे गोम्मटसारके गणित स्थलोको अच्छी रीतिसे समझाने लगे। उस अलौकिक गणितकी सहनानीको देखकर वह बहुत प्रसन्नताके साथ उक्त ग्रन्थके स्वाध्याय और उसके मनन करनेमे दत्तचित्त हो गये। और कई बार उन्होने इस ग्रन्थका स्वाध्याय बडे प्रेमसे मन लगाकर कर डाला। पश्चात् उन्होने 'लब्धिसार' और 'क्षपणसार'का स्वाध्याय प्रारम्भ किया और तभीसे वे प्रतिदिन जिनेन्द्र दर्शनके विशेष अनुरागी बन गये। वही निमित्त उनके लिये बीजभूत उन्नतिका वृक्ष बन गया। शास्त्रो पर उनकी श्रद्धा बढी, सस्कृतका उन्होंने अध्ययन किया, जैन व्याकरण 'कातन्त्र रूपमाला' पढी जो बहुत ही सरल और बोधप्रद है। आजकल बनारस परीक्षाका पठनक्रम सर्वत्र जैन संस्थाओमे चालू होनेसे जैन ग्रन्थोका पठन-पाठन बन्द ही हो चुका है। अत जैनेन्द्र प्रक्रिया, शकटायन अमोघवृत्ति आदि व्याकरण ग्रन्थ जो सरलतासे बहुत व्युत्पत्ति बढाते थे, उनके स्थानमे बहुत कठिनतासे समझमे आनेवाले पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थ—लघु कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी, भाष्य आदि चालू हो गये है। इसी प्रकार न्याय, साहित्य के जो जैन ग्रन्थ विशद तात्विक बोध करानेवाले है, उनका पठन-पाठन भी कम हो गया है। बनारस विश्वविद्यालयके पाठ्य ग्रन्थ ही अधिक रूपमे पाठ्य बन गये है। हमारे पंडितजी जैन ग्रन्थोंके पठन-पाठनके पूर्ण पक्षपाती थे।

पंडितजीने न्यायमें न्यायदीपिका पढ़ी थी, साहित्यमें चन्द्रप्रभकाव्य पढ़ा था, ये ग्रन्थ साधारण श्रेणीके हैं। साहित्य और न्यायके उच्च कोटिके गम्भीर ग्रन्थ यथा यशस्तिलक चम्पू, अष्टसहस्री आदि उन्होंने नहीं पढ़े थे। परन्तु उनकी बुद्धि प्रखर एवं प्रतिभाशाली थी; उन्हीं आद्य ग्रन्थोंसे उन्होंने उच्च ग्रन्थोंकी व्युत्पत्ति एवं उच्चकोटिकी विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी संक्षेपमें उनका क्षयोपशम बहुत ही निर्मल था।

## गुरु पं० बलदेवदासजी

श्रीमान् पं० बलदेवदासजी आगराके रहनेवाले थे। जैसवाल जातिको उन्होंने विभूषित किया था। उनका पांडित्य बहुत ही उच्च कोटिका था। अष्टसहस्री, तत्वार्थराजवार्तिककी वृत्ति प्रायः उन्हें कंठस्थ थी। पंचाध्यायीका मर्म वे पूर्णरूपसे जानते थे। जिनवाणी पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। सच्चे सम्यग्दृष्टि थे, साथ ही पूर्ण निरभिमानी और अत्यन्त शांत परिणामी थे।

एक बार श्री पं० बलदेवदासजी जब शास्त्र-सभामें शास्त्र सम्मत क्रियाओंका विवेचन कर रहे थे। अलीगढ़ निवासी पं० प्यारेलालजी पाटनीने प्रश्न किया था पंडितजी आप जो कथन कर रहे हैं वह हमारी आम्नायमें तो नहीं है। पंडितजीने बड़े शान्त भावसे उत्तर दिया कि मैं शास्त्रोंकी बातें कह रहा हूँ, किसी आम्नायकीबात नही कह रहा हूँ। इस उत्तरको सुनकर पाटनी महोदय चुप होगये। इसी प्रकार श्रीमान् पं० सेठ मेवारामजी खुर्जा-वालोंने भी पं० बलदेवदासजीसे एक प्रश्न किया जिसका पंडितजीने बड़ी कुशलतासे समाधान कर दिया। पुनः पं० मेवारामजीने कहा कि पण्डितजी जो उत्तर आप दे रहे है वह तो राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिमे आया है, आप तो कोई अन्य उत्तर बतावें। तब पंडितजीने कहा कि जो उत्तर मैंने दिया है वह उपर्युक्त ग्रन्थोंमे आया है तो बहुत अच्छा है। मेरा उत्तर प्रमाण सहित हो गया, अब और मैं क्या ग्रन्थसे बाहरका उत्तर दूँ। मैं तो शास्त्र के आधार पर ही उत्तर देता हूँ। यह सुनकर मेवारामजी चुप हो गये। कई बार कुछ लोग बार २ प्रश्न करते थे तब महान् विद्वान् और महान शांत परिणामी पं० बलदेवदासजी एक बार उत्तर देकर फिर कह देते थे कि मैं तो उत्तर दे चुका, अब और अधिक प्रश्नोत्तर करना है तो पं० गोपालदासजीके पास जाओ, वे तुम्हारी सभी शंकाओंका समाधान कर देंगे।

श्री पं० बलदेवदासजी अजमेरके प्रसिद्ध श्रीमान् सेठ मूलचन्द नेमीचन्द सोनीके यहाँ कार्य करते थे। एक बार सेठजीने पंडितजीसे कहा कि आपके लाभके लिये हमने एक कोटा गल्लेका भरवा दिया था, उसमें जो मुनाफा हुआ है उसे ले लीजिये। पंडितजीने कहा कि भरते समय आपने मुझसे तो मजूरी ली नहीं थी, यदि उसमें घाटा होता तो मैं उसे कहाँसे देता, वह भार मुझे भुगताना पड़ता, इसलिये यह लाभ मैं नहीं ले सकता हूँ। सेठजी फिर कुछ नहीं बोले। वे समझ गये कि पंडितजी अत्यन्त निर्लोभवृत्तिवाले और निस्पृह सत्पुरुष हैं। इस थोड़ेसे प्रसंगको हमने इसलिये लिखा है कि स्व० पं० बलदेवदासजी साधारण परिस्थितिवाले होकर भी कितने निर्लोभी, कितने शांत, कितने विद्वान् और कितने आगम पर दृढ़ थे। वही पंडितजी श्रीमान् पं० गोपालदासजीके गुरु थे, जिनसे गुरुजीने पंचाध्यायी आदि ग्रन्थ पढ़े थे।

## हम मोरेना कैसे आये ?

एक बार बरैयाजी सम्मेदसिखरकी वन्दना और प्रतिष्ठासे लौटे तब वे बनारस ठहरे, मैदागिनकी धर्मशालामें उनसे मिलने और कुछ प्रश्नोत्तर करनेके लिये हम और हमारे साथी छात्र पहुँचे। उन दिनों हम कलकत्ता यूनिवर्सिटीकी साहित्य मध्यमा और क्वींस कालेज बनारसकी न्याय मध्यमा परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो चुके थे। जागदीशी पंचलक्षिणी, सिद्धान्त मुक्तावली और दिनकरी इन न्यायग्रन्थोंके आधार पर हमने पंडितजीसे कुछ ऐसे प्रश्न किये जिन्हें हम कठिन और पेचीदे समझते थे और अन्तरंगमें छात्रोचित बुद्धिके अनुसार पंडितजीके प्रसिद्ध पांडित्यकी जाँच करना चाहते थे। उस समय जैनेतर न्यायग्रन्थोंके पढ़नेसे हम यह समझ रहे थे कि वास्तवमें द्रव्यसे गुण, कर्म (क्रिया) सामान्य विशेष भिन्न है; और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चारों भिन्न २ द्रव्य है, शब्द आकाशका अमूर्तिक गुण है आदि। इन्हीं सब विषयोंपर करीब दो घण्टे प्रश्नोत्तर हुए, और उन्होंने समाधान करते हुए जो उत्तर दिये वे इतने अकाट्य एवं सयुक्तिक थे कि हम लोग चुप हो गये, इतना ही नहीं किन्तु पंडितजीके गम्भीर एवं उद्भट पांडित्यकी भूरि २ प्रशंसा करने लगे। उसी समय हम लोगोंकी भावना बदली और पंडितजीके पास सिद्धान्त ग्रन्थोंके पढ़नेकी तीव्र अभिलाषा जाग उठी। पंडितजीसे इस सम्बन्धमें चर्चा हुई। उन्होंने कहा, तुम लोग मोरेना आ जाओ, वहाँ हम तुमको पढ़ायेंगे।

बस, कुछ समय पश्चात् हम, पं० बंशीधरजी, पं० देवकीनन्दनजी, पं० उमरावसिंहजी ( ब्र० ज्ञानानन्दजी ) चारों छात्र बनारससे मोरेना आ गये और पंडितजीसे सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे। तब तक विद्यालयकी इमारत नहीं थी, एक मकान किराये पर लिया गया था जिसमें हम सब रहते थे और हाथसे भोजन बनाते थे।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि हम लोगोंके पहले गुरुजीके पास गोम्मटसारादि ग्रन्थोंका अध्ययन श्री पं० नन्दनलालजी शास्त्री शोलापुर, श्री पं० खूबचन्दजी शास्त्री व श्री पं० मनोहरलालजी पाढ़म आदि छात्र कर चुके थे।

विद्यालय भवनका निर्माण जिस समय हुआ, उस समय मोरेनाके कुछ पंचोंने ( जो मंदिरके प्रबन्धक थे ) इसका पर्याप्त विरोध किया, उनका कहना था कि मन्दिरके अहातेमें विद्यालय बननेसे मन्दिरकी जमीन चली जायगी। उस विरोधको देखकर तत्कालीन सूबा महोदय ( जिला कलेक्टर ) मुन्नालालजीने पंडितजीसे कहा था कि आप इस पंचायती झगड़ेसे विद्यालयको बचावें। हम आपको बिना मूल्य जमीन और सामान देते हैं। पंडितजीने कहा, यदि विद्यालय नहीं चलेगा तो यह इमारत धर्मशालाके रूपमें काम आ जायगी। अतः पण्डितजीने विद्यालय भवनका निर्माण मन्दिरके अहातेमें ही करा दिया, जिससे आज मन्दिरका सौन्दर्य और उपयोगिता भी बढ़ गई है।

इसी संस्थासे लगा हुआ एक विशाल बगीचा भी ग्वालियर सरकारसे प्राप्त है जो करीब एक लाख रुपयेका समझा जाता है। इसमें सभी छात्रोंके लिये खेलनेका स्थान है, साथ ही एक कृषि विभाग भी है। आज इस बगीचेमें कई क्वार्टर भी बना दिये गये है, जिससे संस्थाको स्थायी आमदनी होने लगी है।

सन् १९१७ में पंडितजीका स्वर्गवास हुआ था। उसी वर्ष इन्दौरमें स्व० सर सेठ हुकमचन्दजीकी अध्यक्षतामें एक मीटिंग हुई थी, उस मीटिंगमें इस महाविद्यालयके साथ पंडितजीकी अनुपम धर्म एवं समाज सेवाके उपलक्ष्यमें उनका नाम जोड़नेका प्रस्ताव पास हुआ था, तभीसे इस संस्थाका नाम 'श्री गोपाल दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय' प्रसिद्ध हुआ है। अस्तु,

## विलक्षण क्षयोपशम

गुरुजीका क्षयोपशम बहुत ही निर्मल था। यद्यपि संस्कृत ग्रन्थ उन्होंने साधारण ही पढ़े थे तथापि उच्च कोटिके गम्भीर ग्रन्थों पर भी उनका अधिकार था। एक बार 'श्लोकवार्तिक' की एक कठिन पंक्तिको हम नहीं समझ सके, तब पंडितजीके पास जाकर उस पंक्तिका आशय हमने पूछा। पंडितजीने पूर्वापर संदर्भ देखकर तत्काल यह पंक्ति लगादी, और हमें समझा दिया। उस समय हमें बहुत प्रसन्नता हुई।

एक बारकी बात है कि मोरेना महाविद्यालयमें एक ब्राह्मण विद्वान् प० सदाशिव मिश्र छात्रोंको न्याय-साहित्य पढ़ानेके लिये रखे गये। हमारे साथ उनकी चर्चा हुई। उसी प्रसंगमें ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व पर विचार चल पड़ा। तब वह बोले कि आपके गुरुजीके साथ हम छह मास तक इस विषय पर शास्त्रार्थ करनेको तैयार हैं। हम उसी समय उन्हें वरैया-जीके पास ले गये। उनकी ज्योंकी त्यों बात कही। वरैयाजीने बड़ी उमंगके साथ उनसे कहा कि आप ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व पर हेतु, युक्ति दीजिये। मिश्रजीने, जो न्यायतीर्थ, साख्यतीर्थ थे, हेतु दिया 'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्।' वरैयाजीने उस हेतुमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि दोष बता दिये और कहा कि इन दोषोंका वारण करिये। एक दो बात कहकर पं० सदाशिवजीसे फिर उत्तर नहीं बना और वरैयाजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। हमने कहा कि आप तो छह माह शास्त्रार्थकी बात कहते थे, आप तो आध घण्टेमें ही चुप हो गये। वे हंसने लगे।

अजमेरमें स्वामी दर्शनानन्दजीके साथ वरैयाजीका शास्त्रार्थ बहुत ही प्रभावशाली हुआ था। बाहरकी जनता भी बहुत आ गई थी। नसीराबादके श्री सेठ ताराचन्दजी और रायबहादुर सेठ नेमीचन्दजी सोनी उसके व्यवस्थापक थे। शास्त्रार्थ लगभग ४, ५ घण्टे चला था, विषय ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व था। हम भी वहां उपस्थित थे। वरैयाजीका प्रश्न था कि ईश्वर एक है, तब उसका स्वभाव भी एक समयमें एक ही होगा, अत. वह विरोधी अनेक कार्य एक ही समयमें कैसे कर सकता है ? उत्तरमें स्वामीजीने कहा कि जैसे मशीन कपड़ा बनते हुए नाना विरोधी कार्य करती है वैसे ईश्वर भी करता है। वरैयाजीने तुरन्त उत्तर दिया कि मशीन एक द्रव्य नहीं है, वह तो अनेक द्रव्यरूप है, परन्तु ईश्वर तो एक ही स्वात्म द्रव्य है। इस पर स्वामीजीको चुप होना पड़ा। प्रश्नोत्तर और भी हुए। उस शास्त्रार्थमें सभापतिने वरैयाजीकी विजय घोषित की, और उनकी कुशाग्र बुद्धिकी बहुत प्रशंसा की। इटावा में 'जैन तत्व-प्रकाशिनी-सभा' में भी वरैयाजीसे और आर्य समाजी विद्वानोंसे प्रश्नोत्तर हुए थे, वहाँ भी वरैयाजीने उन्हें समझाकर चुप कर दिया।

कलकत्तामें वहाँके प्रसिद्ध कालेजमें स्व० पं० सतीशचन्द्रजी विद्याभूषणकी अध्यक्षतामें उनके जैन तत्वों पर मार्मिक भाषणोंके उपलक्ष्यमें अनेक विशिष्ट विद्वानोंके समक्ष उन्हें 'न्यायवाचस्पति' की उपाधि प्रदान की गई। इसी प्रकार उन्हें समाज द्वारा 'वादिगज केसरी'की उपाधि मिली थी।

## ग्रन्थ रचना

बरैयाजीने एक तो 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' नामक ग्रन्थ बनाया है। इस छोटी सी पुस्तकमें उन्होंने प्रश्नोत्तर रूपमें प्रमाण, नय, निक्षेप, गुणस्थान, मार्गणा, वर्ग, वर्गणा, स्कंध आदि संज्ञावाचक सैद्धान्तिक पदोंके अर्थ लक्षण रूपमें बताये हैं। यह पुस्तक छोटी होने पर भी बड़ी बोधप्रद है। दूसरा ग्रन्थ उन्होंने 'जैन सिद्धान्त दर्पण' बनाया है। यह दो खण्डोंमें विभाजित है। इसमें गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रन्थोंके आधार पर तीन लोकका स्वरूप, प्रतर जगत्प्रतर, घन घनांगुल, आदि सिद्धान्त रचनाका, विशेषकर करणानुयोगका विवेचन किया है। ये दोनों ग्रन्थ हिन्दीमें हैं। बहुत उपयोगी है। स्वाध्याय प्रेमी एवं छात्रोंके लिये पूर्ण सहायक हैं। तीसरा 'सुशीला' नामक उपन्यास है, जिसमें रोचक कल्पित कहानीके रूपमें शीलधर्मकी रक्षाका महत्व बताया गया है।

बम्बई प्रान्तिक सभाके मुखपत्र 'जैनमित्र' का सम्पादन भी उन्होंने कई वर्ष तक किया था। उसमें पांडित्यपूर्ण अनेक लेख और सामाजिक विषय विचारपूर्ण लिखे जाते थे। खण्डन-मण्डन भी यदा कदा रहता था जिसमें धार्मिक विषयों-की रक्षा एवं पुष्टिकी जाती थी।

## अन्य महत्वपूर्ण कार्य

बम्बई प्रान्तिक सभा तथा भारतवर्षीय दि० जैन धर्म संरक्षिणी (अब उसमेंसे धर्म संरक्षिणी यह नाम हटा दिया गया है।) महासभाके संस्थापकोंमें बरैयाजी प्रमुख थे। बम्बई प्रान्तिक सभाकी स्थापनामें दानवीर स्व० सेठ माणिकचन्द हीराचन्द बम्बई, सेठ हीराचन्द नेमचन्द शोलापुर, पं० धन्नालाल काशलीवाल आदि भी प्रधान थे। महासभाकी स्थापनामें मथुराके राजा लक्ष्मणदासजी, अलीगढ़के पं० प्यारेलालजी पाटनी, सहारनपुरके लाला रूपचन्दजी, लाला मित्रसेनजी आदि महानुभाव थे। महासभाके शिक्षा विभागके अन्तर्गत मथुरामें महाविद्यालय खोला गया, उसके संचालक मंत्री बरैयाजी ही थे।

## तदविरुद्ध शब्द पर विवाद

जिस समय श्री सम्मेदशिखर पर सिवनीके श्रीमंत सेठ पूरणसावने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा धूमधामसे कराई थी, उस समय महासभाका अधिवेशन भी वहाँ हुआ था। मेलेमें बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई थी। बरैयाजी, पं० धन्नालालजी, पं० लालारामजी शास्त्री आदि विद्वत्मंडली वहाँ पहुँची थी। रात्रिको बरैयाजीका सम्यग्दर्शन विषय पर करीब १॥ घंटे भाषण हुआ। उस भाषणको कई हजार जनताने मनोमुग्ध होकर सुना। तत्पश्चात् महाविद्यालयके पठनक्रम पर विचार-विमर्श चला। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि उस समय समाजमें पंडित पार्टी और बाबू पार्टीके नामसे दो पार्टियाँ प्रसिद्ध थीं। बाबू पार्टी चाहती थी कि पठनक्रममें लौकिक शिक्षा भी रखी जाय और महाविद्यालयमें अंग्रेजी, भूगोल आदि विषय भी पढ़ाये जाँय। बरैयाजीने महाविद्यालयके मंत्रीके नाते यह बात कही कि लौकिक शिक्षणमें 'तदविरुद्ध' पद जोड़ दिया जाना आवश्यक है। इसका खुलासा यह है कि महाविद्यालयमें वही लौकिक शिक्षण दिया जाय जो दि० जैनधर्मके सिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं हो, जैसे 'पृथ्वी घूमती है, सूर्यचंद्र स्थिर हैं, पृथ्वीका कुल विस्तार ८४००० वर्गमील हैं' आदि बातें जैन सिद्धान्तके विरुद्ध पड़ती हैं, उनका शिक्षण बालकोंको नहीं दिया जाना चाहिये। इस पर बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया। बाबू पार्टीके अगुआ ब्र० शीतलप्रसादजी, बाबू अजितप्रसादजी एम० ए० लखनऊ आदि लोगोंका कहना था कि 'तदविरुद्ध' पद नहीं रखा जाय, सभी प्रकारकी आंग्ल विद्या, खगोल भूगोल आदि विषय पढ़ाये जाँय। पं० गोपालदासजी, पं० धन्नालालजी, और पं० लालारामजी शास्त्री इसका विरोध करते थे। इसी विवादमें रातभर बीत गई। जनता पहाड़ पर बन्दनाके लिये जाने लगी। सभा समाप्त हो गई।

## महाविद्यालयकी कायापलट नहीं होने दी

मथुरा महाविद्यालयकी कायापलट होते २ बरैयाजीने बचा ली। उसका संक्षिप्त वृत्त यह है कि भा० दि० जैन महासभाके महामंत्री कानपुरके डिप्टी चंपतरायजी थे। उन्होंने महासभाका कार्य अच्छा चलाया था। उनका विचार कुछ

बाबू लोगोंकी सम्मतिसे यह हुआ कि मथुराके विद्यालयको जो महासभाके आधीन था, सहारनपुर पहुँचाया जाय और वहाँ उसे हाईस्कूलके रूपमे बदल दिया जाय। बा० अर्जुनलालजी सेठी और दो सज्जनोंने आकर मथुरासे महाविद्यालय-को सहारनपुर ले जानेका पूरा प्रयत्न किया। उसके मंत्री बाबू मूलचन्दजी वकीलने डटकर विरोध किया फिर भी वे लोग अपने प्रयत्नमे सफल हो गये। सहारनपुर पहुँचे जाने पर बाबू बनारसीदासजी एम० ए० को महाविद्यालयका म० मंत्री बनाया गया। डिप्टी चम्पतरायजीने उनसे सलाह करके महाविद्यालयको स्कूल रूपमे बदलनेका ज्योंही उपक्रम किया त्योंही पं० गोपालदासजीको यह सब वृत्त विदित हो गया। तब 'जैनमित्र'मे अपने सम्पादकीय लेख उन्होंने बराबर निकाले, समाजमें हलचल पैदा कर दी। इस प्रकरणमे डिप्टी चम्पतरायजी और बाबू बनारसीदासजीमे कुछ मुद्दोंको लेकर आपसमे विरोध हुआ और उन दोनोंका पत्र व्यवहार सब समाचार पत्रोंमे छपाया गया। परिणामस्वरूप महाविद्यालय उसी रूपमे बना रहा, वह स्कूल नही बन सका।

यह कह देना भी आवश्यक है कि डिप्टी सा० और बनारसीदासजी दोनो ही विचारशील एवं सज्जन प्रकृतिके पुरुष थे।

## व्यापार की लगन

पंडितजीकी परिस्थिति आर्थिक दृष्टिसे साधारण थी, अपनी आढतकी दूकान करते थे। पढानेका कार्य वे बिना किसी प्रकार का श्रमफल लिये निस्पृह एव केवल परमार्थ दृष्टिसे करते थे। उसी समय उनकी धार्मिक लगन और इस विद्यादानके परमार्थ कार्यको देखकर आकलूज ( दक्षिण ) के प्रसिद्ध व्यापारी श्रीमान् सेठ सूरचंदजी गाधी ( फर्म मालिक, नाथारंग गाधी ) ने मोरेनामे पंडितजीके साथ साझेदारीमे आढतकी बडी दूकान खोल दी। उस समय मोरेनामे कपासकी खेती बहुत होती थी, ग्वालियर सरकारने मोरेनामे रुईकी गाठ बाँधनेका एक पेच भी चालू कर दिया था, इसीलिये मोरेनाका नाम 'पेच मोरेना' पड गया। सेठ सूरचदजी गाधी बहुत उदार, सादा जीवन बितानेवाले अत्यन्त सज्जन धर्मात्मा पुरुष थे। पंडितजीको लाभ पहुँचानेकी दृष्टिसे ही उन्होने मोरेनामे पंडितजीकी साझेदारीमे दूकान खोली थी। जब कपास का व्यापार बहुत बढ गया तब खुरई ( सागर ) के श्रीमत सेठ मोहनलालजीने एक जीन खोल दी, उसमे प्रतिदिन अनेक चरखियो द्वारा कपास ओटा जाता था। पंडितजीको उस जीनका डायरेक्टर बनाया गया। वह व्यापार भी बहुत अच्छा चला। फिर भी दिनभर हिसाब-किताब कर्मचारियोकी देखरेख आदिके साथ अपने ४,५ घटेका समय हम लोगोंके पढानेमे लगाते थे। पाठ पढाते समय वे दूकान और जीनके सब कार्योको भूल जाते थे। मनीमोसे कह देते थे कि तुम कामको देखो। छात्रोको पाठ पढाना, धार्मिक तत्वचर्चा करना समाजभरसे प्राप्त होनेवाले पत्रोका उत्तर दिलाना, आदि कार्योमे वे यथेच्छ समय देते थे।

## दक्षिणमें जागृति

एक बार पण्डितजीको दक्षिण महाराष्ट्र सभाका सभापति बनाया गया। उस समय पंडितजीका जगह-जगह प्रशंसनीय स्वागत हुआ। उस समय सभापति पदसे दिये गये पण्डितजीके भाषणकी दक्षिणके विद्वत्समाजमे बहुत आदर और मान्यता हुई। दक्षिण समाजमे जागृतिकी लहर दौड गई थी।

श्री प० गोपालदास और न्यायदिवाकर प० पन्नालालजी दोनो समकक्ष विद्वान् थे। दोनोकी विद्वत्ता समाजमे मान्यता और आदर तथा प्रभाव बराबर था, प्रत्युत. न्यायकी प्रखर विद्वत्ता न्यायदिवाकरजीकी अधिक थी। सहारनपुरकी प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित धार्मिक मण्डली, जिसमे श्रीमान् लाला जंबूप्रसादजी तथा लाला हुलासरायजी रईस प्रधान थे, न्याय-दिवाकर पं० पन्नालालजी पर मुग्ध थी और तत्वचर्चाके लिए उन्हे सहारनपुर ही रखती थी। फिर भी सैद्धान्तिक विद्वत्ता के साथ धार्मिक लगन, समाजमे धार्मिक जागृति एवं अपने अनुरूप सिद्धान्तवेत्ता ठोस विद्वानोकी सृष्टि तैयार करनेके कारण स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजीकी ख्याति, गौरव एवं अमर कीर्ति अपना असाधारण स्थान रखती है।

## संयमी जीवन और न्यायनिष्ठा

पंडितजी न्यायपूर्ण संयमी जीवनवाले आदर्श पुरुष थे। उन्होंने अपने व्यापार और घरेलू व्यवहारमे रेलवे और चुंगी की चोरी कभी नही की।

एक बार पंडितजीने ६ कुरता सिलाकर रख दिये, जब वे बाहर जाने लगे तब उन सिले हुये कुरतोंको मंगा-कर प्रत्येक कुरतेको पहनकर उतारकर रखते गये। हमने पूछा कि पंडितजी! हरएक कुरता क्यों पहनकर आप उतार रहे है? पंडितजीने कहा कि नई वस्तु पर सरकारी चुंगी लगती है, हमने इन कुरतोंको पहन लिया है, अब ये हमारे वर्ते

हुए समझे जायेंगे। इससे हमको चुंगी देनेकी आवश्यकता नहीं रही। इसी प्रकार रेलवे टिकट, अधिक बोझा ले जाने आदि में पंडितजीने सदैव नियमोंका और न्यायवृत्तिका ही पालन किया। अपने पुत्र माणिकचंदको बम्बई ले जाते समय २॥ वर्ष से कुछ दिन अधिकका हो जानेके कारण आधे टिकटके पैसे चुकानेकी घटना तो सर्व प्रसिद्ध है ही। इसी प्रकार व्यापारी मामलोंमें माल मंगाने और ले जानेमें भी उन्होंने कभी सरकारी नियमोंका उल्लंघन नहीं किया। उनकी इस न्यायोचित वृत्तिकी प्रसिद्धिका परिणाम यह हुआ कि चुंगी या रेलवे अधिकारी उनके मालका महसूल मागते नहीं थे, माल आजाने पर वे स्वयं भेज देते थे।

निस्पृह वृत्ति इतनी थी कि उन्होंने किसी स्थानमें किसीसे कभी कोई भेट नहीं ली। उसीका प्रतिफल यह था कि वे निर्भीक होकर बड़-बड़े व्यक्तिके सामने उचित बातका कहनेमे नहीं चूकते थे।

## राज दरबारमें सम्मान

एक बार छतरपुर ( बुदेलखंड ) नरेशने पंडितजीको बुलाया था। पंडितजी वहाँ गये, साथमें हम भी थे। दरबारमें अनेक अनेक विद्वान् थे। पंडितजीका प्रभावशाली भाषण सुनकर उपस्थित विद्वानों और राजा सा० को बहुत संतोष हुआ। पीछे कुछ शंका समाधान भी हुआ। किसी जटिल प्रश्नका उत्तर देनेमें उन्हे कुछ सोचना पडता था तो वे अपने अभ्यासके अनुसार लघुशंका ( पेशाब )को जाते थे और वहाँसे लौटकर बैठते पीछे, पहले उत्तर देते थे। कभी-कभी प्रश्नके होनेपर अपनी पगड़ी उतारकर शिरपर हाथ फेरते थे, फिर तत्काल उत्तर देते थे। वहाँ दरबारमे भी उन्होंने पगडी उतार ली, परन्तु दरबारका ध्यान आते ही झटपट उसे शिर पर रखने लगे। राजा सा०ने कहा कि पंडितजी, आप विशिष्ट विद्वान् हैं। आपके लिए दरबारमें भी माफ है, आप भले ही नंगे शिर रहिये। पण्डितजीने दरबारका आदर और विनयका ध्यान रखकर पगडी शिर पर लगाली। पीछे दरबारने कहा कि पण्डितजी आप यदि स्वीकार करें तो हमारी यह इच्छा है कि आप छतरपुर ही रहें, हम आपकी सुखद आजीविकाके लिए एक गाँव लगा देंगे। पंडितजीने तुरन्त उत्तर दिया कि महाराज! आपका आदर शिरोधार्य है, परन्तु हम मोरेना छोड़कर यहाँ रहनेमे असमर्थ है। हमारा वहाँ व्यापार चल रहा है और छात्रोंका अध्ययन भी चल रहा है, दोनों नहीं छोड़े जा सकते हैं। हाँ, जब आप बुलाना चाहेंगे तब हम फिर आपकी सेवामें आजायँगे। पंडितजीने श्रीफलके सिवाय और कोई भी भेट स्वीकार नहीं की। पंडितजीकी निस्पृह वृत्ति और उनकी विद्वत्ताका यह अच्छा उदाहरण है।

## आ० मजिस्ट्रेटी और सादगी

मोरेनामे ग्वालियर सरकारकी ओरसे आप ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी कुछ समय तक रहे। आपके द्वारा होनेवाले न्यायपूर्ण निर्णयसे सबको संतोष था। राज्यमे आपकी मान्यता थी। आप सदैव सादा वेशमे रहते थे। धोती घुटने तक ही रहती थी, कुरता पहनते थे, पगड़ी लगाते थे, देशी जूता पहनते थे। बाहर जाते समय अँगरखा पहनते थे। इसी पोशाक के उनके दो बड़े-बड़े तैलचित्र मोरेना महाविद्यालयके कार्यालयमे लगे हुए हैं। उनकी सादगीको देखकर उनसे मिलनेके लिये या संस्था देखनेके लिए जो कोई नवीन अधिकारी ( आफीसर ) आता था तो कभी-कभी नौकरके अनुपस्थित रहने पर पंडितजी स्वयं जल्दी-जल्दीमे कुरसी भी उसके लिए रख देते थे। उस समय उस आफीसरको यह प्रतीत होता था कि ये ( पंडितजी ) कोई प्रभावशाली विद्वान् नहीं है, एक साधारण व्यक्ति हैं। परन्तु जब बैठकर पंडितजीकी उससे बाते होती थीं, चाहे कोई शास्त्रीय चर्चा या लौकिक व्यवहारिक चर्चा क्यों न हो, बड़े से बडा आफीसर भी तत्काल उनसे प्रभावित होकर ही जाता था। पंडितजीका गुण और महत्व उनके सादा वेशसे नहीं किन्तु उनकी प्रतिभापूर्ण विद्वत्ता और उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्वसे प्रगट होता था।

## धार्मिक साहस

एक बार सम्मेदशिखर महापावन सिद्धक्षेत्र पर अंग्रेजोंने पार्श्वनाथ भगवानकी टोंकके पास बँगले बनानेकी सूचना प्रकटकी और यह भी स्पष्ट था कि उन बंगलोंके बनानेका लक्ष्य शिकार खेलना था। यह बात समाजमे सर्वत्र बड़े दुःखके साथ विक्षोभका कारण बन गई। उसी समय पंडितजीने जैनमित्र पत्रमे अपने सम्पादकीय लेखों द्वारा समाजमे गहरी हलचल मचादी, और स्वयं यह प्रगट कर दिया कि यदि अंग्रेज सरकार बंगले बनानेकी योजनाको रद्द नहीं करेगी तो उन बंगलोंकी चुनी जाने वाली दीवालमें हम अपने चुने जानेकी घोषणा करते है और जो भाई चाहे वे अपने नाम हमारे पास भेज दें। यह अनर्थ पहाड़की पावन भूमि ( सिद्धक्षेत्र ) में नहीं होने देंगे। उस समय समाजसे लगभग ७५

स्त्री और पुरुषोंके नाम आये थे, जो पंडितके साथ गिलायेमें सननेके लिये तैयार थे। वह एक असाधारण एवं प्राणोंकी बाजी लगा देनेकी भयंकर घटना थी। उस धार्मिक साहसका परिणाम यह हुआ कि सरकारने अपनी योजनाको रद्द कर दिया। उस समय पंडितजीके सम्पादकत्वमें निकलनेवाले 'जैनमित्र'की नीति दृढ़ धार्मिक और अधर्मकी बातका तीव्र खंडन कर समाजको सावधान करनेवाली थी।

एक बारकी बात है कि आगरामें रथोत्सव हो रहा था। खवासी, सारथी आदिकी बोली हो जानेके पश्चात् रथ बाजारोंमें घूमता जा रहा था। मध्यमें खुरजाके प्रसिद्ध श्रीमान् पं० मेवारामजी आ गये। उन्होंने अपने साथियों द्वारा कहलवाया कि यदि पं० मेवारामजीको सारथी पद पर बिठा दिया जाय तो वे मन्दिरको एक मुस्त पुष्कल रु० देनेको तैयार है। पंचोंने यह सोचकर कि रथ बाजारोंमें घूम भी चुका है, अब यदि उन्हें सारथी पद पर रथके ऊपर बिठा दिया जाय तो मन्दिरको लाभ हो जायगा; इस विचारसे उन्होंने पहले सारथीको समझाकर उतार दिया और उक्त श्रीमान् पंडितको रथ पर बिठा दिया। यह चर्चा श्रीमान् पं० गोपालदासजीने सुनी, उस समय उन्होंने कहा कि यह नहीं हो सकता। पं० मेवारामजी पहले आकर बोली ले सकते थे। अब दूसरोंकी बोली हो चुकी है, अत: अब रथके सारथीको बदलकर उनका अपमान नहीं होना चाहिये। परिणाम यह हुआ कि फिर पं० मेवारामजी रथ पर नहीं बैठे, पहले ही सज्जन बैठाये गये। यह कह देना आवश्यक है कि श्री पं० मेवारामजीकी सारथी बननेकी बात किसी विरोधसे नहीं थी किन्तु केवल धार्मिक अभिरुचि एवं भक्तिवश थी फिर भी वह वरैयाजीकी दृष्टिमें नीति विरुद्ध समझी गई।

जिस समय शिखरजीकी प्रतिष्ठा करके जैन समुदाय ईसरी स्टेशन ( पारसनाथ ) पर इकट्ठा हो गया और टिकटके लिये खिड़की पर भीड हो गई, उस समय अवसर पाकर टिकट बाबूने प्रत्येक व्यक्तिसे एक आना फी टिकट प्राइवेट ठहरा लिया। टिकट दिये जा रहे थे, परन्तु श्रीमान् वरैयाजीको जब यह बात विदित हुई तब उन्होंने उस नियम विरुद्ध लिये गये एक आनेको नहीं लेनेके लिये टिकट बाबूको बाध्य कर दिया, यही नहीं, लिया हुआ एक आना ( प्रत्येक व्यक्तिका ) लौटवा दिया।

गुरुजीके सम्बन्धमें मैंने उक्त घटनाएँ संस्मरणके रूपमें अंकित की है। वास्तवमें गुरुजीका जीवन शिक्षा, सेवा एवं सदाचारकी दृष्टिसे अत्यन्त महनीय है। ऐसे आदर्श व्यक्ति कभी कदाचित् ही जन्म ग्रहण करते है और वे युगनिर्माता बन समाजको नया मार्ग दिखलाते है।
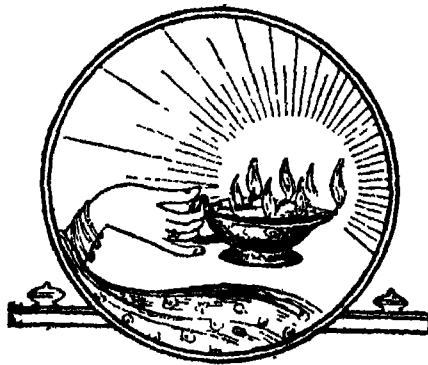
# गुरूणामपि गुरुः

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, प्रधानमन्त्री भा० दि० जैन संघ, मथुरा
प्राचार्य-जैन शिक्षा संस्था, कटनी

●

सन् १९११ की बात है। स्व० गुरुवर्य पं० गोपालदासजी वरैया कटनी पधारे थे, श्री पं० खूबचन्दजी भी साथ थे। रायपुरकी ओर डेपुटेशन जा रहा था। कटनीमें उस समय विमानोत्सव था, अत वे कटनी ३ दिन रुके। शास्त्र प्रवचन हुआ, सभीने उनके अमृतोपदेशका पान किया। कटनी निवासी यह जानकर कि जैन समाज का मुकुटमणि, प्रख्यात विद्वच्चूणामणि, सिद्धान्तका समुद्र, प्रखर पंडित आज उनके बीच में है, बहुत प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे।

## एक पण्डितमन्यका प्रश्नोत्तर

एक पण्डितमन्य हरप्रसाद दाऊजी नामक सज्जन कटनीमें थे, पण्डित तो नहीं थे पर पण्डिताईका प्रदर्शन उपस्थित जनसमूहमें करना इष्ट था, अत गुरुजीसे प्रश्न कर बैठे कि आप तो बड़े पण्डित है, बताइये गतें (गतियाँ) कितनी होती है? प्रश्न बहुत साधारण था तो भी गुरुजी बच्चेकी भी जिज्ञासा प्रेमसे शान्त करना जानते थे। उत्तर दिया, भाई गतियाँ तो चार होती है, नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देवगति। उत्तर सुनते ही दाऊजी बोले कि क्या हमे 'धपलिया' ही समझते हो? तुम यह जानते हो कि यहाँ कोई समझदार पण्डित ही नहीं है। गतियाँ पाँच होती हैं। गुरुजी ने बड़े स्नेहसे पूछा भाई! नाराज मत हो, यदि पाँचवी गति होता है तो तुम्ही बता दो! वह कौनसी है?

दाऊजीने उत्तर दिया 'मोक्षगति' ये पाँचवी गति है। एक स्तुतिमें लिखा है कि,

"जबहिं प्रभु पंचम गति पाई"

देखो भाई, ये लिखा है पंचम गति। ये पंडितजी चार ही गति बताते है। इस जल्पवादमे क्षण-एक गुरुजी अवाक् रह गए। उन्होने सोचा कि विवंडावादी मनुष्य भी समामे सामान्य जनताकी अजानकारीका लाभ उठाकर किस प्रकार अपनी कथित पंडिताईका झंडा फहरा देता है, तथा दूसरे व्यक्तिको नीचा दिखानेका होसला कर लेना है।

गुरुजीने कहा कि दाऊजी! गति तो वास्तवमे वही एक है जो आपने 'मक्ति गति' बताई, क्योंकि वहाँ जाने पर पुनः आना नहीं होता, गया सो गया। बाकी ये चार गति हमने संसारी जीवकी बताई है पर ये यथार्थ गतियाँ नही हैं, क्योंकि इनमे गतिके साथ आगति भी है अर्थात् वहाँ जाकर जीव पुन दूसरी योनिमें लौटता है। इसलिये आपके द्वारा बताई गति पक्की है और हमारी बताई गतियाँ पक्की नहीं है। पर संसारी जीवके लिए ये ही चार गतियाँ हैं, मुक्त जीव की एक ही गति है।

दाऊजी अपनी इस महान् विजय पर बहुत खुश थे और वर्षों जनतामे इसका डका पीटते रहे।

कटनीसे हमारे तत्कालीन विद्यागुरु श्री प० बाबूलालजी हमारे सहयोगी दो छात्र लक्ष्मीचन्द, फूलचन्द को साथ लेकर गुरुजीके साथ रायपुर गए थे। पं० गोपालदासजीका प्रत्यक्ष परिचय इस विमानोत्सवमे हमारे पूज्य पिताको हुआ था। वे गुरुजीसे अत्यन्त प्रभावित थे।

## कटनी विद्यालयकी प्रगति

कटनीमे उस समय जैन पाठशाला चलती थी। विद्यार्थी संस्कृतका अध्ययन करते थे। उन्हे लौकिक ज्ञान भी देना आवश्यक है, ऐसा सुझाव गुरुजीने दिया। शालाके मन्त्री श्री स्व० जोवराखनलाल, रिटायर्ड डिपुटी इंस्पेक्टर द्वारा यह ज्ञात कर कि शालामे फण्डकी कमी है, पण्डितजीने स्थानीय सज्जनोसे उसकी पूर्तिके लिए अपील की।

गुरुजीकी अपील पर श्रीमती राधाबाईजीने एक मकान शालाको दिया जो ५२००) मे उस वक्त बेच दिया गया था, वह रकम आज भी शालाके ध्रुव कोषमें 'राधाबाई जैन शिक्षा ट्रस्ट' के नामसे जमा है। दूसरे सज्जन थे स०

मि० कन्हैयालाल गिरधारीलालजी, जिन्होंने उस समय एक मकान जिसकी कीमत ३०००) आकी जाती थी, वह तथा २०००) नगदीका ट्रस्ट-डीड सस्थाके लिए लिख दिया। यह मकान आज १०, १५ हजारकी कीमतका है और यह सम्पत्ति 'स० सि० कन्हैयालाल रतनचन्द वगैरह जैन शिक्षा ट्रस्ट, कटनी' के नामसे सस्थाके, ध्रुव-कोषमें सुरक्षित है। इस तरह अनायास ही अपने डेपुटेशनमे कटनी संस्थाकी सहायताकर गुरुजी आगे बढे।

## दक्षिण प्रांतीय सभाके अध्यक्ष

सन् १९१२ मे दक्षिण प्रान्त 'बेलगाव' में दक्षिण महाराष्ट्र सभाका विशिष्ट अधिवेशन था। गुरु गोपालदासजी उसके सभापति चुने गए थे। एक भिन्न भाषा-भाषी प्रान्तमें हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ जनताके बीच उत्तर प्रदेशके हिन्दी भाषा-भाषी विद्वान्‌का सभापति चुना जाना एक आश्चर्यकी बात थी।

मै पिताजीके साथ दक्षिण तीर्थ 'जैनबद्री'की यात्राको गया था। मेरी उम्र ११ साल की थी। छोटी उम्र होने के कारण तथा मातृ-भ्रात विहीन होनेसे अपने पिताका एक मात्र पुत्र होने के नाते मै उनके साथ २ रहता था। यद्यपि वे गृहत्याग कर ब्रह्मचर्य प्रतिमारूढ थे तथापि मेरी उपस्थिति उनके मार्गमें एक बहुत बड़ी बाधा थी, तो भी वे मेरा निर्वाह करते हुए अपने व्रतोका पालन करते थे। अनायास आरसीकेरेमें पिताजी बीमार हो गए, १॥ माह बीमार रहे, एक उपाध्यायने उनकी अच्छी परिचर्या की। स्वास्थ्य सभलते ही वे बेलगांवमें होनेवाली उस महासभामें सम्मिलित हुए। श्री अर्जुनलालजी सेठीका नाम जैन समाजमे प्रख्यात था। गुरुजीके साथ वे भी आए थे।

## अभूतपूर्व स्वागत

पूनासे बेलगांव तक काफी बडा रास्ता है, करीब २० स्टेशन पडते है। दक्षिण भारतकी जैन जनता स्टेशन २ पर अपने नेताके पुण्य स्वागतके लिए आखे बिछाये खडी थी, जहां भी गाडी पहुँचती—प्लेटफाम भीडसे भर जाना तथा पुष्पोकी कलियासे बिध जाता। रेलवे गार्ड, ड्राइवर आदि कर्मचारी इस अपरिचित नेताके विशिष्ट परिचयमे चकित थे।

बेलगावमें प्रान्तकी जैन जनता उमड पडी थी। विशाल पैमाने पर गुरुजीका स्टेशनसे पडाल तक अभूतपर्व स्वागत हुआ। अपनी छोटी उम्रमें देखे हुए वे दृश्य आज भी मानस-पलट पर चित्रम अकित हैं। मझे नाम आज भी स्मरण नही है, एक वृद्ध वकील थे, गुरुजीके चरणोंमे गिर पडे, देखकर सब लोग स्तम्भितसे हो गए।

## मंच पर मैं और मेरे पिता

अधिवेशन हो रहा था। विशाल पडाल था, ऊँचा मच था। तब सभाओमे लाउड स्पीकर नही चलते थे, शायद उस समय तक उनका आविष्कार न था और हो भी तो सर्वसाधारणमे प्रचलन नही था। अत मचस्थ व्यक्तिको देखने और भाषण सुननेके लिए आगे बैठने तथा बढनेकी होड सी मच जाती थी।

मेरे पिताजी ब्रम्हचारी व्रती श्रावक थे, इसलिये मच पर ही बैठनेको स्थान मिल गया था, इस नाते मै भी उच्च स्थान पर था और गौरवका अनुभव करता था कि हम भी गणनीय व्यक्तियोमे हैं। मेरी भी इच्छा हुई कि जब मच पर स्थित सभी लोग दूसरेको उपदेश देते है तो हमें भी देना चाहिए। मैने पिताजीसे कहा कि हम भी भाषण देगे। पिताजीने कहा कि यह बच्चोकी सभा नही है। मैने कहा कि हम अब बच्चे नही रहे, यदि बच्चे होते तो मच पर कौन बैठने देता ? वे हँसने लगे। श्री अर्जुनलालजी सेठी पास ही बैठे थे, मै उनके पास गया। यद्यपि मैं उनसे प्रत्यक्ष नही पर परोक्षमे उनके नामसे परिचित था।

सेठीजीसे परिचय इस प्रकार था कि जयपुरमें एक 'जैन शिक्षा समिति' सेठीजीने स्थापितकी थी, जो जैन पाठशालाओकी धर्म विषयकी परीक्षा लेती थी। सेठीजी उसके मत्री थे। हमने कटनीमे पढते समय जैन प्रथम पुस्तककी परीक्षा दी थी। हमारे प्रमाण पत्र पर अर्जुनलाल सेठीके हस्ताक्षर थे। बस, मै सेठीजीसे घनिष्ठ सम्बन्ध मनमे स्थापित कर चुका था अत निर्भय उनके पास चला गया। मैने अपनी इच्छा जाहिर की, वे बडे प्रसन्न हुए—बोले, एक कागज पर अपना व्याख्यान लिखलो और फिर खडे होकर पढ देना।

## बृहत् सभामें मेरा भाषण

मैने ऐसा ही किया। प्रारम्भमे णमोकार मत्र फिर चौबीस भगवानके नाम, उनके चिन्ह, विनती और जीव अजीवके भेदवाले पाठ सब लिख लिए। हमारे पिता प्रतिदिन सामायिकके अन्तमे 'परमार्थ जकडी पढते थे, जो सुनकर

मुझे करीब-करीब कंठस्थ हो चुकी थी, यह सब एक साथ पढ़नेका संकल्प कर मैं तैयार हो गया। गुरुजीसे आज्ञा लेनेको सेठीजीने मुझे भेजा। मैंने गुरुजीसे प्रार्थनाकी। वे ऊँचा सुनते थे, मेरी प्रार्थना उन्हें उच्च स्वरसे सुना दी। उनकी स्वीकृति पाकर मुझे टैबिल पर खड़ा कर दिया गया और मैंने सभी पठित धर्मशास्त्र खड़े होकर सभामें सुना दिए।

## गुरुजीका शिष्यत्व

जनता तो कुतूहलवश प्रसन्न होती थी पर गुरुजी भी प्रसन्न हुए। मेरे पिताका परिचय लिया और उनसे मोरेना आनेका आग्रह किया। कालान्तरमें मेरे पिता मुझे साथ लेकर मोरेना गए। वहाँ उन्होंने 'श्री गोम्मटसार' जीवकांड और कर्मकांडका गुरुजीके पास अध्ययन किया। मैंने भी पढ़ना चाहा तो 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के १० श्लोक पढ़ाये इसके बाद बोले 'मथुरा चौरासी पर महासभाकी ओरसे महाविद्यालयका पुनः उद्‌घाटन हो रहा है। तुम इस बालक को वहाँ पढ़ने भेज दो।' पिताजी मुझे मथुरा भरती करा आए जहाँ मैं पढ़ने लगा।

वहाँ एक वर्ष पढ़कर मैं कटनी लौट आया और यहाँ पाठशालामें 'तत्वार्थसूत्र' तक पढ़ा। १५ दिसम्बर सन् १९१५ को मैं अपने पूर्व संस्कारवश उत्पन्न बलवती इच्छासे मोरेना अध्ययन करनेको गया। गुरुजीके दर्शन तो किए पर उनसे पढ़नेका प्रसंग फिर नहीं आया। उनके शिष्यवर्गमें श्री न्यायालंकार पं० बंशीधरजी, व्याख्यान वाचस्पति पं० देवकीनन्दनजी, और न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजी, तब अध्यापन करते थे। विद्यालयका भवन बनता जाता था। उक्त गुरुओंके पास विद्याध्ययन किया।

गुरुजी शरीरसे कुछ कमजोर थे, बीमारी प्रायः घेरे रहती थी तथापि कभी-कभी विद्यालयमें होनेवाली पाक्षिक सभामें भाषण देने आ जाते थे। सुबह शाम वे घूमकर आते तो विद्यालयके प्रांगणमें खाट बिछाकर नीमके नीचे बैठ जाते। हम सब बालक बड़े उल्लाससे उन्हें घेर लेते थे।

## स्नेह तथा स्फूर्ति प्रदान

वे हम सबसे प्रश्न करते थे कि क्या पढ़ते हो, पढ़कर धर्मकी क्या सेवा करोगे, प्रत्येक जैन विद्यार्थीका क्या कर्तव्य है, अकलंक निकलंक कौन थे, उन्होंने क्या कार्य किया था, समन्तभद्राचार्य स्वामीने जैनधर्मकी कैसी प्रभावनाकी थी। तुम भी ऐसे ही न्यायवादी तथा धर्ममैत्री बनो। इत्यादि उनकी प्रश्नावलियाँ छात्रोंमें स्फूर्ति प्रदायक होती थी।

## माँजीकी नाराजी

एक बार गुरुजी आगरामें थे, तबियत ज्यादा खराब हुई। तार आया तो पं० बंशीधरजी हम २४ छात्रों सहित आगरा पहुँचे। माताजी हम सबको देखते ही कुपित हो गई—बोली, ये सेना काहेको बुलाई है? गुरुजी समझ गए—बोले, ये देखने आए हैं, बाजारसे खा लेंगे, तू इनकी चिन्ता न कर।' कुछ भी हो, क्रोध का विष जब एक बार चढ़ता है तो जल्दी नहीं उतरता। हम सब लोग स्नानादिसे निवृत्त हो मंदिरजी गए, तब तक माँजीने गुरुजीकी खाट कोठेसे उठवाकर बाहिर कर दी। जब हम सब वापिस आए और यह दुर्दशा देखी तो माँजीके चरण पकड़े और मनाया कि गुरुजीकी खाट भीतर कर लेने दो, स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। माँजीको जब हम लोगोंने बताया कि हम सब खाना साथ लाए थे और खा चुके हैं तब माँजीका पारा उतरा और शीघ्र ही खाट कोठेके अन्दर रख दी गई।

हम लोग लौट आए पर स्वास्थ्य नही सुधरा। गुरुजी मोरेना वापिस आ गए। इनके बालसखा अत्यन्त प्रेमी सहयोगी थे श्री प्रेमराजजी मुनीम। इनका सब काम लगनसे करते थे, यही कारण था कि गुरुजी पठन-पाठनका समय पा जाते थे। गुरुजीकी इस धर्मसेवामें प्रेमराजजीकी यह बहुत बड़ी सहायता थी। वे गुरुजीको और गुरुजी उनको बहुत मानते थे।

## अन्त समय

मोरेनामें स्वास्थ्य खराब होता गया। हम छात्रोंकी पारी बांधी गई। दिन और रातमें कमसे कम २ विद्यार्थी उनकी सेवामें हाजिर रहना ही चाहिए। हमें भी ड्यूटी मिलती थी। एक दिन हमारी पारी रात १२ से ३ बजे तक थी, एक छात्र हमारे साथ थे—मोरेनाके ही थे इनका नाम मुझे विस्मृत हो गया, गत वर्ष ग्वालियरमें ही मिले थे, वही आज-कल व्यापार करते हैं।

ज्योंही हमारी ड्यूटी पूरी होने आई कि गुरुजीने पुकारा कौन हैं, मै सामने आया वे बोले, क्या अब तुम्हारा नम्बर है? मैंने कहा—नहीं मेरा और इनका समय पूरा हो रहा है, थोड़ी ही देरमें दूसरे छात्र आयेंगे।

## समाधिकी चिन्ता

गुरुजीने अपना समय जान लिया था, अत. समय खराब न करनेकी गरजसे बोले, देखो। हमे नींद नहीं आती यही तो बीमारी है, यह तो तुम जानते हो। मैने कहा, 'जी हाँ। यदि आपको नीद आने लगे तो बीमारी जल्दी अच्छी हो सकती है, ऐसा वैद्य लोग कहते है। बोले हाँ, ठीक बात है। तुम्हे आज खुश होना चाहिये कि हमे अब नीद आ रही है। ऐसा न हो कि मुझे नीद आजाय, और कोई आकर जगा दे। इसलिए तुम अपनी ड्यूटी परसे न जाना, सुबह तक खुद दोनो रहना। अब तुम बाहिरसे साकल लगालो। एक चटाई पास रखवालो और पुन. बोले—याद रखो, किसीको भी भीतर न आने देना, नहीं तो मेरी नीद भग हो जायगी और फिर बीमार पड जाऊँगा।

हमे भी इससे प्रसन्नता हुई। हम दोनो लाठी हाथमे लेकर दरवाजे पर अड गए। किसीको अन्दर नही आने दिया। प्रातः ६ बजे प्रेमराजजी आए, बोले कि साकल क्यो लगा रखी है? हमने सब समाचार सुनाए। साकल खोलने लगे, हम सामने आ गए—वे रुक गए। पर १ घन्टे बाद पुन आए और बोले, धीरेसे देखने तो दो, निद्रा भंग नहीं होगी। हमने बडी हठके बाद उनकी बात मानी। प्रेमराजने धीरेसे साकल खोलकर देखा तो बडे दुखी हुए। गुरुजी पलगके नीचे एक चटाई पर बिलकुल नग्न पडे है। आखे पथरा गइ है, हाथ-पॉव कडे पड गए है। जीवितावस्थाके कोई लक्षण शेष नही है।

रोने लगे। शीघ्र ही उठाकर पलग पर पाड दिया, कपडे ढका दिए। हम कोई रहस्य नही समझ पाए। समाचार फैल गया, विद्यालयसे सभी आए। सबने देखा पलग पर गुरुजी पडे है, शरीर लकडीकी तरह है। समझा कि रात रात पडे-पडे प्राण निकल गए, दाह सस्कार हुआ। प्रेमराजजीने हिदायत कर दी थी कि सबेरेकी बात किसीको न बताना। फलत उनका हमसे वार्ता करना, चटाई मंगाना व नग्नावस्थाम शरीरान्त होना रहस्य और गोप्य बना रहा।

## दि० मुनि अवस्थामें देहावसान

जब समझदारी आई तब कभी-कभी सोचता हूँ कि वह कौनसी नीद थी जो उस दिन आ रही थी। चटाई किसलिए मगाई, उस पर क्यो लेटे, नग्न कैसे हो गए। सबको आनेसे क्यो रोक दिया। आज समझ पा रहा हू कि उन्हे यह भय था कि किसीके आनेसे हल्ला पड जायगा और उनकी समाधि नही सुधरेगी। वे अपना अन्त समय जान चुके थे और उन्होने अपने समाधिमरणकी तैयारी उस समय स्वयकी थी, और सर्व परिग्रह त्याग कर ही नग्नावस्थामे समाधिपूर्वक प्राण विसर्जन किए थे।

श्री प्रेमराजजी समाधिमरण नामकी वस्तुसे परिचित न थे। हम लोग भी पुस्तकोमे कुछ-कुछ पढे थे पर प्रत्यक्षीकरण कभी नही किया था। प्रेमराजजीसे डरते थे, इस वास्ते दूसरोंसे भी कुछ नही कह सके। अत उनकी मुनि दशा और समाधि आज भी रहस्यमे छिपे है।

हमे प्रत्यक्ष परिचय गुरुजीका जितना प्राप्त था उसे ही लेखबद्ध किया है। सुनी हुई बाते बहुत-सी है पर उन्हे कोई प्रत्यक्ष दृष्टा ही लिखे, इस अभिप्रायसे नही लिखा।

सारांशमे यह कहा जा सकता है कि गुरु गोपालदासजी अपने समयके इतने महान् व्यक्ति थे कि उनकी महत्ता महान् पुरुष ही आँक सकते है, हम जैसे क्षुद्र जीव नही।

●

# अविस्मरणीय संस्मरण

बा० नेमीचंद जैन, एडवोकेट, मोरेना

●

स्व० गुरु गोपालदासजीसे मेरा पूरा कुटुम्ब उपकृत हुआ है। मेरे दोनों बड़े सहोदर भाई पं० बंशीधरजी (शोलापुर) और पं० खूबचन्दजी तो उनसे पढ़े ही थे, मैं भी गुरुजीसे लगभग सालभर पढ़ा था। पश्चात् मेरा मोरेना आना जाना बना ही रहता था, उसी समयके ये कुछ संस्मरण हैं। इन्हीं संस्मरणोंके रूपमें मैं स्व० पूज्य गुरुजीके चरणोंमें अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा अपने दोनों ही दिवगंत भाइयोंकी तरफसे कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

## खूबा! हैजा बैरागी

गुरुजीके हृदयमें जैन समाज और जैनधर्मको उन्नत करनेकी भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। निम्नलिखित घटना वर्तमान शताब्दिके प्रथम दशक की है। उत्तर भारतवर्षमें जैन मुनियोंके दर्शन तक नहीं होते थे। दक्षिण भारतमें कुछ जैन मुनियोंका अस्तित्व अवश्य था, परन्तु उनका सैद्धान्तिक ज्ञान इतना कम था कि वह जैनधर्मकी उन्नतिमें सहायक नहीं हो सकता था। अतएव गुरुजी एक ऐसा व्यक्ति चाहते थे जो विद्वान् होनेके साथ-साथ गृहस्थीकी झंझटसे सर्वथा मुक्त हो, जिसका व्यक्तित्व प्रभावक हो, जिसकी वाणीमें ओज हो और जिसकी तर्कणाशक्ति अकाट्य हो। वे अनेक बार कहते सुने गये कि ऐसा व्यक्ति ही जैनधर्म व समाजकी उन्नति कर सकेगा। उनकी दृष्टि अपने शिष्य खूबचन्द्र पर पड़ी, क्योंकि उक्त सभी गुण उनमें मौजूद थे।

उस समय तक पं० खूबचन्द्रजीका विवाह नहीं हुआ था। अतः गुरुजीने उनसे बार-बार आग्रह किया कि तुम अपना विवाह मत करो और जैन सिद्धांतकी उन्नतिमें लग जाओ, परन्तु पं० खूबचन्द्रजी इस बातको स्वीकार नहीं करते थे।

उन दिनों मेरे बड़े भाई पं० बंशीधरजी (शोलापुर), पं० खूबचन्द्रजी और मैं मोरेनामें ही थे। हमने एक मकान किराये पर ले रखा था और हमारी माँ हमारे लिये खाना बनाती थीं, क्योंकि उस समय तक मोरेना विद्यालयकी कोई कल्पना तक उत्पन्न नहीं हुई थी। अतएव पढ़नेवाले छात्रोंको अपने भोजनकी व्यवस्था स्वयं ही करनी पड़ती थी। एक दिन ठीक भोजनके समय गुरुजी अकस्मात् हमारे घर पर आ गये और हमारी माँ से बोले 'माँ जी, मैं आपसे एक चीज मांगने आया हूँ। हमारी माँ एकदम सिटपिटा गई और बोली 'पंडितजी, मैं आपको क्या दे सकती हूँ, मेरे पास तो सिवाय मेरे लड़कोंके और कुछ है ही नहीं।' गुरुजी तत्काल बोल उठे कि बस, आपका एक लड़का मुझे चाहिये। माँ ने उत्तर दिया कि मेरे तीन लड़के तो आपकी ही सेवामें मौजूद है। इनमेसे आप चाहे जिसको ले लीजिये, मुझे कोई आपत्ति नहीं, लड़के तो आपके ही हैं। इस उत्तरको सुनकर गुरुजी बहुत सन्तुष्ट हुये और तत्काल हमारी माँको प्रणाम करके अपनी दुकानको चले गये। हम तीनों भाई आश्चर्यचकित होते हुए सुनते रहे और गुरुजीकी इस बातका फलितार्थ निकालनेमें असमर्थ रहे।

भोजन करके जब पं० खूबचन्दजी पढ़नेके लिए गुरुजीकी दुकान पर गये तो गुरुजी एक लोढ़के सहारे टिके हुए इस प्रकार गुनगुना रहे थे मानों उन्होंने खूबचन्दजीको देखा ही न हो। खूबचन्द्रजी दूसरी गद्दी पर बैठ गये लेकिन गुरुजी धीरे धीरे एक 'रसिया' गाते रहे। दुर्भाग्यसे गुरुजीका वह पूरा गाना याद नहीं रहा है, उसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

> खूबा! है जा बैरागी, तेरे सब घरके राजी।
> भैया राजी, मैया राजी, अब तो तू है जा राजी।
> .......खूबा है जा बैरागी॥

खूबचन्द्रजीने पूछा—पंडितजी क्या गा रहे है ? मुनीम प्रेमराजजी और रामस्वरूपजी भी हँस रहे थे । पंडित जीने उत्तर दिया—अरे, तेरे ही लिये तो यह गाना बनाया है । आज तेरे ही सामने तेरी माँने तुझे मेरे अधीन कर दिया है, अब तो तू इन्कार कर ही नही सकता । आज मेरे सामने प्रतिज्ञा कर कि तू कभी विवाह न करेगा । खूबचन्द्रजीने दुर्भाग्यवश गुरुजीके आग्रहको न माना, परन्तु यह प्रतिज्ञा अवश्यकी कि मै दूसरा विवाह न करूँगा और अव्रत अवस्थामे मरूँगा भी नही ।

## जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

गुरुजीके पास हमेशा ही कुछ ऐसे महानुभाव रहा करते थे जो घरसे उदासीन रहते हुए धर्मध्यानपूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया करते थे और गुरुजीसे कुछ धर्मशिक्षण भी लिया करते थे । यह बात भी मोरेना विद्यालयकी स्थापना से पूर्वकी है । आगरासे लाला घनश्यामदासजी सर्राफ, बाबा ठाकुरदासजी वर्णी ( बादमे दशम प्रतिमाधारी ) और देहली के लाला मोतीलालजी शासकीय सेवासे निवृत्त हो चुके थे । उनको हिन्दी भाषा और हिन्दी लिपिका परिज्ञान नही था । वे फारसी एव उर्दूके अच्छे विद्वान थे और उर्दू लिपिमे ही वे लिखा करते थे और उच्चारण भी उनका उर्दूवालो सा ही था । गुरुजी ला० मोतीलालजीको 'बैरिस्टर' नामसे सम्बोधित किया करते थे । उनको गुरुजी कोई ग्रन्थ नही पढाते थे अपितु ऐसे शब्दोका अर्थ बताया करते थे जो जैनशास्त्रोमे हर जगह आया करते थे । मोतीलालजी उन शब्दोको प्रश्नरूपसे लिख लिया करते थे और उत्तर भी उर्दू लिपि मे ही लिख लिया करते थे । कुछ दिनो बाद गुरुजीने विचार किया कि यदि ये प्रश्नोत्तर हिन्दीमे लिख लिये जाँय और उनको पुस्तकाकारमे छपवा दिया जाय तो ये बहुतोको लाभदायक सिद्ध हो सकते है ।

उन दिनो मैं भी मोरेनामे ही पढता था । मेरे लिए मेरे बड़े भाई पूज्य प० बंशीधरजी ( शोलापुर प्रवासी ) 'जैनेन्द्र प्रक्रिया' तैयार किया करते थे और मुझे उसे ही पढाया करते थे, साथ ही साथ मैं गुरुजीसे 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' भी पढा करता था । मेरी हस्तलिपि गुरुजीको बहुत पसन्द थी, इसलिए गुरुजीने एक दिन मुझसे कहा कि नेमीचन्द ! तू इन प्रश्नो और उत्तरो को हिन्दी लिपिमे लिख दिया कर । बैरिस्टर साहब ( मोतीलालजी ) बोलते जाया करेगे और तू लिखते जाना । दूसरे दिन गुरुजी गद्दी पर बैठे दुकानकी बहियोकी जाँच कर रहे थे और दूसरी गद्दी पर ला० मोतीलालजी मुझे प्रश्न और उत्तर लिखा रहे थे ।

उन्होने कहा—लिखो 'परमान कितने प्रकारका है ?

'परमान दो प्रकारका है । एक परतच्छ और दूसरा परोच्छ ।'

मेरी समझमे कुछ नही आया और मेरे दो तीन मर्तबा पूछने पर भी मोतीलालजीने उपर्युक्त शब्द ही दोहरा दिये । गुरुजीका ध्यान हमारी तरफ आकर्षित हुआ और हँसते हुए मुझसे कहा—भई, ये उर्दूदा है, तुम यह लिखो—

प्रश्न—प्रमाण कितने प्रकार का है ?

उत्तर—(१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष

इस पर मुझे हँसी आ गई और मोतीलालजी आदि उपस्थित सज्जन भी हँसने लगे ।

इन्ही प्रश्नोत्तरोको गुरुजीने बादमे पुस्तकाकार छपवा दिया, जिसका नाम 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' रखा गया ।

## सुशीला उपन्यास और सुशीला

मेरी सबसे छोटी बहन भी हम लोगोके पास मोरेनामे ही रहा करती थी । वह उस समय करीब सात वर्षकी थी । उसका नाम बिट्टोबाई था । वह पढने लिखने लगी थी और मामूली पुस्तके अच्छी तरह पढ लिया करती थी ।

गुरु गोपालदासजीने 'सुशीला नामक एक उपन्यास भी लिखा था जिसे बम्बईमे छपवाया गया था । उसकी पार्सल दुकान पर आई और गुरुजीने हम सबके सामने खुलवाया । गुरुजी उपन्यासकी एक प्रति लेकर देखने लगे कि अकस्मात् मेरी बहन बिट्टोबाई घरसे दुकान पर आ गई । गुरुजीने उसे पास बुलाकर अपनी गोदीमे बिठा लिया और उपन्यासकी एक प्रति देकर कहने लगे कि देख, तू इस पुस्तकको अच्छी तरह पढना और इस पुस्तककी सुशीलाकी ही तरह बनना । आजसे तेरा नाम भी सुशीला ही रहेगा । मेरी बहन उस पुस्तकको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने उस उपन्यासको कई बार पढा और वर्षों तक बडे स्नेहसे अपने पास रक्खे रही । गुरुजीके आशीर्वादसे वह आगे चलकर बहुत योग्य हुई तथा कई अच्छी-अच्छी परीक्षाये भी उसने पासकी । उसका नाम भी सुशीलाबाई ही रहा ।

## जयजिनेन्द्र और तमाचा

सन् १९०७ या ८ की एक घटना मुझे अभी तक याद है। मेरे बड़े भाई पूज्य पं० वंशीधरजी बम्बईसे गुरुजीके पास पढ़ने आगये थे। वे ही गुरुजीके सर्व प्रथम छात्र थे। अपने कुछ कार्यसे गुरुजी कुछ दिनोंके लिये आगरा गये, भाई साहब भी उनके साथ गये ताकि पाठ्यक्रम चालू रहे। मैं भी भाई साहबके साथ ही चला गया था। गुरुजी अपने मकानमें रहते थे और भाई साहब मोतीकटराकी धर्मशालामें।

एकदिन जब भाई साहब पाठ पढ़ने गुरुजीके घर गये तो मैं भी उनके साथ चला गया। पाठ समाप्त होनेपर भाई साहब गुरुजीके पैर छूकर और प्रणाम करके लौटने लगे तो मैं भी दोनों हाथ जोड़कर ( बगैर सिर झुकाये ) उनको 'जयजिनेन्द्र' कहकर बाहर चल दिया। हम दोनों ज्योंही गलीमें आये त्योंही भाई साहबने बड़े जोरसे एक तमाचा मेरे गालपर मारा। मैं तिलमिला गया। इतनेमें ही भाई साहबने कहा 'उद्दण्ड कहींका, न प्रणाम करना, न पैर छूना, न सिर झुकाना। जयजिनेन्द्रका क्या अर्थ ? गुरुजीके प्रति तुमने नम्रता किस क्रियासे या किन शब्दोंसे प्रकट की ?

मैंने अपनी अशिष्टता स्वीकार की और भविष्यमें हमेशा ही अपने बड़ोंको प्रणाम या नमस्कार करनेका नियम लेकर वापिस धर्मशाला लौटा।

## गुरुजी और जैनग्रन्थ

मोरेना विद्यालयकी स्थापना हो जानेके बादकी यह घटना है। गुरुजीकी यह भावना थी कि सभी जैन विद्यालयोंमें केवल जैनग्रन्थ ही पढाये जायँ। अपने स्वयंके विद्यालयमें तो उन्होंने यह नियम बड़ी कड़ाईके साथ लागू कर दिया था। अपने विद्यालयके किसी भी छात्रको वे किसी भी हालतमें बनारस या कलकत्ता संस्कृत विद्यालयोंकी परीक्षा देनेकी अनुमति नहीं देते थे। पं० मक्खनलालजी और पं० वंशीधरजी महरौनीवाले ( इन्दौर ) ने न्यायतीर्थ परीक्षा देनेकी अनुमति गुरुजीसे मांगी। उनकी प्रार्थना अस्वीकृत होनेपर दोनों छात्रोंने विद्यालय छोड़कर जानेका विचार किया। जब इस बातका पता गुरुजीको लगा तो उन्होंने दोनोंको अपने पास बुलाकर बड़े स्नेहसे 'न्यायालंकार' की उपाधि दी। इस पर दोनों छात्र सन्तुष्ट होकर विद्यालयके नियमानुसार अपनी आगेकी पढ़ाईमें लग गये। इस प्रकार विद्यालयमें केवल जैन ग्रन्थ ही पढाये जानेका अमर नियम बना रहा।

## गुरुओंके भी गुरु

स्व० पं० नरसिंहदासजीने अपने सहोदर छोटे भाई न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजीको इस आदेशके साथ गुरु गोपालदासजीके पास भेजा कि वे मोरेना जाकर गुरुजीसे जैन ग्रन्थोंका अध्ययन करें। न्यायाचार्यजी मोरेना आये। परन्तु उनको पूर्ण विद्वान् समझकर गुरुजीने विद्यालयमें अध्यापक नियुक्त कर दिया और साथ ही यह भी व्यवस्था कर दी कि वे गोम्मटसार आदि धर्मग्रन्थोंकी पढ़ाईके समय अन्य छात्रोंके साथ पाठ सुना करें। न्यायाचार्यजीने सहर्ष इस बातको स्वीकार कर लिया और चूँकि उनकी बुद्धि तथा स्मरणशक्ति व प्रतिभा इतनी तेज थी कि वे केवल सुनने मात्रसे थोड़े ही समयमें जैनधर्मके ऐसे धुरन्धर विद्वान् होगये कि आज वे उच्चतम कोटिके जैन विद्वानोंमें गिने जाते है। न्यायाचार्यजी गुरु गोपालदासजीके विधिवत् छात्र न होते हुए भी उनको अपना गुरु मानते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुरुजीकी लालसा केवल ज्ञान देने की थी, न कि विद्वानोंके भी गुरु कहलवाने की।

## प्राकृत प्रेम

एक बार मेरे पूज्य भाई पं० वंशीधरजी ( शोलापुर ) ने पढ़ते समय गुरुजीसे कहा कि 'पंडितजी ! ऐसा मालूम पड़ता है कि पहले प्राकृत भाषा ग्रामीणों अथवा देहातियोंकी बोलचालकी भाषा थी, जैसा कि प्राकृत और हिन्दीके अनेक शब्दोंके सामञ्जस्यसे विदित होता है। विद्वानों और पढ़े लिखोंकी भाषा तो संस्कृत थी जैसा उसके नामसे स्पष्ट है। क्या यह धारणा ठीक है ?' यह सुनकर गुरुजी अत्यधिक अप्रसन्न हुए और बोले—'तुम मूर्ख हो, जिस भाषामें हमारे सभी मौलिक मूल ग्रन्थ व प्राचीन ग्रन्थ लिखे गये हैं, उसीका तुम अपमान करते हो। संस्कृत तो बादकी बनाई हुई भाषा है। मूल असल व प्राचीन भाषा तो प्राकृत ही है।'

गुरुजीको अप्रसन्न मुद्रामें देखकर पूज्य भाई साहबने इस विवादको आगे नहीं बढ़ाया और वे चुप होगये।

## दैनिक चर्या और भक्ति

गुरुजीकी प्रतिदिनकी चर्या इस प्रकार थी कि वे प्रतिदिन प्रातः कालीन सभी धार्मिक क्रियाएँ घरपर ही किया करते थे। पाठ और सन्ध्यावन्दनसे निवृत्त होकर दर्शन करनेके लिए मन्दिर जाया करते थे। मन्दिरमें वे बहुत कम समय लगाते थे। वहाँसे दुकानपर लौटकर विद्यार्थियोंको पढ़ाया करते थे।

एक दिन गुरुजीको मन्दिरमें अपेक्षाकृत बहुत अधिक समय लग गया। दुकानपर पं० खूबचन्दजी पढ़नेके लिए गुरुजीकी प्रतीक्षामें बैठे हुए थे। जब गुरुजी वापिस दुकानपर आये तब वे अत्यन्त प्रसन्न मुद्रामें थे। पं० खूबचन्दजीने गुरुजीसे पूछा कि पण्डितजी, आज मन्दिरमें इतनी देर कैसे लगी? गुरुजीने अत्यन्त सरल भावसे प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'आज मुझे दर्शन करते हुए अभूतपूर्व आनन्द आया। मूर्ति हँसती हुई-सी मालूम पड़ी। मैं घ्यानमग्न वहीं खड़ा रहा, मुझसे कोई स्तुति तक नहीं बोली जा रही थी। मैं एकटक मूर्तिकी तरफ देखता रहा। सो खूबा! मुझे तो विश्वास है कि आज मुझे सम्यग्दर्शन पैदा होगया है; क्योंकि ऐसा अभूतपूर्व आनन्द पहले मेरे अनुभवमें कभी नहीं आया।'

गुरु शिष्यके इस संवादको एक कवि (संभवत: झालरापाटन निवासी पं० गिरधर शर्माजी) ने कविताबद्ध किया था। वह भी मुझे पूरी तरह याद नही रहा है, केवल डेढ़ पंक्ति ही याद है जो इस प्रकार है—

गोपाल बुधने कह्यो, रे रे खूबा! विमल मोहि सम्यक्त्व उपज्यो।

कितनी सरल प्रकृति थी गुरु गोपालदासजी की!

## आदत या स्वभाव

वैसे तो पूज्य गुरुजीमें अनेक अनुकरणीय गुण थे परन्तु एक विशेष रूपसे उल्लेखनीय गुण यह था कि शास्त्र प्रवचनके समय यदि उनको किसी प्रश्नका शास्त्रीय प्रमाण सहित उत्तर नही सूझता था तो वे बड़ी सरलतासे कह दिया करते थे कि इसका उत्तर मै नहीं दे सकता। किन्तु गुरुजी प्रश्नोंका स्वागत करते थे और उनका शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ पूरा और सही समाधान किया करते थे।

जब कभी गुरुजी अपने गार्हस्थ्य जीवनमे खिन्न हो जाया करते थे तब वे या तो शतरंज खेलना शुरू कर दिया करते थे या किसी विद्यार्थीको बुलाकर उसे पढाना शुरू कर दिया करते थे। वे शतरंज या तो ला० मनीरामजीके साथ खेला करते थे या ला० रामकुमारजी मैनेजरके साथ। ये दोनो ही गुरुजीके अभिन्न हृदय मित्र थे।

## मनपसन्द भोजन

गुरुजी कुछ गिनी चुनी ही तरकारियाँ खाया करते थे। उनका सबसे अधिक प्रिय शाक था नीबू और हरीमिर्च। गुरुजीके कुछ शिष्य माजीके कटु स्वभावकी आलोचना किया करते थे, परन्तु वे हमेशा ही गुरुजीके मनपसन्द भोजन बनानेमें इतनी सिद्धहस्त थी कि गुरुजीको अन्य किसीके भी हाथका बना भोजन पसन्द नही आता था। यदि कभी मोरेनामें हरीमिर्च और नीबू नही मिलते थे तो माँजी आगरा आने-जाने वाले किसी व्यक्तिसे मंगा ही लिया करती थी।

## कुछ क्रान्तिकारी विचार

(१) गुरुजीका अभिमत था कि कोई भी कही भी दस्सा शुद्ध समझा जा सकता है, यदि उसके कुटुम्बमे ५ या ७ पीढ़ीसे शुद्धाचरण चला आ रहा है। पूजन प्रक्षालके अधिकार उसको वैसे ही प्राप्त हो जाते है जैसे कि बीसाओंको। यह बात खतौलीके प्रसिद्ध दस्सा बीसा केसमे स्पष्ट हो गई थी। उनके इस अभिमतमे अंत समय तक कोई परिवर्तन नही हुआ था।

(२) प्रत्येक वयोवृद्ध जैनको मालूम होगा कि करीब ४०, ५० वर्ष पहिले तक किसी भी जैनका कुछ निश्चित जैन जातियोंके साथ ही (कच्ची) रोटीका व्यवहार होता था, सभीके साथ नही। गुरुजीका अभिमत था कि वे किसी भी जातिके दिगम्बर जैनके चौकेमे भोजन कर सकते है, बशर्ते कि उसके यहाँ सर्वथा शुद्ध भोजन बना हो। वे और उनके सभी शिष्य उनके इस अभिमतका हमेशा पालन करते रहे और कर रहे है।

(३) यदि हम किसी ऐसे स्थान पर पहुँच गये हैं जहाँ जैन मन्दिर नही है और बगैर देवदर्शन और पूजन किये भोजन न करनेका हमारा नियम है तो वहाँ हम किसी भी चावल आदि वस्तुमे किसी तीर्थंकरकी अतदाकार स्थापना करके दर्शन पूजन कर सकते हैं और भोजन कर सकते हैं। ऐसा करने पर हमारा नियम भग नही होगा। ऐसा उनका मत था।

●

# गुरु विषयक संस्मरण

श्री पं० जमुनाप्रसाद जैन, पनागर

## गुण ग्राहक

एक बार भारत महामंडलके विद्वान् उपदेशक मोरेना आये हुए थे। वे अचानक 'जैनसिद्धान्त विद्यालय' मे आये और पूज्य गुरुवर्यसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना पहला व्याख्यान विद्यालयमे रखा। रात्रिको ८ बजेसे व्याख्यान था। जैन व जैनेतर समाजमें सूचना भिजवाई गई। बाजारमे चाहे इतनी भीड़ न होती, परन्तु विद्यालय एवं गुरुजीके कारण संस्थामें अत्यधिक जनता एकत्रित हुई। ठीक ८ बजे व्याख्यान शुरु हुआ। उपदेशक महोदयका नाम तो स्मरण नहीं है, किन्तु वे ब्राह्मण थे और उम्र लगभग ३५ वर्षकी थी। हमने उस समय तथा आज तक ऐसे व्याख्यान नहीं सुने, जिनके करुणारस पर बिना रोये एक भी व्यक्ति बचा हो, वीर रसके व्याख्यान पर शांतिपूर्वक बैठा रहा हो और हास्यरस पर बिना हँसे रह गया हो। अतएव १२ बजे तक सब मंत्रमुग्धसे बैठे रहे। गुरुजी अपने मुख्य शिष्यों सहित अन्त समय तक रहे और इतने प्रसन्न हुए कि स्वयं उनका परिचय देने खड़े हो गये। इस प्रकार गुरुजीने ५ दिन तक संस्थामें व्याख्यान कराया और अपने शिष्योंमें, जिनमें श्री पं० माणिकचन्दजी, पं० बंशीधरजी, पं० देवकीनन्दनजी और पं० मक्खनलालजी प्रमुख थे, उक्त प्रकार व्याख्यान देनेकी प्रेरणा की। इसके सिवाय अन्यत्र भी उन्होंने लगभग २२ दिन तक व्याख्यान कराए और प्रतिदिन शिष्योंको लेकर व्याख्यान सभामें जाते थे। करीब १ माह बाद जब उपदेशक महोदय जाने लगे तब गुरुजीसे मिलने आये और कहा, आज जाना चाहते हैं। गुरुजी पहले ही पूछ बैठे, आखिर १ माह आपने उपदेश दिया, लोगोंने आपकी क्या इज्जत की? आपकी संस्था को क्या सहायता पहुँचाई? उन्होंने कहा कि मुझे तो माँगना नहीं आता। मेरे व्याख्यानोंमें आप कभी कोई अपील नहीं पायेंगे। तब गुरुजीसे न रहा गया, बोले—आज आपका व्याख्यान होना चाहिये। उस दिन अन्तिम व्याख्यान हुआ। गुरुजी अपनी शिष्य-मण्डली सहित पहुँच गये थे। व्याख्यान के बाद गुरुजीने खड़े होकर भारत-महामण्डलका परिचय दिया तथा दोहा द्वारा जनताके सामने अपील की—

**मर जाऊँ मांगू नहीं, अपने तनके काज।**
**परोपकारके कारने, नेक न आवे लाज॥**

तुरन्त ही गुरुजीके प्रभावसे थोड़े समयमें १३००) रु० एकत्र हो गया।

दूसरे दिन उक्त उपदेशक महोदय संस्थामें पधारे, और गुरुजीके चरणस्पर्श कर बोले—महाराज! हमें तो आज तक ऐसा कोई सत्पुरुष नहीं मिला और न इतनी रकम ही कहींसे प्राप्त हुई, इतना कहकर पण्डितजीका आभार मानते हुए अन्यत्र चले गये।

## संस्थाके प्रति प्रेम

पूज्य बाबा ठाकुरदासजी विद्यालयकी एक कोठरीमें रहा करते थे। बड़े सरल स्वभावके थे। प्रातःकाल वे 'भक्तामरस्तोत्र' का पाठ जोर-जोरसे किया करते थे तथा गुरुजीके पास कुछ अध्ययन भी किया करते थे। गुरुजीका और उनका विशेष स्नेह था। यद्यपि बाबाजी ज्ञानशून्य थे तथापि चारित्रके कारण गुरुजीकी उनमें श्रद्धा थी। वे एक बार बीमार हुए। गुरुजी देखने गए और बोले, बाबाजी! अगर आप स्वर्ग पधारो तो देव पर्यायसे संस्थाकी सहायता करना। उसी समय बाबाजी बोले, और आप भी देव होओ तो इसकी रक्षा करना। कहनेका तात्पर्य यह है कि पूज्य गुरुवर्यको संस्थाके प्रति बड़ा स्नेह था।

## सहनशील

एक बार संस्थाके बालकोंके लिए वक्त जरूरत पर बीमार होने या अन्य किसी कारणवश एक शौचालय बनाया जा रहा था, और गुरुजी सशंकित थे। तब जैन समाजके कई व्यक्ति आए और ऐड़ी-चोटीका पसीना एक करने

लगे। लेकिन ज्यों ही आधी समाजके व्यक्ति सहायतार्थ आगे आये तो विरोधी लोग गुरुजीको गाली वगैरह बकने लगे। हम लोगोंको बुरा लगा तो हमने गुरुजीसे कहा कि हमसे तो नहीं देखा जाता, हमतो बदला लेना चाहते हैं। गुरुजीने उत्तर दिया—अरे भाई, कोई गधा अपनेको लात मार दे तो क्या अपन भी वैसे ही हो जायँ, इतना कहकर हँसते हुए हमलोगोंको शान्त कर दिया।

## सुधारक

मोरेनामे शौचके लिये बाहिर कुछ दूर चनोंके खेतोंमें जाना पड़ता था। एक दिन चार-पाँच लड़के चनोंके पेड़ उखाड़ लाये। गुरुजीको पता लग गया। उस दिन उन्होंने भोजन भी नहीं किया। हम लोगोंको मालूम पड़ा तो हम घर पहुँचे, बहुत कुछ कहा सुना परन्तु उन्हे तो कुछ सुहाता नहीं था, बोले—ऐसा तो ये घर पर सीख लेते, फिर इन्हे संस्थामे आनेकी क्या आवश्यकता थी? और ऐसी संस्था किस कामकी जिसमें आकर लडके चोरी करना सीखें और दूसरोंको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करें। इतना कहते २ उनकी आखें गीली हो गई। हम लोगोंको बड़ा दुःख हुआ। तब उन्होंने कहा, सभा करो। सभा हुई। उन बालकों पर क्या बीती, ये तो वही जानें, किन्तु इसके बाद सबोंने प्रतिज्ञा करली कि वे भविष्यमें कभी चोरी नहीं करेंगे। तब भोजन शाम को किया।

## ईमानदार

एक बार गुरुजी खंडुआके निमंत्रण पर जा रहे थे। स्टेशन पर हम लोग भेजने गये। गुरुजीने कहा—सामान तुलवा लो, ज्यादा हो तो लगेज करा लो। सामान तौला गया, (उस समय १५ सेर थर्ड क्लासमे जाता था) सत्रह सेर निकला तो बाबू बोला—ठीक है, लगेजकी आवश्यकता नही है। गाडी आ गई, सामान रख दिया। गुरुजी बैठ गये, पूछा—लगेजमें क्या लगा। हमने कहा कि कुछ नही। बोले, कितना सामान था? कहा कि १७ सेर। तब गुरुजी बोले—१५ सेरका नियम है, दो सेरका लगेज क्यों नहीं कराया? तत्काल गाडीसे उतर पडे, सीधे बाबूके पास पहुँचे और बोले—आपने लगेज क्यो नहीं किया? वह कहने लगा—पंडितजी १७ सेर है, इतना तो जा सकता है। गुरुजी बोले, आप भी चोर बनते है और हमे भी उपदेश देते है, यह ठीक नहीं। आप रेल्वेके साथ बेईमानी करते है। इतनेमे गाड़ीने सीटी दे दी। तो आपने तुरन्त भोजनका डब्बा जिसका वजन करीब २॥ सेर होगा, निकालकर हम लोगोंको वापिस कर दिया।

## शांतिप्रिय

एक बार श्रीमान् डायरेक्टर सा० शिक्षा विभाग, ग्वालियर (एच० एम० बुल) जो अंग्रेज थे और जिन्हों-को गुरुजीने जबर्दस्ती संस्थाके मुलाहिजेके वास्ते गाडीसे उतार लिया था, संस्थाका मुलाहिजा कर रहे थे। करीब ४ घण्टे तक बहुत बारीकीके साथ उसका अवलोकन किया। तब बहुत प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन्होंने सम्मति बुक में अपना मत दिया तथा संस्थाको ३०) हिन्दी विभाग और ३०) संस्कृत विभागके लिये सरकारी सहायता देनेकी स्वीकृति प्रदान की। उनके मुलाहिजेके समय पिछवाड़े तरफसे बड़बड़ाती हुई श्रीमती माँजी चली आ रही थी—मुझे मालूम हुआ, मै हाथका रजिस्टर टेबिल पर रख भागा और संस्थाके गैलारेमें जाकर अपनी टोपी उतारकर उनके चरणोंमे रखदी और प्रार्थना की, माताजी! डायरेक्टर सा० मुलाहिजा कर रहे है। अभी थोड़ी देरमें साहिबके चले जाने पर पंडितजीको हम लिवाये लाते हैं। बोली कि साहेबके बापके नौकर है क्या? तब हमने पुनः प्रार्थना की, माँजी! नौकर तो नहीं है, आखिर कोई पाहुना आवे और कुछ जानना चाहे तो उसे बताना चाहिये। तब कहीं मुश्किलसे यह कहती हुई गई कि अगर आध घंटेमें नहीं आयेंगे तो हम रसोई घर बंद करके चले जायेंगे। साहिबका मुलाहिजा करीब ३ बजे खत्म हुआ। हम लोग साहिबको भेजने स्टेशन गए। वहाँसे लौटकर घर आये तो दरवाजा बन्द था। तब वापिस आकर संस्थामे भोजन बनवाया, करीब ४॥ बजे भोजन मिला। हम लोगोंने बड़ा पश्चाताप किया और गुरुजीसे पूछा कि आपको तो बडा खराब सत्संग मिला है। तब गुरुजी हँसकर बोले भाई! यदि ऐसा सत्संग न मिलता तो यह संस्था न बन पाती। इन्हीं (मातेश्वरी और चि० माणिकचन्द) का संयोग ही संस्थाकी उन्नति का मूल कारण है।

## निस्पृह

गुरुजीकी आढतकी दुकान थी। उसमें श्रीमान् पं० बलदेवप्रसादजीके चिरंजीव प्रेमराज कार्य करते थे। उस सस्ते जमानेमे वे ५०) वेतन लेते थे। एक बार किसीने उनसे कहा कि तुम वहाँ क्या करते हो। हमारे यहाँ आ जाओ, हम ८०) माहवार देंगे। उन्होंने गुरुजीसे यह जिक्र किया तो गुरुजी बोले, भाई। तू तो मालिक है। दूसरी जगह कहाँ

नौकरी करने जायगा ? अच्छा, तू मुझे ही ६०) मासिक देता जा और शेष सब आमदनी तेरी है, अब और क्या चाहता है। बस, प्रेमराजजीको नीचा मुँह करके रह जाना पड़ा और बहुत शर्मिंदा हुए।

## पुरुषार्थी

गुरुजीको एकबार अजमेरका निमंत्रण आया। उस समय वे बीमार थे, पूरे बैठ भी नहीं सकते थे। गला बैठा था, बोलनेमें श्वांस चलने लगती थी। खड़े होकर व्याख्यान देना दुर्लभ था परन्तु धुनके पक्के थे। अस्वस्थ होने पर भी जाना अवश्य था। अतएव दो-एक शिष्य साथ लेकर गये। वहाँ पहुँचने पर लोगोंने देखा तो कहा, इनको तो व्यर्थ कष्ट दिया। सभामें व्याख्यान शुरू हुए। अब गुरुजीका नम्बर आया तो सेठ साहिबने एक टेबिल रखवाकर उस पर बिठाल दिया ताकि ऊँचाई होनेसे सबको सुनाई देवे। उस समय लाउड स्पीकर नहीं थे, अतएव बोलना शुरू किया। मुँहसे आवाज भी नहीं निकलती थी, परन्तु सौभाग्यसे दो तीन मिनटके बाद ही अपने आप आवाज खुल गई और टेबिलके इस सिरेसे जोशमें सरकते-सरकते आगेकी तरफ पहुँच गये। उनकी व्याख्यान देनेकी शैली निराली थी। बहुत जोरकी आवाज निकलने लगी। तब सबको अचम्भा हुआ। इसके बाद कई आर्य समाजियोंने कुछ प्रश्न करना शुरू किए। गुरुजीने हर एकका उत्तर इस प्रकार दिया कि उन्हें संतोष हो गया और सबने गुरुजीको नतमस्तक होकर विदा ली।

वापिस आने पर हमने पूछा, गुरुजी ! जब स्वास्थ्य अच्छा नहीं तब आप क्यों जाते हैं ? वे बोले—अरे भाई ! 'युद्धमें सूरोंको और जुआमें जुआरियोंको निमंत्रण आने पर जैसे वे नहीं रुक सकते, ऐसे ही जो विद्वान् होगा उसे सभाका निमंत्रण आने पर अपने आप जाना पड़ता है, चाहे वह मरता ही क्यों न हो ?
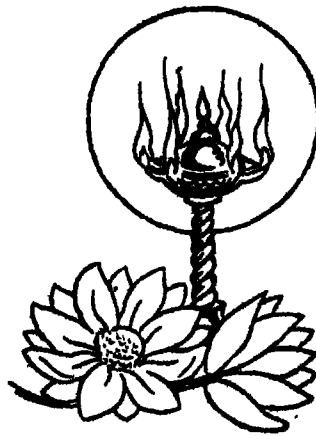
# दो सुविख्यात संस्मरण

श्री सिंघई मौजीलालजी जैन, जबलपुर

●

पण्डित गोपालदासजी अपने समयके जैनधर्मके प्रसिद्ध सैद्धान्तिक विद्वान् थे, और विद्वान् ही नहीं, आप शुद्ध आचरणके पूर्ण पालक भी थे।

मेरा प्रथम परिचय आपसे सन् १९०३ के लगभग हुआ, जब मै 'बम्बई प्रान्तिक सभा' तथा 'जैनमित्र आफिस बम्बई' में मैनेजर होकर गया और पं० नाथूरामजी प्रेमीसे चार्ज लिया। उस समय पंडितजी उक्त सभाके महामन्त्री तथा 'जैनमित्र' के सम्पादक थे, और मोरेनामे आकलूज निवासी श्रीयुत नाथारंगजीकी साझेदारीमे रुई, गल्ले आदिका व्यापार करते थे। आपके पत्र तथा जैनमित्रके लिए सम्पादकीय लेख मुझे प्राप्त होते थे, जब कभी बम्बई आते तब आपके दर्शन हो जाते थे।

## नियमोंकी पाबन्दी

सन् १९०५ के लगभग सेठ नाथारंगजी गांधीने अपने निवासस्थानमें एक प्रतिष्ठाका आयोजन किया, जिसमें बम्बई प्रान्तिक सभाका जल्सा भी था। अतएव पण्डितजी मोरेनासे बम्बई आये और 'सभा' के मुख्य कार्यकर्त्ता होनेके नाते मुझे भी वहाँ अपने दफ्तरके साथ रेलगाडीमे जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री सूरचन्दजी गांधी उस समय लगभग ढाई सेर शुद्ध देशी शक्कर लेकर स्टेशन पर आये और पण्डितजीको देते हुए कहा—आकलूज भेजना है, आपके साथ चली जायगी। पण्डितजीने तत्काल ले जानेसे इन्कार किया और स्पष्ट कह दिया—रेलवे एक आदमीको १५ सेर सामान ले जाने की इजाजत देती है, मेरा सामान १५ सेर है, अधिक वजन अपने साथ नही ले जा सकता। विवश होकर सूरचन्दजीने अन्य जानेवालोके साथ वह (शक्कर) भेजी। मै उसी रेलके डब्बेमे बैठा हुआ उनकी बाते सुन रहा था। पण्डितजीकी इतनी कट्टरता जानकर दंग रह गया।

मेरे आश्चर्यका ठिकाना उस समय न रहा जब मैने यह देखा कि वह अपने समीप तौलनेवाला एक हुक्कदार काँटा भी रक्खे हुए है। इस सम्बन्धमे वे इतने कट्टर थे कि, जब कभी आप रेलमे यात्रा करते तो कभी १५ सेरसे अधिक सामान अपने साथ नही ले जाते थे।

## मेरा घनिष्ठ परिचय

कुछ दिनों बाद नासिकमे 'गजपंथा तीर्थ क्षेत्र' पर बम्बई प्रान्तिक सभाका वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति श्रीयुत ज्ञानचन्दजी (सुपुत्र राजा दीनदयाल, गवर्नमेन्ट फोटोग्राफर) थे। वहाँ पंडितजीकी सरलता, सभा-चातुर्य और विद्वत्तापूर्ण कार्यवाही देखकर मुग्ध हो गया, मनमे यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि अगर कोई मौका मिले तो पंडितजीके साथ कुछ दिन रहूँ।

सौभाग्यसे मोरेना और शोलापुरमे ३ वर्ष साथ रहनेका वह मौका भी मिल गया, जब मेरे सामने यह समस्या आई कि प्रान्तिक सभामे पंडितजीके पास एक आफिस रहे तथा बम्बईका आफिस भी कायम रहे। इसके लिए मैंने अपनी सेवा पंडितजीके साथ रहनेको निश्चित की और कम वेतन पर ही जाना स्वीकार किया। सेठ माणिकचन्दजी मुझे बम्बई ही रखना चाहते थे किन्तु मेरी इच्छानुसार श्री बुधमलजी पाटनी वहाँ रक्खे गये और मैं पंडितजीके पास मोरेना चला गया।

मोरेनाके अल्प समयके सहवाससे मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ, वह अद्वितीय तो था ही, साथ ही पंडितजीके साधारण रहन-सहन और आचरणका मुझपर गहरा प्रभाव पडा।

पंडितजी आगराके निवासी थे। उनका अध्ययन मैट्रिक तक ही सीमित था। पं० बल्देवदासजीके पास रहकर जैनधर्मका जो कुछ उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, उसे उन्होने स्वयं पल्लवित किया था।

स्व० पं० बल्देवदासजीके विषयमें क्या कहूँ, चेहरेकी आकृति गोल थी, भाषण संक्षिप्त किन्तु ललित और प्रेमपूर्ण भाषामें करते थे। जैन सिद्धान्तके अध्ययन करनेमें निरन्तर व्यस्त रहते थे, इसी कारण वे जैनधर्मके बहुत अच्छे ज्ञाता थे। वेश भूषा साधारण रखते थे। गोपालदासजीने प्राय: उन्हींका अनुकरण किया।

पं० गोपालदासजी, बरैया वंशोद्भूत थे। उनकी धर्मपत्नी उग्र स्वभावकी थी। उनके सुपुत्र भी पंडितपुत्र ही थे। पुत्रकी आँखमें शिकायत होनेके कारण एक आँख चली गई थी। पंडितजी घरू वातावरणमें सुखी नहीं थे। वे सुन समझ सब लेते, पर उन्हें कानसे कुछ कम सुनाई पड़ता था।

## किसानोंके साथ हमदर्दी

मोरेनामें कई दुकानें थीं। अन्य दुकानोंकी तरह उनकी दुकान पर भी गल्ले तथा रुईकी खरीद होती थी। बाजारमें किसान लोग गल्ला बेचने गाड़ियोंमें माल लाते थे। तराजूसे तुलैया लोग माल तौलते लेकिन दुकानदारको खुश करनेके लिए अक्सर बाजार धड़ा ४०॥ सेरका होने पर भी कोई २ तुलैया ४१ सेर और ४१॥ सेर तक तौल लिया करते थे। बेचारे गरीब किसान चिल्लाते किन्तु उनकी कोई सुनवाई नहीं होती थी।

पंडितजीने सब दुकानदारोंको एकत्र करके एक नियम बनाया—

'प्रत्येक व्यापारी धड़ा ( धारा )के अनुसार प्रत्येक बोरेमें १। सेर ( सवा सेर ) माल ले सकेगा और एक बोरे में १। सेरसे १॥ सेर तकका ठीक समझा जायेगा। परन्तु किसानकी उजरदारी होने पर माल कांटे पर तौला जायेगा, अगर बोरेका माल १॥ सेरसे ऊपर निकला तो वह बढ़ती और १॥ सेर तकका पूरा दाम दुकानदारको चुकाना होगा। अर्थात् १॥ सेरसे अधिक होने पर दुकानदार उस बढ़ती पानेका हक भी खो बैठता था। बाजारमें सब जगह यह ताकीद होनेके कारण किसान लोग बड़े प्रसन्न रहते थे। कभी-कभी झगड़ा होता तो मुझे ही जाँचके लिए जाना पड़ता था।

## रेलवेके साथ ईमानदारी

रेलवेसे माल बम्बई व दूसरी जगह जाता और माल बाबू अक्सर गल्ती कर बैठते थे। पंडितजी अपने पास टेरिफ गाइड रखते थे। अधिक रेटकी उजरदारी होनेपर वे कम रेट भी लगाते तो पंडितजी कम रेटवाली पर भी शिका-यत करते, किन्तु रुपये अधिक देते थे, जिसके कारण टेरिफ आफ़ीसर उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। पंडितजीके बावत रेलवे टेरिफ कमिश्नर इतनी अच्छी राय रखते कि उनकी उजरदारी पर पूर्ण ध्यान देते थे और कभी अदालतका मौका न आता था।

यहाँ तो मैंने १, २ उदाहरण ही दिए किन्तु उनके यशस्वी जीवनके ऐसे सैंकडों उदाहरण हैं।

खाने पहिननेके संबंधमें वे पूर्ण नियन्त्रण और स्वच्छताका ख्याल रखते थे। बाजारकी कभी कोई चीज खाते मैंने उन्हें नहीं देखा।

## 'स्याद्वाद' तथा 'सृष्टिकर्ता खंडन'

इन दोनों विषय पर आपका अत्युत्तम व्याख्यान होता था और बड़ी-बड़ी आम सभाओंमें दिया जाता था, जिसमें उपस्थित होकर आर्यसमाजी भाई अवश्य विरोध करते थे। कई बार तो बड़े-बड़े उत्कट आर्यसमाजी विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित शास्त्रार्थ भी हुए किन्तु पंडितजीके तर्कके आगे निरुत्तर हो गये।

बम्बई प्रान्तिक सभाकी स्थापनामें पंडितजीका प्रमुख हाथ रहा। कुछ दिनों बाद "जैनमित्र" मासिक पत्र चालू किया, जिसके सम्पादक स्वयं पंडितजी ही थे। उस समय सामाजिक झगड़े खूब चलते थे किन्तु पंडितजी बड़ी योग्यता-पूर्वक विरोध पक्षका उत्तर देते थे। उनका खास 'मोटो' था—"उन्नतिका मार्ग विरोध रूपी दाँतोंके अन्दरसे होता है।" अर्थात् जिस प्रकार जीभ, नुकीले और तीक्ष्ण दातोंके बीचमें होते हुए भी अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पादन करती है, तभी वह इतनी लचीली व नरम होती है। उसी तरह मनुष्यको भी अपने विरोधियोंके साथ युक्तिपूर्वक प्रेम और शान्तिसे बर्ताव करके अपना मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

पंडितजीका कहना था कि मैं बड़ोंसे आदरपूर्वक, छोटेसे प्यारपूर्वक तथा बराबरीवाले व्यक्तिसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करता हूँ। इसी तरह कड़ुवे और कट्टर पुरुषोंसे शांतिपूर्वक कोमल बर्ताव करके उन्हें अपने पक्षमें करता हूँ।

## प्रथम घटना

सन् १९०७ में मैं कलकत्ता चला आया। उसी वर्ष श्री सम्मेदशिखर पर सरकार सेनीटोरियम बनाना चाहती

थी, जहाँ इस कार्यके लिए एक 'पर्वत रक्षा कमेटी' कायम हुई। उसके मंत्री बाबू धन्नूलालजी अग्रवाल सालीसिटर 'मैनूयल एन्ड अग्रवाल सालीसिटर' प्रसिद्ध फर्मके मालिक थे।

लगभग १९०९-१० की बात है कि उनकी माताजीका स्वर्गवास हुआ। धन्नूलालजी अपनी माताके बड़े भक्त थे। उनका विचार हुआ कि तेरहींके अवसर पर एक दिन खाने पिलानेका कार्य ही नहीं कुछ विशेष कार्य भी हो। इस पर जैनाजैन समुदायमें विचार-विमर्श हुआ। कुछेकने राय दी कि उस दिन भोजके अतिरिक्त भिखारी लोगोंको खिलाने-पिलाने तथा उन्हें वस्त्रादि बांटनेकी व्यवस्था की जाय, लेकिन यह एक साधारण कार्य था। बाबूजीने मुझे बुलाकर पूछा। मैंने कहा कि ऐसे कार्य तो प्रायः सब ही करते है। इन कार्योंके अलावा अगर आपकी राय हो तो जैनधर्मके अच्छे-अच्छे विद्वान्-पंडितोंकी एक बृहत्सभा बुलाई जाय तथा जैन अजैन शिक्षा संस्थाओंको दान दिया जाय।

बा० धन्नूलालजीको यह बात पसन्द आई और अन्य लोगोंने भी अपनी सम्मति दी, पर इस कार्यकी पूर्ण जिम्मेदारी मेरे सुपुर्द कर दी गई। इसके खर्चके लिए प्रथम उन्होंने ५० हजार रु० तककी स्वीकृति प्रदान कर दी।

मैंने तत्काल भारतवर्षके बड़े-बड़े विद्वानोंको पत्र भेजे। उस समय बा० धन्नूलालजी कलकत्तेमें जोरासांकी चितपुर रोडमें रहते थे। मकानके सामने टैगोर फैमिलीके बड़े-बड़े मकान तथा एक बड़ा अहाता था। जगह बहुत अच्छी थी, सामने मैदानमें बगीचेके बीचों बीच एक बहुत बड़ा मंडप आलीशान बनकर तैयार हुआ, जिसमें १० हजार व्यक्तियों के बैठनेका प्रबन्ध था। जगह-जगह बिजलीकी रोशनी तथा पंखे फिटिंग किये गये। मुख्य मुख्य पंडितोंको आने-जानेका खर्च भेजा गया। चारों ओरसे लोगोंके आनेके समाचार भी प्राप्त हुए किन्तु गुरुवर्य पं० गोपालदासजीके समाचार इन्कारीके प्राप्त हुए। लोगोंको बड़ी निराशा हुई—विशेषरूपसे बा० धन्नूलालजी अत्यन्त दुखी हुए, जिसका खास कारण यह था कि कलकत्तेमें पंडितजीका कभी आना नहीं हुआ था। उस समय कलकत्तेका शिक्षित समुदाय उनके आनेके लिए तरस रहा था। वहांके धनी मानी व्यक्ति हमेशा पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकरको ही बुलाया करते थे, गोपालदासजीको नहीं। तथापि एक बात सर्वत्र प्रसिद्ध थी कि जैन सिद्धान्तके ज्ञाता पंडित गोपालदास ही है।

बा० धन्नूलालजी यह बात अच्छी तरह जानते थे। मुझसे बोले, मैंने तुम्हारी योजना इसीलिये स्वीकार की थी कि पंडितजी यहाँ जरूर आयेंगे और तुमने मुझे आश्वासन भी दिया था। बात यथार्थ थी। मैं तुरन्त वहाँका कार्य दूसरे लोगोंके सुपुर्द करके रातको पंजाब मेलसे रवाना हुआ और लगभग ३ बजे मोरेना पहुँचा।

पंडितजीसे कोई बात तो नहीं हुई पर उन्होंने मुझे देखभर जरूर लिया और समझ भी गये। मैंने उसी समय स्नान किया, थोडी देर बाद पंडितानीजीका बुलौआ आया और यही मैं भी चाहता था। इसका कारण यह था कि जब मैं मोरेना रहता था तब पंडितानीजी मुझसे बहुत प्रसन्न रहती थी। कभी-कभी तो पंडित और पंडितानीके वैमनस्यमें, मैं ही बीचमें पड़कर पंडितानीका पक्ष लेता था। मैं यह भी जानता था कि पंडितानीको राजी करना मेरे बाएँ हाथका खेल है, और जहाँ पंडितानीको एक बार राजी किया तो पंडितजीको जाना ही पड़ेगा, वर्ना यह घर झगड़ा महीनोंके लिए चालू हो जायगा।

पंडितानीजीने ताजा परायठे बनाये और मैंने खाये। अपनी बातोंमें उन्हें कलकत्ते जानेके लिए तयार कर चुपचाप वहाँसे "जैन सिद्धान्त पाठशाला" चला आया, जहाँ पं० नाथूराम प्रेमी और रामेश्वरानंद वैद्य, जो बम्बईसे आये हुए थे, मिले।

शामको प्रायः प्रेमीजी और वैद्यजी तथा अन्य लोगोंकी घंटे-घंटे बैठक होती थी। मैं इन लोगोंसे दूर अलग बैठ गया, वहाँ यही बात चली। पंडितजीने कहा, मैं जरूर जाता पर इस समय कमसे कम १॥ लाख रुपयेकी रुई ( कपास ) घरमें पड़ी है, ऐसे समय मेरा मोरेना छोड़ना ठीक नहीं। सेठ रामचन्द नाथाभाई क्या कहेंगे आदि।

मुझे पास बुलाया। मुझसे वैद्यराजने पंडितजीकी पूरी-पूरी दिक्कतें सुनाई। मैंने कहा, इसका प्रबन्ध तो सीधा है। मैं अपनी तरफसे एक तार बम्बई भेज देता हूं, अगर वहाँसे कोई प्रबन्ध हो जाय और उनकी सम्मति आजाय तब तो पंडितजीको कोई आपत्ति नहीं होगी।

पंडितजीने स्वीकृति दे दी। उसी समय बम्बई एक तार भेजा। सुबह बम्बईसे जबाब आया कि सूरचन्द भाई यहाँसे पंजाब मेलसे रवाना हो गये है।

पंडितजीकी तैयारियाँ होने लगी। एक थर्ड क्लासका डब्बा रिजर्व करानेका तार दिया गया। सब मिलकर १२ आदमी रवाना हुए, जिनमें मुख्य पंडित माणिकचन्दजी भी थे। डब्बा कानपुर आया, रोका और सुबह कलकत्ता पहुँचा।

कलकत्तेमें पंडितजीके स्वागतके लिए ४०, ५० मोटरें तथा १५०, २०० अन्य गाड़ियाँ और हजारों आदमियों का समूह स्टेशन पर स्वागतके लिए पहुँचा। जुलूसका यह हाल था कि पंडितजीको बड़तल्लामें ठहराना था, जहाँ जुलूस पहुँच भी गया पर स्वागत समुदायका वहाँ अन्त नहीं आया।

## सृष्टिकर्त्ता-खंडन

दूसरे दिन रविवारको दिनके २ बजे जोरासांकोके मंडपमें पंडितजीका उपर्युक्त विषय पर व्याख्यान प्राचार्य गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके सभापतित्वमें हुआ, जिसमें कोर्टके जजों, वकील, बैरिस्टरों तथा पब्लिकका जबरदस्त जमाव था। पंडितजीने जैनग्रन्थोंका सहारा लिये बिना ही अन्य ग्रन्थों, वैज्ञानिक युक्तियों तथा तर्कों द्वारा संसारको स्वयमेव अनादिसिद्ध कर दिया। उपस्थित समाज शान्तिपूर्वक सुनती रही।

पंडितजीका व्याख्यान पूर्ण होने पर सर गुरुदास बनर्जी, एक्स जज हाइकोर्ट कलकत्तेका मार्मिक शब्दोंमें करीब आध घण्टे पं० गोपालदासजीकी विद्वत्ता आदि पर व्याख्यान हुआ।

आपने कहा—"आज प्रत्येक पुरुषको अपने विचार प्रगट करनेका पूर्ण अधिकार है, और पंडितजीने आज जिस तर्क, विज्ञान और हमारे प्रसिद्ध शास्त्रोंका प्रमाण देते हुए, सरल युक्तियोंसे सृष्टिकर्त्ताका खंडन किया है—मैं हिन्दू धर्म और बंगाल समाजकी ओरसे पंडितजीकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर धन्यवाद देता हूँ कि भारतमें ऐसे २ विद्वान् मौजूद हैं, जो हमारे विरुद्ध बोलें और हम उनका स्वागत करें। पहले मुझे भी आपके भाषणसे 'सृष्टिकर्त्ता खंडन' का विषय विपरीत होते हुए क्रोध तक पैदा हुआ, और यही नहीं जज होनेके नाते ऐसे भाव पैदा हुए कि ऐसे व्यक्तिको गोलीसे उड़ा देना चाहिए, परन्तु उनके प्रत्यक्ष युक्ति, तर्क और प्रमाणने हमें न केवल शान्त ही किया वरन् विवश होकर उनको धन्यवाद देनेके लिए उठना पड़ा।

कई विद्वानोंने पंडितजीके व्याख्यानादिकी प्रशंसाकी और आर्यसमाजके विद्वानोंने कुछ शंकाएँ कर सभामें बोलने की अनुमति मांगी लेकिन सभापतिने उन्हें रोक दिया। उन्होंने कुछ प्रश्न करना चाहे तब सभापतिने घोषित किया कि 'चित्तपुररोड' जैन मन्दिरमें कल ३ बजे एक बैठक होगी, उसमें जो भाई चाहे अपने प्रश्न, शंकाएँ पेश करें उनका उत्तर दिया जायगा।

## शंका-समाधान

प्रातःकाल चित्तपुररोडके जैन मन्दिरमें जैन समुदाय एकत्र हुआ। जैनधर्मके विषयमें शंका समाधान हुए। यहाँ पर एक सुप्रसिद्ध पंडित अर्जुनलालजी थे, जो गोम्मटसारादि सिद्धान्तशास्त्रोंके अच्छे ज्ञाता माने जाते थे, करीब ७०, ७५ वर्षके पुराने विद्वान् थे। उन्होंने पंडितजीसे लगभग आध-घंटे तक जैन सिद्धान्त विषयोंमें पूर्ण तर्क-वितर्क किये, और जहाँ-जहाँ जिन विषयोंमें उन्हें शंकाएँ हुईं वहाँ वहाँ पर पंडितजीने उसी समय जैनशास्त्रों द्वारा उनका समुचित समाधान किया। यहाँ एक बात प्रसिद्ध थी कि बड़े बड़े विद्वान् पंडितवर्ग कलकत्ता आते थे लेकिन पंडित अर्जुनलालजीका समाधान नहीं कर पाते थे, बल्कि कई बातोंमें तो उन्हें निरुत्तर पाते थे। किन्तु धन्य गुरु गोपालदासको, जिन्होंने उनको इतना प्रसन्न किया कि उपस्थित समुदायके सामने उन्हें यह कहनेके लिए बाध्य होना पड़ा कि पंडित गोपालदास जैन सिद्धान्तके अद्वितीय उत्तम और अच्छे ज्ञाता हैं। दूसरे दिन उन्होंने अपने घर निमन्त्रण कर उन्हें भोजन कराये।

उस दिन सभीके सज्जनोचित प्रश्नोत्तर हुए, उनमें सभी धर्मके विद्वान् उपस्थित थे। अन्तमें श्रीयुत डा० सतीशचन्द विद्याभूषणने एक प्रश्न किया।

"जैन सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक जीवोंमें भूत, भविष्य और वर्तमान परिवर्तन होता है,. तब मोक्ष प्राप्त करने-वाली शुद्धात्मामें क्या परिवर्तन होगा, कारण वे निष्क्रिय हैं।"

पंडितजीने उत्तर दिया कि यहाँ निष्क्रियका मतलब कूटस्थ नहीं है। उनके ज्ञानमें भी संसार परिवर्तनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है और उसमें भूत, भविष्यत, वर्तमानका ज्ञानमें परिवर्तन ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है आदि। पंडितजीसे उन्होंने और भी तर्क-वितर्क किये जिससे डाक्टर सा० अत्यन्त प्रसन्न हुए।

## स्याद्वाद

तीसरे दिन एक सभा डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके सभापतित्वमें और हुई, जिसमें उपस्थित समुदायके बीच पंडितजीका 'स्याद्वाद', विषय पर नोन, मिर्च, खटाई सरीखे सरल शब्दोंमें एक रोचक व्याख्यान हुआ, उस दिन पंडितजीको गवर्नमेन्ट कालेजकी ओरसे वहाँ पधारनेका निमंत्रण प्राप्त हुआ।

डा० सतीशचन्द्रजीको उनके घर पहुँचानेके लिए मुझे ही साथ जाना पड़ा। डाक्टर सा० ने पूछा कि यहाँके लोग पंडितजीको क्या बिदाई देते हैं और उनकी आजीविका आदिका क्या प्रबन्ध है? मैंने उत्तर दिया कि पं० गोपालदासजी स्वयं व्यापारी है और वे किसीसे एक पैसा सहायता नही लेते हैं। जैन समाज उनका सन्मान करता तथा उन्हें पदवी आदि देता है।

## 'न्यायवाचस्पति' से सम्मानित

पंडितजीका गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेजमें एक महत्वपूर्ण भाषण हुआ, जिसके फलस्वरूप वहाँके पंडितोंने पंडितजीको 'न्यायवाचस्पति' की पदवी प्रदान की।

उस समय पं० गोपालदासजीको पूर्ण सन्कारके साथ विदा किया गया।

## द्वितीय घटना

उत्तर प्रान्तके अग्रवाल समाजमें दस्सा और बीसाओंके बीच तीव्र मतभेद था। मतभेद यहाँ तक बढा कि मामला अदालत तक पहुँचा और गवाहीमें पं० गोपालदासजीको आमंत्रित किया। वहाँ उन्होंने कुछ ऐसी बातें बताईं जो शास्त्रोक्त तो ठीक थीं पर बीसा भाइयोंके खिलाफ गईं। इस पर बीसा समाज पंडितजीके प्रति असन्तुष्ट हो गया।

उसी समय भा० दिगम्बर जैन महासभाका वार्षिक अधिवेशन मुजफ्फरनगरमें होना निश्चित हुआ जिसके सभापति माननीय राय साहब द्वारकाप्रसाद इंजीनियर नियुक्त हुए।

पं० गोपालदासजी महासभाके विद्याखातेके मंत्री थे, वे भी अधिवेशनमें पहुँचे। दानवीर सेठ माणिकचन्दजीका भा० तीर्थक्षेत्र कमेटीके महामंत्रीके नाते उक्त अधिवेशनमे पहुँचना आवश्यक था पर उनकी तबियत अस्वस्थ थी। उस समय मै कलकत्तामे श्री सम्मेदसिखर पर्वत रक्षा कमेटीका दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रतिनिधि ( Representative ) मुकर्रर था और वहाँ रहता था। मुझे सेठजीने सूचना दी कि मैं मुजफ्फरनगर अधिवेशनमे जानेमें लाचार हूँ, आपके नामकी प्राक्सी ( Proxy ) भेज रहा हूँ, आप जरूर जावे। बम्बईसे आफिस तथा तीर्थक्षेत्र कमेटीके मैनेजर भेज दिये गये हैं।

अत: मुझे मुजफ्फरनगर जाना आवश्यक हुआ। इसके लिये मैने सेकेण्ड क्लास ( द्वितीय श्रेणी ) का एक बर्थ रिजर्व करा लिया। ठीक समयपर पंजाब मेलमे रवाना हुआ। रात्रिको आरामसे सोया प्रात:काल अपने नित्यकार्यमे निर्वृत्त हुआ। मझे सामने देखकर आगे बैठनेवाले सज्जनने पूछा—आप कहाँ तक जायेंगे? मैने उत्तर दिया—मुजफ्फरनगर जा रहा हूँ। फिर उन्होंने पूछा, क्या आप जैन हैं? मैने कहा, जी हाँ! मैं जैन हूँ। भा० दिगम्बर जैन महासभाके अधिवेशनमे जा रहा हूँ। तब उन्होंने कहा—मै भी वही जा रहा हूँ। मैंने नाम पूछा। तो उन्होने बतलाया—मेरा नाम द्वारकाप्रसाद है। मैने सोचा, शायद यही नाम पत्रोंमे पढा है। मैने कहा, तब तो आप बहुत अच्छे मिले। बडी खुशी हुई कि मैं राय ब० द्वारकाप्रसाद इन्जीनियर, एस० डी० ओ० सभापतिके साथ सफर कर रहा हूँ और आपका यहींसे स्वागत भी कर रहा हूँ। पश्चात् बहुत समय तक उनसे खूब वार्तालाप हुआ, बडा स्नेह-सा हो गया।

हम सकुशल मुजफ्फरनगर पहुँचे। सभापतिके साथ-साथ मार्गमे मेरा भी स्वागत हुआ, यही समझकर कि ये सभापतिके साथी है।

## वेदी-प्रतिष्ठा

मुजफ्फरनगरमे वेदी प्रतिष्ठाका आयोजन भी था। जैनोका अच्छा जनसमूह था। हजारों डेरे, तम्बू आदि लगे थे। बाजार भरा हुआ था। चूँकि मैं सेठ माणिकचन्दजी, बम्बईकी प्राक्सीसे आया था, अत: एक अच्छा तम्बू ठीक अधिवेशन मण्डपके साथ मिल गया। हमारे समीप ही दि० जैन महासभाके महामंत्री सेठ मोहनलाल खुरईवालोंका डेरा था, तथा वहीं पर बम्बईसे तीर्थक्षेत्र कमेटीके मैनेजर भी आ गये थे।

अधिवेशनके प्रथम आम जलसेमें देखा कि चारो ओर १००, १२५ लठैत खड़े हुए हैं, विशेष रूपसे अग्रवाल भाइयोका जबर्दस्त समूह ही दृष्टिगोचर होता था। उस दिन हमने समझा कि रईस लोगोंने आज अच्छा जमाव किया है।

## बहिष्कारका प्रस्ताव

थोड़ी देरमे सभापति राय सा० द्वारकाप्रसादजीने आसन ग्रहण किया, पश्चात् स्वागताध्यक्ष राय सा० लाला चमन्डीलालजीका स्वागत भाषण हुआ। तत्पश्चात् पं० कल्याणराय हकीमने खड़े होकर एक प्रस्ताव पेश किया—

"पं० गोपालदास बरैया, मुरैनानिवासीने एक गवाह् की हैसियतसे अग्रवाल दस्सा बीसाओंके मुकदमेमें अपने पूज्य तीर्थंकरोंको जार सन्तान निरूपित किया है अर्थात् उन्हें नीच कुलोत्पन्न कहा है, अतः ऐसे पंडितको इस सभा द्वारा विचारकर निम्न दंड दिये जाँय—

१. भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाके वे मंत्री और सभासद हैं, इसलिये महासभा से उनको अलग किया जाय।

२. यह् सभा उन्हें जातिसे च्युत कर देवे।

३. भारतकी जैन समाज उनकी शास्त्र वचनिकामें शामिल न हो और न उनकी सभामें व्याख्यान सुनने ही जावे, आदि।"

यह् प्रस्ताव नियमानुसार कल पहले दिन सबजेक्ट कमेटीमें नहीं रखा गया था और यह् साधारण नियम है कि इसे आम सभामें बिना उक्त कमेटीकी स्वीकृति लिये पेश नहीं किया जा सकता था।

पं० गोपालदासजी और उनके साथी श्री जुगमंदरदास जैन, बार-एट ला, हाईकोर्ट जज इन्दौर और जैन यंगमैन एसोसियेशनके सदस्य आदि तो सभाकी यह् अनियमित कार्यवाही तथा वातावरण देख धीरे-धीरे उठकर चले गये।

सभामें कोई भी जैन भाई उस प्रस्तावके विरोधमें बोलनेकी हिम्मत नहीं कर सका। उस समय मैंने निश्चय किया कि यहाँ युक्तिपूर्वक कार्य करना चाहिये, और तब मैंने उठकर कहा—

पं० कल्याणराय हकीमने जो यह प्रस्ताव रखा है उसके समर्थनके लिये कोई महाशय नहीं बोलते और न कोई विरोधमें ही बोल रहा है। अस्तु, मैं प्रस्तुत प्रस्तावका समर्थन करता हुआ सभापति महोदय से प्रार्थना करूँगा कि वे कृपाकर इस प्रस्तावको पास करनेके पहले महासभाके निम्नांकित नियम और वैधानिकतापर विचार करते हुए कार्य करें।

( १ ) क्या प्रस्तावक महोदय बिना सब्जेक्ट कमेटीमें पास किये इस प्रस्तावको आम जल्सेमें पेश कर सकते है। तथा सभापति महोदय पास कर सकते है ?

( २ ) यह सभा समस्त जैनमात्र की है तथा जिसमें भारतकी अनेक दिगम्बर जातियाँ है। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या इस महासभाको किसी जातिके विरुद्ध कोई प्रस्ताव पास करनेका अधिकार है, जबकि दक्खिनमें जैन सेतवाल, कासार, चतुर्थ, पंचम आदि भी है और जिनकी कई जातियोंमें विधवा विवाह शामिल है।

( ३ ) क्या दि० जैन महासभाकी नियमावलीमें यह् विधान नहीं है कि जो सभासद ३ वर्ष लगातार सभासद शुल्क ( फीस ) न देवे और इतने ही समयतक सभाके अधिवेशनमें उपस्थित भी न हो, ऐसे सभासद महासभासे अलग किये जायँ। तब पं० गोपालदाजीको यह महासभा कैसे और किस अधिकारसे अलग कर सकती है, जिनका वार्षिक शुल्क भी बकाया नही है और जो हर अधिवेशनमे मुख्य भाग लेते हैं।

अन्तमें, मैं यह भी सूचित कर देना चाहता हूँ कि महासभाकी कुल कार्यवाही और प्रस्ताव आदि भारतके अनेक पत्रोंमें प्रकाशित होते हैं। अगर सभाकी नियम विरुद्ध कार्यवाहीपर कोई टीका टिप्पणी करेगा तो इस बदनामीकी जिम्मेवारी हमारे एक विद्वान् सभापतिके ऊपर आवेगी। अतएव यह सूचना पेश कर आशा करता हूँ कि सभापति महोदय पूर्ण विचारके साथ अपने अधिकारकी रक्षा करेंगे।

तब सभापति महोदयने विचार कर निर्णय दिया कि यह प्रस्ताव विवादयुक्त है और इसका निर्णय प्रथम सब्जेक्ट कमेटीके आधीन है जिसका चुनाव इसी अधिवेशनने किया है। वही प्रस्तावका निर्णय कर आम सभामे उपस्थित कर सकती है, इसलिये आजकी आमसभामें इस ( प्रस्ताव ) पर कोई विचार नहीं किया जा सकता।

सभापति स्वयं अग्रवाल थे और अधिवेशनमें चारों ओरसे आये हुए अग्रवाल भाई ही अधिक थे पर किसी प्रकार उनपर दबाव नहीं डाला जा सका। उसी समय सभामें बड़ा हो-हल्ला मचा, चारों ओर उपस्थित समुदायने उपद्रव कर दिया कि तमाम जनता भाग खड़ी हुई। रायबहादुर मेजर घमन्डीलालजी, जो कदमें ठिगने थे—तत्काल प्रेसीडेण्टको कमरमें लपेट सभासे निकाल ले गये और मैं भी वहाँसे भागकर पासके अपने डेरेमें घुस गया।

उस दिन सभा नहीं हुई, दूसरे दिन यहाँ वहाँसे १००, १५० व्यक्तियोंने बैठकर नामचारके लिये कार्य किया तथा कुछ प्रस्ताव पास कर अधिवेशनको पूरा किया।

●

# मेरी तीर्थयात्रा

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, डालमियानगर

●

आर्यसमाजमे जो स्थान श्रद्धानन्द, रायजादा हंसराज और मुस्लिम कौममे सरसैयद अहमदका है, वही स्थान जैन समाजमें पं० गोपालदासजी वरैयाको प्राप्त है। जिस समय जैन समाज अपने धर्मसे अनभिज्ञ मिथ्यान्धकारमे फँसा हुआ था, उनके चारों ओर शिक्षा प्रसारका उज्जवल प्रकाश फैल रहा था, और उसकी चकाचौंधसे चुन्धिया कर इधर-उधर ठोकरें खारहा था, तभी उसके हाथमें धर्मज्ञानका दीपक देकर वरैयाजीने उसे यथार्थ मार्ग देखनेका अवसर दिया। आज जो जैन समाजमें सर्टीफिकेट शुदा विद्वत्वर्ग नजर आ रहा है, उसमें अधिकाश उनके शिष्यों और प्रशिष्योंका ही समूह है।

वरैयाजीका आविर्भाव होनेसे पूर्व भारतमें धर्मशिक्षा प्रसार और सम्प्रदाय संरक्षण की होड सी लगी हुई थी। आर्यसमाज समूचे भारतमे ही नही, अरब ईरानमे भी वैदिकधर्मका झण्डा फहरानेका मनसूबा डंकेकी चोट जाहिर कर रहा था; उसके गुरुकुल, महाविद्यालय, हाईस्कूल और कालेज पनवाडीकी दूकानकी तरह तीव्र गतिसे खुलते जा रहे थे। मसलमानोंके भी देवबन्दमे धार्मिक और अलीगढमे राज्य शिक्षा प्रणालीके केन्द्र खुल चुके थे। ईसाईयोंकी तो होड ही क्या, हर शहरमे मिशन शिक्षा केन्द्रोंका जाल-सा बिछ गया था। लाखोंकी संख्यामें धार्मिक ट्रैक्ट वितरित ही नही हो रहे थे, अपितु वपितस्मा दिया जा रहा था। केवल अभागा जैन समाज खिसियाना-सा अकर्मण्य बना अलग-अलग खडा था।

शायद अकलंक और समन्तभद्रकी आत्मा जैन समाजकी इस दयनीय स्थितिसे द्रवीभूत हो गई और उन्होंने अपना अलौकिक ज्ञान और शास्त्रार्थकी प्रतिभा देकर फिर एक बार जैनधर्मकी दुन्दुभि बजानेको इस कृशकाय सलोने व्यक्तिको उत्साहित किया।

वरैयाजीने जो अभूतपूर्व कार्य किया, भले ही हम काहिल शिष्यों द्वारा वह लिखा नही गया है, परन्तु उनके महत्त्वपूर्ण कार्यके साक्षी आज आचार्य, तीर्थ और शास्त्री पण्डितके रूपमे समाजमे सर्वत्र देखनेको मिलते है।

मेरे होश सम्हालने, तथा कार्यक्षेत्रमे आनेसे पूर्व ही वरैयाजी स्वर्गस्थ हो गये, न मैं उनके दर्शनोका ही पुण्य प्राप्त कर सका, न उनके सम्बन्धमे ही विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सका। उनके दर्शन न हुए तो न सही, उनकी कार्यस्थली मोरेनाकी रज ही किसी तरह मस्तकपर लगाऊँ, उनके समवयस्क और सहयोगियोसे उनके संस्मरण सुनकर कानोको तृप्त करूँ, ऐसी प्रबल इच्छा बनी रहती थी कि दिसम्बर १९४० मे परिषद्के कार्यकर्ताओंके साथ मोरेना जानेका अवसर भी प्राप्त हो गया। वरैयाजीके साझीदार ला० 'अयोध्याप्रसाद' तथा बा० नेमिचन्द वकील आदि १०, १२ बन्धुओंमे रातभर वरैयाजीके सम्बन्धमे कुरेद कुरेदकर बातें जाननेका प्रयत्न किया, किन्तु एक दो घटनाके सिवा कुछ नही मालूम हो सका। आज उन्ही स्मृतिकी धुँधली रेखाओंमेसे केवल एक घटना ही कागज पर अंकित करनेका प्रयास कर रहा हूँ।

ला० अयोध्याप्रसादजीके साझेमे मोरेनामे वरैयाजीकी आढतकी दूकान थी। लाला साहबका एक व्यक्तिसे लेन देनका झगड़ा चल रहा था। आखिर वह व्यक्ति तंग आकर बोला "आपके साझी वरैयाजी जो निर्णय देंगे, मुझे मंजूर होगा।" लालाजीने सुना तो बाछे खिल गई। मनकी मुराद छप्पर फाड़कर आई, परन्तु निर्णय अपने विपक्षमें सुना तो उसी तरह स्तब्ध रह गये, जिस तरह ऋद्धिधारी मुनिके हाथोंमें गरमागरम खीर परोसकर रत्नोंकी वारिश देखनेको बुढ़िया आतुरतापूर्वक आकाशकी ओर देखने लगी थी और वर्षा न होनेपर लुटी-सी खडी रह गई थी।

लाला साहबको वरैयाजीका यह व्यवहार पसन्द न आया। अपने होकर भी निर्णय शत्रु पक्षमें दिया, ऐसी तैसी इस न्याय प्रियता की। डायन भी अपना घर बख्स देती हैं, इनसे इतना भी न हुआ। हमें मालूम होता कि पंडित-जीके मनमे यह कालीस है तो हम क्यों इन्हे पंच स्वीकार करते। इससे तो अदालत ही ठीक थी, सौ फी सदी मुकदमा जीतनेका वकीलने विश्वास दिलाया था। वाह साहब, अच्छी इन्होंने आपसदारी निभाई। माना कि हमारी ज्यादती थी,

फिर भी क्या हुआ, आपसदारीके नाते भी तो हमारी टेक रखनी थी। अब पंडितजीने हमारा रत्तीभर लिहाज नहीं किया तो अब इनसे क्या साझेमें निभाव होगा। भई, ऐसे तोतेचश्मसे तो जुदा ही भले।

इसी तरहके विचारोंसे प्रेरित होकर लाला साहबने पंडितजीसे साझा बाँट लिया, बोलचाल बन्द कर दी। बरैयाजीसे किसीने इस आशा रहित निर्णयके सम्बन्धमे जिक्र किया तो बोले—"भाई, इष्टमित्रोंकी खातिर मैं अपने धर्मको तो नहीं बेचूँगा। अब मुझमें न्यायीकी स्थापना दोनों पक्षोंने कर दी तो फिर मैं अन्यायीका रूप क्यों धारण करता। मेरा धर्म मुझे न छोड़े, चाहे सारा संसार मुझे छोड़ दे, तो भी मुझे चिन्ता नहीं।"

लालाजीने मुझे स्वयं उक्त घटना सुनाई थी। फ़र्माते थे कि—"थोड़े दिन तो मुझे पण्डितजीके इस व्यवहारपर रोष-सा रहा, धीरे-धीरे मेरा मन मुझे ही धिक्कारने लगा और फिर उनकी इस न्यायप्रियता, सत्यवादिता, निष्पक्षता और नैतिकताके आगे मेरा सर झुक गया, श्रद्धा भक्तिसे हृदय भर गया और मैंने भूल स्वीकार करके उनसे क्षमा माँग ली। पण्डितजी तो मुझसे रुष्ट थे ही नहीं, मुझे ही मान हो गया था, अतः उन्होंने मेरी कौली भरली और फिर जीवनके अन्ततक हमारा स्नेह सम्बन्ध बना रहा।

मुझे जिस तरह और जिस भाषामे उक्त संस्मरण सुनाये गये थे, न वे अब पूरी तरह स्मरण ही रहे हैं और न उस तरह की भाषा ही व्यक्त कर सकता हूँ, फिर भी आज जो बैठे बिठाये याद आई तो लिखने बैठ गया।
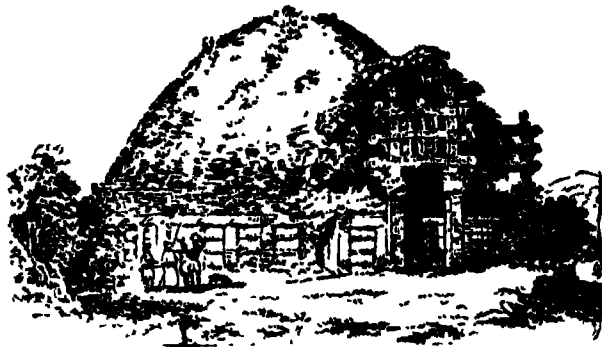
# कुछ उल्लेखनीय संस्मरण

न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री 'पाढ़मीय'
लाला भवन, जबलपुर

●

: १ :

मेरे पूज्य पिता श्रीमान् स्वर्गीय पंडित नेकीरामजी जैन शास्त्रीका अध्ययन महाविद्यालयमें हुआ था। उस समय विद्यालय मथुरामें था, और मंत्री थे स्वनाम धन्य गुरुवर्य श्री पं० गोपालदासजी वरैया। पिताजीके सहाध्यायियोंमें वर्तमानके पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी, श्री पं० बंशीधरजी, श्री स्व० पं० देवकीनन्दनजी, पं० अमोलकचन्दजी आदि थे।

उस समय मैंने अपने स्व० पूज्य पिताजीसे गुरुवर्य गोपालदासजीके विषयमें जो कुछ बचपनमें सुना था, उसे ही मैं यहाँ पर लेखनीबद्ध कर रहा हूँ। पिताजी उनके निकट सम्पर्कमें रहे थे, वे उनका बड़ा आदर करते थे, ऐसा उनके वार्तालाप एवं स्मृति आदिसे प्रतीत होता था।

उन्होंने बताया था कि गुरुजी सुधारक दलके नेतारूपमें माने जाते थे, किन्तु वे कुरीतियों (विधवा विवाहादि)के समर्थक नहीं थे। बड़े स्पष्टवादी थे। हाँ, लोग उनके नाम पर अपनी सुधारवादिता ( ! ) की पुष्टि अवश्य कर लिया करते थे।

: २ :

पिताजीने बताया था कि जब पं० गोपालदासजी बम्बईमें श्री पं० धन्नालालजी काशलीवालके सम्पर्कमें आकर व्यापारके साथ-साथ धार्मिक ग्रन्थोंका पारायण करने लगे तो वर्ष भरमें ही गोपालदासजीके दिमागमें वे युक्तियाँ उत्पन्न होने लगीं जो 'अष्टसहस्री' आदि ग्रन्थोंमें उल्लिखित थीं। उनकी तर्कशक्ति जैसे जैनागमकी शरण पाकर एकदम निशित धारवाली हो गई हो। उन्हें देखकर अनेकों व्यक्तियोंको विश्वास हो गया कि यह व्यक्ति प्रखर पांडित्यके द्वारा जैनधर्मका वास्तविक उद्योत करेगा।

: ३ :

गुरुजीके हृदयमें सेवा करनेकी निरपेक्ष वृत्ति थी। वे जैनधर्मका प्रचार करना चाहते थे। उनका विचार था कि मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न करके कतिपय जैनधर्म मर्मज्ञ विद्वान् तैयार कर जाऊँ। इसके लिए उन्होंने अस्वस्थ रहने पर भी, मोरेनामें अपना प्रयत्न चालू किया। समाजके माने गये विद्वान् न्यायालंकर पं० मक्खनलालजी शास्त्री, न्यायालंकार पं० बंशीधरजी शास्त्री इन दोनोको गुरुजीने अच्छा व्युत्पन्न कर दिया। अन्तमें इनको सुयोग्य देखकर भरी सभामें न्यायालंकार पदवीसे विभूषित भी किया। गुरुजीके प्रमुख शिष्योंमे पं० देवकीनन्दनजी व्याख्याख्यानवाचस्पतिका नाम भी उल्लेखनीय है। इन तीनों विद्वानोंने स्थायी रूपमे क्रमशः मोरेना, इन्दौर, कारंजामें रहकर सैकड़ों विद्वान् तैयार किये।

: ४ :

गुरुजीके विषयमें यह घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है कि एक बार गुरुआनीने अपने बच्चेके लिए एक काठका खिलौना उस बढ़ईसे बनवाया, जो विद्यालयके कामके लिए नियुक्त था। उसमें २ घंटे लगे। जब गुरुजीको यह मालूम हुआ तो उन्होंने तत्काल लकड़ीके मूल्य और बढ़ईके परिश्रमका हिसाब लगाकर ५ पैसे विद्यालयमें जमा कर दिये।

इस तरह गुरुवर्य विद्यार्थियोंको पढ़ाते हुए भी निरपेक्ष वृत्ति रखते थे। यही कारण है कि उनके पढ़ाये हुए छात्र ठोस विद्वान् निकले, जो जैन समाजके कर्णधार कहे जाते है।

: ५ :

गुरुजीके विषयमें यह बात अत्यधिक प्रसिद्ध है कि दुर्भाग्य या सौभाग्यसे कैसे भी कहिये, गुरुआनी बड़ी तेज मिजाज थीं। वे अपशब्दों द्वारा गुरुजीको तिरस्कृत ही नहीं कर देती थीं, कभी कभी हाथ भी छोड़ बैठतीं थी।

गुरुजी अत्यन्त सरल शांत प्रकृति थे। जब कुछ लोग गुरुआनीको ठीक करनेकी सलाह देते तो गुरुजीका उत्तर होता था—भाई, यह तो मेरे परिणामोंकी परीक्षिका है। मुझमें कितना आत्मबल है, इस विषयकी यह यथावसर परीक्षा लेती रहती है। फिर मुझे इस पर क्रोध करनेका क्या अधिकार है, ऐसा करनेसे तो मैं परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जाऊँगा।

एक बार गुरुजी गोम्मटेश्वरकी वन्दनाको गये। गुरुआनी उस अनुपम मूर्तिके दर्शन करके ऐसी भक्ति विभोर हुईं कि साष्टांग नमस्कारके रूपमें आधा घंटे तक रही आईं।

गुरुजीको आभास हुआ कि शायद उसे बेहोशी आ गई है, इसलिये ठंडा पानी मंगाकर उसके चेहरे पर छिड़का, फिर भी वे तदवस्थ रहीं तो दुबारा अधिक पानी छिड़का।

इस पर वे झटपट तेजीसे उठीं और बोली—क्या होली मचा रखी है। मुझे आनन्दसे दर्शन भी नहीं करने देते।

गुरुजीको इस घटनासे प्रतीत हुआ कि काँटोंमें फूल भी रहते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके कठोर हृदयमें कहीं-कहीं मृदुता ( कोमलता ) भी छिपी रहती है। पत्थरमें भी दिल होता है। पत्थरका दिल ( कल्बुज हज ) बड़ा मुलायम होता है। अवसर पाकर उन्होंने अपनी शिष्य मंडलीके बीच इस घटनासे सबको अवगत कराया।

: ६ :

गुरुवर्य पारस थे, जिनके सम्पर्कमें आकर लोहा भी सुवर्ण बन जाता था। बरुआसागरका अत्यन्त उपद्रवी और उद्दंड कहलाने वाला देवकीनन्दन जब गुरुजीका अन्तेवासी बना तो बढ़ते-बढ़ते व्याख्यान वाचस्पति बन गया। इन पंडित देवकीनन्दनजीने बुन्देलखंडमें अनेकों सामाजिक स्थितियोंको सुधारनेके लिए अपनी दूरदर्शिता और सामयिक सूझबूझका अच्छा परिचय दिया।

गुरुजी कहा करते थे कि जैन समाजमे बड़े अच्छे मेधावी छात्र है, किन्तु उन्हें विकासका मौका नहीं मिल पाता। कई तो आर्थिक परिस्थितियोंके कारण और कई माता-पिताकी लापरवाहीके कारण या अर्थकरी राजविद्याकी ओर झुकावके कारण, अपना समुचित विकास नहीं कर पाते।

इसके लिए समाजको चाहिये कि वह भोजन, निवास, ग्रन्थ, विद्वान् आदि अन्यान्य आवश्यक बातोंकी धर्मार्थ पूरी सुव्यवस्था करके मेधावी छात्रोंको जैनधर्म या जैनसाहित्य पढ़नेके लिए प्रोत्साहित करे। इस युगमें तभी जैनधर्मका प्रचार संभव हो सकेगा।

: ७ :

गुरुजी अपनी स्पष्टवादिताके लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने अजमेर सिर्फ इसी वजहसे छोड़ा कि वे एक प्रमुख सेठकी इस नाराजीका शिकार बन गये कि पंडितजीने फर्स्ट क्लासके टिकट होने पर भी थोड़ेसे लगेजका किराया रेलवेको चुकाया, उसे बचानेकी कोशिश नहीं की।

कहते हैं संवत् १९५८ में बम्बईमें गुरुजी रूई और चांदीकी दलालीका काम करते थे। एक दुकानदारको उन्होंने ५० हजारकी रूई बेची। अनायास ही दूसरे दिनका भाव बहुत सस्ता हो गया, जिसमें उस दुकानको १० हजारका घाटा होने लगा। दुकानदार मामूली परिस्थितिका आदमी था। उसके प्राण संकटमें पड़ गये, उसके पास १० हजार तो क्या, १ हजार रुपये नुकसान चुकानेकी भी शक्ति नहीं थी।

उसने कहा—"पंडितजी! थोड़े दिनमें आपको घाटेकी सब रकम चुकता कर दूंगा, आप किसी तरहकी चिन्ता न करें।

कुछ दिन बाद उस दुकानदारने अपने मकान बेचनेकी चर्चा चलाई और कहने लगा 'पंडितजी! अच्छा हो आप मेरा मकान खरीद लें और अपना कर्जा चुका लें।

पंडितजी बोले—'तुम्हारे बच्चे दर-दर मारे-मारे फिरें और मैं तुम्हारा मकान ले लूं। मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता।' काश, तुम्हारी जगह मैं होता तो क्या करता, आप भी मेरे भाई है, तब क्या आपका घाटा मेरा घाटा नहीं है, मुझे न आपका घर चाहिये और न घाटेका रुपया ही चाहिये। मैं किसीका खून पीकर अपना पेट नहीं भरना चाहता।' आखिर वह नुकसान स्वयं सहन कर लिया और दलालीका काम छोड़कर आप मुरैना चले आये।

ऐसी ही घटनाओंके कारण आप सर्व प्रसिद्ध थे।

●

# गुरुवरका : एक संस्मरण

श्री दौलतराम मित्र, ४४ जूना पीठ, इन्दौर

●

वीर निर्वाण सम्वत् २४३९ अर्थात् ५३ वर्ष पूर्वकी बात है मेरे भाई केसरीमलजी और भौजाई पंडिता ज्ञानचन्द्रिका भूरी बाईजी श्रीमान् सरसेठ हुकुमचंदजीके घंटाघरके पीछेकी चालमें ठहरे हुए थे। मैं भी उस समय उनके पास था। पासकी ही कोठरीमें श्री पं० दरयावसिंहजी सोधिया ( उदासीन ) रहते थे। सोधियाजी उस समय सेठजीके घरानेमें अध्यापक जैसे थे।

उन दिनों भी पंडितोंमें दो पार्टियाँ थी, एक मुरैना पार्टी और दूसरी जैनगजट ( इतर ) पार्टी। पं० गोपालदासजी वरैया मुरेना पार्टीके प्रमुख थे।

दूसरी पार्टीकी मान्यता थी कि सप्त व्यसनका त्यागी ही जैन ( सम्यक्दृष्टि ) हो सकता है। और मुरैना पार्टीकी मान्यता थी कि जैन ( सम्यक्दृष्टि ) ही सप्त व्यसनका त्यागी हो सकता है। क्योंकि गोमटसार जीवकांड गाथा २९ के अनुसार त्रस हिंसाका अत्यागी भी जैन ( सम्यक्दृष्टि ) होता है।

इस विषयको लेकर एक दिन पं० दरयावसिंहजी सोधिया, अपनी कोठरीमें एक सज्जनके साथ चर्चा कर रहे थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है इस चर्चामें दूसरी पार्टीका नाम "घास पार्टी" और मुरैना पार्टीका नाम "मांसपार्टी" ऐसे नाम रखने पर भी विचार हो रहा था। मैं यह सब बातें सुन रहा था। किन्तु इसकी जानकारी मैंने किसीको नहीं दी थी। कुछ दिन बाद ही जैन गजटका चौंतीसवां अंक आया। उसमें पार्टियोंके उक्त नाम तो नहीं आये, किन्तु दो लेख अवश्य प्रकाशित हुए। एक लेख "शास्त्रीयचर्चा" शीर्षक था, जो प्रश्नोत्तरके रूपमें सोधियाजीके नामसे प्रकाशित था। इसमें सोधियाजी तो प्रश्नकर्त्ता थे और उत्तरदाता एक धर्ममर्मज्ञ थे। इस प्रश्नोत्तरका नमूना देखिये—

प्रश्न—आजकल कई पंडित सम्यक्दृष्टिको सप्तव्यसन सेवी सिद्ध कर रहे हैं, यह क्या उचित है ?

उत्तर—जो व्यक्ति स्वयं चरित्र भ्रष्ट हैं अर्थात् जो सप्त व्यसनादि लोक निंद्य कार्योंको करते हुए भी उच्च बनना चाहते हैं वे ही ऐसी विपरीत बातें पुष्टकर अपने अनुयायियोंको उनकी ओर ले जाते हैं।

दूसरा लेख "कृतघ्नता" शीर्षक था। इसमें सोधियाजीने अपना नाम न देकर एक दूसरेका नाम—"भूरालाल रतलामवाला" ऐसा दिया था।

जैन गजटका यह अंक जिस दिन आया, दैवयोगसे उसी दिन किसी सभाकी कोई बैठक थी। बाहरसे भी अनेक गण्यमान्य विद्वान् आये हुए थे उनमे पं० गोपालदासजी वरैया, पं० अर्जुनलालजी सेठी, ब्र० शीतलप्रसादजी और सम्भवतः पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि भी थे। सेठ सा० के घण्टाघरमें ही शामको शास्त्र सभा हुई। बादमें सेठ सा० ने जैन गजटका वह अंक पढ़कर सुनाया, और बोले—देखो ! समाजमें उपद्रव फैलानेके ये ढंग है। इतनेमें पं० दरयावसिंहजी सोधिया "कृतघ्नता" शीर्षक दूसरे लेखको लक्ष्य कर बोल उठे—हाँ, सेठ सा० बड़ी खराब बात है। अब तो मुझसे न रह गया। मैंने कहा—'सेठ सा०, यह सब इन्हीं सोधियाजीकी करामात है। इन्होंने ही एक दिन अपनी कोठरीमें एक सज्जनके साथ सलाह करके ये लेख छपनेको भेजे है। उनकी उस सलाहकी और लेख भेजनेके निश्चयको मैंने अपने कानोंसे सुना है।'

फिर क्या था, एक हंगामा मच गया और सेठ सा० सोधियाजी पर बिगड पड़े। तथा उन्हें बहुत कुछ भला बुरा कहा। अन्य लोगोंको भी सोधियाजीका उक्त कार्य अच्छा नहीं लगा।

उपर्युक्त घटनासे विदित है कि गुरुजीके शास्त्रोक्त कथनोंसे न केवल सेठ सा० ही प्रभावित थे और उन्हें मानते थे, अपितु अन्य कितने ही शास्त्रज्ञाता लोग उनके कथनको प्रमाण मानते थे। उल्लेखनीय यह है कि गुरुजी बिल्कुल शान्त और गम्भीर रहे—उनके चेहरे पर रोषकी जरा भी रेखा दिखाई नहीं दी।

●

# मंगलस्वरूप गुरुजी

पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

●

अपनी शिक्षा समाप्त कर मोरेनाके जैन सिद्धान्त विद्यालयको छोड़े मुझे चालीस वर्षसे अधिक हो गया है, फिर भी मातृस्वरूप उस शिक्षा संस्थाका स्मरण होते ही चित्तमें विलक्षण सुखकी अनुभूति होने लगती है।

मैंने अपने जीवनमें यदि कोई संस्था देखी है तो वह मोरेनाका जैन सिद्धान्त विद्यालय ही है जहाँ सब प्रकारकी व्यवस्था होते हुए भी शास्य-शासक भावका सर्वथा अभाव था। शिक्षागुरु और स्नातक सब स्वयं स्फूर्तिसे अपने-अपने कर्तव्य का समुचित रीतिसे पालन करते थे वहाँ अनुशासन जीवनका अंग बना हुआ था. अनुशासन सिखाना नहीं पड़ता था। ऐसा उदात्त-मुक्त वातावरण मैंने अभी तक अन्य किसी भी जैन शिक्षा संस्थामे नहीं देखा।

उस समय जो गुरुजन थे वे सभी अपने-अपने विषयके निष्णात विद्वान् थे। उनके निमित्त उन सब विद्वानोंका जीवन बना है जिन्होंने उनके पादमूलमें बैठकर शिक्षा प्राप्त की है।

स्वर्गीय श्रद्धेय पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री संस्थाके मंत्री थे। वे सभी स्नातकोंके प्रति पुत्रवत् स्नेह करते थे। उनके सम्बन्धमें स्वयं अनुभवी हुई एक घटना मुझे आज भी याद है। उसे भूलना सम्भव भी नहीं, क्योंकि उससे मुझे शिक्षा तो मिली ही, मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ।

दशलक्षण पर्वके दिन थे। प्रतिदिन श्री जिनमन्दिरजीमे दोनों समय शास्त्र प्रवचन रखा गया। स्वयं पण्डितजी प्रवचनके समय नियमसे उपस्थित रहते थे। उपस्थित जनता चाहती थी कि शास्त्र प्रवचन वे स्वयं करें। किन्तु उन्होंने एक दिन भी शास्त्र प्रवचन स्वयं न करके मुझे वह कार्य करनेको लगाया। उनका कहना था कि यह शिक्षा संस्था है, यहाँकी प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारे स्नातक योग्य शिक्षक और धर्मोपदेष्टा बनें। उनपर उपस्थित जनता बहुत नाराज होती रही, पर उन्होंने उसकी चिन्ता नहीं की। शिक्षा और उपदेशके क्षेत्रमें जो कुछ उन्हें देना था वे इस क्रियाके द्वारा मुझे दे गये। वे आज हमारे बीचमे नहीं हैं, पर उनकी यह परिणति सबके लिए मार्गदर्शक है।

श्री पं० मनोहरलाल जी शास्त्री भी उस समय वहीं निवास करते थे, वे बड़े भद्रपरिणामी थे। यदा-कदा मैं उनके पास जाता रहा। आजीविकामे आत्मनिर्भर बननेसे ही विद्या स्फुरायमान होती है यह मैंने उन्हींसे सीखा है।

यद्यपि आज मोरेना विद्यालयका वह स्वरूप तो नहीं रहा। उस समय मैंने वहाँ एक विशेषता और देखी। वह यह कि वहाँके प्रबन्धक वर्गमें विद्वानोंकी ही प्रमुखता रही है। मेरी उपस्थितिमें एक बार प्रबन्ध समितिका अधिवेशन हुआ था। मैंने उसमें आये हुए श्रेष्ठिवर्गको मुँह ताकनेवाला ही पाया। यह उक्ति है तो कटुक, परन्तु किसी भी शिक्षा-संस्थामें प्राधान्य शिक्षासंस्थाके अनुरूप उन्हीं शिक्षा विशारदोंका ही होना चाहिए, जिनके कारण वह शिक्षासंस्था कहलानेकी अधिकारिणी होती है। उसमें अर्थका प्राधान्य होते ही शिक्षकोंमें चाटुकारी आये बिना रह नहीं सकती। ऐसा ही इनमें कार्य-कारणभाव है।

यहाँ आनेके पूर्व मै श्री महावीर दि० जैन पाठशाला साढ़ूमलका स्नातक रहा हूँ। मध्यमा तककी शिक्षा मैंने वहीं पर स्व० पूज्य पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ आदि शिक्षा गुरुओंके पदमूलमें पाई है। पूज्य पं० घनश्यामदासजी व्युत्पन्न और स्वाभिमानी शिक्षा विशारद विद्वान् थे। मुझमें जो यत्किंचित् व्युत्पत्ति है यह उन्हींकी देन है।

अधिकारियोंके रुखके कारण परीक्षा कालमें जो अव्यवस्था बनी उसकी भरपाई करनेके अभिप्रायवश गर्मियोंके अवकाशके बाद पूज्य पं० बंशीधरजी न्यायालंकार और स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री हम सब छात्रोंकी परीक्षा लेनेके लिए साढ़ूमल बुलाये गये।

इस वर्ष मैंने धर्मशास्त्रमें जीवकाण्डकी परीक्षा दी थी। इसलिए मुझसे अन्य प्रश्नोंके साथ यह पूछा गया कि जीवकाण्ड इस नाममें 'काण्ड' शब्द लगानेका क्या मतलब है? मैंने कहा—'काण्ड' पोर (पर्व) को कहते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने जिस महाशास्त्रकी रचना की है उसका यह एक हिस्सा है, इसीलिए 'जीवकांड' इस नाममें

'कायद' शब्द जोडा गया है। मेरा उत्तर सही था या गलत, यह विशेष तो मैं उस समय नही समझता था, किन्तु मेरे उत्तर जीवनके निर्माणमे यह हेतु बना इसमें सन्देह नही। मेरे मोरेना पहुँचनेका यही कारण बना।

रात्रिमे मैं दोनो विद्वानोसे मिला। स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजी बोले—इसमे सन्देह नही कि तुम्हारे गुरु श्री पं० घनश्यामदासजी व्युत्पन्न और कुशल अध्यापक है। किन्तु यहाँ तुम्हारा चतुर्मुखी विकास नही हो सकता। तुम प्रत्युत्पन्नमति मालूम देते हो। मोरेना विद्यालयका दरवाजा तुम्हारे लिए खुला हुआ है। सूरा क्या चाहता है—दो आखें। किसी प्रकार १ माहके भीतर मैं मोरेना पहुँच गया। वहाँ कुछ दिन रहा, पर चित्त न लगनेसे भाग निकला और पुन साढूमल पहुँचा। तब तक साढूमल पाठशालाका नकशा ही बदल गया था। स्व० पूज्य पं० घनश्यामदासजी खेदखिन्न होकर साढूमल पाठशाला छोड चुके थे। फिर भी इस पाठशालाके संस्थापक उदात्तमना श्रेष्ठिवर्य लक्ष्मीचन्दजीकी बीमारीके कारण मैं वहाँ रुक गया। एक दिन सेठजीने मुझे देख लिया। बडे नाराज हुए और तत्काल प्रबन्ध कराकर मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे पुन मोरेनाके लिए रवाना कर दिया। लाचार मैं मोरेना विद्यालयका स्थायी स्नातक बन गया।

अभी तक मैं पूज्य गुरु गोपालदासजीके विषयमे विशेष कुछ नही जानता था। इतना ही मालूम हुआ था कि वे बहुत बडे विद्वान् थे और उन्होने ही इस संस्थाकी स्थापना की है।

एक दिन पर्यटनके समय स्व० पूज्य प० देवकीनन्दनजीने गुरुजीके विषयमे एक सस्मरण सुनाया। बोले—कुछ वर्ष पूर्व वादमे परास्त करनेके अभिप्रायसे गुरुजीके सन्निकट एक विद्वान् पहुँचा। बोला—मैं आपसे वाद करना चाहता हूँ, आप संस्कृत भाषा जानते है क्या? सावधान होकर गुरुजी बोले—अपना पक्ष उपस्थित कीजिए, अन्य बातोसे आपको क्या मतलब? अपना पक्ष रखते हुए वह विद्वान् बोला—

'ईश्वर जगत्का कर्ता है, समर्थ होनेसे, घटनिर्माणमे निपुण कुम्भकारके समान। इससे जगत्कर्ताके रूपमे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध होता है।'

गुरुजी यह सुनकर थोडे मुस्कराये। धीरेसे उत्तर देते हुए बोले—

'ईश्वर जगतका कर्ता नही है, व्यापक होनेसे, आकाशके समान।

अभी वादकी एक ही कोटि चली थी कि 'ईश्वर जगत्का कर्ता नही है, व्यापक होनेसे, आकाशके समान'। यह बुदबुदाता हुआ वह चुप हो गया। इस अनुमान वाक्यका कैसे खण्डन किया जाय यह उसकी समझमे कुछ भी नही आया। प्रणत होकर वह गुरुजीकी अनुनय करने लगा। गुरुजीने उसे सान्त्वना दी।

मेरा यह सस्मरण सुनना था कि मेरी गुरुजीके प्रति श्रद्धा जाग उठी। खेद-खिन्न होकर मैं अपने मनमे विचार करने लगा कि मैं कितना मन्दभाग्य हूँ कि मुझे ऐसे महापुरुषके दर्शन करनेका सौभाग्य ही प्राप्त न हो सका। मैंने कार्यालयमे उनका चित्र तो देखा ही था। मनमे आया कि जब एकलव्यने मिट्टीके भटूनेको द्रोणाचार्य मानकर धनुर्विद्यामे अर्जुनके समान निपुणता प्राप्त की तो क्या मैं उनके चित्रका प्रतिदिन दर्शन करके धर्मशास्त्रका अधिकारी नही बन सकूँगा? मन कहने लगा—फूलचन्द्र चिन्ता क्यों करते हो, अपने विचारोको कार्यान्वित करो सफलता अवश्य मिलेगी। सच मानिये, जब तक मैं मोरेनामे रहा, कार्यालयके खुलने पर प्रतिदिन मैं उसके सामने जाता और उनके चित्रका दर्शन कर अपनेको धन्य मानने लगा। मेरी धर्मशास्त्रमे विशेष रुचि होनेका यदि किसीको पूरा श्रेय दिया जा सकता है तो वे है गुरु गोपालदासजी। मैंने उनके विषयमे और भी अनेक सस्मरण सुने है। किन्तु किसी भी स्नातकके लिए अपनी विद्यामे निपुणता प्राप्त करनेके लिए जितना यह संस्मरण उपयोगी है उतना अन्य नही। वह किसी भी विषयका स्नातक क्यों न हो, यह सस्मरण सबके लिए उपयोगी है।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इसके बाद मेरे जीवन पर अमिट छाप छोडनेवाला इनके पूर्व कालीन विद्वानोमे यदि कोई दूसरा विद्वान् है तो वह महापुरुष है—पण्डितप्रवर टोडरमलजी। इनके जीवन और साहित्यिक कार्योसे भी मैंने बहुत बडी शिक्षा ली है।

आज गुरुजी हमारे बीचमे तो नही है। उनकी स्मृति और कार्यमात्र शेष है। उन्होने शिक्षाके क्षेत्रमे एक युगका निर्माण किया है। वस्तुत सब विद्वान् उसीके सुफल है। उन्होने अपने जीवनमे जिस मार्गका अनुसरण किया उसपर सब विद्वान् तो न चल सके। परिस्थितिको ही इसके लिए दोषी ठहराया जा सकता है। किन्तु उन्होने जो प्रकाश दिया वह आज भी सब विद्वानोके हृदयोको प्रकाशित कर रहा है। उनके दिवगत होनेके बाद जिस उत्साह और निष्ठावश हम उनको स्मरण कर रहे है वह हम सब विद्वानोका मार्ग-दर्शक बने यह भला कौन नही चाहेगा।

मंगलस्वरूप गुरुजी हमारे मगलपथके प्रदर्शक बने, यह मनीषा जीवनभर हम सबको अनुप्राणित करती रहे यह कामना है।

●

# गुरुवर्य का आशीर्वाद

श्री पं० मुन्नालालजी रांधेलीय, सागर

इस अवसर पर बड़े गौरवके साथ श्रद्धास्पद महापुरुषके सम्बन्धमें स्मृतिस्वरूप कुछ प्रकाश डालना मेरा कर्त्तव्य है। इसके पहिले यह कह देना भी अनुचित न होकर संगत होगा कि बहुत समयके पश्चात् जैनसमाज इस क्षेत्रमें उद्‌बुद्ध हुई है। उदाहरणके तौरपर 'विद्वत्परिषद् द्वारा, उक्त महोपकारी नररत्नकी जयन्ती मनाने एवं अभिनन्दन ग्रन्थके रूपमें चिरस्थायी श्रद्धाञ्जलि समर्पण करनेका स्तुत्य बृहद् आयोजन किया गया है। वास्तवमें महान् पुरुषोंकी जयन्तियाँ मनानेकी प्रथा एवं रुचि अन्य देशोंकी अपेक्षा यहाँ और खासकर जैनसमाजमें कुछ ही समयसे चालू की गई है, जो इतिहास और गौरवके नाते आदर्शकी चीज है, अस्तु।

अत्युक्ति न होगी कि आज जैन समाजमें जो कुछ जहाँ तहाँ जैन सिद्धान्तका प्रचार होता दिखाई दे रहा है उस सबका मूल उद्‌गम स्थान—अन्तर कालके बाद पूज्य गुरुजी ही रहे हैं; जिन्होंने अहर्निश निःस्वार्थ भावसे केवल जैनधर्म और उसके गूढ़तम सिद्धान्तोंके प्रचारकी भावनासे प्रेरित होकर जगह जगह व्याख्यानों, शास्त्रार्थों द्वारा और 'जैनसिद्धान्त विद्यालय, मोरेना ( म० प्र० ) खोलकर अपनी मनस्कामनाको मूर्त्तरूप दिया और जीवनलीला समाप्त की। इतना ही नहीं, अपनी निर्भयता-विद्वत्ता-निस्पृहताकी धाक इस तरह जमाई कि दक्षिण उत्तर पूर्व पश्चिम चारों तरफसे अधिकाधिक संख्यामें विद्यार्थी आ आकर जैन सिद्धान्तकी शिक्षा लेने लगे, जिससे जैन सिद्धान्तकी धूम और तहलका मच गया, अस्तु। उस समय विद्यालय क्या था द्वारकाकी जैसी छाप थी, जैन सिद्धान्तके ज्ञातृत्वकी सनद (प्रमाणपत्र) थी अस्तु।

उक्त विशेषता से व्यामोहित होकर अनेक बाधाएँ आने पर भी लेखक अपनी इच्छाका संवरण नहीं कर सका और सन् १९१३ में सागर विद्यालयमें व्याकरण मध्यमा आदि परीक्षाएं पासकर मोरेना जा पहुँचा। पूज्य गुरुवर्यसे परिचय हुआ और मुझको देखते ही न जाने क्यों गुरुजीको इतना हर्ष व प्रेम हुआ कि तत्काल उन्होंने मेरी पीठ ठोक दी और स्थान देनेका आदेश दे दिया। उस समय अनेक विद्वान् और मेरे साथी बहुसंख्यामें वहाँपर मौजूद थे, जिससे मेरा चित्त खूब लग गया, अस्तु।

(१) मुझे सबसे पहिले वहाँ जीवकांड, गोम्मटसारका पाठ पूज्य गुरुवर्यजीने स्वयं चालू किया, इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे योग्यता सम्पन्न संस्कृतज्ञ छात्र समझकर बड़े प्रेम और उत्साहसे मुझसे कहा कि क्या हम तुमको संस्कृतमें पढ़ावें? मैंने निर्भय होकर स्वीकृति दे दी कि 'पढ़ाइये, बस क्या था पूज्य गुरुवर्यने संस्कृतमें पढाना शुरू कर दिया और मन-ही-मन प्रसन्न हुए। इधर मुझे कुछ मुस्करा आया। तब गुरुजीने भाँपकर पूछा, बेटा तुम क्यों मुस्कयाने? क्या मुझसे संस्कृत बोलनेमें कुछ गलती हो गई है? मैं तो मैट्रिकतक संस्कृतके साथ पढ़ा हूँ इत्यादि। मैंने संकोचके साथ कह दिया कि हाँ पूज्यवर्य' आप 'कर्मस्य, बोल गये हैं जबकि 'कर्मणः, होता है। पूज्य गुरुवर्य बहुत प्रसन्न हुए और हिन्दीमें पढ़ाने लगे, अस्तु। पूज्यश्रीकी इतनी भावुकता-सरलता और सहजस्वभावताको देखकर सेवकके हृदयमें उनके प्रति अगाध श्रद्धा भक्ति और बहुमानताका भाव गहरा घर कर गया।

पूज्य गुरुवर्यमें विचार निमग्नता और कार्य कुशलता भी अपूर्व थी। कठिनसे कठिन काम और कठिनसे कठिन प्रश्न, उनकी सूक्ष्म बूझ प्रतिभा तर्कणा तथा व्यावहारिकतासे मिनटोंमें सुलझ जाते थे। कभी-कभी वे विचारोंमें इतने निमग्न हो जाते थे कि विद्यालयको आते समय फाटकसे भी आगे चले जाते थे पीछे ध्यान आनेपर वे लौटकर विद्यालयमें प्रवेश करते थे। अधिक क्या, वे स्वप्नमें भी नहीं आने वाली बातको साक्षात करके दिखा देते थे। और भी अकथनीय विशेषताओंके धनी पूज्यगुरुजी थे। उनका शास्त्रीय अगाधज्ञान ( पांडित्य ) धैर्य, तर्क अनुपमेय था तथा शेष उनका बाह्य रचनात्मक कार्य अनेक पुस्तकोंके रूपमें आज भी समाजके सन्मुख मौजूद है, जिससे समाज और विद्वद्‌गण प्रमाणताके रूपमें लाभ उठा रहे हैं और आगे भी लाभ उठाया जायगा। अतएव समाज उनका ऋणी हमेशा रहेगा।

उन्होंने अल्पजीवनमें महान् कार्य व त्याग किया है। यदि वे अधिक जीवन पाते तो न जाने क्या कर जाते वह कल्पनातीत है। अस्तु

(२) स्मृतिके रूपमें दूसरा उदाहरण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत कर निबंध समाप्त किया जा रहा है। जब हम अनेक सहाध्यायी पढकर घर वापिस आने लगे तब पूज्य गुरुवर्यजी से आशीर्वाद लेने और आगे के कर्तव्यका निर्देशन पाने के उद्देश्य से विनम्र प्रार्थना की गई। उन दूरदर्शी महात्माजी ने सहज स्वभावसे आशीर्वाद दिया और अग्रिममार्ग का प्रदर्शन किया कि— 'तुम सुदगृहस्थ बनकर रहना और यदि व्रतधारण करनेके भाव हो तो १०वी प्रतिमातक ही सीमा रखना कारण कि अवारकालमे आगे के व्रतो का यथार्थ निर्वाह होना दुष्कर है, भले ही लोग माने या न माने-करे परन्तु तुम लोग देखा-देखी मे नही पडना इत्यादि। हम लोगोंको बडी प्रसन्नता हुई और आजकल हम वही उपदेश शिरोधार्य कर रहे है। अन्य लोगो का भी कर्त्तव्य है कि अपने दूरदर्शी नेता (गुरु) की निश्छल शिक्षा का आदर करे और उनके स्थापित पौधे (विद्यालय) को हर तरहसे सहायता देकर हरा-भरा उन्नतिशील बनाये।

# विलक्षण प्रतिभाशाली गुरुजी

पं० विद्यानन्द शर्मा जैन शास्त्री, गनेशपुर, मेरठ

बहुत पुरानी बात है शायद ५० वर्ष पुरानी होगी, उन दिनों मैं ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरमें अध्ययन करता था। न्यायालंकार पूज्य पं० मक्खनलालजीशास्त्री तब वहां आचार्य एवं धर्माध्यापक थे।

कार्तिक मासकी अष्टान्हिका थी हस्तिनापुरमें मेला भरा हुआ था। छींटकी मिरजई और सिर पर पीले रंगकी हल्की सी पगड़ी बांधे हुए एक सौम्य छविने हमारे आश्रममें प्रवेश किया। हम विद्यार्थियोंमें कुछ काना-फूसी हुई—**"अरे यह तो जैन समाजके उद्भट विद्वान् न्यायवाचस्पति पं० गोपालदासजी वरैया हैं"**। उस दृश्यकी धुंधली सी स्मृति मेरे मानस पटलपर आज भी अंकित है।

## गुरुणां गुरु

वरैयाजी मेरे गुरु वादीभकेसरी पं० मक्खनलालजी न्यायालंकारके भी गुरु थे अतः मेरे लिये तो वे गुरुणां गुरुके नाते अतिशय पूज्य हैं।

मोरेना विद्यालयसे गुरु गोपालदासजीने जो पहला बैच निकाला था, उसमे श्री पूज्य पं० मक्खनलालजी, श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, श्री पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, पं० उमरावसिंहजी (स्व० ज्ञानानन्दजी) एवं पं० खूबचन्दजी इन्दौर आदि विशिष्ट विद्वान् थे। दुःख है कि आजकी संस्थाओंसे ऐसे विद्वान् अब नहीं निकलते शायद भविष्यमें निकलेंगे भी नहीं।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्री पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर, श्री पं० वर्धमानजी शास्त्री, श्री पं० लालबहादुरजी शास्त्री आदि विद्वान सब इन्हीं विद्वानोंकी देन हैं जो आज भी धर्म और समाजकी सेवा कर रहे हैं।

## शास्त्रार्थका युग

वैसे तो शास्त्रार्थ अनादिसे ही होते आये हैं परन्तु शास्त्रार्थका वर्तमान कल्पकालीन दिग्दर्शन हमें भगवज्जिनसेनके महापुराणमें होता है जहाँ उन्होंने नास्तिको वैज्ञानिकों एवं एकान्त वादियोंसे स्वयंबुद्ध मंत्रीका शास्त्रार्थ कराया है। अकलंक स्वामीका बौद्धोंसे शास्त्रार्थ सर्व विदित है, मण्डनमिश्र और शंकराचार्यका शास्त्रार्थ भी अद्भुत और मनोरंजक हुआ है। उसके बाद आर्य समाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वतीके मुख्य और पट्ट शिष्य स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का साक्षात् शास्त्रार्थ वादिगजकेसरी न्यायवाचस्पति स्वर्गीय गुरु गोपालदासजीसे अजमेरमें हुआ था। अजमेर शास्त्रार्थ २ भागोंमें छपा हुआ है—वहीं न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्रजीका शास्त्रार्थ भी पं० यज्ञदत्तजीसे हुआ था। गुरु गोपालदासजीकी विलक्षण प्रतिभाका दिग्दर्शन अजमेर शास्त्रार्थ एवं उनके सृष्टि कर्तृत्व मीमांसा ट्रैक्टमें सुचारु रूपमें होता है। काफी दिनोंकी बात है मैं भा० दि० जैन महासभाकी तरफसे प्रचारार्थ फिरोजाबाद गया था, वहाँ मुझे स्वर्गीय पं खूबचन्द्रजी मिले, उन्होंने मुझे गुरु गोपालदासजीकी जिस विलक्षण प्रतिभाका परिचय दिया उसे सुनकर तो मैं अवाक् ही रह गया। घटना इस प्रकार है :—

इटावेमें चन्द्रसेन जैन वैद्यने एक संस्था स्थापित की थी जिसका नाम था जैन तत्व प्रकाशिनी सभा। इस सभाका काम केवल शास्त्रार्थ करना ही था। इस सभाने मूर्ति-पूजा विषयपर आर्यसमाजका चैलेंज स्वीकार कर लिया। इधरसे पूज्य गुरु गोपालदासजी ही वक्ता थे। वे मुस्कराते हुए उठे—

आर्य विद्वान्ने कहा कि :—

प्रश्न—चेतन होकर जड़को पूजना कौनसी बुद्धिमानी है?

उत्तर—हमारी उपास्य मूर्ति जड़ नहीं चेतन है,

प्रश्न—चेतन है तो बढ़ती क्यों नहीं ?

उत्तर—बढ़नेका एक नियत काल होता है, प्राय: २५–२६ वर्षके बाद बढ़ना बन्द हो जाता है। हमारी मूर्ति तो ३० वर्षकी है अतः नहीं बढ़ती, आप क्यों नहीं बढ़ते क्या आप भी जड़ है —

प्रश्न—चेतन व्यक्ति पूजकको आशीर्वाद उपदेश आदि देता है मूर्तिमें इस क्रियाका अभाव है अतः जड है अज्ञानी है।

उत्तर—ध्यानस्थ व्यक्ति किसीको उपदेश आशीर्वाद नहीं देता तो क्या ध्यानस्थ व्यक्ति जड़ है ? अज्ञानी है ? हमारी मूर्ति आत्मचिंतनमें लीन है अतः आशीर्वाद उपदेश आदि नहीं देती।

प्रश्न—चेतन व्यक्तिकी नब्ज चलती है हृदयमें स्पन्दन भी होता है श्वासोच्छ्वास भी आता है, मूर्तिमें इनमेंसे कुछ भी क्रिया नही है अतः जड़ है।

उत्तर—आर्य विद्वान्ने जो नाड़ीकी गति या हृदय-स्पन्दनकी बात कही है सो भी ठीक नही, क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ऋग्वेदादादिभाष्य भूमिकामे उर्ध्व-रेता प्राणायामका वर्णन करते हुए स्वयं ही लिखा है कि जिस समय उक्त प्राणायाममें कोई स्थित होता है तब प्राणवायु कपालमे स्थित हो जाता है और किसीको भी नाड़ीकी गति या हृदय-स्पन्दनका भान नही होता (यहाँ पं० गोपालदासजीने उक्त प्रकरण पढकर सुनाया था)

पं० जीके इस उत्तरको सुनकर आर्य विद्वान् तो तुरन्त ही बैठ गये। तो यह थी उनकी विलक्षण-प्रतिभा—हेतु और हेत्वाभासोंको अकाट्य रूपमे वादीके सम्मुख प्रस्तुत कर उसे निग्रह-स्थानमे पतित कर अप्रतिभ कर देना स्वर्गीय गुरुणां गुरु पूज्य पं० गोपालदासजीकी अपनी खास विशेषता थी।

# स्मरणीय पं० गोपालदासजी वरैया

श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

●

पं० गोपालदासजीका नाम आते ही एक लम्बा कद, लम्बोतरा चेहरा, गौर बदन, माथे तिलक, सिरपर पगड़ी, तनमें देशी अचकन और धोतीका व्यक्तित्व सामने आ जाता है। इस व्यक्तित्वसे मालूम होता है कि पण्डितजीने पुराने पण्डितोंके पहनावेको अपनाया था, वर्तमान युगके टोपी कोट तथा पाजामेको आश्रय नहीं दिया था। पण्डितजीका नाम तो मैं पहलेसे सुन रहा था और उनकी विद्वत्ताका आभास भी कुछ इधर-उधर मिल रहा था, परन्तु उनसे मिलना नहीं हो रहा था—मिलनेकी इच्छा जरूर चल रही थी। सबसे पहले मेरा उनका साक्षात्कार बम्बईमें ता० ५ दिसम्बर १८९९ को सेठ माणिकचन्द पानाचन्दजीके बगले (रत्नाकर पैलेस) पर हुआ जहाँ मैं बम्बई दिगम्बर जैन सभाकी ओरसे ३०) रु० मासिकपर उपदेशक नियुक्त होकर सहारनपुर और दिल्लीमें उपदेश देता हुआ पहुँचा था। पहुँचनेपर सेठ माणिकचन्दजी जे० पी० ने खड़े होकर मुझे आदर-सत्कारके साथ गद्दीके ऊपरी भागपर बिठलाया था, उस समय पण्डित गोपालदासजी भी मेरी प्रतीक्षामें वहाँ मौजूद थे या उन्हें उसी समय बुला लिया गया था और तभी उनसे मेरा प्रथम वार्तालाप हुआ था। वार्तालापमें उन्होंने मुझसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व आदिके विषयमें कुछ प्रश्न भी पूछे थे, जिनका समुचित उत्तर पाकर वे सन्तुष्ट हुए थे। आप उस समय दि० जैन सभाके उपमन्त्री थे और मन्त्री थे उक्त सेठ साहब।

ता० १० दिसम्बर रविवारको मेरे व्याख्यानके लिए बम्बई सभाका नैमित्तिक अधिवेशन बुलाया गया था, जिसका मंगलाचरण और अन्तिम धन्यवाद प्रदानका कार्य पं० गोपालदासजीने किया था। 'जैनमित्र' जो पं० गोपालदासजीके सम्पादकत्वमें उसके बाद जनवरी सन् १९०० से निकलना प्रारम्भ हुआ था, उसके प्रथम अंकके पृ० १० पर इस व्याख्यानके सम्बन्धमें लिखा गया था —

'बाबू साहबने उन्नतिके विषयमें बहुत मनोहर व्याख्यान दिया, जिसके सुननेसे सभासदोंको बहुत आनन्द हुआ और आशा हुई कि यदि आप कम-से-कम वर्ष दो वर्ष भी दौरा करेंगे तो जैन जातिकी बहुत-कुछ उन्नति कर सकेंगे। अन्तमें आपहीने बम्बई प्रान्तिक सभा नियत करनेकी आवश्यकता बतलाकर उसके सभासद होनेकी प्रार्थना की, उसी वक्त ४ लाइफ मेम्बर और १४ साधारण सभासद बन गये।'

इस नैमित्तिक अधिवेशनमें ही पं० गोपालदासजी आदि प्रमुख सभासदोंके द्वारा गुजरात देशका दौरा निश्चित किया गया था, जिसके लिये मैं अगले दिन ही बम्बईसे रवाना हो गया था। इस दौरेकी रिपोर्टको जैनमित्रके प्रथम अंकमें प्रकाशित करते हुए सम्पादक पं० गोपालदासजीने 'जैनधर्मकी उन्नतिका मुख्य उपाय' शीर्षक लेखमें अपने पाठकोंको यह सूचना की थी—

'बड़ी खुशीके साथ प्रकट किया जाता है कि सिरसावा जिले सहारनपुर निवासी बाबू जुगलकिशोरजी साहब बहुत योग्य उपदेशक रख लिये गये हैं और जिनका उपदेश भी सहारनपुर, दिल्ली, मुंबईमें होकर अब गुजरात देशमें तीर्थराज गिरनारजीके आस-पास हो रहा है, जिनके कामकी रिपोर्ट इस पत्र में अन्यत्र छपी है, उससे मालूम होगा कि ये महाशय कैसा काम कर रहे हैं। हकीकतमें यह काम धर्मकी उन्नतिके लिये अद्वितीय कारण है।'

इस उपदेशकीके दौरेमें किसी तीर्थ दर्शनादिके अवसरपर मेरे हृदयमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'मुझे पैसा लेकर उपदेश नहीं देना चाहिये—हो सके तो यह काम सेवाभावसे ही करना चाहिये।' इसके फलस्वरूप मैं छुट्टी लेकर घर आ गया और घर आकर इसी विषयमें और गम्भीरताके साथ विचार किया, अन्तको अन्तरात्माने यही निर्णय किया कि 'मुझे पैसा लेकर उपदेश नहीं देना चाहिये।' तदनुसार मैंने उपदेशककी नौकरीको छोड़ दिया और मन्त्रीजीको अपना स्पष्ट निर्णय लिख भेजा। उपदेशककी नौकरी कुल एक महीना चौदह दिनकी रही। यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर

देना चाहता हूँ कि उस वक्तमे निःस्वार्थ सेवाकी मेरी रुचि उत्तरोत्तर बढती ही गई और मैंने उपदेशकी बात तो दूर रही आजतक अपनी किसी भी रचनाके लिये चाहे वह लेख, कविता, अनुवाद, अनुसन्धान, ग्रन्थनिर्माण, सम्पादनादि किसी भी रूपमे क्यो न हो, परिश्रमादिके तौरपर कोई भी पैसा किसीसे नही लिया है। मेरी सारी कृतियाँ सभीके उपयोगके लिये सदा खुली रही हैं, रॉयल्टी आदिके बन्धनोमे भी मैने उन्हे नही बाँधा है। यह सब उपदेशकीके अवसरपर तीर्थ दर्शनादि किसी सन्निमित्तको पाकर हृदयमे उत्पन्न हुए उक्त सद्भावका ही एकमात्र फल है।

सितम्बर सन् १९०० के जैनमित्रमे छापनेके लिये मैने एक बडा-सा लेख पं० गोपालदासजीके पास भेजा था। वह लेख उन्हें बहुत पसन्द आया तथा उपयोगी जँचा था और इसलिये सितम्बरका अंक तैयार हो जाने पर भी उन्होंने उसे अलगसे छपवाकर क्रोड पत्रके रूपमे अंक ९के प्रारम्भमे लगाया था। लेखका शीर्षक था 'जैन पत्रिका अंक ३८ और ३९का युक्तिपूर्वक खण्डन'। इससे पं० गोपालदासजीमे उपयोगी लेखोंको समयपर प्रकाशित करनेकी सम्पादकीय तत्परता थी यह जाना जाता है।

प० गोपालदासजीके सम्पादकत्वमे जैनमित्र मासिक अच्छा लोकप्रिय बना, इसका मूल्य भी प्रारम्भसे छठे वर्ष तक १।) सवा रुपया वार्षिक रहा, सातवे वर्षमे २) रु० वार्षिक किया गया और साथ ही उसे पाक्षिक भी किया गया। आठवे वर्षमे पत्रको पाक्षिक ही रखते हुए उसका आकार पिछले मध्यम आकारसे उस दुगने आकार जितना किया गया जिसमे वह आज भी प्रकाशित होता है, फिर भी मूल्य २) रुपये वार्षिक ही रहने दिया गया, यह सब प्रचारकी दृष्टिको लिये हुए था और इससे उस समय अच्छा प्रचार कार्य हुआ है। साथ ही पंडितजीका यश भी फैला है। पण्डितजी ९वें वर्षके १८वे अंकके बाद सम्पादक नही रहे। मेरे पासकी ८वे वर्ष तककी जैनमित्रकी सब फाइले वीरसेवामन्दिरमे आज भी सुरक्षित है।

जुलाई १९०७ से भा० दि० जैन महासभाके साप्ताहिक पत्र 'जैन गजट' का सम्पादन भार मेरे ऊपर रखा गया और वह आराकी जगह देवबन्दसे प्रकाशित होने लगा। उससे कोई छह महीने बाद २१ दिसम्बर १९०७को जैनमित्रमे एक बहुत ही आपत्तिजनक एवं आक्षेप परक लेख छगनलालके नामसे प्रकाशित हुआ, जिसके लिये मुझे ८ जनवरी १९०८ के जैन गजटमे जैनमित्रकी कडी आलोचना करनेके लिये बाध्य होना पडा और उसके अन्तमे मैने यह भी लिख दिया—'मालूम यही होता है कि श्रीमान् प० गोपालदास सम्पादक जैनमित्रकी दृष्टिमे यह लेख छपनेसे पहले नही आया, क्योंकि आप मोरेना (ग्वालियर)मे रहते हैं और जैनमित्र बम्बईमे छपता और वहींसे प्रकाशित होता है। नही तो ऐसा झगडा न उठता। हम पण्डितजी साहबसे प्रार्थना करते है कि आगामीको वह बिना जाँच किये किसी लेखको न छापने दिया करे।'

मेरे उक्त समालोचनात्मक लेखको पढकर पं० नाथूराम प्रेमी उद्विग्न हो उठे और उसे पढते ही १० जनवरी सन् १९०८ को एक पत्र लिखा, जिससे जान पडा कि प्रेमीजीका सम्बन्ध जैनमित्रसे बना हुआ है जिसके विषयमे पहले श्री भाई शीतलप्रसादजीके पत्रसे यह मालूम हुआ था कि उन्होंने जैनमित्रकी मैनेजरीसे इस्तीफा दे दिया है। समालोचनाकी प्रत्यालोचना न करके प्रेमीजीने इस पत्रके द्वारा प्रेमका हाथ बढाया और लिखा—'जबसे 'जैन गजट' आपके हाथमे आया है, 'जैनमित्र' बराबर उसकी प्रशंसा किया करता है और उसकी इच्छा भी आपसे कोई विरोध करनेकी नही है। ...जो हो गया सो हो गया। हमारा समाज उन्नत नही है, अविद्या बहुत है, इसलिये आपके विरोधसे हानिकी शंका की जाती है। नही तो आपको इतना कष्ट नही दिया जाता। आप हमारे धार्मिक बन्धु है और आपका हमारा दोनोंका ध्येय एक है। इसलिये इस तरह शत्रुता उत्पन्न करनेकी कोशिश न कीजिये। 'जैनमित्र' से मेरा सम्बन्ध है। इसलिये आपको यह पत्र लिखना पडा।' इस पत्रका अभिनन्दन किया गया और १५ जनवरीको प्रेमपूर्ण शब्दोंमे उनके पत्रका उत्तर दे दिया गया। इन दोनो पत्रोंके आदान-प्रदानसे ही प्रेमीजीके और मेरे बीच मित्रताका प्रारम्भ हुआ, जो उत्तरोत्तर बढती ही गई और जिससे सामाजिक सेवा कार्योंमे एकको दूसरेका सहयोग बराबर प्राप्त होता रहा और एक दूसरे पर अपने दुःख-सुखको भी प्रकट करता रहा है। अस्तु।

इधर अपने देशमे अरसे दिगम्बर जैन साधु-मुनियोंके अभावको देखकर मेरे हृदयमे जो एक प्रकारकी वेदना चलती थी उसे व्यक्त करनेके लिये मैने एक कविता लिखी थी और उसे १ जुलाई १९०८के 'जैन गजट' अंक ३५ मे प्रकट किया था। वह कविता इस प्रकार है—

> **साधुका दर्शन कहीं पाता नहीं। दिल दुखी है दुःख सहा जाता नहीं ॥१॥**
> **धर्मकी चर्चा थी उनसे जा-ब-जा। धर्म अब ढूँढा नजर आता नहीं ॥२॥**
> **बात घट-घटकी बता देते थे जो। उनके देखे बिन सबर आता नहीं ॥३॥**

प्राण छोड़े पर न छोड़ा धर्म जिन। उनका यश मुझसे कहा जाता नहीं ॥४॥
किससे अब पूछें कि क्या होवेगा कल। भेद भावीका कोई पाता नहीं ॥५॥
छुस खड़िया हुई संसारसे। ज्ञान बिन दुखड़ा भरा जाता नहीं ॥६॥
कौमकी किश्ती भँवरमें आ फँसी। साधु तारक बिन सिरा आता नहीं ॥७॥
डूबनेको अबहि वह तैयार है। दृश्य यह हमसे लखा जाता नहीं ॥८॥
जी में आता है कि मैं साधू बनूँ। साधु बिन साधू बना जाता नहीं ॥९॥

इस कविताके प्रकाशित होनेसे कुछ अर्सेके बाद समाजमें दो एक दिगम्बर मुनियोंका आविर्भाव हुआ, उनके बाह्य आचारको देखकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और कुछ दृश्योंको देखकर 'चौथा काल आ गया' ऐसा तक कहने लगे। परन्तु जब उनका अन्तरंग प्रकट हुआ और कुछ काले कारनामे पकड़े गये तब पं० गोपालदासजी बरैयाने दुःखित चित्त होकर बड़ी दृढ़ताके साथ यह वाक्य कहा था—

"वरं शून्या शाला न खलु वरो दुष्ट वृषभः।"

अर्थात्—शून्या शाला अच्छी, गोशालाका खाली पड़े रहना श्रेष्ठ, परन्तु दुष्ट वृषभको-मरखने बैलको-रखकर उसे आबाद करना अच्छा नहीं।

इस वाक्यमें कितना ही महत्त्वका रहस्य छिपा हुआ है, जिसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते है। ऐसे ही दम्भी साधुओं तथा उनके पिछलग्गू भ्रष्ट चारित्र पण्डितोंके द्वारा निर्मल जिन शासन मलिन हुआ है[1]।

सन् १९१० में खतौलीके दस्सा-बीसा जैनियोंमें पूजन-प्रक्षालके अधिकार विषयको लेकर एक मुकदमा सबजजी मेरठमें चल रहा था, जिसमें मुद्दई (वादी) थे ला० माड़ेलालजी जैन दस्सा और मुद्दायले (प्रतिवादी) थे ला० मातीराम वगैरह बीसा जैन। बीसा जैन दस्सा जैनोंका पूजन प्रक्षाल आदिका विरोध करने लगे थे, इसीसे दस्सा जैनोंकी तरफसे उनके पूजन-प्रक्षाल अधिकारको सनातन एवं न्यायोचित घोषित करनेके लिये अदालतमें दावा किया गया था। इस मुकदमेमें दस्सा जैनियोंकी ओरसे गवाही देनेके लिए पं० गोपालदासजीको तैयार करनेके उद्देश्यसे बा० सूरजभानजी वकील और मैं दोनों पण्डितजीके पास मोरेना गये थे। पण्डितजीके सामने मुकदमेकी सारी स्थिति रखी गई, जिसे सुनकर दस्सा भाइयोंके पूजन-प्रक्षाल सम्बन्धी हकके समर्थनमें उन्होंने बड़ी खुशीसे गवाही देना स्वीकार किया था, तब उन्हें तथा मुझे भी गवाहके रूपमें समन्स द्वारा अदालतमें तलब कराया गया था।

इस अवसरपर पं० गोपालदासजी मेरे कुछ विशेष परिचयमें आये। उनका सौजन्य, उनकी विद्वत्ता, सहनशीलता और निःस्वार्थ भावसे शिक्षादानका कार्य जहाँ देखनेको मिला, वहाँ यह भी देखनेको मिला कि उन्हें कौटुम्बिक सुख प्रायः नहीं है, उनकी स्त्री बहुत कलिहारी है, चिलम-तमाखू पीती है, जब चाहे बात बिना बात उनपर बरस पड़ती है और इस तरह उन्हें परेशान रखती है, उनका इकलौता पुत्र माणिकचन्द उस विद्याको उनसे लेनेमें असमर्थ रहा। जिसे लेनेके लिये दूर-दूरसे विद्यार्थी आते है और उसे ग्रहण करते है। साथ ही पण्डितजीकी धार्मिक भावुकता और त्रिवर्णाचारोंके ऊपर श्रद्धा-भक्तिका भी पता चला। वे उस समय ब्राह्मणोंकी तरह आचमन-तर्पण-पूजनादिका कार्य किया करते और उसके लिये उन्ही जैसे कुछ पात्र भी थैलीमें अलगसे रखते थे। परन्तु उन्होंने हम दोनोंको वैसी कोई त्रिवर्णाचारी क्रिया करनेकी प्रेरणा नही की, जिससे मालूम होता कि वे दूसरेके व्यक्तित्वको समझते थे और योंही अपनी बात मनवानेके लिये आग्रह जैसी कोई बात नही करते थे।

१६ जुलाई १९१० को पण्डित गोपालदासजीकी गवाही दस्सा पार्टीकी ओरसे सबजजी मेरठमें हुई थी और १९ जुलाईको उसपर जिरह हुई थी। उन्होंने अपनी गवाहीमें जिनसेन त्रिवर्णाचारको उसके कुछ श्लोकोंके अनुवादसहित पेश किया था और उसके '**जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पंचमे सप्तमेऽपि वा**' इत्यादि श्लोकके आधारपर यह बयान भी दिया था कि जाति-वर्णका कर्मके अनुसार पाँचवी-सातवी पुश्त (पीढ़ी) में परिवर्तन हो जाता है, शूद्र पाँच पुश्तनक बराबर वैश्यका कर्म करता चला जाये तो वैश्य, छः पुश्ततक क्षत्रियका आचार करता रहनेपर क्षत्रिय और सात पुश्ततक पूरी रीतिसे ब्राह्मणका कर्म-आचार करता चला जानेपर ब्राह्मण हो जाता है। अर्थात् उसकी पाँच-सात पीढ़ीकी सन्तानका जातिकुल शुद्ध हो जाता है—वह शूद्र नहीं रहता। उनके इस बयानमें जैन तीर्थंकरोंकी शानमें एक ऐसी बात भी दर्ज

१. पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

हो गई थी जो बहुत अनुचित समझी गई और जिसे लेकर समाजमें एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न हुआ था—खासकर दस्सा-पूजनके विपक्षियोंमें—शास्त्रार्थके पर्चे भी चले थे। पहला पर्चा विश्वम्भरदासजी गार्गीयने प्रकाशित किया था जो पण्डित गोपालदासजीके शिष्योंमें थे, उसका उत्तर पूरनमल जैन उपमन्त्री 'दिगम्बर जैनाम्नाय-संरक्षणी सभा' खुर्जाने दिया था। उसमें सधर्मियोंके साथ शास्त्रार्थ करनेको योग्य न समझने आदि विषयक अपनी धारणाको व्यक्त करते हुए शास्त्रार्थके चैलेंजको स्वीकार किया गया है और अपनी सभाकी ओरसे शास्त्रार्थके लिये मध्यस्थों, शास्त्रार्थ-स्थानों और सरपंचोंके नामोंकी भी सूचना और उनमेंसे चाहे जिसको चुन लेनेकी प्रेरणा करते हुए पण्डित गोपालदासजीसे पाँच प्रश्न भी किये थे, जिनमें तीन प्रश्न उनके अदालती इजहार ( बयान ) से सम्बन्ध रखते हैं और वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) आपने दस्सोंकी तरफसे जो गवाही दी थी उस अदालती इजहारपर आपके दस्तखत हैं या नहीं।

(२) यदि दस्तखत है तो अपने इजहार सुनकर किये हैं या बिना सुने।

(३) इजहारमें जो शब्द हैं वह आनपूर्वी आपके कहे हुए हैं या नहीं।'

ये प्रश्न इसी दृष्टिको लिये हुए जान पड़ते हैं कि इजहारमें जैन तीर्थंकरोंकी उत्पत्ति आदिके विषयमें जो-कुछ शब्द आपत्तिजनक दर्ज हुए हैं उनसे वे फिर इनकारी न हो सकें।

इस नोटिसबाजीसे पहले, जिसका शास्त्रार्थके रूपमें कोई परिणाम नहीं निकला, अप्रैल १९११ में जो एक बड़ी पूजा-प्रतिष्ठा मुजफ्फरनगरमें लाला होशियारसिंहजीने कराई थी और जिसमें भारत दि० जैन महासभाका अधिवेशन भी हुआ था उसमें उनके दस्सोंके पूजनादि पक्षमें दिये गये उक्त इजहारके कारण जिसकी उर्दूमें छपी हुई प्रतियाँ भी उत्सवमें बाँटी गई थीं, उनके विरुद्ध एक प्रस्ताव पास हुआ था जिसके द्वारा उनके मुखसे शास्त्र-व्याख्यान सुननेका निषेध करके इस रूपमें उनका बहिष्कार किया गया था। उसी समय दस्सोंके पक्षमें गवाही देनेके कारण मुझे भी कुछ इनाम दिया गया था और वह यह कि उत्सवमें उपस्थित कुछ अग्रवालोंकी अलगसे सभा करके उसमें मेरे विरुद्ध जाति-बिरादरीसे खारिज करनेका प्रस्ताव पास किया गया था, परन्तु यह प्रस्ताव कागजोंमें ही रहा, कहीं भी इसका कोई अमल मुझे देखनेको नहीं मिला।

पण्डित गोपालदासजीके विरुद्ध जो बहिष्कारका प्रस्ताव पास हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी उग्र हुई। हस्तिनापुरमें १ मई १९११ को श्री ऐलक पन्नालालजीके हाथसे ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना हो जानेके बाद दिल्ली, फतेहपुरीकी लक्ष्मीनारायण धर्मशालामें पण्डित गोपालदासजीके शास्त्र-व्याख्यानका कितने ही दिनतक जोरदार प्रोग्राम चला, जिसमें दूर-दूरसे भी पण्डितजीके शास्त्र-व्याख्यानको सुननेके लिये जैन जनता एकत्र होती थी और धर्मशालाका सारा विशाल आँगन खचाखच भर जाता था। सभी जन पंडितजीके उपदेशसे प्रभावित होते थे और उनकी विद्वत्ताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। उसके बाद दूसरे अनेक स्थानोंसे भी पंडितजीको निमन्त्रण प्राप्त हुए और वहाँ उनके उपदेश बड़े आदर एवं रुचिके साथ सुने गये। मुन्शी चम्पतराय डिप्टी मजिस्ट्रेट कानपुरने भी, जिनसे पंडितजीका वैमनस्य चलता था और जो उस समय भा० दि० जैन महासभाके महामन्त्री थे, आपको अपने यहाँ बुलाकर आपके उपदेशोंका आयोजन किया था। और इस तरह प्रतिकूल प्रतिक्रिया द्वारा पंडितजीके विरुद्ध पारित उक्त बहिष्कार प्रस्तावको निरर्थक करार दिया गया था।

सन् १९१३ के प्रारम्भमें मैंने 'जिन पूजाऽधिकार-मीमांसा' नामकी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखकर समाप्त की जिसमें प्रबल प्रमाणोंके आधारपर जिन पूजाके अधिकार-विषयको स्पष्ट किया गया है। इस ६० पेजी पुस्तकको सेठ नाथारंगजी गाँधी बम्बईने निर्णयसागर प्रेसमें छपाकर अप्रैल १९१३ में प्रकाशित किया और उसकी लगभग १०० प्रतियाँ जैन हितैषीके ग्राहकोंको उपहार रूपमें भेंटकी गईं। यह पुस्तक पं० गोपालदासजीको अच्छी रुचिकर प्रतीत हुई और इसने विद्वानोंके हृदयपर गहरा असर किया, कहींसे भी कोई विरोध सुनाई नहीं पड़ा और जिनपूजाके अधिकार विषयका विवाद बहुत कुछ शान्त हो गया। श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैनहितैषीकी ओरसे इस पुस्तकके अलग पृष्ठपर एक पद्य भी अंकित किया था, जो निम्न प्रकार है—

"जो चाहता है अपना, कल्याण मित्र करना।
जगदेक बन्धु जिनकी, पूजा पवित्र करना॥
दिलखोल करके उसको, करने दो कोई भी हो।
फलते हैं भाव सबके, कुल जाति कोई भी हो॥"

---

१. यह पुस्तक बहुत वर्षोंसे आउट आफ प्रिण्ट हो गई थी—मिलती नहीं थी, माँगें आती थीं। अतः इसे अब युगवीर निबन्धावलीके प्रथम खण्डमें संगृहीत किया गया है, जहाँ यह ८वें नम्बर पर पृ० ४७ से १०६ तक मुद्रित है और सबके लिये सुलभ हो गई है।

जनवरी १९१४ से मेरी 'ग्रन्थ-परीक्षा' लेखमालाका प्रकाशन 'जैन हितैषी' मासिकमे प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले उमास्वामी-श्रावकाचारकी परीक्षाका, तदनन्तर कुन्द-कुन्द-श्रावकाचारकी परीक्षाका लेख प्रकाशित हुआ और उनमे क्रमश: दोनो ग्रन्थोको स्पष्टत. जाली सिद्ध किया गया। इनके बाद मैने जिनसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाके कार्यको हाथमे लिया और उसपर जून, जुलाई, अगस्त तीन महीनेमें तीन लेख लिखे जो क्रमश जैन हितैषीमें प्रकाशित हुए और जिनके द्वारा उक्त त्रिवर्णाचारको नूतन. जाली साबित किया गया। यह जिनसेन-त्रिवर्णाचार वही है जिसे पण्डित गोपालदासजी बरैयाने खतौलीके दस्सा-बीमा केसमे अपनी गवाहीके साथ बतौर प्रमाणके उपस्थित किया था। उसकी परीक्षाके जब मेरे तीनो लेख निकल चुके और उनसे वह स्पष्ट जाली प्रमाणित हो गया तब पण्डितजीने अपने जैनसिद्धान्त विद्यालय मोरेनाके पठन क्रममे सभी त्रिवर्णचारोको निकाल दिया था, और यह उनके हृदय परिवर्तन, गुण-ग्रहण और भूल संशोधनका एक ज्वलन्त उदाहरण था। दूसरे शब्दोमे यह उस शब्दहीन हलचलका ही एक परिणाम था जो विद्वानोके हृदयोमे मेरी लेखमालाके निकलते ही पैदा हो गई थी और जिसके विषयमे प० नाथूरामजी सम्पादक जैन हितैषीने यह भविष्यवाणीकी थी कि "वह समयपर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नही रहेगी।"

इस ग्रन्थ परीक्षा-लेखमालाम पहले प० गोपालदासजी बरैयाकी मन्दिरोमे विराजमान जैनग्रन्थोके प्रति जैसी गाढ श्रद्धा थी उसका कुछ परिचय प० नाथूरामजी प्रेमीके 'स्वर्गीय प० गोपालदासजी' नामक उस लेखसे होता है जिसे उन्होने बरैयाजीके निधनसे कोई १॥ महीने बाद लिखकर जैनहितैषी भाग १३ मे प्रकाशित[1] किया था—

उस लेखमे काशीकी जिस पाठशालाका उल्लेख है वह स्याद्वाद पाठशाला है जो बाबा भागीरथजी वर्णी और श्री गणेशप्रसादजी वर्णिके प्रयत्नसे कायम हुई थी और जिसने बादको स्याद्वाद महाविद्यालयका रूप धारण किया। और 'काशीका कटुक फल' लेख इसी स्याद्वाद पाठशालाके एक विद्यार्थीके लेखके उत्तर रूपमे लिखा गया वह लेख है जो जैन-मित्र वर्ष ७ के अंक ४ मे प्रकाशित हुआ था और जिसमे विद्यार्थी नामके अजैन न्याय ग्रन्थोके अध्ययनादि विषयक पक्षमय विचारोकी कडी आलोचना एव भर्त्सना की गई थी और अव्युत्पन्नावस्थामे उन ग्रन्थोके अध्ययनको हानिकारक ठहराया गया था। प्रेमीजो पण्डितजीके कितने ही गाढ सम्पर्कमे रहे हैं और इसलिये उन्होने पण्डितजीके दूसरे भी अनेक विचारो-व्यवहारो, प्रवृत्तियो, जीवन घटनाओ और प्राप्त सम्मानो आदिका अपने उक्त लेखमे उल्लेख किया है। वह लेख प० गोपालदासजीको समझनेके लिये बहुत कुछ उपयोगी है।

यहाँ पर मै इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि पं० गोपालदासजीने अपनी गवाहीमे जिनसेन-त्रिवर्णाचारके जिन श्लोकोको उपस्थित किया था और जिनमें 'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेय: पंचमे सप्तमेऽपि वा' नामका वह श्लोक भी शामिल है जिसके आधार पर पडितजीने कुछ पीढियोके बाद वर्ण-जातिके बदल जाने और नीचसे ऊँच अथवा शूद्रसे ब्राह्मण तक होनेकी बात कही थी, वह याज्ञवल्क्यस्मृतिके पहले अध्यायके चौथे प्रकरणका ७ वाँ श्लोक है, जिस प्रकरणका नाम है 'वर्ण-जाति-विवेक-प्रकरण' और जो सारा हो सप्त श्लोकात्मक प्रकरण 'मिताक्षरा' टीका सहित त्रिवर्णाचारम प्राय ज्यो का त्यो उठाकर नही किन्तु चुराकर रखा गया है और टीकामे जहाँ हिन्दू ऋषियोके प्रमाण-वाक्य उनके नाम सहित **'इति शंखस्मरणम्' 'यथाह शंख:'** आदि रूपमे उद्धृत थे उन्हे **'इति समन्तभद्र:' 'यथाह गौतम.'** जैसे रूपोमे बदल दिया, परन्तु जहाँ हिन्दू ऋषि तथा ग्रन्थका नाम उसकी समझमे नही आया वहाँ वह उसे बदल नही सका, जैसे **'षट प्रतिलोमजा: एतेषां च वृत्तय: औशनसे मानवे द्रष्टव्या'** वाक्यमे **'औशनस-धर्मशास्त्र'** के उल्लेखको वह बदल नही सका और चोरी पकडी गई। प० गोपालदासजी भी अपनी प्रगाढ श्रद्धाके आवरणमे उसे लक्षित नही कर सके। और भी कितनी ही बातें है जिन्हे वे लक्षित नही कर सके और जिन्हे त्रिवर्णाचारकी परीक्षासे जाना जा सकता है। प० गोपालदासजीको समझनेके लिए जिनसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षा भी देखने योग्य है, जो जैन हितैषीके अतिरिक्त ग्रन्थ परीक्षा प्रथम भागमे पृ० ४६ से ११८ तक मुद्रित है।

अन्तमें मैं श्री पं० गोपालदासजीको, उनकी जन्म शताब्दी पर, नि स्वार्थ भावसे की गई उनकी समाज सेवाओके लिए हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और हृदयसे चाहता हूँ कि उनके शिष्योमे उनके समान ही निस्वार्थ रूपसे समाज सेवाका भाव उदित तथा वृद्धिगत होवे और उनके सिद्धान्त विद्यालयसे निकले हुए विद्यार्थी उनके सरल-सादा-सेवामय जीवनसे सार शिक्षा ग्रहण करे।

●

---

१. प्रेमी जी का उक्त लेख इसी ग्रन्थ के आरम्भ में मुद्रित है—सं०।

# मेरे पितृव्य तुल्य गोपालदासजी

श्री कँवरलाल काशलीवाल, इन्दौर

●

आप आगरा शहरके निवासी थे रेल्वेमे टिकिट कलेक्टर रहे, वहाँसे बदली होकर अजमेर आये। यहाँपर श्री-मन्दिरजीमे दर्शनोंके लिये जाते थे उस समय श्रीमान् सरसेठ भागचन्दजीके प्रपितामह स्व० सेठ मूलचन्दजी साहब विद्यमान थे। यहाँके मुनीमजीने आपको दर्शनके लिये आते देख परिचय प्राप्त किया, फिर अपने यहाँ नौकरी देकर रेलवेसे छुट्टी करा दी। बादमे अपनी बम्बईकी दुकानपर भेज दिया। वहाँ हमारे पूज्य पितृव्य स्व० पं० धन्नालालजीसे परिचय हुआ, परिचय घनिष्ठ मित्रतामें बदल गया। कुछ समय बाद किसी कारणसे अजमेर वालोंकी दुकानसे नौकरी छोड़नी पड़ी और किसी कम्पनीमे नौकरी लगी। आपके कार्यसे कम्पनीके मैनेजर बहुत खुश थे लेकिन नैतिक कारणसे वहाँभी आपकी नही पटी, कारण व्रतकी पाबन्दी एवं स्वभावकी सरलताके कारण वहाँसे भी नौकरी छोड़नी पड़ी। तब सच्ची मित्रताके नाते पूज्य पं० धन्नालालजी काशलीवालने इनको अपने साथ रूईके सौदेकी दलालीमें शामिल कर लिया।

वि सं १९५४ मे जब हमारी प्रपितामहीका इंदौर मे स्वर्गवास हुआ तब आप इदौर पधारे थे और कुछ दिन इंदौर ही रहे थे तभी से मै उन्हे पितृव्य की दृष्टिसे देखता रहा हूँ।

वि स ० १९५५ के साल हाथरस की पचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय हमलोग वहाँ गये थे। बबई से पू० काकाजी भी आये थे। उत्सव मे पंडितजीके आग्रहवश हम सब आगरा गये। वहाँ १-२ दिन ठहरकर इंदौर आगये। स० १९५८ मे जब मै बबई गया पडितजी वहाँ थे। लेकिन कुछ परिस्थिति प्रतिकूल हो जानेसे उस समय आकलूज वाले सेठ रामचन्द नाथा, जिनकी दुकान बबई मे नाथारंगजी गाधीके नामसे थी, उनकी हिस्सेदारी मे मुरेनामें दुकान खोली गई। वहाँ भी सफलता नही मिली। मुबईवाले ३-४ सज्जनो का कर्जा हो गया था लेकिन सख्ती किसीने भी नही की। बादमे विद्यालय की स्कीम तयार होकर विद्यालय खोला गया जिसमे शोलापुर वाले सेठ हरी भाई देवकरण की तरफसे पूर्ण सहयोग मिला ३८०००) अड़तीस हजारका फंड होकर विद्यालय का कार्य चालू किया गया और विद्यालय के अधिष्ठाता के रूपमे पू० पं० धन्नालालजी विद्यालयका कार्य सभाल रहे थे। ग्वालियर स्टेट से भी मासिक ग्रांट कोशिश करके प्राप्त की गई थी जो अभी भी चालू है।

गुरुजीके स्वर्गवास के बाद मे जब विद्यालयका नाम भी श्रीगोपालदास सिद्धात विद्यालय रखने की चर्चा चली तो यही तय हुआ कि १०००००) एक लाख का फड हो जावे तो नाम रखा जावे, जिसके लिये ५-७ सज्जनो का एक डेप-टेशन निकला और उद्देश्यानुसार फड एकत्रित कर विद्यालयका नाम श्री गोपाल दि० जैन सिद्धात विद्यालय रखा गया। गुरु गोपालदासजीके अथक परिश्रम एव पू० धन्नालालजी काशलीवाल की कार्य दक्षतासे विद्यालयकी आशातीत उन्नति हुई और सैकड़ो विद्वानो को आर्षमार्गानुगामी तयार किया जो आज भी विद्यालय, गुरु गोपालदासजी तथा अपना नाम रोशन कर रहे है।

एकबार जब पडितजी अस्वस्थ हुये और उनकी सख्त बीमारी का तार मुंबई हमारे यहाँ पहुँचा तो तार पढ कर पू० प० धन्नालालजी विकल हो उठे और उन्हे उसी समय भ्रातृतुल्य मित्र को ऋणमुक्त कराने का वात्सल्य उमड़ पड़ा और जिन लोगोंका ऋण था उनमे से प्रथम सेठ गुरुमुखरायजी सुखानदजी, जो पडित जी के पूर्ण हितू व प्रशसक थे तथा सेठ रामचन्द नाथारग व सेठ रावजी नानचद और हरीभाई देवकरण, इन सबसे चुकती पावती लेकर मुरेना पहुँचे। पूज्य काकाजी के आने की खबर पाकर रोग शय्यापर पड़े हुये पडितजी बोल उठे कि अब मैं जी गया। दोनो मित्रो की दृष्टि मिलतेही आनदाश्रु बह निकले और वार्तालापके बाद जब कर्ज भरपाईकी चुकती पावतियें पंडितजीको दिखाई तो वे गद्गद हो गये कठभर गया कुछ बोल नही सके। आखोंही आखोंमें आभार प्रदर्शित कर कह दिया कि सगे भाई से भी ज्यादा प्रेम निभाकर मुझे सुखी कर दिया। कुछ दिनोंमे ही उस बीमारी से आराम हो गये। कुछ वर्षों बाद ही स्वर्गवासी हुये और समाजमें अपनी अमर कीर्ति छोड गये।

●

## श्रद्धांजलियाँ

●

# गोवाल-अट्ठगं

सुहे वेसे किण्हे ण्णु जगदि जादो बुहवरो,
पिदा जादो सम्मं पढमसमये जस्स सुहिणो ।
पबंधं सिक्खाए सुकिदचरिदांबा किदवदी,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥१॥

अपुव्वो णादा जो पढिद-णिगमो आगमगुणी,
गदी णाणे जादा पगडमहिमा जस्स कइणो ।
सुवत्ता धम्माणां विविहपम-सिद्धिम्मि सुजसा,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥२॥

समाजे पुज्जो जो भवियजणसेवादिकरणे,
सुहीरं वाणीं जो कहिय सुहमाहुज्जलहिदं ।
सुही विज्जापीढं पगडकरिओ जो गुणवओ,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥३॥

समुद्धत्ता सिद्धो परमपयिदो जो सुरगिरं,
अणेगा गंथाणां पहरखिसणो जो रचयिदा ।
णहो मज्झे सुज्जो इव जुदिमयो जो बुहगणे,
गुरूगोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥४॥

सुसीलासाहिस्से भवदि किल जा सुकभरयणा,
तधा अण्णे गंथा विदधदि सुहीं मोदमदुलं ।
पभू जो सत्थाणां वहदि घणसारं सुरचिदं,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥५॥

किदत्थो 'मोरेना' चरणरजआ जस्स विउसो,
पकांडं पांडिसं दिहि-दिहि जदीयं पचरिदं ।
वियेदा सत्थत्थो वयणरयणाए दिढमदी,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥६॥

पवित्तं चारित्तं जगदि विदिदं जस्स बहुलं,
वदस्साणुट्ठादा कढिणसमये अक्खयदवा ।
पणामा लोगानां पददि सददं जस्स चरणे,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥७॥

ण मोहो णो दोहो ण च विहव-दप्पोऽत्थि हियए,
सया सेवा-पुजा परसुहदिके येन चरिदा ।
दया-दाणं-मच्चं विविहसुकिदं जस्स सहजं,
गुरू गोवालो सो जयदु विउसां वंदचरणो ॥८॥

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य

# वृत्तहारः

गुरोर्गोपालसंज्ञस्य चरैयावंशसन्मणेः ।
चरणाब्जयुगे भक्त्या मुक्ताहारोऽयमर्प्यते ॥

: १ :

आर्या यं प्रणमन्ति क्षान्त्यनुकम्पादिसद्गुणैर्निभृतम् ।
तमहं गोपालगुरुं चित्ते पूते सदा निदधे ॥

: २ :

गीतिं विधाय यशसो यस्य प्रीतिं विदन्ति विद्वांस ।
वन्दे तं गोपालं गेयगुणं वै सुविज्ञजनविनुतम् ॥

: ३ :

उपगीतिं यस्य बुधाः कुर्वन्तो यान्ति सत्प्रीतिम् ।
गोपालं तं वन्दे वन्दितचरणं सुविज्ञेन ॥

: ४ :

आर्यां गीतिं यशसो यस्य श्वेतस्य सन्ततां प्रविधाय ।
मोदं परं लभन्ते गुरुगोपालः स सन्ततं वन्द्यः ॥

: ५ :

अक्षरपंक्तिर्यस्य गुणौघे
याति समाप्तिं कोविदकाम्या ॥

: ६ :

तं मुनिवन्द्यं साधुनरेन्द्रैः ।
चेतसि भक्त्या नौमि गुरुं वै ॥

: ७ :

शशिवदना गीः प्रणमति नित्यम् ।
यमिह गुरुं तं मनसि दधामि ॥

: ८ :

वक्त्रे यस्य न दृश्या जात्वासीन्मदलेखा ।
गोपालः किल वन्द्यो विज्ञैर्मे ननु वन्द्यः ॥

: ९ :

वादिचयं वादगत क्षिप्रतरं योऽन्वजयत् ।
माणवकाक्रीडतया वन्द्यतमः सोऽत्र गुरुः ॥

: १० :

भोगाभोगा विद्युन्माला-लोला एवं ज्ञात्वा ज्ञात्वा ।
तत्रासक्तो यो नो जातो गोपालोऽसौ वन्द्यो वन्द्यैः ॥

: ११ :

श्लोकं शस्तं सदा यस्य गायन्ति सुरसद्मयाः ।
गुरुं गोपालसंज्ञं तं नौम्यहं विबुधाधिपम् ॥

: १२ :

कवीनां पद्यसङ्घातो यदीयस्तवने क्षणात् ।
समाप्तिं यात्यसौ जीयाद् गुरुर्गोपालसंज्ञितः ॥

: १३ :

चम्पकमाला यच्चरणाग्रे शिष्यजनैर्दत्ता प्रविभाति ।
नौमि तमर्च्यं भूपतिवन्द्यं कोविदगोपालं बुधनम्यम् ।

: १४ :

मोघेन्द्रवज्रा हि यदीयबुद्धि-
वल्ली प्रसूते स्म फलं विचित्रम् ।
गोपालदासो बुधवृन्दवन्द्यो
भूयात्सदा मे हृदयस्थितोऽसौ ॥

: १५ :

उपेन्द्रवज्रादपि नैव भेद्यो यदीयसम्यक्त्वतरुः कदाचित् ।
बुधाब्जसूर्यः स गुरुर्वरैया-कुलोद्भवः स्ताद्धृदये बुधानाम् ॥

: १६ :

स्वागतं वदति विज्ञसमाजो यं सदा गुणसमूहकसन्तम् ।
दिव्यबुद्धिकलितः स वरैया-वंश-सन्मणिरमोघगुणोऽव्यात् ॥

: १७ :

यं नमन्ति सुभटा रथोद्धता
यं विदन्ति विविधा बुधा हितम् ।
यं स्तुवन्ति सुधियः सदा मुदा
तं नमामि निभृतं गुरुं गुणैः ॥

: १८ :

विद्याविसैः शालिनी विज्ञपङ्क्ति-
र्नित्यं स्तौति श्वेतकीर्त्या लसन्तम् ।
यं तं वन्दे वन्द्यनानागुणौघं
गोपालाख्यं श्रीगुरुं श्रीयुताङ्घ्रिम् ॥

: १९ :

दोधकवृत्तमिदं प्रियमासीद्यस्य सुगीतिकलापरियुक्तम् ।
विज्ञवरं मतिपुञ्जधरं वै नित्यमहं प्रणमामि गुरुं तम् ॥

: २० :

भुजङ्गप्रयातं न यत्र श्रयन्ते
सदा लोकनाथाः सुतेजःसनाथाः ।
वरैयावतंसं गुरुं तं नमामो
भजामोऽत्र भक्त्या भृतं भव्यभावैः ॥

: १२ :

भवबन्धनतोटकमत्रगुणैर्ग्रथितं प्रथितं पृथु बोधधरम् ।
प्रणमामि गुरुं गुरुवृन्दप्रियं समताश्रयता भवतापहरम् ॥

: २२ :

द्रुतविलम्बितमेव नुतिव्रजं पठति यत्र पवित्रबुधव्रजः ।
गुरुमहं प्रणमामि भृतं गुणैस्तमुरुभक्तियुतोऽसुयुतो धिया ॥

: २३ :

गोपालदासो गुरुरग्रणीः सतां विद्वज्जनश्लाघ्यतमो महायशाः ।
भूपेन्द्रवंशार्चितपादपद्मजः पूतं विदध्यान्मम मानसं सदा ॥

: २४ :

स्वकीयवंशस्थजनं यशोधनं
चकार यो रम्यगुणौघमन्ततः ।
भृतो गुणौघेन धृतो मनस्विभि-
र्हिताय गोपालगुरुर्मुदेऽस्तु सौ ॥

: २५ :

श्रीमद्वसन्ततिलकादिसुवृत्तपुञ्जै-
र्यांश्चो यमुग्रमहसं किल तोष्टवीति ।
अज्ञानमन्धतमसं विनिहन्ति यश्च
गोपालदासदिनपः स हि कैर्न वन्द्यः ॥

: २६ :

अभिमतफलसिद्धेः कारणं यं विदन्तो
निखिलबुधसमूहाश्चैतमा संश्रयन्ते ।
जयतु जयतु गोपालो जगत्यां स विज्ञो
विनतसकलभालो मालिनीदसमालः ॥

: २७ :

सितीकृतजगत्त्रया निहतलोकतापत्रया
विभाति विमलोज्ज्वला किल यदीयकीर्तिर्गुरुः ।
श्रयन्ति विबुधेश्वरा जगति यं च पृथ्वीश्वराः
करोतु मम मानसं गतमलं स गोपालकः ॥

: २८ :

श्रावं श्रावं शुभगुणततिं विश्रुतां विश्वमध्ये
यस्य प्रीतिं जगति मनुजाः सर्वदा संश्रयन्ते ।
मन्दाक्रान्ता भवति न रिपुश्रेणिरन्तःस्थितामी
येन स्यात्स क्षितिपतिनुतो मानसस्थो गुरुर्मे ॥

: २९ :

सितां कीर्तिं यस्य क्षितिपतिनुतामम्बवदना
समारूढामुत्तुङ्गां वनततियुतां तां शिखरिणीम् ।
सदा गायन्तोऽत्र प्रमदभरमायान्ति निभृतं
गुरुर्गोपालोऽसौ मम मनसि भूयात् स्थिरतरः ॥

: ३० :

द्रवति भुवने यस्य ध्यानाद्विशां बुधसन्तति-
र्विजनविपिने सिंहध्वानाद्भिया हरिणी यथा ।
जगति विततं यस्य श्वेतं यशः परिशोभते
जयतु जयतु श्रीमान् गोपालको गुरुरुत्तमः ॥

: ३१ :

योऽनेकान्तनिशातशस्त्रनिकरैर्मिथ्यामतं खण्डयन्
मिथ्यावादिमतङ्गजेषु कुरुते शार्दूलविक्रीडितम् ।
विद्यावारिधिरार्यवादिवितर्तिं शास्त्रार्थसङ्घट्टने
यस्तूष्णीमकरोत्स वादकुशलो जीयाद्वरैयागुरुः ॥

: ३२ :

रम्यै रम्यै रमेशैरमितगुणयुतैः स्तूयते यः स्वरैम्नैः
पायं पायं प्रकामं सुरपतिरुचितं यस्य पीयूषतुल्यम् ।
साराढ्यं वाक्प्रवाहं निखिलबुधचयाः स्रग्धरा कीर्तयन्तो
मोदन्तेऽसौ वरैयाकुलजलधिभवश्चन्द्रमाः साधु जीयात् ॥

पण्डित पन्नालालः साहित्याचार्यः

# श्रद्धाञ्जलि अर्पण तुम्हें आज

●

: १ :

ओ स्याद्वाद-सिद्धान्त निलय !
ओ विद्यावारिधि अति अगाध।
वादीभकेशरी औ दिग्गज
विद्वान्-शिरोमणि ! निर्विवाद ॥

: २ :

ओ कर्मठ त्यागी ! औ नैष्ठिक !
ओ कुशल प्रवक्ता ! पत्रकार !
ओ सफल सुलेखक ! अध्यापक !
युग-निर्माता साहित्यकार ॥

: ३ :

ओ जैन-वाङ्मय के शोधक !
अनुशीलन कर्ता ज्ञानवान।
तुम परम संस्कृत भट्टारक
थे महृदयी भावुक महान ॥

: ४ :

ओ महामना ! प्रतिभाशाली !
स्तंभ जैन-संस्कृति विशाल
ओ परम दार्शनिक ! सत्यनिष्ठ !
जिनवाणी-सेवक ! विशदभाल ॥

: ५ :

मोरेना - संस्कृत - विद्यालय -
संस्थापक तुमही दृढ प्रतिज्ञ !
दिन रात गारहे यशोगान
स्नातक निकले जो परम विज्ञ ॥

: ६ :

ओ सरस्वती के वरद पुत्र !
ओ शास्त्रार्थ—विजयी महान
ओ सफल समालोचक सेवक।
निर्लोभी विजयी क्रोध-मान ॥

: ७ :

ओ न्याय तर्क के वाचस्पति !
ओ चोटी के विद्वान् एक !
अमृत मय वाणी सींच सींच
पाया है तुमने सद् विवेक ॥

: ८ :

हित मित-प्रिय भाषी ! निडर धीर
चारित्र मूर्ति गौरव-निधान !
निष्कपट दुराग्रह सदा त्याग
अपनाया तुमने पथ महान् ॥

: ९ :

तुम निरभिमान पाखंड हीन
इन्द्रिय-जेता कर्त्तव्यनिष्ठ !
सिद्धान्त पक्ष के प्रतिपादक
निष्पक्ष समीक्षक ! गुणगरिष्ठ ॥

: १० :

ओ मार्ग प्रदर्शक विद्वज्जन !
ओ अग्रगणी नेता समाज
गोपालदास गुरुवर्य्य श्रेष्ठ !
श्रद्धाञ्जलि अर्पण तुम्हें आज ॥

श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न जयपुर

## पूज्यचरण गुरुजी

श्री पं० गोपालदासजी वरैयाके चरणकमलोंमें बैठनेका मुझे अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। परन्तु जबसे होश सँभाला है, उनकी अगाध—विद्वत्ता एवं गौरवगरिमा सुनता आया हूँ जिसकी छाप मेरे हृदयपर आज भी अंकित है।

पं० जीने समयके संकेतोंको समझा था कि यदि जैन समाजको जिन्दा रहना है तो पंडितप्रणालीको बल देना होगा। जैन समाजमें आज जितने भी विद्वान् हैं वे उनके शिष्यों या प्रशिष्योंमें हैं। दु:ख है अब इस प्रणाली को संभालना कठिन हो रहा है। इस अवसरपर मैं पंडित वर्ग एवं समाजके प्रमुखोंका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा कि वह मिलकर इस समस्या पर विचार करें।

पंडितजीकी सेवाएँ समाजके लिए बहुमुखी रही हैं मोरेना विद्यालयकी स्थापना उनके जीवनकी ठोस लगनका प्रतीक है।

उनका जीवन-काल शास्त्रार्थोंका युग था उन्होंने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए अनेक शास्त्रार्थ किये, उनमें विजय प्राप्त की, जिसके लिए समाज उनका चिरऋणी है। वे पूज्यचरण जैन परम्पराके संरक्षक और प्रतिष्ठापक थे।

इस शताब्दी महोत्सवके प्रसंगपर मैं अपनी श्रद्धांजलि अत्यन्त विनम्रतासहित समर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि समाज विशेषतया विद्वद्वर्ग उनसे प्रेरणा पाता रहेगा।

( साहू ) श्रेयांसप्रसाद जैन, बम्बई

## ज्ञानबेलके रोपक

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्व० गुरुवर्य गोपालदासजी की शताब्दी मनाई जा रही है।

मैंने अपने बाबा साहू सलेकचन्दजीसे सुना था कि आज जो समाजमें पठन-पाठन और पंडित प्रणाली है वह स्वर्गीय गुरुवर्य गोपालदासजीकी देन है। ज्ञानका माहात्म्य उन्होंने ही समझा था। इस पवित्र अवसरपर मैं गुरुवर्यको अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ और मुझे विश्वास है कि उनके द्वारा रोपित यह ज्ञानबेलि उत्तरोत्तर बढती रहेगी।

( साहू ) शान्तिप्रसाद जैन, कलकत्ता

## कुलगुरु

आदरणीय महा विद्वान् पंडित गोपालदासजी वरैया बीसवीं सदीके उन गणमान्य संस्कृत विद्वानोंमेंसे एक हैं जिनका नाम आधुनिक विद्वानोंके कुलगुरुके रूपमें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मेरे पूज्य प्रपितामह व पितामह श्री मूलचन्दजी व नेमिचन्दजी साहबके समयमें उनका आगमन हुआ था और यहाँकी धार्मिक जनताने कुछ काल तक उनके गम्भीर ज्ञानका प्रवचन रूपमें लाभ लिया था। अजमेरका सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ जैन समाजका अविस्मरणीय प्रकरण था जो उक्त महाविद्वान्‌की यशोगाथाको सदा याद दिलाता रहेगा।

वे समाजके प्रतिभाशाली विद्वान् थे उनकी गम्भीरता, शास्त्र ज्ञान, प्रौढता एवं कार्यक्षमता अपूर्व थी। जिन-वाणीके वे सच्चे सेवक थे, उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि कुछ ऐसे उच्चकोटिके मूर्धन्य विद्वान् तैयार किये जायें जिन्हे जिनेन्द्रदेवके स्याद्वाद सिद्धान्तका गम्भीर ज्ञान हो और वे दर्शन समन्वयका अपूर्व आदर्श उपस्थित कर सकें।

उन्होंने अपनी शिष्य मण्डलीका अपूर्व उपकार किया। आज जो भी लगभग एक दर्जन विद्वान् जैन समाजमें हैं वे इन्हीं महापुरुषकी देन हैं। मोरेना विद्यालय उनका जीवित स्मृति ग्रन्थ है।

ऐसे विद्वान् गुरुको उनकी शिष्य मण्डली एवं कृतज्ञ समाज यदि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनकर कृतज्ञता प्रकट कर रहा है तो यह उसीके लिये गौरवकी बात है। मैं उक्त महान् विद्वान्‌को अपनी नम्र श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।

( सर सेठ ) भागचन्द सोनी, अजमेर

## प्रतिभामूर्ति

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि जैन समाजके महान उपकारी श्रीमान् पं० गोपालदासजी वरैयाके प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करनेके लिए उनका स्मृति शताब्दी समारोह और साथ ही एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है।

वास्तवमे जैन समाजमें धर्मशिक्षणका प्रसार कर वर्तमानमें दृष्टिगोचर हो रहे कतिपय उच्चकोटिके विद्वानोंको तैयार करनेका श्रेय पं० गोपालदासजी वरैयाको है। पण्डितजीने अपने स्वयंके स्वाध्याय और अध्ययनके बलपर दि० जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेनामे गोम्मटसार, पंचाध्यायी आदि उच्च ग्रंथोंका विद्यार्थियोंको अध्यापन कराया और ग्रंथरचना व 'जैनमित्र' सम्पादन आदिसे समाजकी बहुमुखी सेवा की है। पण्डितजीकी नैतिकता, सत्यवादिता, न्यायप्रियता और सहनशीलताके अनेक संस्मरण हैं, जिन्हें विद्वान् प्रवक्ताओंके मुखसे सुना है। अतः प्रतिभामूर्ति पण्डितजीके प्रति श्रद्धासे हृदय भर जाना स्वाभाविक है।

आशा है स्वर्गस्थ पण्डितजीके जीवनके संस्मरणोंसे, जो प्रस्तुत स्मृति ग्रंथमे प्रकाशित हो रहे हैं समाजको प्रेरणा प्राप्त होगी।

( सेठ ) राजकुमारसिंह, इन्दौर

## जीवन-प्रेरक

यह पुण्यमय आयोजन वास्तवमें स्तुत्य है। यह पूज्य पंडित गोपालदासजी वरैयाके प्रति ही श्रद्धा और भक्ति प्रकट करना नहीं है वरन् विद्या, धर्म और चरित्रके प्रति श्रद्धा व भक्ति प्रकट करना है जो उस महान् पुरुषमें विद्यमान थे। श्री वरैयाजी अपने युगके ही नहीं अपितु २०वीं शताब्दीके एक महान् पंडित थे। वे एक साधारण परिवारमें जन्मे। जीवनमें अनेक कठिनाइयों और बाधाओंको झेलते हुए जैनधर्मके उद्भट विद्वान् बने तथा उन्होंने जैन साहित्य और समाजकी तन-मन से अभूतपूर्व सेवा की। जो बालक १८ वर्षतक जैनधर्मसे अनभिज्ञ था, उसमें उसे आस्थातक नहीं थी, किसे मालूम था कि वही एक दिन जैनधर्मका मर्मज्ञ पंडित बन जावेगा। श्री वरैयाजी एक अल्प विद्या प्राप्त साधारणसे लिपिक थे किन्तु स्वावलम्बनशीलता और निरन्तर अध्यवसायसे जैनधर्मके महान् पंडित बन गये। महान् प्रतिभायें कोयलेसे उत्पन्न होनेवाले बहुमूल्य हीरेके समान ही होती है। जहाँ वे एक पंडित थे वहाँ उच्चकोटिके वक्ता, लेखक, चरित्रवान्, निर्लोभी निर्भीक, धर्मनिष्ठ पुरुष थे। धर्मके प्रति उनकी आस्था अडिग और अपरिमित थी। उन्होंने बड़े-बड़े धनिकोंके साझेमे व्यापार किया किन्तु अपनी आस्था और चरित्रको कभी नहीं डिगने दिया, इसके लिये जीवनमें उन्हें काफी सहना भी पड़ा। प्रामाणिकता उनमे कूट-कूटकर भरी थी वे किसीका एक भी पैसा अनुचित प्रकारसे लेना धर्मके विरुद्ध मानते थे तथा रिश्वत देनेके भावको हिंसक भाव मानते थे। उनमें देश और मातृभाषाके प्रति अगाध श्रद्धा थी। बिना जरूरत वे एक भी अंग्रेजीके शब्दका प्रयोग नही करते थे। स्वदेशी आन्दोलनके अवसरपर वे पीछे नहीं रहे, उनकी लेखनी उठी और 'जैनमित्र' के माध्यमसे उन्होंने स्वतन्त्रताकी अलख जगाई।

उनके दर्शन और अमृतमय प्रवचन सुननेका मुझे क्वचित ही सुअवसर मिला। यह प्रसिद्ध बात है कि उनको सुननेसे मनमें फैली भ्रान्ति और तर्क लोप हो जाते थे। जिसे भी उनके संपर्कमें आनेका सौभाग्य मिला वह उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं अघाया। वे सरलताकी मूर्ति और सादगीके अवतार थे। उनके रचे हुए तीन ग्रन्थ जैनधर्मावलम्बियोंकी अमूल्य निधि बन गये।

मैं इस शताब्दी समारोहकी हृदयसे सफलता चाहता हुआ पूज्य स्व० वरैयाजीकी स्मृति में अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ।

मिश्रीलाल गंगवाल
योजना तथा विकास मंत्री, मध्यप्रदेश

## युगपुरुष गुरु गोपालदास

महाप्राण युगपुरुष गुरु गोपालदास को शताब्दियाँ याद रखेंगी। जिस समय अज्ञान तिमिर व्याप्त था, महाकाल चारों ओर गर्जन कर रहा था, विधर्मियोंके वाक् प्रहार धर्मकी मर्यादाओंको छिन्न-भिन्न कर रहे थे और विद्वत्ताके नामपर केवल 'तत्त्वार्थसूत्र'का वाचन ही पर्याप्त समझा जा रहा था, उस युगमें युगपुरुषने अपने अथक परिश्रम और ज्ञानाराधनासे जगत्को आलोकित किया। उन्होंने ज्ञानके जिस बीजका वपन किया था, वह आज विशाल वट वृक्षके रूपमें सुशोभित है। उनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा ज्ञान और साधनाका निरन्तर अलख जगा रही है। वास्तवमें युगपुरुष गुरुगोपालदासने अपने युगमें जो महत्तम कार्य किये, उनका मूल्याङ्कन सहज रूपमें नहीं किया जा सकता है। वे सफल नेता थे, उनके नेतृत्वमें अगणित उल्लेखनीय कार्य सम्पादित हुए। उन्होंने जिस तत्त्वज्ञानका प्ररूपण कर समाजको आध्यात्मिक और नैतिक मार्गका प्रदर्शन किया है, वह युग युगान्तर तक अपने मौलिक रूपमें अवस्थित रहेगा। वे एक सच्चे समाज सुधारक नेता थे। श्रीमानों द्वारा उनके सत्कार्योंमें साहाय्य न मिला, फिर भी वे अपने अपूर्व साहस और निर्भीकतासे समाज सुधारके कार्योंमें सफल हुए। मैं उस महान् व्यक्तित्वके प्रति नतमस्तक हूँ और उनके सत्कार्योंके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित करता हूँ। काश, समाजमें उन जैसे दस-पाँच नेता और होते! वे मानवताके सच्चे पोषक और विद्वत्ताके सच्चे अधिकारी हैं। मैं अपनी शतशः श्रद्धाञ्जलियाँ उस युगपुरुषकी स्मृतिमें समर्पित करता हूँ। हम उनकी पूजा किस रूपमें करें यह समझमें नहीं आता।

'हे गौरव गिरि उत्तुङ्ग काय,<br>पद-पूजनका भी क्या उपाय?'

( साहु ) शीतलप्रसाद जैन, कलकत्ता

## यशःस्तूप गुरुदेव

विरोधों, विसङ्गतियों और मतभेदोंके रहनेपर भी आपने अखण्ड मानवताका प्रचारकर यशः स्तूपका निर्माण किया। आप यथार्थ सत्यान्वेषी थे, अतः मतभेदोंके कारण पुराण-पंथियों द्वारा विरोध किये जाने पर भी आप अडिग रहे। आपकी वाचाशक्ति अपूर्व थी। जब आप भाषण देने लगते थे, तो अपार जनसमूह उमड पड़ता था। जब गम्भीर विचार व्यक्त करनेका अवसर प्राप्त होता था, तो आप तर्कपूर्ण न्यायशैलीमें विषयका विवेचनकर श्रोताओंको मन्त्रमुग्ध कर देते थे। आप जो कुछ कहना चाहते थे उसे बिना किसी आक्षेपके प्रभावशाली ढंगसे उपस्थित कर देते थे। आपकी क्रियात्मक संवेदनशीलता शिष्योंके पाठनके अवसरपर उपस्थित होती थी। आपका व्यक्तित्व मनुजता, सज्जनता और ज्ञान चेतनामें सम्पृक्त था। जिस तथ्यको आजका मानव घुमा फिराकर टेढ़े रूपमें स्वीकृत करता है, आपने उस तथ्यकी विवेचना अत्यन्त सरल और सुबोध रूपमें प्रस्तुत की थी। आप हिंसा और घृणाकी भावनाका अन्त कर देना चाहते थे। आपने स्वपरोत्थानके लिए शमरसकी वर्षाकी थी। जिस सत्य और अहिंसाके दृढ़सङ्कल्पको आपने जीवनमें अपनाया है, हम उस सङ्कल्पको अवश्य पूर्ण करेंगे। इस सङ्कल्पका पूर्ण करना ही सच्चे अर्थोंमें हमारी श्रद्धाञ्जली होगी—

'यह दीपक सत्य-अहिंसाका,<br>पलभर न कभी बुझने देंगे।'

( सेठ ) मिश्रीलाल 'काका'<br>बेलगछिआ, कलकत्ता

## एक अनोखा व्यक्तित्व

यों तो संसारमें प्रतिक्षण अगणित प्राणियोंका जन्म और मरण होता रहता है, पर जीवन उसी व्यक्तिका महान् माना जाता है, जो अपने त्याग और तपश्चरण द्वारा जीवनकी विकृतियोंको सुकृतियोंके रूपमें परिवर्तित कर देनेकी क्षमता रखता हो और जिसने अपने सुख और विलासका त्याग समाजके उन्नयनके लिए किया हो। गुरुगोपालदासका ऐसा अनोखा व्यक्तित्व था जो सदा पर कल्याणके लिए तिल-तिलकर जलता रहा। सङ्कुचित दकियानूसी विचारधाराओंका अन्त कर देनेवाले

गोपालदासको कोई नहीं भूल सकता है। वास्तवमें वे ऐसे महान् व्यक्ति हैं, जो संसारके समस्त प्राणियोंको अपने ही समान देखते और समझते हैं। 'घृणा पापसे हो न तु पापीसे' के सिद्धान्तका अहर्निश प्रचार करनेमे जिन्होंने अपने समय और शक्तिका सदुपयोग किया है, मै उस महान् गुरु, सच्चे पथ-प्रदर्शक और सिद्धान्तागमके ज्ञाता गुरुजीके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करता हूँ। उन्होने आजसे कई दशक पूर्व समाज-जागरणका जो शङ्खनाद किया है, वह कल्पान्तकाल तक अक्षुण्ण बना रहेगा। वे ऐसे पारस थे, जिनके स्पर्श और सम्पर्क मात्रसे अगणित कीट-कालिमादि युक्त लोहे-कण भास्वर कञ्चनके रूपमे परिवर्तित हो गये। उनकी आध्यात्मिक परम्परा शताब्दियों तक मानवका उपदेश देती रहेगी। उन्होंने केवल पचास वर्षके आयुष्यमे जिन विराट् और महान् कार्योंका सम्पादन किया, वे कल्प और सागरके आयुष्यमें भी शायद ही सम्पन्न हो पाते। मै उस अमर नेताको पुनः अपनी श्रद्धाभक्ति समर्पित करता हूँ। मुझे विश्वास है कि उनके अनोखे व्यक्तित्वसे आबालवृद्ध सभी सर्वदा कुछ सीखते रहेंगे।

( सेठ ) जगन्नाथ पाण्ड्या, कोडरमा

## गौरव गिरि

किसी भी समाजका महत्त्व न तो कागजके टुकड़ो से है, न स्वर्ण रजतके आभूषणोंसे और न गगनचुम्बी उन्नत अट्टालिकाओंमे ही। समाजका वास्तविक महत्त्व तो उन ज्ञानी, परोपकारी, समाजसेवी महान् व्यक्तियोंसे होता है, जो अपने त्याग और परिश्रम द्वारा समाजका विकास करते है। जिनके ज्ञानकी ज्योतिसे चारो ओर आलोक व्याप्त हो जाता है, और जिनकी प्रतिक्रियाएँ समाजका नये रूपमे पुनः संगठन करती हैं। वास्तवमे गुरु गोपालदास ऐसे गौरव गिरि है, जिनके कार्योंमे समस्त जैन समाज अपनेको महत्त्वशाली मानता है। उन्होने ज्ञानी शिष्योंकी परम्पराका प्रवर्तन तो किया ही, साथ ही आर्य समाजके साथ शास्त्रार्थ सम्पन्न कर जैनधर्मकी उत्कृष्टता भी सिद्ध की है। उनके कार्य व्यक्तिविशेषके कार्य नही है। वे तो वास्तवमे एक संस्था थे, जिसने ज्ञान-प्रचार, सिद्धान्त विश्लेषण एवं नैतिक सिद्धान्तोकी प्ररूपणा कर समाजको अभ्युदयके गिरि पर प्रतिष्ठित किया। जहाँ उनकी वाणीमे सुधा-रस है, वहाँ उनके कार्योंमे विवेकपूर्व पुनर्मूल्याकन करने की क्षमता भी। व्याख्यान, प्रचार, चर्चा, अध्यापन, लेखन एवं सम्पादन आदि बहु विषयक प्रवृत्तियों द्वारा समाजका सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान करनेमे उन्होंने अटूट श्रम किया है। यदि हम उन्हें जैन जगत्का शङ्कराचार्य कहें तो अत्युक्ति नही होगी। अपने थोडे से ही जीवनकालमे गुरुगोपालदासजीने इतने अधिक कार्योंका सम्पादन किया है जिससे वे एक महा-मानवके रूपमे परिलक्षित होते है। मै आदर्शमूर्त्ति, गौरवगिरि गोपालदासजीके प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। वास्तवमे वह समाज धन्य है जिसने गुरुगोपालदास जैसी विभूतिको जन्म दिया। उस स्थानकी महनीय रज पावन है जिसमे क्रीड़ाकर गोपालदासने अपना बचपन व्यतीत किया और वह चम्बलघाटी कृतार्थ है जिसे गुरुगोपालदासकी कर्मभूमि होनेका सौभाग्य मिला है। मै पुनः उनके महनीय कार्योंका स्मरण करते हुए अपनी हार्दिक श्रद्धाभक्ति समर्पित कर पुलकानुभूति प्राप्त करता हूँ।

( सेठ ) भगवानदास ( बीड़ीवाले )
सागर

## मानवताके उन्नायक

प्राणीमात्रमे सिद्धत्व और बुद्धत्व उपलब्धिकी सम्भावनाएँ निहित है, पर अपनी शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओंके कारण कुछ ही ऐसे महानुभाव है जो विवेक बुद्धिको प्राप्त कर जीवनकी सञ्जीवनी धर्मविद्याके रहस्यको अवगत कर पाते है। गुरुगोपालदास ऐसे ही मननशील व्यक्ति थे जिन्होने धर्मविद्याके रहस्यको यथार्थरूपमे अवगत किया था। उन्होंने मानवसमाजको मैत्री, प्रेम और सद्भावनाका संदेश दे स्वस्थ और क्रियाशील समाज निर्माणका यत्न किया था। वे सुधारकी उस मशालको लेकर आगे बढ़े जो मानवताका युग युगान्तर तक पथ आलोकित करती रहेगी। उन्होंने अपने आलोचकोकी परवाह न की। गाली देनेवाले या बहिष्कार करनेवाले व्यक्तियोंके प्रति भी वे असहिष्णु न बने और एक सच्चे धर्मवीरकी तरह समाज कल्याण के मार्गमे प्रवृत्त होते रहे। उनका त्याग और सत्प्रयास ही आज हमारे लिए मङ्गलमय सिद्ध हो रहा है। उन्होने ऐसे रचनात्मक अनुष्ठानोंका आरम्भ किया, जिनका पूर्ण फल अब हमें प्राप्त हो रहा

है। उन्होंने नैतिक पतनकी ओर जाते हुए समाजको नव-जागरणकी प्रेरणा दी। मनोमालिन्य, वैमनस्य और संघर्षकी ओर कदम बढ़ाते हुए जैन समाजको मैत्रीकी बात कही। उनके द्वारा सम्पादित 'जैनमित्र' वस्तुतः समाजका एक सच्चा मित्र था जो लोक कल्याणकी बातें जनसमूहको बतलाता था। मैं उस क्रान्तिकारी मानवताके उन्नायक गुरु गोपालदासजी की स्मृतिमे अपनी मूक श्रद्धांजलि अपनी ओरसे तथा समस्त जबलपुर समाजकी ओरसे समर्पित करता हूँ। मुझे ही नही अखिल जैन समाजको गुरुगोपालदासके अमर व्यक्तित्वका गौरव सदा बना रहेगा।

हरिश्चन्द्र जैन
अध्यक्ष जैन समाज, जबलपुर

## निष्ठाशील गुरुगोपालदास

व्यक्तित्वकी दो प्रमुख दिशाएँ है—ज्ञानप्राप्ति और जनकल्याण। गुरुगोपालदासजीमे ज्ञानार्जनकी दुर्दमनीय अभिलाषा थी। उन्होंने अपने स्वाध्यायके बलसे गहनतम ग्रन्थोंका पाण्डित्य प्राप्त किया था। सरस्वती उनकी जिह्वा पर वर्त्तमान थी। अपूर्व क्षयोपशमके साथ निरन्तर श्रम साधना द्वारा उन्होंने प्रमुख भारतीय भाषाओं और उनके साहित्योका अगाध पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। यही कारण है "उनमे यह संसार वस्तुत आज विशेष अलंकृत" की उक्ति चरितार्थ हो रही है। ज्ञान साधना और श्रम ही जीवनमे सभी प्रकारकी उपलब्धियाँ उत्पन्न करते है, इसमे सन्देह नही। उनकी शिष्य परम्परामे पण्डित माणिक्यचन्द्र न्यायाचार्य, पं० वंशीधर न्यायालकार, व्याख्यानवाचस्पति पं० देवकीनन्दन एवं न्यायालंकार प० मक्खनलाल प्रभृतिने उनके द्वारा समर्पित ज्ञानदीपको अपने हाथोमे लेकर सहस्रो मोमबत्तियों को प्रकाशित किया है। आज ये मोमबत्तियाँ भी साधारण बल्ब नही है, बल्कि मर्करी ( Mercury ) का कार्य सम्पादन कर रही है। गुरुगोपालदासजी ज्ञानी होनेके साथ परम नैष्ठिक और धर्मात्मा व्यक्ति थे। उन्होंने बडी ही दृढताके साथ श्रावकाचार का पालन किया था। मै उस निष्ठाशील व्यक्तित्वके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। वास्तवमे उनके कार्य कलाप समय-धूलिसे सदा अलिप्त रहेगे।

राजकृष्ण जैन
अहिंसामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली

## अनन्य नेता

गुरुगोपालदासने समाजका नेतृत्व लगभग तीन दशको तक बडी ही निपुणतासे किया है। उन्होंने ज्ञान प्रचार और धर्मप्रचार द्वारा जनकल्याणका सम्पादन कर इतिहासके एक नये अध्यायका प्रणयन किया है। उन्हें संसारकी किसी भी एषणाने आकृष्ट नही किया। वे नवोत्थानके संदेशवाहक क्रान्तिकारी जननेता थे, समाजकी रूढिवादी परम्पराओका उन्मूलन करनेमे उन्होने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। वे सर्वथा न प्राचीनताके समुन्यापक थे और न सर्वथा अर्वाचीनताके सम्पोषक ही। सत्य और औचित्य ही उनके लिए जीवनके सच्चे मानदण्ड थे। तटस्थ दृष्टिसे उन्होने समग्र भारतीय दर्शनोका अध्ययन, मनन और चिन्तन कर अपनी प्रतिभाको तीव्र बनाया था। स्याद्वादका समन्वय सिद्धान्त उनका सबसे बडा सम्बल था जिसका वे जीवन और जगत्के कार्योंमे निरन्तर उपयोग करते थे। जन-जनके जीवनको नैतिकतासे प्रशिक्षित करना ही उनका व्यसन था। वे नैसर्गिक कुशल अध्यापक और विश्वबन्धुताके प्रतिष्ठापक थे। मैं उस अनन्य नेताके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ जिसने निःस्वार्थ भावसे जैन जगत्की अन्तिम श्वासतक अपूर्व सेवा की है। उन जैसा सच्चा विचारक समाज हितैषी, क्रान्तिकारी एवं नई सूझ बूझसे युक्त नेता कम ही समाज या वर्गोंको प्राप्त होता है।

भागचन्द्र इटोरिया
दमोह

## जैनविद्याके अग्रदूत

गुरुगोपालदासजीने उस तूफानके वेगमें जबकि डिप्टी चम्पतराय जैसे महानुभाव पाश्चात्य शिक्षा-प्रणालीके आधारपर कॉलेज स्थापनाके लिए प्रयास कर रहे थे, अपनी सारी शक्ति लगाकर जैनविद्याकी ध्वजाको उन्नत किया। उन्होंने लेखन और प्रवचनों द्वारा आत्मोन्नतिके सहायक जैन वाङ्मयके अध्ययनका मर्म उद्घाटित किया। उनका अभिमत था कि यदि समाज उन्नत होना चाहता है, अपना हर दिशामें विकास चाहता है तो उसे जैनविद्याका अध्ययन अध्यापन अवश्य ही करना कराना होगा। संसारके समस्त लौकिक ज्ञानोंका मूलाधार आध्यात्मिक ज्ञान ही है। भारत जैसा धर्मप्राण देश नैतिकता खोकर कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकता। नैतिकताकी प्राप्ति धर्मग्रन्थोंके अध्ययन अध्यापनसे ही सम्भव है। अतः समाजको सुखी और शान्त बनाये रखनेके लिए धर्मशास्त्रका अध्ययन परमावश्यक है। व्यक्तिके साथ समाजका कल्याण या अभ्युदय भी सत्य और अहिंसाके नैतिक प्रचारके बिना असम्भव है। मैं उस 'गुरुणां गुरु' के प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति समर्पित करता हूँ, और बलपूर्वक भावना प्रकट करता हूँ कि—

"अमित युगों तक हम गायेंगे
विमल तुम्हारी महिमा।"

नेमकुमार जैन
१. महाजन टोली, आरा

## जीवन्त व्यक्तित्व

भारत ही एक ऐसा देश है जिसमें कोरे ज्ञानकी पूजा नहीं होती। यहाँ वन्दनीयके लिए ज्ञान और चारित्र इन दोनोंका होना अनिवार्य है। भगवान् महावीर भगवान् बुद्ध और महात्मागाँधी सेवा, त्याग, तपश्चर्या एवं निःस्वार्थ बुद्धि-वीतरागके कारण ही वन्दनीयत्वको प्राप्त हुए थे। गुरुगोपालदास भी इसी शृङ्खलाकी वह कड़ी है, जिसने स्वयं सन्तोष, संयम और ज्ञानकी प्रज्वलित दीपशिखा द्वारा जनमतको उद्बोधित किया है। मेरे नेत्रोन्मीलनके पहले ही उनका पार्थिव शरीर इस संसारसे उठ गया, पर उनकी यशोगाथा आज भी जीवन्त शिष्य प्रशिष्योंके रूपमें उपलब्ध है।

चरण चिह्नको देखकर व्यक्तिके व्यक्तित्वका अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार गुरुके शिष्योंको देखकर गुरुकी विद्वत्ता और नैतिकताका अनुमान लगाया जाता है। गुरुगोपालदासजीकी अमर शिष्यपरम्परा ही उनकी महत्ता और विद्वत्ताकी सूचना दे रही है। उनकी लेखनीसे निःसृत कृतियाँ, नया समाज और नये व्यक्तित्वके गठनकी रूपरेखा प्रस्तुत कर रही है। वे वास्तवमें जननेता थे। उन्होंने अपने अथक परिश्रम द्वारा समाज निर्माणका अपूर्व कार्य किया है। मैं उस जीवन्त व्यक्तित्वके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूँ जिसने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाद्वारा ग्रन्थलेखन, पत्र-सम्पादन एवं धार्मिक प्रवचनोंसे समाजका उद्बोधन किया है। उनका व्यक्तित्व युगान्तरकारी युगसंस्थापकके रूपमें सदैव स्मरणीय रहेगा।

कृष्णमोहन अग्रवाल एम० ए० (आनर्स)
प्राध्यापक, संस्कृत, एवं प्राकृत विभाग,
एच० डी० जैन कालेज, आरा

## विद्वानोंकी शृंखलाके जन्मदाता

मैं विद्वानोंमें इतना छोटा हूँ कि स्वर्गीय गुरु गोपालदासजी वरैयाके प्रत्यक्ष दर्शनका सौभाग्य मुझे नहीं मिल सका है। मात्र उनके सम्पर्कमें रहनेवाले विद्वानोंके प्रस्फुट कथानकों एवं उनके साहित्य—जैनधर्म प्रवेशिका, सुशीला उपन्यास तथा जैन सिद्धान्तदर्पणके अवलोकनसे उनके विषयमें श्रद्धा उत्पन्न कर सका हूँ। उस युगमें जब कि जैन विद्वानोंकी अत्यन्त कमी थी तथा जैनधर्मके उच्चकोटीके ग्रन्थोंका पठन पाठन प्रायः बन्द था, तब आपने ही अपने प्रयत्नसे विद्वानोंकी इस शृङ्खलाको जन्म दिया तथा उच्चकोटीके ग्रन्थोंका पठन पाठन समाजमें प्रचलित किया। इस शताब्दी महोत्सवके समय मैं उनके पवित्र चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

पन्नालाल साहित्याचार्य
मंत्री, भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

## अनुपम रत्न

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् जैन सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान् स्व० पं० श्री गुरु गोपालदासजी वरैयाकी स्मृतिमें एक स्मृति ग्रंथ प्रकट कर रही है। श्री गुरु गोपालदासजी वरैया जैन समाजके अनुपम रत्न व प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उनके द्वारा की गई जैनधर्म एवं समाजकी सेवायें महान् हैं। आज भी उनके पास पढ़े हुए विद्वान् समाजमें दृष्टिगत होते है, जिनसे जैन समाज अत्यंत लाभान्वित हो रहा है। मैं तो समझता हूँ कि समाजमें विद्वानोंका जितना अधिक आदर व सम्मान होगा उतना ही तत्त्वज्ञान व धर्मका प्रचार जनतामें अधिकाधिक हो सकेगा। वर्तमानमें भी विद्वानोंको समाजमें अधिकाधिक सम्मान व सहयोग मिलना चाहिये।

आपके द्वारा एक विद्वान्के सम्मानार्थ जो वरैया स्मृति ग्रंथ प्रकट किया जा रहा है, वस्तुत: आपका यह कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है। मैं स्व० पूज्य श्री गुरु गोपालदासजी वरैयाके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि प्रकट करता हूँ।

(सेठ) हरकचन्द जैन, राँची

## कर्मठ विद्वान

"यह समस्त दिगम्बर जैन समाजका परम सौभाग्य है कि गुरुवर्य श्री गोपालदासजी वरैया जैसे कर्मठ विद्वान हमें मिले। जिन्होंने समाजमें विद्वानों और पण्डितोंकी गौरवशाली परंपराका प्रवर्तन किया। मैं आपके इस सद्‌प्रयासकी हार्दिक सफलता चाहता हूँ। और गुरुजीके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

चंदुलाल कस्तुरचंद
महामंत्री अ० भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई

## जैन समाज के गौरव

श्री मान् स्वं० पंडित गोपालदास जी वरैया की विद्वत्ता और उनके साहस, धैर्य और उदारता पर सारी जैन समाज को बहुत गौरव है।

उन्होंने जैनधर्म और जैन समाजका सिर ऊँचा किया। उनका चारित्र प्रशंसनीय था। उनके वचन मधुर और प्रभावशाली थे।

उनकी पुण्यस्मृतिमें मै भी अपनी श्रद्धा और भक्तिके पुष्प अर्पण करता हूँ।

लालचन्द्र जैन एडवोकेट, रोहतक

## उज्ज्वल चरित्र के धनी

पण्डित जी न केवल जैनदर्शनके पारदर्शी और तलस्पर्शी विद्वान् थे अपितु उज्ज्वल चरित्रके धनी भी थे। वे इतने निर्भीक थे कि गलत परम्पराओंके आक्रोशकी उन्हें कोई परवाह न थी। वे जैन समाजके अनेक अन्य पण्डितोंकी तरह रूढ़ियोंके गुलाम न थे। उन्होंने समाजमें ज्ञान और विद्याका जो प्रदीप जलाया उसका प्रकाश आज भी मानव मानसके अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर रहा है। उनमें श्रद्धा, ज्ञान और चरित्रका महान् सम्मिश्रण था, जो किसी भी पण्डितको विभूति कहलानेका हकदार है। उन्होंने रूढ़ियोंसे लड़नेमें वस्तुत: सफलता प्राप्त की थी। इनकी विभीषिकासे कभी मैदान छोड़कर पलायन करनेका विचार उन्होंने नहीं किया। वे हर पण्डितके लिये आदर्श एवं उदाहरण है। मैं इस अवसरपर उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित करनेमें अपना महान् गौरव समझता हूँ!

चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
प्रिंसिपल दि० जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

## अति महत्त्वशाली

श्रद्धेय गुरुवर्य्य पं० गोपालदासजी वरैयाके नाम और कामसे हमारी बुजुर्ग समाज तो कम-से-कम परिचित है ही, बहुतसे बुजुर्ग आज भी ऐसे होंगे जिन्होंने न केवल उनके दर्शन ही किये होंगे प्रत्युत उनके साथ कार्य भी किया होगा। वर्तमान विद्वत्समाजमें कुछ तो उनके साक्षात् शिष्य हैं, साथ ही विद्वानोंकी जो शृङ्खला है वह सब उन्हींकी देन है। मुझ जैसे बहुतसे विद्वान् होंगे जिन्हें उनके दर्शन करने तकका सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका है। इसमें कतई सन्देह नहीं कि उनकी विद्वत्ता और उनका प्रभाव दोनों ही अतीव महत्त्वशाली थे तथा उनका नैतिक जीवन आदर्शकी उच्चतम कोटी पर चमकता था।

ऐसी गौरवमय विभूतिकी जन्म शताब्दि मनानेका शुभ निर्णय विद्वत्परिषद्ने किया है और शास्त्रिपरिषद्ने भी इसमें वि० प० को सहर्ष सहयोग देनेका निर्णय कर लिया है। इससे उनकी जन्मशताब्दिके इस महोत्सवमें चार चाँद लग गये हैं। मैं तो इसे गुरुवर्य्यके प्रभावशाली व्यक्तित्वका ही सुफल मानता हूँ।

हम सब विद्वानोंमें सांस्कृतिक सुपथपर उनका अनुसरण करनेकी क्षमता प्रगट हो, यही मेरी आन्तरिक भावना है।

**वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना**
अध्यक्ष, भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

## भविष्य द्रष्टा

श्री गुरु पं० गोपालदासजी वरैया जैन समाजके सम्माननीय प्रामाणिक विद्वान् थे। उन्होंने जैन समाजकी जो सेवा की है अवर्णनीय है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाके, महाविद्यालयके वे मंत्री रहे, परीक्षालयके मंत्री रहे। यह वह समय था जब कि समाजमें धार्मिक संस्कृत शिक्षणका प्रसार नगण्य था। मुझे स्मरण है कि चौरासी—मथुरामें महासभाका अधिवेशन हो रहा था, श्रीमान् राजा सेठ लक्ष्मणदासजी सी० आई० ई० मथुरा, सभापति थे। उस समय गुरुजीने, एक विद्यार्थी जो प्रथम ही प्रथम न्यायदीपिकामें पास हुआ था, एक विद्यार्थी सर्वार्थसिद्धिमें पास हुआ था, उन्हें गोदमें उठाकर सारी सभाको बताया था कि ये विद्यार्थी न्यायदीपिका सर्वार्थसिद्धिमें पास हुये हैं। इसपर अपना हर्ष प्रगट करते हुए समाजका सौभाग्य जताया था। गुरुजीका इतना कहना था कि छात्रों पर दुशालों और रुपयोंकी न्योछावर होने लगी थी। इस प्रकार आपके द्वारा धार्मिक-संस्कृत शिक्षाके प्रचारमें बड़ा प्रोत्साहन रहा था।

आपने अपने जीवनको सत्य और प्रामाणिकतासे सदा ओत प्रोत रक्खा, जिसके अनेकों उदाहरण सामने आये थे। हमे उस महान पुरुषके जीवनसे अपने जीवनको सत्य और प्रामाणिक बनानेकी शिक्षा प्राप्त होती है।

जैनमित्रका सम्पादन कर आपने महती लेखन कलाका उद्योत किया था। कई स्थानोंपर आर्य समाज द्वारा जैन धर्मपर आक्रमण हुआ तब उन स्थानोंपर दौरा किया और अपने प्रभावशाली भाषणों द्वारा आक्रमणोंका सयुक्तिक उत्तरोंसे निराकरणकर अनेकान्तमयी जैनधर्मकी प्रभावना विस्तृत की थी।

दि० जैन समाजमे सैद्धान्तिक विद्वानोंके उत्पन्न होनेकी परम्परा बनी रहे, इसके लिये मोरेनामें दि० जैनसिद्धान्त महाविद्यालय बनाया और उसके द्वारा अनेको विद्वान् तैयार हुए जो आज भी धर्म-समाजकी सेवामें संलग्न है और उनके द्वारा जैन सिद्धान्तका प्रसार हो रहा हैं। इत्यादि, उनके गुणोंको जितना स्मरण किया जाय थोडा है। हम उनके प्रति अपनी विनययुक्त श्रद्धांजलि समर्पित करते हुये उनकी आत्माको केवलज्ञानी बननेकी मनोकामना करते है।

**पं० अमोलकचंद उड़ेसरीय, इन्दौर**

## मातृभाषाके हिमायती

भारतीय भाषाओं और विशेषकर हिन्दी के लिए किये गये उनके कार्यसे मैं भी थोड़ा बहुत परिचित हूँ, उनका कार्य सर्वथा स्तुत्य था, इस अवसरपर मैं उनकी स्मृतिके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आपके इस कार्यके लिए बधाई देता हूँ।

**नन्ददुलारे वाजपेयी**
उपकुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

## गुरूणां गुरु

आत्माका सबसे प्रमुख गुण ज्ञान है। ज्ञानके कारण आत्मा जड़पदार्थोंपर शासन करता है और जल नभ थलमें यथेच्छ विहार करता है, परमाणुको भी अपनी इच्छानुसार नचानेकी तथा प्रकृतिको अपनी आज्ञाकारिणी दासी बनानेकी क्षमता आत्मामें अपने ज्ञान, विज्ञान गुणके कारण ही प्राप्त है। उस ज्ञानगुण का विकास गुरुकी कृपासे हुआ करता है। गुरु ही अपने शिष्योंके ज्ञानपर पड़े हुए आवरणको हटाकर उनके हृदयमें ज्ञान ज्योति प्रबुद्ध करता है, अनेक अज्ञेय (दुर्ज्ञेय) और अज्ञात विषयोंका बोध कराता है, अतः विद्यागुरुके समान संसारमें कोई अन्य उपकारी नहीं है।

लगभग ७०० वर्ष तक भारत यवन-शासकोंके अधीन रहा, उस दीर्घकालमें न केवल धार्मिक अत्याचारोंका अन्धकार भारतमें व्याप्त रहा किन्तु उससे भी अधिक अज्ञान-अन्धकार हमारे देशमें फैला। यवन साम्राज्यमें महान विद्यालयोंका अस्तित्व मिट गया। इसके साथ ही मुसलमानोंके धार्मिक द्वेषने बड़े-बड़े ग्रन्थ-भण्डारोंको भी अग्निकी भेंट कर दिया। उस अत्याचार और महती क्षतिसे भट्टारकोंके ग्रन्थ-भण्डारोंने बहुतसे महान ग्रन्थोंको नष्ट भ्रष्ट होनेसे बचाया।

इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य देशोंका विद्यागुरु भारत जहाँ लौकिक ज्ञान विज्ञानमें अन्य देशोंसे पिछड़ गया, वहीं उसकी आध्यात्मिक ज्ञान ज्योति भी प्रायः बुझ-सी गई। यही कारण है कि यवन-साम्राज्यके अन्तिम समयमें तथा अंग्रेजी शासनके प्रारम्भमें सिद्धान्त-वेत्ता विद्वानोंका जैन समाजमें प्रायः अभाव था, उस समय साधारण छहढाला आदि ग्रन्थोंके जानकार व्यक्ति भी विद्वान माने जाते थे। नव-जाग्रत आर्य समाज अपनी हुङ्कारसे जैन समाजको चुनौती देता था, किन्तु उस चुनौतीको स्वीकार करके प्रतिहुङ्कार देनेवाला प्रभावशाली विद्वान जैन समाजमें कोई न था।

उस गहन अन्धकारको दूर करनेके लिये जैन समाजके सौभाग्यसे विद्वद्वर स्वनामधन्य गुरुवर पं० गोपालदासजी बरैयाका प्रकाश पुञ्ज सहस्रकिरण सूर्यके समान उदय हुआ। उन्होंने जैनसमाजको अपने सैद्धान्तिक प्रकाशसे प्रकाशमान करनेका बीड़ा उठाया, और अपने अन्तिम समय तक उस प्रणको निभाया, मुरेनासे छोटे कस्बेको भारत-विख्यात कर दिया, उसे समाजका ज्ञानस्थल बना दिया।

सबसे पहले संस्कृत भाषाके ठोस विद्वान दिवङ्गत श्रीमान पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर मुरेनामें श्रीमान पं० गोपालदासजी बरैयामे सैद्धान्तिक अध्ययन करने पहुँचे। तदन्तर उनके अनुज सिद्धान्तवारिधि श्रीमान पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़नेके लिये मुरेना आये। उसी समयसे श्री पं० 'गोपालदासजीका नाम 'गुरुजी' प्रसिद्ध हुआ। उन्हीं के शिष्य पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, स्व० पं० देवकीनन्दनजी आदिसे अध्ययन करके हमारी पीढीके विद्वान् तैयार हुए।

इस तरह वर्तमान दिगम्बर जैन विद्वानोंके गुरु ही नहीं, किन्तु गुरुणां गुरु प्रातः स्मरणीय, न्याय वाचस्पति, वादीभकेसरी श्री पं० गोपालदासजी बरैया हैं। उनके चरणोंमें श्रद्धा और विनयके साथ शतशः प्रणाम है।

पं० अजितकुमार शास्त्री
सं० जैन गजट

## जैनशासनके महान सेवक

गुरु गोपालदासजी बरैयाने जैन समाज और जैन शासनकी जो महान् सेवाकी है वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जाने योग्य है। जब समाजमें अनेक रूढियाँ और अज्ञानता फैली हुई थी। तब गुरुजीने समाजको जागृत किया तथा उसे वास्तविक बोध कराया। मोरैना जैन विद्यालयकी स्थापना करके जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंको उन्होंने तैयार किया। आज समाजमें जो ज्ञानका प्रकाश दिखाई दे रहा है उसमें अधिकांश हाथ गुरुजीका है। ऐसे उपकारी महापुरुषकी शताब्दीका मनाया जाना अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की सामयिक सूझ बूझ है। हम इस अवसर विद्वत्परिषद्को धन्यवाद देते हैं और गुरुजीको अपनी परोक्ष श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता

## महान् विद्वान्

श्री गुरु पं० गोपालदास बरैया अपने कालके महान् विद्वानोंमेंसे एक थे। उस समयमें करणानुयोग के पठन पाठनका प्राय अभाव हो गया था। आपने जैन समाजमें करणानुयोगका प्रचार किया और इसका पठन-पाठन पुन प्रारम्भ हो गया। करणानुयोगका विषय बहुत सूक्ष्म तथा गहन है तथापि आपने जैन-सिद्धान्त प्रवेशिका तथा सुशीला-उपन्यास आदिकी रचना कर इसको सरल बना दिया। इसके लिये जैन-समाज आपकी आभारी है।

रतनचन्द्र मुख्तार, सहारनपुर
अध्यक्ष, भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्

## महान उपकारी

४८ वर्ष पूर्वकी धुँधली स्मृति है। मेरे पिताजी ( पं० हजारीलालजी सिंघई ) गुरुजी द्वारा सम्पादित जैनमित्र पत्र मँगाते तथा पढ़ते थे। उसमें अधिकाश लेख और चर्चा गुरुजीकी ही रहती थी। पत्र बड़ा निर्भीक और विचारपूर्ण निकलता था। उसकी फाइलोंसे यह सहजमें जाना जा सकता है।

गुरुजीने जिस युगमें जन्म लिया था वह रूढियो और अज्ञानताका युग था। गुरुजीको उन्हे दूर करनेके लिए भारी संघर्ष करना पड़ा। दसाओको जैन मन्दिरोमे दर्शन-पूजा करनेका अधिकार न था। गुरुजीने उनके इस जन्म-सिद्ध अधिकारके लिए अदालतमे गवाहियाँ दी, फलत विरोधका सामना करना पड़ा। यद्यपि आज वह सब कल्पना जान पडेगी।

जैनधर्मपर आर्य समाजियो, सनातनियो आदिके द्वारा जो अनेक प्रकारके आक्षेप किये जाते थे, उनका गुरुजीने लेखो, पम्फलेटो, ट्रैक्टो, पुस्तको, भाषणो और शास्त्रार्थो द्वारा निराकरण किया तथा लोगोंको जैनधर्मके स्याद्वाद, सप्तभगी, अनेकान्त, गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणा आदि सिद्धान्तोका यथार्थ ज्ञान कराया। मोरैना जैन विद्यालय और आज दिखाई दे रहे जैनधर्मके ममज्ञ विद्वान् साक्षात अथवा परम्परया गुरुजीकी ही देन है। सुशीला उपन्यास, जैन सिद्धान्तदर्पण जैन सिद्धान्त प्रवेशिका जैसी अनूठी कृतियाँ उन्हीकी उपलब्धियाँ है, जिनपर हमे गर्व है। कहते है कि गोम्मटसारी जो स्थल और सदृष्टियाँ प्रतिभामूर्ति प० टोडरमलजीको समझनेमे नही आई थी, उन्हे गुरुजीने लगा ली थी और प० वंशीधरजी न्यायालकार जैसे प्राज्ञ छात्रोंको उन्होने समझा दी थी। ऐसा था गुरुजीका अद्भुत ज्ञान और प्रतिभा।

ऐसे महान् उपकारी, समाजसेवी, असाधारण प्रतिभाशाली और शासन-प्रभावी विद्वान्की स्मृति-शताब्दी मनाने-का निश्चय करके विद्वत्परिषदने एक ऐसी परम्परा स्थापित की है जो कृतज्ञताकी सूचक है तथा ज्ञान एव ज्ञानियोंके आदरको भी प्रोत्साहन देनेवाली है। मै इन पावन क्षणोपर गुरुजीको अपनी श्रद्धापूर्ण परोक्ष विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

दरबारीलाल कोठिया
जैनदर्शन-प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
मन्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

## लोकोपकारी गुरू

पूज्य गुरुजी ( पं० गोपालदासजी बरैया ) ने अपने लोकोपकारी जीवन द्वारा जगतके प्राणियोंके समक्ष यह आदर्श उपस्थित किया था कि इस क्षणभङ्गुर जीवनको किस प्रकार सफल बनाना चाहिये। जो अपने वर्तमान जीवनको आगामी महान् जीवनका उपादान नही बनाता उसका जीवन पशु-पक्षियो आदिके समान निरर्थक है।

धन्य है पूज्य गुरुवर्यजीको जिन्होने अपने लौकिक कार्योको गौणकर पारमार्थिक कार्योंके लिये प्रमुखता प्रदान की जिसके फलस्वरूप वे क्रमश अनन्त शान्तिके भाजन होगे इसमे सन्देह नही है। साथमे उनके द्वारा प्रकाशित मार्गका अनु-सरण करनेवाले व्यक्ति भी उन्हीके समान शान्ति-साम्राज्यके अधिकारी होगे।

प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञानादि गुणोंका भण्डार है परन्तु संसारमें अपनी उक्त निधिको भूलकर कस्तूरी मृगके समान बाह्यमें उसको प्राप्त करनेका प्रयास करता हुआ दुःखी हो रहा है। ऐसे दुखी प्राणियोंके दुखको देखनेमें असमर्थ होकर अनुकम्पा वश पूज्य गुरुवर्यने विद्यालयों द्वारा एवं अपने सदुपदेशों और सुलेखों द्वारा सम्यग्ज्ञानका प्रसारकर उनके भ्रम रोगको दूर करनेका सतत प्रयत्न किया है। आज समाजमें जो सिद्धान्तके विशेषज्ञ अनेक विद्वान् दृष्टिगोचर होते हैं यह उन्हीं की देन है।

यद्यपि हमको उनकी साक्षात् शिष्यताका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है तथापि उनके साक्षात् शिष्य पूज्य पं० उमरावसिंहजी ( ब्र० ज्ञानानन्दजी ) के माध्यमसे उनकी ज्ञान किरणोंके लाभका सुअवसर प्राप्त हुआ है। पूज्य गुरुवर्य सदा इस प्रयत्नमें रहते थे कि हमको जो ज्ञान प्राप्त है शिष्यगण उसका पूरा लाभ ले लें। निह्नवादि दोष उनसे कोसों दूर थे। हमको यह कहते हुए प्रसन्नताका अनुभव होता है कि जो कुछ धार्मिक ज्ञानका लेश हमको प्राप्त हुआ है वह उक्त गुरुवर्योंका ही प्रसाद है। अतः कृतज्ञताके भारसे नम्रीभूत होकर हम अपने गुरुवर्य ब्र० ज्ञानानन्दजी एवं दादा गुरु पूज्य गुरुवर्य पं० गोपालदासजी वरैयाके पुनीतचरणोंमें विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

दयाचन्द्र शास्त्री
आचार्य, श्री गणेश दि० जैन संस्कृत कालेज सागर (म० प्र० )

## चारित्र मूर्ति श्रावक गुरु

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि भारतवर्षीय दि० जैन विद्वद् परिषद् महामान्य गुरुगोपालदासजी वरैयाकी स्मृतिमें एक स्मृति ग्रन्थ निकालनेका प्रयत्न कर रही है। गुरुगोपालदासजी वरैया जैन समाज एवं जैन धर्मके अद्वितीय गुरु एवं सच्चे उपदेष्टा रहे हैं।

आजकल जो भी विद्वान् समाजमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब उन्हीके परम्परागत शिष्योंमें से हैं। मुरेनाका जैन महाविद्यालय उनकी कीर्तिलता का ज्वलन्त उदाहरण है।

जैन धर्मकी शिक्षाका प्रसार करनेमें उन्होंने अपना तन मन धन लगाकर भारतके सभी सम्प्रदायके विद्वानोंको बता दिया था कि आत्मोत्थान जैन धर्मरूपी आध्यात्मिक प्रेरणासे ही सम्भव हो सकता है। आज यद्यपि वे हमारे बीचमे नहीं है पर उनके सार गर्भित, परोपकार एवं अध्यात्मरूपी उपदेश आज भी हम सबको सही मार्ग दिखानेमें उन्नतिकारक हैं। मैं अपनी तथा दि० जैन परिषदकी ओरसे चरित्र मूर्ति-श्रावक गुरु गोपालदासजी वरैयाके प्रति सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि आजकल उनके परम्परागत शिष्योंमें जो थोड़ा बहुत आपसी मनमुटाव चल रहा है वह शीघ्र ही उनकी यादमे समाप्त होगा और हमारा विद्वद्वर्ग अपने महामान्य गुरुकी यादमें उनके सदुपदेशोंका प्रचार करके उनके मार्गका अवलम्बन कर समाज व देशको सही मार्ग दिखाता हुआ उनकी कीर्तिलताको अक्षुण्ण बनाकर अपनेको कृतार्थ करेगा।

पं० शीलचन्द्र जैन शास्त्री
महामंत्री, अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद, दिल्ली

## गुरुणाम् गुरु पं० गोपालदासजी वरैया

आजसे ६० वर्ष पूर्वकी बात है कि हमने स्वनामधन्य गुरु गोपालदासजी वरैयाको बम्बईमे देखा था तथा हम उनके साथ-साथ ही बोरीबंदरसे बेलगाम गये थे। वहाँ दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का अधिवेशन था। उसके सभापति पं० गोलदासजी वरैया ही थे। आपको बेलग्राममें अभूत पूर्व मान मिला था। आप स्पष्ट वक्ता थे। आपका भाषण लंबा व बहुत उपयोगी हुआ था। दक्षिणमें धरेजा ( विधवा विवाह ) का रिवाज सेतवाल आदि जातियोंमें है। उसका शास्त्रोक्त विरोध आपने अपने भाषणमें निर्भीक रूपसे किया था। आप पाच अणुव्रत का संपूर्ण रूपसे पालन करते थे। आप सीधे सादे देशी वस्त्रधारी थे। आप मोरेना विद्यालय स्थापन कर अनेको उद्भट विद्वान तैयार कर गये है।

बरैयाजी तो 'जैनमित्र' के स्थापक व प्रथम संपादक आजसे ६७ वर्ष पूर्व थे। 'जैनमित्र' की संपादकी ७ वर्षों तक आपने अतीव निडरता पूर्वक शास्त्रोक्त रूपमे ही सफलता पूर्वक की थी। आप किसीसे डरनेवाले नहीं थे। सत्य पालनके लिये तो कई नौकरियाँ छोड़ दी थीं। अधिक क्या लिखें। बरैयाजी तो दिगंबर जैन विद्वानोंमें एक आदर्शरत्न थे। आपका नाम चिरकालतक दि० जैन समाजमें अमर रहेगा। उनके लिये हम हमारी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं।

मूलचन्द किसनदास कापड़िया
संपादक जैनमित्र व दिगंबर जैन, सूरत

## धर्मकी साक्षात् मूर्ति

प्रथम ही मै स्वर्गीय वादीभकेसरी श्री गुरु पं० गोपालदासजी बरैया को स्मरण करते हुए कुछ शब्द उनके गुणोंके रूपमे स्मरण कर उनके चरणोंमें श्रद्धांजली समर्पण करता हूँ। ऐसे महान पुरुषोंको श्रद्धाजली तो स्वर्गके देव भी सहर्ष देते है। वह तो धर्मकी सच्ची श्रद्धाके लिये दृढ प्रनिज्ञ थे, निर्भीक थे, मन वचन काय पूर्वक पूर्ण सत्यवादी थे। इसलिये वे महान अद्वितीय पुरुष थे, परम दयालु थे। अपने समयमे उनकी विद्वत्ता उन्हींमें थी जो दूसरोंमें नही पाई जाती थी। विधर्मी बडे-बडे विद्वानोंका हृदय उनका नाम सुनकर शून्य हो जाता था। सचमुच ऊपर लिखे उनके नामसे पहिले वादीभकेसरी यह गुण उनमे पूर्ण रूपसे था। अनेक उपद्रव कठिनाइयाँ आजानेपर भी वह अपने सिद्धान्तमे अडिग रहते थे। परम उदार थे। उन्होंने मोरेनामें विद्यालय खोलकर अनेक बडे विद्वान् बनाये जो इस समय भी धर्म प्रभावना और समाज सेवा कर रहे हैं और उसी प्रकार अनेक विद्वान तैयार कर रहे हैं। श्री पंडितजी मे विद्वत्ताका एक खास यह गुण था कि जो सैद्धान्तिक प्रश्न दूसरे विद्वान् हल नही कर सकते थे वह चन्द मिनटोमे ही पूर्णरूपमे हल कर दिया करते थे जो दोनो पक्षोको पूर्ण मान्य होते थे। वे धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे।

मै ऐसे स्वर्गीय गुरु वादीभकेसरी प० गोपालदासजी बरैयाके चरणोमे भक्तिपूर्वक शुद्ध हृदयसे श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

बाबूलाल जैन, खतौली

## महा मानव

गुरुगोपालदासजीने सर्वप्रथम संस्कृत वाङ्मयके उद्धारके लिए भारतीय दिगम्बर जैन महासभा की ओर से संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापना की। जैन वाङ्मयके अध्ययन प्रचारके हेतु आपने भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालय की स्थापना और सफलतापूर्वक संचालन किया।

आपने मध्यप्रदेश मे चम्बलघाटीके परम पवित्र तथा अत्यन्त रमणीय स्थान मोरेनामें संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापना की और स्वयं निःशुल्क रूप से छात्रोको जैन वाङ्मय और दर्शन के प्रमुख ग्रन्थोंका अध्यापन आरम्भ किया। प्राचीन ऋषि-मुनियोके समान ही छात्रोकी देखरेख एवं शिक्षा-दीक्षामें लीन रहते थे। बीसवी शताब्दीमे अक्षरशः गुरुकुल एवं ऋषिकुलकी परम्परा आपके विद्यालयमे आ गई।

वास्तवमे स्याद्वाद वारिधि, वादिगज केसरी श्री गुरु गोपालदासजी बरैया सर्वतोमखी प्रतिभा सम्पन्न एक प्राचीन ऋषिवत् थे। उनकी जिह्वा पर सरस्वती वास करती थी। कोई भी प्रतियोगी विद्वान् उनके सम्मुख श्रीहत् और नतमस्तक हो जाता था। सत्य, अहिंसा, अचौर्य एवं अपरिग्रह व्रतका व्रती वह महामानव केवल ५१ वर्षकी अवस्थामे वि० सं० १९७४ मे निर्वाण-पदको प्राप्त कर गया।

उस महामानवकी ज्ञान-किरण अनन्तकाल तक भारतवर्षको ही नही संसारभरको प्रकाशित करती रहेगी।

धराको प्रमाण यही तुलसी,
जो फरा सो झरा और बरा सो बुताना।

मै श्री गुरुगोपालदासकी इस पावन जयन्तीके अवसर पर आरा नागरी-प्रचारिणी-सभा-परिवार तथा अपनी ओरसे हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

रामप्रीत शर्मा 'प्रियतम'
प्रधान मन्त्री, ना० प्रा० सभा, आरा

## हम सब उनकी ही प्रजा हैं

हमारी गुरुकुलसंस्थाएँ विशेषतः कारंजा श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम स्व० पूज्य गुरुगोपालदासजीका परम्परासे विशेष ऋणी हैं। दक्षिणमें [ मराठी प्रान्तमें ] जैन धर्मज्ञानका जो स्रोत प्रवाहित हुआ है उसका मूल उद्गम विशेषतः स्व० पूज्य विद्वद्वर्य व्याख्यानवाचस्पति महामना गुरुवर्य पंडित देवकीनन्दनजी सिद्धान्त-शास्त्रीको है। आप स्वर्गीय गुरु-गोपालदासजीके अन्यतम शिष्योंमेंसे कृपापात्र शिष्य रहे हैं, जिसका स्वयं पंडित देवकीनन्दनजीको स्वाभिमान और विशेष गौरव था। समाजकी जो व्यापक और वैशिष्ट्यपूर्ण सेवा बन पाई उसे वे गुरुगोपालदासजीकी सचेतन विरासत मानते थे। आपका निवास कारंजामें बीस वर्षसे ज्यादा रहा है। संस्थाके आप धर्माध्यापक, ट्रस्टी एवं उपाधिष्ठाता भी रहे। संस्थाका रूप और आकारप्रकारके निर्माणमें आपका ठोस अनुभव और मार्गदर्शन विशेषरूपसे कारण रहा है। आपको मोरेनासे यहाँ पर निमन्त्रित करनेमें संस्थाके पू० अधिष्ठाता १०८ मुनि श्री समंतभद्रजी [पूर्वाश्रमीय ब्र० देवकुमारजी] और विद्वद्वर्य श्रीमान् स्व० प्रद्युम्नसाहुजी तथा स्व० श्रीमान् जयकुमारजी चवरे वकील साहिबकी विशेष भावना और प्रयत्न था। यहाँ पर सेवाकालमें आपकी संस्थाके प्रायः सभी कार्योंमें विशेष दिलचस्पी और तन्मयता तथा लगन थी। संस्थाको आपने अपनी निजी माना था। अध्यापनमें रत्नकरंड, द्रव्यसंग्रह सागारधर्मामृत, क्षत्रचूडामणि; सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, प्रवचनसार, राजवार्तिक, पंचाध्यायी और धवलाके कुछ खण्ड भी पढाये। साथ ही साथ न्याय ग्रन्थोंमें न्यायदीपिका, प्रमेय-रत्नमाला, आप्तपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्तंड और अष्टसहस्री इन ग्रन्थोंको भी सुरुचिपूर्ण पद्धतिसे पढाया। साथ ही मानवी जीवनके आदर्श और मानवताके कुछ देव दुर्लभ अंशोंका समय समयपर वक्तव्यों द्वारा तथा साक्षात् छोटे मोटे व्यवहारोंद्वारा स्वयं परिचय कराया। उनके कथनानुसार इसका सब श्रेय गुरुगोपालदासजीको ही है। हम सब उनकी ही प्रजा हैं।' कुछ भी हो पंडितजीकी ज्ञानधारा, व्याख्यानका प्रवाह और समीचीन मार्गदर्शन, परम-परोपकारिता आदिमे संस्थाएँ—संस्थाका अध्यापक वृंद, छात्रवृंद सभी विशेष ऋणी हैं। यदि यह मूल स्रोत गुरुकुल संस्थाओंको प्राप्त न होता तो गुरुकुलका अभिप्रेत रूप न रह पाता।

१. श्री बाहुबली विद्यापीठ २. श्री दि० जैन गुरुकुल सोलापुर

३. श्री स्तवनिधि पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम ४. श्री भुजबली ब्रह्मचर्याश्रम कारकल

५. श्री पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल खुरई ६. श्री कंकुबाई श्राविकाश्रम कारंजा।

७. श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम एलोरा [ औरंगाबाद ]

इन विद्यमान संस्थाओंमें कार्य करनेवाले कार्यकर्ता लोग आपकी शिष्य परम्परामें से ही हैं।

आपके व्याख्यानोंसे गुरुकुलीन छात्र तथा नगरवासी तथा प्रान्तीय जनता विशेष प्रभावित थी। समय समय पर आप स्व० गुरुगोपालदासजीके व्यक्तित्वके विषयमें, विद्वत्ताके विषयमे तथा समाजमें जो ज्ञानधारा प्रवाहित हुई उस विषयमें, यत्र तत्र विविध क्षेत्रमें जो समाज सेवाएँ बनी उन विषयोंका परिचय कराते रहे, जिससे हम सब छात्रोंको पंडितजीके विषयमें प्रसन्नता, अत्यन्त बहुमान आदर तथा पूज्यभावना निर्माण हुई।

स्व० पूज्य गुरुगोपालदासजीके इस जन्म शताब्दिके परम पावन पुनीत तिथिमें सब ही गुरुकुलोंका अध्यापक वृंद अत्यन्त भक्तिपूर्वक परम श्रद्धासे श्रद्धावनत होकर उन महान परम्परा गुरुवरके श्रेष्ठ चरणोंमें अपनी भक्तिपूर्वक श्रद्धांजली अर्पण करता है।

### श्रद्धावनत

माणिकचन्द जयकुमार चवरे, न्यायतीर्थ कारंजा

माणिकचन्द्र जयवंतसा भीसीकर न्यायतीर्थ एम० ए० बाहुबली

माणिकचन्द्र शिवलाल शहा न्यायतीर्थ बाहुबली

सुमेरचन्द के-जैन एम० ए० बी० टी० (सोलापुर)

आदिनाथ भा० सोनटक्के एम० ए०बी०टी० (सोलापुर)

धन्यकुमार गंगासा भोरे बी० ए० एल० एल० बी० (कारंजा)

श्री वर्धमान श्यामलाल जैन एम-कॉम (नागपुर)

प्रेमचन्द देवचन्द शहा एम० ए० एल० एल० बी० ( कारंजा )

पं० भुवनेन्द्र कुमार जैन न्याय-काव्यतीर्थ ( खुरई )

माणिकचन्द पांडुसा हजारे बी० ए०बी०टी० ( एलोरा )

पं० पद्मनाभ श्रीवर्मा शेट्टी एम०ए०,डी०लिट्( लन्दन )

शान्तिकुमार रामलाल लोहाड़े बी०ए० एल-एल० बी० ( नासिक )

जयचन्द रामलाल लोहाडे एम० ए० एल० एल० बी० ( हैदराबाद )

चिन्तामणि चंप्पा उपाध्ये ( स्तवनिधि )

सुश्री मंजुलाबेन दहेनाल ( श्रीकंकुबाई श्राविकाश्रम ) कारंजा

## महान् मनीषी

कर्मठता, लगन, त्याग और निस्वार्थ भावने पुरुषार्थका योग पाकर आजसे १०० वर्ष पूर्व गुरुवर श्री गोपालदासजी वरैयाके रूपमें एक ऐसे महापुरुषको जन्म दिया जिसने न केवल स्वयंका कल्याण किया वरन् अपनी प्रतिभासे जैन वाङ्मयकी जनसाधारणके मनमें पुनः प्रतिष्ठा कर राष्ट्रके कोटि-कोटि जनोंको आत्मकल्याणका मार्ग प्रशस्त कर दिया। किसी भी राष्ट्र या समाजको ऐसे महापुरुष पर जो अपनी कर्मठता एवं लगनसे समाजमें नव जागरण लाकर, त्याग और निस्वार्थ सेवाका आदर्श उपस्थित करते हुए अपने पुरुषार्थसे युगकी दिशाको बदलकर रख दे, गर्वका अनुभव होना स्वाभाविक है।

आज समाजमें ज्ञान-विज्ञानका जितना आलोक है, वह श्री वरैयाजीके पुण्य प्रयत्नोंका ही परिणाम है। भले वे हमारे बीच नहीं है किन्तु उनके कीर्तिस्तम्भोंके रूपमें आज भी समाजमें अनेकों विद्वान् उनकी परम्परा को, उन्हींके दर्शाये हुए मार्ग पर चलते हुए कायम रखे हुए हैं।

प्रत्येक उस गृहस्थके लिए जो स्वार्थ, मोह एवं परिग्रह रूपी अपनी दुर्बलताओं को परिस्थितियोंके मत्थे मढ़कर आत्म सन्तोष कर लेते है, गुरुवर वरैया जी का जीवन, यह सन्देश देता है कि अपनी उन्हीं दुर्बलताओंसे ऊपर उठकर ही वास्तवमें स्वाभिमानका, पुरुषार्थका जीवन जीना सम्भव है और तभी वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

ऐसे महान मनीषीके चरणोंमें श्रद्धाके पुष्प समर्पित करते हुए मैं अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

**चौ० रामचरणलाल**

स्थायी मंत्री, श्री दिगम्बर जैन महिलाश्रम ट्रस्ट कमेटी, सागर

## जैनसिद्धान्तके प्रकाण्ड विद्वान्

जैनसिद्धान्तके अध्यापन और उसके विकासमें गुरु गोपालदासजीने अपना अमूल्य समय व्यय किया था। उन जैसा प्रतिभाशाली, सूक्ष्म विचारक और जैनसिद्धान्तका ज्ञाता इस बीसवीं शतीमें अन्य नहीं हुआ। शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करने की उनकी अनोखी सूझ थी। जैनधर्म और जैन साहित्य पर शंका करनेवालोंको वे सयुक्तिक उत्तर देते थे। वे ईमानदार व्यवसायी होनेके साथ अद्वितीय विद्वान् भी थे। संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी परम्पराका सूत्रपात गुरु गोपालदासजीसे ही हुआ है। गृहस्थावस्थामें उनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई, अनेक बार व्यापारमें हानि हुई पर वे हिमालयके समान सदा अडिग रहे। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त गौरवयुक्त था। जो भी उनके समक्ष पहुँचा, उसे ही नत मस्तक होना पड़ता। उनका सम्मान केवल जैन समाजमें ही नहीं था, इतर व्यक्तियोंके बीच भी वे पूज्य और मान्य थे। बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी भी उनके चरणोंमे नत होते थे। जीवनको उन्नत बनानेवाली शिक्षाएँ वे गुरुजीसे ग्रहण करते थे। गुरुजी सत्यवक्ता, निश्छल सेवक, उद्भट विद्वान्, विवेकी, सद्गृहस्थ एवं परोपकारी थे। आज भी उनकी ज्ञान-ज्योति अखण्ड रूपमें प्रज्वलित हो रही है। युग-पारखी और सिद्धान्तज्ञ विद्वानोंके गुरु गोपालदासजीके प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा-भक्ति समर्पित करता हूँ। मुझे विश्वास है कि उनके सत्कार्य सदा समाजको अभ्युदयका मार्ग दिखलाते रहेंगे।

**नन्हेंलाल सिद्धान्तशास्त्री**

राजाखेड़ा (धौलपुर)

## अनूठे चारित्रवान

आदरणीय पूज्य पण्डित गोपालदासजी वरैया न्यायवाचस्पति अपने समयके अनूठे चरित्रवान् तत्त्वज्ञाता जैनधर्मके श्रद्धानी विद्वान् हुए हैं जिनके चारित्रकी छाप आजके कतिपय विद्वानोंके ऊपर अमिट है। आपने जैन समाज तथा धर्मकी जो स्मरणीय सेवाएँ की हैं वे विद्वन्मण्डलीको अनुकरणीय हैं।

**सुखानन्द जैन,**

राँची

## उच्चकोटिके साधक

मुझे यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् जैन समाजकी महान् विभूति पं० गोपालदासजी वरैया की स्मृतिमें एक ग्रन्थका प्रकाशन कर रही है। मैं इस योजनाका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। मेरा विश्वास है कि ग्रन्थ लोकोपयोगी तथा संग्रहणीय होगा।

पं गोपालदास वरैया जैन समाजके उन मूर्धन्य व्यक्तियोंमेंसे थे, जिन्होंने अपनी बहुमुखी सेवाओंसे लोक-चेतनाको समृद्ध करनेका प्रयत्न किया, उन्होंने स्कूली शिक्षा अधिक नहीं पाई थी और उनके जीवनका आरम्भ छोटेसे पटलपर हुआ था, लेकिन अपनी लगन, अध्यवसाय, शिक्षा-प्रेम तथा विद्या-व्यसनसे वह बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँच गये.

इसमें संदेह नहीं कि जैन समाज उनकी सेवाओंसे विशेष समृद्ध हुआ। वह जानते थे कि लोक मानसको प्रभावित करनेका सबसे शक्तिशाली माध्यम शिक्षा है। उन्होंने उस ओर ध्यान दिया। वह यह भी मानते थे कि मनुष्यके विचारोंके उत्कर्षके लिए साहित्य की भी आवश्यकता है। उन्होंने कई ग्रन्थोंका प्रणयन किया। इतना ही नहीं, अपने व्यापक सम्पर्कोंसे भी बहुत-से व्यक्तियों पर प्रभाव डाला।

लेखनीकी भाँति वाणीके भी वह धनी थे। उनके भाषण ओजस्वी तो होते ही थे, तर्क-युक्त भी होते थे। यही कारण था कि वह जो कुछ कहते थे उसका श्रोताओं पर सीधा प्रभाव पड़ता था।

उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी निर्भीकता थी। जिसे वह सत्य और सही मानते थे। उसे कहनेमें कदापि नहीं चूकते थे। उन्होंने समाजमें प्रचलित अनेक बातोंका खण्डन किया। बहुतसे विशिष्ट व्यक्ति उनके विरोधी हो गये। लेकिन उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की। चूँकि उनके हृदयमें किसीके प्रति दुर्भावना नहीं थी। अतः अन्ततोगत्वा विरोधी भी उनकी ओर आकर्षित हो गये।

पंडितजी निरंतर समाजको देते रहे, यही कारण है कि उनके अंतर का स्रोत सदा हरा-भरा बना रहा।

वह वस्तुतः उच्चकोटिके साधक थे। सेवाके क्षेत्रमें एक बार आनेके बाद उन्होंने कभी अपनी साधनामें शिथिलता नहीं आने दी। समाजके अभ्युत्थानके लिए जो भी उनको उचित प्रतीत हुआ, वही उन्होंने परिश्रम तथा निष्ठासे किया।

पंडितजीकी भौतिक काया चली गई। शरीर तो सभीका नश्वर होता है। लेकिन जो उससे लोक हितकारी कार्य करते हैं, उनके यश शरीरका कभी क्षय नहीं होता। वे अमर होते हैं। पंडितजीके सेवा-कार्य तथा प्रेरणाएँ आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

मैं उनकी स्मृतिको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

यशपाल जैन, दिल्ली

## स्वयम्बुद्ध गुरुदेव

प्रातःस्मरणीय श्री गुरुवर्य पं० गोपालदासजी वरैयाके पावन नामसे कौन व्यक्ति अपरिचित है। वे इस बीसवीं शती के युगपुरुष थे। उनके द्वारा जैनधर्म की रक्षा, सेवा अथवा जो प्रगति हुई है, वह इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें सदा अंकित रहेगी। आजके जैन विद्वान् उन्हींकी देन है, आजकी सभी शिक्षण संस्थाएँ उन्हींके प्रयासका सुफल है। वे गुरुदेवके नामसे इसीलिए अमर हैं, कि उन्होंने ज्ञान भागीरथीकी शीतलतासे समाजको अपूर्व तृप्ति प्रदान की है। विरोधियोंकी शंकाओं या उक्तियोंका सतर्क खण्डन करनेवाला व्यक्ति गुरु गोपालदासका ही था। वे आर्यसमाज या ब्रह्मसमाजके प्रश्नोंका सयुक्तिक उत्तर देकर जैनधर्मके तत्त्वोंकी सत्यता सिद्ध करनेमें अद्वितीय थे।

गुरुजी महा प्रतिभाशाली, निर्भीक, निर्लोभी एवं सभा-प्रवीण उच्चकोटिके विद्वान् थे। उनके तेज और ओजके समक्ष बड़े-बड़े शास्त्रार्थी व्यक्ति मैदान छोड़कर भाग जाते थे।

साधनामें अपूर्व शक्ति होती है। व्यक्ति अपने परिश्रमके बलसे बड़ी-बड़ी उपलब्धियोंको प्राप्त कर लेता है। जो आलसी है, उसकी प्रतिभा भी कुण्ठित हो जाती है और वह जीवनमें बड़ा कार्य नहीं कर पाता है। पर जिसने लगनके साथ साधना सम्पन्न की है, उसे सफलताका द्वार मिलनेमें विलम्ब नहीं होता। गोपालदासजीने अपने परिश्रम, निष्ठ और साधनाके बलसे ही विद्वत्ता प्राप्त की थी। वे वास्तवमें स्वयम्बुद्ध विद्वान् थे।

मैं इस पावन बेलामें 'गुरूणां गुरुः' श्री गोपालदासजीके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

सिद्धसेन जैन गोयलीय, शास्त्री, साहित्यरत्न

## वन्दनीय वरैयाजी

जिस प्रकार श्री धरसेनाचार्यको वीर निर्वाणकी सातवी शताब्दीमे भगवान् महावीरकी परम्परासे चले आ रहे, श्रुतज्ञानकी धाराको अविछिन्न बनाए रखनेकी शुभ भावनासे प्रेरित कर आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि द्वारा षटखंडागमकी रचना कराकर, जैनधर्म तथा जैन समाजका परमोपकार किया, उसी प्रकार स्वयं बुद्ध पंडित गोपालदासजी वरैयाने इस युगमे आचार्य प्रणीत जैन ग्रन्थों जैसे कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड और लब्धिसार आदिका स्वयं अध्ययनकर, उनके अध्ययन और अध्यापनका प्रारम्भ किया। उनके समयमे जो व्यक्ति केवल मोक्षशास्त्र बांच लेता था, वह पंडित और विद्वान् समझा जाता था। यद्यपि महान् जैनश्रुत शास्त्रभण्डारोंमें भरा पड़ा था तथापि उनको समझने और समझाने वालोंका नितांत अभाव था। ऐसे विकट अंधकारमें वरैयाजीने अपनी प्रखर बुद्धि, वाग्मिता तथा अध्यवसायके द्वारा जो ज्योति प्रज्वलित की, उसकी प्रभा दिन दूनी, रात चौगनी होती गई। उसका ही फल वर्तमानका जैन विद्वत् समाज, जैन विद्यालय और जैन साहित्य है।

वरैयाजी उच्च कोटिके लेखक तथा वक्ता ही नही थे, वे एक दिग्गज समाज सुधारक भी थे। समस्त जैन समाजको उनने अपनी इस रायसे कि एक मासाहारी जैन हो सकता है तथा दसाओंको भी जिन पूजाका अधिकार है, चौका ही नही दिया था वरन् जैन समाजमें तहलका मचा दिया था। जैन धर्मके प्रकाण्ड विद्वान् वरैयाजी समझते थे कि जैनधर्म केवल एक जाति व कुछ लोगोंके लिये ही नहीं है। वह प्राणीमात्रके लिए है। ऐसे महान् व्यक्तिको जितनी भी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित हो थोड़ी ही है।

शब्दाञ्जलि भी चढ़ा सकूँ, सामर्थ्य नहीं यह पाता हूँ।<br>
श्रद्धा जिसे स्वयम् समर्पित, उसको शीश नवाता हूँ॥

सुमेरचन्द कौशल<br>
बी० एल०, एल०-एल० बी० एडवोकेट, सिवनी

## अप्रतिम प्रतिभा के धनी

उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें जैन साहित्यरूपी निर्मल आकाशमें पंडित प्रवर गोपालदासजीका उदय हुआ, जिसने सोती हुई जातिको जगाकर उसमे जीवन ज्योति भर दी, अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा जैन साहित्यके पठन-पाठनकी परिपाटी प्रारम्भ की। उनके समान गहन पाण्डित्य और अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् जैन समाजमे अन्य नहीं हुआ।

गुरुगोपालदासजी एक नई प्रकाशमान ज्योतिको लेकर अवतीर्ण हुए। पूर्व क्षयोपशमकी प्रबलताके कारण अत्यल्प शिक्षण पानेपर भी उन्होंने विद्याका ऐसा चमत्कार दिखाया कि लोग उनके मुँहसे व्याख्यान सुनकर दांतोंतले अंगुली दबाते थे और मन-ही-मन उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। इनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। ज्ञानका इतना धुरंधर तलस्पर्शी विद्वान्, कहते है दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने सिर्फ मैट्रिकतक ही अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी। धार्मिक ज्ञान भी सीमित था लेकिन अजमेरके विद्वानों, विशेषकर पं० धन्नालालजी बम्बईके सम्पर्कमे आनेके कारण सोती हुई सरस्वती जाग उठी। इन जैसे निपुण, बातके धनी और निर्भीक विद्वान् भारतीय माताओने थोड़े ही पैदा किए है।

इनकी वाणीका जादू-सा असर होता था। शास्त्रार्थमे स्वामी दर्शनानन्दजी चक्कर काटते थे। इटावाकी सुप्रसिद्ध संस्था 'जैनतत्त्व प्रकाशिनी' के सुयोग्य मन्त्री पं० पुत्तूलालजीने इनको आगे करके कई मैदान मारे। वास्तवमे गुरुजीने जैन धर्मके लिए वही कार्य किया जो शंकराचार्यने ब्राह्मण धर्मके लिए किया था।

कलकत्ता स्थित संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वानोकी परिषद्ने एक स्वरमे न्याय विषयक षडदर्शनपर इतने सुन्दर ढंगसे व्याख्यान सुनकर 'न्यायवाचस्पति' की उपाधिसे विभूषित किया।

आधुनिक विद्वानोंने जैनदर्शनका जिस रूपमे समझा है, शिक्षकके नाते गुरु गोपालदासजीका उसमे बहुत बड़ा हाथ है। मोरेनाकी संस्थाको गुरुजी प्राणोंसे भी ज्यादा प्यारी समझते थे। वर्तमान जैन समाजमे जो कुछ जागृति प्रतीत होती है, वह सब गुरुजीके बोये हुए पुण्य बीजोंका सुस्वादु फल है।

जागृतिके अग्रदूत गुरुजीका हृदय लबालब जैनधर्मके स्नेहसे भरा हुआ था। वे चाहते थे कि भगवान् महावीरका उपदिष्ट धर्म जगतव्यापी हो, अतः उन्होंने जनसाधारणमे भी जैनधर्मका प्रचार-प्रसार किया।

इस पावन महोत्सवपर हम हृदयसे उस महापुरुषको श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं और आपके प्रयत्नकी सराहना करते हुए हृदयसे कामना करते हैं कि उनकी पुनीत स्मृतिमें अवश्य कोई आदर्श उच्चकोटिकी शिक्षण-संस्था स्थापित करेंगे।

सुमेरचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ
दिल्ली

## अनेक गुणोंका समवाय

यदि एक स्थानपर अनेक गुणोंका दर्शन करना हो, तो गुरु गोपालदासके व्यक्तित्वका अध्ययन-विश्लेषण कीजिए। मानवको अमरत्व दिलानेवाले गुणोंमें सम्यक् श्रद्धाके साथ सम्यक् ज्ञान और चारित्र भी है। गुरुजीका सम्यक् दर्शन अत्यन्त निर्मल था, वे जैन तत्त्वोंके परम श्रद्धालु और भक्त थे। भगवान्‌की ध्यानस्थ मूर्तिको प्रति-दिन पर्याप्त समय तक इकटक दृष्टिसे खड़े हो देखा करते थे। इनका यह दर्शन जीवनकी समस्याओंका समाधान करता था, जीवनकी गहन अनुभूतियोंको उत्पन्न करता था तथा परिणामोंमें उत्तरोत्तर निर्मलता को वृद्धिगत करता था। जैनधर्म और जैनतत्त्वज्ञानका इतना बड़ा और कट्टर श्रद्धालु अन्य व्यक्ति शायद ही मिल सकेगा।

संयम और चरित्रके बिना ज्ञानकी शोभा नहीं और न ज्ञानके बिना संयमकी है। इन दोनोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुरुजी ज्ञानी तो थे ही, पर उज्ज्वल चरित्रके भी धारी थे। उनका जीवन अत्यन्त सादा था। उनकी निजी आवश्यकताएँ इतनी अल्प थीं कि वे कभी अन्याय या अनीतिसे धनार्जन करनेकी बात ही नहीं सोचते थे। व्यापारमें उन जैसे ईमानदार और सच्चे व्यक्ति संलग्न हो जायें तो समाजका व्यापारियोंके प्रति अविश्वास तत्काल दूर हो जाय।

गुरुजी इतने अधिक सन्तोषी और संयमी थे कि धर्म प्रचारके लिए बाहर जानेपर समाजसे कभी कोई भेंट या पारिश्रमिक नहीं ग्रहण किया। मार्ग व्यय मात्र ही लेते थे और कभी भूलसे ज्यादा पैसे चले आये, तो उन्हें मनिआर्डर द्वारा वापस लौटा देते थे। यही कारण है कि समाज उनका सदा भक्त बना रहा। अनेक स्थानोंपर उनका अपूर्व स्वागत-सत्कार हुआ। समाज द्वारा उन्हें 'स्याद्वादवारिधि' जैसी पदवियोंसे विभूषित किया गया।

गुरुजीमें अटूट साहस, अदम्य उत्साह, कठोर श्रम करनेकी प्रवृत्ति, कुशाग्र बुद्धि, विलक्षण स्मरण शक्ति एवं अपूर्व मेधा शक्ति थी। उन जैसा तेजस्वी व्यक्तित्व विरल व्यक्तियोंको ही प्राप्त होता है। वास्तवमें उनमें असंख्य गुणोंका एक साथ समवाय वर्तमान था। कार्य करनेकी अपूर्व शक्ति थी। जब वह प्रवचन देते थे, तो जनता मन्त्रमुग्ध हो उनका प्रवचन सुनती रहती थी। सच्ची बात कहनेमें वे किसीसे नहीं डरते थे, यही कारण है कि उस समयका धनिक वर्ग उनसे प्रसन्न न रह सका। पाखण्ड और आडम्बरके विरोधमें उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचार अनेक बार व्यक्त किये थे। मैं इस अनुकरणीय व्यक्तित्वके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

कमलकुमार जैन बी०ए०बी०एड०, शास्त्री, साहित्यरत्न
द्रोणगिरि ( छतरपुर )

## भिण्ड-विभूति गुरु गोपालदास

जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश युवावस्था है, गुरुजीने अपनी इस अवस्थाको भिण्ड नगरमें व्यतीत किया। गुरुजी यहाँ गल्लेकी एक छोटी-सी दुकान करते थे। यहाँ पर उन्हींके सत्प्रयाससे एक पाठशालाकी भी स्थापना की गयी थी। गुरुजी प्रातः और सायङ्काल इस पाठशालामें छात्रोंको जैन ग्रन्थोंका अध्ययन कराते थे। यहाँ एक छात्रावास भी था, जिसमें दस-बारह छात्र निवास करते थे। अध्यापनका कार्य पाठशालाके समयके अतिरिक्त दुकानपर भी होता था। गुरुजीके सार्वजनिक कार्य भी होते रहते थे। वे अल्प सन्तोषी थे, अतः अपनी आमदनीका कुछ भाग शिक्षा या अन्य इसी प्रकारके सार्वजनिक कार्योंमें व्यय करते थे। उन्होंने इस नगरमें पूरे बारह वर्षों तक निवास किया है।

तपःपूत गुरु गोपालदासजीका जीवन अनुकरणीय है। उनके निस्वार्थ भावसे किये गये सेवा कार्य समाजको

सदैव मार्ग प्रदर्शन करते रहेंगे। उन जैसा शिक्षक और शिष्योंके प्रति अपूर्व वात्सल्य रखनेवाला अन्य व्यक्ति इस शताब्दीमें नहीं हुआ है। वास्तवमें वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। उन्होंने समाज सुधारके अनेक उल्लेखनीय कार्य किये है। मै भिण्डके समाजकी ओरसे तथा अपनी ओरसे उनकी पावन सेवाओंके प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। बड़े सौभाग्यसे ही इस प्रकारके महान् व्यक्ति समाजको उपलब्ध होते है।

प्रेमचन्द्र शास्त्री, एम० ए० ( संस्कृत-हिन्दी )
उपप्राचार्य, जैन महाविद्यालय, भिण्ड ( म० प्र० )

## कल्याणकारी महामानव

पूज्य गुरु गोपालदासजीका संश्लिष्ट व्यक्तित्व अगणित गुणोंका समवाय है। वे क्या थे, इस प्रश्नके स्थान पर वे क्या नही थे, यह प्रश्न अधिक उपयुक्त है। बहुश्रुतज्ञ विद्वान् होनेके साथ वे एक जीवन्त संस्था थे। फूलकी गन्धके समान उनका व्यक्तित्व सभी निकटस्थ व्यक्तियोंको सुगन्धित करता रहता था। जो भी उनके निकटमें पहुँचा, ज्ञानी बन गया। 'पारस परसि कुधातु सुहाई' वाली नीति उनके लिए अक्षरशः सत्य थी।

कल्याणकारी महामानवके रूपमें समाज सर्वदा उनका स्मरण करता रहेगा। उनकी चरण रजसे पूत आगरा मोरेना, अजमेर और बम्बईकी भूमि आज भी उनका गौरवगान कर रही है। हिमालय जैसा उन्नत व्यक्तित्व, जिसमें ऊँचाईके साथ स्थिरता और चिरन्तनता व्याप्त हैं, किसे अपनी ओर आकृष्ट न करेगा।

कहा जाता है कि सोना तपने पर चमकता है, व्यक्ति भी विपत्तियों और कठिनाइयोके बीच महान् बनता है। गुरु गोपालदास क्रान्तिकारी स्वतन्त्र चिन्तनशील विचारक विद्वान् थे, अतः पुराण-पन्थियोने उनका बहिष्कार किया, उनके शास्त्र-प्रवचनोंकी निन्दा की और उनका अपमान करनेका पूर्ण प्रयास किया। किन्तु वे मुस्कुराते हुए अपने लक्ष्यमे आगे बढ़े। सफलता उन्हे प्राप्त हुई तथा समाजकी बद्ध मूलताओंका निराकरण कर उसे उन्होंने स्वस्थ रूप प्रदान किया।

मै स्वनामधन्य, समाज सुधारक और विद्वत् जगत्के गुरु श्री पंडित गोपालदासजीके प्रति अपनी विनीत श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। वे अपने कल्याणकारी कार्यों द्वारा सदैव अमर रहेंगे। उनकी रचनाएँ, समाजोत्थानके लिए किये गये कार्य एवं परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयास ही उनकी कीर्त्ति गाथाको अमर बनाये रखेगा।

ज्ञानचन्द 'स्वतन्त्र'
सूरत

## युगप्रवर्तक गुरुजी

*कुछ व्यक्ति जन्मसे ही नेता होते है और कुछ अपने प्रयत्न और पुरुषार्थसे। गुरु गोपालदासजी ऐसे कर्मठ विद्वान्* थे, जिन्होंने अपने अथक परिश्रम द्वारा एक नवीन युगका प्रवर्तन किया। उन्होंने साहित्य, संस्कृति और धर्म प्रवर्तनके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। उन जैसे निर्लोभी, जितेन्द्रिय और श्रावकके व्रतोंका पालन करनेवाले सच्चे गृहस्थ कम ही व्यक्ति दिखलायी पड़ेंगे।

अध्ययन कम रहने पर भी प्रतिभाकी विलक्षणताके कारण आप मूर्धन्य पण्डित माने जाते थे। न्यायशास्त्र और कर्मग्रन्थोंका अद्वितीय पाण्डित्य प्राप्त था। प्रत्युत्पन्नमतित्व इतना अधिक था कि बड़े-बड़े पेचीदे प्रश्नोंका सरलतापूर्वक उत्तर देकर विपक्षियोंको मूक बना देते थे। जैन समाजके अभ्युत्थानके लिए आपने जो त्याग और श्रम किया है, वह सदैव स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेगा।

जैन विद्वानोंकी परम्पराको जन्म देकर गुरु गोपालदासजीने धर्मचक्र प्रवर्त्तनका महनीय कार्य सम्पन्न किया है। इस वर्त्तमान युगमे उनके कार्योंका वही मूल्य है, जो आठवीं शती मे अकलंक देवके कार्योंका। साहित्यकार, सम्पादक, विचारक, क्रान्तिदृष्टा और समस्त जैन विद्वानोंके गुरु पूज्य पंडित गोपालदासजीके प्रति मैं अपनी विनीत श्रद्धाभक्ति समर्पित करता हूँ। उनका पार्थिव शरीर इस समय हमारे बीच नहीं है, पर अपने यशः शरीरके कारण वे सदा अमर हैं—

स जीवति गुणः यस्य, यस्य धर्मः स जीवति।
गुण-धर्मविहीनस्य, जीवनं निष्प्रयोजनम्॥

जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री,
मकावरा (झाँसी)

**आभिजात्य न :**

रत्नकरण्ड, द्रव्यसंग्रह और तत्त्वार्थसूत्रके बाद जब जैनसिद्धान्तप्रवेशिकाको सन् २८ में पढ़ना आरम्भ किया तो इसके कर्त्ताको भी समन्तभद्राचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और उमास्वामीके समान कोई प्राचीन आचार्य समझ लिया था। उस समय यह कल्पना भी न आयी थी कि गुरु गोपालदास इसी युगकी विभूति हैं और इनका शरीरान्त हुए तब केवल ११ वर्ष ही हुए हैं। छहवर्ष बाद पंचाध्यायीका अध्ययन करते समय पहली बार जाना कि ये महापुरुष उत्तरप्रदेशमें ही ६७ वर्ष पहिले साधारण सद्गृहस्थके घर उत्पन्न हुए थे और साधारण शिशुओंकी भाँति पले, बढ़े एवं पढ़े थे। हां, थे सर्वथा स्वयं-बुद्ध। पिताकी मृत्युके कारण आपकी वयस्कता यथार्थ हुई और ठीक १९ वयमें ही 'न्यायोपात्त धन:' हो गये। जन्मजात देवदर्शनके संस्कारने इन्हें जैनधर्मके अध्ययनकी ओर आकृष्ट किया तथा '....पच्चीसी' पूरी करते-करते संस्कृत एवं जैन शास्त्रोंमे रम गये। धर्मशास्त्रने सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और इच्छा-परिमाण आदि गुणोंपर धार रख दी और जो भी संसर्गमें आया वह इनके व्यक्तित्वपर मुग्ध हो गया।

**ज्ञान-चारित्र-प्रतिमूर्ति :**

'ज्ञानका अवश्यंभावी और उत्कृष्ट फल चारित्र है, इस तथ्यकी कसौटी गुरुजीसे बढ़कर इस युगमें नहीं मिल सकती। ज्यों-ज्यों धर्मशास्त्रका ज्ञान बढ़ता गया, त्यों-त्यों गुरुजी 'चेलोपसृष्ट मुनिवत्' होते गये। उनका धर्मशास्त्र 'जीवनउद्धार' के लिए था। समाज व्यक्तियोंका समुदाय है, फलत: आदर्श व्यक्तित्व ही समाजोत्थानकी धुरी बन सकता है। इस भावनाने ही गुरुजीको समाजके अज्ञानान्धकार आदिसे भिड़नेके पहले अपने आपको ज्ञानी बनानेके लिए प्रेरित किया। फिर क्या था, जन्मजात श्रद्धाको मनचाहे ज्ञान और चारित्र साथी मिले। और देशके समान आत्मविस्मृति, संस्कारदासता तथा साहस दारिद्र्यमें पड़े समाजको प्रबुद्ध आगम-युक्तिदास एवं धर्मवीर नेता मिला। राष्ट्रके समान सुषुप्त, बद्ध एवं भीरु समाजने भी करवट पलटी ओर देखी गुरु गोपालदासके रूपमें उज्ज्वल भविष्यकी लालिमा।

**युगारम्भ :**

समाजने आँखें रगड़ीं, पलक मारे, फिर-फिर कर देखा। रसिया-चौब्रोले गाता साधारण किशोर रेल्वेका क्लार्क, सेठका मुनीम, फिर क्लर्क—फिर मुनीम, फिर दुकान—फिर पण्डितको सामने देखकर विश्वास न हुआ। जागरण और अरुणोदयको स्वप्न मानना चाहा, किन्तु दि० जैन महासभा, दि० जैन महाविद्यालय, दि० जैन परीक्षालय, जैनमित्र, बम्बई प्रान्तीय सभा, सिद्धान्त विद्यालय, आदिने यह माननेको बाध्य किया कि 'बाती विभावरी' संगठन, संस्था, समाचारपत्र एवं संयोजनको एक साथ देखकर मानना पड़ा कि इनका योजक लोकोत्तर है और रहेगा, क्योंकि गुरुजीकी शिष्य और प्रशिष्य-परम्परामें स्वार्जित-स्वल्प संतोषी अबतक कोई नहीं हुआ है। और न हुआ है व्रतियोंमें ही कोई ऐसा खरा व्रती जैसे कि गुरुजी थे। गुरुजीकी सफलताका कारण उनका व्यक्तिगत दृढ़ चरित्र था। इस पूंजीके बलपर ही उनके ज्ञान आदिका व्यापार चला था। और वे अकेले ही दि० जैन समाजको वह सब दे सके थे जिसका यदि ठीक उपयोग हुआ होता तो महासभा दि० जैन समाजका एकमात्र मंच होता, महाविद्यालय और परीक्षालय जैन विद्यापीठ (विश्व-विद्यालय) होता, जैनमित्र समाजका मुखपत्र होता तथा बम्बई प्रा० दि० जैन सभा समस्त प्रादेशिक सभाओंका आदर्श होती और शिखरजी आदि तीर्थ खटाईमें न पड़े होते। यह न हो सका, क्योंकि राष्ट्रपिता गांधीके उत्तराधिकारियोंके समान गुरुजीके हम उत्तराधिकारी भी धर्म-समाजप्रेम, उदारता और सत्साहस हीन हैं। किन्तु इससे गुरुजीकी गुरुतामें कमी नहीं आती। उन्होंने हमें उस भूमिकापर ला दिया था, जिसपर आदर्श दि० जैन समाजका भव्य भवन खड़ा हो सकता था। वे महान थे और थे तपस्वी युगपुरुष।

**राष्ट्र-पथ-प्रदर्शक :**

समाजको उक्त सबल साधन जुटाकर भी गुरुजीने देखा कि ऊँच-नीच, भेदभाव और भाषाकी तानाशाही देश और समाजको नहीं उभरने दे रहे हैं। अपितु अन्तरंग ह्रासके गर्तकी ओर ले जा रहे हैं। प्रयोग घरसे शुरू करना चाहिये (चैरिटी बिगिन्स एट होम) के अनुसार उन्होंने सामाजिक नीचत्व (दस्साप्रथा) पर तनकर प्रहार किया। समाजमें तूफान और भूकम्प आ गया। पर यह गुरुजीके घुटनोंतक भी न पहुँचा। उन्हें अडिग देखकर समाज झुका और दस्सोंकी धार्मिक समानताका भी युगारम्भ हुआ। पहली बार समस्त साधर्मियोंको जैनोंने अपना सगा समझा। स्वयं संस्कृतज्ञ

एवं प्राकृत-पारंगत होनेपर भी गुरुजीने देखा कि इन भाषाओंका ज्ञान सर्वसाधारणको होना संभव नहीं है। फलतः जनभाषामें साहित्य होना चाहिये, ताकि प्रत्येक व्यक्ति समान रूपसे समझबूझ सके। इस दिशामें भी उन्होंने स्वयं कदम बढ़ाया और तीन ग्रन्थ लिखे, जो संस्कृति-निष्ठ भाषा-साहित्यकी आधार-शिलाएँ हैं, क्योंकि ये जैनधर्मनिष्ठ प्रथम पुस्तक (हैंडबुक) उपन्यास और पारिभाषिक कोशके अनूठे निदर्शन है। समाज सुधारके समान राष्ट्रभाषाके लिए गुरुजीकी यह अद्भुत देन थी, क्योंकि उस समयके राष्ट्रनायक एवं साहित्यिक भी राष्ट्रभाषाकी इतनी स्पष्ट कल्पना नहीं कर पाये थे जितनी गुरुजीको थी। उनका निज-देश और निज-भाषा-प्रेम अद्वितीय था।

### पत्नीका प्रभाव :

गुरुजीके समस्त अनुरागियोंने उनकी जीवन-संगिनीकी अननुकूलताकी चर्चा की है, गोकि गुरुजी स्वयं ऐसा नहीं मानते थे। उन्हें 'निज काल पाय विधि झरना, तातें निज काज न सरना' पर विश्वास था। वे जानते थे कि अनुकूलतामें, प्रतिकूलताकी अपेक्षा कम-से-कम तिगुना समय-श्रम लगते है। और 'स्व' की परीक्षा एवं सम्मन्नता संदिग्ध रहती है। फलतः वे पत्नीके तथोक्त रूप व्यवहारको भी अपनी परीक्षा मानकर चले और इसे भी नदी-नाव-संयोगसे अधिक नहीं माना। वे जानते थे कि मैं भी अपनी पत्नीकी रुचिके उतना ही प्रतिकूल हूँ जितना कि लोग उन्हें मेरी रुचिके प्रतिकूल मानते है तो भी ये विचारी मुझे पति पाकर अपने आपको परम-भाग्यवती मानती हैं। इस भावनाने उन्हें गृहस्थीमें 'जलमें भिन्न कमल है' कर दिया था। वे मानते थे कि 'भार्या रूपवती शत्रुः' यदि सत्य है तो सर्वथा अनुकूल वनिता बेड़ी ही है। फलतः माताजी सर्वथा गुरुजीको प्रेरणा और प्रगति का स्रोत रहीं। तथा आज गुरुजीके साथ वन्द्य हैं। राष्ट्रपिता गाधीजी भी अनकूलताके समय जो व्यवहार माँ कस्तूरबाके साथ नही कर सके गुरुजीने वह उदात्त व्यवहार पूरे जीवन भर माताजीके साथ किया और स्वामी रामके शब्दोंमें अपने आपको 'शान्तिवीर' सिद्ध किया, क्योंकि संसारके सामने परम शान्त व्यक्ति भी अपनी पत्नीपर बरस पड़ता है।

### शत शत प्रणाम :

कहते है कि मानवका मूल्याकन मृत्युके २५ वर्ष बाद जो हो वही सत्य होता है। किन्तु आज ५० वर्ष बीत जानेपर भी समस्त दृष्टियोंमे देखनेपर भी गुरुजी गुरुतर ही दिखते है। मन मसोस उठता है यह सोचकर कि लाल-बहादुर शास्त्रीके समान तब चले गये जब समाज-देशने उनकी ऊँचाईको कुछ-कुछ भाँपा था और सोचा था कि उनकी नवोदित लालिमा दिनका रूप लेगी, जिसके परिपूर्ण प्रकाश और उष्मामें समस्त प्रशस्त कार्य सम्पन्न होंगे और 'जैन जयतु शासनम्' चरितार्थ होगा। यह नहीं हुआ तथापि यह भूतार्थ है कि गुरुजी। आप जैन या जन-जागरणके अरुणोदय थे। अतएव आपको शत-शत प्रणाम।

खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

## स्वयंबुद्ध गुरु

मै जब १५ वर्षका था, तब पूज्य पं० वंशीधरजी न्यायालंकारके साथ मोरेना विद्यालयमे पढने गया था। उस समय पंडितजी गुरु गोपालदासजी वरैयाके गुणगान किया करते थे और हम लोगोंको पढाते समय उनके अनेक जीवन-प्रसंग सुनाया करते थे।

वे संस्मरण आज भी मेरे हृदयंगम हैं। उन्हींके आधारपर मै दृढतापूर्वक यह कह सकता हूँ कि यदि गुरुजी न होते तो हमारी समाजकी यह वट-वृक्षकी भाँति विद्वत्-परम्परा भी प्रसारित नही हो पाती।

गुरुजी एक प्रकारके स्वयंबुद्ध थे। उनसे पूर्व इस शताब्दीकी विद्वत्-परम्पराका प्रारम्भ ही नही हो पाया था। इस शताब्दीके प्रारम्भिक विद्वानोंमें पं० बंशीधरजी न्यायालंकार; पं० देवकीनन्दनजी शास्त्री एवं पं० मक्खनलालजी शास्त्री माने जाते है। और यह सब मूर्धन्य विद्वान् गुरु गोपालदासजी वरैयाके ही पट्ट शिष्य थे। और आज जैन समाजमें जितने भी विद्वान् है वे सब साक्षात् अथवा परम्परासे इन्ही विद्वानोंके शिष्य है।

इस प्रकार मै गुरु गोपालदासजी वरैयाको 'स्वयंबुद्ध गुरुः' मानता हूँ। और इसीलिये उनके प्रति अपनी सादर श्रद्धांजलि समर्पित कर रहा हूँ।

परमेष्ठीदास जैन
जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर

## युगद्रष्टा गुरुजी

युगदृष्टा श्रद्धेय गुरु गोपालदासजी वरैयाने अपने अद्भुत क्षयोपशमसे अल्पजीवनकालमें जैन वाङ्मयकी जो अपूर्व सेवा की, वह जैन-संसारके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित है। वर्तमानमें जो आज विद्वन्मण्डली एवं जैन सिद्धान्त-ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी प्रणाली दृष्टिगत हो रही है वह उनकी ही निःस्वार्थ साधना एवं पुनीत सेवाका फल है। उनकी अलौकिक तार्किक क्षमता एवं गहन अध्ययनशीलताकी छाप उनके प्रत्येक कार्यमें स्पष्टतया अंकित है। ऐसे युग-मनीषीकी पुण्य स्मृतिमें स्मृति-ग्रन्थका महत् कार्य अभिनन्दनीय है। उनका पावन स्मरण जैन संसारको युग-युग तक प्रेरणा देता हुआ जैनवाङ्गमयकी कीर्ति-पताकाको अक्षुण्ण रखे, इस कामनाके साथ मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि उन्हें समर्पित है।

स० सि० धन्यकुमार जैन
कटनी

## हमारे ज्ञान-प्रदाता

यदि गुरु गोपालदासजी अपने स्वयंकी प्रतिभा और अनवरत प्रयत्नसे उच्चकोटिके विद्वान तैयार नहीं करते तो समाजमें विद्वानोंकी परंपरा दिखलाई नहीं देती। आज जो वरिष्ठ विद्वान हैं, वे अधिकांश गुरुजीके शिष्य-प्रशिष्य और उनकी परंपराके हैं। गुरुजीका हमपर बड़ा उपकार है। वे हमारे ज्ञान-प्रदाता पिता और पितामह रहे हैं। उनका ऋण हमपर सदा रहेगा। गुरुजीने शास्त्रज्ञान ही नहीं सिखलाया, पर स्वयंके जीवनसे नैतिकता, प्रामाणिकता, सादा जीवन, सरल व्यवहार और सहिष्णुता आदि मानवीय गुणोंका आदर्श प्रस्तुत किया। काश ! हम इन गुणोंको अपनाकर अपने पाण्डित्यमें चार चाँद लगा सकें।

नाथूलाल शास्त्री
प्रधानाचार्य, सरसेठ स्वरूपचन्द हुकुमचन्द संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर

## अभिनन्दनीय महापुरुष

महापुरुष गोपालदासजीकी अमर कीर्त्ति समाजमें सर्वत्र व्याप्त है। उनके कार्योंका मूल्यांकन अभी तक यथार्थ रूपमें नहीं हो पाया है। काश, उनका जन्म किसी इतर समाजमें हुआ होता तो उनके नामपर कितने अमर स्मारक स्थापित हो गये होते ? व्यापारी जैन समाज इस युगकी महाविभूति गुरु गोपालदासको भूलता जा रहा है। उनकी सेवाओंको भी यथोचित स्थान नहीं मिल रहा है। वे ऐसी विभूति थे, जिनपर समाज युग-युगों तक गौरवका अनुभव करता रहेगा।

गुरुजीने अपने द्रव्यका व्यय योग्य छात्रोंको शास्त्रीय पाण्डित्य प्राप्त करानेमें तो किया ही, साथ ही समाजमें ज्ञानका अलख जगाकर नयी स्फूर्ति और नयी चेतना भी उत्पन्न की। उन जैसा दूरदर्शी नेता, समाज-सुधारक, अपूर्व प्रतिभाशाली, नयी सूझ-बूझवाला व्यक्ति शताब्दियोंमें ही किसी समाजमें जन्म ग्रहण करता है।

जो त्याग करता है, वही अभिनन्दनीय होता है। त्यागी और संयमी व्यक्ति ही निजगुणोंको पहचानता है, वही अपनी सेवाओंके उपकरणोंसे समाजके इतिहासका निर्माण करता है। त्यागी, सेवक और कर्मठ व्यक्ति वर्तमानको ऐसा सुखमय बनाते है, जिससे अतीत तो आलोकित होता ही है, पर भविष्य भी मंगलमय हो जाता है। मैं उस अभिनन्दनीय महापुरुषके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। गुरुजी वास्तवमें धर्ममूर्त्ति, सहिष्णु, अपार साहसी, निर्भीक और निर्लोभी विद्वान् थे। उनके प्रति जितनी भी श्रद्धा-भक्ति समर्पित की जाय, थोड़ी है।

भागचन्द्र जैन शास्त्री
नाहरकलाँ (झांसी)

## पाण्डित्य-मूर्ति

स्याद्वादवारिधि, विद्वच्छिरोमणि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति, पण्डित-प्रवर स्वर्गीय श्री पण्डित गोपालदासजी बरैयाकी विद्वत्ता एवं उनके उल्लेखनीय कार्योंके प्रति किसके मनमें श्रद्धा न होगी। वे इस शताब्दीके समन्तभद्र है, उन्होंने आर्यसमाजद्वारा किये जानेवाले शास्त्रार्थोंमे भाग लिया और जैनधर्मकी विजय-पताका फहराई। उन जैसे निर्भीक व्यक्ति कम ही उत्पन्न होते है।

उनका जीवन-ध्येय विद्वत् समाजको सुगठित एवं व्यापक बनाकर जैनधर्म और जैन संस्कृतिको उचित स्थान प्राप्त कराना था, इस उद्देश्यमे उन्हे सफलता भी प्राप्त हुई। लोकोपकार करना तथा समाजमे धर्म और संस्कृतिके प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करना, उनकी नित्य-प्रतिकी दिनचर्या थी। आज हमारे समाजमे जो भी उद्भट विद्वान् दिखलायी पड़ते है, ये सभी किसी-न-किसी रूपमें गुरुजीसे सम्बद्ध है। उनकी शिष्य-परम्परा अनवरतरूपसे विस्तृत होती जा रही है।

द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप प्रभृति विषयोंका जिस पाण्डित्यके साथ उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह आजके इस अभिव्यञ्जनाप्रधान युगमे भी दुर्लभ है।

गुरुजीकी अनेक रचनाओंमें 'सृष्टिकर्तृत्व-मीमांसा' नामक निबन्धने कितने व्यक्तियोंको स्वावलम्बी बनाया है। यह निबन्ध उपयोगिता और विषय-निरूपणकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। पराधीनता त्याग स्वपुरुषार्थपर विश्वासका आत्मोत्थानके मार्गमे संलग्न कराना ही इस निबन्धका ध्येय है।

जब जासूसी, तिलस्मी और रोमाण्टिक उपन्यास लिखे जा रहे थे, उस युगमे चरित्रको उज्ज्वल बनानेवाला सुशीला उपन्यास लिखकर उन्होंने साहित्यके क्षेत्रमे एक नयी दिशा प्रदान की है। वास्तवमे रचनाएँ ऐसी ही उपयोगी और हितकर हो सकती है, जिनका सम्बन्ध नैतिक उत्थानके साथ है। सुशीला उपन्यासके अध्ययनसे चारित्रिक शिक्षाएँ प्राप्त होती है।

गुरु गोपालदासजीमे पाण्डित्य और संयमका अपूर्व संयोग था। उनका जीवन अहिंसा और सत्यकी साधनाकी साक्षात् मूर्ति था। ईमानदारी और नैतिकता आदि गुणोंने उन्हे कभी विपत्तिके समयमे भी विचलित न होने दिया। मै उस महाविभूतिके सद्गुणोंका स्मरण करता हुआ, अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित करता हूँ।

*विमलकुमार जैन सोंरया*
मडावरा ( झाँसी )

## समाजके अक्षुण्ण सेवक

माननीय पं० प्रवर गोपालदासजी सा० का समाजपर अत्यधिक उपकार है; क्योकि उन्होंने अपने जीवनमें समाजकी अक्षुण्ण सेवाएँ की है। मेरा उनसे कोई खास परिचय तो नहीं रहा। रहता ही कैसे, उनके जीवनकालमे मै इस पर्याय मे ही नही था, किन्तु स्वर्गीय पं० जीकी जब जैन-सिद्धान्तप्रवेशिका पढते है तो पण्डितजीके प्रति सहज ही मस्तक झुक पडता है। महान् सैद्धान्तिक संस्कृत-प्राकृतमे लिखे गये ग्रन्थाधिराजोंमेसे साररूप सरलताके साथ जैनधर्मकी कुञ्जीके रूपमे आपने यह पुस्तक लिखी थी। साथ ही आपको उपन्यास लिखनेका भी शौक था, ऐसा मालूम होता है। उनका लिखा हुआ सुशीला उपन्यास उपलब्ध है, जिसमें समाजके सामाजिक जीवनविकाशकी भी काफी सामग्री उपलब्ध है, साथ ही अहिंसा, जो जैनधर्मका प्राण है उसकी खासी महत्ता बताते हुए ब्रह्मचर्य धर्मका भी अच्छा परिज्ञान कराया है। तथा पं० सा० का नैतिक जीवन कितना ऊँचा था, यह बतानेकी आवश्यकता नही है। सासारिक जीवनमें सहयोगिनी पण्डिताजीका प्रतिसमय असहयोग होते हुए भी पण्डितजी सा० निरन्तर जैन-साहित्यकी खूब सेवा कर गये है। मै हृदयसे पण्डितजी सा० के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

**उग्रसेन बख्शी**
उदयपुर

### युगका निर्माण :

संसारमें जितने भी धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान हैं उनके पीछे एक शक्ति निहित होती है जो धर्म या धार्मिक संगठनको जीवित रखती है या मृतावस्थामें हो तो पुनर्जीवित करनेकी क्षमता रखती है। धर्म तो समयकी आवाजके साथ सतत करवटें बदलता रहता है। समुद्रकी तरल तरंगोंकी तरह वह स्थित्यन्तरोंको देखता रहता है। यह हम मानते हैं कि हिन्दुधर्मकी आवाज स्वामी विवेकानन्द, रामानन्द आदि विद्वानोंने बुलन्द की, तो यह कहनेमें हमें कोई हिचकिचाहट नहीं कि जैन समाजमें जैनधर्मके प्रति जागरूकता तथा आस्था निर्माण करनेका कार्य पण्डितवर्य श्रीगोपालदासजी वरैयाने किया था। यदि बीसवी शताब्दिके प्रथमार्धका सामाजिक इतिहास देखें तो यह ज्ञात हो सकता है कि जैन समाज अपने विचारों व आचारोंके प्रति कितना अनभिज्ञ था। बाह्य व्यवहारी तथा आंग्ल शिक्षाके प्रभावसे धार्मिक ज्ञानके प्रति गहरी अनास्था फैल रही थी। सर्वत्र मिथ्यांधकार फैला हुआ था। पर यह अज्ञान तथा धर्मकी अवनति किसी एक महान् आत्मासे देखी नहीं गई और उसने धर्म-संस्थापनाका वा धर्म-अध्ययन-अध्यापनाका नया युग प्रारम्भ किया व जैन समाजके हाथमें धर्मज्ञानका दीपक देकर उसे उचित मार्गदर्शन किया।

### जैन पण्डित परम्परा :

जैन समाजके लिए ऐसे समय धर्म-शिक्षा प्रसारकी आवश्यकता थी। भारतमें सर्वत्र धर्मप्रचारकी होड़ लग रही थी। कहीं गुरुकुलोंका निर्माण हो रहा था, तो कहीं महाविद्यालयोंका और कहीं जैन हाई स्कूलोंका। जैनधर्मके प्रचारके लिए कोई नेतृत्व लेनेको सामने नहीं आया। ऐसे वक्त गुरु गोपालदास वरैयाने इस अकर्मण्यतापर आघात किया और जिस प्रकार अकलंकादि आचार्योंने अपने-अपने समय प्रचार कर जैनधर्मके वृक्षको वृद्धिगत किया उसी प्रकार पण्डितजीने जैनधर्मके शास्त्रीय व सैद्धान्तिक अध्ययनके लिए क्रान्ति की।

पण्डितजीने अपने पूरे जीवन जैनधर्मकी तन-मन-धनसे सेवा की। आज जैनधर्मके सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ या आचार्यस्तरके विद्वान् सर्वत्र दिखाई देते हैं। यदि उसकी परम्परा निर्माण करनेका व आवश्यक संगठन निर्माण करनेका श्रेय किसीको है तो वह पण्डितजीको। वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें तथा उसके सूक्ष्म विवेचनमें पण्डितजीकी वाणी अग्रतमा रही है। जिनागमकी सुरक्षा करनेसे 'गो (=जिनवाणी) पाल नाम यथार्थ रहा है। पण्डितजीने ऐसे समय जन्म लिया जब जैन संस्कृत विद्वान् प्रायः लुप्त हो गए थे और इसलिए जैनसिद्धान्तोंका ज्ञान होना कठिन था। ज्ञान-मन्दिरकी स्थापना करके कठिनतर कार्य पण्डितजीने प्रारम्भ किया।

### जैन संस्कृत विद्यालय-मोरेना :

एतदर्थ पण्डितजीने सर्व प्रथम अपने निवास स्थान मोरेना गाँवमें जैनधर्मके अध्ययनके लिए जैन संस्कृत विद्यालयकी स्थापना की। जो कतिपय विद्वान् आज समाजमें दिखाई देते हैं उनका पूरा श्रेय पण्डितजीको है। आज तो पूरे भारतमें जैन विद्यालयोंका जाल फैला हुआ है। जयपुर, बनारस, इन्दौर, देहली, सोलापुर आदि शहरोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आज इन जैन संस्कृत महाविद्यालयोंमें जैन तथा जैनेतर ग्रन्थोंका शास्त्रीय अध्ययन होता है।

### मेरे अनुभव :

प्रारम्भसे जैनधर्मके सिद्धान्तोंके प्रति अत्यधिक आस्था होनेसे शोलापुर स्थित स्व० पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ तथा उनके सहोदर सिद्धान्तशास्त्री स्व० पं० खूबचन्द्रजीके चरणोंमें न्याय व सिद्धान्तका अध्ययन करनेका मुझे चार-पांच साल अवसर मिला। पं० वंशीधरजी जैन न्यायके प्रकाण्ड पण्डित थे। स्वमत-मण्डन व परमत-खण्डन किस प्रकार किया जाता है यह हम पण्डितजीसे अच्छी तरहसे सीख सकते थे। पं० खूबचन्दजी शास्त्री सिद्धान्त-ग्रन्थोंके मार्मिक विद्वान् थे। पण्डितजीके प्रतिदिनके व्याख्यानमें अक्सर पं० वरैयाजीका नामोल्लेख हुआ करता था। पं० गोपालदास वरैयाजीके जीवनके दिन प्रतिदिनके दृष्टान्त सुनकर हमें यह अवश्य ज्ञान हुआ कि पं० वरैयाजी एक श्रेष्ठ धार्मिक आत्मा थे। पं० वरैयाजीका धर्म, सिद्धान्त न्याय ग्रन्थोंका गहरा चिन्तन था। फलस्वरूप अपने समान ही विद्वान् व वक्तृत्वशाली व्यक्तियोंका वे निर्माण कर सकें। मैं तो अपनेको इसलिए धन्य मानती हूँ कि मुझे गुरुवर्य पं० वरैयाजीके

श्रेष्ठतम शिष्य न्याय-पण्डित पं० बंशीधरजी व सिद्धान्तशास्त्री पं० खूबचन्दजी जैसे विद्वानोंका सम्पर्क मिला। इस सबका श्रेय मैं गुरुवर्य पं० वरैयाजीको ही देती हूँ।

**वरैयाजीके शिष्य पं० देवकीनन्दनजी :**

विदर्भके कतिपय प्रदेशोंमें जो कुछ वरैयाजीका परिचय हुआ वह व्याख्यानवाचस्पति पं० देवकीनन्दनजी कारंजाके कारण हुआ। पं० देवकीनन्दनजीको जब अपनी अमूल्य सेवा प्रदान करनेका अवसर कारंजा स्थित जैन गुरुकुलमें प्राप्त हुआ तब जैन पाण्डित्य तथा तत्त्वनिरूपण क्या हो सकता है, इसका बोध उधरकी जैन समाजको हुआ। कोई भी जटिल प्रश्न हो, पण्डितजी अपनी कुशलता व समयसूचकतासे उत्तर देते। मेरे अल्प ज्ञानका श्रेय पूज्य पं० देवकीनन्दनजीको है जिनका निर्माण गुरुवर्य पं० वरैयाजीने किया था। पण्डितजी अक्सर कहा करते थे, जो भी मैं कुछ हूँ, उसका पूरा श्रेय मेरे गुरु पं० गोपालदासजीको है। पण्डित देवकीनन्दनजीने गुरुकुल कारंजामें रहकर अपने व्याख्यान-कौशल द्वारा सर्वत्र धर्मकी प्रभावना की। गुरुकुलके उत्थापन व वृद्धिमें पण्डितजीका सबसे बड़ा हाथ है।

**जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका :**

जैन सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अध्ययन दुष्कर कार्य है। मुझे पंडित देवकीनन्दनजीसे कर्मकाण्डादि ग्रन्थोंके अध्ययनका अवसर मिला। कर्मग्रंथोंका अध्ययन तथा उसका ज्ञान कर लेना एक जटिल कार्य है। पर पंडितजीने मेरा मार्ग सुकर किया और कहा 'तुम प्रथम जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका, पढो फिर तुम्हें कुछ सुकर लगेगा। शायद इस कारण ही वरैयाजीने जैनसिद्धान्तमें प्रवेश पानेके लिए 'जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका' नामक परिभाषा-ग्रंथका निर्माण किया। इस ग्रंथमें पंडितजीने व्याख्यात्मक रूपसे प्रत्येककी परिभाषा की है। इसके पठनसे वस्तुतत्त्वका ज्ञान हो सकता है, इतना यह सरल है। जैन सिद्धान्तके जिज्ञासुओंके लिए पंडितजीने एक मार्ग बना दिया। आज भी यह प्रवेशिका प्रायः सब विद्यालयोंके पाठ्य-क्रममें निहित है।

**मैं धर्म नहीं बेचूँगा :**

पंडितजीके निजी विचार व आचार प्रामाणिक व सत्यपर आधारित थे, इसलिए श्रेष्ठ पंडितके रूपमें उनकी ख्याति हुई। जीवनमें कई प्रसंग आये, जहाँ झूठका प्रयोगकर वे धन अर्जित कर सकते थे, पर वे 'न्यायोपात्तधनः' इस गृहस्थधर्मके नियमको कठोरतासे पालते थे। वरैयाजी चालाक व धूर्त दुनियाके लिए सचमुच मूर्ख लगते थे। कहीं झगड़ा हो तो वरैयाजीको निर्णायक बनानेमें लोग धन्य समझते थे। कई वक्त अपने मित्रोंसे उन्हें सत्यको कायम रखनेके लिए उनकी मित्रतासे वञ्चित होना पड़ा। वे अक्सर कहा करते थे—भाई, मित्रोंके खातिर मैं धर्मको नहीं बेचूँगा। मेरा धर्म मुझे न छोडे, चाहे सारा संसार मुझे छोड़ देवे तो मुझे चिन्ता नहीं। इस प्रकार वरैयाजी स्वयं धर्मके प्रति कठोर श्रद्धालु थे, इस कारण ही धर्मका प्रचार व प्रभावना करनेमें वे सफल हुए।

बालब्रह्मचारिणी पण्डिता सुमति बाई शहा
संचालिका, जैन श्राविकाश्रम सोलापुर

## आधुनिक अकलंक

प्रातःस्मरणीय पूज्य पं० गोपालदासजी वरैया भारतीय-विद्या-जगत्के प्रतिनिधि विद्वान् थे। अपने समकालीन सभी मनीषियोंमें उन्हें सम्माननीय स्थान प्राप्त था। वे जन्मना एवं कर्मणा जैन थे, अतः जैन समाजके आबाल-वृद्ध नर-नारी आज अपनेको उनके कारण गौरवान्वित समझते हैं तथा उन्हें "गुरुजी" कहनेमें एक विशेष आह्लादका अनुभव करते हैं।

गुरुजी जैन समाजके वर्तमानयुगीन अकलंक थे। भट्ट अकलंकका महत्त्व केवल उनकी रचनाओंसे नहीं आँका जाता, बल्कि इसलिए भी उनका स्थान अग्रगण्य माना जाता है कि उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभासे तत्कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक जगत्को अत्यन्त प्रभावित किया था। शास्त्रार्थके क्षेत्रमें वे तेजस्वी, वाग्मी, वादी एवं नैयायिक आदिके रूपमें विख्यात थे। विद्वान् लेखकोंने उन्हें 'सकलतार्किकचक्रचूडामणि' की उपाधिसे विभूषित कर स्मरण किया है।

गुरु गोपालदासजी भी ऐसे समयमें अवतरित हुए जब कि जैनसाहित्यका प्रचार एवं अध्ययन-अध्यापन नगण्य था। बड़े ही कठिन समयमें उन्होंने जैनग्रन्थोंका यथाशक्ति अध्ययनकर उनका चिन्तन एवं मनन किया तथा जीवनके विविध संघर्षोंसे जूझते हुए भी जैनधर्म एवं साहित्यके अध्ययनार्थी तैयारकर उन्हें शिक्षा प्रदान की। इन सबके साथ-साथ गुरुजीका समय शास्त्रार्थोंका युग था। सर्वज्ञतावाद, नास्तिकतावाद, सृष्टिवाद प्रभृति विषयोंको लेकर जैनियोंपर योजनाबद्ध आक्षेप लगाये जाते थे और जैनदर्शनको महत्त्वहीन सिद्ध करनेके उपाय किये जा रहे थे। गुरु गोपालदासने उचित समयपर पूर्व-पक्षियोंकी चुनौतियोंको निर्भीकताके साथ स्वीकार किया तथा उनके आक्षेपोंके तर्कपूर्ण करारे उत्तर देकर सर्वप्रथम विजयका दुन्दुभिनाद किया। उनकी वक्तृत्वशक्ति तथा सभामोहिनी शक्तिने जैनदर्शनको भारतीय दर्शनोंमें पुनः प्रतिष्ठित कर एक गौरवपूर्ण स्थान उपलब्ध कराया। समाजको यह उनकी सर्वोच्च देन थी। वर्तमानमें जैनविद्याके क्रमबद्ध अध्ययनका श्रीगणेश वस्तुतः गुरु गोपालदासके समयसे ही होता है। उन्हींके समयसे जैन विद्वानोंका एक ज्वार आया और समाजमें चतुर्दिक क्रान्ति हुई। आजकी पण्डित-परम्परा उन्हींकी शिष्य, प्रशिष्य एवं अनुशिष्य-परम्पराके अन्तर्गत है और वे इस युगके आद्य गुरु है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

गुरु गोपालदासके समयने समाजमें दस्सा-बीसा पूजाधिकार, शिक्षा-पद्धतिका युगानुकूल नव-निर्माण, आधुनिक शैलीमें जैनग्रन्थोंका प्रणयन-प्रकाशन, जैन विद्यालयोंकी स्थापना, बालकोंमें जैन-साहित्य एवं धर्म-दर्शनके अध्ययनकी अभिरुचि जागृत करना तथा जैन पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादन-प्रकाशन सम्बन्धी कई जटिल समस्याएँ उपस्थित थीं, जिन्हें सुलझाकर समाजमें एक स्वस्थ एवं प्रगतिशील वातावरण तैयार करना अत्यन्त आवश्यक था। गुरुजीने 'जैनमित्र' नामक एक मासिक पत्रका सम्पादन एवं प्रकाशन कर विश्वकी घटनाओं एवं विचारधाराओंसे जैन समाजको परिचित कराया, साथ-ही-साथ उन्होंने कई जटिल समस्याओंका विश्लेषण कर समाजका पथप्रदर्शन किया। उसी समय दस्सा-बीसा पूजाधिकारका, तत्सम्बन्धी आगमशास्त्रोंके समर्थक- उद्धरणोंके साथ बड़ी ही निर्भीकताके साथ उन्होंने जबर्दस्त प्रचार किया और इस प्रकार समाजके एक दलित और प्रताड़ित-वर्गके प्रति पूर्ण सहानुभूति व्यक्त की। कुछ कट्टर पन्थियोंने गुरुजीके इन क्रान्तिकारी विचारोंका घोर विरोध किया, किन्तु उन्होंने जिसे आगमानुकूल एवं समाजके हितमें उचित समझा, उसे सीधे ढंगसे सुस्पष्ट एवं सरल भाषामें कहदेनेमें कभी भी आगा-पीछा नहीं किया तथा अकेले रहकर भी विपक्षियोंके चैलेंजको स्वीकार करनेमें कोई संकोच नहीं किया।

जैनधर्म तथा साहित्यके अध्ययन-अध्यापनार्थ गुरुजीने भिण्ड एवं मुरैनामें जैन विद्यालयोंकी स्थापनाएँ की और समीपवर्ती या दूरवर्ती बच्चों एवं युवकोंको एक सुसंगठित शिक्षापद्धतिसे जैनधर्मके मूलग्रन्थोंका अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया। सुकुमार-मति बालकों तथा कर्मक्षेत्रमें उतरे हुए मुमुक्षुओंके हितार्थ छोटे-छोटे सिद्धान्त और आचार सम्बन्धी सरल ग्रन्थोंका प्रणयन भी किया। उस समय तक यद्यपि जगह-जगहपर जैन विद्यालयोंकी स्थापनाएं हो गई थी, किन्तु ऐसी ख्याति थी कि कोई भी व्यक्ति जब तक मुरैना विद्यालयमें कुछ कालतक रहकर वहाँ अध्ययन नहीं कर लेता था, तबतक वह प्रामाणिक विद्वान् नहीं माना जाता था। वस्तुतः मुरैना विद्यालयके मुद्राङ्कनके बिना किसीकी विद्वत्तामें निखार सम्भव भी न था।

सफल अध्यापक, लेखक तथा निर्भीक पत्रकार होनेके साथ-साथ गुरुजी एक भविष्यद्रष्टा, ओजस्वी वक्ता एवं गम्भीर विचारक थे। देश, काल, द्रव्य एवं भावका द्रुतगतिसे परिवर्तन देख उन्होंने नवीन शिक्षा-पद्धतिका निर्माण किया, जिसमें भारतीय विद्याका विषयक्रम, भाषाक्रम, तकनीकी एवं अतकनीकी आदि क्रमोंके अनुसार ज्ञान-विज्ञानका ऐसा वैज्ञानिक वर्गीकरण किया, जिससे समाज एवं राष्ट्रके बच्चे अपनी-अपनी क्षमताशक्ति तथा अभिरुचिके अनुकूल सरलतापूर्वक राष्ट्रभाषाके माध्यमसे किसी भी विद्याका अध्ययन कर सकें। यदि यह शिक्षा-प्रणाली पूर्णतया लागू की जाती तो आज राष्ट्रका नैतिक तथा बौद्धिक मानचित्र दूसरा ही होता।

श्रद्धेय गुरुजीने यद्यपि स्कूल तथा कालेजमें नियमित रूपेण शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, फिर भी यह उनकी प्रतिभाका दैवी-चमत्कार था कि उन्होंने वादिगजकेशरी, स्याद्वादवारिधि, न्यायवाचस्पति जैसी कई महान् सम्मानित उपाधियाँ प्राप्त कर ली थीं। कलकत्तेमें उन्होंने "दर्शन" विषयपर जो तुलनात्मक भाषण किये थे उन्हें सुनकर अच्छे-अच्छे विद्वान् भी मंत्रमुग्ध हो उठे थे। महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने तो उन्हें प्रसन्न होकर मंचपर गलेसे लगा लिया था तथा "जैनदर्शन" पर प्रतिवर्ष उन्हें गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज कलकत्तामें भाषण देने हेतु आमन्त्रित किया था। निस्सन्देह ही उनकी जिह्वापर सरस्वतीका वास था तथा उनके कण्ठमें अमृतरस घुला था। यही कारण है कि वे

"दर्शन" या "सिद्धान्त" जैसे नीरस विषयपर भी जब कहीं भाषण करते थे तब श्रोताओंकी भीड़ लग जाती थी और वे ३-३ घंटे तक एकटक होकर उनके भाषणको सुनते रह जाते थे।

गुरु गोपालदासजीका जीवन, निश्छल, सरल एवं सात्त्विक था। Work is worship तथा Honesty is the best Policy वाले सिद्धान्तोंमें उन्हें अटूट विश्वास था। उनकी नियमितता, मर्यादावादिता, सहनशीलता, दृढ़-प्रतिज्ञाशक्ति एवं घोर परिश्रमी-वृत्ति अनुकरणीय थी। भय एवं निराशा उनसे कोसों दूर रहती थी। सत्यनिष्ठ, मृदुभाषी, साम्यभावी एवं कल्याणमित्रके रूपमें वे समाज एवं राष्ट्रकी अनवरत सेवा करते रहे। यथार्थतः वे समाजके श्रृंगार, व्रजके शिरोमणि, माँ भारतीके तपःपूत वरदपुत्र, जिनवाणीके सच्चे साधक एवं भारत-माताके दुलारे बेटे थे। वह दिव्य ज्योति हमें तथा हमारी परम्पराओंको निरन्तर प्रेरणा देती रहे, ऐसी श्रद्धा समन्वित पवित्र भावनाके साथ मैं उस पूतात्माके चरणकमलोंमें अपनी प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित करता हूँ।

प्रा० डॉ० राजाराम जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
एच० डी० जैन कालेज, आरा

## समन्तभद्रके प्रतिरूप

पूज्य गुरुदेव पं० गोपालदास वरैयाका आविर्भाव ऐसे समय हुआ था जबकि समाज अपने धार्मिक तथ्यों एवं क्रिया-कलापोंको भूल रहा था। एवं जैनधर्मकी परम्परा नष्ट होनेकी ओर उन्मुख थी। गुरुजी आचार्य समन्तभद्रके रूपमें प्रस्तुत हुए और विनाशके गर्तमें जानेवाले जैन समाजका उद्धार एवं जैनधर्मका प्रचार किया। उनकी तार्किक शक्तिके समक्ष विपक्षी दिग्गज शास्त्रार्थी भी नहीं टिक सके, समन्तभद्रके समान समस्त भारतका भ्रमणकर धर्मकी उन्नति की। आज जैन समाजमें जो भी विद्वान् दिखाई दे रहे हैं वे उन्हीं महापुरुष गुरु गोपालदासजीकी शिष्य प्रशिष्य-परम्परामें हैं।

मैं उन युग-पुरुषके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

नेमिचन्द्र जैन शास्त्री
जैन बाला विश्राम, आरा

## श्रद्धा-सुमन

समाजमें जब-जब भी अनियमितता एवं अव्यवस्थाकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब समाजका उद्धार किसी महान् आत्मा द्वारा उसकी अन्तर्मनकी प्रेरणासे होता है। समाजकी दुर्व्यवस्था एवं विषमता उस समाज-सुधारकके अन्तर्मनको निरन्तर उद्वेलित करती रहती है, जिससे उसे समाजके प्रति पीड़ा एवं अन्तर्वेदनाकी गहनतम अनुभूति होती है। परिणामतः वह समाजकी उस दुर्व्यवस्था एवं विषमताको नहीं देख सकता। उसका अन्तर्मन समाज-सुधार एवं जन-हित हेतु सजग, सचेष्ट एवं उद्बोधित होकर आगे बढ़ता है तथा अनेक विरोध एवं कठिनाइयोंके बावजूद भी वह अपने कर्त्तव्यपथसे रंचमात्र भी विचलित न होकर लक्ष्य-साधनमें लगा रहता है।

ऐसे ही थे हमारे परमपूज्य गुरु श्रीवरैयाजी। जिनकी सतत साधनाके फलस्वरूप समाजको वर्तमान परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ है। गुरुजी केवल समाज-सुधारक ही नहीं थे, अपितु वे बीसवीं शताब्दीके विद्वानोंमें गण्यमान थे। उनकी विद्वत्ता अहंभावसे रहित एवं विनयशीलतासे परिपूर्ण थी। पूज्य गुरुजीने जैन वाङ्मयके अध्ययन-अध्यापनका सूत्रपात कर संस्कृतज्ञ जैन विद्वानोंकी जो परम्परा स्थापित की, उसके लिए संस्कृतज्ञ जैन-विद्वद्वर्ग सदैव उनका कृतज्ञ एवं चिरऋणी रहेगा। आपने अपनी लेखनी द्वारा जैन-साहित्य भण्डारकी जो श्रीवृद्धि की है, समाज उसे कभी नहीं भुला सकेगा। इसके अतिरिक्त आपके द्वारा विहित कार्योंमें जैन शिक्षा-प्रचार, जैन संस्कृति-प्रसार एवं जैन परीक्षा-प्रणालीका सुधार आदि कार्य विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

ऐसी महान् आत्माका जितना भी यशोगान एवं गुणगान किया जाय अल्प है। उस महापुरुषके शताब्दी-समारोहके अवसरपर मैं अपनी श्रद्धाके सुमन उनके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।

राजकुमार जैन
लेक्चरर—आयुर्वेद विश्वभारती, सरदारशहर, (राजस्थान)

# जयतु गुरुगोपालदासः

जयतु गुरुगोपालदासः !

भारतीय - विभूति - भूतः,
जैनवंशो येन पूतः,
सेवया, त्यागेन, तपसा
निर्मितो यस्येतिहासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

उज्ज्वला कीर्तिर्यदीया,
बुध - समाजे दर्शनीया,
जन्मना जातः कृतार्थो
यस्य शुभलक्ष्मणनिवासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

मोहनेन प्रभावितो यः,
तीर्णवाङ्मय - सिन्धु-तोयः,
संस्कृतोद्धारे प्रवृत्तः,
प्राकृते प्रहित - प्रकाशः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

चिरप्रवृत्तो ज्ञानदाने,
सांस्कृतिक - रचना - विधाने,
यस्य रसनायां सदाऽसी-
च्छारदायाः मञ्जुहासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

दर्शने दृष्ट प्रभावः,
यो विचित्र-महानुभावः,
येन विहितो विविध-कृत्यैः
पुण्य - 'मोरेना' - विकासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

यो महाशास्त्रार्थ-जेता,
यः सुधीनां साधुनेता,
यो धनी प्रतिभाधनानां
दिक्षु यत्पाण्डित्यभासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

अद्वितीया यस्य वाणी,
को न यं प्रति नतः प्राणी,
वादि - गज-केशरि-'बरैया'
यस्य नयसिद्धौ विलासः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

यस्य निःस्वार्थोपकारः,
यस्य गतिविधि-चमत्कारः,
यो जनानां वन्दनीयो,
विश्वधर्मज्ञः सुभाषः !

जयतु गुरुगोपालदासः !

श्री रामनाथ पाठकः 'प्रणयी' एम० ए० (संस्कृत एवं प्राकृत), साहित्यव्याकरणायुर्वेदाचार्यः
प्राध्यापकः, संस्कृत-प्राकृत-विभागस्य, एच० डी० जैन कालेज, आरा

# जैन-दिवाकरः

स्व-धर्म-माम-मूर्तियोऽसमः साहित्यसेवकः ।
गुरुर्गोपालदासोऽयं जीयाज्जैनदिवाकरः ॥

डॉ० राजकुमारो जैनः
एम० ए०, पी एच० डी०, साहित्याचार्य,
संस्कृत विभागाध्यक्षः, आगरा कालेज, आगरा

●

# गोपालदासो गुरुरेक एव

श्रीमद्वरैयावरवंशजन्मा सन्मान्यमान्यार्चितपादपद्मः ।
गोपालदासः स गुरुर्गुरूणामुपासनीयो विदुषां न केषाम् ॥ १ ॥

पाण्डित्यमासाद्य विशिष्टमन्यानध्यापयामास स शिष्यवर्गान् ।
लब्धप्रतिष्ठः प्रतिभाभिरामो वादागतान् वादिजनाञ्जिगाय ॥ २ ॥

दानादिसत्कर्मरतः स्वतो य शिष्यान् स्वपुत्रानिव रक्षति स्म ।
सोऽशेषलोकान् सुखिनो विधातुं चिच्छेद रूढीर्विषवल्लरी स्ताः ॥ ३ ॥

गुणान्वितानात्मयशोधनांश्च तांस्तान् विशिष्टान् विबुधो निरीक्ष्य ।
रुचिर्मदीया विरतान्यकार्यास्तत्वचर्चानिरता बभूव ॥ ४ ॥

रे रं ,न सम्बुद्धिपदं कदाचित् प्रायुंक्त यः शान्ततरस्वभावः ।
'कस्तेन तुल्योऽखिलभूतले यस्तत्स्थानपूर्तिं पुनरद्य कुर्यात ॥ ५ ॥

एवं जना ये निगदन्ति सन्तस्तत्सर्वथैवावितथं कथं नो ।
वस्तुस्थितिर्याभिहिता विमृश्य सा सत्यतां मोक्तुमलं कथं स्यात ॥ ६ ॥

दृश्यतां यः परित्यज्यादृश्यतामाप कालतः ।
तत्कृतीः संस्मरन् कोऽत्र कृती विस्मर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

—अमृतलाल : साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्यः
प्राध्यापक : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयस्य, वाराणसी

●

# श्रीगोपालदासैतिवृत्तम्

मोरेना-नगरीमलङ्कृतवता व्यापारि येनोज्झितं
त्रिंशद्वर्षमितायुषः पुनरहो भावैरजागः सुधीः ।
स्वात्मन्यात्मसमाधये कृतमतिः सत्यं शिवं सुन्दरं
जैनं धर्ममथावगाह्य कुशली जातो गुरूणां गुरुः ॥ १ ॥

तत्रैवावसता ह्युदात्तमनसा श्रीजैनदिग्वाससां
सिद्धान्तादि-गभीरशास्त्रगतये सिद्धान्तविद्यालयः ।
प्रास्थापि श्रुतशालिना प्रवयसा प्राचार्यवर्येण हि
अध्येतुं जिनवाङ्मयं जनयितुं चाम्नायसंरक्षकान् ॥ २ ॥

प्राज्ञैर्यैर्निजधीसुधीनिकषया सूक्ष्मेक्षणे दक्षया
शाणोल्लेखपटीयसा कनकवत्तस्यानि सन्निरूप्य हि ।
हेयोपेक्ष्यजिहासया समतया ह्यात्मीयतत्त्वं दधे
सोऽयं धर्मधुरंधरो बुधमणिर्गोपालदासो गुरुः ॥ ३ ॥

वैदुष्यं यदनल्पशास्त्रमननाद्यस्य प्रकाण्डं पुनः
जैनाजैनविमिश्रधर्मविषयं साहित्यन्यायादिकम् ।
शाब्दं शास्त्रमथावगाह्य नितरां पाण्डित्यपूर्णं बभौ
सोऽयं धर्मधुरन्धरो बुधमणिर्गोपालदासो गुरुः ॥ ४ ॥

अज्ञानादितमःप्रगाढपिहितां शास्त्रीयज्ञानं विना
जैनाचारविचारशून्यहृदयामालोक्य सर्वामपि ।
पूजापाठविधानमात्रकुशलां तत्त्वार्थसूत्रं ह्यपि
व्याख्यातुं विकलां समाजजनतां धर्मप्रचारः कृतः ॥ ५ ॥

बॉम्बे-कालिकता-विहार-पटना-दिल्ली-खतौलीपुरे
अन्येषूत्तर-मध्यप्रान्त-कुरुषु ह्यङ्गे च वङ्गे तथा ।
मैसूरादिक दाक्षिणात्यविषये शोलापुरे पत्तने
जैनीं नीतिमुदाजहार विहरन् धर्मप्रचारेच्छया ॥ ६ ॥

एकस्मिन्समये पुरा कलकत्तानाम्नि प्रसिद्धे पुरे
आसीद्विश्रुतवाग्मिनामनुपमा नैयायिकानां सभा ।
श्रीमांस्तत्रभवान्न्यमन्त्रि च ददौ जैनोत्तमं भाषणं
विद्वत्सल्लजमण्डलेन पदवी सन्न्यायवाचस्पतिः ॥ ७ ॥

दस्सानां जिनपूजनादिविषये जाते विवादे सति
यः पक्षप्रतिपक्षयोः समजनि न्यायालयेऽभिग्रहः ।
युक्त्या चागमिकैः प्रमाणविविधैः पूजाधिकारं बुधोः
न्याय्यं प्राह सुधारको हि निपुणो नृणां समेषां कृते ॥ ८ ॥

न्यायाचार्यसमाजमान्यसुधियो माणिक्यचन्द्रास्तथा
श्रीवंशीधरनामधेयविबुधौ सोलापुरेन्दौरयोः ।
लेभाते महतीं प्रतिष्ठितिमम् श्रीदेवकीनन्दन
आस्ते मक्खनलालसूरिरधुना गोपालविद्यालये ॥ ९ ॥

इत्यादिश्रुतशालिनो हि बहवोऽनूचानमेधाविनो
ह्यन्तेवासिन आगमैकरसिका जाताः सतीर्थ्या इमे ।
तेभ्योऽन्येऽप्यनुपाठिताः पुनरहो दीपात्प्रदीपो यथा
इत्थं श्रीजिनशासनं गुरुवरोपज्ञं बभौ साम्प्रतम् ॥ १० ॥

अर्हद्धर्मविकासकेन भवता श्रीमालवीयायितम्
उच्चैःकोटिकजैनशास्त्रभणने श्रीमल्लविद्यायितम् ।
दस्सानां जिनपूजनं व्यधित यो ह्यार्ये दयानन्दवत्
कीर्तिस्तस्य सुगन्धयेज्जगदिदमाचन्द्रतारावधि ॥ ११ ॥

जीयात् गोपालदासानां विद्यावंश्यसुसन्तति ।
आकल्पकालमज्ञानतमोपापं हरिष्यति ॥१२॥

—राजधरलाल : शास्त्री, व्याकरणाचार्यः

# प्रणामाः

गोपालदासगुरुवर्यमहोदयाना-
मज्ञानतामसविनाशनभास्कराणाम् ।
विद्याविवेकजलधौ सुनिमज्जितानां
चेतांसि नः कतिचिदेव गुणान् स्मरन्ति ॥ १ ॥

ये सर्वशास्त्रनिपुणाः सुधियः सुदक्षा
निःस्वार्थभावजनलाभरताः सदा स्युः ।
येषां समस्तलघुजीवनमेव नित्यं
लोकोपकारकरणे च समर्पितं यत् ॥ २ ॥

ज्ञानं स्वभावविपरीतमवाप्य बाल्ये
यद्यप्यहो परमधर्मरता न जाताः ।
किन्तु प्रसादमवलम्ब्य गुरोर्जनस्य
विद्वद्वरस्य सुभगस्य च मोहनस्य ॥ ३ ॥

सद्धर्मशास्त्रपठने रुचयः सुलग्नाः
श्रीजैनवाग्जलनिधौ भवतां मनोभिः ।
निःसारितानि विमलान्यवगाह्य नित्यं
रत्नानि वै बहुविधानि समुज्ज्वलानि ॥ ४ ॥

भाषाः प्राकृतसंस्कृतादिविविधा यैः सम्यगाप्ताः परं
प्राचीनस्य च विस्तृतस्य जलधिं ज्ञानस्य सम्मथ्य वै ।
सत्साहित्यसुधासुसंस्कृतिपथे पादौ सुसंस्थापितौ,
छात्राणामुपकारकं च सुपथे विद्यालयः स्थापितः ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थे प्रतिपक्षिणां न भवतां साम्मुख्यमाप्ताः क्वचिद्
येषां भाषणमुत्तमं प्रतिनवं श्रोतुं सुधासन्निभम् ।
आगच्छन्तिनिर्मलाः शुभधियो लोकाः सभायां बुधाः
धन्या सा च सभा सदा भवति वै यस्यां भवन्तो जनाः ॥ ६ ॥

धर्मोत्थानकृते व्यवस्थितपथैः पत्रञ्च सम्पादितं
सिद्धान्तस्य प्रवेशिकादिविविधाः सद्दर्शनैः संयुताः ।
ग्रन्था धर्मनिगूहिताश्च लिखिताः रम्याः कथाभिर्युताः
एवं कार्यसमाकुलैश्च सहसा क्षीणं शरीरं कृतम् ॥ ७ ॥

इत्थं जीवनदानमत्र जगतां मध्ये भवद्भिर्वरैः
कृत्वा देशसमाजजातिशुचये प्राणप्रणैश्चेष्टितम् ।
विद्वद्भिः खलु सत्यशोधनपरैः सन्त्यागिभिः कर्मठैः,
सत्पात्रैः शुभधर्मपालनपरैः सद्वृत्तिभिर्नैष्ठिकैः ॥ ८ ॥

स्याद्वादवारिनिधिपूज्ज्वलकीर्तिमत्सु
दिव्येषु वादिगजकेसरिषूत्तमेषु ।
सन्न्यायवाक्पतिषु योग्यपदेषु सम्यक्,
सच्छ्रद्धया शुभधिया मम वै प्रणामाः ॥ ९ ॥

—व्रजभूषण मिश्र 'आक्रान्त' साहित्याचार्यः, साहित्यालंकारः

अध्यापकः, हरप्रसाददास जैन स्कूल, आरा

# अभिनन्दन पत्र

: १ :

जिनधर्मका मर्मज्ञ औ विस्तारकर्ता कौन है ?
निःस्वार्थता से धर्मसेवा-कार्य करता कौन है ?
परवाद में स्याद्वाद का झण्डा उड़ाता कौन है ?
सत्पक्ष के सम्मुख न धनको सिर झुकाता कौन है ?

: २ :

प्राचीन और नवीन मत का प्रवर पण्डित कौन है ?
वक्तृत्व-लेखन-वाद आदिक, कलामण्डित कौन है ?
इत्यादि प्रश्नों का सदुत्तर यही मिलता एक है
गोपालदास सुधी वरैया वंशभूषण एक है ॥

: ३ :

अतएव इस प्रान्तिक सभा ने, हृदय के उल्लास से।
कर्तव्य पालन के लिये निज भक्तिभाव विकाश से ॥
यह वर्णमय लघुभेंट सम्मुख की उपस्थित आपके
स्वीकार हो हे प्राज्ञवर आगार सुगुण कलाप के ॥

: ४ :

स्याद्वादवारिधि शुभ इसी उपनाम के वरयोग को।
अपनाइए और कीजिये महनीय इस संयोग को ॥
इसमें न पर कुछ आपका हमने किया सत्कार है।
केवल हमारी भक्ति का यह आन्तरिक उद्गार है ॥

: ५ :

बढ़ता न वारिधि मान, उसको यदि जगत् वारिधि कहे।
वह तो बड़ा है स्वयं ही, कोई कहे या ना कहे ॥
इस ही प्रकार अपार है स्याद्वाद विद्या आपमें
'स्याद्वाद वारिधि' पद अपेक्षित है न उसके माप में ॥

: ६ :

परहित निरत हो इस सभा की जड़ जमाई आपने।
चिरकाल श्रम जल सींचकर ऊँची बनाई आपने ॥
यह आपकी है वस्तु इसको भूलियेगा मत कभी।
केवल यही करते निवेदन नम्र होकर हम सभी ॥

स्याद्वादवारिधि उपाधि के साथ यह अभिनन्दन पत्र दि० जैन प्रा० स० बम्बई के द्वारा उसके अधिवेशन में न्यायवाचस्पति पं० गोपालदास जी वरैया को समर्पित किया गया था।

# श्रद्धा सुमन

हे देव तुम्हारे चरणों में
मैं अपना शीश झुकाता हूँ।

तुम जीवनको उज्ज्वल करते,
तुम थे जीवन में द्युति भरते,
हे देव तुम्हारे चरणों में
मैं श्रद्धा-सुमन चढाता हूँ

तुम थे धरतीपर सूर्य उदित,
तुम से जीवन-शतदल प्रमुदित,
हे देव तुम्हारे चरणों के
चिन्तनसे अलख जगाता हूँ!

तुम जैनागम के मूर्त्तरूप,
तुम शास्त्रार्थी, वक्ता, अनूप,
हे देव तुम्हारे चरणों के
स्मृति-कण से नेह लगाता हूँ

तुम गुरु थे सच गोपालदास,
तुमसे मिलता था नवप्रकाश,
हे देव तुम्हारे चरणों के
आदर्श गीत मैं गाता हूँ!

हे देव तुम्हारे चरणों में
मैं अपना शीश झुकाता हूँ

—नलिनकुमार शास्त्री

●

# तुम्हें नमन है शत-शत वार

हे उद्धारक!
नव स्वरूप !!
शुचि-संस्कृति के अग्रदूत !!!
तुमने पथ बतलाया औरों को-
कठोर त्याग, तपस्या और बलिदान कर
सोई मानवता जगा दी
इतिहास तुम्हें भुला नहीं सकता।
भुलाये भी क्यों?
"मुरैना-विद्यालय"
जिसकी स्थापना तुमने की
जहाँ न्याय और धर्म की शिक्षा दी जाती है—
सूरज बन गया
उसकी किरणें पास आती हैं
कि स्मृति तुम्हारी ताजी हो जाती है।
चिर उपकारी! दिव्य रत्न !! आत्म-साधना के चिरसाधक
सत् शिव सुन्दर के आधार
तुम्हें नमन है शत-शत वार
तुम्हें नमन है शत-शत वार

—कमल जैन, सागर

●

# हे इन धूल भरे हीरों के सुख सौभाग्य विधाता।

हे इन धूल भरे हीरों के सुख सौभाग्य विधाता।
जैन जगत में धार्मिक शिक्षा पथ के नव निर्माता ॥

: १ :

तुम अज्ञान अमा हर आये, धर्म ज्ञान की ऊषा।
जैन भारती को दी तुमने मनोहारिणी भूषा ॥
जो ज्ञानार्थी शरण तुम्हारी पहुँच बना अनुगामी।
हुवा वही कुछ दिवसों में ही, ज्ञान कोष का स्वामी ॥
धन्य शिष्य वे जिन्हें मिले गुरु तुमसे विद्यादाता।
हे इन धूल भरे हीरों के सुख सौभाग्य विधाता ॥

: २ :

कर शास्त्रार्थ विजय फहरायी तुमने जैन पताका।
पड़ा प्रभाव विरोधी दल पर भी तव वाद कला का ॥
क्योंकि नहीं थे तुम जैनागम के कोरे श्रद्धानी।
उसके गूढ़ रहस्यों के भी अपितु रहे हो ज्ञानी ॥
अतः गौरवान्वित है तुमसे यह जिनवाणी माता।
हे इन धूल भरे हीरों के सुख सौभाग्य विधाता ॥

: ३ :

आज स्वयं होरहा तुम्हारे पद युग पर नत माथा।
कविवाणी गा रही स्वयं ही तव उज्वल यशगाथा ॥
क्योंकि 'मुरेना' का विद्यालय दिया तुम्हीं ने दानी।
जो कि आज भी तव उपकारों की कह रहा कहानी ॥
हम व्याख्यान करें क्या गुण का हे अनुपम व्याख्याता।
हे इन धूल भरे हीरों के सुख सौभाग्य विधाता ॥

—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', नागोद

# गुरु गोपालदास का जगमें तब तक नाम अमर है

देह दीप में किसे पता, कितना प्रकाश लिये थे,
एक स्वांस में किसे पता, कितना इतिहास लिये थे,
यदि काल न हरता, तो यह कौन, बता सकता था,—
अखिल विश्व को, बतलाने वे कितना राज लिये थे।
हरी काल ने काया पर, जब तक नभ-सूर्य उगर है,
गुरु गोपालदास का तब तक, जग में नाम अमर है,

उनका दिव्य सरूप देखकर, क्रंदन सो आता था,
उनके पावन पग से हर युग नंदन हो जाता था,
आप और हम जहाँ एक दिल बदल नहीं पाते हैं,
वह जिस तरु पर नजर डाल दें, चंदन हो जाता था,
लगता था उनका स्वर सुनकर, भगता स्वयं समर है,
गुरु गोपालदास का जग में, तब तक नाम अमर है।

बदल दिया इतिहास धरा का, सूरज चांद बताए,
उनके निर्मल उपकारों को, कौन कहाँ तक गाए,
मिट्टी के तन में, जाने किसका अवतार लिये थे,
अखिल विश्व के व्यक्ति, वह व्यक्तित्व आँक न पाए,
उनके सन्मुख विपदायें, कर सकीं न कभी कमर है,
गुरु गोपालदास का जग में, तब तक नाम अमर है।

युगों-युगों तक गर्व करेगा उनपर यह भारत है,
उनके पथ पर चलना, उनका सच्चा स्मारक है,
पर का विष हरलेने वाले, शंकर परम पुजारी,
आज आपको अखिल विश्व का, गर्वीला सिर नत है,
'सरस' रूप्य है इसमें अंकित समझो नहीं कसर है,
गुरु गोपालदास का जग में, तब तक नाम अमर है।

—शर्मन लाल 'सरस', सकरार (झाँसी)

•

# सुमनोपहार

श्री सद्गुरु गोपालदास जी थे भू के आदर्श,
जिनको पाकर था कृतार्थ यह भा-रत भारतवर्ष !
जैनवाङ्मयाध्ययनाध्यापन में अविरत संलग्न,
देशोत्थान-दिशा के चिन्तन में रहते थे मग्न !
मोहन के ही सदृश मोह से रहकर अतिशय दूर,
त्यागी, नैष्ठिक, युगनिर्माता सत्यान्वेषण शूर !
संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश के शोध-कार्य-हित व्यग्र,
मानवता के सच्चे गुण थे जिनमें निहित समग्र !
संस्थाओं के प्राण, तर्क में अर्क-समान प्रचण्ड,
ज्ञानार्जन का व्रत जीवन में जिनके रहा अखण्ड !
वाणी के वरदान 'सुशीला' के शुभ रचनाकार,
चरणों में सप्रेम समर्पित सुमनों का उपहार !

—श्यामसुन्दर पाठक

## श्रद्धाञ्जलि

जैनसमाजके उद्‌भट एवं यशस्वी कर्मठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित गोपालदासजी वरैया मोरेनाकी स्मृतिमें आप एक उच्चकोटिका स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। गुरुजीने जैनधर्म एवं जैनसमाजकी उन्नति एवं अभ्युदयके लिये अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था।

आज जैन समाजमें उच्च कोटिके विद्वान् जैनधर्म एवं जैन समाज की सेवा कर रहे हैं यह सब गुरुजीकी ही कृपा एवं उनकी देनका ही फल है।

आपके द्वारा स्थापित श्री गोपाल दि० जैन सि० महाविद्यालय मोरेना ( म० प्र० ) में मुझे करीब दस वर्ष तक गृहपतिके उच्च पदपर रहनेका सुअवसर भी मिल चुका है जिसे मैंने बड़ी योग्यताके साथ सँभाला था। मैं स्व० गुरुजीके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ वीरप्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि स्व० आत्माको चिरकालतक सुख एवं शान्ति प्राप्त हो।

शिवमुखराय जैन, शास्त्री
मारोठ

## नवयुग निर्माता

अन्ध विश्वासों, अज्ञानतिमिर जन्य कुरीतियों एवं भौतिक ऐषणाओंका उन्मूलन कर समाजको कल्याण मार्गपर लगानेवाले गुरु गोपालदासको परम्पराएँ युग-युग तक स्मरण रखेंगी। उन्होंने अपने प्रयास-पुरुषार्थ द्वारा एक नवीन युगकी स्थापना की है। साहित्य निर्माण और विद्वानोंकी अनवच्छिन्न परम्पराका प्रारम्भ उनके ही सत् प्रयत्नोंका सुफल हैं। वे ऐसे दीपक हैं, जिसकी लौका स्पर्श पाकर अगणित दीपावलियाँ प्रज्वलित हो उठी हैं।

समाज कल्याणके साथ वे समाजसे गुरुडम और पोपडमको भी दूर करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें अपमान, तिरस्कार और लाञ्छन भी सहन करने पड़े, पर वे थे लौहपुरुष। उनके ऊपर असत्यका प्रभाव न पड़ा। वे परीक्षा-प्रधानी थे, प्रत्येक बातको शास्त्रज्ञानकी तुलापर तौलते थे और जब उन्हें सत्यताकी पूरी जानकारी या विश्वास हो जाता था, तभी उसका प्रचार और प्रसार करते थे।

गुरु गोपालदासजीने वास्तवमें नवीन युगका निर्माण किया है। विद्वानोंकी परम्पराके साथ उन्होंने नये विचारक भी उत्पन्न किये हैं। तर्क द्वारा वस्तु तत्त्वकी सत्यताका निर्णयकर ही उसे स्वीकार करनेकी उन्होंने सलाह दी है।

मैं युगनिर्माता गुरु गोपालदासजीकी महनीय सेवाओंके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट करता हूँ। उनके द्वारा-की गयी विभिन्न प्रकारकी सामाजिक सेवाएँ सदैव अमर रहेंगी।

प्रेमचन्द्र जैन 'वरैया',
शिवपुरी

## आदर्श विद्वद्रत्न

आदर्श विद्वद्रत्न गुरुवर गोपालदासजी वरैयाका समाजके हृदयमें गहरी श्रद्धाका स्थान है। आप अपने समयके अतिशय प्रतिभाशाली प्रखर विद्वान् हुए हैं। आपके प्रकाण्ड पाण्डित्यसे समाजका बहुत उपकार व धर्मका प्रकाश हुआ है। आपके द्वारा शिक्षा प्राप्त कर कितने ही उच्चकोटिके विद्वान् समाजमें प्रगट हुए हैं, जिनने जिनवाणी-धर्म व समाजकी अद्‌भुत सेवा की व कर रहे हैं और जिनसे गुरुवर की अपूर्व गुणगरिमा का प्रकाश होता है।

"गुरुवर" जैसा मान्य शब्द आपके लिए व्यवहृत करनेमें विद्वज्जन अपने लिये गौरवका अनुभव करते हैं। अपनी न्यायपूर्ण निर्मल जीवन वृत्तिसे आपने लोकमें प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाया है। आपकी सेवाओंका समाज चिरऋणी रहेगा।

धर्म व समाजके अनुपम सेवक, जिनवाणी प्रकाशक, आदर्श विद्वद्रत्न गुरुवर गोपालदासजी वरैयाके प्रति मैं सादर श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

पं० बालचंद जैन, न्यायतीर्थ
नवापारराजिम ( रायपुर )

## आदर्श गुरु

आदर्श गुरु गोपालदासजीके साथ 'वरैया' शब्द इतना रूढ हुआ है कि जिस प्रकार 'वर्णी' शब्दको सुनकर या पढ़कर लोग पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीको याद करते रहे हैं, उसी प्रकार 'वरैया' शब्दसे गुरु गोपालदास वरैयाकी स्मृति हृदय पटल पर अङ्कित हो जाती है, और उनके प्रति महती श्रद्धाके भाव जाग्रत होते हैं, यह उनकी असाधारण विद्वत्ता, सत्सेवा, तथा उत्तम शिक्षा प्रचारकी तीव्र लगनका फल है। बहुधा वर्तमानमें जो चोटीके विद्वान् पाये जाते हैं वह गुरु गोपालदासजी वरैया या उनके शिष्य-प्रशिष्योंद्वारा दी गई सत्-शिक्षाके सुफल हैं, जिनकी ज्ञान-किरणें जैनसमाजके अन्तःकरणको आलोकित करती हैं। गुरुवरकी प्रतिभापूर्ण सरल सुबोध साहित्यरचना उनकी असाधारण तार्किकता एवं विद्वत्ताको प्रगट करती है।

जिनने धर्म व समाजकी अद्भुत सेवा की, जिनकी सद्-शिक्षासे समाजमें प्रकाशमान विद्वद्रत्न उद्भूत हुए, अपनी न्यायपूर्ण निर्मलवृत्तिसे जिनने लोकमें प्रतिष्ठा पाई, उन गुरुवर गोपालदासजी वरैयाके प्रति मैं सादर श्रद्धाके सुमन समर्पित करता हूँ।

**धर्मदास जैन, न्यायतीर्थ**
नवापाराराजिम ( रायपुर ) मध्यप्रदेश

## असाधारण व्यक्तित्व

प्रातःस्मरणीय गुरुगोपालदासजी वरैयाका जैनसमाज तथा जैन विद्वानोंपर जो ऋण है उससे उऋण तभी हुआ जासकता है जब हम उनके द्वारा किये गये उपकारको स्मरण रक्खें और उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शों और सिद्धान्तोंको समझें और उनपर चलें। पूज्य वरैयाजी का जन्म ऐसे समयमें हुआ था जब जैन समाजमें अज्ञानान्धकार विशेषरूपमें व्याप्त था, जैन सिद्धान्तका मर्मज्ञ कोई विद्वान् दृष्टिगोचर नहीं होता था तथा समाज अनेक रूढियोंसे जकड़ा हुआ था। ऐसे समयमें वरैयाजीने स्वतंत्र व्यवसाय करते हुए जैन सिद्धान्तके क्लिष्ट ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन और मनन ही नहीं किया किन्तु उनमें निष्णात होकर सिद्धान्त ग्रन्थोंके मर्मज्ञ विद्वानोंको तैयार किया जिनकी परम्परा आज भी दृष्टिगोचर हो रही है। उस समय प्रचलित अनेक रूढियोंसे समाजको मुक्त करनेके विषयमें उन्होंने जो प्रयत्न किया वह भी चिरस्मरणीय रहेगा।

वास्तवमें वरैयाजी एक साधारण व्यक्ति न होकर महान् व्यक्ति थे। और महान् व्यक्तिको हम किसी सीमामें बाँधकर नहीं रख सकते। इस दृष्टिसे वरैयाजी एक सच्चे भारतीय सपूत थे जिन्होंने जैन संस्कृतिके माध्यमसे भारतीय संस्कृतिके प्रचार और प्रसारमें पूर्ण सहयोग दिया तथा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया।

मैं पूज्य वरैयाजीके चरणोंमें विनयावनत होकर श्रद्धाके सुमन सादर समर्पित करता हूँ।

**उदयचन्द्र जैन, बौद्धदर्शनाचार्य, एम०ए०**
बौद्धदर्शन प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

## निर्भीक सेवाभावी

श्रद्धेय गुरु गोपालदासजी वरैया उन सन्तोंमें रहे हैं जिन्होंने अपनी किसी प्रकारकी परवाह न करके दूसरोंकी मदद की है। उनका सारा जीवन समाज तथा धर्मकी सेवामें बीता है। उन जैसा निस्पृही, सेवाभावी, निर्भीक, परदुखकातर, सदाचारी, निर्लोभी, व्रती, विद्वान् देखनेमें कम ही आये हैं। उन्होंने ज्ञानकी जो अलख ज्योति जगायी थी वह आज भी उनका यशोगान कर रही है।

मैं उनके पुनीत चरणोंमें अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

**बाबूलाल जैन, फागुल्ल-**
वाराणसी

# द्वितीय खण्ड

●

## प्रवृत्तियाँ



## विचार



## निबन्ध



## रचनाओंका अनुशीलन

## प्रवृत्तियाँ • विचार
## निबन्ध
## रचनाओंका अनुशीलन

●

# गुरुजी की प्रवृत्तियाँ

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्
अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत विभाग—एच० डी० जैन कालेज, आरा

●

किसी भी महान् व्यक्तिके व्यक्तित्वका सर्वाङ्गीण विश्लेषण उसकी कार्य-प्रवृत्तियोंके परिज्ञानके बिना सम्भव नहीं। यतः व्यक्तिके विचार विभिन्न विषयगत प्रवृत्तियाँ एवं विधेय कर्तव्योंका समवाय ही व्यक्तित्व है। विचारोंसे तो व्यक्तिके हृदयका परिज्ञान और प्रवृत्तियोंसे उसके चरित्रका बोध होता है। जिस महान् व्यक्तिके पूर्ण-व्यक्तित्वका परिज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं उसके विद्याविलास, धृति-शील, सहिष्णुता, उदारता, सेवावृत्ति आदिका बोध प्राप्त करना परमावश्यक है। वर्तमान मनोविज्ञान और नीतिशास्त्रोंमें व्यक्तिके व्यक्तित्वका मानदण्ड निम्न प्रकार बतलाया गया है—

१. आचार-विचारोंकी उच्चता।
२. अनाग्रह-बुद्धि।
३. दूसरोंके विचारोंको सहन करनेकी क्षमता।
४. समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमे की गयी सेवा-वृत्ति।
५. साहित्य-सृजनकी प्रवृत्ति।
६. निर्माणात्मक कार्योंके सम्पादनकी क्षमता।
७. पूर्वमें सम्पादित कार्य-प्रवृत्तियोंका पुनर्मूल्यांकन।

गुरु गोपालदासजीने उपर्युक्त सूत्रोंको अपने जीवनमे अपनाया तथा समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें व्याप्त अज्ञान, कुरीतियाँ, मिथ्यात्व एवं शिथिलाचारोंका उन्मूलन कर अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों द्वारा ऐसी दीपशिखाएँ प्रज्वलित कीं, जिनके आलोकसे सामाजिक प्रवृत्तियोंका कोना-कोना आलोकित हो उठा। उनकी जीवन रेखाएँ प्रथम खण्डमें अंकित है, यहाँ हम उनके उस समाजशास्त्रीय व्यक्तित्वका मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे, जिस व्यक्तित्वमें अनेक प्रकारकी कार्य प्रवृत्तियोंका समवाय निहित है। वास्तवमें वे ऐसे कुशल चिकित्सक थे, जो सामाजिक रोगोंका निदान, चिकित्सा, पथ्यापथ्य-विवेक एवं चर्या-चेष्टा आदिकी पूर्ण जानकारी रखते थे। यही कारण है कि उनके अनन्त गुणात्मक जीवनमे ऐसे सामाजिक धरातलका समावेश है, जिसका आयाम शिक्षा, साहित्य-सृजन, वाद-विवाद द्वारा तथा धर्मोद्योतनार्थ किये गये पर्यटन द्वारा, समाज जागरण आदि रूपमें विभक्त है। उनकी कार्य-प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक हैं, जिनका वर्गीकरण सहजमें नहीं किया जा सकता। वे ऐसे युग-प्रवर्तक नेता है, जिन्होंने समाजके प्रत्येक अंगका सम्यक् परीक्षण कर उसकी युगानुकूल चिकित्सा सम्पन्न की है। संक्षेपमें उनकी प्रवृत्तियोंको निम्नांकित वर्गोंमें विभक्त कर देखा और परखा जा सकता है।

१. उत्तरसे लेकर दक्षिण तक और पूर्वसे लेकर पश्चिम तक समस्त भारतमे पर्यटन कर सभा और सम्मेलनोंमें सम्मिलित हो भाषण, प्रवचन एवं प्रश्नोत्तरों द्वारा जैनधर्मका प्रसार एवं प्रचार।
२. शास्त्रार्थ एवं वाद-विवादों द्वारा धर्मचक्रका उद्योतन।
३. अपने अथक परिश्रम एवं त्याग द्वारा शिक्षा संस्थाओंका संस्थापन, संवर्द्धन एवं उनका सम्यक् सञ्चालन।
४. कलापूर्ण अध्यापन द्वारा विद्वानोंकी परम्पराका सूत्रपात एवं जैन वाङ्मयके विशेषज्ञ तैयार करनेका प्रयास।
५. कुशल शिक्षा शास्त्रीके रूपमें संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भारतीय भाषाओंके साथ अंग्रेजी एवं आधुनिक विषयोंके अध्ययनके समन्वित रूपका प्रयास।

६. शिक्षाकी प्रगतिके हेतु परीक्षालयका संस्थापन, उसकी व्यवस्था एवं सञ्चालन ।

७. सभाओं और संस्थाओंके अध्यक्ष, मन्त्री, अधिष्ठाता आदि पदोंको स्वीकार कर समाज-जागरणमें यथेष्ट योगदान ।

८. नवीन साहित्य सृजनका सूत्रपात्र कर वाङ्मय प्रथनकी आधुनिक शैलीका प्रचार ।

९. लघुकाय निबन्ध, ट्रैक्टोंके रूपमे प्रकाशित कर जनोद्बोधन एवं गहन तत्त्वोंका सरलतम रूपमे प्रचार ।

१०. जैन-मित्रका सम्पादन भार स्वीकार कर सम्पादन कलाका आरम्भ एवं उसकी प्रौढ़ताका निदर्शन ।

११. पुरातन मान्यताओंका परीक्षण और उनका पुनर्मूल्याकन ।

१२. क्रान्तिकारी नवीन विचारधारा द्वारा दृढता और निर्भयता पूर्वक समाजका नेतृत्व सम्पादन ।

१३. व्यापार एवं दैनिक कार्य प्रवृत्तियोंमें स्वयं धर्माचरण कर समाजके समक्ष प्रयोगात्मक जीवनका संस्थापन ।

१४. आध्यात्मिकता एवं मानवताके जागरणका शंखनाद ।

१५. जन साधारणमें स्वाध्यायकी प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके हेतु शास्त्रसभाओंका आयोजन एवं शास्त्र प्रवचन कर जनतामें तत्त्व-जिज्ञासाका समुत्पादन ।

१६. त्याग एवं दानकी प्रवृत्तिको समृद्ध बनानेके लिए छात्रोंको धनी-मानियों द्वारा छात्रवृत्तियाँ दिलवानेका प्रबन्ध-सम्पादन एवं संस्थाओंके लिए आर्थिक सहयोगकी माँग ।

१७. बाल-विवाह एवं वृद्ध-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियोंका उन्मूलन ।

## धर्मप्रचार-प्रवृत्ति

गुरु गोपालदासजीकी उपर्युक्त समस्त प्रवृत्तियोंका एक साथ विश्लेषण करना तो सम्भव नही है; क्योंकि एक-एक प्रवृत्तिपर एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जा सकता है। उनकी धर्मप्रचार सम्बन्धी प्रथम प्रवृत्तिपर आगे एक स्वतन्त्र निबन्ध दिया जा रहा है। इस प्रवृत्तिके सम्बन्धमें यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि गुरु गोपालदासजीके हृदयमे धर्मप्रचारकी अपूर्व लगन थी। वे निःस्वार्थभावसे विभिन्न स्थानोंमें पधार कर अपने भाषण और प्रवचनोंसे जनताको लाभान्वित करते थे। उनकी वाणीमे मधु और अमृतका घोल समान रूपसे वर्त्तमान था; अतः जब वे मञ्चपर प्रवचनके लिए उपस्थित होते थे, तो जनता मन्त्रमुग्ध हो उनकी अमृतमय वाणीका रसास्वादन करती रहती थी। उन्होंने इटावा, करहल, भौगाँव, छतरपुर स्टेट, जयपुर, जोबनेर, कानपुर, कटनी, रायपुर, मुड़वारा, कलकत्ता, सम्मेद-शिखर, देहली, अजमेर, काशी, इन्दौर, महाराष्ट्र, मूडबिद्री एवं श्रवणबेलगोला प्रभृति स्थानोंमें पर्यटन कर महत्त्वपूर्ण प्रवचन और भाषण दिये। इनके भाषणोंका उद्देश्य जनताको सामान्यतया उद्बोधन करना तो था ही, साथ ही सम-सामयिक समस्याओंका समाधान करना भी था। उनका युग वास्तवमे वह युग था, जिसमे आर्य समाज हिन्दू धर्मके विभिन्न अङ्गों एवं मान्यताओंकी निस्सारता सिद्धकर उनका पुनर्मूल्याङ्कन कर रहा था, इसी क्रममे जैनधर्मकी अनेक मान्यताओं और तात्त्विक चर्चाओंको भी अपने कुतर्कों द्वारा खण्डित कर रहा था। अतः इस युगमे प्रत्युत्पन्नमतिवाले, प्रतिभाशाली, जैन विद्वान्‌की बड़ी भारी आवश्यकता थी जो आर्यसमाजके आक्षेपोंका सतर्क उत्तर दे सके और सभा एवं सम्मेलनोंमे उपस्थित हो, प्रवचन एवं भाषणों द्वारा जनताको सुमार्गपर ला सके। गुरुजीने उक्त दोनों ही कार्योका सम्पादन किया। वे प्रत्येक सभा सम्मेलनमें उपस्थित होते थे और अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा जनताको प्रभावित कर लेते थे। उनकी वक्तृत्वकला प्रवृत्तिकी अपूर्व देन थी। बुद्धि इतनी प्रखर थी कि शंकाओं और प्रश्नोंका तत्काल सटीक उत्तर देते थे। प्रश्नकर्त्ता इनके उत्तरको सुनकर सन्तुष्ट ही नही होता था, आश्चर्यचकित भी हो जाता था। इटावाकी सभामें सन् १९१० को १४ मार्चको श्रोताओंकी शंकाओंका जो समाधान प्रस्तुत किया है, उसमे उनकी प्रतिभा, गहन पाण्डित्य, अपूर्व शास्त्रज्ञानका सहजमे पता लग जाता है। सृष्टिकर्तृत्ववाद, वस्तु स्वभाव, द्रव्यगुण स्वरूप आदि विषयोंपर गुरुजीके प्रवचन मीलपत्थरका कार्य सदैव करते रहेंगे।

गुरुजीका स्वास्थ्य साथ नहीं देता था फिर भी वे सभाओं और सम्मेलनोंमें सम्मिलित होनेके लिए सदैव तत्पर रहते थे। जनता भी आँखें बिछाकर उनका स्वागत करती थी। पर्यटनद्वारा धर्मप्रचारकी यह प्रवृत्ति बहुत कम लोगोंमें पायी जाती है।

## शिक्षा संस्थाओंके संस्थापनकी प्रवृत्ति

गुरु गोपालदासजीने शिक्षाके प्रसार और प्रचारके हेतु विद्यालय, महाविद्यालय तथा पाठशालाओंकी स्थापनाका पूरा प्रयास किया। उनका यह विश्वास था कि मानवताकी प्रतिष्ठा शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। जिस समाजमें शिक्षा संस्थाओंकी बहुलता एवं सुव्यवस्था रहती है, वह समाज उन्नतिशील हो जाता है। अधिकार और कर्त्तव्योंका परिज्ञान शिक्षाके द्वारा ही सम्भव है। अतः बम्बई प्रान्तिक सभाकी ओरसे जो प्रचारक विभिन्न स्थानोंमें धर्म प्रचारके लिए जाते थे, उनका यह कर्त्तव्य होता था कि वे उस नगरमें पाठशाला या विद्यालयकी स्थापनाके लिए प्रयास करें तथा कार्य-सम्पादन करते हुई शिक्षा-संस्थाओंकी सुव्यवस्थामें योगदान भी प्रदान करें। इन प्रचारकोंके कार्य-विवरण उस समय जैन-मित्रमें प्रकाशित होते थे। प्रायः प्रत्येक कार्य-विवरण पर गुरुजीकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ अंकित रहती थीं। इन टिप्पणियोंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि वे किसी नयी शिक्षा-संस्थाकी स्थापना अवगत कर आनन्दविभोर हो जाते थे। सञ्चालित शिक्षा-संस्थाएँ, योग्यतापूर्वक कार्य करती हुई परिलक्षित होती थीं तो हर्षविभोर होकर उनकी प्रशंसामें अपने उद्‌गार व्यक्त करते थे। जैन मित्र प्रथम वर्ष पञ्चम अंकमें जयचन्द सीतारामजी श्रावणे उपदेशकके कार्यविवरणपर अपनी टिप्पणी अंकित करते हुए उन्होंने लिखा है—"हम परतवाड़ाके खण्डेलवाल भाइयोंको और विशेषकर सेठ मोतीलाल चम्पालालजीको सभाकी तरफसे कोटिशः धन्यवाद देते हैं जिन्होंने धर्मकी उन्ननिका मूल कारण पाठशाला स्थापन करनेका प्रबन्ध किया है। आशा है इसी प्रकार धर्म-कार्योंमें सदैव कटिबद्ध रहेंगे। पण्डितका प्रबन्ध हो रहा है, शीघ्र ही भेजा जायेगा।"[1]

उक्त टिप्पणीसे गुरुजीकी पाठशाला-स्थापन करनेकी प्रवृत्ति पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। वे विद्यामन्दिरोंकी स्थापनाके लिए अहर्निश आकुल रहते थे और धनी-मानियोंको शिक्षासंस्थाओंकी स्थापनाके लिए निरन्तर प्रेरित किया करते थे। उन्होंने अपने एक अन्य टिप्पणमें लिखा है कि समाज मन्दिर बनवाकर एवं पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाएँ सम्पादन कराकर सहस्त्रों रुपयोंका व्यय करता है जो समाजहितके लिए आवश्यक नहीं है। वे निर्जीव प्रतिमाओंके स्थानपर सजीव प्रतिमाओंके संस्कार और उनकी प्रतिष्ठाओंको अधिक महत्त्व देते थे। ग्रन्थ एवं प्रतिमाओंके मानने पूजनेवाले या अध्ययन करनेवाले ही न रहें तो इनका समाजशास्त्रकी दृष्टिसे महत्त्व ही क्या है? संस्कारोंकी स्थापना विद्यामन्दिरोंमें ही की जा सकती है अतः उन्होंने लिखा है—"देशकालापेक्षया द्रव्यका सदुपयोग न जाननेसे कर्त्तव्यविमूढ़ समझे जाते हैं। ऐसा कोई भी वर्ष नहीं बीतता जिसमें जैनियोंका दस-बीस मन्दिर बनवाने, दस-बीस मेला-प्रतिष्ठादि करानेमें बेकलेजे होकर अगणित द्रव्य न उलीचा जाता हो, परन्तु आज तक ऐसे अवसर बहुत थोड़े आये हैं जिनमें किसी विद्या-मन्दिरके बनने न उसकी प्रतिष्ठा करनेमें गिनकर भी द्रव्य लगाया गया हो। यद्यपि आठ-दस वर्षके बृहद् उद्योगसे खुर्जा, मथुरा, शोलापुर, बम्बई, सहारनपुर प्रभृति स्थानोंमें पाँच-सात पाठशालाएँ ही स्थापित हुई हैं, परन्तु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं है, जिसमें सन्तोषप्रद द्रव्यका साधन हो और यथार्थ फलोत्पादनकी शक्ति हो। अन्य विद्याओंकी बात तो जाने दीजिये, राजविद्या की ओर भी किसीका लक्ष्य नहीं है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके ही हमने ऊपर कहा है कि जैनियोंमें करनेवाले बहुत थोड़े हैं और जो कुछ हैं वे अधिकतर प्रवृत्त्यनुगामी हो रहे हैं।[2]

उपर्युक्त सन्दर्भमें आया हुआ "बेकलेजा" शब्द अत्यन्त विचारणीय है। इस शब्दसे अविवेक और अज्ञानता तो ध्वनित होती ही है साथ ही शिक्षासंस्थाओंके संस्थापनकी बेचैनी भी प्रकट होती है। गुरुजीके हृदयमें शिक्षा संस्थाओंकी स्थापनाके लिए अत्यन्त आकुलता थी। वे एक ऐसी केन्द्रीय शिक्षा-संस्था स्थापित करना चाहते थे जो जैन वाङ्मयके विभिन्न अंगों और विषयोंकी शिक्षा देनेमें समर्थ हो। उनका स्वप्न सर्वाङ्गीण प्रभु-सत्ता सम्पन्न महा-विद्यालयकी स्थापनाका था, जो आजकलके आवासीय विश्वविद्यालयका प्रतिरूप होता है। उनका यह स्वप्न पूरा ही न हो पाया, यद्यपि मुरेना महाविद्यालयकी स्थापना द्वारा वे अपने उक्त मानचित्रको पूरा करना चाहते थे, पर सम्भवतः उनका वह अरमान अधूरा ही रह गया। वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंकी अवस्थासे भी वे पूर्णतया चिन्तित रहते थे। वे समस्त शिक्षा-संस्थाओंको एक सूत्रमें आबद्ध देखना चाहते थे। उन्होंने अपने मानसमें शिक्षा-संस्थाओंके सम्बन्धमें जो चित्र अङ्कित किया था वह श्रमण-संस्कृतिकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित था। वे आधुनिक विषयोंकी शिक्षाके साथ संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश वाङ्मयके विभिन्न अंगोंके अनुशीलन अध्ययनके पक्षपाती थे। गुरुजीने दिगम्बर जैन महाविद्यालय, मथुराकी अवस्था एवं उसके स्थानान्तरणपर कई महत्त्वपूर्ण अपनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखीं। हम यहाँ उनकी एक

---

१. जैन मित्र, वर्ष १ अङ्क ५, मई सन् १९०० ई०, पृ० ६।

२. जैन मित्र, वर्ष ५ अङ्क ४, पौष विक्रम संवत् १९६०, पृष्ठ० ४।

टिप्पणीका कुछ अंश उद्धृतकर उनके विचारोंका स्पष्टीकरण करेंगे। गुरुजीने लिखा है—"दिगम्बर जैन महाविद्यालय, मथुरा, वह दीपक है जिसको जैन समाजमे चिरकालसे व्याप्त अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिए भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाके कार्याध्यक्षोंने बड़े परिश्रमके साथ कुछ थोडी सामग्री सञ्चय करके प्रकाशित किया था और जिसने प्रारम्भमें ही कुछ चमत्कारिक रोशनी दिखलाकर हमारे समाजके चिर दुःखित चित्तको किञ्चित् हराभरा भी किया था, परन्तु बड़े शोकके साथ प्रकट किया जाता है कि थोड़े हो दिनो बाद परस्परके ईर्ष्यारूपी पवनके झोकोने उस दीपकके रक्षकोंको छिन्न-भिन्न कर दिया और इधर दीपकको तेल भी थोडा मिला, बस फिर क्या था, वह चमत्कारिक भावको छोड़कर धीमी-धीमी रोशनीसे टिमटिमाने लगा। यदि आगे इसकी रक्षा एवं वृद्धिका उपाय नही किया जायगा तो शीघ्र ही पोतेका तैल धीरे-धीरे खर्च होते ही समाप्त होकर यह रहा-सहा भी प्रकाश अपनी आयु नि.शेष होनेके कारण इस असार संसारसे कूचकर जायगा[1]।"

उपर्युक्त सन्दर्भमें गुरुजीने अपने हृदयकी व्यथा व्यक्त करते हुए तीन बातोंपर प्रकाश डाला है—

१. महाविद्यालयकी दुरवस्था और कार्य-सञ्चालकोंकी उपेक्षा।

२. महाविद्यालय द्वारा किये गये गौरवपूर्ण अतीत कार्योंका संस्मरण।

३. महाविद्यालयकी पुनः सुव्यवस्था करनेकी प्रेरणा।

गुरु गोपालदास इस बातसे अवगत थे कि सञ्चालित होनेवाली संस्थाओंको थोड़ेसे परिश्रम, उदारतापूर्वक त्याग एवं सेवा भावी वृत्ति द्वारा ही सुव्यवस्थित किया जा सकता है। अतः महाविद्यालयपर गुरुजीने जहाँ भी सम्पादकीय लेख लिखा है वहाँ उन्होंने उसके पुनर्गठनकी आवश्यकतापर जोर दिया है। वे खुले वातावरणमे और सुयोग्य शिक्षकोंकी देख-रेखमें इस महाविद्यालयके कार्योंका सम्पन्न होना देखना चाहते थे। उनके एक सम्पादकीय लेखसे धार्मिक शिक्षाके प्रसारकी बड़ी बेचैनी प्रकट होती है, जो महामना मदन मोहनमालवीयजीके जीवनमें निहित थी। उन्हे जैन समाजका सङ्कीर्ण क्षेत्र उपलब्ध हुआ जिससे वे आवासीय विश्वविद्यालयकी स्थापना न कर सके। उन्होने अपनी मार्मिक व्यथाको व्यक्त करते हुए लिखा है—"प्यारे मित्रो! धर्मके सब अंगोमे प्रधान केवल मात्र एक विद्या अङ्ग ही है और इस ही विद्याका इस जातिमेसे ऐसा नाम निशान उठ गया है कि चौदह लाख जैनियोमें एक भी ऐसा विद्वान् नहीं दीखता जो काशीके एक साधारण पण्डितके सामने चार-छ. घण्टे संस्कृत भाषामे शास्त्रार्थ करके उसे परास्त करे। ऐसी अवस्थामे आप विचार सकते है कि इस जातिमे विद्याकी कितनी न्यूनता है, फिर न मालूम क्यो हमारे भाई उसके उपायमे दत्तचित्त नही होते। क्या तब आखें खुलेंगी जब यह जैनधर्म रूपी हमारा वृद्ध पिता इस धार्मिक विद्यारूपी भोजनके न मिलनेमे इस असार संसारमें कूच कर जायगा[2]।"

उपर्युक्त सन्दर्भमे शिक्षा संस्थाओंकी स्थापना और उनके सम्यक् सञ्चालनके लिए गुरुजीके मनमे कितनी बड़ी व्यथा है, यह स्पष्ट है। उनका विश्वास है कि जैनधर्म और जैन समाजका अस्तित्व शिक्षा प्रचारके बिना कदापि सम्भव नही। वे संस्कृत भाषाके स्वयं विद्वान् थे अतः उस भाषा और साहित्यका प्रचार एवं प्रसार यथोचित रूपमे देखना चाहते थे। वे धार्मिक विद्याको प्रत्येक व्यक्तिके लिए आवश्यक मानते थे। इसमें सन्देह नही कि व्यक्ति और समाज दोनोंका विकास ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। जो भी समाज अपने अस्तित्वको बनाये रखना चाहता है उसे शिक्षा-संस्थाओंकी समृद्धि पर ध्यान देना चाहिए। छोटी-छोटी पाठशालाओंकी स्थानीय उपयोगिता हो सकती है पर केन्द्रीय शिक्षा प्रगतिके लिए आवासीय विश्वविद्यालयकी नितान्त आवश्यकता है। गुरुजीको निरर्थक कार्योंमें किया गया समाजका व्यय खटकता था। वे समाज द्वारा शिक्षा संस्थाओंकी उपेक्षा और निराश्रयताको सचिन्त्य दृष्टिसे देखते थे। उनकी रचनात्मक प्रतिभा, बौद्धिकता और मनीषिता शिक्षा संस्थाओंके मूल्याङ्कनमे सदैव सतर्क रहती थी। उनके प्रयाससे शिक्षा-संस्थाएँ यत्र-तत्र स्थापित भी हुई पर उनका वह रूप प्रस्फुटित नहीं हो सका जिनकी उन्होंने कल्पना की थी। वे जहाँ भी अपना प्रवचन और भाषण देते थे वहाँ धर्म शिक्षा और जैन-वाङ्मयको सबसे आगे रखते थे। उनके द्वारा की गयी महाविद्यालयकी आलोचना[3] इस बातका ज्वलन्त उदाहरण है कि वे एक उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थाके दर्शन करना चाहते थे; जहाँ आवासके साथ सभी विषयोंकी समुचित शिक्षा प्राप्त की जा सके।

---

१ जैन मित्र, वर्ष १, अङ्क ३, मार्च, सन् १९०० ई० पृष्ठ १।

२. जैन मित्र, वर्ष १, अङ्क ८, अगस्त सन् १९०० ई० पृष्ठ ३।

३. जैन मित्र, वर्ष १, अङ्क १०-११, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०० ई० पृष्ठ १—६।

## परीक्षालय स्थापन और संचालनकी प्रवृत्ति

सभी शिक्षाशास्त्री इस तथ्यपर एकमत हैं कि परीक्षालयकी स्थापना विश्वविद्यालय और महाविद्यालयोंका एक पूरक अंग है। अध्ययन सम्यक् हुआ या नहीं, इसकी कसौटी परीक्षा ही है। भारतके प्राचीन विश्वविद्यालयोंके पठन-क्रम, अध्यापन व्यवस्था एवं परीक्षा सञ्चालनके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि परीक्षा प्रणाली और शिक्षा संस्थाओंका सम्बन्ध अविनाभावी है। यह सत्य है कि प्रथम विद्यालयोंकी स्थापना होती है, तत्पश्चात् परीक्षालयों की। गुरु गोपालदासजीकी प्रथम प्रवृत्ति विद्यालय और महाविद्यालय संस्थापन की थी तथा द्वितीय प्रवृत्ति परीक्षालय संस्थापन की। अध्ययन परम्परा सबल, पुष्ट एवं तर्कसंगत तभी होती है जब उसे परीक्षाकी कसौटीपर कसा जाता है। गुरु गोपालदासजीकी परीक्षालय संस्थापन प्रवृत्तिका विश्लेषण और महत्त्व तत्कालीन सहयोगी पत्र जैन गजटने निम्न प्रकार प्रकट किया है—

"सर्वत्र जैन पाठशालाओंमें योग्य और समान पढ़ाई हो इसलिए श्रीयुत् पण्डित गोपालदासने दिगम्बर जैन परीक्षालय स्थापित किया था जिसका सम्बन्ध इस समय महासभासे है। इसमें पढ़ाने योग्य ग्रन्थोंका नियत करना, जैन समाजके मुख्य-मुख्य पण्डितोंकी सम्मतिसे ही हुआ है। इसके क्रमकी उत्तम प्रणाली देख गतवर्ष चौबीस पाठशालाओंके परीक्षार्थियोंने परीक्षा दी थी[1]।"

उपर्युक्त सन्दर्भसे निम्नलिखित तथ्य निस्सृत होते हैं—

१, समस्त जैन पाठशालाओंमें एक ही प्रकारका पठनक्रम चालू करनेके लिए गोपालदासजीने परीक्षालयकी स्थापना की।

२. शिक्षाका स्तर सर्वत्र एक-सा बना रहे अतः परीक्षालयका प्रबन्ध उन्होंने आवश्यक समझा।

३. परीक्षालयके सम्यक् सञ्चालन हेतु पठन-क्रम निर्धारण उस कालके प्रमुख-प्रमुख विद्वानोंकी सम्मति द्वारा सम्पन्न किया गया।

स्पष्ट है कि परीक्षालयकी स्थापनाके बिना पाठशालाओंकी शिक्षाका स्तर कभी भी उन्नत नहीं हो सकता था। परीक्षाव्यवस्था ही शिक्षा-स्तरको उन्नत बनाती है। यद्यपि हमारी परीक्षालय व्यवस्था पाश्चात्य प्रणालीपर आधारित है तो भी उसकी उपयोगिता कम नहीं है। गुरुजी द्वारा संस्थापित परीक्षालयका एक उद्देश्य यह भी था कि समस्त जैन शिक्षा संस्थाएँ एकताके सूत्रमें आबद्ध हों। उनकी त्रुटियाँ एवं कमियाँ परस्परके सहयोग द्वारा दूर की जाती रहें। यही कारण था कि परीक्षालयकी ओरसे इस प्रकारके प्रपत्र संस्थाधिकारियोंके पास भेजे गये थे जिनकी वे पूर्तिकर अधीनस्थता स्वीकृत करें। परीक्षालयका कार्यक्रम और व्यवस्था किसी सरकारी परीक्षालयसे कम नहीं थी। गुरुजीने ३ दिसम्बर सन् १९१० के जैन गजटमें एक विज्ञप्ति प्रकाशित करायी थी जिसमें उन्होंने जैन पाठशालाओंके कार्यकर्त्ताओंसे अनुरोध किया था कि वे अपनी संस्थाकी ओरसे प्रपत्रोंकी पूर्तिकर अधीनस्थता हेतु शीघ्र ही कार्यालयमें प्रेषित करनेका कष्ट करें। इस विज्ञप्तिसे यह भी ज्ञात होता है कि १६ विद्यालयोंने उस समय तक नियमतः सम्बद्धता प्राप्त कर ली थी।

गुरुजीने परीक्षालयका सञ्चालन बड़ी योग्यता और दक्षतासे सम्पन्न किया था। वे केवल पाठ्य ग्रन्थोंकी परीक्षा लेकर समय पर परीक्षा फल प्रकाशित कर देना मात्र ही उद्देश्य नहीं मानते थे बल्कि उनके परीक्षालयके उद्देश्यमें निम्नलिखित तथ्य भी निहित थे[1]—

१. समस्त जैन शिक्षा संस्थाओंमें शिक्षण, अध्यापन एवं पठनके समान अध्यापन क्रम और स्तरकी स्थापना।

२. समस्त शिक्षा संस्थाओंके लिए एक सर्वशक्तिसम्पन्न प्रेक्षक ( Director ) की नियुक्ति।

३. संस्थाओंकी शिक्षापद्धति, आय-व्यय एवं प्रबन्ध व्यवस्थाके निरीक्षण हेतु परीक्षालयकी ओरसे निरीक्षको ( Inspectors ) की नियुक्ति।

४. संस्थाओंमें सुयोग्य सच्चरित्र एवं कर्त्तव्यपरायण शिक्षकोंकी नियुक्ति।

५ समुचित पाठ्यक्रमके निर्धारण हेतु समितियों एवं उपसमितियों की स्थापना।

६. योग्य और अपने विषयके विशेषज्ञ परीक्षकों की नियुक्तियाँ।

७. निर्धारित समय पर परीक्षाफलका प्रकाशन।

---

१. जैन गजट, वर्ष ३, अङ्क ४६, ८ अक्टूबर सन् १८९८ ई०, पृष्ठ ११।

८. प्रोत्साहनके हेतु सर्वाधिक लब्धाङ्क प्राप्त करनेवाले परीक्षार्थियोंको पुरस्कार एवं प्रशंसापत्र वितरण ।

९. परीक्षकोंके निर्देशानुसार विशिष्ट योग्यता-प्राप्त परीक्षार्थियोंका परिचय एवं प्रशंसा सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं-में प्रकाशित करनेकी व्यवस्था ।

१०. परीक्षालयके नियन्त्रणमें समस्त शिक्षा संस्थाओंको आबद्ध करना तथा पारस्परिक सहयोग द्वारा कमियोंकी पूर्ति करना ।

परीक्षालयकी सुव्यवस्थासे उस समय सभी सन्तुष्ट थे । करहल निवासी धर्मसहायने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है—"वर्तमानमें ज्ञानवृद्धिकी आवश्यकता है । अब यह विचार करना है कि यह ज्ञान-वृद्धि किस तरह होती है, इसका सर्वोत्तम उपाय दिगम्बर जैन सभा मुम्बई परीक्षालय स्थापन कर महासभाके हस्तगत कर दिया गया है । इस परीक्षालयसे जो ज्ञानवृद्धि हुई वह किसी भी महाशयसे अप्रकट नही है । ग्राम-ग्राममें पाठशालाओंकी स्थापना भी इस परीक्षालयके फलस्वरूप हुई है ।"

उपर्युक्त सन्दर्भसे यह निष्कर्ष सहजमें निकाला जा सकता है कि गुरुजीकी परीक्षालय स्थापना प्रवृत्तिने समाजमें ज्ञान प्रचारके लिए अपूर्व सहयोग प्रदान किया । उनके प्रयासने अनेक स्थानो पर पाठशालाओं और विद्यालयोंकी नीव डाली ।

## अध्यापन-प्रवृत्ति

गुरुजी व्यक्ति ही नही बल्कि वे एक जीवन्त संस्था थे । विद्यालय और परीक्षालयकी स्थापनाके साथ वे एक शिक्षक भी थे । उनकी अध्यापन कला अद्भुत थी । मूर्ख से मूर्ख और बुद्धिहीन छात्र भी उनकी सुबोध पाठन शैलीसे लाभान्वित हुए बिना नही रहते थे । गुरुजी जैन-धर्मके ग्रन्थोंके विशेष पक्षपाती थे । अतः उनके निर्धारित पाठ्यक्रममे अन्य धर्मके ग्रन्थोको भी स्थान प्राप्त नही हो पाया । गोम्मटसार, लब्धिसार, राजवार्त्तिक, त्रिलोकसार एवं पञ्चाध्यायी प्रभृति ग्रन्थोंका वे अध्यापन करते थे । वे परम आस्तिक थे, अतः ग्रन्थोंके अध्यापनका आरम्भ तो मुरेनामें होता था, पर उनकी समाप्ति सोनागिर सिद्ध क्षेत्रमें श्री चन्द्रप्रभ स्वामीके पादमूलमें होती थी । शिष्यों पर उनका वात्सल्य पुत्रके समान था । उनका यह विश्वास था कि शिष्यके लिए गुरुवात्सल्य जीवनदायिनी शक्तिके समान है । इसके बिना न शिष्यत्व पनपता है और न गुरुत्व ही । गुरुत्वका विस्तार शिष्यकी श्रद्धा-भक्तिसे होता है और शिष्यकी योग्यता गुरुका वात्सल्य पाकर धन्य हो जाती है । जैसे एक कुशल शिल्पी साधारण पाषाण खण्डमें कलापूर्ण छवि अंकित कर सौन्दर्यका द्वार खोल देता है, उसी प्रकार गुरु अपने निश्छल वात्सल्य द्वारा अपनी ज्ञानगरिमासे शिष्यमें निहित योग्यताओंका विकास कर देता है । सदाचारी और विषय मर्मज्ञ गुरु ही अपने शिष्यों पर अपना प्रभाव एवं नियन्त्रण रख सकता है । गुरुजीकी उक्त मान्यताके कारण ही तीर्थ, आचार्य और शास्त्री अनेक शिष्य विशेष अध्ययनके लिए उनके पादमूलमें पहुँचे थे । उन्होंने अहर्निश चिन्तन, अनुशीलन और स्वाध्याय द्वारा उन योग्य शिष्योंकी जिज्ञासाओंको तृप्त किया, उनकी शंकाओंका समाधान किया और उन्हें उच्चकोटिके सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन कराया । गुरुगोपालदासजीने अपनी इस अध्यापन प्रवृत्ति द्वारा प्रौढ पाण्डित्यकी वह परम्परा स्थापित की जो आज भी विद्वत्परम्पराके रूपमें अवशिष्ट है ।

## समाज संगठन एवं संस्था-स्थापनकी प्रवृत्ति

विचार विमर्श जब मनुष्यमें उद्बुद्ध होता है तो वह आगेकी ओर देखनेका, दूरतक परिणामोंको खोजनेका अपने अतीतके प्रयासोंको ढूँढनेका एवं वर्तमानको स्वर्णिम बनानेका प्रयास करता है । क्रिया-शील मनुष्य अपनी निजी उन्नतिकी अपेक्षा सामूहिक या सामाजिक उन्नति और जीवनको महत्त्वपूर्ण मानता है और यही कारण है कि समाज-संगठन एवं संस्था स्थापनकी प्रवृत्तियाँ जन्म ग्रहण करती हैं । यह सत्य है कि मनुष्य स्वभावसे एकाकीपनका विरोधी रहा है । वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अन्य व्यक्तियोंके सहयोगकी निरन्तर अपेक्षा रखता है । सहयोग या सहकारिताके बिना व्यक्तिके निजी कार्य भी सम्यक् प्रकार सम्पादित नही हो सकते । अतः विचारशील व्यक्ति समाज संगठनकी आवश्यकता निरन्तर अनुभव करते हैं । गुरु गोपालदासजीने अपने सम्पादकीय विचारोंमें समाज संगठनकी आवश्यकता और उपयोगितापर विचार करते हुए लिखा है—"सभा और सोसाइटियोंके स्थापित करनेका तथा उनमें तन, मन, धनसे सहायता देनेका मुख्य प्रयोजन केवल यही है कि उससे समाजकी उन विषयोंमें उन्नति हो, जिनमें समाज पिछड़ा हुआ है । हमारा समाज किन-किन बातोंमें पीछे है, उसके उल्लेख करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं, तथापि साधारणतः

कहा जाता है कि जैन-जाति उन्नतिके मार्गमें सबसे पीछे पड़ी हुई है और इसी की पूर्ति करनेके लिए हमारी जातिके कई एक हितैषी पुरुषोंने आजसे दस वर्ष पूर्व मथुरामें महासभाकी स्थापना की थी[1]।"

उपर्युक्त सन्दर्भका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे सामाजिक संगठनके आधार-भूत तत्त्व गुरुजीके विचारोंमें निहित दिखलाई पड़ते हैं। समस्त सम्पादकीयको पढ़नेसे कई समाज-शास्त्रके नियम उनके विचारोंमें गुथे हुए परिलक्षित होते हैं। 'उन्नति' शीर्षक निबन्धमें जोकि धारावाहिक रूपसे जैन मित्रके कई अंकोंमें प्रकाशित है, समाज-संगठनके मूलभूत सिद्धान्त गर्भित हैं। हम यहाँ उनके उक्त निबन्धोंके अध्ययनके आधारपर समाज संगठनके आधार-भूत सिद्धान्तोंका परिगणन प्रस्तुत करेंगे। गुरुजी एक कुशल समाजशास्त्री थे। वे समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति करना चाहते थे, अतः उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा समाजको सुसंगठित करनेका पूर्ण यत्न किया। यद्यपि उनके विचार क्रान्तिकारी थे, वे किसी की खुशामद या लल्लो-चप्पो करना नही जानते थे, तो भी संगठनके कार्यमें उन्हें आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त हुई। उनके सिद्धान्त संक्षेपमें निम्न प्रकार हैं—

१. सांस्कृतिक अभिरुचिका परिमार्जन।
२. विचारों और व्यवहारोंमें समत्व नियोजन।
३. प्रचलित रीति-रिवाजोंका परिष्करण और पुनर्मूल्यांकन।
४. धार्मिक धरातलपर सौहार्द और सहानुभूतिका संवर्द्धन।
५. धार्मिक अधिकार और कर्त्तव्योंके दायित्वका सम्यक् उद्बोधन।
६. प्रेम, वात्सल्य एवं सहिष्णुताका उत्पादन।
७. सामूहिक और वैयक्तिक हितोंका संरक्षण।
८. शिक्षा, साहित्य और कलाके प्रति अभिरुचिका समुत्पादन।
९. सामाजिक सम्मान, गौरव और अधिकारोंके प्रति जागरूकताका उत्पादन।
१०. धार्मिक क्षेत्रमें सामाजिक वृत्तियों और भावनाओंका क्रियान्वयन।
११. विभिन्न क्षेत्रोंमें धार्मिक कार्योंके प्रति उत्साह सम्पादन।

उपर्युक्त संगठनात्मक तथ्यों और उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए आर्थिक सहयोग, समय-समयपर अर्थदान एवं चन्दे आदिके रूपमें धनदानको उन्होंने कार्यकारी बतलाया। गुरुजी समाजको संगठित कर उसका सभी प्रकारसे संशोधन और परिमार्जन करना चाहते थे। उनकी नव-जागरणकी यह प्रवृत्ति शिक्षा एवं धार्मिक संस्कारोंपर ही अवलम्बित थी।

इस सामाजिक संगठनके लिए विभिन्न संस्थाओंके संस्थापनकी आवश्यकता भी वे अनुभव करते थे। अतः सांस्कृतिक धरातलपर धर्म प्रचारके एक मात्र लक्ष्यकी पूर्तिके लिए वे विभिन्न संस्थाओंको भी स्थापित करना चाहते थे। उनका लक्ष्य सामूहिक रूपमें आधारभूत लक्ष्यकी पूर्ति सम्पन्न करना था अतः उन्होंने अनुभव किया कि इस समाजरूपी वृक्षकी अनेक शाखाओंका विकास युगके अनुसार आवश्यक है। वे एक ही सभाकी स्थान-स्थानपर अनेक शाखाएँ स्थापित करना चाहते थे। उनकी दृष्टिमें मानव जीवनका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होने पर भी निवृत्तिमार्गके पूर्व प्रवृत्ति मार्गका परिज्ञान और उसका सम्यक् विवर्द्धन आवश्यक था। फलतः सामाजिक तथ्यों एवं समस्याओंके समाधान हेतु एक महा-संस्थाकी अनेक शाखा-संस्थाएँ स्थापित कर समाजके आदर्श या अर्घको वैयक्तिक जीवनमें प्रविष्ट कर सामाजिक तथ्योंका अर्घीकरण (Evaluation) करना चाहते थे। अत एव उन्होंने अपने एक सम्पादकीयमें प्रान्तीय सभाओंकी आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"यह तो प्रायः सभीको निश्चय हो गया है कि वर्त्तमानमें जिस जाति और जिस धर्मकी जो कुछ उन्नति हुई है वह एक मात्र नाना प्रकारकी सभा व कमेटियोंके द्वारा ही हुई है। यद्यपि अन्यान्य समाजोंकी देखा-देखी हमारे जैन समाजने भी महासभाको आदि लेकर अनेक सभाएँ स्थापित की हैं परन्तु उन सभाओंका प्रबन्ध व काम जिस प्रकार नियमानुसार चलना चाहिए उस माफक नही चलता। इसी कारणसे उन सभाओंके द्वारा विशेषतया उन्नति नही होती। यदि उन सभाओंकी भले प्रकार क्रम नियमानुसार चलानेके लिए प्रबन्ध करनेवाली हर एक प्रान्तके अग्रगण्य मान्य धनाढ्य व विद्वानोंकी एक बड़ी सभा (जिसको कि प्रान्तिक सभा कहते हैं) हो तो उन सभाओंका काम भले प्रकार चल सकता है और बहुत सी सभाएँ नियत हो हो करके कई कारणोंसे प्रायः टूट जाया करती हैं, सो भी न टूटने पावें,

१. जैनमित्र, वर्ष ५, अङ्क २, कार्त्तिक विक्रम संवत् १९६०, पृष्ठ २।

क्योंकि उन समस्त नागरिक सभाओंकी देख-रेख और जिम्मेवार वह प्रान्तिक सभा रहेगी और उन बड़ी-बड़ी प्रान्तिक सभाओंकी देख-रेखका कुल प्रबन्ध भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाके प्रबन्धमें रहेगा, जिसमें कि प्रत्येक देशके प्रतिष्ठित विद्वान् धनवान् सभासद हों। वर्तमान समयमें महासभा तो कई वर्षोंसे मौजूद है और कहीं-कहीं नागरिक सभा भी बहुत सी है परन्तु वे नागरिक सभाएँ न तो महासभाके ही प्रबन्धानुसार चलती हैं और न महासभा ही अकेली उन सबका प्रबन्ध चला सकती है। इस कारण भारतवर्षके हर एक प्रान्तमें एक-एक प्रान्तिक सभा होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इस आशयका एक प्रस्ताव अबकी महासभाके अधिवेशनमें भी स्वीकृत हुआ है[1]।"

उपर्युक्त उद्धरणसे हमारे समक्ष कई निष्कर्ष उपस्थित होते हैं; जिनसे गुरुजीकी सभास्थापन सम्बन्धी विचार-धारा स्पष्ट हो जाती है। वास्तवमें गुरुजी अपने समयके समाजशास्त्री विद्वान् थे, समाजकी नाड़ीका उन्हें पूर्ण परिज्ञान था, वे समाजका स्वस्थ संगठन करनेके हेतु अपनी लेखनी द्वारा समय-समय पर सुझाव देते रहते थे। उनका उद्देश्य जैन समाजको सर्वशक्तिसम्पन्न समाज बनाना था। वे समयकी दौड़में जैन समाजको सबसे आगे देखना चाहते थे। अत एव उन्होंने समाज संगठन और संस्थास्थापनके लिए जी तोड़ प्रयास किया।

१. समाज नियन्त्रणके लिए एक केन्द्रीय-महासभाकी आवश्यकता।
२. महासभाके उद्देश्यों एवं कार्योंकी पूर्तिके लिए प्रान्तीय सभाओंकी आवश्यकता।
३. प्रान्तीय सभाओंके सबल और शक्तिशाली होनेके हेतु नगर सभाओंकी आवश्यकता।
४. नगर, प्रान्त और महासभाका आपसमें अङ्ग-अंगिभावका सम्बन्ध।
५. नगर-सभाओंका गठन नगरके पञ्चों द्वारा, प्रान्तीय-सभाओंका गठन नगर-सभाओंके प्रतिनिधियों द्वारा, तथा महासभाका गठन प्रान्तीय-सभाओंके प्रतिनिधियों द्वारा।
६. इन सभाओंका सर्वमान्य संविधानके द्वारा सञ्चालन।
७. विद्वत्ता, मान्यता, धनसम्पन्नता एवं अन्य किसी प्रकारकी गरिमा ही सदस्यताका हेतु।
८. महासभा, प्रान्तीय सभा एवं नगर सभाके संविधानानुसार लौकिक, सामाजिक और धार्मिक कार्योंका सम्पादन।
९. सभाओंकी व्ययपूर्तिके लिए सदस्यता-शुल्क, चन्दा एवं विशेष आर्थिक सहयोग द्वारा धनदान।
१०. शिक्षा, साहित्य, धार्मिक-प्रवृत्तियोंका सभाओंके संविधान, परामर्श एवं विशेष अनुशंसाओंके आधारपर सम्पादन।[2]

स्पष्ट है कि गुरु गोपालदासको जैन समाजका सामुदायिक विकास करना अभीष्ट था। वे व्यक्तियोंके सामाजिक सम्बन्धोंका स्थिरीकरण, व्यक्तिके व्यक्तित्वका पूर्णविकास, धार्मिक संस्कारोंका सम्पादन एवं कुरीतियोंका उन्मूलन अपनी उक्तप्रवृत्तिके द्वारा करना चाहते थे। वे प्रत्येक व्यक्तिको समाजकी प्रबल इकाई मानते थे, अतः व्यक्तित्व विकासके लिए सामाजिक संस्थानोंकी प्रतिष्ठा उनकी दृष्टिमें परम आवश्यक थी।

## बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि कुरीतियोंके उन्मूलनकी प्रवृत्ति

समाजमें बाल-विवाह एवं वृद्ध-विवाह जैसी कुप्रथाएँ दहेजके कारण उत्पन्न हुईं। लाख प्रयत्न करनेपर भी जब माता-पिता अपनी कन्याके लिए सुयोग्य वर ढूँढनेके लिए असमर्थ हो जाते हैं तो वे उसका विवाह किसी वृद्ध अथवा कम उम्रवाले व्यक्तिसे कर देते हैं। दहेज देनेके असामर्थ्यके कारण कन्याकी उम्र बढ़ती जाती है और सामाजिक-बन्धन योग्य वरकी तलाशमें अनेक प्रकारसे बाधक होते हैं। फलतः अनमेल विवाहोंमें वृद्धविवाहके साथ बाल विवाहका प्रचलन भी मध्यवर्गीय लोगोंमें हुआ। अल्पशिक्षित मध्यमवर्गीय परिवार इतना अधिक रूढ़िग्रस्त रहता है कि वह आठ-दस वर्षकी कन्याका ही विवाह कर अपनेको धन्य मानता है। बाल-विवाहके कारणोंमें प्रधान दो ही कारण परिलक्षित होते हैं—निर्धनता और अशिक्षा। यदि समाजमें ये दोनो कारण दूर हो जायें तो बाल-विवाह सहजमें रोका जा सकता है। गुरुजीके समयमें बाल-विवाहका अधिक प्रचार था। उन्होंने अपने सम्पादकीय निबन्धोंमें बाल-विवाहकी भर्त्सना करते हुए बताया है कि इस कुप्रथाके कारण समाजमें बाल विधवाओंकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। वे निराश्रय होकर आठ-आठ आँसू बहाया करती हैं। उनके इस करुण क्रन्दनको न परिवारके व्यक्ति ही सुनते हैं और न समाज ही। प्रत्येक समाज सुधारक

---

१. जैन मित्र, वर्ष १, अङ्क १, जनवरी सन् १९०० ई०, पृष्ठ १३-१४।
२. बम्बई प्रान्तीय सभाकी नियमावलि—जनवरी सन् १९०० ई० के जैन बोधकमें प्रकाशित।

और हितैषीका कर्त्तव्य है कि वह समाजसे इस कुप्रथाको निकाल बाहर करें। बाल-विवाहका कुप्रभाव भावी सन्तानके ऊपर भी हितकर नहीं होता। माताके कमजोर और रोगग्रस्त होनेसे सन्तान भी रोगी और निर्बल उत्पन्न होती है। फलतः बाल-विवाहका प्रभाव भावी परम्परापर अच्छा नहीं पड़ता।

गुरुजीकी सम्पादकीय टिप्पणियोंसे कन्या-विक्रय एवं वृद्ध विवाह आदिके दोषोंपर भी सम्यक् प्रभाव पड़ता है। उन्होंने अपनी एक सम्पादकीय टिप्पणीमें लिखा है—"सेठ हीराचन्द्रजीके प्रयत्न और परामर्शसे अकलकोटके भाइयोंने कन्या विक्रय बन्द करनेके लिए जिस उपायका अवलम्बन किया है वह बहुत ही उत्तम और सुगम है। यदि हरएक स्थानकी पञ्चायत इसका अनुकरण करे तो शीघ्र ही इस निन्दनीय कर्मका जातिसे काला मुख हो सकता है। क्या ही अच्छा उपाय है कि जिस किसीके कन्याके विवाह योग्य खर्च करनेकी शक्ति न हो उसे पञ्चायत सब प्रकारके बिरादरी दस्तूरोंसे माफ कर दे। जीमनवार (ज्योनार) वगैरह कुछ न लेवें और यथाशक्ति मदद देकर उसका कार्य साध देवें। इस बातको उल्लङ्घनकर जो बेटीवाला बेटेवालेसे रुपया लेकर विवाह करे तो हरएक धर्म भाईको चाहिए कि उसके घर जीमनको न जाये। कन्या विक्रयका द्रव्य और मांस विक्रेताका द्रव्य बराबर है। अकलकोटके कई भाइयोंने कन्या विक्रेताओंके यहाँ न जीमनेकी प्रतिज्ञा की है जो सबको करनी चाहिए[1]।"

उपर्युक्त पंक्तियोंसे अवगत होता है कि गुरु गोपालदासजीके विचार बालविवाह एवं कन्या-विक्रयके विरोधमें थे। वे इन समस्त सामाजिक कुरीतियोंको नगर सभा, प्रान्त सभा और महासभाके द्वारा दूर करना चाहते थे। उन्होंने बम्बई प्रान्तीय सभाकी जो नियमावलि प्रचारित की थी, उस नियमावलिमें इन कुरीतियोंके उन्मूलनका स्पष्ट उल्लेख था। महासभाके अधिवेशनोंमें भी इन कुरीतियोंके विरोधमें प्रस्ताव पारित किये गये थे। महासभाके प्रचारक शास्त्र सभाओं एवं व्याख्यान सभाओंमें इन कुरीतियोंके विरोधमें प्रचार करते थे।

गुरु गोपालदासजीकी अनेक कार्य-प्रवृत्तियाँ है उन सबका विश्लेषण तो यहाँ सम्भव नहीं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति पर एक स्वतन्त्र निबन्ध तैयार किया जा सकता है। हम उनकी योजनामूलक अनेक प्रवृत्तियोंमेंसे विद्वानों द्वारा साहित्य-निर्माणकी प्रवृत्तिके सम्बन्धमें दो-चार वाक्य लिखकर इस निबन्धको समाप्त करेंगे। गुरुजीने पाठ्यग्रन्थोंके निर्माणकी एक योजना तैयार की थी जिस योजनाके आधार पर विभिन्न विद्वानोंसे हिन्दी पहली पुस्तक, दूसरी पुस्तक, तीसरी पुस्तक, स्त्री शिक्षा प्रथम भाग, एवं अङ्कगणित प्रथम भाग तैयार कराये थे। उन्होंने लिखा है—"भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाकी दिगम्बर जैन यूनिवर्सिटीकी तरफसे हमने अङ्कगणितके चार भाग बना देनेकी प्रेरणा भाई पन्नालालजीसे की थी। उनमेंसे यह प्रथम भाग है। भाई साहबने इसमें भी परिश्रम करके जैसा हमने चाहा था, वैसा ही बनाया है। इसमें साधारण गुणा-भाग, नाप-तौल, जोड़ आदिके नियम बड़ी सरलतासे लिखे गये हैं[2]।"

गुरुजीने अन्य पुस्तकोंकी समालोचनामें भी साहित्य निर्माणकी चर्चा की है। वे कितने दूरदर्शी विद्वान् थे, यह उनकी पाठ्य ग्रन्थ निर्माण सम्बन्धी योजनासे स्पष्ट है। बालबोध और प्रवेशिका परीक्षामें वे इस प्रकारके जैन ग्रन्थोंको स्थान देना चाहते थे जो नवीन शैलीमें प्राचीन साहित्यके आधारपर निर्मित हुए हो। हिन्दी गणित एवं भाषा-बोधके लिए आर्ष व्याकरण या अन्य आचार्य प्रणीत ग्रन्थोंके साथ आम्नाय सम्मत नये ग्रन्थोंको भी स्थान देना अभीष्ट था।

गुरुजीने जन-साधारणमें स्वाध्याय, अध्ययन एवं पुराणादि ग्रन्थोंके पठनेके लिए अथक परिश्रम किया। उनके प्रयासके फलस्वरूप समाजमें अनेक स्वाध्यायी व्यक्ति तैयार हुए। गुरुजी इस प्रकारके जिज्ञासुओंकी सिद्धान्त-सम्बन्धी शङ्काओंका समाधान समय-समय पर किया करते थे। कतिपय शङ्का-समाधान जैन-मित्रमें भी प्रकाशित होते रहे है। इन शङ्का समाधानोंमें जैन-सिद्धान्तके बड़े बड़े मर्म निहित है। इस प्रकार गुरु गोपालदासने अपनी अनेक शुभ-प्रवृत्तियों द्वारा समाजका अभ्युत्थान करनेका जो तीव्र प्रयास किया। हमारा अनुमान है कि उन्होंने धर्म प्रचारके लिए जितने स्थानोंका पर्यटन किया था, आज बहुतसी सुविधाएँ और साधनोंके रहनेपर भी उतने स्थानोंका पर्यटन करना सहज नहीं है।

●

१. जैन मित्र, वर्ष ५, अंक ७, चैत्र विक्रम संवत् १९६० पृष्ठ १७-१८।
२. जैन मित्र वर्ष १ अङ्क ४ अप्रैल १९०० ई० पृष्ठ १८।

# गुरुजीकी धर्मप्रचार प्रवृत्ति

श्री पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य
आचार्य—स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

●

गुरु गोपालदासजीका जन्म उस धर्म-संक्रान्तिके युगमें हुआ था, जिसमें स्वामी दयानन्दजीके शिष्य आर्य-धर्मका प्रचार करनेमें संलग्न थे और वे हिन्दू धर्मकी पौराणिक मान्यताओंके साथ जैनधर्मके सृष्टिकर्तृत्व एवं तीर्थङ्करोंकी पौराणिक अभिभामूलक जीवन-गाथाओंका खण्डन करनेमें भी प्रवृत्त थे। खुले रूपमें शास्त्रार्थोंके आमन्त्रण दिये जाते थे। उत्तरप्रदेश, पंजाब और राजपूताना इन शास्त्रार्थोंके गढ़ थे। उस समय तार्किक संस्कृतज्ञ जैन विद्वानोंकी कमी थी; फलत: साधारण जैन जनता अपने धर्मपर किये जाने वाले आक्षेपोंको मन मारकर सहन कर रही थी। यह त्रैकालिक सत्य है कि धर्मका अपमान स्वाभिमानी मानवका सबसे बड़ा अपमान है, धर्मकी निन्दा और भर्त्सनाको सहन करना व्यक्तिके स्वभावके विपरीत है। प्राण रहते हुए अपने धर्मकी रक्षा, संवर्द्धन और प्रसारका उपाय प्रत्येक व्यक्ति शक्ति लगाकर करता है। इस सिद्धान्तके फलस्वरूप ही इटावामें 'जैन तत्त्व प्रचारिणी सभा'की स्थापना की गयी और जैनधर्म पर आक्षेप करनेवालोंको उत्तर देनेके लिए विद्वानोंका सगठन भी सम्पन्न हुआ। इस धर्म-संकटके समयमें गुरु गोपालदासजी बुद्धिवाद-की मशाल हाथमें लेकर आगे बढ़े और उन्होंने धर्म-प्रचारका अपूर्व कार्य किया। गुरुजीकी इस प्रवृत्तिके निम्नाङ्कित रूप उपलब्ध होते हैं।

१. आर्यसमाज द्वारा किये गये आक्षेपोंका सयुक्तिक उत्तर देना और स्वमतकी तर्क द्वारा पुष्टि करना।

२. भाषण और प्रवचनों द्वारा जैनजनतामें स्वधर्मके प्रति गौरव जागृत करना और उसकी सत्यताका विश्वास उत्पन्न कराना।

३. विशेष सम्मेलनों और उत्सवोंमें सम्मिलित हो धार्मिक सिद्धान्तोंका स्वरूप प्रतिपादित कर जनताको स्याद्वाद, कर्मसिद्धान्त एवं तत्त्वव्यवस्था आदिके स्वरूपसे परिचित कराना।

४. भारतके प्रमुख नगर और गाँवोंमें पर्यटन कर जनतामें जैन ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी प्रवृत्तिको उद्बुद्धकर उसके मानसिक धरातलको उन्नत बनाना।

इसमें सन्देह नहीं कि गुरु गोपालदासजीमें धर्म-प्रचार-प्रवृत्ति बहुत ही जागृत थी। उनके धार्मिक प्रयासोंके फलस्व-रूप समाजके सांस्कृतिक जीवनमें बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्होंने आचार और सांस्कृतिक धारणाओंका स्पष्टीकरण कर समाजमें आत्म-गौरव उत्पन्न किया। समाजके कर्त्तव्य और दायित्वकी यथोचित व्याख्या की। जैनविद्याके अध्ययन और अनुशीलनके प्रति समाजमें आस्था उत्पन्न की। गुरुजीने समाजको बलपूर्वक बतलाया कि धर्म जीवन-शुद्धिका-साधन है, इसका उपयोग सभी कर सकते हैं। धर्मके चार अंग हैं—

१. आत्मानुशासन।

२. संयम।

३. मानसिक सन्तुलन—सहनशीलता।

४. परिस्थिति-विजय।

उन्होंने उक्त सिद्धान्तोंकी व्याख्याके हेतु तथा धर्मपर किये जानेवाले आक्षेपोंके निराकरणके लिए अनेक स्थानोंमें परिभ्रमणकर जैनधर्मका प्रचार और प्रसार किया।

गुरुजीके प्रचार-कार्योंका इतिवृत्त अवगत करनेके लिए सर्व प्रथम 'जैन तत्त्व प्रचारिणी सभा' इटावाका इति-हास और उसके कार्योंपर संक्षेपमें प्रकाश डालना आवश्यक है। वास्तवमें इस सभा द्वारा जैनधर्मके जागरणका सुन्दर कार्य सम्पन्न हुआ है। सभाकी स्थापनाके सम्बन्धमें बताया गया है—

## जैन तत्त्व-प्रचारिणी सभाकी स्थापना

बीधुपुरा ( इटावा )के निवासी कुंवर दिग्विजयसिंहजी आर्यसमाजके श्रद्धालु थे। आपने अपने एक परिचित जैन भाईसे इच्छा प्रकट की कि वह किसी जैन पंडितसे मिलना चाहते है। उस भाईने इटावाके पंडित पुत्तुलालजीसे यह बात कही। पण्डितजीने कुंवरसाहबको सादर आमंत्रित करके उनकी शंकाओंका समाधान किया और आर्यसमाजकी त्रुटियाँ दिखलाते हुए उनसे मोक्षमार्गप्रकाश आदि ग्रन्थ देखनेका अनुरोध किया। कुंवर साहबने नियमपूर्वक कुछ ग्रन्थोंका स्वाध्याय किया। जब कभी आप कार्यवश इटावा आते थे तो पंडित पुत्तुलालजीसे शंका-समाधान कर लेते थे। पंडितजीने आपसे भाद्रमासमें दशलाक्षणी पर्वमें इटावा रहकर तत्त्वार्थसूत्रजी सुननेका अनुरोध किया और आपने उसे स्वीकार कर लिया। इससे आपकी आस्था जैनधर्मपर होने लगी।

उसी साल दीपावलीपर इटावामें आर्य-समाजका जल्सा धूम-धामसे हुआ। कुंवर साहबको भी बुलाया गया कि वे आकर आर्य विद्वानोंसे अपनी शंकाओंका समाधान कर लें। पहले तो कुंवरसाहबने प्राईवेटमें अपनी शंकाओंका समाधान किया। किन्तु जब सन्तोषजनक समाधान न मिला तो पब्लिकमें अपनी शंकाएं प्रकट कर दीं।

सनातनी और ईसाई भाइयोंसे शंका कर चुकनेके पश्चात् कुंवर साहबने सभाके मध्यसे खड़े होकर यह प्रश्न किया कि 'परमात्मा स्वभावसे सृष्टिकर्ता व प्रलयकर्ता है या विभावसे ? यदि स्वभावसे है तो वेदान्तके 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्रानुसार शीतोष्णवत् सृष्टिकर्तृत्व और प्रलयकर्तृत्व दोनों विरोधी गुण उसमें ठहर नहीं सकते। यदि उसमें सृष्टिकर्तृत्व गुण स्वाभाविक और प्रलयकर्तृत्व गुण वैभाविक माना जावे तो परमात्मा परिणामी और विकारवाला सिद्ध हुआ। दोनोंको नैमित्तिक मानें तो परमात्मामें परतन्त्रता आदि अनेक दूषण प्राप्त होनेसे वह परमात्मा ही नहीं कहा जायेगा।

उत्तरमें आर्यसमाजी विद्वान्ने कहा कि परमात्मामें दोनों गुण स्वभावमें ही हैं और विरोधी गुणका दूषण इस प्रकार नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य बोलता भी है और चुप भी होजाता है। कुंवर साहबने कहा आपका दृष्टान्त बाधित है, क्योंकि मनुष्य किसी कारणसे बोलता है और किसी कारणसे चुप होजाता है। यदि बोलना ही जीवका स्वभाव मान लिया जाये तो सर्वजीव सदा मोक्षमें भी बोला ही करें। अतः ऐसा दृष्टान्त दीजिये, जो स्वाभाविक हो।

तब आर्य-समाजी विद्वान्ने कहा—जिस प्रकार पुद्गलमें मिलन-बिछुरन दोनों ही शक्तियाँ हैं उसी प्रकार परमात्मामें दोनों ही गुण है।

कुंवर साहबने कहा—पुद्गल परिणामी द्रव्य है और उसमें शक्तिकी अपेक्षा मिलन-बिछुरन रहता है। परन्तु उनकी व्यक्तता बाह्य निमित्त मिलनेपर ही होती है। यदि परमात्मामें भी दोनों विरोधी गुण शक्तिकी अपेक्षा रहते है, तो जैसे जलका स्वभाव शीतत्व और उसमें उष्णत्व विभावरूप है परन्तु उस विभावका कारण अग्नि या सूर्यादिककी उष्णता है उसी प्रकार परमात्मामें एक गुण स्वाभाविक होनेसे दूसरा उसका प्रतिपक्षी गुण वैभाविक ठहरेगा। और इस विभावका कोई कारण माननेसे परमात्मा परिणामी-दोषसे कदापि मुक्त नहीं हो सकता।

यह उत्तर-प्रत्युत्तर लगभग सवा घंटे तक चला, किन्तु समाधान नहीं हुआ। दूसरे दिन भी चर्चा जारी रही, परन्तु कुंवर साहबके तर्कोंका उत्तर नहीं हो सका। और इस तरह उनका जैनधर्मपर पूर्ण विश्वास हो गया। उसके बाद इटावामें जैन सम्मेलन हुआ। ता० १३ मार्च १९१० को दिनमें रथयात्रा हुई। रात्रिको सभा हुई। ता० १४ को प्रातः ९ बजेसे ११ बजे तक शंका-समाधानके लिये समय नियत था। उसमें पं० प्यारेलालजी अलीगढ़ वालोंके सभापतित्वमें पं० गोपालदासजीने लिखित प्रश्नोंके लिखित उत्तर पढ़कर सुनाये। फिर आर्यसमाजी भाइयोंकी टीका-टिप्पणीका उत्तर दिया गया। ता० १५ को भी पं० गोपालदासजीने ही शंका-समाधानके पत्र पढ़कर सुनाये। और फिर अनेक प्रश्नोंका समाधान किया। इस तरह इस सभाका सूत्रपात्र हुआ। पं० गोपालदासजीका इसके साथ बहुत सम्बन्ध रहा। जहाँ भी सभाका दौरा होता था, पण्डितजी उसमें अवश्य सम्मिलित होते थे।

## करहलमें

करहलमें २४-३-११ से वार्षिक रथोत्सव था। स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी भी इसमें पधारे थे। दोपहर की सभामें पं० गोपालदासजीने जैन सिद्धान्तपर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। पंडितजी थोड़ा ही कहने पाये थे कि मंत्री आर्य-समाज करहलने कहा कि कल रात्रिको हमें आज २ बजे दिनका समय दिया गया था सो हम बातचीत करनेके लिये आये हैं। और आपने व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। इसपर पण्डितजीने कहा कि व्याख्यान मैं रातको दूंगा। अतः रात्रिमें पण्डितजी करीब तीन घंटे धारा-प्रवाह जैनधर्मके सिद्धान्त सरल सुबोध भाषामें कहते चले गये। बादको रात्रिके

दो बजे तक आर्य-समाजसे ईश्वरकर्तृत्व आदि विषयोंपर प्रश्नोत्तर हुए। वहाँसे तो आर्य-समाजी चुप होकर चले गये, किन्तु उन्होंने पत्रद्वारा कुछ प्रश्न लिखकर भेजे, उन प्रश्नोंको उत्तर सहित रात्रिकी सभामें पं० गोपालदासजीने पढ़कर सुनाया और उत्तर-पत्र आर्यमतलीला नामकी पुस्तकके साथ मंत्री आर्यसमाजको तत्काल दे दिया। इधर लिखित उत्तर-प्रत्युत्तर चल रहे थे उधर आर्यसमाजकी ओरसे एक पर्चा बाँटा गया कि आज रातको ६ बजेसे ९ बजे तक पं० सत्यव्रत शर्माका व्याख्यान जैनधर्म और उनके पण्डितोंके व्याख्यानोंकी समीक्षामें होगा। इस नोटिसको पढ़ते ही पं० गोपालदासजीने उसी समय घोषणा की कि आज रातको ९ बजेसे ११ बजे तक जैन सभामण्डपमें दयानन्दमत खण्डन और सत्यव्रतके व्याख्यानकी समीक्षारूप भाषण होगा।

अतः पहले तो कुंवर दिग्विजयसिंहजी तथा अन्य बहुतसे भाई आर्यसमाजकी सभामें गये और पं० सत्यव्रतके भाषणकी रिपोर्ट ले आये। ९ बजे आर्यसमाजियोंका व्याख्यान पूर्ण होते ही जैनमण्डपमें सभा जम गई। सबसे प्रथम तो कुँवर दिग्विजयसिंहजीने सत्यव्रतकी समीक्षा की। उसके बाद पं० जीने वेदोंकी लीला दिखाते हुए शेष बातोंकी समालोचना की। और बादमें आर्यसमाजके तीसरे पत्रका उत्तर पढ़कर सुनाया। इस तरह यह उत्सव सानन्द समाप्त हुआ।

## भौगांवमें

भौगांव जिला मैनपुरीमें वार्षिक रथोत्सव तथा वेदी-प्रतिष्ठा थी। मोरेनासे गुरुजी भी अपने शिष्यों सहित पधारे थे। ता० १४-६-११ की रात्रिमें स्याद्वादवारिधिजीका शास्त्रप्रवचन हुआ। दूसरे दिन प्रातः दस बजेसे १२ बजे तक सभा हुई। भजनके पश्चात् स्याद्वादवारिधिजीने मंगलाचरणका प्रयोजन बतलाते हुए 'नास्तिक' शब्दकी समालोचना की और सयुक्तिक बतलाया कि जो लोग जैनियोंको नास्तिक कहते हैं वे स्वयं नास्तिक हैं। दोपहरको ३ बजेसे ५ बजे तक शंका-समाधानका समय रखा गया था।

दूसरे दिन प्रातः पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यका सृष्टिकर्तृत्वपर प्रभावशाली भाषण हुआ। उनके भाषणके समर्थनमें स्याद्वादवारिधिजी भी बोले। आज भी ३ से ५ तकका समय शंका-समाधानके लिये था। आज अनेक सनातन धर्मी पधारे थे। एक शास्त्रीजी बाहरसे बुलाये गये थे। उन्होंने संस्कृत बोलना शुरू किया तो पं० माणिकचन्द्रजीने संस्कृतमें उत्तर दिया फिर वह हिन्दीमें बोलने लगे और शास्त्रार्थके नियमोंकी चर्चा करने लगे।

ता० १७ की रात्रिमें स्याद्वादवारिधिजीके शास्त्रप्रवचनमें सनातन धर्मी और आर्यसमाजी भाई उपस्थित हुए और उन्होंने इच्छा प्रकट की कि हम दोनों मिलकर शास्त्रार्थ करेंगे। जब गुरुजीने कहा कि आप दोनोंके सिद्धान्तोंमें तो जमीन-आस्मानका अन्तर है, आप दोनों एक कैसे हो सकते हो, तथा हम जो खण्डन-मण्डन करेंगे वह दोनों पक्षोंको स्वीकार होगा क्या? तो दोनों नियमोंपर बात करने लगे। किन्तु जब उन्होंने देखा कि शास्त्रार्थ तो तय हुआ जाता है तो बहाना करके उठ खड़े हुए। फिर कोई नहीं आया।

## छतरपुर राज्यमें

बुन्देलखण्ड प्रान्तके छतरपुर राज्यके शासक महाराज विश्वनाथ सिंह जैनधर्मके जिज्ञासु थे। आपने जैन विद्वान्को आमंत्रित किया। महाराजके प्राइवेट सेक्रेट्रीका निमन्त्रण पाकर स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैया अपने शिष्यों और जैन तत्त्व प्रकाशनी सभाके विद्वानोंके साथ वहाँ पहुँचे। दूसरे दिन ता०१५-८-१९११ को महाराजसे प्रथम भेंट हुई। महाराजने कुंवर दिग्विजयसिंहसे पूछा कि जैनधर्ममें ऐसी कौनसी विशेषता है कि जिसमें आपने अपना मत छोड़कर इसको ग्रहण किया। कुंवर साहबने अनेक विशेषताएं बतलाई। स्याद्वादवारिधिजीने स्याद्वादका स्वरूप विस्तारपूर्वक कहा और राजपण्डितके अस्ति-नास्ति दोनों विरोधी धर्म एक वस्तुमें न हो सकनेकी शंकाका समाधान करते हुए द्रव्यका स्वरूप बतलाया।

ता० १६ को दूसरा दरबार हुआ। आज अद्वैत ब्रह्मपर वार्तालाप हुआ। अद्वैत ब्रह्ममें पूज्य-पूजककी व्यवस्था कैसे बन सकती है, इस प्रश्नका समाधान राजपंडित नहीं कर सके। एक बाबाने प्रश्न किया कि जीवको कर्मफल किस प्रकार प्राप्त होता है इसका उत्तर दिया गया।

ता० १९ को तीसरा दरबार भरा। महाराजके विशेष आग्रह पर वेदमत और ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति बतलाई गई। फिर जैनधर्मके क्रियाकाण्डपर बात हुई। उसे सुनकर महाराजने रात्रि-भोजनका त्याग कर दिया। ता० २० को जैन मन्दिरके सामने सुसज्जित पण्डालमें आमसभा हुई। उसमें महाराज भी पधारे। किसी आम सभामें महाराजके पधारनेका यह प्रथम अवसर था। स्याद्वादवारिधिजी तथा उनके शिष्योंने संस्कृत श्लोक पढ़कर महाराजका स्वागत किया।

एक दिन रात्रिको महाराजने स्याद्वादवारिधिजीको अपने महलमें आमंत्रित करके उनसे अपनी कई शंकाओंका समाधान किया। और उनकी बड़ी प्रशंसा की, हार्दिक प्रेम प्रकट किया, पुनः पधारनेका अनुरोध किया और मूल्यवान भेंट देने लगे किन्तु पण्डितजीने केवल एक नारियल और माला स्वीकार की।

## जोवनेरमें

फुलेरा जंकशन और जयपुर स्टेशनके मध्यमें आसलपुरा स्टेशनसे ६ मील जोवनेर नामक कस्बा है। उस समय जोवनेरमें दिगम्बर जैनोंकी गृह-संख्या २५० थी। जैनधर्मका ज्ञाता कोई नहीं था। दो-चार जैनी जागीरदारके विशेष कर्मचारी थे। इसलिये जैन लोगोंको वहांके ठाकुर करणसिंहसे मिलने-जुलनेके अवसर प्रायः आते रहते थे। और ठाकुर साहब उन धर्मज्ञानसे रहित जैन कर्मचारियोंको आर्यवैदिक धर्मकी सत्यता भी कभी-कभी जताया करते थे।

वहांके दिगम्बर जैनोंने एक नवीन मन्दिरका निर्माण कराया और निम्न स्थापनाके लिये उत्सव करानेका निश्चय किया। ठाकुर साहबने भी सुना तो जैनियोंसे कहा—तुम लोग उत्सव तो करते हो परन्तु तुम्हारे कोई पण्डित तो नहीं। तुम्हारा धर्म असंभव बातोंसे भरा है। इस उत्सवपर हम भी अपने आर्यसमाजके विद्वानोंको बुलावेंगे, तुम भी अपने कोई विद्वान् हों तो बुलाओ। परन्तु तुम बुलाओगे किसको? तुममें कोई ऐसा तो है ही नहीं, जो हमारे पण्डितोंसे बातें कर सके। खैर, इटावेवाले दिग्विजयसिंहको तो अवश्य बुलाना, हम उसका भ्रम मिटावेंगे।

यह सुनकर जोवनेरके जैन पंच जयपुरमें जैन शिक्षा प्रचारक समितिके कार्यालयमें गये और कहा कि यदि इस अवसरपर जैन पंडित एकत्र होकर ठाकुर साहब तथा आर्यसमाजके विद्वानोंके सन्मुख जैनधर्मके सिद्धान्त प्रकट न करेंगे और आर्यसमाजियोंसे वाद-विवाद न करेंगे तो जैनमतमें जैनियोंकी श्रद्धा भी जाती रहेगी। बाबू अर्जुनलालजी सेठीने उन्हें आश्वासन दिया और उनके परामर्शके अनुसार स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैया, पं० माणिकचन्दजी, पं० गौरीलालजी, पं० बनवारीलालजी, पं० बंशीधरजी, पं० पुत्तुलालजी, पं० मगंलसेनजी और कुंवर दिग्विजयसिंहजी आदि विद्वानों तथा इटावाकी जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभाको जोवनेर पधारनेका निमंत्रण दिया गया। सबने आना स्वीकार किया। और नीचे लिखा नोटिस सर्वत्र वितरण किया गया—

### नोटिस

नकारा धर्मका बजता है आये जिसका जी चाहे।
सदाकत जैनमतकी आजमाए जिसका जी चाहे॥

विदित हो कि तारीख ८ मई १९११ ई० से १३ मई १९११ ई० तक जोवनेरमें जैन रथोत्सव तथा राष्ट्रधर्म सम्मेलन होगा। जिसमें स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैया, कुंवर दिग्विजयसिंहजी, पं० मगलसेनजी उपदेशक महासभा, पं० गौरीलालजी इन्स्पेक्टर परीक्षालय, खेखड़ा निवासी पं० बनवारीलाल जी, वैद्य चन्द्रसेनजी इटावा, पं० पुत्तुलालजी इटावा, बाबू अर्जुनलालजी सेठी बी० ए० आदि अनेक विद्वान् एकत्र होकर जैनमतके गूढ़ विषयोंपर विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान देंगे और आर्य समाज आदि अन्य मतोंके भी विद्वान् उपस्थित होंगे। जैन पण्डितोंकी ओरसे इस अवसरपर शंका समाधानके लिये सर्व साधारणको समय दिया जावेगा, जिसका कार्यक्रम और नियम इस प्रकार है—

१ शंका-समाधान दो प्रकारसे होंगे—लिखितरूपसे साधारण सभामें और प्राइवेटमें वार्तालापद्वारा।

२ दिगम्बर जैन ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों पर ही शंकाएं और प्रश्न किये जायेंगे।

३ एक व्यक्ति एक ही बार शंका-समाधानका पत्र दे सकता है जिसमें दोसे अधिक प्रश्न नहीं होंगे।

४ प्रश्नकर्ताको अपना प्रश्नपत्र हस्ताक्षर सहित सन्मुख मंत्रीको दिनके २ बजे तक दे देना होगा। उत्तर दूसरे दिन सभामें प्रश्नकर्ताकी उपस्थितिमें सुनाया जावेगा। और उसके हस्ताक्षर ले लिये जावेंगे

५ ता० ११ मई तक ही प्रश्नपत्र लिये जावेंगे।

६ प्राईवेट शंका-समाधान प्रतिदिन दिनके तीन बजेसे पांच बजे तक होंगे। शंका और समाधान करनेवाले स्वयं ही वार्तालाप कर सकेंगे। अन्य व्यक्तियोंको केवल श्रवण करनेका अधिकार होगा। शंका-समाधानके समय ताली बजाना आदि कतई बन्द रहेगा।

७ विषयसे विषयान्तर होने पर मन्त्रीको अधिकार होगा कि वह वार्तालाप बन्द कर दे।

पूर्व निश्चयानुसार स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैया आदि जैन विद्वान् जोवनेर पधार गये। उत्सव प्रारम्भ हो गया। रात्रिकी व्याख्यान-सभामें आर्य विद्वान् भी उपस्थित थे। कुँवर दिग्विजयसिंहजीका 'जैन मत क्या है' इस

विषय पर भाषण हुआ। उसमें आपने बतलाया कि आप्त (ईश्वर) में तीन गुण होने चाहिये—सर्वज्ञत्व, वीतरागता और हितोपदेशिता। विवेचना करने पर जैन आप्तमें ही ये लक्षण पाये जाते हैं। वैदिक आदि अन्य मतोंके आप्तोंमें ये गुण नहीं पाये जाते। न्यायपूर्वक पक्षपातरहित विवेचना करने पर स्वामी दयानन्दकृत वेदोंके अर्थानुसार भी वेदोंमें पूर्वापर विरोध है। एक स्थानपर एक जीवकी उत्पत्ति की गई है और दूसरे स्थानपर उसीके मारनेका उपदेश दिया है। उदाहरण-रूप एक जगह नील गायकी उत्पत्ति और दूसरी जगह उसके मारनेका उपदेश है। इसमें वैदिक मतका आप्त मनुष्योंके प्रति पक्षपात करनेमें वीतराग तथा अशरीरी होनेमें हितोपदेशक गुणसे शून्य है। आदि

ता० १० के १० बजेमें जैन पण्डित नियत स्थानपर शंका-समाधानके लिये उपस्थित हुए। किन्तु ११॥ बजे तक कोई महाशय नहीं पधारे। मालूम हुआ कि ठाकुर साहबके राजमहलमें आर्यसमाजी भाइयोंकी सभा हो रही है जिसमें रातके भाषणकी समालोचना होरही है और कहा जारहा है कि वेदोंमें नीलगायके मारनेका उपदेश नहीं है। राजसदनकी सभासे लौटते हुए आर्यभाइयोंसे शंका-समाधानके स्थानपर ठहरनेके लिये अनुरोध किया गया। बड़ी कठिनतासे वे ठहरे, वेदका वह मंत्र, जिसमें नीलगायके मारनेका उपदेश था, स्वामी जीके अर्थ सहित आर्यविद्वानोंको दिखाया गया। अन्तमें चर्चा सृष्टिवादपर आगई। पं० नृसिंहनारायण शर्मा आर्योपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थानने बतलाया कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं। इसपर जैनोंकी ओरसे पूछा गया कि ज्ञान, कर्म, गुण आदि अन्य पदार्थ इनसे भिन्न हैं या इनके अन्तर्गत हैं तथा आर्यसमाजके अनुसार मूल पदार्थ कितने हैं। तब आर्योपदेशकजीने फर्माया कि मेरे गलेमें दर्द है फिर किसी समय उत्तर दिया जायेगा आदि।

दोपहरकी सभामें पधारनेके लिये ठाकुर साहबकी सेवामें पं० अर्जुनलालजी सेठी आदि कुछ सज्जन गये किन्तु अस्वस्थताके कारण उन्होंने आना स्वीकार नहीं किया तथा कहा—मझे जैनधर्मके व्याख्यान सुनाकर क्या फल निकालोगे। अब बुढ़ापेमें मेरे तुम्हारा रंग कैसे लगेगा।

रात्रिको स्याद्वादवारिधि प० गोपालदासजी बरैयाका परमात्माके स्वरूपपर तीन घंटे तक प्रभावशाली भाषण हुआ। विषय गूढ होनेपर भी आपने ऐसी युक्तियोंसे इस विषयको समझाया कि जैन व जैनेतर सब श्रोतागण अवाक् रह गये।

व्याख्यान-समाप्तिपर सर्व साधारणको सूचित किया गया कि जो महाशय इस व्याख्यानकी समालोचना या शंका-समाधान करना चाहें, कर सकते हैं तो आर्यसमाजियोंकी ओरसे कहा गया कि आज समय बहुत होगया है, कल हम लोगोंको इसकी समालोचनाके लिये साधारण सभाम समय दिया जावे। तदनुसार ३ से ५ तकका समय उनकी इच्छाके अनुसार दिया गया।

सभामण्डपसे लौटते समय पं० रामलालजी मंत्री आर्यसमाज जयपुर तथा अन्य आर्य विद्वानोंने स्याद्वादवारिधि-जीसे मोक्षके विषयमें कई गूढ प्रश्न किये, जिसके उत्तर आपने बहुत विस्तारसे दिये। रात्रिका १ बज गया। आर्यसमाजी विद्वानोंको उत्तरसे पूर्ण सन्तोष हुआ और उन्होंने मुक्त कंठसे पण्डितजीकी प्रशंसा करते हुए कहा कि आप महान् विद्वान् हैं और जैनमतके सिद्धान्तोंको बहुत अच्छी तरह समझाते हैं।

दूसरे दिन रात्रिमें यह कहा गया कि यदि किसी भाईको कलके पंडितजीके व्याख्यानमें कोई शंका हो तो वह उपस्थित कर सकता है। इस पर दो तीन आर्य भाइयोंने मूर्तिपूजाके विषयमें कुछ शंकाएं उपस्थित कीं। उनका समाधान प० जीने युक्तिपूर्वक किया।

रात्रिके समय आर्यभाइयोंने सभामण्डपके पास अपनी अलग सभा करनी चाही, तो जैनोंकी ओरसे कहा गया कि आपको जो कुछ कहना हो इसी प्लेटफार्मसे कहिये, हम लोग भी सुनेंगे। तब उनकी ओरसे अजमेर निवासी कृपाशंकर-जीने पंडितजीके भाषणकी आलोचना करते हुए वैदिक मतकी विशेषता बतलाई। कुँवर दिग्विजयसिंहने उनके भाषणका खण्डन अनेक युक्तियोंसे किया।

ता० १२ को जब सब लोग स्नानादिमें व्यस्त थे, बाहरसे खबर आयी कि आर्यसमाजी भाई अपना नगरकीर्तन करते हुए सरेआम जैनधर्मका खण्डन कर रहे हैं। तुरन्त ही जैन विद्वान् वेदोंकी पुस्तके बगलमें दाबकर मौके पर पहुँचे। उनको देखते ही नगरकीर्तन समाप्त कर दिया गया। आर्यसमाजियोंके चले जानेपर दोपहरको बड़के नीचे सभा जमा दी गई। पण्डितजीके विद्यार्थियोंने व्याख्यान दिये और कड़-कड़ाती धूपमें लोग सुनते रहे। रातकी सभामें भी ऐसा ही हंगामा रहा और १३ को उत्सव समाप्त हो गया।

## कानपुरमें

कानपुरमें १७ से १९ सितम्बर तक रथयात्रा थी। सभी विद्वानोंको आमंत्रित किया गया था। पं० गोपालदासजीका बड़े समारोहसे स्वागत किया गया। प्रायः सभी भाई रेलवे स्टेशन गये और समारोहपूर्वक नगरमें लाये। १८ सितम्बरको थ्येटर हालमें सभा की गई। पं० माणिकचन्द्रजी तथा कुँवर दिग्विजयसिंहजीके बाद पं० गोपालदासजीका भाषण 'जीवमात्रका हित किस धर्मसे हो सकता है' विषयपर हुआ। सभी श्रोता प्रमुदित हुए एक वैदिक विद्वान्ने 'वारिधि' की प्रशंसामें बहुत कुछ कहा। १९ सितम्बरकी सभामें पहले दिनसे भी अधिक भीड़ हुई। पंडितजीका कर्म-सिद्धान्तपर मार्मिक भाषण हुआ। सभाका उत्सव समाप्त होनेवाला था कि बहुतसे वैदिक विद्वानों तथा प्रमुख व्यक्तियोंने पं० गोपालदास जीके भाषणके लिये एक दिन और सभा करनेका आग्रह किया, तब २० सितम्बरको गुरुजीका भाषण भीषण वर्षामें हुआ और जनता मंत्रमुग्ध-सी बैठी सुनती रही। बड़ा प्रभाव पड़ा।

भादों वदी ९ सन् १९१० को बम्बईमें भोईवाड़ेके मन्दिरमें गुणस्थान-विषयपर गुरुजीका भाषण हुआ। भादों-वदी १२ को रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य भूतपूर्व चीफ जस्टिस ग्वालियर स्टेटके सभापतित्वमें 'जैन फिलासोफी' पर आम व्याख्यान हुआ।

## कटनी तथा रायपुरमें

भाटापाराके विमानोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये जाते हुए श्रीमान् स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी वरैया सभापति सार्वभौम-धर्म-परिषद् ता० १८ नवम्बर १९११ को मुड़वारा पधारे और वहाँसे भाटापारा गये। स्टेशनपर करीब १०० महाशयोंने पंडितजीका स्वागत किया। रात्रिको सेठ सोहनलालजी रायपुर निवासीके सभापतित्वमें सभा हुई जैन-अजैन करीब ५०० भाई उपस्थित थे। पण्डितजीने सुखका स्वरूप, जैनसिद्धान्त और कर्तृत्ववादपर एक सारगर्भित व्याख्यान दिया। ईश्वरके कर्तृत्वके विषयमें अन्य मतावलम्बियों द्वारा की हुई शङ्काओंका समाधान किया। बड़ी प्रभावना हुई। वहाँके भाईयोंके आग्रहसे ता० २० को पण्डितजी रायपुर पधारे। रात्रिको शास्त्रसभामें जैन सिद्धान्त पाठशाला मोरेनाके विद्यार्थी खूबचन्दजीने गोम्मटसारजीके विषयपर व्याख्यान दिया। उस समय भाटापारा, दुग, सहडोल, जैतहारी, अकलतरा आदि अन्य स्थानोंके करीब १५० जैन भाई पण्डितजीसे जैनधर्मके गूढ़ सिद्धान्तोंको सुननेके लिये पधारे थे। अन्य मतावलम्बी भाई भी शास्त्रसभामें उपस्थित थे। उन्होंने ईश्वरके कर्तृत्वके विषयमें अनेक प्रश्न किये, जिनका सन्तोषजनक उत्तर पाकर पण्डितजीको धन्यवाद दिया।

ता० २२ की रात्रिको रायबहादुर मि० देवेन्द्रनाथ चौधरी एल० एल० बी० के सभापतित्वमें आमसभा हुई। जैन-अजैन ६०० भाई उपस्थित थे। जैनसिद्धान्तके सारभूत तत्त्वों, अहिंसा, कर्तृखण्डन, जैनियोंपर नास्तिकत्वके लाछनका परिहार आदि विषयोंपर पंडितजीने व्याख्यान दिया। जिसे सुनकर सभामें उपस्थित वकील, बारिस्टर, इन्सपेक्टर, मजिस्ट्रेट, आदि आर्यसमाजी, सनातनी, मुसलमान सभी प्रसन्न हुए। सभापति महोदयने कहा—अनेक भारतीय और यूरोपियन विद्वान्के द्वारा लिखित जैनधर्म सम्बन्धी पुस्तकोंके पढ़नेसे इस धर्मके विषयमें मेरे मनमें जो तरह-तरहके विचार हो रहे थे और जिनका समाधान दो चार जैन वक्ताओंके व्याख्यानोंको सुनकर भी नहीं हुआ, वह आज हो गया। हमको आज यह कहते हुए अत्यन्त आनन्द होता है कि जैनधर्म प्राचीन महत्त्वपूर्ण, अहिंसाका सच्चा प्रचारक और आस्तिक है। हम इसके मूल सिद्धान्तोंको न जानकर इसे एक साधारण मत समझते थे, यह हमारी भूल थी। पंडितजी योग्य वक्ता और जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ ज्ञाता है, यह जैनसमाजके लिये परम गौरवकी बात है।

दूसरे दिन ता० २३ को श्वेताम्बर भाइयोंने पंडितजीके निवास-स्थानपर पधारकर अनेक शंकाओंका समाधान किया। उसी दिन वहाँसे विदा होकर पंडितजी २४ ता० को मुड़वारा पहुँचे।

वहाँ रात्रिको पं० पट्टाभिराम तैलंग बी० ए०, एल० एल० बी० मुन्सिफसाहबके सभापतित्वमें आमसभा की गई। पंडितजीने अपने भाषणमें स्वावलम्बनपर जोर दिया। ता० २५ को प्रातःकाल आर्यसमाजके प्रधान ठाकुर रामनिवास सिंह आदिने पं० जीके निवास-स्थानपर पधारकर वेदविषयपर वार्तालाप किया। सायंकालको सनातनधर्मी और आर्यसमाजी भाइयोंने पधारकर तीर्थंकरोंकी नियत संख्या, मोक्षका स्वरूप, जीवोंकी अनन्तता, विश्वके मुख्य तत्त्व आदिके विषयमें अनेक प्रश्न किये और उनका युक्तिपूर्ण समुचित उत्तर पाकर अपना सन्तोष व्यक्त किया।

उसी दिन रात्रिको बाबू व्यकंटरामन्न सा० आनरेरी मजिस्ट्रेटके सभापतित्वमें सभा हुई, जिसमें पूर्व दिनके

गहन विषयोंको पंडितजीने युक्ति और दृष्टान्तोंके द्वारा समझाया। सभाके अन्तमें यह घोषणा की गई कि यदि किसी महाशयको शंका-समाधान करना हो तो प्रातःकाल ७ से ९ बजे तक कर सकता है।

दूसरे दिन कुछ भाइयोंने कर्म और पुरुषार्थपर अपने प्रश्नोका समाधान किया। विदाईमें भाटापाराके भाइयोंने ५१) और दुशाला भेंट करना चाहा, किन्तु केवल रेल किराया और फूलमाला ग्रहण की। रायपुर और कटनी मुडवाराके भाइयोंकी भेंटमेंसे केवल फूलमाला स्वीकार की। मुडवाराके भाइयोंने खूबचन्दजी विद्यार्थीको एक दुशाला भेंट करके सम्मानित किया।

## कलकत्तामें

कलकत्ताके प्रसिद्ध जैन नेता बाबू धन्नूलालजी एटर्नीने अपनी स्वर्गीय माताकी स्मृतिमे एक सभाका आयोजन किया था। उसमे जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभाको भी निमंत्रित किया गया था। अतः स्याद्वादवारिधि वादिगजकेसरी पंडित गोपालदासजी बरैया, कुँवर दिग्विजयसिंहजी, न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्रजी, बाबू अर्जुनलालजी सेठी आदि विद्वान् कलकत्ता पहुँचे।

ता० १ जून १९१२ को मदनमोहन चटर्जी लेन जोड़ासाकूँमे बा० धन्नूलालजीके मकानपर एक सुसज्जित पण्डालमें कलकत्ताके अनेक गणमान्य यूरोपियन, बंगाली, ईसाई, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, वैष्णव जैन आदि प्रतिष्ठित विद्वान् सज्जन पुरुष एकत्र हुए। उस समय गुरुजीका जैन फिलासोफीपर व्याख्यान हुआ। बाबू अर्जुनलालजी सेठीने कर्म-सिद्धान्तपर और न्यायाचार्यजीने अनेकान्तपर भाषण दिया।

फिर ४ जूनको सन्ध्याके समय उक्त पण्डालमे ही महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए०, पी० एच० डी० के सभापतित्वमें एक बृहद् पब्लिक सभा हुई। न्यायाचार्य प० माणिकचन्द्रजीके मंगलाचरणके पश्चात् गुरुजीने जैनसिद्धान्त विषयपर विद्वत्तापूर्ण प्रभावशाली भाषण किया जिसे सुनकर सब सभा मुग्ध हो गई। व्याख्यानकी समाप्ति पर कलकत्ता हाईकोर्टके भूतपूर्व जज सर गुरुदास बनर्जी और महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषणने पण्डितजीकी विद्वत्ता, व्याख्यान और तर्कशक्तिकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की।

सर गुरुदास बनर्जीके कथनका साराश नीचे दिया जाता है—

'मैंने आज जो परमतत्त्व पण्डितजीके मुखमे सुने वे अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण हैं। पण्डितजीका कथन बहुत कठिन और गुरुतर है। ऐसे सुपण्डित और सुवक्ताको धन्यवाद देना आनन्दजनक है और मुख्य कर्तव्य है। पण्डितजी-का तर्क बहुत सरल है। इसलिये उसको मानना हमारा परम कर्तव्य है। पण्डितजीके व्याख्यानसे हम अति प्रसन्न हुए, हमारा चित्त अति आनन्दित हुआ। हम मुक्तकण्ठसे कह सकते हैं कि पण्डितजीने ऐसे जटिल विषयको संक्षेपमें कहा। हम पण्डितजीको बहुत धन्यवाद देते हैं। हम लोग नहीं समझते थे कि ऐसे कठिन तत्त्वका ऐसी सरल भाषामे उपदेश हो सकता है। पण्डितजीका ज्ञान बहुत बढा हुआ है। तर्क और युक्तिसे समझानेमे कोई कमी पण्डितजीके व्याख्यानमे नहीं है। प्रशंसा करना और ग्रहण करना दूसरी बात है। किन्तु एक महात्माने जिस तत्त्वज्ञानको कहा, दूसरेको उसका अनुमोदन करना कर्तव्य है। पण्डितजीकी विद्वत्ता और उनके व्याख्यानकी उत्कृष्टता देख अवश्य ही प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।'

श्री महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषणजीके कहनेका साराश इस प्रकार है—

'हम लोग इस वक्तृतासे बहुत आनन्दित हुए। सर गुरुदास बनर्जी महोदयने पण्डितजीकी विद्वत्ता आदिके विषयमे जो कुछ कहा उसको मैं पुनः नहीं कहना चाहता। परन्तु बंगदेशके प्रतिनिधिके रूपमे मैं कहता हूँ कि जैनधर्मके तत्त्वोंका व्याख्यान, जो अति कठिन विषय है, पण्डितजीने बडी ही सरलतासे किया है। पण्डितजीका तत्त्वज्ञान प्रगाढ है। अन्य धर्मोंके खण्डनकी शैली सुन्दर है, तर्क पूर्ण है। हम बहुत प्रसन्न हुए। हम लोगोका बडा सौभाग्य है कि हम जिस जैनधर्मके तत्त्वोंसे बिल्कुल अनभिज्ञ थे, आज पण्डितजीने ऐसी सरल भाषामे व्याख्यान देकर उनसे विज्ञ कराया। इसके लिये मैं सम्पूर्ण बंगाल देशकी तरफसे पण्डितजीको धन्यवाद देता हूँ।'

सभापति महोदय महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषणने कहा—

'हमको बडी प्रसन्नता है। आज तक हमको ऐसा पण्डित नहीं मिला। हमने अनेक स्थानोंमें भ्रमण किया है। परन्तु जिस तरह पण्डितजीने धाराप्रवाह तत्त्व, द्रव्य, स्याद्वाद, नय, कर्म-सिद्धान्त आदि पर भाषण दिया वह अद्वितीय है। कलकत्तामे अनेक पण्डित आते हैं। परन्तु ऐसा पण्डित हमारे देखनेमे नहीं आया।'

गुरुवर्य कलकत्तामें ११ जून तक रहे और इन ग्यारह दिनोंमें चार आमसभाएँ तथा तीन शङ्का-समाधान-गोष्ठियाँ हुईं। इन गोष्ठियोंमें आर्यसमाजी तथा सनातनधर्मी विद्वानोंने अपनी शंकाओंका समाधान किया। कलकत्तेकी दि० जैनधर्म प्रबोधिनी सभाने गुरुजीको मानपत्र भेंट किया।

## इटावामें

इटावामें ५ अप्रैलसे ९ अप्रैल १९१२ ई० तक जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभाका तृतीय वार्षिकोत्सव था। उस समयके प्रायः सभी त्यागी, विद्वान्, वक्ता पधारे थे। गुरुवर्य गोपालदासजी भी अपने विद्यार्थियों सहित पधारे थे। प्रतिदिन व्याख्यान तथा शंका-समाधान आदि होते थे। ता० ८ अप्रैलके जल्सेके सभापति बाबू अजितप्रसादजी एम० ए०, एल० एल० बी०, लखनऊने श्रीमान् स्याद्वादवारिधि पण्डित गोपालदासजी बरैयाके गुण वर्णन करते हुए उन्हें 'वादिगज-केसरी'की पदवी प्रदान की जानेका प्रस्ताव किया, जो घोर करतलध्वनि और आनन्दके साथ सर्व सम्मतिसे पास हुआ। इस तरह वादिगजकेसरीकी पदवीसे विभूषित हो जानेके बाद पण्डितजीको सुन्दर रेशमी रूमालपर छपा हुआ अभिनन्दन-पत्र दिया गया।

इसी उत्सवमें शंका-समाधानके अवसरपर एक शंका इस प्रकार की गई थी—

शंका—दुनियाके पर्देपर बहुतसे मुल्क और टापू ऐसे हैं जहाँपर हमेशा बर्फ पड़ता है और अन्न आदि नहीं होता। वहाँके लोग मछली आदिके मांससे अपनी गुजर करते हैं। अगर वे अहिंसा परमो धर्मः का पालन करें तो उनका जीवन कैसे कायम रह सकता है। इससे सिद्ध होता है कि जैनधर्म सब संसारके लिये नहीं है।

इसका उत्तर पं० गोपालदासजीने इस प्रकार दिया था—

उत्तर—जहाँ मनुष्य रहते हैं वहाँ उनके जीवनोपयोगी वृक्षादि वनस्पतियोंका होना अवश्यंभावी है। यदि 'दुर्जन तोषन्याय'से वैसा ही मान लिया जाये तो भी हानि नहीं, क्योंकि वहाँके मनुष्य किसी एक मांसका त्याग या सबको ही ग्रहण करते हुए अव्रतसम्यग्दृष्टिरूप जैनधर्मको धारणकर स्वशक्ति अनुसार निज कल्याण कर सकते हैं।

पंण्डितजीके इस समाधानके विरोधमें उनके प्रतिपक्षियोंने बड़ा तूफान खड़ा कर दिया था कि पं० बरैयाजीने मांसाहारीके सम्यक्त्व बतलाया है।

## अजमेरमें शास्त्रार्थ

अजमेरमें जैन कुमार सभाका २८ जूनसे १ जुलाई १९१२ तक प्रथम वार्षिकोत्सव था। उसमें जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभा इटावा भी आमन्त्रित थी। अजमेर आर्य समाजने जैनोंसे छेड़-छाड करनेका पहलेसे ही विचार कर लिया था; क्योंकि जैन उत्सव प्रारम्भ होनेसे पहले ही आर्य समाज भवनमें स्वामी दर्शनानन्दजीके व्याख्यान प्रारम्भ हो गये थे।

स्वामी दर्शनानन्दजीने 'जैनी विद्वानोंसे २० प्रश्न' नामक एक पम्प्लेट उर्दूमें छपाकर बाँटा था। उसका उत्तर जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभाकी ओरसे पुस्तकाकार छपाकर बाँटा गया था। उसके उत्तरमें स्वामीजीने एक पुस्तक छाप कर अजमेरमें प्रकाशित की थी। उसके अन्तमें एक चैलेंज भी छपवाया था कि एक मासकी अवधि देकर आगरा, देहली या अजमेरमें जैन लोग हमसे शास्त्रार्थ कर लें। जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभाने उस चैलेंजपर तत्काल चैलेञ्ज दिया कि एक मासकी देर क्यों की जाये, इस समय हम आप दोनों मौजूद हैं अतः कलसे ही शास्त्रार्थ हो जावे। आर्य समाजकी ओरसे कुछ बातें नियत करनेके लिये उत्तर आया। जैनोंने यह सोचकर कि कहीं ये लोग शास्त्रार्थसे टल न जावें, फौरन लिख भेजा कि ता० ३० को स्थान गोदोंकी नशियाँमें हमारे मण्डपमें सृष्टिकर्तृत्व विषयपर, दोपहरको २ बजेसे पाँच बजे तक शास्त्रार्थ होगा। प्रबन्धके लिये मध्यस्थ पुलिस है ही।

अतः ता ३० जूनको स्याद्वादवारिधि वादिगजकेसरी पं० गोपालदासजी बरैयाका स्वामी दर्शनानन्दसे ३ घंटे तक शास्त्रार्थ हुआ। पण्डितजीने प्रश्न किया था कि ईश्वरका सृष्टिमें कर्तृत्व क्या है और वह स्वभावसे है या विभावसे? किन्तु स्वामीजीसे इस छोटेसे प्रश्नका उत्तर नहीं बन पड़ा।

इस प्रथम मौखिक शास्त्रार्थके पश्चात् ता० ६ जुलाईको रात्रिमें जिस समय कुंवर दिग्विजयसिंहजीका मूर्ति-मण्डनपर भाषण हो रहा था, आर्य समाजकी ओरसे पं० यज्ञदत्त शर्मा कई आर्य समाजियोंके साथ आये और संस्कृतमें एक पर्चा दिया कि मैं शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ। यद्यपि यह कोई शास्त्रार्थका समय नहीं था तथा प्रथम शास्त्रार्थके बाद नवीन लिखित शास्त्रार्थके लिये नोटिसबाजी भी चल रही थी, फिर भी उस समयके सभापति स्या० वा०, वा० के० पं० गोपालदासजीने उनके मनका हौसला मिटानेके लिये शास्त्रार्थकी आज्ञा दी। तदनुसार उनका न्यायाचार्य पं०

माणिकचन्द्रजीसे संस्कृतमें सृष्टिकर्तृत्वके विषयमे शास्त्रार्थ होने लगा। शुरुमें तो पं० यज्ञदत्तजी बहुत गर्जे किन्तु न्या० आ० पं० माणिकचन्द्रजीकी धारावाही शुद्ध संस्कृत और हेतु तथा हेत्वाभासोंको सुनकर घबड़ा गये। अन्तमे रात्रि अधिक हो जानेसे शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। उसके बाद दोनों पक्षोमे घर बैठे-बैठे पत्रों द्वारा शास्त्रार्थ चला। जो छपकर प्रकाशित हुआ था।

## देहली

श्रीजैनधर्मप्रचारिणी सभा दिल्लीने अपना अधिवेशन बड़ी धूम-धामसे मनाया था। इसमे उस समयके सभी त्यागी विद्वान् पधारे थे और बाहरसे भी बहुत जनता आई थी। गुरुवर्य गोपालदास भी पधारे थे और उनके भाषणको सुननेके लिये लोग बड़े आतुर थे। उत्सवका आयोजन लक्ष्मीनारायण धर्मशालामे किया गया था। १-११-१३ की रात्रिमें गुरुजीके भाषणकी सूचना नोटिस द्वारा की गई थी। अतः शामसे ही मण्डप भरना शुरू होगया। रात होते-होते सारा मण्डप मनुष्योंसे भर गया। कई हजार जैन और अजैन जनता उपस्थित थी। बहुतसे आर्यसमाजी भी आये थे। आजके भाषणके लिये बाहर गाँवोसे बहुत जैन आये थे। प्रारम्भिक मंगलगान आदिके पश्चात् पण्डितवर्य गोपालदासजीका जैन सिद्धान्त पर गम्भीर भाषण हुआ। पण्डितजी प्रत्येक कठिन शब्दकी व्याख्या भी करते जाते थे। यह भाषण दो घंटे तक धारावाही रूपसे हुआ। उनके भाषणके बाद शंका-समाधानके लिये समय दिया गया।

ता० २-११-१३ को रात्रि-सभामे यह सूचना मिली कि अलीगढ निवासी पं० प्यारेलालजी पधार रहे है। आपके पधारनका कारण यह हुआ कि ता० १ को रात्रिको स्या० वा० पंडित गोपालदासजीने अपने भाषणमे यह बात कही थी कि सम्यक्त्वकी अवस्थामें बिल्कुल यह नियम नही है कि सप्तव्यसनका त्याग होना ही चाहिये। अर्थात् जो सप्तव्यसनका त्यागी हो वही सम्यक्त्वी हो सकता है, ऐसा नियम नही है। तथा श्री गोम्मटसारकी 'णो इंदिएसु विरदो' इत्यादि गाथाका स्पष्ट अर्थ कर दिया था और यह भी कह दिया था कि जिसको इस अर्थमें सन्देह हो वह प्रश्नोत्तर कर लेवे। उन्होंने अर्थ इस प्रकार किया था—'जो न तो इन्द्रियोंके विषयोसे विरक्त है और न त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसाका त्यागी है, किन्तु जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए तत्त्वोका श्रद्धान करता है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि है।'

इसको अन्य प्रकारमें समझनेवाले भाई विक्षिप्त होगये और उन्होने पं० प्यारेलालजीको तार कर दिये। पं० जीके पधारनेके बाद प० गोपालदासजीका भाषण आत्मविवेचन पर प्रारम्भ हुआ। आपने आत्माके तीन प्रकार, अशुद्ध-आत्माका स्वरूप तथा अशुद्ध अवस्थामें गुणस्थान चढते-चढते वह कैसे शुद्ध हो सकता है इसका खुलासा किया। आपने अपने भाषणमें अनन्तानुबन्धी कषायके कार्यको और उसके जानेसे परिणामोका जो अवस्था होती है उसको अच्छी तरह दर्शाया। आपके व्याख्यानका जनता पर बहुत प्रभाव पडा और विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे सराहना की।

ता० ३-११-१३ को दिनके १ बजेसे नये मन्दिरमे पण्डित गोपालदासजीका शास्त्रप्रवचन हुआ। उसमे आपने चारो वर्णोंकी आजीविकाके विषयमे प्रकाश डाला। पं० प्यारेलालजीको सभामें पधारनेकी प्रेरणा की गई थी, किन्तु वे नही आये।

## काशी स्याद्वाद महाविद्यालयके महोत्सवमें

२५ दि० से २८ दिसम्बर १९१३ तक काशीमें श्रीस्याद्वाद महाविद्यालयका महोत्सव बहुत ही धूम-धामसे सम्पन्न हुआ था। इस उत्सवमे भारतके सभी प्रदेशोमे लगभग ४०० जैन भाई सम्मिलित हुए थे। ता० २५ के उत्सवका सभापतित्व मिस एनीबेसेण्टने किया था। उस दिन बाबू अजितप्रसाद वकील तथा कुँवर दिग्विजयसिंहजीके भाषण जैन धर्मपर हुए थे। इसी उत्सवमे श्रीमती मगनबाईजीको महिलारत्नकी उपाधि प्रदान की गई थी। श्रीमती एनीबेसेण्टने अपने भाषणमे जैनधर्मकी प्रशंसा करते हुए कहा—'जैनधर्म अपने सिद्धान्तोंके कारण महान् है। जैनमतकी प्राचीनता इतिहासातीत है। जब गौतम बुद्धने बौद्धधर्मकी स्थापना की तब जैनोंके चौबीसवें तीर्थकर महावीरस्वामीने इस धर्मका उपदेश दिया था। जैनोंके शास्त्रभण्डार अपूर्व है। जैन साहित्य जीवनकी रोटी है ( Jain literature is bread of life )। जैन लोग अहिंसाका पालन करते है जब कि दूसरे केवल अहिंसाकी बातें करते है। जैनोंमें नित्य संयमका नियम इन्द्रिय-विजय और आत्मवशीकरणके लिये प्रशंसनीय है। दक्षिणमें जैनधर्म व जैनसाहित्यका बहुत प्रचार है। कनडी, तमिल और संस्कृत भाषामें प्राचीन सब ग्रन्थकार प्रायः जैन थे। आदि।

दूसरे दिन ता० २६ दिसम्बरको सुबह ८ बजेसे टाउनहालके मैदानमें पं० माणिकचन्द्रजी न्या० आ० ने शास्त्र-

प्रवचन किया। एक हिन्दू संन्यासीने जीव तत्त्वपर खूब विवाद किया, परन्तु स्या० वा० पंडित गोपालदासजीकी युक्तियोंके आगे उसे बन्द होना पड़ा।

दोपहरकी सभाका सभापतित्व स्याद्वादवारिधिजीने किया। उसमें ब्रह्मचारी भगवानदीनजीने ब्रह्मचर्य पर और बाबू अर्जुनलालजी सेठीने कर्मसिद्धान्तपर भाषण दिये और सभापतिजीने दोनों ही भाषणोंका समर्थन किया।

रात्रिके ७ बजे सभापतिका आसन बा० सूरजभानजी वकील देववन्दने ग्रहण किया। और पं० गोपालदासजी बरैयाने 'ईश्वर सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता' इस विषयपर युक्तिपूर्ण भाषण दिया। विश्वनाथकी नगरी और ईश्वरभक्त विद्वानोंकी पुरी काशीमें सार्वजनिक रूपसे ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके खण्डनमें भाषण देना कोई मामूली साहसका काम नहीं था।

ता० २७ को कलकत्तासे बान (जर्मनी) विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा० हर्मन जैकोबी, कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा० ओ० स्ट्रास तथा संस्कृत कालिज कलकत्ताके प्रिन्सिपल डा० सतीशचन्द विद्याभूषण पधारे।

दोपहरके अधिवेशनका सभापतित्व डा० सतीशचन्द विद्याभूषणने सुशोभित किया। आपका परिचय देते हुए स्याद्वाद महाविद्यालयके अधिष्ठाता बा० नन्दकिशोरजीने कहा कि डाक्टर साहबके उद्योगसे संस्कृत कालिज कलकत्ताकी परीक्षाओंमें दि० जैन व्याकरण और न्यायके ग्रन्थ प्रविष्ट हो गये हैं। सभापतिजीने अपने अंग्रेजी भाषणमें जैन धर्मकी प्राचीनता तथा उत्तमताका उल्लेख करते हुए कहा—'जब गौतम बुद्धने बौद्ध मतकी स्थापना की तब जैनधर्म विद्यमान था। उस समय २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामीका उपदेश हो रहा था। महावीर स्वामी निर्ग्रन्थ थे। जैनधर्ममें अहिंसाका सिद्धान्त अपूर्व है। जैन गृहस्थ कभी मांस नहीं खाते और पशु पक्षीकी रक्षा करते हैं। जैन साहित्य बहुत उन्नत है। जैन न्याय, व्याकरण और काव्य विषयक साहित्य बहुत ही उत्तम है। शाकटायन व्याकरण एक अपूर्व प्राचीन व्याकरण है। मथुराके प्रथम शताब्दीके और जूनागढ़के दूसरी शताब्दीके लेख जैनधर्मकी प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। जैन साहित्यका विशेष प्रकाश होना चाहिये। कलकत्ता विश्वविद्यालयके नये नियमोंके अनुसार एम० ए० की डिग्रीमें जैन साहित्य प्रविष्ट किया जायेगा। यह जैनधर्म बहुत प्राचीन है २५ वर्ष पहले इसे बौद्ध धर्मकी शाखा कहते थे। परन्तु डा० हर्मन जैकोबीने इस भ्रमको दूर कर बड़ा भारी काम किया है। और विश्वमें प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आदि।

इसके पश्चात् भारतवर्षीय दि० जैन समाजकी ओरसे डा० हर्मन जैकोबीको चाँदीकी कास्केटमें एक अभिनन्दन-पत्र अंग्रेजीमें भेंट किया गया। जिसे बाबू जुगमन्दिरलाल जैनी बैरिस्टरने पढ़कर सुनाया। पश्चात् स्याद्वाद महा-विद्यालयके छात्रोंकी ओरसे संस्कृतमें अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया। बाबू अजितप्रसादजीने भारत जैन महामण्डलकी ओरसे डा० जैकोबीको 'जैन दर्शन दिवाकर' की उपाधि प्रदान की।

इसके बाद पं० गोपालदासजीने 'जैन दर्शनके महत्त्व' पर हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजीमें भाषण देकर अपनी विद्वत्तासे सभाको आश्चर्य चकित कर दिया।

ता० २८ दिसम्बरकी शामको ४ बजे टाउन हालमें सभा हुई। पं० गोपालदासजीके प्रस्ताव तथा ब्र० शीतल-प्रसादजीके समर्थनसे डाक्टर हर्मन जैकोबीने सभापतिका आसन ग्रहण किया। स्वर्गीय बाबू देवकुमारजीके चित्रका उद्घाटन हुआ। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणको 'सिद्धान्तमहोदधि'की पदवी तथा अभिनन्दनपत्र भेंट किया गया। सभापतिजीने अपना भाषण आगामी दिनके लिये टाल दिया।

ता० २९ को डा० स्ट्रासने सभापतिका आसन ग्रहण किया और डा० जैकोबीने भाषण दिया। उसका सारांश इस प्रकार है—

'प्रोफेसर वेबरने जैन धर्मको बौद्ध धर्मकी शाखा कहा था। हमने इसपर गम्भीरतासे विचार किया। और ज्यों-ज्यों प्रमाण मिलते गये, हमारा विश्वास इस कथनसे हटता गया। हम इस निर्णयपर पहुँचे कि श्रीमहावीर गौतम बुद्धसे भिन्न हुए है। श्री महावीरने जैन धर्मका उपदेश बौद्ध धर्मसे भिन्न रूपमें किया है। श्री महावीरको बौद्धोंके साहित्यमें निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र लिखा है। इससे स्पष्ट है कि जैन बौद्धोंसे भिन्न है। जिन-जिन विद्वानोंने बौद्धमतको पढ़ा उनकी राय मुझसे मिलती गई। फिर मैंने यह पता लगाया कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्मसे भी पुराना है। जैनियोंमें आस्रव तत्त्वका वर्णन है और बौद्धोंमें भी यह शब्द आता है। परन्तु आस्रवका मौलिक स्वरूप जैनधर्ममें है। बौद्ध मतमें इसका अर्थ पाप प्राप्ति है और जैन धर्ममें कर्म पुद्गलोंके आत्मामें आनेको आस्रव कहा है। यह भाव बौद्धमतमें नहीं है। कर्मोंके प्रभावका वर्णन बौद्धोंमें नहीं है। बौद्धोंने जैनोंसे ही आस्रव शब्दको ग्रहण किया है। मैंने अन्य भी अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि जैनमत और बौद्धमत भिन्न-भिन्न हैं तथा जैनमत बौद्धमतसे प्रचीन है। मैं दिगम्बरियोंसे कहूँगा कि जैसे

श्वेताम्बरोंने अपने ग्रन्थोंकी सूची प्रकाशित की है उसी तरह वह भी अपने ग्रन्थोंकी सूची प्रकाशित करावें। जैनोंने मेरा जो सम्मान किया उसके लिये मैं सदा कृतज्ञ रहूँगा। सर्व भारतके जैनोंका मंगल हो यही मेरी भावना है।'

सभापति डा० स्ट्रासने अपने भाषणमे कहा—

मेरे चित्तमे जैनोकी सभाओसे, विद्वान् पण्डितोके संस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी भाषणोके सुननेसे, गंगा तटपर संस्कृत-विद्याकी बृहत् सस्थाको देखनेसे तथा विद्यार्थियोके सस्कृतम व्याख्यान सुननेसे बडा प्रभाव पडा है। जैनियोंमे धार्मिक विद्याके साथ पश्चिमीय ज्ञान भी बढना चाहिये, ऐसा जो मि० एम० एच० उद्दाणीने कहा है, बहुत ठीक है। इसकी आर जैनोको ध्यान देना चाहिये। डा० जैकोबीने जो जैनो और बौद्धोमे भेद बतलाया वह बहुत ही ठीक है। विद्वज्जन खोज करते-करते जैन धर्मकी ऐतिहासिक प्राचीनताका पता श्री महावीर स्वामीके पहले होनेवाले पार्श्वनाथ व नेमिनाथ स्वामी व इनके पूर्व तीर्थङ्करो तक लगा सकें, यह बहुत सम्भव है। जैनधर्मसे सबको आनन्द प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार यह ऐतिहासिक समारोह सानन्द समाप्त हुआ।

## शत्रुंजय सिद्धक्षेत्रपर

उस समय बम्बई प्रान्तिक दि० जैन सभाका बडा नाम था। उसके वार्षिक अधिवेशन बडे शानदार होते थे। पं० गोपालदासजी प्रारम्भमे ही इस सभाके एक कर्मठ कार्यकर्ता थे। सन् १९०० मे जब इस सभाके मुखपत्रके रूपमे जैनमित्रका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो ९ वर्ष तक पण्डितजी ही उसके सम्पादक रहे थे। इस सभाका तेरहवा अधिवेशन २९ जनवरीसे १ फरवरी १९१४ तक श्री शत्रुञ्जय सिद्धक्षेत्र पर हुआ था। सभापति थे इन्दौरके सेठ हुकुमचन्दजी। उनका तो स्वागत होना स्वाभाविक ही था। किन्तु जब २९ ता० को २ बजे बैठकका कार्य शुरू होने पर स्याद्वादवारिधि, न्यायवाचस्पति पं० गोपालदासजी वरैया सकुटुम्ब मोरेनासे पधारे तो उनका स्वागत भी गाजे-बाजेके साथ किया गया था। इस अधिवेशनमे सेठ हुकुमचन्दजी साहबने तीन लाख तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कचनबाईने एक लाख रुपया विद्या-प्रचारके लिये दान किया था।

प० गोपालदासजीने इस अधिवेशनमे नीचे लिखा प्रस्ताव उपस्थित किया था—

'भारतका अधिकाश व्यापार जैनियोके हाथमे है। इसलिये देशकी आर्थिक उन्नतिके लिये हमको स्वदेशी वस्तुओका अपनी शक्ति भर प्रचार करना चाहिये। आर्थिक उन्नति पर ही धार्मिक उन्नतिका होना निर्भर है।'

इसपर भाषण देते हुए पण्डितजीने कहा—लक्ष्मी व्यापारमे बसती है। पहले जैनोमे भारतका दो तिहाई व्यापार था, अब केवल दलाली और आढत रह गई है। लोग व्याजपर ही गुजर चलाना ठीक समझने लगे है। जब कि व्याजसे आजीविका करना रॉडोका काम है, न कि मनुष्योका। अत देशी वस्तुओका निर्माण कराने व उपयोगमे लानेका प्रबन्ध करना जैन समाजकी आर्थिक उन्नतिके लिये अति आवश्यक है। व्यापारसे अपरिमित धन आ सकता है जैसा अमेरिका आदि देशोमे हुआ है।

पण्डितजीके प्रस्तावके पश्चात् नीचे लिखा प्रस्ताव उपस्थित किया गया—'यह सभा प्रस्ताव करती है कि जैनियोमे सदाचारके प्रचारको उत्तेजना दी जावे।' इस प्रस्तावके प्रस्तावक थे प० जवाहरलाल शास्त्री और समर्थक थे लाला भगवानदासजी मत्री मालवा प्रान्तिक सभा। लालाजीने प्रस्तावका समर्थन करते हुए कहा—आजकल सदाचार उठता चला जाता है। तिसपर भी हमारे कतिपय जैन विद्वान् शास्त्रीय प्रमाण देकर कहते है कि मासाहारी सप्तव्यसनसेवी जैनी हो सकता है, इसमे कोई हरकत नही है।

इन वाक्योको सुनकर पं० गोपालदासजीने कहा कि यह बात बिल्कुल मिथ्या है। लालाजीको अपने वाक्य वापिस लेना चाहिये। पं० धन्नालालजीने भी इसी बातका समर्थन किया। उस समय सभामे बड़ा क्षोभ फैल गया। तब सभापतिजीने लालाजीसे कहा कि वह अपने शब्द वापिस लेवे या अपने कथनको साबित करें। लाचार हो लाला भगवान-दासने उठकर कहा कि यह बात ठीक है तथा मुझे हर्ष है कि कोई जैन विद्वान् ऐसा नही कहता है इसलिये मैं अपने शब्दोको वापिस लेता हूँ।

श्री मूलचन्द्र किसनदास कापडिया सूरतने नीचे लिखा प्रस्ताव उपस्थित किया—

'श्रीमान् लाला रामचन्द्रजी लाहौर जो जैन जातिमे प्रथम आई० सी० एस० ( कलेक्टर ) की परीक्षा पास हुए है—इसके उपलक्षमे यह सभा हर्ष प्रकट करती है।'

इस प्रस्तावका विरोध पं० धन्नालालजीने किया और कहा कि इसमे ऐसा बढाना चाहिये कि वह विलायतमे असदाचारके कारण प्रायश्चित्त लेवें।

प्रस्तावकने कहा कि उनका आचरण ठीक रहा है। फिर यह प्रस्ताव तो केवल विद्योन्नतिपर हर्ष प्रकट करनेके लिये किया गया है, इसका आचरणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि विलायत जानेवालेको प्रायश्चित लेना आवश्यक हो तो पं० जी इसके सम्बन्धमें अलग प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं। समाजमें लाला मुलतान सिंहजी रईस देहली आदि कई ऐसे महाशय है जो विलायत जाते आते हैं और उन्होंने कोई प्रायश्चित्त नही लिया। अत: हमें इस प्रस्तावको इसी रूपमें पास करना चाहिये। सभामें बड़ा क्षोभ फैल गया। सभापतिजीको उसी दिन जाना था। अत: उन्होंने प्रस्तावको स्थगित रखना चाहा। किन्तु प्रस्तावकने आग्रह किया कि जब सब्जेक्ट कमेटीमें प्रस्ताव तय हो चुका है तब इसे बहुसम्मतिसे या तो स्वीकृत होना चाहिये या अस्वीकृत। सभापतिजी तो प्रस्तावककी बातसे सहमत होकर और अपनी सम्मति विरोधमे देकर चले गये। और सभापतिका आसन पंडित गोपालदासजीने ग्रहण किया। तब उपस्थित सभासदों और प्रतिनिधियोंसे सम्मतियाँ ली गईं। और प्रस्ताव बहुसम्मतिसे पास हुआ।

## इन्दौरमें

इन्दौरमें तुकोगंजके मन्दिरका प्रतिष्ठोत्सव था। बाहरसे बहुतसे जैन विद्वान् तथा भाई पधारे थे। स्या० वा०, न्या० वा०, वा० के० पं० गोपालदासजी बरैयाके समक्ष विद्वन्मण्डली धर्मचर्चाका आनन्द लेती थी। ता० ३ अप्रैल १९१४ को पं० गोपालदासजीका 'सम्यक्त्व' पर अपूर्व भाषण हुआ। उस समय पं० धन्नालालजीने पं० गोपालदासजीके जैसे मर्मी विद्वान् सदा तैयार होते रहनेके लिये जैनसिद्धान्त पाठशाला मोरेनाको चिरस्थाई करनेका प्रस्ताव किया। दानवीर सेठ हुकुमचन्द्रजीने प्रस्तावका समर्थन करते हुए दस हजार रुपया स्थाई कोषमें प्रदान किया। अन्य भी तीन हजार रुपया हुआ।

ता० ५ की रात्रिमें ब्र० गोकुलचन्द्रजीने उदासीनाश्रमकी आवश्यकता बतलाई और कहा कि हम तीन उदासीनोंने बुन्देलखण्डमें भ्रमण करके ७५००) चन्दा किया है और कुण्डलपुरमें आश्रम खोलनेका विचार है। उसके लिये द्रव्यकी आवश्यकता है। श्री दरयावसिंहजी सोंधियाने इसका समर्थन किया। तुरन्त सेठ कल्याणमलजीने कहा कि यदि यह उदासीनाश्रम इन्दौरमें खुले तो मै उसके लिये दस हजार रुपया देता हूँ। सेठ हुकुमचन्द्रजीने उसके लिये मकान बनवा देनेका वचन दिया। और इस तरह इन्दौरमे उदासीनाश्रमकी स्थापना हुई।

इसी वर्ष ब्र० गोकुलचन्द्रजीने कुण्डलपुरमें उदासीनाश्रमकी स्थापना की और पं० गणेशप्रसादजीने उनसे सप्तम प्रतिमाके व्रत धारण करके वर्णीपद प्राप्त किया और वर्णीजी महाराजके नामसे प्रसिद्ध हुए।

# सम्पादन-प्रवृत्ति

प्रोफेसर—श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी' एम० ए० ( द्वय ), साहित्य-व्याकरणायुर्वेदाचार्य,
एच० डी० जैन-कालेज, आरा

●

शताब्दियोंके विदेशी साम्राज्यके फलस्वरूप अविद्या, अहंकार, आडम्बर और अनाचारने समस्त देशको आक्रान्त-कर दिया था। जैन-समाज भी इस व्यापक प्रभावसे वञ्चित न रहा। वीतरागी मुनि और निष्णात विद्वानोंके अभावने इस समाजको गहन तिमिरके गर्तमें निमग्न कर दिया। समाजका अधिकांश भाग धर्मके मूल-सिद्धान्तोंसे भी अनभिज्ञ रहा। बाहरी विधि-विधानके मिथ्या प्रदर्शनमें ही उस समयका समाज कर्त्तव्यकी परिसमाप्ति मान रहा था। अंग्रेजी शिक्षासे प्रभावित नवयुवक अपनी संस्कृतिसे आँखें मोड़कर पाश्चात्य-विचारोंका अनुसरण कर रहे थे। धार्मिक विद्या और धर्म-भावना उनके लिए पाखण्डकी सूचक थी। लक्ष्मीका चयन और प्रदर्शन ही जीवनका सर्वस्व था। धर्म-शिक्षाके लिए न तो व्यक्तिगत रुचि ही थी और न समाजकी ओरसे कोई सुगठित आयोजन ही। गोम्मटसार, राजवार्तिक और पञ्चाध्यायी जैसे सिद्धान्तग्रन्थ आलमारियोंकी शोभा ही बढ़ाते थे। उनके अध्ययन और अनुशीलन करने वालोंकी परम्परा अवरुद्ध हो चुकी थी। समाधानके लिए कोई रचनात्मक प्रयास नहीं किया जा रहा था और न युगानुकूल संस्कृतिकी मौलिक समस्याओं के समाधानका प्रयास ही। एक प्रकारसे समाजकी धार्मिक, सास्कृतिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियाँ प्राय विशीर्ण-सी परिलक्षित हो रही थी। विशृङ्खलता और शिथिलता अनवरत रूपसे बढ़ती चली जा रही थी।

कोयलेकी खानमें हीरे मिलते है, अभिशप्त समाज पुरुषरत्न उत्पन्न करता है। इस सत्यका उज्ज्वल निदर्शन संस्कृत-साहित्यकी अगाध विद्वत्ता, गम्भीर शास्त्राध्ययन, उदार स्वभाव, धर्मनिष्ठता और व्रतपालनकी दृढ़तासे अनुप्राणित गुरु गोपालदासजीका भव्य व्यक्तित्व प्रादुर्भूत हुआ, जो जैनसमाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिए मङ्गलमय वरदान सिद्ध हुआ। उनकी जीवन-साधना विद्या-मन्दिरोंके निर्माण, विद्यार्थियोंकी सहायता एवं धर्मग्रन्थोंके अध्ययन-अध्यापनमें समाप्त हुई। उनके बहुमुखी व्यक्तित्वका एक अङ्ग पत्रकारिता और सम्पादन-प्रवृत्ति भी है। वे बम्बई प्रान्तीय सभाके मुखपत्र 'जैन-मित्र' के लगभग नौ वर्षो तक सम्पादक रहे और इस पदसे उनके द्वारा जन-जागरणका अमूल्य कार्य सम्पन्न हुआ। साहित्यनिर्माण एवं संस्कृतिके बहुमूल्य कार्योंका सम्पादन उनकी लेखनीद्वारा निरन्तर होता रहा। वास्तवमें वे जैन समाजके चक्षु और मुख थे उन्होंने अपने नेत्रोंसे समाजके अन्तरङ्ग और बहिरङ्गका अवलोकन किया; परिलक्षित त्रुटियो और कमियों-का पत्रकारिताके मञ्चसे परिमार्जन किया।

वे 'जैन-मित्र' के जन्मकालसे ही सम्पादक थे। इस पत्रका प्रकाशन विक्रम संवत् १९५६ मे मासिक-पत्रके रूपमे आरम्भ हुआ। गुरु गोपालदासजीने बड़ी कुशलतासे इस पत्रके सम्पादनका भार स्वीकार किया। सम्पादन-सम्बन्धी उनकी जागरूकता, प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं पाण्डित्य उस समयके पत्र सम्पादन-क्षेत्रमें अद्वितीय है। उनकी कारयित्री प्रतिभाने सम्पादन-प्रवृत्तिके अर्थको कई गुना बढ़ा दिया। आरम्भिक तीन वर्षोके टाइटिल पृष्ठपर एक संस्कृतका पद्य मुद्रित रहता था, जिससे इस पत्रके उद्देश्य, कार्यप्रवृत्तियों एवं उन प्रवृत्तियोंके कार्यान्वयनपर पूरा प्रकाश पड़ता है। इस पद्यके समानान्तर ही हिन्दी रूपान्तरका एक पद्य भी आन्तरिक मुखपृष्ठपर अङ्कित उपलब्ध होता है। इन दोनों पद्योसे 'जैनमित्र' की शैशवावस्थाका परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पद्य निम्नाङ्कित है—

"अज्ञानतमो हन्तुं विद्याधनयोरविघ्नसिद्ध्यर्थम्।
चिरदुःखितजैनानामुद्भूतं जैनमित्रपत्रमिदम्॥"

× × × ×

"बोध-वित्त-उन्नतिनिमित्त, जैनमित्र अवतार।
करो ग्रहण आदर-सहित, सज्जन चित्त हितधार॥"

उक्त पद्योंसे निम्नलिखित उद्देश्य अभिव्यक्त होते हैं—

१. अज्ञानान्धकारको दूर करना।

२. जैन धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार-प्रसार करना।

३. पाठशाला, विद्यालय और शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापनाके लिए प्रेरणा देना।

४. चिरकालसे चली आई कन्या-विक्रय, बाल-विवाह जैसी कुरीतियोंके उन्मूलनका प्रयास।

५. समाजके कर्त्तव्य कार्योंके लिए चेतावनी।

६. विवादग्रस्त धार्मिक और सामाजिक विषयोंका स्पष्टीकरण।

७. शका-समाधानों द्वारा गम्भीर धार्मिक विषयोंका मर्मोद्घाटन।

प्रतीकरूपमें प्रयुक्त उक्त दोनो पद्य जैनमित्रके पञ्चम वर्षसे दिखलाई नहीं पड़ते। पञ्चम वर्षमें दोनो ही पद्य नये रूपमें प्राप्त होते हैं। इन पद्योंके भावोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि जैनमित्रकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। इसके उद्देश्योंसे समाज अवगत हो चुका था। यही कारण है कि प्रतीकरूपमें प्रयुक्त इन पद्योंमें केवल जन-हितका ही उद्देश्य अन्तर्निहित दिखलाई पड़ता है। यहाँ हम अपने कथनकी पुष्टिके लिए उक्त पद्योंको उद्धृत करते हैं—

"जिनस्तु मित्रं सर्वेषामिति शास्त्रेषु गीयते।
पुनर्जिनानुयायित्वाज्जैनमित्रमितीर्यते ॥"

× × ×

"जगत जनन हित करन कहँ, जैनमित्र वर पत्र।"
प्रगट भयहु प्रिय! गहहु किन? परचारहु सरवत्र ॥"

उपर्युक्त आदर्श-वाक्योंसे विदित होता है कि 'जैनमित्र' का मित्रत्व समृद्ध होता जा रहा था। धर्म और समाजकी सेवामें यह ख्याति प्राप्त कर रहा था।

गुरु गोपालदासजी सजग पत्रकार थे। उनका 'जैनमित्र' अतीतका विश्लेषक, वर्तमानका संस्थापक और भविष्यका अग्रदूत था। उनकी लेखनीमें उनके हृदयकी विशालता, विचारोंकी गहनता और स्पष्टवादिता प्रकट होती है। यह स्मरणीय है कि जिन दिनो उन्होंने पत्रका सम्पादन आरम्भ किया था, उन दिनों भारतकी पत्रकारिता शैशवावस्थामें थी, पर उनका वह पत्र ठीक मुखके समान था, जिसपर समाजरूपी अंगोंका पालन-पोषण और सङ्गठन निर्भर रहता है। वे बड़ी कुशलतासे निबन्धो, समाचारो एवं आख्यानोंका सम्पादन करते थे। यद्यपि सम्पादकीयके अतिरिक्त अपनी कहने योग्य अन्य कोई वस्तु सम्पादककी नही रहती है फिर भी पत्रिकामें प्रकाशित सभी सामग्री उसीकी होती है। कारण स्पष्ट है कि उन सभी चीजोंका दायित्व सम्पादकके ऊपर ही है। उसके विचारों और भावनाओंके विपरीत एक पंक्ति भी प्रकाशनका अवसर प्राप्त नही कर सकती। पत्र या पत्रिकामें विषयका चयन, रचनाओका सङ्कलन, उनका क्रम, साज-सज्जा आदि सभी बातोसे सम्पादककी रुचि और आदर्श-प्रियताका परिचय मिलता है। आशय यह है कि जिस प्रकार नामरूपात्मक जगत्में आकाशका अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार पत्रिकाके सभी स्थलोमें सम्पादक विद्यमान रहता है। गुरु गोपालदासजीकी सम्पादन-प्रवृत्ति इतनी सुरुचिपूर्ण थी जिससे वे उक्त सभी सिद्धान्तोंका यथेष्ट रूपमें निर्वाह करते थे। 'जैनमित्र' के प्राचीन अंकोंको देखनेसे अवगत होता है कि उस शैशवावस्थामें भी पत्रकारिताकी दृष्टिसे 'जैनमित्र' का मूल्य वर्तमान पत्रोंसे कम नही था। वे रचनाओके संकलनमें पूर्णतया सतर्क दिखलाई पड़ते है। मुख-पृष्ठपर कोई न कोई कविता अवश्य अंकित उपलब्ध होती है। कविके रूपमें प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमी ही प्राय. दिखलाई पड़ते है।

गुरु गोपालदासजीने 'जैनमित्र' के लिए जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं, उनसे उनके व्यक्तित्वका पूर्ण आभास प्राप्त होता है। वे तत्कालीन समाजकी गतिविधियोके पूर्ण ज्ञाता थे। सामाजिक आन्दोलनों पर प्रकाश डालते समय उनकी लेखनी ओजस्विनी हो जाती थी। 'जैनमित्र'के प्रकाशनकालमें भारतमें राष्ट्रीय नवचेतनाका आविर्भाव हो चुका था। गुरुजी इस चेतनाकी पृष्ठभूमिके रूपमें धार्मिक अलख जगानेका कार्य कर रहे थे। यहाँ हम उनके सम्पादकीय वक्तव्योंमेंसे कुछ अंश उद्धृत कर उनकी इस सम्पादन-कलापर प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

"जो लोग विद्याध्ययन कर सरकारी दफ्तरोंमें नौकरी करते है उन्हे उचित है कि सेवामें नियुक्त होनेपर भी अपने कर्त्तव्यका विचारपूर्वक पालन करें और निश्चय रखें कि अंगरेज गवर्नरोंकी यह इच्छा नही है कि देशी लोग अपनी

योग्यतासे पीछे हटे रहें। श्रीमान्‌का यह अभिप्राय था कि इस देशके लोग अपने देशकी भाषा, रीति, नीति जैसी जानते हैं, सम्भव नहीं कि वैसी विदेशी जान सकें।"

"वकील वैरिष्टरोंको चाहिये कि पहले तो जिस विषयका मुकदमा है उसपर अधिक ध्यान दें, दूसरे जो कुछ कहें, ललित और मधुरभाषामें कहनेका प्रयत्न करें।"

"जो लोग विद्यालयोंमें अध्यापकीका कार्य करते है उन्हें ध्यान रहे कि वे लोग विद्यार्थियोंको तोतेके ऐसा रटाया न करें, इस पढाईसे ज्यों-त्यों पास तो कर लेते है परन्तु उन्हे लौकिक वा व्यावहारिक ज्ञान प्रायः थोड़ा होता है।"

"देशी समाचार धीरे-धीरे उन्नति तो कर रहे हैं और गम्भीरता भी धारण करते जाते है। परन्तु अत्युक्ति और नियम उल्लंघन करनेका स्वभाव उनके प्रभावको न्यून करता है। देशी समाचार-पत्रोंका मुख्य धर्म यह है कि वे अपने लेखोंके द्वारा लोगोंमे उत्तेजना उत्पन्न करनेके स्थानमें जातीय गौरवकी उन्नति करनेके यत्नोंको बतलावें। सर्वसाधारणको ज्ञानवान बनावें और जातीय विचारोंको सुधारें।"

"अन्तमें श्रीमान्‌ने कहा कि आपलोग समझ रखें कि हिन्दुस्तान न हिन्दुओंके लिए है और न मुसलमानोंके, बंगाल न बंगालियोंके लिए है और न दक्षिण दक्षिणियोंके लिए। भारत केवल भारतवासियोके लिए नहीं है। पिछली दो सदियोंसे पश्चिमी रक्तने पूर्वी धमनीमे जाकर उसे सजीव किया है। अब अंगरेज और भारतवासियोंको बहुत दिन एक साथ रहना होगा। तुम हमको छोड़ नहीं सकोगे। हम तुम्हें छोड़नेसे शक्तिहीन हो जावेंगे। ईश्वरकी इच्छासे अंगरेज और भारतवासियोंका यह शुभ मिलन हुआ है। सारे देशको एकताके सूतमें बाँधकर सबके सुख बढानेकी चेष्टा करना हमारा एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। श्रीमान्‌ने जो सदुपदेश दिये है, वह यथार्थमे सत्य और ग्रहण करने योग्य है।[1]"

उपर्युक्त सम्पादकीय विचारोमे ज्ञात होता है कि गुरुजी भारतीय रीति-नीतिके विशेष पक्षपाती थे। वे सभी पेशेके लोगोको अपने अपने कार्यमे सजग और उत्तरदायी बने रहनेके लिए चेतावनी देते थे। उन्होंने अध्यापकोंको अपने दायित्वका निर्वाह करने के लिए अपनी सम्मति प्रदान की है। छात्रोंको विषय रटानेकी अपेक्षा उसे हृदयङ्गम करा देना अधिक कुशलता है। गुरुके आचरणका प्रभाव भी विद्यार्थीपर पड़ता है। अतः स्नातककी छिपी हुई शक्तियोका उन्नयन ही सच्ची अध्यापन-कला है। जो अध्यापक अपने कर्त्तव्यको छिपानेकेलिए विदेशी शासनको दोष-पूर्ण मानता है वह अध्यापक वास्तवमें अपनेको पहचानता नही। इसी प्रकार सरकारी कार्यालयोंमे कार्य करने वाले लिपिक और गणक भी अपने दायित्वके प्रति उपेक्षा करते है। यदि वे भारतकी आत्माके अनुसार अपने कार्योका सम्पादन करें तो देशकी प्रगति होनेमे विलम्ब न हो। वकील और वैरिस्टर यदि चाहें तो समाजके भ्रष्टाचारको बहुत दूर कर सकते है। वे यदि न्यायनीति पूर्वक वादी-प्रतिवादियोको सच्ची सलाह दें तो समाजका बहुत-सा धन नष्ट होनेसे बच जाय। उन्हें समाजमें शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिए समझौता या सन्धि करानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

गुरुजीने इस सम्पादकीमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'सब मिलि आवहु गावहु भारत-भाई' की नीतिके अनुसार हिन्दू, मुसलमान, बंगाली, दक्षिणी आदि सभीको समान-रूपमे देशोत्थानके लिए कटिबद्ध हो जानेका परामर्श दिया है। वे अंगरेज और भारतवासियोंके मिलनको संस्कृतिमे अभ्युत्थान हेतु मङ्गलमय समझते थे। देशको एकताके सूत्रमे बाँधकर साहित्यिक और सास्कृतिक विकासकी ओर ले जाना ही उनका लक्ष्य था। वास्तवमे गुरुजी एक-धर्म विशेषके नेता होने पर भी राष्ट्रीय कार्योंको प्रमुखता देते थे। देश-हितके लिए प्रत्येक व्यक्तिको अपने कर्त्तव्य और दायित्वका समान रूपमे पालन करना आवश्यक है। यदि भारतवासी अपने दायित्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लें और वैयक्तिक प्रलोभनोंका परित्याग कर दे तो देश और समाजके उत्थानमें बिलम्ब न हो।

गुरुजीने जैनमित्रके सम्पादकीय लेखोंमे तत्कालीन सामाजिक और सास्कृतिक समस्याओं पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने एक सम्पादकीय टिप्पणमे 'जैन पत्रिका' नामक पत्रिकामे मुंशी नाथूरामजीके द्वारा प्रकाशित 'जैन ग्रन्थोंकी अशुद्धियोंका संशोधन' शीर्षक निबन्धके उत्तरमे लिखा है—"मुंशी नाथूरामजीने अपने एक लेख द्वारा जैन ग्रन्थोंकी अशुद्धियाँ संशोधन करनेकी जैनी भाइयों पर ऐसी दया और माया दिखलायी है कि मानो उनको विद्वत्ता और परोपकारता अपनी अन्तिम सीमाको उल्लङ्घन करनेकेलिए जामेसे बाहर निकल पड़ी हैं। यह मन्तव्य कहने और सुननेमें जितना सरल और प्रिय हैं, उससे कही बढ़कर उसकी आन्तरिक दशा दुष्कर और घृणास्पद है।"

"जिन परम दिगम्बर जैनाचार्यरूपी सिंहोकी गर्जना सुनकर बड़े-बड़े प्रतिवादीरूपी दिग्गज लुकनेके लिए कन्दराओंका अन्वेषण करते थे, जिन विद्वन्मण्डलीशिरोमणि ऋषियोंके वाक्योंका गूढ़ अर्थ समझनेमें असमर्थ होकर आधुनिक

१. जैनमित्र, वर्ष ३, अङ्क ५–६, पृष्ठ २।

बड़े-बड़े विद्वानोंके मस्तिष्क चक्कर खाने लगते हैं और जिन महात्माओंके वचनोंका तात्पर्य निकालनेके वास्ते हमारे मुंशीजी और उनके चिरञ्जीवीको किसी जैनी विद्वान्के पास कमसे कम बारह और बारह चौबीस वर्ष पर्यन्त अभ्यास करनेकी आवश्यकता है, आज उन्हीं महानुभावोंकी कृतिपर बिना समझे हमारे मुंशीजीने मिथ्या कलङ्कारोपण करनेका हौसला किया है। आपने अपने लेखमें असभ्य शब्दोंकी छटा छोड़कर वितण्डावादकी काली घटामें समीचीनत्व-रविको छुपाकर भोले भाइयोंके हृदयमें अपना प्रभाव जमानेमें जिस चातुर्य-चमत्कारका प्रयोग किया है वह पराक्रमी तत्त्ववेत्ताओंकी बुद्धि पर कुछ भी असर नहीं कर सकता।"

"इस भूमण्डलपर एक ऐसा देश था कि, जिसके आस-पास कोई भी पर्वत नहीं था। उस देशमें एक 'ऊँटराम' थे, वह दूसरोंके सामने हमेशा शेखी बखारा करते थे कि, संसारमें हमसे अधिक ऊँचा कोई भी नहीं है, दैववशात् वहाँ पर एक 'बनजारा' आ निकला। उसने वहाँ पर कुछ माल खरीदा तथा उसे लादनेके वास्ते कितने ही ऊँट भी भाड़े किये, निमित्तवशात् उक्त ऊँटरामको भी यह सफर नसीब हुई। बनजारेने मञ्जिलके अन्तमें एक छोटेसे डूंगर (पर्वत) के नीचे पड़ाव डाला। डूंगरको देखते ही ऊँटरामके होश फाक्ता हो गये। आज उन्होंने अपनी भूल सुधार ली और अब समझने लगे कि, हाँ! दुनियाँमें हमसे भी कोई ऊँचा है" ठीक ऐसी ही गति हमारे मुंशीजी साहिबकी है। आप समझते हैं कि, जैनियोंमें विद्वानोंकी सृष्टिका महाप्रलय हो गया इस समय पर हमको नवीन सृष्टि रचनेका अच्छा मौका है। परन्तु मुंशीजी साहिब! अभी इतने आकुलित मत होइये। अभी पञ्चमकालके अन्तमें बहुत दिन बाकी हैं। बिचारे भोले-भाले पक्षियोंको जालमें फसानेसे जो आप अपनेको कृतकृत्य समझते हैं सो आपकी भूल है। तत्त्व-निर्णयका यह मार्ग नहीं है, वितण्डावादसे समाचार पत्रोंके पेज काले करके पाठकोंका समय व्यर्थ खोना सर्वथा अनुचित है। यदि आपको जिन-मतके तत्त्वोंमें सचमुच ही शंका है, यदि आप उन शङ्काओंको सरल चित्तसे दूर करना चाहते हैं तो विनयपूर्वक नम्रशब्दोंमें प्राइवेट पत्रद्वारा अथवा जैन-पत्रिका द्वारा अपनी शङ्काओंमेंसे प्रथम पाँच शङ्का निम्नलिखित प्रकार प्रकाशित करें अर्थात्—

१. जिस आर्ष ग्रन्थमें शंका है उसका और उसके मूलकर्ता ऋषिका नाम सहित लिखें।

२. जिन पंक्तियोंमें शंका है, उन पंक्तियोंको अधिकार, श्लोक तथा पत्र-संख्याकी सूचना लिखें।

३. इन पंक्तियोंका तुमने क्या अर्थ समझा है, और टीकाकार आचार्योंने उसका क्या अर्थ लिखा है?

४. इन पंक्तियोंमें तुम्हारी क्या शंका है? और उसके पुष्ट करने वाले कौन-कौनसे हेतु हैं?

५. उक्त पंक्तियोंमें बाधा देनेवाला आगम या युक्ति प्रमाण न्यायकी शैलीसे लिखिये।

इस प्रकार प्रकाशित होनेसे आशा है कि, कोई उत्तरदाता भी आपको मिल जायगा। मुंशीजी साहब! यदि वास्तवमें शंका है, तो सरल चित्तसे नम्र शब्दोंमें उक्त प्रकारसे शंका प्रकाशित कीजिये। वक्र चित्तमें समाधानको स्थान नहीं मिलता है। इतनी प्रार्थना करने पर भी यदि आपको वितण्डावाद ही इष्ट है तो, कुछ चिन्ता नहीं।

"मर्दोंको मर्द घनेरे। घर नहीं तो बाहिर बहुतेरे।[1]"

उक्त सम्पादकीय टिप्पणीसे गुरुजीकी आलोचनात्मक प्रतिभा एवं अक्खड़ताका सहजमें बोध हो जाता है। वे समस्यात्मक प्रश्नोंका समाधान बड़े ही धैर्यके साथ करते हैं। आर्ष विषयों पर जब कोई भी शंका करता है या अपनी ओरसे मनगढन्त व्याख्या उपस्थित करता है तो गुरुजीका हृदय भावविभोर हो जाता है और वे उत्तर देनेके लिए कमर कस लेते है। उन्होंने उक्त टिप्पणमें रूपक शैलीका प्रयोग कर अपनी सरस, व्यंगात्मक शैलीका परिचय दिया है। गुरुजीका यह टिप्पण वर्तमान सम्पादकोंके लिए भी अनुकरणीय है। वे 'समीचीनत्व-रवि', 'प्रतिवादी रूपी दिग्गज' जैसे रूपक-शैलीके शब्दोंका प्रयोग कर अपने भावोंको सरस और सरल रूपमें पाठकोंके हृदयमें प्रविष्ट कर देनेका प्रयास करते है। समाज-सुधार विषयक समस्याओं पर उन्होंने प्रत्येक अंकमें कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। उनकी जितनी भी सेवा-मूलक प्रवृत्तियाँ हैं उनमें शिक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्ति प्रमुख है। उन्होंने अहमदाबादमें बोर्डिङ्गके खोले जाने पर अपना सुझाव देते हुए लिखा है—"अहमदाबादमें जो विद्यार्थी मैट्रिक पास करेंगे वे सब बम्बईमें भरती हो जाया करेंगे। यहाँ जो दिगम्बरी विद्यार्थियोंकी कमी रहती है, वह पूर्ण हो जायेगी। क्या ही अच्छा हो, यदि बम्बईमें इसी तरह संस्कृत विद्यालयकी उच्च श्रेणीकी पढाईके सहायतार्थ एक प्रवेशिका विद्यालय खुल जाय! जिसमें बालबोधसे लेकर प्रवेशिका तककी पढ़ाई हुआ करे और फिर उच्च श्रेणीके लिए अन्य स्थानोंके विद्यार्थियोंके भरोसे न रहना पड़े। कारण, यहाँका जो विद्यालय है, उसमें पण्डित-परीक्षासे ऊपर तककी पढ़ाई होती है और पण्डित-परीक्षाके पढनेवाले विद्यार्थी बहुत कम मिलते हैं। इसलिए यदि यहाँ प्रवेशिका कक्षा खुल जावेगी तो बोर्डिङ्गके समान इसमेंसे भी विद्यार्थियोंकी कमीका दोष निकल जायेगा और इच्छित फलकी पूर्त्ति हो सकेगी।[2]"

---

१. जैनमित्र, वर्ष ५, अङ्क ३ पृष्ठ १६।
२. जैनमित्र, वर्ष ५, अंक ४, पृष्ठ ५।

स्पष्ट है कि गुरुजी अधिकाधिक व्यक्तियोंको शिक्षित बनानेकी दिशामें प्रयत्नशील थे। वे समाजका प्रतिनिधित्व करते हुए धार्मिक विद्यालयोंके सञ्चालित करनेके लिए विशेष जोर देते थे। वास्तवमें गुरुजी ऐसे दूरदर्शी सम्पादक थे कि वे समाजके लिए आवश्यक प्रत्येक विषयको ऊहापोहपूर्वक समाजके समक्ष रख देना चाहते थे। एक सजग सम्पादककी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह जिस पत्रका सम्पादन कर रहा है उसकी रीति, नीतिके अनुसार सम्पादकीय लेखों और टिप्पणियोंका ग्रथन करे। दूसरों द्वारा यदि पत्रिकाके उद्देश्यों पर किसी भी प्रकारका आक्षेप किया गया हो तो सहिष्णुता पूर्वक सभ्य और परिनिष्ठित भाषामें उसका प्रतिवाद करे। जो सम्पादक जितना अधिक दूरदर्शी और विवेकशील होता है वह अपने पत्रको उतना ही लोकप्रिय बना लेता है। विद्वत्तापूर्ण सामग्रीके साथ पत्रको लोकप्रिय बनाना भी सम्पादकका दायित्व है। गुरुजी अपने पत्रको पाठ्य-सामग्रीसे सुसज्जित करनेके साथ लोकप्रियताका भी पूरा ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उनके पत्रमें विरोधी व्यक्तियोंके विचार भी प्रकाशित होते थे। वे विरोधी विचारोंका उत्तर अत्यन्त सावधानी पूर्वक देते थे। उन्होंने मथुरा विद्यालयके सम्बन्धमें अपनी आलोचना प्रस्तुत करते समय लिखा है—"यह बात आप अच्छी तरहसे जानते हैं कि संसारमें कोई कार्य कारणके बिना सिद्ध नहीं होता। जैसे दाल, आटा, अग्नि आदिके बिना रसोई नहीं बन सकती अथवा रसोईकी सामग्री उत्तम नहीं होती तो भी रसोई उत्तम नहीं बनती है तथा उसमें अगर खानेवाले रसोइयाको रसोई बनानेकी क्रियामें पूर्ण स्वतन्त्रता न दें तो भी रसोई उत्तम न बननेके दोषका भागी रसोइया कदापि नहीं हो सकता। ठीक इस ही प्रकारकी अवस्था हमारे महाविद्यालय मथुरा की है क्योंकि प्रथम तो महाविद्यालयकी मूल पूँजी तीस हजार रुपये मात्र है, जिससे मकान भाड़ा और अनाथ विद्यार्थियोंका भोजन खर्च चलना तो दूर रहा, केवल अध्यापकोंकी तनख्वाहका काम भी नहीं चलता। दूसरे, महासभाके सरस्वती भण्डारमें पण्डित-परीक्षाके समस्त खण्डोंमें पढाने योग्य शास्त्रोंकी एक-एक प्रति भी नहीं है। तीसरे, महाविद्यालयका स्थान ऐसे नगरमें है जहाँ पर अपने घरका खर्च पाकर पढनेवाले विद्यार्थियोंकी प्राप्ति कष्ट-साध्य ही नहीं, असम्भव है। ऐसी अवस्था होने पर भी यदि प्रबन्धकर्ताओंको प्रबन्ध करनेमें स्वतन्त्रता प्राप्ति न हो तो महाविद्यालयका फल उत्तम न होनेके दोषका भागी प्रबन्धकर्ता नहीं हो सकता[1]।"

कुशल सम्पादक सामाजिक गुण-दोषोंको देखनेमें सदा चौकन्ना रहता है। उसका कार्य उस मालीका है जो अपनी वाटिकामें घासको बढ़ने नहीं देता। और अपनी कला द्वारा फल-वृक्षों और पुष्प-लताओंके संवर्द्धनमें सचेष्ट रहता है। गोपालदासजी ऐसे ही कुशल पत्रकार थे जो समाजकी वर्तमान प्रवृत्तियोंसे पूर्णतया अवगत थे। कुरीतियाँ एवं बुराइयोंको समाजसे उखाड फेंकना चाहते थे। उन्होंने अपने एक टिप्पणमें कन्या-विक्रयकी भर्त्सना करते हुए लिखा है—"कन्या-विक्रयकी घृणित प्रथा हमारे समाजसे अभी तक दूर नहीं हुई। प्रतिवर्ष सैकड़ों विवाह होते हैं जिनमें रुपयोंके लोभमें फँसकर पातकी माता-पिता अपनी कन्याओंको जैसे-तैसे बूढे जर्जर वरके गले बाँध देते हैं। जहाँ तक सोचा जाता है, इसका कारण समाजके मुखियाओंकी मूर्खता और असावधानी ही प्रतीत होती है। वे चाहे तो आज ही इस दुष्प्रथाका काला मुँह कर सकते है। यदि आज वे लोग इस बातकी प्रतिज्ञा कर लें कि जिसके यहाँ इस प्रकार धन लेकर विवाह होगा, उसके यहाँ हम भोजन-पानी नहीं करेंगे, तो किसीका साहस नहीं हो सकता कि उन्हे छोड़कर वह ऐसा विवाह करना स्वीकार करे। अनेक स्थानोंमें इस प्रकारकी प्रतिज्ञासे सफलता हुई है। कन्या-विक्रय बन्द हो गया है।"

"जो माता-पिता द्रव्य लेकर अपनी कन्याका विवाह करते है, उनसे पूछने पर उत्तर मिलता है कि बिरादरीके लोगोंका भोजन आदिसे सत्कार करनेके लिए हमें द्रव्यकी आवश्यकता होती है और ऐसा है भी, क्योंकि उस मिले हुए द्रव्यको प्रायः पञ्च लोग ही खा जाते हैं। इस हिसाबसे यदि विचार किया जाय तो कन्या-विक्रयके महापापके भागी बिरादरीके पञ्च ही होते हैं। यदि वे लोग ऐसे निर्धन पुरुषोंके यहाँ भोजनादि करना छोड़ दें और कन्यावालेको यह समझायें कि किसीसे धनकी याचना मत कर, सूखी हल्दी मात्रसे टीका कर दे, हम तेरी कन्याका विवाह बिना कुछ खर्च कराये करा देंगे, तो शीघ्र ही यह दुष्प्रथा बन्द हो सकती है।"

"कन्या विक्रयके बन्द होनेसे समाजका एक बड़ा भारी उपकार यह होगा कि गहरी रकमोंके लोभमें फँसाकर जो बुड्ढे चाण्डाल मरते दम तक अपना विवाह करके निरपराध, अबोध कन्याओंका गला काटते हैं और उन्हे वैधव्यके घोर दुःखमें पटककर समाजमें भ्रूण हत्यादि पापोंका प्रचार करते हैं, वे शान्त हो जायेंगे। वृद्ध विवाह और अयोग्य विवाह एकदम बन्द हो जायेंगे[2]।"

---

१. जैनमित्र, वर्ष ३ अंक १०, पृष्ठ १५-१६।
२. जैनमित्र, वर्ष ७, अंक १८-१६ पृष्ठ २२५-२६।

उक्त टिप्पणियोंके अतिरिक्त इसी सन्दर्भमें उन्होंने पालीताना एवं गुजरातके बोरसद नामक स्थानोंमें होनेवाले कन्याविक्रय एवं वृद्धविवाहोंके रोचक और शिक्षाप्रद उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इन उदाहरणोंमें अपनी मनोरंजन शैलीका पूर्णतया प्रयोग किया है और घटनाओंको रोचक बनानेके लिए 'अङ्ग उपङ्ग पुराने परे, तिसना दिन-दूनि नवीन भई है।' जैसी कवियोंकी उक्तियोंको भी उद्धृत किया है। शैली इतनी रोचक है कि पाठक टिप्पणियोंको पढ़ता हुआ लेखकके रोष और क्षोभको भी सहजमें समझ लेता है। जहाँ वे अपने विचारोंके विरोधमें प्रस्तुत किये गये तर्कोंका उत्तर देते हैं वहाँ उनकी शैली एक नैयायिककी हो गयी है। रूपकोंका प्रयोग छोड़के कार्यकारण विवेचन पर उतर आये हैं और उन्होंने प्रत्येक तथ्यके लिए कोई न कोई तर्क उपस्थित किया है। टिप्पणोंके पढ़नेमें एक न्यायग्रन्थके अध्ययनका आनन्द आता है। और ऐसा अनुभव होने लगता है कि सम्पादक वह प्राध्यापक है जो कार्यकारणमालाके द्वारा अपने तथ्योंको शिक्षार्थियोंके समक्ष उपस्थित कर रहा है। तर्क और न्यायका प्रयोग वे अपनी बातोंकी सत्यता सिद्ध करनेके लिए ही करते हैं। महासभाद्वारा महाविद्यालयको अंगरेजी कॉलेजके रूपमे परिवर्तित कर देनेके लिए उठाये गये तर्कोंका खण्डन वे बड़ी ही सहिष्णुताके साथ करते हुए परिलक्षित होते हैं। उन्होंने अपने एक टिप्पणमें एक पत्रको उद्धृत किया है और स्वयं मौन हैं, पर उनके इस मौनने भी उनके भावोंको प्रकट कर ही दिया है—"हमारे एक ग्रेजुएट मित्रने महासभा और महाविद्यालयके विषयमें एक चिट्ठी लिखकर भेजी है। उसका कुछ अंश हम पाठकोंके जाननेकेलिए यहाँ उपस्थित करते हैं—'.. .....महासभाके कर्ता-हर्ता लोग अंगरेजी कालेज ही का आलाप भरते हैं। धार्मिक व शिल्पशिक्षाकी कुछ भी परवाह नहीं करते। इनमेंसे हर एक सर सैयद होना चाहता है और जातिकी सत्योन्नतिकी ओर कोई नहीं देखता। मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि सहारनपुरमे महाविद्यालयकी उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रथम तो वहाँकी बिरादरीमें झगड़ा हो रहा है, दूसरे धार्मिक-शिक्षाकी वहाँ कुछ खबर नहीं ली जाती। कार्यकर्ता एक बी० बनारसीदास हैं जो स्कूलके इच्छुक हैं। बाबू लोगोंको यह भी स्मरण रहे कि आज-कल स्कूलके खर्च कुछ कम नहीं होते। हवाई गोलों पर स्कूल खोल दिया तो पछतायेंगे। अस्तु, जो कुछ हो, अब मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि यदि महासभा कौमके रुपये और लड़कोंका इस प्रकार नाश करे तो क्या आपको केवल लेखों पर ही सन्तुष्ट रहना उचित है? मान्यवर, यदि आपको इस जातिका उद्धार करना है तो इस महाविद्यालयको इस प्रकार सञ्चालित कराइये जिससे उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा व गौण लोकशिक्षा दी जावे जिसमें शिल्पके क्लास भी हों और जैनविज्ञान, ज्योतिष आदिकी शिक्षा भी दी जावे। जितने भी लोग आपके विचारोंमे सहमत हों उनको आगे आना चाहिए। अब सोनेका समय नहीं है।'[1]"........

गुरु गोपालदासजीने इस पत्रको उद्धृत ही किया है पर इसपर अपनी कोई टिप्पणी नहीं लिखी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पत्रमें प्रतिपादित विचार उनके विचारोंसे समता रखते हैं। कुशल सम्पादक विवादग्रस्त विषयों पर दूसरों द्वारा लिखित पत्रों और निबन्धोंको भी स्थान देता है। इस प्रकार वह विषय निर्णयके लिए सबल मञ्चका सङ्गठन करता है। गोपालदासजी सजग सम्पादक थे। उन्होंने धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक आदि सभी प्रकारकी समस्याओं और उनके समाधान अपने पत्रमें प्रस्तुत किये हैं। वे वाङ्मयके संवर्द्धनमें तो सजग थे ही, समाज को भी अपने विचारों और प्रवृत्तियोंके द्वारा सुगठित बनाना चाहते थे। उनकी सम्पादन-कला उच्चकोटिकी है। उस समयके सभी पत्र और पत्र-कार उनकी इस प्रवृत्तिसे अत्यधिक प्रभावित और अनुप्राणित थे। कलकत्तासे श्री अमोलकचन्द लुहाड़ाके सम्पादकत्वमें उन दिनोंमें 'जैन पताका' नामक एक पत्रिका प्रकाशित होती थी, जिस पत्रिकामें 'जैनमित्र' का सम्पादकत्व छोडने पर सम्पादकने गुरुगोपालदासजीके सम्बन्धमें लिखा है—"बम्बई प्रान्तिक महासभाकी छठवें वर्षकी रिपोर्टके अवलोकन करनेसे निश्चय हो गया कि जैनमित्रकी सम्पादकीसे श्रीयुत् पण्डित गोपालदासजीका सम्बन्ध छूट गया। इस घटनाके कारण शोकातुर होना पड़ा है क्योंकि पण्डितजी महाशयके सम्पादकत्वमें कई एक उत्तम कार्य हुए हैं। 'जैनमित्र' के द्वारा बम्बई प्रान्तमें तो जागृति पैदा हुई ही है किन्तु अन्यान्य प्रान्तोंमें भी उसके द्वारा बहुत उपकार हुआ है। यह 'जैनमित्र' के आन्दोलनका ही फल है कि धार्मिक विद्या प्राप्त होनेके कारण महाविद्यालयका नाम चला आ रहा है। 'जैनमित्र' महा-सभाके कार्यों—महाविद्यालय, परीक्षालय, उपदेशकीय विभाग और जैन गजट—को उन्नतिपथ अवलम्बन करानेके वास्ते सदैव ही परामर्श देता रहा है................'जैन मित्र' में निरन्तर सयुक्तिक लेख प्रकाशित होते रहे हैं और कई समाचार-पत्रोंमें भी आन्दोलन करनेसे महाविद्यालय सहारनपुरसे पवित्र भूमि काशीमें स्थानान्तरित करा दिया गया, यह सौभाग्यका विषय है।"

---

१. जैनमित्र, वर्ष ७, अङ्क १८–१९ पृष्ठ २२७–२८।

"श्रीयुत् पण्डित गोपालदासजीने अपना अमूल्य समय जात्युन्नतिमें लगाया है, जिसके वास्ते जैन समाज आभारी है[1]।"................

उक्त उद्धरणसे गुरुगोपालदासजीकी सम्पादन-प्रवृत्तिका स्पष्टीकरण स्वयमेव हो जाता है। जिस 'जैनपताका'में ढोलमें पोल शीर्षक देकर गुरुगोपालदासको स्वार्थी एवं पक्षपाती सिद्ध करने वाले निबन्ध प्रकाशित हुए है उसी 'जैनपताका' का सम्पादक गुरुजीकी सम्पादनकलाकी श्लाघा करता है। वास्तवमें उन्होंने अपने समयमें महावीरप्रसाद द्विवेदीके समान ही अपने 'जैनमित्र' का सम्पादन किया। वे अन्य लेखकोंकी रचनाओंको संशोधित और परिष्कृत तो करते ही थे, साथ ही उत्साहवर्द्धक प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ भी लेखों पर लिखते थे। 'जैन गजट', 'जैनबोधक' और 'जैनपताका' प्रभृति जैनपत्र उनकी सम्पादन-प्रवृत्तिसे लाभान्वित होते थे। उनको विभिन्न कार्य-प्रवृत्तियोंकी प्रशंसा विरोधी भी करते थे। संक्षेपमें उनकी सम्पादन-प्रवृत्तिकी निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

१. विषयोंके चयन, सङ्कलन और सम्पादनमें निष्पक्षता।
२. निर्भय और निर्लोभ वृत्तिके कारण विरोधी विचारोंका सतर्क खण्डन।
३. समाजोन्नतिके हेतु संस्था-स्थापनकी प्रेरणा एवं उपदेशक और प्रचारकोंके कार्योंका टिप्पणियों सहित अङ्कन।
४. राष्ट्रीय नव चेतनाके साथ सामाजिक गति-विधियोंका अवलोकन और प्रतिपादन।
५. पाठकोंकी सुरुचिको ध्यानमें रखकर आख्यान, शिक्षाप्रद चुटकुले, कविताएँ एवं अन्य साहित्यिक-विधाओंका प्रकाशन।

●

१. 'जैन पताका' शिवतल्ला स्ट्रीट ढाकापट्टी कलकत्ता, वर्ष २, अंक ८, सन् १९०९ ई०, पृष्ठ १८।

# सभा-संगठन प्रवृत्ति
# बम्बई प्रान्तिक जैन सभाके अभ्युदय हेतु किये गये प्रयास

श्री पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य
आचार्य-स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

●

गुरुवर्य पं० गोपालदासजीके सामाजिक जीवनका आरम्भ बम्बईसे हुआ। जब वह बम्बईमें ही रहने लगे तो वि० सं० १९४९ में उन्होंने पं० धन्नालालजी काशलीवाल आदिके सहयोगसे एक दिगम्बर जैन सभाकी स्थापना की। इस सभाके सदस्योंके हृदयमें यह भावना हुई कि सारे भारतवर्षके जैनोंकी एक महासभा होनी चाहिये जिसके अधिकारमे प्रान्तिक तथा स्थानीय सभाएँ रहे। इस भावनाकी पूर्तिके लिए सभाकी ओरसे पण्डित गोपालदासजी वरैया और पं० धन्नालालजी काशलीवाल खुरईके प्रतिष्ठा-महोत्सवमें गये, और वहाँ महासभाके लिये आन्दोलन किया। यह प्रतिष्ठा सं० १९४९ के माघ मासमें हुई थी। खुरईमें यह निश्चय हुआ कि जम्बूस्वामीके मेले पर मथुरामें इस सभाकी नींव डाली जावे। तदनुसार सम्वत् १९५० के कार्तिकमें जम्बू स्वामीके मेले पर बम्बईकी जैन सभाकी ओरसे एक डेपुटेशन इसी कार्यके लिये भेजा गया। किन्तु वहा पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि अलीगढ़के स्वर्गीय पं० छेदालालजीके उद्योग और परिश्रमसे महासभाकी नींव पड़ चुकी है।

इसके पश्चात् सम्वत् १९५७ में बम्बईकी दिगम्बर जैन सभाके उद्योगसे दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभा बम्बईकी स्थापना हुई और उसके मुखपत्रके रूपमे मासिक जैनमित्रका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तथा पं० गोपालदासजी उसके सम्पादक बनाये गये।

इस सभाका अधिवेशन आकलूजमे हुआ। आकलूज (शोलापुर) मे सेठ नाथरंगजी गाँधीने नये मन्दिरका निर्माण कराया था। उसका जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव था। यह उत्सव धूमधामसे सम्पन्न हुआ। माघ शुक्ला द्वादशीको रात्रिको सभा हुई। उसमें पण्डित गोपालदासजीने २॥ घंटे तक 'जैनधर्मके सिद्धान्त क्या है' इस विषय पर भाषण दिया, जिसको सुनकर सभी बड़े प्रसन्न हुए। दूसरे दिन आकलूजके सबजज साहबने पण्डितजीको अपने घरपर आमन्त्रित किया और रात्रिके व्याख्यानमें ईश्वरकर्तावादका खुलासा सुना। रात्रिकी सभामें पं० गोपालदासजी महामन्त्री जैन प्रान्तिक सभा बम्बईने मंगलाचरणपूर्वक 'सम्यक् चारित्र' पर व्याख्यान दिया। उसमें आपने सुखका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रकी एकता बताकर मुनि और श्रावकका आचार तथा उसके धारण करनेवाले पात्रका स्वरूप बतलाया। दूसरे दिन समस्त सभाकी ओरसे पण्डितजीको मानपत्र भेंट किया गया।

इस सभाके प्रथम अधिवेशनमे पं० गोपालदासजीने नीचे लिखा प्रस्ताव उपस्थित किया—

'धार्मिक विषयोंका विचार करके निश्चय करने आदि कार्योंके लिए एक 'दिगम्बर जैन विद्वज्जनसभा' नियत की जाये।'

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए पण्डितजीने कहा—प्रथम तो वर्तमान समयमें जैसे जैनी पण्डित चाहिए वैसे हैं नहीं, जो कुछ देखने सुननेमें आते हैं वे बीजभूत हैं। उनमें भी अनेक तो ऐसे हैं कि वे अपने उदरपूर्णार्थ आजीविका करनेमें ही अपना अहोरात्रका अमूल्य समय बिताते है। कुछ ऐसे हैं कि उनको अवकाश मिलनेपर भी वे प्रमादके वशीभूत हो कुछ भी स्वपरहित नहीं कर सकते। गूढ़ शंकाओंका समीचीन उत्तर न मिलनेसे हमारे भोले भाले जैनी भाइयोंने धर्मकी पद्धति सर्वथा बिगाड़ दी है। जिन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके प्रयोग करनेकी आज्ञा लौकिक कार्योंके लिए हैं उनका प्रयोग धर्मसम्बन्धी कार्योंमें करने लगे। धर्मसम्बन्धी कार्योंकी मनचाही प्रवृत्ति ऐसी पड़ गई है कि जिसका शास्त्रानुसार सुधार करना अतिशय कष्टसाध्य है। इसके सिवाय पूजनविधि व संस्कारविधि सर्वथा नष्ट होगई है। हम लोगोंका शास्त्रोक्त

संस्कार न होनेसे ही धर्मधारण करनेकी शक्ति नष्ट होगई है। इस कारण समस्त देशके विद्वानोंकी एक सभा होनी चाहिए जिससे समस्त प्रकारकी शंकाओंका सम्यक् समाधान होकर हर एक धर्मकार्यका निर्णय व प्रचार होता रहे।

इस सभाका द्वितीय वार्षिक अधिवेशन वि० सं० १९६० के ज्येष्ठमें शोलापुरके बिम्बप्रतिष्ठोत्सवपर हुआ। रात्रिमें पं० गोपालदासजीने जिनवाणीको नमस्कार करके सप्तभंगीका स्वरूप समझाया। फिर जीवके विषयमें नास्तिकमतका खण्डन करके जीवकी नित्यता सिद्ध की। तत्पश्चात् जीवका स्थान लोक व लोकके आकारादिका वर्णन किया। इतनेमें ही गर्मीकी अधिकतासे पण्डितजीकी तबियत इतनी बिगड़ गई कि खड़े रहनेमे असमर्थ होनेसे बैठ गये और फिर व्याख्यान नही दे सके। वार्षिकोत्सवका सभापतित्व सेठ हरीभाई देवकरणकाले सेठ बहालचन्द रामचन्द्रजीने किया था। आपने अपने भाषणमे उत्तर हिन्दुस्थानकी प्रशंसा करते हुए कहा—

इस दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभाके स्थापन करनेका उद्देश्य यह है कि अपनी जैन जातिकी जिस २ विषयमें हीनावस्था देखनेमे आती है उसके कारण निश्चय करके उनके दूर करनेके सीधे उपाय प्रकट करके काममें लानेके लिये प्रयत्न करना और अपने दिगम्बरी भाइयोंमे प्रेरणा करके अपने सत्धर्मी भाईयोंकी अवस्था सुधारना, तथा अपने यहाँके आचार्योंके अभिप्रायानुसार अपने धर्म तथा साधर्मी भाइयोंकी उन्नति होवे, ऐसे उपाय करना आदि है। इस विषयपर अपने उत्तर हिन्दुस्थानके विद्वानोंका ध्यान सबसे पहले खिंचा था और जब सम्बत् १९४८ मे अपने यहाँ शोलापुरमे चतुर्विध दानशालाकी स्थापना हुई थी उसी साल मथुराके निकट चौरासीमे श्री जम्बूस्वामीकी निर्वाण भूमिपर श्रीमान् राजा लक्ष्मणदासजी सी० आई० ई० के अधिपतित्वमे श्रीमती दिगम्बर जैनधर्म संरक्षिणी महासभाकी स्थापना की गई थी। धर्मसम्बन्धी बड़े-से-बड़ा काम तो उत्तर हिन्दुस्थानके जैनी भाई हजारों वर्षोंसे करते आये है। देखिये, अपने यहाँ जो चौबीस तीर्थंकर हुए वे सब उत्तर हिन्दुस्थानमे ही अयोध्या, हस्तिनापुर बनारस वगैरहमे उत्पन्न हुए है और उनके केवलज्ञान और निर्वाण भूमिकी जगह भी श्री सम्मेदशिखरजी, चम्पापुरी, पावापुरी, गिरनार वगैरह उत्तर हिन्दुस्तानमें है। हालमें बड़े-बड़े विद्वान् टोडरमलजी, जयचन्दजी, बनारसीदासजी, द्यानतरायजी, भूधरदासजी, दौलतरामजी, सदासुखजी वगैरह, जिन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी वचनिकाएँ करके अपनी समस्त जैन जातिपर महान उपकार किया है, वे भी उत्तर हिन्दुस्तानमे हुए है। इतना ही नही किन्तु वर्तमान समयमे जो कुछ विद्वान देखनेमे आते है वे पण्डित बल्देवदासजी, पण्डित लक्ष्मीचन्दजी, न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजी आदि भी उत्तर हिन्दुस्थानके निवासी है। बहुत क्याक है अपनी इस दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभा बम्बईके चालक सूत्रधार महामन्त्री पण्डित गोपालदासजी वरैया भी उत्तर हिन्दुस्थानका एक चमकता हुआ सितारा है। इनके ही प्रयत्नमे इस दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभाका जन्म हुआ है, आदि।

उत्सवके अन्तमे नौमीकी रात्रिको व्याख्यान सभा हुई। सभापति थे सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी शोलापुर। यूनियन क्लबके कई सदस्योंकी प्रेरणामे पं० गोपालदासजीने बंधतत्त्वपर भाषण दिया। पण्डितजीने शास्त्र-प्रमाण और युक्तियोंसे इस विषयको ऐसी उत्तम रीतिसे कहा कि अन्य धर्मावलम्बियोंको भी रुचिकर हुआ। फलतः दूसरे दिन मोक्षतत्त्वके विषयमें भी व्याख्यान सुननेकी इच्छा प्रकट की गई और सरकारी हाईस्कूलके मैदानमे सभाका आयोजन करनेकी प्रेरणा की गई। तदनुसार दूसरे दिन रात्रिको सभा हुई उसमे प्रायः सभी गण्यमान्य अधिकारी और विद्वान् उपस्थित थे। सभीने व्याख्यानकी बहुत प्रशंसा की।

सभाका चतुर्थ अधिवेशन श्री गजपन्था सिद्धक्षेत्रपर जनवरी १९०७ मे हुआ। पं० गोपालदासजीने नीचे लिखा प्रस्ताव उपस्थित किया—जैनियोका यह कर्तव्य है कि वे स्वदेशी वस्तु-प्रचार और वाणिज्यवृद्धिको उत्तेजन देवें।

इसकी आवश्यकता दिखलानेके लिए पण्डितजीने कहा—'प्रत्येक प्राणी सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति चाहता है। यह सुख दो प्रकारका है—एक तो परमसुख मोक्ष, जिसका कभी नाश नहीं होता और दूसरा इन्द्रियजन्य सांसारिक सुख, जो बारम्बार प्राप्त होकर नष्ट होता रहता है, इसे ही काम कहते हैं। इनमेसे प्रथम सुख मोक्ष धर्मसे और दूसरा काम सुख अर्थसे (धनसे) प्राप्त होता है। इन चारोंको ही पुरुषार्थ कहते हैं। पहले धर्म और अर्थ ये दो कारण तथा दूसरे दो काम और मोक्ष ये कार्य है। इन दोनों कारणोंमे वर्तमान समयके अनुसार अर्थकी विशेष मुख्यता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि धर्मका भी कारण कथंचित् धन है। बिना धनकी पूर्तिके धर्मका साधन यथार्थ रूपसे नहीं हो सकता। इसलिये धनके अर्जनकी बहुत आवश्यकता है। अब देखना चाहिये कि इस धनके प्राप्त करनेके कौन कौन उपाय है? विद्वानोंने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या ये छ उपाय बताये हैं। इनमेसे असि (खड्ग)का कर्म अर्थात् रक्षा करना, यह क्षत्रियोंकी आजीविका और शिल्प तथा विद्या शूद्रोंकी आजीविकाका उपाय है। शेष मसि (लेखन), कृषि और वाणिज्य ये तीन उपाय वैश्योंकी आजीविकाके है। यद्यपि पहले जैनधर्ममे चारों वर्ण पाये जाते थे, परन्तु कालचक्रके

प्रभावसे वर्तमानमें केवल वैश्य लोग ही इस धर्मके पालनेवाले है जिनके उपर्युक्त तीन कर्म हैं। इनमेंसे पिछले दो स्वतन्त्र और पहला एक मसि कर्म अर्थात् मुनीमी गुमास्तागिरि वगैरह् परतन्त्र कर्म है। परन्तु स्वतन्त्रोंमें भी विपुल अर्थकी प्राप्ति करनेवाला वाणिज्य व्यापार है क्योंकि कृषि आदि कर्मोंमें धनकी सीमा है और वाणिज्यमें सीमा नहीं है। यही कारण है कि इस गिरी हालतमें भी जितने धनी हैं वे सब वैश्य तथा व्यापारी हैं। इसलिये सम्पूर्ण वैश्य जातिका कर्त्तव्य है कि इस वाणिज्य-वृद्धिमें उद्योग करे। सौ डेढसौ वर्ष पहले यहांका सारा व्यापार हमारे हाथमें था। परन्तु अब पश्चिमी लोगोंने अपने असीम उद्योगसे हमारे व्यापार पर अधिकार जमा लिया है। बहुत कम व्यापार हमारे हाथोंमें रह गया है। अब हमारे देशसे कपास वगैरह सारा कच्चा माल जाता है और वहांसे पक्का बनकर अठगुने दसगुने मूल्यपर यहाँ आकर विकता है। यह बड़े दु:खकी बात है। हमारे देशके करोड़ों अरबों रुपया प्रतिवर्ष इसी तरह विलायतोंको जारहे हैं। और हम लोग निर्धन हो रहे हैं। हमारे पड़ौसी जुलाहे, कोष्टे, तथा कारीगर लोग भूखे मरते हैं। कहते हैं कि आज हमारे हतभाग्य देशकी दश करोड़ प्रजा एक वक्त आधा पेट खाकर दिन काटती है। परन्तु इस दु:खके कारण हम ही लोग है। क्योंकि हम लोग व्यापार करना भूल गये हैं। विलायती मालोंपर दलाली और कमीशन खाना मात्र ही हमारा व्यापार रह गया है। यदि कुछ दिन और भी हमारी यही हालत रही तो न जाने क्या होगा। इसलिये अब हम लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये और एकचित्त होकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ स्थापित करके कल कारखाने खोलना चाहिये। और भूखे मरते हुए लोगोंको पालते हुए देशकी आर्थिक दशा सुधारना चाहिये। हम सब कुछ कर सकते है परन्तु अपने बलको भूलकर कायर हो रहे है।' इस व्याख्यानका लोगोंके चित्तपर अच्छा असर हुआ। इसी सभामे पाँचवा प्रस्ताव इस प्रकार पास हुआ—

'प्रत्येक जैनीको जैन विवाह-पद्धतिके अनुसार विवाह कराना चाहिये। और ऐसे विवाह करनेवाले चिरंजीवि सखाराम वेणीचन्दको सुवर्णपदक देना चाहिये।'

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए सेठ पानाचन्द रामचन्द शोलापुर ने जैनविवाह विधिकी आवश्यकता बतलाई और फलटणके चिरंजीवि सखाराम वेणीचन्दको कथा सुनाई। प्रारम्भसे ही इस लड़केका आग्रह था कि मैं विवाह करूँगा तो आर्षविधिके अनुसार करूंगा। इसे केवल बालहट समझकर दोनों सम्बन्धियोंने कह दिया कि अच्छा ऐसा ही होगा। ठीक विवाहके दिन तक बालक अपनी प्रतिज्ञा कहता रहा, और दोनो सम्बन्धी हाँ हाँ करते रहे। परन्तु मुहूर्तके समय वैदिक विधिकर्ता ब्राह्मण बुलाये। तब बालकने कहा—मैं सच कहता हूँ विवाह करूँगा तो आर्षविधिमे करूँगा, अन्यथा आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करूंगा और ऐसा ही लौटकर चला जाऊँगा। परन्तु यह बात कन्याके पिताने स्वीकार नहीं की। विवाहका मुहूर्त निकल गया। एक दो दिन बीत गये। सबने यथाशक्ति प्रयत्न कर छोड़े, पर दृढ़-प्रतिज्ञ बालकका विचार नहीं बदला। अन्तमे बालहटने विजय पाई। जैन विवाह विधिसे विवाह हुआ। इसने प्रसन्न होकर शोलापुरके प्रसिद्ध सेठ बालचन्द रावचन्दजीने स्वर्णपदक देना स्वीकार किया।

इसी अधिवेशनमें वैद्यरत्न पंडित कन्हैयालालजी (कानपुर) को जैनियोंमे एक ही परीक्षोत्तीर्ण वैद्य होनेके नाते सुवर्णपदक प्रदान किया गया था।
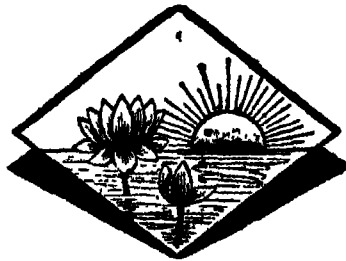
# गुरुजीके शिक्षा-सम्बन्धी विचार

श्री नलिनकुमारजी शास्त्री

●

स्वाध्याय और प्रवचन जीवनके संरक्षण, संवर्द्धन और विकासके लिए उत्तम साधन हैं। इन साधनोंसे मन एकाग्र होता है, स्वातन्त्र्यके लक्ष्यसाधनमें सफलता प्राप्त होती है, प्रज्ञा बढ़ती है और स्वार्थत्यागकी भावना प्रादुर्भूत होती है। वास्तवमें जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है, संघर्ष नहीं, शान्ति है, विषमता नहीं; समता है; विषाद नहीं; आनन्द है। जीवनकी आधारशिला भोगको मान लेनेपर मनुष्यकी मनुष्यताका ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अतः शिक्षा मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति है जो उसके अस्तित्वकी रक्षाके साथ उसे जीवन-क्षेत्रमें कार्यसम्पादन करनेकी क्षमता प्रदान करती है। महाकवि वादीभसिंहने विद्याको शिक्षाका पर्यायवाची स्वीकार करते हुए लिखा है—"अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा" (क्षत्रचूडामणि ३।८५)। निर्दोष—अच्छी तरह श्रमपूर्वक अभ्यस्त विद्या ही ऐहिक और पारलौकिक कार्योंको सफल करती है। सतत स्वाध्यायसे ही व्यक्तिकी अन्तर्निहित शक्तियोंका विकास सम्भव होता है।

## शिक्षाका उद्देश्य

शिक्षाद्वारा ही मनुष्यकी आन्तरिक दैवी शक्तियोंकी अभिव्यक्ति होती है। अतएव मनुष्यमें अन्तर्निहित श्रेष्ठतम, उदात्त और महनीय गुणोंका विकास करना शिक्षाका लक्ष्य है। भारतीय परम्परा 'सा विद्या या विमुक्तये' के अनुसार शिक्षाका लक्ष्य मुक्तिको मानती है। शरीर, मन एवं आत्माकी सबलता, स्वपरकी अनुभूति एवं सांस्कृतिक मूल्योंकी जीवनमें उपलब्धि शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। त्याग, संयम, आचार-विचार और कर्त्तव्यनिष्ठाका बोध शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार एक कुशल शिल्पी अपनी कर्कश टाकीसे एक सामान्य शिलाखण्डमें रमणीय रूपाकृति अङ्कित कर उस शिला-खण्डको उपयोगी, मूल्यवान् और अर्चनीय बना देता है, उसी प्रकार योग्य शिक्षक अपनी सत् शिक्षासे सामान्य बालकके अन्तरङ्गको आलोकित कर देता है जिससे वह समन्तभद्र या अकलंक जैसा महनीय बन जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिक बल, कर्मठता एवं सहिष्णुताकी प्राप्ति शिक्षा-स्वाध्याय द्वारा ही सम्भव है। शिक्षाकी कसौटी विरोध और कठिनाईयोंके बीच आत्मज्योतिको प्रकाशित करना है। जो प्रवृत्तियां शुद्ध ज्ञानको जागृत करनेमें रुकावट उत्पन्न करती हैं उन प्रवृत्तियोंको शिक्षा और स्वाध्यायद्वारा ही रोका जा सकता है। अहिंसा और सत्यका घनिष्ठ सम्बन्ध शिक्षाके साथ है। वह शिक्षा व्यर्थ है जो नैतिकता और आध्यात्मिकताका विकास नहीं करती। गुरु गोपालदासजीने बताया है कि युवकोंके मस्तिष्कमें तथ्य और आँकड़े भरनेवाली शिक्षा व्यर्थ है। इस प्रकारकी शिक्षासे जीवनका कल्याण नहीं हो सकता है। शिक्षा सभी दृष्टियोंसे जीवनको सुसंस्कृत बनाती है। नियन्त्रण और संयमकी भावना शिक्षा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य आत्म-स्वातन्त्र्य-लाभ है। मानवीय सम्बन्धों और आचरणोंका निर्वाह सफलतापूर्वक ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। हृदय और आत्माके अवरुद्ध कपाट शिक्षासे ही उद्घाटित होते हैं। उन्होंने लिखा है—"संसारके समस्त प्राणियोंकी यह इच्छा रहती है कि हमको सुखकी प्राप्ति हो और वे सदाकाल ऐसा ही उपाय करते रहते हैं। परन्तु सुख तथा सुखके साधनका यथार्थ स्वरूप न जाननेके कारण अभीष्ट फलको प्राप्त नहीं होते। यथार्थसुख मोक्षमें है। इसलिए पुरुषका असली प्रयोजन अर्थात् परम पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्षका साधन धर्म है। इसलिए दूसरा पुरुषार्थ धर्म है। इस धर्म पुरुषार्थका पूर्णतया साधन संन्यासाश्रममें ही हो सकता है और इस संन्यासाश्रमको वे ही महानुभाव धारण कर सकते हैं जो शारीरिक तथा मानसिक शक्तिशाली होनेसे विषय-भोगोंसे नितान्त विरक्त हो गये हैं। जो महाशय विषय-भोगोंसे विरक्त होने पर भी शारीरिक तथा मानसिक शक्तिकी हीनताके कारण मुनिपदको धारण नहीं कर सकते वे दशवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमास्वरूप वानप्रस्थाश्रमको स्वीकार करके धर्म पुरुषार्थका एक देश साधन करते हैं। तथा जिन महाशयोंकी विषयाकांक्षा भी पूर्णतया नहीं घटी है वे देव, द्विज, अग्निकी

शास्त्रोपूर्वक योग्य कन्यासे पाणिग्रहण करके न्यायरूप भोगोंको भोगते हुए काम पुरुषार्थ तथा उसके साधन-भूत धनार्जनरूप अर्थ पुरुषार्थ और यथाशक्ति धर्मपुरुषार्थ इस प्रकार धर्म, अर्थ और कामस्वरूप त्रिवर्गका साधन करते हुए गृहस्थाश्रमका पालन करते हैं। उक्त चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष और काम ये दो पुरुषार्थ साध्यरूप है तथा धर्म और अर्थ ये दो पुरुषार्थ साधनरूप हैं। किसो पुरुषार्थका साधन तद्विषयक विद्या-प्राप्ति किये विना अत्यन्त दु:साध्य है और गृहस्थाश्रममे प्रवेश करने पर चित्त अनेक चिन्ताओंसे व्याकुलित हो जाता है। इस लिए इतर तीन आश्रमोंकी साधनभूत विद्याओंकी आराधनाके लिए अनेक चिन्ताओंसे अलिप्त कुमारावस्थामे ब्रह्मचर्याश्रमका विधान है। इस ब्रह्मचर्याश्रममें किन-किन विद्याओंके अभ्यास करनेकी आवश्यकता है, आगे इस ही विषय पर विचार किया जायेगा।"

उपर्युक्त सन्दर्भके अध्ययनमे शिक्षाके निम्नाङ्कित उद्देश्य अवगत होते हैं।

१. मोक्ष प्राप्ति।
२. जीवनकी चतुर्मुखी वृत्तियों—उच्चता, गाम्भीर्य, गति एवं संयमका विकास।
३. आत्मा, जगत् और जीवनके सम्बन्धोका परिज्ञान।
४. आचार, दर्शन और विज्ञानके त्रिकोणकी उपलब्धि।
५. प्रसुप्त शक्तियोका प्रादुर्भाव।
६. जीवनमे आनेवाली विपत्तियो, कठिनाइयो, प्रतिकूलताओको निराकुलभावसे सहन करनेकी क्षमता।
७. विवेक दृष्टिकी प्राप्ति।
८. कलात्मक जीवन यापन कराने वाली योग्यताकी उपलब्धि।
९. अनेकान्तात्मक दृष्टिकोणद्वारा समन्वयकी प्राप्ति।
१०. शास्त्रोका गहन ज्ञान एवं पाण्डित्यकी प्राप्ति।
११. शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोका पूर्णतया उन्नयन।
१२. व्यक्तित्व विकासके समुचित अवसरकी प्राप्ति।
१३. सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्योके निर्वाहके हेतु दायित्व भावनाकी उत्पत्ति।
१४. साध्य, साधनके परिज्ञानद्वारा मोक्ष और काम पुरुषार्थके साधनोका विवेकपूर्वक सेवन करनेकी क्षमता।

## शिष्यकी योग्यता

शिक्षाका दूसरा तत्त्व शिष्यकी योग्यताओंका परीक्षण है। अपात्रको शिक्षा प्रदान करनेका कितना ही प्रयास किया जाय, वह निष्फल ही रहेगा। बुद्धि-पूर्वक लाखो प्रयत्न करनेपर भी बालुका-कणोसे तैलकी प्राप्ति नही हो सकती। क्षयोपशम-हीन शिष्यका विद्या-दान देनेमें बृहस्पति भी असमर्थ हैं। वास्तवमे अध्ययनावस्था ऐसी एक सीढ़ी है जिसपर प्रतिदिन चढनेका आयास करना पडता है। यदि उस आरोहणमे सावधानी और सतर्कताका निर्वाह नही किया जाय तो चढनेकी अपेक्षा पतन ही सम्भव होता है। प्रतिभाशाली छात्र भी यदि आलस्य और विलासितामे डूबा रहे तो ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। विद्यार्थी अवस्थामे इस प्रकारका अभ्यास करना श्रेयस्कर होता है जिसमे शेष जीवनको प्रभावित करनेकी क्षमता हो। परिश्रम, लगन एवं उत्साहका अध्ययनके लिए जितना मूल्य है, उतना प्रतिभाका नही। कम प्रतिभाशाली व्यक्ति भी परिश्रमके द्वारा विद्वान् बन जाते है। हाँ, परिश्रमके साथ प्रतिभा भी रहे तो इसे मणि-काञ्चन संयोग कहा जायेगा। विशेषज्ञोका अभिमत है कि शिक्षार्जनमे उपयोग और उत्साहका मूल्य सर्वाधिक है। कठिनाइयो और अभावोंका सतोषपूर्वक सामना करते हुए अपने लक्ष्यकी ओर बढना ही विद्यार्थी जीवनकी सफलता है। सादा-जीवन, आवश्यकताओंकी न्यूनता एवं सतत ज्ञानाभ्यास सफलताके लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। बौद्धिक शक्तियोका विकास प्रयत्न और गुरु आशीर्वादसे सम्भव होता है। विद्यार्थीके लिए मौलिक योग्यताएं निम्न प्रकार है—

१. अध्ययनका दृढ संकल्प।
२. वाणीका माधुर्य—मधुर-भाषणकी स्वाभाविक वृत्ति।
३. अध्ययन करनेमे परिश्रम।
४. विनयशीलता।
५. निश्छलता और सरलता।
६. गुरुके प्रति आस्था और भक्ति।

७. समयका समुचित सदुपयोग।
८. जिस विषय या विद्याका अध्ययन किया जा रहा है उसके प्रति विश्वास।
९. संयम और इन्द्रिय-नियन्त्रण।
१०. सेवा-वृत्ति और उत्साह।
११. जिज्ञासा-वृत्ति।
१२. अनुशासनप्रियता।
१३. आलस्य-त्याग।
१४. अध्ययनमें रुचि और आनन्दानुभूतिकी प्राप्ति।

## अयोग्यताएँ

१. अहङ्कार और उद्दण्डता—अनुशासन-हीनता।
२. आलस्य और विलासमयी प्रवृत्ति।
३. आस्थाका अभाव।
४. उच्छृङ्खलता।
५. असंयम और इन्द्रियोंकी दासता।
६. गुरुओंके प्रति हार्दिक आदर और श्रद्धाबुद्धिका अभाव।
७. अध्ययनमें अरुचि।
८. असहिष्णुता और झगडालू वृत्ति।
९. वाचालता और कटुभाषणकी प्रवृत्ति।

शिक्षार्थीका सबसे आवश्यक गुण अनुशासनप्रियता और परिश्रम है। जो प्रलोभन और प्रपञ्चोंमें फँसकर अध्ययनके अतिरिक्त अन्य दिशाओंमें प्रवृत्त रहते है, वे शिक्षाके क्षेत्रमें कभी सफलता प्राप्त नही करते। चाणक्य-नीतिमे 'काकचेष्टा, बकोध्यानी' इत्यादि पद्यमें शिक्षार्थीके जिन पाँच लक्षणोंका निर्देश किया गया है उन लक्षणोंका रहना शिक्षार्थीके लिए सदा ही आवश्यक है। वास्तवमें शिक्षा प्राप्त करना एक तपश्चरण है। अतः जो त्याग और संयम को अपने जीवनमे अपनाते है, वे ही विद्यार्जनमें सफल होते है। गुरुगोपालदासजीने 'जैनमित्र' प्रथम और द्वितीय वर्षके समस्त अङ्कोंमें जहाँ भी शिक्षाके सम्बन्धमे अपने विचार प्रकट किये है, वहाँ उन्होंने शिष्यकी योग्यताओं और गुणोंका विश्लेषण किया है। वे एक ऐसे शिक्षाशास्त्री थे जो गुरु और शिष्यके मधुर सम्बन्धको जीवन-सफलताके लिए आवश्यक मानते थे। शिष्यकी योग्यताओं और गुणोके साथ शिक्षक या गुरुके सम्बन्धमे भी शिक्षाशास्त्रियोंने पर्याप्त ऊहापोह किया है। पाषाण-शिलाके उपयुक्त रहनेपर भी शिल्पी यदि कुशल न हो तो रम्य रूपाकृति अङ्कित नहीं की जा सकती। माली यदि अज्ञानी और क्रियाशून्य है तो चमेली और गुलाबके पुष्पोको उचित और यथार्थरूपमे उत्पन्न नही कर सकता। इसी प्रकार अयोग्य शिक्षक ज्ञानकी उत्तम परम्पराका सूत्रपात नही कर सकता। गुरु गोपालदासजी शिक्षार्थीके समान शिक्षकमें भी वैदुष्य, सहानुभूति, वात्सल्य चरित्र आदि गुणोका रहना आवश्यक मानते थे। आधुनिक शिक्षाशास्त्री एक सफल शिक्षकमें विषयकी विशेषज्ञताके साथ छात्रोंकी मानसिक, आयु, बुद्धि-लब्धि एवं उनकी आन्तरिक योग्यताओका परिज्ञान आवश्यक समझते हैं। सुबोध पाठन-शैली तो शिक्षा-प्रक्रियाके अन्तर्गत आती ही है; साथ ही अपने प्रभावसे शिष्यको प्रभावित कर उसकी सत्प्रवृत्तियोंका उद्घाटन करना भी शिक्षणशास्त्रके अन्तर्भूत है। महाकवि वादीभसिहने शिक्षककी योग्यतापर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः॥" —क्षत्रचूडामणि २।३०।

रत्नत्रयधारक—श्रद्धावान्, ज्ञानी, चरित्रवान्, सज्जन, शिष्यका हितसाधन करनेकी प्रवृत्ति वाला परोपकारी धर्मात्मा और जगत्तारक गुरु—शिक्षक होता है। महाकवि कालिदासने भी शिक्षकके सम्बन्धमे अपने विचार निम्न प्रकार प्रकट किये है—

"श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥—मालविकाग्निमित्रम् १।१६।

कुछ व्यक्ति विषयके पण्डित होते हैं और कुछ व्यक्तियोंको विषय-निरूपणकी कलामें नैपुण्य प्राप्त रहता है। पर वास्तवमें शिक्षक वही सफल है जो विषयज्ञ होनेके साथ पाठनशैलीमें भी प्रवीण हो।

"लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥"—मालविकाग्निमित्रम्-१।१७।

जो अध्यापक सम्मानपूर्णपद प्राप्त कर लेनेके अनन्तर शास्त्रार्थसे भागता है; दूसरोंके द्वारा निन्दा या प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं देता, चुप रह जाता है और केवल आजीविकाके लिए शिक्षकका कार्य करता है, वह ज्ञानका विक्रय करने वाला व्यापारी है। इस प्रकारके अध्यापकसे समाजका मङ्गल नहीं हो सकता। आशय यह है, कि पाण्डित्यके साथ शिक्षकमें चारित्र-गुणका रहना परमावश्यक है, जिसका चरित्र निर्मल नहीं, वह क्या शिक्षा देगा। प्रत्युत्पन्नमतित्वके अभावमें शिष्यकी शङ्काओं और समस्याओंका भी समाधान सम्भव नहीं। शिष्यमें प्रेम करना, उसकी उन्नतिकी अभिलाषा करना, उसके ऊपर अच्छे संस्कार डालना एवं उसके ज्ञानभाण्डारको निरन्तर समृद्ध करना एक अच्छे शिक्षकके लिए आवश्यक है। सफल शिक्षकमें निम्नाङ्कित गुणोंका रहना परमावश्यक है—

१. पाण्डित्य, सदाचार और शिष्यहितकी भावना।
२. निर्लोभ-वृत्ति और कर्त्तव्य-परायणता।
३. अशेष शास्त्रागम तत्त्वदर्शित्व और उसके प्रतिपादनकी क्षमता।
४. सुबोध पाठन-शैली।
५. वात्सल्यभावके साथ सहिष्णुताका व्यवहार।
६. ज्ञानपिपासा-अध्ययन-अध्यापनकी सतत प्रवृत्ति।
७. शिष्याभ्युदयकी मङ्गलकामनाके साथ उक्त दिशामें पूर्ण प्रयास।
८. छात्रकी काव्यात्मक सौन्दर्य चेतना एवं अध्ययनशीलताकी प्रवृत्तिको अहर्निश विकसित करनेकी चेष्टा।

## शिक्षा-पद्धति

गुरुगोपालदासजीने समय-समयपर शिक्षा-पद्धतिकी समीक्षा की है। वे उन्नतिका सर्वप्रमुख साधन शिक्षाको ही मानते थे। उनकी दृष्टिमें धार्मिक शिक्षाका स्थान सर्वोपरि था। आत्मविकासके लिए वे ऐसी शिक्षाके पक्षपाती थे जो मनुष्यको रत्नत्रयकी प्राप्ति करा दे। उन्होंने अपने एक सम्पादकीय लेखमें लिखा है—"कालेजोंके खुलनेसे हमारी लौकिक उन्नतिका साधन तो समृद्ध होगा, पर हम पारमार्थिक अर्थात् धार्मिक विद्याकी उन्नतिसे वञ्चित रह जायेंगे। अतः हमको पारमार्थिक उन्नतिको हस्तगत करनेके लिए एक दूसरे ऐसे कालेज (महाविद्यालय) की आवश्यकता है जिसमें हमारे धर्मशास्त्र मुख्यतासे और अंगरेजी, गणित महाजनी विद्या गौणतासे सिखायी जाय[1]।"

स्पष्ट है कि गुरुजी धार्मिक विद्याको सबसे अधिक प्रमुखता देते थे। उन्होंने एक अन्य स्थानपर शिक्षा प्रणाली-की समीक्षा करते हुए लिखा है—"हमारे समाजमें आजकल बालकोंको शिक्षा अनेक प्रकारसे दी जाती है। कितने ही महाशय तो अपने बालकोंको वर्ष दो वर्ष किसी साधारण पाठशालामें पट्टी, पहाड़े, ओलम बारह खड़ी सिखलाकर नाम लिखने भरकी योग्यताको ही ज्ञानका मापदण्ड मान लेते हैं और वे अपने बच्चोंको अल्पवयमें ही उद्योग-धन्धोंमें डालकर उच्च-श्रेणीकी विद्यासे वञ्चित कर देते हैं।"

"बहुतसे भाई अपने लड़कोंको जैन-पाठशालाओंमें भेजकर सूत्र, भक्तामर और नित्य-पूजनका पाठमात्र कण्ठस्थ करा देनेको ही विद्वत्ता समझ अपनेको कृतार्थ मानते हैं।"

"कितने ही महाशय अपनी सन्तानको हाई स्कूल और कालेजोंमें भेजकर बड़ी-बड़ी नौकरियोंकी अभिलाषासे एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की डिग्रियाँ पास कराते हैं और कितने ही महात्मा कच्ची उमरके बच्चोंको माघ, किरात, तर्कसङ्ग्रह, मुक्तावली, गौतमसूत्र आदि अन्य मत सम्बन्धी विद्याध्ययन कराकर काशीकी मध्यमा, उपाध्याय आदि परीक्षा दिलानेमें ही अपना गौरव समझते हैं। पर वास्तवमें विचार किया जाय तो उपर्युक्त चारों ही प्रकारकी प्रणालियाँ हमारा अभीष्ट फल सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकतीं, क्योंकि प्रथम और द्वितीय प्रणाली वाले तो विद्वानोंकी गणनामें ही नहीं आ सकते। अब तृतीय प्रणाली जो हाई स्कूल और कालिजकी शिक्षापद्धति की है, जिसमें विद्यार्थियोंको पाँच

---

१. जैनमित्र, वर्ष १, अङ्क १ पृष्ठ ५।

विषय पढ़ाये जाते हैं, बिलकुल असफल और अनुपयोगी है। अंगरेजी भाषा ( English Literature ), द्वितीय-भाषा ( Second Language and Literature ) गणित ( Mathematics ) भूगोल और इतिहास ( Geography and History ) विज्ञान (Science) इन विषयोंमेंसे अंगरेजी भाषा और साहित्यके पढ़नेसे इंगलिस्तानकी सभ्यताका परिज्ञान होता है। पुस्तकोंमें केवल पशुओं तथा असभ्य पुरुषोंकी निरर्थक कथाएँ भरी रहती हैं, जिनसे हमारी सन्तानको किसी भी प्रकारकी नीति-शिक्षा, शिष्टाचार, विनय-अनुशासन आदिका उपदेश प्राप्त नहीं होता। द्वितीय भाषाके रूपमें अधिकाश विद्यार्थी फारसी लेते है, जो वर्त्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार हमको विशेष उपयोगी नहीं है, यद्यपि कहीं-कहीं कचहरियोंमें अब तक इस भाषाका प्रचार है, पर अब बहुतसे हिन्दी प्रेमियोंके प्रयत्नके कारण शीघ्र ही हिन्दीके प्रचारकी प्रबल आशा है। कुछ विद्यार्थी संस्कृतका भी अध्ययन करते है पर यह ज्ञान इतना अल्प है जिससे विषय-वस्तुकी जानकारी छात्रोंको नहीं हो पाती। बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करनेवाले छात्र भी संस्कृतके यथार्थज्ञानसे शून्य रहते हैं। भाषा और साहित्य दोनोंकी जानकारी छात्रोंको नहीं हो पाती।"

"तीसरा विषय गणित है जिसकी प्रक्रिया प्राचीन ऋषियोंकी प्रक्रियासे भिन्न है। वर्त्तमानकी गौरवपूर्ण प्रणाली प्राचीन सूत्र-प्रणालीकी अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य और कठिन है। जिस हिसाबको देशी प्रक्रियाका ज्ञाता दो मिनटमें बना लेता है उसी हिसाबको हल करनेके लिए हमारे इंगलिश विद्यार्थीको कमसे कम दस मिनटकी आवश्यकता होती है।"

"अब जरा इतिहास और भूगोल पर भी विचार कीजिए। इतिहासमें आसन्न भूत कालके थोड़ेसे राजाओंके जीवनचरित और उनकी जय-पराजयका पता लगता है लेकिन जैसी शिक्षा प्राचीन ऋषि-प्रणीत भरत, रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदि महानुभावोंके सच्चरित्रसे मिलती है उससे सहस्रांश और शतांश भी इन वर्त्तमान इतिहासोंसे लाभ नही पहुँच सकता। भूगोलके विषयको देखकर तो कलेजा काँपने लगता है, हृदय उमड़कर अश्रुधारा बहने लगती है। हाय इन कच्चे हृदय वाले दीन-हीन विद्यार्थियोके कोरे घटरूप चित्तमे हीगकी दुर्गन्धरूप भूगोल विद्याकी वासना ऐसे दृढ रूपमें समाविष्ट हो जाती है कि कोटि-यत्न करने पर भी वह नही निकलती। जो विद्यार्थी इन्ट्रेंस एफ० ए० और बी० ए० की हवा खा चुकते है, उनके हृदयमें सर्वज्ञके ज्ञानकी परम्परासे अनुवासित प्राचीन नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके रचे हुए गोम्मटसार और त्रैलोक्यसार जैसे महान् ग्रन्थ कपोल-कल्पित प्रतीत होने लगते है। जैनाचार्यो द्वारा निरूपित लोक-व्यवस्था उनके हृदयमें झूठी प्रतीत होती है। वे यह समझते हैं कि आधुनिक विज्ञानियो द्वारा निर्बाधित सत्य कभी कपोल-कल्पित नहीं हो सकता। उनका यह सोचना वैसा ही है, जैसा काछिन द्वारा अपने बेरोंका खट्टा न स्वीकार किया जाना है। जब तक भूगोलवेत्ताओंकी युक्तियोंका सप्रमाण खण्डन न उपस्थित किया जाय तबतक जैनों द्वारा सम्मत लोकके स्वरूपको कौन स्वीकार करेगा? विद्यानन्द स्वामि द्वारा विरचित श्लोकवार्तिकभाष्यके तीसरे और चौथे अध्यायके अध्ययनसे यह सिद्ध हो जायेगा कि वर्त्तमान भूगोलमें कितनी त्रुटियाँ है और पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्त कितने अकाट्य है।"

"पाँचवां विषय पदार्थविद्या या विज्ञान है। कुछ छात्र तर्कशास्त्र ( Logic ) का अध्ययन करते हैं, पर जिन्होंने संस्कृतके न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थोंका पारायण किया है वे भलीभाँति जान सकते है कि अंगरेजीके ग्रन्थोंमें लिखे गये तर्कशास्त्रका जहाँ अन्त होता है, वहाँसे भारतीय न्यायशास्त्रका आरम्भ होता है। वास्तवमें संस्कृत न्यायका विषय बहुत ही जटिल और गम्भीर है। बुद्धिका वास्तविक विकास भारतीय न्यायके अध्ययन द्वारा ही सम्भव है[1]।"

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि गुरुगोपालदासजी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतिसे असन्तुष्ट थे। वे इस प्रकारकी शिक्षा-पद्धतिके पक्षपाती थे जो भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके सूक्ष्म तत्त्वोंकी जानकारी दे सके। वास्तवमें शिक्षाके दो भेद है— (१) सही शिक्षा और (२) अच्छी शिक्षा। सही शिक्षाका तात्पर्य यह है कि शिक्षा विषयोंके अनुसार वर्गीकृत पद्धति पर दी जाय, जिससे अधिकसे अधिक आचार्य, लेखक और कवियोंकी रचनाओं और उनके इतिवृत्तोंकी जानकारी प्राप्त की जा सके। किसी भी एक लेखककी समस्त रचनाओंका अध्ययन-अध्यापन उतना महत्त्व नहीं रखता है जितना समीक्षात्मक ढंगसे उस लेखककी कृतिके किसी एक अंशका अध्ययन। सभी विज्ञ उस तथ्यसे सुपरिचित है कि समालोचना करनेमें ग्रन्थके एक अंशसे ही सम्बन्धित नही रहा जाता, बल्कि समग्र ग्रन्थसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जब आलोचकको किसी कवि या लेखकके किसी मान्य सिद्धान्तकी समीक्षा करनी होती है तो उसे अपने उस सिद्धान्तके अनुसार उस लेखककी रचनाका गहन अध्ययन करना पड़ता है। इतना ही नही, तुलनात्मक विवेचनके लिए सम-सामयिक

१. जैनमित्र, वर्ष १, अंक ४, पृष्ठ, २–४।

लेखक और कवियोंकी वैसी ही रचनाओंका अध्ययन कर समता और विषमताओंका विश्लेषण भी करना होता है। अतः सही शिक्षाके अन्तर्गत जिन विषयोंका अध्ययन किया जाता है, उनका सर्वाङ्गीण रूपमें अनुशीलन करना आवश्यक होता है। सही शिक्षा सम्पादित करनेके लिए शिक्षा-शास्त्रियोंने निम्नलिखित बातोंको आवश्यक माना है—

१. विषयोंका वर्गीकृत अध्ययन।

२. वाङ्मयके बहुमूल्य विशिष्ट अंशोंका अध्ययन एवं उस अध्ययनके आधार पर नवीन निष्कर्ष और मान्यताओंकी स्थापना।

३. तुलनात्मक अध्ययन—पाठ्य विषयोंका सम-सामयिक एवं समविधाओंके आधारपर तुलना करते हुए मूल्योंकी स्थापना।

४. विषयोंकी सम्यक् जानकारीके हेतु शिक्षार्थी और शिक्षकका निकट-सम्पर्क—शिक्षा समयके अतिरिक्त अन्य समयमें भी चर्चा और वार्तालाप द्वारा अध्ययन-सम्बन्धी विषय-गुत्थियोंका सुलझाना, शिक्षार्थीके हृदयमें शिक्षाके प्रति अभिरुचि जागृत करना, शिक्षकके चरित्र द्वारा शिक्षार्थीका प्रभावित होना एवं जीवन-यापनकी योग्यता उत्पन्न करनेवाली कलाकी प्राप्त करना।

५ शिक्षाके साथ अपने हाथमें कार्य करनेकी क्षमता, प्रवृत्ति एवं प्राकृतिक वस्तुओंको उपयोगमें लानेकी कलाकी जानकारी।

अच्छी शिक्षाका तात्पर्य उस शिक्षासे है, जो आत्मा और शरीरके सम्बन्धमें पूर्ण जानकारी प्रस्तुत करती है। लौकिक और पारलौकिक दृष्टियोंसे जो वस्तुएँ उत्पादनकी क्षमता रखती हैं, उन वस्तुओंका यथार्थरूपमें उपयोग करनेकी कलाका सिखलाना भी अच्छी शिक्षाका उद्देश्य है। इसमें शिक्षा इस प्रकारकी वैज्ञानिक पद्धति पर दी जाती है, जिसमें व्यक्ति आत्मा, शरीर और मनको स्वस्थ रखनेकी कलामें परिचित होता है। यदि सही शिक्षाका हम कारण मानें तो अच्छी शिक्षाको उसका कार्य मान सकते हैं। जिन लौकिक और पारलौकिक विषयोंकी शिक्षा वर्गीकृत वैज्ञानिक-पद्धतिसे दी जा रही है, उसका प्रायोगिक ज्ञान यहाँ अपेक्षित है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्तिने जलके गुण-दोष आदिका अध्ययन किया। इस अध्ययनके विषयका प्रयोगमें लाया जाना अर्थात् गुण-दोषोंको प्रायोगिक अभ्यास द्वारा प्रकट कर देना अच्छी शिक्षा है। वास्तवमें सही शिक्षा श्रेष्ठ वातावरण और समुचित साधन प्रस्तुत करती है तो अच्छी शिक्षा उस वातावरण और साधनोंका जीवनमें प्रयोग और उपयोग कर दिखलाती है। यह शिक्षा शिक्षार्थी और शिक्षककी योग्यता पर ही आधृत है। यदि उक्त दोनों प्रतिभा-सम्पन्न न हों तो सही शिक्षा और अच्छी शिक्षामें कोई विशेष अन्तर परिलक्षित न होगा। बौद्धिक और आत्मिक विकासके लिए अच्छी शिक्षामें अपने शिक्षकों और गुरुओंके अतिरिक्त अन्य स्थानके प्रौढ़-विद्वानोंसे भी सहायता लेनी पड़ती है। भाषण-माला एवं अध्ययन-गोष्ठियोंका आयोजन भी अच्छी शिक्षाका एक अंग है। इन कार्यक्रमोंसे छात्रोंका बौद्धिक विकास होता है और विषयका अल्पसमयमें गम्भीर अध्ययन भी।

## शिक्षाका माध्यम

गुरु गोपालदासजीने शिक्षा-पद्धति पर बहुत सुन्दर ढंगसे विचार किया है। वे शिक्षाका माध्यम मातृभाषाको मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"भाषाओंके दो भेद हैं—मातृभाषा और इतर भाषा। मातृभाषाके लिखने पढ़ने और सीखनेमें जितने परिश्रमकी आवश्यकता है, इतर भाषाके सीखनेमें उससे कई गुने परिश्रमकी आवश्यकता होती है। संस्कृत और अंग्रेजी हमारी मातृभाषा नहीं है। इसलिए इन भाषाओंका पाण्डित्य प्राप्त करनेमें अधिक समय लगता है। संस्कृत मातृभाषा न होने पर भी हमारी संस्कृतिकी भाषा है, अतः अंग्रेजीकी अपेक्षा इसके अध्ययनमें भी कम समय लगता है। मातृभाषा या संस्कृतिकी भाषाका सम्बन्ध हमारे रक्तके साथ रहता है अतः इनके अभ्यासमें बहुत थोड़ा समय लगता है। यूरोप, अमेरिका आदि देशोंने शिक्षाके क्षेत्रमें इसीलिए विकास किया है कि वे प्रत्येक विषयकी शिक्षा अपनी मातृभाषाके द्वारा सम्पन्न करते हैं हमारे भारतवासी अत्यन्त भोले हैं और हैं वे लकीरके फकीर। विदेशियोंकी देखादेखी शिक्षाका माध्यम विदेशी भाषाको रखे हुए हैं। विद्यार्थियोंका बहुमूल्य समय विषयसे अधिक भाषाके सीखनेमें चला जाता है। अतः विषयका सम्यक् परिज्ञान नहीं हो पाता है। शिक्षाका माध्यम मातृभाषाको मान लिया जाय तो अध्ययनके क्षेत्रमें समय और शक्तिकी पूरी बचत हो सकती है। विदेशी भाषाको माध्यम स्वीकार करनेमें एक अन्य कठिनाई यह भी उपस्थित होती है कि विषयका सम्यक् परिज्ञान अधिक शक्ति खर्च करने पर भी प्राप्त नहीं होता। अतः देशके व्यय-भारको कम करने एवं सुकुमार छात्रोंकी शक्तिकी बचतके लिए शिक्षाका माध्यम अंग्रेजीके स्थानमें मातृभाषाका होना नितान्त

आवश्यक है। भाषा और साहित्यकी दृष्टिसे अंग्रेजीका अध्ययन बुरा नहीं पर उसीको सर्वस्व मानकर ज्ञानविज्ञानका माध्यम उसे बनाना तर्कसङ्गत नहीं है। शिक्षा जैसा पवित्र कार्य मानव-हितके लिए सम्पन्न किया जाता है, अतः इसका वैज्ञानिक क्रम यही है कि शिक्षाका माध्यम ऐसा होना चाहिए जिससे अल्प-समयमें विषयकी पूरी जानकारी प्राप्त की जा सके।"

स्पष्ट है कि आजसे ६५ वर्ष पूर्व गुरु गोपालदासजीने वही बात कही थी जिसे आज बडे-बड़े शिक्षाशास्त्री कह रहे है। विदेशी भाषाके माध्यम रहनेसे हमारे विद्यालय और महाविद्यालयोंमे अधिक समय और शक्ति खर्चकी जा रही है। मातृभाषाको माध्यम बनानेसे हमारी शिक्षा-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ सहजमे सुलझ सकती है। अच्छी शिक्षाके अनेक गुणोंमें मातृभाषाका शिक्षाका माध्यम होना भी एक गुण है।

## शिक्षा-संस्थाओंके भेद

प्राचीन वाङ्मयमें शिष्योंकी योग्यता, अवस्था और ज्ञानपिपासाके आधार पर शिक्षा-संस्थाओका वर्गीकरण उपलब्ध होता है। वर्त्तमानमे आरम्भिक पाठशाला, माध्यमिक विद्यालय, उच्च विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्व-विद्यालयोंके रूपमें शिक्षा-संस्थाओका वर्गीकरण पाया जाता है। गुरु गोपालदासजीने शिक्षा-संस्थाओंको निम्नाङ्कित वर्गोंमे विभक्त किया है—

१. प्राथमिक शिक्षालय ( Primary Schools )
२. प्रवेशिका विद्यालय ( Anglo Vernacular High Schools )
३. भाषा महाविद्यालय ( Vernacular Language and Literature Colleges )
४. संस्कृत महाविद्यालय ( Sanskrit Colleges )

## पाठ्यक्रम और शिक्षाके विषय

पाठ्यक्रम और अध्ययनीय विषयोका निर्धारण करना शिक्षा-शास्त्रका एक आवश्यक तत्त्व है। इस कार्यके सम्पादनके लिए विषयज्ञ व्यक्तियोकी समितियोका गठन किया जाता है। वर्त्तमान समयमें हमारी शिक्षा-प्रणाली सदोष है, अतः कौन-कौनसे विषयोंका अध्ययन अध्यापन हमारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकासके लिए उपयुक्त होगा, इसका समुचित निर्णय आज भी नही हो सका है। युगपुरुष गोपालदासजी एक चिन्तनशील विद्वान् थे, अतः उन्होंने युगानुकूल अध्ययनीय विषयोका पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया था। वे आचार, नीति, धर्म, दर्शनकी शिक्षाके साथ आजीविका सम्पादित करनेवाली शिक्षाको भी महत्त्व देते थे। उन्होंने पाठ्यक्रमकी समीक्षा करते हुए लिखा है—

"कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका एक जीव उद्धार॥"

स्पष्ट है कि आजीविका प्राप्ति और आत्मोत्थान करना ही शिक्षाका वास्तविक लक्ष्य है। अतः पाठ्यक्रम भी ऐसा ही होना चाहिए जो उक्त दोनों ही उद्देश्योकी पूर्त्ति कर सके। उन्होंने आगे लिखा है—

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥"

धर्म-पुरुषार्थ और अर्थ-पुरुषार्थकी कारण-भूत धार्मिक और औद्योगिक विद्याओंका अभ्यास करना परमावश्यक है। जीवन अत्यल्प है और उसमें भी बहुतसे विघ्न लगे हुए हैं अतएव जो आत्मोत्थान और जीविकाके लिए आवश्यक हो, उसीका अध्ययन करना चाहिए। गुरुजीने शिक्षाको भारतीय-विद्या कहा है और उसे तीन खण्डोंमें विभक्त किया है—

१. भाषा-विद्या।
२. मूलविद्या।
३. सहकारिणी विद्या।

भाषाविद्याका तात्पर्य है—भाषा और साहित्यका प्रौढ परिज्ञान प्राप्त करना। उसे उन्होंने तीन उपखण्डोंमे विभक्त किया है—

१. मातृभाषा साहित्य ( Vernacular Literature )
२. अंग्रेजी साहित्य ( English Literature )
३. संस्कृत साहित्य ( Sanskrit Literature )

गोपालदासजीने संस्कृत-साहित्यसे संस्कृति-मूलक समस्त प्राचीन भाषाओं और साहित्यको ग्रहण किया है। प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाएँ संस्कृत साहित्यसे अभिप्रेत हैं। भाषा-साहित्यसे उनका अभिप्राय हिन्दी, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, बङ्गला प्रभृति देश-भाषाओंसे है। वे देश-भाषाओं और उनके साहित्यका अध्ययन ज्ञानके लिए आवश्यक मानते थे। अंग्रेजी साहित्यसे उनका अभिप्राय सभी विदेशी भाषाओं और उनके साहित्यके अध्ययनसे है। छात्र अपनी भिन्न-भिन्न रुचिके अनुसार तीन भाषाओंका ज्ञान अवश्य प्राप्त करें—विदेशी भाषा, मातृभाषा एवं सांस्कृतिक भाषा चाहे वह संस्कृत हो, प्राकृत हो या अरबी पर्सियन आदि कोई भी हो।

पाठ्य-विषयोंमें दूसरे विषयको उन्होंने मूलविद्या कहा है। मूलविद्याको दो वर्गोंमें विभक्त किया है—आध्यात्मिक विद्या और औद्योगिक विद्या। आध्यात्मिक विद्यामें प्रथमानुयोग ( History Myths ) चरणानुयोग ( Ethics ) करणानुयोग ( Geography and Astronomy ) और द्रव्यानुयोग (Science and Philosophy) के अध्ययनको परिगणित किया है। औद्योगिक विद्याके अन्तर्गत कृषिविद्या, भूगर्भविद्या ( Agriculture and Mining ), मसिविद्या ( Book-keeping and Accountancy ), वाणिज्यविद्या ( Trade, Commerce and Banking ), शिल्पविद्या (Engineering and Technology), कलाविद्या (Music, Fine-arts, Painting etc.) एवं शस्त्रविद्या परिगणित की है। सहकारिणी विद्यामें गणित, ज्योतिषी, वैद्यक, कानून ( Law ) नीतिविद्या आदिकी गणना की गई है। इस प्रकार गुरु गोपालदासजीने शिक्षाके सम्बन्धमें अपने विस्तृत विचार व्यक्त किये हैं। वे जीवन-विकासके लिए संस्कृत और धर्मशिक्षाको अनिवार्य मानते थे। उन्होंने पाश्चात्य पद्धति पर सञ्चालित कॉलेजोंकी शिक्षाका विरोध किया था। वे आत्मशोधनके लिए सांस्कृतिक शिक्षाको ही कार्यकारी मानते थे।

# गुरु-गोपाल-वाणी

डा० राजाराम जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०
एच० डी जैन कालेज, आरा

●

गुरु गोपालदासजी वरैया अपने युगके महापण्डित, गम्भीर विचारक, संवेदनशील साहित्यकार, ओजस्वी वक्ता एवं कुशल पत्रकार थे। जीवन-व्यापी संघर्षोंके बीच उनका ज्ञान प्रखर होता गया एवं स्वानुभूतिके माध्यमसे समाज एवं राष्ट्रके हृदयकी धड़कनका उन्होंने सही निदान करनेका अथक प्रयास किया। समाजके ज्ञानको आधुनिकतम बनाने हेतु उन्होंने 'जैनमित्र'[1] नामक पत्रका सम्पादन एवं युवकोंको कथासाहित्यके माध्यमसे सुबुद्धि-नैतिकता एवं करणानुयोगका पाठ पढ़ाने हेतु सुशीला[2] नामक उपन्यास, जैनदर्शन एवं सिद्धान्तोंके रहस्योंका उद्घाटन करने हेतु 'जैनसिद्धान्त दर्पण'[3] एवं 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका'[4] का प्रणयन एवं प्रकाशन किया था। इनके अतिरिक्त 'जैन भूगोल'[5], 'जैनदर्शन'[6] एवं 'जैनविद्या'[7] पर उनके समय-समयपर शोध-निबन्ध आदि प्रकाशित होते रहे, जो कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी उक्त साहित्यिक कृतियोंमें व्याप्त सरस, रोचक एवं मार्मिक उक्तियोंमेंसे कुछको पाठकोंके लाभार्थ यहाँ वर्गीकृत रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

## अदृष्ट

राजासे रंक बनना और रंकसे छत्रधारी बनना कर्मोंका ही कृत्य है। कर्मोंकी दृष्टिमें धनवान्, दरिद्री, विद्वान्, मूर्ख, बलवान् एवं शक्तिहीन सभी एक हैं। (सुशीला० पृ० १४७)

कालकी गति बड़ी विचित्र है। प्रातःकाल जहाँ आनन्दध्वनि सुनाई पड़ती है, वहीं सन्ध्याकालको घोर हाहाकार मच जाता है। वर्ष दिन पूर्व जो राजसिंहासनपर विराजमान था, आज वही रंकोंकी तरह गली-कूचोंमें मारा-मारा फिरता है। (जैनहितैषी ७।६ पृ० ८१)

संसारकी महिमा अद्भुत है। उसके सभी पदार्थोंकी स्थितिमें समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है। जिसको कल हाथीपर सवार मस्तकपर छत्र सहित देखा था, वही दुर्भाग्यवश विपत्तिमें पड़ जाता है और मिट्टीकी टोकनी सिरपर रख नंगे पाँव सड़कपर मजदूरी करता है। (जैनमित्र ३।५-६ पृ० १०)

पुण्योदयके क्षय होनेपर प्रतापवानोंकी भी अधोदशा होती है। (सुशीला० पृ० १७)

लोकबन्धन दुर्निवार है। (सुशीला० पृ० २२)

चोर जिस धनकी चोरी करके लाता है, उसका उपभोग तो उसके समस्त कुटुम्बीजन करते हैं, किन्तु जेलखानेकी हवा उस बेचारे अकेलेको ही खानी पड़ती है। (सुशीला० पृ० २९)

धर्मकृत्यको दैवके ऊपर छोड़कर पौरुषहीन हो जाना युक्तियुक्त नहीं। (सुशीला० पृ० ३०-३१)

पुरुषार्थसे सब कुछ हो सकता है। पुरुषार्थ करना परम धर्म है। भाग्य कोई वस्तु नहीं। (सुशीला० पृ० ६१)

न तो असत्य भाषणसे धन पैदा होता है और न सत्य भाषणसे वह चला जाता है। धनके आने-जानेका मुख्य कारण तो लाभान्तराय कर्मका अनुदय-उदय है। (जैनमित्र १।५ पृ० १४)

---

१. दि० जैन सभा बम्बईका मासिकपत्र, जिसका प्रकाशन जनवरी १९०० ई० से प्रारम्भ हुआ तथा जो अपने प्रकाशनके सातवें वर्षमें कार्तिक शुक्ला १ वि० सं० १९६२ से पाक्षिक-पत्र बन गया।

२-४ जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित।

५-७ जैनमित्र एवं जैनहितैषी नामक पत्रोंमें क्रमशः प्रकाशित निबन्ध।

## विवाह

व्यवहार-प्राप्त होनेपर ही कन्याओंका विवाह करना योग्य है। (सुशीला० पृ० ३९)

विवाह-कार्य गुड़ियोंका खेल नहीं, वह बड़ा गम्भीर एवं विचारणीय कार्य है। (सुशीला पृ० ४१)

अयोग्य वरको कन्या देनेकी अपेक्षा उसे एक कुएमें पटक देना अच्छा है। (सुशीला० पृ० १०९)

योग्य अवस्थामें स्त्रीकी मृत्यु हो जानेपर दूसरा विवाह कर लेना अनुचित नहीं। (सुशीला० पृ० २४०)

विधवा-विवाहका अर्थ है उत्तम कुलवालोंको खोटी दलीलोंसे विषयासक्त करके घृणित कार्योंकी ओर उत्साहित करना और भारतीय नारीके शीलको भंग करना। (जैनमित्र ३।७-८ पृ० १७)

जो माता-पिता द्रव्य लेकर अपनी कन्याका विवाह करते हैं, उनसे पूछनेपर उत्तर मिलता है कि बिरादरीके लोगोंका भोजनादिसे सत्कार करनेके लिये हमे द्रव्यकी आवश्यकता होती है, और ऐसा होता भी है क्योंकि उससे मिले हुए द्रव्यको प्राय पंच लोग ही खा जाते हैं। इस हिसाबसे यदि विचार किया जाय, तो कन्या-विक्रयके महापापके भागी बिरादरीके पंच लोग ही होते है। यदि ये लोग ऐसे निर्धन पुरुषोंके यहाँ भोजनादि करना छोड़ दें और कन्या-वालेको यह समझा दें कि किसीसे धनकी याचना मत कर, सूखी हल्दी मात्रसे टीका कर दे, हम तेरी कन्याका विवाह आनन्दके साथ बिना कुछ खर्च कराये करा देंगे। तब शीघ्र ही उक्त दुष्प्रथा बन्द हो जायगी।

(जैनमित्र ७।१८-१९ पृ० २२५-२२६)

अनमेल विवाह एवं कन्या-विक्रयके बन्द होनेसे समाजका एक बड़ा भारी उपकार यह होगा कि गहरी रकमोंके लोभमें फँसाकर जो बुड्ढे चाण्डाल मरते दम तक अपना विवाह करके निरपराध अबोध कन्याओका गला काटते हैं और उन्हें वैधव्यके घोर दुःखमे पटककर समाजमे भ्रूणहत्यादि पापोंका प्रसार करते है, वे शान्त हो जावेंगे। वृद्ध विवाह और अयोग्य विवाह एकदम बन्द हो जावेंगे। (जैनमित्र, वही)

## विषय-वासना

विषय-शत्रु जनित दुःखोको भोगनेकी अपेक्षा कालके गालमे प्रवेश करना उत्तम है। (सुशीला० पृ० २८)

इन्द्रिय जनित सुख पराधीन, परिणाममें दुखदाई एवं केवल अविचारित रम्य है। (वही पृ० ९९)

धधकती हुई अग्निकी दाह भी विषयदाहके सामने झक मारती है। (सुशीला वही०)

अत्यन्त रुष्ट राजा जो कुछ दण्ड दे सकता है, विषय-शत्रुका दण्ड उससे कही बढ़कर है। (सुशीला० वही०)

अनिरुद्ध कालकूटके विपाकसे भी विषयोका विपाक अतिभयानक है। (सुशीला० वही०)

आशीविष जातिके सर्पोंके विषसे भी इन विषम विषयोका विष उग्रतर है। (सुशीला० वही०)

यदि नदियोंके जलसे समुद्र तृप्त हो जाय और ईन्धनसे अग्नि तृप्त हो जाय तब कदाचित् यह प्राणी भी विषयो से तृप्त हो सकता है। (सुशीला० २८-२९)

यह जीव रंचमात्र विषय-सुखकी लालसासे कैसे-कैसे उग्र दुःख भोगता है। परन्तु जिन्हे इसने सुख मान रखा है, उन विषयोंमें वास्तविक सुखका नाम-निशान भी नही है। जो दुःख अत्यन्त क्रूर व्याघ्रादि जीवोके कारणसे होता है, उससे भी अधिक दुःख इस विषय-शत्रुके संसर्गसे सहने पड़ते हैं। (सुशीला० वही०)

जब श्वान हड्डीको मुखमे डालकर चूसता है, तब हड्डीकी तीक्ष्ण नोकोसे छिदकर उसके मुखमेसे ही रुधिर निकलता है, जिसके आस्वादनसे वह अपनेको सुखी मानता है। ठीक वैसी ही अवस्था कामिनी-संभोगमें है। कामिनी-संसर्गसे निजतनुजनित स्वेद-विशेषके निकलनेसे ही यह प्राणी अपनेको सुखी मानता है। (सुशीला० पृ० ३०)

यदि सच्चे सुखकी अभिलाषा है तो संसार-मार्गसे विरक्त होकर मोक्षमार्गमें रमण करो, विषयोंका संग छोड़कर ज्ञानका संग करो और युवति-सुखको छोड़कर शम-सुखका अवलम्बन करो। (सुशीला० पृ० ३०)

## नारी

गृहस्थधर्मका निर्वाह बिना स्त्रीके सम्भव नहीं। जिस घरमे स्त्री नही, उस घरमे शान्ति नही, सुख नहीं, विश्राम नहीं एवं वहाँ लक्ष्मीका निवास भी सम्भव नहीं। (सुशीला० पृ० २४१)

स्त्रीरत्न विषयवासनाकी निवृत्तिका उपकरणमात्र नहीं है किन्तु मोक्षस्वरूप गृहस्थमार्गका पथप्रदर्शक दीपक है। संसारमें रहकर जो इस रत्नकी अवहेलना करते है, उन्हे सुख शान्ति नहीं मिलती। (सुशीला० वही०)

स्त्रीके समान सुदक्ष मंत्री, स्त्रीके समान सच्चा स्वामिभक्त सेवक, स्त्रीके समान सुस्वादु भोजन करानेवाला पाचक, स्त्रीके समान परिश्रम निवारक दिव्यमंत्र एवं स्त्रीके समान चिन्ता-खेद नाशक नन्दनवनके समान संसारमें दूसरा पदार्थ नहीं। (सुशीला० वही०)

गृहस्थ-जीवनके सम्पूर्ण सुख पति-पत्नीकी अनुकूलता, गृहकार्योंमें सुदक्षता, गुरुजनोंकी सेवा और देवगुरुशास्त्रकी सच्ची भक्तिमें है। (सुशीला० वही०)

स्त्रियोंके सम्पूर्ण गुणोंकी प्रतिष्ठा उसके शीलव्रतसे हैं। (सुशीला० पृ० २५)

## प्रेम

प्रेममें द्वित्व नहीं है! वह सबको एक दृष्टिसे देखता है। एक कौपीनाशेष दरिद्री और कुबेर सदृश धनिकमें एक रूपसे ही प्रवेश करता है। (सुशीला० पृ० १९०)

प्रेमके समदृष्टि राज्यमें 'निज' और 'पर'का भेदभाव नहीं है। (सुशीला० वही०)

प्रेमराज्यकी सीमामें प्रवेश करते ही 'पर' को 'निजत्व' प्राप्त हो जाता है अथवा 'निजत्व'का भी लोप होकर 'एकत्व'—'एकप्राणत्व' हो जाता है। (सुशीला० वही०)

'पर' शब्दकी व्युत्पत्ति प्रेमशास्त्रमें है ही नहीं। (सुशीला० वही०)

प्रेमका आस्वादन करनेपर समस्त संसार प्रेममय ही दिखता है। (सुशीला० वही०)

प्रेमके बिना जीवन भारभूत है, मर्कटके गलेका हार है अथवा शवका शृंगार है। (सुशीला० वही०)

चिर वियोगके पश्चात् शुभ मिलनके समय रोदन ही सबसे बड़ा सुख है। (सुशीला० पृ० ३०६)

## शिक्षा

विद्यार्थियोंको यदि केवल धर्म-विद्या पढाई जावे तब रोजगारके बिना गृहस्थाश्रमका निर्वाह दुःसाध्य होगा। अतः धर्म-विद्याके साथ-साथ लौकिक विद्या अवश्य पढाई जानी चाहिए। (जैनमित्र २।६ पृ० ४)

जिस जातिमें लौकिक और पारमार्थिक विद्या एवं असंख्य धनके धनी लोग होते हैं, वही जाति जगत्‌में उन्नत एवं मान्य समझी जाती है और जो जाति धन और विद्यासे शून्य होती है, वही अवनत और हीन गिनी जाती है।

(जैनमित्र १।१ पृ० १)

धार्मिक और लौकिक दोनो ही विद्याओंका एक साथ पढना अत्यावश्यक है किन्तु लौकिक विद्याओंमें भी मात्र अंग्रेजोंके लिये ही ताम्रपत्र पर अधिकार नहीं मिला है कि बिना अंग्रेजी पढे आजीविका मिल ही नहीं सकती।

(जैनमित्र १।६ पृ० २)

किसी जातिकी उन्नतिका होना उस जाति सम्बन्धी विद्यालयोंकी शिक्षा-प्रणालीकी उत्तमता पर निर्भर है।

(जैनमित्र २।६ पृ० ४)

अपनी धर्मविद्यारूपी जननीसे विमुख होकर आंग्ल-विद्यारूपी विमाताकी गोदका जो आश्रय लेनेको उत्कण्ठित रहता है, उससे बड़ा अभागा कौन होगा? (जैनमित्र २।७ पृ० ४)

हमें उनकी बुद्धिपर तरस आता है जिन्हे अंग्रेजीके वाक्य सर्वज्ञके वाक्योंसे बढ़कर दिखते है।

(जैनमित्र २।७ पृ० ४)

मनुष्यभवकी सफलता विद्यामें है और पाठशालाओंको ध्रुव किये बिना संस्कार एवं विद्याकी वृद्धि असम्भव है।

(जैनमित्र ३।३ पृ० ५)

उन्नतिके मूल दो भेद है—एक तो पारमार्थिक उन्नति और दूसरी लौकिक उन्नति। इन दोनों ही प्रकारकी उन्नतियोंके मुख्य साधक विद्या, धन एवं एकता हैं और मुख्य प्रतिबन्धक, ईर्ष्या, दुरभिमान एवं कुरीति प्रचार है।

(जैनमित्र १।४ पृ० २)

कार्यसिद्धि ज्ञानपूर्वक ही होती है। (जैनमित्र १।४ पृ० १)

## समाज

कुछ पीढियोंके बाद कलंकित कुल भी शुद्ध हो जाते हैं एवं ५-७ पीढियोंके आचार तथा व्यवसायके परिवर्तनमे शूद्र भी वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण हो सकता है। (जैनहितैषी ७।१२ पृ० १५)

उन्नतिका मार्ग विरोधियोंकी डाढ़ोंमें है। (जैनमित्र २।६ पृ० १)

विचारशील पुरुषोंका कर्तव्य है कि जिस कार्यके करनेकी इच्छा हो उसमे पहले उसकी आदि, मध्य एवं अन्तकी अवस्थाका विचारकर परिपाकका निश्चय कर लें। (जैनमित्र २।६ पृ० ४)

यदि समाजको जीवित रखना है तो उसमें धार्मिक-विद्यावृद्धिका उपाय सोचो। (जैनमित्र २।७ पृ० ५)

बारह वर्षसे कम उमरके बालकोंको गहना पहिनाना बड़ी भारी मूर्खता है और उसको बिना मौत मार डालना है। (जैनमित्र २।५ पृ० १०)

समाजमे व्यर्थ व्ययके जो-जो रिवाज है उनपर विचार करके जो अनुचित लगे उन्हें अवश्य रोक देना चाहिए। (जैनमित्र ३।१-२ पृ० १४)

दूसरोंके दोप-सम्बन्धमे मूक-प्रवृत्तिका अवलम्बन करो। (सुशीला० पृ० ३१)

गृह-जंजालमें फँसे हुए जीवको एकान्त मिलनेसे आनन्दकी जगह निरानन्दका अनुभव होना है। (सुशीला० पृ० ५५)

जहाँ योगियोंको शान्ति मिलती है वही गृहजंजालियों पर अशान्तिका पहाड टूट पडता है। जहाँ उन्हे सर्वथा निराकुलता प्राप्त होती है वहाँ संसारी-जीवोंको तमाम चिन्ताएँ एकदम आ दबाती है। (सुशीला० वही०)

स्त्रियोंपर विश्वास करना बड़ी भारी भूल है। वे कपट और कुटिलताकी साक्षात् प्रतिमूर्तियाँ है। (वही० पृ० ९७)

बेईमानके दोनों लोक बिगडते है। (सुशीला० पृ० ३१)

स्त्रियोंकी बुद्धि बाहरी दृश्योंमे शीघ्र ही अनुरक्त हो जाती है। (सुशीला० पृ० ४१)

## दार्शनिक विचार

यदि सत् स्वरूपसे ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न माना जाय तब परस्परमे दोनोंके अभावका प्रसंग आ जायगा। क्योंकि ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञानके होनेपर ही ज्ञेय हो सकता है तथा ज्ञेयके होनेपर ही ज्ञान हो सकता है क्योकि ज्ञान ज्ञेयका परिच्छेदक है। इस प्रकार भेद एकान्तमे अनेक दोष आते है। अत. वस्तुका स्वरूप कथंचित अभेद रूप है और कथंचित् भेदरूप है। अपेक्षाके बिना भेद तथा अभेद एक भी सिद्ध नहीं हो सकते। (जैन सिद्धान्त दर्पण, पूर्वार्द्ध पृ० ६३)

जैन सिद्धान्तोमे "सद्द्रव्य लक्षणम्" तथा "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" इस प्रकार द्रव्यके दो लक्षण किये हैं। इन दोनो लक्षणोमे परस्पर विरोध नही है किन्तु अपेक्षाविशेषसे वाक्यान्तर प्रवेश द्वारा दोनो एक ही अभिप्रायके समर्थक हैं। सम्पूर्ण पदार्थोमे कुछ न कुछ शक्ति अवश्य होती है जैसे जलमे तृषानाशक शक्ति भोजनमे क्षुधा नाशक शक्ति और आत्मामे जाननेकी शक्ति है। गुण, स्वभाव, विशेष, शक्ति इत्यादि एकार्थवाची है। जैसे कि एक आमके फलमे भिन्न-भिन्न इन्द्रिय गोचर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि अनेक गुण देखे जात है उसी प्रकार जीव, पुद्गल इत्यादि प्रत्येक द्रव्यमे अनन्त गुण है। इसका अर्थ ऐसा नही है कि जैसे एक थैलीमे बहुतसे रुपये है उसी प्रकार एक द्रव्यमे बहुतसे गुण हैं। क्योंकि जिस प्रकार थैली और रुपये भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न नही है किन्तु जिस प्रकार मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प और फलोंके समुदायको वृक्ष कहते है तथा मूल स्कन्धादिकसे वृक्ष कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार गुणोंका जो समुदाय है वही द्रव्य है। (Jain Philosophy 2)

शक्ति (गुण) दो प्रकारकी होती है एक भाववती शक्ति और दूसरी क्रियावती शक्ति। द्रव्यके ज्ञानादिक स्वभावोंको भाववती शक्ति कहते हैं। द्रव्यको उस शक्तिको, जिसके निमित्तसे द्रव्यमें प्रदेश परिस्पन्द (चलन) होकर

आकार विशेषको प्राप्ति होती है, क्रियावती शक्ति कहते है। इसीका दूसरा नाम प्रदेशवत्त्व है। गुणके परिणमनको गुणपर्याय कहते है और जब गुणके दो भेद हैं तब गुण-पर्यायके भी दो भेद हुए अर्थात् अर्थगुणपर्याय और व्यञ्जनगुणपर्याय। भाववती शक्तिके परिणमनको अर्थगुणपर्याय और क्रियावती शक्तिके परिणमनको व्यञ्जनगुणपर्याय कहते है। (Jain Philosophy Page 2–3)

प्रत्येक पदार्थमे स्वभाव और विभाव दो प्रकारकी शक्तियाँ रहती है। स्वभाव स्वकृत शक्ति है और विभाव विकार शक्ति है। स्वभाव शक्ति कभी नष्ट नही होती, किन्तु विभाव शक्ति विकार कारणोके पृथक् होते ही नष्ट हो जाती है और जब तक विभाव शक्ति व्यक्त रहती है तब तक स्वभाव शक्ति अव्यक्त रहती है और उस अव्यक्त अवस्थामे ही अल्पबुद्धि समझ नही सकते कि उसका अस्तित्त्व है अथवा नही। (सुशीला० पृ० २१२)

जितने कार्य होते है वे सभी कारण पूर्वक होते है, किन्तु एक कार्यके होनेमे अनेक कारणोकी आवश्यकता होती है। जिनमे काल भी एक प्रमुख कारण है। (जैन हितैषी ७।६ पृ० १)

जिस प्रकार कार्यकी सिद्धिमे अनुकूल कालको कारणाशता है उसी प्रकारसे पुरुष-प्रयत्नको भी कारणाशता है। इसलिये यदि कोई यह समझकर कि 'जब अनुकूल काल आवेगा, तब स्वय ही कार्य सिद्ध हो जायगा' उद्योगमे—पुरुषार्थ करनेमे शिथिल हो जाय, तो उसका कार्य अनुकूल काल प्राप्त होनेपर भी सिद्ध न होगा।

(जैन हितैषी पृ० २)

किसी वस्तुको अन्य वस्तुओमे भिन्न करनेवाला वही धर्म होगा जिसमे तीन बाते पाई जावे अर्थात् प्रथम तो जिसकी लक्ष्यमे वृत्ति सम्भव हो, दूसरे, उस जैसे समस्त लक्ष्योमे व्यापै और तीसरे लक्ष्य भिन्न जो अलक्ष्य हैं उसमे न व्यापै। जिस विशेष धर्ममे इन तीनो बातोमे से एक भी बात कम होगी वह उस वस्तुको अन्य वस्तुओमे भिन्न नही कर सकेगा।

(जैनमित्र २।६ पृ० २)

द्रव्य कथचित् नित्यानित्यात्मक है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोको एकालाप करके 'सत्' कहते है। ध्रौव्य नित्यको और उत्पाद-व्यय उत्पत्ति एव नाशको कहते है तथा जिसमे उत्पत्ति और नाश होते है उसे अनित्य कहते है। (जैन सिद्धान्त० पृ० ३)

व्ययोत्पादका अर्थ नष्टोत्पन्न नही किन्तु भूत्वाभवन है। जैसे जलकी एक कल्लोलका अभाव होकर दूसरी कल्लोल नही होती, किन्तु प्रथम कल्लोल ही दूसरी कल्लोल रूप हो जाती है। (जैन सिद्धान्त० पृ० ४)

बडे कष्टसे प्राप्त हुए कल्पवृक्ष सदृश मनुष्य जन्मको यदि भोगोमे नष्ट कर दोगे तो फिर इस मनुष्य-जन्मका सयोग दुर्लभ हो जायगा। (सुशीला० पृ० २९)

सन्तोषके समान जगत्‌मे कोई सुख नही है और तृष्णाके समान कोई दु:ख नही है। (सुशीला० पृ० ३०)

सुखका लक्षण तृप्ति है और पूर्ण तृप्ति मोक्ष होनेपर होती है। (जैनमित्र १।५ पृ० ५)

आत्माका यथार्थ हित आत्माको निज स्वभावकी प्राप्ति है। (सुशीला० पृ० २१८)

पापियोको कभी सुख नही मिलता और पापमे सुख नही है। (सुशीला० पृ० १४८)

आल्हाद स्वरूप जीवके अनुजीवी गुणको असली सुख कहते है। यही जीवका खास स्वभाव है किन्तु संसारी जीवोने भ्रमवश साता वेदनीय कर्मके उदय जनित उस असली सुखकी वैभाविक परिणतिरूप साता परिणामको ही सुख मान रखा है। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका ४८१)

श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये तीनो ज्ञानकी पर्यायें है। (सुशीला० पृ० २२८)

शुभ कर्ममे मन, वचन और कायके व्यापारको आचरण कहते है। (सुशीला० पृ० २२९)

आत्माके प्रतिभासका नाम 'दर्शन' है और 'पर'के प्रतिभासका नाम है 'ज्ञान'। (सुशीला० पृ० २२९)

पवित्रता और पाखण्डताका भेद ज्ञानसे ही सम्भव है, किन्तु ज्ञान होनेपर भी निर्मल दृष्टि, न्याययुक्त होना चाहिए। अन्यथा वही ज्ञान अपने पक्षको पुष्ट करनेके हेतु अनर्थका कारण बनता है। (जैनमित्र ३।५-६ पृ० १०)

जो अज्ञानी अंगारको सुन्दर एवं शीतल मानकर हाथमें ले लेता है, क्या वह उससे जलकर दु:खी नही हो

जाता ? अवश्य होता है। इसी प्रकार दुखमें सुखकी कल्पना करनेसे वह दुःख सुखरूप नहीं हो जाता। वह दुःख ही रहता है और प्राणी उससे पीड़ित होते रहते हैं। (सुशीला० पृ० २११)

जब तक किसी पदार्थके दोष और गुणोंका युक्तिपूर्वक खण्डन-मण्डन नहीं दिखाया जायगा तब तक हेयके त्याग एवं उपादेयके ग्रहणमें रुचि किस प्रकार जागृत होगी। (जैनमित्र १।६ पृ० २)

बिना परीक्षाके पदार्थका विवेचन नहीं हो सकता और परीक्षा नाम खण्डन-मण्डनका है। (जैनमित्र १।६ पृ० २)

जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे बीज-वृक्षके समान चला आ रहा है। अर्थात् जैसे बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्षसे बीज; उसी प्रकार आत्मा और कर्मका निरन्तरसे अनादि सन्तानरूप क्रम चला आ रहा है। कोई समय ऐसा नही था, जब बिना वृक्षके बीज उत्पन्न हुआ हो अथवा बिना बीजके वृक्ष उत्पन्न हुआ हो। इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे आत्माके रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते है और रागद्वेषादि भावोंके कारण कर्मबन्ध होता है।

(सुशीला पृ० २१६)

## मानव

संसारमे दो कोटिके मनुष्य है, एक तो वे जो भोगभूमियोंसे सम्बन्ध रखते है और दूसरे वे जिनका सम्बन्ध कर्मभूमियोसे है। भोगभूमियाँ वे है, जहाँ भोगोपभोगोकी प्राप्तिके लिये स्वयं कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता—बिना उपायके ही सभी पदार्थ कल्पवृक्षोसे मिल जाते हैं और कर्मभूमियाँ वे है जिन्हे भोगोपभोगोको प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके प्रयत्न करना पड़ते है। कर्मभूमियाँ भी दो खण्डोमे विभक्त है एक आर्यखण्ड एवं दूसरा म्लेच्छ खण्ड। जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प एवं विद्या इन षट्कर्मोंसे अपनी आजिविका-निर्वाह करते है उन्हे आर्य कहते है और जो त्रस जीवोंकी संकल्पी हिसा करके अपना उदर निर्वाह करते है उन्हे म्लेच्छ कहते है। (जैनहितैषी ७।६ पृ० ५)

जिनके कुलमे अन्यायका प्रचार है उनको भी कभी-कभी सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है किन्तु वे या तो तत्काल ही अन्यायको छोड देते है अथवा भरसक छोडनेका उपाय करते रहते हैं और यथाशीघ्र उस अन्याय-प्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाते है। उनकी जो कुछ समय तक अन्यायमे प्रवृत्ति रहती है वह चरित्रमोहनीयकर्मके तीव्रतम उदयसे पराधीनरूप होती है, रुचिपूर्वक नही। (जैनहितैषी पृ० ५-६)

## धर्म

जो व्यक्ति गर्वयुक्त होकर अन्य सम्प्रदायवाले धर्मात्माका तिरस्कार करता है, वह अपने धर्मका तिरस्कार करता है। (जैनमित्र २।४ पृ० ११)

लौकिक और पारमार्थिक इन दोनो ही प्रकारके सुखोका अद्वितीय हेतु एक मात्र धर्म है।

(जैनमित्र २।६ पृ० १)

जब कोई व्यक्ति एक पैसेकी हाँडी भी लेता है तब उसको खूब ठोक-बजाकर परीक्षा करके लेता है। इसी प्रकार धर्म-साधन करनेवालोंको भी चाहिए कि पहले धर्मको परीक्षा कर लें, बादमे उसका साधन। जो व्यक्ति परीक्षा किये बिना ही किसी कार्यमे प्रवृत्ति करते है, वे अन्तमे अभिमत फलको प्राप्त नही करते। (जैनमित्र २।६ पृ० १)

बिना श्रद्धानके धर्म नही होता। (जैनमित्र २।४ पृ० १०)

धर्मसे उत्तम सुख देनेवाला संसारमे दूसरा कोई पदार्थ नही। (जैनमित्र २।४ पृ० १०)

धर्मके प्रभावसे जीव सुन्दर, सुभग, सौम्य, उच्चकुलीन, शीलवान् पण्डित एवं चन्द्रमाके समान उज्ज्वल स्थिर कीर्त्तिके धारी बनते है। (जैनमित्र २।४ पृ० १०)

धर्म कही बाँटा नही जाता और न पैसा देनेपर मिल ही सकता है। क्योकि वह तो पदार्थका स्वभाव है जो केवल अनुभव करनेसे ही प्राप्त होता है। (जैनमित्र ३।५-६ पृ० १०)

विषयभोगोंसे विरक्त महात्माओको जो सुख होता है, इन्द्र और चक्रवर्त्तियोका विषयजन्य सुख उसका अनन्तवाँ भाग भी नही है। इस कारण यदि सच्चे सुखकी वाञ्छा है तो शिवसुखके कारणभूत धर्मका सेवन करना चाहिए।

(सुशीला उपन्यास पृ० २९)

सम्पूर्ण सुखोंकी जड धर्म है। धर्मकी महिमा वचनसे नहीं कही जा सकती। (सुशीला० पृ० २२२)

जैनधर्म किसी खास जाति या वर्णकी मौरूसी जायदाद नहीं है। इसपर किसीका एकाधिपत्य नहीं है। यह सर्वहितकारी धर्म संसारके प्राणीमात्रका धर्म है। (जैनमित्र ७।६ पृ० ४)

## धन एवं दान

मूर्ख व्यक्ति द्रव्योपार्जन कर आभूषणादि बनवाता है, कंजूस उसे जमीनके भीतर गाड़कर रखता है, दुर्व्यसनी व्यक्ति द्रव्योपार्जनकर उसे खोटे कामोंमें खर्च करता है। दातार व्यक्ति उसे दानमें देता है और बुद्धिमान् व्यक्ति विवेक-पूर्वक उसे बहुजनहिताय बहुजनसुखाय शुभफलदायक धर्मोन्नतिके कार्योमें लगाता है। (जैनमित्र २।७ पृ० ८)

न्यायोपार्जित धनको करुणाभावादिके साथ प्रदान करना दान है। (जैनमित्र २।२-३ पृ० १०)

आजके धनकुबेर विवाह, शादी, मेला, प्रतिष्ठा आदिमें लाखों रुपये पानीकी तरह बहा देते हैं किन्तु धर्म-विद्याके प्रचार और प्रसारमें, जिसके बिना हमारा समाज हीनावस्थाको पहुँच गया है, उसके सम्पादनमें एक रुपया भी खर्च करना मृत्युके समान गिनते हैं। बड़े खेदकी बात है कि जिस प्रकार किसी मनुष्यकी आँखमें फुली पड जाय और वह उसका इलाज करनेके लिये तो कृपण बन जाय और कानकी शोभाके लिये हजार रुपयेको कुंडल बनवा ले। ठीक वैसी ही दशा हमारे धनी मानी व्यक्तियोंकी हो रही है। (जैनमित्र १।२ पृ० ५)

सभी दानोंमें ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि आहारदानसे तो फक्त एक ही समय क्षुधा मिटती है, औषधिदानसे एक समयका रोग मिटता है, अभयदानसे एक बारका कोई दुख मिटता है किन्तु ज्ञानदानसे तो यह आत्मा रत्नत्रयकी प्राप्तिकर आत्यन्तिक मोक्षसुख प्राप्त कर सकता है। (जैनमित्र ३।३ पृ० ५)

## राजनीति एवं पत्रकारिता

जिस राज्यमें योग्यायोग्यकी पहिचान नहीं, वह राज्य बड़े ही अन्धकारमें ग्रस्त है। (सुशीला० पृ० ६३)

शत्रुके गुण भी वर्णनीय होते हैं। (सुशीला० पृ० ६७)

संसारमें राजद्रोह जैसा कोई पाप नहीं। (सुशीला० पृ० ६८)

एकतामें ऐसी सामर्थ्य है कि बड़े-बड़े दु:साध्यकार्य अल्पशक्तियोंके एकत्रित होनेसे सुसाध्य हो जाते हैं।
(जैनमित्र १।६ पृ० १)

लेखदाता एवं सम्पादकका घनिष्ठ सम्बन्ध है। (जैनमित्र ५।२ पृ० ६)

वितण्डावादसे समाचार-पत्रोंके पेज काले करके पाठकोंका समय व्यर्थ खोना सर्वथा अनुचित है।
(जैनमित्र ५।३ पृ० १६)

हमारा (पत्रकारोंका) कर्त्तव्य है कि अपने मित्रोंको (अन्य पत्रकारोंको), मित्रोंके सहायकोंको समय-समयपर योग्य सम्मतियाँ एवं सूचनाएँ दिया करें। हमारा कार्य यह कदापि नहीं होना चाहिए कि मित्रके रुष्ट हो जानेके डरसे उसके दोषोंके ढाँकनेका प्रयत्न करें। (जैनमित्र ५।३ पृ० ५)

जब तक लोगोंके दिलोंमें पत्रों (समाचार पत्रों)के प्रति आदर न होगा, तब तक समाजकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती और जब तक ग्राहकोंकी भरमार न होगी, तब तक पत्रोंकी उत्तम दशा न होगी। (जैनमित्र ७।१ पृ० २)

वर्त्तमानमें जो-जो जातियाँ अवनत दशाको त्यागकर उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ हुई हैं और होती जा रही हैं उन सबकी उन्नतिका मुख्यकारण समाचारपत्र ही हैं। (जैनमित्र १।१ कवर पृ०)

●

# दस्सा-पूजाधिकारके सम्बन्धमें गुरुजीके विचार

पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ
प्राचार्य—दि० जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

●

गुरु गोपालदासजी शब्दके ठीक अर्थमें पण्डित, विद्वान् अथवा गुरु थे। वे कई अन्य पण्डितोंकी तरह केवल अक्षर-पण्डित ही नहीं थे, अपितु भाव-पण्डित भी थे। उनकी बुद्धि विवेकसे परिष्कृत थी। वे अपनी विवेचना-बुद्धिसे वस्तुकी तह तक पहुँचना अपना कर्त्तव्य समझते थे। वे जैन शास्त्रोंके पारदर्शी विद्वान् थे और जैन धर्मके उदार दृष्टिकोण-को उन्होंने अच्छी तरह हृदयंगम किया था। वे अकुतोभय थे, अतः अपने किसी भी मानव-हितकारी विचारको प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझते थे, चाहे उसका कितना ही विरोध क्यों न हो। वे जैनधर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका जगतमें प्रचार करना चाहते थे और यही कारण है कि उस स्थितिपालकताके भयावह युगमें भी अपने आगमानुमोदित एवं युक्तिसंगत उन मंतव्योंको समाजके सामने प्रकट करनेमें वे समर्थक हो सके, जिनका प्रकट करना बिना खतरा मोल लिये सम्भव नहीं था। विजाति-विवाह, विलायत-यात्रा आदि अनेक विषय ऐसे थे जिनका कट्टरपंथी डटकर विरोध करते थे और वे इन विषयोंके पक्षमें कोई युक्ति या आगमका समर्थन सुनना तक भी नहीं चाहते थे एवं जो कोई भी इनके पक्षमें कुछ कह देता था उसे जाति-बहिष्कारकी भयंकर विभीषिकाका ब्रह्मास्त्र दिखाकर चुप कर दिया जाता था; किन्तु पण्डितजी ऐसी विभीषिकाओंसे कभी नहीं डरे और निर्भय होकर लोककल्याणकारी विधानोंका उन्होंने समर्थन किया।

दस्सा-पूजाधिकारकी चर्चा उनके जीवनकी एक खास घटना है; क्योंकि इसने जैन समाजमें ऐसा भीषणरूप धारण कर लिया था जिसे एक क्रान्तिकारी विस्फोटकी संज्ञा दी जा सकती है और इसका कारण यही था कि पण्डित गोपालदासजीने डंकेकी चोट कह दिया था कि दस्सोंको भी उसी तरह भगवान् जिनेन्द्रकी पूजा करनेका अधिकार है जिस तरह बीसा कहलाने वाले लोगोंको।

इस आन्दोलनको लेकर जैन समाजमें दो दल हो गये थे—एक दलके अगुवा न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजी और दूसरेके मुखिया पण्डित गोपालदासजी वरैया थे। दस्सोंका पक्ष लेनेके कारण जैन समाजके कट्टरपन्थियोंकी ओरसे पण्डितजीको जो अवमाननाएँ और अवहेलनाएँ सहनी पड़ीं वे असाधारण थी। उनके खिलाफ स्थितिपालकोंने ऐसा तूफान खड़ा किया कि लोगोंने उनसे शास्त्र सुनना तक बन्द कर दिया। कोर्टमें दस्सा पूजाधिकारको लेकर जो मुकदमा चला, यद्यपि उसमें उनके पक्षकी हार हुई क्योंकि न्यायाधीशने अपना निर्णय रिवाजके अनुसार दिया; किन्तु इसमें रंचमात्र भी शक नहीं है कि सत्य पण्डित गोपालदासजीकी ओर था एवं उनकी युक्तियाँ भी अकाट्य थीं। उनकी दलील थी कि दस्सा कहलानेवाले लोग अपनी पाँचवीं अथवा सातवी पीढ़ीमें शुद्ध हो जाते हैं। यदि हजारों या लाखों वर्षोंमें भी उनकी शुद्धि नहीं मानी जाय तो यह आरोप तीर्थंकरों तक पहुंच जायगा, क्योंकि उत्सर्पिणीमें जो तीर्थंकर पैदा होते हैं उनकी परम्परा उत्सर्पिणी समाके प्रथम कालसे प्रारम्भ होती है। उत्सर्पिणी समाके प्रथम कालमें सब लोग आचारभ्रष्ट होते हैं और उनकी ही परम्परामें तीर्थंकारोंकी उत्पत्ति होती है। पण्डितजीकी इस दलीलका विरोधियोंके पास यद्यपि कोई उत्तर नहीं था फिर भी उन्होंने उनके विरुद्ध भोले लोगोंको यह कह कर बहकाया कि पण्डित गोपाल-दासजी तीर्थंकरोंको व्यभिचारीकी सन्तान बतलाते हैं। इसको लेकर खूब पेम्फलेटबाजी हुई और समाचारपत्रोंके पन्ने काले किये गये।

किन्तु इस भीषण बवंडरका पण्डितजीने असाधारण क्षमताके साथ सामना किया। इस सारे तूफानमें पण्डित धन्नालालजी काशलीवाल उनके साथ बने रहे। पण्डितजी सुमेरुकी तरह अडिग थे। इसमें कोई शक नहीं है कि गत सौ वर्षोंमें पण्डितजी जैसा कोई आदर्श और चरित्रवान व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। यदि उनका असामयिक निधन न होता और वे कुछ वर्षों तक जैन समाजका और नेतृत्व करते तो निःसन्देह समाजका कायाकल्प हो जाता। महाविद्वान् पण्डित

टोडरमलजीके बाद जैन सिद्धान्तके तलस्पर्शी वेत्ता, निर्भय एवं आचार और विचार क्रान्तिके पुरस्कर्ता तथा हर जगह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सामंजस्य बैठानेका समर्थन करनेवाले यदि कोई विद्वान् हुये हैं तो वे पण्डित गोपालदासजी थे। वे ज्ञानकी अपेक्षा आचरणको महत्त्व देते थे। उनके समझानेका तरीका बडा ही आकर्षक और प्राणमय था। मैंने उनकी क्षमताका साक्षात् दर्शन काशी स्याद्वाद महाविद्यालयके उस वार्षिक उत्सवके अवसरपर किया था जिसमें जर्मनीके प्रख्यात विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी, महा-महोपध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि प्रख्यात विद्वानोंने भाग लिया था।

दस्सा-पूजाधिकार आन्दोलनमें जो लोग विरोधी पक्षका नेतृत्व कर रहे थे वे भी पण्डितजीकी सचाई और पाण्डित्यका लोहा मानते थे। पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकर जब एक वेदी प्रतिष्ठाके अवसरपर कुचामन आये थे तब मैंने दस्सा एवं बीसाका तर्कसंगत लक्षण उनसे पूछा तो वे कहने लगे कि पण्डितजी, मैं दस्सोंके पूजाधिकारोंके खिलाफ नही हूं किन्तु परम्पराका समर्थन करना पडता है और शास्त्रोंमे तो कही भी दस्सा बीसाका उल्लेख हो नही है आदि।

आज यदि पण्डितजी जीवित होते तो वे यह देखकर बहुत खुश होते कि उनका सत्यपक्ष केवल सर्वत्र स्वीकृत ही नहीं अपितु क्रियान्वित भी हो रहा है। न कही विजाति-विवाहका विरोध है और न कही विलायत-यात्रा, जैनग्रंथोंके मुद्रण और अंग्रेजी पढने आदि का। यह सत्यकी विजय है।

जैनशास्त्रोंमे दस्सा बीस्सा आदि शब्दोंका कही भी उल्लेख नहीं मिलता—तब इनकी परिभाषा, लक्षण, स्वरूप एवं व्याख्या आदिका तो शास्त्रोंमें उपलब्ध होनेका प्रश्न ही पैदा नही होता। दस्सा-बीसा आदिके निर्माणका इतिहास क्या है, ये शब्द कितने पुराने है और इनका घटन कैसे हुआ है आदि प्रश्नोके उत्तरमे सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि जाति एवं कुलमदसे उन्मत्त लोगोने इन्हे घडा है और उन्होने ही समाजमे इनके प्रचलन, व्यवहार एवं प्रयोगका कलक अपनी आत्मामे बटोरा है।

कुछ लोग कहते है कि दास या दस्यु शब्दसे दस्सा शब्द बना है, किन्तु यह बात समझमे नहीं आती। यदि इसे ठीक मान लिया जावे तो बीसा शब्दके मूल एव निर्वचनका सवाल पैदा होता है। जहाँ तक मेरा ख्याल है दस्सा शब्द न दस्युसे बना है और न दास शब्दसे, क्योकि इससे इसकी विकृतिपरकताकी सिद्धि नही हो सकती—दस्सा शब्दका अर्थ वास्तवमें 'आधा' है जो कि दश शब्दसे बना है। बीसाका अर्थ पूरा है। सब जानते है कि बीसकी एक पूरी कौडी होती है। यह गणनामान है जो नाना क्षेत्रोंमें उपयुक्त होता है। इस मानके आधारपर कट्टरपंथियोंने बीस्सा-दस्सा शब्द घडकर उसे पूरे और अधूरेका वाचक बना लिया है। इसीके आधारपर सुना है कि कुछ लोग 'पाँचे' शब्दका भी व्यवहार करते है। किसी दस्सा कहलानेवालेकी विधवा पत्नीका किसीसे सहवास हो जाय और उससे जो सन्तान पैदा हो वह पाँचे कहलाता है।

दस्से-बीसेकी कल्पना किसी जमानेमे सामाजिक व्यवस्थाके हेतु दण्ड विधानार्थ की गई होगी—किन्तु ऐसे लोगोको भगवान्की पूजा जैसे धार्मिक अधिकारोसे वंचित करनेका औचित्य तो समझमे नही आता और वह भी हजारों लाखों पीढियों तक। यहाँ यह भी कम विचारणीय नही है विधवाका परपुरुषके साथ सम्पर्क होने पर जो सन्तान उत्पन्न होता है उसे तो जाति बहिष्कारका यह घोरतम दण्ड दिया जाता है किन्तु इस प्रकारके अपराध तो सधवाओंमे भी होते रहते है और वे मालूम भी हो जाते है फिर भी उनसे उत्पन्न सन्तानोके लिये क्या कोई दण्ड व्यवस्था है? यह क्या कम आश्चर्यकी बात है कि जो व्यभिचार करता है उसे किसी प्रकारका दण्ड नही किन्तु जो व्यभिचारसे उत्पन्न होता है उसे दस्सा कहकर यह नृशंस दण्ड दिया जाता है जिसका कि वस्तुत: कोई अपराध ही नही है। यह दण्ड-व्यवस्था न तो तर्कसंगत है, न मनोवैज्ञानिक और न आगमसम्मत।

शास्त्रोंमे तो इस प्रकारके स्पष्ट उल्लेख है कि दिग्विजयके समय चक्रवर्तीके साथ आई हुई हजारों म्लेच्छ कन्याओंका उसके साथ विवाह हुआ और उनसे उत्पन्न पुरुष मुनि बने एवं मोक्ष गये। सामाजिक व्यवस्थाके नियन्त्रणके लिये कोई कैसे भी नियम बनावे, किन्तु किसीको भी किसीके धार्मिक अधिकारोंके अपहरण करनेका कोई हक नहीं। भगवानकी पूजा कोई सामाजिक अधिकार है, इसे माननेके लिये तो कोई भी तैयार नही होगा। जब मैढक जैसा तिर्यंच भगवानकी पूजा करके सद्गतिको प्राप्त हो सकता है तो फिर मनुष्य ऐसा क्यों नही कर सकता, भले ही वह कैसा भी अपराधी क्यों न हो, और सच तो यह है कि जो पापी है उन्हे तो अपना पाप धोनेके लिये अवश्य ही भगवानकी पूजा करना चाहिए। पूजाके द्वारा उसे अपना पाप न धोने देना और उसमें बाधा डालना एक बडी हिमाकत ही नही है अपितु बडा भारी पाप भी है। जो अपना मैला कपडा साबुनसे धोता है उसे यह कहना कि तुमने अमुक अपराध किया है इसलिये तुम साबुनसे कपडा नही धो सकते, जैसे यह कहना उचित नही है, इसी प्रकार किसीको दस्सा कहकर उसे भगवानकी पूजाके अधिकारसे वंचित

करनेका भी कोई औचित्य नहीं है। रोगीको रोगकी दवा न लेने देना एक फौजदारी अपराध है। इस अपराधका ऐहिक नहीं तो आमुत्रिक दण्ड तो ऐसे अपराधी अवश्य ही भोगते हैं। यह एक मोटा तर्क है कि बडे पापीको अपने पापके प्रायश्चित्तके लिये अधिक धर्म करनेकी नितान्त आवश्यकता है अन्यथा उसका पाप कभी नहीं धुल सकता—ऐसे पापियोंके पाप धोनेमें जिन्होंने अबतक बाधा डाली है उन्होंने अपने ऊपर एक असीम जिम्मेदारी ली है, चाहे वह न्यायाधीश हो या इतरजन।

*जैन शास्त्रोंके पौराणिक राजा मधु कैटभने राजा हेमरथकी पत्नी चन्द्रभाको खुल्लमखुल्ला अपनी रखैल बना* लिया और उससे मनमाना व्यभिचार किया। उसके वियोगमें बिचारा हेमरथ घुलघुलकर मरा। शासकके आसनपर बैठे हुये ऐसा अपराध करना खुल्लमखुल्ला व्यभिचारको प्रोत्साहन देना ही नहीं, अपितु उसका निर्भय होकर प्रचार करना है। फिर भी इस महान् व्यभिचारी राजाने मुनिव्रत धारण किया और रखैल चन्द्रभा आर्यिका बनी। इन्हें ऐसा करते हुये कोई नहीं रोक सका। यदि इस पौराणिक घटनाके प्रकाशमें हम दस्सोंके पूजाधिकारके प्रश्नको अच्छी तरह देखें तो किसीका भी सारा भ्रम दूर हो सकता है। यह एक ऐसी घटना है जो दस्सा-पूजाधिकारके विरोधियोंकी आँखे खोलनेके लिये पर्याप्त है।

ये सारी दलीलें पण्डित गोपालदासजीके पक्षमें थी और आज भी है। आज तो दस्सा, बीसा, लोहड साजन, बड साजन आदिका कोई प्रश्न ही नहीं है। बहुत दिनों तक पण्डितोंने पिण्डशुद्धिका हल्ला मचाया, किन्तु वह हल्ला बे बुनियाद था; क्योंकि शास्त्र और युक्तियाँ दोनों ही इसके सर्वथा विरुद्ध है। महान तार्किक आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'में जो जातिवादका खण्डन किया है उसे पढकर तो कोई भी विवेकी अनायास ही दस्सा, बीसा आदिकी निरर्थकता एवं निराधारताको जान सकता है।

दस्सा-पूजाधिकारका आन्दोलन पण्डितजीके जीवनकी एक विशेष हलचल रही है। उन्होंने जिस दृढता और कर्त्तव्यपरायणतासे इससे उठनेवाले बवन्डरका सामना किया वह उनके जीवनकी एक उल्लेखनीय घटना है।
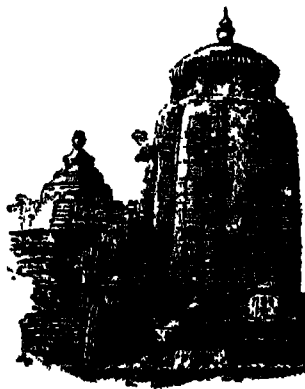
# जिनवाणीके जीर्णोद्धारके सम्बन्धमें गुरुजीके विचार

●

जिस समय आगरा निवासी श्रीमान विद्वद्वर्य पण्डित बलदेवदासजी विद्यमान थे उस समय आकलूज निवासी सेठ नाथारंगजी फर्मके मालिक सेठ रामचन्द्र नाथाजी आगरा गये थे। जब आपकी भेंट पण्डितजीसे हुई तो उन्होंने सेठजीसे अनुरोध किया कि पतितोद्धारिणी श्रीमती जिनवाणीका जीर्णोद्धार करके महाप्रभावनाका पुण्य संचय करना हो तो सबसे पहले 'अष्टसहस्री' नामके न्यायग्रन्थको छपाकर प्रसिद्ध करो। सेठ साहबने सहर्ष स्वीकार किया कि मैं शीघ्र ही आपकी इच्छाको पूर्ण करूंगा। बम्बई आते ही उन्होंने उसके लिये विज्ञापन छपाकर ग्राहक बनाना प्रारम्भ कर दिया।

जिस प्रकार पण्डितजीने सेठ साहबसे अष्टसहस्री छपानेका अनुरोध किया था उसी प्रकार पण्डितजी श्री पन्नालालजी बाकलीवालसे भी अनुरोध करते रहते थे कि तुम क्या भाषाके ग्रन्थोंको छपाते हो, जैन न्याय तथा अध्यात्म शास्त्र (समयसारादि) और राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक वगैरहका जीर्णोद्धार कराओ जिससे जिनमतकी प्रभावना अन्यमती विद्वानोंमें हो। परन्तु इन महान् ग्रन्थोंके जीर्णोद्धारमें हजारों रुपया लगते थे। और धर्मात्मा सेठोंका ध्यान उस ओर नहीं था, उन्होंने मेला-प्रतिष्ठाओंमें ही जिनधर्मकी प्रभावना समझ रखी थी। अतः बाकलीवालजीने उपाय करते-करते निर्णयसागर प्रेस बम्बईके मालिक सेठ तुकाराम जावजीसे प्रार्थना की तो उन्होंने कहा यदि तुम प्रत्येक ग्रन्थकी तीन तीन सौ या चार-चार सौ प्रतियोंके आगामी ग्राहक बना दो तो हम प्राचीन जैन ग्रन्थोंका जीर्णोद्धार करते रहेंगे। तदनुसार पं० पन्नालालजी बाकलीवालके प्रयत्नसे निर्णयसागर प्रेससे प्रथम गुच्छक, पार्श्वाभ्युदय काव्य छपने लगे। जब प्रमेयकमलमार्तण्डके छपानेका उद्योग किया गया तो निर्णयसागर प्रेसके मालिकने कहा कि इसमें कमसे कम तीन हजार रुपये हमें लगाने पड़ेंगे। अतः इसके तीन चार सौ ग्राहक पहले बनाना चाहिये। अतः बाकलीवालजीकी प्रेरणासे १०० प्रतियोंके ग्राहक तो दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्द्रजी जे० पी०, ५० प्रतियोंके ग्राहक सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी शोलापुर, ५० प्रतियोंके ग्राहक सेठ हीराचन्द अमीचन्द शोलापुर, ५० प्रतियोंके ग्राहक हरीभाई देवकरण शोलापुर, और ५० प्रतियोंके ग्राहक उस्मानाबादकी एक बाई बन गई। और इस प्रकार तीन सौ ग्राहक बन जानेपर श्रुतपंचमीके दिनसे प्रमेयकमलमार्तण्डकी छपाई प्रारम्भ हो गई। पं० पन्नालालजी बाकलीवालने प्राचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया वह जिनवाणीके जीर्णोद्धारके इतिहासमें स्मरणीय है।
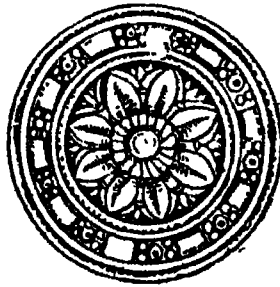
# निर्माल्य द्रव्य सम्बन्धी विचार

•

एक भाईने हमारे पास चिट्ठी भेजी है। उसमें प्रश्न किया है कि देवद्रव्यके वास्ते चारों तरफसे पुकार रहे हैं कि निर्माल्य द्रव्यका स्पर्शादि नरककी सीडी है। सो बहुतसे भाई यह सुनकर यह विचार करते है कि कैसे द्रव्यको निर्माल्य समझना चाहिये। मै जानता हूँ कि देवको चढी हुई द्रव्य निर्माल्य है। नित्य जो पूजन अष्ट द्रव्यसे आह्वानन, स्थापन, मन्त्रादि करकै की जाती है। पश्चात् वह द्रव्य सेवकको देते हैं। वह उस द्रव्यको ठाकुर द्वारेको पंजोरी समान धोबी, मुसलान आदि नीच जातियोंको बेचता है। वे ले जाकर मासादि घृणित कार्योंमें काम लाते है। वा हमारे भाई अज्ञानी छोटे बालक बाजारसे सस्ती जानकर ले आते है। सो वह सेवकको सामग्री देना योग्य नही है। मेरी रायमें हवन करना चाहिये (हवन करनेसे आरोग्यताका होना, ग्राममे सुभिक्षादि रहना वैद्यकमें साबित है)। इसका उत्तर देकर भ्रम दूर करिये।

## उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर

हमारे बहुतसे दूसरे भाईयोंको भी ऐसी शंकाएं अक्सर उठा करती है। इसलिये इस पत्रका उत्तर हम छाप रहे है।

यह शब्द असलमे निर्माल्य है इसका अर्थ अतिशय करकै जो निर्मल होय उसको निर्माल्य कहते है भावार्थ— मन्त्र पूर्वक देवताको समर्पण की हुई वस्तुकी 'निर्माल्य' यह एक संज्ञाविशेष है। राजवार्तिकजीमे श्रीमान् अकलंकदेवने निर्माल्यके ग्रहण करनेमें अन्तराय कर्मका आस्रव होता है, ऐसा लिखा है। इसलिये निर्माल्यका ग्रहण करना शास्त्रकी आज्ञासे सर्वथा विरुद्ध है।

इस पंचम कालमे मन्दिरोंके माली तथा व्यासोंको नौकरीकी एवजमें निर्माल्य द्रव्य देकर नौकर रखनेकी घृणित और निन्द्यप्रथा न मालूम किस समयमे और किस प्रकार चल गई है। इस द्रव्यके ग्रहण करनेवाले माली और व्यासोको हमारे भाई बहुत ही निन्द्य और अस्पृर्श्य समझते हैं, बल्कि उनके स्पर्श किये हुए जलादिकको भी पान करनेसे परहेज करते हैं। हम नही समझते कि निर्माल्यके ग्रहण करनेवाला मासभक्षियोंसे भी ज्यादा पापी और अस्पृश्योंकी संज्ञामे किस शास्त्रकी आज्ञासे हो गया कि जो हमारे भाई मांस और मच्छीके खानेवाले कहारके हाथका पानी पीनेवाले भी उनके हाथ का जल नहीं पीते। यद्यपि इसके ग्रहण करनेवालेको शास्त्रकारोंने अन्तराय कर्मके आस्रवका विधान किया है परन्तु निर्माल्य ग्रहण करनेवाला अस्पृश्य हो जाता है ऐसा किसी शास्त्रमें देखनेमे नही आया। और फ़र्ज करो कि यह मान भी लिया जाय कि निर्माल्य ग्रहण करनेवाला अस्पृश्य हो जाता है तो फिर मन्दिरमें उसका प्रवेश ही युक्त नही हो सकता, इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। अस्तु,

इस बातको भी छोड़ो, यहाँ पर एक दूसरा ही गुल खिलता है। सबसे पहले हमको यह विचारना चाहिये कि माली अथवा व्यास इस द्रव्यको क्यों ग्रहण करते हैं? हमारी समझमें ऐसा कोई जैनी नहीं होगा जो इस बातको नही जानता होगा। हर एक भाईको यह बात अच्छी तरह मालूम है कि जब एक मालीको निकालकर उसके स्थानमे दूसरे मालीको नियत करते है तो वह सवाल करता है कि महाराज मुझको मन्दिरकी नौकरी करनेकी एवजमें क्या मिलेगा। तो उस मन्दिरके पंच लोग अच्छी तरह समझाकर कहते हैं कि देखो भाई! अनुमान चार आने रोजकी तो तुमको नित्य नियमका निर्माल्य हम देंगे। और अष्टाह्निका, दशलाक्षणी आदि पर्वोमें अथवा किसी विशेष मण्डल विधानादिक सहित महापूजाओंका बहुत सा निर्माल्य और नारियल वगैरह मिलेंगे। सो तुमको बँधी हुई नौकरीकी अपेक्षा बहुत कुछ लाभकी सम्भावना है इत्यादि समझाकर उसको नौकर रख लेते है। अब पाठक समझ ही गये होंगे कि माली तथा व्यासको नौकरीकी एवजमें रोकड़ी रुपये न देकर उसके बदलेमे निर्माल्य देते है। ऐसी अवस्थामे कौन बुद्धिमान उस माली को निर्माल्य ग्रहणके दोषका भागी कह सकता है। उसने तो नौकरी करके तनखा ली है। तो यहाँ पर यह प्रश्न उठ

सकता है कि इस निर्माल्यके ग्रहण करनेका दोष किसको हुआ तो इसका साफ उत्तर यह ही हो सकता है कि इस दोषके भागी वे पंच लोग है कि जो इस निर्माल्यको विना मूल्य ग्रहण करके मालीको बेच डालते है और उसकी एवजमें माली की नौकरी रूप मूल्यको ग्रहण करते है। यहाँ पर कदाचित् कोई कहे कि पंच लोग इसमें क्या कुछ घर बांध ले जाते है ? मालीने भगवान्के मन्दिरकी सेवा करी सो पंचोंने भगवान्का ही द्रव्य (निर्माल्य) उसको नौकरीमें दे दिया, इसमें पंचों का क्या कसूर; इन्होंने तो एक प्रकारका प्रबन्ध कर दिया। सो ऐसा कहना विल्कुल भ्रममूलक है क्योंकि आपके कहनेके अनुसार तो निर्माल्य बेचकर मन्दिर बनाने, शास्त्र लिखाने तथा उपकरण बनवाने या और किसी पूजा प्रभावनादिक कार्योंमें उसके मूल्यको खर्च करनेमें कुछ भी दोष नही ठहरेगा।

प्रश्न—नहीं नहीं, यह सब कार्य तो हमारे खुदके करनेके हैं।

उत्तर—तो मन्दिरकी सेवा भी हमारा खुदका ही करनेका काम है। अगर तुमसे प्रमादवश नहीं हो सके तो तुमने नौकर रख दिया। तनखा उसकी अपने पाससे दीजिये। एक आदमीकी सामर्थ्य नहीं होय तो चिट्ठा (चन्दा) करके देना चाहिये।

प्रश्न—अगर मालीकी नौकरी देवद्रव्यमेंसे दी जाय तो क्या हर्ज है ?

उत्तर—भाईसाहब ! हर्जकी तो पीछे पूछना, पहले यह तो बताओ कि देवद्रव्य कहते किसको है ? और देव (अर्हन्त) के द्रव्यका संग्रह आया कहाँसे ? क्या ससारियोंकी तरह वह भी परिग्रह सहित है ? बड़े आश्चर्यकी बात है कि शास्त्रकार तो उनके उपासक और तुम्हारे गुरुओंको भी २४ प्रकारके परिग्रह रहित निरूपण करै और तुम उनको द्रव्यवान बनाओ।

प्रश्न—जो इस प्रकार मन्दिरजीके भण्डारोंमें देवद्रव्य एकत्र नही किया जाय तो मन्दिरोंकी मरम्मत, उपकरणोंका बनवाना, शास्त्रोंका लिखाना, अचानक आये उपद्रवका निवारण करना, बिछौने वगैरह बनवाना यह सब कार्य कैसे चले ? आज-कल एक आदमीकी ऐसी सामर्थ्य नही जो इस कार्यका सुगमतासे निर्वाह कर दे।

उत्तर—इन कार्योंको चलानेके वास्ते देवको द्रव्यवान बनानेकी कोई जरूरत नही है। उसका प्रबन्ध दूसरी रीतिसे हो सकता है। और यह प्रबन्ध हमारी रायमें यदि इस प्रकार किया जाये तो बहुत उत्तम होगा। जिस मन्दिरकी गोठमें जितने भाई शामिल हो उनकी फहरिस्त बनाई जावे। अर्थात् उन सबके नाम एक रजिस्टरमें दर्ज किये जावें और हर एक भाईसे एक पैसेसे लगाकर जहाँ तक उसकी शक्ति हो वहा तक कुछ न कुछ माहवारी या वार्षिक चन्दा अवश्य लिया जावै और पूजनके वास्ते सब भाई नित्य या बारी-बारीसे अपने-अपने घरसे द्रव्य लावै। पचोंके नामकी बहियाँ डाली जावे और उनमें भण्डार खाते डाले जावै—१ जायदादखाता, २ शास्त्रखाता, ३ उपकरणखाता, ४ पाठशाला खाता, ५ औषधालय, ६ अनाथालय ७ प्रबन्धखाता। वार्षिक तथा मासिक चन्देकी आमदनी इस ही प्रबन्धखातेमें जमा होनी चाहिये और प्रबन्ध करनेके वास्ते माली, सामग्री धोनेवाले अथवा हिसाब रखनेवाले मुनीम वगैरहकी तनखा इस ही प्रबन्ध खातेमेंसे दी जाय और इन खातोंके सिवाय और भी खाते खोलनेकी जरूरत होय तो खोले जावें। इन सब कामोंका प्रबन्ध करनेके लिये कुछ पंचायती कायदे बनाने चाहिये। और सब पंचोंकी सम्मतिसे पाँच या सात मुखिया पंच नियत किये जावे और इनमें एक सरपंच गिना जावे तथा नौकर वगैरहसे काम-काज लेनेके वास्ते एक आदमी मुख्त्यार बनाया जावै। सब पंच प्रतिवर्ष हिसाबकी जाँच किया करे और उसमें कुछ रद्दोबदल करना होय तो रद्द बदल किया करै। इस प्रकार प्रबन्ध होनेसे हमारी पंचायते अपने नामको सार्थक कर सकती है। और नई रोशनी वालोंके लगाये हुए दोषोंसे मुक्ति पा सकती है। भाईयों ! विषयसे विषयान्तर होगया सो क्षमा करना।

अब हमको यह विचार करना है कि निर्माल्य द्रव्यका क्या किया जाये। हमारे बहुतसे भाई हवनकी कल्पना करते है। और उसकी पुष्टिमें हवनसे वायु शुद्ध होकर सुभिक्षादिकका होना, तथा श्रावकोंके घरमें अग्निकुण्डका स्थापन और द्रव्य चढानेके मंत्रके अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करना आदि प्रमाण देते है। इस पर हमारे दूसरे भाईयोंका यह कहना है कि प्रासुक द्रव्यके पूजनमें ही ८ जाप्य प्रायश्चित्तके लिये किये जाते है तो हवनके आरम्भका प्रायश्चित्त क्या होगा इत्यादि कहते है। परन्तु जो विचारकर देखा जाय तो इनमेंसे एक भी कल्पना युक्ति-युक्त नही है क्योंकि सुभिक्षादिकके कारण तो दूसरे भी है और गृहस्थके घरमें अग्निकुण्डोंका विधान पाचवी प्रतिमाधारी अग्निहोत्रके वास्ते है और स्वाहा शब्द अर्पणकी समाप्तिका वाचक है। दूसरे भाई जो हवनके आरम्भके प्रायश्चित्तका दोष देकर हवनका खण्डन करते है सो भी समीचीन नही है। क्योंकि आरम्भका त्याग आठवी प्रतिमावालेके होता है। अन्यथा नैवेद्यादिक आरम्भके विना कैसे बनेंगे। असल बात तो यह है कि जब तक हवन करनेकी आज्ञा ऋषिवाक्योंसे नही मिले तब तक नित्य पूजाका निर्माल्य हवन करना किसी प्रकार भी योग्य नही है।

प्रश्न—तो फिर निर्माल्यद्रव्यका क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पद्मपुराणजीमें निर्माल्यकूटोंका वर्णन स्पष्ट रीतिसे किया है। उससे यही सिद्ध होता है कि मन्दिरोंके बाहर निर्जन्तु भूमिमें निर्माल्य विक्षेपण करनेके कूट (स्थान) बनाने चाहिये। जिनमें पूजा करनेके बाद निर्माल्य रख दिया जाय और फिर उसको कोई ग्रहण करो अथवा मत करो हमको उससे कुछ प्रयोजन नहीं। इस विषयमें पण्डितों तथा विशेष ज्ञानियोंसे प्रार्थना है कि यदि उन्होंने इस विषयका और भी कुछ निर्णय देखा हो तो वे कृपा करके हमको सूचना देवें।

( जैनमित्र, दिसम्बर सन् १९०० )

●

# बाह्यक्रिया और शासनदेव सम्बन्धी विचार

●

'जिन धर्ममें बाह्यक्रियाकी मुख्यता नहीं है' इसका यही अर्थ हो सकता है कि बाह्यक्रियाकी गौणता है। उसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि बाह्यक्रिया कोई चीज नहीं है।

हमारे लिखनेका अभिप्राय यह है कि योगका लक्षण सर्वार्थसिद्धिमें मन, वचन, काय वर्गणाके अवलम्बनसे आत्म-प्रदेशोंका परिस्पन्दन कहा है। उस योगके दो भेद कहे हैं एक शुभयोग दूसरा अशुभयोग। फिर वहाँ पर प्रश्न किया है कि योगोंमें शुभाशुभपना किस प्रकार है। तब वहाँ पर यह ही स्पष्ट शब्दोंमें उत्तर लिखा है कि—'शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योगोऽशुभः। (छठे अध्यायके प्रारम्भमें) अर्थ—शुभ परिणामोंसे निष्पन्न योगको शुभयोग कहते हैं और अशुभ परिणामोंसे निष्पन्न योगको अशुभयोग कहते हैं। और सूत्र वाक्य इस प्रकार है—'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' अर्थात् शुभयोगसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है और अशुभयोगसे पापका आस्रव होता है। इस उपर्युक्त प्रमाणसे भले प्रकार सिद्ध होता है कि जिनधर्ममें परिणामोंकी मुख्यता है, बाह्य क्रियाकी मुख्यता नहीं है। इस ही वचनको सिद्ध करनेके वास्ते अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें (जिन प्रवचन रहस्यमें) अनेक कारिकायें कही हैं जिनका साराश यह है कि एक हिंसा करे उसका फल अनेक जन भोगें। अनेक हिंसा करें उसका फल एक भोगे। हिंसा पीछे करे उसका फल पहिले ही भोग-लेय। हिंसा करे नहीं परन्तु हिंसाका फल अवश्य भोगे इत्यादि अनेक भंग लिखकर एक कारिका लिखी है—

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।<br>गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः॥

अब आशा है कि पाठकोंको इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रहा होगा कि जिनधर्ममें परिणामोंकी ही मुख्यता है बाह्य क्रियाकी मुख्यता नहीं है। परन्तु यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिये कि बाह्य क्रिया कोई चीज ही नहीं है। किन्तु यों समझना चाहिये कि बाह्य क्रियाके बिना कार्यकी सिद्धि ही नहीं होती। जैसे कि मोक्षमार्गमें यद्यपि सम्यग्दर्शनकी मुख्यता है तथापि चारित्र धारण किये बिना मोक्षकी सिद्धि नहीं है। यदि बिना चारित्रके भी मोक्ष सम्भव होता तो तीर्थंकर-देव चारित्र क्यों धारण करते। परन्तु इससे यह न समझ लेना कि मुख्यता चारित्रकी है। यदि चारित्रकी ही मुख्यता होती तो द्रव्यलिंगी मुनि हजारों वर्ष बाह्य तपश्चरण धारण करके भी संसारमें ही नहीं रहते। परन्तु फिर भी इस बाह्य क्रिया-को निष्फल नहीं समझना, अन्यथा द्रव्यलिङ्गी मुनि नवग्रैवेयक पर्यन्त नहीं पहुँचते।

( जैनमित्र, भाद्रपद सं० १९६० )

## शासन देवताओंका आराधन

जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध है वे आपदाकुलित होनेपर भी शासन-देवताओंका आराधन नहीं करते। और जिनका सम्यग्दर्शन सदोष है वे करते भी हैं।

( जैनमित्र, भाद्रपद सं० १९६० )

●

# गुरुजी लिखित सम्मेद शिखरजीके झगड़ेका इतिहास

•

विक्रम सम्वत् १९५३ मे बम्बईके सेठ माणिकचन्द पानाचन्दजी जौहरीके छोटे भाई नवलचन्दजी शीतकालमें शिखरजीकी वन्दनाके लिये गये थे। उस समय अन्य २ देशोंके भी बहुतसे भाई आये थे। सब भाईयोंका विचार हुआ कि गन्धर्वनालेसे कुन्थनाथ स्वामीकी टोंक तक चढ़नेका मार्ग बड़ा कठिन है। इसलिये यहाँपर सीढ़ियाँ बन जायें तो यात्रियोंको वन्दना करनेमें सुभीता हो जाये। यह बात सबको प्रिय लगी। उसी समय छै हजारका चिट्ठा हो गया और उसका प्रबन्ध दिगम्बर कोठीके मुनीम बाबू हरलालके सुपुर्द किया गया। उन्होंने सीढ़ियाँ बनवाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु उनका स्वर्गवास हो गया। उनके पीछे बाबू राघवजीको यह काम सौंपा गया। वहाँ ४००० सीढियोंके बननेकी आवश्यकता थी जिसमें चन्देका सब रुपया लग चुका और नवीन चिट्ठेका प्रबन्ध हो ही रहा था कि २२ जनवरीकी रातमें श्वेताम्बर कोठीके आदमियोंने २०५ पैड़ियाँ बिल्कुल तोड़ डालीं और कहा कि इस पहाड़पर तुम्हारा कोई हक नहीं है जो इमारत बनवाओ। दूसरे दिन मालूम होनेपर पुलिसमें रिपोर्ट की गई। परन्तु श्वेताम्बरियोंकी कुशलतासे सब परिश्रम व्यर्थ हुआ। तब गिरीडीके मजिस्ट्रेटको कचहरीमें नालिश की। इस मुकदमेमें श्वेताम्बर पक्षवालोंको आठ दिनकी सजा हुई और उनके मुचलके लिये गये। श्वेताम्बर भाईयोंने कलकत्तामें अपील की। उसमें दिगम्बरी भाईयोंके प्रमादसे पैरवी न होनेके कारण श्वेताम्बर भाई बरी हो गये। इसके बाद दिगम्बरियोंने पैड़ियोंके हर्जेकी नालिश हजारीबागमें की। बहुत कुछ कोशिश करनेपर श्वेताम्बरियोंपर १८३० रु० हर्जानेकी डिगरी हुई।

इसी बीचमें श्वेताम्बरी भाईयोंने शिखरजीके पहाड़पर पार्श्वनाथ स्वामीकी टोंकपर एक मन्दिर बनवाके पार्श्वनाथ स्वामीके चरण उखाड़ डाले। उस स्थानपर मूर्ति पधरानेका विचार था। लेकिन यह बात दिगम्बरियोंको मालूम हो गई और उन्होंने सरकारसे इस कार्यको रुकवानेकी प्रार्थना की तो यह काम रोक दिया गया। तथा जो चरण उन्होंने उखाड़े थे वे वहाँसे कुछ दूरीपर पधरा दिये गये। और जोर शोरसे मुकदमेबाजी शुरू हो गई। दिगम्बरियोंका कहना है कि पहाड़ पर जितना हक श्वेताम्बरियोंका है उतना ही हमारा है और श्वेताम्बरियोंका कहना है कि पहाड़पर सर्वथा हमारा हक है तुम्हारा कोई नहीं है। अगर हम चाहें तो तुमको दर्शन करनेसे भी रोक सकते हैं।

( जैनमित्र, ज्येष्ठ सं० १९५९ वि० )

## जलमन्दिरमें दिगम्बरी प्रतिमा

पौष सम्वत् १९५९ मे शोलापुरके सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द सम्मेदशिखरकी वन्दनार्थ गये थे। उन्होंने जैन-मित्रमें छपाया था—जलमन्दिरमें दोनों बाजूमें दिगम्बरी प्रतिमा हैं बीचमें श्वेताम्बरी है। पार्श्वनाथकी टोंकपर चरण हैं प्रतिमा नहीं हैं।

## बीसपन्थी कोठीका झगड़ा

बीसपन्थी कोठी सम्मेदशिखरकी देख-रेख आराके दिगम्बर जैनोंके हाथमें थी। जब तक बा० हरलाल कोठीके मैनेजर रहे वहाँका कार्य ठीक ढंगसे चलता रहा। उनकी मृत्युके समय कोठीके भण्डारमें ७५ हजार रुपया नगद था। एक बार राजा पालगंजको, जिनकी जमींदारीमें सम्मेदशिखर पहाड़ था, रुपयोंकी आवश्यकता हुई। श्वेताम्बर उन्हें रुपया देकर सम्मेदशिखर पहाड़की लिखापढ़ी कराना चाहते थे। किन्तु बा० हरलालने बड़ी युक्तिसे चालीस हजार रुपया पालगंजके राजाको उस समय दे दिया था। वह रुपया पुरुलियाकी कचहरीमें जमा हुआ। उस रुपयोंको लेकर बा० हरलालके उत्तराधिकारी बाबू राघवजी और आरावालोंके बीचमें खूब मुकदमेबाजी हुई। इस सम्बन्धमें जैनमित्र (माघ वि० सं० १९६०)

में एक फ्रौड़ पत्र ११ पेजका पं० गोपालदासजी बरैयाकी ओरसे प्रकाशित हुआ था। उसमें बीसपन्थी कोठीके झगड़ेका पूरा विवरण दिया हुआ है।

## दिगम्बरियोंकी जीत

ज्येष्ठ सं० १९६० के जैनमित्रमे छपा है कि श्वेताम्बरी भाईयोंके साथ जो तीर्थराजकी पैड़ियोंका मुकदमा चला था उसमें हमको डिगरी मिली थी। परन्तु श्वेताम्बरी भाईयोने फिर भी हमारा तीर्थराजपर हक छीननेकी आशासे कलकत्ता हाईकोर्टमें अपील की थी। उस अपीलमे भी हमारी जीत हो गई। इतना फर्क हुआ कि नाबालिग होनेके कारण डिगरी राजा बाबूके ऊपर न होकर केवल सुन्दरलाल पाण्डेपर ही रही।

## सम्मेदशिखरपर बंगले

६ मई १९०७ को बम्बईमें सेठ माणिकचन्द पानाचन्दजीके सभापतित्वमे दिगम्बर जैनोंकी एक सभा हुई। डिप्टी कमिश्नर हजारीबाग श्री सम्मेदशिखर पर्वतकी कुछ जगह अंग्रेजोको बंगले बनानेके लिये देना चाहते थे। उसीके विरोधके लिये इस सभाका आयोजन किया गया था। कमेटीकी ओरसे शिखरजीकी रक्षार्थ कारवाई करनेका भार बा० धन्नूलालजी एटर्नी कलकत्ताको दिया गया और अन्य आवश्यक कारवाई की गई।

जगह-जगहसे विरोधमे तार आनेपर भी डिप्टी कमिश्नरने २९ अप्रैल १९०७ को जो नोटिस जारी किया उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

'डिप्टी कमिश्नर हजारीबाग इस पार्श्वनाथ पर्वतके सम्बन्धमे कोई ऐसी बात नही कर सकते जिससे पर्वतके मालिकको हानि पहुँचे। जैनियोंका पर्वतपर कोई हक नही है सिवाय उन खास मन्दिरोके जो वहाँ बने हुए है। और यदि वे पहाड वा जमीनपर अपना हक माँगेगे तो डिप्टी कमिश्नर बंगले वा मकानात बननेके पट्टे देते हुए कोई भी ऐसी शर्त नही रख सकेंगे जो जैनियोंके लाभकी हो। क्योकि हक माँगनेसे पहाडके मालिकके फायदेमे धक्का लगेगा। तौभी यदि कोई अदालती कार्यवाही नही की जावेगी तो डिप्टी कमिश्नर पहाडके ऊपर जैनियोंकी पूजा करनेमे हानि न पहुँचे इस बातका पट्टे देते समय स्मरण रखनेकी आशा करते है।'

इसके विरोधमे बम्बईके दिगम्बर जैनोकी ओरसे बडे लाटको एक प्रार्थनापत्र भेजा गया। उसके उत्तरमे शिमलासे बडे लाटके डिप्टी सेक्रेटरीने लिखा—

'उत्तरमे मै आपको प्रकट करता हूँ कि मान्यवर लेफ्टेण्ट गवर्नरसाहब बंगालने अगस्तके अन्तमे या सेप्टेम्बरकी आदिमे शिखरजी जाकर वहाँकी तपास करनेका इरादा प्रकट किया है। उस समय जैन सम्प्रदायको अपने मन्तव्य दर्शानेका पूरा मौका दिया जायगा। मै यह भी प्रकट करता हूँ कि जब तक मान्यवर लेफ्टेण्टसाहब गवनर वहाँकी देख-भाल न कर लगे, पवतके पट्टेकी कार्यवाही नही की जावेगी। (जैनमित्र २७ जुलाई १९०७)

## छोटे लाटका पदार्पण

२४ अगस्त १९०७ को दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्दजी बम्बईसे सम्मेदशिखर पधारे। उनके साथ बम्बईसे अनेक प्रतिनिधि भी आये। उसी दिनसे प्रत्येक प्रान्तसे जैनोका आना प्रारम्भ होगया। सम्पूर्ण दिगम्बरी भाइयोकी संख्या लगभग २५०० थी। श्वेताम्बर समाजकी ओरसे केवल २५ महाशय उपस्थित थे।

ता० २६ को भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीका अधिवेशन लाला सुलतानसिंहजी रईसके सभापतित्वमे हुआ। उसमे कमेटीका तैयार किया मेमोरियल पढकर सुनाया गया और मेम्बरोके हस्ताक्षर कराकर लाट साहबकी सेवामे भेज दिया गया। पश्चात् मालूम हुआ कि लाटसाहब थोडेसे ही प्रतिनिधियोसे भेंट करेगे। इससे २६ नाम मंजूर किये गये और यह प्रस्ताव पास किया गया कि लाटसाहबके साथ मन्दिरका निरीक्षण करते समय प्रतिनिधिगण उन्हे उसकी पवित्रता अच्छी तरह समझा देवे।

ता० २७ को सुबह लाटसाहब आये और मधुवनमे चायपानी लेकर दिगम्बरी कोठीमें पधारे। राजा ज्ञानचन्दजी, रायबहादुर घमण्डीलालजी आदिने स्वागत किया। थोडीदेर धर्मशाला तथा मन्दिरका निरीक्षण करके लाटसाहब पहाड पर चले गये। उससमय डिप्टी कमिश्नर हजारीबागने कहा कि प्रतिनिधियोके नाम कम होने चाहिये।

ता० २८ को १०॥ बजे प्रतिनिधियोंसे मिलनेका समय नियत हुआ था। परन्तु डोलियोंकी कमी तथा मौसमकी

खराबीके कारण सिर्फ १५ दिगम्बरी भाई समयपर पहुँच सके। इसलिये उन्हीं १५ प्रतिनिधियोंके साथ लाटसाहबने पार्श्वनाथ स्वामीकी टोकसे लेकर कुन्थुनाथस्वामीकी टोक तक निरीक्षण किया। उस दिन प्रायः सब लोगोंने उपवास किया था।

लाटसाहबके इस प्रश्नपर कि आप लोगोंको कोई कष्ट तो नहीं है श्री अण्णाप्पा फडयप्पा चौगुलेने कहा—हजूर कहनेमें संकोच तो होता है परन्तु कहे बिना नहीं रहा जाता। आप चमडेके जूते पहने हुए चल रहे हैं इससे हमें अपार कष्ट होरहा है। एक प्रार्थना और भी है कि आप जब तक इस पवित्र भूमिपर रहे अभक्ष्य भक्षण न करें। लाटसाहबने उनकी दोनों बातों पर ध्यान देनेका वचन दिया। पश्चात् लाटसाहब २ बजे अपने बंगलेको लौट गये।

ता० २९को सबेरे लाटसाहब पहाडसे उतरकर श्वेताम्बरी कोठीमें पधारे। वहाँ चायपानी लेकर दिगम्बरी मन्दिरमें आये। उस समय वह कपडेके जूते पहने हुए थे। फिर दिगम्बरियोंके सभामण्डपमें उपस्थित होकर मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियोंसे मिले। पश्चात् लाला सुल्तानसिंहजीने एड्रेस पढके सुनाया। उसके उत्तरमें लाटसाहबने भाषण दिया और कहा कि मैं इस समय कोई आखिरी हुक्म नहीं देता हूँ। उत्तरसे किसीको सन्तोष नहीं हुआ। लाटसाहब चले गये।

## लाट साहबके उत्तरका सारांश

लाटसाहबने अपने उत्तरमें प्रारम्भिक चीकनी चुपडी बातोंके पश्चात् अन्तमें कहा—

इस विषयके सम्बन्धमें कोई वाजिब फैसला जिसका कि स्थायी लिखा जाना संभव है, करना हो तो वे दो बातें ध्यानमें रखना चाहिये। पहली बात यह कि जिस टेकरी पर हम सब एकत्र हुए है वह एक टेकरी नहीं किन्तु टेकरियोंकी माला है। श्वेताम्बरोंकी ओरसे मझे जो मानपत्र दिया गया है उसमें उन्होंने बहुत वाजिब रीतिसे 'पारसनाथ टेकरी' लिखा है। परन्तु सामान्य रीतिसे दोनों मानपत्रोंमें उसे टेकरी बतलाई है। इन दोनों शब्दोंका फर्क अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये। टेकरीको पर्वतके साथ नहीं मिला देना चाहिये। टेकरीपर अनेक ऐसे स्थल है जो मकानोंके लिये बहुत ही अच्छे है। परन्तु मैं उन स्थानोंपर मकान बनते देखकर बहुत दुःखी होऊँगा। आस-पास रहनेवाले लोगोंकी तुम्हारे मन्दिरों पर दृष्टि न पडने पावे इस प्रकारकी रक्षाके लिये तुम दीवालें बनाओगे तो मझे उससे सन्तोष नहीं होगा।

इसलिये जैसा कि मैंने कहा है, उक्त टेकरीके मालिकके हकोंका विचार करना और उसका लाभ उठानेवालोंकी मार्फत उनके साथ रहकर काम करना आवश्यक है। उक्त टेकरीकी मालिकीके विषयमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। वह जमीदारकी मालिकीमें है। तुम उस टेकरी पर पूजा करनेका लिखित सत्व रखते होगे और जमीदारके साथ इकरार करके तुमने कुछ स्वत्व प्राप्त किये होंगे, वे टेकरीपर पूजा करने देनेके ही नहीं, किन्तु टेकरीके किसी भागपर मकान बनानेके योग्य जमीन पट्टेपर देनेका अपना हक अमलमें नहीं लानेके लिये तुम उससे कहो तो वह जमीदार उस हकका उपयोग नहीं करनेके लिये पूरा बदला माग सकता है और तुम्हे बदला देना चाहिये।'

'मैं समझता हूं कि तुम्हे हानि न पहुँचे इस प्रकारका अपना एक अमलमें लानेवाले जमीदारको रोकनेकी कोशिश करना अनुचित है ऐसा तुम करोगे। जमीदारके हितकी रक्षा करनेवालोंकी मार्फत तुम उसका समझौता कर सकोगे ऐसी मुझे आशा है। जिसमें अपने मन्दिरोंके आस-पास तुम जिस प्रकारकी पवित्रता तथा शान्ति प्राप्त करना चाहते हो वह तुम अपने और अपने वंशजोंके लिये कर सको और इस प्रश्नका निबटारा हमेशाके लिये हो जाये।'

भाषण लम्बा था किन्तु उसका सारांश उतना ही है जो ऊपर दिया है। पूरा भाषणका हिन्दी अनुवाद २३ सितम्बर १९०७ के जैनमित्रमें प्रकाशित हुआ था।

उस समय बहुतसे भाईयोंका यह विचार था कि श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों मिलकर सम्मेदशिखरजीका मामला चलावें। इसके लिये एक दिन दो श्वेताम्बरी भाई बाबू धन्नूलालजी अटर्नी कलकत्ताके पास भी गये थे। बाबू धन्नूलालजी ने इसका अनुमोदन भी किया। तब उक्त भाइयोंने उत्तर दिया कि हम लोगोंकी एक प्राइवेट सभा होनेवाली है उसमें निश्चय होगा कि दिगम्बरियोंसे मिलकर कार्य करना चाहिये या नहीं?

पीछे प्रकट हुआ कि श्वेताम्बर भाई दिगम्बरियोंसे मिलकर इसलिये कारर्वाई नहीं करना चाहते कि यदि जीत होगी तो दिगम्बरियोंका भी हक हो जावेगा।

लाट साहबके उक्त भाषणके पश्चात न तो सरकारकी ओरसे सम्मेदशिखर पर्वतपर मकान बनानेकी योजना ही अमलमें लाई गई और न उस योजनाको रद्द ही किया गया। इधर जैन समाजमें सरकारकी योजनाका विरोध बराबर चलता रहा। उस समय देशमें बंग-भग आन्दोलन बडे जोरोपर था। और सरकारके विरोधमें विदेशी वस्तु बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन चलाया जा रहा था। जैनियोंमें भी सरकारके प्रति सम्मेदशिखरको लेकर रोष तो था ही

अतः उन्होंने भी इस आन्दोलनमें भाग लेनेका निश्चय किया। दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभा बम्बईके गजपन्था और कुन्थलगिरि अधिवेशनोंमें स्वदेशी ग्रहण और विदेशी वस्तु बहिष्कारका प्रस्ताव खूब जोर शोरके साथ पास हुआ। इसका श्रेय 'जैनमित्र'को था। गुरुजीने जैनमित्रके द्वारा महीनोंसे बहिष्कार आन्दोलन चलाया था।

किन्तु इसी सभाका पावागढ़में जो अधिवेशन हुआ उसमें उक्त प्रस्ताव पास नहीं किया गया। इसका कारण यह था कि उसके सभापति शोलापुरके सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी आनरेरी मजिस्ट्रेट चुने गये थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा—'बंगालियोंने बंग-भंगको रद्द करनेके लिये बायकाट किया परन्तु उससे बंग-भंग रद्द नहीं हुआ। फिर मुट्ठी भर जैनियोंके बायकाटसे क्या हो सकता है।'

इसके उत्तरमें जैनमित्रने लिखा था—'शोलापुरके मजिस्ट्रेट साहबको शायद मालूम नहीं है कि बंगालके बायकाटसे सरकारका सिंहासन कम्पित हो गया है।'

'सम्मेदशिखरका प्रश्न राजनैतिक नहीं है' शीर्षकके अन्तर्गत ४ मार्च १९०८ के जैनमित्रने अपनी टिप्पणी में लिखा था—

जैन समाजमें स्वदेशी ग्रहण और विदेशी बहिष्कारका आन्दोलन अभी तक राजकीय आन्दोलन नहीं है। पीछे इसे भले ही बंगालियोंके बायकाटके नाईं राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हो जावे। परन्तु अभी तक यह धार्मिक आन्दोलन है। यद्यपि इससे देशका बड़ा भारी सम्बन्ध है। परन्तु अभी उस लाभकी ओर हमारी विशेष दृष्टि नहीं है। अभी हमारा मुख्य लक्ष्य सम्मेदशिखरजीकी रक्षापर है। हमने अपने तीर्थराजको बचा लिया तो सब कुछ बचा लिया। इसके लिये हमको प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि शरीर लगै तो लग जाओ, परन्तु जीवन रहते हुए पूज्य पर्वतको भ्रष्ट नहीं होने देंगे। हम इसके लिये जो कुछ आन्दोलन करेंगे यद्यपि वह न्यायसंगत होगा, परन्तु दुर्भाग्यसे यदि अधिकारी लोग हमको कष्ट पहुँचाने पर कमर कसेंगे, और ऐसा होना बहुत सम्भव है, तो हमें उसे चुप-चाप सहना होगा। मार खानी होगी, जेल जाना पड़ेगा। जुर्माना देना पड़ेगा। धनका नाश करना होगा, परन्तु पीछे नहीं हटना होगा। बरसों एक चित्तसे अपनी प्रतिज्ञामें दत्तचित्त रहना होगा। इतने साहसके बिना इसमें सफलता नहीं होगी। हमको अब ऐसे अगुओं-की आवश्यकता नहीं है जो स्वयं डरते है। और दूसरोंको डरवाते है। इनसे अब हमारा कल्याण नहीं होगा। इस विपत्तिके समयमें हमें साहसी, धीरवीर और स्वार्थ त्यागी अगुए चाहिये। हमें सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी नहीं चाहिये। हमको उनके साहसी बड़े भाई सेठ सखाराम नेमिचन्द चाहिये, जिन्होंने शोलापुरके जिला कान्फ्रेंसमें सभापतिका आसन ग्रहण करके विदेशी बहिष्कारका खूब जोर शोरसे निषेध (?) किया था और 'तन दे धन दे लाज दे एक धर्मके काज' इस उत्कृष्ट धर्मका उपदेश दिया था। अथवा हमें शोलापुरके व्यापारी तात्या गोपाल सेठी जैसे अगुआ चाहिये जिन्होंने उसी कान्फ्रेंसमें कहा था कि 'सम्मेदशिखरजीकी रक्षाके लिये स्वयं सम्मेदशिखरपर जाकर बैठूंगा।"

इस आन्दोलनके फलस्वरूप बम्बईके गवर्नर साहबके प्राइवेटसे सेक्रेट्रीका एक पत्र प्राप्त हुआ। उसका आशय नीचे दिया जाता है—

'सम्मेदशिखर पर्वतपर बंगले बननेके कारण सारे भारतके जैनियोंमें असन्तोष फैल गया है यह जानकर मान्यवर गवर्नर साहबको खेद हुआ है। वे आशा करते है कि इस पत्रसे आप बम्बईमें फैले हुए असन्तोषको दूर करने-का प्रयास करेंगे।'

'आप जानते है कि उक्त पर्वत एक जमीदारका है और वर्तमानमें वह 'कोर्ट आफ़ वार्डस्'के अधिकारमें है। अब यह विचार किया जाता है कि आपकी जैन जाति उक्त पर्वतको खरीद करनेका विचार न कर सकी हो, तथा राजा-का कर्ज पटाकर बंगला नहीं बननेकी बात भी तय न कर सकी हो, इसी प्रकारसे और कोई दूसरा लेने योग्य मार्ग न मिला हो तो भी वर्तमानके समान जब तक मिल्कियत कोर्ट आफ वार्डसके अधिकारमें है तब तक उक्त स्थानपर बंगला बनवानेकी बात छोड़ दी जाती है।'

'इससे आप देखोगे कि सरकारकी इच्छा किसी भी प्रकारसे जैन समाजके धार्मिक विचारोंमें चोट पहुँचानेकी नहीं है। परन्तु यह विषय जैनियों और जमींदारके बीचमें तय होने योग्य है। मान्यवर गवर्नर साहब आशा करते है कि जमींदारके साथ जल्दी समझौता हो जावेगा और जैन जाति सदाकी नाई राज्यभक्त रहेगी।'

इसके बाद पालगंजके राजासे पहाड़को खरीदनेकी चर्चाका सूत्रपात हुआ। सरकारकी प्रेरणा थी कि जैनी लोग दो चार लाख रुपया देकर पालगंजके राजासे फैसला कर लेवें।

इसके पश्चात् ११ जुलाई १९०८ को कलकत्तामें बाबू धन्नूलाल अटर्नी, सेठ परमेष्ठीदास, लाला देवीसहाय, बाबू शीतलप्रसाद, रायबहादुर मुन्नीलाल नाहर, महाराज बहादुरसिंह तथा गुलाबचन्दजी ढड्ढा बंगालके छोटे लाटसे मिले।

छोटे लाटने कहा—हमने डिप्टी कमिश्नर हजारीबागसे पार्श्वनाथ पहाड़ बाबत तहकीकातकी तो मालूम हुआ कि पहाड़की कीमत १५ लाख रुपया होगी। इसपर हमने उजर किया तब वहाँसे डिप्टी कमिश्नरने ७ लाख पक्की कीमत करके भेजी है। विचार करनेसे मालूम हुआ कि अगर हम इसको उपर्युक्त कीमतमें बेचना चाहे तो कोर्टस् आफ़ वार्डस्का कानून इजाजत नहीं देता। कारण, कर्जेसे अधिक रुपएकी जमीन बिक्री नहीं की जा सकती। और शायद राजा पालगंज, जिसकी यह जायदाद हैं, कोई उज्र करे। इसलिये हम यह उचित समझते है कि जैनी लोग राजासे बीचका पहाड़, जो कुछ कर्जा स्टेटका है देकर ले लेवे। और फिर स्टेट छूटनेपर राजासे बाकीका पहाड़ मोल ले लिया जाय। ऐसा करनेसे काम किफायतसे होगा।'

इसपर बाबू धन्नूलालने कहा—अगर हम ऐसा करनेको तैयार होवें तो क्या आप उस बिक्रीकी शर्तमें यह शर्त लिख देंगे कि सम्पूर्ण पहाड़ जैनियोंको बेचा जाय। तब लाट साहबने कहा कि हम ऐसा नही लिख सकते। पश्चात् दिगम्बर श्वेताम्बर भाइयोंने मिलकर कहा कि हमारी मुकर्ररी पहाड़ीके बाबत, जिसमें २॥ लाख नगद तथा ४ हजार सालाना माल गुजारीकी अर्जी दी है, उस पर विचार किया जाये।

तब लाट साहबने कहा कि हम इसपर फिरसे विचार करेंगे और राजा पालगंजके साथ राचीमें ता० १५ अप्रैलके लगभग निपटारा करेंगे।

उस समय मुख्य-मुख्य जैनियोंको हमसे मिलना चाहिये।

तदनुसार राचीमें १६ सितम्बरको छोटे लाट साहबसे दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिनिधियोंकी मुलाकात हुई। दिगम्बरोंकी ओरसे सेठ माणिकचन्द, सेठ परमेष्ठीदास, बाबू धन्नूलाल अटर्नी, लाला देवीसहाय, सेठ हरसुखदास, सेठ हजारीमल और बाबू शीतलप्रसाद थे तथा श्वेताम्बरोंकी ओरसे महाराज बहादुरसिंह और बाबू गुलाबचन्द ढड्ढा उपस्थित थे। छोटे लाटने कहा—'जो ढाई लाख रुपया वार्षिक देकर पहाड़को लेनेके विषयमें दिगम्बरोंकी ओरसे दरखास्त दी गई थी वह नामजूर की जाती है क्योंकि यह रकम बहुत थोड़ी है। यदि जैनी लोग वर्तमान ठेकेदारोंके हकका कायम रखकर तथा राजाको जगल काटनेका और अन्य आमदनीका अधिकार (सिवाय श्वेताम्बरियोंके चढ़ावाके जो १५००) है) बदस्तूर कायम रखकर पहाड़का पट्टा मकर्ररी लेना चाहे तो उनको दो लाख रु० नगद और १५ हजार रुपये सालाना माल गुजारी देनी होगी। अगर तुम्हे स्वीकार हो तो स्वीकारता दो।' इसके उत्तरमें जैन प्रतिनिधियोंने कहा कि हम लोगोकी सामर्थ्य इतने रुपये देनेकी नही है।'

## सम्मेदशिखरपर जैनोंका अटल अधिकार

इसी बीचमें कलकत्ताके प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र बंगालीमें सम्मेदशिखरके विषयमें एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। उसमें कहा है कि पहले सम्मेदशिखरके पूर्ण स्वामी जैनी ही थे। परन्तु इन्होंने अपने प्रतिनिधि हरखचन्द गुलेछाकी मूर्खतासे सन् १८७२ में वह स्वत्व खो दिया और पर्वतके किसी भी भागपर पूजा करनेका और मन्दिर बनवानेका अधिकार रखा। यह एक बहुत बड़ी भारी भूल हो गई है। परन्तु खुशीकी बात है कि इतनेपर भी राजा पालगंज जैनियोंके इच्छाके विरुद्ध पर्वतकी कोई भी जमीन पट्टेपर नही दे सकता क्योंकि उसके साथ सन् १८७२ में जो इकरार नामा हुआ है उसमें लिखा है—पार्श्वनाथ पर्वतपर अथवा नीचे मधुवनमें किसीभी जगहपर श्वेताम्बर जैनी भी मन्दिर धर्मशाला बनाना अथवा सुधारना चाहे तो हम और हमारे वारिस कुछ भी पैसा लिये बिना मन्दिर धर्मशाला तथा टोंके लिए जमीन पत्थर और लकड़ी देनेको बाध्य है। यदि हम देनेमें आनाकानी करें तो श्वेताम्बर जैन सोसायटी अपने अधिकारसे उक्त चीजें ले सकेगी। और ऐसा होनेपर हम हमारे वारिस, प्रतिनिधि अथवा नौकर रोक नही सकेंगे। इसी प्रकार यात्रियोंको ऊपर जाते, नीचे उतरते, मन्दिरमें पूजा अथवा अन्य धार्मिक क्रियाएं करते हुए भी मना नही कर सकेंगे।'

इससे स्पष्ट है कि राजा अथवा उसका प्रतिनिधि सरकार जैनियोंकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी नही कर सकती है। परन्तु जैनी पर्वतकी प्रत्येक जगह पर राजाके इच्छाके विरुद्ध भी अधिकार कर सकते हैं। इसीलिये चर्बीके मुकदमेमें हाईकोर्टने पर्वतके शिखरसे १॥ मीलकी दूरीपर और मध्यकी टेकरीसे और भी विशेष दूरी परसे मि० बाइम साहबको हटाकर जैनियोंके अनुकूल फैसला दिया था। उक्त इकरारनामेसे यह भी सिद्ध होता है कि उसमें केवल बीचकी ही टेकरी पवित्र नही गिनी गई है। किन्तु सम्पूर्ण पर्वत पवित्र माना गया है। हाईकोर्टने भी यही माना गया है। यदि राजा स्वयं

भी सम्पूर्ण पर्वतको पवित्र नहीं मानता तो वह भी मि० वाडमसे ऐसा नहीं कहता कि तुम्हें जैनियोंके इकरारनामेंको मान-कर चलना चाहिये।

यदि राजा पालगंज इकरारनामेकी शर्तोंको मानकर जमीन पट्टेपर देगा तो भी पट्टेसे लेनेवालेको और उसे कुछ भी लाभ न होगा। क्योंकि एक तो जैनी इकरारनामेंकी शर्तोंसे पट्टेपर दी हुई हार एक जमीनको स्वाभाविक रीतिसे मन्दिरादि बनवानेके लिये अधिकृत कर सकेंगे। दूसरे, खूबसूरत बंगलोंके बन जानेपर भी वे दिन दहाडे उनपर हमला कर सकेंगे। और सरकारसे ऐसा इंजेक्शन ले सकेंगे कि पट्टेवाले बंगलोंमें जैनधर्म सम्बन्धी क्रिया पूजादिके सिवाय कुछ भी नहीं कर सकें। और ऐसा करनेसे उन्हे कोई रोक नहीं सकेगा। मि० वाडमके मुकदमेमें भी यही बात हुई थी। इन सब बातोंपर विचार करनेके लिये मैं राजा तथा उसकी प्रतिनिधि सरकारको सम्मति देता हूँ कि उन्हे न्यायपूर्वक कार्य करना चाहिये। यदि ऐसा नही होगा तो राजाको एक बड़े भारी मुकदमेमें फँसकर उसके खर्चमें पिस जाना होगा।

—जैनमित्र ३० जुलाई १९०८

३० नवम्बर सन् १९०८ के सरकारी पत्रके अनुसार बंगाल गवर्नमेण्टने दिगम्बर जैनोंको सदाके लिये सम्मेद-शिखर पहाड़का पट्टा देना मंजूर किया था।

उसका मसविदा नीचे दिया जाता है—

नम्बर ४७९१

मालविभाग भूमिकर शाखा

एफ० डब्लु ड्यूक महाशय आई० सी० एस० आफिशियेटिंग प्रधानमन्त्री बंगालकी तरफसे—
सालिसीटर भारत सरकार—सरकारी वकीलकी सेवामे—
तारीख, कलकत्ता ३० नवम्बर १९०८ ई०
महाशय,

आपके सूचनार्थ मझको यह प्रकट करनेकी आज्ञा हुई है कि श्रीमान् लेफ्टेण्ट गवर्नर (छोटे लाट बंगाल) साहबने हजारीबाग जिलेमें स्थित पालगंज जमीदारकी मिल्कियतका पारसनाथ हिल नामक पहाड सदाके लिये (मुकर्ररी) पट्टा दिगम्बर जैनियोंको नीचे लिखी शर्तोंपर देनेकी आज्ञा प्रदान करनेमें प्रसन्नता प्रकट करती है—

(१) सम्पूर्ण पर्वत सदाके लिये (मुकर्ररी) पट्टा दिगम्बर जैनियोको उन शर्त, लिखापढी और रुकावटोके अधीन दिया जायगा जिनका वर्णन आगे हैं जिसमे पहाड़की हर एक ऐसी बातमे रक्षा की जाये जो कि जैनियोंके विचारों और धार्मिक असूलोंके विरुद्ध हों अथवा उनको घृणा उत्पन्न करनेवाली हो।

(२) यह पट्टा वर्तमानके पट्टो और बन्दोवस्तोंको कायम रखकर होता है। परन्तु इन वर्तमानके पट्टों और बन्दोवस्तोमे जो आमदनी आयेगी वह दिगम्बर जैनोको जायगी। वे वसूल करेंगे और उनको दी जायेगी। लेकिन शर्त यह है कि इन पट्टोंके सम्बन्धमे अगर कोई रकम २०००) रुपयेके ऊपर वसूल की जायेगी तो वह रकम नीचे लिखी हुई १२०००)की वार्षिक अदा करनेवाली रकममे बढ़ा दी जायगी।

(३) दिगम्बर जैनियोंने पचास हजार रु० की एक चेक बतौर नजरानेके दे दी हैं आगे कोई अधिक नजराना नहीं माँगा जायगा।

(४) दिगम्बर जैनियोंको बतौर भूमिकरके १२०००) प्रतिवर्ष भी देना होगा। इस बारह हजारकी रकममे वह १५००) रुपये की रकम शामिल रहेगी जो अब हर वर्ष श्वेताम्बर जैनियों द्वारा दी जाती है।

(५) पालगंज जमींदारको सिर्फ इस नजरानेके, ऊपर कहे हुए भूमिकरके, दूसरे पैरामें कहे गये दो हजार रुपयोंके ऊपर बढ़तीके, तथा आगे सातवें पैरामें कहे हुए मातहती पट्टोंके भूमिकरोंके भी लेनेका हक होगा। उसको यह भी हक होगा कि अपनी खास और अपनी मौजूदा रियासतकी जरूरतके अनुसार जंगल काट सके। परन्तु ऐसा जंगल काटना डिप्टी कमिश्नर साहबके बनाये हुए उन नियमोंके अनुसार किया जायगा कि जिन नियमोंको कमिश्नर साहब मंजूर कर लें। उस वक्त किस किस्मकी लकडी काटी जाय, किस वक्त काटी जाय और काटनेकी पूर्ति और अवस्थाएँ क्या हों, यह सब निर्णय कर दिया जायगा। पहाड़के ऊपर खान खोदनेका हक बिल्कुल जमींदारका रखा जायगा। परन्तु कोई कारवाई खानोंकी उन्नति करने, उनके चलाने, एकत्र करने रक्षा करने या हटानेके सम्बन्धमें कमिश्नर साहबसे

मंजूर हुई डिप्टी कमिश्नर साहबकी आज्ञा बिना और जैनियोंकी रजाबन्दीके बिना नहीं की जायेगी। ऐसी जैनियोंकी रजामन्दी केवल उसी वक्त कामको रोक सकेगी जब कोई बात जैनियोंके धार्मिक विचारों मे घृणा उत्पन्न करनेवाली की जायेगी। इसके बाहर जमींदारको दूसरा कोई हक, लाभ, दावा अथवा ऊपर कहे हुए पहाड़के किसी भागके ऊपर अधिकार न रहेगा, जब तक कि तय की हुई वार्षिक रकम बराबर अदा कर दी जायगी।

(६) पहाड़की सरहद्दी डिप्टी कमिश्नर साहब द्वारा कायम की जायगी जिसमेसे मैदानमे बसे हुए गाँव निकाल दिये जायेंगे। जिससे वर्तमानके पट्टे और हकोंके बर्ताव करनेमे बहुत सुभीता प्राप्त हो।

(७) दिगम्बर जैनोंको यह हक नही होगा कि वे ऊपर कहे हुए मौजूदा पट्टोंमे अभी नहीं रोकी हुई जमीनके कोई टुकडे या उसके कोई भागके सम्बन्धमे कोई अपने अधीनी पट्टा बिना पालगंज जमींदारकी लिखित रजामन्दीके दे सकें। और ऐसे मातहती पट्टोंमेसे जो भूमिकर आयगा वह जमींदार पालगंजको दिया जायगा।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप जैनियोंके द्वारा चुने हुए किसी वकीलकी सम्मतिसे एक इकरारनामेका मसविदा तैयार करे जिसमे ऊपर लिखी शर्ते शामिल हो, जो शर्ते दिगम्बर जैनियों-के द्वारा मंजूर की जा चुकी हो कि इसके अनुसार कारवाई (१) हजारीबागके डिप्टी कमिश्नर, जो अब छोटा नागपुर उनकम बार्ड स्टेट्स काननके अधीन कोर्ट आफ वार्ड द्वारा पालगंज राज्यके प्रबन्धकर्ता नियत है तथा (२) पालगंजके राजा (३) बाबू घन्नलाल अग्रवाल और परमेष्ठीदास सरावगी जो दिगम्बर जैनोके प्रतिनिधि है, करे।

मै हूँ आपका आज्ञाकारी सेवक
एफ० डब्लु० ड्यूक
आफिशियेटिंग प्रधानमंत्री बंगाल सरकार

ऊपर प्रकाशित पत्रके अनुसार बंगाल सरकारने जो दिगम्बर जैनोंको पारसनाथ पहाड़का पट्टा देना मजूर किया था उसे भारत सरकारने नामजूर कर दिया। और उसकी सूचना बंगाल सरकारके आफिशियेटिंग सेक्रेट्रीकी ओरसे दि० जैनोके वकील मेसर्स मारगन एण्ड कम्पनीको एक पत्र द्वारा दे दी गई। उस पत्रका हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जाता है—

नं० १३८० टी० आर०

डब्लु० आर० गौरले महाशय आई० सी० एस० आफिशियेटिंग सेक्रेटरी बंगाल सरकारकी तरफसे—

मार्गन एण्ड कम्पनी, नं० ३ हेस्टिंगस स्ट्रीट कलकत्ताकी सेवामे

मालविभाग, भूमिकर शाखा, दारजिलिंग ६ सितम्बर १९१० ई०

महाशयो!

आपके सूचनार्थ मुझे यह प्रकट करनेकी आज्ञा हुई है कि कि राजा पालगंजकी तरफसे, जिसकी मिल्कियत कोर्ट आफ वार्डस्के प्रबन्धमें है, बंगाल सरकारने हजारीबाग जिलेमें स्थित पारसनाथ हिल नामक पहाड़का (मुकररी) पट्टा दिगम्बर जैन सम्प्रदायको उन शर्तो पर देना मजूर कर लिया था जो आपके मवक्किल सेठ परमेष्ठीदास सरावगी और बाबू घन्नूलाल अग्रवालकी चिट्ठी ता० २६ नवम्बर १९०८ की मे दर्ज है। परन्तु श्वेताम्बरी सम्प्रदायका पहला हक देखकर भारतसरकार, जिसको इस मामलेकी रिपार्ट की गई थी, सन १९०८ के नवम्बरमे बंगाल सरकार द्वारा किये हुए बन्दो-बस्तको अमलमे लानेमे न्याय नही समझती। इस लिये मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप कृपाकर अपने मुवक्किलोको यह सूचना दीजिये कि जो बन्दोबस्त सन् १९०८ के नवम्बरमे किया था वह रद्द होगया। और बंगालके एकाउन्टेन्ट जनरलको हुक्म दिया गया कि वह आपके मवक्किलोको ५००००) रुपया जो उन्होने बतौर नजरानेके दिये थे ४) रुपया फीसदी ब्याज सहित वापिस करदे।

मै हूं महाशय आपका आज्ञाकारी
डब्लु० आर० गौरले
आफिशियेटिंग सेक्रेट्री बंगाल सरकार
(२१ सितम्बर १९१० के जैनमित्रसे)

## देहलीमें सभा

उक्त सरकारी आदेश प्राप्त होनेके बाद २६ अक्टूबर १९१० को देहलीमें समस्त भारतके मुख्य-मुख्य दिगम्बर जैनोंकी सभा सम्मेदशिखरजीके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये हुई। इसमें बम्बई, सूरत, कलकत्ता, गया, लाहौर, फिरोजपुर, खुरई, ललितपुर, जबलपुर, मुजफ्फरनगर, अम्बाला, अलीगढ़, खुर्जा, सहारनपुर, हाथरस, आगरा, फिरोजाबाद एटा, इन्दौर, लखनऊ, बड़ौत, मेरठ, जयपुर, इलाहाबाद, हजारीबाग, सुनपत आदि स्थानोंसे करीब ४०० सज्जन पधारे थे। और करीब १०० सज्जन देहलीके थे। इसमें बाबू ईश्वरीप्रसाद रईस खजांची देहली सभापति, बा० प्यारेलाल वकील देहली उपसभापति और बाबू धन्नूलाल अटर्नी कलकत्ता मंत्री चुने गये।

बा० धन्नूलालने सम्मेदशिखरका विवरण दिया कि किस तरहसे उसपर बंगले बनाये जानेकी आज्ञा रद्द हुई, किस तरह दिगम्बर जैन समाजको सारा पर्वत पट्टेपर दिया जाना स्वीकार हुआ तथा हमारा जो पचास हजार रुपया नजराना जमा था वह भी बादको ४॥) फ़ीसदी ब्याज देकर वापिस कर देनेका हुक्म हुआ।

पश्चात् दानवीर जैन कुलभूषण सेठ माणिकचन्दजीके प्रस्ताव और बा० धन्नूलाल अटर्नीके समर्थन तथा बाबू अर्जुनलाल सेठीके अनुमोदनसे नीचे लिखा प्रस्ताव पास हुआ।

प्रस्ताव नं० १—समस्त भारतके दिगम्बर जैन, जो इस सभामें एकत्र है, अपना क्षोभ और आश्चर्य प्रकट करते हैं कि गवर्नमेण्ट हिन्दने गवर्नमेण्ट बंगालको उस पट्टेको रद्द करनेकी आज्ञा दे दी है जो कि उसने जैनसमाजके दिगम्बर जैन सम्प्रदायको प्रदान की थी। और वे और भी ज्यादा क्षोभित और आश्चर्ययुक्त इस बात पर हैं कि उनको कोई समय इस मामलेमें पैरवी करनेका नहीं दिया गया। अतएव प्रार्थना है कि इस मामले पर फिरसे ध्यान दिया जावे और एक नकल इस प्रस्ताव की तारद्वारा गवर्नमेण्ट हिन्दको भेजी जावे।

दानवीर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौरके प्रस्ताव और बा० सुल्तानसिंह मेरठके समर्थनसे दूसरा प्रस्ताव इस प्रकार पास हुआ—

प्रस्ताव नं०२—यह सभा प्रस्ताव करती है कि दिगम्बर सम्प्रदायका क्षोभ प्रकाश करनेके लिये एक निवेदनपत्र तैयार किया जावे और वह जनाब नवाब वायसराय और गवर्नर जनरल साहबकी सेवामें भेजा जाये और एक कमेटी ११ सदस्योंकी इस निवेदन पत्रको तैयार करनेके लिये नियत की जाये।

तीसरा प्रस्ताव रायबहादुर घमण्डीलालने उपस्थित किया वह पास हुआ।

प्रस्ताव नं०३—जनाब नवाब वायसराय गवर्नर जनरल साहब बहादुर हिन्दुस्तानसे प्रार्थना की जावे कि वे कि वे जैन समाजके उच्च जैनियोंके डेपुटेशनसे मिलनेकी आज्ञा प्रदान करें और उसके बतलाये हुए दिगम्बर जैन समाजके हक हकूकपर कृपाकर गौर करें। ऐसा डेपुटेशन ११ से लेकर १५ मनुष्योंका तैयार हो।

सेठ कल्याणमलजी इन्दौरके प्रस्ताव और बाबू प्यारेलालजीके समर्थनसे चौथा प्रस्ताव पास हुआ।

प्रस्ताव नं० ४—भारतवर्षीय दि० जैन महासभाकी तीर्थ क्षेत्र कमेटीको अधिकार दिया जावे कि वह सरकारसे पत्रव्यवहार करे और सरकारसे उत्तर आने पर जो जरूरी कारवाई हो वह करती रहे। और उसे यह अधिकार भी दिया जावे कि इस कार्यके लिये वह अपने सभासदोंमेंसे दो या अधिकको जरूरी अधिकार आवश्यकतानुकार दे।

इसके पश्चात् प्रयत्न करने पर भी कोई सुनवाई नहीं हुई और सम्मेदशिखर पहाड़ श्वेताम्बर समाजको दे दिया गया। यह पहाड़के पट्टेकी कहानी है।

●

# प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

जैन गजट अंक ७ तारीख १६ फरवरी सन् १९०२ में 'प्रश्नावली' इस शीर्षकका लेख एक जैनीकी तरफसे छपा है जिसमें प्रश्नकर्त्ताने प्रतिष्ठा करानेवाले पण्डितोंके सम्बन्धमें ७ प्रश्न किये हैं। उन प्रश्नोंका उत्तर देना ही इस लेखका उद्देश है।

प्रश्न १—पण्डित भागचन्दजीने प्रतिष्ठाकी परिपाटी क्यों चलाया ?

उत्तर—क्योंकि आजकलके तरह पन्थियोंने प्रतिष्ठा करानेसे उपेक्षा ग्रहण कर रक्खी थी, इस कारण प्रतिष्ठाकी परिपाटीका तेरह पन्थियोंमें प्रचार करना ही उनका मुख्य प्रयोजन था।

प्रश्न २—भागचन्दजीने प्रतिष्ठा कराई कुछ लिया या नहीं ?

उत्तर—कुछ नहीं लिया।

प्रश्न ३—तो अब पण्डित लोग क्यों लेते हैं ?

उत्तर—पहिले कस्तूरचन्दजी बंडी अथवा अमरचन्दजी दीवान सरीखे धर्मात्मा धनाढ्य भक्तिपूर्वक पण्डितोंकी आर्थिक सहायता करते थे। परन्तु आजकलके धनाढ्य लोभी और जनवक्र रह गये हैं। पण्डितोंमेंसे भी किसी लोभिष्ठ महात्माने उनका अनुकरण कर दिखाया। फिर क्या था ? लोभी गुरु लालची चेला। दोउ जगतमें ठेलमठेला'की लोकोक्ति सार्थक हो गई।

प्रश्न ४—जो लोग लेते हैं वे समाजमें प्रतिष्ठित हैं या अप्रतिष्ठित ?

उत्तर—जो ठहराव करके लेते हैं वे अप्रतिष्ठित हैं।

प्रश्न ५—भट्टारक लोग जो प्रतिष्ठा कराईका बहुतसा धन मन्दिर, धर्मशाला आदिमें लगा भी दिया करते थे। पण्डित लोग यह धन कहा लगाते हैं ? क्या यह जैनियोंके पुरोहित हैं ?

उत्तर—भट्टारक लोग गृहस्थी नहीं थे। इस कारण उनका बहुतसा धन मन्दिर धर्मशालाओंमें लगता था। परन्तु पण्डित गृहस्थी हैं इस कारण उनका बहुतसा धन गृह-जंजालमें ही लगता है। यह पण्डित जैनियोंके पुरोहित नहीं है। किन्तु बराबरके भाई हैं क्योंकि जैनी और आजकलके वैश्य पण्डित दोनों एक ही वर्णके हैं। परन्तु ब्राह्मण पण्डितो-को शायद पुरोहित या गृहस्थाचार्य कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगी।

प्रश्न ६—यदि पण्डितोंको उक्त धन लेना उचित नहीं है तो पण्डितोंकी जीविका का क्या उपाय है ? यदि यह कहा जाय कि जीविका दूसरे कामोंमें करो, पण्डिताईमें नहीं, तो कोई पण्डित रोज-रोज प्रतिष्ठा कराने देश परदेश नहीं जावेगा। और उस समय तक कोई भी धुरन्धर पण्डित नहीं हो सकता जब तक उसका सारा समय लिखने पढ़नेमें व्यय न हो ?

उत्तर—पण्डितोंकी जीविकाका उपाय वर्णानुसार है। यदि पण्डित वैश्य है तो उसकी जीविकाका उपाय वाणिज्य है। यदि ब्राह्मण है तो वैश्योंके द्वारा दिया हुआ भक्तिपूर्वक द्रव्य ही उसकी जीविकाका उपाय है। प्रतिष्ठा कारकोंका चाहिये कि ब्राह्मण पण्डित ( गृहस्थाचार्य )से प्रतिष्ठा कराकर भक्तिपूर्वक उसका आर्थिक सत्कार करें। गृहस्था-चार्य भी किसी सन्तोषीको बनाना चाहिये। और ऐसे ब्राह्मण पण्डित अथवा गृहस्थाचार्य ही निरन्तर विद्याभ्यासमें काल व्यतीत होनेसे धुरन्धर पण्डित हो सकते हैं।

प्रश्न ७—क्या उपाय है कि जैनियोंमें धुरन्धर पण्डित हो और उनकी जीविका निर्दोष हो और जैनी मात्र उनका आदर सत्कार उसी तरह करें जैसा वैष्णव भाई एक उत्कृष्ट ब्राह्मण पण्डितका करते हैं।

उत्तर—जैनधर्म प्राचीन है। आजकल जो प्रचार और क्रिया ब्राह्मणोंमें दीखती है वह सब जैनियोंकी ही है। केवल पदार्थ और अभिप्रायोंमें फरक पड़ गया है। उस समय तक धुरन्धर पण्डित नहीं हो सकते जब तक कि उसका सारा समय लिखने पढ़नेमें व्यय न हो। और जब तक आजीविकाकी तरफसे निश्चिन्तता नहीं होगी तब तक सारा

समय लिखने पढ़नेमें व्यय नहीं हो सकता और आजीविकाकी निश्चिन्तता जब ही होगी जब कि धनकी आमदनीका एक भिन्न द्वार खोला जाये। यही सब समझकर भरत महाराजने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था। इनकी आजीविकाके निमित्त इतर वर्णवाले भक्तिपूर्वक द्रव्य अर्पण करते थे। और यह ब्राह्मण लोग आजीविकासे निश्चिन्त होकर निरन्तर विद्याभ्यास करके न्याय, व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, गणित, वैद्यक, ज्योतिष मन्त्रशास्त्र आदि अनेक विद्याओंके पारगामी धुरन्धर पण्डित होते थे। इन ही ब्राह्मणों द्वारा इतर वर्णवालोंके सन्तानका संस्कारकरण, सन्तानको विद्याभ्यास कराना, जन्मपत्र वर्षफलादिक बनाना, भूत पिशाचादिकोंसे मन्त्र द्वारा रक्षा करना, बीमारोंका इलाज करना, धर्म शास्त्र सुनाना इत्यादि अनेक उपकार होते थे। परन्तु फर्क केवल इतना ही पड गया है कि पहले धनाढ्य वैश्य सरल और उदार होते थे, इस कारण ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक आर्थिक सहायता हमेशा करते रहते थे और ब्राह्मण लोग सन्तोषी व समदर्शी होते थे कि जो जितना मिला उतनेमें ही सन्तोष करके धनाढ्य और दरिद्रीको समान दृष्टिसे देखते थे। परन्तु आज-कल कालदोषसे धनाढ्य तो जड और कृपण हो गये, इस कारण सब कार्य मुफ्तमें ही निकालना चाहते हैं। और ब्राह्मण लोभाविष्ट और विषमदर्शी हो गये, इस कारण बिना पैसे कुछ भी कार्य न करके धनाढ्योंकी खुशामद और दरिद्रोंमे उपेक्षा करने लग गये। इसलिये दोनोंको चाहिये कि अपने-अपने दोष निकालकर दूर करें तो यथार्थ मार्गकी प्रवृत्ति हो जाय। अथवा ऐसा तो है नहीं कि सब एकसारखे हो जायेंगे। जो दोषी होंगे वे निन्द्य कहलावेंगे। और जो निर्दोष होंगे वे प्रशंसाको प्राप्त होंगे। अजीर्ण होनेके भयसे भोजनका त्याग करना बुद्धिमानोंका काम नहीं है। इस कारण अब समस्त जैनी भाईयोंसे प्रार्थना है कि जो इस जिनधर्मकी ऐसी अवनति देखकर आपके हृदयमे चोट लगी है, यदि आप जैनियोंमे धुरन्धर पण्डितोंके दर्शनाभिलाषी है और यदि इस दशाको सुधारनेकी अन्तः-करणमे सच्ची उत्कण्ठा है तो दक्षिण देशमे रहे सहे ब्राह्मणोंका जीर्णोद्धार करके इस धर्मको धुरन्धर पण्डितोंसे परिपूर्ण-कर दीजिये। इसका सहज उपाय यही है कि दक्षिण देशके जैन ब्राह्मण बालकोंमेसे अच्छे-अच्छे तीक्ष्ण बुद्धिवाले दस बीस बालकोंको लाकर उनको उत्तम पारितोषिक देकर अपने विद्यालयमे उनको उच्चश्रेणीकी विद्याभ्यास कराओ। आज-कलकी प्रणालीमे धुरन्धर विद्वानोंका होना कष्टसाध्य ही नहीं, किन्तु असम्भव है। परन्तु यह कार्य भी बिना धनकी सहायताके नही हो सकता। इस कारण समस्त सज्जनोंसे प्रार्थना है कि विद्यालयमेसे आर्थिक न्यूनताकी न्यूनता कीजिये।

जैनमित्र
फाल्गुन, सं० १९५८

समस्त सज्जनोंका दास
गोपालदास बरैया

# अन्य प्रश्नोंके उत्तर

•

प्रश्न—गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणके अनुसार सीता मन्दोदरीके गर्भमे उपजी है कि रविषेणाचार्य रचित पद्मपुराणके अनुसार विदेहाके गर्भमे—

उत्तर—बालकसे बालक भी इस बातको समझ सकता है कि जब सीता उत्तरपुराणमे मन्दोदरीकी पुत्री और पद्मपुराणमे विदेहाकी कही गई है तो इन दोनोमे से केवल एकका ही वचन सत्य हो सकता है। यद्यपि उत्तरपुराण मूलसंघाम्नायका और पद्म काष्ठासघाम्नायका है और जहाँपर प्रमाण अप्रमाण विषय विवादापन्न होगा वहाँ केवल मूलसंघाम्नायके वचन ही प्रमाण माने जायेगे। परन्तु यहाँ यह विषय न छेडकर उत्तरकी ओर झुकते है। और जब दोनों वचनोमें एक ही वचन सत्य है तो दूसरेको असत्यता स्वय सिद्ध है। वाचक वृन्द! यह भी अच्छी तरहसे जानते है कि इन ग्रन्थोके रचनेवाले स्वय सर्वज्ञ नही थे, किन्तु गुरुपरम्पराकी प्रणालीसे इनके वचन सर्वज्ञके वचनोके अनुसार है। जब इन ग्रन्थोके रचनेवाले सर्वज्ञ नही अर्थात् छद्मस्थ (अल्पज्ञ) थे तो सम्भव है कि उनके वचनोमे कहीपर भूल रह जाय।

सर्वज्ञदेवने भव्य जीवोको मोक्षमार्गका उपदेश दिया था। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोकी एकता बताई थी। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया था। पदार्थोंके नव भेद बताकर उनमे पुण्य और पाप भी दो पदार्थ बताये थे। पुण्यका फल अच्छा और पापका फल बुरा बताया था। इन्ही पुण्य-पापोका अच्छा और बुरा फल दिखलानेके लिये राम रावणका दृष्टान्त दिया था और उस दृष्टान्तमें सीताको एक राजा-रानीकी पुत्री बताई थी। सर्वज्ञदेवकी शिष्यपरम्परामे यदि गुणभद्रस्वामीने मन्दोदरीको पुत्री, रविषेण स्वामीने विदेहाकी पुत्री लिख दी तो नव पदार्थोंमेसे कौनसे पदार्थका लक्षण दुष्ट हो गया।

इसमे कोई सन्देह नही कि सर्वज्ञदेवने सीताको चाहे विदेहाकी पुत्री बताई हो या मन्दोदरीको बताई हो, परन्तु दोनोमेसे एककी अवश्य बताई होगी। और हमारे इन शास्त्रोमे तो दोष जब आता जब हम इन्हे साक्षात् सर्वज्ञरचित कहते। परन्तु हम तो इन्हे साक्षात् छद्मस्थ रचित और परम्परा सर्वज्ञरचित कहते है। सम्भव है कि छद्मस्थके ज्ञानमे विस्मरण हो जावे। और जो यह कहा जाता है कि जब इनमे भूल रह गई तो सशोधन करना चाहिये। सो यह अन्तरित (बहुत कालका) विषय है इसको प्रत्यक्ष ज्ञानी बिना कोई ठीक नही कर सकता। और न इस विषयके संशोधनकी आवश्यकता है, क्योकि यह अशुद्धि केवल दृष्टान्तमात्रमे तत्त्वसे अविरुद्ध है। अत ऐसे मिथ्या झगडा उठानेमे कोई सार नही है।

प्रश्न—सर्वज्ञ त्रिकाल ज्ञाता है—अनन्तानन्त कालकी जानते है और उन्हीकी वाणीके अनुसार हालके जैनग्रन्थ प्रचलित है तो आप किसी भी वर्तमान जैन ग्रन्थमे बतला सकते है कि सबमे प्रथम सिद्ध कौन हुआ? क्योकि यह तो नियम ही है कि सिद्ध कर्म काटके हुए है और क्रमसे हुए है। इतना याद रहे कि हम इस कल्पकालका प्रथम सिद्ध नही पूछते, सर्व सिद्धोमेसे प्रथम सिद्ध पूछते है?

उत्तर—प्रश्नकर्त्ताकी यह बडी भारी भूल है कि उनके ज्ञानमे सिद्धोकी सख्या सान्त और उनकी उत्पत्ति सादि प्रतिभासित हुई है। यदि एसा नही होता तो यह प्रश्न ही नही उठता। जिस पदार्थकी संख्या अनन्त और उसकी उत्पत्ति अनादि होती है उसका किसी भी कालमे अभाव नही होता। रही सर्वज्ञके विषयमे, सो सर्वज्ञ तो सर्व ही पदार्थके ज्ञाता है। इसलिये उनके ज्ञानमे सिद्धोकी सख्या अनन्त और उनकी उत्पत्ति अनादि प्रतिभासित हुई है। और सब सिद्ध अनन्त है तथा उनकी उत्पत्ति अनादि है तो जब सब सिद्धोमेसे प्रथम सिद्ध हो ही नही सकता तो सर्वज्ञके ज्ञानमे झलकने ही क्यो लगा और जैनग्रन्थोमे उसका कथन आवे कहाँ से? शायद पाठक अब भी नही समझे हो तो उनको सुखबोधार्थ एक दृष्टान्त द्वारा समझाते है—

बहुत बड़ी एक किताब ऐसी बनाओ, जिसमें कुछ भी न लिखा हो। इस पुस्तकमें पहले आप अपना नाम लिखिये फिर अपने कुटुम्बके सब मनुष्योंका नाम लिख डालिये। उसके पीछे अपनी जातिके भी सब मनुष्योंका नाम लिख डालो। पश्चात् जितने मनुष्योंके नाम आपने लिखे हैं उन सबके माता पिताओंके नाम लिख डालिये और फिर उनके माँ बापोंके नाम, फिर उनके माँ बापोंके नाम और इस ही प्रकार लिखते-लिखते अनादि सन्ततिरूप जितने माँ बाप हुए हैं उन सबके नाम लिख डालो। किसीका भी नाम बाकी न रह जावे। यदि हाथसे लिखनेकी सामर्थ्य न हो तो ज्ञानमें ही लिख डालना, लेकिन कोई बाकी न रह जाये। अब उन नामोंके सामने उनके जन्मका भी समय लिख डालिये। अब कृपा करके यह बताइये कि इस पुस्तकमें आपने जितने मनुष्योंका नाम लिखा है इनमें सबसे पहले किसका जन्म हुआ ? यदि कहोगे कि इनमें सबसे पहले कोई हो नहीं सकता तो सिद्धोंमेंसे सबसे पहले कैसे हो जायगा। यदि कहोगे कि अमुक मनुष्य सबसे पहले जन्मा है तो बिना माता पिताके उसकी उत्पत्ति कैसे हो गई, कार्यकारणभावका भंग हो जायेगा। यदि कहोगे कि सिद्धोंमेंसे हर एक सिद्ध कर्मोंको नाश करके हुआ है तो इन मनुष्योंमेंसे भी प्रत्येक मनुष्य गर्भसे उत्पन्न हुआ है। बहुत कहनेसे क्या, इस दृष्टान्तसे बाल गोपाल भी समझ सकते हैं कि जिस पदार्थकी उत्पत्ति अनादिकालसे होती आई है उसमें किसी एककी प्रथम संज्ञा नहीं हो सकती है। सिद्धोंकी उत्पत्ति भी अनादि कालसे है इसलिये उनमें भी किसी की संज्ञा प्रथम नहीं हो सकती। न्यायकी शैलीमें इस उत्तरका अनुमिति प्रयोग इस प्रकार है—

सिद्धेषु न कोऽपि प्रथमः, अनाद्युत्पत्तिमत्वात्, मनुष्यादिवत्।

अर्थात् सिद्धोंमें कोई भी सिद्ध प्रथम नहीं है; क्योंकि इनकी उत्पत्ति अनादि कालसे है। जिस-जिस पदार्थकी उत्पत्ति अनादि कालसे होती है उस-उसमें कोई भी प्रथम नहीं होता। सिद्धोंकी उत्पत्ति भी अनादि कालसे है, इसलिये इनमें कोई प्रथम नहीं है।

प्रश्न—संसारी सर्व जीव व सर्व सिद्ध सर्वज्ञको गुणपर्याय सहित पृथक् २ दीखते हैं कि समुदायरूप ?

उत्तर—सर्वज्ञ समस्त पदार्थोंका जाननेवाला ही होता है, इस कारण पृथक् पृथक् भी जानता है और समुदाय रूप भी जानता है।

प्रश्न—अनन्त व असंख्यात शब्दकी परिभाषा क्या है ?

उत्तर—अनन्त व असंख्यात यह एक संख्याविशेषकी संज्ञा है। इनका सविस्तार स्वरूप गोम्मटसार और त्रिलोकसारमें लिखा है उन्हें निकालकर देखिये।

प्रश्न—अनन्तके व असंख्यातके तीन-तीन भेद कहे हैं अर्थात् परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात, परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त। यहाँ पहलेसे दूसरेको दूसरेसे तीसरेको अधिक अधिक कहा, तब पहिलेकी संख्या हुई या नहीं ? और ऐसे ही अन्त हुआ कि नहीं हुआ ?

उत्तर—सास्नादिमत्त्व विशिष्ट पदार्थकी संज्ञा गौ है। गौ शब्दका अर्थ है कि—जो गमन करे सो गौ। तो स्थित अवस्थामें गौपनेका अभाव हुआ कि नहीं ? यदि कहो कि गौ शब्द रौढिक है तो असंख्यात, अनन्त इन शब्दोंको भी रौढिक होनेमें कौन रोक सकता है। परन्तु इतना ध्यान रखना है कि जिनमत अनेकान्तात्मक है। जो पदार्थ एक अपेक्षासे एक-स्वरूप है वही दूसरी अपेक्षासे अन्य स्वरूप हो सकता है। इसलिये जो संख्या अल्पशक्ति और अल्पज्ञोंकी अपेक्षासे असंख्येय और अनन्त है वही संख्या महाशक्तिवाली तथा महाज्ञानियोंकी अपेक्षा संख्येय और सान्त हो सकती है। परन्तु उसमें भी इतना विशेष है कि अनन्तके दो भेद है, एक सक्षय अनन्त और दूसरा अक्षय अनन्त। अर्थात् अक्षय अनन्त महाज्ञानियोंकी अपेक्षा भी अन्तरहित है। यदि यह कहोगे कि सर्वज्ञने उस अक्षय अनन्तका अन्त देखा कि नहीं ? यदि देखा तो अक्षय अनन्त नहीं रहा और यदि नहीं देखा तो सर्वज्ञत्व नहीं। सो ऐसा प्रश्न भ्रममूलक है क्योंकि सर्वज्ञ उसहीको कहते है कि जो समस्त पदार्थोंको जैसेके तैसे जाने। सर्वज्ञने अनन्त पदार्थको अनन्त जाना है। यदि सर्वज्ञ अनन्त पदार्थको सान्त जान ले तो सर्वज्ञका ज्ञान ही मिथ्या हो जाये। यहाँ पर यदि कोई कहे कि, जो अनेक पदार्थ अनन्त हैं तो उनमेंसे अन्त तो किसी का आवेगा ही नहीं तो फिर उनमें एक अनन्त छोटा और दूसरा अनन्त बड़ा यह कल्पना नहीं हो सकती, सो ऐसा कहना बाल विलासवत् है। जरा इस दृष्टान्तको ध्यान देकर विचारिये कि संसारमें तीन अनन्त पदार्थ समान हैं। तीनों ही की संख्या अन्तरहित है। इन तीनोंमसे पहली दो संख्याओंका जोड़ तीसरे पदार्थकी संख्यासे अधिक होगा। यह जिसने थोड़ा-सा भी गणित अध्ययन किया है वह सहजमें समझ सकता है। परन्तु हाँ, यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि संसारमें कोई

भी पदार्थ अनन्त हो ही नहीं सकता और इस ही आशयको लेकर प्रश्नकर्ताने आगेके तीन प्रश्न किये है अतः उनका भी उत्तर इस ही प्रश्नके उत्तरके साथ साथ देना उचित समझते है। वे तीनों प्रश्न इस प्रकार हैं—

प्रश्न १—जब नवीन जीव नहीं उपजते, न एक जीवके अनेक जीव होते हैं, न सिद्धालयसे लौटके संसारमें आते हैं और क्रमशः मुक्त होते ही जाते हैं तो संसारमे जितने भव्य जीव हैं यदि उतने ही वा अधिक कल्पकाल हो जावेंगे तब भी संसारमे भव्यराशिका अभाव होगा कि नही ?

प्रश्न २—जो वस्तु सदा चक्कर खाती है उसको तो अनादि अनन्त कहना सम्भव है परन्तु जो क्रमशः एक स्थानसे दूसरे स्थानको चली जाती है और लौटकर नही आती न नवीन उत्पन्न होती है उनका कभी न कभी प्रथम स्थानमें अभाव होना क्यों सम्भव नही है ?

प्रश्न ३—जहाँ आमदनी और खर्च समान है वहाँ वस्तु सदा विद्यमान रह सकती है परन्तु जहाँ आमदनी नहीं, सिर्फ सदा खर्च ही है तो उसका अभाव कभी क्यो न होगा ?

उत्तर—भव्यराशेरभावो न भविष्यति अक्षयानन्तत्वात् मातृसन्ततिवत्—अर्थात् ससारमेंसे सदा मुक्तिको जाते रहनेपर भी तथा नवीन जीव उत्पन्न न होनेपर भी तथा सिद्धालयसे लौटकर न आनेपर भी भव्यराशिका कभी अभाव नही होगा, क्योंकि भव्यराशि अक्षयानन्त है। जो जा राशि अक्षयानन्त होती है उसका कदापि अन्त नही होता, जैसे मातृसन्तति। संसारमे समस्त न्यायवेत्ताओका यह सिद्धान्त है कि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति कदापि नही होती। मनुष्य एक कार्य है इसलिये इसकी भी उत्पत्ति बिना कारणके नही हो सकती। मनुष्यका कारण है रजवीर्यका संयोग। और उसमे जिसका रज हो उसकी संज्ञा है माता। इससे सिद्ध है कि मनुष्यकी उत्पत्ति उसकी माताके बिना नहीं हो सकती। प्रश्नकर्ता जब मनुष्योंसे बाहिर नहीं है तो यह बात स्वयं सिद्ध है कि उनकी उत्पत्ति उनकी मातासे है। परन्तु उनकी माता भी मनुष्य है इस कारण उसकी उत्पत्ति भी किसी मातासे होना सम्भव है। फिर उस माताकी उससे, उसकी उससे इस प्रकार गिनते गिनते बहुत-सी माता हो जावेंगी। यो गिनते शायद प्रश्नकर्ताकी जिह्वा थक जाय, इस कारण प्रार्थना है कि आप उक्त प्रकारसे अपनी माता फिर उसकी माता, फिर उसकी माता, फिर उसकी माता, इस ही प्रकार सब माताओंके नाम लिख डालिये। यदि थक जावें तो किञ्चित् विश्राम ले लीजिये।

'बस साहिब ! अब तो बहुत देर हो गई जल्दी लिखिये ! कहिये तो आप अपनी सब माताओंके नाम लिख चुके ?

नहीं साहब ! अभी तो बहुत बाकी है।

तो फिर यह तो बताइये कि यह नाम कब तक लिख सकेगे !

अजी ! ये तो निवटते ही नही, क्या जाने कब पूरे होगे ?

अजो ! कही एक नामको दूसरी बार मत लिख जाना, जिससे चक्कर वध जावे ! 'नही जी ! क्या मै इतना भी नही जानता। भला एक नाम दुबारा कैसे लिखूंगा ?

अजी ! जरा दूरबीन लगाकर तो देखो, कही आज तक जितनी आपकी माता हो चुकी हैं उनमे नवीन वृद्धि तो नहीं होती जाती ?

'नही साहब ! भला ऐसा कही हो सकता है आज तक मेरी जितनी माता हो चुकी हैं उनकी संख्यामे नवीन वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ?'

'अजी ! कही एक माताकी अनेक माता तो नही होती जाती है ?'

वाह साहिब ! कही एक माताकी अनेक माता भी होती है ?

तो साहिब ! बड़े ताज्जुबकी बात है कि न तो आप एक माताका नाम दुबारा लौटके लिखते हैं, न एक माता-की अनेक माता होती है, और न उन माताओमे नवीन वृद्धि होती है और आप उनके नाम बराबर लिखते ही चले जाते हैं। फिर भला वे माता कितनी है जिनका अन्त नही होता। अच्छा तो ! जितनी आपकी वे माता है उतने कल्प कालतक लिखोगे तो भी उनके नाम पूरे होगे या नही ?

'हाँ साहिब, तब तो अवश्य पूरे होगे, चाहे कितने ही क्यो न होवे, उतने कल्पकाल तक तो पूरे हो ही जायेंगे।'

अच्छा तो जब उनके नाम पूरे हो चुके तो जो सबसे आखरी माता है वह मनुष्य थी कि नहीं ? यदि नहीं तो बताइये कौन थी ? और यदि थी तो उसकी उत्पत्ति उसकी माताके बिना कैसे हो गई।

'अजी नहीं साहिब ! मैं भूल गया चाहे जितने कल्पकाल हो जावें पर उन माताओंके नाम पूरे नहीं होंगे। तो भला जरा विचारिये तो सही कि जब आपकी माताओंके नाम पूरे नहीं होते तो भव्यराशि किस प्रकार निमट जावेगी ?

प्रश्न—जो परिभाषा संख्यातके लिये कही गई उससे अधिक रचनेवाला रच सकता है कि नहीं ?

उत्तर—संख्यातके तीन भेद हैं जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इसलिये इन तीनोंकी तीन परिभाषा हुई। उसमें भी मध्यमके अनेक भेद हैं। रचने वालेकी इच्छा हो तो अनेक भेदोंकी अनेक परिभाषा रच सकता है।

प्रश्न—यह खारा समुद्र जो वर्तमान भूमण्डलपर एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका आदि महाद्वीपोंके सर्व ओर फैल रहा है सो लवणोदधि है कि नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—हरिवंशपुराण और पाण्डवपुराणमें लिखा है कि कुबेरने द्वारिका लवणोदधिमें बसाई सो कथन आपको मान्य है कि नहीं ?

उत्तर—हमको जैन सिद्धान्तोंके समस्त वाक्य मान्य हैं।

माघ, वि० सं० १९६० ]

[ सम्पादक-जैन-मित्र ]

# राष्ट्रधर्म और वर्णव्यवस्था

•

कालकी गति बड़ी विचित्र है। प्रातःकाल जहाँ पर आनन्दध्वनि सुनाई पड़ती है, वही संध्या कालको घोर हाहाकार मच जाता है। वर्षदिन जो पहले जो राजसिंहासनपर विराजमान था, आज वही रङ्कोंकी तरह गली कूचोंमें मारा-मारा फिरता है। जो जैनधर्म चौथेकालमें सारे आर्यखण्डमें व्याप्त हो रहा था, आज वही धर्म केवल भारतवर्षके १४ लाख वैश्योंमें ही दिखाई देता है। परन्तु "बारह वर्ष पीछे घूरेके भी दिन फिरते हैं" इस कहावतके अनुसार अब ऐसे लक्षण दिखलाई देने लगे हैं कि "कुछ कालमें इस पवित्र जैनधर्मको राष्ट्रधर्म की पदवी मिलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा।

जितने कार्य होते हैं; वे सब कारण पूर्वक होते हैं। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि एक कार्यके होनेमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता होती है। इन अनेक कारणोंमें एक कारण काल भी है। यदि कालको कारणता न होती, तो स्वाति-नक्षत्रकी तरह अन्य नक्षत्रोंमें भी जो जलबिन्दु सीपोंमें पड़ते हैं वे मोती ही जाते। ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं कि, एक कार्य जिन साधनोंसे एक कालमें नहीं होता, वही कार्य दूसरे साधनोंसे दूसरे कालमें हो जाता है। इसीको काललब्धि कहते है। प्रत्येक कार्यके लिए काललब्धिकी आवश्यकता है। जब तक किसी कार्यके लिए अनुकूल काल नही आता है तब तक वह कार्य सिद्ध नहीं होता है। परन्तु जिस प्रकारसे कार्यकी सिद्धिमें अनुकूल कालको कारणांशता है" उसी प्रकारसे पुरुषप्रयत्नको भी कारणांशता है। इसलिए यदि कोई यह समझकर कि 'जब अनुकूल काल आएगा, तो स्वयं ही कार्य सिद्ध हो जाएगा।' इस उद्योगमें पुरुषार्थ करनेमें शिथिल हो जाय, तो उसका कार्य अनुकूल काल प्राप्त होने पर भी सिद्ध नही होगा। क्योंकि पूर्वाचार्योंने समर्थ कारण लक्षण "सहकारिसमस्तसामग्रिवत्वे प्रतिबंधकाभाववत्वं कारणत्वं" किया है। इसका अभिप्राय यह है कि सहकारी समस्त सामग्रियोंके सद्भाव और प्रतिबंधियोके अभावको समर्थ कारण कहते हैं। और प्रत्येक सामग्रीको असमर्थ कारण कहते है। सहकारी सामग्रीमें उद्योग भी एक सामग्री है। इसलिए उद्योगके विना भी कोई कार्य सिद्ध नही होता है। अनेक कारणोंमें उद्योगात्मक कारण स्वाधीन है। इसलिए पुरुषको प्रत्येक कार्यके लिए आत्मदोष निवारणार्थ सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। नीतिकारोंने भी ऐसा ही कहा है—"यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः।" अनेक उपाय करनेपर भी यदि कोई कार्य सिद्ध न हो, तो समझ लो उस कार्यके वास्ते अभी अनुकूल काल नही है। परन्तु ऐसी अवस्थामें उद्योगमें शिथिल मत हो जाओ—प्रयत्न करते ही जाओ। क्योंकि हम यह नही जान सकते हैं कि हमारे कार्यके अनुकूल काल कब आ जाएगा। यदि हम कल उद्योग छोड़ दे, और कल ही अनुकूल काल आ जाए तो सम्भव है कि हमारी निरुद्योग अवस्थामें ही वह अनुकूल काल निकल जाए और हम अपनी अभीष्ट कार्य सिद्धि से वंचित रह जाएँ। इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य है कि सदा उद्योगशील बने रहे। उद्योग करते-करते यदि कार्यमें सफलता होनेके लक्षण होने लगे, तो समझ लो अब अनुकूल समय आगया। और फिर उस कार्यके साधनोंको जुटानेमे तथा विघ्नोको ध्वंस करनेमे मन, वचन, कायसे तल्लीन हो जाओ।

पाठको! यदि हम आज दृष्टि पसारकर देखते है, तो चारों ओर मिथ्यामतोंके आतापसे सन्तप्त भद्रपुरुष चातककी तरह सत्य और पवित्र धर्मामृतका पान करनेके लिए उत्कंठित हो रहे है और सत्य सनातन (जैन) धर्मके सद्वक्तारूपी मेघोंसे प्रार्थना कर रहे हैं कि, हमको धर्मामृतका पान कराओ, विलम्ब मत करो। सम्भव है कि कहींसे शीघ्र ही राष्ट्रविप्लवादिकी आँधी आ जाए और यह मेघों तथा चातकोंका संयोग विघट जाय। इसी प्रसंगको किसीने क्या ही मार्मिक शब्दोंमे कहा है—

> वितर वारिद वारिद वातुरे चिरपिपासितचातकपोतके।
> प्रचलिते मरुते क्षणमन्यथा क्व च भवान् क्व पयः क्व च चातकः॥

प्यारे जैनजातिके वीरों! और सुपुत्रों! अब कमर कसकर खड़े हो जाओ। यह सोनेका समय नही है। घोर निद्राका त्याग करके अब मैदानमे आ जाओ, और जैसे बने तैसे इस अवनतदशा प्राप्त जैनधर्मको भारतका राष्ट्र धर्म बना

डालो। सारे देशोंमें दिग्विजय करनेके लिए आपको दिग्विजयसिंहकी प्राप्ति हो गई है। प्रोफेसर जैकोबीकी जैन धर्मपर सम्मति दिग्विजयका आशीर्वाद और आश्वासन दे रही है। लन्दनमें इन्टर नेशनल सोसाइटीकी स्थापना धर्मचक्रकी शोभाको धारण कर रही है, और अनेक ब्रह्मचारियोंका दीक्षित होना सार्वभौमके सेनापतियोंके कटिबद्ध होनेके भावको झलका रहा है, और लन्दनमें हर्बर्ट वारन तथा पंजाब प्रान्तमें अनेक अजैनोंका जैनी होना विजय-लक्ष्मीके आगमनकी घोषणा कर रहा है। अब केवल सैनिकोंकी कमी है, सो यह आप सरीखे वीरोंके बिना नहीं हो सकता है। इसलिए अब विलम्ब मत करो, इस कमीको सब कुछ छोड़कर पूरा कर डालो। स्वार्थका त्याग करो, ऐहिक वासनाओंका बहुत सेवन कर चुके, अब उनसे मुँह मोड़कर जगतके जीवोंपर दया करो, और उन्हें पवित्र धर्मका उपदेश देकर सुखी कर दो। फिलहाल एक ऐसा डेप्यूटेशन निकालो, जिसमें अनेक सद्विद्याविभूषित निष्पक्ष वक्ता और ब्रह्मचारी मिलकर देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करें और जैनधर्मकी सच्ची प्रभावना करें।

यह जिनधर्म किसी खास जाति या वर्णकी मौरूसी जायदाद नहीं है। इस पर किसीका एकाधिपत्य नहीं है। यह सर्व हितकारी धर्म संसारके प्राणिमात्रका धर्म है। ब्राह्मणसे लेकर शूद्र तक किंबहुना पशुपक्षी तक इसे धारण कर सकते हैं। चाण्डालों और श्वान शूकरोंने भी इसे धारण करके अपना कल्याण किया है। आज हमारे बहुतसे संकुचित हृदय भोले भाई इस धर्मपर अपना मौरूसी हक जमाते हैं और दूसरे भद्र अजैनोंको जैनधर्म धारण करते देखकर विचलित होते हैं। यह बड़े खेदकी बात है। ऐसे लोगोंको जैनधर्मके सार्व तथा उदार उद्देश्योंका विचार करके अपने संकीर्ण हृदय विस्तृत बनाना चाहिए और इस पवित्र जैनधर्मको राष्ट्रधर्म बनानेके एक मार्गको साफ कर देना चाहिए।

संसारमें मुख्य दो प्रकारके मनुष्य हैं। एक भोगभूमियाँ और दूसरे कर्मभूमियाँ। भोगभूमियाँ वे हैं, जिन्हें भोगोपभोगोंकी प्राप्तिके लिए स्वयं कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। बिना उपायके ही सब पदार्थ कल्पवृक्षोंसे मिल जाते हैं। और कर्मभूमियाँ वे हैं, जिन्हें भोगोपभोगोंकी प्राप्तिके लिए नाना प्रकारके प्रयत्न करने पड़ते हैं। कर्मभूमियोंके दो भेद है, एक आर्य और दूसरे मलेच्छ। जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन षट्कर्मोंसे अपनी आजीविका करते है, उन्हें आर्य कहते है। और जो त्रसजीवोंकी संकल्पी (संकल्पपूर्वक) हिंसा करके अपना उदरनिर्वाह करते है उन्हें मलेच्छ कहते हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें अव्रतसम्यग्दृष्टिका लक्षण इस प्रकार कहा है—

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

अर्थात् 'जो न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है और न त्रस तथा स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी है, किन्तु जिनेन्द्र भगवान्‌के कहे हुए तत्त्वोंका श्रद्धान करता है, वह अव्रतसम्यग्दृष्टि है।' इस लक्षणसे भोगभूमियाँ तथा आर्य और मलेच्छ दोनों ही प्रकारके कर्मभूमियाँ अव्रतसम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। ऊपरकी गाथामें जो 'अपि' शब्द है। उसका अभिप्राय यह है कि, यद्यपि ऊपर कहे हुए तीनों प्रकारके मनुष्य सम्यक्त्व ग्रहण करनेके पात्र हैं, तथापि सम्यक्त्वकी प्राप्ति प्रायः उन्हीं मनुष्योंको होती है, जिनके कुलमें अन्यायका प्रचार नहीं है। 'प्रायः' इसीलिए की जिनके कुलमे अन्यायका प्रचार है उनको भी कभी-कभी सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जिन जीवोंको सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, वे जीव या तो तत्काल ही अन्यायको या तो छोड़ देते है, या तत्काल नहीं छोड़ सकते हैं तो भरसक छोड़नेका उपाय करते है। और बहुत जल्दी उस अन्याय प्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाते हैं। उनकी जो कुछ समय तक अन्यायमें प्रवृत्ति रहती है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके तीव्रतम उदयसे पराधीनरूप होती है, रुचिपूर्वक नही। यही अपि शब्दका भावार्थ है।

प्रकारान्तरसे मनुष्यके तीन भेद हैं—माँसोपजीवी (मलेच्छ), माँसभोजी (आर्य), और वनस्पतिभोजी (आर्य)। अथवा वर्णविवक्षासे आर्योंके चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणोंकी कोई खास आजीविका नहीं है। वे दूसरे वर्णोंके दिए हुए भक्तिपूर्वक दानसे सन्तोष पूर्वक निर्वाह करते हैं। असिसे (शस्त्रसे) आजीविका करनेवालोंको क्षत्रिय और मसि, कृषि, वाणिज्य इन तीनों कर्मोंसे आजीविका करनेवालोंको वैश्य कहते है। शिल्प और विद्या इन दो कर्मोंसे निर्वाह करनेवालोंको शूद्र कहते हैं। शूद्रोंके दो भेद हैं, कारू और अकारू। जो शिल्पसे आजीविका करते हैं वो कारू और जो विद्याकर्मसे पेट भरते हैं वे अकारू कहलाते हैं। अथवा प्रकारान्तरसे शूद्रोंके स्पृश्य और अस्पृश्य भी भेद हैं। जो अस्थि (हड्डी) चर्मादि अपवित्र पदार्थोंसे शिल्पकर्म करते हैं, तथा मलमूत्रादि वहनरूप अपवित्र सेवा

कर्म (विद्याकर्म) करते हैं, वे अस्पृश्य शूद्र हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके वनस्पतिभोजी आर्य मुनिधर्म तथा मोक्षके अधिकारी हैं, मलेच्छ और शूद्र नहीं। परन्तु म्लेच्छों और शूद्रोंके लिए भी मार्ग सर्वथा बन्द नहीं है। क्योंकि त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसासे आजीविका करनेका त्याग करनेसे कुछ कालमें म्लेच्छ आर्य हो सकता है। और शूद्रकी आजीविकाके परिवर्त्तनसे शूद्र द्विज हो सकता है! और उत्कृष्ट श्रावक धारण करनेका तो चारों वर्णके वनस्पति-भोजी पुरुषोंको अधिकार है।

उपर्युक्त लेखकका अभिप्राय केवल इतना है कि अज्ञानरूपी अन्धकारके विस्तारको दूर करके जिनशास्त्र के महात्म्य प्रकाश करने रूप सच्ची प्रभावनाके लिए मैदान खुला हुआ है—उसमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं है। ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और म्लेच्छ तक अव्रतसम्यग्दृष्टिरूप चतुर्थ गुणस्थानके धारक हो सकते है। माँसोपजीवी अपनी वृत्तिका परित्याग करके जिस वर्णकी आजीविका करेंगे, कुछ कालके पश्चात् उसी वर्णके आर्य हो जाएँगे। और तीनों वर्णोंके माँसभोजी आर्य माँस भक्षणका त्याग करनेसे श्रावक तथा मुनिधर्मके पात्र हो जाएँगे।

आजीविकाके परिवर्त्तनसे वर्ण परिवर्त्तन होनेके लिए जिनसेनाचार्यकृत त्रिवर्णाचारके अनुसार पाँच पुश्तके (पीढ़ीके) कालकी जरूरत है। परन्तु म्लेच्छसे आर्य होनेके वास्ते कितने कालकी आवश्यकता है, इस विषयमें अभी तक कोई शास्त्र प्रमाण नहीं मिला है। परन्तु यह बात शास्त्रोंमे अवश्य सिद्ध है कि कुछ कालमें म्लेच्छसे आर्य हो जाते हैं। अवसर्पिणीके छठे कालमें सब मनुष्य म्लेच्छ हो जाते है। और कालान्तरमें उन्हींकी प्रतिसन्तान आर्य होकर मोक्ष को जाती है। इसी प्रकारसे वर्त्तमानके अंग्रेज, मसलमान, चीनी, जापानी आदि विदेशियोंमें जो माँसोपजीवी हैं वे तो म्लेच्छ हैं और जो षट्कर्मोपजीवी हैं, माँसभोजी हैं, वे आर्य हैं। किन्तु जिन मांसभोजियोंका माँसोपजीवियोंके साथ भोजन और विवाह सम्बन्ध है, वे म्लेच्छ ही है। यदि बहुतसे म्लेच्छ जैनधर्मको अंगीकार करके माँसोपजीवित्व और माँसजीवित्वका त्याग करदें और वनस्पतिभोजी षट्कर्मोपजीवी हो जावे, तो कुछ काल तक उनकी संज्ञा अनुभय अर्थात् अनार्यम्लेच्छ होगी। उनमें वर्णव्यवस्था आजीविका अनुसार होगी और उनके भोजन और विवाह सम्बन्धी उन्हींके निर्मापित नवीन नियमों द्वारा होंगे। कालशुद्धिका काल बीतनेपर वे शास्त्रोक्त आर्य हो जाएंगे।

पूर्व कथनानुसार शूद्रोंके दो भेद हैं, एक स्पृश्य और दूसरा अस्पृश्य। मेधावीकविकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचार के अनुसार दान, पूजन और स्वाध्याय इन तीन कर्मोंके करनेका अधिकार शूद्रोंको है।[1] और जब तक किसी आर्य ग्रन्थमें इसका निषेध न मिले, तब तक हम मेधावी कविके वाक्यको अप्रमाण नहीं कह सकते है। हाँ, यह आवश्यक है कि दान, पूजन और स्वाध्यायका अधिकार केवल स्पृश्य शूद्रोंको ही हो सकता है। अस्पृश्य शूद्रोंको नहीं। क्योंकि ग्रन्थान्तरोंमें ऐसे लेख सुने जाते है कि, अस्पृश्य शूद्र मन्दिरके द्वारपरकी प्रतिमाके दर्शन करता है, मन्दिरमें प्रवेश नही करता है। इसलिए जब तक किसी अन्यग्रन्थमें इसके विरोधी वाक्य मिलें, तब तक यही श्रद्धान करने योग्य है कि स्पृश्य शूद्र दान, पूजन और स्वाध्यायके अधिकारी हैं और अस्पृश्य शूद्र केवल दर्शन करने और धर्मोपदेश सुननेके ही अधिकारी है। मुनि शूद्रके घर आहार नहीं करते है। इससे शूद्रोंका दानाधिकार खण्डित नही होता है। क्योंकि शूद्र क्षुल्लक शूद्रके घर भोजन करते हैं। क्षुल्लकको भोजन देनेसे शूद्रोका दानाधिकार चरितार्थ है।[2]

●

---

१. पूजासार नामक ग्रन्थके निम्नलिखित श्लोकोंसे भी शूद्रोंको नित्य पूजाका अधिकार सिद्ध है—

पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा सः पूजकः।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥१६॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो शूद्रो वाद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः शुद्धो सत्यशौचसमन्वितः ॥१७॥
कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः।
गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥१८॥
द्वितीयस्योच्यतेऽस्माभिर्लक्षणं सर्वसम्पदः।
लक्षितं त्रिजगन्नाथवचो मुकुरमण्डले ॥१९॥
कुलीनो लक्षणोद्भासी जिनागमविशारदः।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नो देशसंयमभूषितः ॥२०॥

—सम्पादक

२ जैन हितैषी भाग ७ वी० सं० २४३७ अङ्क० ६।

# जाति व्यवस्था

•

"जैनियोमें खण्डेलवाल ( श्रावगी ) एक प्रसिद्ध और देशव्यापी जाति है। इसका मुख्य स्थान मारवाडान्तर्गत खण्डेला परगनेमें है और उस परगनेके काशली, बाकली, पाटोदी आदि छोटे-छोटे ग्रामोंके नामसे ७२ गोत्रोमें यह जाति विभक्त है। जैसे काशलीके काशलीवाल, बाकलोके बाकलीवाल आदि। खण्डेलवाल यथार्थमें क्षत्रिय थे, परन्तु किसी समयमें कारण पाकर जैनी हो गये और शनैः-शनैः क्षात्रकर्म छोड़कर व्यापार करने लगे, जो आजतक करते है। जितने खण्डेलवाल जैनधर्मके अनुयायी है, उन्होंने वैष्णवोंसे अपना सम्बन्ध करना सर्वथा बन्द कर दिया है और अधिक समूह होनेके कारण किसी प्रकारके व्यवहारमे दुःखी भी नही हुए।

खण्डेलवालोकी धर्मश्रद्धा बहुत बढी-चढी है और उनमे बहुतसे विद्वान् भी हुए है। कालान्तरमे इनके अधिक समागमसे उसी प्रदेशकी एक जातिके अधिकाश पुरुषोने भी जो बीजावर्गीके नामसे प्रसिद्ध है, जैनधर्म स्वीकार कर लिया; परन्तु इस उत्तमकृतिमे खण्डेलवालोके समान ये शीघ्र ही सुखी न हो सके; क्योंकि इनकी संख्या इस योग्य न थी कि परस्पर अपना वैवाहिक निर्वाह कर सके। सुतरा अन्य बीजवर्गियोमें अशान्ति फैल उठी और उन्होने एकता करके जैन-मतानुयायी बीजवर्गियोसे विवाहसम्बन्ध एकदम तोड़ दिया। इस प्रबन्धसे बीजवर्गी जैनी बहुत घबडाये और उन्हे अपने संसार निर्बाहकी चिन्ता सन्तप्त करने लगी, परन्तु उसी समय दूरदर्शी खण्डेलवाल महाशयोने सम्यक्त्वके स्थितिकरण अंगका स्मरण किया, सम्मुख उपस्थित होकर कहा कि धर्मबन्धुओ! हमलोग तुम्हारी सहायता करनेके लिए कटिबद्ध है। यह समय कायर होनेका नही है। स्मरण रखो! यह तुम्हारी धर्मश्रद्धाकी प्रथम परीक्षा है। यदि कही तुम इसमे अनुत्तीर्ण हो जाओगे तो तुम्हारा मुख सदाके लिए संसारमे मलीन हो जायगा। विचारशीलो! यह जातिभेद जो अपने सुखके लिए रचा गया है उस अकृत्रिम अनवद्य पदार्थसे प्यारा नही है जिसके सम्मुख त्रैलोक्यकी सम्पत्ति तुच्छ है। जिसे धर्मबन्धु कह सकते है, उसे जातिबंधु कहनेमें हमें कुछ भी सकोच नहीं है। आज हीमे हम तुम्हे अपनी जातिके गर्भमे डालकर एकरूप किए देते है और स्थितिकरणागका जीवित उदाहरण जैनियोके इतिहासमे लिख देना उचित समझते है।"

[ जैनमित्र वर्ष ६, अंक ५ पृष्ठ १२ ]

# अहिंसा धर्मकी अतिव्याप्ति

•

जब तक अहिंसाका लक्षण जैनियोंने क्या माना है यह न समझ लिया जावे तब तक उसमें अतिव्याप्ति बतलाना केवल उपहास कराना है। ढूंढियोंके मुंहमें पट्टी बांधनेके तथा और भी अशुचिता रखनेके घिनौने कृत्यको देखकर ही जैनधर्मका अहिंसा तत्त्व नहीं जाना जा सकता है। इसके जाननेके लिए जैनियोंके सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़ना चाहिये। उनमें 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' लक्षण कहा है। किसी बालकके पेटमें कृमि हो गये है तो उनसे मुक्त होनेके लिये जैनधर्म यह कभी नहीं कहता है कि उसे औषधि नहीं देना चाहिये, क्योंकि औषधि देनेसे जो कृमि मरेंगे, उस हिंसामें प्रमत्तयोग नहीं होगा। क्योंकि औषधि देनेवालेका अभिप्राय बालककी जीवरक्षाका है, न कि कृमि मारनेका। इसी प्रकार जैनी राजाका भी यह धर्म कदापि नहीं है कि वह पापियोंको तथा दुराचारियोंको प्राणदण्ड न देवे, अथवा शत्रुपर चढ़ाई न करे और वहां परसैन्यपर तलवार न चलावे। यह राजनीति है। इसमें जैनधर्म किसी प्रकार बाधक नहीं होता। क्योंकि राजा जो दण्ड देता है अथवा लड़ाईमें हिंसा करता है उसका हेतु सदाचारकी प्रवृत्ति और प्रजारक्षा करनेका रहता है न कि जीवघात करनेका। फिर राष्ट्रकी उन्नतिके लिये अहिंसा धर्मको अपायकारक बतलाना बड़ी भारी भूल है। पानी छाननेमें भी जन्तुशास्त्रके नियमानुसार वह जीवराशि रहित नहीं होता, यह बतलाकर जो जैनियोंका पानी छानकर पीना व्यर्थ बतलाया जाता है वह भी अज्ञता है। जैनी यही मानते हैं कि छने हुए पानीमें भी असंख्य जीव रहते हैं। परन्तु गृहस्थ और मुनि दो मार्ग जैनियोंके हैं। इनमेंसे गृहस्थ केवल उन जीवोंकी हिंसाका त्यागी है जो छननेसे छन सकते हैं और जिन्हें त्रस जीव कहते हैं। जो छननेसे भी नहीं छनते वे प्रायः एकेन्द्रियसंज्ञक जीव हैं। उनकी हिंसाके त्यागी मुनि होते हैं जिन्हें आपके राष्ट्र और समाजसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता। सच पूछो तो जैनधर्मसे राष्ट्रकी जैसी सुखकर उन्नति हो सकती है वैसी किसी भी धर्मसे नहीं हो सकती। राष्ट्रकी उन्नतिके लिए जिस धार्मिक जोशकी आवश्यकता है वह जैनधर्मके अंश-अंशमें भरा है। आज जैनधर्मके अनुरूप लोगोंके आचार विचार होते तो विदेशी अपवित्र वस्तुओंसे देशके बाजार नहीं भर जाते और न यहांका व्यापार रसातलको पहुँचता। ऐसी गिरी पड़ी दशामें भी जैनधर्म अपनी मर्यादाको रखे हुए है। सोडा, ह्विस्की बिसकुट और डबल रोट खानेवाले लोग अब भी सारे जैन समाजमें दो चारसे अधिक नहीं निकलेंगे। यदि जैनियोंके बारह व्रत अतिचार रहित पाले जावें तो मनुष्य इंडियन पिनल कोडकी सम्पूर्ण दफाओंसे बरी रह सकता है। इसलिये जैनियोंके अहिंसामूलक व्रतोंके प्रचारसे राष्ट्र जैसा सुख-शान्तिमय हो सकता है वैसा किसी प्रकारसे नहीं हो सकता। जो लोग अहिंसाधर्मको राष्ट्रकी अवनतिका हेतु बतलाते हैं वे गलतीपर हैं।

[ जैनमित्र १ जनवरी १९०७ ]

# उन्नति

उन्नतिके मूलभेद दो हैं एक तो पारमार्थिक उन्नति और दूसरी लौकिक उन्नति। इन दोनों ही प्रकारकी उन्नतिके मुख्य साधक विद्या, धन और एकता है। और मुख्य प्रतिबन्धक ईर्षा, दुरभिमान और कुरीतिप्रचार है। सो जब तक साधनका अर्जन और बाधकका विसर्जन नहीं किया जायगा तब तक उन्नतिका होना बिल्कुल असम्भव है। हमको विश्वास है कोई भी भाई हमारी इस सम्मतिसे विरुद्ध नहीं होंगे। परन्तु विद्या और धनके संचय करनेके कारणोंमें अनेक भाइयोंके नाना अभिप्राय परस्पर विरुद्ध पाये जाते है। आज हम इस लेखमें उस ही की समालोचना करनेको उद्यत हुए हैं।

हमारी जातिमें आजकल बालकोंको शिक्षा अनेक प्रकारसे दी जाती है। कितने ही महाशय तो अपने बालकोंको वर्ष दो वर्ष किसी ब्राह्मणकी शाला (पाठशाला)में पट्टी पहाड़े पढ़ाकर जब वह ओलम बारह खड़ी सीखकर नाम लिखने लगा कि बस कृतकार्य समझकर उसको अपने धन्धेमें डालकर उच्च श्रेणीकी विद्यासे वंचित रखते हैं।

बहुतसे भाई अपने लड़कोंको जैन पाठशालाओंमें भेजकर सूत्र, भक्तामर और नित्यपूजनका पाठमात्र बिना अर्थ (व्यर्थ) कंठ करा देनेसे ही अपने पुत्रको विद्वान् समझकर अपनेको कृतार्थ मानते है।

कितने ही महाशय अपनी सन्तानको हाईस्कूल और कालिजोंमें भेजकर बड़ी २ नौकरियोंकी अभिलाषासे एफ० ए०, बी० ए०, और एम० ए० की डिगरियाँ पास कराते हैं। और कितने ही महात्मा कच्ची उमरके बच्चोंको माघ, किरात्, तर्कसंग्रह, मुक्तावली, बाल्मीकि, गौतमसूत्र आदि अन्यमत सम्बन्धी विद्याध्ययन कराकर काशीकी मध्यमा, उपाध्यायादि परीक्षा दिलानेमे ही अपना गौरव समझते है। परन्तु यदि विचार किया जाये तो उक्त चारों ही प्रकारकी प्रणाली हमारे अभीष्ट फलकी सिद्धि करनेमे समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम और द्वितीय प्रणालीवाले तो विद्वानोंकी गणनामे ही नही आ सकते। अब जरा तृतीय प्रणाली अर्थात् हाईस्कूल और कालिजोंकी शिक्षापर गौर कीजिये। हाईस्कूल और कालिजोमें विद्यार्थियोको पाँच विषय पढ़ाये जाते हैं—अंग्रेजी भाषा, द्वितीय भाषा; गणित, भूगोल और इतिहास और पदार्थविद्या। इनमेसे अंग्रेजी भाषाके पढ़नेसे यद्यपि इंगलिस्तानकी भाषाका ज्ञान हो जाता है तथापि इस विषयकी पुस्तकोंमे केवल पशुओंकी तथा असभ्य पुरुषोकी निरर्थक कथा भरी हुई है जिनसे हमारी सन्तानको किसी भी प्रकारकी नीतिशिक्षा, विनयाचार, शिष्टाचारका उपदेश प्राप्त नही होता।

दूसरा विषय जो कि द्वितीय भाषाका है उसमे बहुतसे विद्यार्थी फारसी ग्रहण करते है जो कि वर्तमान द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार हमको विशेष उपयोगी नही है। यद्यपि कही २ कचहरियोंमे अबतक इस भाषाका प्रचार है। लेकिन बहुतसे हिन्दी प्रेमियोके प्रयत्नसे अब शीघ्र ही हिन्दीके प्रचार होनेकी प्रबल आशा है। और बहुतसे विद्यार्थी यद्यपि संस्कृत भी लेते है लेकिन वे सभी पुस्तके अन्यमतसम्बन्धी है। जिसको शिक्षाका फल चतुर्थ प्रणालीकी समालोचनासे ज्ञात होगा। इसके सिवाय बी० ए० और एम० ए० की डिग्रीवालोंको छोड़कर दूसरी कक्षाओंमें यह विषय इतना संक्षेपसे पढ़ाया जाता है कि जिससे विद्यार्थियोंको कुछ भी लाभ नहीं होता।

तीसरा विषय गणित है जिसकी प्रक्रियाका प्राचीन ऋषियोंकी प्रक्रियासे मिलान करनेपर उनके रचयिताओंकी बुद्धिके गौरवका भलेप्रकार अनुभव होता है। जिस हिसाबको देशी प्रक्रियाके ज्ञाता दो मिनिटमे करेंगे उस ही हिसाबको हल करनेके लिये हमारे इंगलिश विद्यार्थियोंको कम-से-कम दस मिनिटकी आवश्यकता होती है।

अब जरा इतिहास और भूगोल विषयको भी विचारिये कि इतिहासोंसे यद्यपि आसन्न भूतकालके थोड़ेसे राजाओंके जीवनचरित्र और उनकी जय-पराजयका कुछ पता लगता है। लेकिन जैसी शिक्षा प्राचीन ऋषिप्रणीत भरत, रामचन्द्र, युधिष्ठिर, आदि महानुभावोंके सच्चारित्रसे मिलती है उसके शतांश सहस्रांश भी इन वर्तमान इतिहासोंसे लाभ नहीं पहुँच सकता और भूगोल विषयको देखकर तो कलेजा काँपने लगता है। हृदय उमड़कर अश्रुधारा बहने लगती है। हाय, उन कच्चे हृदय, दीन-

हीन विद्यार्थियोंके कोरे घटरूप चित्तमें हींगकी दुर्गन्धरूप भूगोलविद्याकी वासना ऐसे दृढ़रूपसे रम जाती है कि फिर कोटि यत्न करनेपर भी उसका निकलना कष्टसाध्य ही नही, बल्कि असम्भव हो जाता है। जो विद्यार्थी इन्ट्रेन्स तथा एफ० ए०, बी० ए० की हवा खा चुके है वे सर्वज्ञके ज्ञानकी परम्परासे अनुवासित प्राचीन नेमिचन्द्रादि सिद्धान्तचक्रवर्तियोंके रचे हुए त्रैलोक्यसारादि महान् ग्रन्थोंको कपोलकल्पना बतानेमे जरा भी नहीं शर्माते। हमारे बहुतसे इंग्लिश विद्याके जानकार नव-युवक जैन (English educated jain youngmen) इसको वाचकर चौंकेंगे और कहेंगे कि बेशक भूगोलविद्याके विज्ञानियोंने इस विषयको जब निर्बाध सिद्ध कर दिया है तो उसको माननेमे और उससे विपरीत ग्रन्थोंको कपोल कल्पना बतानेमे क्या दोष है ? तो हम इतना कहे बिना कभी नहीं रह सकते कि 'काछिन (मालिन) अपने बेरोंको कभी खट्टा नहीं बताती। इकतरफी बात गुड़से मिठी हुआ करती है।' जबतक आप भूगोलविज्ञानियोकी युक्तिका खण्डन नही देखें तबतक चाहे उनके कथनको आप ब्रह्मवाक्य ही मानते रहिये। लेकिन जिस दिन आप श्रीमद्विद्यानन्द स्वामी रचित श्लोकवार्तिक-भाष्य (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका)का दूसरा और चौथा अध्याय स्वयं देखेंगे या किसी अनुभवी विद्वानके मुखसे सुनेंगे तो आपके समस्त सन्देह पवनके झोकोंसे मेघपटलकी तरह भागते नजर आवेंगे।

पाँचवा विषय पदार्थविद्या पढ़ाया जाता है। इस विषयमें प्रथम ही न्याय (Logic) की कैफ़ियत सुनिये। जिन बड़े-बड़े विद्वानोंने अँग्रेजी और संस्कृत सम्बन्धी उच्च श्रेणिकी विद्याका अभ्यास किया है उनका कथन है कि अँग्रेजोंका न्याय (Logic) वहाँ पर समाप्त होता है जहाँ कि संस्कृतमे उसका प्रारम्भ है। ज्योतिष विषयमें भी बहुत-सी गप्पे हाँकी है। जैसेकि सूर्यको पृथ्वीसे १३ लक्ष गुणित बताया है। जबतक आपने समस्त पृथ्वीको ही नही देखा तब तक उससे गुणित पदार्थका अनुमान करना आकाशके पुष्प समान है। क्या कोई अंग्रेज भारत महासागर (Indian ocean) को तैर करके दक्षिणी तट (Southern bank) पर पहुँचा ? कभी नही, फिर हम कैसे कह सकते है कि पृथ्वी कितनी बडी है और सूर्य उससे कितना गुणित है। बहुत-सी बातें इस विषयमें इस प्रकारकी लिखी है कि जैसे पुरुष भंग पीकर उसके नशेमें मग्न होकर आकाशमे धुएँके बादलोंकी रचना करता है। इन समस्त विषयोंकी पोल आपके अनुभवमें उस दिन आवेगी जिस दिन आपको प्राचीन आचार्य विरचित द्रव्यानुयोगके ग्रन्थोंके मर्म और रहस्यका परिचय मिलेगा। अभी इस विषयपर हमको बहुत कुछ लिखना है। अस्तु,

यह बात अब आपको अच्छी तरह विदित हो गई कि हाईस्कूल और कालिजोंकी शिक्षा प्रणालीसे विद्यार्थियोंको वह विनयाचार, शिष्टाचार और धर्मरुचि नहीं प्राप्त हो सकती जिसकी उनको अत्यन्त आवश्यकता है। और बिना इन तीनों बातोंके समाजकी उन्नतिका होना बिल्कुल असाध्य है। यहाँपर हमारे बहुतसे भाई कहेंगे कि यद्यपि ये विद्यार्थी परमार्थके मार्गसे दूर रहते है परन्तु अँग्रेजी पढ़कर आजीविका बहुत अच्छी तरह पैदा कर सकते है और जब आजीविकाकी तरफसे निश्चिन्त हो जायेंगे तो पीछे परमार्थका भी साधन कर लेंगे। जब आजीविका ही नहीं मिलेगी तो गृहस्थके चित्तकी स्थिरता कैसे रह सकती है। जिन्होंने अपनी बाल्यावस्था परमार्थ विद्याके ही अभ्यासमे बिता दी वे जवानीमें या तो धनवानोंके आश्रित रहकर नित्यप्रति तिरस्कारके वचन सहते हैं या किसी मन्दिरमे पूजा करने या शास्त्र बाँचनेकी नौकरी करके धर्माश्रित आजीविकाके दोषसे दूषित और निन्दित होकर लज्जाके पात्र बनते है। इस कारण सबसे पहले आजीविका-का ही उपाय करना श्रेष्ठ है, इत्यादि।'

## लौकिक धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता

उनसे हमारा निवेदन है कि नीचे लिखी पंक्तियोंको ध्यान देकर बाचें और सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि गृहस्थको जबतक आजीविकाकी स्थिरता नही होगी तबतक वह परमार्थ साधन निर्विघ्नतासे नही कर सकता। लेकिन इसमे भी कोई शक नही है कि जो महात्मा बाल्यावस्थामें धार्मिक विद्यासे वंचित और अलिप्त रह जाते है वे युवा अवस्था में गृहस्थपनेके पाषाणको लटकाए हुए इस भवसागरसे पार उतरनेमें कृतकार्य नही हो सकते। जो बुद्धि बाल्यावस्थामें स्वच्छ और निर्मल थी वह युवावस्थामें कुटुम्ब तथा आजीविका सम्बन्धी अनेक चिन्ताओंसे ऐसी कलुषित और मलीन हो जाती है कि फिर उसपर धर्मशिक्षाका रंग चढना बहुत ही कठिन है और तब उनका मनुष्यभवरूपी चिन्तामणिरत्न भोग-विलास तथा उनके कारणोंके जंजालरूपी काग उडानेमे व्यर्थ नष्ट हो जाता है। इसलिये लौकिक विद्याके साथ ही धार्मिक विद्याका पढाना भी लौकिक विद्याकी अपेक्षा कुछ विशेष आवश्यक है। जो केवल धर्मविद्या ही पढाई जायगी तो आजीविका बिना निर्वाह होना कठिन है। और जो केवल लौकिकविद्या पढाई जायगी तो धार्मिकविद्या बिना यह मनुष्य जन्म पाना ही निष्फल हुआ जाता है। अतएव युगपत् लौकिक और धार्मिक दोनों ही विद्या पढाना आवश्यक है।

## अंग्रेजी शिक्षितोंकी दुर्दशा

किन्तु लौकिक विद्याओंमें भी कुछ अंग्रेजीके लिये ही ताम्रपत्रपर अधिकार नहीं मिला कि बिना अंग्रेजीके पढ़े आजीविका मिल ही नहीं सकती। क्योंकि लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो अंग्रेजीका अक्षर भी नहीं जानते और आजीविका अंग्रेजी पढ़ों अच्छी पैदा करते हैं। और अंग्रेजी पढ़नेकी भी आजसे २० वर्ष पहले कुछ कदर थी, लेकिन आजकल (सन् १९०० में) अंग्रेजी पढ़नेकी इतनी बहुतायत हुई है कि बिचारे डिग्रियाँ पास कर करके आजीविकाके वास्ते भटकते फिरते हैं लेकिन कहीं ठिकाना नहीं लगता। सिवाय नौकरीके दूसरी कुछ प्राप्ति ही नहीं। दूकानपर बैठकर तराजू उठानेमें अब बाबूसाहब अपनी तौहीन समझते है। व्यापारके विषयमे इनका कुछ दखल ही नहीं। तलाश करते करते नौकरी भी मिली तो रेल या तारघरकी, जिसमें दिन-रात मेहनत करते-करते अवकाश ही नहीं और कहीं जंगली स्टेशनपर बदली हो गई तो धर्मकर्मसे भी गये। यद्यपि किसी किसीको अच्छी नौकरी भी मिलती है लेकिन आखिरको नौकरी नौकरी ही है। जिन महाशयोंने नौकरी और स्वतन्त्रता दोनोंका अनुभव किया होगा उनको यह बात अच्छी तरह ज्ञात होगी कि इन दोनोंमें कितना अन्तर है। नीतिकारोंने तो नौकरीके विषयमें कहा है—

**सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम्।**
**स्वच्छन्दश्चरति श्वात्र सेवकः परशासनात्॥**

अर्थात् जिन्होंने नौकरीको कुत्तेकी वृत्ति कहा है उनका कथन मिथ्या है। क्योंकि कुत्ता तो स्वच्छन्द विचरण करता है और नौकर परकी आज्ञासे।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अंग्रेजी पढ़ना आजीविकाके साधनोंमें एक प्रकारका साधन है तथापि यह साधन उत्तम साधनोंकी पंक्तिमे स्थान नही पा सकता। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि यह आजीविकाका एक प्रकारका साधन है तो भी आजकलके स्कूल कालिजोंकी पढ़ाईकी प्रणाली इतनी कठिन रखी गई है कि बालकोंको परिश्रम करते २ फुरसत नही मिलती, तब बताइये कि वे धार्मिक विद्याका अभ्यास किस समय करें। और धर्मविद्याके प्रचार बिना धर्मोन्नति, जिसकी कि बड़ी आवश्यकता है कदापि नहीं हो सकती। इसलिये यह तृतीय प्रणाली भी (जिसकी प्रथा वर्तमानमे बड़े प्रवाह साथ बह रही है) हमारे अभीष्ट फलकी सिद्धि नहीं कर सकती। लेकिन यह मत समझ लेना कि हम राजविद्याका सर्वथा निषेध ही करते है, नहीं २, हम केवल वर्तमान प्रणालीका निषेध करते हैं न कि उसके अभ्यासका, अर्थात् उसका अभ्यास किसी दूसरी ही प्रणालीसे इष्ट है जिसका उल्लेख आगे करेंगे। एक नीतिकारने कहा—

**कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार।**
**एक जीवकी जीविका द्वितिय जीव उद्धार॥**

अर्थात् पुरुषकी ७२ कलाओंमें दो मुख्य हैं एक तो आजीविका और दूसरा आत्मकल्याण। इसलिये लौकिक विद्याके साथ धार्मिक विद्याका अभ्यास परम आवश्यक है।

अब यहाँपर लौकिक विद्यापर विचार करना चाहिये कि हमको कौनसी विद्या सीखनी चाहिये तो विचारिये कि आजकल इस जैन-समाजमें प्रायः वैश्यवर्णके ही मनुष्य पाये जाते हैं। इसलिये हमको वाणिज्य, गुमाश्तगिरी और राजमान्यताकी साधक विद्याओंका अभ्यास इष्ट है। इसमें वाणिज्यका काम तो केवल अंग्रेजी भाषाके साहित्यसे चल सकता है और पदार्थविद्या वह अभ्यास करनी चाहिये कि जो हमारे प्राचीन ऋषियोंने परिश्रमसे संस्कृत भाषामें रची है और राजमान्य पदोंके वास्ते भी उस पुरुषकी एक चमत्कारिक योग्यता होगी कि जिसने अंग्रेजी भाषाका साहित्य (Literature) सीखकर प्राचीन जैनाचार्यरचित पदार्थविद्याका अभ्यास किया है; क्योंकि हम इस बातको जोर देकर कहते है कि यदि ऐसे नवीन तैयार किये हुए विद्यार्थीका वर्तमानके बी० ए० और एम० ए० पास महाशयोंसे शास्त्रार्थ कराया जाय तो वह नवीन ढंगका विद्यार्थी इन वर्तमान बी० ए० और एम० ए० पास किये हुओंसे कहीं बढ़कर निकलेगा। इसलिये अब हम अपना सिद्धान्त नियत करते हैं कि हमारे महाविद्यालयकी शिक्षाप्रणाली इस ढंगकी रखी जाये कि उसमे अंग्रेजी विद्याका साहित्य (Literature) पूरे तौरसे अर्थात् जैसा कि आजकलके कालिजोंमे पढ़ाया जाता है, पढ़ाया जाय और उसके साथ गुमाश्तगिरी, गणितविद्या, और जैन सिद्धान्तके अनुसार धर्मविद्या सिखाई जाय और उसकी प्रतिवर्ष परीक्षालय (University) के नियमानुसार परीक्षा ली जाय तथा राज्याधिकार प्राप्त करनेके वास्ते कानूनकी शिक्षाका भी प्रबन्ध किया जाय।

यहाँ हमारे बहुतसे भाईयोंको यह शंका होगी कि तुम्हारे नवीन ढंगके तैयार किये हुए विद्यार्थियोंको गवर्मेण्ट कानूनकी परीक्षामे दाखिल नहीं करेगी और न उनको राज्याधिकारी पद देगी तो हमको चाहिये कि महासभाकी तरफसे

धीरे-धीरे अपनी न्यायशील गवर्नमेण्टसे तथा न्यायप्रिय लार्ड कर्जन सदृश महाशयोंसे समय-समयपर प्रार्थना करते रहें कि जिससे हमारे महाविद्यालयके विद्यार्थियोंको भी उपर्युक्त विषयके अधिकार प्राप्तिकी पात्रता प्राप्त हो और जब तक हमको ऐसी आज्ञा नहीं मिले तब तक राज्यपदेच्छु विद्यार्थियोंको चाहिये कि हमारे परीक्षालयके क्रमानुसार पण्डित परीक्षाके द्वितीयखण्ड तक अवश्य अभ्यास करे। और उसके ही साथ-साथ अंग्रेजी साहित्य ( English Literature ) भी पढ़ें। तत्पश्चात् किसी कालिजमें भरती होकर वर्तमान शिक्षाप्रणालीकी प्रथाको पूरी करके अभीष्ट फलकी प्राप्तिमें तल्लीन हों, लेकिन साथ-साथ संस्कृतके भी किसी एक विषयका अभ्यास करते रहे कि जिससे उनका हृदय संस्कार-शून्य न हो जाय और ऐसा होनेसे आशा है कि जो आजकलकी दूषित प्रणालीमे हमारी सन्तानको हानि पहुँचती है उससे रक्षा होगी।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि पदार्थविद्यामे जो परस्पर विरोध पाया जाता है उसकी परीक्षा करके निर्णय करे कि कौनसी विद्या यथार्थ है। आजकल वर्तमान शिक्षाप्रणालीके प्रभावसे जो कुछ नवशिक्षित विद्यार्थियोंके श्रद्धानमें गडबड हुई है तथा उसके निमित्तसे जैसी कुछ उनकी धर्ममें अरुचि हुई है वह भी आपसे छिपी नही है। यद्यपि हमारे नवयुवकोंका श्रद्धान अनेक विषयोंमें जैन सिद्धान्तसे विपरीत है परन्तु उनमें तीन विषय मुख्य हैं १ भूगोल विषय, २ इस सृष्टिका कोई कर्ता है या नही, ३ मूर्तिपूजा—

## भूगोल विषय

सबसे प्रथम हम भूगोल विषयका विचार करते है। लेकिन हर एक विषयका विचार परीक्षाके अधीन है इसलिये सबसे प्रथम कुछ थोडा-सा स्वरूप प्रमाणका लिखा जाता है क्योंकि प्रमाण एक ऐसे कायदेका नाम है जिससे पदार्थोंका सत्यासत्यका भले प्रकार निर्णय हो जाता है। जो प्रमाणका स्वरूप जाने विना बेकायदे बहस करते हैं; वे वस्तु-के स्वरूपका निर्णय करनेमें सफल नही होते हैं, इसलिये सबसे प्रथम प्रमाणका स्वरूप जाननेकी आवश्यकता है।

## प्रमाणका स्वरूप

प्रमाण नाम यथार्थ ज्ञानका है। उसके मूल भेद दो है—प्रत्यक्ष, परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण उस ज्ञानको कहते है जो पदार्थके स्वरूपको स्पष्ट रीतिसे जाने। उसके भी दो भेद है—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। साव्य-वहारिक प्रत्यक्ष उसको कहते हैं जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे वस्तुको स्पष्ट जाने। और पारमार्थिक प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो किसीकी सहायता विना स्वयं वस्तुको स्पष्ट जाने। उसके तीन भेद है—अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। परोक्ष प्रमाण उस जाननेको कहते हैं जो पदार्थके स्वरूपको अस्पष्ट जाने। उसके पाच भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम। धारण की हुई वस्तुको 'वह पदार्थ' इस प्रकार याद करनेको स्मृति कहते हैं। किसी पुरुषको पहले देखा था। उसको ही पुन देखनेसे 'यह वही है जो पहले देखा था' इस प्रकारके जोडरूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। दो पदार्थोंके साथ रहने अथवा क्रमसे रहनेके नियमको व्याप्ति कहते हैं। जिस पदार्थको वादी प्रतिवादीकी सिद्ध करनेकी अभिलाषा है उसको साध्य कहते है। साध्यके साथ जिसकी व्याप्ति हो उसे हेतु कहते है। हेतुसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। खोटे हेतुको हेत्वाभास कहते है। उसके चार भेद है—असिद्ध, विरुद्ध, अनकान्तिक और अकिञ्चित्कर। जिस पदार्थमें साध्यकी सिद्धि करनी हो उसका धर्मी कहते हैं। साध्य और धर्मी दोनोंके समुदायको पक्ष कहते हैं। जिस पदार्थमें साध्यकी मौजूदगीका निश्चय हो उसे सपक्ष कहते है। जिस पदार्थमे साध्यके अभावका निश्चय हो उसे विपक्ष कहते है।

जिस हेतुका धर्मीमे अभाव निश्चित हो अथवा उसकी मौजूदगीमें सन्देह हो उसको असिद्ध हेत्वाभास कहते है। जिसकी साध्यसे विपरीत पदार्थके साथ व्याप्ति हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनोंमें रहनेवाला हो उसको अनैकान्तिक कहते है। इसका दूसरा नाम व्यभिचारी है। असमर्थ हेतुको अकिञ्चित्कर कहते है। उसके दो भेद हैं—सिद्धसाधन और बाधित विषय। जो सिद्ध पदार्थका साधन करे उसे सिद्धसाधन कहते हैं। जिसके साध्यका अभाव दूसरे प्रमाणसे सिद्ध हो उसको बाधितविषय कहते हैं। सत्यवक्ता अर्थात् आप्तके वचन, संकेतादिकसे होनेवाले ज्ञानको आगम प्रमाण कहते है। इस प्रकार प्रमाणका संक्षिप्त स्वरूप उन भाईयोंके अवलोकनार्थ तथा कंठ करने के वास्ते लिखा हूं जो इसके स्वरूपसे अनभिज्ञ है और भूगोल आदि विवादग्रस्त विषयोंका निर्णय करनेकी जिनके उत्कट अभिलाषा है।

## लोकका स्वरूप

जिन भाईयोंने त्रैलोक्यसारादि ग्रन्थोंका अभ्यास किया है वे लोकके स्वरूपको अच्छी तरह जानते होंगे। परन्तु जिन भाइयोंने इस विषयका अवलोकन नहीं किया है उनके वास्ते लोकका भी संक्षिप्त स्वरूप लिखा जाता है। जैसे लोकमें कपड़ा वगैरह नापनेके लिए गज काममें लाया जाता है उस ही प्रकार लोकके नापनेके वास्ते आचार्योंने एक नाप कायम किया है जिसका नाम राजू है। उसका प्रमाण इस वक्त इतना ही काफी है कि वह असंख्यात योजन लम्बा है। लोककी ऊंचाई १४ राजू है और उत्तर दक्षिण दिशामें मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। और पूरब पश्चिम दिशामें सबसे नीचे ७ राजू चौड़ा, फिर क्रमसे घटकर मध्यमें एक राजू चौड़ा, फिर क्रमसे बढ़कर साढ़े दस राजूकी ऊँचाई पर पांच राजू चौड़ा और फिर घटकर अन्तमें एक राजू चौड़ा है। इस लोकके बिल्कुल बीचो बीचमें १४ राजू ऊँची, एक राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाडी है। इस ही त्रसनाडीमें नीचेसे ७ राजू तक अधोलोक कहलाता है। इसमें नारकी रहते हैं। और ऊपरमें एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्द्धलोक है। इसमें देव रहते हैं। इसको ही स्वर्ग कहते हैं। इन दोनों लोकोंके बीचमें रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर सुमेरु पर्वत है। जिसकी ऊँचाई एक लाख चालीस योजन है। और इस ही ऊँचाई तथा एक राजू लम्बाई और एक राजू चौडाई वाले क्षेत्रकी मध्यलोक संज्ञा है। इस मध्यलोकके बीचोंबीच एक लाख योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है जो थालीके समान गोलाकार है। इसके चारो तरफ खाईकी तरह बेढ़े हुए लवण समुद्र है। उसकी चौड़ाई दो लाख योजनकी है। इसके बाद इस ही ढंगसे धातकी खण्ड द्वीप और फिर कालोदक समुद्र इत्यादि असंख्यात द्वीप समुद्र उत्तरोत्तर दूनी-दूनी चौडाईको लिए हुए परस्पर एक दूसरेको बेढे हुए मध्यलोकके अन्ततक चले गये हैं। अन्तमें स्वयंभूरमण नामका समुद्र है। उसके बाद चारों कोनोंमें पृथ्वी है। जम्बूद्वीप में ६ पर्वत पडे हुए हैं जिससे उसके सात खण्ड हो गये हैं। इस ही जम्बूद्वीपकी दक्षिणी दिशामें सबसे पहले क्षेत्रका नाम भरत क्षेत्र है और जिस पर्वतने उसका और क्षेत्रोंसे विभाग किया है उसका नाम हिमवत् पर्वत है। हिमवत् पर्वत-मेंसे दो नदी निकली है एकका नाम महागंगा और दूसरी का नाम महासिन्धु है। और इसके बीचमें एक विजयार्द्ध पर्वत पडा हुआ है। जिससे उसके ६ खण्ड हो गये है। उनमेंसे अधोभागके मध्यखण्डका नाम आर्यखण्ड है। और शेष पाचका नाम म्लेच्छ खण्ड है। इस ही आर्यखण्डमें अर्द्धचन्द्राकार एक उपसागर पडा हुआ है। हम आजकल इस ही आर्य खण्डमें वास करते है। एशिया, अफ्रिका, योरुप, अमेरिका, अस्ट्रेलिया वगैरह जो कुछ हैं सब इसीमें है। इसी उप-सागरके पश्चिम भागको एटलांटिक, पूर्व भागको पैसिफिक और दक्षिण भागको भारत महासागर कहते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जो कुछ आजकलके मनुष्योंने देखा है वह सब इसी आर्यखण्डमें है। जितने पोलिटिकल ज्योग्रफीमें स्थान वर्णन किये है वह सब इसी आर्यखण्ड और उपसागरमें है। इस आर्यखण्ड और उपसागरसे आजकलका कोई मनुष्य बाहर नही गया। इस प्रकार पोलिटिकल ज्योग्रफीके बारेमें हमें कुछ भी नही कहना है जो कुछ कहना है वह मैथेमेटिकल ( Mathematical Geography ) पर कहना है।

आजकलकी सभ्य मण्डलीने वर्तमान दृष्ट क्षेत्रको नारंगीके समान गोल कल्पना किया है और उसका व्यास २४००० मील माना है तथा सूर्य स्थिर है और पृथ्वी ३६५ दिनमें उसके चारो तरफ घूम आती है तथा इसी प्रकार सदा घूमती रहती है। इसके सिवाय २४ घण्टेमें एक बार अपनी कीलीपर भी घूमती है जिससे दिन रातकी कल्पना की जाती है। अब यहाँ पहले इस विषयपर विचार किया जाता है कि यह पृथ्वी नारंगीके समान गोल है या नही? इस विषयमें हमारी सभ्य मण्डलीने जो प्रमाण दिये है उन प्रमाणोकी ही समालोचना इस लेखमें की जाती है।

पृथ्वी गोल है क्योंकि एक स्थानसे एक ही दिशामें गमन करते-करते मनुष्य कुछ कालमें पुनः उसी स्थानपर आ जाता है जहाँसे गमन करना प्रारम्भ किया था। यहाँ पृथ्वी तो धर्मी है, गोलपना साध्य है, 'एक दिशामें गमन करते-करते स्वस्थान प्राप्ति' हेतु है। हमने पीछे जो प्रमाण, हेतु, हेत्वाभास आदिके लक्षण लिखे थे वह पाठकोंको अच्छी तरह याद होंगे, न हों तो उन्हें पुनः देख लेनेका कष्ट करें।

जो हेतु पक्ष सपक्ष और विपक्षमें रहता है उसे अनैकान्तिक या व्यभिचारी हेत्वाभास कहते हैं। सो यहाँ जो हेतु दिया है वह पक्षरूप पृथ्वीमें, सपक्षरूप नारंगीमें और विपक्षरूप समतलमें खिंचे हुए वृत्त (Circle)में भी रहता है। अर्थात् चौरस (Flat) जमीनपर एक वृत्त खींचा जाय और उस वृत्तके घेरे (Circumferrence) पर बिना मुड़े यदि कोई मनुष्य गमन करता है तो कुछ समयमें फिर उसी स्थानपर आ सकता है जहाँसे उसने चलना प्रारम्भ किया था। इसलिये यह हेतु व्यभिचारी है।

हमारी सभ्यमण्डली पृथ्वीके गोल होनेमें दूसरा अनुमान इस प्रकार कहती है कि पृथ्वी गोल है क्योंकि दूरसे समुद्रमें आते हुए जहाजका प्रथम मस्तूल, फिर क्रमसे अधोभागका दर्शन होता है। यह अनुमान भी समीचीन नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें जो हेतु है वह बाधितविषय हेत्वाभास है। बाधितविषय हेत्वाभास उसको कहते हैं कि जिसके साध्यका अभाव प्रमाणान्तरसे निश्चित होता है। सो इस अनुमानमें 'पृथ्वी गोल है' यह पक्ष है जिसमे पृथिवी धर्मी है, गोलपना साध्य है। यहाँपर पृथ्वी शब्दसे वक्ताको समुद्रकी सतह (Surface) इष्ट है क्योंकि हेतुमे 'समुद्रमे आते हुए' इत्यादि शब्द पड़े हैं। सो समुद्रको सतह यदि किसी दूसरे प्रमाणसे चौरस (Flat) सिद्ध हो जाय तो बाधित-विषय नामक दोष ठीक घटित हो जाता है। सो यहाँ समुद्रकी सतह चौरस सिद्ध करनेके लिये हम आपको दूसरा अनुमान प्रमाण देते है—समुद्रकी सतह चौरस है; क्योंकि समुद्र जलभाग है जो-जो जलभाग होते है उनकी सतह चौरस होती है। जैसे तलाब वगैरह। समुद्रकी सतह भी जलभाग है इसलिये चौरस है। अब कृपा करके इस हेतुके समर्थनकी तरफ दृष्टि कीजिये कि इस अनुमानमे जो जलभाग हेतु दिया है वह असिद्ध हेत्वाभास नही है क्योंकि समुद्रका सतहका जलभाग होना प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। यह हेतु विरुद्ध भी नही है क्योंकि जगतमे कोई भी ऐसा दृष्टान्त नही है कि जहाँपर जलकी सतह गोल हो। फिर यह हेतु व्यभिचारी भी नही है क्योंकि किसी भी विपक्षमे नही रहता। और न यह बाधितविषय है क्योंकि कोई प्रबल प्रमाण इसका बाधक नही है। इसलिये हेतु बिल्कुल निर्दोष है। बस, पृथ्वीके गोल होनेमें जो 'जहाजका मस्तूल दर्शन' हेतु दिया है वह बाधितविषय हेत्वाभास है तथा उसमें व्यभिचारका दोष भी आता है।

व्यभिचारी हेत्वाभास उसको कहा जाता है जो पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोमे रहे। सो यह हेतु समुद्ररूप पक्षमे, सपक्षरूप नारंगीमे और विपक्षरूप चौरस किये गये क्षेत्रमे भी रहता है। अर्थात् यह हेतु तब व्यभिचारी कहा जा सकता है कि जब किसी चौरस जमीनमे दूरवर्ती ऊँची चीज पृथ्वीमे लगी हुई दिखाई दे। सो हम ऐसा ही दृष्टान्त पाठकों के सामने रखते है।

कल्पना कीजिये कि इस समय हम अफ्रीकाके सदृश रेगिस्तानमे बैठे है जहाँ दृष्टिका रोकनेके लिये कोई वृक्ष तक नही है। हमारे ख्यालसे तो वहाँकी जमीन चोरस ही है। न हो तो मजदूरोंसे बिल्कुल चौरस करा लो अर्थात् पृथ्वीके गोलाईके भागको छील डालो जहाँ तक कि आपकी दृष्टि पहुँचती हो उससे दूनी दूरी तक अर्थात् जो पाँच मील तक आपकी दृष्टि पहुँचती हो तो दस मील तक जोगरफीके नियमके अनुसार गोलाईके भागको छीलकर बिल्कुल चौरस कर लीजिये। अब वहाँपर एक बड़ा भारी गुब्बारा तैयार कराकर उसमे दो चार आदमियोको बैठाकर आकाशमे एक मील ऊँचा उड़ा दीजिये। फिर उसको किसी एक दिशामे श्रेणीबद्ध (एक मीलकी ऊँचाईमे न ऊँचा न नीचा) चलने दीजिये। कुछ देरके बाद वह गुब्बारा उस जगह पहुंच जायगा जहां कि आपकी दृष्टिकी हद है। फिर थोड़ी देर मे नीचेके हिस्से की तरफसे वह आपकी दृष्टिसे गायब होना प्रारम्भ कर देगा और थोड़ी ही देर पीछे आपको उसका केवल शिखर भाग दिखाई देगा। और अन्तमें वह भी अस्त होते सूर्यकी तरह गायब हो जायगा। गायब होनेसे आध घंटे बाद आपको वही बैलून रूपी जहाज उसी सहारा रूप समुद्रमे लौटकर उसी तरफको आवे जहाँ हमारे पाठक बाट देख रहे हैं तो सबसे पहले उसका शिखररूपी मस्तूल दिखाई देगा और फिर क्रमसे ज्यो-ज्यों निकट आता जायगा त्यों-त्यों उसका अधोभाग दीखने लग जायगा। अंतमें अत्यन्त निकट आनेसे सबका सब दिखाई देने लगेगा। यदि किसीको सन्देह हो तो प्रयोग करके देखले। इस प्रकार चौरस पृथ्वीमे भी आपका हेतु रहता है, इसकारण व्यभिचारी है।

हमारी सभ्यमण्डली पृथ्वीके भ्रमण करनेमे यह अनुमान देती है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है क्योंकि तारागणके स्थिर होते हुए भी उदय अस्तकी प्रतीति होती है। इस हेतुमे भागासिद्ध नामका दोष है अर्थात् हेतुके एक भाग रूप तारागणमे स्थिरपना असिद्ध है। हमारी सभ्यमण्डली तारागणको स्थिर सिद्ध करनेके लिये यह अनुमान देती है कि तारागण स्थिर है क्योंकि ध्रुवतारोंसे सदा समान अन्तर पर रहते हैं। सो यह हेतु भी व्यभिचारी है क्योंकि चलायमान तारागणमें भी यह हेतु रहता है। अर्थात् ध्रुवतारेको केन्द्र मानकर शेषके प्रत्येक तारेकी दूरीपर एक-एक वृत्त खीचा जाय और वे तारे उन वृत्तोंके घेरोंपर भ्रमण करे तो तारागणोंके चलायमान होते भी ध्रुव तारेसे सदा समान दूरी रह सकती है। इसलिये यह हेतु व्यभिचारी है। और व्यभिचारी हेतुसे तारागणकी स्थिरता सिद्ध नहीं हो सकती। तब पृथिवीके भ्रमणमे जो हेतु 'तारागणके ध्रुव होते हुए उदयास्तकी प्रतीति होती है' दिया है उसका 'तारागणोंके ध्रुव होते हुए' इतना भाग असिद्ध होगया तो फिर केवल 'उदयास्त प्रतीति' इतना रह गया। सो यदि पृथिवीके भ्रमणमे उदयास्तकी प्रतीति ही हेतु माना जाय तो यह हेतु व्यभिचारी है क्योंकि जो पृथिवी स्थिर हो और ज्योतिषचक्र चलायमान हो तो भी उदय और अस्तकी प्रतीतिमे किसी प्रकारकी बाधा नही आ सकती।

प्यारे पाठकों ! हम 'उन्नति' विषयपर लिखने चले थे, किन्तु शिक्षा-प्रणाली और भूगोल विषयकी चर्चा छिड़ जानेके कारण उस पर कुछ नहीं लिख सके। अत: अब प्रथम 'उन्नति' पर ही लिखते हैं।

हमारे बहुतसे भाई इसी सन्देह-सागरमें डूबे हैं कि यह जैन जाति वर्तमानमें उन्नत दशामें है या अवनत दशामें। हमारे बहुतसे अनगढ़ मूर्खशिरोमणियोंका ऐसा विचार है कि अवश्य जैनियोंका पूर्व गौरव शिक्षा, धर्म, उत्साह, विद्या, बुद्धि, आचरण आदि सब प्राचीन परिपाटी प्रचलित हो रही है। नई रोशनीके प्रबल माहात्म्यसे सामाजिक सुधारका भण्डार भरपूर भर रहा है। तथा बहुतसे विकट सुलेखक विभवशाली धुरन्धर विद्वानोंका कथन है कि हमारी सन्तान बाल्य अवस्थामें धर्मविद्या न मिलनेके कारण तथा पश्चिमीय शिक्षाकी दुर्गन्ध उनके कोरे हृदयमें रम जानेके कारण शिष्टाचार, नम्रता, धर्मज्ञता, तत्त्वज्ञता आदि गुणोंसे वंचित हो रही है, यहाँ विचारना यह है कि वर्तमानमें जैन समाजकी उन्नत दशा है या अवनत दशा ? पाठक इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही अवस्था प्राचीन उन्नत दशाकी अपेक्षा बहुत कुछ गिरी हुई है। आज तो दरिद्रता, निर्बलता, ईर्षा, क्रूरता, उद्धतता, मूर्खता मिथ्यात्व, पांचपाप, सप्तव्यसन, तीन मकार, रात्रिभोजन, आदि अनेक दोषोंने पूर्ण रूपसे अपना अधिकार जमा रखा है। बहुतसे भाई तो कृषिकर्म तथा मजूरी करके अपना पेट भरते हैं। बहुतसे भाई मध्यम स्थितिके हैं उन्होंने टूटी-फूटी देश भाषा अथवा नागरी अक्षरोंका अभ्यास कर रखा है। जिससे या तो किसीकी गुमाश्तगिरी करते हैं या छोटी-मोटी दुकान करते हैं। ये सब धर्म-विद्यासे प्राय: शून्य हैं। परन्तु उनमेंसे बहुतसे भाई मन्दिरजीमें आकर दर्शन कर जाया करते है। तथा कभी-कभी किसी शास्त्रकी दो चार पंक्तियोको भी देख जाते हैं। थोड़ेसे भाई पश्चिमीय शिक्षासे अनुवासित हैं। उनमेसे कितने ही छोटी-छोटी नौकरिया करते है। थोड़ेसे भाइयोंने वकालत तथा उच्च नौकरियोके पदको सुशोभित किया है। इन महात्माओंमेसे कुछ थोड़से भाइयोंके सिवाय शेष सब ही शिष्टाचार, नम्रता, सुशीलता, धर्मज्ञता आदि गुणों से वंचित है। थोड़ेसे भाई ऐसे धनाढ्य हैं कि जिनके बड़ी-बड़ी कोठियाँ खुल रही है। उनमेसे कितने ही तो भोगविलासादिकमे मस्त हो रहे है। कितने ही संचित परिग्रहकी वृद्धि करके चक्रवर्तीकी विभूतिसे उसका मिलान करनेकी चिन्तामे ही लगे हुए है। थोड़ेसे भाई कुछ जैनधर्मके शास्त्रोंका अभ्यास करके उपर्युक्त धनाढ्योंकी नौकरीमे लगकर सदा उनके दुर्वचन सहते है। इनमें भी कितने ही पण्डितोंने व्यभिचार, तीव्रलोभ, छल कपट, चोरी आदि दोषोंको आश्रय देकर पंडित शब्दको निन्दाका पात्र बनाया है। इन समस्त ही महाशयोंमे अब थोड़ी धर्मकी भी परीक्षा कीजिये।

श्रद्धानके विषयमे तो यह हाल है कि बहुतसे चण्डी, मुण्डी, देवी, दहाड़ी आदिके फंदेमे फँस रहे है। बहुतसे भाईयोंके मगजमे पश्चिमीय विद्याकी, भूगोल और सायंसकी वासना चक्कर लगा रही है। थोड़ेसे महाशयोंने जैनधर्मको ही उत्तम समझकर उस ही पर अपना श्रद्धान आरूढ किया है। ज्ञानकी अपेक्षा देखिये तो सिवाय इने-गिने पूरे अधूरे दो चार पण्डितोंके सर्वत्र शून्य ही शून्य दिखाई देता है। और चारित्रके सम्बन्धमे लिखते हुए तो लेखनी काम्पती है। अष्टमी चतुर्दशीको हरितकायका त्याग अथवा एकाशन, उपवासादि अनेक भाईयोंने धारण कर रखे है। परन्तु जो उनसे पूछा जाय कि तुम्हारे सप्तव्यसन और पाच पापका त्याग है या नहीं, तो उसके उत्तरमें पोल ही पोल नजर आती है। यह उपर्युक्त सब आखडो और त्याग सप्तव्यसनके त्याग तथा सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत और सप्तशील विना एकके अंश रहित शून्यके सदृश है।

पाठक, इससे निश्चय कर सकते है कि इस समाजकी वर्तमान दशा अवश्य ही अवनत दशाको प्राप्त हो रही है और उसमें भी धार्मिक दशा बहुत गिरी हुई है अत: हमें वह उपाय तलाश करना चाहिए कि जिससे अवस्था उन्नत दशाको प्राप्त हो।

संसारमें जितने प्राणी हैं उनसे चाहें जब और चाहे जहाँ पूछिये कि आपकी क्या दशा है तो प्राय: सबके मुखसे यही उत्तर सुननेमें आता है कि हमारे समान इस संसारमें कोई भी दुखी नहीं होगा। वह दिन धन्य होगा कि जिस दिन इस दु:खकी निवृत्ति होगी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि इस संसारमें सब जीव प्राय: दु:खी हैं और सब ही प्राणी उस दु:खमे छूटकर सुखकी अभिलाषा करते है। इस बातको लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि यह संसार दु:खस्वरूप है क्योंकि जैन-शास्त्रोंमें चतुर्गतिरूप संसारके भयानक दु:खोंकी घटाका विस्तारसे कथन किया है। भावार्थ कहनेका यह है कि समस्त जीवोंकी सदाकाल यही प्रवृत्ति रहती है कि किसी प्रकारसे हमको हितकी प्राप्ति हो और अहितका परिहार हो, और वह हित सुख और सुखके कारण है अतएव उपादेय है। और अहित दु:ख और दु:खके कारण हैं अतएव हेय हैं। दु:खका लक्षण शास्त्रकारोंने आकुलता कहा है इस ही आकुलताकी निवृत्तिपूर्वक आल्हादात्मक आत्माके परिणामविशेषको सुख कहा है। उस सुखके दो भेद है एक काम और दूसरा मोक्ष। भूख, प्यास, जरा, रोग, राग, द्वेषादि दु:खोंकी स्वल्पकालिक निवृत्तिको

काम कहते हैं किन्तु यह सुख कर्मके पराधीन, अन्तसहित, नाना प्रकारके दुःखोंमे अन्तरित और पापका बीज है अतएव परमार्थ दृष्टिसे यह भी हेय है। उपर्युक्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको मोक्ष कहते हैं और मोक्षसुख आत्माधीन, अनन्त और निरन्तर है। कामसुखका कारण अर्थ अर्थात् धन है। और मोक्ष सुखका धर्म है। कहनेका साराश यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारो ही इस जीवके प्रयोजनभूत हित और उपादेय है और इसी कारण इन चारोंकी पुरुषार्थ संज्ञा है। इन चारोमे धर्म पुरुषार्थ प्रधान है क्योंकि यह अर्थ, काम, मोक्ष इन तीनोका कारण है। इसलिये हम पहले धर्मपर ही कुछ लिखना चाहते हैं—

पाठकगण, जैसे सिंहनीका दूध सुवर्णके पात्रमे ही ठहरता है इसी तरह धर्म भी उत्तम पात्रके बिना नही ठहरता। अतः जबतक हम अपनेको धर्म अथवा धर्मोपदेशका पात्र नही बनावेंगे तबतक धर्मोन्नति होना आकाशके पुष्पसमान है। जब तक वस्त्रकी मलिनता दूर नही की जावेगी तबतक उसपर उत्तम रंग नही चढ सकता। इसी प्रकार जबतक हमारे चित्तसे अन्याय और अभक्ष्यरूपी मलिनता दूर न होगी तब तक हम धर्म अथवा धर्मोपदेशके पात्र कदापि नही हो सकते। यह मत समझना कि हमने जैनकुलमे जन्म लिया है। इस बातके धोखेमे मत रहना कि हम उन तीर्थङ्करोंकी सन्तान हैं जो इस धर्मके अधिष्ठाता थे। यह वह अदालत नही है कि जहाँ खानदानके ख्यालसे कुछ रिहाई की जाये। यह वह सच्ची अदालत है जहाँ दूधका दूध और पानीका पानी यथार्थ निर्णय होता है। यह वह अदालत है कि जहाँ बडे बड़े धनाढय धर्मसे विमुख होने पर क्षणमे सप्तनरकरूपी कारागारमे भेज दिये जाते है। यह वह न्यायालय है कि जहाँ बडे-बडे वीर इसके विरोधी होनेपर अचल स्थावर बना दिये जाते है। अतः मोह-निद्रासे जागो। यदि आपको जैनी कहलानेका अभिमान है, यदि आप अपनेको उन ऋषि और तीर्थङ्करोंकी सन्तान समझते है जिनके उज्ज्वल चारित्रका यश दशो दिशाओं मे व्याप्त हो रहा था और यदि आपको अपने जैन धर्मकी उत्तमताका कुछ भी गर्व है तो सबसे पहले अपनेको धर्मोपदेशका पात्र बनाओ। यह अन्याय-अभक्ष्य-सेवनका कलक धो डालो। क्या तुमको इस बातकी कुछ भी लज्जा नही आती कि हम जैनी होकर मास-मदिरा मिश्रित अस्पतालकी औषधी लेने ग्रहण करते है। क्या तुमको इस बातकी शरम नही आती कि हम उत्तम कुलीन होकर वेश्या तथा परस्त्री सेवन और रात्रिभोजन किस प्रकार करते है। यदि आपको धर्मोन्नति करनेका कुछ भी प्रेम है और अपनेको धर्म तथा धर्मोपदेशका पात्र बनानेकी कुछ भी अभिलाषा है तो रात्रिभोजन, मद्य, मास, मधु, पंचउदुम्बर, और सप्तव्यसनका शीघ्र ही त्याग करके अपनेको धर्म और धर्मोपदेशका पात्र बनाओ। जब तक पात्र नही बनोगे तब तक धर्मकी प्राप्ति असंभव है।

# तत्त्व-विवेचन

●
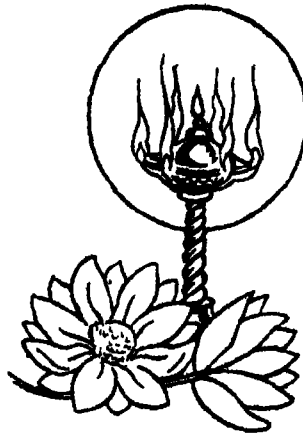
[ श्रीमान् पं० गोपालदासजीने दिल्लीमें दो भाषण दिये थे। उनमेंसे कुछ तत्त्व नीचे दिये जाते हैं—]

## १. सम्यक्त्व गुणका अनुभव कैसे होता है

जीव जिन सामान्य अथवा विशेष गुणोंका समुदाय है उनमेंसे सिर्फ ज्ञान गुण साकार है, शेष सब गुण निराकार है। दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और सुख ये विशेष गुण निराकार हैं। छद्मस्थ जीवके ज्ञान द्वारा ही अनुभवमे आते हैं। जैसे जन्मान्धको हरे व पीले आमका ज्ञान उसकी गन्ध द्वारा होता है क्योंकि गन्ध रूपसे अविनाभावी होती है। इसी तरह सम्यक्त्व गुणका अनुभव ज्ञानकी उस पर्यायसे होता है जो सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी है जिसको शुद्धात्मानुभूति कहते हैं। ज्ञानावरण कर्मके ऐसे भी दो भेद हैं—एक स्वानुभूत्यावरण, दूसरा इन्द्रियानुभूत्यावरण। स्वानुभूत्यावरणका उदय दर्शनमोहनीयके साथ-साथ रहता है। जब दर्शनमोहनीयका उपशम व क्षयोपशम होता है तब स्वानुभूत्यावरणका भी होता है। इस कारण निज आत्माका अनुभव होने लगता है। जब अनुभव हो तब सम्यक्त्वगुण प्रकट हो गया, ऐसा निश्चय किया जाता है। प्रत्यक्षरूपसे केवलज्ञान द्वारा जाना जाता है। परन्तु रूपी कर्मवर्गणाओंकी अपेक्षा सम्यक्त्वका ज्ञान सर्वावधि, परमावधि व मनःपर्ययज्ञानसे भी होता है।

## २. सुख गुण कैसे प्रकट होता है

चारो घातिया कर्मके नाशसे होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयोपशमसे ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखका तारतम्य-परिणमन होता है—कम व अधिक होते है। परन्तु मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यक्त्व, चारित्र और सुख गुणका विपरीत परिणमन होता है। विपरीत परिणमनकी अपेक्षासे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयको एक मोहनीयकर्ममे गर्भित किया गया है। मिथ्यादृष्टिके मोहनीयके सिवाय अन्य तीनो कर्मोंका अधिक क्षयोपशम होते हुए भी जो सुख प्रकट होता है उसको मोहनीय विपरीत अनुभव कराता है।

## ३. एक कषायसे स्थिति व अनुभागबन्ध दोनों कैसे होते हैं

जैसे अग्नि दो जातिकी होती है। एक जाति अग्नि, दूसरी प्रमाण अग्नि। जाति अग्नि जैसे लकडीकी व कोयलेकी व फूंसकी, और प्रमाण अग्नि—कि उसकी लौ कितनी ऊँची जाती है। जैसे एक कोयलेकी आग जलती है उससे लकडीकी अपेक्षा वस्तुके पकनेमें कम या अधिक समय लगेगा। यह तो कालकी स्थिति हुई। दूसरे उससे लकडीकी अपेक्षा उस पकी हुई वस्तुमे भिन्न स्वाद आवेगा, यह अनुभाग हुआ। इसी तरह एक कषायमे कितने कालमें कर्म पकेंगे, यह तो स्थितिबन्ध है। तथा उनके उदयमें तीव्र या मन्द रस हो गया, यह अनुभागबन्ध है। बन्धके समय जो कषाय था वैसा ही रहे तो इतने कालमे कर्म फल देकर झड़ेंगे, यह प्रयोजन स्थिति बन्धका है। पीछे कषायोंके तारतम्यमे स्थितिमे अपकर्षण व उत्कर्षण हो जाता है।

इसी तरह शक्तिमे भी फर्क पड जाता है।[१]

●

---

१. जैनमित्र अगहन कृष्णा २, वी० नि० सं० २४४०।

# द० म० जैनसभाके सभापतिपदसे दिया गया भाषण

•

**मंगलाचरण**

दोहा—वन्दौं श्रीजिनचन्द्रवच मिथ्यातमक्षयकार ॥
जिह संवत वेवत स्वपद भव-संताप निवार ॥ १ ॥
शिवमगदर्शक वीर जिन दोषावरण-विहीन ॥
ज्ञायक लोकालोक प्रभु करहु अमङ्गलछीन ॥ २ ॥

आज बड़े सौभाग्यका दिन है कि, आप महानुभावोने मझ तुच्छ व्यक्तिको ऐसे महान् पदका सम्मान देकर मेरा गौरव बढाया है। ऐसी महती सभाके सभापतित्वका भार उठानेका मेरे जीवनमे यह पहिला ही मौका है। इसलिए सम्भव है कि इस कार्यके सम्पादनमे अनेक त्रुटियाँ रह जाँय। परन्तु मैं आशा करता हूँ कि, आप सरीखे उदार महाशय मेरी त्रुटियोकी उपेक्षा कर जैसे हंस नीरको त्याग क्षीरका ही ग्रहण करता ह, उस ही प्रकार आप भी मेरे इस तुच्छ व्याख्यानको सुनकर प्रसन्न होगे। आकाशके बहु मध्यभागमे सरियत द्रव्यादेशसे अनादिनिधन और पर्यायापेक्षासे प्रतिक्षण परिणामी जीवादिक द्रव्योके समुदायात्मक सात राजूके घनस्वरूप ऊर्ध्वाधः मध्य सज्ञक तीन विभागोमें विभक्त इस लोकमे अपने ही अपराघसे अनादि सन्तानबद्ध दर्शनमोहादिक द्रव्यकर्म तथा रागादिक भावकर्मोके वशीभूत घटीयत्रकी तरह पुद्गलादि पंच परावर्तनोको पूरा करता हुआ यह जीव अनादिकालसे घोर दु खात्मक चतुर्गतिमे परिभ्रमण कर रहा है। नरक और तिर्यंच इन दो गतियोमे प्राय दु खसे और देवगतिमे इन्द्रियजनित सुख किन्तु पारमार्थिक दु खमे अपने हिता-हित विचार करनेको छुटकारा ही नही मिलता। तथा मनुष्यगतिमे भी बहुभाग तो दिनरात जठराग्निको शमन करनेकी चिन्तासे व्याकुलित चित्त हुए अपनी मौतके दिन पूरे करते है। और शेष एक भागमेसे बहुभाग पूर्वबद्ध पुण्यके उदयसे प्राप्त इष्ट विषयाग्निमे भोगतृष्णासे प्रेरित निरन्तर आत्माहुति किया करते है। बाकी कुछ इने गिने, जिनके काललब्धिके निमित्तसे कर्मभार कुछ हलका हो गया है, आत्महितकी खोजमे उद्यमशील दृष्टिगोचर होते है। परन्तु उनमे भी अनेक महाशय सदुपदेशके अभावमे मृग-तृष्णामे जलसंकल्पभ्रान्त मृगोकी तरह इतस्तत भटकते हुए अभीष्ट फलसे वचित ही रहते है। आज इस लेखमे हमको इस ही विषयका विवेचन करना है कि, इस जीवका वास्तविक हित क्या है और उस हित साधनकी साक्षात् तथा परम्परा प्रणाली किस प्रकार है।

## आत्महित

जीवके आल्हादात्म गुणविशेषको सुख कहते है। यह सुख गुण अनादिकालसे ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोके निमित्तसे वैभाविक परिणतिरूप हो रहा है। सुख गुणकी इस वैभाविक परिणतिको ही दु ख कहते है। इस आकुलतात्मक दु खके दो भेद है—एक साता और दूसरा असाता। संसारमे अनेक प्रकारके पदार्थ है जो प्रति समय यथायोग्य निमित्त मिलनेपर स्वाभाविक तथा वैभाविक पर्यायरूप परिणमन करते रहते है। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो कोई भी पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। यदि पदार्थोमे ही इष्टानिष्टता होती तो एक पदार्थ जो एक मनुष्यको इष्ट है वह सबहीको इष्ट होना और जो एकको अनिष्ट है वह सबहीको अनिष्ट होता। परन्तु संसारमे इससे विपरीत देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि, पदार्थोमे इष्टानिष्टता नही है। किन्तु जीवोने भ्रमवश किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट मान रक्खा है। मोहनीयकर्मके उदयसे दुरभिनिवेशपूर्वक इष्टानिष्ट पदार्थोमे यह जीव रागद्वेषको प्राप्त होता है जिससे निरन्तर ज्ञानावर-णादिक कर्मोका बन्ध करके इस संसारमे भ्रमण करता हुआ इष्टानिष्ट संयोग-वियोगमे अपनेको सुखी-दुखी मानता है। भ्रमवश इस जीवने जिसको सुख मान रक्खा है वह वास्तवमे आकुलतात्मक होनेसे दु ख ही है। ये सासारिक आकुलता-

त्मक सुख-दुःख आत्माके स्वाभाविक सुख गुणका कर्मजन्य विकृत परिणाम है। कर्मोंसे मुक्त होनेपर उक्त गुणकी स्वाभाविक पर्यायको ही यथार्थ सुख अर्थात् वास्तविक आत्महित कहते हैं।

## आत्महितका साक्षात् साधन

मुनिधर्म है। आत्माके सुख गुणको विकृत करनेवाले ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म हैं। इस कारण जब तक ये कर्म आत्मासे जुदे न होंगे तब तक इस जीवको यथार्थ सुख नही मिल सकता। न्यायका यह सिद्धान्त है कि जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होती है उस कारणके अभावसे उक्त कार्यकी उत्पत्तिका भी अभाव हो जाता है। उक्त न्यायके अनुसार यह बात सुतरा सिद्ध है कि, जिन कारणोंसे कर्मका सम्बन्ध होता है उन कारणोंके अभावसे कर्मका वियोग अवश्य हो जायगा। मिथ्याज्ञानपूर्वक रागद्वेषसे कर्मका बन्ध होता है अत. सम्यग्ज्ञानपूर्वक रागद्वेषकी निवृत्तिमे यह जीव कर्मोंसे मुक्त हो सकता है। एकदेश ज्ञानकी प्राप्ति तथा रागद्वेषकी निवृत्ति यद्यपि गृहस्थाश्रममे भी हो सकती है परन्तु पूर्णतया ज्ञानकी प्राप्ति तथा रागद्वेषकी निवृत्ति मुनि अवस्थामें ही होती है इसलिए आत्महितका साक्षात् साधन मुनिधर्म ही है। परन्तु जो महाशय सिंहवृत्तिरूप मुनिधर्मको धारण करनेमे असमर्थ है वे—

## आत्महितका परम्परा साधन

सागारधर्मका आराधन कर अपनी कर्तव्यताका पालन करते है। जो महानुभाव पूर्वभवके संस्कारसे दीक्षोचित उत्तम कुलमे जन्म लेकर गर्भाधानादि सस्कार-विधिसे संस्कृत होते हैं उक्त धर्मको धारण करनेके वे ही उचित पात्र है। यह सागारधर्म तीन विभागोमें विभाजित है। उन तीनो विभागोमेसे प्रथम भाग है—

## ब्रह्मचर्याश्रम

गर्भसे अष्टम वर्षम ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पुत्र जिनमदिरमे जाकर अर्हत्पूजनपूर्वक शिरोमुडन मौजीबधन और सात लडका यज्ञोपवीत धारणकर स्थूलहिंसादिक पापोको त्याग गुरुकी साक्षीसे ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करें। यह ब्रह्मचारी सिखा तथा श्वेत अथवा रक्त वस्त्र (अन्तरीय और उत्तरी) धारण करें। तथा अपने आचरणके योग्य जिनदासादिक दीक्षित नामको धारण करें। शृङ्गारादिक क्रियाओमे सदा उपेक्षित रहें। और राजपुत्रके सिवाय अन्य समस्त ब्रह्मचारी भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करें। इस प्रकार वेष धारणकर यावज्जोवन विद्या तथा धर्मके आराधन करनेवालेको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते है। यहाँ इतना विशेष है कि जो महाशय इस उपनयन सस्कारके पश्चात् केवल यज्ञोपवीत धारणकर विद्याभ्यासके अनन्तर किसी उचित कन्याके साथ पाणिग्रहण कर लेते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते है। जो क्षुल्लक रूपमे विद्याभ्यास समाप्तकर गृहस्थाश्रममे प्रवेश करते है वे अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाते है। जो बिना किसी वेषके विद्याध्ययनकर विवाह कर लेते है वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं। और जो नग्नवेषसे विद्याभ्यासकर राजा तथा कुटुम्बियोके आग्रहसे गृहस्थाश्रमको अवलम्बन करते है वे गूढब्रह्मचारी कहलाते है। तथा जो महाशय गृहस्थाश्रमको त्याग विषयभोगोसे विरक्त होकर यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करते है वे भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। इस ब्रह्मचर्याश्रममे पाँचो ही प्रकारके ब्रह्मचारी यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और भिक्षावृत्तिसे निर्वाह इन दोनो क्रियाओमे समान है तथापि चारित्रके अन्य भेदोकी अपेक्षासे इनमें तारतम्य है। अर्थात् पाक्षिक अवस्थासे लगाकर नवमी प्रतिमातक ब्रह्मचर्याश्रममे चारित्र पाया जाता है। इस ब्रह्मचर्याश्रममे विद्यासाधनकी प्रधानता है। प्राचीन कालमें इन ब्रह्मचारियोमेसे कितने ही ब्रह्मचारी तो गृहस्थाचार्यके समीप विद्याध्ययन करते थे। तथा कितने ही ब्रह्मचारी मुनि तथा विद्वान् ब्रह्मचारियोके साथ देशाटन करते हुए विद्यादेवीकी उपासना करते थे। परन्तु खेदके साथ कहना पडता है कि आज न तो वे गृहस्थाचार्य ही है और न वे विद्वान् ब्रह्मचारी और मुनि ही है कि जिनके निमित्तसे हमारी सन्तान स्वतन्त्रतापूर्वक किसी प्रकारके द्रव्यव्ययके बिना विद्या संपादन कर सके। आज हमको इस विद्यासाधनके निमित्तभूत पाठशाला, विद्यालय, कालेज, स्कूल, बोर्डिंग आदिके बनानेके लिये घर घर भिक्षा माँगनी पडती है और फिर भी यथेष्ट सफलता प्राप्त नही होती। परन्तु लाचार होकर हमको 'प्राप्तो निर्वाह्यतेऽधुना' की नीतिका अवलम्बन करके वर्तमान देशकालानुरूप रीति-नीतिके अनुसार प्रयत्नशील होकर उसमे यथासंभव सुधार करते हुए विद्योन्नतिके कार्यमे तन मन धनसे उद्योग करना चाहिये। विद्याविषय शिक्षा-प्रणाली और संस्था प्रबन्ध इस प्रकार दो विभागोमें विभक्त हो सकता है। इन दो विभागोमेसे पहिले—

## शिक्षाप्रणाली

पर विवेचन किया जाता है। ससारके समस्त प्राणियोको यह इच्छा रहती है कि, हमको सुखकी प्राप्ति हो और सदाकाल ऐसा ही उपाय करते रहते हैं। परन्तु सुख तथा सुखके साधनका यथार्थ स्वरूप न जाननेके कारण

अभीष्ट फलको प्राप्त नहीं होते। यथार्थ सुख मोक्षमें है, इसलिये पुरुषका असली प्रयोजन अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्षका साधन धर्म है। इसलिये दूसरा पुरुषार्थ धर्म है। इस धर्मपुरुषार्थका पूर्णतया साधन यत्याश्रममें ही हो सकता है। और इस यत्याश्रमको वे ही महानुभाव धारण कर सकते है कि, जो शारीरिक तथा मानसिक शक्तिशाली होनेपर विषयभोगोंसे नितान्त विरक्त हो गये है। जो महाशय विषयभोगोंसे विरक्त होनेपर भी शारीरिक तथा मानसिक शक्तिकी हीनताके कारण मुनिपदको धारण नही कर सकते वे दशमी तथा ग्यारवी प्रतिमास्वरूप वानप्रस्थ आश्रमको स्वीकार करके धर्मपुरुषार्थका एकदेश साधन करते है। तथा जिन महाशयोकी विषयाकाक्षा भी पूर्णतया नहीं घटी है, वे देवद्विजाग्नि साक्षीपूर्वक योग्य कन्यासे पाणिग्रहण करके न्यायरूप भोगोको भोगते हुए कामपुरुषार्थ तथा उसके साधनभूत धनार्जनरूप अर्थपुरुषार्थ और यथाशक्ति धर्मपुरुषार्थ इस प्रकार धर्म, अर्थ और कामस्वरूप त्रिवर्गका साधन करते हुए गृहस्थाश्रमका पालन करते है। उक्त चारों पुरुषार्थोंमे मोक्ष और काम ये दो पुरुषार्थ साध्यरूप है तथा धर्म और अर्थ ये दो पुरुषार्थ साधनरूप हैं। किसी पुरुषार्थका साधन तद्विषयक विद्या प्राप्ति किये बिना अत्यन्त दुःसाध्य है और गृहस्थाश्रममे प्रवेश करनेपर चित्त अनेक चिन्ताओंसे व्याकुलित हो जाता है। इसलिये इतर तीन आश्रमोंकी साधनभूत विद्याओंकी आराधनाके लिये अनेक चिन्ताओंसे अलिप्त कुमार अवस्थामे ब्रह्मचर्य आश्रमका विधान है। इस ब्रह्मचर्य आश्रममें किन-किन विद्याओंके अभ्यास करनेकी आवश्यकता है, आगे इस ही विषयपर विवेचन किया जाता है। नीतिकारोंने कहा है कि—

दोहा—कला बहत्तरि पुरुषकी तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका एक जीव उद्धार ॥१॥

काव्य—अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं।
स्वल्पं तदायुर्बहवश्च विघ्नाः ॥
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु।
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात ॥२॥

भावार्थ—धर्म पुरुषार्थ और अर्थ पुरुषार्थ इन दो पुरुषार्थोंकी कारणभूत धार्मिक और औद्योगिक इन दो प्रकारकी विद्याओंका अभ्यास करना परमावश्यक है। किसी भी विद्याकी प्राप्ति उस भाषाके परिज्ञानके विना नही हो सकती, जिस भाषामे ग्रन्थकारोंने उक्त विद्याओका निरूपण किया है। हमारे प्राचीन ऋषियोंने संस्कृत भाषामे प्रायः समस्त विषयोंकी रचना की थी। परन्तु हमारे दुर्भाग्यवश कुछ जालिमों द्वारा और कुछ हमारी उपेक्षासे हमारा संस्कृत साहित्य प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो गया, इसलिये संस्कृत भाषामे हमको समस्त आवश्यक विषय नही मिलते है। इसलिये औद्योगिक विद्याके लिये हमको अंग्रेजी साहित्यका भी आश्रय लेना पड़ता है। इन सबका खुलासा यह हुआ कि विद्याओंकी प्राप्तिके लिये हमको संस्कृत और अंग्रेजी भाषाका परिज्ञान करनेकी आवश्यकता है। भाषाओके दो भेद हैं-मातृभाषा और इतर भाषा। मातृभाषाके लिखने-पढने और सीखनेमे जितने परिश्रमकी आवश्यकता है इतर भाषाओके लिखने-पढने और सीखनेमे उससे कई गुणा परिश्रमकी आवश्यकता होती है। संस्कृत और अंग्रेजी हमारी मातृभाषा नहीं है, इसलिये मातृभाषाकी अपेक्षा इतर विद्याओके अभ्यास करनेमे बहुत अधिक काल लगता है। योरुप, अमेरिका, जापान आदि देशोंने जो आशातीत उन्नति की है वह इस ही नीतिके अवलम्बनमे ही की है। परन्तु हमारे भोले भारतवासी लकीरके फकीर विना विद्याभ्यासके भाषाओंके परिज्ञान प्राप्त करने ही मे अपना समय खोकर विद्याशून्य निकम्मे रह अपने अमूल्य जीवनको व्यर्थ खो रहे है। प्रत्येक भाषामे यह एक अपूर्व चमत्कार है कि किसी भी लेखम लेखकके अभिप्रायोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये किसी मूल पुस्तकके अभ्यास करनेसे प्रकृत भाषाका मर्मज्ञ चतुर पाठक मूल ग्रन्थकर्ताके असली अभिप्राय तक पहुँच सकता है। परन्तु उक्त मूल ग्रन्थके इतर भाषामे अनुवादको पढनेसे मूल ग्रन्थकर्ताके अभिप्राय ज्ञात नही हो सकते। किन्तु उस अनुवादके पढनेमे पाठक अनुवादके केवल उन अभिप्रायोंतक पहुँच सकता है कि, जो अनुवादकने मूल ग्रन्थके अभ्याससे समझे है। सम्भव है कि, अनुवादक मूल ग्रन्थकर्ताके असली अभिप्रायोंको न पहुँचा हो। तथा प्रत्येक भाषामे प्रत्येक विषयके अभिभावक शब्द न मिलनेकी भी सम्भावना है। इसलिये अनुवादित ग्रन्थोंका अभ्यास करनेमे मूलग्रन्थोके अभ्यासकी अपेक्षा त्रुटि रह जानेकी सम्भावना है। परन्तु यह त्रुटि उस त्रुटिके सामने बहुत ही थोडी है कि, जो अमातृक भाषाओका अभ्यास करते मूल विद्याओंमे वंचित रहनेसे होती है। इसलिये सर्व साधारणके लिये राजमार्ग यही हो सकता है कि, इष्ट विद्याओंका अभ्यास उन ग्रन्थोंका मातृभाषामे अनुवाद कराकर कराया जावै। आजकल इस भारत वर्षमे अंग्रेज महाशयोंका राज्य है इसलिये राजविद्या अंग्रेजी है। राजविद्याका अभ्यास

किये बिना आजकल मनुष्य मूर्ख समझा जाता है। व्यापारमें राजविद्याका आजकल इतना अधिकार बढ़ चढ़ रहा है कि, उसके बिना व्यापारके असली तत्वसे वंचित रहना पड़ता है। इसलिये अंग्रेजी भाषाका परिज्ञान प्राप्त करना हमारा प्रधान कर्तव्य है। शिक्षाप्रणाली चार विभागोंमें विभाजित हो सकती है। अर्थात् १. प्राथमिक शिक्षालय (Primary School) २ प्रवेशिका विद्यालय (Anglo-Vernacular High school) ३. भाषा महाविद्यालय (Vernacular College) और ४ संस्कृत महाविद्यालय (Sanskrit College)। भाषा महाविद्यालयके अन्ततक अंग्रेजी भाषाका उतना ज्ञान करा देना चाहिये कि, जितना आजकल अंग्रेजी हाईस्कूलोंमें मेट्रिक्यूलेशन तक कराया जाता है। तथा मातृभाषाके साहित्यके साथ-साथ मातृभाषामें ही उन समस्त विद्याओंका अभ्यास करा देना चाहिये, जिनका कि, अभ्यास वर्तमान देश-कालानुसार आवश्यक है। तथा इतना संस्कृत भाषाका भी ज्ञान करा दिया जावे कि, जिससे विद्यार्थी सुगम संस्कृत ग्रन्थोंको समझ सके तथा संस्कृत विद्यालयमें अभ्यास करने योग्य हो जावे। इसके पश्चात् जिन महाशयोंको गृहस्थाश्रम सम्बन्धी चिन्ताओंने नहीं सताया है, तथा जो महाशय उत्साहपूर्वक आगे भी विद्याभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिये आगे विद्याभ्यास करनेके दो मार्ग हैं। जो महाशय पाश्चिमात्य विद्वानोंके मूल ग्रन्थोंका अभ्यास करके सरकारी डिग्रियाँ प्राप्त करना चाहते है उनको चाहिये कि वे सरकारी कालेजोंमें प्रवेश करके अपनी इच्छा पूर्ण करें और जो महाशय प्राचीन ऋषियोंकृत मूल न्याय, धर्म, अध्यात्म शास्त्रोंका अभ्यास करनेके अभिलाषी हैं उनके लिये संस्कृत विद्यालय स्थापन करनेकी आवश्यकता है। शिक्षा-प्रणालीका क्रम निरूपण करनेसे पहिले इस बातका विवेचन किया जाता है कि, शिक्षा-प्रणालीमे हमको किन-किन विद्याओंका समावेश इष्ट हैं। समस्त विद्या तीन विभागोंमें विभक्त हो सकती है अर्थात् भाषा १, मूल विद्या २, और सहकारिणी विद्या ३, भाषा भी तीन भागोंमें विभक्त है। अर्थात्—

## भाषाविभाग

१. मातृभाषा सहित्य। (Vernacular Literature.)
२. अंग्रेजी साहित्य। (English Literature.)
३. संस्कृत साहित्य। (Sanskrit Literature.)

## मूलविद्याविभाग

१. धार्मिकविद्या।
२. औद्योगिकविद्या।

## धर्मविद्याविभाग

१. प्रथमानुयोग (इतिहास) (History.)
२. चरणानुयोग।
३. करणानुयोग (Geography & Astronomy.)
४. द्रव्यानुयोग (पदार्थविज्ञान) (Science & Philosophy.)

## औद्योगिकविद्याविभाग

१. शस्त्रविद्या।
२. कृषिविद्या (स्थल, जल,—भूगर्भ, खनि) (Agriculture Mineral &c.)
३. मसिविद्या (Book Keeping.)
४. वाणिज्यविद्या (Trade.)
५. शिल्पविद्या (चित्रस्थपितादि) (Technical Engineering &c.)
६. इतर विद्या (संगीतादिक)।

## सहकारिणीविद्याविभाग

१. गणितविद्या—
  १. अंकगणित (Arithmatic.)
  २. रेखागणित (Euclid.)

३. बीजगणित (Algebra.)

४. क्षेत्रगणित (Mensuration.)

२. नीतिविद्या—

१. सामान्यनीति ।

२. राजनीति (Political knowledge.)

३. वैद्यकविद्या (Physical Knowledge.)

४. न्यायविद्या (Logic.)

अब आगे शिक्षाप्रणालीका क्रम लिखा जाता है ।

## प्राथमिक शिक्षाक्रम

| खण्ड. | काल. | अर्थशास्त्र | भाषा | गणित | मौखिक शिक्षा* | जागरफी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | ६ मास | बालबोध जैनधर्म प्रथम भाग | प्रथम पुस्तक | पहाड़े २० तक | प्रथमभाग | दिशाओंका ज्ञान |
| २ | ,, | द्वितीय भाग | द्वितीय पुस्तक | पहाड़े पूर्ण | द्वितीयभाग | जिला जागरफी |
| ३ | १ वर्ष | तृतीय भाग | तृतीय पुस्तक भाषाव्याकरण पूर्वार्द्ध | साधारण जोड़, बाकी, गुणा और भाग | तृतीय भाग | प्रान्त जागरफी |
| ४ | १ वर्ष | चतुर्थ भाग | चतुर्थ पुस्तक भाषाव्याकरण पूर्ण | मिश्र जोड़, बाकी, गुणा, भाग, त्रैराशिक, जिन्सों- की फैलावट गुरुओंमे | चतुर्थ भाग | भारत जागरफी |

* इस विषयकी शिक्षाके लिये अध्यापक पशु, पक्षी, फल, फूल, अन्न आदि पदार्थोंके रंग, रूप, प्रकार, उपयोग आदिका ज्ञान करावें और ज्ञान कराते समय संभवतः उन पदार्थोंको सम्मुख रक्खें ।

## प्रवेशिका शिक्षाक्रम

| खंड. | काल. | धर्मशा. | भाषा साहित्य | गणित. | इंगलिश | इतिहास जागरफी व पदार्थ विज्ञान. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | एकवर्ष | पार्श्वपुराण. | जैनपद्यसंग्रह, भाषासारसंग्रह. | भिन्न, दशमलव व मुनीमी. | Primer, and I Reader. | जैन जागरफी व भारतका इतिहास. |
| २ | ,, | श्रावकाचार छहढाला सार्थ. | छन्दप्रभाकर, उप- मिति भवप्रपंचा कथा | अंकगणित पूर्ण | II Reader. | इंग्लैण्डका इतिहास पदार्थ विज्ञान. |
| ३ | ,, | मोक्षमार्ग- प्रकाशक. | चरित्रगठन प्रबोध-चन्द्रिका | रेखागणित १ भाग बीज गणित जोड़ बाकी गुणा भाग | III Reader & Grammer (Etymology) | इतिहास ( फ्रांस ) पदार्थ विज्ञान रसायन ( महेशचरण कृत ) |
| ४ | ,, | जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, चर्चाशतक | मुद्राराक्षस. हरिश्चन्द्र नाटक, सुशीला उपन्यास. | रेखागणित ४ भाग बीज गणित, क्षेत्र गणित, | IV Reader & Grammer. | इतिहास ( जर्मन ) रसायन और नैपोलियन बोनापार्ट. |

## हिन्दीकालेज

| खंड. | काल. | धर्मशास्त्र | संस्कृत साहित्य. | न्याय. | इंग्लिश. | औद्योगिक. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ वर्ष | जैनसिद्धान्तदर्पण. | संस्कृत शिक्षिका. | प्रमाणनय- दीपिका | Matric course. | स्वाधीनता. |
| २ | ,, | समयसारनाटक, प्रवचनसारकेपद्य. | क्षत्रचूडामणि. हितोपदेश | फिलोसोफी. | Do. | सम्पत्तिशास्त्र. |

## संस्कृत कालेज

### उपाध्याय परीक्षा

| खंड. | काल. | धर्मशास्त्र. | न्याय. | साहित्य. | व्याकरण |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ वर्ष | सागार धर्मामृत त्रैवर्णिकाचार ( ब्रह्मसूरिकृत ) | न्यायदीपिका, परीक्षामुख मूलसूत्र. | चन्द्रप्रभकाव्य. | जैनेन्द्र वा शाकटायन स्त्रीप्रत्ययान्त. |
| २ | ,, | सर्वार्थसिद्धि | प्रमेयरत्नमाला आप्तमीमासा मूल | अलंकारचिन्तामणि पार्श्वनाथकाव्य. | पूर्वार्द्ध. |

### विशारद परीक्षा

| खंड. | काल. | धर्मशास्त्र. | न्याय. | साहित्य. | व्याकरण. |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ वर्ष | गोमटसार जीवकाण्ड पंचाध्यायी १ अध्याय. | आप्तपरीक्षा सप्तभंगितरंगिणी | धर्मशर्माभ्युदय जीवंधर चम्पू, | तिङन्त |
| २ | ,, | गोमटसार कर्मकाण्ड, पंचाध्यायी पूर्ण. | प्रमेयकमल-मार्तण्ड | द्विसंधानकाव्य, विक्रान्तकौरवीय नाटक. | पूर्ण. |

### आचार्य परीक्षा

| खंड. | काल. | धर्मशास्त्र. | न्याय. | साहित्य. | व्याकरण. |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ वर्ष | लब्धिसार, राजवार्तिक. | अष्टसहस्री. | गद्यचिन्तामणि काव्यानुशासन ( हेमचन्द्र ) | जैनेन्द्र महावृत्ति अथवा अमोघवृत्ति दो अध्याय |
| २ | ,, | नाटकत्रयी. | श्लोकवार्तिक | यशस्तिलक, आदिपुराण. | पूर्ण. |

## कन्या शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा.

१. धर्मविषय । २. भाषाविषय । ३. गणित । सीनापीरोना

प्रवेशिका.

१. धर्मविषय । पाकशास्त्र । अंकगणित ।

## हिन्दीकालेज

१ धर्मविषय ।

उपर्युक्त पठनक्रममें प्राय जैनियोकी बनाई हुई पुस्तकें रक्खी गई है। तथा कितनी ही पुस्तकें अन्यमतावलम्बियोंकी बनाई हुई रक्खी है। और कुछ पुस्तके उपलब्ध न होनेके कारण विषयके नामसे ही अंकित की गई है। जो पुस्तकें अन्यमतावलम्बिकृत रक्खी है, उनका विषय प्राय: जिनमतमे अविरुद्ध है और यदि किसी पुस्तकमे जिनमतसे विरुद्ध हो तो जैन विद्वानोका कर्तव्य है कि उक्त पुस्तकोके सदृश विषयवाला जैनमतसे अविरुद्ध पुस्तकोंकी रचना करे और उसमें विरुद्ध विषयोकी उल्लेखपूर्वक समालोचना करके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करे। तथा अनुपलब्ध पुस्तकोकी रचना करके पठनक्रमकी त्रुटियोको पूर्ण करे। पाठ्य पुस्तकोकी रचना करनेके लिये अनुभवी विद्वानोका एक कमेटी बनाई जावे और उस कमेटीसे पास कराके पुस्तक प्रचारमे लाई जावें। आनरेबल मिस्टर गोखलेके बिलका समर्थन करते हुए हम सरकारसे भी प्रार्थना करते है कि, प्राथमिक शिक्षाका प्रचार मुफ्त और बलपूर्वक किया जावे।

गृहस्थाश्रमरूपी गाड़ीको चलानेवाले पुरुष और स्त्री ये दो पहिये हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमके योग्य पात्र बनानेके लिये जैसे बालकोंको शिक्षाकी आवश्यकता है उस ही प्रकार योग्य गृहिणी बनानेके लिये कन्याओंको भी शिक्षा देनेकी आवश्यकता है। जिस घरमें शिक्षिता स्त्री नहीं है वहाँ वर्णाश्रम धर्मका यथोचित पालन नहीं हो सकता। बाल्यावस्थामें सन्तानको उचित शिक्षासे भूषित करना माताका ही कर्तव्य है। अनेक महाशयोका कथन है कि शिक्षासे स्त्रियाँ दुश्चरित्रा हो जाती है यह उनका भ्रम है। पुराण और इतिहासोंमें यह बात मुतरा सिद्ध है कि सीता, द्रौपदी, अंजना, मनोरमादिक अनुकरणीय सर्व ही सती शिक्षिता थी। स्त्रियोको दुश्चरित्रा बनानेका कारण दूषित शिक्षा है। असभ्य और अश्लील पुस्तकोंके अभ्यासमे स्त्रियोके चरित्रमें धब्बा लग जाता है। इसलिये स्त्रियोकी शिक्षाकी उत्तमतापर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। स्त्रियोको धार्मिक तथा गृह सम्बन्धी पाकादिककी और घरका हिसाब रखने योग्य गणितकी शिक्षा तो अवश्य ही देनी चाहिये। शिक्षा-प्रचारके लिये—

## संस्थाओंके प्रबन्ध

की आवश्यकता है। प्रत्येक ग्राममे जहाँ जैनियोको वस्ती कम-से-कम दश घरकी भी हो वहाँ एक २ पाठशाला स्थापन की जावे, जिसमें प्राथमिक शिक्षा दी जावे। प्रत्येक नगरमे जहाँ जैनियोंकी बस्ती कम-से-कम सौ घरकी हो वहाँ प्राथमिक और प्रवेशिका पाठशाला खोली जावे, जिसमे प्राथमिक और प्रवेशिकाकी शिक्षा दी जावे। भाषाओंके हिसाबसे भारतवर्षका चार विभागोमे विभाजित करना चाहिये। अर्थात्

| | |
|---|---|
| १ हिन्दी विभाग, | ३ गुजरात विभाग, |
| २ दक्षिण विभाग, | ४ कर्नाटक विभाग, |

प्रत्येक विभागमे अपनी २ मातृभाषामें शिक्षा दी जावे। सब विभागोमें कम-से-कम एक भाषामहाविद्यालय खोला जावे, जिसमें प्रवेशिका और भाषामहाविद्यालयकी (?) शिक्षा दी जावे। भारतवर्षमें कम-से-कम एक संस्कृतमहाविद्यालय खोला जावे, जिसमें संस्कृत भाषामें न्याय, व्याकरण, साहित्य और धर्मशास्त्रकी शिक्षा दी जावे। भारतवर्षकी समस्तशिक्षा सम्बन्धी संस्थाओका प्रबन्ध करनेके लिये विद्वानोकी एक सभा बनाई जावे, जिसमे संस्कृतके पण्डित और ग्रेज्युएट शामिल किये जावे। इस विद्वज्जन महासभाके अन्तर्गत चार प्रान्तिकसभा नियत की जावे, जो उपर्युक्त प्रत्येक विभागका प्रबन्ध करें। प्रत्येक विभागके लिये कम-से-कम एक-एक निरीक्षक नियत किया जावे तथा परीक्षाके लिये एक परीक्षालय खोला जावे, जो भारतवर्षके समस्त विद्यार्थियोंकी परीक्षा लिया करे। असमर्थ विद्यार्थी स्थानीय श्रावकोके घर मधुकरी वृत्तिसे भोजनकर विद्याभ्यास करें। जहाँतक हो ये संस्थाएँ ब्रह्मचर्याश्रमके स्वरूपमे नियत की जावें। इन शिक्षालयोंके साथ एक-एक बोर्डिंगहाउस भी रहे, जिसमे समर्थ अथवा छात्रवृत्ति प्राप्त विद्यार्थियोंके भोजन तथा समस्त विद्यार्थियोंके निवासका प्रबन्ध किया जावे। शिक्षालय तथा बोर्डिंगोंमें शिक्षक, अध्यक्ष, सुपरिटेन्डेन्ट पदपर अनुभवी सदाचारी महाशय नियत किये जावे। विद्यार्थियोके शारीरिक स्वास्थ्य तथा सदाचारपर पूरा-पूरा ध्यान दिया जावे। विद्यार्थियोको स्वार्थत्यागकी भी शिक्षा दी जावे कि जिसमे कुछ विद्यार्थी विद्या प्राप्त करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ तथा सन्यासी बनकर देश देशान्तरमे देशाटन कर जैनधर्मकी विजयपताका फहराकर जैनधर्मको सार्वजनिक धर्म बना समस्त संसारका हित साधन करें। इस प्रकार संक्षेपसे ब्रह्मचर्याश्रमका कथन करके अब आगे गृहस्थाश्रमपर कुछ विवेचन किया जाता है।

## गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रमको समाप्त करके गुरुकी आज्ञासे जो महानुभाव गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं, उनको धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके साथ साथ सामाजिक नियमोका भी पालन करना पड़ता है। इसलिये गृहस्थाश्रमके कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और समाज इन चार विभागोंमें विभक्त हो सकते है। विषयभोगोकी वासना इस जीवके अनादिकालसे लग रही है और इस ही वासनाके निमित्तसे यह जीव इस संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है। इसलिये काम पुरुषार्थके निरूपण करनेकी कुछ आवश्यकता न समझकर धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक कर्तव्योंपर ही संक्षेपसे विवेचन किया जाता है। उक्त तीन विषयोंमेंसे पहिले धार्मिक विषयका निरूपण करते है।

## गृहस्थधर्म

अनादिकालसे घोर दुःखसन्तप्त प्राणियोंको दुःखसे निकाल मोक्षके उत्तम सुखमें पहुँचावे उसे धर्म कहते हैं। जीवद्रव्यका सम्यक्त्वगुण अनादिकालसे दर्शनमोहनीयकर्मके निमित्तसे विकृत भावको प्राप्त हो रहा है। सम्यक्त्वके इस विकृत

भावको ही मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ही ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकाशमान ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है तथा चरित्रमोहनीयकर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका भी विकृत परिणाम हो रहा है। मोहनीयकर्मका क्षय होनेसे जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुण स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त हो जाते है। तथा मोहनीयकर्मका क्षय होनेसे कुछ ही पीछे ज्ञानदर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे पूर्णज्ञानको प्राप्त हो जाता है। कुछ कालके बाद योगोंका भी अभाव-कर सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र इन तीन गुणोंकी पूर्णता हो जाती है। इन तीनों गुणोंकी पूर्णताको ही धर्म कहते है और यही धर्म मोक्षका सच्चा उपाय है। इन तीनों गुणोंमें सम्यक्त्व गुण प्रधान है। जबतक सम्यक्त्व गुणकी प्राप्ति नहीं होती तबतक ज्ञान और चारित्र सम्यग् व्यपदेशको प्राप्त नहीं होते। चारित्रगुणके दो भेद है—देशचारित्र और सकलचारित्र। सकलचारित्र मुनि अवस्थामें होता है। जो महाशय सकलचारित्रका पालन करनेमें असमर्थ होते हैं वे देशचारित्रका ग्रहण-कर गृहस्थ धर्मका पालन करते है। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व, यथार्थ जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह इन पांच पापोंकी पूर्णतया निवृत्तिको सकलचारित्र और एकदेशनिवृत्तिको देशचारित्र कहते है। सम्यक्त्व सहित देशचारित्रके पालन करनेको ही गृहस्थधर्म कहते है। इस गृहस्थधर्मको श्रावकधर्म और उसके पालनेवालेको श्रावक कहते है। श्रावकके तीन भेद हैं पाक्षिक १, नैष्ठिक २, और साधक ३। जो सम्यक्त्व और अष्ट मूलगुणोंका निरतिचार पालन नही कर सकता अर्थात् सदोष पालन करे उसको पाक्षिक श्रावक कहते है। अष्ट मूलगुण इस प्रकार है। मद्यत्याग १, मांसत्याग २, मधुत्याग ३, रात्रिभोजनत्याग ४, पंचोदुम्बरत्याग ५, पंचपरमेष्ठी-का स्तवन ६, जीवदया ७, और जलगालन ८। सम्यक्त्व और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंके सांगोपांग प्रतिमारूप निर्वाह करने-वालेको नैष्ठिक श्रावक कहते है। नैष्ठिक श्रावकके ११ भेद है, जिनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है। १ सम्यक्त्व और मूलगुणके निर्दोष पालनेको दर्शन प्रतिमा कहते है। २ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण संज्ञक पंच अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्ड संज्ञक तीन गुणव्रत, तथा भोगोपभोगपरिमाण, प्रोषधोपवास, सामायिक और अतिथि-संविभाग संज्ञक चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार १२ उत्तरगुणोंके निर्दोष पालनेको व्रतप्रतिमा कहते है। ३ त्रिकाल सामायिक करनेको सामायिक प्रतिमा कहते है। ४ पर्वदिनोंमें प्रोषधोपवास व्रत करनेको प्रोषधप्रतिमा कहते है। ५ सजीव पदार्थके भक्षणके त्यागको सचित्तत्यागप्रतिमा कहते है। ६ दिनमे मैथुन त्यागको दिवामैथुनत्यागप्रतिमा कहते है। ७ स्त्रीमात्रके संसर्ग त्यागको ब्रह्मचर्यप्रतिमा कहते हैं। ८ कृष्यादिक हिंसाके हेतुभूत आरंभके त्यागको आरंभत्यागप्रतिमा कहते है। ९ धनधान्यादिक परिग्रहके त्यागको परिग्रहत्यागप्रतिमा कहते है। १० आरम्भादिकमे अनुमतिके त्यागको अनुमतित्यागप्रतिमा कहते है। ११ उद्दिष्टभोजनके त्यागको उद्दिष्टत्यागप्रतिमा कहते हैं। मरणसमय स्वरूपकी सावधानता रखनेवालेको साधक श्रावक कहते हैं। इस प्रकार गृहस्थधर्मका यहाँ नाम मात्र कथन किया है। इसका सविस्तार स्वरूप श्रावकचारोंसे जानना। जबतक धर्मके स्वरूपको नही जानोगे तब तक धर्ममें प्रीति कदापि नहीं हो सकती। नीतिकारोंका भी वाक्य है कि—

काव्य— न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातां
मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥१॥

धर्मका महत्त्व न जानकर ही भोले भाईयोंके हृदयमें धर्मसे ग्लानि हो रही है। इसलिये जो महाशय अपनेको सच्चा सुखी बनाना चाहते हैं उनका प्रधान कर्तव्य धर्मशास्त्रोंका स्वाध्याय करना है। धर्म साधनके अनेक अंगोंमें स्वाध्याय प्रधान अंग है। इस स्वाध्यायको शास्त्रकारोंने अन्तरङ्गतपोंमें वर्णन किया है। स्वाध्याय करनेमें मन, वचन, काय, तीनों कारण सांसारिक विषयोंसे हटकर स्वाध्यायमें लग जाते हैं। इसलिये जितने कालतक यह जीव स्वाध्याय करता है, उतने कालतक परम निर्जरा होती है। स्वाध्यायकी सिद्धिके वास्ते पुस्तकोंकी प्राप्तिकी बहुत भारी आवश्यकता है। हमारे धर्मशास्त्र प्रायः संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें हैं। और आजकल इन दोनों ही भाषाओंका प्रचार बहुत ही कम हो गया है। इसलिये विद्वानोंका कर्तव्य है कि धर्मशास्त्रोंका देशभाषामें अनुवाद कर दें। और धनाढ्योंका कर्तव्य है कि उनको छपाकर बिना मूल्य अथवा अल्पमूल्यमे देकर सर्वसाधारणमें पुस्तकोंका प्रचार कर दें। छापेमे सरेसका बेलन तथा लेखोंमे अशुद्ध स्याही लगती है, और कहीं-कहीं अस्पृश्य शूद्रोंके हाथसे सब काम लिया जाता है इसलिये हमारा कर्तव्य है कि, परमपवित्र जिनवाणीको छपानेके लिये एक स्वतन्त्र प्रेस बनावें, जिसमें रबरका पवित्र बेलन और शुद्ध स्याही काममें लाई जावे तथा कर्मचारी म्लेच्छ अथवा अस्पृश्य शूद्र न रक्खे जावें। जबतक इस प्रकारका प्रेस तय्यार न होवे तबतक जिनको हस्तलिखित शुद्ध ग्रन्थोंकी सुगमतासे प्राप्ति नहीं है वे उपलब्ध मुद्रित ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करें।

स्वाध्याय न करनेकी अपेक्षा उपलब्ध ग्रन्थोंसे स्वाध्याय करना कहीं बढ़कर है। सुलभतासे पुस्तक प्राप्तिका सबसे बढ़कर साधन प्रत्येक नगर और ग्रामोंमें सरस्वती भवनका स्थापन करना है। हमारे जिन पूर्वाचार्योंने अपने मुख्य धर्म तप और ध्यानको गौण करके हमारे उपकारके लिये अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, आज उनकी सन्तानमें हम ऐसे अभागे उत्पन्न हुए कि, उन अमूल्य ग्रन्थोंको भंडारोंमें जीर्णशीर्ण देखते हुए अज्ञान और प्रमादके वशसे कभी उनको धूप भी नहीं दिखलाते। हमारी इस असावधानतासे हजारों ग्रन्थ दीमकोंकी जठराग्निको शमनकरके हमसे हमेशाके लिये विदा हो गये। किसी भी मतकी चिरस्थितिका यदि कोई उपाय है सो उस मतके साहित्यकी रक्षा करना ही है। इसलिये यदि आप इस जिनधर्मको कुछ कालतक कायम रखना चाहते हो तो जगह-जगह पर सरस्वतीभवन नियतकरके जिनवाणीकी रक्षा और उसका घर घर प्रचार करो। यद्यपि सरस्वतीभवनके लिये बाबू देवकुमारजीका प्रयत्न प्रशंसा योग्य है परन्तु ऐसी योग्यताका सर्वत्र मिलना दुःसाध्य है। इसलिये सरस्वतीभवनके लिये सर्वत्र भिन्नस्थान बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जैनमंदिर अथवा मठोंके ही किसी कमरेमें सरस्वतीभवनका कार्य बहुत अच्छी तरह चल सकता है। और यही रीति हमारे यहाँ प्राचीन कालसे चली आ रही है। प्रत्येक मंदिरोंमें सर्वत्र शास्त्रभंडार पाये जाते हैं। यह सब कुछ है। परन्तु जब मठ व मंदिरोंकी व्यवस्थापर विचार किया जाता है तो, हृदय कापने लग जाता है। मंदिर तथा मठोंके प्रबन्धकर्ता प्रायः पुराने ढर्रेके आलसी महात्मा है। मंदिरभंडारोंके हिसाब-किताबका कुछ भी पता नहीं है। जिन लक्ष्मीके लालोंके मंदिरभंडारका रुपया जमा हुआ तो मानो वह उनकी मौरूसी पूंजी हो गई। अगर किसीने हिसाब मागा तो उसकी कम्बख्ती आ गई। इस प्रकार मंदिर व मठोंकी दुर्व्यवस्था होनेसे मंदिरोंकी आमदनी घट गई और हमारे धर्म साधनमें बड़ी हानि पहुँच रही है। इसलिये मठ, मंदिर, तीर्थक्षेत्रादिकोंका सतोषजनक प्रबन्ध होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। यद्यपि इस सभाके तथा बंबई प्रांतिकसभाके प्रयत्नसे अनेक तीर्थक्षेत्रोंका संतोषजनक प्रबन्ध हो गया है परन्तु अभी अनेक तीर्थक्षेत्रोंके प्रबन्धकी आवश्यकता है। मंदिरादिका प्रबन्ध करनेकेलिये स्थानीय गृहस्थोंकी नियमानुसार सभाएं स्थापित होकर हिसाब-किताब तथा अन्य सब कार्यवाहीकी प्रतिवर्ष रिपोर्ट छपकर प्रकाशित होनी चाहिये। जिस प्रकार मंदिरोंकी दुर्व्यवस्था हो रही है उस ही प्रकार व्यापारियोंके धर्मादायकी भी बुरी हालत है। जिन महाशयोंके धर्मादायका रुपया जमा है उसको उन्होंने अपका निज द्रव्य समझ रक्खा है। बहुत महाशयोंका तो काम ही इस फंडसे चल रहा है। यदि धर्मादायके द्रव्यकी सुव्यवस्था की जावे तो उस द्रव्यसे कई सस्थाओंका काम अच्छी तरहसे चल सकता है। प्रत्येक व्यापारीको इस बातकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि वर्षके अन्तमें उक्त खातेका रुपया किसी संस्थाको भेजकर उक्त खातेको बराबर कर दे।

कर्मभूमिकी आदिमें ऋषभदेवस्वामीने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार तीन वर्णोंकी स्थापना की थी। पीछे भरतचक्रवर्तीने क्षत्रिय वर्णमेंसे धर्मात्माओंको छाँटकर ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की। ये ब्राह्मण निरन्तर आत्मकल्याण करते हुए अपनी विद्यासे इतर तीन वर्णोंका अनेक प्रकारसे उपकार करते थे। उन ही ब्राह्मणोंकी सन्तानमें हमारे दक्षिणवासी उपाध्याय है। आजकल हमारे उपाध्याय महाशय विद्याविहीन और निर्माल्योपजीवी होकर अत्यन्त हीन अवस्थाको प्राप्त हो गये। यदि ये महाशय निर्माल्यभक्षणको छोडकर अपनेको विद्यासे भूषित करें और उचित अवस्थामें वानप्रस्थ तथा मुनिपदको ग्रहण करके अनेक देशोंमें देशाटन करते हुए धर्मोपदेश करे तो यह जैनधर्म शीघ्र ही राष्ट्रधर्मका गौरव प्राप्तकर संसारके समस्त जीवोंका यथार्थ कल्याण करे। आज यह कहते हमको बड़ा हर्ष होता है कि जबसे बीसवी शताब्दीका प्रारम्भ हुआ है, तबसे लोगोंके हृदयमेंसे पक्षपातका पचडा निकल गया है। अब वे बाबा-वाक्यको प्रमाण माननेके लिये तैयार नहीं है। आज अनेक महाशय सत्यकी खोजमें लग चुके है। ऐसे समयमें यदि जैनधर्मके सत्य और अटल सिद्धान्त पब्लिकके सम्मुख रक्खे जाय तो आशा है कि, जैनधर्मके सिद्धान्तोंको सत्यान्वेषी महाशय सच्चे उत्साहसे स्वीकार करेंगे। विस्तारके भयसे इस समय जैन सिद्धान्तविषयपर कुछ कहकर आपका समय लेना नहीं चाहता। यदि कुछ समय मिला तो फिर किसी दिन आपको उक्त विषयपर कुछ सुनाऊंगा। अब अन्तमें जातिके अगुआ विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे गृहस्थाश्रमसे उपेक्षित होकर ब्रह्मचारी बन देशदेशान्तरोंमें देशाटन करते हुए सारे ससारमें जैनधर्मके अटल सिद्धान्त अहिंसापरमोधर्मकी विजयपताका फहराकर अतुल पुण्यका उपार्जन करें। इसप्रकार गृहस्थाश्रमके धार्मिकविषयको समाप्त करके आगे सामाजिक विषयपर विवेचन किया जाता है।

## सामाजिक व्यवस्था

श्लोकः—द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥१॥
सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र नो व्रतदूषणम् ॥२॥

उपर्युक्त श्लोकोंका भावार्थ इस प्रकार है कि, गृहस्थके दो धर्म हैं एक लौकिक ( सामाजिक ) और दूसरा पारलौकिक ( धार्मिक ) लौकिक धर्म सामाजिक नियमोंके आश्रयसे चलता है और पारलौकिक धर्म धर्मशास्त्रोंके नियमोंके अनुसार चलता है। किन्तु जो सामाजिक नियम सम्यक्त्व और चारित्रमें दोषोत्पादक हों वे सामाजिक नियम उपादेय नहीं हैं अर्थात् धर्मशास्त्रोंसे अविरुद्ध ही सामाजिक नियम होने चाहिये। संसारमें जीवोंके मोहनीयकर्मकी तीव्र, मन्द उदयादिक अवस्थाके निमित्तसे श्रद्धान और आचरणमें अनेक भेद हो गये हैं। श्रद्धानके भेदसे धर्मभेद और आचरणके भेदसे समाज भेदकी उत्पत्ति होती है। किसी समाजमें धर्म और आचरण सदृश हैं और किसीमें आचरणकी समानता होनेपर भी धर्मकी सदृशता नहीं है। जिन मनुष्योंका परस्परमें पंक्ति भोजन और विवाह सम्बन्ध होता है उनका ही एक समाज बन जाता है। और जिनका पंक्तिभोजन और विवाहसम्बन्ध परस्पर नहीं होता उनका समाज भी भिन्न होता है। समाजके मूलभेद दो है। एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। जो मनुष्य मांसोपजीवी हैं वे म्लेच्छ कहलाते हैं। और जो मांसोपजीवी नहीं है वे आर्य कहलाते हैं। किन्तु जो मनुष्य स्वयं तो मांसोपजीवी नहीं हैं परन्तु मांसोपजीवियोंके साथ उनका पंक्तिभोजन और विवाहसम्बन्ध है वे भी म्लेच्छ ही है। आर्य चार भागोंमें विभाजित है। अर्थात् जो शस्त्रोपजीवी हैं वे क्षत्रिय कहलाते हैं। जो मसि-कृषि-वाणिज्यसे आजीविका करते है उनको वैश्य कहते है। जो शिल्प और विद्योपजीवी हैं वे शूद्र कहलाते हैं। और जो आजीविकाका कुछ भी उपाय न करके धर्म साधनपूर्वक स्वपरोपकार करते हुए इतर वर्णद्वारा भक्तिपूर्वक प्राप्त द्रव्यसे सन्तोषपूर्वक अपना जीवन निर्वाह करते हैं वे ब्राह्मण कहलाते है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्णवाले उच्चकुली और मोक्षके पात्र है। शूद्र तथा म्लेच्छ नीचकुली मोक्ष जानेके योग्य नहीं है। इस ही प्रकार मुनि-लिंगको उच्चकुली ही धारणकर सकते हैं। उच्चकुली नीचकुलीके हाथका भोजन भी ग्रहण नहीं करते है। सन्तानक्रम-से जिनके उच्चाचरण चला आया है वे उच्चगोत्री और जिनके नीचाचरण चला आया है वे नीचगोत्री कहलाते हैं। तदुक्तं गोम्मट्टसारे—

गाथा—संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१॥

हिंसादिक बाह्य तथा रागद्वेषादिक अभ्यन्तर क्रियाविशेषके त्यागको निश्चय चारित्र कहते हैं और अशुभ कार्योंसे निवृत्त हो शुभ कार्योंमें प्रवृत्तिको व्यवहार चारित्र कहते हैं। गोत्रके लक्षणमें आचरण शब्दसे व्यवहार चारित्र ही अभिप्रेत है। अर्थात् शुभप्रवृत्तिको उच्चाचरण और अशुभ प्रवृत्तिको नीचाचरण कहते हैं। दुष्ट तथा परचक्रसे प्रजाकी रक्षाकर उसकी एवजमें भूमिकरादिक वसूलकर आजीविका करनेको असिकर्म कहते हैं। राजा तथा व्यापारीका लेनदेनका हिसाब लिखकर आजीविका करनेको मसिकर्म कहते हैं। भोगोपभोगकी सामग्रीको पृथ्वीमेंसे उत्पन्न करके आजीविका करनेको कृषिकर्म कहते हैं। भोगोपभोगकी कच्ची सामग्रीको स्वयं तैयार करके अथवा अन्यसे तैयार कराकर तथा तैयार की हुई पकी सामग्रीका क्रय विक्रयकर आजीविका करनेको वाणिज्यकर्म कहते हैं। ये चारों ही कर्म शुभकर्म है। इसलिये इनसे आजीविका करनेवाले भी उच्चकुली हैं। यद्यपि मसिकर्ममें स्वामी सेवककी रूढ़ि प्रसिद्ध है परन्तु वास्तवमें स्वामित्व तथा सेवकत्व नहीं है। राज्य तथा व्यापारका कार्य अत्यन्त महत्त्वका है, इसलिये उसको एक मनुष्य पूर्णरूपसे करनेमें असमर्थ है, अतएव अपने रिश्तेदार, भाई बन्धु तथा जातीय सज्जनोंकी सहायतासे उसको पूरा करता है, और उनको परिश्रमका फलस्वरूप कुछ देकर उनसे अपनी बराबरीका व्यवहार रखता है। भोगोपभोगकी सामग्रीको शारीरिक परिश्रमसे तैयार करके उसके प्रतिफलमें इनामके स्वरूपमें अथवा ठहराकर द्रव्य लेकर आजीविका करनेको शिल्पकर्म कहते हैं। तथा संगीतादिक नाना प्रकारकी विद्याओंसे दूसरेके चित्तको प्रसन्नकरके उनसे इनामके स्वरूपमें अथवा ठहरा-कर कुछ द्रव्य लेकर आजीविका करनेको विद्याकर्म कहते हैं। यह दोनों ही कर्म अशुभ है क्योंकि इन कर्मोंमें अपनेसे दूसरेको उच्च मानकर गूढरूपसे याचनाका प्रयोग करना पड़ता है। और इस ही कारणसे इन कर्मोंसे आजीविका करनेवाले नीचकुली हैं। परन्तु जो महाशय निरपेक्षवृत्तिसे अपनी विद्याओं द्वारा परका उपकार करते हैं और उपकार्य महाशय भक्तिपूर्वक उपकारकी भेंटके स्वरूपमें कुछ अर्पण करते हैं, ऐसी भेंटको ग्रहण करना नीचकर्म नहीं है। यहाँपर यह शंका उठ सकती है कि, जब उच्चता और नीचता आचरणके निमित्तसे है तो, यदि कोई चंडाल नीचकर्म छोड़कर उच्चकर्म करने लगे तो उच्चकर्मका प्रारम्भ करते ही उच्चकुली हो सकता है या नहीं? इस शंकाका समाधान इस प्रकार है। यह जीव अनादि सन्तानबद्धकर्मके उदयसे प्रतिक्षण कर्मनोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार कर्म वर्गणा शुभाशुभ अनेक प्रकार हैं उस ही तरह नोकर्म वर्गणा भी अनेक भेदरूप है। जिस समय जीवके शुभाचरणरूप परिणाम होते है, उस समय शुभ नोकर्मका बन्ध होता है, और जब अशुभ परिणाम होते हैं तब अशुभ

नोकर्मका बन्ध होता है। जिस प्रकार कर्ममें स्थितिबन्ध होता है उस ही प्रकार नोकर्ममें भी स्थितिबन्ध होता है। इसलिये जो जीव चिरकालसे अशुभाचरणकर रहा है, उस जीवके अशुभ नोकर्मका सत्त्व अधिक है। यद्यपि भूतभवका नोकर्म वर्तमानभवमें जीवके साथ नही आता है तथापि माता-पिताके रजवीर्यसे जो इसका शरीर बनता है उसमें अनेक अशुभाचरणी पूर्वजोके अशुभ नोकर्मकी सन्तान आती है। इस प्रकार अशुभाचरणी पुरुषका शरीर नोकर्म वर्गणाओं-के अशुभ परमाणुओसे बना हुआ है। यदि किसी जीवने अशुभाचरण छोड दिया तो उसके अशुभ परमाणुओके बन्धका तो उस ही समय अभाव हो जाता है। परन्तु सत्तामें जो अशुभपरमाणु मौजूद है वे तो बन्धाभावमें निर्जराको प्राप्त नही होते, किन्तु उनकी निर्जरा अपनी-अपनी स्थिति पूरी होनेपर होगी। इससे सिद्ध होता है कि नीचकुली अशुभाचरणके छोडनेपर भी तत्काल शुद्ध नही हो जाता। किन्तु उसके शुद्ध होनेके लिये कुछ कालको आवश्यकता होती है। जो काल-शुद्धिको नही मानते उनके सूतक तथा मद्य बाह्यादिक प्रायश्चित्तकी शुद्धि नही हो सकती। बहुतसे महाशयोका ऐसा कथन है कि जो अशुद्ध है वह हमेशा अशुद्ध ही रहेगा, कभी भी शुद्ध नही होगा, उनका कहना प्रमाणबाधित है। क्योकि जो अशुभाचरणी अशुभाचरणको छोडकर शुभाचरणकी तरफ लग जाते है उनके अशुभपरमाणुओके बन्धका अभाव हो जाता है और पूर्वबद्ध परमाणुओकी कालक्रममें निर्जरा हो जाती है, ऐसा न माननेसे या तो शुभाचरणियोके भी अशुभ नोकर्मका बन्ध मानना पडेगा, या पूर्वबद्ध नोकर्मकी स्थिति पूरी होनेपर भी निर्जराका अभाव मानना पडेगा और ये दोनो ही बाते सिद्धान्तसे विरुद्ध है। तथा अवसर्पिणीके छठे और उत्सर्पिणीके प्रथम और द्वितीय कालवर्ती अशुद्धाचरणियो-की सन्तान स्वरूप परम विशुद्ध तीर्थंकरोमे भी अशुद्धताका प्रसग आवेगा। गोत्रके लक्षण निरूपक गाथासूत्रमें जो आचरणका विशेषण 'सन्तानक्रमेण' पद पडा हुआ है उसका भी उपर्युक्त युक्तियोसे अविरुद्ध यही अभिप्राय है कि शुद्धि होनेके लिये कुछ कालकी आवश्यकता है।

जैन धर्मको राष्ट्रधर्म बनानेकी बात सुनकर हमारे बहुतसे भाई विचलित चित्त हुए है। उन्होंने समझ रक्खा है कि जैसे आर्यसमाजी मुसलमानोको आर्य बनाकर तत्काल उनके हाथका भोजन खाने लगते है, उस ही प्रकार जैन-धर्मको राष्ट्रधर्म बनानेवाले भी नीचकुलियोको जैनी बनाकर उनके हाथका भोजन खाने लगेगे। सो ऐसा समझना उनका भ्रम है। सार्वधर्म परिषदका उद्देश्य जीवमात्रका जैनधर्मके द्वारा कल्याण करना है। सामाजिक व्यवस्थामे वह बिल्कुल हस्तक्षेप नही करेगी। त्रैवर्णिचारादिक ग्रन्थोमे यह बात पाई जाती है कि, उच्चवर्णका मनुष्य समवर्ण अथवा अपनेसे नीचवर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है परन्तु अपनेसे उच्चवर्णकी कन्याके साथ विवाह नही कर सकता। समान-वर्णके मनुष्य और स्त्रीसे जो सन्तान पैदा होगी उस सन्तानका वर्ण वही होगा जो कि उसके मातापिताका है और जो भिन्नवर्णवाले माता-पितासे सन्तान उत्पन्न होगी वह सन्तान मिश्रवर्ण कहलावेगी। ये मिश्रवर्ण जातियाँ भी कालक्रमसे अपने-अपने पिताके वर्णको प्राप्त हो जाती है। मनुष्य समाजमे उत्पत्तिकी अपेक्षासे दो भेद है—एक शुद्धकुलोद्भव और दूसरा अपध्वंसज। जो शील व्रतधारी माता-पितासे उत्पन्न होते है वे शुद्धकुलोद्भव कहलाते है और जो व्यभिचारसे उत्पन्न होते है वे अपध्वसज कहलाते है। एक गर्भाशयमे अनेक वीर्योंके मिलनेको व्यभिचार कहते है। एक पुरुषके अक्षतयोनि अनेक स्त्रियोंमे संभोग करनेपर व्यभिचार नही होता। किन्तु एक स्त्रीके दो पुरुषोके साथ सम्भोग करनेपर ही व्यभिचार दोष होता है। इसलिये पुरुष अनेक विवाह करनेपर भी व्यभिचारी नही है किन्तु स्त्री दूसरा विवाह करते ही व्यभिचारिणी हो जाती है। वीर्य ऐसा सचिक्कण पदार्थ है कि एक बार गर्भाशयमे पहुँचनेपर यदि वीर्य वहाँसे निकल भी जाय तो भी गर्भाशयमे वीर्यके सूक्ष्मांश रह जानेकी अधिक सम्भावना है। कालान्तरमे उस ही गर्भाशयमे दूसरे मनुष्यका वीर्य पहुँचनेसे वीर्य-संकर हो जाता है और उस मिश्रित वीर्यसे जो सन्तान उत्पन्न होती है वह उत्तम सन्तान नही होती, किन्तु अधम सन्तान होती है। ऐसी सन्तान मोक्षकी अधिकारिणी नही है। इसलिये व्यभिचारसे उत्पन्न मनुष्योकी मोक्षके पात्र न होनेसे शूद्र संज्ञा है। त्रैवर्णिकाचारमे कहा है "शूद्राणा तु सधर्माण सर्वेऽपध्वसजा स्मृता।" उत्तम वर्णवालोमेसे यदि कोई इस प्रकारसे अपध्वसज उत्पन्न हो जाते है तो वे जातिमे बहिष्कृत कर दिये जाते है और ऐसे अनेक मनुष्योकी मिलकर दस्सा जाति हो जाती है। जिन दस्सोमे उपर्युक्त व्यभिचारका प्रचार रहता है वे दस्से अशुद्ध ही समझे जाते है। परन्तु जो दस्से इस अधम कार्यका परित्याग करके अपने आचरणको सुधार लेते है उनकी सन्तान कई पुश्तमे जाकर शुद्ध हो जाती है। त्रैवर्णिकाचारमे इसके लिये इस प्रकार कहा है—

> श्लोक—जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पंचमेऽपि वा।
> कर्मणो व्यत्ययेऽपि स्यात्पूर्ववच्चाधरोत्तरे ॥१॥

अर्थात् आचरणके सुधारनेसे नीच वर्ण पाँच, छह और सात पुश्तमे यथाक्रम उच्चवर्ण हो जाता है और उच्चवर्ण

आचरणके बिगाड़नेसे पाँच, छह और सात पुश्तमें यथाक्रम मीचवर्ण हो जाता है। इसलिए जिन दस्सोंको शुद्धाचरणरूप प्रवर्तते हुए उपर्युक्त प्रमाण काल व्यतीत हो गया है वे दस्से अब बीसोंके समान हो गये हैं और उनके साथ पंक्तिभोजन और विवाह सम्बन्ध करनेमें कुछ दोष नहीं है।

मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टसे ज्ञात होता है कि जैनियोंकी संख्या पहिलेकी अपेक्षा घट गई है। इस घटीका प्रथम कारण स्वास्थ्य रक्षाकी असावधानता प्रतीत होती है। स्वास्थ्यकी रक्षा ठीक-ठीक न होनेसे जन्मसंख्याकी अपेक्षा मृत्यु-संख्या अधिक होती है। घटीका दूसरा कारण अनेक पुरुषोंका बिना विवाह किये ही जीवन समाप्त कर मर जाना है। अनेक पुरुषोंके अविवाहित रह जानेका कारण यह है कि जैन समाज अनेक जातियोंमें विभक्त हो गया है, इसलिये प्रत्येक जातिकी संख्या बहुत न्यून हो गई है और थोड़े पुरुषोंमें अनेक रिस्तेदारियाँ होनेके सबबसे गोत्र टालकर वर मिलना कठिन हो गया है। ऐसी अवस्थामे अनेक पुरुष अविवाहित रह जाते हैं। घटीका तीसरा कारण बालविवाह है। बालविवाहके होनेसे कच्ची उमरमें कच्चा वीर्य स्खलित होता है, जिससे प्रथम तो सन्तानें उत्पन्न ही नहीं होतीं, कदाचित् सन्तान उत्पन्न भी हुई तो शीघ्र ही मर जाती हैं, कदाचित् अधिक कालतक भी जीवित रहीं तो बिलकुल निर्बल और विद्यादिक सद्गुणोंको धारण करनेके अयोग्य होती हैं। घटीका चौथा कारण वृद्धविवाह है। धनके लोभी मातापिता धनतृष्णासे अन्धे होकर अपनी प्रिय पुत्रियाँ योग्य वरको न देकर पुरुषार्थहीन वृद्ध नपुंसकोंके हवाले कर उनको जन्मभरके लिए घोर दुःखमें पटक देते हैं। वृद्धोंके संसर्गसे सन्तानकी उत्पत्ति भी नहीं होती और वे दुःखिनीबाला व्यभिचारका शरण लेकर उभय कुलको कलंकित करती हैं। घटीका पाँचवाँ कारण अविद्या है अर्थात् बहुतमे महाशय जैन कुलमें उत्पन्न होकर भी अज्ञानवश यह भी नहीं जानते कि हम किस धर्मको अवलम्बन करनेवाले हैं और मर्दुमशुमारीके समय अपनेको हिन्दू लिखा देते है। इसलिए सख्याकी वृद्धिके वास्ते हमारा कर्तव्य है कि, बालविवाह, वृद्धविवाह और अविद्याका जैन समाजमेंसे काला मुँह कर दें और स्वास्थ्यकी रक्षाकी तरफ पूरा-पूरा ध्यान दें। तथा उत्तम कुलियोंकी अपने-अपने वर्णमें भी जो पंक्तिभोजन और विवाह-सम्बन्धकी संकीर्णता हो रही है उसको दूरकरके उदारताका परिचय दें। अब विधवाओंके कर्तव्यपर विवेचन किया जाता है।

एक पुरुष अनेक कन्याओंके साथ जिस प्रकार विवाह कर लेता है उस ही प्रकार एक स्त्री भी अपने पूर्व पतिके मरण होने पर दूसरे पुरुषके साथ विवाह कर लेवे तो उसमें कुछ हानि नहीं है। ऐसे विचारवाले भोले महाशय विधवाओं का पुनर्विवाह करनेकी सम्मति प्रदान करते हैं। परन्तु उनका ऐसा विचार अविचारित रम्य है। स्त्री और पुरुषोंमें मनुष्यत्वकी अपेक्षा समानता होने पर भी अनेक विशेषोंकी अपेक्षासे महान् अन्तर है। प्रथम तो स्त्री और पुरुषमें भोज्य भोजक सम्बन्ध है। भोजनसे भरे हुए ऐसे अनेक थालोंमें जिनमेंसे किसी भी पुरुषने भोजन नही किया है, एक पुरुष भोजन कर सकता है, परन्तु यदि एक थालमें किसी एक पुरुषने भोजन कर लिया है तो उस थालमें दूसरा पुरुष कदापि भोजन नही करता है, क्योंकि वह भोजन उच्छिष्ट होजाता है। उस ही प्रकार एक पुरुष अनेक अभुक्त स्त्रियोंका भोगकर सकता है, परन्तु भुक्त स्त्रीको उच्छिष्ट होनेसे कोई भी सत्पुरुष नहीं भोगता। विवाहका प्रयोजन हमारे बहुतसे भोले भाइयोंने कामवासनाकी तृप्ति ही समझ रक्खा है। यदि कामवासनाकी तृप्ति ही विवाहका प्रयोजन होता तो विवाहबन्धनकी कुछ भी आवश्यकता न थी। विवाहबन्धनके बिना भी पशुओंकी तरह कामवासना तृप्त हो सकती थी। विवाहबन्धनका मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति करना है। जैसा कि, पहिले कहा जा चुका है। उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति एक पुरुषके अनेक अभुक्त स्त्री संभोग करनेसे हो सकती है। किन्तु एक स्त्रीके अनेक पुरुषोंके साथ संभोग करनेपर उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। विधवाओंको वैराग्यका उपदेश देकर विषयभोगोंसे विरक्त करा कर आर्यिकाकी दीक्षा दिलानी चाहिये और जो असमर्थ होनेके कारण आर्यिका नहीं हो सकती हैं उनको चाहिये कि वैधव्य दीक्षा धारण करके स्त्रीसमाजमें विद्या और धर्मका प्रचार करें। उत्तरदेशकी अपेक्षा दक्षिणदेशमें विद्या और धर्मका प्रचार कुछ न्यून होरहा है, इस कारण सभाका प्रधान कर्तव्य यह है कि अपने देशके स्त्रीसमाज तथा पुरुषसमाजमें विद्या और धर्मका प्रचार करनेमें तन-मन-धनसे प्रयत्न करें।

आजकल भारतवर्षका और इतर विदेशोंका लौकिक विद्या और वाणिज्यके सम्बन्धमें ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध होगया है कि बिना विदेश गये लौकिक विद्या और वाणिज्यकी यथेष्ठ उन्नति नहीं हो सकती। परन्तु जब विदेशमें आचार निर्वाहपर विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है कि विदेशमें आचरण निर्वाह बहुत ही कष्ट साध्य है और इस ही कारणसे विदेश जानेवाले महाशय समाजसे बहिष्कृत किये जाते हैं। यद्यपि विदेशमें आचरण निर्वाह कष्ट साध्य है, तथापि असंभव नहीं है। इसलिये जो महाशय अपने आचरण निर्वाहकी पूर्ण सामग्रीका प्रबन्ध करके विदेशको जाते हैं उनको

समाजसे बहिष्कृत करना अनुचित प्रतीत होता है। परन्तु जो महाशय उत्तम खाद्य तथा अनुचित स्पर्शसे अलिप्त आचरण निर्वाहकी सामग्री एकत्र किये बिना ही विदेश चले जाते हैं वे अनुचित स्पर्शादि दोषोंसे अलिप्त नहीं रह सकते, इसलिये ऐसी अवस्थामें विदेश जानेवाले महाशय अवश्य ही प्रायश्चित्तके पात्र हैं। किन्तु जिन देशोंमें आचरण निर्वाहकी उत्तम सामग्रीके मिलनेका सुभीता हो उन देशोंमें जानेवाले महाशयोंको बहिष्कृत करना समुचित नहीं दिखता।

आजकल हमलोगोंमें परस्परका ईर्षा द्वेष यहाँतक बढ गया है कि, एक-एक जातिमें कई धड़े होगये हैं और धीरे-धीरे होते जाते हैं। एक दूसरेकी बुराई करनेमें बिलकुल नहीं हिचकते, पंचायती नियमोंकी कोई परवाह नहीं करते और पंचायती दंडोंका कोई पालन नहीं करते। पंचायत स्थापन करनेका मुख्य उद्देश समाजमें शान्ति स्थापन था। परन्तु उस उद्देशको पैरोंसे कुचलकर अदालतोंमें मुकद्दमेबाजी करके बडे-बडे धनाढ्य लंगोटी लगाकर फकीर बन गये। अदालतमें जाकर भी दूसरोंका ही कहना मंजूर करना पडता है। अगर समाजमें से ही कुछ सज्जनोंको परस्परके झगडे तय करनेका अधिकार दे दिया जाता तो अदालतोंमें अपनी कठिन कमाईका द्रव्य व्यर्थ नहीं खोना पडता। परन्तु 'गई सो गई अब राखि रहीको' के अनुसार हमारा कर्तव्य है कि, जातीय पंचायतोंका गठन इस खूबीके साथ करें कि, जिससे हमारी सामाजिक व्यवस्था भी ठीक होजाय और परस्परके दीवानी और फौजदारी झगडे भी पंचायतसे फैसिल होजाया करें।

## आर्थिक व्यवस्था

जो महाशय विषयभोगोंको सर्वथा त्यागनेमें असमर्थ हैं और मिहवृत्ति मुनिधर्मको धारण नहीं कर सकते हैं वे अन्यायरूप भोगोंका त्यागकरके न्यायरूप भोगोंका सेवन करते हुए गृहस्थाश्रमका निर्वाह करते हैं। इस आश्रमके निर्वाहके लिये धनकी बडी भारी आवश्यकता है। इसलिये जिन गृहस्थोंके पास धन नहीं है उनके लिये यह गृहस्थाश्रम जीवन बडा ही दुःखमय है। निर्धन पुरुष सदा विह्वल चित्त रहते हैं और उनका प्राय सर्वत्र निरादर ही होता है। मित्र, पुत्र, स्त्री, आदिक सदा रुष्ट रहते हैं। इसलिये गृहस्थका प्रधान कर्तव्य धन उपार्जन करना है। मनुष्य समाज आजीविकाके भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त है। अर्थात् क्षत्रियोंकी आजीविका असिकर्म, वैश्योंकी कृषि, मसि, वाणिज्य और शूद्रोंकी शिल्प और विद्या है। ब्राह्मण वर्णकी कोई खास आजीविका नहीं है। किन्तु इतर तीन वर्णोंके दिये हुए भक्तिपूर्वक दानसे सन्तोषपूर्वक अपना निर्वाह करते हुए धर्मसेवन करते हैं। किसी समयमें यह भारतवर्ष धन और विद्यामें संसारके समस्त देशोंका शिरोमणि गिना जाता था—समस्त देशोंने इस भारतके धन और विद्यासे अपनेको विभवशाली बनाया है। परन्तु खेदके साथ कहना पडता है कि, जो भारत एक दिन सबका गुरु था आज वह उनका शिष्य हो गया है। जो भारत एक दिन धनकुबेर समझा जाता था आज हमारी ही असावधानतासे वह एक दरिद्र भिखारी बन गया है। आज वह अपनी जठराग्नि शमन करनेके लिये दूसरोंके मुँहकी ओर ताक रहा है। क्या आप कभी इसका विचार करते हैं कि, हम ऐसे क्यों हो गये। प्यारे भाइयो इसका कारण और कुछ नहीं है किन्तु हम अपने ही प्रमाद, अविद्या और परस्परकी ईर्षा आदिक दोषोंसे इस अवस्थाको पहुँच गये है। किन्तु बडे हर्षका विषय है कि, भारतके कुछ शुभचिन्तकोंकी कृपा और प्रयत्नसे मुर्दोंसे बाजी लगाकर सोनेवाला भारत जागृत हुआ है। जगह जगह सभा सुसाइटीयें होने लगी है। अनेक पाठशाला, स्कूल, ब्रह्मचर्याश्रम और गुरुकुल खुल रहे हैं। ऐसे शुभचिह्नोंसे आशा होती है कि अब भारतके कुछ अच्छे दिन आनेवाले हैं। इस समयमें हमारा कर्तव्य है कि, जिन प्रमाद, अविद्या, विलासप्रियता, निर्बलता, जन्मभूमिअवत्सलता, असन्तोष, भयभीतता, फूट और ईर्षादिक दोषोंसे हमारी यह अवनत अवस्था हुई है उनको बहिष्कृत करके उद्योग, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, स्वदेशप्रेम, एकता और सत्यप्रियता आदिक गुणोंसे अपनेको विभूषित करके पुनः इस भारतको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा देवें। किसी देशको समृद्धिशाली बनानेका प्रधान उपाय उस देशके कृषि, शिल्प और वाणिज्यकी उन्नति है। जिन-जिन देशवासियोंने कृषि, शिल्प और वाणिज्यकी उन्नति की है वे आज धनकुबेर बन रहे हैं और जिन्होंने कृषि, शिल्प, वाणिज्यको निरादर और प्रमादसे पददलित किया है वे स्वयं पददलित हो रहे हैं। जो पदार्थ हमारे देशमें उत्पन्न नहीं होते किन्तु दूसरे देशोंसे आते हैं, हमारा कर्तव्य है कि उन पदार्थोंको हम अपने देशमें ही उत्पन्न करें जिससे कि हमको दूसरे देशोंका मोहताज न रहना पडे। तथा कृषिके सम्बन्धमें विदेशियोंने जो नये-नये आविष्कार किये हैं हमारा कर्तव्य है कि उनको अमलमें लाकर उनसे लाभ उठावें। नवीन आविष्कारोंके प्रयोगमें पुराने प्रयोगोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक लाभ हो सकता है। जिस प्रकार पाश्चिमात्य विद्वानोंने कृषि आदिकके सम्बन्धमें नवीन-नवीन आविष्कार किये हैं उस ही प्रकार हमारा भी कर्तव्य है कि नवीन-नवीन आविष्कार करें। भारतवर्षकी बहुत-सी भूमि बंजर पडी हुई है। जो हमारे बहुतसे भाई आलस्यका आश्रय लेकर निकम्मे बैठे रहते हैं, हमारे नेताओंका कर्तव्य है कि उन निकम्मोंका आलस्य छुड़ाकर ऊसर भूमिको आबाद कर भारतकी श्रीवृद्धि करें। हमारा कर्तव्य है कि, भारतवसुन्धरासे अपनी तथा

विदेशियोंकी जरूरतके पदार्थ उत्पन्न करके भारतके धनको विदेश जानेसे रोकें और विदेशका धन भारतमें लाकर इस दरिद्र-भारतको पुनः पहला-सा सम्पत्तिशाली बना दें। भारतके शिल्पकी जैसी अधोदशा हुई है उसका चिन्तवन करनेसे भी कलेजा थर्राने लगता है। आज अगर विदेशी लोग भारतसे अपना हाथ खींच लें तो हमारे सब काम बन्द हो जायें। और बातोंकी कथा तो दूर रही हम दियाबत्ती तथा चूल्हेमें आग जलाना भी विदेशियोंकी कृपाभूत दियासलाईके बिना नहीं कर सकते। हमारे यहाँकी कच्ची सामग्री रुई वगैरह एक रुपयेकी तीन सेर यहाँसे सात समुद्र पार जाती है और उस ही सामग्रीके कपड़े आदि तीन रुपयेके एक सेरके भावमें हमें ही बेचे जाते हैं। हमारे प्रमाद और अविद्यासे हमारे हिस्सेकी रोटी दूसरोंके पेटमें जाती है और हम भूखके मारे तड़फड़ा और बिल्ला रहे हैं। हमारी मूर्खतासे हमारा ही करोड़ों और अर्बों रुपया तीन तथा चार आने सैकड़ेके सूदपर विदेशियोंके पास जमा है। जिससे कि वे सैकड़ों कारखाने खोलकर लाखों रुपये पैदाकर अपने देशको समृद्धिशाली बना रहे हैं और हम निःसार ब्याजमें सन्तोष करते हुए तोंद फुलाकर तकियेके सहारे लेटे-लेटे अपने जीवनको कृतकृत्य समझ रहे हैं। हमारे भारतवासी शिल्पकारोंसे परास्त होकर अपने रोजगारको छोड़ बैठे हैं और थोड़ी बहुत अंग्रेजी सीखकर विदेशियोंकी सेवा करके ही अपना निर्वाह कर रहे हैं। परन्तु खेद है कि इस भेडा चालसे आज ऐसे महात्माओंकी इतनी बहुतायत हो गई है कि, अब उन बिचारोंको नौकरी भी नहीं मिलती और अपना मौरूसी रोजगार करनेमें अब बाबू साहब अपनी हतक समझने लगे हैं। इस प्रकार यह दीनहीन भारत दिनपर दिन रसातलको चला जा रहा है। हम लोग लैक्चरबाजी तो बहुत कुछ करते हैं, परन्तु असली कारवाईकी ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं है, मिश्री-मिश्री कहनेसे मुँह कभी मीठा नही होगा। प्यारे भाइयों हमारा कर्तव्य है कि, जगह-जगह पर कृषि और शिल्प विद्यालय खोलकर नये आविष्कारोंके अनुसार अपनी सन्तानको शिक्षित बनावें तथा आप स्वयं असली कारवाई करके कृषि और शिल्पकी यथेष्ट उन्नति करें। धन उपार्जन करनेके समस्त उपायोंमें वाणिज्यका नम्बर सबसे ऊँचा है। इतर उपायोंमें द्रव्यकी परिमित आय होती है किन्तु वाणिज्यसे अपरिमित द्रव्यकी आय होती है। जो भारत एक दिन वाणिज्य विषयमें सबका दादा गुरु गिना जाता था, आज उस भारतका वाणिज्य पद दलित हो रहा है। वाणिज्यका मक्खन आज विदेशी व्यापारी उड़ा रहे हैं और हमारे भारतवासी आड़त, दलाली और ब्याजरूपी छाछमें सन्तोष करके अपने जीवनको कृतकृत्य समझ रहे हैं। आजकल वाणिज्यका घनिष्ट सम्बन्ध विदेशोंसे है, इसलिये जबतक हम जन्मभूमिका झूठा ममत्व छोड़कर विदेशोंमें वाणिज्यके अड्डे नहीं जमावेंगे तथा जबतक हम भारतवासी मिलकर अनेक कम्पनियाँ खोलकर नेशनल बैंक और कारखाने जारी नहीं करेंगे और स्वदेश प्रेमसे हम स्वदेशी वस्तु ही व्यवहार करनेकी प्रतिज्ञा धारण नहीं करेंगे तबतक हम वाणिज्यकी यथेष्ट उन्नति करनेमें कदापि समर्थ नहीं होंगे। यह विषय बहुत ही गम्भीर है और मेरे लिये समय थोड़ा है इस कारण इस विषय-को मैं संक्षेपमें ही कहकर समाप्त करता हूँ।

धन उपार्जन करके भी जो महाशय धनका उपयोग करना नहीं जानते वे संसारमें कदापि सुखी नहीं हो सकते हैं। धनके उपयोगका मूलतत्त्व आमदनीसे कम खर्च करना है। जो आमदनीसे कम खर्च करते हैं वे सदा सुखी रहते हैं। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि, अपनी आमदनीका कुछ भाग तो आपत्ति कालके लिये अलग निकालकर रक्खें और कुछ भाग धर्म कार्यमें लगावें और शेषको खर्चमें लगावें। प्रमाद और अविद्याके निमित्तसे हमारे अनेक भाइयोंकी आमद इतनी कमती हो गई है कि धर्म और विपत्तिकालके लिये अलग निकालनेकी बात तो अलग रहो, वे उस आमदनीसे अपना निर्वाह भी नहीं कर सकते हैं और ऐसी अवस्थामें वे ऋणके चक्करमें पड़कर जन्मभरके लिये दुःखी हो जाते हैं। बहुतसे महाशय वस्त्रादिककी बाहरी चकाचकीके झूठे शौकमें फंसकर अपनी आमदनीसे अधिक खर्चकी पूर्ति करनेके लिये ऋणका आश्रय लेते हैं और जब ऋण चुकानेमें असमर्थ होते हैं तब नाना प्रकारके अन्यायोंमें प्रवृत्त होकर अपने जीवनको नष्ट-भ्रष्ट करदेते हैं। तथा ऋण न चुकानेके कारण कुरकी, कारागार आदिक अनेक भयानक घटनाओंका सामना करना पड़ता है। एक बार खाकर तथा एक पैसेके चनोंसे पेट भर कर अथवा भूखे ही सोजाना अच्छा है परन्तु ऋणका भार सिरपर लेना कदापि श्रेयस्कर नही है। हमारे बहुतसे भाई अपनी आमदनीमें जिसतिस प्रकार भोजन वस्त्रका तो निर्वाह करलेते हैं परन्तु जब उनकी सन्तानके विवाहका मौका आता है तब उनका धैर्य विदा हो जाता है—विवेक उनसे कोसों दूर भाग जाता है। और ईर्षा अभिमान उनपर पूरा २ अधिकार जमा लेता है। 'अमुक पुरुषने अपने विवाहमें दो मिठाई बनाई थी मै जबतक पाँच मिठाई नहीं बनाऊं तो मेरी बात बिलकुल फीकी पड़ जायगी। हमारे बापदादोंने किसी भी विवाहमें दो हजारसे कम नहीं लगाये। अब जो हमने वैसा विवाह नहीं किया तो हमारी नाक कट जायगी' इस प्रकार मिथ्या अभिमान और झूठी ईर्षाके चक्करमें पड़कर अपने पास धनके न होनेपर भी मकान तथा जेवर गिरवी रखकर अथवा मकान जेवरके अभावमें ऋण लेकर झूठी तारीफ लूट सदाके लिये अपनेको आपत्तिमें डाल देते हैं। बहुतसे भाई इस झूठी तारीफके लूटनेके लिये अपनी बेटीतकको बेचनेमें नही शरमाते। बहुतसे भाईयोंको जातिके पंचोंकी

उदरज्वाला बुझानेके लिये ही अपनी कन्याका विक्रय करना पड़ता है। धिक्कार है उन कन्याविक्रय करनेवालोंको और कोटिश: धिक्कार है उन पंचोंको जो कन्याविक्रयके धनसे बने हुए लड्डू उड़ाकर मूछोंपर ताव देते है। पंचोंका कर्तव्य है कि जो महाशय कन्या विक्रय करें उनके विवाह भोजनमें कदापि शामिल न हो और जो उनके विवाह क्रियाओंमें शामिल होना चाहे वे महाशय अपने घर भोजन करके शामिल होवें। धर्मके अंगोंमे भी धन खर्च करनेकी उपयोगितापर हमें अवश्य विचार रखना चाहिये। धर्मके प्रतिष्ठादिक अंगोंमें आजकल धन खर्च करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि विद्यावृद्धि विषयमें खर्च करने की आवश्यकता है। इसलिये समयानुकूल विचार करके आवश्यक अंगोंमे ही धन खर्च करना ही धनकी सच्ची उपयोगिता है। धनकी उपयोगिताकी तरह समयकी उपयोगिताकी भी बड़ी आवश्यकता है। जो समयकी कदर नहीं करते समय उनकी भी कदर नहीं करता। और जो समयको कदर करते है आज उनकी दुनियाँ-भरमे खूब कदर हो रही हैं। हम लोगोने निकम्मे बैठकर समयके दुरुपयोग करनेको ही सुख समझ रक्खा है। हमारे बहुतसे भाईयोंके पास लाखों और करोडोका धन है। वे जोखमका सब काम गुमाश्तोंके भरोसे छोड़कर सोने और गप्पें उड़ानेमें ही समय बिताकर अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। परन्तु प्यारे भाइयो, मनुष्य जन्म पानेकी यह सच्ची सफलता नहीं है। आपको अपने युवराजसे जो कि जहाजोंमे खलासीका काम करके अनुभव प्राप्त कर रहे है, कुछ शिक्षा प्राप्त कर रहे है, कुछ शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकार गृहस्थाश्रमका संक्षिप्त स्वरूप कहकर अब वानप्रस्थ और यत्याश्रम विषयपर अति संक्षेपमे विवेचन करके मैं अपने व्याख्यानको समाप्त करूंगा।

## वानप्रस्थ और यत्याश्रम

गृहस्थ धर्मके प्रतिमाओंकी अपेक्षासे जो ग्यारह भेद किये थे उनमेसे दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके चारित्र निर्वाहको वानप्रस्थ आश्रम कहते है। इन प्रतिमाओंका विस्तृत स्वरूप श्रावकाचारसे जानना। जो महाशय दिगम्बर रूप धारण करके अट्ठाईस मूलगुणका तथा चौरासी लाख उत्तरगुणका पालन करते हैं वे यति कहलाते हैं और इन यतिओंके चारित्रका सविस्तार कथन चरणानुयोगके ग्रन्थोसे जानना।

आज खेदके साथ कहना पडता है कि चतुर्थकालमे जो जगह-जगहपर मुनियोके संघोका विहार होता था और जिससे जैनधर्मकी सच्ची प्रभावना होती थी, आज उन सिंहवृत्तिधारी ऋषियोंके दर्शन भी दुर्लभ हो गये है। उन प्राचीन ऋषियोंकी पद परम्परामे आज जो भट्टारक महाशय हमारे सम्मुख उपस्थित हैं वे आरम्भ परिग्रहयुक्त होकर आगमानुसार मुनिपदसे च्युत हो गये है। इन महाशयोंसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे आरम्भ परिग्रहका त्याग करके प्रायश्चित्त पूर्वक पुनर्दीक्षित होकर सूत्रानुसार अट्ठाईस मूलगुणका पालनकर समाजकी दृष्टिमे पुनः यथार्थ गौरवके पात्र बने। पूर्वाचार्योंकी स्पष्ट आज्ञा यही है कि किसी व्रतको धारण करनेके पहले इस बातका अच्छी तरह विवेचनकर लेना चाहिये कि, मै इस व्रतका निर्वाह कर सकूँगा या नहीं और विचारपूर्वक ग्रहण किये हुए व्रतका प्रयत्नपूर्वक निर्वाह करना चाहिये। कदाचित् प्रमादसे गृहीत व्रतमें कुछ दोष लग जाय तो प्रायश्चित लेकर पुनः दृढतापूर्वक व्रतका पालन करना ही कर्त्तव्य है।

जिस प्रकार प्रजाके शासनके लिये न्यायनिष्ठ राजाकी आवश्यकता है अथवा जिस प्रकार मुनि समाजके शासनके लिए धर्माचार्यकी जरूरत है, उस ही प्रकार गार्हस्थ्य समाजके शासनके लिये गृहस्थाचार्यकी आवश्यकता है। यद्यपि स्वतन्त्रता एक महत्त्वपूर्ण गुण है और जो इस गुणके पात्र है वे इससे नाना प्रकारके लाभ उठा सकते है। परन्तु अपात्रके पल्ले पडकर इस गुणसे लाभके बदले हानि ही होती है। नीतिकारने भी ऐसा ही कहा है कि—

**गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति इत्यादि**

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य गृहस्थाचार्यके विना मदोन्मत्त स्वच्छन्द हस्तीकी तरह गृहस्थाश्रमरूपी बागको विध्वन्स कर डालते हैं। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि अपने समाजमेसे किसी विद्वान् धर्मात्माको गृहस्थाचार्यके पदपर नियुक्त करके समाजकी दीक्षा शिक्षाका भार उसके सुपुर्द करे। अपनी कठिन कमाईके द्रव्यमेसे उचित दान देकर अनेक विद्यालय, औषधालय, अनाथालय, अन्नसत्रादिक उपयोगी संस्था स्थापन करके उक्त गृहस्थाचार्यको उसका प्रबन्धकर्त्ता बनावे। इन गृहस्थाचार्यके निर्वाहके लिये हमारा कर्तव्य है कि हम भक्तिपूर्वक अपनी शक्त्यनुसार उनकी हरतरहसे सहायता करें और वे सन्तोषपूर्वक अपना निर्वाह करते हुए हरतरह समाजका उपकार करें। संस्थाओंके संचालनके लिये हमको चाहिये कि उचित नियम बना दे। जो गृहस्थाचार्य अपने कर्त्तव्यसे च्युत होकर अन्यायमे प्रवर्तने लग जाय तो हमारा कर्त्तव्य है कि उसको गृहस्थाचार्यके पदसे च्युत करके उस पदपर किसी अन्य योग्य महाशयका आयोजन करें। इस प्रकार संक्षेपसे आवश्यक विषयोंका विवेचन करके मै अपने व्याख्यानको समाप्त करता हूँ। मेरे इस व्याख्यानमें सम्भव है कि, अज्ञान और प्रमादसे अनेक त्रुटियाँ रहगई हों जिनके लिये मै आशा करता हूँ कि आपसरीखे उदारचित्त महाशय क्षमा प्रदान करेगे। अब मै सबजैक्ट कमेटीके चुनेजानेकी प्रार्थना करके अपना आसन ग्रहण करता हूँ।

●

# सार्वधर्म

सार्वं धर्मं प्रणम्याथ सार्वधर्मप्रसिद्धये।
सार्वजनिकधर्मोऽयं सार्वधर्मो निगद्यते ॥

यह जीव अनादि कालसे अनादिबद्ध अष्टकर्मके वशीभूत अपने स्वाभाविक भावोंसे च्युत चतुर्गति सम्बन्धी घोर दुःखोंसे व्याकुलित चित्त मोह निद्रामें निमग्न पाप पवनके झकोरोंसे कभी उछलता और कभी डूबता बिकराल अपार संसार-सागरमें वनमें व्याघ्रसे भयभीत मृगीकी नाई इतस्ततः परिभ्रमण कर रहा है। जबतक यह जीव निगोदादिक विकल चतुष्क पर्यन्त मनोज्ञान शून्य भवसमुद्रके मध्यप्रवाहमें अगृहीत मिथ्यात्वकी अविकल तरङ्गोंसे व्यग्र कर्मफल चेतनाका अनुभव करता हुआ स्वपर भेद विज्ञान विमुख ज्ञान-चेतनासे कोसों दूर घोर दुःखरूप पर्वतोंसे टकराता टकराता अपनी मौतके दिन पूरे करता फिरता है, तबतक ये प्रश्न उसको स्वप्नमें भी नहीं उठते कि, मैं कौन हूँ? मेरा असली स्वरूप क्या है? मैं इस संसारमें दुःख क्यों भोग रहा हूँ? मैं इन दुःखोंसे छूट सकता हूँ या नहीं? क्या अब तक कोई भी इन दुखोंसे छूटा है? क्या इन दुःखोंसे छूटनेका कोई मार्ग बना सकता है? इत्यादि विचार उत्पन्न होनेका कोई साधन ही नहीं है। दैवयोगसे कदाचित् संज्ञिपञ्चेन्द्रिय अवस्थाको प्राप्त होकर भी तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें निरन्तर दुःख घटनाओंसे विह्वल होनेके कारण और देवगतिमें विषम विष समान विषय भोगोंमें तल्लीनताके कारण आत्म-कल्याणके सन्मुख ही नहीं होता। मनुष्य भवमें भी बहुतसे जीव तो दरिद्रताके चक्करमें पड़े हुये प्रातःकालसे सायंकाल तक जठराग्निको शमन करनेवाले अन्न देवताकी उपासनामें ही फँसे रहते है और कितने ही लक्ष्मीके लाल अपनी पाणिगृहीत कुलदेवीसे उपेक्षित होकर धन ललनाओंकी सेवा सुश्रूषामें ही अपने इस अपूर्वलब्ध मनुष्य जन्मकी सफलता समझते हैं। इतना होनेपर भी कोई कोई महात्मा इस मनुष्य शरीरसे रत्नत्रय धर्मका आराधन करके अविनाशी मोक्ष लक्ष्मीका अपूर्व लाभ उठाकर सदाके लिये लोक शिखरपर विराजमान हो अमर पदको प्राप्त होते हैं। यह ऊपर लिखा सब राग अलापनेका सारांश यह है कि, इस संसारमें भ्रमण करते करते यह मनुष्यजन्म बड़ी दुर्लभतासे मिला है। इसलिये इसको व्यर्थ न खोकर हमारा कर्तव्य यह है कि, यह मनुष्यभव संसार समुद्रका किनारा है यदि हम प्रयत्नशील होकर इस संसार समुद्रसे पार होना चाहें तो थोड़ेसे परिश्रमसे हम अपने अभीष्ट फलको प्राप्त हो सकते है। और यदि ऐसा मौका पाकरभी हम इस ओर लक्ष्य न देंगे तो सम्भव है कि फिर अथाह समुद्रके मध्य प्रवाहमें पड़कर डाँवाडोल हो जाँय। संसारमें समस्त प्राणी सदा यह चाहते रहते है कि, हमको किसी प्रकार सुखकी प्राप्ति होवे तथा सदा उसके प्राप्त करनेका ही उपाय करते रहते हैं। परन्तु अज्ञानवश यथार्थ सुखसे वञ्चित रहकर घोर दुःखमें ही फँसे रहते है। जिन जीवोंके कर्मभार कुछ हलका हो जाता है वे आत्मकल्याणकी खोजमें प्रयत्नशील हो जाते है। परन्तु इन खोजियोंमेंसे बहुतसे भोलेजीव संसारमें प्रचलित अनेक मिथ्यामार्गोमें फँसकर अपने अभीष्ट फलको प्राप्त नहीं होते। इस असार संसारमें जैसे सच्चे महात्माओंके सदुपदेशसे सुखका यथार्थ मार्ग प्रचलित है उस ही प्रकार विषय लोलुपोंने भोले जीवोंको ठगनेके लिये बहुतसे मिथ्यामत रूपी जाल बिछा रखे है, जिनमें विवेकशून्य महाशय सहजहीमें फँस जाते हैं। इस आत्मकल्याणके खोजियोंमें निवेदन है कि, जैसे छदामकी हांडीको भी चतुर मनुष्य अच्छी तरह ठोक बजाकर ग्रहण करते हैं, उस ही प्रकार आपको भी चाहिये कि जिस धर्मपर आपके आत्माके कल्याणका दारमदार है, उस धर्मको अच्छी तरह परीक्षा करके ग्रहण करें। चिरकालसे यह भारतवर्ष विद्यादेवीकी उपासनामें शिथिल हो गया था इसी कारण विद्यादेवी भी इससे रुष्ट होकर यूरप अमेरिका जापानादि देशोंमें बिहार करनेको चली गई थी, जिससे यह आरत भारत गारत हो गया। अपना सब गौरव खोकर नितान्त दरिद्रावस्थामें फँसकर ज्यों त्यों अपनी मौतके दिन पूरे करने लगा। ऐसी ही अवस्थामें अनेक विषयासक्तोंने अपने विषय पोषण करनेके लिये अनेक मिथ्या धर्मोको प्रचलित कर बहुतसे भोले जीवोंको अन्धकूपमें पटक दिया। भारतकी यह शोचनीय दशा देख कुछ सच्चे परोपकारियोंसे नहीं रह गया और उन्होंने इस निद्राग्रस्त भारतको ढोल बजाबजाकर जगाना शुरू कर दिया। हर्षकी बात है कि अब भारतवासियोंकी आँखें खुल गई है और विद्यादेवीका

आह्वाननभी हो चुका। अब ऐसे शुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं कि अब शीघ्र ही महारानी विद्यादेवी इस चिर विस्मृत भारत-में पदार्पण करेंगी। और यह भारत फिर पहलेकी तरह वैभवयुक्त और आनन्द छननित हो जाय। सच्चा आनन्द और मनुष्यजन्मकी यथार्थ सफलता वहीं हो सकती है कि, जहाँ भोग और लक्ष्मीकी आराधनाके साथ-साथ धर्म देवीकी भी उपासना होती हो, नीतिकारोंने भी ऐसा ही कहा है कि—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तद्विना यद्भवतोऽर्थकामौ॥

भावार्थ—धर्म-अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके साधनसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है, उसमें भी धर्म प्रधान है। क्योंकि धर्मके बिना अर्थ और काम उपलब्ध नहीं होते हैं। हर्षका विषय है कि विद्यादेवीकी आवनीमें चतुर भारत-वासियोंने पहलेहीसे धर्मकी घोषणाका प्रारम्भ कर दिया है और सच्चे विद्वान् निष्पक्ष दृष्टिसे इस विषयकी खोजमें लग गये हैं कि, इस आत्माका सच्चा कल्याण करनेवाला यथार्थ धर्म कौन है। और अब इन निष्पक्ष महानुभावोंके सामने मिथ्यामतों-की ढोलकी पोल अधिक कालतक छुपी नहीं रह सकती और ऐसा अच्छा मौका पाकर आज हमभी आपके सामने धर्मतत्त्वका विवेचन उपस्थित करते हैं। आशा है कि, आप इसको सावधानतया पढ़कर और उपादेय तत्त्वको विवेकपूर्वक स्वीकार करके हमारे परिश्रमको सफल करेंगे।

धृ धातुसे धरतीति धर्मः इस प्रकार धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् संसारके दुःखसे प्राणियोंको निकालकर उत्तम सुखमें धरै उसको धर्म कहते है। यह धर्म इस आत्माकी निज विभूति है। इसपर किसी खास समाज या जातिका मौरुसी हक नहीं है। मनोज्ञान सहित पशु पक्षी मनुष्य देव नारकी जीवमात्र उसको धारण करके अपना कल्याण कर सकते हैं। इस ही कारणसे यह धर्म समस्त प्राणियोंको हितरूप होनेसे सर्वेभ्यो हित. सार्व: इस भार्व विशेषण विशिष्ट सार्वधर्म कहलाता है। अब आगे इस विषयका विवेचन किया जाता है कि, यह जीव इस संसारमें क्यों दुःख भोग रहा है और इस दुखसे छूटनेका उपाय क्या है।

जब तक द्रव्यसामान्यका स्वरूप ध्यानमें न आ जावे तब तक द्रव्य विशेषका स्वरूप नहीं समझा जा सकता, इसलिये पहले द्रव्य-सामान्यका संक्षिप्त स्वरूप लिखा जाता है। द्रव्य (Matter) का स्वरूप पूर्व ऋषियोंने इस प्रकार कहा है कि अनेक गुणो (Qualities) के अविष्वग्भाव विशिष्ट अखण्ड पिण्डको द्रव्य कहते है। भावार्थ, द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है और वह अनेक कार्य करता है। इस कारण कार्यसे अनुमित कारणरूप शक्त्यंशोंकी कल्पना की जाती है। इन ही शक्त्यंशोको गुण कहते है। ये गुण उस अखण्ड पिण्ड स्वरूप द्रव्यसे भिन्न सत्तावाले कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। किन्तु इन गुणोका जो समुदाय है सोई द्रव्य है और वह द्रव्य है सोई ये गुण है। द्रव्यसे भिन्न गुण नहीं और गुणोंसे भिन्न द्रव्य नहीं है। संसारमें जितने शब्द है वे धातुओंसे बने हुए है और क्रियावाचक शब्दको ही धातु कहते है, तथा क्रिया गुणकी ही होती है इसलिये प्रत्येक शब्द गुणवाचक है। गुणोंसे भिन्न द्रव्य जब कोई पदार्थ ही नहीं है तो द्रव्यवाचक शब्द ही कहाँसे आवेगा। जब वक्ताको समस्तगुणोंका समुदायरूप द्रव्य पदार्थ कहना अभीष्ट होता है तो अनेक गुणोंमेंसे किसी एक गुणवाचक शब्दका प्रयोग करके ही द्रव्यका निरूपण करता है और ऐसे समयमें उस वाक्यको सकलादेश वाक्य कहते है। शब्द शास्त्रका मत है कि 'प्रत्यर्थं शब्द निवेश:' अर्थात् प्रत्येक शब्दका अर्थ भिन्न रहे और कोषसे एक पदार्थके वाचक अनेक शब्द प्रतीत होते हैं उसका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक पदार्थ अनेक गुणोंका समुदाय है और एक पदार्थ वाचक अनेक शब्द उसके भिन्न-भिन्न गुणोंके वाचक है। द्रव्यका निरूपण उसके अंशभूत अनेक गुणोंमेंसे किसी एक गुणोंमेंसे किसी एक गुणवाचक शब्दके द्वारा किया जाता है। इसलिये किसी एक वक्ताने उसका निरुपण किसी एक गुणद्वारा किया तो दूसरे वक्ताने उसका निरूपण किसी दूसरे गुणद्वारा और तीसरे वक्ताने किसी तीसरे गुणद्वारा निरूपण किया और इसप्रकार एक द्रव्यवाचक अनेक शब्द होनेसे 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेश.' इस शब्द शास्त्रके मतसे अविरुद्ध कोषकारने एक द्रव्य वाचक अनेक शब्द लिखे है। किन्तु जिस समय एक गुणवाचक एक शब्दसे केवल वही गुण विवक्षित होता है, उस समय उस वाक्यको विकलादेश कहते है। सकलादेश और विकलादेश वाक्यकी पहचान प्रकरण-वश ज्ञाताकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है। एक द्रव्यके अनेक गुणोंमेंसे कुछ गुण ऐसे होते है कि वे समस्त द्रव्योंमे पाए जाते हैं और ऐसे गुणोंको सामान्य गुण कहते है। ओर इस ही प्रकार कुछ गुण ऐसे पाए जाते है जो समस्त द्रव्योंमें नहीं होते और ऐसे गुणोंको विशेष गुण कहते हैं। सामान्य गुण यद्यपि अनेक है तथापि उनमे छह गुण प्रधान है उन ही छह गुणोंका यहाँ पर संक्षिप्त स्वरूप लिखा जाता है। १ जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका सदा काल सद्भाव रहे उसको अस्तित्व (Existance) गुण कहते है। २ जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य अर्थात् उसके समस्त गुण प्रति क्षण एक अवस्थाको त्याग अन्य अवस्थाको

प्राप्त होते रहें उसको द्रव्यत्व गुण कहते हैं। ३ जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें अर्थक्रियाकारित्व होय उसको वस्तुत्व गुण कहते हैं। ४ जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसीके ज्ञानका विषय होय उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं। ५ जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ संस्थान होय उसको प्रदेशवत्त्व गुण कहते हैं। ६ जिस शक्तिके निमित्तसे वस्तुका वस्तुत्व अवस्थित रहे अर्थात् द्रव्यसे द्रव्यान्तररूप आदिक परिणमन न होकर जलमें कल्लोलकी तरह आप आपरूप ही परिणमें उसको अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। जिस समय द्रव्यका निरूपण अस्तित्व गुणकी मुख्यतासे करते हैं तब उसको सत् कहते हैं। जिस समय द्रव्यका कथन वस्तुत्व गुणकी मुख्यतासे करते हैं उस समय उसको वस्तु कहते हैं। जिस समय उसका प्रतिपादन द्रव्यत्व गुणकी मुख्यतासे करते हैं उस समय उसको द्रव्य कहते हैं। और जिस समय उसका वर्णन प्रमेयत्व गुणकी मुख्यतासे करते हैं उस समय उसको प्रमेय कहते हैं। इसही प्रकार अन्य गुणोंकी अपेक्षासेभी कथन जानना।

द्रव्यके छह भेद हैं। अर्थात् जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४, आकाश ५ और काल ६। जीव, पुद्गल और काल अनेक भेद स्वरूप हैं और धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अनेक भेद स्वरूप न होकर केवल एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। जो गुण अपने समस्त भेदोंमें रहकर अन्य द्रव्यमें न पाया जाय वही विशेष गुण लक्षणस्वरूप होता है और उसहीसे इन द्रव्योंको पहचान होती है। जीवका लक्षण चेतना है। पुद्गलका लक्षण स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण है। धर्मका लक्षण गति सहकारित्व है। अधर्मका लक्षण स्थिति सहकारित्व है। आकाशका लक्षण अवगाहन सहकारित्व है। और कालका लक्षण परिणमन सहकारित्व है। इसका खुलासा इस प्रकार है। आकाश द्रव्यमें अवगाहन नामक एक ऐसा गुण है जो समस्त द्रव्योंको युगपत् अवकाश देनेमें समर्थ है। आकाश द्रव्य सर्वव्यापी है तथा शेष पाँच द्रव्य कुछ थोडेसे आकाशमें रहते हैं। जितने आकाशमें शेष पाँच द्रव्य रहते हैं उतने आकाशको लोकाकाश और शेष आकाशको अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाशमें केवल आकाश ही है दूसरा द्रव्य कोई नहीं है। उपादान निमित्त प्रेरक उदासीन आदि अनेक कारणोंके मिलने पर कार्य होता है। जिस प्रकार मछलीके गमनको जल उदासीन कारण है उसही प्रकार गति विशिष्ट जीव पुद्गल ( शेष-चार द्रव्य गतिरहित अचल हैं ) को गमनमें उदासीन कारण धर्मद्रव्य ( अचेतन ) है। तथा जिस प्रकार गमन करते हुए पुरुषको स्थितिमें उदासीन कारण पृथ्वी है उस ही प्रकार गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणत जीव पुद्गलोंको अधर्म द्रव्य ( अचेतन ) उदासीन कारण है। यह दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। समस्त द्रव्योंके परिणमनमें उदासीन कारण काल द्रव्य है। इस काल द्रव्यके असंख्यात भेद हैं और एक-एक काल द्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश ( एक पुद्गल परमाणु जितने आकाशको रोकता है उतने आकाशको प्रदेश कहते हैं ) पर रत्नोंकी राशिकी तरह स्थित है। चेतना उस गुणको कहते हैं कि, जिससे यह जीव समस्त पदार्थों को जानता है। यह चेतना गुण समस्त जीवोंमें है और पुद्गलादिक पाँच द्रव्योंमें नहीं है। इसलिये जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण केवल पुद्गल और पुद्गलके सर्व भेदोंमें पाये जाते हैं और शेष पाँच द्रव्योंमें ये गुण नहीं हैं इसलिये पुद्गल मूर्त्त द्रव्य है तथा शेष पाँच द्रव्य अमूर्त्त हैं। पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं एक परमाणु और दूसरा स्कन्ध। पुद्गलके सबसे छोटे खण्डको परमाणु ( Atom ) कहते हैं। अनेक परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धके २२ भेद हैं। उनमेंसे केवल पाँच भेदरूप स्कन्धोंका जीवसे बन्ध होता है और शेष स्कन्धोंका जीवसे बन्ध नहीं होता है। उन पाँच स्कन्धोंके नाम इस प्रकार हैं—आहारवर्गणा १, तैजसवर्गणा २, भाषावर्गणा ३, मनोवर्गणा ४ और कार्माणवर्गणा ५। जीव द्रव्यके दो भेद हैं—मुक्त और संसारी। संसारीके दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। स्थावरके पाँच भेद हैं—पृथ्वी १, जल २, अग्नि ३, पवन ४ और वनस्पति ५। इन पाँचों ही स्थावरोंके केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है। जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रिय होती हैं उनको द्वीन्द्रिय और जिनके घ्राण सहित तीन इन्द्रिय होती हैं उनको त्रीन्द्रिय तथा जिनके नेत्र सहित चार इन्द्रिय होती हैं उनको चतुरिन्द्रिय और जिनके श्रोत्र सहित पाँच इन्द्रिय होती हैं उनको पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन चारों प्रकारके जीवोंको ही त्रस जीव कहते हैं। पञ्चेन्द्रियके दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। जिनके मन होय उनको संज्ञी और जिनके मन नहीं होय वे असंज्ञी कहलाते हैं। चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव असंज्ञी ही होते हैं। संज्ञी जीवोंके चार भेद हैं—मनुष्य १, तिर्यञ्च ( पशु ) २, देव ३ और नारकी ४। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीव तिर्यञ्च ही कहलाते हैं।

'मूलं नास्ति कुतः शाखा' इस वाक्यको अवलम्बन करके हमारे बहुतसे भाइयोंका कथन इस प्रकार है कि यह बन्ध, मोक्ष आदिकका कथन तब युक्तिसंगत हो सकता है जब जीवकी सत्ता सिद्ध हो जाय। जीवकी सत्ताकी सिद्धिके बिना यह सब कथन आकाश पुष्पवत् है। ऐसी शङ्का होनेपर हम भी उचित नहीं समझते कि इस शङ्काका समाधान

किये बिना आगे बढ़ें इसलिये अब जीव द्रव्यकी सत्ता न्याय ( Logic ) से सिद्ध की जाती है। आगेभी तत्त्वके विवेचनमें अनेक शङ्कायें उठेंगी और उनका भी समाधान न्यायकी रीतिसे ही किया जायगा। इसलिये जिन महाशयोंने न्यायशास्त्रका कुछ अभ्यास किया है, वे ही इस निबन्धके समझनेके अधिकारी हैं। जिन महाशयोने न्यायका अभ्यास बिलकुल नहीं किया है उनसे प्रार्थना है कि, वे कमसेकम हेतु और हेत्वाभासका स्वरूप अवश्य जान लें। न्यायके इतनेसे ज्ञानके बिना इस निबन्धके पढनेवाले कृतकार्य्य नहीं हो सकते।

मै सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं राजा हूँ, मै रंक हूँ, इत्यादिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षमे 'मैं' शब्दका वाच्य जीव ही है अर्थात् जिसको सुख दु:खादिकका अनुभव होता है वही जीव पदार्थ है, इसलिये जीव पदार्थका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। अथवा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात् प्रश्नोत्तरदातृत्वाच्च घटादिवत्। अर्थात् जिन्दा शरीर आत्मासहित है क्योंकि श्वासोच्छ्वासवाला है, जो २ पदार्थ श्वासोच्छ्वास सहित नहीं है सो आत्मा सहितभी नहीं हैं, जैसे घटादिक। अथवा जिन्दा शरीर आत्मासहित है क्योकि वह प्रश्नका उत्तर देता है। जो २ पदार्थ प्रश्नका उत्तर नहीं देता वह आत्मा सहितभी नही है जैसे घटादिक। इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान प्रमाणोंसेभी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है। यहाँ शंकाकार फिर कहता है कि, उपयुक्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणोमे जीवका अस्तित्व सिद्ध है यह तो हम स्वीकार करते हैं, परन्तु इस प्रकारके जीवका अस्तित्व गर्भमे लगाकर मरणपर्यन्त ही प्रतीत होता है। गर्भमे पहले और मरणके पश्चात् जीवका अस्तित्व प्रतीत नही होता। इस शंकाका समाधान इस प्रकार है कि जीव अनादि निधन है, क्योंकि यह अस्तित्व-वान् होनेपर कारण जन्य नही है। जो २ पदार्थ अस्तित्ववान् होनेपर कारणजन्य नही होते वे २ नित्य होते है, जैसे पृथ्वी आदि। और जो २ अस्तित्ववान् होनेपर कारणजन्य होते हैं वे २ नित्य नही होते, जैसे घटादिक। इसप्रकार अनुमान प्रमाणमे जीव पदार्थ अनादि निधन सिद्ध होता है। अब यहां शंकाकार फिर कहता है कि, यह हेतु भागासिद्ध नामक हेत्वाभास है। क्योंकि हेतुका कारणजन्यत्वाभाव अंश असिद्ध है अर्थात् जीव भूतचतुष्टय जन्य है। समाधान—भूत चतुष्टय जीवके निमित्त कारण है या उपादान कारण ? यदि निमित्त कारण है तो भूत चतुष्टयसे भिन्न उपादान कारण कोई दूसरा ही ठहरा और जो वे उपादान कारण है वही जीव पदार्थ है। और यदि भूत चतुष्टय जीवका उपादान कारण है तो पृथ्वी अप्, तेज और वायु ये चारों पदार्थ भिन्न २ जीवके उपादान कारण है, या चारों मिलकर जीवके उपादान कारण हैं ? यदि भिन्न-भिन्न जीवके कारण है तो पृथ्वीके बनेहुए जीव दूसरे और जलके बने हुए दूसरे तथा पवनके बनेहुए अन्य और अग्निके बनेहुए अन्य इसप्रकार चार तरहके जीव होने चाहिये। परन्तु इसप्रकार चार तरहके जीव प्रतीत नही होते इसलिये भूत चतुष्टय भिन्न-भिन्न रीतिसे कारण नही है। यदि चारों मिलकर जीवके उपादान कारण हैं तो भी युक्तिसंगत नही है। क्योंकि घटपटादिक कार्योंका उपादान कारण सजातीय होता है, इसलिये यदि जीवका उपादान कारण भूतचतुष्टय है तो भूत चतुष्टयके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण जीवमे आने चाहिये थे परन्तु जीवमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, ये चार गुण नही है, यदि ये चारगुण जीवमे होते तो जैसे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु चार गुणसहित होनेसे वे स्वयं तथा घटपटादिक उनके कार्य इन्द्रियगोचर होते है उस ही प्रकार जीवभी इन्द्रियगोचर होता। परन्तु जीव इन्द्रिय गोचर नही है, इसलिये जीव भूतचतुष्टयजन्य नही है। यदि कहो कि पृथ्वी अप्, तेज, वायुका कार्यभूत यह शरीर इन्द्रिय गोचर है और शरीर ही जीव है सोभी ठीक नही है, क्योंकि ऐसा माननेमे मृतक शरीरमे भी जीवका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार हेतुमे भागासिद्ध दोष नही आ सकता। अथवा जीव अनादि निधन है क्योंकि तत्काल जात बालकके दूध पीनेकी आकांक्षा होती है। यह हेतु असिद्धभी नही है क्योंकि दूध पिलानेसे बालक रोनेमे बन्द होजाता है। अकांक्षा उस ही पदार्थमे होती है जिसका पहिले अनुभव किया हो और पूर्व अनुभव सिद्ध होनेमे जीवका भी जन्मसे पहले अस्तित्व सिद्ध होता है। अथवा अनेक मनुष्योको पूर्वभवके वृत्तान्तका जातिस्मरण होता है और उसकी सत्यताकी अनेक महाशयोंने अच्छी तरह परीक्षा की है। तथा अनेक समाचारपत्रोंमे भी इस विषयके लेख निकल चुके हैं। अथवा अनेक मनुष्य मरण प्राप्त करके भूतादिक देव योनिमे उत्पन्न होते हैं और वे अपनेको मनुष्य शरीर त्यागकर वहां उत्पन्न हुआ बताते है। इस विषयके भी अनेक लेख समाचारपत्रोमे प्रकाशित हो चुके है। अथवा गुजरात प्रांतमे एक मोहम्मद छैल नामक महाशय है जिनको कि कोई देव सिद्ध है। उन्होने अनकबार ऐसे-ऐसे कार्य करके दिखाये है कि जो मनुष्यशक्तिके सर्वथा बाहर है। जैसे चलती हुई मेलट्रेनको रोक देना। ये महाशय अभी विद्यमान है प्राय करके आप गुजरातमे घूमते रहते है, यदि किसी महाशयको उपर्युक्त कथनमे संशय हो तो वे प्रत्यक्ष मिलकर उनसे अपना संशय दूर कर सकते है। इन सबका खुलासा इस प्रकार है कि समस्त द्रव्योमे अस्तित्व नामक एक सामान्य गुण है। उस गुणका कार्य यह है कि जो द्रव्य है वह हमेशासे है और हमेशातक रहेगा अर्थात् सत् ( Existence ) का कभी विनाश ( No Existence ) नहीं होता

और असत् ( No Existence ) का कभी उत्पाद ( Existence ) नहीं होता। भावार्थ—जो पदार्थ है वह हमेशासे है और हमेशातक रहेगा और जो नहीं है वह हमेशासे ही नहीं है और आगे भी हमेशातक कभी भी नहीं होगा। संसारमें जो अनेक पदार्थोंका उत्पाद और विनाश दीखता है वह केवल भ्रम है, न किसीकी उत्पत्ति होती है और न किसीका विनाश होता है। संसारमें जो घटका विनाश और घटकी उत्पत्ति यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि, द्रव्य एक आकारसे दूसरे आकारमे हो गया। अर्थात् पहले मृत्तिका द्रव्य पिण्डाकारमे था सो घटाकार होगया इसहीको घटोत्पत्ति कहते है और जो घटाकारको छोडकर कपालाकारमें होगया उसहीको घटका विनाश कहते है। वास्तवमे न कोई पदार्थ नष्ट हुआ है और न कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ है। पहले जैसा लिख आये है कि, द्रव्यमे एक द्रव्यत्व नामक गुण है जिसके निमित्तसे समस्त सत्‌रूप पदार्थ प्रतिक्षण एक-एक अवस्थाको छोडकर अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते है, न किसीका नाश होता और न किसीकी उत्पत्ति होती है। इसहीको आधुनिक फिलासफीमे विकाश सिद्धान्त कहते है। प्रत्येक द्रव्य अखण्ड है न तो कभी अखण्ड द्रव्य खण्डरूप होता है और न कभी उसकी उत्पत्ति या विनाश होता है। उस अखण्ड द्रव्यके कल्पित अंशरूप गुण ( Qualities ) भी सबकाल अस्तित्वरूप रहते है। उनकाभी कभी उत्पत्ति विनाश नही होता। किन्तु द्रव्यकी तरह वे भी प्रतिक्षण एक अवस्थासे अवस्थान्तरको प्राप्त होते हुए कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इस अवस्थासे अवस्थान्तर होनेको ही परिणमन कहते है और यही द्रव्यत्व गुणका कार्य है। और इन अवस्थाओमेंसे प्रत्येक अवस्था को पर्याय कहते है। जीवके अस्तित्वको स्वीकार करके भी जो महाशय जीवको एक स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते है, उनसे पूछा जाता है कि जो जीव द्रव्य नही है तो जीव गुण है या पर्याय है। इनसे अतिरिक्त कोई वाच्य हो ही नही सकता। क्योंकि जितने वाच्य पदार्थ है वे द्रव्य गुण और पर्याय इन तीनोंमेंसे किसी न किसीके वाच्यमें अन्तर्भूत हो जायगे। यदि जीव गुण है तो उसका गुणी कौन ? गुणीके विना गुण होता नही। यदि कहोगे कि जीव गुणका गुणी जीव द्रव्य है तो जीव द्रव्य स्वतन्त्र सिद्ध हुआ। यदि कहोगे कि जीव गुण पुद्‌गल द्रव्यका है तो गुण नित्य होता है, इसलिये घटपटादिक समस्त पुद्‌गल द्रव्योंमें उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु प्रतीति होती नही इसलिये जीव पुद्‌गलका गुण नही है। यदि जीव पर्याय है तो पर्याय किसी गुणकी अवस्था विशेषको कहते है, इसलिये फरमाइये कि वह जीव पर्याय पुद्‌गलके कौनसे गुणकी अवस्था विशेष है और उस गुणका नाम क्या है ? तथा उसका लक्षण क्या है ? प्यारे भाइयो, न तो कोई ऐसा गुण ही है और न कोई उसका लक्षण ही है और यदि है तो कोई बतावे और प्रमाण कसौटीपर उसकी परीक्षा करावे। इस संसारमे अनेक मास मदिराके लोलुपोंने जीवके अस्तित्वको कुयुक्तियोके आवरणमे छिपाकर जीव दयाके सिद्धान्तको मटियामेट करनेके लिये भोले भाइयोंको मिथ्या जालमे फँसाया है। हमारे भोले भाई मिथ्या दृष्टान्तोंमें उलझकर सनातन सिद्धान्तोमे च्युत होते है। यह नहीं समझते कि केवल दृष्टान्त साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नही है। जबतक समीचीन हेतु उपस्थित नहीं किया जायगा तबतक साध्यकी सिद्धि नही हो सकती। रसोई घरमे धुँआ और अग्निको साथ देखकर कोई यह व्याप्ति बनाल्‍वे कि, जहाँ जहाँ अग्नि होती है वहाँ वहाँ धूम होता है तो उसके इस सिद्धान्तको कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नही कर सकता, क्योकि तप्त लोहेके गोलेमे धूम रहित अग्नि दीखती है। जीवके अस्तित्वको लोप करनेवाले महात्माओने भोले भाइयोंको भ्रममे डालनेवाले अनेक कुदृष्टान्त दे रखे है, उनमेंसे नमूनेके वास्ते एक दृष्टान्त और उसकी समीक्षा यहाँपर दिखलाई जाती है। उन महाशयोंका कहना है कि जैसे गुड महुआ आदिक अनेक पदार्थोंके मिलानेसे मदिरामे नशेकी शक्ति हो जाती है उस ही प्रकार पृथ्वी जलादिक अनेक पदार्थोंके मिलनेसे पुद्‌गलमे चेतना शक्ति हो जाती है। प्यारे पाठको! जरा स्वस्थ चित्तसे विचारिये कि पृथ्वी आदिक अनेक द्रव्योके परमाणुओमे जो चेतनाशक्ति उत्पन्न हुई है वह चेतनाशक्ति किसी खास परमाणुमे हुई है या समस्त परमाणुओंमें हुई है ? अथवा उन समस्त परमाणुओंसे भिन्न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न हुआ है। यदि कहोगे कि किसी एक परमाणुमें चेतनाशक्ति उत्पन्न हुई है तो यह बात युक्तिसे असंगत है, क्योंकि संयोगका फल संयुक्त पदार्थोंके समस्त अंशोमे होता है। यदि कहोगे कि समस्त परमाणुओसे भिन्न एक नवीन पदार्थ उत्पन्न हो गया है तो असत्‌के उत्पादका प्रसंग आवेगा। यदि कहोगे कि समस्त परमाणुओमे वह शक्ति हो गई है तो शरीरके समस्त अंगोको काटकर भिन्न करने पर नाकको सूँघनेका काम, जिव्हाको चखनेका काम, कानको सुननेका काम, हाथको लिखनेका काम करना चाहिये था। जैसे कि एक बोतल मदिरा किसीने तैयार की तो उसमे जो नशेकी शक्ति है वह उसके समस्त परमाणुओंमे हुई है, इसलिये उसमे अगर किसीको एक प्यालाभी भिन्न करके पिलाई जावे तो वह भी नशा करती है। परन्तु शरीरके भिन्न भिन्न अंग इस प्रकार कार्य नही करते है। यदि कहो कि शरीरके अंग भिन्न भिन्न होनेसे वह चेतनाशक्ति नष्ट हो जाती है तो मदिराकी नशेकी शक्ति क्यो नष्ट हो जाती। यदि कहो कि दृष्टान्त सब अंशोंमे नहीं मिलता तो विवाद ग्रस्त अंशमे ही मिलान करते है। खैर, मानभी लिया जाय कि खण्ड होनेपर वह शक्ति नष्ट हो जाती है तो अनेक पुरुषोंके हस्तादिक एक एक अंग नष्ट होनेपर शेष अंगोंमें चेतनाशक्ति क्यो दीखती है ?

और यदि कहो कि छोटे टुकड़ेकी शक्ति नष्ट हो जाती है और बड़ेकी नष्ट नहीं होती सो भी क्यों ? हम भी विपक्षमें कह सकते हैं कि बड़े की नष्ट नहीं होती। तभी छोटे टुकड़े मस्तकके जुदा होनेपर बड़े टुकड़े खण्डमेंभी वह शक्ति नहीं रहती। इत्यादि विचार करनेमे दोष ही दोष नजर आते हैं। प्यारे भाइयो ! जरा विचार करके देखो तो गुड़ महुवा आदिक अनेक पुद्गल द्रव्योंके मिलानेसे जो मदिरा बनी है उसमें कौन-सा नशा उत्पन्न हो गया। यदि मदिरामें नशा उत्पन्न हुआ होता तो बोतल उछलती फिरती। प्यारे भाइयो ! मदिराके उपादान कारणोंमें जो स्पर्श, रस, गंध और वर्ण मौजूद थे वे ही वर्णादिक गुण ही कुछ तारतम्य अवस्थाको प्राप्त होकर केवल अवस्थामे अवस्थान्तररूप हुए हैं, उनके निमित्तसे जीवका चेतनागुण विकृत होकर उन्मत्त अवस्थाको प्राप्त होता है। मदिरामें कोई भी नवीन चीज उत्पन्न नहीं हुई है। इस प्रकार अनेक प्रकारसे परीक्षा करनेपर यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि, जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य अनादि निधन है। न कभी इसकी उत्पत्ति होती है और न कभी इसका नाश होता है किन्तु अवस्थासे अवस्थान्तर होती रहती है और यही युक्ति और अनुभव सिद्ध होता है।

जीव द्रव्यके मुक्त और संसारी इस प्रकार दो भेद पहले कह आये हैं। परन्तु बहुतसे महाशय इस विषयमें सहमत न होकर फरमाते हैं कि ऐसा नहीं है किन्तु चेतन द्रव्यके दो भेद हैं— एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ सर्वव्यापी सर्व-शक्तिमान अनादि शुद्ध जगतका कर्ता हर्ता जीवात्मासे नितान्त भिन्न सच्चिदानद है। और जीवात्मा अल्पज्ञ इच्छा द्वेष प्रयत्न सहित अनेक द्रव्य हैं। ऐसे महाशयोंसे निवेदन है कि, वे पहले ऐसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करलें पीछे उनके विशेष धर्मोंपर विचार किया जायगा। उस ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये वे महाशय इस प्रकार अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं—पृथ्वीसूर्यचंद्रादयः ईश्वरजन्याः मनुष्य जन्यत्वे सति कार्यत्वात्। अर्थात् पृथ्वी चन्द्र सूर्यादिक ईश्वरजन्य है क्योंकि मनुष्यकर्तृक न होकर कार्य हैं। जो मनुष्यके अजन्य होनेपर कार्य नहीं हैं वे २ ईश्वर जन्य भी नहीं हैं। जैसे आकाशादिक, इस प्रकारके केवल व्यतिरेकी अनुमानसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है। अब आगे इस अनुमितिका विवेचन किया जाता है। इस अनुमितिके हेतुमें जो कार्य पद पड़ा है यदि कार्यका लक्षण प्रागभावका प्रतियोगी माना जाय तो हेतु भागासिद्ध नामक हेत्वाभास है, क्योंकि सूर्य चन्द्रादिका अभाव पहले सिद्ध हो जाय तब उनमें कार्यत्व हेतु सिद्ध हो। अथवा कार्यत्व हेतु व्यभिचारी नामक हेत्वाभास है, क्योंकि घासादिक कार्य होनेपरभी कर्तृजन्य नहीं हैं। यदि कहोगे कि घास साध्य कोटिमें पड़ा हुआ है इसलिये हेतु व्यभिचारी नहीं है, तो महाशयजी पहले आप यह बताइये कि आपके साध्यमें जो ईश्वरजन्यत्व पद है उसमे आपको क्या अभिप्रेत है। क्या ईश्वर घटको बनानेवाले कुम्भकारकी तरह सूर्यादिकके उपादान कारण भूत परमाणुओंको एकत्रित करके उनको सूर्यादिके आकाररूप बनाता है अथवा व्यूह रचनेवाले सेनापतिकीतरह परमाणुओंको आज्ञा देता है कि, जिसको सुनते ही सब परमाणु सूर्यादिकके आकार होजाते हैं। या ईश्वरके ऐसी इच्छा होती है कि इन परमाणुओंके सूर्यादिक बनजाय और उसकी ऐसी इच्छा होते ही वे परमाणु स्वयं सूर्यादिकके आकार होजाते हैं। यदि प्रथम पक्ष मानाजाय अर्थात् सूर्यादिकके उपादान कारणभूत परमाणुओंको एकत्रित करके ईश्वर उनको सूर्यादिकके आकार बनाता है तो हेतु अनुमानबाधित ( सत्प्रतिपक्ष ) हेत्वाभास है। क्योंकि उसके साध्यके अभावका साधक अनुमानान्तर विद्यमान है। और वह अनुमान इस प्रकार है। ईश्वर परमाणुओंको एकत्र करके सूर्यादिकको नहीं बनाता, क्योंकि वह क्रिया रहित है, जो २ क्रियारहित होता है वह २ परमाणुओंको एकत्र नहीं करसकता जैसे आकाशादिक। यह हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उसकी सत्ता अनुमानान्तरसे सिद्ध है। जैसे, ईश्वर क्रियारहित है क्योंकि वह सर्वव्यापी है जो २ सर्वव्यापी होते हैं वे २ क्रिया रहित होते हैं। जैसे आकाशादिक। यदि दूसरा पक्ष मानाजाय अर्थात् ईश्वरकी आज्ञासे परमाणु सूर्यादिकके आकार होजाते हैं तो भी पूर्वोक्त दोष आता है क्योंकि ईश्वर शब्द रहित है इसलिये आज्ञा नहीं दे सकता।। यदि ईश्वर शब्दसहित मानाजाय तो सब झगड़ा बहुत जल्दी तय हो सकता है। ईश्वर शब्द द्वारा सबको अपनी सत्ता सिद्ध करा सकता है। परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि अनेक प्रार्थना करनेपर भी ईश्वर एक भी प्रश्नका उत्तर नहीं देता। जिस प्रकार ईश्वरमे शब्दोच्चारणकी शक्ति नहीं है उस ही प्रकार परमाणुओंमें शब्द सुननेकी शक्ति नहीं है, क्योंकि वे जड़ है तथा कर्ण इन्द्रिय रहित है। यदि तीसरा पक्ष माना जाय अर्थात् ईश्वरकी इच्छा होनेमात्रसे परमाणु सूर्यादिकके आकार होजाते हैं सोभी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि परमाणुओंको ईश्वरकी इच्छाका ज्ञान हो सकता। अथवा ऐसी इच्छा ईश्वरका स्वभाव है या विभाव। यदि कहोगे ऐसी इच्छा ईश्वरका स्वभाव है तो स्वभाव नित्य होता है, तो जिस समय ईश्वरके सूर्यादिक रचनेकी इच्छा हुई उससे पहलेभी ईश्वरके ऐसी इच्छाका सद्भाव हुआ और जब पहले ही ईश्वरके इच्छा थी तो सूर्यादिक भी पहलेही बन चुके थे बनेहुयेको क्या बनाया। अथवा ईश्वर जब हमेशासे है तो उसका स्वभावरूप इच्छा भी अनादिसिद्ध हुई और इच्छाके अनादिसिद्ध होनेपर उसके कार्य सूर्यादिक भी अनादिसिद्ध

हुए। यदि उस इच्छाको विभाव माना जाय तो ईश्वर शुद्ध नहीं ठहर सकता। क्योंकि विभाव भाव अशुद्ध द्रव्यके ही होते हैं। तथा इच्छा अनुपलब्ध पदार्थकी उपलब्धिके लिये होती है इसलिये इच्छा दुःखात्मक होनेसे ईश्वरके दुःखी होनेका प्रसंग आता है। इस प्रकार कार्यत्वहेतुमे जो घासादिकमें व्यभिचार दिखाया था और उसपर शंकाकारने घासको साध्य कोटिमें डाल दिया था सो घास साध्य कोटिमें नही आ सकता; क्योंकि ईश्वरके कर्तृत्वमे जो तीन पक्ष दिखाये वे तीनों ही बाधित है। इसलिये घासका यदि कोई कर्त्ता कल्पना किया जाय तो वह कर्त्ता वैसा ही कृषाण होगा जैसा कि गेहूँ चने वगैरहके खेतोको जोतनेवाला कृषाण होता है। परन्तु घासका पैदा करनेवाला ऐसा कोई कृषाण प्रतीत नही होता है। इसलिये हेतु व्यभिचारी है। अथवा कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास है क्योकि साध्यके अभावका साधक अनुमानान्तर विद्यमान है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूर्यादिक ईश्वर कारणक ( जन्य ) नही है; क्योकि सूर्यादिकका ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं होता। जिसका जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नही होता वह तत्कारणक नही होता। जैसे आकाशका घटके साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नही होता है इसलिये घट आकाशकारणक नही है। सूर्यादिकका भी ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं होता, इसलिये सूर्यादिक ईश्वरकारणक नही है। कार्यके सद्भावमे कारणके सद्भावको अन्वय कहते है। तथा कारणके अभावमे कार्यके अभावको व्यतिरेक कहते है। अन्वय व्यतिरेकभाव और कार्यकारणभावमे परस्पर गम्यगमक सम्बन्ध है। सोई न्यायसिद्धान्तकारोंने कहा है कि—"अन्वयव्यतिरेक गम्यो हि कार्यकारणभावः"। यद्यपि सूर्यादिकके सद्भावमे होनेसे अन्वय तो घटित होजाता है, परन्तु क्षेत्र, व्यतिरेक अथवा कालव्यतिरेक इन दोनो व्यतिरेकोमेसे एक भी व्यतिरेक घटित नही होता। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, यदि यह बात सिद्ध होजाती कि जहाँ २ ईश्वर नही है वहाँ २ सूर्यादिक भी नही है तो ईश्वर और सूर्यादिकमे क्षेत्रव्यतिरेक सिद्ध हो जाता। परन्तु ईश्वर सर्वव्यापी है इसलिये उसका कही भी अभाव न होनेसे क्षेत्रव्यतिरेक घटित नहीं होता। तथा इस ही प्रकार जब यह बात सिद्ध होजाती कि जब-जब ईश्वर नही है तब-तब सूर्यादिक भी नही है तो कालव्यतिरेक सिद्ध होजाता। परन्तु ईश्वर नित्य द्रव्य है इस लिये उसका कभी भी अभाव न होनेसे सूर्यादिकके साथ उसका कालव्यतिरेक सिद्ध नही होता। इसलिये अन्वय व्यतिरेक घटित न होनेसे सूर्यादिक ईश्वरकारणक नही हैं। यदि कार्यत्वका लक्षण सावयवत्व माना जाय तो सावयवत्वके दो अर्थ होते है। अर्थात् अवयवोंसे बना हुआ या अवयववान्। यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो हेतु साध्यसम नामक हेत्वाभास है और यदि द्वितीय पक्ष माना जाय तो ईश्वर तथा आकाशादिक नित्य द्रव्यमे अवयववानपना होनेसे हेतु व्यभिचारी है। यदि कार्यका लक्षण कृतबुध्युत्पादक अर्थात् यह किया हुआ है ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनेवाला माना जाय तो कही पर गढा खोदनेसे उस खुदे हुए गढेको देखनेवालेके इस गढेका आकाश किसीने किया है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है इसलिये आकाशमे वृत्ति होनेसे हेतु व्यभिचारी है। यदि कार्यत्वका लक्षण विकारित्व किया जाय तो विकारित्वकी वृत्ति ईश्वरमे होनेसे हेतु व्यभिचारी है। ईश्वरके अस्तित्वमें दूसरा अनुमान प्रमाण इस प्रकार दिया जाता है कि ईश्वर है क्योकि जीवोंके कर्मफल प्राप्तिकी अन्यथा अनुपपत्ति है। सो यह हेतु भी असिद्ध नामक हेत्वाभास है। क्योकि विषादिक भक्षण करनेवालोको मरणादिक फल बिना किसी फलदाताके ही मिल जाता है। यदि कहोगे कि विषादिक भक्षणका फल भी ईश्वर ही देता है, क्योकि जीव कर्मोके करनेमें तो स्वतन्त्र है परन्तु उनके फल भोगनेमें परतन्त्र है। सो भी युक्तिसगत नही है। क्योकि जैसे किसी धनाढ्यने ऐसा कर्म किया था कि, जिसका फल उसका धन हरण होनेसे मिल सकता है। ईश्वर स्वयं तो उस धनको चुरानेके लिये आता नही किन्तु किसी चोरके द्वारा उसका धन हरण कराता हैं। ऐसी अवस्थामे अर्थात् जबकि एक चोरने एक धनाढ्यका धन हरा तो इस एक क्रियासे धनाढ्यको तो पूर्वकृत कर्मका फल मिला और चोरने नवीन कर्म किया। अब फरमाइये कि चोरने जो यह धनाढ्यके धन हरणरूप क्रिया की है वह स्वतन्त्रतासे की है या ईश्वरको प्रेरणासे की है। यदि स्वतन्त्रतासे की है और ईश्वरकी उसमें कुछ भी प्रेरणा नही है तो धनाढ्यको जो कर्मका फल मिला वह ईश्वरकृत नही हुआ। ओर जो ईश्वरकी प्रेरणासे चोरने धन हरा है तो चोर कर्मके करनेमे स्वतन्त्र नही रहा ओर चोर निर्दोष हुआ ओर उस ही चोरको वही ईश्वर राजाके द्वारा चोरीका दण्ड दिलाता है तो स्वय उससे चोरी कराई ओर फिर स्वयं ही उसका दण्ड दिलाता है यह ईश्वरके न्यायमे बडा भारी बट्टा लगा। ससारमे जितने अनर्थ होते हैं उन सबका विधाता ईश्वर ठहरेगा। परन्तु उन सब कर्मोका फल बिचारे निर्दोष जीवोको भोगना पड़ेगा। देखा ! कैसा अच्छा न्याय है अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव। इस प्रकार प्रमाणकी कसौटीपर कसनेमें ऐसे कल्पित ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नही हो सकती। प्यारे पाठको ! जरा निष्पक्ष दृष्टिसे विचारिये कि इस संसारमे अनादिकालसे समस्त द्रव्य प्रतिक्षण एक एक अवस्थाका त्यागकर अन्य अन्य अवस्थाको प्राप्त होते रहते है। इस परिणमनको ही क्रिया कहते है। अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती परिणाम विशिष्ट द्रव्य उपादान कारण है और अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती परिणाम विशिष्ट द्रव्य कार्य है। इस परिणमनमे सहकारी स्वरूप अन्य द्रव्य निमित्त कारण है। निमित्त कारण दो प्रकारके होते है एक उदा-

सीन निमित्त कारण और दूसरा प्रेरक निमित्त कारण। इन्हीं कारणोंमें कारक व्यवहार है। क्रियानिष्पादकत्व कारकका लक्षण है। कारकके छह भेद हैं। अर्थात् कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। क्रियाके उपादान कारणको कर्ता कहते हैं। क्रिया जिसको प्राप्त हो उसे कर्म कहते है। क्रियामे साधकतम अन्य पदार्थको करण कहते हैं। कर्म जिसको प्राप्त हो उसे सम्प्रदान कहते हैं। दो पदार्थोंके वियोग होनेमें जो ध्रुव रहे उसको अपादान कहते है। आधारको अधिकरण कहते हैं। इस कथनका अभिप्राय यह है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं वे अपने-अपने भावके कर्ता हैं, परभावका कर्ता कोई पदार्थ नहीं है। वास्तवमें कुम्भकार घट बनानेरूप अपनी क्रियाका कर्त्ता है। व्यवहारमें जो कुम्भकारको घटका कर्त्ता कहते हैं वह केवल उपचार मात्र है। घट बननेरूप अपनी क्रियाका कर्त्ता घट है। घटकी बननेरूप क्रियामें कुम्भकार सहायक निमित्त है। इस सहायक निमित्तको ही उपचारसे कर्ता कहते हैं। इस प्रकार कर्ताके दो भेद हैं। एक वास्तविक कर्ता और दूसरा उपचरित कर्ता। क्रियाका उपादान कारण ही वास्तविक कर्ता है। इसलिये कोई भी क्रिया वास्तविक कर्ताके बिना नही हो सकती। परन्तु उपचरित कर्ताका नियम नही है। घटरूप कार्यके बननेमें उपचरित कर्ताकी जरूरत है परन्तु नदीके बहनेरूप कार्यमें उपचरित कर्ताकी जरूरत नही है। इस सृष्टिकर्तृत्ववादमें कर्ता शब्दसे चेतन निमित्त कारण अभिप्रेत है और कार्यत्व हेतुसे उसे अविनाभावी मानकर सूर्यादिकमें कर्तृजन्यत्व सिद्ध करते हैं। परन्तु वास्तवमें कार्यसामान्यकी व्याप्ति कारणसामान्यके साथ है, कारणविशेषके साथ नही है। कार्यत्व हेतुसे निमित्तकारण सिद्ध हो सकता है परन्तु निमित्त कारण चेतन भी होते हैं और अचेतन भी होते हैं। यह नियम नही है कि समस्त कार्य चेतन निमित्तसे ही होते हो। एक दृष्टान्तमें किसी दो पदार्थोंका सद्भाव रहनेसे सर्वत्र उनकी व्याप्ति सिद्ध नही हो सकती किन्तु विपक्षमें बाधक केवलसे ही व्याप्तिका निश्चय होता है। किसी मनुष्यके मित्रके चार पुत्र थे और वे चारों ही श्यामवर्ण थे। कुछ कालमें मित्रकी भार्या गर्भवती हुई तो महाशयजीने इस प्रकार अनुमान किया कि—मित्रकी भार्याके गर्भस्थित पुत्र श्याम होगा; क्योकि वह मित्रका पुत्र है। जो जो मित्रके पुत्र है वे वे श्याम है। और जो जो श्याम नही है वे वे मित्रके पुत्र भी नही है। गर्भस्थ मित्रका पुत्र है इसलिये श्याम होगा। परन्तु यदि मित्रका पुत्र गोरा हो जाय तो बाधक कौन। इसलिये विपक्षमें बाधकके अभावसे मित्रपुत्रत्व और श्यामत्वमें व्याप्ति नही हो सकती। इस ही प्रकार कार्य और चेतन कर्तामें भी विपक्षमें बाधकके अभावसे व्याप्ति नही हो सकती। इस प्रकार कार्यत्वहेतु ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करनेमें असमर्थ है। संसारमें छह द्रव्य है। उनमेंसे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंका शुद्ध तथा अशुद्ध दो प्रकारका परिणमन होता है। किन्तु शेष चार द्रव्योका शुद्ध ही परिणमन है। अन्य द्रव्यसे अलिप्त किसी द्रव्यके आपमें आपरूप परिणमनको शुद्ध परिणमन कहते हैं। परन्तु एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यसे मिलकर एकीभावको प्राप्त होकर बन्धपर्यायरूप परिणमै तो उस परिणमनको अशुद्ध परिणमन कहते हैं। जैसे हल्दी चूना परस्पर मिलकर श्वेत और पीतभावको त्यागकर रक्तभावरूप एकत्वको प्राप्त होकर अशुद्ध परिणमनरूप परिणमै है। कमलपत्र और जलकी तरह केवल संयोगमात्रको बन्ध अथवा अशुद्ध परिणमन नही कहते हैं। जीव और पुद्गलमें एक गुण ऐसा है जिसको कि वैभाविकी शक्ति कहते हैं। उसके सबबसे इन दोनोंका अशुद्ध परिणमन होता है। किन्तु शेष चार द्रव्योंमें यह गुण नही है इसलिये उन चार द्रव्योका अशुद्ध परिणमन नही होता है। इस ही अशुद्ध परिणमनको बन्ध कहते है। बन्ध दो प्रकारका है। एक सजातीय बन्ध और दूसरा विजातीय बन्ध। पुद्गलके साथ पुद्गलके बन्धको सजातीय बन्ध कहते हैं। और जीवके साथ पुद्गलके बन्धको विजातीय बन्ध कहते है। एक जीवका दूसरे जीवसे बन्ध नही होता है। इसलिये जीवमें केवल विजातीय बन्ध होता है। किन्तु पुद्गलमें सजातीय और विजातीय इस प्रकार दोनो प्रकारके बन्ध होते है। अनेक कारणोंके एकत्र होनेपर कार्यकी सिद्धि होती है। इस कारण जीव और पुद्गलमें भी केवल वैभाविक शक्तिसे ही बन्ध नही हो जाता, किन्तु बन्ध होनेके वास्ते दूसरे सहकारी कारणोंकी आवश्यकता रहती है। पुद्गल द्रव्यमें एक स्पर्श गुण है। उस स्पर्श गुणकी स्निग्ध और रूक्ष ये दो पर्याय होती रहती है। यह स्निग्ध और रूक्ष परिणमन तारतम्य अर्थात् तीव्र और मन्दरूप होता है। इस तीव्रता और मन्दताके परिमाण परिज्ञानार्थ गुणमें अविभागी शक्त्यंशोंकी कल्पना की जाती है। इन अविभागी शक्त्यंशोंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। स्निग्धगुण परमाणुका स्निग्धगुण परमाणुसे, तथा स्निग्धगुण परमाणुका रूक्षगुण परमाणुसे और रूक्षगुण परमाणुका रूक्षगुण परमाणुसे बन्ध होता है। जिन परमाणुओमें स्निग्ध अथवा रूक्षका केवल एक अविभाग प्रतिच्छेद होता है वह अन्य परमाणुके साथ बन्धको प्राप्त नही होता। किन्तु जिन परमाणुओमें दो तीन आदिक अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं वे यथायोग्य अन्य परमाणुओंके साथ बन्धको प्राप्त होते है। परन्तु इनमें भी अनियमसे बन्ध नही होता है किन्तु जिन परमाणुओंके अविभाग प्रतिच्छेदका अन्तर होता है उन ही परमाणुओका अनुकूल क्षेत्रमें अवस्थान होनेसे बन्ध होता है। जैसे दो अविभाग प्रतिच्छेदवालेका चार अविभाग प्रतिच्छेदवालेसे, तीन अविभाग प्रतिच्छेदवालेका पाँच अविभाग प्रतिच्छेदवालेसे, इत्यादि। बन्धमें अधिक

अविभाग प्रतिच्छेदवाला ही कम अविभाग प्रतिच्छेदवालेको अपने रूप परिणमा लेता है। जिस प्रकार परमाणुका परमाणुसे बन्ध होता है उस ही प्रकार परमाणुका स्कन्धसे तथा स्कन्धका स्कन्धसे यथायोग्य अनुकूलता होनेपर बन्ध होता है। एक स्कन्धके यथायोग्य कारण मिलनेपर दो अथवा अनेक खण्ड भी हो जाया करते हैं। और वे खण्ड स्कन्ध तथा परमाणु दोनों स्वरूप होते रहते हैं। भावार्थ—अनेक परमाणु तथा एक परमाणु और एक स्कन्ध तथा अनेक स्कन्ध परस्पर बन्धको प्राप्त होकर एक स्कन्धरूप हो जाते हैं। इस ही प्रकार एक स्कन्ध बिखरकर कभी अनेक स्कन्धरूप कभी स्कन्ध और परमाणुरूप और कभी अनेक परमाणुरूप हो जाता है। इस प्रकार इस संसारमें कभी परमाणु स्कन्धरूप हो जाते हैं और कभी स्कन्ध परमाणुरूप हो जाते हैं। परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि संसारके सब ही स्कन्ध परमाणुरूप तथा सब ही परमाणु स्कन्धरूप होते ही रहें। किन्तु अनेक परमाणु ऐसे हैं जो हमेशासे परमाणु हैं और हमेशा तक परमाणुरूप ही रहेंगे। और इस ही प्रकार सूर्य, चन्द्र, सुमेरुपर्वत, पृथ्वी आदिक अनेक स्कन्ध ऐसे हैं जो हमेशासे स्कन्धरूप हैं तथा हमेशा तक रहेंगे। और इन नित्य स्कन्धोंमें भी अनेक परमाणु ऐसे हैं जो उन स्कन्धोंसे न तो आजतक निकले हैं और न कभी निकलेंगे। और अनेक परमाणु ऐसे हैं जो इन स्कन्धोंमें आते रहते हैं तथा अनेक उनमेंसे निकलते रहते हैं। इस प्रकार पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध होनेमें सहकारी कारण स्पर्शगुणकी स्निग्ध और रूक्ष पर्याय है। यह स्निग्ध रूक्ष पर्याय स्कन्धमें भी होती है और शुद्ध परमाणुमें भी होती है इसलिये पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध अशुद्ध अवस्थारूप स्कन्धोंमें भी होता है तथा शुद्ध अवस्थाको प्राप्त परमाणुओंमें भी होता है। परन्तु जीव और पुद्गलके विजातीय बन्धमें ऐसा नहीं होता है। अब आगे जीव और पुद्गलके विजातीय बन्धका स्वरूप कहते हैं।

एक द्रव्य जब दूसरे द्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त होता है उस समय उसका अशुद्ध परिणमन होता है। उस अशुद्ध परिणमनमें दोनों द्रव्योंके गुण अपने स्वरूपसे च्युत होकर विकृत भावको प्राप्त होते हैं। जीव द्रव्यके गुण भी अशुद्ध अवस्थामें इस ही प्रकार विकारको प्राप्त होते रहते हैं। जीव द्रव्यके अशुद्ध परिणमनका मुख्य कारण तो वैभाविकी शक्ति है और सहायक निमित्त जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है। इसलिये जीवका पुद्गलके साथ अशुद्ध अवस्थामें ही बन्ध होता है। शुद्ध अवस्था होनेपर विकृत परिणमन नहीं होता। विकृत परिणमन ही बन्धका सहायक निमित्त है और शुद्ध अवस्थामें उसका अभाव है। इसलिये एक बार शुद्ध होनेपर कारणके अभावसे पुनः कदापि बन्ध नहीं होता। परन्तु पुद्गल द्रव्य शुद्ध होनेपर भी बन्धके कारण स्निग्ध रूक्ष आदिकके सद्भावसे बन्धको प्राप्त हो जाता है। संसारमें अनेक जीव देखे जाते हैं वे सब अशुद्ध हैं। यदि उनको शुद्ध माना जाय तो क्रोधादिक परिणाम जीवके स्वाभाविक गुण ठहरेंगे। स्वाभाविक गुण नित्य होते हैं। परन्तु क्रोधादिक अनित्य हैं। इसलिये क्रोधादिक गुणोंके अभावमें जीव गुणीके भी अभावका प्रसंग आयेगा। इसलिये जीव बन्ध-सहित है। अथवा अनुमानसे भी जीव बन्ध सहित अशुद्ध ही सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है कि संसारी जीव बंधवान है क्योंकि यह परतन्त्र है। जो २ परतन्त्र होते हैं वे २ बंधवान हैं। जैसे स्तंभ और जंजीरसे बंधा हुआ हस्ती। यह हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि उसकी सत्ताका साधक यह अनुमान है। यह संसारी परतन्त्र है क्योंकि इसने हीनस्थानका ग्रहण कर रक्खा है। जो २ हीनस्थानका ग्रहण करता है वह २ परतन्त्र होता है, जैसे कैदी। यह हेतु भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि इसने शरीरको ग्रहण कर रक्खा है। शरीरका ग्रहण करना प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। और शरीरके हीनस्थानपना इस अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है—शरीर हीनस्थान है क्योंकि दुःखका कारण है। जो २ दुःखका कारण होता है सो २ हीनस्थान होता है, जैसे जेलखाना। यह हेतु देवशरीरमें व्यभिचारी नहीं है क्योंकि मरणका दुःख वहाँपर भी मौजूद है। इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे यह संसारी जीव बन्ध सहित अशुद्ध सिद्ध होता है। अब यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि संसारी जीव अनादिकालसे अशुद्ध है या पहले शुद्ध था और पीछेसे अशुद्ध हो गया। उत्तरमें निवेदन है कि यह जीव सन्तानक्रमसे बीजवृक्षवत् अनादिकालसे अशुद्ध है। यदि पहिले शुद्ध होता तो विना कारण बीचमें अशुद्ध कैसे हो जाता और यदि विना कारण ही बीचमें अशुद्ध हो गया है तो उससे पहले अशुद्ध क्यों नहीं हो गया। तथा मुक्त जीवके भी पुनः बन्धका प्रसंग आवेगा। तथा विना-कारणके कार्य होनेसे कार्यकारणभावके भंगका भी प्रसंग आवेगा। यदि कहो कि अनादिकालीन अशुद्धता अनंतकाल पर्यन्त रहनी चाहिये, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि धानका बीजवृक्ष सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। परन्तु जब धानपरसे छिलका उतार लिया जाता है तो चावल अनेक प्रयत्न करनेपर भी नहीं ऊगता है। उस ही प्रकार जीवके भी अनादि सन्तानक्रमसे विकृत भावोंसे कर्मबन्ध और कर्मके उदयसे विकृतभाव होते चले आये हैं। परन्तु जब छिलका-रूपी विकृतभाव जुदे हो जाते हैं तो फिर चावलरूपी शुद्ध जीवके अंकुरोत्पत्तिरूपी कर्मबन्ध नहीं होता। जिस प्रकार चुम्बक पाषाणमें लोहेको आकर्षण करनेकी शक्ति है। और लोहेमें आकर्षण होनेकी शक्ति है। अन्य पदार्थोंमें ऐसी शक्तिके

अभावसे न तो इतर पदार्थ लोहेको खींचता है और न चुम्बक पत्थरसे लोहेके सिवाय दूसरा पदार्थ खिंचता है। उस ही प्रकार पुद्गलके बाईस प्रकारके स्कन्धोंमेंसे केवल पाँच स्कन्ध अर्थात् १. आहारवर्गणा, २. तैजसवर्गणा, ३. भाषावर्गणा, ४. मनोवर्गणा, और ५. कर्माणवर्गणा रूप पाँच स्कन्ध जीवकी आकर्षण शक्तिसे खिंचते हैं और जीव अपनी आकर्षण-शक्तिसे इनको आकर्षण करता है। जीव और इन पंच स्कन्धोंके सिवाय इतर द्रव्य तथा स्कन्धोंमें आकर्षक आकर्ष्य शक्ति-के अभावसे आकर्ष्य आकर्षक भाव भी नहीं है। जीवकी इस आकर्षक शक्ति अर्थात् एक गुणके विकृत परिणामको योग कहते है। योग शक्तिके निमित्तसे अनुकूल क्षेत्रमे अवस्थित पंच स्कन्ध आकर्षित होकर आकर्षण करनेवाले जीवके साथ बन्ध पर्यायको प्राप्त होकर एक क्षेत्रावगाहरूप अवस्थित होते है। जीव और पुद्गलके इस एक क्षेत्रावगाहरूप अवस्थानको उभय बन्ध कहते है। और इस एक क्षेत्रावस्थानके लिये पञ्च स्कन्धोंके आगमनको द्रव्यास्रव कहते है। उभयबन्धकी कारणभूत जीवकी योगशक्तिको भावबन्ध कहते है। तथा द्रव्यास्रवकी कारणभूत जीवकी योगशक्तिको भावास्रव कहते है और पंचस्कन्धोंको आकर्ष्य शक्तिको द्रव्यबन्ध कहते है। पंच स्कन्धोंमेंसे पहले कार्माणवर्गणाके स्कन्धके बन्धका स्वरूप लिखते हैं। कार्माण स्कन्धका बन्ध चार प्रकार है। १. प्रकृतिबन्ध, २. प्रदेशबन्ध, ३. स्थितिबन्ध और ४ अनुभागबन्ध। कार्माणस्कन्ध अनेक भेदस्वरूप है और उन स्कन्धोंमें जीवके गुणोंको घातनेका स्वभाव अर्थात् प्रकृति है। प्रकृति और प्रकृतिवान्मे कथंचित् अभेद है इसलिये प्रकृति शब्दसे जीवके गुणोंको घातनेके स्वभाववाले कार्माण स्कन्धोंका ग्रहण है। भावार्थ, जीवके अनेक शुभाशुभ परिणाम विशिष्ट योगसे जीवके गुणोंको घातनेके स्वभाववाले कार्माण स्कन्धोंके बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। बध्यमान कार्माण स्कन्धमे परमाणुओंकी सख्याविशेषको प्रदेशबन्ध कहते है। ये कार्माण स्कन्ध ही जब जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो जाते है तब कर्म कहलाते है। ये कर्म बन्ध होनेके समयसे जितने काल पीछे फल देगे उतने कालको स्थितिबन्ध कहते है। कर्ममे फल देनेकी शक्ति विशेषको अनुभागबन्ध कहते है। अब आगे यह कथन किया जाता है कि कौन २ सा कर्म फलकालमे आत्माके किस २ गुणमे क्या २ विकार करता है।

जीवके अनेक गुणोंमेसे कुछ थोड़ेसे गुण ऐसे है जिनका कर्मोंमे सम्बन्ध है और उनमे भी केवल पाँच गुण प्रधान है। उन पाँच गुणोके नाम इस प्रकार है—१ चेतना, २ वीर्य, ३ सुख, ४ सम्यक्त्व, और ५ चारित्र। आत्मा की जिस शक्तिसे पदार्थोंका प्रतिभास होता है उसको चेतना कहते है। विषयके भेदसे चेतनाके दो भेद है अर्थात् जिस समय चेतनामे पदार्थ सामान्यका प्रतिभास होता है उस समय उस चेतनाको दर्शन कहते है और जिस समय उस चेतना मे पदार्थ विशेषका प्रतिभास होता है, उस समय उस चेतनाको ज्ञान कहते है। बलको वीर्य गुण कहते है। सत्य पदार्थों के विश्वासको सम्यक्त्व गुण कहते है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और धन कुटुम्बादिकमे ममत्वरूप बाह्यक्रिया तथा योग ( पंचस्कंधोंको ग्रहण करनेकी शक्ति ) और कषाय ( क्रोध, मान, माया, लोभ ) रूप अभ्यन्तर क्रियाकी निवृत्तिसे प्रादुर्भूत आत्माके गुणविशेषको चारित्र कहते है। आकुलताकी निवृत्ति पूर्वक आह्लादात्मक आत्माके गुण विशेषको सुख कहते है। कर्मोंके घाति और अघाति इस प्रकार दो भेद है। जो आत्माके गुणको घाते उन कर्मोको घातिकर्म कहते है। जो कर्म जीवके गुणोको न घातें किन्तु जीवके शरीरादिक तथा इष्टानिष्ट पदार्थोंका संयोग वियोगादिक करे उनको अघातिकर्म कहते है। घातिकर्मोंके चार भेद है—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय और ४ अन्तराय। ज्ञानको घाते उसको ज्ञानावरण कहते है। दर्शनको घाते उसको दर्शनावरण कहते है। जो वीर्यगुणको घाते उसको अन्तराय कर्म कहते है। मोहनीय कर्मके दो भेद है—एक दर्शनमोहनीय, दूसरा चारित्रमोहनीय। सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शनगुणको जो कर्म घाते उसको दर्शनमोहनीय कहते है। जो कर्म चारित्रगुण को घाते उसको चारित्र-मोहनीय कहते हैं। घाति कर्मोंमे घातनेकी शक्ति दो प्रकारकी है—एक सामान्य शक्ति और दूसरी विशेषशक्ति। विशेष शक्तियोसे तो उपर्युक्त अनुसार भिन्न २ गुणोको घातते है परन्तु समस्त ही घातिकर्म अपनी सामान्य शक्तिसे जीवके सुख गुणको घातते हैं। इष्ट तथा अनिष्ट इन्द्रिय विषयोका जो अनुभवन करावे सो साता और असाता दो भेदरूप वेदनीयकर्म है। जिस कर्मके फलसे उच्च तथा नीच कुलमें जन्म हो उसको गोत्रकर्म कहते है। नरक, पशु, मनुष्य और देवोके शरीरमे जो जीवोका अवस्थान करावे उसको आयुकर्म कहते है। शुभ तथा अशुभ शरीरादिक सामग्री जिस कर्मके फलसे हो उसको नामकर्म कहते है। इस प्रकार वेदनीय, गोत्र, आयु और नाम ये चार भेद अघाति कर्मके है। जीवोके शरीर दो प्रकारके है स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म शरीर भी दो प्रकारके हैं तैजस और कार्माण। स्थूल शरीरको कान्ति देनेवाले शरीरको तैजस शरीर कहते है। अष्ट कर्मोंके समूहको कार्माण शरीर कहते है। आहार-वर्गणासे स्थूल शरीर, तैजस वर्गणासे तैजस शरीर और कार्माण वर्गणासे कार्माण शरीर बनता है। मनोवर्गणासे मन और भाषावर्गणासे वचन बनते है। मन, वचन और समस्त शरीर नाम कर्मके फलसे प्राप्त होते हैं। जिन कर्मोंके फलसे इष्ट

पदार्थकी प्राप्ति होती है उनको पुण्यकर्म और जिससे अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है उनको पापकर्म कहते हैं । प्रकृति-बन्ध और प्रदेशबंधका कारण योग है । तथा स्थितिबंध और अनुभागबंधका कारण कषाय है । इन ही चारों प्रकारके बंधके कारणभूत जीवके योगकषायरूप परिणामोंको भावबन्ध कहते हैं । इस प्रकार बंधका कथन समाप्त हुआ ।

नवीन कर्मोंके आगमनको द्रव्यास्रव कहते है । द्रव्यास्रवके दो भेद है—एक ईर्यापथ आस्रव और दूसरा सांपरायिक आस्रव । जो कर्म बन्धके समयमें ही अपना फल देकर आत्मासे जुदे हो जांय उनको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं और जो बन्ध होकर कुछ कालतक जीवके साथ बन्धे रहें उनको साम्परायिक आस्रव कहते है । कषाय विशिष्ट योगसे साम्परायिक आस्रव होता है । किन्तु कषाय रहित केवल शुद्ध योगसे ईर्यापथ आस्रव होता है । कषायके दो भेद हैं, मन्द और तीव्र । मन्द कषायको शुभ परिणाम कहते हैं और तीव्र कषायको अशुभ परिणाम कहते है । शुभ परिणाम विशिष्ट योगको शुभयोग और अशुभ परिणाम विशिष्ट योगको अशुभ योग कहते है । असत्य पदार्थोंके विश्वासको मिथ्यात्व कहते हैं । यह मिथ्यात्वरूप परिणाम भी अशुभ परिणाममें अन्तर्भूत है । शुभ योगसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अशुभ योगसे पापकर्मका आस्रव होता है । इन ही शुभ, अशुभ और शुद्ध योगोको भावास्रव कहते है । योग और कषायोंमें कर्मोंके आस्रव तथा बन्ध इस प्रकार दो कार्योंकी कारणभूत दो शक्ति है । इसलिये इन ही योग और कषायोंको भावास्रव भी कहा है और भावबन्ध भी कहा है । इस प्रकार अनादि सन्तानक्रमसे पूर्वबद्ध कर्मोंके फलसे विकृत परिणामोंको प्राप्त होकर जीव अपने ही अपराधसे आप नवीन कर्मोंका बन्ध करता है । तथा इन ही नवीन बद्धकर्मोंके उदयसे पुनः इसके विकृत परिणाम होते है और उनसे पुनः पुन नवीन नवीन कर्मोंका बन्ध करता हुआ अनादि निधन असार संसारमे पर्यटनकर नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चतुर्गतिके घोर दुःखोंको भोग रहा है । इस जगतको न तो किसी सृष्टिकर्ता ईश्वरने रचा है और न कोई इसकी प्रलय करता है, न जीवोंको किसीने बनाया है और न कोई इससे कर्म कराता है तथा न कोई इस जीवको कर्मोंका फल देनेवाला है । जगत्में न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है और न किसी पदार्थका विनाश होता है । इसलिये समस्त पदार्थ नित्य है । परन्तु समस्त ही पदार्थ प्रतिक्षण एक-एक अवस्थाको त्याग दूसरी-दूसरी अवस्थाको प्राप्त होते रहते है । इसलिये समस्त ही पदार्थ अनित्य है । इन समस्त पदार्थोंके समूहको ही जगत कहते है । समस्त पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक है इसलिये यह जगत भी कथंचित् नित्यानित्यात्मक है । दर्शनमोहनीय कर्मके निमित्तसे भ्रमवश इस जीवने अनेक भ्रमात्मक पदार्थोंका असत्य विश्वास करके किसी पदार्थको इष्ट और किसी पदार्थको अनिष्ट मान रक्खा है । तथा चारित्र-मोहनीय कर्मके वशसे इष्टानिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष करके अनेक कर्मोंके बन्धनसे बद्ध अपनी ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सम्यक्त्व और चारित्र रूप अविनाशी विभूतिको भूला हुआ अनादि कालसे घोर दुःख सहन कर रहा है । इस प्रकार दुःखके कारणका प्रतिपादन कर अब आगे इन दुःखोंसे मुक्त होनेके उपायका वर्णन किया जाता है ।

जिस प्रकार खानिमेसे सुवर्ण अनेक पदार्थोंसे मिश्रित अशुद्ध निकलता है और यदि कोई महाशय उस अशुद्ध सुवर्णको शुद्ध करनेका उपाय करे तो वह सुवर्ण शुद्ध हो जाता है । उस ही प्रकार इस जीव द्रव्यको भी यदि कोई शुद्ध करनेका उपाय करे तो यह जीव भी शुद्ध हो सकता है । जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होती है उस कारणके अभाव-में उस कार्यकी उत्पत्तिका भी अभाव हो जाता है । इसलिए जिन कारणोंसे नवीन नवीन कर्मोका आस्रव होता है उन कारणोंके प्रतिपक्षी पदार्थोंकी उपासना करनेसे आस्रवके कारणोंका अभाव हो जावेगा और कारणके अभावसे नवीन आस्रव-का भी अभाव हो जावेगा । इस नवीन आस्रवके रुकनेको द्रव्यसंवर और जीवके जिन भावोंसे यह द्रव्यसंवर हो आत्माके उन भावोंको भावसंवर कहते है । बन्धके कारणभूत जीवके परिणामोसे विपक्षी परिणामोंकी आराधना करनेसे बंधे हुए कर्म आत्मासे जुदे हो जाते है । बंधे हुए कर्मोंके इस प्रकार आत्मासे जुदे होनेको द्रव्यनिर्जरा कहते है और जिन भावोसे वह द्रव्यनिर्जरा हो जीवके उन भावोंको भावनिर्जरा कहते है । जब नवीन कर्मोका तो आस्रव नही होगा और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो जायगी तो आत्मासे सब कर्म जुदे होनेके सबबसे आत्मा शुद्ध हो जायगा और आत्माकी इस शुद्ध अवस्थाको ही मोक्ष कहते है । मोक्षमे आत्मासे सब कर्म जुदे हो गये, इसलिये कर्मजनित विकार भी आत्मासे दूर हो गये । ये विकार ही नवीन बन्धके कारण है, इसलिए मोक्ष होनेके बाद ये पुनः कर्म मलसे लिप्त नही होते । ज्ञानावरण कर्मके अभावसे अनन्तज्ञान, दर्शनावरण कर्मके अभावसे अनन्त दर्शन, अन्तरायके अभावसे अनन्तवीर्य, दर्शनमोहनीयके अभावसे शुद्ध सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयके अभावसे शुद्ध चारित्र और समस्त घातिकर्मोंके अभावसे अनन्त सुख इस प्रकारसे घातिकर्मोंके अभावसे आत्माके छहो गुणोंका निर्विकार प्रादुर्भाव हो जाता है । तथा वेदनीय कर्मके निमित्तसे संसारमे आकुलता होती थी परन्तु अब वेदनीय कर्मके अभावसे निराकुल अर्थात् अव्याबाध हो जाता है । गोत्रकर्मके निमित्तसे उच्च

नीच कुलमें जन्म लेकर उच्च नीच कहलाता था। परन्तु अब गोत्रकर्मके अभावसे अनुच्चनीच अर्थात् अगुरु लघु हो जाता है। नामकर्मके निमित्तसे शरीरादिकसे बद्ध होनेके कारण यह जीव मूर्त अवस्थाको प्राप्त हो रहा था किन्तु अब नाम कर्मके अभावसे अमूर्त अर्थात सूक्ष्म हो जाता है। आयुकर्मके निमित्तसे संसारमे रुक रहा था किन्तु अब आयुकर्मके अभावसे स्वतन्त्र अवगाहरूप होकर अपने ऊर्द्धगमन स्वभावसे जिस स्थानपर कर्मोंसे मुक्त होता है उस स्थानसे सीधा पवनके झकोरों-रहित अग्निकी तरह ऊर्द्धगमन करता है। जहाँ तक गमनसहकारी धर्मद्रव्यका सद्भाव है वहाँ तक गमन करता है। आगे धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे अलोकाकाशमे गमन नही होता, इस कारण समस्त मुक्त जीव लोकके शिखरपर विराजमान रहते है। यद्यपि यथार्थमे आत्मा लोकाकाश प्रमाण है परन्तु संकोच-विस्तारशक्ति युक्त होनेसे कर्मके निमित्तसे छोटा-बडा जैसा शरीर पाता था उतना ही बडा-छोटा दीपप्रकाशकी तरह जीवका आकार होता था। यह संकोच विस्तार कर्मके निमित्तसे होता था, परन्तु अब कर्मका अभाव हो गया है, इसलिये संकोच विस्तार भी नही होता है। उस ही शरीर प्रमाण ( किंचिदून ) जीवका आकार रहता है। यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि जब जीव मोक्षसे लौटकर तो आते नहीं तथा नवीन जीव उत्पन्न होते नही और मोक्ष जानेका सिलसिला हमेशा जारी रहता है तो एक दिन संसारके सब जीव मोक्षको चले जायगे और संसार खाली हो जायगा। उत्तरमे निवेदन है कि जीवराशि अक्षय अनन्त है इसलिये इसका कभी अंत नही आवेगा। जिस प्रकार आकाशद्रव्य सर्वव्यापी अनन्त है तो किसी एक दिशामे बिना मुडे निरन्तर यदि कोई गमन करता चला जाय तो कभी भी उसका अंत नही आता है अन्यथा सर्वव्यापित्वके अभावका प्रसंग आवेगा। अथवा जैसे कोई मुरगीकी उत्पत्ति अंडेके बिना नही होती और अंडेकी उत्पत्ति मुरगीके बिना नही होती है। उपर्युक्त मुरगीकी भूतकालकी संतानमे यदि मुरगी और अंडोकी गणना की जाय तो इस मुरगीकी संतान परंपरामे नवीन वृद्धि तो होती नही है क्योकि मुरगी बिना अंडा दिये मरगई। जितनी २ भूत संततिरूप मुरगी अंडोकी गणना करते जाते है उतनी २ कमी हो जाती है। अब यहाँ पूछा जाता है कि इस प्रकार गणना करते २ कभी मुरगी अंडोंकी संतान संख्याका अंत आ जायगा या नही? यदि आजायगा तो अंतिम मुरगी या अंडा बिना अंडे या मुरगीके उत्पन्न हुआ मानना पडेगा और ऐसा माननेसे कार्यकारणभावके भंगका प्रसंग आवेगा। और यदि कहोगे कि कभी भी अंत नही आवेगा तो जीवोका भी मोक्ष जाते २ कभी भी अंत नही आवेगा। यदि कोई महाशय यह शंका करे कि मोक्षमे जितने जीव पहुँचे है वे सब संसारसे गये है इस लिये पहले किसी दिन मोक्षस्थान शून्य होगा। उत्तरमे निवेदन है कि यदि मोक्षका जाना किसी खास कालसे प्रारम्भ होता तो अवश्य किसी समय मोक्षस्थान शून्य होनेका प्रसंग आता परन्तु मोक्षका होना, अनादिकालसे जारी है इसलिये मोक्षस्थानमे शून्यताका प्रसंग नही आता है। जिस प्रकार प्रत्येक चावलकी उत्पत्ति धानका छिलका उतरनेसे होती है परन्तु संसारमे ऐसा कोई समय नही था कि जब संसारमे चावल नही थे, क्योकि चावलोकी उत्पत्ति अनादि कालसे जारी है। उस ही प्रकार मुक्ति होनेका सिलसिला भी अनादि कालसे जारी होनेके सबबसे मोक्षस्थान कभी भी शून्य नही था। इस प्रकार मोक्षतत्वका स्वरूप निर्विवाद सिद्ध हुआ। ऐसी अविनाशी अनन्तसुखरूप मुक्ति आत्माके जिन भावोंकी उपासना करनेसे प्राप्त हो आत्माके उन्ही भावोको सार्वधर्म कहते हैं। ये भाव न तो किसी तीर्थमें है और है न किसी मन्दिर या प्रतिमामें। किन्तु ये भाव आपकी आत्मामें ही है उनको ढूढनेके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नही है। यदि आप अपना कल्याण चाहते है तो आप बिना किसी पराधीनताके स्वतः हो अपने हो भावस्वरूप सार्वधर्मकी उपासना करेंगे आप अपना कल्याण कर सकते है। अब आगे इस ही सार्वधर्मका कुछ विशेष स्वरूप लिखा जाता है।

अपनी स्थिति पूरी करके कर्मोंके फल देनेका उदय कहते है। जिस समय कर्म सत्तामें तो होय, लेकिन फल न देने होय, उसको उपशम कहते है। कर्मकी आत्यन्तिक निवृत्तिको क्षय कहते है। घातिकर्मके दो भेद है—सर्वघाति और देशघाति। जो प्रतिपक्षी गुणको पूर्णरूपसे घाते उसको सर्वघाति कहते है। और जो प्रतिपक्षी गुणके एकदेशको घातै उसको देशघाति कहते है। एक समयमें उदय आने योग्य कर्मपरमाणुओके समूहको निषेक कहते है। वर्तमान निषेकमें सर्वघाति स्कन्धोका उदय, क्षय ( बिना फल दिये निर्जरा ) और देशघाति स्कन्धोका उदय तथा वर्तमान निषेकको छोडकर ऊपरके ( आगामी समयोमें उदय आने योग्य ) निषेकोका सदवस्थारूप उपशम, कर्मकी ऐसी अवस्थाको क्षयोपशम कहते है। समस्त कर्मोंका राजा मोहनीय कर्म है। इस ही कर्मके उदयसे यह जीव संसारमे भ्रमण कर रहा है और इस ही कर्मके नाश करनेसे यह जीव मोक्षको प्राप्त होता है। मोहनीय कर्मके दो भेद है। एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयको मिथ्यात्व भी कहते है। इस मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीवका सम्यग्दर्शन गुण विकार भावको प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन गुणकी इस विकृत अवस्थाको मिथ्यादर्शन कहते हैं। जब तक मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है तब तक यह जीव अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव नही कर सकता और मोक्षमार्गसे बिल्कुल दूर

तथा विषयभोगोंकी अन्तरंग तृष्णा इसका पिण्ड नहीं छोड़ती। जैसे दाहज्वर पीड़ित मनुष्य वैद्यके उपदेशसे जलपानको दुखदाई जान नहीं पीता है। परन्तु जलकी तृष्णाने अभी तक उसका पिण्ड नहीं छोड़ा है। इस ही प्रकार मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टि जीव सद्‌गुरुके उपदेशसे विषय भोगोंको नरक पशुगतिके घोर दु:खोंका कारण जान उनके आसेवनका त्यागकर देता है। परन्तु अन्तरंगमें विषयभोगकी तृष्णामे अलिप्त नहीं है। परन्तु जिन जीवोंके सम्यग्‌दर्शनका प्रादुर्भाव हो जाता है ऐसे सम्यग्‌दृष्टि जीव जलकी तृष्णारहित निरोगी पुरुषकी तरह विषयभोगोंकी तृष्णासे बिल्कुल अलिप्त रहते है। सम्यक्त्वके बिना चाहे जितना तपश्चरण करो तो भी संसारसे मुक्त नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान है और चारित्र मिथ्याचारित्र है। जिन जीवोंके एक बार भी सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव हो जाता है वे नियमसे थोड़े ही कालमे अवश्य मोक्षको जाते है। इस गुणका स्वरूप सूक्ष्म है, इसका स्वरूप अस्मदादि नहीं जान सकते। जैसे जन्मान्ध पुरुषके ज्ञानका साधन न होनेके सबबसे रूपको नही जान सकता। इस ही प्रकार अस्मदादि भी सम्यक्त्वको नही जान सकते। यह सम्यक्त्व गुण प्रत्यक्ष ज्ञानी ऋषियोके ज्ञानके गोचर है स्थूल ज्ञान और शब्दोके गोचर नहीं है। जैसे जन्मान्धोको हरे और पीले आमका ज्ञान उस हरे और पीले गुणसे अविनाभावी गंधके द्वारा कराया जाता है उस ही प्रकार हम स्थूल ज्ञानियोके समझानेके लिये श्रीगुरुदेवने सम्यक्त्वसे अविनाभावी शुद्धात्मानुभूतिको ही उपचारसे सम्यक्त्व बताया है। तथा उपचारसे ही शुद्धात्मानुभूति करके सहित तत्वार्थश्रद्धान तथा रुचि और प्रतीतिको भी सम्यक्त्व कहा है। चारित्रमोहनीय कर्म उसको कहते है जो आत्माके चारित्र गुणको घात। चारित्रगुणके दो भेद हैं—एक स्वरूपाचरणचरित्र और दूसरा संयमाचरणचरित्र। पर पदार्थमें इष्टानिष्टत्व निवृत्ति पूवक निजस्वरूपमें प्रवृत्तिको स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं हिंसादि पापोसे तथा क्रोधादिक कषायोंसे निवृत्तिपूवक आत्माके विशद तथा उदासीन भावको संयमाचरणचारित्र कहते है। संयमाचरणचारित्रके तीन भेद हैं अर्थात्, १. देशचारित्र, २. सकलचारित्र, ३. और यथाख्यातचारित्र। हिंसादिक पापोंके एक देशत्यागको देशचारित्र कहते है। हिंसादिक पापोंके पूर्णरूपसे त्यागका सकलचारित्र कहते है। और सूक्ष्म कषायोंके भी अभावको यथाख्यात चारित्र कहते है। सम्यग्‌दर्शन सहित ज्ञानको सम्यग्‌ज्ञान कहते है तथा सम्यग्‌ज्ञानपूवक चारित्रको सम्यक्‌चारित्र कहते हैं। चारित्रमोहनीय कर्मके दो भेद है एक कषाय और दूसरा नोकषाय। कषायके चार भेद है। १. अनन्तानुबन्धी, २. अप्रत्याख्यान, ३. प्रत्याख्यान और ४. संज्वलन। और इन चारोंमेसे प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभकी अपेक्षासे चार चार भेद है। इस प्रकार कषायके सोलह भेद है। नोकषायके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्रका घातते हैं। अप्रत्याख्यान क्रोधादिक देशचारित्रको घातते हैं। तथा संज्वलन और नोकषाय यथाख्यातचारित्रको घातते है। इस प्रकार इसी मोहनीय कर्मके निमित्तसे यह जीव इस संसारमे घोर दु:ख सहन कर रहा है। मोक्षमें उन दु:खोंका नितान्त अभाव है और अविनाशी अनन्त सुख है। उस मोक्षकी प्राप्तिका उपाय धर्म है। उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट सम्यग्‌दर्शन सम्यग्‌ज्ञान, सम्यग्‌चारित्रकी एकताको ही धर्म कहते हैं। तथा इन्हीं तीनों-को रत्नत्रय कहते है। इस रत्नत्रयकी पूर्णता होनेपर तत्काल मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यह रत्नत्रय एकदम पूर्ण नही होता है परन्तु क्रमसे पूर्ण होता है। ज्यों ज्यों रत्नत्रयकी मात्रा बढती जाती है त्यों त्यों यह जीव मोक्षके निकट पहुँचता जाता है। इस रत्नत्रयके तारतम्य (हीनाधिकता) की अपेक्षासे चौदह स्थान हैं। इन ही चौदह स्थानोंको अन्वर्थसंज्ञासे चौदह गुणस्थान कहते हैं। जब तक इस जीवके सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव नही होता और दर्शन मोहनीयरूप मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है तब तक इस जीवके मिथ्यात्वसंज्ञक प्रथम गुणस्थान रहता है। एकेन्द्रीसे लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रीपर्यन्त मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। संज्ञीपंचेन्द्रीके समस्त गुणस्थान होते है। यह मिथ्यादृष्टि यथार्थ पदार्थका श्रद्धान नही करता किन्तु कपोलकल्पित मिथ्या पदार्थोंका श्रद्धान करता है। काललब्धि आनेपर कोई जीव सद्‌गुरुके उपदेशको पाकर अपने विशुद्ध परिणामोंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व इन पाँचप्रकृतियोंका उपशम कर उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। इन उपशम सम्यक्त्व परिणामोंसे सत्तामे स्थित मिथ्यात्वकर्मके तीन खण्ड हो जाते है। कुछ परमाणुओंकी अनुभागशक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वे सम्यक्त्वको मूलसे घात तो कर नहीं सकते किन्तु उसमें शंकादिक मल उत्पन्न करते है। इन परमाणुओंके समूहको सम्यक् प्रकृति कहते है। कुछ परमाणुओकी शक्ति ऐसी क्षीण हो जाती है कि जिसके उदयसे जीवके परिणाम न तो सम्यक्त्व रूप ही होते हैं और न मिथ्या रूप ही होते है किन्तु मिश्ररूप होते है। और ऐसे पर-माणुओंके समूहको मिश्र प्रकृति कहते हैं। उपशम सम्यक्त्वके अंतर्मुहूर्त कालमें कुछ थोड़ासा काल शेष रहनेपर यदि अनं-तानुबंधीकी किसी एक प्रकृतिका उदय आ जाय और मिथ्यात्व का उदय नही आया होवे तो अनंतानुबंधीके उदयसे सम्य-क्त्वका तो घात हो गया किन्तु मिथ्यात्वका उदय नहीं आया इसलिये मिथ्यादृष्टी भी नही हुआ। ऐसे जीवके सासादन

संज्ञक दूसरा गुणस्थान होता है। जिस जीवके मिश्र प्रकृतिका उदय होता है उसके मिश्रसंज्ञक तीसरा गुणस्थान होता है। जिस जीवके सम्यक्प्रकृतिका तो उदय हो और मिथ्यात्व मिश्र तथा अणंतानुबंधी क्रोधादिक चार इस प्रकार छः प्रकृतियोका उपशम हो तो उस समय जीवके वेदक सम्यक्त्व होता है। तथा कोई जीव सातो प्रकृतियोका क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व अर्थात् उपशम वेदक क्षायिक जिसके हो वे जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते है। जिन सम्यग्दृष्टियोके चारित्र नही हो उनके अविरत सम्यग्दृष्टि संज्ञक चौथा गुणस्थान होता है। चौथे गुणस्थानतक चारित्र नही होता है इसलिये ये चारो ही गुणस्थानवाले जीव अव्रती होते है। चौथे गुणस्थान तथा पंचमादि समस्त गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टी होते है। उपशम और वेदक ये दो सम्यक्त्व सातवे गुणस्थान तक ही होती है आगे केवल द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्वही होता है। जिन सम्यग्दृष्टियोके देशचारित्र होता है उनके देशविरतसंज्ञक पंचमगुणस्थान होता है। देव और नारकीके आदिके चार गुणस्थान होते हैं। पशुओके आदिके पाँच गुणस्थान होते हैं। आगेके गुणस्थान केवल साधुओंके ही होते है। पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थके ग्यारह भेद है। जहाँ निर्दोष सम्यक्त्व और अष्टमूल गुणका पालन हो उसका पहिला भेद दर्शनप्रतिमा कहते हैं। मद्य त्याग १. मासत्याग २. मधु त्याग ३. पंचउदम्बरफल त्याग ४ रात्रिभोजन त्याग ५. जीवदयापालन ६ जल छानकर पीना ७. और अपने इष्टदेवकी-उपासना करना ८. ये आठ मूलगुण है। सप्तव्यसनका त्यागी भी इन ही अष्टमूल गुणोमे गर्भित है। सप्तव्यसन इस प्रकार है जुआ खेलना १, मासभक्षण २, मदिरापान ३, वेश्यासेवन ४, शिकार खेलना ५, चोरी करना ६, परस्त्रीगमन ७,। गृहस्थोके नित्यके षट्कर्म इस प्रकार है। देवपूजा १. गुरूसेवा २ धर्मशास्त्रोका पढना पढाना ३. इन्द्रियोके विषयोका त्याग तथा त्रसस्थावर जीवोकी रक्षा करना ४ उपवासादिक शक्तिअनुसार तपश्चरण ५. और स्वपरोपकारक दान ६.। बारह व्रतोके निर्दोष पालनेको दूसरी व्रत प्रतिमा कहते है। बारह व्रतोके नाम इस प्रकार है—संकल्पी त्रसहिंसाका त्याग १. स्थूल असत्यका त्याग २ स्थूल चोरीका त्याग ३. स्वदारसन्तोष ४ परिग्रह ( धनधान्यादिक ) का प्रमाण ५. दशोदिशाओमे गमनक्षेत्रकी मर्यादा ६ प्रतिदिवस गमनक्षेत्रकी अन्तर्मर्यादा ७ व्यर्थ स्थावर हिंसादिका त्याग ८. उचित भोगोपभोगका प्रमाण करना ९. सामायिक—कुछ कालके वास्ते सर्व जीवोसे साम्यभाव धारणकर ध्यानारूढ होना। १०. पर्वतिथियोमे उपवासादिक करना ११ पात्रोका भक्तिपूर्वक दान देना १२। नित्य प्रति त्रिकाल सामायिक करनेको सामायिक संज्ञक तीसरी प्रतिमा कहते है। पर्व तिथियोमे नियम पूर्वक जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदरूप शक्त्यनुसार उपवासादिक करनेको प्रोषधोपवास संज्ञक चतुर्थ प्रतिमा कहते है। कच्चा जल, वनस्पति आदिक सचित्त ( जीवसहित ) पदार्थोके खानेके त्यागको सचित्तत्याग नामक पञ्चम प्रतिमा कहते है। दिवा मैथुन त्यागका षष्ठम प्रतिमा कहते है। स्वस्त्री अर्थात् स्त्रीमात्रके संसर्गके त्यागको ब्रह्मचर्य्य संज्ञक सप्तम प्रतिमा कहते है। हिंसाके कारणभूत कृषिवाणिज्यादिक आरम्भोके त्यागको आरम्भत्याग संज्ञक अष्टम प्रतिमा कहते है। गृहस्थाश्रमका भार पुत्रोको सौंपकर सब धनधान्यादिक परिग्रहसे ममत्व त्याग किंचित् कालपर्यन्त गृहमे ही निवासकर धर्म सेवनका परिग्रहत्याग संज्ञक नवमी प्रतिमा कहते है। गृहत्याग चैत्यालय तथा धर्मशालामे निवासकर धर्म सेवन करने तथा भोजनके समय किसी सद्गृहस्थके बुला ले जानेपर उनके यहाँ भोजन कर आना, किन्तु पहिलेसे किसीका निमंत्रण नही मानना, इस प्रकारके धर्म सेवनको अनुमति त्याग नामक दशमी प्रतिमा कहते है। गृहवास त्याग वनमे जाकर गुरुदीक्षा लेकर धर्मका सेवन करना, भोजनके लिये किसीके बुलानेसे न जाना किन्तु गृहस्थोने स्वत जो अपने वास्ते आरम्भकर भोजन बनाया हो उसहीका ग्रहण करे, अपने वास्ते बनाये हुए भोजनको ग्रहण नही करना, किन्तु भोजनके समय गृहस्थोके घर जाना और उनका अपना आगमन जनाकर यदि वे भक्तिपूर्वक आहार करावे तो आहार करना, अन्यथा अति शीघ्र वहाँसे लौट जाना और इस ही प्रकारसे जिस गृहस्थके भोजन हो जाय वहाँसे लौटकर वनमे जाय धर्मसेवन करना, इस प्रकार धर्म सेवनके भेदको उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवी प्रतिमा कहते है। ग्यारहवी प्रतिमाके दो भेद है एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। क्षुल्लक लंगोटी और ओढनेके वास्ते एक खडवस्त्र, जिससे शरीर पूर्णरूपसे नही ढक सके, रखते है। किन्तु ऐलक एक लगोटी ही रखते है। ऐलक स्थानादिक संशोधनकेलिये एक मयूरपिच्छका रखते है किन्तु क्षुल्लक मयूरपिच्छका न रखकर अपने खडवस्त्रसे ही स्थान सुशोधन कर लेते है। क्षुल्लक छुरा अथवा कैंचीसे बाल कटवाते है, किन्तु ऐलक अपने हाथोसे ही केशलुंचन करते है। देशव्रत संज्ञक पंचम गुणस्थानके ये ग्यारह भेद हैं। इस गुणस्थानमे अप्रत्याख्यानावरणका कर्मका उपशम रहता है। अप्रत्याख्यानका जबतक किंचित् भी उदय रहता है, तबतक देशव्रत धारण नही कर सकता है। प्रत्याख्यान कर्म यद्यपि मुख्यतासे सकलचारित्रका घातक है तथापि गौणतासे देशचारित्रका भी घातक है। इस ही कारण जबतक प्रत्याख्यानावरण कर्मका तीव्र उदय रहता है, तबतक पहली प्रतिमा होती है। और ज्यों-ज्यों प्रत्याख्यान कर्मका मंद उदय होता जाता है त्यों-त्यों द्वितीयादिक प्रतिमा होती है। ग्यारहवी प्रतिमामे प्रत्याख्यान कर्मका उदय अत्यन्त मंद हो जाता है। इस लिये वह देशव्रत धारनेसे समर्थ नही होता और देशव्रत पूर्ण हो जाता है। प्रत्याख्यान कर्मके उपशमसे तथा संज्वलन और नोकषायके तीव्र उदयसे प्रमत्तविरत संज्ञक छठा गुणस्थान

होता है। और जब संज्वलन और नोकषायका मंद उदय होता है तब अप्रमत्तविरत सातवाँ गुणस्थान होता है। षष्ठम आदि ऊपरके सब गुणस्थान मुनि अवस्थामें होते हैं। मुनि अवस्थामें हिंसादिक पंच पापोंके सर्वथा त्यागसे मुनिके पंच महाव्रत होते हैं। मुनि जहाँतक हो सके मन वचन कायके योगोंकी निवृत्तिरूप गुप्तिधर्मका पालन करते हैं। जब गुप्तिधर्म पालनमें असमर्थ होते हैं तब पंच समितिरूप प्रवृत्ति करते हैं। गमन करते समय जूड़ा प्रमाण भूमिको शोधकर गमन करनेको ईर्यापथसमिति कहते हैं। विवेक पूर्वक हित मित वचन बोलनेको भाषासमिति कहते हैं। निर्दोष आहार ग्रहण करनेको एषणासमिति कहते है। देखभालकर पुस्तक पिच्छका कमंडलुको धरने उठानेको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। भूमि संशोधनकर मलमूत्र निक्षेपणको व्युत्सर्गसमिति कहते है। वे मुनि इन्द्रिय विषयोंसे उपेक्षित होकर सदा काल ज्ञान, ध्यान और तपश्चरणमें लीन रहते हैं। आहारके वास्ते किसीसे याचना नहीं करते। भोजनके समय गृहस्थोंके घर जहाँ तक किसीको जानेकी मनाही नहीं है वहाँतक जाते है। बिजलीके चमत्कारवत् दर्शन देकर यदि किसीने भक्तिपूर्वक भोजनार्थ तिष्ठनेके लिये प्रार्थना नहीं की तो तत्काल वापिस लौट जाते हैं। दिनमें केवल एक बार ही एक स्थानमें खड़े हो अन्न जलका ग्रहण करते हैं। समस्त पदार्थोंसे ममत्व रहित केवल शरीरमात्र परिग्रहसहित नग्न दिगम्बर मुद्राके धारण करते हुए बिना सवारी पाँव पैदल अनेक देशोंमें बिहार करते हुए भव्य जीवोंको धर्मोपदेश दे स्वपर कल्याण करते है। शरीरसे ममत्व न होनेके कारण अनेक रोग आनेपर भी रोगका इलाज नहीं करते। पैरमें काँटा लग जाय तो उसको भी नहीं निकालते। पत्थर सुवर्णको समान समझते है, स्तुति तथा निन्दा करनेवालों-को समदृष्टिसे देखते है, शत्रु और मित्र जिनके समान हैं। यदि कोई दुष्ट आकर उनको कष्ट देवे तो समभाव धारण करके ध्यानमें लीन हो जाते है। और जबतक वह उपसर्ग दूर नहो हो तबतक उस स्थानसे नहीं उठते। केशलुंचन अपने हाथोंसे करते है। दन्तधावन तथा स्नानकी तरफ जिनका कभी उपयोग ही नही जाता। ध्यानमें ही जिनका समस्त काल व्यतीत होता है। कदाचित् निद्राकी बाधा होने पर भूमिपर किंचित् कालके लिये शयनकर पुनः ज्ञान ध्यानमें लीन हो जाते है। नाना प्रकारके परीषहोंको समभावोंसे सहन करते हुए उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य ब्रह्मचर्य दशविध धर्मोंका सेवन करते रहते हैं। वैराग्य भावनाओंका चिन्तवन करते हुए अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग कायोत्सर्ग, ध्यान आदिक तपश्चरणमें लीन रहते है। ऐसे मुनियोंके जबतक संज्वलन और नोकषायका तीव्र उदय रहता है तबतक वे मलजनक प्रमादके सद्भावमें प्रमत्तसंज्ञक छठे गुणस्थानमें रहते है। जब संज्वलन और नोकषायका मन्द उदय होता है तब वह मन्द उदय प्रमाद उत्पादन करनेमें समर्थ नही होता इसलिये उस समय उनके अप्रमत्त संज्ञक सप्तम गुणस्थान होता है। इस सप्तम गुणस्थान तक जीवके जो कषाय होते है उनको यह स्वयं अनुभव कर सकता है इसलिये इन कषायोको बुद्धिपूर्वक कषाय कहते है। आठवें, नवें और दशवें अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर कषाय ऐसे सूक्ष्म हो जाते है कि जिनको यह आत्मा स्वयं अनुभव नहीं कर सकता इसलिये इन कषायोंको अबु-द्धिपूर्वक कषाय कहते हैं। सातवें गुणस्थानसे आगे दो मार्ग है अर्थात् उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशम अर्थात् प्रथमो-पशम तथा वेदकसम्यक्त्वका सद्भाव सातवें गुणस्थानसे आगे नहीं है। आगे चढनेवाला जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको छोड़कर वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कर्मको जो कि सत्तामें है अप्रत्याख्यानादिक अन्य कर्मरूप परिणमा देता है। और दर्शन-मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम कर या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है या क्षय करके क्षायिक सम्यग्-दृष्टि हो जाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दोनों श्रेणी चढ सकता है किन्तु द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टी क्षपक श्रेणी नहीं चढ सकता। जिस जीवके परिणाम कम विशुद्ध होते है वे चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंका क्षय नहीं कर सकते किन्तु उपशम करते है। आठवें गुणस्थानसे उपशमका प्रारम्भ होकर दशवें गुणस्थानके अन्तपर्यन्त २१ प्रकृतियोंका उपशम कर चुकते है। चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे यथाख्यात चारित्रका प्रादुर्भाव होता है और तब इस जीवके उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान होता है। जब उपशमका काल व्यतीत हो जाता है तब चारित्र-मोहनीय कर्मके उदयसे ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर नीचेके गुणस्थानोंमें आ जाता है। किन्तु क्षपकश्रेणीवाला जीव आठवें गुणस्थानके प्रारम्भसे चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंको क्षय करनेका प्रारम्भ करके दशवें गुणस्थानमें चारित्रमोह-नीयकी २१ प्रकृतियोंका क्षय कर चुकता हैं। और तब इसके यथाख्यात संयमका प्रादुर्भाव होता है और उस समय इस जीवके क्षीणमोह संज्ञक बारहवाँ गुणस्थान होता है। आठवेंसे लगाकर बारहवें गुणस्थान तक ध्यानारूढ अवस्था होती है। बारहवें गुणस्थानके अन्तमें शेष तीन घातिकर्मोका भी नाश करके सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है। इस गुणस्थानमें चारों जाति कर्मोके अभावसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र ये आत्माके छहों गुण प्रगट हो जाते है। संसारके समस्त त्रिकालवर्ती चराचर पदार्थोंको युगपत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानते

हैं, इस कारण सर्वज्ञ हैं। राग द्वेष, मोह, काम, क्रोधादिक कषायोंसे रहित हैं इसलिये वीतराग हैं। नामकर्मका उदय विद्यमान हैं इसलिये आहार वर्गणाके ग्रहणसे शरीर तथा भाषा वर्गणाके ग्रहणसे दिव्यध्वन्यात्मक शब्दके सद्भावसे वक्तृत्व गुणविशिष्ट हैं। नामकर्मके उत्तरभेद स्वरूप प्रशस्त विहायोगतिके उदयसे अनेक देशोंमें विहार करते हैं। थोड़े काल पीछे नियमसे मोक्षको जांयगे तथा आयुकर्मके उदयसे वर्तमान कालमें जीवित हैं इसलिये जीवनमुक्त हैं। आत्माके समस्त गुण पराकाष्ठा-को पहुँच गये हैं तथा शरीर करके सहित हैं इसलिये सकल परमात्मा हैं। समस्त गृहस्थ तथा साधुओं करि पूज्य हैं इस-लिये अर्हन् हैं। परम विभूतिकर सहित हैं इसलिये परमेश्वर हैं। मोक्षमार्गके विधायक हैं इसलिये विधाता हैं। यह ही सहस्रनामविशिष्ट जीवनमुक्त परमात्मा अनेक देशोंमे विहार करते हुए भव्यजीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देकर अपने गुण-स्थानके अन्तमें योग निरोधकर अयोगकेवली संज्ञक चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त होकर इस गुणस्थानके अन्तमें अघाति कर्मोंका भी नाशकरके अपने उर्द्धगति स्वभावसे लोकशिखरको प्राप्त होकर मोक्षसे पाणिग्रहण कर स्वानुभूतिरूप निज परिणतिमें लीन हुए सदाके लिये अनन्तकाल पर्यन्त परमानन्दस्वरूप सुखसागरमें निमग्न रहते हैं। इस समस्त कथनका सारांश इस प्रकार है। यद्यपि इस संसारमें जड, चेतन और उनके अन्तर्भेदोंकी अपेक्षासे अनेक पदार्थ हैं। परन्तु शुद्धात्मतत्वरूप परब्रह्म-के सिवाय सब ही हेय हैं। केवल परब्रह्म ही उपादेय है दूसरा कोई भी उपादेय नहीं है; इसलिये उपादेयताकी अपेक्षासे परब्रह्म अद्वितीय है। संसारमे यह जीवात्मा अष्ट कर्मरूप मायामें लिप्त होता हुआ संसारमें घोर दुःख भोग रहा है। जब अष्ट कर्मरूप मायासे अलिप्त हो जाता है तब यह जीव लोकशिखरपर विराजमान अनेक शुद्धात्माओंके समूहरूप परब्रह्ममें एक क्षेत्रावगाहस्थितिरूप तल्लीन हो जाता है। इसलिये शुद्धात्मस्वरूप जीव और अनन्त शुद्धात्माओंके समूहरूप परब्रह्ममें अंश-अंशी सम्बन्ध है।

जीव और मायाके सम्बन्धका हेतु मिथ्यात्व रागद्वेषादिक भाव स्वरूप भ्रम है। इस भ्रमके नाश हानेसे ही यह जीव मायासे अलिप्त होकर परब्रह्ममें मिल जाता है। इस रागद्वेषादिक भावोंके अभावको ही अहिंसा कहते है। इसलिये सार्वधर्म अहिंसा स्वरूप है। भ्रमात्मक ज्ञानके निमित्तसे आदिके दो गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा हैं। क्योंकि उन्होंने बाह्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धि मान रक्खी है। तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव मिश्रात्मा हैं। चौथेसे लगाकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्तवाले जीव अन्तरात्मा हैं, क्योंकि ये निजात्मामें ही आत्मबुद्धि मान अपनी आत्माको परमात्मा बनानेके उपायमे निमग्न हो गये हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव सकल परमात्मा हैं। यह जीव बहिरात्मपदमें मग्न हुआ परमें आपा मान अनादि कालसे इस असार संसारमें घोर दुःखोंको सहन करता हुआ परिभ्रमण कर रहा है। भ्रमबुद्धिके मिटनेसे आपमें आपा मान परपदार्थोंसे रागद्वेष त्याग सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रस्वरूप रत्नत्रयात्मक सार्वधर्मका आराधन करनेसे यह जीव पर-मात्मपदको प्राप्तकर मोक्षधाममे अविनाशी अनन्त सुखको भोगता हुआ सदा आनन्दसागरमें मग्न रहेगा। इसकारण सत्य खोजी आत्मकल्याणाभिलाषी निष्पक्ष महाशय इस छोटेसे निबंधमेसे सार्वधर्मको आराधनासे उपादेय तत्वको ग्रहणकर अपनी आत्माके हितमें प्रवृत्ति करेंगे। इस निबंधमें अज्ञान तथा प्रमादवश यदि कोई शब्द आपके चित्तको आघात पहुँचाने-वाला लिखा गया हो तो मैं उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। आशा है कि आप अपनी उदारशीलतासे क्षमा प्रदान करेंगे।

# जैन जागरफी

•

## [ प्रथम भाग ]

### दोहा

वन्दौं श्री महावीर जिन, भक्ति भाव उरधार।
तीन लोक विवरण लिखूं, अल्पबुद्धि हितकार ॥

## पाठ १

### लोक

लोककी ऊँचाई चौदह राजू, मोटाई ( उत्तर और दक्षिण दिशामें ) सर्वत्र सात राजू और पूर्व और पश्चिम दिशामे चौड़ाई मूलमे सात राजू, सात राजूकी ऊंचाई पर एक राजू, साढ़े दश राजूकी ऊँचाई पर पाँच राजू और अन्तमे एक राजू है। गणित करनेसे लोकका क्षेत्रफल ३४३ घन राजू होता है, भावार्थ—समस्त लोकके एक-एक राजू लम्बे चौड़े और मोटे खण्ड करनेसे ३४३ खण्ड होते हैं। यह लोक सब तरफसे तीन वात ( पवन ) वलयोंसे वेष्टित है। भावार्थः—लोक घनोदधिवातवलयसे, घनोदधि घनवातवलयसे और घन तनुवातवलयसे वेष्टित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है। उसको दूसरे आश्रयकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। घनोदधिवातवलयका वर्ण मूंगके सदृश, घनवातवलयका वर्ण गोमूत्रके सदृश और तनुवातवलयका वर्ण अव्यक्त है। इस लोकके बिलकुल बीचमें एक राजू चौड़ी, एक राजू लम्बी और चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है। भावार्थ—त्रसजीव ( द्वीन्द्रियादिक ) त्रसनाडीमें ही होते है। त्रसनाड़ीके बाहर[1] त्रसजीव नहीं होते।

इस लोकके तीन भाग है, १. अधोलोक २. मध्यलोक और ३. ऊर्द्ध्वलोक। मूलसे सात राजूकी ऊँचाई तक अधोलोक है, सुमेरुपर्वतकी ऊँचाई ( एक लाख चालीस योजन ) के समान मध्यलोक है और सुमेरुपर्वतसे ऊपर अर्थात् एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्द्ध्वलोक है। अब प्रथम ही अधोलोकका वर्णन किया जाता है।

## पाठ २

### अधोलोक

नीचेसे लगाकर मेरुकी जड पर्यन्त सात राजू ऊँचा अधोलोक है। जिस पृथ्वीपर अस्मदादिक निवास करते हैं, उस पृथ्वीका नाम चित्रा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्यलोकमें गिनी जाती है। सुमेरु पर्वतकी जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वीके भीतर है तथा निन्यानबै हजार योजन चित्रा पृथ्वीके ऊपर है और चालीस योजनकी चूलिका है। सब मिलकर एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। मेरुकी जड़के नीचेसे अधो-लोकका प्रारम्भ है। सबसे प्रथम मेरुपर्वतकी आधारभूत रत्नप्रभा पृथ्वी है। इस पृथ्वीका पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दिशामें लोकके अन्त पर्यन्त विस्तार है, और इस ही प्रकार शेष छह पृथ्वियोंका भी पूर्व पश्चिम और उत्तर

---

१. जिस समय त्रसनाडीके बाहरसे स्थावर जीव स्थावर शरीरको छोड़कर त्रसनाडीमें त्रसशरीर धारण करनेके लिये विग्रहगतिमें होता है, उस समय तथा त्रसनाडीमेंसे त्रसनाडीके बाहर उपजनेवाले जीवके मारणान्तिक समुद्घात करते समय और कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण केवलि समुद्घातके समय त्रसनाडीके बाहर भी त्रसजीव होते हैं।

दक्षिण दिशाओंमें लोकके अन्तपर्यन्त विस्तार है। मोटाईका प्रमाण सबका भिन्न-भिन्न है। रत्नप्रभा पृथ्वीकी मोटाई एकलाख ८० हजार योजन है। रत्नप्रभा पृथ्वीके नीचे पृथ्वीको आधारभूत घनोदधि, घन और तनुवातवलय[1] है। तनुवातवलयके नीचे कुछ दूर तक केवल आकाश है। आगे चलकर शर्कराप्रभानामक दूसरी पृथ्वी है, जिसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। मेरुकी जड़से शर्कराप्रभापृथ्वीके अन्त तक एक राजू है, जिसमेंसे दोनों पृथ्वियोंकी मोटाई दो लाख बारह हजार योजन घटानेसे दोनों पृथिवियोंका अन्तर निकलता है। शर्कराप्रभाके नीचे कुछ दूरतक केवल आकाश है, जिसके आगे अट्ठाईस हजार योजन मोटी वालुकाप्रभा तीसरी पृथ्वी है। दूसरी पृथ्वीके अन्तसे तीसरी पृथ्वीके अन्ततक एक राजू है। इस ही प्रकार आगे भी है। अर्थात् तीसरीके अन्तसे चौथीके अन्त तक, चौथीके अन्तसे पाँचवीके अन्त तक पाँचवीके अन्तसे छठीके अन्ततक और छठीके अन्तसे सातवीके अन्ततक एक-एक राजू है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी २४००० योजन मोटी, पाँचवी धूमप्रभा २०००० योजन मोटी, छठी तमप्रभा १६००० योजन मोटी और सातवी महातमःप्रभा ८००० योजन मोटी है। सातवी पृथ्वीके नीचे एक राजू प्रमाण आकाश निगोदादिक जीवोंसे भरा हुआ है। वहाँ कोई पृथ्वी नहीं है। इन सातों पृथ्वियोंके क्रमसे घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये भी अनादि-प्रसिद्ध नाम है।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—१ खरभाग, २ पंकभाग और ३ अब्बहुलभाग। खरभागकी मोटाई १६००० योजन, पंकभागकी मोटाई ८४००० योजन और अब्बहुलभागकी मोटाई ८०००० योजन है।

जीवोंके दो भेद है—संसारी और मुक्त। जिनमेंसे मुक्तजीव लोकके शिखरपर निवास करते है और संसारी जीवोंका निवासक्षेत्र समस्त लोक है। संसारी जीवोंके चार भेद हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी। देवोंके चार भेद हैं—१ भवनवासी, २ व्यन्तर ३ ज्योतिषी, ४ और वैमानिक। भवनवासियोंके दश भेद है—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार ९ द्वीपकुमार, और १० दिक्कुमार। व्यन्तरोंके आठ भेद हैं—१ किन्नर, २ किंपुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत, और ८ पिशाच। पहली पृथ्वीके खरभागमें असुरकुमारको छोड़कर शेष नव प्रकारके भवनवासी देव तथा राक्षसभेदको छोड़कर शेष सप्त प्रकारके व्यन्तरदेव निवास करते हैं। पंकभागमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवास स्थान हैं अब्बहुलभाग तथा शेषकी छह पृथिवियोंमें नारकियोंका निवास है।

नारकियोंकी निवासरूप सातों पृथिवियोंमें भूमिमें तलघरोंकी तरह ४९ पटल है। भावार्थ—पहली पृथ्वीके अब्बहुल भागमें १३, दूसरी पृथ्वीमें ११, तीसरी पृथ्वीमें ९, चौथीमें ७ पाँचवीमें ५, छठीमें ३ और सातवी पृथ्वीमें एक पटल है। ये पटल इन भूमियोंके ऊपर नीचेके एक-एक हजार योजन छोड़कर समान अन्तरपर स्थित है। अब्बहुल भागके १३ पटलोंमेंसे पहले पटलका नाम सीमंतक पटल है। इस सीमंतक पटलमें सबके मध्यमें मनुष्य लोकके समान ४५ लक्ष योजन चौड़ा गोल (कूपवत्) इन्द्रकबिल (नरक) है। चारों दिशाओंमें असंख्यात योजन चौड़े उनचास २ श्रेणिबद्ध-नरक है और चारों विदिशाओंमें अड़तालीस २ असंख्यात योजन चौड़े श्रेणिबद्धनरक है और दिशा विदिशाओंके बीचमें प्रकीर्णक (फुटकर) नरक है। जिनमें कोई असंख्यात योजन चौड़े है और कोई संख्यात योजन चौड़े है। प्रत्येक पटल प्रति श्रेणिबद्धनरकोंकी संख्यामें एक-एक कमती होता जाता है। और अन्तके उनचासवें पटलमें चारों दिशाओंमें एक-एक श्रेणीबद्धनरक है तथा विदिशाओंमें एक भी श्रेणीबद्धनरक नहीं है और न कोई प्रकीर्णक नरक है। प्रथम पृथ्वीके अब्बहुलभागमें तीस लाख नरक है, दूसरी पृथ्वीमें पच्चीस लाख, तीसरी पृथ्वीमें पंद्रह लाख, चौथी पृथ्वीमें दश लाख, पाँचवी पृथ्वीमें तीन लाख, छठी पृथ्वीमें पाँच कम एक लाख और सातवी पृथ्वीमें पाँच नरक है। सातों पृथिवियोंके इन्द्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक नरकोंका जोड़ चौरासी लाख है। इन ही नरकोंमें नारकी जीवोंका निवास है।

पहली पृथ्वीके पहले पटलमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है, द्वितीयादिक पटलोंमें क्रमसे वृद्धि होकर पहली पृथ्वीके तेरहवे पटलमें सात धनुष और सवा तीन हाथकी ऊँचाई है। पहली पृथ्वीमें जो उत्कृष्ट ऊँचाई है, उससे किंचित् अधिक दूसरी पृथ्वीके नारकियोंकी जघन्य ऊँचाई है। इस ही प्रकार द्वितीयादिक पृथिवियोंमें जो उत्कृष्ट उत्सेध (ऊंचाई) है, वही किंचित् अधिक सहित तृतीयादिक पृथिवियोंमें जघन्य देहोत्सेध (शरीरकी ऊँचाई) है। पहली पृथ्वीके अन्तिम इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट उत्सेध है, द्वितीय पृथ्वीके अन्तिम इन्द्रकमें उससे दुगना उत्सेध है और इस ही क्रमसे दुगना करते-करते सातवी पृथ्वीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष है। पहली पृथ्वीमें नारकियोंकी जघन्य आयु दशहजार वर्षकी है। उत्कृष्ट आयु एक सागर है। प्रथमादिक पृथिवियोंमें जो जघन्य आयु है, वही किंचित्

१ इस ही प्रकार शेष छह पृथ्वियोंके नीचे बीस २ हजार योजन मोटे तीन वातवलय समझना।

अधिक सहित द्वितीयादिक पृथिवियोंमें उत्कृष्ट आयु है। द्वितीयादिक पृथिवियोंमें क्रमसे तीन, सात, दश, सत्रह, बावीस और तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है।

नारकी मरण करके नरक और देवगतिमें नहीं उपजते, किन्तु मनुष्य और तिर्यंच गतिमें ही उपजते हैं और इस ही प्रकार मनुष्य और तिर्यंच ही मर कर नरकगतिमें उपजते हैं। देवगतिमे मरण करके कोई जीव नरकमें उत्पन्न नही होते। असंज्ञी पंचेन्द्री (मनरहित) जीव मरकर पहले नरक तक ही जाते है आगे नही जाते। सरीसृप जातिके जीव दूसरी पृथ्वी तक ही जाते है, पक्षी तीसरे नरक तक ही जाते है, सर्प चौथे नरक तक ही जाते है, सिंह पाँचवें नरक तक ही जाते है, स्त्री छटे नरक तक ही जाती है, और कर्म-भूमिके मनुष्य और मत्स्य सातवें नरक तक जाते है। भोगभूमिके जीव नरकको नही जाते, किन्तु देव ही होते है। यदि कोई जीव निरन्तर नरकको जाय, तो पहले नरक मे आठ-बार तक, दूसरे नरकमे सातबार तक, तीसरे नरकमे छहवार तक, चौथे नरकमे पाँचवार तक, पाँचवे नरकमे चारवार तक छटे नरकमे तीनवार तक, और सातवे नरकमे दोवार तक, निरन्तर जा सकता है, अधिक वार नही जा सकता। किन्तु जो जीव सातवे नरकसे आया है, उसको सातवें अथवा किसी और नरकमे अवश्य जाना पडता है ऐसा नियम है। सातवे नरकसे निकलकर मनुष्यगति नही पाता, किन्तु तिर्यंचगतिमे अव्रती ही उपजता है। छटे नरकसे निकले हुए जीव सयम (मुनिका चरित्र) धारण नही कर सकते। पाँचवे नरकसे निकले हुए जीव मोक्षको नही जा सकते। चौथी पृथ्वीमे निकले हुए तीर्थंकर नही होते, किन्तु पहले, दूसरे और तीसरे नरकसे निकले हुए तीर्थंकर हो सकते है। नरकसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्त्ती नही होते।

पापके उदयमे यह जीव नरकगतिमे उपजता है, जहाँ कि नानाप्रकारके भयानक तीव्र दु:खोको भोगता है। पहली चार पृथ्वी तथा पाँचवीके तृतीयाश नरकोमे (बिलोम) उष्णताकी तीव्रवेदना है तथा नीचेके नरकोमे शीतकी तीव्रवेदना है। तीसरी पृथ्वीपयन्त असुरकुमार जातिके देव आकर नारकियोको परस्पर लडाते है। नारकियोका शरीर अनेक रोगोसे सदा ग्रसित रहता है, और परिणामोमे नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकोकी पृथ्वी महादुर्गन्ध और अनेक उपद्रव सहित हाती है, नारकी जीवोमे परस्पर जाति विरोध होता है। परस्पर एक दूसरेको नाना प्रकारके भयानक घोर दु:ख देते है। छेदन भेदन ताडन मारण आदि नाना प्रकारकी घोर वेदनाओंको भोगते हुए निरन्तर दुस्सह दु:खका अनुभव करते रहते हैं। कोई किसीको कोल्हूम पेलता है, कोई गरम लोहेकी पुतलीसे आलिंगन कराता है तथा वज्राग्निम पचाता है, अथवा पीबके कुण्डमे पटकता है। बहुत कहनेसे क्या, नरकके एक समयके दु:खको सहस्र जिह्वा-वाला भी वर्णन नही कर सकता। नरकमे समस्त कारण क्षेत्रस्वभावसे ही दु:खदायक होते है। एक दूसरेको देखते ही कुपित हो जाते है। जो अन्य भवमे मित्र था, वह भी नरकमे शत्रुभावको प्राप्त होता है। जितनी जिसकी आयु है उसको उतने काल पर्यंत ये सब दु:ख भोगने ही पडते है। क्योकि नरकमे अकालमृत्यु नही है। जिस जीवने नरक आयुकी जितनी स्थिति बाधी है, उतने वर्ष पर्यन्त उसको नरकमे रहना ही पडता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि, जिस जीवने आगामी भवकी नरक आयु बाधी है उस जीवके वर्त्तमान (मनुष्य या तिर्यंच) भवमे नरकायुकी स्थिति हीनाधिक हो सकती है, किन्तु नरक आयुकी स्थिति उदय आनेके पीछे हीनाधिक नही हो सकती। महापापोंके सेवन करनेसे यह जीव नरकको जाता है, जहाँ चिरकाल पर्यन्त घोर दु:ख भोगने पडते है। इसलिये जो महाशय इन नरको के घोर दु:खोंसे भयभीत हुए हों, वे जुआ, चोरी, मद्य, माँस, वेश्या, परस्त्री तथा शिकार आदिक महापापोंको दूरहीसे छोड देवें। अब आगे संक्षेपमे मध्यलोकका कथन करते है।

# पाठ ३

## मध्यलोक

अधोलोकके ऊपर एक राजू लम्बा एक राजू चौडा और एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। इस मध्यलोकके बिल्कुल बीचमे गोलाकार एक लक्ष योजन व्यासवाला जम्बूद्वीपको खाईकी तरह वेढे हुए गोलाकार लवणसमुद्र है। इस लवणसमुद्रकी चौडाई सर्वत्र दो लक्ष योजन है। पुन: लवणसमुद्रको चारो तरफसे वेढे हुए गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप है, जिसकी चौडाई सर्वत्र चार लक्ष योजन है। धातकीखण्डको चारों तरफसे वेढे हुए आठ लक्ष योजन चौडा कालो-दधि समुद्र है। तथा कालोदधि समुद्रको चारो तरफसे वेढे हुए सोलह लक्ष योजन चौडा पुष्करद्वीप है। इसही प्रकारसे दूने दूने विस्तारको लिये परस्पर एक दूसरेको वेढे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र है। अन्तमे स्वयंभूरमण समुद्र है। चारो कोनोमे

पृथ्वी है। पुष्करद्वीपके बीचोंबीच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे पुष्करद्वीपके दो भाग हो गये है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध इस प्रकार ढाई द्वीपमे मनुष्य रहते है, ढाई द्वीपके बाहर मनुष्य नहीं हैं। तथा तिर्यंच समस्त मध्यलोकमें निवास करते हैं। स्थावर जीव समस्त लोकमे भरे हुए है। जलचर जीव लवणोदधि कालोदधि और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रोंमें ही होते है अन्य समुद्रोंमे नही।

जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन चौडा गोलाकार है। इस जम्बूद्वीपमें पूर्व और पश्चिम दिशामें लम्बायमान दोनों तरफ पूर्व और पश्चिम समुद्रको स्पर्श करते हुए १. हिमवत्, २. महाहिमवन्, ३. निषध, ४. नील, ५. रुक्मि, और ६. शिखरी, इस प्रकार छह कुलाचल (पर्वत) हैं। इन कुलाचलोंके निमित्तसे सात भाग हो गये हैं। दक्षिण दिशाके प्रथमभागका नाम भरतक्षेत्र, द्वितीय भागका नाम हैमवत और तृतीय भागका नाम हरिक्षेत्र है। इसही प्रकार उत्तर दिशाके प्रथम भागका नाम ऐरावत, द्वितीय भागका नाम हैरण्यवत और तृतीय भागका नाम रम्यकक्षेत्र है। मध्य भागका नाम विदेहक्षेत्र है। भरतक्षेत्रकी चौडाई ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है अर्थात् जम्बूद्वीपकी चौडाईके एक लक्ष योजनके १९० भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है। हिमवत् पर्वतकी चौडाई दो भाग प्रमाण, हैमवतक्षेत्रकी चार भाग प्रमाण, महाहिमवत् पर्वतकी आठ भाग प्रमाण, हरिक्षेत्रकी १६ भाग प्रमाण और निषध पर्वतकी ३२ भाग प्रमाण है। सब मिलकर ६३ भाग प्रमाण हुए। तथा इसही प्रकार उत्तर दिशामे ऐरावत क्षेत्रसे लगाकर नीलपर्वततक ६३ भाग हैं। सब मिलकर १२६ भाग हुए। तथा मध्यका विदेहक्षेत्र ६४ भाग प्रमाण है। ये सब भाग मिलकर जम्बूद्वीपको चौड़ाई १९० भाग अथवा एक लक्ष योजन प्रमाण होती है।

हिमवन् पर्वतकी ऊँचाई १०० योजन, महाहिमवन्की २०० योजन, निषधकी ४००, नीलकी ४००, रुक्मीकी २००, और शिखरीकी ऊँचाई १०० योजन है। इन सब कुलाचलोंकी चौडाई ऊपर नीचे मध्यमें समान है। इन कुलाचलोंके पसवाडोंमे अनेक प्रकारकी मणियाँ है। ये हिमवदादिक छहों पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चाँदी, तपे हुए सुवर्ण, वैडूर्य, चाँदी और सुवर्णके वर्ण वाले हैं। इन हिमवदादि छहो कुलाचलोके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक संज्ञक छह कुण्ड है। इन पद्मादिक कुण्डोकी क्रमसे लम्बाई १०००।२०००।४०००।४०००।२००० और १००० योजन है। चौडाई ५००।१०००।२०००।२०००।१००० और ५०० योजन है। गहराई १०।२०।४०।४०।२० और १० योजन है। इन पद्मादिक सब कुण्डोंमे एक एक पार्थिव कमल है, जिनकी ऊँचाई तथा चौडाई १।२।४।४।२ और १ योजन प्रमाण है। इन कमलोंमे पल्योपम आयुवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी जातिकी देवियाँ सामानिक और परिषद् जातिके देवोंसहित क्रमसे निवास करती है।

इन भरतादि सात क्षेत्रोंमे एक-एक मे दो-दोके क्रमसे गंगा सिन्धु, रोहित् रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, सीता सीतोदा, नारी नरकान्ता, सुवर्णकूला रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये १४ चौदह नदी है। इन सात युगलोमेसे गंगादिक पहली २ नदियाँ पूर्वसमुद्रमे और सिन्ध्वादिक पिछली २ नदियाँ पश्चिमसमुद्रमे प्रवेश करती है। गंगा, सिन्धु रोहितास्या ये तीन नदी पद्मकुण्डमेसे निकली है। रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला पुण्डरीककुण्डमेसे निकली है। शेष चार कुण्डोमेसे शेष आठ नदियाँ निकली हैं, अर्थात् एक २ कुण्डमेसे एक २ पूर्वगामिनी और एक २ पश्चिमगामिनी इस प्रकार दो २ नदियाँ निकली है। गंगा सिन्धु इन दो महानदियोका परिवार चौदह २ हजार क्षुल्लक नदियोका है। रोहित् रोहितास्याका प्रत्येकका परिवार अट्ठाईस २ हजार नदियाँ है। इसही प्रकार सीता सीतोदा पर्यन्त दूना २ और आगे आधा-आधा परिवार नदियोंका प्रमाण है। विदेहक्षेत्रके बीचोबीच सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वतकी एक हजार योजन भूमिमे जड़ है। तथा निन्यानवे हजार योजन भूमिके ऊपर ऊँचाई है और चालीस योजनकी चूलिका है। यह सुमेरुपर्वत गोलाकार भूमिपर दश हजार योजन चौडा तथा ऊपर एक हजार योजन चौडा है। सुमेरुपर्वतके चारोतरफ भूमिपर भद्रशाल वन है। यह भद्रशालवन पूर्व और पश्चिमदिशामे बावीस २ हजार योजन और उत्तर दक्षिणदिशामे ढाई २ सौ योजन चौड़ा है। पृथ्वीसे पाँचसौ योजन ऊँचा चलकर सुमेरुकी चारो तरफ प्रथम कटनीपर पाँचसौ योजन चौडा नन्दनवन है। नन्दनवनसे बासठ हजार पाँचसौ योजन ऊंचा चलकर सुमेरुकी चारों तरफ द्वितीय कटनीपर पाँचसौ योजन चौडा सौमनसवन है। सौमनसवनसे छत्तीस हजार योजन ऊँचा चलकर सुमेरुके चारों तरफ तीसरी कटनीपर चारसौ चौरानवे योजन चौडा पाण्डुकवन है। मेरुकी चारो विदिशाओंमे चार गजदन्त पर्वत है। दक्षिण और उत्तर भद्रशाल तथा निषध और नीलपर्वतके बीचमें देवकुरु और उत्तरकुरु है। मेरुकी पूर्वदिशामे पूर्वविदेह और पश्चिम दिशामे पश्चिम विदेह है। पूर्वविदेहके बीचमें होकर सीता और पश्चिमविदेहमे होकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिमसमुद्रको गई है। इस प्रकार दोनों नदियोंके दक्षिण और उत्तर तटकी अपेक्षामे विदेहके चार भाग है। इन चारों भागोंमेंसे प्रत्येक भागमे आठ-आठ देश हैं। इन आठ देशोंका

विभाग करनेवाले वक्षारपर्वत तथा विभंगा नदी हैं। भावार्थ—१. पूर्वभद्रशालवनकी वेदी, २. वक्षार, ३. विभंगा, ४. वक्षार, ५. विभंगा, ६. वक्षार, ७. विभंगा, ८. वक्षार, ९. और देवारण्यवनकी वेदी इस प्रकार नव सीमाओंके बीचमें आठ-आठ देश हैं। इस प्रकार विदेहक्षेत्रमें ३२ देश हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें विजयार्द्ध पर्वत है। इन पर्वतोंमें दो दो गुफा हैं, जिसमें होकर गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा नदी निकली हैं। इस प्रकार भरत और ऐरावतके छह छह खण्ड हो गये हैं। इनमेंसे एक एक आर्यखण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छखण्ड हैं।

जम्बूद्वीपसे दूनी रचना धातुकीखंड और पुष्करार्धद्वीपमें है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि धातुकीखण्ड और पुष्करार्द्ध इन दोनों द्वीपोंकी उत्तर और दक्षिण दिशाओंमें दो-दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिससे इन दोनों द्वीपोंके दो खण्ड हो गये हैं। इन दोनों द्वीपोंकी पूर्व और पश्चिम दिशामें दो-दो मेरु हैं अर्थात् दो मेरु धातुकीखण्डमें और दो मेरु पुष्करार्द्धमें हैं। जिसप्रकार क्षेत्र, कुलाचल, द्रह, कमल और नदी आदिकका कथन जम्बूद्वीपमें है, उतना ही उतना प्रत्येक मेरुका समझना। भावार्थः—जम्बूद्वीपसे दूनी रचना धातुकीखण्डकी और धातुकीखंडके समान रचना पुष्करार्द्धकी है। इनकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदिकका कथन विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखा है। जिन्हे सविस्तर जाननेकी इच्छा होय, उन्हें त्रैलोक्यसार ग्रन्थसे जानना चाहिये।

मनुष्यलोकके भीतर पंद्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमि हैं। भावार्थः—एक-एक मेरुसंबंधी भरत, ऐरावत तथा देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर विदेह इसप्रकार तीन तीन तो कर्मभूमि और हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत ये छह-छह भोगभूमि हैं। पाँचों मेरुकी मिलकर १५ कर्मभूमि और ३० भोगभूमि हैं। जहाँ असि, मसि, कृष्यादि षटकर्मकी प्रवृत्ति हो, उसको कर्मभूमि कहते हैं और जहाँ कल्पवृक्षोंद्वारा भोगोंकी प्राप्ति हो, उसको भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमिके तीन भेद हैं–१ उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें जघन्य भोगभूमि हैं। हरि और रम्यक क्षेत्रोंमें मध्यमभोगभूमि और देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्यलोकसे बाहर सर्वत्र जघन्य भोग-भूमिकीसी रचना है किन्तु अन्तिमस्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्द्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें तथा चारों कोनोंकी पृथिवियोंमें कर्मभूमिकीसी रचना है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भोगभूमिमें नहीं होते। अर्थात् पंद्रह कर्मभूमि और उत्तरार्द्ध अन्तिम द्वीप तथा समस्त अन्तिम समुद्रमें ही विकलत्रय जीव हैं। तथा समस्त द्वीपसमुद्रोंमें भी भवनवासी और व्यंतरदेव निवास करते हैं।

यद्यपि कल्पकालका कथन कालाधिकारमें करना चाहिये था, परन्तु कर्मभूमि और भोगभूमिसे उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इस कारण प्रसङ्गवश यहाँ कुछ कल्पकालका कथन किया जाता है। बीस कोड़ाकोडी अद्धासागरके समयोंके समूहको कल्प कहते हैं। कल्पकालके दो भेद हैं—एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों ही कालोंका प्रमाण दश-दश कोडाकोड़ी सागरका है। अवसर्पिणीकालके छह भेद हैं, १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादु:षमा, ४ दु:षमासुषमा, ५ दु:षमा और ६ दु:षमादु:षमा। उत्सर्पिणीके भी छह भेद विपरीत क्रमसे हैं। १ दु:षमादु-षमा, २ दु:षमा, ३ दु:षमासुषमा, ४ सुषमादु:षमा, ५ सुषमा, और ६ सुषमासुषमा। सुषमासुषमाका प्रमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर है। सुषमाका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर है। सुषमादु:षमाका प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर है। दु:षमासुषमाका प्रमाण ४२००० वर्ष घाटि एक कोड़ाकोड़ी सागर है। दु:षमाका प्रमाण २१००० वर्ष है, तथा दु:षमादु:षमाका भी प्रमाण २१००० वर्ष है। पाँच मेरुसंबंधी पाँच भरतक्षेत्र तथा पाँच ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके छह-छह कालोंकेद्वारा वहाँ रहनेवाले जीवोंके आयु, शरीर, बल, वैभवादिककी हानि वृद्धि होती है। भावार्थ—अवसर्पिणीके छहों कालोंमें क्रमसे घटते हैं। और उत्सर्पिणीके छहों कालोंमें क्रमसे बढ़ते हैं। अवसर्पिणी कालके प्रथम कालकी आदिमें जीवोंकी आयु तीन पल्य प्रमाण है और अंतमें दो पल्य प्रमाण है। दूसरे कालके आदिमें दो पल्य और अन्तमें एक पल्य प्रमाण है। तीसरे कालके आदिमें एक पल्य और अन्तमें एक कोटि * पूर्ववर्ष प्रमाण है। चतुर्थ कालके आदिमें कोटिपूर्व और अन्तमें १२० वर्ष है। पाँचवें कालके आदिमें १२० वर्ष और अन्तमें २० वर्ष है। छटे कालके आदिमें २० वर्ष और अन्तमें १५ वर्ष है। यह सब कथन उत्कृष्टकी अपेक्षासे है। वर्त्तमानमें कहीं-कहीं एकसौ बीस वर्षसे अधिक आयु भी सुननेमें आती है सो हुँडाव-सर्पिणीके निमित्तसे है। अनेक कल्प काल बीतनेपर एक हुंडाकाल आता है। इस हुंडाकल्पमें कई बातें विशेष होती हैं। जैसे चक्रवर्तीका अपमान, तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म, और शलाका पुरुषोंकी संख्यामें हानि। उसही प्रकार आयुके संबंधमें भी यह हुंडाकृत विशेषता है। पहले कालकी आदिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई तीन कोश, अन्तमें दो कोश है। दूसरेकी

---

* चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है।

आदिमें दो कोश, अंतमें एक कोश है। तीसरेकी आदिमें एक कोश, अंतमें पाँचसौ धनुष है। चौथे कालकी आदिमें पाँचसौ धनुष, अंतमें सात हाथ है। पाँचवेंके आदिमें सात हाथ, अंतमें दो हाथ है। छटेके आदिमें दो हाथ और अन्तमें एक हाथ है। इसही प्रकार बल, वैभवादिका क्रम जानना।

भोगभूमियोंको भोजन वस्त्र आभूषण आदि समस्त भोगोपभोगकी सामग्री दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे मिलती है। भोगभूमिमें पृथ्वी दर्पण समान मणिमयी छोटे-छोटे सुगन्धित तृणसंयुक्त है। भोगभूमिमें माताके गर्भसे युगपत् स्त्रीपुरुषका युगल उत्पन्न होता है। भोगभूमिके बालक ४९ दिनमें क्रमसे यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। भोगभूमिया सदाकाल भोगोंमें आसक्त रहते हैं तथा आयुके अंतमें पुरुष छींक लेकर और स्त्री जभाई लेकर मरणको प्राप्त होते हैं। और उनका शरीर शरत्कालके मेघकी तरह विलुप्त हो जाता है। ये भोगभूमिया सब ही मरणके पश्चात् नियमसे देवगतिको जाते हैं प्रथमकालकी आदिमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। फिर क्रमसे घटकर द्वितीय कालकी आदिमें मध्यम तथा तीसरेकी आदिमें जघन्य भोगभूमि है। पुन. क्रमसे घटकर तीसरेके अंतमें कर्मभूमिका प्रवेश होता है। तीसरे कालमें जब पल्यका आठवाँ भाग बाकी रहता है, तब मनुष्योंमें क्रमसे १४ कुलकर उत्पन्न होते हैं। इन कुलकरोंमें कई जातिस्मरण तथा कई अवधिज्ञान संयुक्त होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंके अनेक प्रकारके भय दूर करके उनको उत्तम शिक्षा देते हैं। चतुर्थकालमें ६३ शलाका (पदवीधारक) पुरुष होते हैं। जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र होते हैं। इन ६३ शलाका पुरुषोंका सविस्तर कथन प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंसे जानना। यहाँ इतना विशेष है कि इस दुर्गम संसारसे मुक्ति इस चतुर्थकालमें ही होती है। चौबीसवें तीर्थंकरके मोक्ष जानेसे ६०५ वर्ष ५ मास पीछे पंचमकालमें शक राजा होता है। इस शक राजाके ३९४ वर्ष ७ मास पीछे कल्की राजा होता है। इस कल्कीकी आयु ७० वर्षकी होती है। जिसमें ४० वर्ष राज्य करता है। तथा धर्मविमुख आचरणमें तल्लीन रहता है। कल्कीका पुत्र धर्मके सन्मुख सदाचारी होता है। इस प्रकार एक एक हजार वर्ष पीछे एक एक कल्की राजा होता है। तथा इतना विशेष जानना कि, मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका चार प्रकार जिनधर्मके संघका सद्भाव पंचमकाल पर्यन्त ही है। भावार्थ—पंचमकालके अन्तमें धर्म अग्नि और राजा इन तीनोंका नाश होकर छठे कालमें मनुष्य पशुकी तरह नग्न धर्मरहित मांसाहारी होते हैं। इस छठे कालमें मरे हुए जीव नरक और तिर्यंच गतिको ही जाते हैं। तथा नरक और तिर्यंच इन दो गतिमेंसे ही मरण करके इस छठे कालमें जन्म लेते हैं। इस छठे कालमें मेघवृष्टि बहुत थोड़ी होती है तथा पृथ्वी रत्नादिक सारवस्तुरहित होती है। और मनुष्य तीव्रकषाययुक्त होते हैं। छठे कालके अन्तमें संवर्तक नामक बड़े जोरका पवन चलता है, जिससे पर्वत वृक्षादिक चूर चूर हो जाते हैं। तथा वहाँ बसनेवाले कुछ जीव मर जाते अथवा कुछ मूर्च्छित हो जाते हैं। उस समय विजयार्ध पर्वत तथा महागंगा और महासिन्धु नदियोंकी वेदियोंके छोटे छोटे बिलोंमें उन वेदी और पर्वतके निकटवासी जीव स्वयमेव प्रवेश करते हैं। अथवा दयावान् देव और विद्याधर मनुष्ययुगल आदिक अनेक जीवोंको उठाकर विजयार्द्ध पर्वतकी गुफादिक निर्बाध स्थानोंमें ले जाते हैं। उस छठे कालके अन्तमें सात सात दिन पर्यन्त क्रमसे १. पवन, २. अत्यन्त शीत, ३. क्षाररस, ४. विष, ५. कठोर अग्नि, ६. धूल, और ७. धुआँ, इस प्रकार ४९ दिनमें सात वृष्टि होती हैं। जिसमें अवशिष्ट मनुष्यादिक जीव नष्ट हो जाते हैं। तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर चूर हो जाती है। इस ही का नाम महाप्रलय है। यहाँ इतना विशेष जानना कि, यह महाप्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके आर्यखण्डोंमें ही होता है अन्यत्र नहीं होता है। अब आगे उत्सर्पिणी कालके प्रवेशका अनुक्रम कहते हैं।

उत्सर्पिणीके दुःषमादुःषमा नामक प्रथम कालमें सबसे पहले सात दिन जलवृष्टि, सात दिन दुग्धवृष्टि, सात दिन घृतवृष्टि और सात दिन तक अमृतवृष्टि होती है। जिससे पृथ्वीमें पहले अग्न्यादिककी वृष्टिसे जो उष्णता हुई थी, वह चली जाती है और पृथ्वी कान्तियुक्त सचिक्कण हो जाती है। जलादिककी वर्षासे नानाप्रकार लता बेलि विविध औषधि तथा गुल्म वृक्षादिक वनस्पति उत्पत्ति तथा वृद्धिको प्राप्त होती है। उस समय पृथ्वीकी शीतलता तथा सुगन्धताके निमित्तसे पहले जो प्राणी विजयार्ध तथा गंगा सिन्धु नदीकी वेदियोंके बिलोंमें पहुँच गये थे, वे इस पृथ्वीपर आकर जहाँ-तहाँ बस जाते हैं। इस कालमें मनुष्य धर्म रहित नग्न रहते हैं। और मत्तिका आदिका आहार करते हैं। इस कालमें जीवोंकी आयु कायादि क्रमसे बढ़ते हैं। उसके पीछे उत्सर्पिणीका दुःषमा नामक दूसरा काल प्रवर्तता है। इस कालमें जब एक हजार वर्ष अवशिष्ट रहते हैं, तब १६ कुलकर होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंको क्षत्रिय आदिक कुलोंके आचार तथा अग्निसे अन्नादिक पकानेका विधान सिखाते हैं। उसके पीछे दुःषमासुषमा नामक तृतीयकाल प्रवर्तता है, जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं। तत्पश्चात् चौथे, पाँचवे और छठे कालमें भोगभूमि है। जिनमें आयु. कायादिक क्रमसे बढ़ते जाते हैं। भावार्थ--अवसर्पिणीके १।२।३।४।५।६ कालकी रचना उत्सर्पिणीके ६।५।४।३।२।१ कालकी रचनाके समान है। यहाँ

इतना विशेष जानना, कि आयु का यादिककी क्रमसे अवसर्पिणीमें तो हानि होती है और उत्सर्पिणीमें वृद्धि होती है।

देवकुरु और उत्तरकुरुक्षेत्रमें सदाकाल पहले कालकी आदिकी रचना है। दूसरे कालकी आदिकी रचना हरि और रम्यकक्षेत्रमें सदाकाल रहती है। तीसरे कालकी आदिकी रचना हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रमें अवस्थित है। चौथे कालकी आदिकी रचना विदेह क्षेत्रोंमें अवस्थित है। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके पाँच-पाँच म्लेच्छखण्ड तथा विद्याधरोंके निवासभूत विजयार्द्ध पर्वतकी श्रेणियोंमें सदा चौथा काल प्रवर्तता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि, जब आर्यखण्डमे अवसर्पिणीका प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा उत्सर्पिणीका चतुर्थ, पंचम, षष्ठ काल बर्तता है, उससमय यहाँ अवसर्पिणीके चतुर्थकालके आदिकी अथवा उत्सर्पिणीके तृतीय कालके अन्तकी रचना रहती है। तथा जिस समय आर्यखण्डमें अवसर्पिणीके पंचम और षष्ठ तथा उत्सर्पिणीके प्रथम और द्वितीय कालकी रचना है, उस समय यहाँ अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके अन्तकी अथवा उत्सर्पिणीके तृतीय कालके आदिकी रचना है। और आर्यखण्डमे जिस प्रकार क्रमसे हानिवृद्धियुक्त अवसर्पिणीके चतुर्थ अथवा उत्सर्पिणीके तृतीय कालकी रचना है, उसही प्रकार यहाँ भी जानना। आधा स्वयंभूरमण द्वीप तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें और चारों कोनोंकी पृथिवियोंमें पंचमकालके आदिकीसी दुःषमा कालकी रचना है। और इनके सिवाय मनुष्यलोकसे बाहर समस्त द्वीपोंमे तथा कुभोगभूमियोंमे तीसरे कालकी आदिकीसी जघन्य भोगभूमिकी रचना है। लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमें ९६ अन्तर्द्वीप है, जिनमें कुभोगभूमिकी रचना है। पात्रदानके प्रभावसे यह जीव भोगभूमिमे उपजता है। और कुपात्रदानके प्रभावसे कुभोगभूमिमे जाता है। इन कुभोगभूमियोमे एक पल्य आयुके धारक कुमनुष्य निवास करते हैं। इन कुमनुष्योकी आकृति नानाप्रकार है। किसीके केवल एक जंघा है। किसीके पूंछ है। किसीके सींग हैं। कोई गूंगे हैं। किसीके बहुत लम्बे कान है, जो ओढ़नेके काममें आते हैं। किसीके मुख, सिंह, घोड़ा, कुत्ता, भैंसा, बन्दर इत्यादिकके समान है। ये कुमनुष्य वृक्षोंके नीचे तथा पर्वतोंकी गुफाओंमे बसते हैं, और वहाँकी मीठी मिट्टी खाते है, ये कुभोगभूमिया तथा भोगभूमिया मरकर नियमसे देवगतिमे ही उपजते हैं। इस ही मध्यलोकमें ज्योतिष्क देवोंका निवास है, इसलिये प्रसंगवश यहाँ संक्षेपसे ज्योतिष चक्रका वर्णन किया जाता है।

ज्योतिष्क देवोंके सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे इस प्रकार पाँच भेद है। चित्रा पृथ्वीसे ७९० योजन ऊपर तारे है। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्य है। और सूर्योसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमाओंसे चार योजन ऊपर नक्षत्र है। नक्षत्रोंमे चार योजन ऊपर बुध है। बुधोंसे तीन योजन ऊपर शुक्र है। शुक्रसे तीन योजन ऊपर गुरु हैं। गुरुसे तीन योजन ऊपर मंगल है। और मंगल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर है। बुधादिक पाँच ग्रहोंके सिवाय तेरासी ग्रह और हैं, जिनमेंसे राहुके विमानका ध्वजादण्ड चन्द्रमाके विमानसे और केतुके विमानका ध्वजादण्ड सूर्यके विमानसे चार प्रमाणागुल नीचे है। अवशेष इक्यासी ग्रहोंके रहनेकी नगरी बुध और शनिके बीचमें है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, देवगतिके चार भेदोंमेंसे ज्योतिष्क जातिके देव इन ज्योतिष्क विमानोंमे निवास करते है। इस ज्योतिष्क पटलकी मुटाई ऊर्द्ध्व और अधोदिशामें ११० योजन है। और पूर्व तथा पश्चिम दिशाओंमे लोकके अन्तमें घनोदधि वातवलय पर्यन्त है। तथा उत्तर और दक्षिण दिशामें एक राजू प्रमाण है। यहाँ इतना विशेष जानना कि, सुमेरु पर्वतके चारों तरफ ११२१ योजनतक ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव नहीं है। मनुष्यलोकपर्यन्त ज्योतिष्क विमान नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते है। किन्तु जम्बूद्वीपमे ३६, लवणसमुद्रमें १३९, धातुकीखण्डमे १०१०, कालोदधिमें ४११२० और पुष्करार्द्धमे ५३२३० ध्रुव तारे ( गतिरहित ) है और मनुष्यलोकसे बाहर समस्त ज्योतिष्क विमान अवस्थित है। अपना अपनी जातिके ज्योतिष्क विमान समतलमें हैं। अर्थात् उनका ऊपरी भाग आकाशकी एक ही सतहमें है। ऊँचे नही है। किन्तु तिर्यक अन्तर कुछ न कुछ अवश्य है। तारोंमें परस्पर जघन्य अन्तर एक कोशका सातवाँ भाग है। मध्यम अन्तर पचास योजन और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। इन समस्त ज्योतिष्क विमानोंका आकार आधे गोलेके समान है। भावार्थ;—जैसे लोहेके गोलेके समान दो खण्ड करके उनमेसे एक खण्डको इस प्रकारसे स्थापन करें कि गोल भाग तो नीचेकी तरफ हो और समतलभाग ऊपरकी तरफ हो। ठीक ऐसा ही आकार समस्त ज्योतिष्क विमानोंका है। इन विमानोंके ऊपर ज्योतिषी देवोंके नगर बसते हैं। ये नगर अत्यन्त रमणीक और जिन मन्दिर संयुक्त है। अब आगे इन विमानोंकी चौड़ाई और मोटाईका प्रमाण कहते है :—

चन्द्रमाके विमानका व्यास $\frac{56}{61}$ योजन ( एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे छप्पन भाग ) है। सूर्यका विमान $\frac{48}{61}$ योजन चौड़ा है। शुक्रका विमान एक कोश और बृहस्पतिका किंचिदून (कुछ कम) एक कोश चौड़ा है। तथा बुध, मङ्गल और शनिके विमान आध-आध कोश चौड़े है। तारोंके विमान कोई पाव कोश, कोई आधकोश, कोई पौनकोश और कोई एक कोश चौड़े हैं। नक्षत्रोंके विमान एक एक कोश चौड़े हैं। राहु और केतुके विमान किंचिदून एक योजन चौड़े है। समस्त

विमानोंकी मोटाई चौडाईसे आधी-आधी है। सूर्य और चन्द्रमाके बारह बारह हजार किरण हैं। चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं। तथा सूर्यकी किरणें उष्ण हैं। शुक्रकी ढाई हजार प्रकाशमान किरणें हैं। शेष ज्योतिषी मन्दप्रकाशसंयुक्त हैं। चन्द्रमाके विमानका सोलहवाँ भाग कृष्णपक्षमें कृष्णरूप और शुक्लपक्षमें शुक्लरूप प्रतिदिन परिणमन करता है। अथवा अन्य आचार्यों का इस विषयमें ऐसा अभिप्राय है कि चन्द्रमाके विमानके नीचे राहुका विमान गमन करता है। उस राहुके विमानकी इस ही प्रकार गतिविशेष है कि जो कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक कलाका आच्छादन करता है। तथा शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक कलाका उद्भावन करता है। राहुके विमानके निमित्तसे छह मासमें एक बार शुक्ल पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होता है। तथा सूर्यके नीचे चलनेवाले केतु विमानके निमित्तसे छहमासमे एक बार अमावस्याको सूर्यग्रहण होता है। नरलोकमें ज्योतिष्क विमानों-को सिंह, हस्ती, बैल आदिक नाना प्रकारके आकारोंको धारण करनेवाले वाहक देव खींचते हैं। चन्द्रमा और सूर्यके सोलह सोलह हजार वाहक देव हैं। तथा ग्रहोंके आठ आठ हजार, नक्षत्रोंके चार चार हजार और तारोंके दो दो हजार वाहक देव है। नक्षत्रोंकी अवस्थितिमें इतना विशेष है कि अभिजित्, मूल, स्वाती, भरणी और कृतिका ये पाँच नक्षत्र क्रमसे उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः और मध्य इस प्रकार अवस्थितिको धारण करते हुए गमन करते है। चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह इन तीनके बिना समस्त ज्योतिषी एक ही पन्थमें गमन करते हैं। अब आगे ज्योतिष्क विमानोंकी संख्याका निरूपण किया जाता है।

जम्बूद्वीपमें दो, लवणसमुद्रमें चार, धातुकीखण्डमें १२, कालोदधिमें ४२ और पुष्करार्द्धमें ७२ चन्द्रमा हैं। अर्थात् मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमानोंके गमनका अनुक्रम इस प्रकार है कि प्रत्येक द्वीप वा समुद्रके समान दो दो खण्डोमे आधे आधे ज्योतिष्क विमान गमन करते है। अर्थात् जम्बूद्वीपके प्रत्येक भागमें एक एक, लवणसमुद्रके प्रत्येक भागोंमें दो दो, धातुकीखण्डद्वीपके प्रत्येक खण्डमें छह छह, कालोदधिके प्रत्येक खण्डमें इकईस इकईस, और पुष्करार्द्ध-के प्रत्येक खण्डमें छत्तीस छत्तीस चन्द्रमा है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि जम्बूद्वीपमें एक वलय है (इसमें कुछ विशेष है सो आगे कहा जावेगा), लवणसमुद्रमे दो वलय (परिधि) है, धातुकीखण्डमें छह वलय है, कालोदधिमें इकईस वलय है, और पुष्करके पूर्वार्द्धद्वीपमें ३६ वलय है। प्रत्येक वलयमे दो दो चन्द्रमा है। पुष्करद्वीपका उत्तरार्द्ध आठ लक्ष योजनका है इसलिये उसमें आठ वलय है। पुष्करसमुद्र ३२ लक्ष योजनका है, इसलिये उसमें ३२ वलय है। इसही प्रकार आगे आगेके द्वीप वा समुद्रमे वलयोंका प्रमाण दूना दूना है। अर्थात् मनुष्यलोकसे बाहर जो द्वीप वा समुद्र जितने लक्ष योजन चौड़ा है, उसमें उतने ही वलय है। इन समस्त वलयोंमे समान अन्तर है। अर्थात् जिस द्वीप वा समुद्रमें जितने वलय है, उनसे एक कम अन्तरोंका प्रमाण है। तथा अभ्यन्तर वेदीमे प्रथम वलय तक आधा अन्तर और अन्तिम वलयसे बाह्य वेदीतक आधा अन्तर। सब मिलकर अन्तरोंका प्रमाण वलयोंके प्रमाणके समान हुआ। प्रत्येक वलयकी चौडाई चन्द्रमाके व्यासके समान ५६/६१ योजन है। जिसको वलयोंके प्रमाणसे गुणकर, गुणनफलको द्वीप वा समुद्रके व्याससमेंसे घटाकर, शेष बचे उसमें वलयोके प्रमाणका भाग देनेसे वलयोके अन्तरका प्रमाण आता है। इसको आधा करनेसे अभ्यन्तर बाह्यवेदी और प्रथम तथा अन्तिम वलयके अन्तरका प्रमाण होता है। पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धके प्रथम वलयमे १४४ चन्द्रमा है। द्वितीय, तृतीयादिक वलयोंमें चार-चार अधिक है। पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धमें सब वलयोंके चन्द्रमाओंका जोड़ १२६४ होता है। पुष्कर समुद्रके प्रथम वलयमे २८८ चन्द्रमा है। अर्थात् पुष्करके उत्तरार्द्धके वलयमे स्थित चन्द्रमाओंसे दूने है। इसही प्रकार आगे स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त पूर्व-पूर्व द्वीप वा समुद्रके प्रथम वलयस्थित चन्द्रमाओंके प्रमाणसे उत्तर २ द्वीप वा समुद्रके प्रथम वलयस्थित चन्द्रमाओंका प्रमाण दूना है। तथा प्रथम प्रथम वलयोंके चन्द्रमाओंसे द्वितीयादिक वलय स्थित चन्द्रमाओंकी संख्या सर्वत्र चार-चार अधिक है। पुष्करसमुद्रमे ३२ वलय हैं। जिनके समस्त चन्द्रमाओंका जोड़ ११२०० है। इससे अगले द्वीपमें ६४ वलय है, जिनके समस्त चन्द्रमाओंका प्रमाण ४४९२८ है। भावार्थ—पूर्व-पूर्व द्वीप वा समुद्रके चन्द्रमाओंके प्रमाणसे उत्तरोत्तर द्वीप वा समुद्रके चन्द्रमाओंका प्रमाण चौगुना-चौगुना है। परन्तु इतना विशेष जानना कि उत्तरद्वीप वा समुद्रके वलयोंके प्रमाणसे दूना प्रमाण उस चौगुनी संख्यामें मिलना चाहिये। जैसे पूर्वपुष्कर समुद्रके चन्द्रमाओंकी संख्या ११२०० जिसको चौगुना करनेसे ४४८०० हुए, इसमे उत्तरद्वीपके वलयोंके प्रमाण ६४ के दूने १२८ मिलानेसे उत्तरद्वीपके चन्द्रमाओंका प्रमाण ४४९२८ होता है। इसही प्रकार आगे भी सर्वत्र जानना। समस्त द्वीपसमुद्रोंके समस्त चन्द्रमाओका प्रमाण संख्यातसूच्यंगुलसे जगच्छ्रेणीको गुणाकार करनेसे जो गुणनफल हो, उसको जगत्प्रतरमेंसे घटानेसे जो अवशेष रहे, उसमें ६५५३६ को ५२९२०००००००००००००० से गुणाकार करनेसे जो प्रमाण हो, उतने प्रतरागुलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है। प्रत्येक चन्द्रमा (इन्द्र) के साथ एक-एक सूर्य (प्रतीन्द्र) है। अट्ठासी-अट्ठासी ग्रह, अठाईस-अठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौसे पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं। अर्थात् सूर्योंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणके समान है। ग्रहोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाण से ८८ गुणित है। नक्षत्रोंका

प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे २८ गुणित है। और तारोंका प्रमाण चन्द्रमाओंके प्रमाणसे छ्यासठ हजार नौसे पिचहत्तर कोड़ाकोडी गुणित है। अब आगे जम्बूद्वीपमें सूर्य और चन्द्रमाके गमनमें कुछ विशेष है, उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये चारक्षेत्रका वर्णन किया जाता है।

चंद्रमा अथवा सूर्यके गमन करनेकी गलियोंको चारक्षेत्र कहते हैं। समस्त गलियोंके समूहरूप चारक्षेत्रकी चौड़ाई ५१० ४८/६१ योजन है। जिस गलीमें एक चन्द्रमा वा सूर्य गमन करते हैं, उसीमें ठीक उसके सामने दूसरा चन्द्रमा या सूर्य गमन करता है। इस चारक्षेत्रकी ५१० ४८/६१ योजन चौड़ाईमेंसे १८० योजन तो जम्बूद्वीपमें हैं और ३३० ४८/६१ योजन लवणसमुद्रमें हैं। चन्द्रमाके गमन करनेको १५ और सूर्यके गमन करनेकी १८४ गली हैं, जिन सबमें समान अन्तर है। ये दो दो सूर्य वा चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक गलीको छोड़-छोड़कर दूसरी-दूसरी गलीमें गमन करते हैं। जिस दिन सूर्य भीतरी गलीमें गमन करता है, उसदिन १८ मुहूर्त (४८ मिनिटका एक मुहूर्त होता है) का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है। तथा क्रमसे घटते-घटते जिस दिन बाहिरी गलीमें गमन करता है, उस दिन १२ मुहूर्तका दिन और १८ मुहूर्तकी रात्रि होती है। सूर्य कर्कसंक्रान्तिके दिन अभ्यन्तर वीथी (भीतरी गली) में गमन करता है। उसही दिन दक्षिणायनका प्रारम्भ होता है। और मकरसंक्रान्तिके दिन बाह्य वीथीपर गमन करता है। उसही दिन उत्तरायणका प्रारम्भ होता है। प्रथम वीथीसे १८४ वीं वीथीमें आनेमें १८३ दिन लगते हैं। तथा उसही प्रकार अन्तिम वीथीसे प्रथम वीथीपर आनेमें १८३ दिन लगते हैं। दोनों अयनोंके मिले हुए दिन ३६६ होते हैं। इसहीको सूर्यवर्ष कहते हैं। एक सूर्य ६० मुहूर्तमें मेरुकी प्रदक्षिणा पूरी करता है। अथवा मेरुकी प्रदक्षिणारूप आकाशमयपरिधिमें एक लाख नवहजार आठसौ गगनखंडोंकी कल्पना करना चाहिये। इन खंडोंमें गमन करनेवाले ज्योतिषियोंकी गति इस प्रकार हैं, चंद्रमा एक मुहूर्तमें १७६५ खंडोंमें गमन करता है। सूर्य एक मुहूर्तमें १८३० गगनखंडोंको तय करता है। और नक्षत्र एक मुहूर्तमें १८३५ गगनखंडोंको तय करते हैं। चन्द्रमाकी गति सबसे मन्द है, चन्द्रमासे शीघ्रगति सूर्यकी है, सूर्यसे शीघ्रगति ग्रहोंकी है, ग्रहोंसे शीघ्रगति नक्षत्रोंकी है। और नक्षत्रोंसे शीघ्रगति तारोंकी है। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष चक्रका कथन किया। इसका सविस्तर कथन त्रैलोक्यसारसे जानना। इस प्रकार मध्यलोकका संक्षेपसे कथन करके अब आगे ऊर्ध्वलोकका संक्षिप्त निरूपण किया जाता है।

## पाठ ४

## ऊर्ध्वलोक

मेरुसे ऊर्ध्वलोकके अन्त तकके क्षेत्रको ऊर्ध्वलोक कहते हैं। इस ऊर्ध्वलोकके दो भेद हैं, एक कल्प और दूसरा कल्पातीत। जहाँ इंद्रादिककी कल्पना होती है, उनको कल्प कहते हैं और जहाँ यह कल्पना नहीं है, उसे कल्पातीत कहते है। कल्पमें १६ स्वर्ग है—१. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. ब्रह्मोत्तर, ७. लांतव, ८. कापिष्ट, ९. शुक्र, १० महाशुक्र, ११. सतार, १२. सहस्रार, १३. आनत, १४. प्राणत, १५ आरण और १६. अच्युत। इन सोलह स्वर्गोंमेंसे दो-दो स्वर्गोंमेंसे संयुक्त राज्य है। इस कारण सौधर्म ईशान तथा सनत्कुमार माहेन्द्र इत्यादि दो-दो स्वर्गोंका एक-एक युगल है। आदिके दो तथा अन्तके दो, इस प्रकार चार युगलोंमे आठ इन्द्र हैं और मध्यके चार युगलोंके चार ही इन्द्र हैं। इसलिये इन्द्रोंकी अपेक्षासे स्वर्गोंके १२ भेद हैं। सोलह स्वर्गोंके ऊपर कल्पातीतमें तीन अधो ग्रैवेयक, तीन मध्यम ग्रैवेयक, और तीन उपरिम ग्रैवेयक, इसप्रकार नव ग्रैवेयक है। नव ग्रैवेयकके ऊपर नव अनुदिश विमान तथा उनके ऊपर पंच अनुत्तर विमान हैं। इसप्रकार इस ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंका निवास है। सोलह स्वर्गोंमें तो इन्द्र, सामानिक, पारिषद आदि दश प्रकारकी कल्पना है और कल्पातीतमें समस्त देवोंमें स्वामीसेवक व्यवहार नहीं हैं इसलिये सबही अहमिन्द्र हैं। मेरुकी चूलिकासे एक बालके (केशके) अन्तरपर ऋजुविमान है। यहींसे सौधर्म स्वर्गका आरंभ है। मेरुतलसे लगाय डेढ़ राजूकी ऊँचाईपर सौधर्म-ईशान युगलका अन्त है। उसके ऊपर डेढ़ राजूमें सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल है। उससे ऊपर आधे-आधे राजूमें छह युगल हैं। इसप्रकार छह राजूमें आठ युगल हैं। सौधर्म स्वर्गमें ३२ लाख, विमान हैं। ईशानस्वर्गमें २८ लाख, सनत्कुमारमें १२ लाख, माहेन्द्रमें ८ लाख, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयुगलमें ४ लाख, लांतवकापिष्टयुगलमें ५० हजार, शुक्रमहाशुक्रयुगलमें ४० हजार, सतारसहस्रार युगलमें ६ हजार और आनत-प्राणत तथा आरण और अच्युत इन चारों स्वर्गोंमें सब मिलकर ७०० विमान हैं। तीन अधोग्रैवेयकमें १११, तीन मध्यग्रैवेयकमें १०७, और तीन ऊर्ध्वग्रैवेयकमें ९१ विमान हैं। अनुदिशमें ९ और अनुत्तरमें ५ विमान हैं। ये सब विमान ६३ पटलोंमें विभाजित हैं। जिन विमानोंका ऊपरी-

भाग एक समतलमें पाया जाता है, वे विमान एक पटलके कहलाते हैं। प्रत्येक पटलके मध्य विमानको इन्द्रकविमान कहते हैं। चारों दिशाओंमें जो पंक्तिरूप विमान हैं उनको श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। श्रेणियोंके बीचमें जो फुटकर विमान हैं, उनको प्रकीर्णक विमान कहते हैं। प्रथमयुगलमे ३१ पटल हैं, दूसरे युगलमें ७, तीसरेमें ४, चौथेमें २, पाँचवेंमें १, छठेमें १, आनतादि चार कल्पोंमें ६, नवग्रैवेयकमें ९, नवअनुदिशमें १, और पंचानुत्तरमें १ पटल है। इन पटलोंमें असंख्यात २ योजनोंका अन्तर है। इन ६३ पटलोंमें ६३ इन्द्रकविमान हैं, जिनमें पहले इन्द्रकका नाम ऋजुविमान हैं, और अंतके इन्द्रकका नाम सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थसिद्धि विमान लोकके अन्तसे १२ योजन नीचा है। ऋजुविमान ४५ लाख योजन चौड़ा है। द्वितीयादिक इंद्रकोंकी चौडाई क्रमसे घटकर अंतके सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रकविमानकी चौड़ाई एक लक्ष योजन है। प्रथमपटलमें प्रत्येक श्रेणीबद्ध विमानोंकी संख्या बासठ-बासठ है। द्वितियादि पटलोंके श्रेणीबद्ध विमानोंकी संख्यामें क्रमसे एक-एक घटकर बासठवें अनुदिशपटलमें एक-एक श्रेणीबद्ध विमान है। और इसही प्रकार अंतिम अनुत्तरपटलमें भी श्रेणीबद्धोंकी संख्या एक-एक है। समस्त विमानोंकी संख्यामेंसे इंद्रक और श्रेणीबद्ध विमानोंका प्रमाण घटानेसे प्रकीर्णक विमानोंका प्रमाण होता है। प्रथमयुगलके प्रत्येक पटलमें उत्तर दिशाके श्रेणीबद्ध तथा वायव्य और ईशान विदिशाके प्रकीर्णक विमानोंमें उत्तरेन्द्रईशानकी आज्ञा प्रवर्तती है। शेष समस्त विमानोंमें दक्षिणेन्द्र सौधर्मकी आज्ञा प्रवर्तती है। जिन विमानोंमें सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा प्रवर्तती है, उन विमानोंके समूहका नाम सौधर्मस्वर्ग है। और जिन विमानोंमें ईशानेन्द्रकी आज्ञा प्रवर्तती है, उनके समूहको ईशानस्वर्ग कहते हैं। इसही प्रकार दूसरे तथा अतके दो युगलोंमें जानना। मध्यके चार युगलोंमें एक-एक इन्द्रकी ही आज्ञा प्रवर्तती है। पटलोंके ऊर्ध्व अंतरालमें तथा विमानोंके तिर्यक अन्तरालमें आकाश हैं। नरककी तरह बीचमें पृथ्वी नहीं है। समस्त इन्द्रकविमान संख्यात योजन चौड़े हैं। तथा सब श्रेणीबद्ध विमान असख्यात योजन चौड़े हैं। और प्रकीर्णकोंमें कोई संख्यात योजन और कोई असंख्यात योजन चौड़े हैं। प्रथम युगलके विमानोंकी मोटाई ११२१, दूसरेकी १०२२, तीसरेकी ९२३, चौथेकी ८२४, पाँचवेंकी ७२५, छठेकी ६२६, सातवें और आठवेंकी ५२७, तीन अधोग्रैवेयकको ४२८, तीन मध्यम ग्रैवेयककी ३२९, तीन उपरिम ग्रैवेयककी २३० और नव अनुदिश और पंच अनुत्तर विमानोंकी मोटाई १३१ योजन है। प्रथम युगलके अंतिम पटलमें दक्षिण दिशाके अठारहवें श्रेणीबद्ध विमानमें सौधर्मेन्द्र निवास करता है तथा दक्षिण दिशाके १८ वें श्रेणीबद्ध विमानमें ईशानेन्द्र निवास करता है। द्वितीय युगलके अंतिम पटलमें दक्षिण दिशाके १६ वें विमानमें सनत्कुमारेन्द्र तथा उत्तर दिशाके १६ वें विमानमें माहेन्द्र निवास करता है। तृतीय युगलके अंतिम पटलमें दक्षिण दिशाके १४ वें विमानमें ब्रह्मेन्द्र, चतुर्थ युगलके अन्तिम पटलमें उत्तर दिशाके १२ विमानमें लांतवेन्द्र, पाँचवें युगलके अंतिमपटलमें दक्षिण दिशाके दशवें श्रेणीबद्ध विमानमें शुक्रेन्द्र, छठे युगलके अंतिमपटलमें उत्तर दिशाके आठवें श्रेणीबद्ध विमानमे सतारेन्द, तथा सातवे आठवें युगलोंके अंतिमपटलोंमे दक्षिण दिशाओंके छठे-छठे विमानोंमें आनतेन्द्र और आरणेन्द्र, तथा उत्तर दिशाओंके छठे-छठे श्रेणीबद्ध विमानोंमें प्राणत और अच्युत इन्द्र निवास करते हैं। इन समस्त विमानोंके ऊपर अनेक नगर बसते है। इनका सविस्तार कथन त्रैलोक्यसारसे जानना।

लोकके अंतमें एक राजू चौड़ी सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है। उस आठवीं पृथ्वीके बीचमें रूप्यमयी छत्राकार मनुष्यक्षेत्रसमान गोल ४५ लक्ष योजन चौड़ी मध्यमें आठ योजन मोटी (अंततक मोटाई क्रमसे घटती हुई है) सिद्धशिला है। उस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातमें मुक्तजीव विराजमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकका कथन समाप्त हुआ।

इस अधिकारको समाप्त करनेसे पहले इतना विशेष वक्तव्य है कि, आजकल हम लोगोंका निवास मध्यलोकके जम्बूद्वीपसंबंधी दक्षिणदिशावर्ती भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें है। इस आर्यखंडके उत्तरमें विजयार्द्ध पर्वत है। दक्षिणमें लवणसमुद्र, पूर्वमें महागंगा और उत्तरमें महासिन्धु नदी है। भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है। जिसके बिलकुल-बीचमें विजयार्द्धपर्वत पड़ा हुआ है। जिससे भरतक्षेत्रके दो खंड हो गये हैं। तथा महागंगा और महासिन्धु हिमवन् पर्वतसे निकलकर विजयार्द्धकी गुफाओंमें होती हुई पूर्व और पश्चिम समुद्रमें जा मिली हैं, जिनसे भरतक्षेत्रके छह खंड हो गये हैं।

यह सब कथन प्रमाणयोजनसे है। एक प्रमाण योजनवर्तमानके २००० कोशके बराबर है। इससे पाठक समझ सकते है कि, आर्यखंड बहुत लम्बा चौड़ा है। चतुर्थकालकी आदिमें इस आर्यखंडमे उपसागरकी उत्पत्ति होती है। जो क्रमसे चारों तरफको फैलकर आर्यखंडके बहु भागको रोक लेता है। वर्तमानके एशिया, योरोप, अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पाचों महाद्वीप इसही आर्यखडमे हैं। उपसागरने चारों ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तानको ही आर्यखंड नहीं समझना चाहिये। वर्त्तमान गंगा सिंधु महागंगा या महासिंधु नहीं हैं।

●

# जैन सिद्धान्त

**Jain philosophy**

●

आजकल हमारे जैन भाइयोंमें राज्यविद्याका प्रचार अधिक होने लगा है और इसके निमित्तसे लौकिक उन्नतिमें बहुत कुछ सहायता मिलती है, जिसको हम जैन समाजका सौभाग्य समझते हैं। परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि ये विद्यारसिक नवयुवक धर्मविद्यासे प्रायः शून्य रहते है। एक तो इन महाशयोंमें द्वितीय भाषा ( second language ) संस्कृत लेनेकी प्रथा बहुत ही मन्द गतिको प्राप्त हो रही है। दूसरे, कदाचित् किसीने संस्कृत द्वितीय भाषा ग्रहण भी की तो आजकलके सरकारी स्कूलोंमें संस्कृत विद्या इतनी कम पढ़ाई जाती है कि जिसका जैनधर्मके रहस्य दर्शक शास्त्रोंके अवलोकनमें बहुत कम उपयोग होता है और इस प्रकार ये नवयुवक धर्मविद्यासे वंचित रह जाते है। यद्यपि बहुतसे जैन शास्त्रोंका हिन्दी अनुवाद मौजूद है परन्तु एक तो उन ग्रन्थोंकी भाषाशैली प्राचीन है। दूसरे, वे ग्रन्थ एक विषयकी मुख्यताको लेकर हो गये हैं इस कारण उनके अभ्यास करनेमें दूसरे ग्रन्थोंकी अथवा विद्वान् अध्यापककी आवश्यकता रहती है। इसलिये इन महानुभावोंकी वर्तमान जैन ग्रन्थोंके अभ्याससे बहुत ही कम प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसी अवस्थामें इन महाशयोंके वास्ते एक ऐसे निबन्धकी आवश्यकता है जिसकी भाषाशैली वर्तमान ढंगकी हो तथा उसका क्रम इस प्रकार रखा जावे कि जिससे जैन सिद्धान्तोंसे नितान्त अपरिचित भी उस निबन्धको गुरुकी सहायताके बिना सुगमतासे समझ सके। इस ही उद्देश्यसे जैन सिद्धान्तका रहस्य निबन्धके द्वारा पाठकोंको भेंट करनेका विचार है। आशा है पाठक महाशय इस लेखको रुचिपूर्वक बाँचकर हमारे परिश्रमको सफल करेंगे।

संसारमें प्राणीमात्रकी यह इच्छा रहती है कि हमको किसी प्रकार सुखकी प्राप्ति हो। परन्तु अनेक साधन करनेपर भी संसारमें कोई सुखी नहीं दीखता। इससे सिद्ध होता है कि संसारमें सुख नहीं है। यथार्थ सुख मोक्षके सिवाय कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण चारों पुरुषार्थोंमें मोक्षको परम पुरुषार्थ कहा है। उस मोक्षका कारण पूर्वाचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता बताया है।

जो पदार्थ जैसा है उसको 'यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है' इस प्रकार दृढ़ विश्वास ( श्रद्धान ) रूप जीवके परिणामविशेषको सम्यग्दर्शन कहते है। पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य, वस्तु ये सब एकार्थ है। अब जरा ध्यान लगाकर द्रव्यका स्वरूप सुनिये।

## द्रव्यका स्वरूप

जैन सिद्धान्तमे 'सद्द्रव्यलक्षणं' तथा 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस प्रकार द्रव्यको दो लक्षण कहे हैं। इन दोनों लक्षणोंमे परस्परमें विरोध नहीं है। किन्तु अपेक्षा विशेषसे वाक्यान्तर प्रवेश द्वारा दोनों एक ही अभिप्रायके समर्थक है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें कुछ-न-कुछ शक्ति अवश्य होती है। जैसे जलमें तृषानाशक शक्ति, भोजनमें क्षुधानाशक शक्ति और आत्मामें जाननेकी शक्ति है। गुण, स्वभाव, विशेष इत्यादि एकार्थवाची है।

जैसे कि एक आमके फलमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियगोचर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि अनेक गुण देखे जाते है उस ही प्रकार जीव, पुद्गल इत्यादि प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण हैं। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि जैसे एक थैलीमें बहुतसे रुपये है उस ही प्रकार एक द्रव्यमें बहुतसे गुण हैं। क्योंकि जिस प्रकार थैली और रुपये भिन्न-भिन्न है। उस प्रकार गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं। किन्तु जिस प्रकार मूल स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प और फलोंके समुदायको वृक्ष कहते है तथा मूल स्कन्ध आदि वृक्षसे भिन्न पदार्थ नहीं हैं उस ही प्रकार गुणोंका जो समुदाय है वही द्रव्य है गुणोंसे द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। सारांश यह है कि अनन्त शक्तियोंके अविष्वक् ( अभिन्न ) भावको ही द्रव्य कहते हैं। इन गुणोंमेंसे कितने ही गुण ऐसे है जो अनेक द्रव्योंमें एकसे हैं। उनको सामान्य गुण कहते हैं। जैसे सत्त्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व आदि। और कितने ही

गुण ऐसे हैं जो एक ही द्रव्यमें है, इतर द्रव्योमें नही हैं। उनको विशेष गुण कहते हैं। जैसे जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य और पुद्गलके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। जितने क्षेत्रमे एक शक्ति रहती है उतने ही क्षेत्रमें तादात्म्य सम्बन्धसे अपने-अपने स्वरूपको लिये हुए समस्त शक्तियाँ रहती है। इन शक्तियोमेंसे किसी भी शक्तिका कभी नाश नही होता और न एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप परिणमन करती है। इन समस्त शक्तियोंके बन्धानरूप पिण्डको देश कहते हैं। इस देशके अविभागी अंशको देशाश कहते है। अखण्ड देशके इन अविभागी कल्पित अंशोसे द्रव्यके महत्त्व, लघुत्व कायत्व और अकायत्व की प्रतीति होती है। जिस प्रकार अखण्ड आकाशके विष्कम्भमे अंगुल, वितस्ति, हस्त इत्यादि कल्पना की जाती है उस ही प्रकार अखण्ड देशके विष्कम्भमे प्रथम अश, द्वितीय अश, तृतीय अंश, संख्यात, असंख्यात, अनन्त देशांशोकी कल्पना की जाती है।

जिस प्रकार देशमे देशाश है उसी प्रकार गुणमे गुणाश है। किन्तु जिस प्रकार देशमें विष्कम्भसे देशांश होते है उसी प्रकार गुणमे विष्कम्भ क्रमसे गुणाश नही है। गुणोंमे तरतम रूपसे गुणांश होते है। जैसे गुड-खाँड, शक्कर और अमृतमे मधुर रसकी तरतमता है। अर्थात् प्रत्येक गुणाश द्रव्यके समस्त देशमे व्यापक रहता है। इस प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणाश इन सबको एक शब्दमे 'द्रव्य' कहते है।

द्रव्यकी इस अशकल्पनाको पर्याय कहते हैं। यह अंशकल्पना दो प्रकारकी होती है—एक तिर्यगंशकल्पना, दूसरी ऊर्ध्वांश-कल्पना। एक समयमे द्रव्यके अखण्ड देशमे विष्कम्भक्रमसे जो देशांशोंकी कल्पना होती है उसे तिर्यगंशकल्पना कहते है। इसीको द्रव्यपर्याय कहते है। अनेक समयोमे प्रत्येक गुणकी कालक्रमसे तरतमरूप गुणांश कल्पनाको ऊर्ध्वांश कल्पना कहते हैं। इसही का नाम गुणपर्याय हैं। शक्ति ( गुण ) दो प्रकारकी होती है—एक भाववती शक्ति, दूसरी क्रियावती शक्ति। द्रव्यके ज्ञानादिक स्वाभावोको भाववती शक्ति कहते है। द्रव्यकी उस शक्तिको, जिसके निमित्तसे द्रव्यमे प्रदेश-परिस्पंद ( चलन ) होकर आकारविशेषकी प्राप्ति होती है उसको क्रियावती शक्ति कहते है। उस ही का दूसरा नाम प्रदेशवत्व है। गुणके परिणमनको गुणपर्याय कहते हैं। और जब गुणके दो भेद है तो गुणपर्यायके भी दो भेद हुए—अर्थ-गुणपर्याय और व्यजंनगुणपर्याय। भाववती शक्तिके परिणमनको अर्थगुणपर्याय और क्रियावती शक्तिके परिणमनको व्यजंनगुणपर्याय कहते है।

द्रव्यमे अनन्त गुण है। उनके दो विभाग है—एक सामान्य और दूसरा विशेष। द्रव्यके समान्य गुणोंमे ६ मुख्य है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशवत्व। जिस शक्तिके निमितसे द्रव्यका कभी भी अभाव नही होता उसको अस्तित्व गुण कहते है। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमे अर्थक्रियाकारित्व ( जैसे घटमे जलधारणरूप अर्थ-क्रिया है ) होता है उसको वस्तुत्व कहते है। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य एक परिणामसे परिणामान्तररूप परिणमन करता है उसको द्रव्यत्व गुण कहते है। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य प्रमाणके विषयपनेको प्राप्त होता है उसको प्रमेयत्व गुण कहते है। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यकी अनन्त शक्तियां एक पिण्डरूप रहती है तथा एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप परिणमन नही करती उस शक्तिको अगुरुलघुत्व गुण कहते है। और जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमे आकार विशेष होता है उसको प्रदेशवत्व गुण कहते है।

द्रव्यके ६ भेद है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। जीवद्रव्यमे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य विशेषगुण है। इन ही चारो गुणोको सामान्य आलापसे चेतना कहते है। पुद्गल द्रव्यमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण विशेष गुण है। इन हो चारो गुणोको सामान्य आलापसे मूर्तत्व कहते है। धर्म द्रव्यमे गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्यमे स्थितिहेतुत्व, आकाश द्रव्यमें अवगाहहेतुत्व, और कालद्रव्यमे वर्तनाहेतुत्व विशेष गुण है।

पहले द्रव्यके दो लक्षण कह आये है—एक 'सद्द्रव्यलक्षणं' और दूसरा 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इन दोनों लक्षणोंका साराश यह है कि द्रव्य कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंको एकालापमे 'सत्' कहते है। ध्रौव्य नित्यको और उत्पाद व्यय उत्पत्ति और नाशको कहते है। तथा जिसमें उत्पत्ति और नाश होते है उसको अनित्य कहते है। इससे सिद्ध हुआ कि सत्का अर्थ कथञ्चित् नित्यानित्य है। और यही साराश गुण-पर्ययवद्द्रव्य' इस लक्षणका है। क्योकि गुण नित्य है और पर्याय अनित्य है।

अब यहाँपर यह शंका हो सकती है कि न्यायका यह सिद्धान्त है कि सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति कदापि नही होती, क्योकि यदि सत्का विनाश होगा तो धीरे-धीरे कभी न कभी समस्त जगत्का भी लोप होजायगा, और यदि असत्का उत्पाद होगा तो मृत्तिकाके बिना घटकी भी उत्पत्ति होजायेगी। इत्यादि अनेक दोष आते हैं। इसलिये अब

असत्का उत्पाद और सत्का विनाश नहीं होता तो असत् पर्यायकी उत्पत्ति और सत्पर्यायका विनाश किस प्रकार सम्भव है। तथा जब पर्यायका द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तो पर्यायके नाश होने पर द्रव्यका भी नाश हो जायगा। इसका समाधान इस प्रकार है—व्यय उत्पादका अभिप्राय विनाश और उत्पाद नहीं है किन्तु भूत्वा भवन है। जैसे जलकी एक कल्लोलका अभाव होकर दूसरी कल्लोल ( लहर ) नहीं होती किन्तु प्रथम कल्लोल ही दूसरी कल्लोलरूप हो जाती है। भावार्थ यह है कि जो पदार्थ पूर्व पर्यायमे एक आकाररूप है वही पदार्थ उत्तर पर्यायमे दूसरे आकाररूप हो जाता है—न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट होता है। इसही प्रकार अर्थपर्यायमें भी जो ज्ञान पूर्व समयमे घटाकार है वही ज्ञान उत्तर समयमें पटाकार हो जाता है।

अब पदार्थका विशेष स्वरूप विचारणीय है परन्तु विशेष स्वरूपका विचार प्रमाण, लक्षण, नय और निक्षेपको जाने बिना नहीं हो सकता, इसलिये इन चारोंका स्वरूप संक्षेपसे लिखा जाता है।

## प्रमाणका स्वरूप

प्रमाण नाम यथार्थ ज्ञानका है। उसके दो मूल भेद हैं—प्रत्यक्ष परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण उस ज्ञानको कहते हैं जो पदार्थके स्वरूपको स्पष्ट रीतिसे जानता है। उसके भी दो भेद हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उसको कहते हैं जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे वस्तुको स्पष्ट जानता है। और पारमार्थिक प्रत्यक्ष उसको कहते है जो किसीकी सहायता बिना स्वयं वस्तुको स्पष्ट जानता है। उसके तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान। परोक्ष उस ज्ञानको कहते हैं जो पदार्थके स्वरूपको अस्पष्ट जानता है। उसके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। पूर्व अनुभूत वस्तुको 'वह पदार्थ' इस प्रकार याद करनेको स्मृति कहते हैं। किसी पुरुषको पहले देखा था उस हीको पुनः देखनेसे 'यह वही है जो पहले देखा था' ऐसे जोडरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते है। व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। दो पदार्थोंके साथ रहने या क्रमसे रहनेके नियमको व्याप्ति कहते हैं। जिस पदार्थको वादी प्रतिवादीको सिद्ध करनेकी अभिलाषा है उसको साध्य कहते है। साध्यके साथ जिसकी व्याप्ति हो उसको हेतु कहते है। हेतुसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं।

असत्य हेतुको हेत्वाभास कहते है। उसके चार भेद है—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर। जिस पदार्थमें साध्यकी सिद्धि करनी हो उसको धर्मी कहते है। साध्य और धर्मी दोनोंके समुदायको पक्ष कहते है। जिस पदार्थमें साध्यकी मौजूदगीका निश्चय हो उसको सपक्ष कहते है। जिस पदार्थमें साध्यके अभावका निश्चय हो उसको विपक्ष कहते है। जिस हेतुका धर्मीमें अभाव निश्चित हो अथवा उसकी मौजूदगीमें सन्देह हो उसको असिद्ध हेत्वाभास कहते है। जिसकी साध्यसे विपरीत पदार्थके साथ व्याप्ति हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते है। जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोंमे रहनेवाला हो उसको अनैकान्तिक कहते है। इस ही का दूसरा नाम व्यभिचारी है। असमर्थ हेतुको अकिञ्चित्कर कहते है। उसके दो भेद है—सिद्धसाधन और बाधितविषय। जो सिद्ध पदार्थका साधन करे उसे सिद्धसाधन कहते है। जिसके साध्यका अभाव दूसरे प्रमाणसे सिद्ध हो उसको बाधितविषय कहते है। सत्यवक्ता आप्तके वचन, संकेत आदिसे होनेवाले ज्ञानको आगम प्रमाण कहते है।

## लक्षणका स्वरूप

अब लक्षणका कथन किया जाता है। पूर्वाचार्योंने लक्षणका लक्षण इस प्रकार किया है—

'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्'

अर्थात् मिले हुए अनेक पदार्थोंमेंसे एक पदार्थको भिन्न करनेवाले हेतुको लक्षण कहते है। जैसे जीवका लक्षण ज्ञान या पुरुषका लक्षण दण्ड। वह लक्षण दो प्रकार का है—आत्मभूत और अनात्मभूत। जिस लक्षणका लक्ष्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो उसको आत्मभूत कहते है, जैसे जीवका ज्ञान। और जिस लक्षणका लक्ष्यके साथ संयोग सम्बन्ध होता है उसे अनात्मभूत कहते है, जैसे पुरुषका दण्ड। जिस पदार्थका लक्षण किया जाये उसे लक्ष्य कहते है। झूठे लक्षणको लक्षणाभास कहते है। उसके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी। जो लक्षण लक्ष्यके एक देशमें रहे उसे अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं, जैसे जीवका लक्षण राग द्वेष या पशुका लक्षण सींग। जो लक्षण लक्ष्यमे भी रहे और अलक्ष्यमें भी रहे उसको अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं, जैसे जीवका लक्षण अरूपी और गौका लक्षण सींग। जो लक्षण लक्ष्यमें सम्भव न हो उसको असम्भवी कहते हैं। जैसे मनुष्यका लक्षण सींग।

## नयका स्वरूप

अब नयका सामान्य और विशेष स्वरूप कहते हैं—

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है इस कारण वस्तुको अनेकान्तात्मक कहते है। अर्थात् वस्तु कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित् अनित्य है, कथञ्चित् एक है, कथञ्चित् अनेक है, कथञ्चित् सर्वगत है, कथञ्चित् असर्वगत है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वृक्षसे फल, पुष्प आदिकी अनुत्पत्तिका प्रसंग आवेगा। अथवा सर्वथा नित्य माननेसे वस्तु अर्थक्रियाकारी सिद्ध नही हो सकती। और जो अर्थक्रियारहित कूटस्थ है वह वस्तु ही नहीं हो सकती। इत्यादि अनेक दोष आवेगे। इस कारण वस्तु अनेकान्तात्मक है।

ज्ञान दो प्रकारका है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। जो परोपदेशके बिना स्वयं हो उसको स्वार्थ कहते है। और जो परोपदेशपूर्वक हो उसको परार्थ कहते हैं। मति, अवधि, मन पर्यय और केवल ये चारो ज्ञान स्वार्थ ही हैं। और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी। जो श्रुतज्ञान श्रोत्र बिना अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है वह स्वार्थ श्रुतज्ञान है। और जो श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है वह परार्थ श्रुतज्ञान है। साराश यह है कि शब्दको सुनकर उत्पन्न हुआ जो अर्थज्ञान है उसको परार्थ श्रुतज्ञान कहते है। कारणके भेदसे कार्यमे भी भेद होता है इस कारण जब शब्दके अनेक भेद है तो तज्जन्य परार्थ श्रुतज्ञानके भी अनेक भेद स्वयं सिद्ध हुए। इस परार्थ श्रुतज्ञानके प्रत्येक भेदको ही नय कहते है। और इन समस्त नयोके समुदायको ही परार्थ श्रुतज्ञान प्रमाण कहते है। इसी कारण प्रमाण और नयमे अंश अंशी भेद है। प्रमाण अंशी है और नय अंश है। एक शब्दमे इतनी शक्ति नहीं कि वह एक वस्तुके अनेक धर्मोंका निरूपण कर सके। इसलिये नयका सैद्धान्तिक लक्षण इस प्रकार है—

'वक्ताने अनेकान्तात्मक वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षामे शब्द कहा है उसके उसही अभिप्रायको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते है।' यह भावनयका लक्षण है। और उस धर्म तथा उसके वाचक शब्दको द्रव्यनय कहते है। सो ही कार्तिकेयस्वामीने कहा है—

लोयाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो॥

अर्थात् धर्मविवक्षामे लोक व्यवहारके साधक लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते है।

जं जाणिज्जइ जीवो इंदियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहुविहं जाण॥

अर्थात् जीव इन्द्रियव्यापार और कायचेष्टाके द्वारा जो जानता है उसे अनुमान कहते है। सो यह भी नय है क्योंकि अनुमान प्रमाणको भी श्रुतज्ञान ही माना है।

सो चिय एक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स।
जं जाणदि तं णाणं ते तिण्णि वि णयविसेसा य॥

अर्थात् वह वस्तुका एक धर्म और उस धर्मका वाचक शब्द तथा उस धर्मको जानने वाला ज्ञान ये तीनों ही नय विशेष है॥

श्रीदेवसेन स्वामीने नयचक्रमे कहा है—

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुअंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं॥

ज्ञानीका जो विकल्प वस्तुके एक अंशको ग्रहण करता है उसे यहाँ नय कहा है। वह नय श्रुतज्ञानका भेद है। तथा पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धिमे कहा है—

'वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।'

अर्थात् जो प्रयोग अनेकान्त स्वरूप वस्तुमे अविरुद्ध हेतुकी अपेक्षासे साध्यविशेषकी यथार्थता प्राप्त करनेमे समर्थ है उसको नय कहते है।

इन सब प्रमाणोंका वही आशय है जो ऊपर लिखा है। जो इतर धर्मोंकी अपेक्षा सहित हैं वे सुनय हैं और वे ही पदार्थके साधक है। और जो इतर धर्मोंसे निरपेक्ष है वे कुनय हैं। उनसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती।

श्रीदेवसेन स्वामीने नयोंकी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा है। परन्तु सबका सारांश एक गाथामें इस प्रकार है—

जे णयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धी।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं होंति॥

अर्थात् जो पुरुष नयदृष्टिसे रहित हैं उनको वस्तुस्वभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और वस्तुस्वभावकी प्राप्ति के बिना सम्यग्दृष्टी किसी प्रकार नहीं हो सकते।

इसलिये नयोंका विस्तारसे विशेष स्वरूप कहते हैं।

## नयोंके भेद-प्रभेद

नयके मूल भेद दो हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। इस ही व्यवहार नयका नाम उपनय है।

'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।'

इस वचनके अनुसार निश्चयका लक्षण भूतार्थ और व्यवहारका लक्षण अभूतार्थ है। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना यह निश्चयनयका विषय है। और एक पदार्थको परके निमित्तसे व्यवहार साधनार्थ अन्यरूप कहना व्यवहार नयका विषय है।

निश्चयनयके दो भेद हैं—एक द्रव्यार्थिक, दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिकनयका लक्षण कार्तिकेय स्वामीने इस प्रकार है—

जो साहदि सामण्णं अविणाभूदं विसेसरूवेहिं।
णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि॥

अर्थात् जो विशेष रूपसे अविनाभावी सामान्य स्वरूपको नाना युक्तिके बलसे साधन करता है उसको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

आशय यह है कि द्रव्य नाम सामान्यका है और वस्तुमें सामान्य और विशेष दो प्रकारके धर्म होते हैं। उनमेंसे विशेष स्वरूपोंको गौण करके जो सामान्यका मुख्यतासे ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। और इससे विपरीत पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् पर्याय नाम विशेषका है। सो जो वस्तुके सामान्य स्वरूपको गौण करके विशेष स्वरूपका मुख्यतासे ग्रहण करता है उसको पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके दो-दो भेद हैं—अध्यात्मद्रव्यार्थिक, अध्यात्मपर्यायार्थिक, शास्त्रीय-द्रव्यार्थिक और शास्त्रीय पर्यायार्थिक। इनमेंसे अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दस भेद और अध्यात्मपर्यायार्थिकके छह भेद हैं। शास्त्रीय-द्रव्यार्थिकके तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार। नैगमके तीन भेद, संग्रहके दो भेद, व्यवहारके दो भेद इस प्रकार शास्त्रीय द्रव्यार्थिकके सब सात भेद है। शास्त्रीय पर्यायार्थिकके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। इनमें भी ऋजुसूत्र नयके दो भेद है और शेष तीनोंके एक एक। सब मिलकर शास्त्रीय पर्यायार्थिकके पाँच भेद हैं। इस प्रकार शास्त्रीय नयके बारह भेद और अध्यात्मके सोलह भेद सब मिलकर निश्चयनयके कुल अट्ठाईस भेद हुए।

व्यवहारनयके मूल भेद तीन हैं—सद्भूत, असद्भूत और उपचरित। इसमें भी सद्भूतके दो, असद्भूतके तीन और उपचरितके तीन, इस प्रकार व्यवहारनयके सब मिलाकर आठ भेद होते है। इसमें निश्चयनयके अट्ठाईस भेद मिलानेसे नयके कुल ३६ भेद हुए। अब इनके भिन्न-भिन्न लक्षण इस प्रकार जानने चाहिये।

सबसे प्रथम अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दस भेदोंके लक्षण कहते है—

१. जो कर्मबन्ध-संयुक्त संसारी जीवको सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करता है, उसको कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

२. जो उत्पाद-व्ययको गौण करके केवल सत्ताको ग्रहण करता है उसको सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

३. गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायीमें भेद न करके जो द्रव्यको गुण-पर्यायसे अभिन्न ग्रहण करता है उसको भेद-विकल्पनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक कहते हैं।

४. जो जीवमें क्रोधादि भावोंका ग्रहण करता है उसको कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे जीवको क्रोधी या लोभी मानना।

५. जो उत्पाद-व्ययमिश्रित सत्ताको ग्रहण करके एक समयमें त्रिरूपताको ग्रहण करता है उसको उत्पाद-व्यय-सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहते है। जैसे द्रव्य एक समयमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त है।

६. जो द्रव्यको गुण-गुणी आदि भेद सहित ग्रहण करता है उसको भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे ज्ञान आदि जीवके गुण है।

७. समस्त गुण-पर्यायोमें जो द्रव्यको अन्वयरूप ग्रहण करता है उसको अन्वयद्रव्यार्थिक कहते है। जैसे, द्रव्य गुणपर्यायस्वरूप है।

८. जो स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षामें द्रव्यको सत्स्वरूप ग्रहण करता है उसको स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते है।

९. जो परद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्यको असत्स्वरूप ग्रहण करता है उसको परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते है। जैसे परद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नही है।

१०. जो अशुद्ध शुद्धोपचार रहित द्रव्यके परम स्वभावको ग्रहण करता है उसको परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नय कहते है।

ये द्रव्यार्थिकनयके दस भेद है। अब पर्यायार्थिकनयके छह भेदोंका स्वरूप कहते है।

१. जो अनादिनिधन पर्यायोको ग्रहण करता है उसको अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय कहते है—जैसे मेरु, चन्द्र, सूर्यादि पुद्गलकी पर्याय है।

२. जो कर्मक्षयसे उत्पन्न किन्तु अविनाशी पर्यायको ग्रहण करता है उसको सादिनित्य पर्यायार्थिक कहते है। जैसे जीवकी सिद्धपर्याय नित्य है।

३. जो सत्ताको गौण करके उत्पादव्ययस्वभावको ग्रहण करता है उसे अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय कहते है। जैसे पर्याय प्रति समय अविनाशी है।

४. जो पर्यायको एक समयमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वभावयुक्त ग्रहण करता है उसको अनित्यअशुद्ध-पर्यायार्थिकनय कहते है। जैसे पर्याय एक समयमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वरूप है।

५. जो संसारी जीवोकी पर्यायको सिद्धसदृश शुद्ध पर्याय ग्रहण करता है उसको कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय कहते है। जैसे संसारी जीवकी पर्याय सिद्धसमान शुद्ध है।

६. जो संसारी जीवोंकी चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य अशुद्ध पर्यायको ग्रहण करता है उसको कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिक कहते है। जैसे संसारी जीव उत्पन्न होते है और मरते है।

ये पर्यायार्थिकनयके छह भेद है। अब नैगमनयके तीन भेदोंके लक्षण सुनिये।

१. जहाँ अतीतमें वर्तमानका आरोप होता है उसको भूतनैगम कहते है। जैसे आज दीपावलीके दिन भगवान महावीर मुक्त हुए।

२. जहाँ भावीमे भूतवत् कथन होता है उसको भाविनैगमनय कहते है। जैसे अर्हन्तोंको सिद्ध कहना।

३. जिस कार्यका प्रारम्भ किये जानेपर उसको तय्यार हुआ मानना वर्तमान नैगमनय है। जैसे कोई पुरुष रसोई बनानेके उद्देश्यसे पानी वगैरह भरता है और पूछनेपर कहता है भात पकाता हूँ।

१. सन्मामान्यकी अपेक्षासे समस्त द्रव्यको जो एकरूप ग्रहण करता है उसको सामान्यसंग्रहनय कहते है। जैसे सब द्रव्य सत् है।

२. जो एक जातिविशेषकी अपेक्षासे अनेक पदार्थोंको एकरूप ग्रहण करता है उसको विशेषसंग्रहनय कहते है। जैसे चैतन्यकी अपेक्षा सब जीव एक है।

१. जो सामान्य संग्रहनयके विषयको भेदरूप ग्रहण करता है उसको शुद्ध व्यवहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्यके दो भेद हैं जीव और अजीव।

२. जो विशेषसंग्रहके विषयको भेदरूप ग्रहण करता है उसको अशुद्ध व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जीवके दो भेद है—संसारी और मुक्त।

१. जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्यायको ग्रहण करता है उसको सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय कहते है। जैसे पर्याय क्षणिक है। और २. जो अनेक समयवर्ती स्थूल पर्यायको ग्रहण करता है उसे स्थूल ऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्याय आयुपर्यन्त स्थायी है।

शब्दनयका लक्षण देवसेन स्वामीने नयचक्रमें इस प्रकार कहा है—

> जो वहूणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंगआईणं ।
> सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुस्साइयाण जहा ।।
> अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किं पि अत्थववहरणं ।
> तं खलु सद्दे विसयं देवो सद्देण जह देओ ।।

इन गाथाओंका अभिप्राय यह है कि एक पदार्थमें भिन्न लिंगादिकी स्थितिको जो नहीं मानता उसको शब्दनय कहते हैं। जैसे एक ही पदार्थके वाचक अनेक शब्द होते हैं और उनमें लिंग, संख्या आदिका विभेद पाया जाता है। जैसे पुष्य, तारका, नक्षत्र ये तीनों लिंगके शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, अतः इनमें परस्परमें लिंगव्यभिचार हुआ। शब्दनय इसे अनुचित मानता है। अर्थात् लिंगभेद, आदिसे शब्दके वाच्यार्थमें भेद माननेवाला शब्दनय है।

स्वामी कार्तिकेयने कहा है—

> किं बहुणा उत्तेण य जेत्तियमेत्ताणि संति णामाणि ।
> तित्तियमेत्ता अत्था संति हि णियमेण परमत्था ।।

संसारमें जितने शब्द हैं उतने ही परमार्थरूप पदार्थ हैं। एक पदार्थके वाचक अनेक शब्द दिखाई देते हैं जैसे भार्या, कलत्र आदि। ये दोनों शब्द यद्यपि स्त्रीके वाचक हैं किन्तु इनमें लिंगभेद होनेसे शब्दनय अर्थभेद मानता है। अतः ये दोनों शब्द स्त्रीके दो भिन्न धर्मोंको कहते हैं ऐसा शब्दनयका अभिप्राय है।

एक शब्दके अनेक वाच्य हैं उनमेंसे एक मुख्य वाच्यको किसी एक अर्थमें रूढ देखकर रूढ अर्थको ही उसका वाच्य माननेवाला समभिरूढ़ नय है। जैसे गौ शब्दके अनेक अर्थ हैं। किन्तु उसका रूढ अर्थ पशु है। अतः उसीको गौ शब्दका वाच्य मानना समभिरूढ़ नयका विषय है।

जिस क्रियाका वाचक जो शब्द है उसही क्रियारूप परिणत पदार्थको ग्रहण करनेवाला एवंभूतनय है। जैसे गौका अर्थ जानेवाला है तो जब गौ गमन करती हो तभी उसे गौ कहना, बैठी हो तो नहीं, यह एवंभूतनयका विषय है।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये नय शब्दकी प्रधानतासे अर्थका ग्रहण करते हैं, इसलिये इनको शब्दनय कहते हैं। और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ये चार अर्थकी प्रधानतासे प्रवृत्ति करते हैं इसलिये इनको अर्थनय कहते हैं। अब किसी आचार्यने अध्यात्मदृष्टिसे नयका कथन किया है उसे लिखते हैं—

नयके मूल भेद दो हैं—एक निश्चय, दूसरा व्यवहार। अभेदरूपको विषय करनेवाला निश्चयनय है और भेदरूपको विषय करनेवाला व्यवहारनय है। निश्चयनयके दो भेद हैं एक शुद्धनिश्चयनय, दूसरा अशुद्धनिश्चयनय। जो निरुपाधिक गुण-गुणीको अभेदरूप ग्रहण करता है उसको शुद्ध निश्चयनय कहते हैं। जैसे जीव केवलज्ञानस्वरूप है। जो सोपाधिक गुण-गुणीको अभेदरूप ग्रहण करता है उसको अशुद्धनिश्चयनय कहते हैं। जैसे जीव मतिज्ञानस्वरूप है।

व्यवहार नयके भी दो भेद हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय, दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। जो एक पदार्थमें गुण-गुणीको भेदरूप ग्रहण करता है उसको सद्भूत व्यवहारनय, कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं एक उपचरित सद्भूत, दूसरा अनुपचरित सद्भूत। जो सोपाधिक गुण-गुणीको भेदरूप ग्रहण करता है उसको उपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं जैसे जीवके मतिज्ञानादि गुण हैं। जो निरुपाधिक गुण-गुणीको भेदरूप ग्रहण करता है उसको अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जीवके केवलज्ञानादिक गुण हैं।

जो भिन्न पदार्थोंको अभेदरूप ग्रहण करता है उसको असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं एक उपचरित और दूसरा अनुपचरित।

जो संश्लेषरहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करता है उसे उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते है। जैसे आभरणादिक मेरे हैं। जो संश्लेषसहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करता है उसे अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे शरीर मेरा है। इस प्रकार नयोंका कथन समाप्त हुआ।

●

# सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा

●

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानं ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

अनेक मतोंका यह सिद्धान्त है कि इस सृष्टिका कर्ता-हर्ता कोई ईश्वर अवश्य है। अत: इस विषयकी न्यायसे मीमांसा की जाती है। पूर्ण आशा तथा दृढ विश्वास है कि सज्जनगण पक्षपातरहित हो इसपर समुचित विचारकर कल्याण-मार्गके अन्वेषी होवेंगे।

प्रथम ही जैनमतका इस विषयमें क्या सिद्धान्त है, इसका विवेचन करके सृष्टिकर्तृत्वपर मीमांसा प्रारम्भ की जायगी।

प्रश्न १—लोकका लक्षण क्या है ?

उत्तर—"लोक्यन्ते जीवादयो यस्मिन् स लोक:" अर्थात् जितने आकाशमें जीवादिक द्रव्य देखनेमें आते हैं, उसको लोक कहते हैं।

प्रश्न २—द्रव्यका सामान्य और विशेष लक्षण क्या है ?

उत्तर—जो सत् अर्थात् उत्पत्ति, विनाश और स्थिति करके सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं। भावार्थ—जो एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको सदाकाल प्राप्त होता रहै उसे द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्यकी अवस्था दो प्रकारकी है, एक सहभावी और दूसरी क्रमभावी सहभावी। अवस्था को गुण कहते है। क्रमभावीको पर्याय कहते हैं। और इसही कारण गुणपर्य्याय वानपणा भी द्रव्यका लक्षण है। उस द्रव्यके ६ भेद है—१ जीव, २ पुद्‌गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश, ६ काल। १ जीव उसको कहते है जो चेतना सहित हो। २ पुद्‌गल उसको कहते है, जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण करके युक्त हो। ३ जो जीव और पुद्‌गलको गमनमें सहकारी हो, उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। ४ जो जीव और पुद्‌गलको स्थितिमें सहकारी हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। ५ जो जीवादि पदार्थोंको अवकाश देवे, उसे आकाश कहते है। ६ जो जीवादिक पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी हो उसको कालद्रव्य कहते है।

प्रश्न ३—इन द्रव्योंके भेद, आकार और निवासस्थान क्या है ?

उत्तर—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक अर्थात् अखंड द्रव्य है। जीव अनंत है। पुद्‌गलके दो भेद है, एक अणु और दूसरा स्कंध, स्कंधके अनंत भेद है। आकाश सर्वव्यापी है, धर्म और अधर्म लोकव्यापी है। और लोक ऊर्ध्व अध: १४ राजु, उत्तर दक्षिण ७ राजु, पूर्व पश्चिम मूल, मध्य व ब्रह्मान्त और अंतमें ७,१,५, और ७ राजू है।

जीव और पुद्‌गलका निवासक्षेत्र लोक है। प्रत्येक संसारी जीवका आकार निज निज शरीर प्रमाण है। मुक्त जीवोका आकार किंचित् ऊन अंतिम शरीर प्रमाण है। पुद्‌गलका आकार अनेक प्रकार है। काल लोकाकाशमें व्याप्त है, 'लोकाकाशके जितने प्रदेश है कालके भी उतनेही कालाणू है। एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणू स्थित है। आकाशके जितने हिस्सेको पुद्‌गलका एक परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते है।

प्रश्न ४—जीवके मुख्य भेद प्रतिभेद कौन-कौनसे है ?

उत्तर—जीवके मुक्त और ससारी दो भेद हैं। मुक्तजीव यद्यपि अनंत हैं परंतु सब सदृश हैं। संसारी जीवोंके पांच भेद है—एकेंद्री १, द्वीन्द्री २, त्रीन्द्री ३, चतुरिन्द्री ४, पंचेंद्री ५। पंचेंद्रीके दो भेद हैं—सैनी (मनसहित), असैनी (मनरहित)। चतुरिन्द्रिय तक सब जीव असैनी है। सैनीके चार भेद है—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। देवोंके ४ भेद हैं—भवनवासी १, व्यन्तर २, ज्योतिषी ३ और कल्पवासी ४।

प्रश्न ५—संसारी और मुक्त इनके लक्षण क्या है ?

उत्तर—संसारी उसको कहते हैं जो कर्मके निमित्तसे नरक, पशु, मनुष्य और देवात्मक चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करता हो। और जो कर्मका नाश करके संसारके परिभ्रमणसे छूटकर लोक शिखरपर विराजमान होकर समस्त दुःखवर्जित अनन्त और अविनाशी सुखका भोक्ता हो, उसे मुक्त जीव कहते हैं।

प्रश्न ६—कर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—पुद्गलका एक स्कन्धविशेष, जिसको कि कार्माण वर्गणा कहते हैं, जीवके राग द्वेषादिक परिणामोंको निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाह होकर, उदय कालमें नाना प्रकारके दुःख देकर इस जीवको चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण कराता है, उसको कर्म कहते हैं।

प्र० ७—ईश्वर किसको कहते हैं ?

उ०—मुक्त जीवको ही ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, खुदा, गॉड इत्यादि अनेक नामसे पुकारते हैं।

प्र० ८—तो क्या इन मुक्त जीवोंसे भिन्न कोई ईश्वर नहीं है ? यदि ऐसा है तो इस लोकको किसने बनाया ?

उ०—मुक्त जीवोंसे भिन्न कोई भी ईश्वर नहीं है, और न उसके अस्तित्वमें कोई प्रमाण है। लोक अनादि-निधन है।

प्र० ९—अभी तो ऊपर कह चुके हैं कि जो ईश्वर नहीं है तो यह लोक किसने बनाया ?

उ०—हम ऊपर कह चुके हैं कि जितने आकाशमें जीवादिक देखनेमें आते हैं उसको लोक कहते हैं। भावार्थ—जीवादिक छह द्रव्यके समूहको 'लोक' ऐसी संज्ञा ( नाम ) है। सो द्रव्योंको बनानेवालेकी अथवा द्रव्योंके समूह-रूप करनेवालेकी क्या आवश्यकता है ? यदि कहोगे कि द्रव्योंके बनानेवालेकी आवश्यकता है, तो वे पहिले थे या नहीं ? यदि थे तो फिर उनके बनानेकी क्या आवश्यकता थी ? यदि नहीं थे तो वे द्रव्य ईश्वरने बिना उपादान कारणके कैसे बनाये ? यदि कहोगे कि ईश्वर ही उनका उपादान कारण है, तो उपादान कारणके गुण कार्यमें आते हैं इसलिये ईश्वरके सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व इत्यादि गुण इन द्रव्योंमें भी आने चाहिये थे, सो दीखते नहीं। इस कारण ईश्वर द्रव्योंका उपादान कारण कदापि नहीं है।

प्र० १०—ईश्वर लोकका उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है, और जीव और प्रकृति ये लोकके उपादान कारण हैं और लोक कार्य है। जैसे घट कार्य है कुंभकार उसका निमित्त कारण है और मृत्तिका उपादान कारण है।

उत्तर—तो अब आपके कहनेका प्रयोजन यह ठहरा कि जो कार्य होता है उसका कोई कर्ता अवश्य होता है। जैसे घटका कर्ता कुंभकार। सो लोक भी कार्य है इसलिये इसका भी कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये। क्यों, आपका कहना ऐसा ही है न ?

प्रश्न ११—बेशक, हमारा कहना ऐसा ही है।

उत्तर—अब सबसे पहिले इस बातका विचार करना चाहिये, कि समस्त कार्य कर्ताके किये ही होते हैं कि कोई कार्य बिना कर्ताके भी होता है ? सो यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो मेघवृष्टि, घासकी उत्पत्ति आदि अनेक कार्य बिना कर्ताके भी होते दिखते हैं। इसलिये लोकरूपी कार्यके लिये कर्ताके निमित्तपणेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न १२—मेघवृष्टि और घासकी उत्पत्ति आदि कार्योंमें भी ईश्वर ही कर्ता है ?

उ०—जगतमें कार्य दो प्रकारके हैं—एक तो ऐसे हैं कि जिसका कर्ता है, जैसे घटका कर्ता कुंभकार। दूसरे ऐसे हैं कि जिनका कर्ता कोई नहीं है, जैसे मेघवृष्टि, घासकी उत्पत्ति इत्यादि। अब इन दो प्रकारके कार्योंमेंसे घटादिका कर्ता देखकर जिनका कर्ता नहीं दीखता है, उनका कर्ता ईश्वरको कल्पना करते हो सो आपकी इस कल्पनामें हेतु क्या है ? यदि कहोगे कि कार्यपणा ही हेतु है, तो यह बताइये कि यदि कार्य हो पर उसका कर्ता नहीं होय तो उसमें क्या बाधा आवेगी ? यदि उसमें कोई बाधा नहीं आवेगी तो आपका हेतु 'शंकितव्यभिचारी' ठहरा। क्योंकि जिस हेतुके साध्यके अभावमें रहने पर किसी प्रकारकी बाधा नहीं आवे उसको शंकितव्यभिचारी कहते हैं। जैसे किसीके मित्रके चार पुत्र थे और चारों ही श्याम थे। कुछ कालके पश्चात् उसके मित्रकी भार्या पुनः गर्भवती हुई, तब वह मनुष्य कहने लगा कि मित्रकी भार्याके गर्भवाला पुत्र श्यामवर्ण होगा; क्योंकि वह मित्रका पुत्र है, जो जो मित्रके पुत्र हैं, वे वे सब श्यामवर्ण हैं। गर्भस्थ

भी मित्रका पुत्र है, इसलिये श्यामवर्ण होगा। परन्तु मित्रपुत्र यदि गौरवर्ण भी हो जाय तो उसमें कोई बाधक नहीं है। इस ही प्रकार यदि कार्य, कर्ताके विना भी होजाय तो उसमें बाधक कौन ?

प्रश्न १३—यदि कर्त्ताके विना कार्य हो जायगा तो न्यायका यह वाक्य कि कारणके विना कार्य नही होता है, मिथ्या ठहरेगा।

उ०—मिथ्या क्यो ठहरेगा ? कार्य कारणके विना नही होता, यह ठीक है परंतु यदि कोई दूसरा ही पदार्थ कारण हुआ तो क्या हर्ज है ? इसमे क्या प्रमाण है कि वह कारण ईश्वर ही है।

प्रश्न १४—प्रत्येक कार्यके वास्ते कोई बुद्धिमान निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये। बुद्धिमान पदार्थ जगत-मे या तो जीव है या ईश्वर है। परतु किसी जीवकी ऐसी सामर्थ्य नही दीखती कि ऐसे लोकको बनावे। इसलिये लोकका बुद्धिमान निमित्त कारण ईश्वर ही है।

उ०—यदि लोकरूपी कार्यका निमित्त कारण कोई जड पदार्थ ही हो तो क्या हानि है ?

प्रश्न १५—जड पदार्थके निमित्त कारण होनेसे कार्यकी सुव्यवस्था नहीं होती। लोक एक सुव्यवस्थित कार्य है, इसलिये निमित्त कारण बुद्धिमानका होना आवश्यक है।

उ०—यह लोक सुव्यवस्थित ही नही है; क्योंकि पृथ्वी कही ऊँची है कहीं नीची है। सुवर्ण सुगंध रहित है। इक्षु फल रहित है। चंदन पुष्प रहित है। विद्वान् निर्धन और अल्पायु होते है। यदि ईश्वर इस लोकका कर्त्ता होता तो ऐसी दुर्व्यवस्था क्यो होती ? यह कार्य तो मूर्खो सरीखे दीखते है। क्योकि नीतिकारने भी ऐसा ही कहा है कि—"गंध. सुवर्णे फलमिक्षुदंडे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु। विद्वान् धनाढ्यो न तू दीर्घजीवी धातुः पुरा कोपि न बुद्धिदोऽ भूत् ॥१॥" अथवा जो ईश्वर सरीखा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और दयालु इस लोकका कर्ता होता, तो जगत्मे कोई पाप नहीं होता। क्योंकि जिस समय कोई मनुष्य कुछ भी पाप करनेको उद्यमी होता है, तो ईश्वरको यह बात पहिलेहीसे माल्म हो जाती है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। यदि माल्म नही होती है तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं ठहरेगा। फिर ईश्वर मनुष्यको पाप करनेमे रोक भी सकता है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। यदि नही रोक सकता है तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं ठहर सकता। यदि कहोगे कि 'यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है परन्तु उसको क्या गर्ज है कि वह उसको पाप करनेसे रोके ? तो वह दयालु भी है कि जिससे उसका रोकना आवश्यक ठहरा। जैसे कि एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको मारनेके लिये चला और शहरके न्यायवान् राजाको यदि यह बात माल्म हो जाय तो उसका कर्तव्य यह है कि घातकको रोककर खून न होने देवे, न कि खून होनेपर घातकको दड दे। अथवा किसीका बालक भंगके नशेमे किसी अन्धकूपमे गिरता हो तो उसके साथी पिताका फर्ज है कि उसको कूपमे न गिरने दे। न कि उसको कूपमे गिरनेपर निकालकर दड दे। ठीक ऐसी ही अवस्था ईश्वर और मनुष्यके साथ है। ईश्वरका कर्तव्य है कि मनुष्यको पाप न करने दे। न कि उसके पाप करनेपर उसको दण्ड दे। इसलिये यदि ईश्वर सरीखा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और दयालु इस लोकका कर्ता होता तो लोकमे किसी भी प्रकारके पापकी प्रवृत्ति नही होता परन्तु ऐसा दीखता नही है। इस कारण इस लोकका कर्ता कोई ईश्वर नही है। बस ! इससे सिद्ध हुआ कि लोकरूप कार्यका कोई बुद्धिमान् निमित्त कारण नही है। अथवा ईश्वर और सृष्टिमे कार्य कारण सम्बन्ध ही नही बनता, क्योंकि व्यापकका अनुपलभ है। भावार्थ—न्यायशास्त्रका यह वाक्य है कि 'अन्वयव्यतिरेक-गम्यो हि कार्यकारणभाव.' अर्थात् कार्यकारणभाव और अन्वयव्यतिरेकभाव इन दोनोंमे गम्य-गमक याने व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। अग्नि और धूम इनमे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य है। जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि नियम करके होगी। परन्तु जहाँ अग्नि है वहाँ धूम हो भी और नही भी हो। जैसे तप्त लोहेके गोलेमे अग्नि तो है परन्तु धूम नही है। भावार्थ—कहनेका यह है कि जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ व्यापक अवश्य होता है। परन्तु जहाँ व्यापक होता है, वहाँ व्याप्य होता भी है और नही भी होता है। सो यहाँपर कार्यकारणभाव व्याप्य है और अन्वयव्यतिरेकभाव व्यापक है। भावार्थ—जहाँ कार्यकारणभाव होगा वहाँ अन्वयव्यतिरेक अवश्य होगा परन्तु जहाँ अन्वयव्यतिरेकभाव है, वहाँ कार्यकारण हो भी और नही भी हो। कार्यके सद्भावमे कारणके सद्भावको अन्वय कहते है। जैसे—जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होती है और कारणके अभावमे कार्यके अभावको व्यतिरेक कहते है, जैसे जहाँ जहाँ अग्नि नही है वहाँ वहाँ धूम भी नही है। सो जो ईश्वर और लोकमे कार्यकारणसम्बन्ध है तो उनमे अन्वयव्यतिरेक अवश्य होना चाहिये। परन्तु ईश्वरका लोकके साथ व्यतिरेक सिद्ध नही होता, क्योंकि व्यतिरेक दो प्रकारका है—एक कालव्यतिरेक, दूसरा क्षेत्रव्यतिरेक। सो ईश्वरमे दोनो प्रकारके व्यतिरेकमेसे एक भी सिद्ध नही होता। क्योंकि क्षेत्रव्यतिरेक जब सिद्ध हो सकता है जब यह वाक्य सिद्ध हो जाय कि जहाँ जहाँ ईश्वर नही है वहाँ वहाँ लोक भी नही है। परन्तु यह वाक्य

सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी है अर्थात् ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहाँ ईश्वर नहीं हो। इसलिये क्षेत्रव्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार कालव्यतिरेक भी ईश्वरमें सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कालव्यतिरेक तब सिद्ध हो जब यह वाक्य सिद्ध हो जाय कि जब जब ईश्वर नहीं है तब तब लोक भी नहीं है परन्तु यह वाक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर नित्य है, अर्थात् कोई काल ही ऐसा नहीं है कि जिस समय ईश्वर नहीं हो, इसलिये ईश्वरमे कालव्यतिरेक भी सिद्ध नहीं हो सकता। और जब व्यतिरेक सिद्ध नहीं हुआ तो कार्यकारणभाव ईश्वर और लोकमे सिद्ध नहीं हो सकता और जब कार्यकारणभाव ही नहीं तो ईश्वर लोकका कर्ता किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? जैनशास्त्रोंमे इस सम्बन्धमे अनेक प्रकारके पूर्वपक्ष उठाकर उनका सविस्तर खण्डन किया है परन्तु वह विषय बहुत गम्भीर और विस्तृत है। इसलिये इस सम्बन्धको यहींपर समाप्त करके ईश्वरके लोककर्तृत्वमे अन्यान्य अनेक दूषणोंकी समालोचना की जायगी।

## कर्तृत्ववादका पूर्वपक्ष

कर्तावादियोंका सबसे प्रबल प्रमाण ईश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करनेके लिये यह है कि, पृथ्वी आदिक बुद्धिमत्कर्तृक ( किसी बुद्धिमान्की बनाई ) है क्योंकि यह कार्य है। जो-जो कार्य होते हैं सो-सो बुद्धिमत्कर्तृक होते है, जैसे घटादिक, पृथिवी आदिक भी कार्य हैं इसलिए ये भी बुद्धिमत्कर्तृक है।

इस अनुमितिमे पृथिवी आदिक पक्ष हैं, बुद्धिमत्कर्तृक साध्य हैं, कार्यत्व हेतु है, घटादिक दृष्टान्त हैं। ( अब आगे कर्तावादी कार्यत्व हेतुका समर्थन करता है। )

'अब इस अनुमितिमें कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है; क्योंकि पृथिवी आदिकमे कार्यत्व अनुमानान्तरसे सिद्ध है। तथाहि—पृथिवी आदिक कार्य है। क्योंकि सावयव है, जो-जो सावयव होते हैं, सो-सो कार्य होते हैं जैसे घटादिक। पुनः यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि निश्चित कर्तृक जो घटादिक उनमें कार्यत्व हेतु प्रत्यक्षसिद्ध है। फिर यह हेतु अनैकान्तिक ( व्यभिचारी ) भी नहीं है। क्योंकि निश्चित अकर्तृक आकाशादिक उनमे अविद्यमान है। फिर कालात्यापदिष्ट भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष तथा आगमसे अबाधित विषय है। यहाँपर कोई यह शंका करे कि 'उक्त अनमितिमे जो घटादिक दृष्टान्त है, उन घटादिकके जो कर्ता हैं वे अल्पज्ञ है, और तुम्हारे साध्यमे जो बुद्धिमान् है वह सर्वज्ञ है। इसलिये तुम्हारा हेतु विरुद्ध है, क्योकि साध्यसे विपरीतको साधन करता है। तथा दृष्टान्त साध्यविकल है क्योंकि घटादिकका कर्ता सर्वज्ञ नहीं है।' सो यह शंका भी निर्मूल है, क्योंकि साध्य-साधनमें सामान्य अन्वय-व्यतिरेक करके ही व्याप्तिका निश्चय होता है। जो विशेषान्वय व्यतिरेक करके व्याप्तिका ग्रहण करोगे तो सकलानुमानका उच्छेद (अभाव) हो जावेगा, क्योंकि विशेष अनन्त होते है। और उनमे परस्पर व्यभिचार आवेगा। इसलिये कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमत्पूर्वकत्व मात्रके साथ व्याप्ति है न कि शरीरवान् बुद्धिमत्कर्तृक आदिके साथ। कदाचित् कोई यह कहे कि, शरीर कारणकलापमेंसे एक सामग्रीविशेष है। अर्थात् कार्यकी उत्पत्तिमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता है। उनमे शरीर भी एक कारण है। क्योकि, जगतमे जितने कार्यके कर्त्ता दिखते है वे सब शरीरवान् दीखते है। सो ऐसा कहना भी अयुक्त है। क्योंकि कार्यकारण सम्बन्ध वहींपर होता है जहाँ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है। तदुक्तं—'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः'। सो कार्यका शरीरके साथ अन्वय और व्यतिरेक एक भी घटित नहीं होता। क्योंकि जिस समय शरीरका हलन-चलनरूप कार्य होता है उस समय उसमे केवल ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ही कारण है। अन्यथा शरीरान्तरकी कल्पना करनेसे अनवस्था दूषण आवेगा। इसलिए शरीरके अभावमे कार्यका सद्भाव हुआ। तथा शरीरके सद्भावमे परिज्ञान, इच्छा व्यापारका अभाव हो तो कार्यका सद्भाव नहीं दीखता। इसलिए अन्वय व्यतिरेक एक भी घटित नहीं होते। यदि सहचर मात्रसे शरीरको कारणता मानोगे तो अग्निके पीतत्वादिक गुण भी धूमके प्रति कारण हो जावेंगे। यदि निर्मल बुद्धिसे विचारा जावे तो कार्यकी उत्पत्तिमे प्रथम कारण तो कारणकलापका ज्ञान है, उसके पीछे दूसरा कारण उस कार्यके करनेकी इच्छा है और तीसरा कारण व्यापार है। इन तीनोंका जो समुदाय है उसीको समर्थ कारण कहते है। यदि इनमे से एकका भी अभाव होगा तो कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। ऐसा माननेसे सर्वत्र अव्यभिचार होता है।'

'अब हमारी इस अनुमितिके साध्यमे जो बुद्धिमान् है, सो सर्वज्ञ है; क्योंकि वह समस्त कार्योंका कर्ता है। जो जिस कार्यका कर्ता होता है, वह उस कार्यके कारणकलापोंका ज्ञाता होता है। जैसे घटोत्पादक कुलाल मृत्पिण्ड आदिका ज्ञाता है। यह जगतका कर्ता है, इसलिये सर्वज्ञ है। जगतका उपादान कारण पृथिवी, जल, तेज, वायु सम्बन्धी चार प्रकारके परमाणु हैं और निमित्तकरण जीवोंका अदृष्ट है। भोक्ता जीव है, और शरीरादिक भोग्य है। जो इस सबका ज्ञाता नहीं होगा वह अस्मदादिकी तरह समस्त कार्योंका कर्ता भी नहीं हो सकता। उसके ज्ञानादिक अनित्य भी नहीं

हैं, क्योंकि कुलालादिके ज्ञानसे विलक्षण है। और वह पृथिव्यादिकका कर्ता एक है। लोकमें भी यद्यपि किसी प्रासादादिकके बनानेमे अनेक मिलावट तथा मजदूरोकी प्रवृत्ति होती है तथापि उन सबकी प्रवृत्ति एक मिस्त्रीके ज्ञानके आधीन है। यहाँपर कदाचित् कोई यह शका करे कि, जो ईश्वर नित्य और एकरूप है तो उसके कार्य भी नित्य और एकरूप होना चाहिये। परन्तु जगत्के कार्य विचित्र और अनित्य दीखते है। सो यह शका भी करना उचित नही है, क्योंकि जगतके कार्योंकी उत्पत्तिमे केवल ईश्वर ही कारण नही है, किन्तु कारणका एक देश है, जगतका निमित्तकारण जीवोका अदृष्ट हम ऊपर कह चुके है। इसलिये निमित्त कारणकी अनित्यता और विचित्रता होनेसे कार्यमे भी अनित्यता और विचित्रताकी सभावना है।'

'यहाँ फिर कोई शका करे कि, जो तुमने घट, कूप, प्रासाद आदिक दृष्टान्त दिये है सो इनको देखकर उनके बननेकी क्रियाको न देखनेवालोके भी ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि वह कार्य किसीके किये हुए है। परन्तु जगतको देखकर ऐसी बुद्धि उत्पन्न नही होती है। इसलिये तुम्हारा यह हेतु असिद्ध है। सो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि यह नियम नही है कि, जगतके समस्त कार्योको उनके बननेकी क्रियाको न देखनेवालोके 'ये किसीके किये हुए है' ऐसी बुद्धि अवश्य ही उत्पन्न होवे। जैसे कि, किसी स्थानपर एक गड्ढा था उसको कुछ आदमियोने भरकर जमीनके बराबर कर दिया। तो जिस मनुष्यने उस गड्ढेको भरते नही देखा था उसके यह बुद्धि उत्पन्न नही होती कि यह किसीका किया हुआ है। अब यहाँपर फिर कोई शका करे कि, तुम्हारा हेतु सत्प्रतिपक्ष है, क्योकि इस अनुमानसे बाधित विषय है 'तथापि पृथ्वी आदिक किसी बुद्धिमान्की बनाई हुई नही है, क्योकि उसका बनानेवाला किसीने देखा नही। जिस जिसका बनानेवाला किसीने नही देखा उसका बनानेवाला कोई बुद्धिमान कारण नही होता, जैसे आकाशादिक' सो यह भी समीचीन नही है। क्योंकि जो पदार्थ दृश्य होता है, उसीकी अनुपलब्धिसे उसके अभावकी सिद्धि होती है। परन्तु ईश्वर तो दृश्य नही है इसलिये उसके अभावकी सिद्धि नही हो सकती। जो अदृश्य पदार्थकी अनुपलब्धिसे ही उसके अभावकी सिद्धि करोगे तो, किसी अदृश्य पिशाचके किये हुए कार्यमे पिशाचकी अनुपलब्धिसे पिशाचके अभावका प्रसग आवेगा।' इस प्रकारसे कर्त्तावादीने अपने पक्षका मडन किया। अब इसका खंडन किया जाता है।

## कर्तृत्ववादके पूर्वपक्षका खण्डन

यहाँपर जो 'क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृजन्यं कार्यत्वात्' इस अनुमानद्वारा कार्यत्वरूप हेतुसे पृथिव्यादिको बुद्धिमत्कर्त्तामे जन्य, सिद्ध किया है सो इस कार्यत्वरूप हेतुके चार अर्थ हो सकते है। एक तो सावयवत्व, दूसरा पूर्वमे असत्पदार्थके स्वकारणसत्तासमवाय, तीसरा 'कृत अर्थात् किया गया' ऐसी बुद्धि होनेका विषय होना, अथवा चतुर्थ विकारिपना। इन चार अर्थोमसे यदि सावयवत्वरूप अर्थ माना जावे तो इसके भी चार ही अर्थ हो सकते है। सावयवत्व अर्थात् अवयवोमे वर्तमानत्व १. अवयवोमे बनाया गया २. प्रदेशिपना ३. अथवा सावयव ऐसी बुद्धिका विषय होना ४।

इन चार पक्षोमे आद्य पक्ष अर्थात् अवयवोमे वर्तमान होना माना जावे तो अवयवोमे रहनेवाली जो अवयवत्व नामक ( नैयायिकोके द्वारा मानी हुई ) जाति उससे यह हेतु अनैकान्तिकनामक हेत्वाभास हो जायगा। क्योकि अवयवत्व जाति अवयवोमे रहनेपर भी स्वयं अवयवरहित और अकार्य है। अर्थात् उस हेतुका विपक्षमे पाये जानेका नाम अनैकान्तिक दोष है। इसी प्रकार यह भी कर्तृविशेषजन्यत्वादि साध्यका विपक्ष जो नित्य जातिविशेष उसमे वर्तमान होनेसे अनैकान्तिक दोषयुक्त सिद्ध हुआ। इससे यह हेतु कर्तृविशेषजन्यत्व साधनेमे आदरणीय नही हो सकता। ( प्रथम पक्षका प्रथम भेद )। इसही प्रकार सावयवत्व अर्थात् प्रथम पक्षका द्वितीय भेद अर्थात् अवयवोमे बना हुआ, यह अर्थ स्वीकार किया जावे तो कार्यत्वरूप हेतु साध्यसम नामक दोष सहित मानना पडेगा। ( यह भी एक पूर्ववत् हेतुका दोष है। जिसमे कि हेतु साध्यसदृश सिद्ध होनेसे अपने कर्तृविशेषजन्यत्वरूप साध्यका सिद्ध नही कर सकता। ) क्योकि पृथिव्यादिकोमें कार्यत्व अर्थात् जन्यत्व साध्य, और परमाण्वादि पृथिव्यादिकोके अवयवोमे बनाया गया रूप हेतु दोनो ही सम है, और साधन यदि साध्यके समान हो तो कार्यको सिद्ध नही कर सकता। ( कार्यत्व हेतुके प्रथमपक्षका द्वितीय भेद )। प्रथमपक्षका तीसरा भेद अर्थात् प्रदेशवत्त्व माननेमे भी कार्यत्व हेतुमे आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष आता है, क्योकि आकाश प्रदेशवान् होकर भी अकार्य है। इसी प्रकार प्रथम पक्षके चतुर्थ भेदमे भी आकाशके साथ दोष आता है; क्योंकि यह 'सावयव' ऐसी बुद्धिका विषय होता है। यदि आकाशको निरवयव माना जावे तो इसमे व्यापित्व धर्म नही रह सकता है, क्योकि जो वस्तु निरवयव होती है वह व्यापी नही हो सकती तथा जो वस्तु व्यापी होती है वह निरवयव नही हो सकती। क्योंकि,

ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। इसका दृष्टान्त परमाणु निरवयव है। परमाणु निरवयव है इसीसे वह व्यापी नहीं है। अतः आकाश 'व्यापी' ऐसा व्यवहार होनेसे निरवयव नहीं है किन्तु सावयव ही है। अतएव तृतीय तथा चतुर्थ पक्ष माननेमें आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष, हेतुमें आता है। इस प्रकार प्रथम पक्षके चारों अर्थोंमें दोष होनेसे चारों ही पक्ष अनादरणीय हैं।

इस दोषके दूर करनेको यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् 'प्राक् असत् पदार्थके स्वकारणसत्तासमवायरूप' कार्यत्वको हेतु माना जावे तो स्वकारणसत्तासमवायके नित्य होनेसे तथा 'कर्तृविशेषजन्यत्वादि' साध्यके साथ सर्वथा न रहनेसे यह हेतु असंभवी है। यदि पृथिव्यादि कार्योंके साथ इसका रहना मान ही लिया जावे तो पृथिव्यादि कार्यके भी इसी समान नित्य होनेसे बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्व किसमें सिद्ध होगा? क्योंकि, नित्य पदार्थोंमें जन्यपना असंभव है। तथा कार्यमात्रके पक्ष होनेसे पक्षान्तःपाती जो योगियोंके अशेष कर्मका क्षय, उसमें कार्यत्वरूप हेतु नहीं घटित होनेसे इस हेतुमें भागासिद्ध भी दोष है। क्योंकि, कर्मके क्षयके प्रध्वंसाभावरूप होनेसे स्वकारणसत्तासमवाय उसमें सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि, स्वकारण-सत्तासमवायकी सत्ता भाव पदार्थहीमें हैं। यदि 'किया हुआ है' इस प्रकारकी बुद्धिका जो विषय हो वह कार्यत्व है ऐसा कहते हो तो कार्यत्व हेतुका यह अर्थ भी करनेपर आकाशसे अनैकान्तिक दोष कार्यत्व हेतुमे आता है, क्योंकि, पृथिवी आदिके खोदनेपर तथा उत्सेचन करनेपर खड्डा होनेसे 'आकाश किया है' ऐसी बुद्धि अकार्यरूप आकाशमें भी उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यह अर्थ भी कार्यत्व हेतुका करनेसे छुटकारा नहीं है। फिर भी संतोष न होनेसे कार्यत्व हेतुका 'विकारित्व' ऐसा अर्थ करते है। लेकिन ऐसा अर्थ करनेपर उनके महेश्वरपर्यन्त कार्यत्व हेतुका होना सम्भव होनेसे महेश्वरमे भी अनित्यताका प्रसंग प्राप्त होता है। क्योंकि, सत् वस्तुका जो अन्यथा रूप होना उसीको कार्यत्व कहते है और हेतु भी विकारित्वरूप वही है। इसलिये जो अपर बुद्धिमत् शब्दसे महेश्वरको जगत्का कर्ता सिद्ध करते थे उसको भी विकारित्व होनेसे उसका भी कर्ता अपर बुद्धिमान् कल्पना करना चाहिये। एवं जब अपर भी बुद्धिमान् कर्ता सिद्ध होगा तो उसको भी विकारिपना आनेसे उसके लिये भी तीसरा बुद्धिमान् कर्ता कल्पना करना चाहिये, इस प्रकार कहींपर भी पर्यवसान न होनेसे अनवस्था नामका दोष शिरपर आ पडता है। अनवस्थाका अर्थ यही है कि, किसी वस्तुका सिद्ध करते करते भी अन्त नहीं आता। और इसीलिये जिस पदार्थमें अनवस्था दोष होता है वह पदार्थ सत्य तथा सिद्ध नही समझा जाता। इस दोषके होनेसे यदि महेश्वरको अविकारी समझ लिया जाय, तो उससे अपनी ड्यूटी (कार्योंका करना) अत्यन्त दुर्घट हो जायगा, क्योंकि, अविकारित्व तथा कार्यकर्तृत्व ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध है। इसलिये जहाँपर अविकारित्व नहीं होता वहीपर ही कार्यकर्तृत्व सम्भव है। इसलिये अविकारित्व भी सिद्ध नही हो सकता, इस प्रकार अनेक प्रकार विचारनेपर भी कार्यत्व हेतुके सिद्ध न होनेसे कार्यत्व हेतु यहाँपर कुछ भी वस्तु नहीं है। तथा जो वस्तु कभी-कभी होती हैं, वही वस्तु लोकमें कार्यत्वरूपसे समझी जाती है। जगत् तो महेश्वरके समान अर्थात् जिस प्रकार महेश्वर सर्वदा विद्यमान रहता है, इसलिये वह कार्य नही, इसी प्रकार जगत् भी हमेशा विद्यमान रहनेसे कार्य नही हो सकता। यदि 'उसके अन्तर्गत तरु, तृण आदि वस्तुओंके कार्य होनेसे तत्समूह जगत्को भी कार्यता हो सकती है' ऐसा कहो तो महेश्वरके अन्तर्गत बुद्ध्यादिकोंको तथा परमाणु आदिके अन्तर्गत रूपादिकोको कार्य होनेसे महेश्वर तथा परमाणु आदिको भी कार्य मानना पडेगा। ऐसा होनेसे महेश्वरादिकोंका दूसरा बुद्धिमान् कर्ता तथा उसका भी तीसरा, इस प्रकार जैसी पूर्वोक्तमें अनवस्था आती थी उसी प्रकार अब भी अनवस्था दोषका प्रसङ्ग तथा 'महेश्वर ही सर्व वस्तुका कर्ता है' इस सिद्धान्तका निधन भी मानना पडेगा।

अथवा थोड़े समयके वास्ते जगत्को कार्यरूप मान भी लिया जाय, तथापि क्या कार्यत्व हेतुसे कार्यमात्र साध्य है? अथवा कोई कार्य विशेष? यदि कार्यमात्र विवक्षित हो तो कार्यत्वरूप सामान्य हेतुमे बुद्धिमत्कर्तृत्वरूप विशेष साध्य की सिद्धि नही हो सकती, जिससे कि ईश्वरकी सिद्धि हो सके। किन्तु सामान्य कर्ताकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि, सामान्य हेतुकी व्याप्तिसे सामान्य ही साध्यकी सिद्धि होती है, जैसे धूमसामान्यसे वह्निसामान्यका ही अनुमान हो सकता है पर्वतीय, चत्वरीय आदिका नहीं। इसलिये हेतु अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् प्रकृत अभीष्ट ईश्वररूप विशेष कर्ताका साधक नहीं हो सकता। (प्रकृत साध्यको जो सिद्ध नहीं कर सके उस हेतुको अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते है। यह हेतुका एक मोटा दोष है।) तथा साध्यसे विरुद्धका साधक होनेसे यह हेतु विरुद्ध भी है। (विरुद्ध भी एक हेतुका दोष है। इसके होनेसे भी हेतु आदरणीय नहीं हो सकता है।) तथा जो कार्यत्व हेतु सामान्य है वह बुद्धिमत्कर्ताका गमक नहीं हो सकता। किन्तु जो कार्यत्व कृतबुद्धिको पैदा करनेवाला है वही बुद्धिमत्कर्ताका गमक हो सकता है। यदि सारूप्य मात्र से (कार्यत्वरूपसे सादृश्य मानकर) बुद्धिमत्कर्ताका गमक माना जाये तो वाष्पको भी अग्निके जनानेमें मानना पडेगा।

इसी प्रकार महेश्वरमे भी संसारी पुरुषोंकी आत्माका सादृश्य होनेसे आत्मत्व हेतुसे सांसारिकत्व, किञ्चिद्‌ज्ञत्व, तथा अखिलजगतका अकर्तृत्व मानना पडेगा। क्योकि आक्षेप तथा समाधान दोनों ही तुल्य है। इसलिये धूमबाष्पका किसी अंशसे सादृश्य होने पर भी कोई ऐसा विशेष है जिससे धूम ही वह्निका गमक हो सकता है, बाष्प नहीं। इसी प्रकार क्षित्यादि कार्य तथा उससे उलटे ( जिनसे कि बुद्धिमत्कर्ताका भान हो सके ) कार्योंमे भी कोई विशेषता माननी चाहिये जिससे कि, वे ही बुद्धिमत्कर्ताके गमक हो सकते है। सामान्यरूपसे सर्व ही नही।

कथित सर्व कार्य कर्तृजन्य नही है इसीसे सर्व कार्यका कर्ता न होने ईश्वरकी सिद्धि कर्तृस्वरूपसे नही हो सकती।

यदि द्वितीयपक्ष अर्थात प्रागसत स्वकारणसत्तासमवाय (प्रथम असत् पदार्थके स्वकारणसत्ताका समूह) ऐसा कार्यत्वशब्दका अर्थ माना जावे तो हेतु—कार्यत्व असिद्ध होजायगा, क्योकि, तादृश कार्यविशेषका अभाव है अर्थात् प्रथम असद्‌भूतपदार्थके स्वकारणसत्ताका समूह असम्भव है, यदि सदभाव माना जाय तो जीर्णमकान आदि देखनेसे जिसप्रकार उसकी क्रिया नही देखनेवाले को भी 'कृत' इस प्रकार बुद्धि हो जाती है तथैव यावत्कार्योंके देखनेसे कार्योंमे 'कृत' ऐसी बुद्धि होनी चाहिये परन्तु होती नही है इसलिये यावत्कार्यही प्राग् असतके स्वकारणके समूह नही है। यदि कहा जाय कि, समारोप अर्थात् संशयादि दोषसे 'कृत' ऐसी बुद्धि नही होती तो दोनो ही जगह अविशेष है अर्थात् 'कृत' ऐसी बुद्धिके विषय जीर्णमकानादि तथा जिनके देखनेसे 'कृत' बुद्धि नही होती ऐसे पर्वतादिक ये दोनो ही कार्योके कर्ता अप्रत्यक्ष है फिर एक जगह ( पर्वतादिमे ) संशयादिसे 'कृत' बुद्धि नही होती तथा जीर्णप्रासादादिमे 'कृत' बुद्धि हो जाती है, यह कहना नही बन सकता है, क्योंकि, कार्यत्वरूपसे दोनों ही समान है। यदि कहो कि, प्रामाणिक पुरुषोको तो इससे ( पर्वतादिमे ) भी 'कृत' बुद्धि है ही, तो पूछना चाहिये कि, इसी अनुमानसे 'कृत' बुद्धि हुई है अथवा अनुमानान्तरसे, यदि इसीसे हुई है, ऐसा कहो, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योकि, जब कार्यत्व यावत पदार्थोंमे सिद्ध हो जावे तब कृतबुद्धि सिद्ध हो तथा कृतबुद्धि सिद्ध होनेपर कार्यत्वहेतु सिद्ध हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है। ( अन्योऽन्याश्रय दोषवाले पदार्थ यथार्थ नही माने जाते। ) यदि दूसरे अनुमानसे मानी जाय तो उस अनुमानकी भी सिद्धि कृतबुद्धि उत्पादकत्वरूप विशेषण विशिष्ट हेतु सिद्ध होनेसे ही हो सकती है तथा कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप विशेषण उससे अन्य अनुमानद्वारा सिद्ध होगा, इस प्रकार फिर भी अनवस्था दोष आपडता है। इसलिये कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप विशेषण सिद्ध नही हो सकता। विशेषण सिद्ध नही होनेसे विशेषणासिद्धत्व दोष हेतुमे आ पडता है।

कचरा, मिट्टी आदिसे भर दिये गये खड्डेके देखनेसे जिस प्रकार कृतक पुरुषोके हृदयमे कृतबुद्धिका उत्पाद नही होता इसी प्रकार पर्वतादिकोमे भी कार्य होनेपर भी कृतबुद्धि नही होती, ऐसा जो कहा था सो भी युक्त नही है क्योकि, वहाँपर ( खड्डे आदिकोमे ) इधर उधर अकृत्रिम जो भूभाग कृतबुद्धिके उत्पन्न होनेमे बाधक मौजूद है उसके रोकनेसे वहाँपर कृतबुद्धि नही होती परन्तु इस प्रकार पृथिवी पर्वतादिकोमे तुम अपने सिद्धान्तानुसार कोई बाधक नही बतला सकते, इसलिये स्वमतकी अपेक्षा तुम्हारे ऊपर दोष सवार ही है अर्थात् पूर्वोक्त दृष्टान्तमे आप निर्वचन नही कर सकते, क्योकि, आपके मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थ कृत्रिम ही है फिर किस प्रकार तथा कौन बाधा कर सकता है। यदि भूधरादिकोको अकृत्रिम ही मान लिया जाय तो सिद्धान्तका अर्थात् आपके मतका विघात होता है। इस प्रकार कृतिबुद्धिकी किसी प्रकार भी उत्पत्ति नही हो सकनेसे हेतुमे विशेषणासिद्धत्व दोषका आघात होता है अर्थात् कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप जो विशेषण कार्यत्व हेतुका होना चाहिये सो नही बन सकता, इसीलिये विशेषणासिद्धि दोष है। अथवा किसी प्रकार थोडी देरके वास्ते विशेषणकी सिद्धि भी मानली जाय तो भी यह हेतु, जिस प्रकार उदाहरणरूप घटमे शरीरादि सहित ही कर्ता होता है इसी प्रकार क्षित्यादिकोका भी कर्ता शरीर आदि विशिष्ट ही सिद्ध हो सकेगा इसलिये अशरीर और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वरके सिद्ध करनेके बदले सशरीर तथा असर्वज्ञकी सिद्धि करनेसे साध्यसे विरुद्धका साधक होनेसे विरुद्ध है।

( शंका ) इस प्रकार दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिमे परस्पर यदि समानता देखी जावे तो सर्वत्र ही हेतु नही बन सकते इसलिये कार्यकारणभावमात्रसे ही व्याप्ति करनी चाहिये तथा इसीमे दृष्टान्त भी है, यावद्धर्मोंसे समानता नही।

( उत्तर ) ऐसा कहना सर्वथा ठीक नही है क्योकि धूमसे अनुमान करते समय महानस ( रसोईगृह ) तथा इतर सर्वत्रकी अग्निके साथ सामान्यरूप ही व्याप्ति की जाती है।

( शंका ) इसी प्रकार सामान्यरूप बुद्धिमत्कर्तृत्वमात्रसे ही लिया जावे तो काम चल सकता है अतः हेतु विरुद्ध नही है।

( उत्तर ) जिन-जिन दृश्य आधार विशेषोसे हेतु दृष्ट हो उन्ही-उन्ही आधार विशेषोको सामान्यरूपतासे कार्य-

त्वहेतु माना जा सकता है। जो आधार विशेष अदृश्य है वह आधार हेतुके आधार सामान्यमें गर्भित नहीं हो सकता यदि ऐसा भी किया जाय तो अतिप्रसङ्ग होगा अथवा खरविषाणकी भी सिद्धि महिषविषाणवत् हो जायगी। जिस प्रकार यहाँ पर अदृश्यविशेषाधार होनेसे खरविषाण नहीं माने जाते उसी प्रकार ईश्वर भी अदृश्य विशेषाधार होनेसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं मानी जा सकती, किंवा यह हेतु ईश्वरमें नहीं जासकता। ( फलित ) यादृशकारणसे जिस प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति दिखती है वैसे ही कार्यसे वैसे ही कारणकी उत्पत्ति अनुमानद्वारा अनुमित करनी चाहिये। जिस प्रकार यावद्धर्मात्मक वह्निसे जितने धर्मविशिष्ट धूमकी उत्पत्ति दिखती है दृढ प्रमाणसे तादृश धूमसे तादृश ही वह्निकी अनुमिति करनी चाहिये, इस कहनेसे, विशेषरूपसे व्याप्तिग्रह नहीं किया जाता क्योंकि, ऐसा करनेसे कोई भी अनुमान नहीं बन सकता ऐसा एकान्तरूपसे कहनेवाला निराकृत किया जाता है ( फलित ) दृश्यविशेषाधारोंमें हेतुको सामान्यरूपसे ही माननेपर भी अदृश्यविशेषाधारमें हेतुकी सत्ता नहीं मानी जा सकती, इसलिये ईश्वर अदृश्यविशेषाधार है। ततः अशरीर तथा सर्वज्ञानमय ऐसे सर्व दृश्याधारोंसे विलक्षण ईश्वरकी कर्तृता बन नहीं सकती, किन्तु कार्योंकी कर्तृता दृश्यविशेषाधार तथा सशरीर असर्वज्ञ ऐसे कुम्भकारादिमें ही बन सकती है। जगत्में कार्य दो प्रकारके देखे जाते है। कुछ तो बुद्धिमत् कर्ताओं द्वारा किये हुये यथा घटादिक, तथा कुछ कार्य तद्विपरीत अर्थात् स्वतः प्रभव, जिस प्रकार स्वतः उत्पन्न तरु तृण आदि, कार्यत्वहेतु दोनों ही कार्योंको पक्ष करनेसे व्यभिचारी है। यदि व्यभिचार नहीं माना जाय तो 'दूसरे पुत्रोंके समान मित्रका गर्भस्थ पुत्र भी श्याम होगा उसीका पुत्र होनेसे' इस अनुमानको भी सच्चा मानना पड़ेगा तथा इसका हेतु भी गमक कहा जा सकता है, इसी प्रकार कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं होगा, क्योंकि जहाँ-जहाँ हेतुमें व्यभिचार है वे सभी हेतु पक्षीभूत हो सकते है। यदि ईश्वरमें अन्य कोई बुद्धिमान् कर्ता कल्पित किया जाय तो अनवस्था आती है। इसी प्रकार कालात्ययापदिष्ट नामक दोष भी आवेगा क्योंकि, स्वत उत्पन्न तरुतृणादिकोंमें कर्ताका अभाव प्रत्यक्ष ही है, जिस प्रकार अग्निमें अनुष्णता सिद्ध करते समय द्रव्यत्वादि हेतु प्रत्यक्षसे बाधित हो जाते हैं क्योंकि, प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमानकी अपेक्षा विशेष प्रमाण है, इसीप्रकार स्वत उत्पन्न तरुआदिकोंमें कर्त्ताका अभाव प्रत्यक्ष होनेसे प्रबल प्रत्यक्ष द्वारा कार्यत्वरूप हेतु बाधित होनेसे ईश्वरमें तरुतृणादिका कर्तृत्व नहीं सिद्ध हो सकता। यदि तृणादिकार्योंमें अदृश्य ईश्वर ही कर्त्ता माना जाय तो क्या हर्ज है ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि, उसकी सत्ता ही सिद्ध नही है तो कर्त्ता है या नहीं यह कल्पना तो दूर ही रही। उस ईश्वरका सद्भाव इसी द्वारा मानते हो अथवा अन्य प्रमाणसे ? यदि इसी द्वारा माना जाय तो चक्रक नामक दोष आता है। ( यह अन्योन्याश्रयके समान है, वह अन्योन्योंमें रहता है यह तीन पर स्थिर रहता है )। वह दोष इस प्रकार है इस अनुमानसे सिद्ध हुए ईश्वरके सद्भावमें ईश्वरके अदृश्यपनेपर अनुपलंभ ( अप्रत्यक्ष ) सिद्ध हो तथा इसके अदृश्यत्व सिद्ध होने पर "कालत्यायपदिष्ट" हेतुदोष ( तरुतृणादिमें कर्तृत्वाभाव प्रत्यक्ष होनेसे कार्यत्वहेतुमें जो दोष बतलाया गया है वह ) निवारण होसके और कालात्ययापदिष्ट दोष दूर होनेपर ईश्वर सद्भाव सिद्ध हो इस प्रकार ईश्वरसद्भावसिद्धि होने पर इसका अनुपलंभ अदृश्यत्वद्वारा सिद्ध हो इत्यादि पुनः वह उसके अधीन, इस प्रकार एककी सिद्धिमें परस्परकी अपेक्षा रहनेसे इसी प्रमाणसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रमाणान्तरसे सत्ता सिद्ध की जाय सो भी बन नहीं सकता क्योंकि, उसकी सत्ताका आवेदक दूसरा प्रमाण ही नहीं है अथवा आग्रहसे माना भी जाय तो सिद्धान्तका विघात होगा।

"तुष्यतु दुर्जनः" न्यायसे किसी प्रकार क्षणमात्रके वास्ते अदृश्य पदार्थोंमें ईश्वरका सद्भाव ही मान लिया जाय तो भी इसमें अदृश्यपना क्यों है ? क्या उसके अदृश्य होनेमें शरीराभाव ( अर्थात् शरीर नहीं होनेसे ), किंवा विद्याका बल ( सामर्थ्य ) अथवा जातिविशेष कारण हैं ? अर्थात् कोई जाति ही ईश्वरकी ऐसी है कि, दृष्टिगत नहीं हो सके। यदि ईश्वरके अदृश्य होनेमें शरीराभाव ही कारण माना जाय तो ईश्वरमें कर्तृता युक्तिसंगत नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तात्माओंके सदृश शरीर रहित होनेसे अर्थात् जिस प्रकार मुक्तात्माजीव अशरीर होनेसे वे कर्त्ता नहीं हो सकते इसी प्रकार अशरीर ईश्वरमें भी कर्तृता नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अपने शरीर बनानेमें ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नके आश्रयपनेसे ही कर्तृता जिस प्रकार देखी जाती है तथैव ईश्वरमें भी शरीर नहीं होने पर कर्तृता, केवल ज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारतासे ही सिद्ध हो सकती है। सो यह कहना असंगत है, क्योंकि शरीर सम्बन्ध होने पर ही ज्ञानेच्छादिमें शरीर करनेकी प्रेरणा है शरीराभावमें नहीं। यदि शरीराभावमें भी प्रेरणा मानी जाय तो मुक्तात्माओंको भी प्रेरणा होनी चाहिये। ( फलित ) शरीर सम्बन्धवाले ही ज्ञानादिकोंके साथ कार्यकारणत्वव्याप्ति है। शरीरको अन्यथासिद्ध माननेपर भी प्रतिज्ञात सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शरीराभावमें ज्ञानादिकी उत्पत्ति ही सिद्ध नही है, ज्ञानादिकी उत्पत्तिमें शरीर कारण है। यदि शरीराभावमें भी ज्ञान माना जाय तो मुक्तात्माओंको भी ज्ञान हो जायगा ऐसा होनेपर सिद्ध

नष्ट होता है। इसलिये शरीर होने पर ही ज्ञानादि होते हैं तभी शरीरादिकी कर्तृता हो सकती है। ततः अशरीरमें कर्तृता नहीं बन सकती। विद्याबल आदि अदृश्यतामें हेतु माना जाय तो कभी तो दिखाई पड़नी ही चाहिये, क्योंकि विद्याधरोंके अदृश्य होनेपर भी सर्वदा अदृश्यता नही पाई जाती, कभी दृश्य भी होते हैं। जिस प्रकार पिशाचादि विद्याबलसे अदृश्य होने पर भी कभी-कभी दिखते भी है। जातिविशेष भी अदृश्यतामें कारण नही हो सकना क्योंकि, जाति अनेकोंमें रहने-वाली होनेसे एकमें जातिविशेष सम्भव ही नही हो सकता ( तदुक्तमीश्वरत्वं न जातिरिति )। अस्तु थोड़े समयके वास्ते अदृश्य भी मान लिया जाय तो भी क्या सत्वमात्रसे ही क्षित्यादिकर्तृता ईश्वरमें है किंवा ज्ञानवान् होनेसे, किंवा ज्ञानाश्रय होनेसे, अथवा ज्ञानपूर्वक व्यापार होनेसे, अथवा ईश्वरता होनेसे ? सत्तामात्ररूपसे कर्त्ता माननेमें कुलालादि भी जगत्के कर्त्ता हो सकते है क्योंकि सत्तामात्र समान ही है। ज्ञानवान् होनेसे जगत्कर्त्ता माना जाय तो योगी भी जगत्कर्त्ता हो सकते है क्योंकि वे भी ज्ञानवान् है। ज्ञानका आश्रय होनेसे ईश्वरमें कर्तृता मानी जाय तो भी बन नहीं सकती क्योंकि ज्ञानाश्रयता ही नही है तो उस हेतुसे कर्तृता सिद्धि कैसी, बिना शरीर ज्ञानाश्रयता नही हो सकती यह पूर्वमें कह चुके है। ज्ञानपूर्वक व्यापार होनेसे कर्तृता मानना भी उचित नही, क्योंकि व्यापार काय, मन, वचनके आश्रय है तथा काय, मन, वचन अशरीरके सम्भव नही, अतएव ज्ञानपूर्वक व्यापार भी नही बन सकता। ऐश्वर्य होनेसे कर्त्ता माना जाय तो क्या ऐश्वर्य अर्थात् ज्ञातापना अथवा कर्तापना किंवा दूसरा ही कुछ ? यदि ज्ञातापना, तो भी क्या सामान्य ज्ञातापना ही, किंवा कुछ विशेष ? यदि सामान्य ज्ञातापना ही कर्तृत्वमें हेतु माना जाय, तो हम भी हो सकते है। यदि ज्ञानविशेष भी माना जाय तो ज्ञानविशेषपर उससे सर्वज्ञता आसकती है ईश्वरता कार्यकर्तृत्वमें क्या इससे हो सकती है ? यदि कर्तापना ही ऐश्वर्य माना जाय तो ऐसा ऐश्वर्य कुम्भकारोंमें भी समान है, ईश्वरमें ही क्या विशेष, जो उसको जगत्कर्ता मानना, कुम्भकारको नही। अन्य भी कोई ऐश्वर्य हेतु नही हो सकता, क्योंकि इच्छा प्रयत्नको छोड़कर अन्य कोई ऐश्वर्य साधन ईश्वरमें है ही नही। इच्छा प्रयत्न भी निम्न कथनसे बन नही सकते। तथ, हि—इन दोषोंपर दृष्टि-मन्द करनेपर भी अन्य प्रश्न उपस्थित होते हैं वे ये—क्या ईश्वरकी जगत् निर्माण करनेमें यथारुचि प्रवृत्ति होती है ? या मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मोंके परवशपनेमें, किंवा करुणासे या क्रीडासे अथवा निग्रह अनुग्रह करनेके वास्ते या स्वभावसे ही ? यदि बिना इच्छाके यथारुचि ही प्रवृत्ति मानी जाय तो कदाचित् दूसरे प्रकार भी ( अन्यथा भी ) बननी चाहिये। कर्म-परवशतासे मानी जाय तो ईश्वरकी स्वतन्त्रता पलायमान होती है। करुणासे मानी जाय, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेसे सर्वदा सर्व जीव सुखी ही रक्खे, दुःखी क्यो देखे जाते है ? यदि कहा जाय कि, "ईश्वर इसमें क्या करे ? प्राणी पूर्वो-पार्जित कर्मोंके परिपाकसे दुःखका अनुभवन करते है।" तो मनुष्योंके पूर्वोपार्जित कर्मोंसे ही कार्यकी सिद्धि होते हुए भी ईश्वरको कर्त्ता कल्पित करना निष्प्रयोजन है।

क्योंकि कर्मके वशीभूत ही माननेसे जगतकी उत्पत्ति, प्रलय, सुख-दुःख आदि धर्मोका विकार द्रव्योंमें उत्पन्न होना सम्भव है। इसलिये करुणासे ईश्वरका जगत् निर्माण करना कदापि प्रमाणसंगत नही हो सकता। यदि चतुर्थ पञ्चमपक्ष अर्थात् क्रीडाकारित्व तथा निग्रहानुग्रह करनेका प्रयोजन ये दो पक्ष उसको उत्पत्तिमें कर्त्ता बननेके हेतु माने जायं तो वीतरागता तथा द्वेषाभाव ये दोनो धर्मोका मानना ईश्वरमें नही बन सकता, क्योंकि क्रीडा करनेवाला होनेसे ईश्वरमें रागका सद्भाव मानना पड़ेगा, जिस प्रकार बालक क्रीडा करता है इसलिये वह उस समय राग सहित समझा जाता है। एवं अनुग्रह करनेवाले राजाके समान अनुग्रह कर्त्ता होनेसे भी रागवान् हो सकता है। तथा निग्रहका विधाता होनेसे द्वेषवान् भी ईश्वर मानना पड़ेगा यथा राजा, इसलिये पूर्वोक्त दोषग्रामका आराम बन जानेसे कर्तृता निर्दोष ईश्वरका सदोष बनानेवाली समझ कोई भी अङ्गीकार नही कर सकता। यदि ईश्वरका स्वभाव ही कर्तृरूप माना जाय तो क्या दोष है ? उस प्रश्नका उत्तर, यदि स्वभावतः ही कर्त्ता माना जाय तो जगत्में भी स्वभाव माननेसे जगत्की उत्पत्ति आदि सम्भव होनेपर भी असम्भव तथा अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना कहाँतक सत्य है, यह पाठकोंकी बुद्धिपर निर्भर करते है। ऐसा नही हो सकता कि, जगत्में यह स्वभाव नही हो सके और ईश्वरमें सम्भव हो सके। यदि यह स्वभाव ही है तो कौन किससे रोक सकता है ( तदुक्त-स्वभावोऽतर्कगोचरः )। इस प्रकार कार्यत्व हेतुको सर्वतः विचारनेपर भी बुद्धिमान् ईश्वरको कर्त्ता बना नही सकता। इसी प्रकार सन्निवेशविशेष, अचेतनोपादानत्व, अभूत्वाभावित्व, इत्यादिक अन्य भी हेतु आक्षेपसमाधान समान होनेसे ईश्वरको कर्त्ता सिद्ध नही कर सकते है।

क्षित्यादिकोंको बुद्धिमत्कर्तृक जन्य बनानेके लिये बतलाये पूर्वोक्त हेतुओंमें पूर्वोक्त दोषोंके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी दोषोंकी उद्घाटना हो सकती है। तथा हि, पूर्वोक्त हेतु कुलालादि दृष्टान्तोंमें सशरीर, असर्वज्ञ, असर्वकर्तृत्व आदि विरुद्धसाधक होनेसे विरुद्ध है। यदि वह्निके अनुमानमें भी कहा जाय कि, इतने विशेष धर्मोंकी समानता मिलनेपर

वह्निका भी अनुमान नहीं बन सकेगा सो यह कहना वह्निके अनुमानमें दोषोत्पादक नहीं, क्योंकि वह्निविशेष महानसीय, पर्वतीय, वनोत्पन्न, तृणोत्पन्न तथा पर्णोत्पन्न आदि सभी वन्हि कहींपर प्रत्यक्ष होनेसे सर्व वह्निमात्रमें धूमको व्याप्त निश्चय करनेसे धूमसामान्य ही सामान्यवह्निका अनुमापक हो सकता है तथा सर्व कार्योंमें बुद्धिमत्कर्तृता उपलब्ध नहीं होती जिससे कि, कार्यत्वहेतुको यावत्कार्यविशेषसे व्याप्त मानकर कार्यत्वहेतुकी बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्वके साथ व्याप्ति मान सकें। यदि कहो कि, सर्व जगत् हो उपलब्ध है तो उसका बुद्धिमत्कर्तासे उत्पन्न होना कैसे उपलब्ध कर सकते है? अतएव विना अवधारण किये भी कहींपर कार्यका कर्तासे जन्य देखकर सर्वत्र कार्यत्वहेतुकी बुद्धिमत्कर्तृजन्यताके साथ व्याप्ति मान लेते हैं। उसका उत्तर—उपलब्ध क्षितिपर्वत आदि अनेक कार्योंमें कर्तृविशेषका अभाव देखते हुए कार्यमात्रके दो विभाग कल्पना करने चाहिये एक तो बुद्धिमत्कर्ताओंसे जन्य यथा घटादि दूसरे वृक्ष, वन, पर्वत आदि—जो किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं हुए किन्तु स्वतःही उत्पन्न तथा विलीन होते है। इस प्रकार यदि सर्व दृश्य पदार्थोंमें कर्तृजन्यता उपलब्ध होती तो अदृश्य पदार्थोंमें भी कल्पना करना कदाचित् सम्भव होता परन्तु दृश्य कार्योंमें ही दो विभाग देखते हुए एक विभाग लेकर व्याप्ति बनाना मान्य नहीं हो सकता है। ये हेतु व्यभिचारी भी है क्योंकि विद्युत् आदि कार्योंका प्रादुर्भाव बुद्धिमत्कर्ताके विनाही होता है। जो हेतु लक्ष्यसे अधिक देशमें निकल जाता है वह व्यभिचारी कहा जाता है। यहाँपर भी यह कार्यत्वहेतु अपने लक्ष्यमात्र जो बुद्धिमत्कर्तृजन्य पदार्थ उनसे बहिर्भूत जो विना कर्ताके जन्य विद्युत् आदि कार्य उनमें फैल जाता है। तथा स्वप्नादि अवस्थामें बुद्धिमत्कर्ताके विनाही जो कार्य उत्पन्न होते है उनमें व्याप्त होनेसे भी अलक्ष्यमें गमन करनेसे व्यभिचारी है। एवम् प्रत्यक्ष आगम बाधित विषयमें प्रवृत्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट नामक दोषसे भी ये हेतु दुष्ट है। एवं प्रकरणगतचिन्ता उत्पादक हेत्वन्तर दीखनेसे प्रकरणसम नामक दोषसहित भी ये हेतु हो सकते है। तथाहि, ईश्वर जगत्का कर्ता नहीं हो सकता, उपकरण ( सामग्री ) रहित होनेसे, यथा चक्रदण्ड सूत्र आदि उपकरण रहित कुलाल घटादि कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता। उपकरणका अभाव ईश्वरके प्रसिद्ध ही है। एवं व्यापक होनेसे भी तथा एक होनेसे भी कार्यकर्ता नहीं हो सकता। आकाशादि जिस तरह व्यापक तथा एक होनेसे कार्योंके कर्ता नहीं हो सकता। आकाशादि जिस तरह व्यापक तथा एक होनेसे कार्योंके कर्ता नहीं हो सकते एवं ईश्वरमें भी एकत्व तथा व्यापकता है। अतएव कार्योंका कर्ता नहीं हो सकता। नित्य होनेसे ईश्वरका उपकरण आदिकी आवश्यकता नहीं है ऐसा कहनाभी ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वरमें नित्यताही नही बन सकती है। यह आगे दिखाया जाता है।

यदि कहा जाय कि, ईश्वरके नित्य होनेसे कुलालवत् दृष्टान्त नहीं हो सकता, सो भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वरमें नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। तथाहि—क्षित्यादि कार्योंके करनेके समयमें स्वभावका भेद संभव होनेसे ईश्वर नित्य नहीं हो सकता क्योंकि जो प्रच्युत न हो तथा उत्पन्न न हो स्थिर हो एकस्वभाव ही सदा रहे और कूटस्थ हो अर्थात् सर्वदा अविनाशी रहे उसको नित्य कहते है। ईश्वर ऐसा कदापि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो सर्वदा सृष्टिके संहार तथा उत्पत्ति आदि विरुद्ध कार्योंका करनेवाला है वह एक स्वभाववाला कैसे रह सकता है। यदि सदा एक स्वभाववाला ही माना जाय तो उत्पत्ति तथा नाश आदि विरुद्ध कार्योंका कर्त्ता नही बन सकता। यदि ईश्वरके ज्ञानादि गुणही नित्य माने जाँय सोभी ठीक नही, क्योंकि ज्ञान भी हमारे समान होनेसे नित्य नही माना जा सकता। नित्य माननेमें प्रतीति नहीं बनती तथा 'ईश्वरज्ञान नित्य नही है ज्ञानत्व होनेसे अस्मदादिज्ञानवत्' इस अनुमानसे भी विरोध है। इस कथनसे ईश्वर ज्ञान नित्य है ऐसा जो वादीने प्रथम कहा था वह परास्त हुआ। ऐसा ही श्लोकवार्तिकालंकारमें कहा है "बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत्। इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाधारणं ध्रुव" इति। ईश्वरको कर्त्ता माननेवालोंके मतमें ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्धि भी नहीं होती। यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे मानी जाय तो प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे सम्बद्ध पदार्थकाही ग्रहण करता है, यदि अनुमानसे मानी जाय सो भी ठीक नहीं क्योंकि अनुमानमें अव्यभिचारी लिङ्गको जरूरत होती है यहाँपर कोई अव्यभिचारी हेतुही उपलब्ध नहीं है जिससे अनुमान हो सके। जगत्की विचित्रताही हेतु माना जाय अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ है जगत्की विचित्रता अन्यथा असम्भव होनेसे, इस प्रकार सर्वज्ञकी सिद्धि मानी जाय सोभी ठीक नही। क्योंकि यदि सर्वज्ञके बिना जगत्की विचित्रता नहीं हो सके तो ईश्वर सर्वज्ञको कल्पना करना उचित है, परन्तु जगत्की विचित्र उत्पत्ति तो जीवोंके शुभाऽशुभ कर्मके परिपाकसे हो सकती है। फिरभी ईश्वरके बिना जगत्की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय? भावार्थ, उसके बिनाही जगत्की उत्पत्ति होनेसे अविनाभावी हेतु सर्वज्ञसाधक कोई नही हुआ जिससे कि, सर्वज्ञसिद्धि हो। तथा यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो जिनका पीछेसे विनाश करना पड़ता है अर्थात् ईश्वरका भी अपमान करनेवाले ऐसे असुरोंको तथा हम लोगोंको जिनका पीछेसे विनाश करना पड़ता है—किसलिये बारबार बनाता है? इस पूर्वापरविरोधसे जाना जाता है कि, परकल्पित ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है। एवं ईश्वर सर्वज्ञ है तथा सृष्टिका कर्त्ता है तो यावत्कार्योंके अन्तर्गत यावत् शास्त्रों-

की भी रचना उसकी आज्ञासे ही होती है। अतः विरुद्ध आचारण करने वाला कोई भी शास्त्र नहीं हो सकता तथापि ईश्वरकर्तृत्वके विरुद्ध बोलनेवाले प्रतिपक्षी खड़े होते हैं। क्या उत्पत्तिकालमे ऐसा ज्ञान नहीं था कि, यह रचना हमारे ही स्वरूपके टुकड़े टुकड़े करनेवाली होगी। यदि कर्मपारवश्यमे रचना मानी जाय तो कर्मपरवशतासे ही हो सकती है फिरभी ईश्वरमें कर्तापनेका पुंछल्ला क्यों लगाया जाता है। स्वभावोऽतर्कगोचरः। वस्तुका स्वभाव तर्कगोचर नहीं है परन्तु प्रबल प्रमाणमे जो बाधित हो जाता है वह स्वभाव नहीं माना जा सकता। तदुक्तम्—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥

—आप्तमीमांसा

इस कथनसे सृष्टिकर्ता ईश्वरकी किसी प्रकार भी सिद्धि नही हो सकी। इसलिये सत्यार्थप्रकाशक, वीतराग, सृष्टिकर्तृत्वधर्मशून्य ही देव देवत्वरूपसे आदरणीय है, अन्य कोईभी नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ।

न्यक्षेणाप्तपरीक्षा प्रतिपक्षं क्षपयितुं क्षमा साक्षात्।
प्रेक्षावतामभीक्ष्णं विमोक्षलक्ष्मीः क्षणाय संलक्ष्या॥

—आप्तपरीक्षा

इस लेखके पूर्वापर पक्षोंके वाचकवृन्दोंको कोई शंका नही रहेगी, यदि हो तो सूचना आनेपर उत्तर अवश्य दिया जायगा।
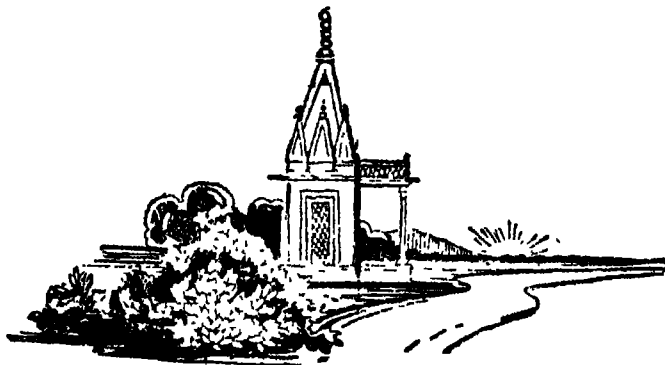
# सुशीला उपन्यास : एक अनुशीलन

प्रोफेसर—श्री कृष्ण मोहन अग्रवाल, एम० ए० ( ऑनर्स )
संस्कृत-प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कॉलेज, आरा

●

इस उपन्यासको आधारशिला धार्मिकतथ्यों पर आधृत है। लेखकने रोचक और शिक्षाप्रद कथाके माध्यमसे जीवनका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया है। इसमें उच्च वर्गकी मर्यादाओं, मूल्यों और प्रवृत्तिओंका सुन्दर विश्लेषण किया है; साथ ही धनिक वर्गमें निहित विलासिताकी प्रवृत्तिका उद्‌घाटन भी। आदर्श और यथार्थवादके सिद्धान्तको जीवनमें प्रयुक्त करनेवाले पात्रोंका अस्तित्व इस उपन्यासमें है। उपन्यासका आरम्भ विकार और विलासमे होता है पर अन्त त्याग और आत्मशोधनमें। वास्तवमें उसकी कथावस्तुके दो बिन्दु है—वासना और संयम। समस्त कथासूत्र इन दोनों बिन्दुओंका स्पर्श करता हुआ जीवनवृत्तका सृजन करता है। कुतूहलकी सृष्टि कर मानवीय मनोवेगोंको यथार्थरूपमें प्रस्तुत कर समाजका परिमार्जन या शोधन करना ही लेखकका लक्ष्य है। लेखकने सम्यक्त्व, मिथ्यात्व जैसे पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग एवं उनके स्वरूपोका विश्लेषणकर भावोंके प्रस्फुटनका पूरा प्रयास किया है,अतः उपन्यासकार गोपालदासने जीवनकी बहुमुखी प्रवृत्तियों, एषणाओं एवं उनकी प्राप्तिके लिए किये जानेवाले साधनोंका सम्यक् चित्रण किया है। अतः हमारी दृष्टिमें इस उपन्यासका विनोदमात्र लक्ष्य नहीं है और न यह विश्रामके क्षणोंको यापन करनेका साधन ही। यह तो सात्विक भावो और अनुभूतियों-को उद्‌बुद्ध करनेके लिए लिखा गया पौराणिक उपन्यास है। हमें पुराण और उपन्यासका दही-गुड़के समान एक साथ ही रसास्वादन प्राप्त होता है। इतना होनेपर भी कथावस्तुकी रोचकता और कौतूहल संवर्द्धनमें न्यूनता नही आने पायी है। 'आगे क्या होगा' की जिज्ञासा पाठकके हृदयमें उपन्यास-समाप्तिके पूर्व तक बनी रह जाती है, और यही लेखककी सबसे बड़ी उपलब्धि है। आश्चर्य यह है कि उपन्यासके अन्तिम पृष्ठोंमें गुणस्थान जैसे गहन विषय भी कथारसमें विरसता उत्पन्न नहीं कर सके है। दुराचारी और सदाचारी व्यक्तियोंके मानसिक द्वन्द्वोंका भावपूर्ण चित्रण हुआ है। साहस और प्रेम दोनों ही तत्त्वोंका सम्मिलित रूप पाठकोंके मानस चक्षुको पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है।

जयदेव और उदयसिंह के विरोधी जीवनदर्शन मानव मात्रके जीवनपथको आलोकित करनेके लिए दीपस्तम्भ है। चरित्र और जीवन-सिद्‌धान्त विषयकीट मानवको अभ्युदयकी ओर ले जानेमें समर्थ है। कथावस्तुके ग्रथनकी पद्‌धति विशुद्‌ध पौराणिक है। पात्रोंकी जलपोत द्वारा यात्रा, जलपोतोंका विघटन, सौभाग्यवश इस विपत्तिसे पापोका बच निकलना और उन्हे अभीष्टकी प्राप्ति होना आदि कथानक अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत-प्राकृतके आख्यान ग्रन्थोंकी उक्त शैली ही है। 'समराइच्चकहा', सुदंसणचरिय', 'सुपासनाह चरिय' प्रभृति ग्रन्थोंमें प्रयुक्त कथानक रूढियाँ ही इस उपन्यासमें व्यवहृत हुई है। 'कथासरित्सागर' और 'दशकुमारचरित' में प्रयुक्त कई आख्यानांश उपन्यासमे ग्रहण किये गये है। लेखकके पात्र कल्पित है पर कथासूत्रके नियोजनकी प्रणाली टकशाली है। मनुष्यकी व्यक्तिगत बाह्य और आन्तरिक क्रिया-प्रतिक्रियाओंका चित्रण सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है।

औपन्यासिक तत्त्वोंकी दृष्टिसे यह उपन्यास कहाँ तक सफल है, यह तो आगे विचार किया जायगा। सर्व-प्रथम यहाँ हम उपन्यासकी मानस-भूमिका अङ्कन प्रस्तुत कर जीवनमूल्यों, तथ्यों एवं सत्योंकी अभिव्यञ्जना प्रस्तुत करेंगे। व्यक्ति और समाजके जीवनका चित्रण उपन्यासकारने बड़े ही कौशलके साथ प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार कुशल इञ्जीनियर भव्य भवनके निर्माणके पूर्व रेखाचित्र ( Design ) अङ्कित कर लेता है और उसीके आधार पर भवनका निर्माण करा देता है उसी प्रकार उपन्यासकार भी जीवन-लक्ष्यों और मूल्योंकी एक आकृति मनमें गढ़ लेता है और उसी आकृतिके आधारपर अपने उपन्यासके पात्रोंका सञ्चालन करता चलता है। मानसभूमिके अभावमें उपन्यास-कारके पात्र जीवन्त नहीं हो पाते, और न वे सांसारिक रङ्गमञ्चपर कुशलतापूर्वक अपना अभिनय करनेकी ही क्षमता

रखते है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमें पृष्ठभूमिका चित्र न अङ्कन करनेपर पात्र केवल कठपुतलियोंके समान दूसरेके द्वारा प्रेरित हो कार्यकलाप करते है।

## मानस-भूमि

शील, सदाचारके प्रति लेखकके मनमें अपार आस्था है। वह व्यभिचार या दुराचारको हेय तथा निन्द्य मानता है। जीवनका वास्तविक लक्ष्य त्याग, साधना और तपश्चर्या है। वह पात्रोंके अन्तश्चेतनाके रहस्यको उद्घाटित करना चाहता है। प्रेम मानवको अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसका मोहकरूप वासनाके पाशमें बाँध लेना चाहता है, पर श्रेय ऐसा नहीं करने देता। लेखक परम्परा द्वारा प्राप्त अर्थोको अपने युगकी परिस्थितिके अनुकूल मोड़ना चाहता है। पुराने जीवन-मूल्योंमें संशोधन, संवर्द्धन और परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक समझ उपन्यासकारने जीवनकी मान्यताओंकी संस्थापना युगानुकूल की है। उपन्यासकारकी कुशलता इसी बातमें है कि उसकी मानसभूमिका आयाम कितना विस्तृत है और इस आयामके आधारपर उसने कैसा रेखाङ्कन किया है और अङ्कित रेखाओंमें रङ्गोंकी आपूर्ति किस प्रकार की है। धार्मिक विधि-विधान, शिष्टाचार, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार युगानुसारी आवश्यकताएँ प्रस्तुत करते है। फलतः लेखकके अन्तसमें किसी भी कृतिके पूर्व कल्पनाओंका एक मण्डल अथवा बिम्बोंका एक धरातल उत्पन्न हो जाता है और लेखक सहजानुभूतिके द्वारा इन बिम्बोंको शब्दोंके आवरणमें लपेट कर अभिव्यक्त करता है। अभिव्यञ्जनाकी इस कुशलताका दूसरा नाम ही प्रेषणीयता है। उपन्यास या काव्यमें मानस-भूमिके विस्तृत होनेसे ही अभिव्यञ्जनामें सजीवता उत्पन्न होती है।

'सुशीला उपन्यास'का मानस-धरातल उन्नत और विस्तृत है। वासनाओंके अवदमनके स्थानपर व्यक्ति उनका नियमन अथवा उन्नयनकर अपने जीवनको सुखी अथवा कलात्मक बनाता है। इतना ही नही, सतर्कता और ज्ञान-पूर्वक किया गया वासनाओंका नियमन (suppression) जीवनके लिए सुख और सन्तोष प्रदान करता है। जो वासनाएं बलपूर्वक दबाई जाती हैं या दब जाती है। वे रह रहकर चेतन स्तरपर अपना ताना-बाना बुनती रहती है और किसी दिन उनका भयङ्कर विस्फोट होता है। जिस प्रकार वर्षाका पानी जहाँ-तहाँ प्रवाहित होता है, पर जब वह पनालेसे होता हुआ नदीमें आ गिरता है, तो उसे वेग और धारा मिल जाती है, इसी प्रकार जब वासनाओंको नियन्त्रित रूपमें एकत्र नियोजित कर दिया जाता है, तो वे भी जीवन-सरिताकी धारा बन जाती है। स्पष्ट है कि जब दो कगारोंके बीच वर्षाका जल प्रवाहित होता है तो उसे धारा कहते हैं, इसी प्रकार वासना और त्याग इन दो बिन्दुओंके मध्य जीवन भी नियन्त्रित होकर सञ्चालित होता है तो उसे संयमित जीवनकी परिभाषा प्राप्त होती है। जीवनकी गतिशीलता इसी तथ्यमें निहित है कि वह कर्त्तव्य और दायित्वके कगारोंका स्पर्श करता रहे। लेखकने स्वयं ही उपन्यासके अष्टम पर्वमें मानस भूमिका संकेत प्रस्तुत किया है—"विषय-भोगोंसे विरक्त महात्माओंको जो सुख प्राप्त होता है, इन्द्र और चक्रवर्तियोंका विषय-जन्य सुख उसके अनन्तवें भागके बराबर भी नहीं है। इस कारण यदि सच्चे सुखकी वाञ्छा है तो शिव-सुखके कारण-भूत धर्मकी साधना करनी चाहिए।"

"यदि वास्तवमें देखा जाय तो सन्तोषके समान संसारमें कोई सुख नही और तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं। अतः जिन महानुभावोंने इन विषयोंमें तृष्णाका त्याग करके दिगम्बरीय दीक्षाका अवलम्बन किया है, वे ही धन्य है, और जिन्होंने मद-मदन-कषाय शत्रुओंके वशीभूत हो विषय-कषायोंका त्याग नही किया तथा नरकादिके घोर दुःखोंसे भयभीत नहीं हुए, तो उनके लिए मनुष्य जन्मका पाना निष्फल है।"

"स्वजन, पुत्र, कलत्र, माता-पिता, भाई, मित्र, धन यौवन, बल-वीर्य, आयु और शरीर इत्यादि समस्त सामग्रीको चपलाकी चञ्चलताके समान क्षणभङ्गुर देखते हुए भी यह मूढात्मा आत्मकृत्यसे विमुख रहे, तो इससे बढ़कर और क्या कष्टकी बात हो सकती है? अतः यदि सच्चे सुखकी अभिलाषा है तो संसार-मार्गसे विरक्त होकर मोक्ष-मार्गमें संलग्न होना चाहिए। विषय-पिपासाको छोड़ ज्ञानार्जनमें संलग्न होना और रमणियोंके चञ्चल कटाक्षसे विरक्त हो प्रशम सुखका अवलम्बन करना जीवनके लिए उपादेय है। धर्म और कर्त्तव्यको भाग्य भरोसे छोड़ पौरुष हीन हो जाना न्यायसङ्गत नहीं।"[1]

इस सन्दर्भसे स्पष्ट है कि 'सुशीला-उपन्यास' की मानसभूमि संयम-त्याग और वैराग्यकी नींवपर अवलम्बित है। उपन्यासकार अपने पाठकोंको एकाएक निवृत्ति मार्गकी ओर ले जाना नहीं चाहता। वह प्रवृत्तिमार्गके सम्यक् पालनसे

१. सुशीला उपन्यास—प्रथम संस्करण—पृ० २९-३०।

ही निवृत्तिमार्गकी ओर पाठकको मोड़ देना चाहता है। कर्म, भाग्य, पूजा, प्रतिष्ठा आदि भी उपन्यासकारके मानसमें स्पन्दन उत्पन्न करते हैं। एक अन्य सन्दर्भसे उपन्यासको मानसभूमिका सङ्केत उपलब्ध होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार उक्त अदृष्टके धरातलपर उपस्थित हो अपने पाठकोको विधेय कर्त्तव्योंकी ओर ले जाना चाहता है—

"कर्मोंकी बडी विचित्र गति है। जिन बातोंकी कल्पना भी किसीके हृदयमे नही हो सकती, उन बातोको हम विधिवशात् सम्पन्न होते हुए देखते हैं। राजासे रङ्क बनना और रङ्कसे छत्रधारी बनना कर्मोंका ही कृत्य है। कर्मोंकी दृष्टिमें धनवान्, दरिद्र, विद्वान् मूर्ख बलवान् और शक्तिहीन सभी समान हैं, वे सबसे गलेमे एक रस्सी डालकर नृत्य कराते है। कोई इस नृत्यमे दुःखी हो अथवा सुखी हो, इसको इन्हें परवाह नही। उनका कार्य एक क्षण भर भी बन्द नहीं होता।[1]"

उक्त उद्धरणसे सुशीला उपन्यासका एक स्तम्भ अनिवार्य अदृष्ट भी है। तीव्र कर्मोदयके होनेपर व्यक्तिका पुरुषार्थ शिथिल हो जाता है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि लेखकका विश्वास अदृष्टसे अधिक पुरुषार्थमें है, पर निकाचित कर्मोंके फलका परिवर्त्तन किसी प्रकार सम्भव नहीं, यह भी लेखकको दिखलाना है। वास्तवमें उपन्यासकी कथा-वस्तुको परिचालित करनेके लिए लेखक द्वारा मान्यता प्राप्त कतिपय जीवन-सिद्धान्त ही होते हैं। व्यक्तिका 'अहं' संसारके बाह्यपदार्थोंके साथ परिस्थितिकी प्रतिकूलताके कारण संघर्ष करता है और अपनेको समन्वित करनेमें असमर्थ पाता है। फलतः सासारिक भोगस्तरसे ऊपर उठ आदर्शके साथ वह सम्मिलित हो जाता है। मनोविज्ञानका यह सिद्धान्त उपन्यास की कथा वस्तुमे आद्यन्त व्याप्त रहता है कि आदर्शसे अनुप्राणित और परिचालित व्यक्तिका 'अहं' 'अति अहं' (Super-egg.)के स्तरपर पहुँच जाता है और उपन्यासकी कथा-वस्तुको आदर्शके स्फुलिङ्ग उद्दीप्त करते जाते है। काम्य वस्तुको आदर्शके स्थानमे स्थापित करनेके लिए व्यक्तिको अपनी पूरी शक्ति लगानी पड़ती है, तभी वह अपने लक्ष्यमें सफलता प्राप्त करता है। संक्षेपमे 'सुशीला उपन्यासका' मानस-धरातल निम्नाङ्कित सूत्रोंमे आबद्ध है—

१. यथार्थ और अयथार्थवादी प्रवृत्तियोंको परिस्थिति और वातावरणके विशेष विशेषरूपोंमें आदर्शकी ओर उन्मख करना और आदर्शकी विजय दिखलाकर यथार्थको श्रेय एवं निन्द्य घोषित करना।

२. जीवनका सार और सुख संयम और त्यागमे है। मनुष्यकी क्रिया और प्रतिक्रियाएँ यथार्थसे टकराती हुई शाश्वतिक सत्यकी ओर मुड़ती है, अत प्रेमपर श्रेयकी विजय दिखलाना।

३. भाग्य और पुरुषार्थका द्वन्द्व प्रदर्शित कर अनेकान्तात्मक दृष्टिसे उभय-पक्षका मूल्याङ्कन।

## कथावस्तु

इस उपन्यासकी कथावस्तुका आरम्भ राजा महाराजाओं के विलास-क्रीडा एवं आमोद-प्रमोदोंसे हुआ है। उपन्यासकारको जीवन-परिमार्जनके लिए सामन्तशाहीका चित्रण करना आवश्यक था। अतः उसने विलासपुरके महाराज विक्रमसिंहके अंतःपुरसे कथावस्तुका सूत्रपात किया है। इनकी पत्नीका नाम मदनवेगा था। विक्रमसिंहको नाना-प्रकारके विधि-विधान सम्पन्न करनेपर भी पुत्रस्पर्शका सुख नसीब न हुआ। उन्हें सुशीला नामकी एक कन्याकी प्राप्ति हुई जो 'यथा नाम तथा गुण' थी। दम्पतिका कन्याके प्रति अपार अनुराग था। वह उनकी आँखोकी पुतली थी और थी राजपरिवारका जीवनाधार। सुशीला रूप-गुणमें भी अद्वितीय थी। उसकी अप्रतिम प्रतिभासे चकित हो अध्यापिकाने ६ वर्षकी अवस्थामे ही उसे सरस्वतीकी उपाधिसे विभूषित कर दिया। सुशीलाका जीवन लक्ष्मी और सरस्वतीके जीवन-का सम्मिश्रण था।

कालक्रमानुसार सुशीलाने यौवनकी देहलीपर पैर रखे। उसका नवमल्लिका जैसा शरीर यौवन-पुष्पोसे आच्छादित हो गया। लावण्य अंग-अंगसे फूटकर बाहर निकलने लगा। लज्जा और विनयने उसकी शील-मर्यादाको सीमितकर दिया। एक दिन वह अपनी सखियोंके साथ प्रमद वनमे दोला क्रीडाकर रही थी कि उसी समय सूर्यपुरके राजा निहालसिंहके पुत्र उदयसिंहकी वक्रदृष्टि उसपर पडी। सुशीलाके अनिन्द्य सौन्दर्यने उसे मोहितकर डाला, वह अपना आपा खो बैठा और वासनाने उसे घर दबाया। अब उसे सुशीलाके बिना एक क्षण भी व्यर्थ प्रतीत होने लगा, अतः वह अपने अन्तस्में कभी सुशीलाकी रमणीय रूपाकृति अंकित करता, कभी उसका चिन्तन करता, कभी उसके रूप-लावण्यके सरोवरमे डुबकी लगानेकी चेष्टा करता और कभी नाना प्रकारसे अपने मनको धैर्य बंधाता। उसका मन मर्यादाकी सीमा तोड़ चुका था, अतः वह अपने मनकी व्यथाको अपने भीतर छिपानेमें असमर्थ था। उसने अवसर प्राप्तकर अपने हृदयकी

१. सुशीला उपन्यास—प्रथम संस्करण पृष्ठ १४७।

बात अपने अन्तरङ्ग मित्र बलवन्तसिंहसे कही। बलवन्तसिंहने मित्रको सान्त्वना देते हुए विश्वास दिलाया कि मैं सुशीलाकी प्राप्तिके लिए सभी प्रकारके साध्य प्रयत्न करूँगा। फलतः मित्रको सुखी और सन्तुष्ट बनानेके हेतु बलवन्तसिंह अपने प्रयासमें संलग्न हो गया।

सुशीलाके पिता विक्रमसिंहको आखेट क्रीडाकी बड़ी अभिरुचि थी। वे सघन अरण्योंमें जाकर सिंह पशुओंका आखेट किया करते थे। एक दिन उनका साक्षात्कार विजयपुरके प्रसिद्ध व्यापारी श्रीचन्द्रके पुत्र जयदेवसे हुआ। जयदेव क्षत्रिय कुमार होनेपर भी शीलसे मण्डित था। उसका शिष्टता पूर्वक किया गया वार्तालापका ढंग, विशेष आकर्षक था। जितना रूपसौन्दर्य था, उससे कहीं अधिक ज्ञान और प्रतिभाका विकास। जयदेव शिष्ट, विनयी होनेके साथ शूरवीर भी था। उस जैसा साहसी और कर्त्तव्यकर्मपर प्राण देनेवाला शायद ही कोई अन्य व्यक्ति हो। विक्रमसिंह समस्त गुणोंका समवाय एक ही व्यक्तिमें प्राप्तकर आश्चर्यचकित तो था ही, हर्षविभोर भी हो गया। उसने मन ही मन अपनी पुत्री सुशीलाका विवाह जयदेवके साथ कर देनेका निश्चय किया। वह जयदेवको बिलासपुर पधारनेका निमन्त्रण दे अपने राज्यमें वापस लौट आया। समय पाकर जयदेव विक्रमसिंहके यहाँ पहुँचा। महारानी मदनवेगा तथा राजपरिवारके अन्य व्यक्ति भी जयदेवके रूपसौन्दर्य और शीलसे प्रभावित हो गये। फलतः विक्रमसिंहने पुरजन, परिजनकी सम्मति प्राप्तकर अपनी कन्या सुशीलाका पाणिग्रहण जयदेवके साथ सम्पन्न कर दिया। सुशीला भी जयदेव जैसे गुणी पतिको प्राप्तकर निहाल हो गयी। उसकी जन्म-जन्मकी साधना सफल हुई। वे दोनों दम्पति दो शरीर और एक प्राण थे। वैसा आदर्श प्रेम कम ही दम्पतियोंमें परिलक्षित होता है।

वासनाकीट उदयसिंह सुशीलाके पाणिग्रहणका समाचार अवगत कर हतप्रभ हो गया। वह सोचने लगा विवाह हो जाना ही सुखका साधन नहीं है। क्या मैं जयदेवकी हत्या कर सुशीलाको प्राप्त नहीं कर सकता? मैं सुशीलाके रूप-सौन्दर्यपर आसक्त हूँ और उसे अंसगत किये बिना नहीं रहूँगा। यह विक्रमसिंह भी कैसा मूर्ख है जिसने एक व्यापारीके पुत्रके साथ अपनी कन्याका सम्बन्ध कर दिया। क्षत्रियकुमार होनेपर भी आजीविकाका प्रभाव तो उसपर है ही। अतः मुझ जैसे पराक्रमीके समक्ष जयदेव क्या ठहरेगा? मैं चाहूँ तो बलपूर्वक सुशीलाका अपहरण कर सकता हूँ। पर लोकापवादका इसमें भय है। अतः बुद्धिपूर्वक ही मुझे अपने कार्यको सिद्ध करना है। मेरा पराक्रमी मित्र बलवन्तसिंह तो मेरे साथ है ही, अतः मुझे लक्ष्यसिद्धिमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होगा।

पाणिग्रहण संस्कारके अनन्तर जब सुशीला और जयदेव विजयपुरके लिए रवाना हुए तो उदयसिंहने षड्यन्त्र रचा। कुछ दूर चलनेके अनन्तर वह नवदम्पतिसे मिला और मधुर वार्तालाप द्वारा उसने उनका विश्वास प्राप्त कर लिया। उसने नवदम्पतिको सलाह दी कि इस प्रचण्ड गर्मीमें स्थलमार्गसे यात्रा करना निरापद नहीं है। अतः जलमार्गसे यात्रा करनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि जलमार्गसे यात्रा करने पर थोड़े ही समयमें हमलोग विजयपुर पहुँच जायेंगे। चाँदनी रातका मनोरम दृश्य जलयात्राके सौन्दर्यको कई गुना बढ़ा देगा। निश्छल जयदेव कपटी उदयसिंहकी बातोंमें आ गया और उसने नौका द्वारा यात्रा करनेकी स्वीकृति दे दी। उदयसिंह और बलवन्तसिंहने मल्लाहोंको पहलेसे ही अपने पक्षमें कर लिया और उन्हें रुपयोंका लालच देकर इस बातके लिए तैयार कर लिया कि वे मध्यधारामें पहुँचने पर नौकाको जलमें डुबा दें।

चन्द्रोदय होते ही नावपर जयदेव, उसका परममित्र भूपसिंह तथा सुशीला और उसकी दो-चार सखियाँ सवार हो गयी। उदयसिंह और बलवन्तसिंह नदीके तटपर नौकाके साथ ही साथ चलने लगे। जब नौका बीचधारमें पहुँची तो मल्लाहोंने पूर्वायोजित षड्यन्त्रके अनुसार उसे डुबा दी।

जयदेव नौकाके एक काष्ठखण्डके सहारे बहता हुआ तटपर पहुँचा। भूखसे उसकी अंतड़ियाँ सूख रही थीं और उसमें एक कदम भी चलनेकी शक्ति नहीं थी। पर 'मरता क्या नहीं करता' की किंवदन्तीके अनुसार उसे किसी प्रकार शक्ति एकत्र कर दो कोस चलनेका प्रयास करना पड़ा और वह एक छोटेसे गाँवमें पहुँचा। यहाँ रात्रि व्यतीत कर प्रातःकाल उसने कञ्चनपुर चलनेका निश्चय किया। अब विश्राम और भोजन कर लेनेसे उसमें शक्ति उत्पन्न हो गयी थी, यद्यपि उसका मन भूपसिंह और सुशीलाकी प्राप्तिके लिए बहुत चिन्तित था, कभी-कभी वह अपने जीवनसे निराश भी हो जाता, तथा उन्मत्त जैसा होकर नाचने लगता। विधिका विधान विचित्र है। वह किसी प्रकार अपने हृदयको कठोर कर कञ्चनपुर पहुँचा और यहाँ उसका साक्षात्कार रत्नचन्द्र नामक प्रसिद्ध जौहरीसे हुआ। जयदेव रत्नपरीक्षामें निपुण था, उसकी इस कलासे रत्नचन्द्र बहुत प्रभावित हुआ। जयदेवकी ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, कठोर श्रम एवं विनयशीलताने रत्नचन्द्रको मोहित कर दिया। अतएव वह पुत्रसे भी बढ़कर उससे स्नेह करने लगा।

रत्नचन्द्रका एक पुत्र हीरालाल था, जो नामके विपरीत कार्योंका सम्पादन करता था। बात यह है कि हीरालालकी माँका स्वर्गवास किशोरावस्थामें ही हो चुका था और रत्नचन्द्रने एक दूसरी युवतीसे विवाह कर लिया था। हीरालाल अपनी इस विमाताके रूपलावण्यपर आसक्त था, फलत दोनोका गुप्त प्रेम वृद्धिगत होता जा रहा था। अब इस प्रेमने दुराचार-का रूप धारण कर लिया था। हीरालाल अपनी विमाताके सहयोगसे जयदेवको व्यसनोमे फँसानेका प्रयास करता था, पर जितेन्द्रिय जयदेवपर उन लोगोका कुछ भी प्रभाव नही था। अपने सौतेले पुत्रसे रत्नचन्द्रकी पत्नीका अनुराग इतना अधिक बढ गया था जिससे प्रत्येक दर्शकको उसके चरित्रपर आशङ्का होती थी। रत्नचन्द्र भी उसके चरित्रको आशंका की दृष्टिसे देखता था। एक दिन अपनी पत्नी रामकुँवरि और पुत्र हीरालालके कुकर्मोकी सत्यता अवगत करनेके लिए वह बहाना बनाकर खेटपुर नामक गाँवको चला गया और मार्गमेंसे ही लौटकर अर्द्धरात्रिके समय अपने घर पहुँचा। यहाँ उनलोगोंके दुराचरणको साक्षात् देखकर उसके मनमें घोर पश्चात्ताप हुआ। क्रोध और विरक्तिका संघर्ष होने लगा। कभी वह सोचता कि इनके दुष्कर्मका फल इन्हें खड्गधारसे प्रदान करूँ तो कभी उसका मन विरक्तिकी ओर भाग जाता और स्वयं अपने किये कर्मोका पश्चात्ताप करता। कुछ समय तक उसके मनमे यह द्वन्द्व होता रहा। अन्तमे प्रेयपर श्रेयकी विजय हुई और रत्नचन्द्रने संसारकी स्वार्थपरताओं एवं वासनाके जालको तोड विरक्तिका मार्ग ग्रहण किया। अब उसका मन शान्तिसे भर गया और उसने तत्क्षण अपना एक वसीयतनामा लिखा जिसे खिडकीके मार्गसे जयदेवके कमरेमे डाल दिया। सारी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी जयदेवको घोषित किया।

कुछ दिनोतक जयदेव कर्त्तव्यकी प्रेरणासे रत्नचन्द्रके परिवारकी सेवा करता रहा। उसने व्यापारमें भी पर्याप्त वृद्धि की किन्तु रामकुँवरि और हीरालालके दुराचार एव व्यवहारने उसे उदासीन बना दिया। अत वह भी एक विश्वासी कर्मचारीपर समस्त सम्पत्तिका भार छोड वहाँसे अन्यत्र चला गया।

नौका डूबते ही उदयसिंह और बलवन्तसिंहने अपनी व्यवस्थानुसार अन्य नौका द्वारा सुशीलाको जलसे बाहर निकाल लिया। उदयसिंह उसे सूर्यपुर ले आया और यहाँ उसे एक सुन्दर बँगलेमें कैद कर दिया। सुशीलाकी जब मूर्च्छा दूर हुई और उसने अपनेको एक रम्य, सुसज्जित कक्षमें आबद्ध पाया तो वह भयभीत हो गयी। पुन मूर्च्छाने उसका स्वागत किया। शीतलोपचारके अनन्तर जब उसकी चेतना वापस लौटी तो उदयसिंहने सामने प्रकट हो उसे समझाया— प्रिये! तुम्हारी प्राप्तिके लिए मैंने कितने षड्यन्त्र किये। मै उसी दिनसे तुम्हारे चरणोका दास बन गया हूँ जिस दिन मेरी दृष्टि प्रमदवनमे दोलापर बैठी हुई तुम्हारे ऊपर पडी थी। मेरा हृदय एक लम्बे समयसे तडप रहा है। अब मुझे तुम अपना प्यार देकर शान्त कर सकती हो। जयदेवका मिलना तो इस जीवनमे सम्भव नही है। यदि मेरा प्रस्ताव तुम स्वीकार कर लेती हो तो रानी बनकर संसारके सुख और ऐश्वर्यका उपभोग करोगी। तुम्हारे जीवनकी सफलता मेरी इच्छा-पूर्तिमे ही है। इस प्रकार कहकर उसने उस सतीके शरीरका स्पर्श करना चाहा, पर, सुशीलाने अपना रौद्र रूप प्रकट किया और वह साक्षात् चण्डीके रूपमे दिखलाई पड़ने लगी। उसके दिव्य तेज और भयङ्कर रूपने उदयसिंहको आतंकित कर दिया। अब उसका साहस सतीके सतीत्वको नष्ट करनेका नही हुआ। उसने सुशीलाको समझाने और अनुकूल बनानेके लिए एक दूतीको नियुक्त किया, पर उसका यह प्रयास भी निष्फल रहा। पातिव्रत्यके कारण सुशीलाका सतीत्व दिव्य तेजका रूप ग्रहण कर रहा था। उसमें काली और दुर्गाका सम्मिलित रूप प्रादुर्भूत हो चुका था।

सुशीलाकी प्रिय सखी रेवती, जो उदयसिंहके षड्यन्त्रको कुछ समझ गयी थी, सतर्क हो उसके कार्य-कलापोंका निरीक्षण करने लगी। उसने विजयपुरके मन्त्रिपुत्र बलदेवसिंहकी सहायतासे सुशीलाका पता लगानेकी भरपूर चेष्टा की, पर वह अपने इस कार्यमे सफल न हो सकी।

जयदेवका अन्तरङ्ग मित्र भूपसिंह किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भटकता हुआ स्वर्णपुर पहुँचा। यहाँका नरेश विजयसिंह था, जिसकी मदनमालती नामकी अपूर्व सुन्दरी कन्या थी। रामनगर नरेश नाहरसिंहका पुत्र प्रतापसिंह मदनमालतीसे विवाह करना चाहता था, पर मदनमालतीके पिता विजयसिंह उसे अपनी कन्या देना उचित नही समझते थे। फलत प्रतापसिंहने दश सहस्र सेना लेकर सुवर्णपुर पर आक्रमण किया। दोनो ओरसे घमासान युद्ध हुआ। विजय-सिंहकी सेना प्रतापसिंहका सेनाको अपेक्षा अल्प सख्यामे थी अत वीरतापूर्वक युद्ध करनेपर भी उसे विजयश्री उपलब्ध नही हुई। रात्रि आन ही युद्ध विराम कर दिया गया, पर प्रात काल होते ही पुन प्रतापसिंह बारह हजार सैनिक लेकर विजयसिंहसे युद्ध करने लगा। इस बार भी विजयसिंहकी सेनाने बडी ही वीरतापूर्वक युद्ध किया पर सख्यामे आधी रह जानेसे पराजय ही उसे प्राप्त हुई। अब तो विजयसिंहकी स्थिति बन्दी बननेकी थी पर भूपसिंहने पहुँचकर विजयसिंहकी सेनामे विद्युत्प्रकाश उत्पन्न किया। उसने व्यूह-रचना कर सेनाका कई टुकडियोमें विभक्त किया और कुशल सञ्चालन

द्वारा विजय-लक्ष्मी प्राप्त की। भूपसिंहकी वीरताने विजयसिंहको बहुत ही प्रभावित किया, अत उन्होंने अपनी कन्या मदनमालतीका विवाह भूपसिंहके साथ सम्पन्न कर दिया। सुहागरातकी तैयारी होने लगी, पर एकाएक भूपसिंहको अपने अभिन्न मित्र जयदेवकी स्मृति हो आयी और वह अपनी पत्नीको सोते छोड मित्रकी तलाशमें चल पडा।

कञ्चनपुरसे जब जयदेव चला तो मार्गमें उसकी मुलाकात भूपसिंहसे हो गयी। दोनों मित्रोंने अपनी-अपनी बीती घटनाएँ आपसमें कही। आत्मनिवेदनके अनन्तर उन्होंने सुशीलाका पता लगानेके लिए योजना तैयार की। उदयसिंहपर उन्हे पहलेसे ही आशका थी, अत दोनो सीधे सूर्यपुर पहुँचे और वहाँ एक मालिनकी सहायतासे स्त्री वेष धारण कर जयदेवने सुशीलाको बन्धन मुक्त किया।

जयदेव, सुशीला और भूपसिंह तीनो ही हर्षित हो विजयपुरकी ओर चल दिये। मार्गमें स्वर्णपुर पडा और वहाँ विजयसिंहने अपनी कन्या मदनमालतीको भूपसिंहको सौंप दिया। इस प्रकार वे दम्पति परस्परमें मिलकर अपनी बीती हुई घटनाएँ सुनाते हुए हर्षपूर्वक रहने लगे।

जयदेवके चले जानेसे हीरालाल निरङ्कुश हो गया था और वह मनमाने ढंगसे दुराचार करने लगा था। हीरालालकी पत्नी सुभद्रा अत्यन्त पतिव्रता और शीलवती थी, पर दुष्ट हीरालाल अपनी उस सदाचारिणी पत्नीका सर्वदा अपमान ही करता रहता था। अपनी कुत्सित इच्छाकी पूर्तिके लिए उसने सुभद्राके समस्त आभूषण भी बेच डाले। रामकुंवरि और हीरालालका दुराचार नगरके प्रत्येक व्यक्तिको अवगत हो गया। नगर नरेशको जब इस कुकृत्यकी सूचना मिली तो वह क्रोधाविष्ट हो हीरालालको दण्ड देनेके लिए कटिबद्ध हो गया। उसने हीरालालको नगरसे निर्वासित कर दिया और रामकुंवरिको भी यथेष्ट दण्ड दिया। सुभद्राके पुत्रको सम्पत्तिका उत्तराधिकारी घोषित किया।

विरागी रत्नचन्द्र दीक्षित होनेके अनन्तर विमलकीर्त्ति मुनिके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीचन्द्र, विक्रमसिंह और रणवीरसिंहने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। महारानी मदनवेगा और विद्यावती भी आर्यिकाएँ हो गयी। इस सन्दर्भमें उपन्यासकारने कर्म सिद्धान्त एव गुणस्थान चर्चाका प्रकरण भी निबद्ध किया है। आत्मशोधनके लिए गुणस्थानारोह एक प्रक्रिया-विशेष है। जिस प्रकार स्वर्णशुद्धिके लिए स्वर्णको तापन, ताडन आदि सहन करना पडता है, उसी प्रकार आत्म-साधकको उपसर्ग और परीषह सहन करने पडते है। लेखकने इस दार्शनिक चर्चाको भी सरस बनानेका प्रयास किया है।

## कथाका गठन और वैशिष्ट्य

इस उपन्यासकी कथावस्तुमें सम्बद्धता और रोचकता गुण पूर्णतया विद्यमान है। समस्त मानव जीवन एक निश्चित और नियोजित गतिसे प्रवहमान है। अत कथा वस्तुके योजनाबद्ध या शृखलाबद्ध होने पर भी जीवनमें वैविध्यकी कमी नही आने पायी है। रामासर्की सत्ता रहनेसे कथावस्तुमें यत्किञ्चित् जटिलताका समावेश हुआ है और लेखकने कथाके आयामको व्यापक और विस्तृत बनानेके लिए बहुसख्यक पात्रोंकी योजना की है, पर कथा-केन्द्र जीवन-लक्ष्यसे दूर नही होने पाया है। कथाका प्रत्येक बिन्दु सदाचार, सयम और त्यागकी ही परिक्रमा करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। जीवनकी सजीवताको बनाये रखनेके लिए कवित्वपूर्ण और भावपूर्ण वातावरणको घनीभूत बनाया गया है। सीधी-सादी कथाकी अवतारणा की गयी है, पर बीच-बीचमे ऐयारी और तिलस्मी कारनामोंकी योजना कर कथा वस्तुको रुचिर और कौतूहलपूर्ण बनाया गया है।

उपन्यासकारने जीवन और जगत्के विभिन्न अनुभवोंसे घटनाओ और परिस्थितियोंका चयन किया है। उपन्यास-की कथावस्तु जिस धरातलपर प्रतिष्ठित हुई है, वह धरातल सदाचार और दुराचारके द्वन्द्वोंसे परिवेष्टित है। उपन्यास-कारने घटनाओ और परिस्थितियोंकी अद्भुत योजनामें इतिवृत्तात्मकताको सर्वाधिक महत्त्व दिया है। आरम्भमें कथासूत्र बिखरे हुए और घटनाए असम्बद्ध जैसी प्रतीत होती है, पर पूर्वापर क्रमके सन्दर्भमें समस्त घटनाएँ एक ही शृङ्खलामें घटित होती जाती है। इस उपन्यासकी एक भी घटना ऐसी नही है जो अनावश्यक और अनुपयोगी प्रतीत हो। अतः यह बलपूर्वक कहा जा सकता है, कि घटनाक्रममें तारतम्य है, शृङ्खला है और है क्रम-नियोजन। कथाके प्रवाह और वेगने कथावस्तुमें रोचकता और प्रभावान्विति उत्पन्न की है। कार्यव्यापार अपने तीव्रवेगके साथ गतिशील दिखलाई पडते है। इस उपन्यासके प्रधान चार कथासूत्र है—

१. सुशीलाका दुश्चरित्र उदयसिंहके यहाँ बन्दी बनकर भी अपने शीलका अक्षुण्ण रखना।

२. जयदेवका रत्नचन्द्रके यहाँ रामकुंवरि और हीरालाल जैसे व्यभिचारी व्यक्ति और विरोधी परिस्थितियोंके बीच रहते हुए भी अपने शील, सयमकी रक्षा करना।

३. रमणी रत्नकी प्राप्तिके लिए प्रतापसिंह द्वारा विजयसिंह पर आक्रमण किया जाना, भूपसिंह द्वारा विजयसिंहके सम्मानकी रक्षाके साथ उसकी पुत्री मदनमालतीके सतीत्वकी रक्षा करना।

४. सुशीला-जयदेव, मदनमालती-भूपसिंहका सम्मिलन, हीरालाल-रामकुवरि, उदयसिंह-प्रताप सिंह जैसे दुराचारियोंको उनके दुष्कृत्योंके फलस्वरूप दण्ड प्राप्ति। रत्नचन्द्र, श्रीचन्द्र प्रभृतिका विरक्त हो दीक्षा धारण करना और आत्म शोधनके मार्गमें आगे बढ़ना।

उपन्यासकी समस्त कथावस्तु उक्त चार स्तम्भोंपर ही गठित है। लेखकने इस कल्पित कथा वस्तुको सरस बनानेमें अपनी कल्पनाका भी पूरा उपयोग किया है। इसकी आधिकारिक कथा सुशीलाका इतिवृत्त है और प्रासङ्गिक कथाओंमें रत्नचन्द्र तथा विजय सिंहकी कथाएँ आती है। दोनों ही प्रासङ्गिक कथाओंका मूलकथाके साथ अङ्ग-अङ्गीभाव-का सम्बन्ध है, प्रासंगिक कथाओंकी घटनाओंमेंसे किसी भी घटनाका कम या अधिक नहीं किया जा सकता। छोटी-मोटी घटनाओंकी तो बात ही क्या, प्रसंगों और सन्दर्भोंमें भी पूर्वापरका सम्बन्ध निहित है। कथावस्तुके नियोजनमें प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागमरूप कार्यावस्थाओंका अस्तित्व विद्यमान है। कथाका आरम्भ नाव दुर्घटनासे होता है। पाठक सुशीला, जयदेव और भूपसिंहको जलमें डूबते हुए देख सहानुभूतिसे भर जाता है। उदयसिंह और बलवन्त सिंह यहींसे पाठकोंकी सहानुभूति खो बैठते हैं। पाठक उनके कार्योंको सम्मान देनेके स्थानपर भर्त्सना ही प्रदान करता है। कथानकके आरम्भमें ही जिज्ञासावृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उपन्यासकारने प्रारम्भ नामक कार्यावस्थाकी समस्त भूमिकाओंका नियोजन किया है। वह पाठकोंकी रुचिके अनुसार कथावस्तुमें विभिन्न प्रकारकी वक्रताओंका समावेश करता है, जिससे कथाका आरम्भ महनीय बन जाता है।

जयदेव सरिता पारकर कञ्चनपुर पहुँचता है और यहाँ उसका साक्षात्कार रत्नचन्द्र नामक जौहरीसे होता है। जौहरी जयदेवको धैर्य और सान्त्वना प्रदान करता है, उसे अपनी दूकानपर नौकर रख लेता है। यहींसे कथा वस्तुमें प्रयत्न नामक कार्यावस्थाका आरम्भ हो जाता है। यहाँ कथानकमें दो मोड़ दिखलाई पड़ते हैं, प्रथम मोड़ तो रत्नचन्द्रका विरक्त होकर आत्म शोधनके लिए तत्पर होना और दूसरा मोड़ जयदेवकी कार्यक्षमताओंको प्रकटित होनेके लिए अवसर प्राप्त करना है। ये दोनों घटनाएँ समानान्तर वेग और दूरीसे सम्बद्ध है। अतः प्रयत्न नामक स्थितिकी समस्त घटनाएँ एक साथ ही गतिशील होती हुई लक्ष्यकी ओर अनुधावित होती है।

जयदेवका कञ्चनपुरसे प्रस्थान करना ही प्राप्त्याशाकी स्थिति है। इस स्थितिके पोषणमें जयदेवका मानसिक द्वन्द्व विशेष सहायक है। उसे सुशीला और भूपसिंहकी याद आती है, उसका मन-मयूर उड़कर अपने हितैषियोंके पास पहुँचना चाहता है। एक ओर उसे रत्नचन्द्रके कारोबारका सम्हालनेके लिए दायित्व प्रेरित करता है तो दूसरी ओर स्नेहियोंका स्मरण उनसे मिलनेके लिए बाध्य करता है। फलतः प्राप्त्याशाकी स्थितिका प्रादुर्भाव मानसिक संघर्षसे हुआ है। यही कारण है कि प्राप्त्याशाकी स्थिति अधिक लम्बायमान नहीं है। जयदेव और भूपसिंहका सम्मिलन नियताप्तिकी अवस्था है। भूपसिंह, मदनमालतीको प्राप्तकर भी सन्तोष और शान्तिकी साँस नहीं लेता। वह अपने घनिष्ठमित्र जयदेव और उसकी पत्नी सुशीलाको संकटसे उबारकर मानसिक और आत्मिक स्वस्थता प्रदान करना चाहता है। अतएव अपने मित्रकी तलाशमें स्वर्णपुरमें एकाएक गुप्तरूपमें चला आता है। जयदेव भी कञ्चनपुरमें अपने मित्र और पत्नीकी खोजमें भ्रमण करता हुआ चलता है। संयोगवश मार्गमें दोनों मित्रोंका मिलन होता है और वे दोनों सुशीलाकी प्राप्तिके लिए विचार-विनिमय करते है। यह स्थिति नियताप्तिकी है। कथावस्तु यहाँ पूरे वेगके साथ लक्ष्यकी ओर बढ़ती है।

सूर्यपुरके प्रमदवनमें सुशीलाकी प्राप्ति ही फलागमकी स्थिति है। सुशीलाकी मुक्तिके लिए रेवती और बलदेव सिंहने अथक श्रम किया है। उनके श्रमके फलस्वरूप बलवन्तसिंह और उदयसिंह कैद हो जाते है। इस प्रकार कथा नियताप्तिके समानान्तर ही फलागमकी ओर गतिशील होती है। प्राप्त्याशाके अनन्तर नियताप्ति तक पहुँचनेमें जितने संघर्षकी अपेक्षा रहती है उतना संघर्ष कथावस्तुमें नहीं आने पाया है, पर नियताप्ति और फलागमके बीच संघर्षकी स्थिति चरमावस्था (Climex) को प्राप्त हुई है। उपन्यासकारने बड़ी ही सतर्कताके साथ उक्त शास्त्रीय कार्यावस्थाओंका नियो-जन किया है।

कथावस्तुको प्रभावशाली बनानेके लिए आत्मीयता, वैचित्र्य और औदात्यकी योजना आवश्यक मानी जाती है। प्रस्तुत उपन्यासके प्रथम खण्डकी घटनाएँ विरल है तो द्वितीय खण्डकी घटनाएँ सघन है। कुशल उपन्यासकारने घटनाओंकी विरलता और सघनताका समन्वय कर कथानकको ही कथावस्तुका रूप प्रदान किया है। फॉस्टरने कथाकी व्याख्या करते

हुए लिखा है—"A plot is also a narrative of events, the emphasis falling on casuality[1]." अर्थात् कारणपूर्वक विवेचित घटनाएँ जब अनुक्रमत्वको प्राप्त करती हैं तो वे कथाका रूप धारण कर लेती है। बुद्धदेव[2]-बसुने अपने एक निबन्धमें कथानकको कप्तानके समान जहाजको इधर उधर मोड़नेवाला कहा है, पर कथावस्तु भापके समान है, जो जहाजकी मूलशक्ति है जिसके बलपर जहाज गतिशील होता है। यदि भापकी शक्ति समाप्त हो जाय तो लाखों उपाय करनेपर भी कप्तान निर्दिष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता है। वास्तवमें गुरुगोपालदासने भी अपने उपन्यासमें आख्यानो और घटनाओंका एक सूत्रमें नियोजितकर उन्हें कथावस्तुका रूप प्रदान किया है।

इस उपन्यासकी कथावस्तुकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि लेखकने जीवनकी सृजनशीलधाराको जहाँ विकृत पाया है, उसने वहाँ प्रकृत दिशाकी ओर मोड़नेका यत्न किया है। स्त्री-पुरुषके प्रेमको लेकर ही कथावस्तुका गुम्फन सम्पन्न हुआ है। मानवको कामसुख प्रिय है, पर उपन्यासकार इस सुखकी उपलब्धिमें विवेक और संयमका नियोजन आवश्यक समझता है। प्रेमी-प्रेमिकाओंके मिलनके बीच बड़ी-बड़ी बाधाएँ उपस्थित की गयी है। 'विपत्ति और संकटके बीच प्रेम अपना जौहर दिखलाता है' की नीतिका पूर्ण व्याख्यान किया गया है। कथाका समस्त संघर्ष और तनाव दो व्यक्तियो द्वारा सुशीलासे प्रेम किया जाना है। उदयसिंहकी निराशा और पराजय ही जयदेवका विजयोल्लास है। दो प्रतिस्पर्धी प्रेमियोंके आकर्षणके कारण ही प्रेमका यह अनन्त त्रिभुज बना है। प्रेमिकाकी प्राप्तिके लिए दुराचारियो द्वारा किया गया प्रयास निष्फल होता है, पर उनके द्वन्द्व और संघर्षमें नायिकाको तिल तिलकर जलना और घुलना पड़ता है। प्रतापसिंहका युद्ध प्रसंग भी काममूलक है। रत्नचन्द्रकी विरक्ति द्वितीय विवाहका परिणाम है। रामकुँवरिका सौतेले पुत्र हीरालालसे प्रेम करना वृद्ध विवाहका ही फल है। इस प्रकार उपन्यासके कथानकसूत्र सूच्याकारमें सम्मिलित हो कथावस्तुमें आत्मीयताकी सृष्टि करते हैं। वैचित्र्य तो कथावस्तुमें कई स्थलोंपर पाया जाता है। सुशीलाकी प्राप्तिके लिए उदयसिंह और बलवन्त-सिंहका वेशपरिवर्तन करके अन्तःपुरमें प्रवेश करना और सखीकी तत्परतासे उनका पकड़ा जाना और बन्दीके रूपमें नाना प्रकारके कष्टोंका सहन करना वैचित्र्य सृजनके लिए पर्याप्त है। इसी प्रकार रेवती और बलदेवकी घटना भी कम विचित्रता उत्पन्न नहीं करती है। रत्नचन्द्रका नाटकीय ढंगसे लौट आना और भयंकर आकृतिके रूपमें अपने शयनकक्षमें प्रविष्ट होना विचित्रताका मूर्तिमान् रूप है। कथानकमें उदात्त तत्त्व तो आरम्भसे अन्ततक सन्निविष्ट है। लेखक वासना और विकारोंको विलयन या उन्नयन द्वारा उदात्त बनानेकी प्रक्रिया उपस्थित करता है। रत्नचन्द्रका मानसिक परिवर्तन औदात्यके धरातल पर ही प्रतिष्ठित हुआ है।

उपन्यासकारकी प्रकृति भी पात्रोंके क्रिया-व्यापारोंमें साहाय्य करती हुई परिलक्षित होती है। दोला क्रीड़ाके अवसर पर वर्षाका सुहावना समय उस क्रीडा सुखमें कितनी वृद्धि कर रहा है, यह अध्ययनशील पाठक ही अनुभव कर सकता है। लेखकका प्रकृति-चित्रणका यह उपक्रम प्रेमचन्द्र या जैनेन्द्रसे कम नहीं है। लेखकने लिखा है—

"वर्षाका समय है, आकाशमें मेघ घटाएँ आच्छन्न हैं, नन्ही-नन्ही बूंदें हरियालीके सब्ज गलीचेपर अपनी विलक्षण शोभा उत्पन्न कर रही हैं। विरही जनोंके हृदयमें प्रविष्ट हो झंझा-वायु तीरका कार्य कर रहा है और पीछेसे मयूरोंकी कूक तो गजब ही ढा रही है। इधर पपीहाका पी-पी शब्द, विरहिणी मुग्धाओंको उद्विग्न कर रहा है, उनके हृदयमें इन दो शब्दोंने न मालूम कैसे-कैसे आशा, निराशा, संयोग, वियोग, अनुनय, अभिमान आदि विकारोंके विचित्र चित्र अंकित किये हैं।"

"दिनके तीन बज चुके हैं, परन्तु सूर्यदेवका आसमानमें पता भी नहीं है। उनकी दो-चार किरणें कभी-कभी किसी अभ्रपटलमेंसे फूटकर बड़ी मनोहर लालिमाको फैलाकर तत्काल ही छिप जाती है। कुलबालाओंकी प्यारी हास्य-रेखा अरुण रुचिर होठोंके बाहर बहुत समय तक नहीं ठहर पाती[3]।"

स्पष्ट है कि उपन्यासकार अपने कथनोंको प्रभावोत्पादक बनानेके लिए प्रकृति-चित्रणका अवलम्बन लेता है और प्रकृतिकी नैसर्गिक सुषमा द्वारा अपनी कथावस्तुको रुचिर बनाता है।

कथावस्तुको प्रभावोत्पादक बनानेका दूसरा साधन उपदेशों, सूक्तियों और किंवदन्तियोंका नियोजन करना भी है। जिस प्रकार एकरसता जीवनमें विरसता उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार कथावस्तुकी एकरूपता पाठकके मनमें

1. Aspects of the Novel. Page-116.
2. Plot and theme [A Note on Bengali fiction] Vishwabharati, Quarterly. Vol. XII. pt. II Aug-oct '46.
३. सुशीला उपन्यास, प्रथम संस्करण पृष्ठ २३।

ऊब उत्पन्न कर देती है। गुरुगोपालदासने इस 'ऊब'को दूर करनेके लिए बीच-बीचमें सुन्दर उपदेशोंकी योजना की है। उपन्यासकार रत्नचन्द्रकी विरक्तिके पूर्व पृष्ठभूमिके रूपमें मधुर उपदेशका नियोजन करता है—

"गृह जालमें फंसे हुए व्यक्तिको एकान्त मिलनेपर आनन्दके स्थानपर निरानन्द प्राप्त होता है। जहाँ योगियों को शान्ति मिलती है वही गृहजंजालियोंपर अशान्तिका पहाड़ टूट पड़ता है। जहाँ योगी आत्मस्वरूपका अनुभव करते हुए अनन्त कर्मोंकी निर्जरा करते है वही परिग्रहपिशाचके पञ्जेमें फँसे हुए प्राणी जड़ समारको भयानकरूपमें देखते हैं[1]।"

× × × ×

"पापियो, तुम जानते हो कि हमारे पापोको देखने वाला कोई नही है। इसलिए इच्छित पाप करनेके लिए उतारू हो जाते हो। मदोन्मत्त होकर लोकमर्यादा, विवेक, शीलादि सबको तिलाञ्जलि देते हो और स्वतन्त्रतासे विचरण करते हो[2]।"

कथावस्तुके अनेक गुणोमें जिज्ञासा गुण प्रमुख है। उपन्यासकारने अन्तर्द्वन्द्वोकी स्थितिका निर्वाह बहुत सुन्दर ढंगसे किया है। वह द्विधा ( Suspence ) की योजना इतने सुन्दर ढगसे करता है जिससे कथावस्तुमें जिज्ञासा गुण अन्ततक बना रह जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"इतनेमे एक दासीने आकर मदनमालतीके हाथमें एक पत्र दिया। वह उसे खोलकर बाचने लगी। न जाने उसमें क्या लिखा हुआ था कि उसको बाचते ही मदनमालती एक गहरी सास खीचकर बेहोश हो गयी[3]।"

× × × ×

"इतनेमे कमरेके पश्चिमकी ओर एक बड़ा भयानक शब्द हुआ, जिसे सुनकर हीरालाल और रामकुवरि दोनों चौक पड़े। घबड़ाके ज्यो ही उन्होने देखा कि सामने एक विकटाकार मूर्ति दीख पड़ी। उसका सारा शरीर एक काले कम्बलसे ढका हुआ था और हाथमें एक तीक्ष्ण धारवाली तलवार थी। इस भयानक पुरुषके देखते ही दोनो एक बड़ी चीख मारकर बेहाश हो गये[4]।"

इस प्रकार इस उपन्यासकी कथावस्तु सुसम्बद्ध है और इसमें निम्नलिखित गुणतत्त्व वर्तमान है—

१. सम्बद्धता।

२. मौलिकता।

३. सम्भावनाकी सत्यता।

४. रोचकता।

५. मानव जीवनकी समस्याओंकी व्याख्या।

६. जीवनकी विविध अवस्थाओका चित्रण।

७. जीवनके पक्षोके महत्त्वका मूल्याङ्कन।

## पात्र और उनके शील

उपन्यासके पात्रोकी संख्या पर्याप्त है। पुरुष-पात्रोमें जयदेव, रत्नचन्द्र, हीरालाल, भूपसिंह, उदयसिंह, बलवन्तसिंह, विक्रमसिंह आदि प्रधान है। नारी पात्रोंमें सुशीला, रामकुंवरि, रेवती और सुभद्रा आदि है। उपन्यासकारने इन पात्रोको विभिन्न स्थितियोमें रखकर उनके चरित्रका गठन किया है। वास्तवमें कथा-भवनके निर्माणमें यदि घटनाएँ ईंटोका काम देती है तो पात्र उन ईंटोको जोड़नेवाली सीमेण्ट है। पात्रोके चरित्र विश्लेषण द्वारा ही उपन्यासकार अपने विचारो और सिद्धान्तोको पाठकोके समक्ष रखता है। चरित्र या शीलके सम्बन्धमें अरस्तूने लिखा है—"चारित्र उसे कहते हैं जो किसी व्यक्तिकी रुचिविरुचिका प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजनको व्यक्त करे[5]।" इससे स्पष्ट है कि चरित्र ही पात्रोकी भद्रता—अभद्रताका द्योतन करता है। उपन्यासकार अपने पात्रोको इस प्रकारका जीवन्तरूप प्रदान करता है जिसमें वे विभिन्न परिस्थितियोंमें विभिन्न प्रकारके आचरण करते हुए दृष्टिगोचर हो।

१. सुशीला उपन्यास, प्रथम संस्करण पृष्ठ ५५।
२. वही, पृष्ठ ५८।
३. वही, पृष्ठ २३।
४. वही, पृष्ठ ५३।
५. डा० नगेन्द्र द्वारा अनूदित अरस्तूका काव्य शास्त्र पृष्ठ २२।

सुशीला उपन्यासके स्थापत्यमे पात्रोंके चरित्रका मार्मिक विश्लेषण करना एक महनीय गुण है। सभी पात्र हमें वास्तविक रूपमें दिखलाई पड़ते हैं। संक्षेपमें प्रमुख पात्रोंके व्यक्तित्वपर विचार किया जायेगा। व्यक्तित्व विश्लेषणका दूसरा नाम ही शील स्थापत्य है। सुशीला उपन्यासका नायक जयदेव और नायिका सुशीला आदर्शकी मूर्ति हैं। इनका निर्माण आदर्शके परमाणुओसे ही हुआ है। लेखकने ऐसी परिस्थितियाँ और वातावरण उपस्थित किये है जिससे उनके चरित्रकी दृढता अवगत होती है।

जयदेव उच्चकुलीन, विचारशील युवक है। उसके हृदयमें दया और ममताका अपार स्रोत प्रवाहित होता है। आखेटप्रिय विक्रमसिंह जब हिरणको अपनी बन्दूकसे मार डालता है और उसकी लाश मैदानमें पड़ी हुई जयदेवको दिखलाई पड़ती है, तो उसका हृदय दयासे भर जाता है। वह राजासे कहता है "जो राजा निरपराधी दीनहीन स्वेच्छाविहारी जीवोंको बिना कारण कष्ट देता है, वह पृथ्वीका रक्षक नहीं, भक्षक है। क्षत्रियोंका धर्म रक्षा करनेका है न कि भक्षण करनेका[1]।" उद्धरणसे सिद्ध है कि जयदेव 'अहिंसा परमो धर्म' का अनुयायी है और सबका अभ्युदय चाहता है। वह विपत्तिमें सुमेरुके समान दृढ और अटल है। उसमें उच्चकोटिकी सहनशीलता है। महान् संकटके आनेपर भी वह कर्त्तव्यसे विमुख नहीं होता। उत्तरदायित्वको निभानेमें वह दृढ है। निष्कपट और निश्छलरूपमें सभीकी सहायता करता है। रामकुँवरि द्वारा शीलसे विचलित किये जानेपर भी वह शीलके प्रति नैष्ठिक रहा। रत्नचन्द्रकी सम्पत्ति मिल जानेपर भी मित्र और पत्नीके प्रति उसका आकर्षण कम न हुआ। वह सम्पत्तिको ठुकराकर अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए चल पड़ा। सुशीलाके प्रति उसके हृदयमें अत्यन्त अनुराग है। वह उसकी पुनः प्राप्तिके लिए सभी प्रकारके कष्ट और यातनाओंको सहन करनेके लिए तैयार हो जाता है। मित्रके मिलनेपर उसे अपूर्व प्रसन्नता होती है। वह जीतोड़ श्रम करनेसे विमुख नहीं होता। संक्षेपमें जयदेवके चरित्रमें शील, संयम परिश्रम, अनुराग, सहनशीलता, दया, ममता, करुणा, वात्सल्य, प्रत्युत्पन्नमतित्त्व आदि गुण पाये जाते हैं।

आदर्श चरित्रोंमें दूसरा चरित्र रत्नचन्द्र जौहरीका है। न्याय और कर्त्तव्यपरायण होनेके कारण नगरमें उसका अपूर्व सम्मान है। मनुष्य परखनेकी कलामें वह उतना ही कुशल है जितना रत्न परखनेकी कलामें। जयदेवको अपनी दुकानपर देखते ही वह समझ जाता है कि यह व्यक्ति अत्यन्त ईमानदार, कर्मठ और सहनशील है। अतएव वह जयदेवको अपने यहाँ सेवकके रूपमें नियुक्त कर लेता है। जब उसे अपने पुत्र हीरालाल और अपनी दूसरी पत्नी रामकुँवरिके दुश्चरित्रका परिज्ञान हो जाता है तब भी वह उन दुराचारियोंको क्षमा कर देता है। वह दूरदर्शी इतना अधिक है कि दूर भविष्यमें होनेवाली बातोंके परिणामको पहलेसे ही समझने लगता है। यही कारण है कि उसने अपनी सम्पत्तिका वसीयतनामा जयदेवके नाम लिखा। आदर्श और सदाचारको रत्नचन्द्र जीवन विकासका साधन मानता है। वह निमित्त पाकर विरक्त हो जाता है। आत्मशोधनके हेतु साधना करना वह आवश्यक मानता है। रत्नचन्द्रका व्यक्तित्व और चरित्र टकसाली नहीं है। न इसे हम (Type character) 'टाइप कैरेक्टर' ही कह सकते है।

उदयसिंह इस उपन्यासका प्रतिनायक है। यह आरम्भसे ही इस उपन्यासकी नायिका सुशीलासे प्रेम करना आरम्भ कर देता है। वासनाका दास होनेके कारण ही इसे विलासपुरमें बन्दीगृहकी हवा खानी पड़ती है। एकबार अपराधकी सजा प्राप्त कर लेनेपर भी उसका मन अनीतिसे विरक्त नहीं होता। योजना और षड्यन्त्र बनानेमें भी वह किसीसे कम नहीं। विवाहके अनन्तर जयदेव और सुशीला जब जाने लगते हैं तो उदयसिंह उनकी विश्वसनीयता प्राप्त कर अपूर्व धोखा देता है और अपनी योजना द्वारा सुशीलाको अपने अधिकारमें कर लेता है। वह सूर्यपुरके बंगलेमें सुशीलाको बन्दी बना देता है। प्रथम तो वह उसे अपने आधीन करनेके लिए सभी प्रकारके साध्य उपायोंको सम्पन्न करता है, पर जब वह उसकी बात स्वीकार नहीं करती और बगावत करने लगती है तब यह उसके साथ कड़ाईका व्यवहार करता है। उदयसिंहके चरित्रका लेखकने बड़ी कुशलतासे चित्रित किया है। जयदेवका ठीक विपरीत रूप उदयसिंहमें पाया जाता है। उदयसिंह वासनाका शिकार है अतएव सुशीलारूपी दीपकपर पतंग बन अपने प्राणोंका विसर्जन करता है। उदयसिंहके चरित्रमें निम्न तत्त्वोंका सम्मिश्रण पाया जाता है—

१. दुराचारकी प्रवृत्ति।

२. वासनाका बाहुल्य।

३. स्वभावमें दुराग्रहता।

४. विवेक और कर्त्तव्यके परिज्ञानका अभाव।

---

१. सुशीला उपन्यास—प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६०।

हीरालाल व्यसनी, व्यभिचारी और क्रूर प्रकृतिका है। अपनी सौतेली माँके साथ दुष्कर्म करते हुए उसे किसी भी प्रकारकी हिचकिचाहट नहीं हुई। पाप-पुण्यका महत्त्व उसकी दृष्टिमें नगण्य है। विचार और विवेकसे उसे छुआछूत नहीं है। मित्रोंमें भूपसिंह और बलवन्तसिंहके नाम आते हैं। दोनों ही सच्चे, त्यागी और कर्मठ मित्र हैं। अन्तर इतना ही है कि एक शीलवान् मित्रका साथ देता है और दूसरा दुःशील व्यक्तिका। दोनों ही अपने मित्रोंके प्रति विश्वसनीय और हितैषी हैं।

स्त्री पात्रोंके चरित्रमें एक ओर सुशीला जैसी आदर्श रमणीका चारित्रिक विकास अंकित किया गया है तो दूसरी ओर रामकुँवरि जैसी दुराचारिणी नारीका दुश्चरित्र भी। दोनों ही चरित्रोंका विश्लेषण यथार्थ रूपसे किया गया है। सुशीला आदर्श नायिका है। उसने जिसे अपने जीवनमें एकबार अपना लिया उसका आजीवन निर्वाह किया। सूर्यपुरके बंगलेमें उसे नाना प्रकारके कष्ट दिये गये, पर वह उन कष्टोंके बीच भी अपने पतिको स्मरण करती रही। इस प्रकार लेखकने सुशीलाके आदर्श चरित्रका अंकन किया है। रामकुँवरि तो आधुनिक सुशिक्षिता नारी है। लेखकने उसके चरित्रको यथार्थकी भूमिपर उपस्थित किया है।

इस उपन्यासके पात्र एक ओर आदर्श जीवनकी झाँकी देकर नैतिक उत्थानका मार्ग प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर कुत्सित जीवनका नंगा चित्र खींचकर कुपथगामी होनेसे रोकनेकी शिक्षा देते हैं। सदाचारके प्रति आकर्षण और दुराचारके प्रति विगर्हण उत्पन्न करनेमें पात्र सक्षम हैं। पात्र और उनके शीलके निर्माणमें लेखकने समस्त जीवन-व्यापारों-को शृङ्खलाबद्ध नियोजित किया है।

## संवाद तत्त्व

उपन्यासमें संवादात्मकताका होना कथावस्तुके सौष्ठवके लिये नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार व्यावहारिक जीवनमें मनुष्यकी बातचीत करनेकी प्रणाली उसके चरित्रका मानदण्ड बन जाती है, उसी प्रकार उपन्यासके पात्रोंके कथोप-कथनका भी प्रभाव उनके चरित्र एवं अन्य क्रियाकलापोंपर पड़ता है। मनुष्यकी बाह्य आकृति या उसकी साज-सज्जा केवल उसके गरीब या धनी होनेकी सूचना देती है, पर उसके मनोभावोंकी जानकारी वार्तालापसे ही होती है। किसी व्यक्तिकी कर्मठता, अकर्मण्यता, उदारता, संकीर्णता, त्याग, साधुता, दुष्टता, दया, ममता, प्रेम आदि वृत्तियों और भावोंकी जानकारी सम्भाषण द्वारा ही सम्भव है।

प्रस्तुत उपन्यासमें अनेक वर्ग और जातियोंके पात्रोंका समावेश हुआ है। उन पात्रोंके संवाद या वार्तालापोंमें वर्गगत और जातिगत सहस्रों विशेषताएँ वर्तमान हैं। उपन्यासकार अपने पात्रोंको जीवन्त दिखलानेके लिए प्रभावशाली संवादोंकी योजना करता है। ये संवाद सामान्यतः दो प्रकारके होते हैं—शृङ्खलाबद्ध और उन्मुक्त। शृङ्खलाबद्ध वे वार्त्तालाप हैं जो बहुत दूर तक उपन्यासमें चलते हैं और उन्मुक्त वे वार्त्तालाप कहलाते हैं, जो कुछ दूर चलकर समाप्त हो जाते हैं। हम यहाँ उदाहरणके लिए दोनों ही प्रकारके वार्त्तालापोंका कुछ अंश उद्धृत कर सुशीला उपन्यासकी विशेषता पर प्रकाश डालेंगे। हम यहाँ उदयसिंह और सुशीलाके वार्त्तालापको उद्धृत करते हैं—

उदयसिंह—"वाह, वाह, आखिर सरस्वती ही तो ठहरी। क्यों न हो, अहा, कैसा बढ़िया व्याख्यान दिया है! जान पड़ता है कि व्याख्यात्री महाशयाने अभी प्रेमशास्त्रका अध्ययन नहीं किया। यही कारण है कि आप प्रेमको वासना समझती है और उसका परिपाक बुरा बतलाती हैं। यथार्थमें प्रेम एक स्वर्गीय पदार्थ है। वह तभी तक बुरा जान पड़ता है, जब तक कि अनुभवमें न आवे। प्रेमका आस्वादन करनेपर समस्त संसार प्रेम ही प्रेममय दिखलाई पड़ता है। सच पूछो तो प्रेमके बिना संसारका कोई काम ही नहीं हो सकता। इसीलिए मैं प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रेम करना और सीख लें, जिससे आपकी पढ़ी हुई विद्या पूर्ण और सफल हो जाय। देखिये, जरा मेरी ओर दृष्टिपातकर, मुझमें आपको प्रेमके साक्षात् दर्शन होंगे।"

सुशीला—"उदयसिंह! जान पड़ता है कि उन्मत्त होनेके कारण तुम्हारे हृदयपर मेरी बातोंका असर नहीं हो रहा है। तुम उपदेशके पात्र नहीं हो, वासनाने तुम्हें अन्धा कर दिया है। यही कारण है कि भाई कहनेवाली इस बहनको तुम पापवासनासे देख रहे हो। नीच, बहनके समक्ष प्रेमकी दुहाई देते लज्जा नहीं आती? छी, छी, धिक्कार है तुम्हें, हजार बार धिक्कार है। मैं अब भी कहती हूँ कि तुम विवेकको सर्वथा तिलाञ्जलि मत दो। अपने हित, अहितका कुछ तो विचार करो।"

उदयसिंह—"प्यारी! मैं अपना हित खूब सोच चुका हूँ। तुम चाहे मेरा तिरस्कार करो, चाहे धिक्कार दो, मुझे अविवेकी कहो, हिताहित शून्य कहो, जो चाहे सो कहो, पर मेरा कल्याण तुम्हारी प्रेम प्राप्तिमें है। तुम्हारा प्रेम ही

मेरा जीवन है, तुम्हारे प्रेम ही मेरे प्राण हैं और तुम्हारा प्रेम ही मेरे सुखकी पराकाष्ठा है। आजतक मैंने जितने कष्ट सहन किये हैं, वे सब तुम्हारे प्रेमके लिए। अपने हृदय-मन्दिरमें तुम्हारी इस मनमोहिनी मूर्त्तिकी स्थापना मैंने प्रेम-प्राप्तिके लिए ही की है। मैं चार घण्टे प्रतिदिन नेत्र बन्दकर तुम्हारी मूर्त्तिको अपने आँसुओंसे अभिषिक्त करता रहता हूँ। सुनते हैं, पाषाणकी मूर्त्तियाँ सेवकजनोंकी अर्चासे प्रसन्न होकर उनके अभीष्ट मनोरथोंको पूर्ण करती है परन्तु हाय! तुम्हारी यह सजीव सदयहृदय मूर्त्ति उस पाषाणसे भी कठोर हो रही है, जो अपने उस अनन्य भक्तपर तनिक भी दया नहीं करती। मेरा हृदय तुम्हारी वियोगाग्निसे जल रहा है। कृपा करके अब उसे अपने प्रेमवारिसे सिञ्चित करके शान्त कीजिये, नहीं तो इन प्राणोंकी रक्षा नहीं हो सकेगी।"

सुशीला—"उदयसिंह! मैं तुम्हें फिर एकबार चेतावनी देती हूँ कि तुम इन पागलपनकी बातोंको छोड दो। तुम्हारी इन चाटुकारिताओंमें अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। सूर्य पूर्वसे पश्चिममें उदित हो सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है, पानीपर पत्थर तर सकता है और समुद्र अपनी मर्यादा छोड सकता है, पर वीरकुल शिरोमणि महाराज विक्रमसिंहकी पुत्री और पण्डितमुकुट जयदेवकी सहधर्मिणी सुशीला अपना पातिव्रत्य नहीं छोड सकती। यह शरीर आराध्य जयदेवके चरणोंमें समर्पित है। दूसरा उसे पानेका अधिकारी नहीं है। संसारमें आराध्यदेवको चढाये हुए निर्माल्य द्रव्यको कोई नहीं ग्रहण कर सकता[1]।"

उपर्युक्त वार्त्तालापमें स्पष्ट है कि उपन्यासकारने सवादमें मार्मिकताकी योजना की है। वासना और शीलका सघर्ष उदयसिंह और सुशीलाके वार्त्तालापमें सम्यक् प्रकारसे निहित है। पक्ष-प्रतिपक्षके तर्क बडे ही प्रभावक और हृदयग्राही है। बातचीत स्वाभाविक और प्रसगानुकूल है। आदर्श सवाद पात्रोंके भावो, प्रवृत्तियो, मनोवेगो और घटनाओंकी प्रभावान्वितिके साथ कार्यप्रवाहको भी आगे बढाते हैं। परिस्थितियोंके अनुसार पात्रोंके वार्त्तालापोंमें परिवर्त्तन उपलब्ध होता है जिससे सिद्धान्त और आचार व्यवहारोंका भी विश्लेषण हो जाता है। गुरु गोपालदासने इस उपन्यासमें जीवनके घात-प्रतिघात, उत्कर्ष-अपकर्ष एव हर्षविषादको बिना किसी टीका-टिप्पणके पात्रोंके वार्त्तालापो द्वारा ही अभिव्यक्त किया है। आदर्श और यथार्थ चरित्रकी विभिन्न रूपरेखाएँ पात्रोंके वार्त्तालापो द्वारा प्रकट हुई है। हमारे आलोच्य उपन्यासमें शृङ्खला-बद्ध वार्त्तालापोंकी ही बहुलता है। उन्मुक्त वार्त्तालाप बहुत थोडे ही पाये जाते है। हीरालाल और रामकुँवरिके वार्त्तालाप-को उन्मुक्त वार्त्तालापकी कोटिमें रखा जा सकता है। यथा—

हीरालाल—"चाची जागती हो कि सोती?

रामकुँवरि—तुम्हारी नीदने अभी कहाँ खबर ली है। क्यो, कुछ काम हो तो उठूँ।

हीरालाल—हाँ! मुझे इस समय खूब प्यास लग रही है। दया करके मुझे थोडा सा शीतल जल पिला दीजिये तो हृदय शीतल हो जाय।

रामकुँवरि—अजी, इसमें दयाकी कौन-सी बात है मैं अभी लाये देती हूँ।.......

हीरालाल—बडी दया की। आज न जाने मुझे क्यो नीद नहीं आ रही है।

रामकुँवरि—अरे यही हाल मेरा है। जबसे पडी, करवटे बदल रही[1] हूँ।"

उक्त सवादसे स्पष्ट है कि उपन्यासकारने पात्रोंकी मानसिक व्यथाका किस प्रकार धीरे-धीरे उद्घाटन किया है। वास्तवमें जो सवाद हृदयकी वासनाओ और व्यथाओंका परिचय प्रस्तुत करे वे ही सफल माने जाते है। सुशीला उपन्यासके सभी सवाद परिस्थितियोंकी अभिव्यञ्जना करते है तथा पात्रोंकी मनोवृत्तिको भी अभिव्यक्त करनेमें सक्षम है। उपन्यास-कारने सजीव सवादोंकी योजना कर जीवन और जगतके व्यापक सम्बन्धोंपर प्रकाश डाला है।

## भाषा-शैली

सुशीला उपन्यासका प्रणयन उस युगमें हुआ है जिस युगमें उपन्यासकला अत्यन्त शैशवावस्थामें थी। भाषा और शैलीका परिमार्जन भी नहीं हुआ था और न जीवनका आधुनिक परिप्रेक्ष्यमें अध्ययन करनेकी प्रणाली ही प्रचलित हुई थी। चन्द्रकान्ता सन्तति और भूतनाथकी परम्परामें सुशीला जैसा चरित्र प्रधान उपन्यास लिखा जाना लेखककी कम सफ-लताका द्योतक नहीं। लेखकने जिस भाषा शैलीका प्रयोग किया है, वर्त्तमान युगमें वह भले ही शिथिल प्रतीत हो, पर आजसे साठ वर्ष पूर्व इस शैलीका प्रयोग करना विद्वत्ताका परिचायक है। लेखकने यथास्थान मनोभावोंकी अभिव्यञ्जना

१. सुशीला उपन्यास, प्रथम सस्करण पृष्ठ. ५१.।

करनेके लिए सजीव और प्रवाहपूर्ण भाषाका प्रयोग किया है। भाषा संस्कृतनिष्ठ है, संस्कृत साहित्यका विशेषज्ञ होनेके ही कारण लेखकने संस्कृत शब्दोंका अधिक प्रयोग किया है। मानसिक दशाके चित्रणमें लेखकको कितनी सफलता प्राप्त हुई है, इसके लिए निम्न पंक्तियोंका उद्धृत करना ही पर्याप्त है—"उसके चञ्चल नेत्र द्वार मार्गपर अचल हो रहे हैं, कर्ण आनेकी आहटकी प्रतीक्षामें हैं और शरीर स्पर्श सुखकी वाञ्छासे बाह्य ज्ञानशून्य सरीखा प्रतीत हो रहा है। अब आते हैं, अब आते हैं, इस प्रकार अधिक समय बीत गया किन्तु भूपसिंह नहीं आये[1]।"

निःसन्देह इस उपन्यासकी शैली प्रौढ़ है। काव्यके सौन्दर्यकी अनुभूति अधिकांश सन्दर्भोंमें होती है। शैलीकी प्रौढ़ताका ही यह परिणाम है कि भावनाएँ घटनाओंके साथ साकाररूप ग्रहण करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें अलंकारोंका आकर्षक प्रयोग, चित्रमय वर्णन, अभिनयात्मक कथोपकथन एवं प्रकृति-चित्रणोंद्वारा भावोंको सहज रूपमें अभिव्यक्त करनेकी कला विद्यमान है।

संस्कृतके तत्सम शब्दोंके बाहुल्यके साथ लौंडी (पृ० ३२) जौफ (पृ० २६), खैर (पृ० २८८), कसम (पृ० २८८), खफगी (पृ० १९३), कोशिश (पृ० १९३), नाजनखरे (पृ० १९४) जैसे उर्दूके शब्द भी इस उपन्यासमें प्रयुक्त हैं, पर इन शब्दोंने उपन्यासमें दुरूहता उत्पन्न नहीं होने दी है।

भाषा-शैलीको सशक्त बनानेके लिए संस्कृतकी सूक्तियों, हिन्दीके मुहावरों एवं उपदेशवाक्योंकी योजना यथास्थान-की गयी है। 'हा हन्त! प्रमदावियोगसमयः कल्पान्तकालायते' (पृ० १२८) 'गुणदोषाः सदसदत्प्रसंगजाः' (पृ० १२३), 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्' (पृ० २६८), 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' (पृ० २४६), 'हृदयं न च विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः' (पृ० ८७) 'पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते' (पृ० ७१) 'मैया नयी पुराना बाप, हींग बेटा सूता कात' (पृ० २४६), 'बाज पराये पाणि पर तू पच्छी जिन मार' (पृ० १९३), 'बेईमानके दोनों लोक बिगड़ते हैं' (पृ० ६१) इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

स्पष्ट है कि शैलीको सरस बनानेके लिए उक्त उद्धरणों और सूक्तियोंका प्रयोग किया गया है। औपन्यासिक तत्त्वोंका दृष्टिमें यह उपन्यास उत्तम कोटिका है। हाँ, धार्मिक सिद्धान्त प्ररूपणोंके कारण इसका उत्तरार्द्ध अवश्य जटिल है। जिन पृष्ठोंमें धार्मिक सिद्धान्तोंका निरूपण किया गया है, उन पृष्ठोंको यदि इस उपन्याससे पृथक् कर दिया जाय तो उपन्यासके कथानककी रोचकता और सम्बद्धतामें कोई अन्तर नहीं आता।

१. सुशीला उपन्यास—प्रथम संस्करण—पृ० २२।
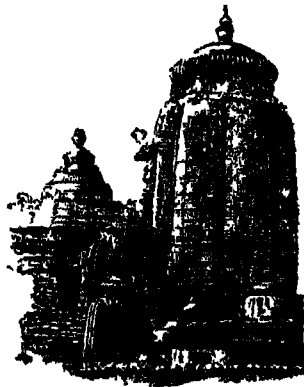
# जैनसिद्धान्तदर्पण : एक अनुचिन्तन

श्री पं० फूलचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

●

गुरु श्री पं० गोपालदासजी वरैया श्रुतधरोंकी उस शृंखलाकी कड़ी है, जिसमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक और प्रभाचन्द्र जैसे चिन्तक मनीषियोंकी गणना की जाती है और जिन आचार्योंकी अमर लेखनीका स्पर्श पाकर श्रुतदेवताका काय संवर्द्धन हुआ है। गुरुजी विचारक होनेके साथ शास्त्रीय विद्वान भी थे; उन्होंने जहाँ सुशीला उपन्यास जैसा रसमय कथा ग्रन्थ लिखा है, वहाँ जैनसिद्धान्तदर्पण जैसी गहन शास्त्रीय, पाण्डित्यपूर्ण रचना भी लिखी। सार्वधर्म, जैन जागरफी प्रभृति अनेक निबन्धोके साथ (१) जैनसिद्धान्तदर्पण (२) जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका और (३) सुशीला उपन्यास इन तीन ग्रन्थोंकी रचना भी उन्होंने की है। इनमें प्रथम दो रचनाएँ सैद्धान्तिक है और तीसरी कथा कृति। प्रस्तुत निबन्धमें प्रथम ग्रन्थका अनुचिन्तन उपस्थित किया जा रहा है।

## प्रास्ताविक

जैनसिद्धान्तदर्पणमें सिद्धान्त और न्यायके महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। यह गुरुजीकी सर्वप्रथम कृति है, पर भाषा और प्रतिपादनशैलीमें इतनी प्रौढता समाविष्ट है, जिससे इसे प्रथम रचना स्वीकार करनेमें विप्रतिपत्ति प्रतीत होती है। इस ग्रन्थको गुरुजीने 'जैनमित्र' में क्रमशः प्रकाशित करना आरम्भ किया था। पश्चात् जैनमित्र कार्यालयमें अपने पाठकोंको उपहार स्वरूप वितरित करनेके लिये 'जैनसिद्धान्तदर्पण-पूर्वार्ध' के नामसे इसे प्रकाशित किया। कुछ वर्षोंके पश्चात् मुनि श्री अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईकी ओरसे वीर निर्वाण संवत् २४५४, जनवरी सन् १९२८ ई० में इसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ, जो अनुचिन्तनके हेतु हमारे समक्ष है। इस संस्करणमें गुरुजीकी लिखी हुई प्रस्तावना भी है। उसमें बताया है—

'यद्यपि जैनसिद्धान्तका रहस्य प्रकट करनेवाले बड़े-बड़े श्री कुन्दकुन्दाचार्य समान महानाचार्योंके बनाये हुए अब भी अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं, पर उनका असली ज्ञान प्राप्त करना असम्भव नहीं, तो दुस्साध्य अवश्य है। इसलिए जिस तरह मुचतुर लोग जहा पर कि सूर्यका प्रकाश नही पहुँच सकता, वहाँपर भी बड़े-बड़े चमकीले दर्पण आदि पदार्थोंके द्वारा रोशनी पहुँचा कर अपना काम चलाते है, उसी तरह जटिल जैन सिद्धान्तोंके पूर्ण प्रकाशको किसी तरह इन जीवोंके हृदय-मंदिरमें पहुँचानेके लिए जैनसिद्धान्तदर्पणकी आवश्यकता है। शायद आपने ऐसे पहलदार दर्पण (गैरवानि) भी देखे होंगे, जिनके द्वारा उलट फेरकर देखनेमें भिन्न-भिन्न पदार्थोका प्रतिभास होता हैं। उसी तरह इस 'जैनसिद्धान्तदर्पण' के भिन्न-भिन्न अधिकारो द्वारा सिद्धान्त विषयक भिन्न-भिन्न पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा।'

गुरुजीके उपर्युक्त कथनसे तत्त्वज्ञानकी जानकारीके लिए उक्त ग्रन्थकी उपयोगिता स्पष्ट है। जिसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओंका सम्यक् ज्ञान नहीं है, ऐसा हिन्दी भाषाका ज्ञाता पाठक भी बड़े-बड़े सैद्धान्तिक विषयोंका ज्ञान इस ग्रन्थके अध्ययनसे प्राप्त कर सकता है। जैनसिद्धान्तोंकी जानकारी इस ग्रन्थसे सहजमें प्राप्त की जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करणमें विषय-सूचीके पूर्व गुरुजीका निवेदन मुद्रित है, जिसमें इस कृतिके प्रणयनका संक्षिप्त इतिहास अंकित किया गया है। गुरुजीने अपने उक्त वक्तव्यमें बताया है कि जैनमित्रकार्यालयसे ग्रन्थ संशोधन-परिवर्धनके हेतु पत्र मिला, जिसमें लिखा था—

'जैनसिद्धान्तदर्पणके द्वितीय संस्करणकी ( दूसरे बार छपनेकी ) अत्यन्त आवश्यकता है, इसलिए आप इसमें हीनाधिक करके और जिन बातोंकी इसमें त्रुटि रह गई, उनको पूर्ण करके इसको शीघ्र ही भेज दीजिएगा।' इसलिए अब इसमें आकाशद्रव्यके निरूपणमें सृष्टिकर्तृत्वमीमासा और भूगोलमीमांसा की गई है और कालद्रव्यका विशेषरूप-

से वर्णन किया गया है। तथा और भी जहाँ कहीं हीनाधिकता करनी थी, कर दी गई है। अब भी जो कुछ इसमे त्रुटि रह गई हो, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। इस संस्करणमें मुझको मेरे प्रिय शिष्य महरौनी ( झाँसी ) निवासी पण्डित बंशीधरने बहुत सहायता दी है जिसका मुझे अत्यन्त हर्ष है।'

गुरुजीके उक्त वक्तव्यसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ गुरुजीकी आद्य रचना है और इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेके लिए उन्होने पर्याप्त श्रम किया है।

## प्रतिपाद्य विषयका समीक्षात्मक परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ अधिकारोमे विभक्त है। प्रत्येक अधिकारका नामकरण निरूपित विषयके आधारपर किया गया है। लेखकने जिस अधिकारमे जिस विषयका प्रतिपादन किया है, उस विषयके अध्ययनसे तद्विषयक जिज्ञासा शान्त हो जाती है। अधिकारोके नाम निम्नलिखित है —

(१) लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेपनिरूपण, (२) द्रव्यसामान्यनिरूपण, (३) अजीवद्रव्यनिरूपण, (४) पुद्गलद्रव्य-निरूपण, (५) धर्म और अधर्मद्रव्यनिरूपण, (६) आकाशद्रव्यनिरूपण, (७) कालद्रव्यनिरूपण और (८) सृष्टिकर्तृत्व-मीमासा।

प्रथम अधिकारमे लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपकी विस्तारपूर्वक ( पृ० १—३८ तक ) मीमासा की गयी है। पदार्थोंके विशेष स्वरूपका विचार उक्त चारो विषयोको ठीक तरहसे जाने बिना सम्भव नही है। अत गुरुजीने सर्व प्रथम आधारभूत सिद्धान्तोका विवेचन किया है। धवलाटीकाके निम्न पद्यसे भी उक्त कथनकी सिद्धि होती है—

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्॥ —धवला० पु० १ पृ० १६

जिस पदार्थका प्रमाण, नय और निक्षेपके द्वारा ठीक तरहसे विचार नही किया जाता, वह कभी युक्त—तर्कसंगत होते हुए भी अयुक्त-सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त-सा प्रतीत होता है।

स्पष्ट है कि किसी भी पदार्थकी समीक्षा ( मीमासा ) करते समय वह किस निक्षेपका विषय है, यह जानकर ही प्रमाण और नयदृष्टिसे उसका निर्णय करना चाहिए। पदार्थका विवेचन करते समय उसके लक्षणकी अनुवृत्ति तो हो ही जाती है, अतएव किसी भी पदार्थके निर्णयमे उक्त चारो उपयोगी है। इसी तथ्यको ध्यानमे रखकर गुरुजीने अपने इस प्रथम अधिकारमे लक्षणादि चारो विषयोका निरूपण किया है। प्रतिपादनकी यह शास्त्रीय शैली पाठक और विचारक दोनोके लिए ही हृदयावर्जक है।

यहाँ प्रकरण सगत होनेसे यह निर्देश कर देना उपयुक्त प्रतीत होता है कि मूल आगम परम्परामे किसी भी विषयकी प्ररूपणाके पूर्व आरम्भमे उस विषयका वाचक शब्द कितने अर्थोमे पाया जाता है, निक्षेपविधिसे प्ररूपण करने-पर कौन निक्षेपार्थ किस नयका विषय है, यह दिखलाकर प्रकृत निक्षेपार्थकी प्ररूपणा की जाती रही है।[1] इससे अध्येता उस ग्रन्थ या प्रकरणके अध्ययनके पूर्व निम्न तथ्योको स्पष्टरूपसे जान लेता है।

१. प्रकृत प्ररूपणा किस निक्षेपार्थका अवलम्बन लेकर की जा रही है।

२. वह निक्षेपार्थ किस नयका विषय है।

अध्येता नय-निक्षेप की उक्त प्रक्रियाका अवलम्बन ग्रहण कर अप्रकृत अर्थका निराकरण और प्रकृत अर्थका ग्रहण कर सके, यही उक्त कथनका उद्देश्य है। प्राचीन ग्रन्थोमे इस परम्पराका निर्वाह अक्षुण्ण रूपसे पाया जाता[2] है, किन्तु उत्तरकालीन ग्रन्थोमे इसका निर्वाह क्वचित्-कदाचित् ही हुआ है। पर गुरुजीने अपने इस ग्रन्थमे लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपार्थका ज्ञान कराना आवश्यक समझ कर सर्व प्रथम इन विषयोका स्वरूप विवेचन किया है। अतएव प्रत्येक विचारक समीक्षकको अधिकार नियोजनके क्रममे औचित्य स्वीकार करना पड़ेगा। गुरुजी सिद्धान्त विषयके मर्मज्ञ विद्वान् थे, अत विषयनियोजनमे उन्होने शास्त्रीय क्रमका पालन किया है। सिद्धान्तोकी प्रतिष्ठापना सरल और सहजरूपमे की गयी है। सामान्यस्तरके पाठक भी गूढ विषयोको हृदयगम कर सकते है।

किसी भी वस्तुका ज्ञान दो प्रकारसे किया जाता है—एक तो उसके ज्ञान करानेमे प्रयोजक स्वरूपकी जान-कारी द्वारा और दूसरे उसके अविनाभावी परिकर द्वारा। इनमेसे प्रथमकी आत्मभूत लक्षणसंज्ञा है और दूसरेकी अनात्म-

---

१, धवलाटीका पु० १३ पृ० ३-४, पृ० १८ तथा पृ० १९८।

२. वही।

भूत। विवक्षित वस्तुका वर्तमानमें ज्ञान करते समय ये दोनों ही लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषोंसे रहित होने चाहिए; तभी उन द्वारा विवक्षित वस्तुका ठीक तरहसे ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भमें ( १–४ पृ० तक ) गुरुजीने उक्त तथ्यका स्पष्ट निरूपण किया है।

२. ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। ये दोनों ही ज्ञान प्रमाण और नयके भेदसे दो-दो प्रकार के हैं। आचार्य पूज्यपादने सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें क्या अन्तर है इसका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके अभिप्रायसे तीन प्रकारके विपर्यासोंका निर्देश किया है—कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास।[1] जो ज्ञान इन तीन प्रकारके विपर्यासोंको लिये हुए है उसकी मिथ्याज्ञानसंज्ञा है और इससे भिन्न दूसरे प्रकारके ज्ञानकी सम्यग्ज्ञान संज्ञा है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इस दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। तथा मिथ्याज्ञानके तीन भेद हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान। इन्हीं दोनों प्रकारके ज्ञानोंको क्रमसे प्रमाणज्ञान और प्रमाणाभास कहते हैं। 'श्रुतविकल्पो नयः' इस वचनके अनुसार नयज्ञानका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें ही होता है। तदनुसार श्रुतज्ञानके सम्यक् और मिथ्या ये दो भेद होनेसे नयज्ञान भी दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। उनमेंसे प्रथमकी नय संज्ञा है और दूसरेको नयाभास कहते हैं।

प्रमाणज्ञान और नयज्ञानको थोड़ेमें इन शब्दों द्वारा समझा जा सकता है—अंश, अंशीका भेद किये बिना समग्ररूपसे वस्तुका ज्ञान करानेवाले सम्यग्ज्ञानको प्रमाणज्ञान कहते हैं और अंश द्वारा वस्तुका ज्ञान करानेवाला सम्यग्ज्ञान नयज्ञान कहलाता है। आगम परम्परामें इन ज्ञानोंका इसी रूपमें निरूपण हुआ है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, इसलिए तत्स्वरूप वस्तुको समग्र भावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है और विवक्षित एक धर्मको मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करनेवाला सम्यग्ज्ञान नयज्ञान है यह समग्र कथनका निचोड़ है।

गुरुजीने प्रस्तुत ग्रन्थ ( ४ से २१ पृ० तक ) में प्रमाणकी मीमांसा करते हुए अर्थ, आलोक, सन्निकर्ष और इन्द्रियवृत्ति ये प्रमाण न होकर सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है इसका सम्यक् प्रकारसे मीमांसा करनेके बाद प्रमाणमें प्रमाणता अभ्यस्त दशामें स्वतः और अनभ्यस्त दशामें परतः आती है इस तथ्यकी स्थापना की है। आगे प्रमाणज्ञान कितने प्रकार का है इस तथ्यका स्पष्टीकरण करते हुए उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद करके प्रत्यक्षके दो भेद किये हैं—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इनमेंसे साव्यवहारिक प्रत्यक्षमें मतिज्ञान और उसके अवान्तर भेदोंको लिया है। तथा पारमार्थिक प्रत्यक्षके विकल और सकल ये दो भेद करके विकल प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको तथा सकलप्रत्यक्षमें केवलज्ञानको लिया है। परोक्षज्ञानका निरूपण करते हुए उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद किये हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि न्याय-दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें इन ज्ञानोंकी जिस ढंगसे प्ररूपणा की गई है उसी सरणिको अपनाकर गुरुजीने इन ज्ञानोंका निरूपण किया है। यही कारण है कि उनके इस निरूपण में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंका इस प्रसंगमें कहीं पर नामोल्लेख भी दृष्टिगोचर नहीं होता। स्पष्ट है कि उन्होंने मतिज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे और श्रुतज्ञानको परोक्षज्ञानरूपसे स्वीकारकर इन ज्ञानोंकी प्रमाणज्ञानरूपसे प्ररूपणा की है। गुरुजी किसी भी प्रमेयका अव्यभिचारी लक्षण निर्दिष्ट करनेमें बड़े पटु रहे हैं यह इस प्रकरणपर दृष्टि डालनेसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

३. नयज्ञानका निरूपण ( २२ से ३५ पृ० तक ) करते हुए सर्वप्रथम गुरुजीने अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी स्थापना करके और साथ ही ज्ञानकी स्वार्थ और परार्थ इन दो भेदों में स्थापना करके वाक्योंको सकलादेश और विकलादेश इन दो भागोंमें विभक्त किया है और अन्तमें बतलाया है कि विकलादेश वाक्यका ही नयवाक्य संज्ञा है तथा इससे जो ज्ञान होता है उसे ही भावनय कहते हैं। नयके निरूपणमें गुरुजीने श्रीदेवसेनके नयचक्रको मुख्य आलम्बन बनाया है। आगम प्रमाणोंको उद्धृत करते हुए आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और स्वामी कार्तिकेयकी द्वादशानुप्रेक्षाके उद्धरण भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। नयज्ञान क्या है इसका सामान्य मीमांसा करनेके बाद उसके उत्तर भेदोंका निरूपण करते हुए गुरुजी ने जो वाक्य अंकित किये हैं वे हृदयंगम करने योग्य हैं। वे लिखते हैं—

'नयके मूल भेद दो हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। इस ही व्यवहारनयका दूसरा नाम उपनय है। 'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्' इस वचनसे निश्चयका लक्षण भूतार्थ और व्यवहारका लक्षण अभूतार्थ है। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना यह निश्चयनयका विषय है। और एक पदार्थको परके निमित्तसे व्यवहारसाधनार्थ अन्यरूप कहना व्यवहारनयका विषय है।'

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ३२।

यहाँ पर गुरुजीने व्यवहारकी जो परिभाषा दी है वह मुख्यतया असद्भूत व्यवहार या उपचरित व्यवहार पर ही घटित होती है, सद्भूत व्यवहारकी परिभाषा इससे भिन्न प्रकारकी है। यहाँ व्यवहारका प्रयोग उपचारके अर्थमें हुआ है। सद्भूत व्यवहारमें अखण्ड द्रव्यमें गुण-गुणी आदिके भेदसे भेदविवक्षा मुख्य है। इतना अवश्य है कि भेदव्यवहारका भी यदि अन्यके साथ सम्बन्धको दिखलाते हुए कथन किया जाता है तो ऐसी अवस्थामें वह सद्भूतव्यवहार भी उपचरित-सद्भूतव्यवहार कहलाने लगता है।

नयचक्रमें असद्भूतव्यवहारनयसे उपचरितनयको पृथक् मानकर उसके तीन भेद किये हैं। गुरुजीने भी इसी पद्धतिको स्वीकार कर इन नयोंका विवेचन किया है। किन्तु आलापपद्धतिमें 'उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः।' यह लिखकर उसका निषेध किया है। असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है,[1] इस तथ्यपर दृष्टि देनेसे विदित होता है कि वस्तुतः उपचार असद्भूत व्यवहारका ही दूसरा नाम है। इनकी परिभाषाओं और उदाहरणोंको देखनेसे भी यही ज्ञात होता है।

नयोंके विवेचनके प्रसंगमें आगे ( पृ० ३४–३५ में ) गुरुजीने अन्य आचार्यके उपदेशानुसार संक्षेपमें इन नयोंका पुनः स्वरूपनिर्देश किया है। किन्तु इस विवेचनमें कोई नई बात नहीं कही गई है। इस पर अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए गुरुजीने ( पृ० ३५ में ) स्वयं लिखा है—

'यद्यपि ये छह भेद किसी आचार्यने अध्यात्मसम्बन्धमें संक्षेपमें कहे हैं, परन्तु ये छह भेद प्रथम कहे हुए ३६ भेदोंमेंसे किसी न किसी भेदमें गर्भित हो जाते हैं।' आदि, ( पृ० ३५ )

४ निक्षेपका निरूपण करते हुए गुरुजीने सर्वप्रथम 'जुत्तीसु जुत्तमग्गे' यह प्राचीन गाथा उद्धृत कर निक्षेप किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण किया है। निक्षेपके अनेक भेद हैं। उनमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद मुख्य हैं। इनका सर्वार्थसिद्धि और गोम्मटसार कर्मकाण्डमें विस्तृत विवेचन किया है। गुरुजीने उन्हीं ग्रन्थोंके आधारसे यह प्रकरण लिखा है।

एक-एक शब्द अनेक अर्थोंमें पाया जाता है उनमेंसे अप्रकृत अर्थका निराकरण कर प्रकृत अर्थका ज्ञान कराने के लिए निक्षेपविधि की जाती है। जैन परम्परामें एक मात्र इसी अभिप्रायसे इसे मुख्यता मिली हुई है यह इस प्रकरणसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

: २ :

दूसरे अधिकारका नाम है—द्रव्यसामान्यनिरूपण (पृ० ३९ से ११८)। यह अधिकार पञ्चाध्यायी, पञ्चास्तिकाय, तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टसहस्री आदि अनेक आगम ग्रन्थोंके परिशीलनका सुपरिणाम है। सर्वप्रथम इस अधिकारमें आगमकी प्राचीन दो गाथाएँ उद्धृत कर द्रव्यके तीन लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा—

१. जो स्वभाव अथवा विभाव पर्यायरूप परिणमे है, परिणमेगा और परिणम्या सो आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल भेदरूप द्रव्य है।

२. जो तीन कालमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सत्करि सहित होवे उसे द्रव्य कहते हैं।

३. तथा जो गुण-पर्यायसहित अनादिसिद्ध होवे उसे द्रव्य कहते हैं।

ये द्रव्यके तीन लक्षण हैं। इस अधिकारका मुख्य विवेच्य विषय इन्हीका स्पष्टीकरणमात्र है।

यहाँ प्रथम लक्षणके अनुसार द्रव्यकी प्रसिद्धि करते हुए गुरुजीने पर्यायको लक्ष्यमें रखकर लिखा है—

(क) 'द्रव्यमें अंशकल्पनाको पर्याय कहते हैं। उस अंशकल्पनाके दो भेद कहे हैं—एक देशांश कल्पना, दूसरी गुणांशकल्पना (पृ० ३९)।'

आगे देशांशकल्पनाको द्रव्यपर्याय और गुणांशकल्पनाको गुणपर्याय बतलाकर गुणपर्यायके दो भेद किये हैं—अर्थगुणपर्याय और व्यञ्जनगुणपर्याय। साथ ही इन दोनोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

१. 'ज्ञानादिक भाववती शक्तिके विकारको अर्थगुणपर्याय कहते हैं। २. प्रदेशवत्त्व गुणरूप क्रियावतीशक्तिके विकारको व्यञ्जनगुणपर्याय कहते हैं। इस ही व्यञ्जन गुणपर्यायको द्रव्यपर्याय भी कहते हैं, क्योंकि व्यञ्जनगुणपर्याय द्रव्यके आकारको कहते हैं। सो यद्यपि यह आकार प्रदेशवत्त्व शक्तिका विकार है, इसलिए इसका मुख्यतासे प्रदेशवत्त्वगुणसे

---

१. आलापपद्धति पृ० १६६ ( बनारससे मुद्रित गुटिका )।

सम्बन्ध होनेके कारण इसे व्यञ्जनगुणपर्याय ही कहना उचित है, तथापि गौणतासे इसका देशके साथ भी सम्बन्ध है, इसलिए देशांशको द्रव्यपर्यायकी उक्तिकी तरह इसको भी द्रव्यपर्याय कह सकते हैं (पृ० ४०)।'

आगे इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंमेंसे प्रत्येकके स्वभाव और विभाव ये दो भेद करके लिखा है—

'जो निमित्तान्तरके बिना होवे उसे स्वभाव कहते है और जो दूसरेके निमित्तसे होय उसे विभाव कहते हैं (पृ० ४०)।'

(ख) आगे दूसरे लक्षणके अनुसार द्रव्यकी प्रसिद्धि करते हुए सत, सत्ता और अस्तित्व इन तीनोंको एकार्थ बतलाकर पञ्चाध्यायीकी '**तत्त्वं सल्लाक्षणिकं**' इत्यादि कारिका तथा पञ्चास्तिकायकी '**सत्ता सव्वपयत्था**' इत्यादि गाथाका अवलम्बन लेकर सत्ताका विस्तारसे विचार किया है (४१ से ४६)।

इसी प्रसंगमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किसके होते है इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि—'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों द्रव्यके नहीं होते किन्तु पर्यायोंके होते हैं। परन्तु पर्याय द्रव्यका ही स्वरूप है, इस कारण द्रव्यको भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप कहा है (४६)।'

आगे (पृ० ५६) पर्यायके विशेष स्पष्टीकरणके प्रसंगसे गुणांशका नाम ही अविभागप्रतिच्छेद है यह बतलाकर उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए एक महत्त्वपूर्ण सूचना की है—

'किसी गुणकी जघन्य अवस्था और उसका जघन्य अन्तर समान होते हैं, उस गुणकी जघन्य अवस्था तथा जघन्य अन्तर इन दोनोको अविभागप्रतिच्छेद कहते है। परन्तु किसी गुणमे उस गुणका जघन्य अन्तर उस गुणकी जघन्य अवस्थाके अनन्तवें भाग होता है। उस गुणमें उस जघन्य अन्तरको ही अविभागप्रतिच्छेद कहते है। ऐसी अवस्थामें उस गुणकी जघन्य अवस्थामे अनन्त अविभागप्रतिच्छेद कहे जाते है (पृ० ५७)।'

(ग) द्रव्यके तीसरे लक्षणमे उसे गुण-पर्यायवाला प्रसिद्ध कर गुणोंको सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। सामान्य गुणोंमे छह गुण मुख्य हैं—अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व और प्रदेशवत्व (५७)।

आलापपद्धतिमे इन छह सामान्य गुणोंके सिवाय चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये चार सामान्य गुण और परिगृहीत किये है। इनमेसे प्रत्येक द्रव्यमे आठ-आठ सामान्य गुण होते हैं। स्पष्टीकरण सुगम है। वहाँ विशेष गुणोंकी कुल संख्या १६ दी है। उनमे चेतनत्व आदि उक्त चार गुण विशेष गुणोंमे भी परिगणित किये गये है।

यहाँ यद्यपि द्रव्यके उक्त प्रकारसे तीन लक्षण कहे गये है, परन्तु उनमे एकवाक्यता किस प्रकार है इसे स्पष्ट करते हुए गुरुजी लिखते हैं—

'यद्यपि इन तीनों लक्षणोंमे परस्पर विरोध नही है और परस्पर एक-दूसरेके अभिव्यञ्जक है, तथापि ये तीनों लक्षण द्रव्यकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंकी अपेक्षासे कहे है। अर्थात् पहले द्रव्यके छह सामान्य गुण कह आये है। उनमे एक द्रव्यत्व, दूसरा सत्त्व और तीसरा अगुरुलघुत्व है। सो पहला लक्षण द्रव्यत्व गुणकी मुख्यतासे, दूसरा लक्षण सत्त्व गुणकी मुख्यतासे और तीसरा लक्षण अगुरुलघुत्वगुणकी मुख्यतासे कहा है (६२)।'

आगे गुणकी विशेष मीमांसा करते हुए लक्षणभेदसे प्रत्येक गुण द्रव्यके जितने क्षेत्रको व्याप कर रहता है उतने ही क्षेत्रमे समस्त गुण रहते है यह स्पष्ट किया गया है। गुण नित्य है या अनित्य इसकी मीमांसा करते हुए बतलाया है कि—'जब गुणोंसे भिन्न द्रव्य अथवा पर्याय कोई पदार्थ नहीं हैं, किन्तु गुणोंके समूहको ही द्रव्य कहते हैं तो जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है उसी प्रकार गुण भी नित्यानित्यात्मक स्वयं सिद्ध है। वे गुण यद्यपि नित्य है तथापि बिना यत्नके प्रतिसमय परिणमते हैं और वह परिणाम उन गुणोंकी ही अवस्था है, उन परिणामों (पर्यायों) को गुणोंसे भिन्न सत्ता नहीं है (६३)।'

गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते है, द्रव्यके इस लक्षणके अनुसार जितनी भी पर्यायें होती हैं उन्हें गुणपर्याय कहना ही उचित है। उनके द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ऐसे भेद करना उचित नहीं है? यह एक शंका है। इसका परिहार करते हुए वहाँ बतलाया है कि 'उन अनन्त शक्तियों (गुणोंमे) दूसरे दो भेद हैं अर्थात् १. क्रियावती शक्ति, २. भाववती शक्ति। प्रदेश अथवा देशपरिस्पन्द (चंचलता)को क्रिया कहते हैं और शक्तिविशेषको भाव कहते है। भावार्थ—अनन्त गुणोंमेसे प्रदेशवत्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते है और बाकीके गुणोंको भाववती शक्ति कहते है। इस प्रदेशवत्व गुणके परिणमन (पर्याय)को द्रव्यपर्याय कहते हैं। इसीका दूसरा नाम व्यञ्जनपर्याय है। शेष गुणोंके परिणमन (पर्याय)को गुणपर्याय कहते है। इसही का दूसरा नाम अर्थपर्याय है (५५)।'

आगे गुणोंको सहभावी या अन्वयी क्यों कहा गया है तथा पर्यायोंको क्रमभावी या व्यतिरेकी क्यों कहा गया है, इसका ऊहापोह किया गया है। साथ ही व्यतिरेकको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चार प्रकार बतलाकर यह सिद्ध किया है कि जैसे पर्यायोंमें परस्पर व्यतिरेकीपना घटित होता है उस प्रकार गुणोंमें वह व्यतिरेकीपना घटित नहीं होता (६६ से ६८ पृ०)।

आगे पर्यायके स्वरूपपर और भी स्पष्ट प्रकाश डालते हुए व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तित्व ये दोनों ही पर्यायके लक्षण होते हुए भी इनमें क्या अन्तर है यह स्पष्ट करते हुए बतलाया है—'स्थूल पर्यायमें जो आकार प्रथम समयमें है उस ही के सदृश आकार दूसरे समयमें है। इन दोनों आकारोंमें पहला है सो दूसरा नहीं है और दूसरा है सो पहला नहीं है। इस हीको व्यतिरेकीपन कहते है। और एकके पीछे दूसरा होना इसको क्रम कहते हैं। यह वह है अथवा अन्य है इसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। 'एकके पीछे दूसरा होना' इस लक्षणरूप क्रम 'यह वह नही है।' इस लक्षणरूप व्यतिरेकका कारण है। इसलिए क्रम और व्यतिरेकमें कार्यकारण भेद है (६९)।'

आगे सामान्यरूपसे द्रव्य, गुण, पर्यायका विवेचन करनेके बाद प्रसंगसे जैन सिद्धान्तके आधारभूत अनेकान्तका विवेचन किया गया है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है, इसलिए अनेकान्त यह प्रत्येक वस्तुका पर्याय नाम ही है। इसका विग्रह करनेपर भी यही तात्पर्य निष्पन्न होता है। यथा—**अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन् भावे सोऽनेकान्तः**—अर्थात् जिस पदार्थमें अनेक धर्म होते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। यह अनेकान्त पदका सामान्य निरूपण है। इसे विशेषरूपसे और स्पष्ट समझनेके लिए इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक तथा तत्-अतत् इत्यादि रूपसे परस्पर विरुद्ध सरीखे 'दिखनेवाले' अनेक अर्थात् दो-दो धर्मयुगलोंका अधिकरण है, इसलिए वह अनेकान्त स्वरूप है। जैसे एक ही व्यक्ति पिता भी होता है और पुत्र भी, उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। ये धर्म प्रत्येक वस्तुका स्वरूप है, इसलिए परनिरपेक्ष ही हैं। इनके प्रत्येक वस्तुमें युगपत् रहनेमें कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि अपेक्षाभेदसे प्रत्येक वस्तुमें इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। यहाँ गुरुजीने प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक बतलानेके बाद लिखा है—'क्योंकि वे धर्म अपेक्षा रहित नहीं हैं, किन्तु अपेक्षा सहित हैं और वे अपेक्षा भी भिन्न-भिन्न हैं।' सो उनके ऐसा लिखने का यही तात्पर्य है कि बुद्धि द्वारा विचार करनेपर अपेक्षा भेदसे प्रत्येक वस्तुमें उन सत्-असत् आदि धर्मयुगलोंकी सम्यक् प्रकार सिद्धि होती है, इसलिए प्रत्येक वस्तुको तत्स्वरूप माननेमें कोई बाधा नहीं आती।

गुरुजीने यहाँ (पृ० ७२ से ११८ तक) अनेकान्तका तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके आधारसे बड़ा ही मार्मिक स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि एक शब्द एक समयमें वस्तुके अनेक धर्मोंका प्रतिपादन नहीं कर सकता और शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताकी इच्छापूर्वक होती है, इसलिए वक्ता एक समयमें वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचनका प्रयोग करता है। ऐसे समयमें कथनमें विवक्षित धर्मकी मुख्यता रहती है और शेष धर्मोंकी गौणता, अतः इन गौण धर्मोंका द्योतक स्यात् (कथंचित्) शब्द समस्त वाक्योंके साथ गुप्तरूपसे रहता ही है। आगे शास्त्रप्रसिद्ध छह जन्मान्धोंका दृष्टान्त देकर वस्तुके अनेकान्त स्वरूपको स्पष्ट करनेके बाद तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सू० ४२ में दिये गये ग्यारह हेतुओं द्वारा प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है (पृ० ७५ से ८० तक)।

तदनन्तर (पृ० ८०) प्रतिपादनके १ 'क्रमसे और २ युगपत्' ये दो प्रकार बतलाकर लिखा है कि जिस समय कालादिसे अस्तित्वादिक धर्मोंकी भेद विवक्षा हैं उस समय एक शब्द अनेक धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ होनेसे वस्तुका निरूपण क्रमसे किया जाता है और जिस समय उन ही धर्मोंका कालादिसे अभेदवृत्तिसे निजस्वरूप कहा जाता है उस समय एक ही शब्द द्वारा एक धर्म प्रतिपादन मुखसे समस्त अनेक धर्मोंको प्रतिपादकता सम्भव है, इसलिए वस्तुका निरूपण युगपत् रूपसे कहा जाता है। यहाँ युगपत् निरूपणका नाम ही सकलादेश है, उस हीको प्रमाण वचन कहते हैं और क्रमसे निरूपणका नाम ही विकलादेश है, उस हीको नय वचन कहते हैं—**'सकलादेशो प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः'** ऐसा आगमका वचन भी है। यहाँ इतना विशेषरूपसे जानना चाहिए कि सकलादेशरूप प्रमाण वचनकी प्रवृत्ति अभेदवृत्ति और अभेदोपचार इस तरह दो प्रकारसे होती है। द्रव्यार्थिकनयसे समस्त धर्म अभिन्न है, इसलिए अभेदवृत्तिको स्वीकार कर प्रमाण वचनका प्रयोग होता है और पर्यायार्थिकनयसे समस्त धर्म परस्पर भिन्न भी हैं, इसलिए विवक्षित धर्ममें शेष धर्मोंका अध्यारोप करके प्रमाण वचनका प्रयोग किया जाता है (पृ० ८१)।

इतना स्पष्ट करनेके बाद इन दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे प्रत्येकको सात-सात प्रकारका बतलाकर उनकी क्रमशः प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी ये संज्ञाएं सूचितकर प्रमाणसप्तभंगीके प्रत्येक भंगको विस्तारके साथ स्पष्ट किया गया है (पृ० ८२ से १०८ तक)।

विकलादेशकी अपेक्षा कथन करते समय निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अंशकल्पनाकी मुख्यता रहती है। सकलादेश और विकलादेशमें अन्तर यह है कि सकलादेशमें शब्द द्वारा उच्चरित धर्म द्वारा शेष समस्त धर्मोंका संग्रह है और विकलादेशमें शब्द द्वारा उच्चरित धर्मका ही ग्रहण है। शेष धर्मोंका न विधि है और न निषेध है। इतना अवश्य है कि एकान्तका परिहार करनेके लिए प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' पद द्वारा उनका द्योतन अवश्य कर दिया जाता है। साथ ही प्रत्येक वाक्यमें अवधारणके लिए 'एवकार'का प्रयोग भी अवश्य किया जाता है।

प्रमाण वचन और नय वचन सात-सात ही क्यों होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए वहाँ बतलाया है कि 'वस्तु किसी धर्मकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिस्वरूप है, उसके प्रतियोगी धर्मकी अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है और दोनोंकी युगपत् विवक्षासे अवक्तव्यस्वरूप है। इस प्रकार वस्तुमें किसी एक धर्म और उसके प्रतियोगीकी अपेक्षासे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म होते हैं। इन तीन धर्मोंके संयुक्त और असंयुक्त सात ही भंग होते हैं, न हीन होते हैं और न अधिक होते हैं (११०)।'

आगे अनेकान्तमें विरोधकी शंकाका परिहार करके भावैकान्त, अभावैकान्त, अद्वैतैकान्त और पृथक्त्वैकान्तका निरसनकर इस अध्यायको समाप्त किया गया है।

**: ३ :**

तीसरा अधिकार है—अजीव द्रव्य निरूपण (पृ० ११८ से १३५ तक)। यद्यपि इस अधिकारमें अजीव द्रव्यके निरूपणकी प्रतिज्ञा की गई है, परन्तु अलौकिक गणितको ठीक तरहसे बतलाये बिना द्रव्योंके छोटापन, बड़ापन तथा गुणोंकी मन्दता और तीव्रता आदिका निरूपण नहीं बन सकता, इसलिए इस अधिकारमें सर्व प्रथम अलौकिक गणितका कथनकर अजीव द्रव्यका निरूपण किया गया है।

इस अधिकारमें लौकिक गणितसे अलौकिक गणितके अन्तरका ज्ञान कराते हुए गुरुजी लिखते हैं कि 'लौकिक गणितमें स्थूल और स्वल्प पदार्थोंका परिमाण किया जाता है, किन्तु अलौकिक गणितमें सूक्ष्म और अनन्त पदार्थोंकी हीनाधिकताका बोध कराया जाता है।'

गुरुजीने मानको दो भागोंमें विभक्त किया है—एक संख्यामान और दूसरा उपमामान। संख्यामानके मूल भेद तीन हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। इनके उत्तर भेद इक्कीस हैं।

एककी परिगणना संख्यातमें नहीं होती, क्योंकि एकमें एकका भाग देने पर या एकको एकमें गुणा करने पर लब्ध एक ही आता है, उसमें वृद्धि-हानि नहीं होती, इसलिए संख्यातका प्रारम्भ दो से माना गया है। इतना अवश्य है कि गणना एकसे ही प्रारम्भ होती है। त्रिलोकसारका वचन भी है—

एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेज्जा।
तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा मुणेयव्वा॥

संख्यामानके उक्त २१ भेदोंका त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंके आधारसे विस्तार पूर्वक निरूपण करनेके बाद उपमामानका निरूपण किया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—'जो प्रमाण किसी पदार्थकी उपमा देकर कहा जाता है उसे उपमामान कहते हैं। उपमामानके आठ भेद हैं—१. पल्य (यहाँ पर पल्य अर्थात् खासकी उपमा है), २. सागर (यहाँ पर लवण समुद्रकी उपमा है), ३. सूच्यंगुल, ४. प्रतरांगुल, ५. घनांगुल, ६. जगच्छ्रेणी, ७. जगत्प्रतर और ८. लोक। इन सबका विस्तृत विवेचन भी गुरुजीने उक्त ग्रन्थोंके आधारसे किया है।

इस प्रकार अलौकिक गणितका निरूपण करनेके बाद अजीव द्रव्यके पाँचों उत्तर भेदोंका निरूपण किया गया है। साथ ही जीवद्रव्यका भी निर्देश कर दिया है। इसमें किस द्रव्यका क्या लक्षण है, कौन द्रव्य मूर्त है और कौन अमूर्त है, आकाशके कितने भेद हैं, लोकाकाश किसे कहते हैं और वह कहाँ है, संख्यामानसे देखने पर कौन द्रव्य कितने हैं, पुद्गलके उत्तर भेद कितने और किस प्रकार हैं, परमाणुका प्रमाण कितना है, अस्तिका और अस्तिकायका क्या तात्पर्य है आदि बातोंका संक्षेपमें स्पष्टीकरण करके यह अधिकार समाप्त किया गया है।

**: ४ :**

चौथे अधिकारका नाम है—पुद्गलद्रव्यनिरूपण (पृ० १३५ से १५० तक)। इसमें बतलाया है कि यद्यपि पुद्गलमें अनन्तगुण है, पर उनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण मुख्य हैं। ये चारों पुद्गलके आत्मभूत लक्षण हैं। आगे इन इन गुणोंके उत्तर भेदोंकी चरचा करके पुद्गलका शब्द, बन्ध आदि दस पर्यायोंका निरूपण किया गया है।

उनमेंसे बन्ध पर्यायका निरूपण करते हुए बतलाया है कि 'बन्धके भी दो भेद है—एक स्वाभाविक और दूसरा प्रायोगिक। स्वाभाविक ( पुरुष प्रयोग अनपेक्षित ) बन्ध दो प्रकार है—एक सादि और दूसरा अनादि। स्निग्ध-रूक्षगुणके निमित्तसे बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदिक स्वाभाविक सादिबन्ध है। अनादि स्वाभाविक बन्ध धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्योमे एक एकके तीन-तीन भेद होनेसे नौ प्रकारका है।'

यहाँ गुरुजीने, जिसे आगममें विस्रसा बन्ध कहा गया है, उसे ही स्वाभाविक बन्ध कहा है। रागपूर्वक जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है उसीका नाम पुरुषप्रयोग है।

इस प्रसगमे इस बातका संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि गुरुजीने ( पृ० ३३७ ) भाषाके भेदोंमे दिव्यध्वनिको सम्मिलित कर अन्तमे लिखा है कि 'इस भाषात्मक शब्दके समस्त ही भेद परके प्रयोगसे उत्पन्न होते है, इसलिये प्रायोगिक हैं। पर इसे सामान्य निर्देश ही समझना चाहिए। विशेषरूपसे विचार करनेपर केवलीके रागका अभाव होनेसे दिव्यध्वनिको प्रायोगिक न कह कर स्वाभाविक कहना और मानना ही उचित है।[1] आगमका भी यही अभिप्राय है।

यह अधिकार तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओका आलोडनकर लिखा गया है। पुद्गल और उसके उत्तर भेदोके सम्बन्धमें उक्त ग्रन्थोमे जितना विवेचन पाया जाता है उस सबका इसमे ऊहापोह किया गया है।

: ५ :

पाँचवाँ अधिकार है—धर्म और अधर्म द्रव्यनिरूपण (पृ० १४० से १५९ तक)। इस अधिकारमें प्रकृतमे धर्म और अधर्म पदसे पुण्य-पाप नही लिये गये है इसका निर्देश करनेके बाद इन दोनों द्रव्योके स्वरूपका निर्देश किया गया है। प्रश्न यह है कि ये दोनो द्रव्य है इसे कैसे स्वीकार किया जाय? इसीके उत्तर स्वरूप गुरुजीने आगम और अनुमानप्रमाणसे इनकी सिद्धि की है। आगमप्रमाणसे सिद्धि करते हुए उन्होने तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र १ को उपस्थित किया है। अनुमान-प्रमाणसे सिद्धि करते समय बतलाया है कि लोकमे जितने भी कार्य होते है वे सब कारणपूर्वक होते हुए ही देखे जाते है। ऐसा एक भी कार्य दृष्टिगोचर नही होता जो बाह्य और आभ्यन्तर कारणोके अभावमे हुआ हो। इतना सब स्पष्टीकरण करनेके बाद उन्होने लिखा है—'गति और गतिपूर्वक स्थिति ये दो कार्य जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योमे होते है, अन्यमे नही होते। जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरूप कार्य अनेक कारणजन्य हैं। उनमे जीव और पुद्गल तो उपादान कारण है और धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्तकारण है। बस, जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरूप कार्यमे धर्म और अधर्मद्रव्यरूप निमित्तकारणका अनुमान होता है। यद्यपि मछली आदिककी गतिमे जलादिक और अश्वादिकका गतिपूर्वक स्थितिमें पृथ्वी आदिक निमित्तकारण हैं तथापि पक्षियोके गमनागमनादिक कार्योमें निमित्तकारणका अभाव होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। अथवा यद्यपि जलादि पदार्थ मछली आदिकके गमनमे निमित्तकारण है किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य युगपत् समस्त पदार्थोंकी गति-स्थितिमे साधारण कारण है। ये धर्म और अधर्मद्रव्य लोकव्यापी है, इसलिए ये ही साधारण कारण हो सकते हैं। अन्य पदार्थ लोकव्यापी न होनेसे साधारण कारण नही हो सकते।'

आगे आकाशद्रव्यको जीव और पुद्गलोकी गति-स्थितिका हेतु माननेमे क्या आपत्ति है इस प्रश्नका समाधान कर लोक और अलोकके विभागके हेतुरूपसे भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी सिद्धि की गई। लोक और अलोकका विभाग असिद्ध है ऐसा प्रश्न होनेपर लोककी सान्तता सिद्ध कर लोक और अलोककी स्थापना की गई है।

इस अधिकारका अन्त करते हुए गुरुजीने षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिका स्वरूप बतलाकर अन्तमें लिखा है कि 'किन्तु वृद्धि और हानिके उपर्युक्त छह-छह स्थानोमेसे किसी एक स्थान रूप वृद्धि या हानि होती है।'

: ६ :

छठे अधिकारका नाम है—आकाशद्रव्यनिरूपण (पृ० १५९ से १९३ तक)। इस अधिकारका निरूपण करते हुए गुरुजीने बतलाया है—आकाश भी एक द्रव्य है, क्योंकि इसमे 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सत् द्रव्यलक्षणम्' द्रव्यका यह लक्षण अविकल पाया जाता है। आकाश द्रव्यका मुख्य गुण अवगाहहेतुत्व है। यह पूरे आकाशमे अखण्डभावसे पाया जाता है। यद्यपि अलोकाकाशमें अन्य द्रव्य नही है, मात्र इसलिए उसकी वहाँ इस शक्तिका अभाव नही

१. प्रवचनसार गाथा ४४ और उसकी अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका।

हो जाता। यह आकाशका स्वभाव है और स्वभावका कभी नाश नहीं होता। 'आकाश' यह शब्द ही आकाशके अस्तित्व-का सूचक है। जैसे अन्य द्रव्योंमें स्वनिमित्तक और परप्रत्यय उत्पाद बन जाता है उसी प्रकार आकाशमें भी उत्पादका सद्भाव सिद्ध होता है। वास्तवमें आकाश अखण्ड एक द्रव्य है। फिर भी जितने आकाशमें जीवादि अन्य पाँच द्रव्य पाये जाते है उसे लोकाकाश कहते है और शेष आकाशकी अलोकाकाश संज्ञा है। आकाशका यह विभाग मात्र परसापेक्ष कथन होनेसे व्यवहारनयसे ही कहा गया है। यहाँ 'लोक' यह शब्द जीवादि द्रव्योंसे युक्त आकाशके लिए आया है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—लोक्यन्ते यत्र जीवाद्य अर्थाः लोकः—जहाँ जीवादि पाँच द्रव्य देखे जाते है उसे लोक कहते है। ये छहों द्रव्य द्रव्यार्थिकनयसे कथंचित् नित्य है, इसलिए लोक भी कथंचित् नित्य है और पर्यायार्थिकनयसे कथंचित् अनित्य है, इसलिए लोक भी कथंचित् अनित्य है।

आगे लोककी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बतला कर तथा उसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ये तीन भाग करके कहाँ कैसी रचना है और किस गतिके जीव रहते है इसका विस्तारसे विवेचन किया गया है। साथ ही प्रसंग पाकर चारों गतियोंमेंसे किस गतिके जीव मर कर किस-किस गतिमें उत्पन्न होते है यह भी बतलाया गया है। मध्यलोकके वर्णनके प्रसगसे ३० भोगभूमि और १५ कर्मभूमि बतलाकर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस समग्र विवेचनके साथ यह अधिकार पूर्ण होता है।

: ७ :

सातवें अधिकारका नाम है—कालद्रव्य निरूपण (पृ० १९४ से लेकर पृ० २०८ तक)। 'कालो त्ति य ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो।' इस आगमवचनको उद्धृत कर गुरुजीका कहना है कि 'काल' यह स्वतन्त्र शब्द है, अत इसका कोई वाच्य अवश्य होना चाहिए। इससे कालद्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। यह वर्तनालक्षण है, द्रव्यदृष्टिसे नित्य होकर भी स्वयं पर्यायक्रमसे उत्पाद-व्ययशील है और अन्य पदार्थोंके परिवर्तनमे हेतु है। लोकाकाशके जितने प्रदेश है उतने ही कालद्रव्य है। यह अलोकाकाशमें नहीं पाया जाता, फिर भी आकाशके अखण्ड होनेसे उसके पर्यायरूपसे परिवर्तनका हेतु है।

यहाँ यह प्रश्न होने पर कि—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके समान कालको अखण्ड एक द्रव्य क्यों स्वीकार नहीं किया—समाधान करते हुए लिखा है कि—

१. मुख्य काल अनेक हैं। कारण कि प्रत्येक आकाशके प्रदेशोंमें व्यवहार काल भिन्न-भिन्न रीतिसे होता है, क्योंकि कुरुक्षेत्र लंकाके आकाशप्रदेशोंमें दिन आदिका भेद व्यवहारकालके भिन्न-भिन्न हुए बिना बन नहीं सकता।'

२. 'यदि कालको सर्वथा निरवयव अखंड एक ही मान लिया जाय तो कालमें अतीतादि व्यवहार नहीं बन सकेगा।'

इससे कालद्रव्य अनेक सिद्ध होते है।

जो समयरूप ही निश्चयकाल है उससे भिन्न कोई अणुरूप काल द्रव्य नहीं, ऐसा मानते है उनका समाधान करते हुए गुरुजी कहते है कि 'जो समय है वह उत्पन्न-प्रध्वंसी होनेसे पर्याय है और जो पर्याय होती है वह द्रव्यके बिना नहीं होती', अतएव अणुरूप कालद्रव्यकी सिद्धि होती है।

समय आदिको पुद्गल द्रव्यका परिणाम मानना चाहिए, ऐसा प्रश्न होनेपर गुरुजीका कहना है कि यदि समय, सेकंड आदि पुद्गल द्रव्यके परिणाम माने जाते है तो उन्हे, जैसे मिट्टीसे बना हुआ घट मिट्टीरूप अनुभवमें आता है उसी प्रकार पुद्गलरूप अनुभवमें आना चाहिए। यतः ये पुद्गलरूप अनुभवमें नहीं आते, अतः इन्हे पुद्गलरूप मानना उचित नहीं। किन्तु इन्हे स्वतन्त्र द्रव्यका ही परिणाम मानना चाहिए और वह स्वतन्त्र द्रव्य कालाणु ही है।

दूसरे जैसे बिल्ली आदिमें मुख्य सिंहके बिना सिंह व्यवहार नहीं किया जा सकता वैसे ही मुख्य काल द्रव्यको स्वीकार किये बिना काल यह व्यवहार नहीं बनता। इस हेतुसे भी काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

इस प्रकार अनेक तर्कों और आगमप्रमाणोंसे मुख्य कालद्रव्यकी सिद्धि करके गुरुजीने परिणाम, परत्व, अपरत्व और क्रिया इनके द्वारा व्यवहारकालका ज्ञान कराया है। तदनन्तर उत्सर्पिणी-आदि कालोंके भेद और उनका प्रमाण बतलाते हुए कहाँ कौन काल प्रवर्तता है इत्यादि विशेष विचार कर यह अधिकार समाप्त किया है।

: ८ :

आठवाँ अधिकार है—सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा (पृ० २०९ से २३८ तक)। इस अधिकारको प्रारम्भ करनेके पूर्व गुरुजीने 'परमागमस्य बीजं' इत्यादि श्लोक उद्धृतकर 'अनेकान्त'को नमस्कार किया है। अनन्तर प्रश्नोत्तररूपसे लोक क्या

है, प्रश्नका सामान्य विशेष लक्षण क्या है इत्यादि प्रश्नोंका समाधान करते हुए ईश्वरका अर्थ क्या है इस प्रश्नका मक्तात्मा ही ईश्वर है, यह उत्तर देकर सृष्टि कर्त्ताके रूपमे अनेक तर्कों द्वारा ईश्वरका निषेध किया है।

सर्व प्रथम ईश्वर सृष्टिका उपादान तो हो नही सकता इस तथ्यका समर्थन किया है। उसके बाद उसे लोक-निर्माणका निमित्तकर्त्ता स्वीकार करनेपर जो-जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश किया है। प्रथम आपत्ति उपस्थित करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार लोकमे घटादि कार्योंके कुम्भकारादि निमित्त कर्त्ता देखे जाते है उस प्रकार मेघ-वृष्टि और घासादिकी उत्पत्ति आदि कार्योंके कुम्भकारादिके समान कोई निमित्तकर्त्ता नही देखे जाते, अत सृष्टिकर्त्ताके रूपमे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनेमे कोई स्वारस्य नही है।

यहाँ ईश्वरवादियोका कहना है कि जितने भी कार्य है वे सब सुव्यवस्थित देखे जाते है, अत उनका कोई बुद्धिमान कर्त्ता अवश्य होना चाहिए और वह बुद्धिमान् ईश्वरके सिवाय अन्य दूसरा नही हो सकता।

इसका समाधान करते हुए गुरुजीका कहना है कि लोकरूप कार्यको सुव्यवस्थित मानना यह कोरी कल्पना है, क्योकि लोकमे अच्छे-बुरे सब प्रकारके कार्य देखे जाते है। यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और बुद्धिमान् कोई इस लोकका कर्त्ता होता तो उसमे यह विचित्रता नही दिखाई देती। इस विचित्रताका कारण भले बुरे कर्मोंको मानना भी उचित नही है, क्योकि वे भी कार्य हैं जो उक्त विशेषणोमे विशिष्ट कर्त्ताके स्वीकार करनेपर दो प्रकारके बन ही नही सकते।

दूसरे कार्य-कारणभाव और अन्वय-व्यतिरेक इन दोनोमे गम्य-गमक अर्थात् व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसके अनुसार ईश्वरको यदि लोक ( सृष्टि ) का कर्त्ता स्वीकार किया जाता है तो उनमे अन्वय-व्यतिरेक बनना चाहिए। परन्तु ईश्वरका लोकके साथ क्षेत्र और कालरूप दोनो प्रकारका व्यतिरेक नही बनता, इसलिए भी ईश्वरको लोकका कर्त्ता मानना उचित नही है।

तीसरे 'पृथिवी आदिक बुद्धिमत्कर्तृक है, कार्य होनेसे, घटादिकके समान।' इस अनुमितिमे जो कार्यत्व हेतु है उसके चार अर्थ हो सकते है—१ सावयवत्व, २—प्राक् असत् पदार्थक स्वकारणसत्ता समवाय, ३—'कृत' ऐसी बुद्धिका विषय और ४–विकारीपना। किन्तु इनका सागोपाग विचार करनेपर कार्यत्वहेतुसे बुद्धिमान् कर्त्ताकी सिद्धि नही हो सकती। विशेष ऊहापोहके लिए पृ० २२१ से २२५ तक देखिए।

इस प्रकार गुरुजीने 'ईश्वर सृष्टिका कर्त्ता है' इस मतका बडी सशक्त युक्तियो द्वारा खण्डन करके इस अधिकारको समाप्त करते हुए अन्तमे सृष्टिकर्तृत्व धर्मसे शून्य देव ही आदर करने योग्य बतलाया है।

## मूल्याङ्कन

जैन-सिद्धान्त दर्पणके उक्त विषय विवेचनसे स्पष्ट है कि गुरुजीने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, अष्टसहस्री, गोम्मटसार, लब्धिसार, समयसार और प्रवचनसार प्रभृति आर्षग्रन्थोके आधारपर उक्त ग्रन्थका प्रणयन किया है। बडे-बडे गम्भीर सैद्धान्तिक विषयोको हिन्दी भाषा द्वारा सरलरूपमे प्रस्तुत कर अपनी मौलिकताका परिचय दिया है। प्राचीन भाषाओसे अनभिज्ञ व्यक्ति भी इस ग्रन्थके अध्ययनसे सैद्धान्तिक विषयोका पाण्डित्य प्राप्त कर सकता है। मौलिकता सम्बन्धी मूल्याकनकी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी तुलना आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीके 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' से की जा सकती है। अत जितना मौलिक-मूल्य 'मोक्षमार्ग प्रकाश' का है, उतना ही मौलिक 'जैन सिद्धान्त-दर्पण'का भी। टोडरमलजीने अनेक आर्ष ग्रन्थोका अध्ययनकर विषय सामग्रीका स्वायत्त किया और मोक्षमार्ग सम्बन्धी निश्चित एव व्यवहारनयोकी यथार्थ रूपसे विवेचनकर विषय-सामग्रीका नये रूपमे प्रस्तुत किया। उनका यह कार्य श्रुतपरम्पराके इतिहासमे एक नयी कडीके रूपमे माना जा सकता है। इसी प्रकार गुरुजीने भी जैनागमके अनेक ग्रन्थोमे आधारभूत सामग्री ग्रहणकर 'जैनसिद्धान्तदर्पण' की रचनाकर अपनी मौलिकताका मानदण्ड स्थापित किया है। प्रतिपादन और ग्रथनशैली गुरुजीकी अपनी है। 'नवा नव घटे जलम्' के समान उनका यह ग्रन्थ मौलिक है तथा श्रुताध्ययनके लिए इसका मूल्य किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थसे कम नही है। एक लम्बे समयतक अनेक ग्रन्थोके अध्ययनसे जिन विषयोका ज्ञान प्राप्त किया जायगा, उन विषयोका पाण्डित्य गुरुजीके अकेले 'जैनसिद्धान्त दर्पण' के अध्ययनसे प्राप्त किया जा सकता है। अत पाण्डित्य प्राप्तिके दृष्टिसे भी इस ग्रन्थका मूल्य कम नही है।

यहाँ इस बातका स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य रचनाका अनुवाद नही है और न अनेक ग्रन्थोके महत्त्वपूर्ण अशोका अनुवाद कर ही इसका कलेवर घटित किया गया है। बल्कि यह तो उन श्रुतधरो की परम्परामे आता है, जो आचार्य परम्परासे प्राप्त विषयभूत सामग्रीको लेकर सर्वजनोपयोगी रचनाएँ निबद्ध करते है।

जिनकी कृतियोंकी आभा सच्चे मार्ग-माणिक्योंके समान कभी भी कम नहीं होती। जिनका मूल्य शाश्वतिक होता है। प्राचीन कृतियोंमें उत्साहका जो आदर्श और उदात्त रूप वर्तमान है, वही इस रचनामें भी निहित है।

गुरुजीकी यह रचनात्मक प्रक्रिया श्रुतपरम्परामें अभिप्रार्थना प्रस्तुत करनेपर भी नवीन मूल्यों और प्रतिमानोंको स्थापित करती है। उनके, चिन्तनके परिवेशमें शास्त्रार्थोंकी गन्ध भी समाविष्ट है और उनके युगके ज्वलन्त प्रश्न 'सृष्टिकर्तृत्व' की मीमांसा भी निहित है। अतः इस कृतिका मूल्यांकन निम्न दृष्टि-सूत्रोंमें उपस्थित किया जा सकता है:—

१. मौलिकता 'नद्या नवघटे जलम्' के समान।

२. विषयभूत सामग्रीकी क्रमबद्धता और गम्भीर विषयोंकी सरलरूपमें प्रतिपादन-क्षमता।

३. शास्त्रीय दुरूह विषयोंकी स्पष्टता।

४. तात्त्विक अभिव्यञ्जनाकी बोधगम्यता।

# जैन सिद्धान्त प्रवेशिका : एक अध्ययन

श्री दरबारीलाल कोठिया एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

•

## उत्थानिका

वाड्मयमे यह सर्वमान्य तथ्य स्वीकृत है कि व्याकरण-हीन अन्ध और कोष-हीन व्यक्ति बधिर होता है। ज्ञानार्जनके साधनोमें कोष-ग्रन्थोंको सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। जैसे कोष-हीन राज्य अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता उसी प्रकार कोष-हीन वाड्मय भी समृद्धिशाली नही माना जा सकता।

कोष तीन प्रकारके होते हैं—१. पर्यायवाची शब्दकोष, २. व्याख्या और व्युत्पत्तिमूलक शब्दकोष एवं ३. पारिभाषिक शब्दकोष। जैनसिद्धान्तप्रवेशिका न तो शुद्ध पारिभाषिक शब्दकोष है और न व्युत्पत्ति एवं व्याख्या-मूलक ही। अध्ययन और चिन्तन करनेपर अवगत होता है कि यह प्रश्नोत्तर शैलीमे लिखा गया व्याख्यामूलक पारिभाषिक शब्दकोष है। साहित्य-विधाके अनुसार इस प्रकारके शब्दकोषोमे निम्न प्रकारकी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं —

१. वर्गीकृत आधारपर विषयोकी समीक्षामूलक व्याख्याए।

२. शास्त्राधारपर शब्दोकी सक्षिप्त परिभाषाएँ।

३. विषयकी पुष्टिके लिए प्रश्नोत्तरो द्वारा पूर्वापरके सम्बन्धका निर्वाह।

४. अत्यन्त शास्त्रीय शब्दोके स्वरूप-विवेचन हेतु कई ग्रन्थोका आधार ग्रहणकर परिभाषाओका प्रतिपादन।

५ किसी विशेष सम्प्रदायके अनेक शब्द-समूहोमेसे प्रचलित जीवन और व्यवहारोपयोगी शब्दोके ही चयनका सन्निवेश।

६. विषयोके स्पष्टीकरणके लिए आवश्यक शब्दोका कई खण्डोमे विवेचन और प्रतिपादन।

७. व्याख्या और परिभाषाओके स्पष्टीकरणके हेतु आवश्यक उदाहरणोका समावेश।

गुरु गोपालदासजी द्वारा विरचित जैनसिद्धान्तप्रवेशिकामे उपर्युक्त सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूपमे अवश्य पायी जाती हैं। प्रस्तुत अध्ययनमे हम इन गुणोका परीक्षण मूल्याङ्कन-सन्दर्भमे निबद्ध करेंगे। इसके पूर्व इस छोटी-सी रचना लिखनेके लिए लेखकने कितने विशाल वाड्मयका अध्ययन किया है और उस अध्ययनको साररूपमे कितनी कुशलता एव योग्यतासे अङ्कित किया है, इसपर भी विचारकर लेना आवश्यक समझते हैं।

## आधारभूत ग्रन्थ

वस्तु-व्यवस्थाको विवेचित करनेवाला वाड्मय दो भागोमे विभक्त है—प्रमाण और प्रमेय। दूसरे शब्दोमे लक्ष्य और लक्षण। गुरु गोपालदासजीने अपनी इस कृतिके निर्माणमे कितने लक्ष्य या प्रमेय तथा लक्षण या प्रमाण ग्रन्थोका अध्ययन किया, यह ज्ञातव्य है। यो तो उक्त प्रकारका वर्गीकरण बहुत स्वस्थ नही है। पर किसी भी लेखकके पाण्डित्य-तलका स्पर्श करनेके लिए इस प्रकारका वर्गीकरण उपयुक्त होता है। आशय यह है कि गुरु गोपालदासजीने पुराण, कथा, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थोको पढकर उक्त कृतिमे कितनी परिभाषाएं निबद्ध की और सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्त्तिक, गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, परीक्षामुख, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला, त्रिलोकसार, द्रव्यसग्रह, न्यायदीपिका, पचाध्यायी, आलापपद्धति आदि प्रमाण ( न्याय ) ग्रन्थो एव सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन कर कितनी परिभाषाएँ अङ्कित की है? इस लघुकाय निबन्धमे प्रत्येक परिभाषाके आधारके सम्बन्धमे विचार करना तो शक्य नही। पर जैनसिद्धान्त-प्रवेशिकाके अध्यायोके अनुसार ही आधारका विवेचन किया जायेगा।

प्रथम अध्यायमे पदार्थोके जाननेके चार उपाय बतलाये हैं—१. लक्षण, २. प्रमाण, ३. नय और ४. निक्षेप।

इन चारोंके भेद-प्रभेदोंको विवेचित कर उनकी सुस्पष्ट परिभाषाएँ भी आबद्ध की गई हैं। इस अध्यायके पारिभाषिक शब्दोंके विवेचनका आधार तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, परीक्षामुख, तत्त्वार्थवार्तिक, आलापपद्धति और न्यायदीपिका आदि ग्रन्थ हैं। उदाहरणार्थ इस कृतिके कतिपय लक्षणोंकी तुलना मूल ग्रन्थोंके साथ प्रस्तुत की जा रही है।

(क) गुरुजीने लक्षणका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—'बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थको जुदे करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। जैसे जीवका लक्षण चेतना[1]।'

यही लक्षण तत्त्वार्थवार्तिक और न्यायदीपिकामें पाया जाता है। न्यायदीपिकामें '**व्यतिकीर्ण वस्तुव्यावृत्ति-हेतुर्लक्षणम्।**' इस रूपमें वह उपलब्ध होता है[2] और तत्त्वार्थवार्तिकमें '**परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। बन्धपरिणामानुविधानात् परस्परप्रदेशानुप्रवेशाद् व्यतिकीर्णस्वाभावस्येऽपि सत्यन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं लक्षण-मिति समाख्यायते।**' यह मिलता है[3]।

उक्त दोनों ग्रन्थोंके लक्षण-स्वरूपके साथ जैनसिद्धान्तप्रवेशिकाके लक्षण-स्वरूपमें स्पष्टतः कोई विशेषता दिखलाई नहीं पड़ेगी, फिर भी अपनी मौलिक प्रतिभाके कारण गुरुजीने इस लक्षणमें निम्न बातें विशेषरूपसे निबद्ध की हैं—

१. शास्त्रीय ग्रन्थोंमें लक्षणके विशेषरूपसे प्रतिपादित उदाहरणको सामान्य उदाहरण बनाकर पाठकको विषय अधिगम करनेके लिए सौकर्य प्रदान किया है; क्योंकि ग्रन्थकारका प्रतिज्ञावाक्य है—'**विरच्यते स्वल्पधियां हिताय**[4]।' यदि वे उदाहरण उपस्थित न करते तो उनकी प्रतिज्ञा तो अधूरी रहती ही, साथ ही जिज्ञासुकी जिज्ञासा भी अतृप्त ही बनी रहती। प्रत्येक दर्शन-शास्त्रका ज्ञाता इस तथ्यसे सुपरिचित है कि न्यायशास्त्रमें दुरूह विषयोंको उदाहरणों द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है। यद्यपि अकलङ्कदेवने भी उक्त लक्षण-वार्तिकके भाष्यमें लक्षणके लक्षणका उदाहरण प्रस्तुत किया है[5] किन्तु गुरुजीका उदाहरण बहुत ही स्पष्ट और जल्दी समझमें आनेवाला है। जब कि अकलङ्कदेवका उदाहरण विद्वद्गम्य तथा कुछ दुरूह है।

२. इस लक्षणमें दूसरी बात यह दिखाई पड़ती है कि गुरुजीने तत्त्वार्थवार्तिक और न्यायदीपिका इन दोनों ग्रन्थोंके लक्षण-लक्षणोंका अध्ययनकर दोनोंके सम्मिश्रणसे लक्षणकी परिभाषा निर्धारित की है। तत्त्वार्थवार्तिकसे 'परस्पर-व्यतिकरे सति' पदका ग्रहण किया है और न्यायदीपिकासे 'हेतुर्लक्षणम्' पद लिया है। और दोनों पदोंको मिलाकर इस प्रकारके लक्षणस्वरूपको प्रतिपादित किया है, जिसमें तार्किक दृष्टिसे कहीं कोई बाधा नहीं आती है। इस प्रकारकी परिभाषाएं वैसा ही मेधावी निरूपित कर सकता है, जिसके मस्तिष्कमें उक्त दोनों ही ग्रन्थोंके उद्धरण वर्तमान हों। सामने ग्रन्थ रखकर ग्रन्थ-लेखकके लिए यह कार्य सम्भव नहीं है।

३. लक्षणके स्वरूपमें प्रयुक्त उदाहरणके सम्बन्धमें यह आशङ्का की जा सकती है कि यह उदाहरण सामान्य लक्षणका नहीं है, आत्मभूत लक्षण (लक्षणके दो भेदोंमेंसे प्रथम भेद)का है, क्योंकि चेतना जीवका आत्मभूत स्वरूप है। अतः इस विशेष उदाहरणको सामान्यस्वरूपज्ञानके लिए प्रयुक्त करना उचित प्रतीत नहीं होता? इस शङ्काका समाधान यही है कि लक्षणके लक्षणका सामान्य (उभय-व्यापी) उदाहरण कोई भी सम्भव नहीं है, जो आत्मभूत और अनात्मभूत दोनों लक्षणोंमें घटित हो सके। अतः यहाँ गुरुजीका अभिप्राय केवल व्यावर्त्तकत्व सामान्यसे है। वे जिज्ञासुकी जिज्ञासाको उदाहरण देकर तत्काल शान्त कर देना चाहते हैं। अत एव उन्होंने विशेष उदाहरणको सामान्य बनाकर स्पष्टीकरणके लिए प्रयुक्त किया है। यही कारण है कि गुरुजीने एक दूसरी जगह लक्षणका सामान्य लक्षण बतलाते हुए दोनों विशेष लक्षणोंके दोनों उदाहरण उपस्थित किये हैं[6]।

---

१. जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, पृ० १।

२. न्यायदीपिका, सम्पादक इस निबन्धका लेखक, वीरसेवामन्दिर प्रकाशन, सरसावा, सहारनपुर, वर्तमान दरियागंज, दिल्ली, पृष्ठ ६।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, सम्पादक डा० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, २-८-२।

४. नत्वा जिनेन्द्र गतसर्वदोषं सर्वज्ञदेवं हितदेशकं च।
श्रीजैनसिद्धान्तप्रवेशिकेयं विरच्यते स्वल्पधिया हिताय॥

—जैन सि० प्र० संस्करण पूर्वोक्त, मङ्गलाचरण।

५. 'यथा सुवर्णरजतयोः सत्यपि बन्ध प्रत्येकत्वे वर्णप्रमाणादिरसाधारणो धर्मः अजहदुपलभ्यते उत्तरकालं सति विवेके तद्दर्शनात्, तथा पुद्गल-द्रव्येण बन्ध प्रत्यविभागेऽपि विभागहेतुः ज्ञानादिरुपयोगो लक्षणं भवति।'

—त० वा० २-८-२, संस्करण वही।

६. गुरुजी द्वारा लिखित 'जैन सिद्धान्त' ( J in Philosophy ) निबन्ध, यही बरैया स्मृति-ग्रन्थ ( पृ० २५३ )।

(ख) तत्त्वार्थवार्तिकमें लक्षणके दो भेद मिलते हैं—१. आत्मभूत और २. अनात्मभूत। लक्षणके यही दोनों भेद आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( २-८ पृ० ३१८ ) में और न्यायदीपिकाकार आचार्य धर्मभूषणने न्याय-दीपिका ( पृ० ६ ) में भी अपनाये हैं। गुरुजीने भी अपनी इस पूर्व परम्पराका अनुसरण करते हुए उन्हें दिया है। यथा—

२. लक्षणके कितने भेद हैं।

३. दो भेद हैं—एक आत्मभूत, दूसरा अनात्मभूत।

४. आत्मभूतलक्षण किसको कहते हैं ?

४. जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हो। जैसे-अग्निका लक्षण उष्णपना।

५. अनात्मभूतलक्षण किसको कहते है ?

५. जो वस्तुके स्वरूपमें मिला न हो। जैसे-दण्डी पुरुषका लक्षण दण्ड।[1]

यहाँ ज्ञातव्य है कि गुरुजीने लक्षणके भेद तो वही लिखे हैं जो तत्त्वार्थवार्तिक[2] और न्यायदीपिकामें[3] पाये जाते हैं।[4] पर उनके स्वरूप न्यायदीपिकासे लिये हैं।[5] तत्त्वार्थवार्तिकमें वे उपलब्ध नहीं हैं और इसलिए उनका सृजन न्यायदीपिकाकारके द्वारा हुआ है, यह स्पष्ट है। इसी तरह आत्मभूतलक्षणके उदाहरणका तीनोंमें साम्य होते हुए भी तत्त्वार्थवार्तिकमें अनात्मभूतका उदाहरण 'देवदत्तस्य दण्ड,' दिया है और न्यायदीपिकामें 'दण्डः पुरुषस्य' यह मिलता है। गुरुजीने अनात्मभूतलक्षणका यह उदाहरण भी न्यायदीपिकासे लिया है। तत्त्वार्थवार्तिकके 'देवदत्तस्य' पदके स्थानमें 'पुरुषस्य' पदका प्रयोग करके जो न्यायदीपिकाकारने सरलता प्रयुक्त परिवर्तन किया है उसे गुरुजीने भी मान्य किया है और न्यायदीपिकाकारके 'बालप्रबुद्धये' प्रयोजनकी तरह अपने 'स्वल्पधियां हिताय' प्रयोजनको चरितार्थ किया है। यहाँ निश्चय ही गुरुजीने उनके सूक्ष्म अन्तरको प्रकट करने वाली प्रतिभाका परिचय दिया है।

( ग ) गुरुजीने आप्तका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

'परम हितोपदेशक सर्वज्ञदेवको आप्त कहते हैं।[6]'

उक्त लक्षणमें आप्तके दो गुणोंपर प्रकाश डाला है—१ परमहितोपदेशकत्व और २ सर्वज्ञत्व। यहाँ विचारणीय है कि आप्तमें आम्नाय द्वारा वीतरागित्व, सर्वज्ञत्व और हितोपदेशकत्व ये तीन गुण माने गये हैं[7] और गुरुजी स्वयं ग्रन्थारम्भमें किये गये मङ्गलाचरणमें इन तीन गुणोंका समावेश कर चुके हैं[8] तब क्या रहस्य है कि उन्होंने यहाँ दो ही गुणोका उल्लेख किया है ? विचार करने एवं अनुसन्धान करनेपर ज्ञात होता है कि गुरुजीने न्यायदीपिकाकी दार्शनिक सुगठित आप्त-परिभाषाको ही यहाँ अपनाया है[9]। लगता है कि गुरुजी न्यायदीपिकासे बहुत प्रभावित थे और उसे

१. जैन सि० प्र० पृष्ठ ४, संस्करण पूर्वोक्त।

२. 'तल्लक्षणं द्विविधम्—आत्मभूतानात्मभूतभेदात्, उष्णदण्डवत्। तदेतल्लक्षणं द्विविधम्—आत्मभूतमनात्मभूतञ्चेति।'

—तत्त्वा० वा० २-८-२, संस्करण पूर्वोक्त।

३. 'द्विविधं लक्षणम्—आत्मभूतमनात्मभूतञ्चेति'

—न्या० दी० पृ० ६, संस्करण पूर्वोक्त।

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी ये भेद प्राप्त होते हैं। यथा 'तद्—'द्विविधम्, आत्मभूतानात्मभूतविकल्पात्।'

—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१८।

५. 'तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्, यथाऽग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं हि अग्नेः स्वरूपं सदग्निमवादिभ्यो व्यावर्तयति। तद्विपरीतमनात्मभूतम्, यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुषं व्यावर्तयति।'

—न्या० दी० पृष्ठ ६, संस्करण पूर्वोक्त।

६. जैन सि० प्र० प्रश्नोत्तर ७४ पृ० १९, संस्करण पूर्वोक्त।

७ 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

—समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक ५

८. 'नत्वा जिनेन्द्रं गतसर्वदोषं सर्वज्ञदेवं हितदर्शकं च।'

—जैनसि० प्र० मङ्गलाचरण पद्य १, संस्करण पूर्वोक्त।

९. 'कः पुनरयमाप्तः ? इति चेत्; उच्यते; आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः। प्रमितेत्यादावेवोच्यमाने श्रुतकेवलिष्वति-व्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्। अत उक्तं प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावत्युच्यमाने सिद्धेष्वतिव्याप्तिः। अत उक्तं परमेत्यादि। परमहितं निश्रेयसं तदुपदेश एवार्हतः प्रामुख्येन प्रवृत्तिः। अन्यत्र तु प्रश्नानुरोधादुपसर्जनत्वेनेति भावः। नैवंविधः सिद्धपरमेष्ठी, तस्यानुपदेशकत्वात्। ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नातिव्याप्तिः।'

—न्या० दी० पृ० ११३, संस्करण पूर्वोक्त।

उन्होंने खूब आत्मसात् किया था। दूसरे, गुरुजी बहुत दूरदर्शी थे। उनकी प्रत्येक परिभाषा सामान्य पाठकके लिए जितनी उपयोगी है उतनी ही बड़े-बड़े नैयायिकोंके लिए भी। यहाँ उन्होंने न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे भी उक्त परिभाषाका अङ्कन किया है। न्यायशास्त्रमें यथार्थ वक्ताको ही आप्त कहा गया है[1] और यथार्थ वक्तामें सर्वज्ञत्व और हितोपदेश-कत्वका रहना परमावश्यक है। अतः उन्होंने आप्तके लक्षणमें न्यायशास्त्रोपयोगी होनेसे उक्त दो ही गुणोंका आप्तमें निर्देश किया है। इसे हम गुरुजीकी व्यापक दृष्टि, समन्वय बुद्धि या तार्किक प्रतिभा, जो चाहे, कह सकते हैं।

(घ) गुरुजीने प्रमाणके विषयका प्रतिपादन करते हुए बताया है—'सामान्य अथवा धर्मी तथा विशेष अथवा धर्म दोनों अंशोंका समूहरूप वस्तु प्रमाणका विषय है[2]।'

परीक्षामुखमें 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः' अर्थात् सामान्य और विशेष दोनोंरूप वस्तुको प्रमाणका विषय—प्रमेय कहा है[3]। गुरुजीने सामान्यका पर्याय धर्मी और विशेषका पर्याय धर्म मानकर धर्मधर्म्यात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक[4] वस्तुको प्रमाणका विषय प्रतिपादन किया है। विचारणीय है कि प्रमाणके विषयमें गुरुजीने सामान्यका पर्याय धर्मी और विशेषका पर्याय धर्म क्यों कहा है, उनकी यहाँ क्या विवक्षा है? विचार करनेपर ज्ञात होता है कि वैशेषिक एवं नैयायिक प्रमाणका विषय (प्रमेय) धर्म और धर्मी दोनोंको स्वतन्त्ररूपसे—निरपेक्ष रूपसे मानते हैं[5]। गुरुजीको उन्हें दिखाना है कि प्रमाणका यथार्थ विषय धर्म और धर्मी दोनों अंशोंका समूहरूप वस्तु है—निरपेक्ष न धर्म प्रमाणके द्वारा जाने जाते हैं और न धर्मी। अतः उन्हींकी शब्दावलीमें अपने सिद्धान्तानुसार प्रमाणका विषय बतलाया है। इस तथ्यसे सभी अवगत हैं कि जिसे समझाना होता है उसीकी भाषा और शब्दावलीका प्रयोग समझानेवाला करता है। गुरुजीने उक्त दार्शनिकोंकी शब्दावलीको पर्याय शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त कर अपनी सूझका परिचय दिया है। दूसरे, पञ्चाध्यायीमें सामान्य-को धर्मी और विशेषको धर्म कहा है।[6] आश्चर्य नहीं कि गुरुजीकी दृष्टि उसकी ओर भी रही हो।

(ङ) द्वितीय अध्यायके आरम्भमें द्रव्यका लक्षण बतलाते हुए गुरुजीने लिखा है कि 'गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं[7]।'

सिद्धान्त एवं दर्शन ग्रन्थोंमें द्रव्यकी तीन अथवा दो परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. जो सत् है वह द्रव्य है।

२. जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है वह द्रव्य है।

३. जो गुणों और पर्यायोंका आश्रय है वह द्रव्य है।

आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त तीनोंको[8] और आचार्य गृद्धपिच्छने[9] पहली-दूसरीके मिश्ररूप तथा तीसरी इस तरह दोको स्वीकार किया है।

यहाँ चिन्तनीय है कि गुरुजीने इन परिभाषाओंको ग्रहण न कर 'गुणसमूह' रूप द्रव्य-परिभाषाको क्यों कहा, उसका कहनेका उनका क्या आशय है, कौन-सी दृष्टि उनकी यहाँ है, जिसके कारण पर्यायको छोड़ केवल गुणोंका ग्रहण

---

१. 'आप्तस्तु यथार्थवक्ता'

२. जैन सि० प्र० पृ० १९, संस्करण पूर्वोक्त।

३. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख ४-१।

४. (क) 'तद् द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।'

अकलङ्कग्रन्थत्रय (लघीयस्त्रय १-७) सिंघी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, अहमदाबाद-कलकत्ता।

(ख) 'द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः, प्रमाणविषयत्वान्यथानुपपत्तेः।

विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा पृ० ७६, सनातन जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, कलकत्ता।

५. 'एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः।'

६. सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथान्यायात्। साध्यं वस्तुविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि'

पञ्चाध्यायी १-७, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी।

७. जैन सिद्धान्त प्र० अध्याय २, प्रश्न ११२ पृ० २८, पूर्वोक्त संस्करण।

८. 'अत्र त्रेधा द्रव्यलक्षणमुक्तम्-

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्त-संजुत्तं। गुणपज्जासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥

—पञ्चास्तिकाय गा० १०, रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।

९. (क) 'सद्द्रव्यलक्षणम्'—त० सू० ५-२९।

(ख) 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—त० सू० ५-३०।

(ग) 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—त० सू० ५-३८।

किया है ? वाङ्मयका अनुशीलन करनेपर प्रतीत होगा कि पञ्चाध्यायीमें पूर्वाचार्योंकी एक द्रव्य-परिभाषा—गुणोंका समुदाय द्रव्य है—का उल्लेख मिलता है[1]। गुरुजीने पञ्चाध्यायीका विशेष आलोडन किया था और उसे स्वयं अपने शिष्योंको पढ़ाया था। बहुत सम्भव है कि यह परिभाषा गुरुजीने पञ्चाध्यायीसे ली हो[2]। पञ्चाध्यायीमें गुणोंको विशेष स्वीकारकर पर्यायको उनके विकाररूपमे प्रतिपादन किया है[3] और गुरुजीने भी द्वितीय अध्यायके एकसौ अड़तालीसवें प्रश्नोत्तरमें उसे दिया है[4]। आचार्य अकलङ्कदेवने तो स्पष्ट ही गुणोंको पर्याय कहा है और उन्हे उनसे भिन्न न होनेका प्रतिपादन किया है[5]। अतः गुरुजीके ध्यानमे तत्त्वार्थवार्तिक और पञ्चाध्यायी ये दो ग्रन्थ द्रव्यकी 'गुणसमूहरूप' परिभाषा प्रणयन करते समय स्पष्ट रहे हैं। दूसरी बात यह है कि जब गुणोंमे पर्यायोंका समावेश हो ही जाता है तो बालावबोधकी दृष्टिसे गुरुजीका इस लघु द्रव्यपरिभाषाको ही देना उनकी उस विशेष प्रतिभाको सूचित करता है जिससे लेखक कठिन विषयको भी सरल बनाकर पाठकोंके मस्तिष्कमें बिठा देता है।

( च ) इसी द्वितीय अध्यायके आरम्भमें गुणोंके भेद बतलाते हुए गुरु गोपालदासजी लिखते है—'गुणके कितने भेद हैं ? दो हैं—एक सामान्य और दूसरा विशेष[6]।'

गुरुजीके इस कथनका भी आधार पञ्चाध्यायी है। पञ्चाध्यायीमे स्पष्टतया गुणोंके दो भेद बतलाते हुए कहा गया है कि यद्यपि गुणत्वसामान्यकी अपेक्षासे सभी गुण समान है तथापि उनमे भेद भी है। उनमें कितने ही साधारण गुण हैं और कितने ही असाधारण गुण है। जितने साधारण गुण है वे सामान्य गुण कहलाते हैं और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहे जाते हैं[7]। इन दो प्रकारके गुणोंके कहनेका प्रयोजन यह है कि साधारण गुणोंसे द्रव्य सामान्य सिद्ध होता है और असाधारण गुणोंसे द्रव्यविशेष। उदाहरणार्थ जैसे 'सत्' यह गुण केवल सामान्य द्रव्यका साधक है और 'ज्ञान' यह गुण द्रव्यविशेषका।

इस तुलनासे स्पष्ट है कि गुरुजीने इस लघकाय ग्रन्थमे शास्त्रीय परम्पराओंका सर्वत्र निर्वाह किया है। वे ऐसी कोई बात नही कहना चाहते जो शास्त्रीय नहीं है अथवा जिनका बीज शास्त्रोंमे अनुपलब्ध है।

( छ ) प्रवेशिकाका समग्र तृतीय अध्याय शुद्ध सैद्धान्तिक है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र, उसकी टीकाएँ ( सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ), जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, इनकी आ० अभयचन्द्र कृत संस्कृत-टीका और पण्डित प्रवर टोडरमल्ल जी कृत हिन्दी टीकाएँ और द्रव्यसंग्रह ये ग्रन्थ है। इस अध्यायके किसी भी प्रश्नोत्तरकी इन ग्रन्थोंसे तुलना की जा सकती है। इससे हम यह सहजमें अनुमान कर सकते हैं कि गुरुजीका सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन विशाल एवं तलस्पर्शी था।

( ज ) तृतीय अध्यायके सम्बन्धमें जो बात ऊपर कही गई है वही प्राय चतुर्थ अध्यायके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। इस अध्यायके लिखनेमे भी गुरुजीने उक्त ग्रन्थोंको आधार बनाया है। विशेषकर तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों तथा जीवकाण्डका विशेष प्रभाव लक्षित होता है। लोकके स्वरूपपर त्रिलोकसारके लोकस्वरूप वर्णनकी स्पष्ट मुद्रा अङ्कित है।

---

१. गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः। समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरुप्यते वृद्धैः॥

—पञ्चाध्यायी १-७३, वर्णीजैन ग्रन्थमाला, काशी।

२. यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक (५-२-१) में 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्', 'गुणसमुदायमात्रं द्रव्यम्' को, जो पातञ्जलि महाभाष्य (५-१-११९) में उपलब्ध है, सदोष द्रव्य-परिभाषा बतलाकर उसकी समीक्षा की है। पर अनेकान्तवादमें उसे उपपन्न स्वीकार किया है और सम्भवतः इसीसे पञ्चाध्यायीमें उसका पूर्वाचार्योंकी मान्यताके रूपमें उल्लेख हुआ है।—लेखक।

३. पंचाध्यायी १-४८, १-६०, १-६१, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी।

४. जैन सि० प्र० प्रश्नोत्तर १४८, पृ० ३५।

५. 'गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः।३।'

—तत्त्वार्थवा०, ५-३८-३, भारतीय ज्ञानपीठ,

६. जैन सि० प्र० प्रश्नो० ११८, पृ० २८, संस्करण पूर्वोक्त।

७. अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेऽपि। साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति॥
साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः। ते चासाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः॥
तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात्। द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः॥
संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति। अथ च ज्ञान गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति॥

—पंचाध्यायी १, १६०—१६१, वर्णी जैन ग्रन्थमाला।

( ङ ) पञ्चम अध्यायकी रचना गुरुजीने जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो ग्रन्थोंके आधारसे की जान पड़ती है। असली सुख और उसका उपाय बतलाते हुए चउदह गुणस्थानों एवं चउदह मार्गणाओंके स्वरूप-विवेचनमें जो शैली प्रस्तुत की है वह उक्त दोनों ग्रन्थोंमे स्पष्टतया उपलब्ध है। विषय भी वही है जो उनमे विवेचित है। किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय और सत्त्व होता है, गोम्मटसारकी इस दुरूह चर्चाको गुरुजीने इस अध्यायमे बड़ी सरलता एवं कुशलतासे निबद्ध किया है। गोम्मटसारके जिस विषयको गोम्मटसारसे समझ सकना प्रत्येकके सामर्थ्यकी बात नहीं है उसे इस अध्यायसे बड़ी खूबीके साथ समझा जा सकता है। गुरुजीने इसे रचकर दुर्लभ सिद्धान्त-गङ्गाजलको जैन सिद्धान्त प्रवेशिकारूप घड़ेमें भरकर उसे सबको सुलभ बना दिया है। वस्तुतः गुरुजीका यह कार्य उसी प्रकारका असाधारण है जिस प्रकार समुद्रका मन्थनकर उसमेंसे अमृत निकालना देवोंका दुष्कर कार्य है।

इस प्रकार यह कृति सिद्धान्त ग्रन्थोंमे प्रवेश करनेके लिए उस छोटीसी नौकाके सदृश है जिसके माध्यमसे विशाल सागरके अवगाहनका आनन्द लिया जाता है।

## मूल्याङ्कन

प्रस्तुत अध्ययनके आरम्भमें शब्दकोषोंकी कतिपय विशेषताओंका उल्लेख किया गया है। देखना है कि इस व्याख्या मूलक पारिभाषिक-शब्दकोषमें वे सब विशेषताएँ उपलब्ध है या नहीं? कृतिका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमे वे सभी विशेषताएँ है।

१. गुरुजीने महासत्ताको सामान्यरूप बतलाते हुए उसका निम्न स्वरूप लिखा है—

'समस्त पदार्थोंके अस्तित्वगुणके ग्रहण करने वाली सत्ताको महासत्ता कहते है।'[1]

गुरुजीके इस स्वरूप-प्रदर्शनमे दो बातें द्रष्टव्य है—एक तो यह कि उन्होंने अस्तित्वका गुणके रूपमें उल्लेख किया है और दूसरी यह कि अस्तित्व और महासत्ता ( सामान्य ) एक-दूसरेके पर्याय है। अब विचारणीय है कि अस्तित्वको गुण प्रतिपादन करने तथा उसे महासत्ताका पर्याय बतानेका गुरुजीका क्या अभिप्राय है? वैशेषिक दर्शनमे अस्तित्वको गुण नहीं माना और उसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंके स्वरूपसत्‌रूप स्वीकार किया है। साथ ही सत्ताको अस्तित्वका पर्याय अङ्गीकार नहीं किया। अस्तित्वको छह पदार्थ वृत्ति और सत्ताको द्रव्यादि तीन पदार्थ वृत्ति माना गया है। गुरुजीकी महासत्ता सम्बन्धी उक्त व्याख्यामे वैशेषिकोंकी उक्त मान्यताकी समीक्षा निहित है। यथार्थमे अस्तित्व पदार्थोंका अन्वयी रूप है और इसलिए वह स्पष्टतया उनका गुण ही है। वह पदार्थोंमें सब देशों, सब कालो और सब आकारोंसे समन्वित होता हुआ टंकोत्कीर्ण रूपमे वर्तमान रहता है। अतः वह गुण है। अस्तित्व सत्तासे भिन्न नहीं है क्योंकि 'सत्' प्रत्यय द्वारा जहाँ अस्तित्वका बोध होता है वहाँ सत्ताका भी बोध होता है। यही कारण है कि जैन दर्शनमे अस्तित्वको सामान्य गुणोंमे परिगणित किया गया है और उसे सत्ताका ही पर्याय माना गया है। इससे स्पष्ट है कि गुरुजीकी इस कृतिमे समीक्षामूलक व्याख्याएँ भी है।

२. द्वितीयसे लेकर पाँचवीं तक चारों विशेषताएँ भी जैनसिद्धान्तप्रवेशिकामे दृष्टिगोचर होती है। गुरुजीने इसमे जितने पारिभाषिक शब्दोका व्याख्याके लिए चयन किया है उन सबकी परिभाषाएँ शास्त्राधारपर प्रस्तुत की है। विषयको पुष्टिके लिए प्रश्नोत्तरों द्वारा पूर्वापरके सम्बन्धका यथावत् निर्वाह किया है। गुणहानि, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठकर्म और उनकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ, दर्शन चेतना प्रभृति अत्यन्त शास्त्रीय एवं विशेष सम्प्रदायके शब्द-समूहको जैन सिद्धान्त तथा दर्शन ग्रन्थोसे एकत्रित करके उनकी संक्षिप्त, सरल और विशद व्याख्याएँ दी है। इन व्याख्याओंसे वे व्यक्ति भी अवगत हो सकते है जो जैन सिद्धान्तोंसे सर्वथा अपरिचित है। पुण्य, पाप, लोक, असली सुख, पदार्थ ज्ञानमे आवश्यक लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप, संसारी, मुक्त, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव आदि जीवन एवं व्यवहारोपयोगी शब्दोंका भी चयन करके उनका सर्व साधारण गम्य स्वरूप-निर्वचन किया है।

३. छठी विशेषता भी हमें इस कृतिमे मिलती है। गुरुजीने कृतिको पाँच खण्डों ( अध्यायों )मे विभक्त किया है। प्रथममे १११ प्रश्नोत्तर है जिनके द्वारा मुख्यतया उन शब्दों और विषयोंपर प्रकाश डाला है जो दर्शनसे सम्बद्ध है और जिनकी जानकारी सिद्धान्तकी जानकारीसे पूर्व परमावश्यक है। द्वितीयमे ११२ से २४३ तक १३२ प्रश्नोत्तरों द्वारा उपेय तत्त्व-प्रमेयस्वरूप द्रव्यों, सामान्य-विशेष गुणो आदिकी भेदपुरस्सर परिभाषाएँ दी है। तृतीयमें २४४ से ४४९ तक २०६ प्रश्नोत्तरोंका संकलन है, जिनमें जीव द्रव्यके संसारी और मुक्त इन दो भेदोंको बतलाते हुए, कर्म, कर्मबन्ध, उसके

१. जैन सि० प्र० प्रश्नोत्तर १६१, पृ० ४४, संस्करण पूर्वोक्त।

चार भेद, प्रकृतिबन्धके ज्ञानावरणादि भेदोपभेद, बन्धसे सम्बन्धित उदय, उदीरणा, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, निषेक, स्पर्द्धक, वर्गणा, वर्ग, अविभागप्रतिच्छेद, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, समयप्रबद्ध, गुणहानि गुणहानि, आयाम, नाना गुणहानि, निषेकहार, चय जैसे सैद्धान्तिक विशेष शब्दोंकी सरल एवं स्पष्ट व्याख्याएँ दी है। चतुर्थमे जीवके उक्त कर्मलेपके कुछ कम होने या सर्वथा अभाव हो जानेपर जो उसकी छिपी शक्तियों या भावोंका उद्गम-विकास होता है उनका संक्षिप्त निरूपण करते हुए जीवकी विभिन्न स्थितियोंपर ४४० से ५७९ तक १३० प्रश्नों तथा उनके उत्तरों द्वारा विशद प्रकाश डाला है। अन्तिम पञ्चम खण्ड ( अध्याय) मे जीवके श्रेय और उसकी प्राप्तिके तरीकों एवं साधनोंका प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार एक बालक पहली कक्षामे प्रविष्ट होकर उसमें उत्तीर्ण होता है और आगे वह दूसरी, तीसरी, चौथी आदि कक्षाओंको उत्तीर्ण करता हुआ बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी० और डी० लिट् ये लौकिक विद्याकी समस्त उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार आत्मविद्याका इच्छुक व्यक्ति प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानको पार कर अगले सासादन, मिश्र, असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और आयोगकेवली इन चौदह आत्म-विद्याकी कक्षाओंको पासकर श्रेय (सिद्धत्व) की परम उपलब्धि कर लेता है। इस खण्डमे ५८० से ६६८ तक ८९ प्रश्नोत्तरोंका संकलन है। इस प्रकार इस पञ्चखण्डात्मक कृतिमे जैनसिद्धान्तकी उन गूढ़ बातोका उद्घाटन किया गया है जो प्राय. सभीके लिए गूढ एवं दुरूह रहती है।

४. गुरुजीने अपनी दी हुई परिभाषाओं एवं व्याख्याओको स्पष्ट करनेके लिए अनेक जगह उदाहरणोका भी समावेश किया है, जिनसे विषय तो स्पष्ट हुआ ही है, उन्हे हृदयङ्गम करनेमे पाठकको आयास भी नही करना पड़ता। उदाहरणार्थ ६३९ का प्रश्नोत्तर देखा जा सकता है, जिसमे अधःकरणको समझानेके लिए देवदत्त नामक राजाकी कल्पना करके उसके ३०७२ तीन हजार बहत्तर सेवकोंको १६ महकमोमे बाँटा गया है और प्रत्येक महकमेमे बढते हुए आदमियोकी संख्या दिखाई गई है तथा महकमेवार उनका बढता हुआ वेतन भी प्रदर्शित किया गया है। इस उदाहरणसे गुरुजीको ऊपर-नीचेके काम करनेवाले आदमियोंका वेतन कहीं सदृश और कही विसदृश दिखाना हैं। उसी प्रकार अध.-करण गुणस्थानवाले नाना जीवोके परिणामोंमे सदृशता एवं विसदृशता रहती है, यह गुरुजीको उक्त उदाहरण द्वारा बताना इष्ट है। इस तरह हम देखते है कि गुरुजीकी प्रस्तुत कृतिमे उल्लिखित सातवी विशेषता भी उपलब्ध है।

इस विवेचनसे हम कृतिका मूल्यांकन कर सकते और उसे गुरुजीकी अप्रतिम प्रतिभाका मापदण्ड समझ सकते हैं।

## गुरुजीकी अन्यकृतियाँ

इस कृतिके अतिरिक्त गुरुजीका साहित्यिक कार्य इस प्रकार है—

१. सुशीला उपन्यास

२. जैन सिद्धान्त दर्पण

३. विविध लेख

४. जैनमित्रका सम्पादन

गुरुजीकी इन सभी साहित्यिक प्रवृत्तियोपर प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थमे विभिन्न विद्वानोंने विस्तारसे प्रकाश डाला है। अत. यहाँ उनपर कुछ कहना या लिखना आवश्यक नही है। हाँ, जैनसिद्धान्तप्रवेशिकाके ६३९ वें प्रश्नोत्तरमे अधःकरण का विशेष स्वरूप जाननेके लिए गोम्मटसारके साथ अपने सुशीला उपन्यासका निर्देश करते हुए लिखा है—

'इसका विशेष स्वरूप गोम्मटसारजीके गुणस्थानाधिकारमे तथा छपे हुए सुशीला उपन्यासके २४७ वें पृष्ठसे लगाकर ३६३ वे पृष्ठतकमे देखना।' —जैन सि० प्र० पृ० १७०-१७१।

इस उल्लेखसे प्रकट है कि गुरुजीने जैनसिद्धान्तप्रवेशिकासे पहले सुशीला उपन्यासकी रचना की थी।

## गुरुजीका परिचय

यद्यपि इस स्मृति-ग्रन्थमे गुरुजीका विस्तारसे परिचय आ चुका है और इसलिए यहाँ पुन: पिष्टपेषण करना अनावश्यक है तथापि गुरुजीने स्वयं अपने बारेमें क्या लिखा, यह नहीं आया। जैनसिद्धान्तप्रवेशिकाके अन्तमें उन्होने बहुत ही संक्षेपमे अपने विषयमे जो लिखा है उसे हम यहाँ दे रहे है—

## ग्रन्थकर्त्ताका अन्तिम वक्तव्य

### दोहा

बंदौ श्रीमहावीर जिन, वर्द्धमान गुणवान ।
भव्य सरोजरवि, करन सकल कल्यान ॥१॥
प्रांत ग्वालियरमें बसे, भिंड नगर शुभथान ।
श्री युत माधवसिंह नृप, न्यायनीति गुणखान ॥२॥
अर्गलपुरवासी वणिक, जाति वरैया जान ।
लछमन सुत गोपाल तहं, कीनी आय दुकान ॥३॥
इन्द्रप्रस्थवासी सुजन, मोतीलाल सुजान ।
उदासीन संसारसो, खोजत निज कल्यान ॥४॥
आये या पुर भिंडमें, ढूंढत तत्त्वज्ञान ।
तिन निमित्त लघु ग्रन्थ यह, रच्यो स्वपर हित जान ॥५॥
श्रीयुत पन्नालालजी, अतिसज्जन गुणवान ।
तिन निज काज विहाय सब, करी सहाय सुजान ॥६॥
अल्प बुद्धि मम विषय यह, जिन सिद्धान्त महान ।
भूल देखिके शोधियो, करियो क्षमा सुजान ॥७॥
जो सज्जन इस ग्रन्थको, पढ़ें नित्य धरि ध्यान ।
ते श्री जिन सिद्धान्तमें, करें प्रवेश सुजान ॥८॥
विक्रम संवत् सहस इक, नौमैं छयासठि जान ।
कृष्णपक्ष श्रावण प्रथम, तिथि नवमी दिन मान ॥९॥
जिनसिद्धान्तप्रवेशिका, या दिन पूरन जान ।
पढहु पढावहु चिर जियहु, यावच्चन्द्रसुभान ॥१०॥

इन परिचय-पद्योंसे निम्न बातें प्रकाशमें आती हैं—

१. गुरुजी आगराके रहनेवाले थे तथा उनके पिताका नाम लछमन (लक्ष्मणदासजी) था। और उनकी जाति वरैया थी।

२. आगरा छोडकर गुरुजी ग्वालियरके भिंड नामक नगरमे आकर दुकान करने लगे थे।

३. उस समय ग्वालियरमें श्री माधवसिंह नरेशका राज्य था और वे न्यायनीतिपूर्वक राज्यका शासन करते थे।

४. दिल्लीके एक सत्पुरुष मोतीलालजी संसारमे उदासीन होकर अपने कल्याण तथा तत्त्वज्ञानकी खोज करते हुए उक्त भिंडमें पहुँचे।

५. गुरुजीने स्वपरका हित जानकर उन्हींके निमित्तमें इसकी रचना की थी।

६. उसी भिंडमें एक साधर्मी भाई श्री पन्नालालजी रहते थे, जो बहुत सज्जन और गुणी थे। अपना सब काम-काज छोडकर गुरुजीको सहायता दिया करते थे।

७. इसकी रचना गुरुजीने विक्रम संवत् १९६६ के प्रथम श्रावण कृष्णा नवमीको पूर्ण की थी।

८. अपनी अल्पबुद्धिके कारण महान् जैन सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें कहीं भूल हो गई हो, विद्वज्जन उसे ठीक करके पढ़ें। जबतक चन्द्र और सूर्य हैं जबतक इसका पठन-पाठन होता रहे।

निष्कर्ष यह कि गुरुगोपालदासने यह ग्रन्थ भिंडमें रहते हुए दिल्ली निवासी श्री मोतीलालजीको तत्त्वज्ञान करानेके लिए रचा था। नि.सन्देह यह कृति जैनसिद्धान्तके अनेक गूढ रहस्योंका उद्घाटन करती है और सहस्रों जिज्ञासुओंको तत्त्वज्ञान प्रदान कर उनकी जिज्ञासाको शान्त करती है। इससे इसका मूल्यांकन सहजमें किया जा सकता है। आचार्यकल्प पं० आशाधरजी, पं० राजमलजी, और प० टोडरमलजी आदि विद्वद्वरेण्योंने जैन तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि और प्रसारके लिए जो कार्य किया वही गुरुगोपालदासजीने भी किया है। उनकी अद्भुत प्रतिभा, असाधारण निष्ठा और अद्वितीय चारित्रकी त्रिवेणी उनके पद-चिन्होंपर चलनेवालोंके कल्मषको चिरकाल तक प्रक्षालन करती रहेगी।

●

# जैनसिद्धान्तप्रवेशिका—एक जेबी कोश

सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

जैनसिद्धान्तके प्रमुख विषय है—प्रमाण, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान। इनमेंसे प्रारम्भके छै विषय तो दार्शनिक अनुचिन्तनके भी अंग है किन्तु अन्तके तीनों विषय शुद्ध आगमिक है। इन सभी विषयोंसे सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दोंकी संक्षिप्त और सुस्पष्ट व्याख्याएँ गुरुजीने सरल हिन्दीमे जैनसिद्धान्तप्रवेशिकामे संकलित की है। यह प्रथम जैनपारिभाषिक हिन्दी कोश है इसमे उक्त विषयोसे सम्बद्ध ६६८ प्रश्नोका समाधान है। और लघुकाय इतना है कि आप बिना किसी कष्टके इसे सतत अपनी जेबमे रख सकते है।

इस कोषके निर्माणमे गुरुजीने जो विषयानुक्रम रखा है वह इतना सुव्यवस्थित है कि एक प्रश्नको उपस्थित कर देनेमे उससे सम्बद्ध विषयोकी प्रश्नोत्तरमाला बिना किसी उलझनके आगे बढ़ती जाती है और अध्याय समाप्त हो जाता है। यहाँ हम उनके द्वारा निबद्ध केवल एक विषयको नमूनेके रूपमे उपस्थित करते है—

जैन आगमिक पद्धतिमे प्रमाण के दो मूल भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना जो ज्ञान आत्मासे होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है और जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहते है। प्रत्यक्ष के तीन भेद है—अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इनमेसे प्रथम दो विकल प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। परोक्ष के दो भेद है—मति और श्रुत। इन्द्रिय और मनकी सहायता से होनेवाले प्राथमिक ज्ञानको मतिज्ञान कहते है और मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले विशेष ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। मतिज्ञान को स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान भी कहते है। यह जैनधर्ममे प्रमाणपद्धतिकी आगमिक परम्परा है। अन्य दर्शनों मे परोक्ष नामका कोई प्रमाण नही है। तथा इन्द्रियजन्य ज्ञानको सब दर्शनो मे प्रत्यक्ष कहा है। अत दार्शनिको के मध्यमे प्रमाण विषयक चर्चा होनेपर जैनोंकी विचित्र स्थिति होना स्वाभाविक थी, क्योंकि जिस इन्द्रियजन्य ज्ञानको सब दर्शन प्रत्यक्ष कहते थे उसे जैन परोक्ष कहते थे। अकलंक देव ने इस उलझन को बडी बुद्धिमानीसे सुलझाया। उन्होने प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद तो पूर्ववत् मान्य किये किन्तु प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दो भेद करके मतिज्ञानको परोक्ष के भेदोंमेसे निकालकर सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके नामसे प्रत्यक्षमें सम्मिलित कर लिया। इससे प्राचीन परम्पराको भी क्षति नही पहुँची, क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष कहती थी। उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देदेनेसे वह प्रत्यक्ष भी कहलाया तो व्यवहारसे, परमार्थसे तो वह परोक्ष ही रहा। तथा विपक्षी दार्शनिकोंको भी परोक्ष नामसे जो आपत्ति थी, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देदेनेसे वह आपत्ति दूर होगई। इस तरह आगमिक परम्पराका मतिज्ञान तार्किक परम्परामे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बन गया और उसके नामान्तररूप जो स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान थे ये परोक्ष प्रमाणके भेद बने रहे, उनमे श्रुतज्ञानको आगमप्रमाणके रूपमे सम्मिलित कर लिया गया।

गुरुजीने अपनी जैन सि० प्र० के प्रथम अध्यायमे तो तार्किक परम्पराके अनुसार प्रमाणके भेदोका विवेचन किया है किन्तु दूसरे अधिकारमे आगमिक परम्पराके अनुसार प्रमाणके भेदोकी परिगणना करते हुए मतिज्ञानके ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके तार्किक परम्परा और आगमिक परम्पराका समन्वय कर दिया है अर्थात् जो मतिज्ञान तार्किक परम्परामे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वही आगमिक परम्परामे परोक्ष है और उसीके भेद स्मृति आदि है। यह गुरुजीकी अपनी प्रतिभाका परिचायक है। इसी तरह उन्होने इस जेबी कोशमे जीवस्थान गुणस्थान और मार्गणास्थानों की चर्चा बडे सुन्दर ढंगसे करके 'गागरमे सागर'की उक्तिको पूर्णतः चरितार्थ किया है। संक्षेपमे यह एक ऐसा जेबी कोश है जो जैन सिद्धान्तके अभ्यासियोंको सदा अपनी जेबमे रखना चाहिये।

●

# तृतीय खण्ड

## धर्म और दर्शन

# धर्म और दर्शन

•

# धर्मका सार्वजनीन रूप

श्री रामप्रवेश पाण्डेय, बी० ए० (ऑनर्स)

●

## धर्माचरणकी आवश्यकता

जीवनको स्वच्छ, सबल, क्रियाशील एवं विवेकयुक्त बनानेके लिए धर्माचरण या सदाचार पालनकी परम आवश्यकता है। व्यक्तिकी शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ जब समाज-कल्याणकी दिशामे आयोजित होती हैं, तभी धर्माचरणका सृजन होता है। स्वार्थ, असहिष्णुता और असयम केवल व्यक्तिके व्यक्तित्वका ह्रास ही नही करते बल्कि उसकी सामाजिकताका भी विनाश करते है। जिजीविषा और समाजमे निवास करनेकी प्रवृत्ति मनुष्य और पशु-पक्षियोमे ही नही पायी जाती बल्कि यह सूक्ष्म कीट-पतगादि प्राणियोमे भी समाविष्ट है। इस ससारका कोई भी प्राणी एकाकी रूपमे सुखी नही रह सकता और न अपने कार्य-कलापो द्वारा आनन्द ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और महत्त्वाकाक्षाओंकी पूर्तिके हेतु समाजमे निवास करता है और उसीके बीच कार्य-प्रणालियो, गतिविधियों एवं आचार-व्यवहारोका सम्पादन करता है। अतएव वैयक्तिक और सामाजिक विकास, उन्नति और सुव्यवस्थाके हेतु कर्तव्योका यथार्थ परिज्ञान, उत्तरदायित्वका निर्वाह ईमानदारी एव समन्वयकी प्रवृत्तिका रहना परमावश्यक है। जब तक व्यक्ति धर्माचरणकी प्रवृत्ति नही करेगा, तबतक न दायित्वोका निर्वाह हो सकता है और न पारस्परिक सहयोगकी भावना ही आ सकती है। हम यह मानते हैं कि पन्थ और सम्प्रदायका व्यामोह व्यक्ति और समाजके विकासमे बाधक हो सकता है, पर नैतिक अभ्युत्थान, आत्मिक विकास, समन्वयकी प्रवृत्ति, विवेक, सयम व्यक्ति और समाजके अभ्युत्थानके लिए परमावश्यक है।

व्यक्ति समाजकी इकाई है। यह अपने आचार-व्यवहार और प्रवृत्तियोसे समाजके अन्य घटकोको प्रभावित करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति नैतिक, सदाचारी, ईमानदार और कर्त्तव्यपरायण बन जाय तो नये समाजका निर्माण स्वत: हो जायगा। समाजको सुसगठित और सबल बनानेके लिए धर्माचरणकी नितान्त आवश्यकता है। आज धर्माचरणके अभावके कारण ही सभी दिशाओमे सामाजिक मर्यादाएँ टूट रही है, भोगवादी और स्वार्थी प्रवृत्तिके कारण प्रत्येक व्यक्तिका दृष्टिकोण अत्यन्त सकुचित हो चुका है। सभी वर्गव्यापारी, राजनीतिक नेता, शासनके कर्णधार एवं समाजके बौद्धिक गुरु आज धर्माचरणके अभावके कारण ही स्वकर्तव्यच्युत है। फलत प्रत्येक व्यक्तिको धर्माचरणकी परम आवश्यकता है।

## धर्मका स्वरूप

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वैयक्तिक और सामाजिक अभ्युत्थानके कारण रूप धर्मका स्वरूप क्या है? उपासना क्रियाकाण्ड या आडम्बरका नाम तो धर्म नही हो सकता। सस्कृतियोका इतिहास इस बातका साक्षी है कि क्रियाकाण्ड और आडम्बरने मानव-समाजका कितना बडा अहित किया, कितनी खून-खराबियाँ की। अत धर्मका ऐसा रूप तो नही हो सकता जो न व्यक्तिको शान्ति दे, न समाज को। भारतीय वाङ्मयमे धर्मके स्वरूपका पर्याप्त विचार किया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमे बताया है कि अविवेकी शास्त्रोका ज्ञाता, इन्द्रियासक्त व्यक्ति अपने आचरणसे समाजको दूषित करता है। जिसने स्वका आलोचनकर अपना आत्मिक अभ्युत्थान किया है, वही समाजको समृद्ध बना सकता है। यथा—

> नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
> उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा॥
> सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
> मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तत्स्वभवत् प्रभो॥ —महा० शान्तिपर्व २२८।४६,४७

स्पष्ट है कि दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहकारशून्यता, सौहार्द, क्षमा, सत्य, तप, शौच, करुणा, मित्रता आदि मानवीय गुणोका विकास करनेसे व्यक्ति और समाजको सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इसी कारण बताया

गया है कि धर्माचरण वे ही व्यक्ति करते हैं, जो हिंसा नहीं करते, परस्पर सहयोगका आचरण करते हैं, गुरुजनों तथा वयोवृद्धोंकी सेवा करते हैं, अतिथियोंका विधिवत् सम्मान करते हैं और जो सत्यवक्ता एवं धन सञ्चय करनेमें न्यायवृत्तिके पालक हैं।[1]

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्म की परिभाषा बहुत सुन्दर रूपमें वर्णित है। आचार्यने धर्मका सार्वजनीन रूप निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—

> धम्मोवत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
> रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ —गाथा० ४७८

उक्त परिभाषामें धर्मके चार रूप प्रतिपादित हैं—

१. वस्तु-स्वभाव।

२. उत्तम क्षमादिरूप धर्म।

३. रत्नत्रय।

४. जीवरक्षा।

वस्तु-स्वभावका अर्थ है, जिस वस्तुका जो निजी स्वरूप है उसका उसीके रूपमें बने रहना। जैसे अग्निका स्वरूप उष्ण है। अतः अग्नि यदि अपने उष्ण रूपमें रहती है, तो वह अपने धर्ममें वर्तमान है। इसी प्रकार आत्माका धर्म ज्ञान, श्रद्धा, सुख और वीर्य है। यदि आत्मा भी अपने उक्त गुणोंमें निवास करती है तो वही उसका धर्माचरण है। मनुष्यका स्वभाव अहिंसक है। इसका एक सबल प्रमाण यही है कि जब हम मार्गमें चलते हैं, और हमें एक हरी-भरी वाटिका मिलती है, तो वहाँ मधुर-फलोंसे लदे किसी वृक्षको देखकर हमारी फलखानेकी इच्छा जागृत हो जाती है। इसी मार्गमें यदि हमें बड़ी मोटी-मोटी भेड़-बकरियाँ मिल जाँय, तो उनके भक्षण की रुचि हमारे मनमें जागृत नहीं होती। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि मनुष्य की मूल-वृत्ति ही सहज रूपमें जागृत होती है, संश्लिष्ट वृत्ति नहीं। अहिंसा और फलाहार मनुष्यकी मूल वृत्ति है जो कि अवसर पाते ही प्रकाशमें आ जाती है, पर हिंसा और मांसाहार की प्रवृत्ति मनुष्य की अर्जित संश्लिष्ट प्रवृत्ति है, जो अर्जित संस्कारोंके आधार पर ही जागृत होती है, स्वाभाविक रूपसे नहीं। अतः अहिंसाका आचरण करना मनुष्यका स्वभाव है। इसी अहिंसाके करुणा और दया ऐसे रूप हैं, जिनसे समाजका कार्य-सञ्चालन होता है। करुणा हमारे मनमें किसी पीड़ित और दुःखी व्यक्तिको देखकर उत्पन्न होती है और दया विकारोंसे बचनेके लिए मनमें आती है। इसी कारण आचार्योंने दयाके दो प्रमुख भेद किये हैं—स्वदया और परदया।

मनुष्य परदयाका ढोंग तो अधिक दिखलाता है, पर स्वदयाके कर्त्तव्यका पालन नहीं करता। स्वदयाका तात्पर्य है, काम, क्रोध लोभ मोहादिसे अपनी रक्षा करना। जिस व्यक्तिमें काम क्रोधादि उत्पन्न होते हैं, वह स्वयंका घात करता है अतः वह स्वयं अपने ऊपर निर्दयी है। रागद्वेष और कालुष्य की प्रवृत्ति स्वदयाका विघातक है। जिस व्यक्तिको अपना आत्मिक उत्थान करना है, उसे विकारोंसे अपनी रक्षा करनी चाहिये। स्वके प्रति दयालु रहने वाला व्यक्ति परके प्रति निर्दय नहीं रह सकता। अतएव वस्तुस्वभाव रूप धर्मका आचरण, विकार और दुष्प्रवृत्तियोंको जीतने वाला व्यक्ति ही कर सकता है।

भारतीय वाङ्मयका आलोडन करनेपर अहिंसा शब्दकी अपेक्षा दया शब्द प्राचीन प्रतीत होता है। अहिंसा निषेधार्थक है। इसका विकास हिंसा शब्दके पश्चात् ही हुआ होगा और दया शब्द प्रवृत्तिमूलक है, तथा अन्यकी अपेक्षासे रहित है, अतएव इस शब्दका व्यवहार साहित्यमें अहिंसासे पहले हुआ है। अहिंसाका पूर्वज तो संयम या साम्यभाव है। जहाँ संयम और साम्य है, वहाँ मनुष्यता है और जहाँ यह नहीं वहाँ पशुता है। निश्छल वात्सल्यका विकास भी साम्यका प्रतिफल है। राग और द्वेष की कालिमा संयमका स्पर्श नहीं करती। अतः जिस व्यक्तिमें लाभालाभ, मित्र-शत्रु, जीवन-मरण, सुख-दुःखके प्रति साम्यबुद्धि आ जाती है, वह व्यक्ति अपने जीवनके सुवाससे समाजको सुगन्धित करता है। उसका आचरण जन-कल्याणका सृजन करता है। उसकी आवश्यकताएँ इतनी सीमित और अल्प रहती हैं कि जिनकी पूर्त्तिके लिए उसे किसीको भी कष्ट देना नहीं पड़ता। न वह धनार्जनके लिए आकुलित है, और न यशोऽर्जनके लिए। यदि आज प्रत्येक व्यक्ति स्व-स्वभावका आचरण करने लगे तो समाजकी विकृतियाँ और विषमताएँ

---

१, शान्तिपर्व २२८।४२–४३।

तत्काल समाप्त हो जाय। हम देखते हैं कि व्यक्ति अभावसे पीड़ित है, उसे भय है कि भविष्यमें उसकी भोग-लिप्सा कैसे तृप्त होगी? यही भय उसे घूस लेने, चोरबाजारी करने एवं अन्य अनैतिक कार्य करनेके लिए प्रेरित करता है।

'आदहिदं कादव्वं'का सिद्धान्त स्वार्थकी वृत्तिसे बहुत ऊँचा है। यहाँ आत्माको इतना शक्तिशाली और सबल बनाना है जिससे व्यक्ति समाजपर अपना प्रभाव डाल सके और उसे अपने अनुकूल बना सके। इन्द्रिय निग्रह और प्राणि-रक्षाकी प्रवृत्तिमे ही आत्महित है। अत. इस प्रकारका आत्महितैषी लोभवश स्वर्णका महल नही बनायेगा और न अपने घरकी कोठरियोंको गेहूँ और चावलसे ही भरेगा। वह मानवकी असत् प्रवृत्तियोको परिवर्तित कर उसमे विवेक, श्रद्धा, लोकसेवा, सहिष्णुता आदिको भी जागृत करेगा। अत वस्तु स्वभावरूप धर्म मानवका निजी धर्म है, उसका निजी स्वभाव है। आज यदि निष्पक्ष रूपमें मानवताका विश्लेषण किया जाय तो ऐसे कितने मनुष्य है, जिन्हे हम मानव कह सकते हैं। हमे तो 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'—मनुष्यरूपमे पशु ही परिलक्षित होगे। संयमका सद्भाव ही सच्ची मानवता है। उत्तराध्ययन सूत्रमे बताया है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥११॥

मनुष्यत्व स्वाध्याय, श्रद्धा और संयमके लिए पुरुषार्थकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। सयम आचार और व्यवहारको निर्दोष बनाता है और यही मनुष्यमे मनुष्यताकी प्रतिष्ठा करता है। अतएव आचार और विचार दोनोका अहिंसक होना परमावश्यक है। आचारकी पवित्रता अहिंसासे आती है और विचारकी पवित्रता सहिष्णुता और समन्वय-से। इस सहिष्णुता और समन्वयका दूसरा नाम स्याद्वाद है। यह हठवाद और पक्ष-पातको दूर करता है। तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओमेंसे किसी एक अवस्थाको देखता और विचार करता है। अत: उसका एकाङ्गिक ज्ञान उसीकी दृष्टितक सत्य है, अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है। अत उसका ज्ञान भी किसी दृष्टिसे ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभी स्वतन्त्र है। सभीका वस्तुके एक धर्म या अवस्थाको जाननेके कारण अंशात्मक ज्ञान है—पूर्ण नही है। जैसे एक ही व्यक्ति किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र और किसीका भानजा एक ही समयमे रह सकता है, और उसके पितृत्व, भ्रातृत्व एवं भागनेयत्वमें कोई बाधा नही आती। इसी प्रकार ससारके प्रत्येक पदार्थमे एक ही कालमे विभिन्न दृष्टियोसे अनेक धर्म रहते हैं। स्याद्वादकी उदारनीति संसारके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझ कर उदारता और प्रेमका व्यवहार करना सिखलाती है। मतभेद मात्रसे किसीको अपना शत्रु समझ लेना मूर्खताके सिवाय और क्या है? प्रत्येक बातपर उदार और निष्पक्ष दृष्टिकोणसे विचार करना ही अपनी शान्ति एव संसारमे शान्ति स्थापित करनेका उपक्रम है। अत मनुष्यता यही सिखलाती है कि हमारे विचारकी परिधि स्याद्वादका स्पर्श करे और हम अपने हठवादको छोड दूसरेके दृष्टिकोणका आदर करना सीखें। मतभेद अथवा विचारभिन्नताका होना स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एव योग्यताके अनुसार बनते है। यदि हम अपने विचारोंकी लाठीसे ही संसारको हाँकना चाहे तो यह कैसे सम्भव है? यह तो वस्तु स्वभावके विपरीत हिंसाचरण है। अत उपर्युक्त गाथा सूत्रमे निरूपित वस्तु स्वभाव रूप धर्म मानवताकी स्थापना करता है।

उत्तम क्षमादिरूप धर्मकी चर्चा भी वस्तु स्वभावसे भिन्न नही है। आत्माका स्वभाव क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिञ्चिन्य, एवं ब्रह्मचर्य रूप है। अत जो उक्त धर्मोके विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुष्प्रवृत्तियोंको त्याग कर क्षमादिको अपनाता है, वह व्यक्ति आत्मोत्थानके साथ समाज निर्माणके कार्योंमे भी सहयोगी बनता है। अत गाथासूत्रमें निरूपित द्वितीय परिभाषा प्रथम परिभाषाकी ही व्याख्या है। वास्तवमे सार्व-जनीन-धर्म वही हो सकता है, जो साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डमे मुक्त हो, जिसमे देशकृत, कालकृत और व्यक्तिकृत भेदोकी स्थापना न की जा सके। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस प्रकारके व्रताचरण है, जिन्हे मानव-मात्र चाहे वह किसी भी देश, किसी भी समाज और किसी भी कालमे स्थित क्यों न हो पाल सकता है। हम समझते है कि विश्वके सभी सम्प्रदाय दूसरेको कष्ट पहुँचाना अधर्म और सुख पहुँचाना धर्म मानते है। झूठ बोलनेको धर्म माननेवाला तो कोई सम्प्रदाय नही। इसी प्रकार क्रोध करना, अहङ्कार करना, लोभ करना, छल-कपटमय आचरण करना किसीकी दृष्टिमे धर्म नहीं है। वर्त्तमानमें समाज कल्याणके लिए धर्मकी आवश्यकता है, पर वह धर्म विकारनिवृत्ति और स्वभाव-प्रवृत्ति रूप होना चाहिये।

रत्नत्रय धर्मका अर्थ है सच्चा विश्वास, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यक्श्रद्धा या सम्यक्विश्वासके सम्बन्धमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि मनुष्य दृढ़ विश्वासी बन यथार्थ अवलोकनकी दृष्टि प्राप्त करे। जिस व्यक्तिके पास सम्यक्श्रद्धा या अटूटविश्वास है, वह निःस्वार्थी और निर्भीक होता है। मनोविज्ञान बतलाता है कि ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी जब तक उसमे अकाट्य श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न नही होता तब तक वह ज्ञान कार्यकारी नहीं, उस ज्ञानसे अपेक्षित लाभ नही उठा सकता। आज हमारे देशोत्थानके लिए बड़ी-बड़ी स्कीमें बनायी जाती है, विशेषज्ञ मिलकर उन स्कीमोंके सम्बन्धमे नाना प्रकारके तर्क उपस्थित करते है, पर जब उनसे यह पूछा जाय कि आपको इन स्कीमोंपर विश्वास है तो वे कोरे दाँत निकाल देंगे। यदि विश्वास हो तो कोई भी स्कीम विफल नहीं हो सकती। विफलताका कारण आत्म-विश्वासका अभाव है। हम प्रत्येक व्यावहारिक कार्यमें यदि कदाचित् असफल होते हैं तो इसका मूल कारण हमारे विश्वासकी कमी है। दृढ संकल्पसे कठिनसे कठिन कार्य सहजमे सम्पादित हो जाते है। अतएव जीवनोत्थान या समाजोत्थानके लिए सम्यक् दर्शन-दृढ विश्वास या अडिग श्रद्धाका होना अनिवार्य है। वह विश्वास भी मिथ्या नहीं हो, सम्यक् हो तभी कार्यका सम्पादन हो सकता है। सत्य ज्ञानमें जब उसकी सत्यताका विश्वास हो जायगा तो कार्य-पूर्तिमे तनिक भी विलम्ब नहीं होगा। अतः व्यक्तिके मानसिक विकासके लिए सम्यक् श्रद्धाका रहना परमावश्यक है। इस सम्यक् श्रद्धा या दृढ विश्वासका विश्लेषण करते हुए महात्मा भगवान्दीनने लिखा है—'निर्मल विश्वास लेकर चाहे धार्मिक क्षेत्रमे, चाहे किसी और क्षेत्रमे उतरो, चाल क्रमशः बढ़ती ही जायेगी। कभी अकेले, कभी दुकेले, कभी सैकड़ों साथियोंके साथ, कभी फिर अकेले। रहा नेता बननेका काम। वह व्यक्तिसे ज्यादा उसका निर्मल विश्वास समझता है और उससे भी ज्यादा वे समझते है जो उस व्यक्तिके निर्मल विश्वासके सहारे उसके साथ चल रहे है[1]।'

स्पष्ट है कि सम्यक् श्रद्धा या विश्वास वैयक्तिक और सामाजिक जीवनके उत्थानके लिए आवश्यक है।

सम्यक् विश्वासके साथ सम्यक्ज्ञान भी सफलता प्राप्तिके लिए आवश्यक है। ज्ञान दो प्रकारका होता है—मिथ्या और सम्यक्। स्वार्थ तृष्णा और कालुष्यमयी प्रवृत्तियोंसे युक्त ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता। यों, व्यवहारकी दृष्टिसे किसी भी ज्ञानको यथार्थावलोकनके आधारपर सत्य या सम्यक् कहा जा सकता है, पर लोककल्याणकी दृष्टिसे वही ज्ञान सम्यक् कहलायेगा, जिस ज्ञानमें आध्यात्मिक शक्तिका सद्भाव वर्तमान है। आजके वैज्ञानिक युगमे ज्ञानकी बहुमुखी प्रवृत्तियो दृष्टिगोचर हो रही है। हम पूछ सकते है कि इन प्रवृत्तियोंमे जनकल्याण कितना हो रहा है और किस रूपमें हो रहा है? अतः ज्ञानके सम्यक्पनेका मानदण्ड सम्यक् विश्वास और स्वार्थमयी प्रवृत्तियोका अभाव है। निःस्वार्थ या निष्काम प्रवृत्ति व्यक्तिका तो मङ्गल करती है, पर जन सामान्यका भी कल्याण करती है। अतः रत्नत्रयधर्मका द्वितीय अङ्ग सम्यक् ज्ञान है।

इस धर्मका तृतीय अङ्ग सम्यक् चारित्र है और यही समाज व्यवस्थाके लिए परमावश्यक तत्त्व है। उसे हम निम्नलिखित सिद्धान्त ( Formulas ) मे विश्लेषित कर सकते है—

१. सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि प्राप्तकर माध्यस्थ भावना रखना।

२. मिथ्याभिमान छोड उदारतापूर्वक सहिष्णु बन स्वार्थ, वैमनस्य, घृणा आदि कुभावनाओंपर विजय प्राप्त करना।

३. अहिंसा और संयमके समन्वय द्वारा अपनी विशाल और उदारदृष्टिसे विश्वमें भ्रातृत्व भावनाका प्रचार करना, कर्तव्य पालन और दूसरेके अधिकार संरक्षणके प्रति जागरूक रहना, इच्छाओं और कामनाओंपर नियन्त्रण प्राप्त करना; समता और प्रेमके प्रचारके लिए वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवनमे श्रद्धाका पालन करना एवं भय और विकार आदिको जीतना।

४. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके हेतु शुद्ध आहार-विहार करना; दया, संयम, त्याग और प्रशस्त विचारों तथा कार्योंका प्रचार करना, दैनन्दिनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए आर्थिक सन्तुलनका समाज या राष्ट्रमे स्थापित करना; आत्माके अस्तित्वका विश्वास कर अपने प्रत्येक आचरणका निरीक्षण करना, धनसंग्रहकी प्रवृत्तिको रोकना, समाजके प्रत्येक व्यक्तिका उन्नतिके अवसर समान रूपसे प्रदान करना एवं दूसरोंके कार्योंमे किसी भी प्रकारकी बाधा उत्पन्न न करना।

---

१. सोलह कारण भावना, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० ४, १९५६ संस्करण।

उपर्युक्त सिद्धान्त (Formulas) को हम जीवनका चतुर्मुखी स्वस्तिक कह सकते है। इस स्वस्तिककी व्याख्या दान, शील, तप और सद्भावनाके मानवतावादी तत्त्वों द्वारा की जा सकती है। प्रकृतिने स्वभावसे जीवमात्रको दानी बनाया है। जो केवल बटोरता है, बाँटना नहीं जानता उसका जीवन नष्ट हो जाता है। धनार्जनका उद्देश्य सञ्चय करना नहीं है, दान देना है। जो अपने ही स्वार्थों और मान्यताओंमें अवरुद्ध है, वह दान नहीं दे सकता। वास्तवमे दान करनेमे ही, व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास होता है। उदाहरणार्थ यों समझा जा सकता है कि सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा भूतलके जलका शोषण करता—अर्जन करता है। पर इस अर्जित जलको वह अपने पास सञ्चित करके नहीं रखता है और इसे वर्षाके रूपमे भूतलपर विकीर्ण कर देता है। इसी प्रकार अर्जन करनेवालेका यदि धार्मिक दृष्टिकोण है, तो वह अर्जित धनको जमा नही करता है, समाजमे उसका वितरण कर देता है। यदि समाजवादी दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो अर्जन और वितरण दोनों एक सिक्केकी दो पीठिकाएँ है। इन दोनोके समन्वयसे ही लोकमंगलका प्रवर्त्तन होता है। जबतक व्यक्तिके जीवनमे उक्तदानका सिद्धान्त प्रविष्ट नही हो जाता है, तबतक ऐसे व्यक्तियोंसे सुगठित समाज कभी भी सुखी नही बन सकता है!

व्याख्याका दूसरा तथ्य शील है। शीलके अन्तर्गत सात तत्त्व आते है—

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह
६. विचारसमन्वय या उदारदृष्टि
७. संयम—रागद्वेषमयी प्रवृत्तियोका निरोध

विश्वप्रेम की गणना दृष्टिसाम्य अथवा अहिंसामे की जाती है। समाज और व्यक्तिके बीच अधिकार एवं कर्त्तव्यकी शृङ्खला स्थापित करना उनके उचित सम्बन्धोंका सन्तुलन बनाये रखना, वर्गभेद एवं जातिभेदको दूर करना, मानवमात्रमे समता बुद्धि रखना एवं किसीको हीन एवं नीच न समझना शील और अहिंसाके अन्तर्गत है। सत्य केवल यथार्थ भाषणका नाम नही है। ऐसा सत्य भी असत्यके अंतर्गत है, जिससे जन-अकल्याण होता हो या किसीकी जान जाती हो। अतः समाज कल्याणकारी अहिंसक वचन ही सत्यके अन्तर्गत आ सकते है और इन्ही वचनोसे समाज की सुव्यवस्था हो सकती है। समाजमे आज जो अविश्वास दिखलायी पड रहा है उसका मूल हेतु असत्य-भाषण है। यह आक्षेप की बात नही, तथ्य है कि अहिंसाधर्मके अनुयायी भी व्यवहारमे अहिंसा और सत्यसे दूर है। यदि सत्यभाषणका अभ्यास हो जाय तो समाजमे रहने वाली पारस्परिक आशङ्काएँ, आतङ्क-भयादि एवं दुष्प्रवृत्तियाँ शीघ्र ही विलीन हो जॉय।

अचौर्यका अर्थ स्तेयका त्याग तो है ही, पर साथ ही ईमानदारी अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता भी अचौर्यमे शामिल है। किसीके अधिकारका अपहरण करने वाला व्यक्ति कभी भी अचौर्य धर्मका पालक नही कहा जा सकता। अधिकार अपहरण चोरीके अन्तर्गत है। नौकरसे शक्तिसे अधिक कार्य लेना चोरी है। इसी प्रकार आज समाजमे सूद पर रुपया चलाना अहिंसक व्यापार माना जाता है, पर सत्य यह है कि श्रमण धर्मकी दृष्टिसे बिना श्रमसे कोई भी अर्जन अनैतिकता और अधर्म है। यह बात समझमे नही आती कि रुपयेके बलसे रुपयेका सञ्चय करना कैसे अहिंसा है? अतएव समाजको स्वस्थ और सबल बनाना है तो अचौर्यके तहमे प्रविष्ट हो, जनकल्याणवादी प्रवृत्तियोके आधारपर विचार करना होगा।

ब्रह्मचर्यका अर्थ इन्द्रियोंके विषयोंको अधीन करना है। केवल स्पर्शन इन्द्रियका जयी सुस्वादु भोजन ग्रहण कर अपनेको ब्रह्मचारी सिद्ध करे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? घृत, दुग्ध, दधि, मेवा, मिष्टान्न आदि पदार्थोंका त्याग तो ब्रह्मचारीको स्त्री-स्पर्शनके समान ही करना चाहिये। स्वादको जीते बिना ब्रह्मचारी नहीं बना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयोंका भी त्याग होना चाहिये।

अपरिग्रहका अर्थ पर्युदास और प्रसज्य दोनों ही नञ् समासोंके प्रकाशमे ग्रहण किया जा सकता है। यदि साधुकी दृष्टिसे हम शब्दका अर्थ ग्रहण करना है तब तो प्रसज्य पक्षकी दृष्टिसे विचार करना होगा और गृहस्थकी दृष्टिसे व्यवस्था स्थापित करनी होगी तब पर्युदासपक्ष लेना पडेगा—जिसका अर्थ होगा सीमित आवश्यकताओके अनुसार भोगोप-

भोगके पदार्थोंको ग्रहण करना तथा अपनी आवश्यकताओंको भी उत्तरोत्तर घटाना। यदि कोई व्यक्ति आवश्यकताओंको बढ़ाता चला जाय तो उसके परिग्रहकी सीमा कहीं भी निर्धारित नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आवश्यकताओंके अनुसार धन-सञ्चय करना तथा आवश्यकताओंको भी उत्तरोत्तर घटाना अपरिग्रह की सीमामें सम्मिलित है।

विचारसमन्वय और उदार दृष्टिकोणके सम्बन्धमें पूर्वमें ही लिखा जा चुका है। पक्षपात, दुराग्रह एवं अपनेको ही सर्वदा सच समझने की प्रवृत्ति समाज कल्याणके लिए बाधक है।

संयमके सम्बन्धमें शास्त्रीय व्याख्याएं अनेक उपलब्ध होती है। शास्त्रकारोंने संयमका विचार बड़े ही सूक्ष्मरूप में किया है पर हम इतना ही समझते है कि संयम भोगवादकी औषधि है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, वासनाओं और कषायोंपर नियन्त्रण रखकर छीना झपटीको दूर कर दे तो मात्स्यन्याय समाजसे दूर हो सकता है। ईर्ष्या, द्वेष, तृष्णा आदिका संयम ही नियन्त्रित कर सकता है। संयमके दो भेद पाये जाते हैं—इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम। जहाँ विषयेच्छा है वहाँ अवश्य दुःख है और जहाँ इस इच्छाका अभाव है, वहाँ सुख है। प्रवचनसारमें बताया है—

> जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
> जदि तं णहि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं॥ —गाथा ११६४

इस प्रकार उक्त चतुर्भुजी स्वस्तिक की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

जीवरक्षाको धर्म कहा गया है। पर उसकी व्याख्या हम ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, पाषण्डधर्म, कुलधर्म, गणधर्म, संघधर्म, श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकायधर्मके[1] रूपमें कर सकते है। जीवोंकी रक्षा वास्तवमें सच्चाधर्म है। पर यदि उसे सर्वत्र और सार्वकालिक नियम बना लेनेपर राष्ट्रधर्म और लोक धर्मका निर्वाह नहीं हो सकेगा। यह हम मानते है कि मनसा वाचा और कर्मणा प्राणिमात्रमें सद्भाव रखना और रागद्वेषमयी प्रवृत्तियोंका निरोध करना जीवरक्षा है। पर इस धर्मका निर्वाह साधु समाज ही कर सकता है, गृहस्थ समाज नहीं। गृहस्थ की दृष्टिसे संकल्पी उद्योगी, आरम्भी और विरोधी इन चार प्रकार की हिंसाओमेंसे सकल्पी हिंसाका त्याग करना परमावश्यक है। जीवरक्षाको व्यावहारिक बनानेके लिए हम अहिंसाके उक्त चारो रूपोंपर विचार कर जनकल्याणकी प्रवृत्ति निर्धारित कर सकते है। निर्दोष जीवका जानबूझकर वध करना सकल्पी, जीविका सम्पादनके लिए खेती व्यापार, नौकरी आदिके द्वारा होनेवाली हिंसा उद्योगी, सावधानी पूर्वक भोजन बनाने या जल भरने आदि कार्योंमें होनेवाली हिंसा आरम्भी एवं अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिए की जानेवाली हिंसा विरोधी कहलाती है। सुबुद्ध गृहस्थ संकल्पपूर्वक किसीकी जीवहत्या नहीं करता, पर उसके ग्राम, नगर या राष्ट्रपर किसी भी प्रकारकी आपत्ति या विपत्ति आती है तो वह शस्त्र भी धारण कर सकता है और यदि आवश्यकता पड़नेपर यह ऐसा नहीं करता है, तो वह अहिंसक नहीं कायर है। वास्तवमें अहिंसा महावीरता है। आपत्ति और विपत्तिके समय प्राण रक्षणार्थ की गयी हिंसा वीरता है, पर उक्त स्थितिमें बनावटी अहिंसा भयकर कायरता और पाप है। सोमदेव सूरिने लिखा है—

> यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
> तत्रैव अस्त्राणि नृपाः क्षिपन्ति न दीनकानीनकदाशयेषु।
>
> —यशस्तिलकचम्पू उ० पृ० ९६

अर्थात् जो रिपु अस्त्रशस्त्रसे सुसज्जित होकर रणमें उपस्थित हो, या अपने देशका दुश्मन होकर आया हो, वीरगण उसी पर अस्त्र प्रहार करते है, कमजोर, निहत्थे और कायरोंपर नहीं।

राष्ट्रकी सुरक्षाके लिए सैन्यबल भी आवश्यक है। अहिंसक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्रके अधिकार सम्पत्ति एवं सम्मानपर आक्रमण नहीं करता पर अपने राष्ट्रकी रक्षा सभी सम्भव उपायोंसे करता है। हमारा तो विश्वास है कि अहिंसा-का यथार्थ प्रयोग शूरवीर व्यक्ति ही कर सकता है, कायर नहीं। अहिंसा वीरोंका धर्म है गीदड़ोंका नहीं। जो आध्यात्मिक क्षेत्रमें शूरवीर है वे पूर्ण अहिंसाका पालन करते है और जो लौकिक क्षेत्रमें वीर है वे गृहस्थोंकी अहिंसाका पालन करते हैं। अतएव सार्वजनीन धर्म, संयम, शील दान आदि रूपमें उपादेय है।

●

---

१. सुत्तागमे ठाणाङ्ग—सूत्रसंख्या १०५१

# श्रमणधर्म

जयदेव आचार्य, एम० ए०, डिप-एड
रिसर्च स्कॉलर, बिहार विश्वविद्यालय

●

## प्रास्ताविक

भारतमें धर्मकी दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं—(१) श्रमण और (२) वैदिक। श्रमणधर्मकी प्रमुख तीन विशेषताएँ हैं—(१) श्रम (२) संयम और (३) त्याग। अपनी इन तीन प्रमुख विशेषताओंके कारण ही इस धर्मने वैदिक युगमें कई संस्कृतियोंका सम्मिश्रण होने पर भी पृथक् अपना अस्तित्व बनाये रखा। इस धर्मने ऐहिक अभ्युदयोंको एकान्तत कल्याणकारी नहीं समझा तथा सर्व प्रथम पुनर्जन्मका सिद्धान्त प्रति-पादित कर जीवनमें सजगता और सावधानीकी प्रतिष्ठा की। वैदिक संहिताओंके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि आर्योंके जीवनका लक्ष्य भोगोंकी प्राप्ति है। प्रत्येक सूक्तके अन्तमें ऋषि सन्तान, स्त्री, धन, पशु-सम्पत्ति एवं हिरण्य सम्पत्तिकी कामना करते हुए परिलक्षित होते हैं[1]। वे अपने जीवनको सुखी बनानेके लिए पशु या मानवका बलिदान भी आवश्यक मानते थे। वैदिक धर्ममें मुख्य रूपसे इन्द्र, वरुण, मरुत, रुद्र आदि देवताओंको स्तुतियों और यज्ञों द्वारा प्रसन्न कर उनसे प्रसाद या वरदान प्राप्त करनेकी अभिलाषा की जाती थी। देवताओंको विशेष-विशेष यज्ञों द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इस समय यज्ञीय कर्मकाण्डकी इतनी वृद्धि हुई कि उसके सम्पादन हेतु विभिन्न ऋत्विजोंका विकास हुआ। मन्त्रपाठके लिए होता, कर्म काण्डके लिए अध्वर्यु, सामगानके लिए उद्गाता और विघ्न निवारणके लिए ब्रह्माकी स्थापना की गयी। यह धर्म कर्मकाण्ड और हिंसा प्रधान था। वर्ण-भेदको प्रमुखता प्रदान की गयी थी।

इसके विपरीत श्रमण धर्म अहिंसा प्रधान था। त्याग और संयम द्वारा आत्मशोधनपर विशेष बल देता था। व्यक्तित्वके विकासके लिए आडम्बरके स्थानपर इन्द्रिय-निग्रह और भूतदयाकी मान्यता प्रचलित थी। यह धर्म वैदिक धर्मसे प्राचीन है या नहीं, यह तो विवादग्रस्त है, पर इतना सत्य है कि वैदिक धर्मके समानान्तर ही श्रमण धर्म भी जन-जीवनमें व्याप्त था। दाशराज्ञ[2] और सुदासका युद्ध उक्त दोनों संस्कृतियों या धर्मोंका युद्ध है। इस सन्दर्भमें दाशराज्ञ-संगठनके नेता विश्वामित्र और सुदासके नेता वशिष्ठ थे। विश्वामित्र श्रमण संस्कृतिके प्रतिनिधि हैं, इन्होंने तपश्चरण द्वारा जाति परिवर्तन किया था और ये ज्ञान एवं त्यागके मूर्तरूप थे। वशिष्ठ वैदिक संस्कृतिके प्रतीक हैं, इनका उत्तरकालीन जीवन यज्ञीय हिंसाकी सीमामें आबद्ध है। वशिष्ठके नेतृत्वमें सुदासका विजयलाभ भी वैदिक संस्कृतिके विकासका द्योतक है।

श्रमणके पर्यायवाचियोंका विवेचन करते हुए मूलाचार ग्रन्थमें लिखा है—

> समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागोत्ति,
> णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥
>
> —अनगार भावनाधिकार गाथा ८८६।

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति ये अनगार अथवा श्रमणके नामान्तर हैं। इन नामोंका ऐतिहासिक विकासक्रमसे अध्ययन किया जाय तो श्रमण शब्द प्राचीन प्रतीत होगा और

---

१. या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥
ऋग्वेद १। ८५।१२

२. ऋक् ७।३३।२; ५।८३।८

वैदिक धर्मका जब प्रभाव बढ़ गया तथा आपसमें संस्कृतियोंमें आदान-प्रदान हुआ तो ऋषि शब्द भी श्रमण या अनगारका पर्यायवाची बन गया। वास्तवमें ऋषियोंके जीवनका अध्ययन करने पर हमारे समक्ष निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित होते हैं :—

१. ऋषि ज्ञानी होते थे, और प्रधान रूपसे राजा-महाराजोंके पौरोहित्यकर्मोंका सम्पादन करते थे।

२. ऋषिका जीवन धार्मिकनेताके साथ राजनीतिक नेताके रूपमें भी प्रचलित था। युद्धके अवसरपर प्रधानका कार्य ये ही संचालित करते थे।

३. अरण्योंमें आश्रम बनाकर अनेक व्यक्तियोंके साथ निवास करते थे और इनका प्रधान कार्य कुलपतिका होता था।

४. हिंसाको त्याज्य नहीं मानते थे।

५. जीवन-शोधनकी अपेक्षा क्रियाकाण्डको ही महत्त्व देते थे।

६. मन्त्रोंकी रचना संकलन और नवीन पाठोंकी स्थापना तथा विधि विधानोंकी नयी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत करते थे।

७. समाजमें ऋषिका स्थान सर्वोपरि था। राजा-महाराजा भी भयभीत और आतंकित रहते थे।

८. ऋषियोंके आश्रममें धन-सम्पत्ति, पशु, हिरण्य आदिकी कमी नहीं होती थी।

९. निग्रह और अनुग्रहका सामर्थ्य भी ऋषियोंमें रहता था।

ऋषियोंके जीवन-अवलोकनमें इतना स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि संयमी और इन्द्रियजयी नहीं थे, पर सुदासकी विजय-प्राप्तिके अनन्तर जब वैदिकधर्मका प्रचार अबाधरूपमें हुआ, तो श्रमणके समानार्थक ये भी बन गये। उपनिषद् कालके अध्यात्मवेत्ता ऋषिके जीवन-यापनमें परिवर्तन परिलक्षित होता है। अतः स्पष्ट है कि शनैः शनैः ऋषिकी जीवन-चर्या-में यथेष्ट विकास हुआ और भौतिकताको छोड़ ये भी आध्यात्मिक होगये। फलतः श्रमणसाहित्यमें इनका भी निर्देश संयमी-के रूपमें होने लगा। श्रमणधर्म मनुष्यसे भगवान् बननेका मार्ग बतलाता है, इस कारण अनशन और उपवासपर प्रेम, अहिंसापर प्रगाढ़ भक्ति, कदम-कदमपर भोगसामग्रियोंसे बचनेका भाव, एवं समझौतावादी दृष्टिकोण अपनानेको प्रेरित करता है। मनुष्य अपनी संयमकी वीतरागमयी साधनासे विकारी प्रवृत्तियोंको दूर कर निर्वाण प्राप्त करनेका प्रयास करता है।

## वैदिक साहित्य और श्रमणधर्म

कतिपय विद्वान् श्रमण धर्मकी धारा एवं परम्पराको आर्योंके पूर्व ही निःसृत होते मानते हैं, उनकी धारणा है कि कि इस धर्म—श्रमणधर्म—का वर्णन ब्राह्मण साहित्यमें पहलेके साहित्यमें नहीं मिलता। उनका यह भी मत है कि तप और अरण्य ( जिनका श्रमणधर्ममें बड़ा मूल्य है ) के प्रति ब्राह्मणकाल तक वैदिक आर्योंकी आस्था न रही है और न उनके प्रति उनका विशेष आकर्षण ही रहा है।[१] अतः उनकी रायमें वैदिकधर्मसे श्रमण धर्मका कोई सम्बन्ध ही न रहा है। यहाँ इस सम्बन्धमें यह भी उल्लेखनीय है कि श्रमणधर्म, जिसका संन्यासमें गहरा सम्बन्ध है, के विषयमें भी कहा जाता है कि ब्राह्मणको ब्रह्मचारी और गृहस्थके रूपमें जीवन बितानेके बाद संन्यासी हो जाना चाहिए, यह नियम वैदिक साहित्यमें नहीं मिलता।[२] इस मान्यताके पक्षमें यह कहा जाता है कि गौतम धर्मसूत्रमें[३] एक प्राचीन आचार्यका मत आया है जिसमें कहा गया है कि वेदोंको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है, वेदमें उसीका विधान है। इतर आश्रमोंका नहीं। अथर्व वेद और ब्राह्मण ग्रंथोंमें ब्रह्मचर्याश्रमका विशेषतः उपनयनका विधान आया है, किन्तु चार आश्रमोंका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्में है। अतः ऐसी धारणा है कि वानप्रस्थ और संन्यासको वैदिक आर्योंने अवैदिक लोगोंकी संस्कृतिमें लिया है।[४] इस सम्बन्धमें लोकमान्य तिलकका मत भी उल्लेखनीय है, जिनका मत है[५] कि वेद-संहिता और ब्राह्मणोंमें संन्यास आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है। उलटा जैमिनिने वेदोंका यही मत स्पष्ट बतलाया है[६] कि गृहस्थाश्रममें रहनेसे ही मोक्ष मिलता है।

१. जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिका—पृ० ७८
२. वही० —पृ० ८२
३. गौतमसूत्र, ८।८।
४. हिन्दूधर्म समीक्षा, हिन्दीग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
५. गीतारहस्य, संन्यास और कर्मयोग नामक प्रकरण द्रष्टव्य।
६. वेदान्तसूत्र, ३।४।१७-२०।

इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मणके इस कथनसे भी इस मतका समर्थन होता है कि जब तक जिओ, अग्निहोत्र करो।[1] इसी तरह बौधायन धर्मसूत्र[2] में कहा गया है कि जन्मसे ही ब्राह्मण अपनी पीठपर ऋण लाता है। इन ऋणोंको चुकानेके लिए यज्ञ-याग आदि पूर्वक गृहस्थाश्रमका पालन करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोकको पहुँचता है और ब्रह्मचारी या संन्यासीकी प्रशंसा करनेवाले धूलमें मिल जाते हैं। इसी तरहकी बातें आपस्तम्ब सूत्रमें भी बताई गई हैं, जहाँ गृहस्थाश्रमको छोड़ दूसरे आश्रममें जानेका निषेध है।[3] इसी प्रकार अहिंसा—जो श्रमण धर्मकी आत्मा समझी जाती है—के सम्बन्धमें कहा जाता है कि यह भी अवैदिक चिंतनका परिणाम है, कारण उपनिषद्में अहिंसा धर्मका उल्लेख नहींके बराबर है।[4]

इस प्रकार कतिपय मनीषी इसे अवैदिक चिन्तधारा मानते हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो इस श्रमण धर्मको वैदिक चिन्तनधाराका ही अंग मानते हैं। ऐसे लोगोंकी रायमें तो बौद्ध और जैन—जो श्रमण धर्मके सच्चे प्रतिनिधि हैं—का उदय ही वैदिक-धर्म-रूपी एतद्देशीय संस्कृतिकी शाखाओंके रूपमें हुआ है।[5] साथ ही साथ इनकी रायमें इस श्रमण धर्म या सन्यास धर्मका बीज तो ऋग्वेदमें भी मिलता है जहाँ ऋषि तपके द्वारा सत्यका साक्षात् अनुभव करनेकी क्षमता रखता है।[6] यहाँ तो तपसे विश्वकी उत्पत्ति तक बतलाई गई है।[7]

इस सम्बन्धमें शतपथ ब्राह्मणका उद्धरण भी दिया जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि आकाश वायुपर, वायु पृथ्वीपर, पृथ्वी जलपर, जल सत्यपर, सत्य यज्ञपर और यज्ञ तपपर स्थित है।[8] यहाँपर तपको यज्ञ और सत्यसे उच्च माना गया है। इसी तरह बृहदारण्यकमें भी श्रमण धर्मकी परम्परा मिलती है, जहाँ कहा गया है कि जो ब्रह्मविद् होता है वह मुनि हो जाता है। केवल ब्रह्मलोककी कामनासे मुनि अपना घर त्याग देते हैं। ऐसा जानकर प्राचीन समयके लोगोंने सन्तानकी इच्छा नहीं की, और प्रजा, धन और नये-नये लोकोंकी इच्छाका त्याग करके भिक्षुके रूपमें विचरण किया।[9] तब भिक्षाचरण और संसारका त्याग, इस श्रुति प्रतिपादित धर्मको स्मृतियोंने एक पद्धतिका रूप दिया और प्रत्येक भारतीयके लिए ( शूद्रको छोड़कर ) अर्थात वर्णाश्रम धर्मके माननेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह आवश्यक विधान किया कि वह अपने जीवनका उत्तरार्द्ध दो आश्रमोंमें बितावे—पहले वानप्रस्थ, वनीया वैखानस संज्ञक आश्रममें, और उसके बाद परिव्राजक या भिक्षु या यति[10] या मौनी[11] या भिक्षाचरण करने वाले संन्यासीके रूपमें।[12]

अतः उपर्युक्त उद्धरणोंमें आस्था रखने वालोंका ऐसा मत प्रतीत होता है कि श्रमणधर्म वैदिक चिंतनकी ही धारा है। परन्तु यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि यह श्रमण धारा वैदिक धारा ही क्यों न हो, पर विरोधी लक्षण बुद्ध-महावीरके बहुत पूर्व ही दृष्टिगत होने लग गए थे। कारण, अगर ऐसी बात न होती तो वशिष्ट द्वारा ब्राह्मण धर्मके परिव्राजक जो धार्मिक संस्कारोंके उत्तरदायित्वसे मुक्त थे और जिनका जीवन श्रमणशील था—के लिए भी वेदोंका पाठ करना अनिवार्य नहीं बनाया जाता।[13]

इस तरह उपरके दोनों पक्षोंको देखनेके बाद किसी खास निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इन कठिनाइयोंके बावजूद इतनी बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि श्रमणधर्म वैदिक अथवा अवैदिक जिस किसी चितन धाराकी देन हो, परन्तु इसका अस्तित्व बहुत ही प्राचीन है। साथ ही साथ इसकी ऐतिहासिक परम्परा भी सिद्ध जान

---

१. शतपथ ब्राह्मण, २।३।४।१।१
२. बौधायन धर्मसूत्र, २।६।११।३३,३४
३. आपस्तम्बसूत्र, ६।२४।८
४. जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ८१
५. हिन्दू सभ्यता, पृ० २११
६. ऋग्वेद, १०।१०९।४
७. वही, १०।१९० ( पूर्ण-सूक्त देखें )
८. शतपथ ब्राह्मण, ६।१।१।१३
९. 'भिक्षाचर्यं चरन्ति ।'
१०. मनुस्मृति, ४।१३७
११. आपस्तम्ब, २।९।२१।१
१२. हिन्दू सभ्यता, पृ० २१२
१३. 'वह समस्त धार्मिक क्रियाओंका अनुष्ठान भले ही छोड़ दे किन्तु वेदका पारायण कभी न छोड़े। वेदका त्याग करनेसे ब्राह्मण शूद्र बन जाता है; अतएव वह उसे कदापि न छोड़े।'

( वशिष्ठ, १०।४ )

पड़ती है। कारण ऋग्वेदमें[1] मुनियोंके विशेषण रूपसे वातरशनाः शब्दका प्रयोग हुआ है। इसमें इनको नग्न या पीले और मैले वस्त्रधारी बतलाया गया है। तैत्ति० उ० मे भी एक श्रमण वातरशन ऋषिका उल्लेख है।[2] फिर बृहदारण्यक उपनिषद्में भी तापसके साथ-साथ श्रमण शब्दका व्यवहार हुआ है।[3] वाल्मीकि रामायणमें ब्राह्मण, श्रमण, और तापसोंका उल्लेख हुआ है।[4] इस सम्बन्धमें पाणिनिने भी अपनी पुस्तक अष्टाध्यायीमें[5] भिक्षु, मस्करी आदि शब्दोंके साथ श्रमण और अविवाहित स्त्री श्रमणोका उल्लेख किया है।[6] इस सम्बन्धमें पतञ्जलिका उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है[7] जिसने श्रमणको ब्राह्मणका उल्टा माना है और दोनोंमें कभी न मिटनेवाला वैर बताया है।[8] इसी तरह बौधायनमें मुनिको श्रमण कहा गया है और लिखा है कि सरस्वती नदीमें घुटने भर पानीमें खड़ा होकर अग्निके लिए पुरोडाश अर्पित करे।[9] श्रौत सूत्रोंमें श्रमणका प्रयोग भिक्षु मात्रके लिए हुआ।[10]

इसी तरह श्वेताम्बर जैन आगमोंमें सोलह प्रकारके परिव्राजक ( आठ प्रकारके ब्राह्मण परिव्राजक और आठ प्रकारसे क्षत्रिय परिव्राजक ) और पाँच प्रकारके श्रमण बतलाये गये है।[11] इनमे श्रमणोंके प्रकार यों है, निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरूक और आजीवक। इसी प्रकार अंगुत्तर निकायमें भी परिव्राजक दो प्रकारके कहे गये है, एक ब्राह्मण परिव्राजक और दूसरे अब्राह्मण परिव्राजक।[12] बौद्ध जातकमें तो बोधिसत्व गौतमको ही श्रमण ( समण ) कहा गया है।[13] साथ ही साथ उदानमें बतलाया गया है कि उस समय श्रमण-ब्राह्मणके बहुतेरे सम्प्रदाय थे, जिनका जीवन परिव्राजकका जीवन था और जो विभिन्न दिट्ठियो या दार्शनिक मतोमें विश्वास रखते थे।[14] इस क्रममें सिकन्दरके समकालीन यूनानी लेखकोंके उद्धरण भी महत्त्वके है, जिन्होंने भी साधुओंके भेदोका निर्देश किया है, एक श्रमण और दूसरा ब्राह्मण।[15] इस सम्बन्धमें यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अशोकने भी अपने शिलालेखोंमें श्रमणो और ब्राह्मणोंका पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।[16]

## निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनसे दो बातें स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होती है। प्रथम तो यह है कि श्रमण धर्म एवं परम्परा ऐतिहासिक है और दूसरी बात यह है कि यद्यपि यत्र-तत्र ब्राह्मणोंके भी श्रमण होनेके उल्लेख भी मिलते है[17] परन्तु चिन्तन और मननके क्षेत्रमें ब्राह्मण और श्रमणोंकी यह परम्परा भिन्न-भिन्न ही रही है। अगर ऐसी बात न होती तो बृहदारण्यकमें तापसके साथ श्रमणका व्यवहार क्यों किया जाता ? वाल्मीकि रामायणमें ब्राह्मणों, श्रमणों और तापसोंका अलग-अलग उल्लेख क्यों होता ? पाणिनि और पतञ्जलि उनका अलग-अलग क्यो उल्लेख करते ? बौद्ध एवं जैन साहित्योंमें उन्हे समानान्तर क्यों प्रदर्शित किया जाता ? साथ ही साथ अशोक ही क्यो श्रमणोंका अपने शिलालेखोंमें पृथक्-पृथक् निर्देश करते ? अतः इससे यह सिद्ध होता है कि श्रमणधर्म एवं परम्परा अतिप्राचीन है। ऐतिहासिक है और वैदिक चिंतन एवं परम्परासे भिन्न एक अवैदिक परम्परा एवं धर्म या धारा है।

१. ऋग्वेद, १०।१३६।२
२. तै० उ०, २।७
३. बृ० उ०, ४।३।२२
४. बा० रा०, सर्ग १८, पृ० २८
५. अष्टाध्यायी, २।१।७०
६. 'कुमारश्रमणादिभिः ।'
७. भाष्य, २।४।९
८. 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणाब्राह्मण् ।'
९. बौ० श्रौ०, १६।३०
१०. पाणिनि कालीन भारत, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३७७।
११. राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ, श्रमण एवं परिव्राजक' शब्द देखें।
१२. अंगुत्तर निकाय, ४ ३५।
१३. जातक, ३-४०
१४ 'सम्बहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका।
नाना दिट्ठिका नाना दिट्ठि निस्सयनिस्सिता।' पालि संस्करण, पृ० ६६-६७।
१५. India as known to Panini, page 383
१६. जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ० ८८।
१७. जैसा कि श्रौत सूत्रोंमें भिक्षुक मात्रके लिए श्रमण शब्दका प्रयोग हुआ है।

# अहिंसा : एक अनुचिन्तन

श्री प्रेमसुमन एम० ए०,
रिसर्चस्कॉलर प्राकृत जैन विद्यापीठ, वैशाली

## भूमिका

'अहिसा' निषेधात्मक शब्द है, इस शब्दका व्यवहार विधि-परक 'हिसा' शब्दके अनन्तर ही हुआ होगा। अहिसा संस्कृति प्रधान जैनधर्ममें इसके पूर्ववर्ती समता, सर्वभूतदया, सयम जैसे अनेक शब्द अहिंसक आचरणके लिए प्रयुक्त है। वास्तवमे जहाँ भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलायी पडेगी, वही हिंसा किसी न किसी रूपमे उपस्थित हो जायगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणाका परिहार प्रेम, उदारता, और सहानुभूतिके बिना संभव नही है। प्रकृति और मानव दोनोकी क्रूरताओका निराकरण सयम द्वारा ही संभव है। इसी कारण जैनाचार्योंने तीर्थका विवेचन करते हुए कषायरहित निर्मल संयमकी प्रवृत्तिको ही धर्म कहा है। यह संयमरूप अहिंसाधर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही क्षेत्रोमे समता और शान्ति स्थापित कर सकता है। इस धर्मका आचरण करनेपर स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वासको कही भी स्थान नही है। व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोका परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव है। कुन्दकुन्द स्वामीने बताया है—

> जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
> तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥ —बोधपाहुड गा० २७।

राग-द्वेषका अभावरूप समताचरण ही व्यक्ति और समूहके मूल्योको सुस्थिर रख सकता है। आत्मोत्थानके लिए यह जितना आवश्यक है, उतना ही जीवन और जगत्की विभिन्न समस्याओंके समाधानके लिए भी। वर्गभेद, जातिभेद आदि विभिन्न विषमताओंमे समत्व और शान्तिका समाधान समता या समाचार ही है। मानवीय मूल्योंमे जीवनको नियन्त्रित और नीतियुक्त बनाये रखनेकी क्षमता—एकमात्र समता अहिंसाचरणमें ही है। दैहिक अर्थमें 'सबसे समर्थक अस्तित्वकी रक्षा ( Servival of the fittest ) वाले विधानकी समाप्ति अहिंसासे ही संभव है। युद्ध, विद्वेष, और शत्रुतासे मानवसमाजकी रक्षा करनेके हेतु विधायक शब्दका प्रयोग करे तो वह 'समाचार' है और निषेधात्मक शब्दका प्रयोग करे तो वह अहिसा है। समाचार कुटुम्ब, समाज, शिक्षा, व्यापार, शासन, संगठन प्रभृतिमे मर्यादा और नियमोकी प्रतिष्ठा करता है, मानवीय मूल्योकी स्थापना करता है और प्राणिजगत्मे सुख-कल्याणका प्रादुर्भाव करता है। मूलाचार ग्रन्थमें समाचारका महत्ता बतलाते हुए लिखा है—

> समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
> सव्वेसिं हि समाण सामाचारो दु आचारो ॥ —मूलाचार गा० १२३

अतएव स्पष्ट है कि अपने देशकी प्रतिभा-परम्पराओके अनुकूल विश्वशान्तिके लिए समाताचार अहिसाकी साधना अत्यावश्यक है। प्रस्तुत निबन्धमे आजकी परिवर्तित होती हुई परिस्थितियो और जीवन मूल्योके अनुसार अहिसाका अनुचिन्तन प्रस्तुत किया जायगा। समाज और समूहके सघर्षोकी समाप्तिका एकमात्र उपाय अहिसाचरण ही है।

अहिसाके विषयमे जैन सस्कृति पग-पगपर सन्देश देती हुई अग्रसर होती है। जैन संस्कृतिके वरिष्ठ विधायकोके अन्तःकरणमे समूचे विश्वका ही नही, प्राणीमात्रको सुखी देखनेकी लालसा थी। यह उनके अन्तःकरणकी पुकार थी। गहन अनुभूतिकी अभिव्यक्ति। यह अनुभूति शुद्ध प्रेमकी अनुभूति थी, रागमुक्त प्रेमकी। प्रेमका यही रूप सार्वभौमिक होता है। यह एकके प्रति नही समस्तके प्रति होता है। तभी प्राणीमात्रका स्पन्दन अपनी आत्मामे सुनाई पडता है। इस

स्पन्दनमें सुख भी होता है, अपार दुख भी। और तभी उस अपार दुखके प्रति अन्तरालकी गहराइयोंसे करुणा फूट पड़ती है। व्यक्ति व्यष्टिसे निकलकर समष्टिके रूपमें दुख निवारणकी बात सोचने लगता है। यही अहिंसाका प्रसूतघर है।

अहिंसाकी मूलभावना प्राणिमात्रको जीनेका अधिकार प्रदान करती है। अपने आपमें जीना कोई जीवन है? वह तो एक मशीनी-जीवन है। जो अपना होकर नहीं रहता वास्तवमें वही सबका होकर जीता है। जैन संस्कृतिके नियामकोंका हृदय इसी भावनासे अनुप्राणित था। इसलिए उन्होंने समवेत स्वरमें कहा—सब जीव संसारमें जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता[1]। क्योंकि एक गन्दगीके कीड़े और स्वर्गके अधिपति इन्द्र दोनोंके अन्तरमें जीवनकी आकांक्षा और मृत्युका भय समान है[2]। अतः सबको अपना जीवन प्यारा है[3]। इसीलिए सोते-उठते, चलते-फिरते तथा छोटे-बड़े प्रत्येक कार्यको करते हुए यह भावना हर व्यक्तिकी होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरोंको भी सुख भोगनेका अधिकार है। जब मुझे दुख प्यारा नहीं है तो संसारके अन्य जीवोंको कहाँसे प्यारा होगा[4]। अतः स्वानुभूतिके आधारपर हिंसात्मक प्रवृत्तियोंसे हमेशा बचकर रहना चाहिए[5]।

कितनी उदात्त भावना है उन महामानवोंकी। मानवता यहाँ चर्मोत्कर्षपर पहुँच जाती है। 'जियो और जीने दो' यह अहिंसाका स्वर्णिम-सूत्र उसी सर्वभूतदयाकी भावनासे प्रसूत है, जहाँ जीवके सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। अन्य संस्कृतियोंमें करुणाकी भावना अवश्य है, प्रसंगवश हिंसा-विरोधात्मक उपदेश भी दिये गये हैं, किन्तु जैनधर्मकी इस उदारताकी मिसाल पाना कठिन है। इसीलिए शायद जीवदयाकी क्रियाको सबमें श्रेष्ठ एवं चिन्तामणि रत्नके समान फल देनेवाली माना गया है[6]। तथा अहिंसाके माहात्म्यसे मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान् सुन्दर और यशस्वी होता है, यह स्वीकृत किया गया है[7]।

## अहिंसा स्वरूप

अहिंसा क्या है, इस प्रश्नको जैनाचार्योंने बड़ी सूक्ष्म और सरल विधिसे समझाया है। सर्वप्रथम उन्होंने हिंसाका स्वरूप निर्धारित किया। तदुपरान्त उससे विरत होनेकी क्रियाको अहिंसाका नाम दिया। बात ठीक भी है, जबतक हम वस्तुके स्वरूपको न समझ ले, उससे सम्भावित हानि-लाभसे अवगत न हो जायें तबतक उसे छोड़नेका प्रश्न ही कहाँ उठता है।

हिंसाका सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण अमृतचन्द्राचार्यके इस कथनमें निहित है—कषायके वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणोंका घात करना हिंसा है[8]। यह लक्षण समन्तभद्राचार्य द्वारा प्रणीत-अहिंसाणुव्रतके लक्षण जैसा ही परिपूर्ण है। सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ-राजवार्तिकमें इसीका समर्थन किया गया है। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्व या उत्तरके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है[9]।

उपरोक्त हिंसाके लक्षणमें मनकी दुष्प्रवृत्तिपर अधिक जोर दिया गया है। क्योंकि अन्तस्की कलुषता ही हिंसाको जन्म देती है। इसी बातको आचार्य उमास्वामीने इस कथनसे स्पष्ट किया है—

प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा[10]।

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं। —दशवकालिक सूत्र, ६।१०

२. अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना, जीविताकांक्षा, समं मृत्युभयाद्वयोः॥ —आचार्य हेमचन्द्र

३. सव्वेसिं जीवियं पियं। —आचारांगसूत्र १-२, ३-६३।

४. जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। —जैनाचार्य

५. स्वकीयं जीवितं यद्वत् सर्वस्य प्राणिनः प्रियम्।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसा परित्यजेत्॥ —उपासकाध्ययन कल्प २४ श्लोक २०२, पद्मपुराण पर्व १४, श्लोक १८६.

६. एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव॥३६१॥

७. आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते॥३६२॥ —उपासकाध्ययन कल्प २६

८. यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ —पुरुषार्थ० श्लोक ४३

९. उपासकाध्ययन—सम्पादककी प्रस्तावना पृष्ठ ६८—६९

१०. तत्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र १३

प्रमादवश प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। प्रमत्त शब्द मनकी कलुषता, अज्ञानता, असावधानीके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। गृहस्थ जीवनमें मनुष्य नाना क्रियाओंका प्रतिपादन करता है। किन्तु सभी क्रियाएँ सावधानी और संयमपूर्वक नही होती। अनेक कार्योंको करते हुए मनमें कषायभाव, कटुता उत्पन्न हो जाती हैं। इससे आत्माकी निर्मलता धुंधली पड जाती है। भावनाओंमें विकार उत्पन्न हो जाते है। इन्ही दुष्परिणामोसे युक्त हो कोई कार्य करना हिंसा है। क्योकि दुष्परिणामी व्यक्तिके द्वारा भले दूसरे प्राणियोका घात न हो लेकिन उसकी आत्माका घात स्वयमेव हो जाता है। इसी अर्थमें वह हिंसक है[1]। क्योकि किसी दूसरेसे किसी दूसरेका प्राण-घात सम्भव ही नही है[2]।

प० आशाधरजीने हिंसाकी व्याख्या और सरल शब्दोंमें की है। उनका कथन है—सकल्पपूर्वक व्यक्तिको हिंसात्मक कार्य नही करना चाहिए। उन सब कार्यों व साधनोको, जिनमे शरीर द्वारा हिंसा, हिंसाकी प्रेरणा व अनुमोदन सम्भव हो, यत्नपूर्वक व्यक्तिको छोड देना चाहिए। यदि वह गृहस्थजीवनमे उन कार्योंको नही छोड सकता तो उसे प्रत्येक कार्यको करते समय सतर्क और सावधान रहना चाहिए[3]। देवता, अतिथि, मन्त्र, औषधि आदिके निमित्त तथा अन्धविश्वास और धर्मके नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियोका घात नही करना चाहिए[4]। क्योंकि अत्याचार पूर्वक की गई क्रियामें जीव मरे या न मरे हिंसा हो ही जाती है। जब कि यत्नाचारसे कार्य कर रहे व्यक्तिको प्राणिवध हो जानेपर भी हिंसक नही कहा जाता[5]। वस्तुत: हिंसा करने और हिंसा हो जानेमे बहुत अन्तर है। निष्कर्ष यह, सकल्प पूर्वक किया गया प्राणियोका घात हिंसा है, और उनकी रक्षा एवं बचाव करना अहिंसा[6]।

अहिंसाके प्रतिपादनमें जैन-साहित्यमें बहुत कुछ कहा गया है। इसमे प्रधानत प्राणीमात्रके कल्याणकी भावना निहित है। अन्य धर्म व संस्कृतियाँ अहिंसाका घोष करती हुई भी हिंसात्मक कार्योमें अनेक बहानोसे प्रवृत्त देखी जा सकती है। किन्तु जैन संस्कृति जो कहती है, वही व्यवहारमे उतारनेकी कोशिश करती है। यही कारण है, जैनाचार्योंने समयकी गतिविधिको देखते हुए अनेक वैदिक अनुष्ठानो व हिंसात्मक कार्योका विरोध किया है। यह विरोध किया है। यह विरोध जैनधर्ममें सर्वभूतदयाकी भावनाका ही प्रतिफल है।

अहिंसाको जैनधर्ममे व्रत माना गया है। वस्तुत: हिंसात्मक कार्योंमे विरत होनेमे कठिनताका अनुभव होनेसे ही अहिंसाका व्रत कह दिया गया है, नही तो अहिंसा तो दैनिक कार्यों एवं सुखी-जीवनका एक आवश्यक अंग है। वह मानवकी स्वाभाविक परणति है। उसे व्रत मानकर चलना उससे दूर होना है। अहिंसा तो भावोकी शक्ति है। आत्मा की निर्मलता एवं अज्ञानका विनाश है।

कोई भी व्यक्ति अपने दैनिक जीवनमें अचानक परिवर्तन लाकर अहिंसाको उत्पन्न नही कर सकता। अहिंसाका उत्पन्न होना तो आत्मामें परिवर्तन होनेके साथ होता है। आत्माके परिवर्तनका अर्थ है, उसे पहिचान लेना। यह पहिचान ही निजको जानना है, सारे विश्वको जानना है। जब व्यक्ति इस अवस्था पर पहुँच जाता है तो समस्त विश्वके जीवोके दुखका स्पन्दन उसकी आत्मामें होने लगता है। यह करुणामय स्पन्दन होते ही हिंसा स्वय तिरोहित हो जाती है। उसे हटानेके लिए कोई अलगसे योजना नही करनी पडती। अहिंसा उत्पन्न हो जाती है।

हिंसाकी निवृत्ति और अहिंसाके प्रसारके लिए जैन धर्ममें गृहस्थोको अनेक व्रत-नियमोको पालन करनेका उपदेश दिया गया है। प्रत्येक कार्यको सावधानी पूर्वक करने एव प्रत्येक वस्तुको देख-शोधकर उपयोगमें लानेका विधान गृहस्थके लिए मात्र धार्मिक ही नही है, व्यवहारिक भी है[7]। जीवोके घातके भयसे जैन-गृहस्थ अनेक व्यर्थकी क्रियाओंसे

१. स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध.॥
२. समयसार गाथा २६२ का टीका।
३. सागारधर्मामृत अध्याय ४, श्लोक ८, ९, १०
४. देवतातिथिमन्त्र्यौषधभयायवा।
न हिंस्या. प्राणिन. सर्वे अहिंसानाम मत व्रतम्॥—वरागचरित १५, ११२ अमितगति श्रावकाचार परि० ६ उपासकाध्ययन कल्प २६
५. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ वचम० ३, १७
६. उपासकाध्ययन—कल्प २६ श्लोक ३१८
७. गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्।
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत्॥ —उपासकाध्ययन कल्प २६ श्लोक ३२१

मुक्ति पा जाता है। प्रत्येक वस्तुको देख-भालकर काममें लानेकी आदत डालनेसे मनुष्य हिंसासे ही नहीं बचता, किन्तु वह बहुतसी मुसीबतोंसे बच जाता है। इसी बातको ध्यानमें रखते हुए आचार्योंने अनर्थदण्डव्रतोंका विधान किया है। रात्रिभोजन त्यागका विधान भी इसी प्रसंगमें है[1]। इस अवलोकनसे स्पष्ट है कि जैनधर्मकी अहिंसा मात्र धार्मिक न होकर व्यवहारिक भी है।

अहिंसाके विषयमें जिज्ञासुओंकी ओरसे जहाँ अनेक व्यर्थके प्रश्न उठाये गये वहाँ एक आवश्यक और जीवित प्रश्न यह भी है कि जैन धर्मके अनुसार यह संसार अनेक छोटे-छोटे जीव-जन्तुओंसे खचा-खच भरा है। दैनिक जीवनसे सम्बन्धित कोई भी ऐसी क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो[2]। चलने-फिरने, खाने-पीने एवं बोलने आदि साधारण क्रियाओंमें भी जीवोंका घात होता है। इस स्थितिमें अहिंसाकी साधना कैसे पूरी होगी। हम निष्क्रिय होकर तो बैठ नहीं सकते? गृहस्थ जीवन अनेक परिग्रहोंसे युक्त है, जिसमें दिनरात बहुतसे आरम्भ करने पड़ते हैं। अतः अहिंसा की रक्षा वहाँ कैसे सम्भव है[3]?

## अहिंसा सम्बन्धी समस्याएँ और समाधान

जैनाचार्य संसारसे विरत अवश्य थे, किन्तु उन्होंने सामान्य जीवनसे सम्बन्धित इन प्रश्नोंका समाधान भी प्रस्तुत किया है। संसारमें सभी प्राणी अपनी-अपनी आयु लेकर आते हैं। नित्य मरते और उत्पन्न होते हैं। अतः जीवोंके मरनेमें सावधान व्यक्ति यदि कारण होता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। और न उसके अणुव्रती अहिंसक होनेमें कोई दोष आता है। क्योंकि उसके अन्तस्की भावना पवित्र एवं दयासे आर्द्र है। यहाँ हमें हिंसा-अहिंसाको भावोंपर ही आधारित मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो एक भी व्यक्तिका मोक्ष और बन्ध न हो[4]। तथा शुद्ध भाववाले व्यक्तिको भी यदि केवल द्रव्य हिंसाके कारण हिंसक मान लिया जाय तो एक व्यक्ति भी इस संसारमें अहिंसक नहीं कहला पायेगा[5]। अतः शुभ परिणामोंके साथ संसारमें सक्रिय रहते हुए अहिंसाकी साधना की जा सकती है।

यह बात सही है गृहस्थ-जीवन परिग्रहोंका भण्डार है। किन्तु उसकी भी सीमा निर्धारित की जा सकती है। तृष्णाको कम करके यदि आवश्यक और अनिवार्य वस्तुओंका संग्रह किया जाय तथा उनके उपयोगके समय सन्तोषसे काम लिया जाय तो हिंसाकी अधिकता होनेका कोई कारण नहीं दिखता। अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहसे सन्तुष्ट व्यक्ति अहिंसक है[6]।

इसीसे मिलता जुलता एक प्रश्न और उठा—

> जले जन्तुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च।
> जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

इस प्रश्नका भी समुचित समाधान प्रस्तुत है। संसारमें जितने सूक्ष्म जीव हैं वे किसीके द्वारा पीड़ित नहीं होते और जो स्थूल हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। अतः संयमी व्यक्तिके अहिंसक होनेमें कोई बाधा नहीं आती[7]। जीवोंके मरने न मरनेपर कोई पाप-पुण्य नहीं होता। वह तो शुभ-अशुभ परिणामों एवं भावनाओंपर आधारित

१. निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये। —प्रबोधसार पृष्ठ ८८।
मूलव्रतविशुद्ध्यर्थं यथायथमपार्थत.। —सागारधर्मा० अ ४, श्लोक २४।

२. सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते। — उपासकाध्ययन कल्प २६ श्लोक ३४०।

३ तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः। — —आचार्य सोमदेव

४. श्रावक साधना बम्भ म ..ा०   सागारधर्मा० अ० ४, श्लोक २३।

५ ... सुहुम य वधो होइयि बाहरयस्सु ...ण।
णत्थि दु अहिंसगाणामयाउ कायादि यवहे ..

६. सन्तापपापना य. स्यादल्पारम्भपरिग्रह.।
मान्मुद्धयकमथ सात्राहसाणुव्र भवेत्।   वाचार्य समन्तभद्र।

७. सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

है[1]। सब कार्योंमें भावोंकी निर्मलता एवं अन्तस्‌की पवित्रता आवश्यक है। यदि भावनाको प्रधानता न दी जाय तो एक ही व्यक्ति द्वारा अपनी प्रियतमा और पुत्रीके साथ की गई चुम्बन क्रियामें कोई अन्तर ही न रह जाय[2]।

आचार्य सोमदेवने इसी बातको धीवर और कृषकका उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। प्राणि-घातका कार्य दोनों करते हैं। किन्तु धीवर सुबहसे शामतक नदी किनारे बैठकर यदि खाली हाथ भी घर वापिस लौटता है तो वह हिंसक है, जब कि दिनभरमें अनन्त स्थावर जन्तुओंका घातकर लौटनेवाला किसान हिंसक नहीं कहा जाता[3]। यहाँ दोनोंके संकल्प और भावोंके अन्तरकी ही विशेषता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि गृहस्थ जीवनमें अहिंसाको न उतारा जा सके। मानव हर क्षण और हर अवस्थामें अहिंसक रह सकता है, उसमें मनोबल और अन्तस्‌को निर्मलता चाहिए।

एक और ज्वलन्त प्रश्न अहिंसाके सिद्धान्तके विषयमें अब उठने लगा है। वह यह कि यदि अहिंसाके सिद्धान्तपर हम चलें तो आज विश्वमें जो चारों ओर युद्धका भयावह वातावरण व्याप्त है, उससे कैसे रक्षित हो सकेंगे। क्योंकि युद्धमें भाव तो रोषके होते ही हैं और शत्रुको मारनेका संकल्प भी करना पड़ता है। अतः इस संकटसे बचनेके लिए अहिंसकके सामने दो ही रास्ते हैं, या तो वह चुपचाप शत्रुका वार सहता जाये अथवा अहिंसाको किनारे रख शस्त्र उठा लड़ने लग जाय। क्या कोई दोनो पक्षके बचावका भी रास्ता है?

प्रश्न जितना जटिल और सम-सामयिक है, समाधान उतना ही सरल और न्यायसंगत। जैन संस्कृतिका इतिहास यदि हम पलटें तो पायेंगे—अनेक जैन राजा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी हैं। शत्रुके आक्रमणसे अपनेको भरसक बचाया है। उसके दाँत खट्टे किये हैं। चन्द्रगुप्त, सम्राट खारवेल, सेनापति चामुण्डराय आदि वीरयोद्धा भारतीय इतिहासके उज्ज्वल रत्न हैं[4]। अतः अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि दूसरेका अकारण चाँटा खाकर तुम चुप हो जाओ। कोशिश यह करो कि उसका दुबारा फिर हाथ न उठे। अहिंसा सिर्फ आक्रमणात्मक हिंसाका विरोध करती है, रक्षणात्मक हिंसाका त्याग नहीं।

जैनागमोंमें एक अहिंसक ग्रहस्थके लिए यह विधान भी है कि यदि उसके धर्म, जाति, व देश पर कोई संकट आ पड़ा हो तो उसे चाहिए कि वह तन्त्र, मन्त्र, बल, सैन्य आदि शक्तियों द्वारा उसे दूर करनेका प्रयत्न करे[5]। एक देशवासीका राष्ट्र रक्षाके सिवाय और क्या धर्म हो सकता है। अतः यदि युद्ध अनिवार्य हो तो उससे विमुख होना अहिंसा नही, कायरता है। ऐसे युद्धमें रत होकर अहिंसक अपना कर्तव्य ही करता है। क्योंकि हर प्राणीको जब स्वतन्त्र जीनेका अधिकार है तो उसमें बाधा देनेवाला क्षम्य नहीं कहा जा सकता। भले वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो। जैनाचार्य दोषोंके अनुसार दोनोंको दण्ड देनेका विधान करते है[6]। अतः अहिंसाका क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। उससे कायरता नहीं, निर्भयताका स्रोत प्रवाहित होता है।

## अहिंसाकी उपलब्धियाँ

जैन साहित्य व धर्ममें अहिंसाके विविध रूपोंके साथ एक बात यह भी देखनेको मिलती है कि अहिंसाका मूल स्रोत खान-पानकी शुद्धिकी ओर अधिक प्रभावित हुआ है। हिंसासे बचनेके लिए खान-पानमें संयम रखनेको अधिक प्रेरित किया गया है। उतना राग, द्वेष, काम, क्रोध, जो भावहिंसाके ही रूपान्तर हैं, के विषयमें नहीं। इसके

---

१. मृतेऽपि न भवेत् पापमृतेऽपि भवेद् ध्रुवम्।
पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतु शुभाशुभम्॥—प्रबोधसार।

२. भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु।
अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा॥ —सुभाषितावली पृ० ४६३।

३. आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥
—सागारधर्मामृत अ० २, श्लोक २२।

४. जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० १८२।

५. यदा न शक्यसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम्।
तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥
—पंचाध्यायी, श्लोक ८१३।

६. दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोषं समं धृतः॥ —सागारधर्मा० अ० ४, श्लो० ५।

मूलमें शायद यही भावना रही हो कि यदि व्यक्तिका आचार-व्यवहार स्वच्छ और संयत होगा तो उसकी आत्मा एवं भावना स्वयमेव पवित्र रहेगी। किन्तु ऐसा हुआ बहुत कम मात्रामें है। आज अहिंसाके पुजारियों जैनोंके खान-पानमें जितनी शुद्धि दिखाई देती है, मनमें उतनी पवित्रता और व्यवहारमें वैसी अहिंसाके दर्शन नहीं होते। अतः यदि व्यक्तिका अन्तस् पवित्र हो, सरल हो तो उसके व्यवहार व खान-पानमें पवित्रता स्वयं अपने-आप आ जायेगी। जिसका अन्तर प्रकाशित हो, उसके बाहर अंधेरा टिकेगा कैसे?

अहिंसाके अतिचारोंमें जो पशुओंके छेदन, भेदन और ताड़नकी बात कही गई है वह एक और नया तथ्य उपस्थित करती है। वह यह कि, जैनाचार्योंका हृदय मूक पशुओंकी वेदनासे अधिक अनुप्राणित था। यदि ऐसा न होता तो वे अहिंसाके अतिचारोंमें खान-पानकी त्रुटियोंको ही गिना देते। जबकि उन्होंने प्राणीमात्रके कल्याणकी बात कही है। यही भावना आगे चलकर वैदिक यज्ञोंकी हिंसाका डटकर विरोध करती है। प्राणीमात्रको अभय प्रदान करती है। जैन संस्कृतिके वरिष्ठ विधायकोंने उद्घोष किया यदि सचमुच, तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरोंको तुम भी अभय देनेवाले बनो, निर्भय बनाओ। इस अनित्य नश्वर संसारमें चार दिनकी जिन्दगी पाकर क्यों हिंसामें डूबे हो[1]। यह उसीका प्रतिफल है कि वैदिक युगके क्रियाकाण्डों और आजके हिन्दू धर्मअनुष्ठानोंमें जमीन आसमानका अन्तर आ गया है। भारतीय समाजके विकासमें अहिंसाका यह कम योगदान नहीं है।

अहिंसा समाजवाद और साम्यवादकी नींव है। लोग आज देशमें समाजवाद-स्थापनकी बात करते हैं। अहिंसाके उस महान् उद्घोषकने आजसे हजारों वर्ष पहिले समस्त विश्वमें समाजवाद स्थापित कर दिया था। विश्वके समस्त प्राणियोंको समान मानना, न केवल मनुष्योंको, इससे भी बड़ा कोई साम्यवाद होगा? अहिंसा महाप्रदीपकी किरणें बिकरित हो उद्घोष करती हैं, उस महामानवकी वाणी गूंजती है—जो तुम अपने लिए चाहते हो, दूसरोंके लिए—समूचे विश्वके लिए भी चाहो। और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरोंके लिए भी मत चाहो, मत करो[2]। क्योंकि एक चेतनाकी ही धारा सबके अन्दर प्रवाहित होती है[3]। अतः सबके साथ समताका व्यवहार करो, यही आचरण सर्वश्रेष्ठ है[4]। इससे तुम्हारा जीवन विकास वासनाओंसे मुक्त होता चला जायेगा और निष्पाप हो जायेगा[5]।

जैनधर्मकी यही उदारदृष्टि अहिंसाको इतना व्यापक बना देती है कि उसे समूचे विश्वके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें देर नहीं लगेगी। क्योंकि उसने संसारसे परायेपनको हटाकर अपनत्व जोड़ रखा है। संसारमें परायेपनका ही अर्थ है—दुःख तथा हिंसा होना। और अपनत्वका अर्थ है—सुख एवं अहिंसा होना। क्योंकि जब समूचा विश्व ही व्यक्तिका हो जाता है तो कौन उसे सत्यं, शिवं और सुन्दरं नहीं बनाना चाहेगा। अतः प्रत्येक प्रयत्नशील मानवको दुःखके परिहार और सुखके स्वीकारके लिए जैन संस्कृतिकी मूल देन अहिंसाको अपने जीवनमें उतारना होगा। इस संघर्षमय जीवनसे संतप्त मानवको अहिंसाकी सान्द्र और शीतल छायामें ही शान्ति मिल सकेगी, अन्यत्र नहीं।

●

---

१. अभओ पत्थिवा। तुब्भं अभयदाया भवाहिय।
अणिच्चे जीव-लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि॥ —उत्तराध्ययनसूत्र १८-११।

२. जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं॥ —बृहत्कल्प भाष्य।

३. एगे आया—ठाणांगसूत्र १-१।

४. सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्। —नीतिवाक्यामृतम्, आचार्य सोमदेव।

५. पिहिआसवस्स दंतस्स पाव-कम्मं न बंधइ। —दर्शवैकालिका, ४।९।

# रात्रिभोजनविरमण : छठवाँ अणुव्रत

प्रो० राजाराम जैन M. A. ph. D.

●

## भूमिका

जैनाचारमे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह ये पाँच पाप माने गये हैं। इनका आंशिक त्याग करना अणुव्रत कहलाता है एवं उसका पालक सागार अथवा श्रावककी संज्ञा धारण करता है।[1] इसी प्रकार उक्त पाँचों पापोंका पूर्ण त्याग करना महाव्रत कहलाता है तथा उसका धारक अनगार अथवा मुनि कहलाता है।[2] उक्त अणुव्रत एवं महाव्रतकी ५–५ संख्याएँ भी सुनिश्चित है। किन्तु विशेष अध्ययन करनेमे प्राचीन कुछ ग्रन्थोंमे एक छठवें अणुव्रत-का भी उल्लेख मिलता है जिसका नाम है 'रात्रिभोजनविरमण' और जो मुनियोंके लिये आवश्यक बतलाया गया है। यद्यपि यह उल्लेख कुछ आश्चर्यपूर्ण एवं अटपटा जैसा प्रतीत होता है, क्योकि जब सामान्य श्रावक ही रात्रिभोजनका त्यागी होता है, तब मुनि तो पदेन उसका त्यागी होगा ही, यह स्वयमेव सिद्ध है। उसके लिये रात्रिभोजन त्याग सम्बन्धी पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता ही नहीं। मूलगुणों एवं उत्तरगुणोंमे भी उसकी चर्चा नही। फिर भी आचार्योंने उन्हे इसके त्यागकी आवश्यकता बतलाते हुए उसका उल्लेख किया है, यह एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात है। वह उल्लेख ईस्वी तीसरी सदीमे लेकर १५-१६ वी सदी तकके साहित्यमें विधि अथवा निषेध रूपोमे उपलब्ध है। अध्ययन करनेकी सुविधासे उक्त रूपोको निम्न चार भागोमे विभक्त किया जा सकता है —

## रात्रिभोजनविरमण सम्बन्धी विविध विचारधाराओंका वर्गीकरण

**१. मुनियोंके लिये 'रात्रिभोजन निवृत्ति' वाला होना चाहिए।** प्रस्तुत विचारधाराके अनुसार महाव्रतो की रक्षाके निमित्त 'रात्रिभोजन निवृत्ति' मुनियोके लिये परमावश्यक है किन्तु इस परम्परामे 'रात्रिभोजन' पदके साथ न तो 'व्रत' विशेषणका प्रयोग है और न 'अणुव्रत' का। मात्र 'विरत्ती' अथवा 'णियत्ती' का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है विरमण अर्थात् त्याग। यह विचारधारा 'मूलाचार'[3] एवं 'भगवती आराधना'[4] (अपरनाम मूलाराधना) की परम्पराके अन्तर्गत आती है जिनका समय प्रथम सदी ईस्वीसे तृतीय सदी ईस्वीके मध्यका है। आचार्य वट्टकेरने अपने मूलाचारमे महाव्रतोंके वर्णनके बाद कहा है :—

'तेसि चेव वदाणा रक्खट्ठ रादिभोयणविरत्ती' (५।९८) अर्थात् (पूर्वोक्त) पाँच व्रतों (महाव्रतों) की रक्षाके निमित्त (मुनियोके लिये) 'रात्रिभोजन विरमण' का पालन करना चाहिये।' आगे चलकर पुन मूलाचार (५।१४०) मे अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाओमे 'आलोकित-भोजन' नामकी एक भावनाका समावेश भी किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवत 'परकृतप्रदीप' एवं 'दिवानीत' भोजन भी 'आलोकित' भोजनके अन्तर्गत माना जाने लगा था, इसलिये उक्त ग्रन्थमे 'रात्रिभोजनविरमण' का विधान पृथक् रूपसे किया गया।

ठीक इसी प्रकार भगवती आराधनाकी गाथा सं० ६।११८५–८६ एवं ६।१२०७ मे भी उक्त दोनो वर्णन शब्दश उपलब्ध होते है। उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि उनके कालमे मुनियोके लिये रात्रिभोजन-विरमणका पालन आवश्यक था।

**२. श्रमण-निर्ग्रन्थोंके लिये अपने महाव्रतोंकी रक्षाके हेतु रात्रिभोजनविरमण नामक छठवाँ व्रत धारण करना आवश्यक है।** इस विचारधाराके अनुसार 'रात्रिभोजनविरमण' को 'छठवाँ व्रत' माना गया है और पूर्वोक्त

---

१-२ तत्त्वार्थसूत्र (वर्णी ग्रन्थमाला वी० नि० सं० २४७६) ७।१-२।

३. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला (ग्रन्थाङ्क १९) बम्बई (वि० सं० १९७७.) संस्करण।

४. अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई (वि० सं० १९८९) संस्करण।

प्रथम परम्पराका 'रात्रिभोजननिवृत्ति' पद प्रस्तुत दूसरी परम्परामें 'रात्रिभोजनविरमण व्रत' के रूपमें उपलब्ध होता है। यह परम्परा 'दसवेयालियसुत्त' की परम्परा है। दसवेयालियसुत्त[1] अर्धमागधी आगमके मूलसूत्रका तृतीय[2] आगम-ग्रन्थ है। दिगम्बरपरम्परामें भी यह ग्रन्थ आदरणीय रहा है। सर्वार्थसिद्धि[3], धवला, जयधवला,[4] राजवार्तिक,[5] तत्त्वार्थ-वृत्ति आदिमें इसके विषयमें उल्लेख मिलते हैं। इसके कर्तृत्वके सम्बन्धमें—"आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषसंक्षिप्ता-युर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्" ( सर्वार्थ० १।२० ) जैसे संकेत भी उक्त ग्रन्थोंमें मिलते हैं।

उक्त परम्पराके पोषक 'दसवेयालिय सुत्त' ( दशवैकालिक सूत्र ) में पाँच महाव्रतोंके वर्णनके बाद 'रात्रिभोजन-विरमण नामक छठवें व्रत' के विषयमें कहा गया है :—

…………"अहावरे छट्ठे भंते, वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते। राईभोयणं पच्चक्खामि………… ।"

"छट्ठे भंते, वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं……… ।"

"इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि………… ।"

अर्थात् भंते, इसके ( अर्थात् पाँच महाव्रतोंके धारण करनेके पश्चात् छट्ठे व्रतमें रात्रिभोजनकी विरति होती है। भंते, मैं सभी प्रकारके रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ………… ।

भंते, मैं छट्ठे व्रतमें सर्वरात्रिभोजनसे विरत हुआ हूँ …… ।

मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रिभोजनविरतिरूप छट्ठे व्रतको आत्महितके लिये अंगीकार कर विहार करता हूँ।

( दसवेयालियं ४। १६-१७ पृ० ११८-११९ )

**(३) रात्रिभोजनविरमण 'छठवाँ अणुव्रत' नहीं हो सकता।**

इस विचारधाराके अन्तर्गत मुनियोंके रात्रिभोजन नामक स्वतन्त्र 'छठवें अणुव्रत'का विरोध किया गया है और कहा गया है कि उसका अन्तर्भाव 'आलोकित पान भोजन'में हो जाता है। प्रस्तुत मान्यतामें पूर्वोक्त दूसरी परम्पराके 'व्रत' विशेषणने 'अणुव्रत'का रूप ग्रहण कर लिया। यह परम्परा 'तत्त्वार्थसूत्र'के सभी टीकाकारों अर्थात् पूज्यपाद ( छठवीं सदी ) अकलंक ( वि० ७०० ), विद्यानन्द ( ९ वीं सदी ) भास्करनन्दि ( १३ वीं सदी ) एवं श्रुतसागर ( १५-१६ वीं सदी ) द्वारा निर्मित एवं समर्थित है। यद्यपि इस आचार्य-परम्पराने उक्त व्रतके विरोधमें ही अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं किन्तु उनकी रचनाओंमें उल्लिखित 'रात्रिभोजनविरमण नामक छठवाँ अणुव्रत' पद द्रष्टव्य है जो स्वयं 'छठवें अणुव्रत'की प्राचीनताका सूचक है। आचार्य पूज्यपाद पूर्वपक्षके रूपमें एक प्रश्न उपस्थित करते हैं:—

**ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् ?**

अर्थात् रात्रिभोजन विरमण नामक छठवाँ अणुव्रत है, उसकी यहाँ परिगणना होना चाहिए। ( सर्वार्थसिद्धि ७।१ सं० टी० पृ० ३४३-३४४ )। पुनः इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं :—

**न भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते। तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति।**

अर्थात् रात्रिभोजन विरमण छठवां अणुव्रत नहीं हो सकता, क्योंकि भावनाओंमें उसका अन्तर्भाव हो जाता है। आगे ( ७।४ में ) अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कहेंगे, उनमें आलोकितपान भोजन नामकी एक भावना है उसमें उक्त व्रतका ( स्वतः ) अन्तर्भाव हो जाता है। ( सर्वार्थ० वही )

आचार्य विद्यानन्दस्वामीने भी इसी प्रकारके विचार व्यक्त करते हुए प्रश्नोत्तरी शैलीमें लिखा है :—

**ननु पञ्चसु व्रतेष्वनन्तर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेन्न, भावनान्तर्भावात्। तत्रानिर्देशाद-युक्तोंतर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्। प्रदीपादिसम्भवे सति रात्रावपि तत्प्रसंग इति चेन्न, अनेकारम्भदोषात्…… । तेनालोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।**

( तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ७।१ सं० टी० पृ० ४५८)

भट्ट अकलंकदेवने भी पूर्वोक्त विचारोंके समान ही 'रात्रिभोजनविरमण'को आलोकितपानभोजनमें अन्तर्भूत किया है। यथा :—

---

१. जैन श्वे० ते० महा० कलकत्ता ( १९६४) से प्रकाशित।

२. भारतीय ज्ञानपीठ काशी ( १९५५) से प्रकाशित दे० १।२०।

३-६ दे० जैन साहित्यका इतिहास पूर्व पीठिका ( वाराणसी, वी० नि० सं० २४८९ ) पृ० ६७३-४।

रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेत्, न; भावनान्तर्भावात्। स्यान्मतम्—इह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्त्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति; तन्न; किं कारणम्? भावनान्तर्भावात्। भावनासु हि अन्तर्भवति रात्रिभोजनविरमणम्। अनिर्देशात इति चेन्न, आलोकितपानभोजनवचनात्। वक्ष्यते हि अहिंसाव्रतपरिपालनाय आलोकितपानभोजन-भावना कार्या इति।

( तत्त्वार्थवार्तिक[1] ७।१ सं० टी० पृ० ५३४ )

ठीक इसी प्रकारकी विचारधारा भास्करनन्दिने सुखबोधिका टीका[2] ( ७।१ सं० टी ) एवं श्रुतसागरने तत्त्वार्थ-वृत्ति[3] ( ७।१ सं० टी० ) में भी व्यक्त की है। इन सभी उल्लेखोंमें प्रयुक्त 'षष्ठमणुव्रत रात्रिभोजनविरमणम्' पद दृष्टव्य है। इन्हें देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विचारश्रेणीके आचार्योंके पूर्व रात्रिभोजनविरमण सम्बन्धी छठवें अणुव्रतकी मान्यता मुनि-आचारके क्षेत्रमें व्याप्त थी तथा पूज्यपादादिने उसका यथासाध्य खण्डन किया है।

(४) रात्रिभोजनत्याग मुनियोंका छठवाँ अणुव्रत है :

प्रस्तुत विचारधाराके अनुसार मुनियोंको अपने महाव्रतोंकी रक्षाके निमित्त रात्रिभोजनत्याग नामक छठवें अणुव्रत-का धारी होना आवश्यक है। इस परम्परामें आचार्य देवसेन ( १०वीं सदी ), चामुण्डराय ( ११ वीं सदी ), वीरनन्दि ( १२ वीं सदी ) एवं पण्डित आशाधर ( १३वीं सदी ) प्रमुख हैं।

आचार्य देवसेनने अपने 'दर्शनसार[4]' नामक ग्रन्थमें लिखा है:—

आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खियओ।
सण्णासभंजणेण य अगहिय पुण दिक्खओ जादो॥
परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं चित्तूण मोहकलिएण।
उम्मग्गं संकलियं बागडविसएसु सव्वेसु॥
इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं णाम॥

अर्थात् नन्दितट नगरमें विनयसेन मुनिके द्वारा दीक्षित हुआ कुमारसेन नामका मुनि था, जिसने संन्याससे भ्रष्ट होकर पुनः दीक्षा ग्रहण नहीं की और मयूरपिच्छिको त्यागकर तथा चँवर ( गायके बालोंकी पिच्छी ) ग्रहण करके उस अज्ञानीने सारे बागड प्रान्तमें उन्मार्गका प्रचार किया। उसने स्त्रियोंको दीक्षा देनेका, क्षुल्लकोंको वीरचर्याका, मुनियोंको कड़े बालोंकी पिच्छी रखनेका और ( रात्रिभोजनत्याग नामक ) छट्ठे अणुव्रतका विधान किया।

( दर्शनसार गाथाएँ ३३-३५ )

उक्त गाथा संख्या ३५ में 'गुणव्वदं' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि गुणव्रत तो तीन होते हैं तथा उनकी संख्या सुनिश्चित है। यदि कमी बेशी भी हो तो दो अथवा चार हो सकती है किन्तु छह संख्या नहीं। अतः यहाँ 'गुणव्वदं' के स्थानपर 'अणुव्वदं' पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। बम्बईके माणिकचन्द्र पानाचन्द्र भण्डार[5] में स्थित 'दर्शनसार'की प्रतिकी टिप्पणीमें स्पष्ट लिखा है कि 'रात्रिभोजनत्याग' नामक छट्ठे व्रतका विधान किया।' इससे भी स्पष्ट है कि उक्त 'गुणव्वदं' पाठ गलत है। उसके स्थानमें 'अणुव्वदं' पाठ होना चाहिए।

उक्त कुमारसेनका समय[6] वि० सं० ७५३ रहा है। अतः इस उल्लेखमें यह स्पष्ट है कि उक्त कालके बीच रात्रिभोजनविरमण छठवें अणुव्रतके रूपमें प्रचलित रहा है।

इस परम्पराके द्वितीय आचार्य चामुण्डरायने अपने 'चारित्रसार[7]' नामक ग्रन्थके 'सागार प्रकरण'में लिखा है कि 'रात्रिभोजनत्याग' छठवाँ अणुव्रत कहलाता है तथा वह उन पाँच अणुव्रतोंसे भिन्न है जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ काशी (१९५७) से प्रकाशित।
२. University of mysore oriental library publications series 1944.
३. भारतीय ज्ञानपीठ काशी (१९४९) संस्करण।
४. जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई ( १९७४ वि० सं ) प्रकाशन।
५ दे० दर्शनसार पृ० ४२।
६. दे० दर्शनसार गाथा ३६।
७. माणिक्यचन्द्र दिगम्बरजैन ग्रन्थमाला ( ग्रन्थाङ्क ६ ) बम्बई ( वी० सं० २४४३ ) संस्करण।

एवं अपरिग्रहके नामसे प्रसिद्ध हैं। यथा:—'रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थाद्विवर्जनम्।
पञ्चधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥ (चरित्रसार पृ० ७)

उक्त 'चारित्रसार'के अनगार प्रकरणमे चामुण्डरायने लिखा है कि पाँच मूलगुणों एवं रात्रिभोजनवर्जनका दूसरों-के अभियोगसे बलपूर्वक अन्यथा सेवन करनेवाला पुलाक नामक मुनि कहलाता है। यथा:—प्रतिसेवनायां पञ्चानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। (चारित्रसार पृ० ४६)

'चारित्रसार'के सागारधर्म प्रकरणमें वर्णित उक्त छठवें अणुव्रतकी परम्परा अनुपम है। उसका मेल अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चरित्रसार' में वर्णित छठवें अणुव्रत सम्बन्धी उक्त प्रसंग किसी कारणवश गलतीसे 'सागारधर्म'के प्रकरणमें आ गया। वस्तुतः उसे 'अनगारधर्म'के संयमप्रकरण (पृ० ३८-३९) में कहीं होना चाहिए था जहाँ व्रतकी परिभाषा एवं उनके नामोल्लेखादिक किये गये हैं।

उक्त चतुर्थ विचारधाराके तृतीय आचार्य वीरनन्दिने अपने 'आचारसार'[1] नामक ग्रन्थमें मुनियोंके लिये पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके निमित्त रात्रिभोजनत्याग आवश्यक बतलाया गया है। उसके अनुसार रात्रिमे अन्नादिका सर्वथा त्याग मुनियोंका छठवाँ अणुव्रत कहलाता है। यथा:—

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्॥ ५। ७०॥

अर्थात् व्रतों (महाव्रतों) की रक्षाके निमित्त रात्रिभोजनका त्याग (अवश्य) कर देना चाहिए। रात्रिभोजन-मे अन्नादिका सर्वथा त्याग करना (मुनियोंका) छठवाँ अणुव्रत कहलाता है।

पण्डितप्रवर आशाधर उक्त चतुर्थ विचारधाराके सर्वाधिक समर्थ एवं स्पष्ट विवेचनकर्त्ता हैं। उन्होंने अपने-अनगारधर्मामृत[2] में बडे ही विस्तारके साथ उक्त विषयका स्पष्टीकरण किया है। यथा :—

'उक्तलक्षणानां पञ्चानां व्रतानां महत्त्वसमर्थनपुरस्सरं रात्रिभोजनविरमणलक्षणं षष्ठमणुव्रतं रक्षणार्थमुप-दिशन्नुत्तरोत्तराभ्यामसौष्ठवेन सम्पूर्णीकरणे सति निर्वाणलक्षणं फलमालक्षयति :—

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर—
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव-
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते॥

(अनगार० ४। ५० पृ० ३०१-२)

इतना ही नहीं पं० आशाधरने सैकडों वर्षोंसे आगत इस समस्याका समाधान भी कर दिया कि आखिर मुनियों-का यह व्रत 'अणुव्रत' संज्ञक क्यों बना? वे 'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि'की स्वोपज्ञ भव्यकुदचन्द्रिका टीका नामकी संस्कृत टीकामे लिखते हैं :—

'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि'। नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम्। सैवाणुव्रतम्। तस्याश्चाणु-व्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकालं तत्प्रवृत्तिसम्भवात्।

(अनगार० ४। ५० की सं० टी० पृ० ३०३)

अर्थात् रात्रिभोजन त्यागको अणुव्रत कहनेका प्रयोजन यह है कि मुनियोंके भोजनका त्याग कालकी अपेक्षा सर्वथा नहीं, एक देशरूप ही पल सकता है। रात्रिकी अपेक्षासे ही उसका सर्वथा त्याग हो सकता है और रात्रिमे ही उसकी निवृत्ति बतलाई गई है न कि दिनमें। दिनमें तो साधुजन भोजनके लिये योग्य समयमे योग्यविधिसे प्रवृत्ति कर ही सकते है। प्रस्तुत प्रसंगमे 'रात्रिभोजननिवृत्ति' पदमें 'रात्रि' शब्द कालकृत 'अणुत्व'का सूचित करता है। इसी विवक्षासे उसे यहाँ 'अणुव्रत'की संज्ञा प्रदान की गई है।

---

१. वही० (ग्रन्थाङ्क ११) वी० नि० स० २४४४।
२. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थाङ्क १४) बम्बई (१९१९ ई०) संस्करण।

पं० आशाधरकृत नित्यमहोद्योत[1] ( श्लोक १६ ) की श्रुतसागरीय सं० टी० तथा मूलाराधनाकी 'विजयोदया'[2] नामकी सं० टी० ( ८वीं सदी ) 'मूलाराधनादर्पण[3]' नामकी सं० टी० ( १३वी सदी ) तथा मूलाराधनाकी भाषावचनिका[4] से भी उपर्युक्त विचारोंका पूर्णतया समर्थन होता है।

## रात्रिभोजन विरमण सम्बन्धी छठवाँ अणुव्रत : समस्याएं एवं समाधान

उक्त चारो विचारधाराओको देखनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि मूलाचार, भगवती आराधना एवं दशवैकालिकमे प्राप्त 'रात्रिभोजन विरति' एवं 'रात्रिभोजन विरमण व्रत' आचार्य पूज्यापादसे लेकर श्रुतसागर पर्यन्त अर्थात् ६ वी सदीसे १५-१६ वी सदी तक 'अणुव्रत' की संज्ञा साधारण कर चुका था। इस प्रकार रात्रिभोजनविरमण सम्बन्धी छठवे अणुव्रतकी मान्यताके पूर्वोक्त विधि-निषेधात्मक विचारोको देखकर हमारे सम्मुख ये प्रश्न उपस्थित होत हैं कि जैनाचारमें उसके विधानकी आवश्यकता कब, क्यों और कैसे हुई ? रात्रिभोजन विरमणने छठवें अणुव्रतकी संज्ञा कब धारण की ? तथा इस प्रकारका कथन क्या आर्य परम्पराका उल्लंघन है ?

उक्त प्रश्नोंके उत्तरके लिये महावार-निर्वाणके बादकी समसामयिक परिस्थितियोका अध्ययन करना आवश्यक है। इतिहाससे यह सिद्ध है कि महावीर-निर्वाणके लगभग १६० वर्ष पश्चात्[5] एक भीषण दुष्काल पड़ा था, जिससे उत्तर भारतका समस्त जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। चतुर्विध संघ बिखर गया, मुनिसंयममे शिथिलाचार व्याप्त हो गया। ऐसी विषम स्थितियोमें मुनि आचारको सुरक्षित रखने हेतु मूलाचार एवं भगवती आराधनामें पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके निमित्त 'रात्रिभोजन निवृत्ति' की आवश्यकताका विचार किया गया। यद्यपि दोनों ग्रंथोंमें अहिंसाव्रतके अन्तर्गत 'आलोयभोयण' ( मूलाचार ५।१४०, भगवती आराधना ६।१२०६ ) नामक भावनाका भी उल्लेख है, फिर भी मुनियोंकी वक्रजडता[6] को देखते हुए रात्रिभोजन विरमणका पृथक्रूपेण स्पष्टतया उल्लेख आवश्यक हो गया। मूलाचार एवं भगवती आराधनाका समय प्रथम सदीसे तीसरी सदीके मध्य माना जाता है। उक्त ग्रन्थोके आधारपर उसी समयसे महाव्रताकी रक्षाके निमित्त 'रात्रिभोजन विरमण' का उल्लेख अलगसे किया जाने लगा। यद्यपि यह स्मरणीय है उस समय तक 'व्रत' जैसा कोई विशेषण उसके लिये नही मिला था।

माथुरी वाचना (३००–३१३ ई०) के आसपास पुन: भीषण दुष्काल[7] पडा। उसके कारण मुनिसंयममे शिथिलाचारोकी बाढ आ गई। चैत्यवासादि शिथिलाचार पोषक मत-मतान्तर प्रभावशाली होने लगे। इसीलिये पूर्व प्रचलित राइभोयणविरत्ती' पद दशवैकालिक सूत्रमे आकर 'वए राईभोयणाओ वेरमण' ( व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् ) के रूपमें स्थिर हो गया अर्थात् दशवैकालिकने उसे पृथक रूपमे व्रत घोषित कर दिया। इतना ही नही मूलाचार एवं भगवती० में जहाँ मात्र १–१ गाथामे ही रात्रिभोजनसे उत्पन्न दोषोंका वर्णन किया गया वहाँ दशवैकालिकमे रात्रिभोजनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोषोका वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है[8]। इस प्रसंगमे यह बात ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्रके सभी भाष्यकारोने भलेही रात्रिभोजन विरमणको छठवाँ व्रत अथवा अणुव्रत न माना हो किन्तु रात्रिभोजनके दोषोंका निरूपण प्राय: दशवैकालिक सूत्रकी भाषा-शैलीमे ही किया है।

आचार्य पूज्यपादके पूर्व रात्रिभोजन विरमणको छठवें अणुव्रतके रूपमें किसी स्थानपर वर्णित किया गया है, ऐसा उल्लेख प्रस्तुत पंक्तियोंके लेखकको अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रतीत होता है कि पूज्यपादने दशवैकालिकमें प्रयुक्त 'वए' ( व्रत ) पदका अर्थ अणुव्रत कर लिया एवं उसके खण्डनमें अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। पूज्यपादकी यही परम्परा उस श्रेणीके सभी विचारकोंने एक स्वरसे अपनाई है।

पूज्यपादके नेतृत्वमें उनकी परम्पराके आचार्योंने यद्यपि रात्रिभोजन विरमणको छठवाँ अणुव्रत माननेसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया किन्तु मूलाचार, भगवती० एवं दशवैकालिककी परम्परा क्रमश विकसित होती रही। उसका पूर्ण

---

१. दे० अनेकान्त १५।१।२१।

२-३. शोलापुर ( १९३५ ) संस्करण। दोनों टीकाएँ एक साथ प्रकाशित।

४. अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई ( वि० सं० १९८९ ) संस्करण।

५. जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज ( वाराणसी १९६५ ) पृ०. २९।

६. मूलाचार ७।३८. तथा उत्तराध्ययन सूत्र २३।२६।

७. जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज पृ० २९।

८. दे० दशवैकालिक ३।२; ४।१६–१७; ६।२५।

एवं अपरिग्रहके नामसे प्रसिद्ध हैं। यथा:—'रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम्।
पञ्चधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥ ( चरित्रसार पृ० ७ )

उक्त 'चारित्रसार'के अनगार प्रकरणमे चामुण्डरायने लिखा है कि पाँच मूलगुणों एवं रात्रिभोजनवर्जनका दूसरों-के अभियोगसे बलपूर्वक अन्यथा सेवन करनेवाला पुलाक नामक मुनि कहलाता है। यथा.—प्रतिसेवनायां पञ्चानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्बलादन्यतमं प्रतिसेवमान पुलाको भवति। ( चारित्रसार पृ० ४६ )

'चारित्रसार'के सागारधर्म प्रकरणमे वर्णित उक्त छठवें अणुव्रतकी परम्परा अनुपम है। उसका मेल अन्यत्र कहीं नही मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चरित्रसार' मे वर्णित छठवें अणुव्रत सम्बन्धी उक्त प्रसंग किसी कारणवश गलतीसे 'सागारधर्म'के प्रकरणमे आ गया। वस्तुत. उसे 'अनगारधर्म'के संयमप्रकरण ( पृ० ३८-३९ ) मे कहीं होना चाहिए था जहाँ व्रतकी परिभाषा एवं उनके नामोल्लेखादिक किये गये हैं।

उक्त चतुर्थ विचारधाराके तृतीय आचार्य वीरनन्दिने अपने 'आचारसार'[1] नामक ग्रन्थमे मुनियोंके लिये पाँच महाव्रतोकी रक्षाके निमित्त रात्रिभोजनत्याग आवश्यक बतलाया गया है। उसके अनुसार रात्रिमे अन्नादिका सर्वथा त्याग मुनियोका छठवाँ अणुव्रत कहलाता है। यथा —

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्॥ ५। ७०॥

अर्थात् व्रतों ( महाव्रतो ) की रक्षाके निमित्त रात्रिभोजनका त्याग ( अवश्य ) कर देना चाहिए। रात्रिभोजन-मे अन्नादिका सर्वथा त्याग करना ( मुनियोका ) छठवां अणुव्रत कहलाता है।

पण्डितप्रवर आशाधर उक्त चतुर्थ विचारधाराके सर्वाधिक समर्थ एवं स्पष्ट विवेचनकर्त्ता हैं। उन्होंने अपने-अनगारधर्मामृत[2] मे बड़े ही विस्तारके साथ उक्त विषयका स्पष्टीकरण किया है। यथा . —

'उक्तलक्षणानां पञ्चानां व्रतानां महत्त्वसमर्थनपुरस्सरं रात्रिभोजनविरमणलक्षणं षष्ठमणुव्रतं रक्षणार्थमुप-दिशन्नुत्तरोत्तराभ्याससौष्ठवेन सम्पूर्णीकरणे सति निर्वाणलक्षणं फलमालक्षयति :—

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर—
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव-
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते॥

( अनगार० ४। ५० पृ० ३०१-२ )

इतना ही नही पं० आशाधरने सैकडो वर्षोसे आगत इस समस्याका समाधान भी कर दिया कि आखिर मुनियो-का यह व्रत 'अणुव्रत' संज्ञक क्यो बना ? वे 'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि'की स्वोपज्ञ भव्यकुदचन्द्रिका टीका नामकी संस्कृत टीकामें लिखते हैं —

'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि'। नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम्। सैवाणुव्रतम्। तस्याश्चाणु-व्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकालं तत्प्रवृत्तिसम्भवात।

( अनगार० ४। ५० की सं० टी० पृ० ३०३ )

अर्थात् रात्रिभोजन त्यागको अणुव्रत कहनेका प्रयोजन यह है कि मुनियोके भोजनका त्याग कालकी अपेक्षा सर्वथा नही, एक देशरूप ही पल सकता है। रात्रिकी अपेक्षासे ही उसका सर्वथा त्याग हो सकता है और रात्रिमे ही उसकी निवृत्ति बतलाई गई है न कि दिनमें। दिनमें तो साधुजन भोजनके लिये योग्य समयमे योग्यविधिसे प्रवृत्ति कर ही सकते है। प्रस्तुत प्रसगमे रात्रिभोजननिवृत्ति' पदमे 'रात्रि' शब्द कालकृत 'अणुत्व'का सूचित करना है। इसी विवक्षासे उसे यहाँ 'अणुव्रत'की संज्ञा प्रदान की गई है।

---

१. वही० ( ग्रन्थाङ्क ११ ) वी० नि० स० २४४४।
२. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला ( ग्रन्थाङ्क १४ ) बम्बई ( १९१९ ई० ) संस्करण।

पं० आशाधरकृत नित्यमहोद्योत[1] ( श्लोक १६ ) की श्रुतसागरीय सं० टी० तथा मूलाराधनाकी 'विजयोदया[2]' नामकी सं० टी० ( ८वीं सदी ) 'मूलाराधनादर्पण[3]' नामकी सं० टी० ( १३वीं सदी ) तथा मूलाराधनाकी भाषावचनिका[4] ने भी उपर्युक्त विचारोंका पूर्णतया समर्थन होता है ।

## रात्रिभोजन विरमण सम्बन्धी छठवाँ अणुव्रत : समस्याएं एवं समाधान

उक्त चारो विचारधाराओंको देखनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि मूलाचार, भगवती आराधना एवं दशवैकालिकमे प्राप्त 'रात्रिभोजन विरति' एवं 'रात्रिभोजन विरमण व्रत' आचार्य पूज्यपादसे लेकर श्रुतसागर पर्यन्त अर्थात् ६ वी सदीसे १५-१६ वी सदी तक 'अणुव्रत' की संज्ञा साधारण कर चुका था । इस प्रकार रात्रिभोजनविरमण सम्बन्धी छठवें अणुव्रतकी मान्यताके पूर्वोक्त विधि-निषेधात्मक विचारोंको देखकर हमारे सम्मुख ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि जैनाचारमें उसके विधानकी आवश्यकता कब, क्यो और कैसे हुई ? रात्रिभोजन विरमणने छठवें अणुव्रतकी संज्ञा कब धारण की ? तथा इस प्रकारका कथन क्या आर्य परम्पराका उल्लंघन है ?

उक्त प्रश्नोके उत्तरके लिये महावीर-निर्वाणके बादकी समसामयिक परिस्थितियोका अध्ययन करना आवश्यक है । इतिहाससे यह सिद्ध है कि महावीर-निर्वाणके लगभग १६० वर्ष पश्चात्[5] एक भीषण दुष्काल पड़ा था, जिससे उत्तर भारतका समस्त जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था । चतुर्विध संघ बिखर गया, मुनिसंयममे शिथिलाचार व्याप्त हो गया । ऐसी विषम स्थितियोमे मुनि आचारको सुरक्षित रखने हेतु मूलाचार एवं भगवती आराधनामे पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके निमित्त 'रात्रिभोजन निवृत्ति' की आवश्यकताका विचार किया गया । यद्यपि दोनों ग्रंथोंमे अहिंसाव्रतके अन्तर्गत 'आलोयभोयणं' ( मूलाचार ५ । १४०; भगवती आराधना ६ । १२०६ ) नामक भावनाका भी उल्लेख है, फिर भी मुनियोंको वक्रजडता[6] को देखते हुए रात्रिभोजन विरमणका पृथक्रूपेण स्पष्टतया उल्लेख आवश्यक हो गया । मूलाचार एवं भगवती आराधनाका समय प्रथम सदीसे तीसरी सदीके मध्य माना जाता है । उक्त ग्रन्थोंके आधारपर उसी समयसे महाव्रतोंकी रक्षाके निमित्त 'रात्रिभोजन विरमण' का उल्लेख अलगसे किया जाने लगा । यद्यपि यह स्मरणीय है उस समय तक 'व्रत' जैसा कोई विशेषण उसके लिये नहीं मिला था ।

माथुरी वाचना (३००–३१३ ई०) के आसपास पुन: भीषण दुष्काल[7] पडा । उसके कारण मुनिसंयममें शिथिलाचारोंकी बाढ आ गई । चैत्यवासादि शिथिलाचार पोषक मत-मतान्तर प्रभावशाली होने लगे । इसीलिये पूर्व प्रचलित राइभोयणविरत्ती' पद दशवैकालिक सूत्रमे आकर ' वए राईभोयणाओ वेरमण' ( व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् ) के रूपमे स्थिर हो गया अर्थात् दशवैकालिकने उसे पृथक रूपमे व्रत घोषित कर दिया । इतना ही नहीं मूलाचार एवं भगवती० मे जहाँ मात्र १–१ गाथामे ही रात्रिभोजनसे उत्पन्न दोषोंका वर्णन किया गया वहाँ दशवैकालिकमे रात्रिभोजनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोषोंका वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है[8] । इस प्रसंगमे यह बात ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्रके सभी भाष्यकारोंने भले-ही रात्रिभोजन विरमणको छठवाँ व्रत अथवा अणुव्रत न माना हो किन्तु रात्रिभोजनके दोषोंका निरूपण प्राय: दशवैकालिक सूत्रकी भाषा-शैलीमें ही किया है ।

आचार्य पूज्यपादके पूर्व रात्रिभोजन विरमणको छठवें अणुव्रतके रूपमें किसी स्थानपर वर्णित किया गया है, ऐसा उल्लेख प्रस्तुत पंक्तियोंके लेखकको अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ । प्रतीत होता है कि पूज्यपादने दशवैकालिकमें प्रयुक्त 'वए' ( व्रत ) पदका अर्थ अणुव्रत कर लिया एवं उसके खण्डनमें अपने विचार प्रस्तुत किये हैं । पूज्यपादकी यही परम्परा उस श्रेणीके सभी विचारकोंने एक स्वरसे अपनाई है ।

पूज्यपादके नेतृत्वमें उनकी परम्पराके आचार्योंने यद्यपि रात्रिभोजन विरमणको छठवाँ अणुव्रत माननेसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया किन्तु मूलाचार, भगवती० एवं दशवैकालिककी परम्परा क्रमश: विकसित होती रही । उसका पूर्ण

१. दे० अनेकान्त १५ । १ । २१ ।
२-३. शोलापुर ( १९३५ ) संस्करण । दोनों टीकाएँ एक साथ प्रकाशित ।
४. अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई ( वि० सं० १९८९ ) संस्करण ।
५. जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज ( वाराणसी १९६५ ) पृ०. २९ ।
६. मूलाचार ७।३८. तथा उत्तराध्ययन सूत्र २३।२६ ।
७. जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज पृ० २९ ।
८. दे० दशवैकालिक ३।२; ४।१६–१७; ६।२५ ।

विकास १३ वीं सदीमें पं० आशाधरके समयमें दृष्टिगोचर होता है। प्रतीत होता है कि मुनि आचारमें शिथिलाचार कम होनेकी अपेक्षा और अधिक वर्द्धिगत होता रहा जिसके फलस्वरूप पूर्वोक्त चतुर्थ श्रेणीकी विचारधारावाले आचार्योंको छठवें अणुव्रतका दृढ़ताके साथ विधान करना पड़ा। इस परम्पराको विकासवादी परम्परा कहा जा सकता है क्योंकि उसने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावनाका ध्यान रखते हुए उनके विरोधमें कोई गठबन्दी नहीं की। अपितु अपनी समन्वयबुद्धिसे साधु-आचारमें भविष्यमें आनेवाली किसी बड़ी भारी दुर्घटनाको उचित समयपर सुरक्षित रख लिया।

उक्त स्वीकारोक्तिमें आर्षपरम्पराके उल्लघनका जहाँ तक प्रश्न है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। प्राचीन जैनवाङमयके सन्दर्भ इस बातके साक्षी है कि ऋषभ एवं महावीरको छोड़ अवशिष्ट २२ तीर्थंकरोंने मात्र 'सामायिक चारित्र' का उपदेश दिया है छेदोपस्थापना-चारित्रका नहीं। छेदोपस्थापना-चारित्रका उपदेश तो ऋषभ महावीरने दिया है। यथा:—

बावीसं तित्थयरा सामाइय संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुन भयवं उसहो य वीरो य॥

( मूलाचार ७।३६ पृ० ४१४ )

छेदोपस्थापना-चारित्रकी आवश्यकता क्यों पड़ी? उसका उत्तर भी मूलाचारमें इस प्रकार दिया गया है :—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चादि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥

( मूलाचार ७।३७–३८ पृ० ४१४-५ )

प्रारम्भमें सामायिक-चारित्रकी अपेक्षा अहिंसाव्रत नामक एक व्रतका कथन ही पर्याप्त था, किन्तु परवर्ती परिवर्तित परिस्थिति वश छेदोपस्थापनाका विधान किया गया और उसके प्रकाशमें उक्त प्राथमिक परिभाषाको विकसितकर व्रतके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहरूप पाँच भेद कर दिये गये। जैसा कि पूज्यपादने कहा है :—

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्।
तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते॥

( सर्वार्थसिद्धि ७।१ की सं० टी० पृ० ३४३ )

महावीर पूर्वकालमें मात्र एक अहिंसाव्रतके मान्य होनसे मूलगुणोंकी संख्या भी कम थी, किन्तु बादमें उसमें भी परिवर्त्तन हो गया। समाजशास्त्रके नियमानुसार धार्मिक मर्यादाएं एव नियम आदि समाजकी शक्तिके अनुसार उसके कल्याणके लिये बनते है एवं तत्कालीन द्रव्य, क्षेत्र, कालादिको देखकर उनका गठन किया जाता है। जैनाचारपर भी वही नियम लागू होता है। महावीरके समयमें व्यक्ति ऋजुजड थे, अतः उनके लिये कड़े नियमोंके विधानके बिना भी उनमें शिथिलाचारकी सम्भावना न थी, किन्तु महावीरके लगभग १५० वर्षबाद लोग वक्रजड होने लगे अतः धार्मिक नियमोंमें कुछ परिवर्त्तन भी आवश्यक हो गया। रात्रिभोजनविरमणको छठवें अणुव्रतके रूपमें माननेमें भी यही बात लागू होती है। इन परिस्थितियोंको देखते हुए वस्तुतः रात्रिभोजन विरमणको छठवाँ अणुव्रत माननेमें आर्ष परम्पराके उल्लंघनका दोष नहीं लगता। क्योंकि पूर्वोक्त चारों विचारधाराओंका मूल उद्देश्य सावद्य कर्म छुड़ाकर भव्यजनोंको यथार्थ मार्गकी ओर उन्मुख करना ही है।

●

# देवदर्शनमें प्रयुक्त प्रतीक

डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्री
अध्यक्ष संस्कृत प्राकृत विभाग एच० डी० जैन कालिज, आरा

•

प्रतीकोंका प्रयोग हमारे दैनिक व्यवहारोंमे होता आ रहा है। अपने मौलिक अर्थमे प्रतीक किसी व्यक्ति, विषय, घटना, सन्दर्भ या किसी क्रिया विशेषकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। भाषाशास्त्रके अनुसार प्रतीक भाषाका मौलिक एवं तात्त्विक आधार-चिह्न है, जिनसे किसी अभीष्ट अर्थमे निहित विचार, उद्वेग और इच्छाकी अभिव्यक्ति होती है। प्रतीकार्थको पृथक् कर देनेपर साधनाओंमे प्रयुक्त शब्दोंका मूल्य नगण्य रह जाता है। निस्सन्देह मनुष्य अपने सामाजिक एवं धार्मिक व्यवहारोंमे भाव, विचार और साधनाओंको गम्भीर अभिव्यञ्जनाके हेतु प्रतीकोंका प्रयोग करता है। धार्मिक क्रिया-काण्डोंमे सम्पादित होनेवाले विधि-विधानोंकी यथार्थ अभिव्यक्ति प्रतीकोंके माध्यमसे ही होती है। जिस धर्म या सम्प्रदायका जितना सशक्त आचार-व्यवहार और क्रियाकाण्ड होता है, उसमें उतने ही अधिक परिमाणमें प्रतीकोका व्यवहार पाया जाता है। तथ्य यह है कि जब सम्प्रदायोंके मान्य आचार्य बड़े-बड़े सन्दर्भों और उपकरणोंको ढोनेमें असमर्थता और गुरुताका अनुभव करने लगते हैं, तब वे साधनाओंके महत्त्व और रहस्योंको प्रतीकों द्वारा व्यक्त करनेके लिए बाध्य हो जाते है। कही-कही तो बड़े-बड़े सन्दर्भ ही घिस-पिट कर प्रतीक-रूप ग्रहण कर लेते है, इन प्रतीकोका रहस्य अधिक गम्भीर नही होता, पर इनमे विशाल अर्थ छिपा रहता है।

पौराणिक आख्यानोके मूलतथ्योकी अभिव्यक्ति अभिधेयात्मक नही होती, अत: उन्हें भी प्रतीको द्वारा अभिव्यञ्जित किया जाता है। सामान्यत. प्रतीकोंसे अभिधेयार्थमे निहित गूढ अर्थ प्राप्त किये जाते है और अभिव्यञ्जनाके वास्तविक स्तरको प्राप्त किया जाता है। कतिपय विद्वानोका मत है कि मनुष्य भावात्मक वस्तुओंकी वास्तविक सत्ताका साक्षात्कार नही कर पाता है, अत वह उन भावात्मक सत्ताओंकी जानकारीके लिए प्रतीकोंका व्यवहार करता है।

साधारणत प्रतीकोंकी उत्पत्तिके कारण उनके विशिष्ट गुण—संक्षिप्तता, स्पष्टता, प्रसादात्मकता, सौन्दर्य-ग्राह्यता, अर्थ-सबलता, व्यञ्जनात्मकता एवं रहस्योद्बोधकता, माने गये है। युगके अनुसार प्रत्येक प्रतीक मनोवैज्ञानिक नियमो, सास्कृतिक विशेषताओं एव सिद्धान्तोका द्योतक है। प्रतीकों द्वारा निम्नलिखित तथ्योंको अवगत किया जाता है .—

१. विषयकी व्याख्या—
२. विषय वस्तुसे सम्बन्धित प्रमुख इच्छा और रुचियोंका स्फोटन।
३. परोक्ष और अव्यक्त वस्तुओं, भावनाओं और रुचियोंका मूर्त्तिकरण।
४. अर्थगर्भत्व—भावात्मकताकी अभिव्यञ्जना।
५. अज्ञात या अज्ञेय मन:स्थिति, श्रद्धाबुद्धि और आत्मनिष्ठाकी अभिव्यक्ति।
६ परम्पराओं, आचार-व्यवहारो एवं यथार्थ रहस्योंकी व्यञ्जना।
७ धार्मिक संस्कार, त्याग, साहस, वीरता, संकल्प प्रभृतिके महनीय रूपोंका प्रस्तुतीकरण।
८. क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार प्रभृति विकारोका उद्घाटन।
९. साध्य और साधनके रूपो, व्यापारो एवं उनके अनुष्ठानोंकी अभिव्यञ्जना।

देवदर्शनमे प्रयुक्त होने वाले प्रतीकोके विश्लेषणके पूर्व देवदर्शनकी आवश्यकता, उपयोगिता और उसके उद्देश्यपर प्रकाश डालना आवश्यक है। विचारशील मानव आत्मोत्थानका मार्ग प्राप्त करनेके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। वह अपनी आध्यात्मिकताके विकासके लिए स्वाध्याय, सत्सङ्गति एवं वीतरागी देवोंकी उपासना आदि करता

है। भोजन, वस्त्र आदि दैनिक आवश्यकताओंके अतिरिक्त आध्यात्मिक भूख भी एक आवश्यक वृत्ति है जिसकी पूर्ति मनुष्य उपासना द्वारा करता है। उपासनाके अनेक अङ्ग है, पर इनमें देवदर्शन आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

देवदर्शन प्रत्येक गृहस्थके लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है। जैन गृहस्थके बाह्य चिह्नोंमें देवदर्शन करना, जल छानकर पीना और रात्रिभोजन त्याग करना इन तीनकी गणना की जाती है। हमारी दृष्टिसे इन तीन अंगोंमे प्रधान देवदर्शन साधन है। व्यक्ति वीतरागी शान्त मुद्राके दर्शन कर ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है, जिससे उक्त अन्य दोनों चिह्न या साधन सहजमें प्राप्त हो जाते है। देवदर्शनको सम्यक्दर्शनकी प्राप्तिका हेतु कहा है। आचार्य पूज्यपादने अपने सर्वार्थसिद्धिग्रन्थमे तिर्यञ्च और मनुष्य-गतिमे सम्यक्त्व उत्पत्तिके बाह्य साधनोंमे[1] जिनप्रतिमादर्शनको गणना की है। उनका कथन है कि नरक और देवगतिमें देवदर्शनका साधन उपलब्ध नहीं है। इस साधनकी प्राप्ति सहजरूपमें मनुष्यगतिमें ही सम्भव है। मनुष्य अपने दैनिक कर्त्तव्योंमे जिनप्रतिमादर्शनको आध्यात्मिक जागृतिका पहला पाठ मानता है। स्पष्ट है कि वीतरागी जिनप्रतिमाकादर्शन करनेवाला व्यक्ति भावातिरेकसे अपने अन्तरङ्ग कालुष्यको नष्टकर आत्मपरिणामोको निर्मल बनाता है और आत्मपरिणामोंकी यह निर्मलता ही सम्यक्त्व उत्पत्तिका कारण बनती है।

आचार्योंने देवदर्शनको समस्त पापोंको दूर करनेवाला, स्वर्गसुखको देनेवाला एवं मोक्षसुखकी प्राप्तिमें सहायक माना है।[2] ध्यानस्थ वीतरागीकी प्रतिमाके अवलोकन मात्रसे काम, क्रोधादि, विकार और हिंसादि पाप नष्ट हो जाते है और आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त होती है। जिस प्रकार सछिद्र हाथमे रखा गया जल शनैः-शनैः हाथसे गिर जाता है, उसी प्रकार वीतरागी प्रभुके दर्शनमात्रसे रागद्वेष और मोहकी परिणति क्षीण होने लगती है।[3] शुभ विचारधारा उत्पन्न हो जाती है और व्यक्तिकी आत्मामे संयम, त्याग एवं शान्तिकी लहर उत्पन्न हो जाती है। यह शुभ भावावलि ही पुण्यास्रवका हेतु है। अतः सिद्ध है कि उपादान आत्मशक्तिके उद्‌बुद्ध होते ही ध्यानस्थ प्रतिमा अवतरणका संकेत उपस्थित कर देती है।

मनोविज्ञानका यह सिद्धान्त है कि मनुष्य जैसा देखता है, वैसा सोचता है और जैसा सोचता है वैसा कर्म करता है। प्रातःकाल समस्त सासारिक क्रियाओंके पूर्व रागादि दोषोसे रहित शान्त छवि प्रभुमूर्त्तिके दर्शनसे इस प्रकारकी विचारावलि उत्पन्न होगी जिससे आरम्भ और परिग्रहमे लिप्त रहनेपर भी व्यक्ति अपने आत्मोत्थानके लिए संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति प्राप्त करनेकी दिशामे कुछ न कुछ प्रयास अवश्य करता रहेगा। अत जैन आचार्योंने देवदर्शनका महत्त्व बतलाते हुए लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयोंका कारण जिन प्रतिमादर्शनको कहा है। भूपाल कविने लिखा है—

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम्॥

(जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्र—श्लोक० १)

अर्थात् जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकालके समय जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन करता है, वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वशमे रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्धमें उसकी विजय होती है, अधिक क्या, उसे सब उत्सव प्राप्त होते है।

साधक अपने वास्तविक जीवनका आरम्भ देवदर्शनसे ही मानता है क्योंकि संसारको विषय-वासनाओंसे अरुचि, प्रभुदर्शनसे ही उत्पन्न होती है। मोक्षमार्गका पथिक देवदर्शनको विश्रामस्थल मानता है, अतः उसकी संसार-यात्राका वास्तविक आरम्भ ध्यानस्थ प्रभुके अवलोकनसे होता है। यथा—

---

१. तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरण केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम्, मनुष्याणामपि तथैव।—सर्वार्थसिद्धि १।७, पृ० १२ शोलापुर संस्करण, सन् १९३९ ई०।

२. दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम्।
दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम्॥ —दर्शनपाठ, पद्य १।

३. दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम्॥ —वही, पद्य २।

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरा-
दद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम् ।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ।

( जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्र--श्लोक ३ )

हे भगवन् ! आज आपके दर्शन करनेसे मैं कृतार्थ हो गया और मैं ऐसा समझता हूँ कि आज ही मेरे आध्यात्मिक जीवनका आरम्भ हो रहा है । मेरे ज्ञाननेत्र खुल गये हैं और मैं अनुभव कर रहा हूँ कि विषय, कषाय और अज्ञानके कारण अबतक मेरी शक्ति कुंठित हो रही थी । मिथ्यात्वने मेरी ज्ञानदृष्टिको अवरुद्ध कर दिया था, पर आज मेरा जन्म सफल हुआ है । जो मङ्गलवस्तुका दर्शन करना चाहता है उसके लिए प्रभुदर्शनसे बढ़कर अन्य कोई भी माङ्गलिक वस्तु नहीं हो सकती है । यह संसारका नियम है कि प्रातःकाल मङ्गलवस्तुका अवलोकन करना चाहिए, इससे मन प्रसन्न रहता है और कार्य करनेकी क्षमता वृद्धिङ्गत होती है । भूपाल कविने लिखा है—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥ (जिनचतुर्विंशतिकास्तोत्र श्लोक १९)

दर्शक ध्यानमुद्रामें स्थित मूर्त्तिको जड़ नहीं मानता है । उसकी दृष्टिमे मूर्त्ति सचेतन है जो संसारसागरमे पार होनेकी प्रक्रियाका उपदेश देती है । और मूर्ति है वह दर्पण जिसमें दर्शक अपने स्वरूपका अवलोकन कर विचार करता है कि प्रभो ! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है, निश्चय नयसे मेरी आत्मा भी वैसी ही विशुद्ध है । पर वर्त्तमानमें कर्मोदयके कारण यह अशुद्ध हो रही है । यदि मैं आपके रास्तेपर चलनेका प्रयत्न करूँ तो मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जायगी । जैसे कोई व्यक्ति मन्त्रपूत जलका पानकर श्रद्धावश विषविकारसे मुक्त होता है और स्वास्थ्यलाभ करता है, उसी प्रकार वीत-रागी प्रभुका दर्शन और चिन्तन करनेमें आत्मविशुद्धिकी भावना उत्पन्न हो जाती है । व्यक्ति अपने पुरुषार्थमें आगे बढ़ जाता है । कुमुदचन्द्रने उक्त तथ्यकी विवेचना करते हुए 'कल्याण-मन्दिरस्तोत्र'में लिखा है—

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्धया
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किन्नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ —श्लोक-१७

## उद्देश्य

देवदर्शन करनेका लक्ष्य रत्नत्रयकी प्राप्ति है । संसारके प्रपञ्च और भोगोंमें उलझे हुए व्यक्तियोंको आत्म-स्वरूपका स्मरण दिलाना एवं कर्त्तव्यकर्मकी ओर प्रेरित करना भी उद्देश्यके अन्तर्गत है । आत्मामें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके विकल्प और विकार अनादिकालसे चले आ रहे है, इन विकारोंको दूर करनेका प्रयत्न अनेक बार किया गया, पर सफलता नहीं मिली । इस प्रकार यह आत्मा अनन्तकालसे भवभ्रमण करता चला आ रहा है । हमारे मनमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न होते है और वे आत्माको मलिनकर विलीन हो जाते है, पर यह सब क्यों होता है इस तथ्यको अवगत करनेके लिए अपने व्यस्त जीवनमेंसे कुछ क्षण निकालकर जिन मन्दिरमें ध्यानस्थ प्रभुकी निर्विकारी मुद्राका दर्शन करनेसे आत्मोल्लास उत्पन्न होता है । जीवनको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जानेका मार्ग दिखलाई पड़ता है । और विकार तथा कषायोंको जीतनेके लिए प्रेरणा प्राप्त होती है । कर्मावरणके कारण आत्मा संसारमे परिभ्रमण कर रहा है, पर वीतरागीकी मूर्त्तिका दर्शन आत्मसत्ताकी आस्था उत्पन्न करता है और पुरुषार्थके लिए प्रेरणा देता है । मूर्त्ति आत्माका प्रतिरूप है । उसके अवलोकनसे उपादानकी कार्यकारिणी शक्तिका बोध होता है, जड़-चेतनका भेदविज्ञान प्राप्त होता है, आत्मा-अनात्माका वास्तविक रहस्य ज्ञात होता है, एवं अहन्ता एवं ममताके बन्धनसे छुटकारा प्राप्त करनेकी ओर सङ्केत मिलता है । आत्मबोध एवं चेतनाबोध प्राप्त करनेका प्रमुख साधन इस पञ्चमकालमे जिन-प्रतिमा

है[1]। यह मन, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर आदिसे भिन्न आत्मानुभूति उत्पन्न करती है। अनन्तकालसे पुद्गलके प्रति जो आसक्ति या ममता है उसे दूर करनेके लिए तथा संयमकी प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके लिए देवदर्शनसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं।

जैसे श्रान्त और क्लान्त व्यक्तिको कोई उसकी शक्तिका परिज्ञान कराता है, उसके यथार्थस्वरूपका उसे स्मरण दिलाता है, उसी प्रकार जिनप्रतिमा विस्मृत पुरुषार्थकी याद दिलाती है, युगोंसे भूले हुए आत्मपुरुषार्थकी ओर ध्यान आकृष्ट करती है।

चिन्तन और अनुभव करना आत्माका सहज स्वभाव है। अशुभ चिन्तनका बुरा प्रभाव और शुभ चिन्तनका अच्छा प्रभाव होता है। ध्यानस्थ मूर्त्तिके समक्ष आभ्यन्तरकी ध्वनि सुननेमें सरलता होती है। भीतरसे यह अनुभव होता है कि चित् शक्ति अनन्त है। काम, क्रोध, घृणा, वासना, लोभ आदि इस शक्तिको सर्वथा विकृत नहीं कर सकते। विकार और विकल्प अपने नहीं है। ये परसंयोगसे उत्पन्न हुए हैं। मैं तो स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध और अनन्त शक्तिधारी हूँ। मेरे उपादानको विकृत करनेकी क्षमता परसंयोगमें नहीं है। जब मेरा पुरुषार्थ आरम्भ हो जायगा तो विकारोंकी कड़ियाँ टूटनेमें देर नहीं लगेगी। जब तक मैंने परको अपना समझ रखा है, तभी तक मुझे कष्ट है और मैं बन्धनमें हूँ। जब मैं परको पर और स्वको स्व समझने लगूँगा तब मुझे बन्धनमें फँसाने वाला कौन हो सकता है।

यह ध्यानस्थ मूर्त्ति 'मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कैसा हूँ? और मुझे अब क्या करना है?' आदि गुत्थियोंको सुलझाने का सङ्केत दे रही है। कल्पकालोंसे विस्मृत अपने स्वरूपकी याद दिला रही है। इसकी यथार्थ प्रेरणाको समझना तभी सम्भव है जब वीतरागी दर्पणमें अपने स्वरूपका अवलोकन किया जाय और भौतिकवादी दृष्टिकोणको अध्यात्मवादी दृष्टिकोणके रूपमें परिवर्तित किया जाय।

विश्वास, विचार और आचारका शोधन, प्रकाशन एवं विकास करना ही देवदर्शनका लक्ष्य है। मिथ्यात्व-तिमिरने अनन्तकालसे हमारी आत्मशक्तिको प्रसुप्त कर दिया है। देवदर्शनसे यह शक्ति प्रबुद्ध होती है और आत्मोद्बोधनकी प्रेरणा प्राप्त होती है। शान्ति और वीतरागता अपने भावोंमें उतारी जा सकती है। दर्शककी आत्मा दीन, हीन और भिखारिणी नहीं। वह मोक्ष प्राप्तिकी योग्यतासे पूर्ण है। इस योग्यताके विकासका पाठ देवप्रतिमा सिखलाती है। जो सजग दर्शनार्थी हैं, उन्हें उक्त पाठको याद करनेमें कठिनाई नहीं होती, पर जो प्रमादी या अविवेकी दर्शनार्थी हुए लिखा है वे उक्त तथ्यको हृदयङ्गम नहीं कर पाते। कुमुदचन्द्रने कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें इसी तथ्यकी अभिव्यञ्जना करते हुए लिखा है—

"नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते।" —श्लोक० ३७

अर्थात्—प्रभो! मैंने मिथ्यात्वके उदयसे अन्धे होनेके कारण कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आज ये दुःख मुझे दुःखी कैसे करते? क्योंकि आपके दर्शन करनेवालोंको कभी कोई भी कष्ट नहीं सहन करना पड़ता। हाँ, यह सम्भव है कि मैंने आपका दर्शन यथार्थ रूपमें न किया हो और मिथ्यात्व, असंयम आदिमें अन्ध बन जैसी प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए थी वैसी न प्राप्त की। जब मैं अपने स्वरूपका विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने भक्तिभाव पूर्वक आपका दर्शन नहीं किया, यही कारण है कि मैं जन्म-जन्मान्तरोंसे जन्म-मरणका कष्ट सहन करता चला आ रहा हूँ—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥
—कल्याणमन्दिरस्तोत्र श्लोक० ३८

---

१. धिग्दुष्षमाकालरात्रिं, यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात्, प्रायो देवविशा मतिः॥
सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक ३६।

स्पष्ट है कि देवदर्शनका वास्तविक लक्ष्य सम्यक्त्वकी प्राप्ति है। मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वभावतः बहिर्मुख है। वह सामान्यरूपसे बाह्य विषयोंको ही देखता है, अपनी अन्तरात्माको नहीं। देवदर्शन मनुष्यकी इस बाह्य प्रवृत्तिको अन्तर्मुखी बनाता है, ध्यानस्थ प्रतिमाका संसर्ग ध्यानी बननेके लिए चेतावनी देता है और रागद्वेष, मोहको जीत परमपद प्राप्त करनेके लिए संकेत करता है।

## देवदर्शनमें प्रयुक्त प्रतीक

देवदर्शन करनेकी प्रणाली स्थान या नगर विशेषकी परम्पराओंके अनुसार कुछ बातोंमें भिन्न भी हो सकती है, पर साधारणतः देवदर्शनमें प्रयुक्त क्रिया-व्यवहार सभी स्थानोंमें तुल्य रूपमें ही पाये जाते हैं। इन क्रिया-व्यवहारोंमें प्रयुक्त होनेवाले प्रतीक खण्ड निम्न प्रकार हैं—

१. दर्शनीय प्रतिमा या चैत्य।
२. चैत्यालय।
३. दर्शन करनेके लिए मन्दिरमें प्रवेश करते ही 'ॐ जय-जय-जय' का उच्चारण।
४. 'निःसही, निःसही, निःसही' का उच्चारण।
५. हाथ जोड़, मस्तकसे लगाकर त्रि-आवर्त।
६. अक्षत चढ़ाते समय बायें हाथसे पाँच पुंजोंकी रचना।
७. पाँच पुंजोंके ऊपर स्वस्तिक निर्माण।
८. स्वस्तिकके ऊपर पुनः चार पुंज रचना।
९. उक्त चार पुंजोंके ऊपर अर्धचन्द्रका निर्माण।
१०. खड्गासन मुद्रामें नव बार णमोकार मन्त्रका जाप।
११. पंचांग या अष्टांग नमस्कार।
१२. त्रिप्रदक्षिणा।
१३. जाप—मालाद्वारा या हस्तमुद्राओं द्वारा जाप।
१४. स्वाध्याय।

## दर्शनीय प्रतिमा या चैत्य

देवदर्शनका आधारभूत देवप्रतिमा है। यह सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी ध्यानावस्थित अर्हन्तका प्रतीक है। प्रतीक-परम्परामें कुछ ऐसे विशेष प्रतीक माने गये हैं जो अपने मूल स्वरूपको यथार्थ रूपमें प्रस्तुत करते हैं। विकसित सुमन प्रतीक, भावप्रतीक बन जानेमें सुख और आह्लादका द्योतन करता है, पर जिनप्रतिमा ऐसा साभिप्राय प्रतीक है जो समवशरणमें स्थित धर्मोपदेश देनेवाले तीर्थङ्करका प्रतिनिधित्व करती है और अर्हन्तकी उस स्थितिको उपस्थित करती है, जिस स्थितिमें वे कर्मकालिमासे लिप्त जीवोंको पुरुषार्थ जागृतिके लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रतीकका वास्तविक रूप कवि अर्हद्दासने अपने 'भव्यजनकण्ठाभरण' में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

> संसारदुःखातपतप्यमानसमस्तसत्त्वच्छलसस्यपुष्टेः ।
> निदानमच्छात्मयथार्थवादितीर्थामृतस्यन्दनमद्वितीयम् ॥१२९॥
> संसारितासूचकरागरोषमोहादिदोषप्रकटस्य सत्त्वे ।
> सर्वत्र सत्ता पिशुनाम्बुजाक्षीशस्त्राक्षमालाभरणाद्यभावः ॥१३०॥
> आच्छिद्य दोषानपि घातिकर्माण्याद्यो विभूत्यातिशयैश्च सर्वम् ।
> जानात्ययं पश्यति निश्चिनोति शास्त्येत्यनन्तं शमनन्तशक्तिम् ॥१३२॥

आचार्य समन्तभद्रने वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशता इन तीन गुणोंको आवश्यक माना है। इन गुणोंके अभावमें न कोई देव हो सकता है और न कोई अर्हन्त ही। अर्हन्त क्षुधा, तृषा, जरा, जन्म, मरण, रोग, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिन्ता एवं स्वेद इन अष्टादश दोषोंसे रहित होते हैं। मन्दिरकी प्रतिमा जो कि प्रतीक रूपमें है, देवके उक्त गुणोंकी और उक्त दोषोंके अभावकी अभिव्यञ्जना करती है। यह प्रतीक ध्यानमुद्रामें स्थित रहनेके कारण स्वयं भी अर्हन्त तुल्य है, अतः दर्शक जिस प्रकार समवशरणमें स्थित अर्हन्तका उपदेश सुन लाभान्वित

होता है, अथवा अर्हन्तके दर्शनमात्रसे अपने कालुष्यको दूर करता है, उसी प्रकार यह मन्दिरकी प्रतिमा भी दर्शकके मनमें स्व-परके भेदविज्ञानका आलोक भर देती है।

## चैत्यालय

चैत्यालय प्रतीक आगम प्रसिद्ध समवशरणका द्योतक है। जिस प्रकार समवसरणके द्वारपर पहुँचते ही अहङ्कार विगलित हो जाता है, लोकैषणाएँ विलीन होने लगती है, उसी प्रकार चैत्यालयमें प्रवेश करते ही सांसारिक वासनाएँ क्षीण होने लगती है और आत्मबोधकी किरणे आलोक विकीर्ण करने लगती है। जिस प्रकार सूर्यकी रश्मियाँ अन्धकारको विच्छिन्न कर आलोकका मार्ग प्रस्तुत करती हैं उसी प्रकार चैत्यालयका अवलोक बहिरात्मामें अन्तरात्मा होनेके लिए प्रेरणा देता है और बहिरात्मताका कारण मिथ्यात्व क्षीण होने लगता है। चैत्यालयके भीतर रहनेवाले दर्शनार्थी समवशरणकी द्वादश-सभाओंके सभासदोंके प्रतीक हैं। श्री पण्डित आशाधरजीने अपने 'सागारधर्मामृत'में उक्त प्रतीकका विश्लेषण करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

सेयमास्थायिका सोऽयं, जिनस्तेऽमी सभासदः।
चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान्॥ ६। १०॥

स्पष्ट है कि चैत्यालय समवशरणका साङ्गोपाङ्ग प्रतीक है। इसकी समस्त विशेषताएँ समवशरणसे समता रखती है। 'दृष्टाष्टकस्तोत्र'में भी बताया है—

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मीधामर्द्धिवर्द्धितमहामुनिसेव्यमानम्।
विद्याधरामरवधूजनमुक्तदिव्यपुष्पाञ्जलिप्रकरशोभितभूमिभागम् ॥ २॥

तथ्य यह है कि उक्त दोनों प्रतीक आत्मबोध उपस्थित करते हैं। इस कथनका स्पष्टीकरण एक उदाहरण-द्वारा किया जा रहा है जिसमें बताया गया है कि एक सिंहनी सिंहशावक प्रसव करनेके पश्चात् मृत्युको प्राप्त हो गयी। वह सिंहशावक भेड़के झुण्डमें संवर्द्धित होने लगा। जब वह बड़ा हुआ तो भेड़ो जैसा आचरण करने लगा। वह घास-पात खाता और उन्हीके समान हिंसक पशुओंसे डरता था। एक दिन वहाँ एक सिंह आया जिसे देखते ही अन्य भेड़ोंके साथ वह भेड़सिंह भी भाग गया। उसे भागते हुए देखकर उस सिंहको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा कि यह सिंह भेड़ोंके बीच क्यों रह रहा है और क्यों उसकी इस प्रकारकी प्रवृत्ति हो गयी है। इसे किसी प्रकार समझाकर रास्ते पर लाना चाहिए। अतः वह सिंह एक दिन एकान्तमें सोते हुए उस भेड़सिंहके पास पहुंचा और कहने लगा—'भाई! तुम सिंह होकर क्यों भयभीत होते हो? तुम भी तो मेरे ही समान शक्तिशाली हो। भेड़सिंह बोला—'नही, मैं तो भेड़ हूँ, सिंह कैसे हो सकता हूँ?' इस उत्तरको सुनकर उस सिंहने उसे एक सरोवरके तटपर ले जानेका प्रयास किया और वहाँ पहुँचकर वह बोला—'देखो, यहाँ मेरा और अपना प्रतिबिम्ब।' जब भेड़सिंहने दोनों प्रतिबिम्बोंको ध्यानमें देखा और तुलना की तो वह शीघ्र ही समझ गया कि मैं सचमुच ही सिंह हूँ।

इस उदाहरणमें प्रतिपादित प्रतिबिम्बको देखकर जिस प्रकार भेड़सिंहको अपनी शक्तिका विश्वास प्राप्त हुआ, उसी प्रकार ध्यानस्थ शान्तिमयी, वीतरागी मूर्त्तिके दर्शनमें निजात्माकी शक्तिकी आस्था उत्पन्न होती है। प्रतीक रूप देवप्रतिमा दर्शकको बतलाती है कि तुम्हारी आत्मामें अर्हन्तके समान ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य अवस्थित है। उन्हे प्रादुर्भूत करना ही जीवात्माका यथार्थ पुरुषार्थ है।

## 'जय, जय, जय' का उच्चारण

यह प्रतीक अपने भीतर देवत्व-वीतरागताके विकासका सङ्केत प्रस्तुत करता है। जो जितेन्द्रिय या जितमोह है, जिनकी भोगाभिलाषा क्षीण हो गयी हैं, वास्तविक जय उन्हीकी मनायी जा सकती है। परद्रव्योंमें जब तक मोह, ममता या इष्ट-अनिष्ट बुद्धि लगी रहती है, तब तक व्यक्ति देवत्वके निकट नही पहुँच पाता है। इन्द्रिय और कषाय जय ही सच्चे सुखका साधन हैं। अतः तीन बार उच्चरित जयशब्द ऐसा शब्द प्रतीक है जो दर्शकको कर्मसंस्कारसे मुक्त होकर विराट् बननेकी व्यञ्जना करता है। जीवात्मा, चैत्यालयमें भक्तिभावपूर्वक अपने अन्तरङ्ग मलको क्षीण कर पतितसे पावन बन सकता है, हीन होकर भी महान् बन सकता है। इसके लिए आवश्यक यह है कि अपने उपादानके प्रति विश्वासको जागृत करना होगा। यदि अपनेमें विश्वास नही है तो संसारकी कोई भी शक्ति उत्थान नही कर सकती, और न विकासके मार्ग पर ही ले जा सकता है। यह प्रतीक भवबन्धनसे मुक्त होनेके लिए मुखर सन्देश दे रहा है।

कमजोरी किस प्रकार 'जय' में परिणत हो सकती है, यही तो इसका वास्तविक बोध है। 'जय' शब्द तीन बार व्यवहृत होनेसे इस बातकी व्यञ्जना करता है कि जीवन चाहे अन्धकारसे कितना ही आच्छन्न क्यों न हो, उसे प्रकाशमय बनाना व्यक्तिके हाथमें है। लक्ष्यसे दूर गया हुआ व्यक्ति भी दृढ़ श्रद्धा-द्वारा अपने लक्ष्यको पुनः प्राप्त कर सकता है। अतः तीन बार उच्चारण किया गया 'जय' शब्द सावधानी, सजगता, सङ्कल्प और श्रद्धाका प्रतीक तो है ही, साथ ही मन, वाणी और कायसे अपनी अशुद्धिको शुद्धिके रूपमें परिवर्तित करनेका भी अर्थ प्रस्तुत करता है।

## निःसही, निःसही, निःसही

यह भी शब्द प्रतीक है। इससे माया, मिथ्यात्व और निदानको दूर करनेका भाव प्रकट होता है। दर्शक जिनालयमें प्रवेश करते ही उच्चारण करता है—हटो, हटो, हटो। अर्थात् अन्तरङ्गमें समाविष्ट राग, द्वेष और मोहको ललकारता है और व्यक्त करता है कि अब मैं अपने वास्तविक स्वरूपको समझ गया हूँ अतः व्रती बननेमें बाधक तीनों शल्योंको निकाल बाहर करूँगा। इन विकारोंने बहुत दिनोंमें मेरी आध्यात्मिक शक्तिको मलिन कर रखा है। इन्हींके कारण अनादिसे यह आत्मा सुख-दुःखकी अंधेरी गलियोंमें भटकती आ रही है, पर अब इन्हें दूर किये बिना मुझे चैन नहीं। अतः वह इनको हटने, दूर करनेके लिए आवाज देता है, इन्हें फटकारता है तथा तन, मन और इन्द्रियोंके भोगोंसे ऊपर उठकर अपने ही विशुद्ध स्वरूपको समझनेका प्रयास करता है। यह प्रतीक वस्तुतः अन्तरङ्ग विकारोंको दूरकर व्रती बननेके लिए बोध वाक्यके रूपमें उपस्थित होता है। यह वस्तुतः जीवनको समझनेकी प्रक्रिया है। और है, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कुण्ठाओंको अवगत करनेकी सफल कुञ्जिका। प्रतिमा, प्रत्यगात्मा बननेका सन्देश देती है और यह प्रतीक प्रत्यगात्मा बननेमें उपस्थित बाधक कारणोंको दूर करनेका सन्देश देता है। विकार और वासनाओंके उन्मूलनकी प्रेरणा देता है। जिस प्रकार वृक्षको जड़से उत्पाटित कर देनेपर पुष्प, फल और शाखा-प्रशाखाएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं उसी-प्रकार माया, मिथ्यात्व और निदानके दूर हटते ही आत्मामें व्रतोंका आलोक व्याप्त हो जाता है। ये तीनों दोष अनादिसे आत्मामें चले आ रहे हैं। इन्हें दूर करनेका यह अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। पण्डित आशाधरजीने उक्त विकारोंके अनादि भावका विवेचन करते हुए लिखा है—

> अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
> शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः, सागाराः विषयोन्मुखाः ॥
> अनाद्यविद्यानुस्यूतां, ग्रन्थसञ्ज्ञामपासितुम् ।
> अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥

—सागारधर्मामृत १-२, ३

उपास्य वीतरागी देवके समान उपासना भी वीतराग भावसे होनी चाहिए। यह तथ्य भी इस प्रतीकमें निहित है।

## त्रि-आवर्त

यह प्रतीक जन्म, जरा और मृत्युका बोध उपस्थित करता है। संसारके दुःखोंमें ये तीन ही ऐसे दुःख हैं जिनसे छुटकारा प्राप्त करना सहज नहीं। अतः जब व्यक्तिको यह बोध हो जाता है कि पंच परावर्त्तन माया, मिथ्यात्व और निदानके कारण हैं, और इन परावर्तनोंमें सबसे बड़ा कष्ट जन्म-जरा और मृत्युका है तब व्यक्तिमें स्वावलम्बनकी प्रवृत्तिका संचार होता है और जीवन शोधनकी अध्यात्मकला विकसित होती है। देवदर्शनमें प्रयुक्त यह प्रतीक रोगके अस्तित्वकी सूचना देकर मानसिक दुर्बलताको दूर करनेके लिए प्रेरित करता है तथा आत्मोत्थानके पुरुषार्थमें भी प्रवृत्त करता है। दर्शन-पाठमें इस प्रतीककी ओर संकेत करते हुए कहा है—

> जन्म-जन्मकृतं पापं जन्मकोटिमुपार्जितम् ।
> जन्म-मृत्यु-जरा-रोगं हन्यते जिनदर्शनात् ॥

—दर्शनपाठ पद्य १२

जन्म, जरा और मृत्युसे ग्रस्त व्यक्तिको त्रि-आवर्त प्रतीक चेतावनी देता है कि—

> मरणमेति विनश्यति जीवितं श्रुतिरटौति जरा परिवर्द्धते ।
> प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः ॥११७॥
> जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
> तदपि धर्ममतिं विदधाति नो रमसमना विषयाकुलितो जनः ॥११८॥

—अमितगत्याचार्य विरचित सामायिक पाठ

इस प्रतीकका संकेत है कि अब ऐसे पुरुपार्थमें प्रवृत्त होना चाहिये जिससे जन्म-जरा और मृत्युरूप दुःख फिर न उठाने पड़ें। महासेनाचार्यने लिखा है—

> **क्रोधशोकभयोन्मादमृत्युजन्मजरमथम्।**
> **संसरावो न संसारं पुनर्येन तथा कुरु ॥** —प्रद्युम्नचरित ६-८३

## पञ्चपुञ्ज

अक्षतके पाँच पुञ्ज पञ्चपरमेष्ठीके प्रतीक हैं। ये पुञ्ज मंगलरूप आराध्य पञ्च परमेष्ठीके स्वरूप गुणको उपस्थित करते हैं। सातिशय पूजायोग्य होनेसे अर्हन्त कहलाते हैं क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकोंमें देवों-द्वारा की गयी पूजाएँ देव, असुर और मनुष्य प्राप्तिकी पूजाओंमें अधिक है। अतः इन अतिशयोके योग्य होनेसे अर्हन्त कहलाते है, अथवा कर्मरूपी शत्रुओंके नाश करनेसे तथा कर्मरूपी रज न होनेसे अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टयके प्राप्त होनेपर इन्द्रादिके द्वारा निर्मित पूजाको प्राप्त होनेवाले अर्हन्त हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारो घातिया कर्मोके नष्ट होनेसे अनन्तचतुष्टय विभूति जिन्हें प्राप्त हो गयी है, वे अर्हन्त है। अर्हन्त अपने दिव्य ज्ञान द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंकी समस्त अवस्थाओंको प्रत्यक्षरूपसे जानते है। अपने दिव्य दर्शन द्वारा समस्त पदार्थोका सामान्य अवलोकन करते है। क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष आदि अठारह दोषोंके न रहनेके कारण परम शान्त होते है, इनके वचनोंसे लोकमे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती है। इनमे प्रभुताके अनेक चिन्ह वर्तमान रहते है[1]।

जो पूर्णरूपसे अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य है, जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके है, वे सिद्ध परमेष्ठी हैं। समस्त परतन्त्रताओंसे छूट जानेके कारण ये मुक्त भी कहलाते है। *सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व* ये आठ गुण इनमें प्रतिष्ठित रहते हैं। ये निरञ्जन है, नित्य हैं, और पूर्ण ज्ञानदर्शन और सुखसे युक्त है[2]।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराते है, उन्हें आचार्य कहते है। जो चौदह विद्यास्थानोंमें पारङ्गत हों, ग्यारह अङ्गके धारी हों अथवा आचाराङ्ग मात्रके धारी हों, या तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारङ्गत हों, मेरुके समान निश्चल हो, पृथ्वीके समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहर निकाल दिया हो और जो सात प्रकारके भयसे रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।[3]

आचार्य परमेष्ठीके ३६ मूलगुण होते हैं—बारह तप, दश धर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक और तीन गुप्ति। इन छत्तीस मूलगुणोंका अत्यन्त सावधानीपूर्वक ये पालन करते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी वे है जिनके पास अन्य मुनिगण अध्ययन करते हैं जो सूत्रोंके क्रमानुसार जिनागमका स्वयं अध्ययन करते है और अन्य मुनियोंको अध्ययन कराते है। उपाध्याय जैनागमके ज्ञाता होनेके कारण मुनिसंघमें पठन-पाठनके अधिकारी होते हैं। शास्त्रोंके समस्त शब्दार्थोंको जानकर आत्मध्यानमें लीन रहते हैं[4]।

जो सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रके द्वारा मोक्षमार्गकी साधना करते है, अठारह हजार शीलके भेदोंका पालन करते हैं तथा समस्त प्राणियोंके प्रति समान बुद्धि रखते है, वे साधु परमेष्ठी है, जो विरक्त समस्त परिग्रहको त्याग शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्मको स्वीकार करते है तथा शुद्धोपयोगके द्वारा अपनी आत्माका अनुभव करते हैं, पर पदार्थोंमें

---

१. आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्दीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन विश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः। तेभ्योऽर्हद्भ्यो नम इति यावत्।'

—धवलाटीका, प्रथम पुस्तक पृष्ठ ४५।

२. अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥—गोम्मटसार-जीवकाण्ड-गा० ६८।

३. पञ्चविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः। चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः आचाराङ्गधरा वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।—धवलाटीका—प्रथम पुस्तक पृ० ४८।

४ उपाध्यायेभ्यः उप एत्य समीपमागत्य येभ्यः सकाशादधीयन्ते इत्युपाध्यायास्तेभ्यः इति अथवा उप—समीपे अध्यायो—द्वादशाङ्गस्य यथाः पठनं सूत्रतोऽर्थतश्च येषां ते उपाध्यायाः तेभ्यः उपाध्यायेभ्यः नमः। —समाधिमरणानि पृ० ४।

ममत्वबुद्धि नहीं करते तथा ज्ञानादि स्वभावको अपना मानते हैं, वे मुनि हैं। मुनिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। शरीरमें रोग, बुढ़ापा आदिके होनेपर तथा बाह्य निमित्तोंका संयोग प्राप्त होनेपर भी वे सुख-दुःख नहीं करते हैं। शरीरको सजाना, शृंगार करना आदिसे सर्वथा पृथक् रहते हैं। उनके अन्तरङ्गमें अहिंसा भावना सदा वर्तमान रहती है तथा बहिरङ्ग में सौम्य दिगम्बर मुद्रा। ये ज्ञान, ध्यान और स्वाध्यायमें सर्वदा लीन रहते है, बाईस परीषहोंको निश्चल होकर सहन करते हैं[1]। पञ्च पुञ्जरूप प्रतीक पञ्च परमेष्ठीका उक्त स्वरूप प्रस्तुत करता है और तद्वत् बननेके लिए प्रेरणा देता है।

## स्वस्तिक

स्वस्तिक माङ्गल्य प्रतीक है। इसकी चारो भुजाएँ चारों गतियोंकी सूचक हैं। जब चतुर्गति दु.ख समाप्त हो जाता है तो परम मङ्गलकी प्राप्ति होती है। स्वस्तिक प्रतीक भी इसी तथ्यकी अभिव्यञ्जना करता है। आशय यह है कि स्वस्तिककी चारों भुजाएँ चारों गतियोंके दुःखोंका स्मरण दिलाकर प्राप्त मानव पर्यायको संयम ग्रहण द्वारा सार्थक बनानेका सङ्केत प्रस्तुत करती है। जीव जिस समय जिस अवस्था-पर्याय-शरीरमें रहता है, उस समय उसकी वह गति मानी जाती है। जीवकी अवस्थाविशेषको ही गति कहा गया है। अपने शुभ-अशुभ बन्धके अनुसार ही जीवको गतिकी प्राप्ति होती है। तीव्र पापोदयसे नरक, परम शुभोदयसे देव, पापोदयसे तिर्यञ्च और शुभोदयसे मनुष्यगतिकी प्राप्ति होती है। संयम और तपश्चरण-द्वारा मनुष्य इन गतियोंके बन्धनोंको तोड़ सकता है।

मनुष्य गतिका सर्वाधिक महत्त्व इसीलिए है कि इस गतिमें जीव चारों गतियोंको तो प्राप्त कर ही सकता है, पर सिद्धावस्था भी इस गतिसे प्राप्त की जा सकती है। संयम धारण करनेकी सुविधा या योग्यता मानव पर्यायमें ही निहित रहती है। अतः विचारशील मानवको यह स्वस्तिक अपनी साधना-द्वारा परम माङ्गल्यरूप निर्वाण प्राप्तिके लिए प्रेरित करता है। जो व्यक्ति विषयासक्त हो सांसारिक भोगोंमें अपने जीवनको समाप्त कर देते है, वे इस प्रतीकके सङ्केतसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

## चार पुञ्ज

आत्मा, शरीर ( काय ), वाणी—वचन और मनकी सहयोगी स्थितिरूप जीवनकी व्याख्या इस प्रतीक-द्वारा प्रस्तुत की गयी है। जीवन स्व-आत्मा और पर-शरीर, वाणी और मनका संगम है। स्व-परके संगमसे बनी हुई संस्था ही तो व्यक्तित्व है। यह प्रतीक व्यक्तित्व विकासकी व्याख्या करता है। स्व-परके भेदानुभवसे प्राप्त होनेवाली निजप्रतीतिकी ओर संकेत करता है। आत्मा चेतन है और संसारके समस्त पदार्थ अचेतन है। चेतन आत्माका अचेतन कर्मोंके साथ सम्पर्क होनेके कारण ही मन वचन और कायरूप योगकी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यह योग ही कर्मास्रवका कारण है। आस्रव कषायके हीनाधिक्यके कारण तीव्र या मन्दरूप बन्धकी स्थितिको प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मबन्धनमें संसारकी परम्परा चलती है।

कर्मबन्धकी प्रक्रियाका आशय यह है कि जीव-द्वारा किये गये राग-द्वेष, मोहरूप परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वत कर्मरूपमें परिणत हो जाते हैं। जीव अपने चैतन्यरूप भावोंसे स्वतः परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरेके परिणमनमें निमित्तमात्र होते हैं। इस प्रकार अनादिकालीन कर्मपरम्पराके निमित्तसे आत्मामें रागद्वेष, मोहकी प्रवृत्ति होती है, जिससे मन वचन और कायमें अद्भुत हलन-चलन होता है तथा राग, द्वेषरूप प्रवृत्तिके परिमाण और गुणके अनुसार पुद्गल द्रव्यमें परिणमन होता है और वह आत्माके कार्माण—वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें आकर मिल जाता है। इस प्रकार कर्मोंमें रागादिभाव और रागादिभावोंसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है[2]। पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयमें राग-द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते है। उनमें आसक्ति या लगन होनेसे नवीन कर्म बनते है। जो व्यक्ति आत्मा और मन, वचन, कायकी विभिन्न प्रवृत्तियोंको अवगत कर लेता है और अपने योगको शुभ और अशुभ होनेसे रोकता है वही वास्तविक सुखको प्राप्त करता है। चार पुंजरूप प्रतीक आत्मा और योगोंकी स्थिति, उनके सम्बन्ध एवं उनकी विभिन्न प्रवृत्तियोंका परिचायक है।

---

१. अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः। —धवलाटीका-प्रथमपुस्तक-पृष्ठ ५१।

२. जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १२-१३।

## अर्द्धचन्द्र

यह प्रतीक मोक्षको अभिव्यञ्जना करता है। सिद्धशिलाका आकार अर्द्धचन्द्राकार है। अतः यह अर्द्धचन्द्र मोक्षका प्रतीक है। साधक संसारके विकारोंको दूरकर मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षा करता है, अतः अर्द्धचन्द्र प्रतीक उसके समक्ष मोक्षका चित्र ही प्रस्तुत कर देता है। भूपालकविने इस प्रतीकके रहस्यका उद्घाटन करते हुए लिखा है—

इदं धाम रसायनस्य महतां इदं निधीनां पद
इदं सिद्धरसस्य सद्म सदनं इदं च चिन्तामणेः।
किं इष्टैरथवानुषङ्गिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं
इदं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं इष्टे जिनश्रीगृहे ॥

—जिनचतुर्विंशतिका-श्लोक २५

अर्थात्-प्रभुदर्शन सिद्धरस और चिन्तामणिके समान परम उपकारी है। यह परम्परया मुक्ति-प्राप्तिका भी कारण है। अर्द्धचन्द्र यह स्मरण दिलाता है कि साधक केवल शुभ भावोंमे ही आसक्त न हो जाय। उसे अपने शुद्ध भावोंकी प्राप्तिके लिए भी प्रयास करना चाहिये। शुद्ध भाव ही अनन्तगुणी कर्मनिर्जराके सहायक हैं। इस तथ्यकी व्यञ्जना चैत्य-भक्तिके निम्न पद्यसे भी होती है—

व्यपगतकषायफेनं रागद्वेषादिदोषशैवलरहितम्।
अत्यस्तमोहकर्दममतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम् ॥

—पश्चिमदिक् चैत्यचैत्यालयभक्ति श्लोक ५

## नव बार णमोकार मन्त्रका जाप

नव बार णमोकार मन्त्रका जाप मन, वचन काय और कृत, कारित, और अनुमोदन रूप नव प्रकारोंसे किये गये पापके परिमार्जनका प्रतीक है। साधक या दर्शकके आत्मबोधको जागृत करनेके लिए यह प्रतीक स्विच (Switch) का काम करता है। जिस प्रकार स्वीचके दबाते ही बिजलीका बल्ब प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवकी मूल प्रवृत्तियोंके संशोधनमें इस मन्त्रका स्मरण भी कार्य करता है। मनुष्य प्रतिक्षण स्वयं मनसे काम करता है, दूसरेसे कराता है, दूसरेके किये गये कार्यमें मनसे अनुमोदना करता है, वचनव्यापार स्वयं करता है, दूसरेसे कराता है और दूसरे द्वारा किये गये कार्योंमें वचन-द्वारा अनुमोदन करता है एवं शरीरसे स्वयं कार्य करता है, शरीर-द्वारा दूसरेसे कराता है और दूसरेके किये गये कार्यमें शरीरसे अनुमोदना करता है। इस प्रकार नव कोट्यात्मक पुण्य या पाप प्रतिक्षण होता रहता है। यहाँ नव बार जाप करनेमें इसी नवकोट्यात्मक पुण्य और पापको प्रस्तुत किया गया है और इसे दूर करनेके लिए णमोकार मन्त्रके जापका विधान किया है[1]। आचार्य हरिभद्रने अपने श्रावकप्रज्ञप्ति ग्रन्थमें बताया है—

नवकारेण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइंमि।
जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥३४३॥

## पञ्चाङ्ग या अष्टाङ्ग नमस्कार

पञ्चाङ्ग नमस्कार तीर्थंकरोंकी पाँच निर्वाणभूमियोंका प्रतीक है। तीर्थंकरोंके समान उनके निर्वाण-स्थान भी पूज्य हैं। अतः दर्शक पञ्चपरमेष्ठीके समान ही प्रमुख पाँच निर्वाण भूमियोंको भी नमस्कार कर अपनी आत्माको पावन बनाता है। निर्वाणभूमियोंका जीवनोत्थानके लिए अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि जिन स्थानोंपर तीर्थंकरोंने योग निरोध कर निर्वाण लाभ किया है, वे भूमियाँ अन्तरात्मामें इस प्रकारकी शुभ प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, जिससे साधक अपने उपादानको सशक्त बना लेता है। मङ्गलाष्टकमें तीर्थंकरोंकी निर्वाण-भूमियोंको मङ्गलमय माना है। कैलाश,

१. कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ७६।
विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
—सागारधर्मामृत अध्याय ४ पद्य ५।

पावापुर, चम्पापुर, ऊर्जयन्त गिरि—गिरिनार और सम्मेदशिखर—ये पाँच तीर्थंकरोंके निर्वाण स्थान हैं। उनके स्मरण, दर्शन और वन्दनसे पुण्यास्रव होता है। बताया है—

कैलासे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे
चम्पायां वसुपूज्यसुग्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम्॥
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मंगलम्॥ —श्रीमंगलाष्टक-श्लोक ६

अष्टाङ्ग नमस्कार—(१) पञ्चपरमेष्ठी (२) रत्नत्रयादिधर्म, (३) त्रिषष्ठिशलाकापुरुष (४) तीर्थङ्करोंके माता-पिता तथा अन्य पुण्यपुरुष (५) ऋद्धिधारी गणधर (६) तीर्थङ्करोंकी निर्वाणभूमियाँ (७) कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय और (८) तीर्थङ्करोंके पञ्च कल्याणक—इन आठको नमस्कार करनेका प्रतीक है। तथ्य यह है कि अष्टाङ्ग नमस्कार सर्वाङ्ग नमस्कार है, अतः परमेष्ठी, रत्नत्रयधर्म, तीर्थङ्कर, ऋद्धिधारी मुनीश्वर, निर्वाण स्थान, त्रिलोकवर्ति कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय और तीर्थङ्करोंके पञ्च कल्याणक सभी आत्माको पावन बनानेवाले मङ्गल इसमें सम्मिलित हैं। मङ्गलाष्टक स्तोत्रमें भी उक्त आठोंको ही मङ्गलरूप माना गया है। ये आठों मंगल सौभाग्य, सुख, सम्पत्ति, लक्ष्मी एवं परम्परया निर्वाणसुख प्रदान करते हैं। अष्टांग नमस्कार किया तो सम्मुख विराजमान प्रतिमाको ही जाता है। पर इसका रहस्य बहुत ही व्यापक है। दर्शक अपने समस्ताङ्ग नमस्कार द्वारा समस्त मांगलिक पदार्थोंको नमस्कार करता है। इसका महत्त्व निम्न प्रकार बताया गया है—

इत्थं श्रीजिनमङ्गलाष्टकमिदं सौभाग्यसंपत्करं,
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता
लक्ष्मीराश्रयते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि।

—श्रीमंगलाष्टक-श्लोक ९

## त्रि-प्रदक्षिणा

अर्थ—गर्भत्वकी दृष्टिसे त्रि-प्रदक्षिणा त्रिलोकका प्रतीक है—और विषय-वस्तुके सम्बन्धकी दृष्टिसे रत्नत्रयका प्रतीक। यह जीव अपने कर्म-संस्कारोंके कारण त्रिलोकमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पञ्च परावर्तन करता रहता है। और जब रत्नत्रयका प्रादुर्भाव हो जाता है तो पंचपरावर्तनरूप संसारका अन्त होने लगता है। अतः साधक अपनी आत्माका विकास करनेके लिए रत्नत्रयका सदैव स्मरण करता है और उसके आविर्भावके लिए अपने उपादानको शक्तिशाली बनानेकी प्रेरणा प्राप्त करता है। दर्शक त्रि-प्रदक्षिणा द्वारा त्रिलोकके स्वरूपका चिन्तन करता हुआ धार्मिक स्वाधीनताका उदात्त भाव ग्रहण करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वाधीनताकी पहली शर्त सम्यक्-श्रद्धा है। यही श्रद्धा साधनाकी भूमिका तैयार करती है। आत्माके स्वतन्त्ररूपका विश्वास होते ही पर-पदार्थोंसे स्वयमेव विरक्ति प्राप्त हो जाती है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन-वैभव एवं स्वशरीरमें अपनत्वकी बुद्धि तभी तक रहती है, जबतक स्वकी पूर्ण श्रद्धा नहीं होती। नियमसारमें बताया है—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

—गाथा० १०२

अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय एक अविनाशी आत्म तत्त्व ही मेरा है, शुभाशुभ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं—मुझसे भिन्न हैं—मेरे नहीं।

नय और प्रमाण द्वारा जीवादि पदार्थोंको यथार्थ रूपमें जानना सम्यक्ज्ञान[1] है। दृढ़ आत्मविश्वासके अनन्तर ज्ञानमें सम्यक्त्व आता है। यों तो संसारके पदार्थोंको कम या अधिक रूपमें प्रत्येक व्यक्ति जानता है, पर उस ज्ञानका यथार्थमें आत्मविकासके लिए उपयोग कम ही व्यक्ति करते हैं। जो ज्ञान आत्मविकासका कारण है, वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है, अतः स्व और परका भेद विज्ञान ही वस्तुतः सम्यग्ज्ञान है। निश्चय दृष्टिमें तो आत्मस्वरूपको जानना ही

१. नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्—राजवार्तिक अध्याय १, सूत्र १
येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्—सर्वार्थसिद्धि—अध्याय १ सूत्र १।

सम्यग्ज्ञान है। जिसने आत्माको जान लिया, उसने सबको जान लिया और जो आत्माको नहीं जानता, वह संसारके अगणित पदार्थोकी जानकारी रखनेपर भी अज्ञानी है। इसी दृष्टिकोणका विवेचन स्याद्वादमञ्जरीमें एक प्राचीन पद्यके उद्धरण द्वारा किया गया है। बताया है—

> एको भावः सर्वथा येन दृष्ट, सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
> सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान सहित व्रत, समिति, गुप्ति आदिका अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका पालन करना, मूलगुण और उत्तम गुणोंका धारण करना सम्यक्चारित्र[1] है। कषाय और वासनाओंके अभावसे ही सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति होती है। मोह-क्षोभसे रहित जीवकी जो निर्विकाररूप प्रवृत्ति होती है, जिससे जीवमें साम्य-भावकी उत्पत्ति होती है, चारित्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्रके बलसे ही अपना सुधार या बिगाड करता है अतः मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको शुद्ध या शुभरूपमें बनाये रखना आवश्यक है।

इस प्रकार त्रिप्रदक्षिणा-प्रतीक संसार-परिभ्रमणकी स्मृति दिलाकर रत्नत्रयको प्राप्त करनेके लिए प्रेरित करता है।

## जाप

जाप स्वयं अपनेमें स्पष्ट है। यह प्रतीक रूपमें मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना, संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ और क्रोध, मान, माया एवं लोभके परस्पर संगुणन द्वारा १०८ प्रकारके पापोंका स्मरण दिलाता है। जाप करनेसे अन्तरङ्ग निर्मल होता है, मनकी चंचलता रुकती है और पापका क्षय होता है। जाप वास्तवमें ऐसा प्रतीक है जो शुक्लध्यान द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट करनेका प्रतिनिधित्व कर रहा है। जाप करनेकी तीन विधियाँ हैं—कमलजाप, हस्तांगुलिजाप और मालाजाप।

अपने हृदयमें आठ पाखुडीके एक श्वेत कमलका विचार करे। उसकी प्रत्येक पाखुडीपर पीत वर्णके बारह-बारह बिन्दुओंकी कल्पना करे। तथा मध्यके गोल वृत्त-कर्णिकामें बारह बिन्दुओंका चिन्तन करे। इन १०८ बिन्दुओंके प्रत्येक बिन्दुपर एक-एक बार णमोकार मन्त्रका जाप करे। कमलकी आकृति बननेके कारण ही यह कमल जाप कहलाता है।

अपने हाथकी उंगलियोंपर जाप करनेकी प्रक्रिया यह है कि मध्यमा-बीचकी उंगलीके बीच पोरुए पर णमोकार मन्त्रका पढे, फिर उसी उंगलीके ऊपरी पोरुए पर, अनन्तर तर्जनी—अंगूठेके पासवाली उंगलीके ऊपरी पोरुएपर मन्त्र जाप करे। फिर उसी उंगलीके बीच पोरुए पर मन्त्र पढे। अनन्तर नीचेके पोरुए पर जाप करे। पश्चात् बीचकी उंगलीके निचले पोरुए पर मन्त्र पढे, फिर अनामिका—सबसे छोटी उंगलीके पासवाली उंगलीके निचले पोरुए पर फिर बीच तथा ऊपरके पोरुए पर क्रमसे जाप करे। इसी प्रकार पुन बीचकी उंगलीके बीचके पोरुएमें जाप आरम्भ करे। इस प्रकार नव-नव बार मन्त्र जपता रहे। बारह बार उक्त प्रकारसे जपने पर एक-एक अङ्गुलीजाप पूरा होता है।

१०८ दानेकी माला द्वारा जाप करनेसे माला जाप माना जाता है। जाप-प्रतीक क्रियारूपमें १०८ बार णमोकार मन्त्र या पञ्चपरमेष्ठी वाचक अन्य किसी मन्त्रका प्रतिनिधि है। पर भावरूपमें यह मिथ्यात्वका वास्तविक स्वरूप उपस्थित कर उसके त्याग पर जोर देता है और सम्यक्त्व ग्रहणके लिए प्रेरित करता है। शान्ति-भक्तिमें बताया गया है कि दर्शक किसी स्नेहके कारण आराध्यकी शरणमें नहीं जाता, बल्कि मिथ्यात्व, अज्ञान, क्लेश आदिसे पीड़ित होकर तन्निवृत्तिके लिए आराध्यके चरणोंमें पहुँचता है। यथा—

> न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजा.।
> हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः॥
> अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो।
> ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः॥ श्लोक १

---

१. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदि गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण भणियं॥ —द्रव्यसंग्रह-गाथा ४५

## स्वाध्याय

देव दर्शनका अन्तिम अङ्ग स्वाध्याय है। स्वाध्याय तीर्थङ्करके उपदेशका प्रतीक है। तीर्थङ्करोंका सान्निध्य सम्भव नहीं है। अतः उनकी वाणीका अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन ही उनके उपदेशोंको ग्रहण करना है। पण्डित आशाधरजीने 'जिनमन्दिर'में स्वाध्यायशालाकी आवश्यकता इसी कारण प्रतिपादित की है कि तीर्थङ्करोंकी वाणीके अध्ययनके अभावमे सर्वत्र अज्ञानान्धकार व्याप्त हो जायगा। उन्होंने लिखा है—

> विनेयवद्विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया।
> विना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥ —सा० ध० २-३९

स्वाध्यायमें 'स्व'का अध्ययन अर्थात् अनन्त दर्शन, ज्ञान स्वरूप आत्माका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। स्वाध्याय को तप कहा गया है, क्योंकि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है उतने समय तक परिणाम शुभ या विशुद्ध रहते हैं। भावनाएँ पवित्र बनी रहती हैं, मन एकाग्र होता है। विषयोंसे अरुचि उत्पन्न होती है और भौतिक आसक्ति घटती है। जटासिंहनन्दिने बताया है कि अज्ञानसे बड़ा अन्य कोई भय नहीं, पाप नहीं, तम नहीं, शत्रु नही और दुःखका कारण नही। यथा—

> "नाज्ञानतोऽन्यद्भयमस्ति किञ्चिन्नाज्ञानतोऽन्यच्च तमोऽस्ति किञ्चित्।
> नाज्ञानतोऽन्यो रिपुरस्ति कश्चिन्नाज्ञानतोऽन्योऽस्ति हि दुःखहेतुः ॥
>
> —वराङ्गचरित, तृतीय सर्ग, श्लोक ५६

स्वाध्याय संसार-सागरसे पार होनेके लिए नौका है, यह विषय-वनको दग्ध करनेके लिए दावानल है। भेद विज्ञान या स्वरूपज्ञानकी प्राप्ति स्वाध्याय-द्वारा सम्भव है। तत्त्वचर्चा और अनुयोगोंका पठन-पाठन बोधप्राप्तिके उपाय हैं। स्वाध्यायका रस आनेपर सभी प्रकारकी आकुलताएँ दूर हो जाती हैं। अनादिकालसे चली आयी कर्मकालिमा समाप्त हो सकती है। स्वाध्यायसे ही आत्माकी विभाव और स्वभाव परिणतियोंका ज्ञान होता है और पर-पदार्थोंकी लिप्सा घटती है। मनको एकाग्र करनेकी दिशामे यह सबसे सफल और सरल उपाय है। पूज्यपाद आचार्यने 'ज्ञान-भावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः'[1] अर्थात् ज्ञानाराधनमें आलस्यका त्याग करना स्वाध्याय है। स्वाध्यायसे ज्ञान परिपक्व होता है, जिससे सभी प्रकारके अभ्युदय प्राप्त होते हैं। आशाधरजीने लिखा है—

> स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
> पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥
>
> —सागारधर्मामृत ६।१३

देवदर्शनमे प्रयुक्त उक्त प्रतीकोसे स्पष्ट है कि देवदर्शनका महत्त्व प्रत्येक श्रावकके लिए अत्यधिक है। यह सम्यक्त्व प्राप्तिका सहज साधन है। चैत्यालयमे हास्य, विलास-शृङ्गारयुक्त चेष्टाएँ, दुःकथा—विषय-कषायोंको पुष्ट करने वाली चर्चाएँ, कलह, निद्रा, निष्ठ्यूत—थूकना, और आहार—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय रूप चतुःप्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए। विनय, एवं शिष्टताके नियमोंका पालन करना भी आवश्यक है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि-शोलापुर १९३९ ई० ९।२० पृष्ठ २९५।

# जैनधर्म : प्राचीन इतिवृत्त और सिद्धान्त

प्रो० डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, एम० ए०, पी० एच-डी०, रायपुर

●

## आर्हतोंका निर्देश

भारतवर्षकी प्राचीनतम संस्कृतियोंमें श्रमण संस्कृतिका अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देश और कालोंमें यह विशिष्ट नामोंसे व्यवहृत होती रही है। यद्यपि इतिहासके विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम-साहित्य तथा अन्य देशोंके साहित्य एवं परम्परासे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युगके पूर्व आर्हत संस्कृतिका प्रसार भलीभाँति इस देशमें व्याप्त था। वेदोंमें हमें जिस यज्ञपरायण संस्कृतिके दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्माको सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्माकी प्राप्तिके लिए यजन-कर्मको परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यताका वेद-कालमें और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक कालके पहलेसे ही ब्राह्मण संस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्व विरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणीके लोग आर्हत संस्कृतिके प्रसारक थे। ये ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमोंसे बनी है। प्रकृतिके नियमोंको भली-भाँति ज्ञात कर मनुष्य भी नये संसारकी रचना कर सकता है। मनुष्यकी शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियोंमें श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्योंने सरस्वती और सिन्धुके संगमपर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्यका निर्माण किया था। उस विज्ञान भवनमें बैठ कर समस्त ब्रह्माण्डका साक्षात्कार किया था[1]। आर्हत लोग कर्ममें विश्वास रखते थे। और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वरको न माननेका मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूपसे क्षत्रिय थे। राजनीतिकी भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियोंमें विशेष रुचि रखते थे। और समय पड़नेपर वे वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। आर्हत 'अर्हत्'के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे। और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्पराकी पुष्टि 'श्रीमद्भागवत', पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थोंसे होती है। इनमें जैनधर्मकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं[2]। यथार्थमें आर्हत धर्म जिस परम्पराका प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, जैनागम तथा पुराण-साहित्यमें यत्किंचित् परिवर्तनके साथ स्पष्ट रूपमें झिल-मिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथके समय तक जैनधर्मके लिए 'आर्हत' शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थोंमें तथा अशोकके शिलालेखोंमें 'निग्गंठ' शब्दका प्रयोग मिलता है। निग्गंठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनोंका पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतरी ( काम, क्रोध, मोह आदि ) और बाहरी ( कौपीन, वस्त्रादि ) परिग्रहसे रहित श्रमण साधु। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियनके समयमें यह धर्म 'श्रमण-धर्म'के नामसे प्रचलित था। मेगस्थनीज-ने मुख्य रूपसे ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकोंका उल्लेख किया है[3]।

पिछले दो दशकोंमें जैनधर्मकी प्राचीनताके सम्बन्धमें कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता चलता है कि वेदोंके युगमें और उसके पूर्व जैनधर्म इस देशमें प्रचलित था। वैदिक कालमें यह 'आर्हत' धर्मके नामसे प्रसिद्ध था। आर्हत लोग 'अर्हत'के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणोंको नहीं मानते थे। वेद और ब्राह्मणोंको माननेवाले तथा यज्ञ-कर्म करनेवाले 'बार्हत' कहे जाते थे। बार्हत 'बृहती'के भक्त थे। बृहती वेदको कहते थे। वैदिक यजन-कर्मको ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदोंमें कई स्थानोंपर आर्हत और बार्हत लोगोंका उल्लेख हुआ है तथा 'अर्हन्'को विश्वकी रक्षा

---

१. देखिए, दयानन्द शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तनके नये चरण, पृ० ६८।

२. श्रीमद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण १७-१८ अ०, स्कन्दपुराण ३६-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५, तथा ४।४७-४८।

३. एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अरियन, पृ० ९७-९८।

करनेवाला एवं श्रेष्ठ कहा गया है[1]। शतपथ ब्राह्मणमें अर्हन्‌को आह्वान् किया गया है और कई स्थानोंपर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है[2]। यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दोंका वैदिक साहित्यमें कई स्थानोंपर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्यमें वे भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। कहीं उनका अर्थ बैल या सांड है, तो कहीं मेघ और अग्नि तथा कहीं विश्वामित्रके पुत्र और कहीं बलदायक एवं कहीं शिववनोंके राजा भी है। अधिकतर स्थलोंमें 'वृषभ'को कामनापूरक एवं कामनाओंकी वर्षा करनेवाला कहा गया है। सायणके अनुसार 'वृषभ'का अर्थ कामनाओंकी वर्षा करनेवाला तथा 'अर्हन्'का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेदमें दो स्थलोंपर स्पष्टरूपसे 'वृषभ' परमात्माके रूपमें वर्णित हैं। ऋग्वेदमें वृषभको कहीं-कहीं रुद्रके तुल्य और और कहीं-कही अग्निके सन्दर्भमें वर्णित किया गया है[3]। इसी प्रकार 'अरिष्टनेमि'का अर्थ हानिरहित नेमिवाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और धौतोंका पिता कहा गया है। किन्तु शतपथ ब्राह्मणमें अरिष्टका अर्थ अहिंसक है और 'अरिष्टनेमि'का अर्थ अहिंसाकी धुरी अर्थात् अहिंसाके प्रवर्तक हैं। अर्हन्, वृषभ और ऋषभको वैदिक साहित्यमें प्रशस्त कहा गया है। वृषको धर्म रूप ही माना गया है। जैनागमोंमें ऋषभदेव धर्मके आदि प्रवर्तक कहे गये हैं। अन्य देश-विदेशोंकी मान्यताओं एवं उनकी आचार-विचार पद्धतिसे इसकी पुष्टि होती है। कहीं यह वृषभ 'धर्मध्वज'के रूपमें, कहीं कृषिदेवताके रूपमें और कहीं 'वृषभध्वज'के रूपमें पूजे जाते हैं। कहीं यह आदिनाथ हैं, तो कहीं आदि धर्मप्रवर्तक और कहीं ४ परमपुरुषके रूपमें वर्णित हैं। बृहस्पतिकी भाँति अरिष्टनेमिकी भी संस्तुति की गई है।

## पणि और व्रात्य

वैदिक युगमें पणि और व्रात्य आर्हत धर्मको माननेवाले थे। पणि भारतवर्षके आदिम व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धनमें ही नहीं ज्ञानमें बड़े-बड़े थे। इसलिए यज्ञपरायण संस्कृतिको नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणोंको हवि, दक्षिणा-दान नहीं देते थे। देशका लगभग सभी व्यापार उनके हाथोंमें था। वे कारवाँ बनाकर अरब और उत्तरी अफ्रीकाको जाते थे। बादमें चीन तथा अन्य देशोंसे भी पणि लोगोंने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चलकर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूपमें जाने जाते हैं।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हें अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदिको नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानोंके अनुसार ये दलित और हीनवर्गके थे—यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पंचविंश ब्राह्मणमें (१७-१) में व्रात्योंके लिए यज्ञका विधान किया गया है। वस्तुतः व्रात्य लोग व्रतोंको मानते थे। अर्हन्तों (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रोंके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे[5]। अथर्ववेदमें 'व्रात्य'का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्डमें पूर्ण ब्रह्मचारीको 'व्रात्य' कहा गया है[6]। इससे भी व्रतोकी पूजा करनेवालोंकी पुष्टि होती है। अथर्ववेदमें व्रात्यकी भाँति 'महावृष' भी एक जाति कही गई है[7]। महावृष लोग आर्य जातिके कहे गये हैं। जो भी हो, इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक कालमें ब्राह्मणविरोधी जातियाँ भी थी, जो प्राकृतिक नियमोंमें सृष्टिका वर्तन-प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुतः यह अध्यात्मवादी परम्परा थी, जो आत्माको सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है, तो अलगसे ब्रह्म या ईश्वरको माननेकी क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युगमें ब्राह्मण जातिकी प्रधानता थी पर उस समय साध्योंका पूरे समाजपर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्योंको देवद्रोही कहा जाता था। ये संसारकी रचना प्राकृतिक नियमोंसे मानते थे[8]। परन्तु प्रत्येक युग-गाथि समय-समयपर संघर्ष हुए। और उस संघर्षका परिणाम ब्रह्मवादकी स्थापनामें परिलक्षित हुआ[9]। ज्यों-ज्यों युग पलटते गये त्यों-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एवं धार्मिक विचार-

---

१. ऋग्वेद २।३३।१०,२।३।१,३, ७।१८।२२,१०।२।२,६६।७।
तथा—१०।८५।४, ऐआ० ५।२।२, शां १५।४,१८।२,२३।१, पै० ४।१०।

२. ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तैआ० ४।५।७,५।४।१० आदि।

३. ऋग्वेद ४।५८।३,४।५।१,१०।१६६।१।

४. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। —ऋग्वेद १।८९।६।

५. मैक्डानल और कीथ : वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द- १९५८, पृ० ३४३।

६. सूर्यकान्त : वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

७. अथर्ववेद ५-२२, ४-५. ८।

८. देवदत्त शास्त्री : चिन्तनके नये चरण, पृ० ९७-९८।

९. वहीं, पृ० ९९।

क्रान्तियोंका जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परम्परा विभिन्न केन्द्रोंमें विकासशील रही है। और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणोंसे इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनों ही एक परम्पराके दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं, जिनके चिन्ह आज भी परिलक्षित होते हैं।

भारतीय धर्म और संस्कृतिके इतिहासमें आर्हत धर्म एवं श्रमण संस्कृतिका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियोंसे प्रचलित इस धर्म और संस्कृतिने देश-विदेशोंके हार्दको प्रभावित किया है जिसके चिन्ह आज भी विविध रूपोंमें लक्षित होते हैं। सहस्रों वर्षोंसे भारत और बेबीलौन, ईरान, एजटिक, अफ्रीका आदि देशोंसे व्यावसायिक और सांस्कृतिक-सम्बन्ध बने हुए हैं। इन देशोंमें धर्म और संस्कृतिका प्रचार करनेवाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मेगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्राके समयमें दो प्रकारके दार्शनिकोंका उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युगके प्रमुख दार्शनिक थे[१]। उस युगमें श्रमणोंको बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुकने जैन सम्प्रदायपर विचार करते हुए मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेदको उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्धके धार्मिक सिद्धान्तोंकी तुलनामें अन्धविश्वासी हिन्दू लोगोंका धर्म और संस्थान आधुनिक है। मेगस्थनीजने श्रमणोंके सम्बन्धमें जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वनमें रहते थे। सभी प्रकारके व्यसनोंसे अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवताकी भाँति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे[३]। रामायणमें उल्लिखित श्रमणोंसे भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषणने श्रमणोंको दिगम्बर कहा है[४]। सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकारके साधु रहते हों और वस्त्रके रूपमें वल्कल परिधानोंको धारण करते हों जैसा कि मेगस्थनीजने लिखा है। ब्राह्मण साहित्यमें भी श्रमणोंका उल्लेख मिलता है[५]। किन्तु इसपर अधिकतर विद्वान् मौन है।

रामायणकी टीकामें जिन वातवशन मुनियोंका उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेदमें वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका विवरण उक्त वर्णनमें मेल भी खाता है।[६] केशीमुनि भी वातरशनकी श्रेणीके थे[७]। वातरशन मुनि उत्कृष्ट कोटिके मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तपमें वे सबसे बड़े माने जाते थे। श्री बाहुबलिने भी इसी प्रकारकी तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह जाती थी। ब्राह्मण साहित्यमें मुख्यरूपसे तैत्तिरीय आरण्यकमें इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलोंपर इनकी स्तुति की गई है[८]। इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नामसे प्राचीन कालमें प्रचलित रहा है। अर्हन्के उपासक आर्हत कहे गये हैं जो आगे चलकर जिनके अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है। और महावीरको श्रमण होते देखकर बुद्धको माननेवाले गौतमबुद्धको 'महाश्रमण' कहने लगे[९]। परन्तु जैन परम्परामें 'श्रमण' शब्द अपने मूलरूपमें आज तक सुरक्षित है[१०]। वस्तुतः ब्राह्मणसाहित्यके अध्ययनसे यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणोंकी अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तबसे अबतक अविच्छिन्न रूपमें प्रवाहित है। श्रीमद्भागवतमें मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजाके पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणोंके धर्मप्रवर्तक कहे गये हैं[११]। और उन्हें 'योगेश्वर' कहा गया है[१२]। इसी प्रकार अन्य पुराणोंमें भी आर्हत धर्मका उल्लेख मिलता है जिसे

१. एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९२६,—पृ० ९७-९८।
२. वही, पृ० १०१-१०२।
३. ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिका आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।
४. 'नाथवन्तः दासाः शूद्रादय इति यावत् श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणा वातवसना' इति निघण्टुः। यद्वा 'चतुर्थमाश्रमं प्राप्ताः श्रमणा नाम ते स्मृताः 'इति स्मृतिः'।—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।
५. श० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१
६. 'वातरशनाः वातरशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतयः पिशंगा पिशंगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।'—सायण भाष्य, १०।१३।६।२
७. वही, १०।१३५।७।
८. तैआ० १।२१।३, २३।२, २४।४, ३१।२७:१।
९. सम्बुद्धः करुणाकूर्चः सर्वदर्शी महाबलः।
विश्वबोधो धर्मकायः संगुप्तोर्हन्सुनिश्रितः॥
व्यामाभो द्वादशास्यश्च वीतरागः सुभाषितः।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमणः कलिशासनः॥ —त्रिकाण्डशेष, १, १०-११।
१० मुमुक्षुः श्रमणो यतिः। —अभिधानचिन्तामणि, १, ७५।
११ 'नाभिः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार। —श्रीमद्भागवत, ५।३।२०।
१२. 'भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्।'—वही, ५।४।३।

कहीं-कहीं जैनधर्म कहा गया है। पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्द और शिव पुराणोंसे आर्हत परम्पराकी पुष्टि होती है। इन पुराणोंमें जैनधर्मकी उत्पत्ति तथा विकासके सम्बन्धमें कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्यपुराणमें स्पष्ट रूपसे उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदोंको नहीं मानता[1]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युगमें वेदोंकी सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेदविरोधी थे और तभीसे वेदविरोधी धर्मके रूपमे उनका स्मरण एवं उल्लेख किया जाता रहा। क्योंकि किसी वैचारिक क्रान्तिके सन्दर्भमें ही अपने आपको पुराना माननेवाले इस प्रकारका नाम देते आये है। किन्तु इसमे जैनधर्मकी प्राचीनतापर और भी प्रकाश पडता है। संक्षेपमे, तीर्थंकर पार्श्वनाथके समय तक यह आर्हत धर्मके नामसे ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थों तथा अशोकके शिलालेखोंमे यह 'निग्गंठ'के नामसे प्रसिद्ध रहा और इण्डो-ग्रीक तथा इण्डो-सीथियनके युगमे 'श्रमण' धर्मके नामसे देश-विदेशोंमे प्रचलित रहा। पुराण-कालमें यह जिन या जैनधर्मके नामसे विख्यात हुआ और तबसे यह इसी नामसे सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रोंमें इसके जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते है। देशके विभिन्न प्रान्तोंमें समय-समयपर यह भिन्न नामोंसे प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिणमे भक्ति-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उस समय वहाँ पर यह भव्यधर्मके नामसे प्रसिद्ध था। पंजाबमे यह 'भावादास'के नामसे प्रचलित रहा[2]। तथा 'सरावग-धर्म' के नामसे आज भी राजस्थानमे प्रचलित है। गुजरातमे और दक्षिणमे यह अलग-अलग नामोसे प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमणसे लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तककी एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

## पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाण

जैन पुरातत्त्वसे भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते है जो धर्मकी प्राचीनतापर प्रकाश डालते है। यद्यपि मोहन-जो-दडो और हडप्पाकी खुदाईमें प्राप्त मूर्तियोंके संबंधमे अभी तक निश्चय रूपमे नहीं कहा जा सका है कि वे जिन है या शिव किन्तु कालीबंगाके उत्खननमे यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युगमे भी जैनधर्मका प्रचार उत्तर-पश्चिम भारतमे रहा है। उपलब्ध जैन मूर्तियाँ ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती है। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना-संग्रहालयमे सुरक्षित है[3]। इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकलाके स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते है। पुरातन शिलालिपिमे वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन संवत् सूचक लेख मिलता है। मथुराके जैनलेख तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिनके आधार पर डा० हर्मन जेकोबीने जैनागमोकी प्राचीनता सिद्ध की है[4]। संसारकी प्राचीन लिपि एवं कला की भाँति श्रमण संस्कृति एवं कलामे सूक्ष्म भावोंका अंकन करनेके लिए प्रतीक शैलीकी परम्परा प्रचलित रही है। मूर्तिनिर्माणमे, चैत्य या मन्दिरोंकी रचनामें, सिद्ध-यन्त्रो तथा चित्रोंकी कलामे यह प्रतीक शैली अत्यन्त रहस्यमय रूपमें अभिव्यक्त हुई है। यही नहीं, जैन-साहित्यमे भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाँति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनताके अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूपमे मिल सकते है। शिलालेखोंमे प्राप्त प्रमाणोंके आधार पर अब तीर्थंकर नेमिनाथकी ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभास-पट्टनका एक प्राचीन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालंकारने किया है। उसमे बैबीलोनके राजा नेबुचन्दनेजर के द्वारा सौराष्ट्रके गिरिनार पर्वतपर स्थित नेमि मन्दिरके जीर्णोद्धारका उल्लेख है। बैबीलोनके राजा नेबुचन्दनेजर प्रथमका समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४-५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजाने अपने देशकी उस आयकी जो उसे नाविकोंसे कर-द्वारा प्राप्त होती थी वह जूनागढ़के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमिकी पूजाके लिए प्रदान की थी[5]। इसी प्रकार अन्य बौद्धयात्रियोंके उल्लेखोंमे भी जैनधर्मकी प्राचीनता पर प्रकाश पडता है। यूनान और मिश्रके दार्शनिकोंने भी श्रमण सन्तोंका उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

## सिद्धान्त-विवेचन

जैनधर्मके मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते है—अहिंसा, आत्माका अस्तित्व एवं पुनर्जन्म, कर्म तथा

१. गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं सवेदवित् ॥ —मत्स्यपुराण, २४।४७।

२. डा० ज्योति प्रसाद जैन : जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२।

३. मुनि कान्तिसागर : श्रमण संस्कृति और कला, १९५२, पृ० २४।

४. वही, पृ० ८०।

५. देखिए, 'अनेकान्त' वर्ष ११, किरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेटका 'मोहनजोदडोकालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति शीर्षक लेख, पृ० ४८।

स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्मका यह मूलभूत सिद्धान्त है—'अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जय.'। श्रमण संस्कृतिका यह प्राणतत्व है। इसमें व्यक्ति और समाजकी संजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुत मानवका मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्तिकी भीरुता, शिथिलता या समाजके भयका परिणाम न होकर मोह-की अनासक्ति और सच्चरित्र एवं शीलकी राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्तिको जन्म देती है। जिससे करुणा तथा दयाका सचार होता है। और जो समाज कल्याणके लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमे कायर और डरपोक नही बनाती। वह हमे मोह और क्षुद्र स्वार्थोंको जीतनेके लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमे क्षात्रधर्मका दर्प एवं तेज है। जैनोने व्यवहारमे ऐसी अहिंसाका सर्वथा विरोध किया है जो डरके मारे अपने या दूसरेके प्राण लेनेका पाठ सिखाती हो। जैनधर्मके सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंशमे उत्पन्न हुए थे। अपने जीवनमे उन्होने कई युद्ध किए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गग और राष्ट्रकूटवशके अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोकको जैन तथा बौद्ध परम्पराएँ अपना मतावलम्बी मानती है। जो भी हो। इससे स्पष्ट है कि ज्ञात, अज्ञात न जाने कितने सम्राट् और राजा हुए जिन्होने युद्ध और अहिंसाका सफलतासे संचालन किया था।

जैन शास्त्रोमे हिंसाके सकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी ये चार भेद किए गए है। ये हिंसाके स्थूल भेद है। इनका मूल है—प्रमाद पूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना[1] और यही आगे चलकर द्रव्यरूप और भावरूप भेदोसे हिंसा मुख्य रूपसे दो कोटियोमे विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्दने भावपक्षकी मुख्यताको लेकर स्पष्ट रूपसे कहा है कि जीवका घात हो या नही, यदि असावधानीसे प्रवृत्ति की गई है तो निश्चयसे वह हिंसा है। और सावधानीसे प्रवृत्ति करने वालेसे यदि कदाचित् प्राणोका घात भी हो जाये तो उसे हिंसाके निमित्तका बन्ध नही होता[2]। वस्तुत अच्छे और बुरे भावो पर जीवनकी नींव टिकी हुई है। जीवको जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवनमे अन्न और जलकी भाँति पोषक तत्व है जिनमे धर्मकी संरचना होती है, धर्मका विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसाका सभी धर्मोमे महत्त्व वर्णित है। भारतीय संस्कृति तो मूलत अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकिने भी अपनी रामायणमे अहिंसाका आचरण करनेवाले मुनियोको पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है[3]। वस्तुत अहिंसाकी उपस्कारक श्रमण-संस्कृति थी जिसने सूक्ष्मसे सूक्ष्म अहिंसाका निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपोको अहिंसाकी व्यापक व्याख्यामे समाहित कर लिया है। यदि हम विभिन्न सप्रदायो एवं धर्मोका इतिहास देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि किसी न किसी रूपमे सभी हिंसाका प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूपमे सभी धर्म माननेवाले हिंसाको करते रहे और अपने प्रमाणमे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा यह धर्मकी हिंसा है—कहकर अपने को बचाते रहे। किन्तु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूपमे हिंसाको मान्य नही स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरोका सागोपाग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एवं आचार प्रधान देखी जाती है। यथार्थमे यह तप, त्याग एवं आचारप्रधान संस्कृति है जो अनेक आघातोको सहकर भी आज ज्योकी त्यो स्थिर है।

जैनधर्म आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है। यह शुद्ध रूपमे आत्माको शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मोके कर्मोमे आबद्ध होनेके कारण आत्मा अशुद्ध एवं मैली होनेसे ससारके परावर्तनोमे भटक रहा है। यद्यपि इसमे अनन्तशक्ति और गुण विद्यमान है और इतनी क्षमता है कि अपनी निर्वृत्तिप्रधान क्रियामे स्वय मक्त हो

---

१. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।८।

२. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ —प्रवचनसार, ३।१७।

३. धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ —वाल्मीकि रामायण, १०९।१।
तथा—
अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्ये ब्रवीन्मनुः ॥
यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ —ऋग्वेद, ५।६४।३।

सकती है किन्तु कर्मोंके तिमिर-जालमें उलझी होनेसे मुक्त होनेमें समर्थ नहीं हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेका नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्माके आनेकी आवश्यकता नहीं है कि वह अपने स्थानसे नीचे उतर कर हमारी सहायता करनेके लिए यहाँ आये, बल्कि आत्मामें वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह 'नरसे नारायण', आत्मासे परमात्मा बन सकती है। यदि उसमें यह शक्ति विद्यमान नहीं है तो संसारकी कोई-ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमें स्वयं शक्तिका वह प्रकाश है—तभी तो वह अपनी ज्योतिको ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूपमें जैनधर्म आत्माको स्वीकार करता है। और यह तो सद्वादका सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है यह कभी अभावरूप नहीं हो सकता और सद्भावका कभी विनाश नहीं होता। इसलिए कर्म-बन्धनोंको काटने-का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जड़त्वको सर्वथा छोड़कर आत्माके यथार्थको, पूर्ण चेतन रूपको प्राप्त कर लेना।

अहिंसाकी भाँति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्मके मौलिक सिद्धान्त हैं। जैनधर्मके अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र द्रव्य है। आत्माके साथ मिलकर चलनशील होनेपर यह विभिन्न भावोंकी सृष्टि करता है। यह अपनी क्रियाओंमें जीवको संसक्त करके रखता है और पूरी तरहसे उसपर छा जाता है। इसलिए आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्दन होता है उसमें कार्माण वर्गणाओंका योग रहता है। अतएव पुनर्जन्मकी प्रक्रिया कर्मोंके अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्मको स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोकमें व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीजके दग्ध हो जानेपर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देनेवाला कर्म संसारका बीज है और उसके आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जानेपर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्मसे ही आत्मामें विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृतिको दूर करनेके लिए जिनशासनमें ज्ञान, ध्यान और तपका आचरण मुख्य बतलाया है। तीर्थंकर महावीरने भी अहिंसाकी मुख्य प्रेरक शक्तिको संयम कहा है। संयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धिपर अधिक बल देती है और संशुद्धिको प्रकट करती है।

विज्ञानकी भाँति कर्मका भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्मस्कन्ध रूप (परमाणु समूह) होनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु रजके सूक्ष्मतम कणोंके समान सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवादमें ईश्वरका कोई स्थान नहीं है। कर्म ही ईश्वरके स्थानपर माना जा सकता है। यद्यपि संसारके कार्य किसी न किसी कारणसे उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नहीं होता, जो विभिन्न विषमताओंके जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्तिसे उत्पन्न न होकर कर्मोंसे उत्सृष्ट होते हैं। संसारकी विभिन्न विषम-ताओंका कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओंके मूलमें है। कर्म जन्म-जन्मान्तरोंके चक्रके रूपमें विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओंकी सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्मका कर्मवाद ईश्वरका स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्ममें कर्मोंके विभिन्न भेदों तथा विविध अवस्थाओंका गणितके आधारपर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मोंसे अलग होनेका उपाय तप कहा गया है। जिस समयमें जिस प्रकारका तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावलीमें 'निर्जरा' कहते हैं[1]। और जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग (मिलनेवाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही है वहाँ निर्वाण होता है[2]। वास्तवमें निर्वाण वही स्थिति है—जिसमें सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, केवल अतीन्द्रिय निराबाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनोंका दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थकी सत्यताका व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभीमें अनेक धर्म विद्यमान है। उन सबका एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षाके अनुसार एक समयमें किसी एककी मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावलीमें 'कथंचित्-अपेक्षा' से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावादका यह सिद्धान्त दार्शनिक मत-वादोंके आग्रहको शिथिल करता है और जीवनका यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपोंमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओंके आधार पर किया जाने वाला कथन किन्हीं दृष्टिकोणों (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमोंमें सात दृष्टिकोणोंको सात भंगिमाओंके साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणोंको समझे बिना स्याद्वादको समझनेका

---

१. जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ —द्रव्यसंग्रह, ३६।

२. णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥ —नियमसार, १८०।

प्रयत्न करते है उन्हे यह संशयवाद जान पड़ता है। यथार्थमें स्याद्वाद संशयवाद न हो कर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमे विभिन्न धर्मों की दृष्टियोको कथंचित् रूपमे, किसी अपेक्षासे व्यवहारमे या निश्चयमे सत्य स्वीकार किया गया है। स्वयं तीर्थङ्कर महावीर स्वामी वैर-विरोधको हिंसा मानते थे। वे सत्यको सत्यके रूपमें ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रोका त्याग किया, मनुष्यकी वास्तविक अवस्थाको प्राप्तकर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सबमें समताका प्रचार किया। यह वैरविरोधमूलक समन्वयवादिनी वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्रबिन्दुओंपर एक वस्तुका विचार कर उसकी वास्तविकताको परखती थी। क्योंकि सत्य अखण्ड होता है। शब्दोके सीमित घेरेमें उसके अनन्त गुणोंकी व्याख्या संभव नही है। किन्तु उसके केन्द्रमे व्याप्त मुख्य बिन्दुओको अलग-अलग तथा समाहार रूपमे समझ कर उसकी अखण्डताका बोध किया जा सकता है। जब तक वस्तुके अनन्त तथा विभिन्न अवयवोंका एवं उसके रूपोंका ज्ञान नही होता तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुँचनेकी वह पद्धति है जो जीवनको आत्माके आन्तरिक व्यापारोमे जोड़ती है और जिसमे बाहरी तथा भीतरी जीवनकी एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियोको एक केन्द्रमे स्थापित कर वस्तुकी सत्यताका निर्वचन करती है। सच यह है कि वस्तुको किसी धर्मविशेषके साथ मानना ऐकान्तिक है। और इस एकान्तका परिहार अनेकान्तके बिना सभव नही जान पडता। विभिन्न नयो एवं दृष्टिकोणोमे एक ही वस्तुको समझनेपर उसकी सचाई समझमे आती है। आचार्य समन्तभद्रने 'आप्त-मीमासा' में तो यहाँ तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते है और सापेक्ष नय वस्तुको सिद्ध करने वाले होते है। जीवनका यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्तवादसे प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्मके मूलभूत रहस्यको प्रकट करता है।

तीर्थंकर महावीरके लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नही था। यह तो बहुत पहलेसे ही चला आ रहा था। वैदिक-युगमें विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे। ऋग्वेदसे पता लगता है कि साध्योका मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तो पर आधारित था[1]। सदसद्वादका सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत्मे किसीने सत्को स्वीकार किया और किसीने असत्को। ऋग्वेदके ऋषि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का उद्घोष करते है। वस्तुत विश्वकी व्याख्या करनेके लिए विविध मतवादोकी दार्शनिक भूमिकापर सृष्टि हुई जिनका समाहार स्याद्वादकी सप्तभगियोम लक्षित होता है जिसे 'सप्तभंगी स्याद्वाद' कहा जाता है।

इस प्रकार वैदिक कालमे और उसके भी पहलेसे जैनधर्म अनवच्छिन्न रूपमे प्रवाहित चला आ रहा है। यह आर्योंको यज्ञपरायण संस्कृतिसे पृथक्पर आर्यसंस्कृतिकी परम्पराको ही प्रदर्शित करती है जिसमें भारतीय आचार-विचार तथा गरिमाके उत्कृष्ट रूपोका समाहार मिलता है। वास्तवमें यह धर्म और संस्कृति तप पर आत्मासमता है जो अपनी विशिष्टिताओंके कारण देश-विदेशोंम समादृत रहा है और जिसमें जीवनकी निश्छल एव शान्त प्रकृतिके दर्शन उपलब्ध होते हैं।

---

१. वही।

# अपरिग्रह और समाजवाद

डॉ० विमलकुमार जैन, एम० ए०, पी-एच०-डी०

•

## अपरिग्रहकी व्याख्या और उसका महत्त्व

परिग्रह शब्द परि उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह्' धातुसे अप् प्रत्यय लगा कर व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ग्रहण, अतः संग्रह और संग्रहण-वृत्तिको परिग्रह कहा गया है। कोषोमे भी आदान एवं स्वीकारको परिग्रह नामसे अभिहित किया गया है।

जैन सूत्रोंमें '**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**' कहकर आसक्तिको परिग्रह नाम दिया है। यह ग्रहण या आसक्ति ही अनन्त इच्छाओंका कारण है और इच्छा या तृष्णा संसारका हेतु है। अतएव अवतारी पुरुषों एवं ऋषि-मुनियोंने परिग्रह-त्यागपर बल दिया तथा अपरिग्रह नामसे एक व्रतका विधान किया। पातञ्जल योगसूत्रमे महर्षि पतञ्जलिने भी '**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः**' कह कर पाँच यमोंमें इसकी परिगणना की है। जैन दर्शनमे तो पञ्चव्रतोंका महत्त्व-पूर्ण स्थान है ही।

जैन-समाजमे चतुर्विध संघको हम दो भागोमे विभक्त करते है—गृहस्थ और सन्यस्त। इनमेंसे सन्यस्त व्यक्ति परिग्रहको पूर्णतः त्याग देता है परन्तु गृहस्थके लिए संग्रहकी मर्यादाका विधान है, जो स्वयं गृहस्थकी इच्छापर निर्भर है। संग्रहणके बिना गार्हस्थ जीवन संचालित भी नही होता। अतः ऋषियोंने इसके लिए अणुव्रतका विधान किया, अर्थात् वह आवश्यकतानुसार पदार्थोंका ग्रहण करे और अतिरिक्त, अवशिष्ट या अधिकांशको समाजमें वितरित कर दे। इसीलिए दानकी व्यवस्था हुई।

दान या त्यागकी महिमा सभी धर्मोंमे समानरूपसे वर्णित है। ऐसा इसलिए किया गया कि मनुष्य अपनी इच्छाका निरोध करे और इच्छा निरोध ही तप है तथा तपसे मुक्ति प्राप्त होती है अतः अन्ततोगत्वा हम यह कह सकते है कि अपरिग्रह मुक्तिके साधनोमेंसे एक है।

जैन शास्त्रोमे प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय इस पाठका चिन्तन आवश्यक बतलाया है—

"**धणधन्नप्पमाणाइक्कमे, खेतवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**"

अर्थात् धन-धान्य, क्षेत्र-भवनादि, सोना-चाँदी, दास-दासी, घोड़ा-हाथी आदि पशु तथा सोना-चाँदीके अतिरिक्त अन्य धातुके संग्रहणका जो मैंने नियम किया है, उससे अधिक यदि संग्रह किया हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ।

इस पाठार्थका मनन करनेसे हम इस परिणामपर पहुँचते है कि गृहस्थको धन-धान्य, क्षेत्र-भवन, सोना-चाँदी आदि धातु, दास-दासी, पशु आदि सभी पदार्थोंके परिग्रहमें मर्यादा रखनी चाहिए। मर्यादोपरान्त स्वतःसिद्ध है कि वह उन्हे समाजहितके लिए त्याग देगा। आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमें कहा है कि सन्त पुरुष विरक्त होकर सम्पत्तियोको त्याग देते हैं, इसमे आश्चर्यकी बात ही क्या है, क्या घृणा होने पर सुभक्त भोजनको भी वमित नहीं कर दिया जाता—

**विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।**
**मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्॥**

पद्मनन्दि आचार्यने अपरिग्रहकी महिमा बतलाते हुए परिग्रहवान्के कल्याणकी सम्भावनाको अग्निमे शैत्यकी उपलब्धिके तुल्य बतलाया है—

**परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।**

वशिष्ठ स्मृतिमे तो '**द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्य**' कह कर गृहस्थके लिए केवल बत्तीस ग्रास भोजनका ही विधान है।

किं बहुना, इस प्रकार गृहस्थ-जीवनमे अपरिग्रहके पालनका बडा महत्त्व है ।

## समाजवादकी परिभाषा

समाजवाद शब्द आधुनिक शब्द है । प्राचीन शास्त्रोंमे यह उपलब्ध नही होता । इसका अर्थ है समाजमें उसके प्रत्येक सदस्यके हितोका संरक्षण करना । इस समाजवादी विचार धाराका मूल हमे मार्क्सके साम्यवादमे प्राप्त होता है । कार्ल मार्क्सने अपनी 'केपीटल' नामक पुस्तकमे साम्राज्यवाद एव उसमे आर्थिक विषमताकी बड़ी निन्दा की है तथा श्रमको महत्त्व देते हुए साम्यके आधारपर शासन-व्यवस्थाके सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया है ।

मार्क्सके इस साम्य सिद्धान्तने ससारको आकृष्ट किया और भारतीय नेता भी इससे प्रभावित हुए, क्योंकि उन्होंने अंग्रेजी शासनमे घोर विषमताको देखा था—उन्होने देखा था—शासक द्वारा शासित पर अत्याचार, शोषकों द्वारा शोषितोंका शोषण, भूमिपतियो द्वारा कृषकोंका उत्पीडन, स्वामियोका श्रमिकोके साथ दुर्व्यवहार एवं उनका दुरुपयोग तथा धनाढ्यो द्वारा निर्धनोका दोहन । परन्तु उन्होंने साम्यवादको उस रूपमें ग्रहण न कर प्रजातन्त्रीय समाजवादके रूपमें ग्रहण किया । स्वतन्त्रताके पश्चात् बने भारतीय सविधानमे इसीके आधारपर जनाधिकारोका विश्लेषण बडे विस्तारसे किया गया है । सविधानके प्रारम्भमें लिखा है कि भारतीय गणतंत्रमे सभी नागरिकोको सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मिलेगा, विचार, भाषण, विश्वास, मान्यता और पूजाका स्वातन्त्र्य होगा तथा सबको उन्नतिका समानरूपसे अवसर होगा और सबको समान समझा जायगा ।

## अपरिग्रह और समाजवाद

जिस समाजवादको आज स्थापना की जा रही है, वह कोई नूतन विचारधारा नही है, वह अपरिग्रहका दूसरा नाम है । हम पहले लिख चुके हैं कि गृहस्थके लिए सभी पदार्थोंके सग्रहकी मर्यादाका विधान है और साथ ही दान एवं त्यागपर बल दिया गया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह आवश्यकतासे अधिक वस्तुओका ग्रहण न करे अर्थात् त्याग कर दे, जिससे समाजके अन्य सदस्य उनका उपयोग कर सकें । समाजवादमें भी यही भावना अन्तर्निहित है । जब सभी व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक धन-धान्य, पृथ्वी, भवन, धातु और पशु आदि पदार्थोका संचय या संग्रह न करेंगे तो सभीको समान रूपसे सभी सुविधाओंके उपभोगका अवसर मिलेगा । यही तो समाजवाद है ।

शास्त्रोंमें लिखा है कि निग्रन्थ भगवान् महावीरके उपदेश-मण्डपमें सभी जाति, वर्ग, प्रदेश, समाज और धर्मके लोग श्रद्धावश श्रवणार्थ आते थे । यहाँतक कि पशु-पक्षीतक उपस्थित होते थे । इससे अधिक समाजवादका उत्कट उदाहरण और क्या हो सकता है । और यह इसीलिए था कि वे पूर्णत. अपरिग्रही थे ।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया जाय तो हम समझ सकेंगे कि परिग्रही व्यक्ति लोभी होता है अत वह दूसरोको उनके अधिकारोंसे वंचित करता रहता है । सामन्तशाहिता एव साम्राज्यवादिताके मूलमे यही भावना काम करती है इसीलिए शासक शोषण और दोहन करते हैं तथा जनतामें क्रान्तिकी भावना पनपती रहती है और यही भावना एकदिन विप्लवका कारण हो जाती है । इसके विरुद्ध अपरिग्रही व्यक्ति मर्यादित ग्रहण करता है अत वह दूसरोंके अधिकारोका हनन नही करता, इससे उन्हे भी उन्नतिका समान अवसर मिलता है ।

सहस्रो वर्षोंमे जब कि अनेक धर्म एव जातिया विनष्ट हो गई, जैनधर्म एवं जाति उन्नति ही करती गई । इसका एक-मात्र कारण है अपरिग्रह या समाजवादके सिद्धान्त पर चलना । इसम एक सौहार्दका भाव बना रहा तथा दूसरी जातियाँ अपने हितचिन्तक समझकर जैनियोकी शत्रु न बनी ।

इस प्रकार उपर्युक्त आधारपर हम कह सकते है कि समाजवाद भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं व्याख्यात अपरिग्रह सिद्धान्तका ही नवीनतम रूप है ।

●

# श्रुतज्ञान और उसका वर्ण्य विषय

सिद्धान्ताचार्य पं० श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

## श्रुतज्ञानकी प्रमाणता

भारतके सभी धर्म और दर्शन श्रुत—आगम ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। वैदिक परम्परामें अपौरुषेय वेद ही सर्वोपरि प्रमाणभूत है और श्रमण परम्परामें सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी व्यक्तिके वचनोंसे उत्पन्न ज्ञानको प्रमाण माना है। व्यक्तिके निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होनेसे उसके द्वारा प्रतिपादित वचनोंमें किसी भी प्रकारकी त्रुटि या भूल नहीं हो सकती है। अतः प्रत्यक्षके समान आगम अथवा श्रुतज्ञानको भी प्रमाण माना गया है[1]। आगममें बताया है :—

सुद केवलं च णाणं दोण्णवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ३६८

समस्त द्रव्य और पर्यायोंको जाननेकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं। अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे। अतएव श्रुतज्ञानकी प्रमाणता असन्दिग्ध है।

स्वामी समन्तभद्रने भी केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञानको समस्त पदार्थोंका समानरूपसे प्रकाशक माना है। दोनोंमें केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही अन्तर है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

—आप्तमीमांसा श्लो० १०५

तथ्य यह है कि केवलज्ञानसे स्याद्वादरूप आगमकी उत्पत्ति होती है और स्याद्वादरूप आगमके अभ्याससे केवलज्ञानकी। श्रुतज्ञानका इतना बडा महत्त्व है कि द्वादशाङ्ग श्रुतका पाठी श्रुतकेवली कहलाता है।

## श्रुतज्ञानका स्वरूप

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। राजवार्तिकमें बताया है[2]—'श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा'। अर्थात् श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत है। कर्तृसाधनमें श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करणविवक्षामें जिससे सुना जाय, वह श्रुत है। भावसाधनमें श्रवण-क्रिया श्रुत है।

आचार्य विद्यानन्दने श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप विगमविशेषमें श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मतसे जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थको जाननेवाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। श्रुत शब्दके अनेक अर्थ होनेपर भी श्रुतज्ञानके अर्थमें निहित है। यथा—

---

१. श्रुतस्याज्ञानतामिच्छंस्तद्वाचैव निराकृतः।
स्वार्थेऽप्रमितिवत्तस्य संविदित्वेन निर्णयात्॥
न हि श्रुतज्ञानमप्रमाणं क्वचिद्विसंवादादिति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वापत्तेः। संवादकत्वात्तस्य प्रमाणत्वे तत एव श्रुतं प्रमाणमस्तु। न हि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षानुमानत इव श्रुतस्याप्रमाणतामिच्छन्नेव श्रुतवचनेन निराकृतो द्रष्टव्यः।
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, बम्बई, १९१८ ई० १।९।२०, पृ० १६४।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।९।२ पृ० ४४।

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात् ।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ॥

—तत्त्वार्थश्लो० १।२०।२

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरोंका निरूपण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है ।

यह श्रुतज्ञान अमृतके समान हितकारी हैं, विषय-वेदनासे सन्तप्त प्राणीके लिए परम औषधि है । आचार्य कुन्दकुन्दने बताया है—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।
जरमरणवाहिहरणं खयकरण सव्वदुक्खाणं ॥

—दंसणपाहुड गाथा १७

## श्रुतके भेद

श्रुतके मूल दो भेद है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत । आप्तके उपदेशरूप द्वादशांगवाणीको द्रव्यश्रुत और उससे होनेवाले ज्ञानको भावश्रुत कहते हैं । दूसरे शब्दोंमें शब्दको द्रव्यश्रुत और उससे होनेवाले ज्ञानको भावश्रुत कहा जाता है । इसी कारण द्रव्यश्रुतका ग्रन्थरूप श्रुत और भावश्रुतको ज्ञानरूप श्रुत भी कहते है । ग्रन्थरूप द्रव्यश्रुतके मूल दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । अंगबाह्यके बारह भेद है— (१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृधर्मकथा (७) उपासकाध्ययनांग (८) अन्तःकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपादिक (१०) प्रश्नव्याकरणांग (११) विपाकश्रुतांग और (१२) दृष्टिवादांग । जैसे पुरुषके शरीरमें दो पैर, दो जांघ, दो उरू, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपी पुरुषके भी बारह अंग है । सर्वज्ञ, वीतरागी, अर्हन्त तीर्थंकरके मुखारविन्दसे सुना हुआ ज्ञान होनेके कारण ही यह श्रुतज्ञान कहलाता है । तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञान द्वारा पदार्थोका साक्षात्कार करके बीजपदोंके द्वारा उपदेश देते है और गणधर उन बीज-पदोंका और उनके अर्थका अवधारण करके उनका ग्रन्थरूपमें व्याख्यान करते है, यही द्रव्यश्रुत कहा जाता है । इस द्रव्यश्रुतके अर्थकर्त्ता तीर्थंकर और ग्रन्थकर्त्ता गणधर माने जाते है । श्रुतज्ञानकी यह परम्परा अनादि अनवच्छिन्नरूपसे चली आ रही है । ऋषभदेव भगवान्‌के तीर्थंकर कालमें जो श्रुतज्ञानकी परम्परा आरम्भ हुई थी, वही पार्श्वनाथ और महावीरके तीर्थंकर कालमें गतिशील हुई है ।

इस युगमें श्रावणकृष्णा प्रतिपदाको[1] ब्राह्ममुहूर्तमें तीर्थंकर महावीरकी देशना प्रादुर्भूत हुई और गौतम गणधरने इसे द्वादशांगरूपमें निबद्ध किया । यही निबद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

## आचार्यों द्वारा निबद्ध श्रुतपरम्पराका प्रारम्भ

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिके पिछले भागमें महावीर भगवान्‌के मुक्त हो जानेपर गौतम स्वामी केवल-ज्ञानी हुए । इन्होंने बारह वर्षांतक जैन संघका संचालन किया । उनके मुक्त होनेपर लोहार्य उपनाम सुधर्माचार्य केवल-ज्ञानी हुए । बारह वर्षतक विहार करनेपर उन्होंने भी मुक्तिलाभ प्राप्त किया । अनन्तर जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए । इन्होंने अड़तीस वर्षोतक विहार किया और धर्म-सभाओंमें उपदेश दिया । उनके निर्वाण प्राप्त करनेपर केवलज्ञानियो की परम्परा समाप्त हो गई । इस प्रकार बासठ वर्षोतक धर्मोपदेशके रूपमें श्रुतपरम्परा चलती रही । केवलियोंका सम्पर्क प्राप्त होनेसे जैनसंघमें द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान कण्ठमें विद्यमान रहा ।

जम्बूस्वामीके निर्वाणके पश्चात् सौ वर्षमें पाँच श्रुतकेवली हुए, जो समस्त द्वादशांगवाणीके ज्ञाता थे । इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे । इन भद्रबाहुके समयमें मगधमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा । इन दिनों मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का मगधमें साम्राज्य विद्यमान था । दुर्भिक्षके कारण आचार्य भद्रबाहु एक बड़े मुनिसंघके साथ दक्षिणापथको विहार कर गये और वहीं श्रवणबेलगोल ( मैसूरराज्य ) नामक स्थानमें उन्होंने समाधि प्राप्त कर ली । भद्रबाहुको समस्त जैनसंघ—श्वेताम्बर और दिगम्बर अपना गुरु मानता था, उनके दिवगत होने पर संघव्यवस्थामें तो कठिनाई उपस्थित हुई ही, साथ ही श्रुतपरम्परामें बहुत बड़ा व्यवधान उत्पन्न हुआ ।

---

१. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले ।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि ॥ —जयधवला १, पृ० ८४ ।

दुर्भिक्षके अनन्तर पाटलिपुत्रमें द्वादशांग श्रुतज्ञानकी वाचनाके लिए मुनिसम्मेलन बुलाया गया। वह मुनि-सम्मेलन एक पक्षीय था। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार जीवित होते हुए भी भद्रबाहु इस सम्मेलनमें सम्मिलित नहीं हो सके। स्व० डॉ० याकोबीका कथन है कि पाटलिपुत्र नगरमें जैन संघने जिस श्रुतका संकलन किया, वह एकांगी रह गया, समस्त जैनसंघका नहीं। यतः भद्रबाहुके सम्मिलित न होनेसे दिगम्बर परम्पराने उस संकलनको मान्यता नहीं दी।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्यके दिवंगत हो जानेपर सकल श्रुतज्ञान प्रकाशमें नहीं आ सका। क्षयोपशमके उत्तरोत्तर क्षीण होनेसे अब द्वादशांग वाणी किसी एक व्यक्तिके कण्ठमें न रह सकी। इसके पश्चात् ग्यारह अंग और दश पूर्वोंके ज्ञानी विशाखाचार्य हुए।

पट्टावलियों और प्रशस्तियोंसे अवगत होता है कि अभीतक श्रुतको सुनकर कण्ठस्थ कर लेनेकी परम्पराका सर्वथा उच्छेद नहीं हुआ था। द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान एवं आचार सम्बन्धी मौलिक मान्यताओंको परम्परासे प्राप्त-कर स्मरण बनाये रखनेकी प्रथा अवशिष्ट थी। यद्यपि लिपिका आविष्कार हो चुका था और अन्य सम्प्रदायोंमें श्रुतपरम्पराको निबद्ध किया जाने लगा था, पर जैनसंघ मूल मान्यताओंको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए प्रयत्नशील था। फलतः एक सौ तिरासी वर्षतक ग्यारह अंग और दस पूर्वका ज्ञान बना रहा। पश्चात् ग्यारह अंग और दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके एकदेश ज्ञाता नक्षत्राचार्य हुए। यह एकादशांग श्रुतका ज्ञान दो सौ बीस वर्षतक बना रहा। पश्चात् केवल एक आचारांगके तथा शेष अन्य अंगोंके एकदेशके ज्ञाता सुभद्राचार्य हुए। पश्चात् वह आचारांग भी एक सौ अट्ठारह वर्षतक रहकर व्युच्छिन्न हो गया। इस तरह [ ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ ] छै सौ तेरासी वर्षतक श्रुतकी परम्परा चालू रही। किन्तु उसे लिपि रूपमें निबद्ध करनेकी चेष्टा नहीं की गई। गुरु-शिष्य परम्परासे स्मृति रूपमें ही ज्ञानकी धारा चलती रही और ज्यों-ज्यों श्रुतधरोंका स्वर्गवास होता गया त्यों-त्यों उनके साथ ही ज्ञानका भी लोप होता गया।

लोहाचार्यके दिवंगत हो जानेपर आचारांगका भी लोप हो गया और अंग तथा पूर्वोंके एक देशके महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत'के ज्ञाता शेष रह गये। तब धरसेनाचार्यको, अपना अन्तिम समय निकट जानकर यह चिन्ता हुई कि इस बचे-खुचे ज्ञानका भी लोप न हो जाये। अतः उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त नामके दो मुनियोंको अपने पास रखकर पढ़ाया। पढ़कर उन दोनोंने षट्खण्डागम नामक आगमकी रचना की। यह रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन पूर्ण हुई, अतः वह दिन श्रुतपञ्चमीके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

श्वेताम्बर परम्परामें भी पाटलिपुत्रमें जो अंग संकलित किये थे, कालक्रमसे वे भी अव्यवस्थित हो गये। तब महावीर निर्वाणसे छठी शताब्दीमें आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षतामें मथुरामें पुनः एक सभा हुई और उसमें शेष बचे अंग-साहित्यको फिरसे सुव्यवस्थित किया गया। इसके बाद महावीर निर्वाणसे दसवीं शतीमें वलभी नगरीमें देवर्द्धि गणिकी अध्यक्षतामें पुनः एक सम्मेलन हुआ। बारहवाँ अंग तो पहले ही लुप्त हो चुका था, बचे-खुचे ग्यारह अंगोंका संकलन करके वीर नि० सं० ९८० ( ई० स० ४५३ ) के लगभग उन्हें पुस्तकबद्ध किया गया। समयसुन्दर गणिने अपने समाचारी शतकमें लिखा है—'देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने वीर नि० सं० ९८० में बारह वर्षके दुर्भिक्षके कारण बहुतसे साधुओंके मर जानेसे, बहुतसे श्रुतके नष्ट हो जानेपर, भव्य जीवोंके उपकारके लिये शास्त्रकी भक्तिसे प्रेरित होकर संघके आग्रहसे बाकी बचे सब साधुओंको वलभी नगरीमें बुलाकर, उनके मुखसे बाकी बचे, कमती-बढ़ती, त्रुटित-अत्रुटित आगमके वाक्योंका अपनी बुद्धिके अनुसार संकलन करके उन्हें पुस्तकमें लिखवाया।

श्वेताम्बर जैन साहित्यके इतिहास लेखकने भी लिखा है कि 'प्राचीनकालमें जो बारह अंग थे वे सब आज अखंड रूपमें नहीं रहे। उन प्राचीन अंगोंमें क्या था, इसका विगत वार विस्तृत वर्णन भी आज नहीं मिलता। फिर भी उन प्राचीन अंगोंमें सामान्य तौरपर जो विषय था, उसका अति अल्प निर्देश यत्र-तत्र पाया जाता है।'

दिगम्बर साहित्यमें भी बारह अंगोंके विषयका वर्णन पाया जाता है। अतः उसे यहाँ दिया जाता है।

## द्वादशांग श्रुतज्ञानका विषय

आचारांग[1] अट्ठारह हजार पदोंमें मुनियोंके आचारका वर्णन करता है। अर्थात् मुनिको कैसे चलना चाहिये, कैसे खड़ा होना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे भोजन करना चाहिये, और कैसे बातचीत करना

---

१. धवला १, पृ० ९९।

चाहिये। इन सब बातोंका वर्णन आचारांगमें रहता है। दूसरा सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदोंके द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्मकी क्रियाओंका वर्णन करता है। तथा स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तका भी वर्णन करता है। तीसरा स्थानांग बयालीस हजार पदोंके द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है। उसका उदाहरण—यह जीव द्रव्य अपने चैतन्य धर्मकी अपेक्षा एक है। ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतनाकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी अपेक्षा तीन भेद रूप है। चार गतियोंमें भ्रमण करनेवाला होनेसे चार भेदवाला है। औदयिक आदि पाँच भावोंसे युक्त होनेके कारण इसके पाँच भेद हैं। भवान्तरमें जाते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इस तरह छै अपक्रमसे युक्त होनेके कारण (छै दिशाओंमें गमन करनेके कारण) छै प्रकारका है। अस्ति, नास्ति आदि सात भंगोंसे युक्त होनेके कारण सात भेद वाला है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंके आस्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है। जीव, अजीव आदि नौ पदार्थरूप परिणमन करनेके कारण नौ प्रकारका है। और पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पति कायिक, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तथा पञ्चेन्द्रिय जातिके भेदसे दस प्रकारका है।

चौथा समवायांग एक लाख चौंसठ हजार पदोंके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंके समवायका वर्णन करता है। वह समवाय चार प्रकारका है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य समवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं। क्षेत्र समवायकी अपेक्षा प्रथम नरकके प्रथम पटलका सीमन्तक बिल, मनुष्य लोक, प्रथम स्वर्गके प्रथम पटलका ऋजु विमान और सिद्धि क्षेत्र इन सबका विस्तार समान है। कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल समान है। दोनोंका प्रमाण दस कोड़ा-कोडी सागर है। भावकी अपेक्षा क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान केवलदर्शन और यथाख्यातचारित्र समान है। इस प्रकार समानताकी अपेक्षा जीवादि पदार्थोंके समवायका वर्णन समवायांगमें रहता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग दो लाख अट्ठाईस हजार पदोंके द्वारा 'क्या जीव है अथवा नहीं है' इत्यादि रूपसे साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान करता है। ज्ञातृधर्मकथा नामक अंग पाँच लाख छप्पन हजार पदोंके द्वारा तीर्थङ्करोंकी धर्मदेशनाका, सन्देहको प्राप्त गणधर देवके सन्देहको दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकारकी कथा-उपकथाओंका वर्णन करता है। उपासकाध्ययन नामक अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा श्रावकोंके आचारका वर्णन करता है। अन्तकृद्दशांग नामक अंग तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदोंके द्वारा एक-एक तीर्थङ्करके तीर्थमें अनेक प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहनकर निर्वाणको प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृत केवलियोंका वर्णन करता है। अनुत्तरौपपादिकदशा नामक अंग बानवे लाख चवालीस हजार पदोंके द्वारा एक-एक तीर्थमें नाना प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहनकर पाँच अनुत्तर विमानोंमें जन्मे हुए दस-दस मुनियोंका वर्णन करता है। प्रश्नव्याकरण नामक अंग तिरानवे लाख सोलह हजार पदोंके द्वारा आक्षेप-प्रत्याक्षेप पूर्वक युक्तिपूर्ण प्रश्नोंका समाधान करता है। अथवा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी, इन चार कथाओंका वर्णन करता है। जो एकान्त दृष्टियोंका निराकरण करके छै द्रव्य और नौ पदार्थोंका निरूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसिद्धान्तके द्वारा स्वसिद्धान्तमें दोष बतलाकर पीछे परसमयका खण्डन करके स्वसिद्धान्तकी स्थापना की जाती है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्यके फलका वर्णन करने वाली कथाको संवेदनी कथा कहते हैं। पापके फलका वर्णन करने वाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं। प्रश्नव्याकरण अंग प्रश्नके अनुसार नष्ट, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय वगैरहका भी वर्णन करता है। विपाकसूत्र नामका अंग एक करोड चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पाप रूप कर्मोंके फलोंका वर्णन करता है। ग्यारह अंगोंके पदोंका जोड चार करोड, पन्द्रह लाख, दो हजार है।

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। इसमें तीन सौ त्रेसठ मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है। दृष्टिवादके पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। उनमेंसे परिकर्मके पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्ति नामक परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और चन्द्रबिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन करता है।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ५१।

सूर्यप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, और सूर्यविम्बकी ऊँचाई, दिनकी हानि वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति नामका परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपकी भोगभूमि और कर्मभूमिमे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके मनुष्य और तिर्यञ्चोका तथा पर्वत, ह्रद, नदी, वेदिका, क्षेत्र, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदिका वर्णन करता है। द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदोके द्वारा उद्धार पल्यके प्रमाणसे द्वीप और समुद्रोके प्रमाणका तथा द्वीप-सागरके अन्तर्भूत अन्य अनेक बातोंका वर्णन करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोके द्वारा द्वारा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यका तथा भव्य और अभव्य जीवोका वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंगका सूत्र नामक अर्थाधिकार अठासी लाख पदोके द्वारा, जीव अवन्धक है, अवलेपक है, अकर्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अणुप्रमाण है, नास्तिस्वरूप है, अस्तिस्वरूप है, पृथिवी और पंचभूतोंसे जीव उत्पन्न हुआ है, चेतना रहित है, ज्ञानके बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद और वैनयिकवाद आदि तीन सौ त्रेसठ मतोका वर्णन पूर्वपक्षरूपसे करता है।

प्रथमानुयोग नामका तीसरा अर्थाधिकार पाँच हजार पदोके द्वारा चोबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायणोंके पुराणोका तथा जिनदेव, विद्याधर,चक्रवर्ती, चारणऋद्धिधारी मुनि और राजा आदिके वंशोका वर्णन करता है।

चूलिकाके पाँच भेद है— जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता, और आकाशगता। जलगता चूलिका दो करोड नौ लाख नवासी हजार, दोसौ पदोके द्वारा जलमे गमन तथा जल स्तम्भनके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चर्या आदिका वर्णन करती है। थलगता चूलिका उतने ही पदोंके द्वारा पृथिवी, पृथ्वीके भीतरसे गमन करनेके कारणभूत मंत्र तंत्र और तपश्चर्याका तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बन्धी अन्य शुभाशुभ कारणोका वर्णन करती है। मायागता चूलिका उतने ही पदोके द्वारा मायारूप इन्द्रजालके कारणभूत मंत्र तंत्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका उतने ही पदोंके द्वारा सिंह, घोडा, हरिण आदिका आकार धारण करनेके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदिका वर्णन करती है। तथा उसमे चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म आदिका भी वर्णन रहता है। आकाशगता चूलिका उतने ही पदोके द्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मंत्र-तंत्र तपश्चरण आदिका वर्णन करती है। इन पाँचों चूलिकाओंके पदोका जोड दस करोड, उनचास लाख छयालीस हजार है। पूर्व नामक अर्थाधिकारके चौदह भेद है—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। उत्पादपूर्व एक करोड पदोके द्वारा जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन करता है। अग्रायणीयपूर्व छियानवे लाख पदोके द्वारा सात सौ सुनय और दुर्नयोका तथा छै द्रव्य, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकायोका वर्णन करता है। वीर्यानुप्रवाद नामका पूर्व सत्तर लाख पदोके द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्यका वर्णन करता है। अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व साठ लाख पदोके द्वारा स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षा सब द्रव्योके अस्तित्वका और पररूपचतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्वका वर्णन करता है। जैसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा जीव कथंचित् सत्स्वरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा जीव कथंचित् नास्तिस्वरूप है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी एक साथ विवक्षा होने पर जीव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टयकी क्रमसे विवक्षा होनेपर जीव कथंचित् अस्ति नास्तिरूप है। इसी तरह अजीव आदिका भी कथन कर लेना चाहिये।

ज्ञानप्रवादपूर्व एक कम एक करोड पदोके द्वारा मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानोका तथा कुमति ज्ञान आदि तीन अज्ञानोंका वर्णन करता है। सत्यप्रवाद नामका पूर्व एक करोड छै पदोंके द्वारा दस प्रकारके सत्य वचन, अनेक प्रकारके असत्य वचन, और बारह प्रकारकी भाषाओं आदिका वर्णन करता है। आत्मप्रवादपूर्व छब्बीस करोड पदोंके द्वारा जीव विषयक दुर्नयोंका निराकरण करके जीवद्रव्यकी सिद्धि करता है—जीव है, उत्पादव्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणसे युक्त है, शरीरके बराबर है, स्वपरप्रकाशक है, सूक्ष्म है, अमूर्त है, व्यवहारनयसे कर्मफलका और निश्चयनयसे अपने स्वरूपका भोक्ता है; व्यवहारनयसे शुभाशुभ कर्मोंका और निश्चयनयसे अपने चैतन्य भावोंका कर्ता है, अनादिकालसे

बन्धनबद्ध है, ज्ञान-दर्शनलक्षणवाला है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, इत्यादिरूपसे जीवका वर्णन करता है। कुछ आचार्योंका मत है कि आत्मप्रवाद पूर्व सब द्रव्योंके आत्मा अर्थात् स्वरूपका वर्णन करता है।

कर्मप्रवादपूर्व एक करोड अस्सी लाख पदोके द्वारा आठो कर्मोंका वर्णन करता है। प्रत्याख्यानपूर्व चौरासी लाख पदोके द्वारा प्रत्याख्यान अर्थात् सावद्य वस्तुके त्यागका, उपवासकी विधि और उसकी भावनारूप पाँच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन करता है। विद्यानुवाद पूर्व एक करोड दस लाख पदोके द्वारा सात सौ अल्प विद्याओका, पाँच सौ महाविद्याओका और उन विद्याओके साधन करनेकी विधिका और उन विद्याओके फलका तथा आकाश, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तोका वर्णन करता है। कल्याणवाद पूर्व छब्बीस करोड पदोके द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणोके चारक्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, विपरीत गति और उनके फलोका तथा तीर्थङ्कर, बलदेव, वासुदेव, और चक्रवर्ती आदिके गर्भावतार आदि कल्याणकोका वर्णन करता है। प्राणावाय पूर्व तेरह करोड पदोके द्वारा अष्टाग आयुर्वेद, भूतिकर्म ( शरीर आदिकी रक्षाके लिये किये गये भस्म लेपन, सूत्र बन्धन आदि कर्म ) जांगुलि प्रक्रम ( विष विद्या ), और श्वासोच्छ्वासके भेदोका विस्तारसे वर्णन करता है। क्रियाविशाल पूर्व नौ करोड पदोके द्वारा बहत्तर कलाओंका, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणोंका, शिल्प कलाका, काव्यसम्बन्धी गुणदोषका और छन्दशास्त्रका वर्णन करता है। लोकबिन्दुसार पर्व बारह करोड पचास लाख पदोके द्वारा आठ प्रकारके व्यवहारोंका, चार प्रकारके बीजोका, मोक्षको ले जानेवाली क्रियाका और मोक्षके सुखोंका वर्णन करता है।

## अंगबाह्यका विषय

द्रव्यश्रुतके दूसरे भेद अग¹बाह्यके चोदह भेद है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। सामायिक नामका अंगबाह्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदोके द्वारा समता भावके विधान-का वर्णन करता है। चतुर्विंशतिस्तव उस उस काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थङ्करोकी वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौतीस अतिशयोका स्वरूप और तीर्थङ्करोकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है। वन्दना नामका अंगबाह्य एक तीर्थङ्कर और उस एक तीर्थङ्करके जिनालय सम्बन्धी वन्दनाका निर्दोषरूपसे वर्णन करता है। जिसके द्वारा प्रमादसे लगे हुए दोषोंका निराकरण किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिकके भेदसे सात प्रकारका है। प्रतिक्रमण नामका अगबाह्य दुषमादि काल और छह संहननोंमेसे किसी एक संहननसे युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाववाले पुरुषोका आश्रय लेकर इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन करता है। वैनयिक नामक अगबाह्य ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्र-विनय, तपविनय और उपचारविनय इन पांच प्रकारकी विनयोका वर्णन करता है। कृतिकर्म नामक अगबाह्य अरहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजा विधिका वर्णन करता है। दशवैकालिक अगबाह्य साधुओंके आचार और भिक्षाटनका वर्णन करता है। उत्तराध्ययन चार प्रकारके उपसर्ग और बाईस परीषहोंके सहनेके विधानका और उनके सहन करनेके फलका तथा 'इस प्रश्नका यह उत्तर होता है' इसका वर्णन करता है। ऋषियोके करने योग्य जो व्यवहार है और उनके स्वलित हो जानेपर जो प्रायश्चित्त होता है उन सबका वर्णन कल्प व्यवहार करता है। साधुओंके और असाधुओंके जो व्यवहार करने योग्य है और जो व्यवहार करने योग्य नही है उन सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-का आश्रय लेकर कल्प्याकल्प्य कथन करता है। दीक्षाग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार सल्लेखना, और उत्तम स्थापनारूप आराधनाको प्राप्त हुए साधुओंके जो करने योग्य है, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर महाकल्प्य कथन करता है। पुण्डरीक अगबाह्य भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी, और वैमानिक सम्बन्धी देव, इन्द्र, सामानिक आदिमें उत्पत्तिके कारणभूत दान, पूजा, शील, तप उपवास, सम्यक्त्व, और अकामनिर्जराका तथा उनके उपपाद स्थान और भवनोका वर्णन करता है। महापुण्डरीक उन्ही भवनवासी आदि देवो और देवियोमें उत्पत्तिके कारणभूत तप और उपवास आदिका वर्णन करता है। निषिद्धिका अनेक प्रकारकी प्रायश्चित्त विधिका वर्णन करता है।

## श्रुतज्ञानके पद और अक्षर

ऊपर द्वादशागके पदोका जो प्रमाण बतलाया है उसके सम्बन्धमे प्रकाश डालना उचित होगा। श्रुतज्ञानके असंयोगी समस्त वर्णोंका प्रमाण चौसठ है। इनके निमित्तसे जितने संयोगी अक्षर उत्पन्न होते हैं, उनमे असंयोगी वर्णोंको

१. जयधवला, पृ० ९७-१२१।

मिला देनेसे श्रुतज्ञानके अक्षरोंका प्रमाण होता है। इसका खुलासा इस प्रकार[1] है—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ ये नौ स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस होते हैं। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, और पवर्ग ये पच्चीस तथा य, र, ल, व, श, ष, स और ह ये आठ, इस प्रकार कुल मिलाकर तेतीस व्यंजन होते हैं। तथा अं, अः, ᳵक और ᳶप ये चार योगवाह होते हैं। इस प्रकार सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यंजन, और चार योगवाह सब मिलाकर चौसठ अक्षर होते हैं। इनके द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि चौसठ संयोगी अक्षरोंका प्रमाण निकालकर, उसमे मूल चौसठ वर्णोंको जोड़ देनेसे कुल द्रव्यश्रुतके अक्षरोंका प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ होता है। संसारकी किसी भी भाषाके अक्षर इससे बाहर नहीं होते।

अब श्रुतके पदोंका प्रमाण लीजिये—पदके तीन भेद हैं—प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद। जो आठ अक्षरोसे बनता है उसे प्रमाणपद कहते है। जैसे 'धम्मो मंगलमुक्कट्ठं'। चार प्रमाणपदोंका एक श्लोक होता है। इस प्रमाणपदके द्वारा सामायिक आदि अंगबाह्य ग्रन्थोंके पदोंकी और श्लोकोंकी संख्या आकी जाती है कि अमुक अंगबाह्यमें इतने पद तथा इतने श्लोक है।

जितने अक्षरोसे अर्थका बोध होता है उतने अक्षरोके समुदायको अर्थपद कहते है। जैसे—'प्रमाणके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थके एक देशके निश्चय करनेको नय कहते है।' इस वाक्यसे नयका बोध होता है, इसलिये यह एक अर्थपद है।

सोलह सौ चौतीस करोड़, तेरासी लाख, सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोका एक मध्यमपद होता है। इस मध्यम पदके द्वारा अंग और पूर्वोके पदोकी संख्याका प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् मध्यमपदके अक्षरोंके द्वारा श्रुतज्ञानके सम्पूर्ण अक्षरोको भाजित करनेपर सम्पूर्ण बारह अंगोके एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच पद होते हैं। बारह अंगोमें निबद्ध अक्षरोंमें आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर शेष बचते है। इन अक्षरोंको बत्तीससे भाजित करनेपर चौदह अंगबाह्यके श्लोकोंका प्रमाण पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी होता है।

षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोग द्वारमें ( पृ० २६० ) श्रुतज्ञानके अन्य बीस भेद बतलाये है—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास। इनका स्वरूप धवला टीकामें नीचे दिया जाता है—

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है। क्योंकि यह ज्ञान नष्ट हुए बिना एक रूपमें अवस्थित रहता है, इसलिये इसकी अक्षर संज्ञा है। अथवा केवलज्ञान अक्षर है क्योंकि उसमें हानि-वृद्धि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका ज्ञान भी वही है, इसलिये भी इस ज्ञानको अक्षर कहते हैं। इसका प्रमाण केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। वह ज्ञान निरावरण है; क्योंकि आगममें कहा है कि अक्षरका अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है। यदि इसको भी सावरण मान लिया जायगा तो जीवके अभावका प्रसंग आयगा।

वह लब्ध्यक्षर ज्ञान अक्षरसंज्ञक केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है इसलिये इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर सब जीवराशिसे अनन्तगुणा लब्ध आता है। इसको लब्ध्यक्षर ज्ञानमें मिलानेपर पर्याय ज्ञानका प्रमाण आता है। पुनः पर्यायज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आये उसे उसी पर्याय ज्ञानमें मिलानेपर पर्यायसमास ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके आगे अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धिके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र पर्यायसमासज्ञानस्थान निरन्तर प्राप्त होते रहते है। उनमेंसे अन्तिम पर्यायसमासज्ञानस्थानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसीमें मिलानेपर अक्षरज्ञान होता है। यह अक्षरज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरोंके बराबर हैं। अक्षरके तीन भेद है—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर। सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली तक जीवोके जितने क्षयोपशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता हैं। एक अक्षरसे जो जघन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरके ऊपर दूसरे अक्षरकी वृद्धि होनेपर अक्षर-

---

१. षट्खण्डागम, पु० १३, पृ० २४७-२६०।

समास नामका श्रुतज्ञान होता है इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होनेतक अक्षरसमास श्रुतज्ञान होता है। फिर संख्यात अक्षरोंको मिलाकर एक पद नामक श्रुतज्ञान होता है।

पदके तीन भेद है—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। जितनोंके द्वारा अर्थका ज्ञान होता है वह अर्थपद है। आठ अक्षरोका प्रमाणपद होता है। और सोलह सौ चौतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोका मध्यमपद होता है। इस मध्यमपद श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरके बढनेपर पदसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते एक अक्षरसे न्यून संघात श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक पदसमास श्रुतज्ञान होता है। पुनः उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात श्रुतज्ञान होता है।

पुनः संघात श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघातसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून प्रतिपति श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक संघातसमास श्रुतज्ञान होता है। एक प्रतिपत्ति ज्ञानमे संख्यात संघात श्रुतज्ञान होते हैं।

अनुयोग द्वारके जितने अधिकार होते है, उनमेसे एक अधिकारकी प्रतिपत्ति संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोकी प्रतिपत्तिसमास संज्ञा है। प्रतिपत्तिके जितने अधिकार होते है उनमेसे एक-एक अधिकारकी संघात संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोकी संघातसमास संज्ञा है।

पुन प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरके क्रमसे वृद्धि होते होते एक अक्षरसे न्यून अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान होता है। उसमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है।

अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वारसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते एक अक्षरसे न्यून प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक अनुयोगद्वार-समास श्रुतज्ञान होता है। पुन उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते एक अक्षरसे न्यून प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। पुन उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। पुन उसमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु श्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तुसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्वश्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक वस्तुसमास श्रुतज्ञान होता है। पुन उसमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्वश्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्वसमास श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरोंकी वृद्धि होने तक पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है।

श्रुतज्ञानके ये भेद श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमे तो नही मिलते। कार्मिक साहित्य कर्मग्रन्थमे अवश्य मिलते हैं।

# जैनदर्शनमें नयवाद

पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

●

इसमे संदेह नही कि विश्वके प्राचीनतम सभी दर्शनकारोमें जैनदर्शनकार विलक्षण प्रतिभाके धनी रहे है। यही कारण है कि जैनदर्शनकारोने अन्य सभी दर्शनकारोको अटपटे लगने वाले अनेकान्तवाद, स्याद्वाद[1], नयवाद और सप्तभंगीवादको अपने अनुभवके आधारपर वस्तुव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये जैनदर्शनमे स्थान दिया है। जैनदर्शनका आलोडन करनेसे यह बात सहज ही जानी जा सकती है कि जबतक उक्त वादोको स्वीकार नही कर लिया जाता तबतक वस्तुव्यवस्था या तो अधूरी रहेगी या फिर गलत होगी।

प्रकृत लेखमे हम नयवादका विवेचन करना चाहते है। लेकिन नयोका आधार जैन आगममे[2] चूंकि प्रमाणको ही बतलाया गया है अत यहाँपर सर्वप्रथम प्रमाणका ही सक्षेपमे दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

## प्रमाण निर्णय

लौकिक तथा दार्शनिक जगत्मे वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये प्रमाणको स्थान प्राप्त है। जैनदर्शनमे प्रमाण शब्दका जो व्युत्पत्यर्थ किया गया है उससे वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थामे प्रमाणके महत्वको सहज ही जाना जा सकता है। यथा—

'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।'

—परीक्षामुखटीका १–१

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुतत्त्वका संशय[3], विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण होकर निर्णय होता है वह प्रमाण है।

चूंकि उल्लिखितरूपमे वस्तुतत्त्वका निर्णय ज्ञानके द्वारा ही सभव है। अत. जैनदर्शनमे मुख्यरूपसे ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। यथा—

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'

—परीक्षामुख १–१

अर्थात्—अपना और अपनेसे भिन्न पूर्वमे अनिर्णीत पदार्थका निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थमे ही आगे बतलाया है—

"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत।" —प० १–२

अर्थात् चूंकि प्रमाण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ होता है अत. ज्ञान ही प्रमाण कहलाने योग्य है।

इसका फलितार्थ यह है कि ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर सकती है अत: उपर्युक्त कथनके आधारपर जैन दर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है।

---

१. स्याद्वादका ही अपर नाम अपेक्षवाद है। इसका उपयोग सीमित दायरेमें अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शनकारोंने भी किया है।

२. 'नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्।' —पूज्यपाद; सर्वार्थसिद्धि १–६।

३. 'संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्शः। विपर्ययः पुनरतस्मिंस्तदिति विकल्पः। विशेषानवधारणमनध्यवसायः।'

—अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला ६–२।

## ज्ञान अप्रमाण भी होता है

ऊपर हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें ज्ञानको ही समर्थ बतलाया गया है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि सभी ज्ञान हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते हैं। अतः जिन ज्ञानोंमें उक्त सामर्थ्य नहीं पायी जाती है उन ज्ञानोंको अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये। जैनदर्शनमें अप्रमाणका प्रमाणाभास नामसे उल्लेख करते हुए उसके जो भेद गिनाये गये हैं उनमें ज्ञानविशेषोंका भी समावेश किया गया है। यथा—

"अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।" —परीक्षामुख ६-२

अर्थात् जो अपना संवेदन करनेमें असमर्थ हो, या जो गृहीत अर्थको ग्रहण करनेवाला हो, या जो निराकार दर्शनरूप हो और या जो संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय स्वरूप हो—ये सभी अपने-अपने ढंगसे प्रमाणाभास हैं।

## ज्ञानके भेद और उनका प्रमाण तथा अप्रमाणरूपमें विभाजन

तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञानके पाँच भेद गिनाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान[1]। तथा इन पाँचों ज्ञानोंको प्रमाण[2] कहा गया है और आदिके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानोंको प्रमाणके साथ-साथ अप्रमाण[3] भी बतलाया गया है। इस प्रकार पाँच प्रमाणरूप और तीन अप्रमाणरूप कुल मिलाकर ज्ञानके आठ भेद कर दिये गये हैं[4]।

## ज्ञानोंकी प्रमाणता और अप्रमाणताका कारण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें मोहकर्मका अभाव होनेपर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी प्रमाणताका कारण बतलाया है[5] और आचार्य पूज्यपादने[6] "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" (१-३१) सूत्रकी व्याख्या करते हुए ज्ञानकी अप्रमाणताका कारण मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शनको बतलाया है। इस तरह ऐसा समझना चाहिये कि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है और मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमें जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह अप्रमाण ज्ञान कहलाता है।

इस विषयमें हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त पाँच सामान्य ज्ञानोंमेंसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान दोनों मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें ही हुआ करते हैं। इतना ही नहीं, मनःपर्ययज्ञान तो सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जीवमें सकलचारित्रकी उत्पत्ति हो जाने पर तथा केवलज्ञान सकलसंयमसे भी आगे यथाख्यातचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर ही हुआ करता है। इसलिये मनःपर्यय और केवल ये दोनों ज्ञान सतत प्रमाणरूप ही रहा करते हैं। परन्तु मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जीवमें चूँकि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें भी होते हैं व मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमें भी होते हैं। अतः ये तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें होनेके आधारपर तो प्रमाणरूप व मिथ्यादर्शनकी स्थितिमें होनेके आधारपर अप्रमाणरूप इस तरह दोनों प्रकारके हुआ करते हैं। इससे यह बात भी फलित होती है कि ज्ञान सामान्यके ऊपर बतलाये गये पाँच भेद ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अपेक्षासे क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होकर ज्ञानकी आठ भेदरूपताको प्राप्त हो जाते हैं।

जिस ज्ञानमें मोहकी प्रेरणा कार्य कर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये हो उसे तो मिथ्यादर्शन ( अविवेक ) की स्थितिमें होने वाला अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये और जिस ज्ञानमें

---

१. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।" ( १-९ )।
२. "तत्प्रमाणे।" ( १-१० )
३. "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।" ( १-३१ )
४. "णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च।" —द्रव्यसंग्रह गा० ५।
५. "मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।" —( पद्य ४७ का पूर्वार्ध )।
६. "कुतः पुनरेतेषां विपर्ययः? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात्।"

मोह की प्रेरणा कार्य न कर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये न हो उसे सम्यग्दर्शन ( विवेक ) की स्थितिमें उत्पन्न हुआ प्रमाण ज्ञान जानना चाहिये।

यहाँपर अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अनभिलषित परपदार्थोंके वियोगमें हर्ष करना राग है तथा अनभिलषित परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंके वियोगमें विषाद करना द्वेष है एवं परपदार्थोंमे अहंबुद्धि या ममबुद्धि करना मोह है। इसी प्रकार परपदार्थोंमे इष्टबुद्धि या अनिष्टबुद्धि करना मोह है व इस तरह इष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति आकृष्ट होकर उसमें प्रीति करने लग जाना राग है तथा अनिष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति घृणा व ग्लानिरूप अप्रीति करने लग जाना द्वेष है—ऐसा जानना[1] चाहिये।

जैनागममें बतलाया है कि ज्ञानके उल्लिखित पाँच भेदोंमेंसे अन्तके अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन भेद तो जीवमें पररूप साधनोंकी सहायताके बिना केवल आत्मनिर्भरताके आधारपर ही उत्पन्न होते हैं[2] लेकिन मतिज्ञान, और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे आत्मबलकी आवश्यकता होनेपर भी दोनोंमेसे मतिज्ञान तो पररूप स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों तथा मन ( हृदय ) की यथावश्यक सहायतासे[3] उत्पन्न होता है व श्रुतज्ञान पररूप मन ( मस्तिष्क )की[4] सहायतासे उत्पन्न होता है।

इतना बतलानेमे हमारा प्रयोजन यह है कि जब मतिज्ञानका उल्लिखित पाँच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे व श्रुतज्ञानका मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेका नियम है और चूंकि पाँचों इन्द्रियों व मनका सदोष अथवा निर्दोष होना भी सम्भव है तो इसके आधारपर जैन दर्शनकी यह भी मान्यता है कि जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन सदोष हालतमें हों उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन सदोष हालतमें हो उस जीवमे उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही अप्रमाणरूप होते हैं। इसी प्रकार जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन निर्दोष हालतमे हों उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन निर्दोष हालतमे हो उस जीवमें उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही प्रमाणरूप होते हैं।

कानोंमे बहरापन आ जाना, आँखोंपर पीलिया रोगका प्रभाव हो जाना या मोतियाबिन्दु आदिके कारण दृष्टिका कमजोर हो जाना, नाकमें भी सर्दी-जुकामका हो जाना आदि यथायोग्य निमित्तोंसे इन्द्रियाँ सदोष हो जाती है व जीवमे क्रोधादिकषाय उत्पन्न होनेपर मन सदोष हो जाया करता है। इसी तरह मद्य आदि मादक पदार्थोंका सेवन आदि कारणोंमे मन भी सदोष हो जाया करता है।

इस तरह उल्लिखित कथनका सार यह है कि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होनेका नियम होनेसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सतत प्रमाणरूप ही हुआ करते है। अवधिज्ञान यदि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो प्रमाणरूप होता है और यदि मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो अप्रमाणरूप होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके सद्भावमे उत्पन्न होनेके कारण भी क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते है तथा निर्दोष और सदोष इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं।

## वचन भी प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होता है

जिस प्रकार उल्लिखित प्रकारसे ज्ञान प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है उसी प्रकार वचन भी प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है। वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका आधार यह है कि वह ( वचन ) प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण[5] होता है। अर्थात् वक्ताके वचनको सुनकर श्रोताको व लेखकके वचनको पढ़कर पाठक-

१. 'यः प्रीतिरूपो रागः······योऽप्रीतिरूपो द्वेषः······यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः।'

—अमृतचन्द्र, समयसारटीका गा० ५०–५५।

२. देखो, सर्वार्थसिद्धिमें 'प्रत्यक्षमन्यत्।' —( १-१२ ) सूत्रकी व्याख्या।

३. 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।' —तत्त्वार्थसूत्र १-१४।

४. 'श्रुतमनिन्द्रियस्य।' —तत्त्वार्थसूत्र २-२१।

५. 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।' —परीक्षामुख ३-९९ सूत्रमें प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तवचनको व 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।' परीक्षामुख ६-५१ सूत्रमें अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें अनाप्तवचनको कारण माना गया है।

को जो पदार्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान यदि प्रमाणरूप होता है तो इसके निमित्तभूत वचनको भी प्रमाणरूप माना जाता है और वह ( श्रुतज्ञान ) यदि अप्रमाणरूप होता है तो उसके निमित्तभूत वचनको भी अप्रमाणरूप माना जाता है।

वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका एक अन्य आधार उस ( वचन ) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी होती है। अर्थात् वचनकी उत्पत्ति वक्ताके बोलनेरूप या लेखकके लिखनेरूप व्यापारमें होती है इसलिये वक्ता या लेखक यदि प्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी प्रमाणरूप माना जाता है और वक्ता या लेखक यदि अप्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी अप्रमाणरूप माना जाता है। यही कारण है कि वचनकी प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें वचनके साथ "आप्तोपज्ञ"[1] विशेषण लगाया है। आप्तका अर्थ प्रामाणिक व्यक्ति होता है—यह बात स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डमें पाये जानेवाले आप्तके लक्षणसे ही प्रगट होती है। यथा—

"आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥"

अर्थात् जिसके अन्दरसे सर्व प्रकारके दोष निकल गये हों, साथ ही जो सर्वज्ञ और आगमका स्वामी हो वही आप्त कहला सकता है। इन बातोंके अभावमें आप्तता सम्भव नहीं है।

स्वामी समन्तभद्र द्वारा बतलाया गया आप्तका उपर्युक्त लक्षण आप्त सामान्यका लक्षण न हो कर आप्त विशेषका अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आप्तका ही लक्षण है। इससे यह बात फलित होती है कि ऐसे पुरुष भी आप्त कहे जाने योग्य हैं जो अल्पज्ञ होकर भी कम-से-कम पूर्वोक्त प्रकारके राग, द्वेष और मोहका नष्ट करके सम्यग्दृष्टि बन गये हों। यही कारण है कि आचार्य अनन्तवीर्यने आप्तका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

"यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः।"

—प्रमेयरत्नमा० ३-९९

अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है यानी धोखा-धड़ी नहीं करता है वह उस विषयमें आप्त कहलाता है।

इस तरह जैनदर्शनमें ऐसी ग्रन्थ-रचनाओंको भी प्रमाण माना जाता है जो विद्वान महर्षियों द्वारा अल्पज्ञ रहते हुए भी परकल्याणभावनासे निरीहवृत्तिपूर्वक की गयी है तथा लोकव्यवहारमें उक्त राग-द्वेष और मोहसे अनाक्रान्त साधारण अल्पज्ञानीजनोंमें स्वीकृत आप्तता भी अपना कम महत्त्व नहीं रखती है। अर्थात् जनहितकारी उपदेशदाता या ग्रन्थकर्ता महर्षिजन व प्रशस्त लोकव्यवहारमें प्रवृत्त साधारण लौकिकजन अल्पज्ञ रहते हुए भी अपने-अपने दायरेमें आप्त अर्थात् प्रामाणिक माने जाते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालामें आप्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनसे ठीक विपरीत लक्षण अनाप्त पुरुषका जानना चाहिये। इसीलिये आचार्य माणिक्यनन्दिने आगमाभास ( अप्रमाणरूप श्रुतज्ञान ) का लक्षण बतलाते हुए 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।' ( प० मु० ६-५१ ) में अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषके साथ 'रागद्वेषमोहाक्रान्त' विशेषण लगाया है।

इस तरह उपर्युक्त लक्षण वाले आप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको प्रमाणरूप और इससे विपरीत उपर्युक्त लक्षणवाले अनाप्तपुरुषद्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको अप्रमाणरूप जानना चाहिये।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि या तो प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेके आधारपर कारणमें कार्यधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे या फिर स्वयंकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत आप्तपुरुष और अनाप्तपुरुषका कार्य होनेके आधारपर कार्यमें कारणधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे वचनको यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मानना चाहिये।

---

१. 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥'

## जैनागममें वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है

जैनागम[1] में प्रमाणके दो भेद स्वीकार किये गये हैं—एक तो स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जितना ज्ञानरूप प्रमाण है वह सब स्वार्थप्रमाण कहलाता है और जितना वचनरूप प्रमाण है वह सब परार्थप्रमाण कहलाता है। इस तरह मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल रूप जो चार प्रमाण हैं वे अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थ प्रमाण ही हैं लेकिन श्रुत प्रमाण चूंकि ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनों ही प्रकारका होता है अतः जितना ज्ञानात्मक श्रुतप्रमाण है वह तो स्वार्थप्रमाण और जितना वचनात्मक श्रुत प्रमाण है वह परार्थ प्रमाण है।

ज्ञानको स्वार्थ प्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उस (ज्ञान) का पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (ज्ञान) के आश्रयभूत 'स्व' अर्थात् ज्ञाताको प्राप्त होता है तथा वचनको परार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उसका (वचनका) पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (वचन) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत वक्ता या लेखकसे भिन्न 'पर' अर्थात् श्रोता या पाठकको प्राप्त होता है।

जिस प्रकार प्रमाण स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रमाण भी स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये। इनमेंसे स्वार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी ज्ञानरूपताके कारण मिथ्या मतिज्ञान, मिथ्या श्रुतज्ञान और मिथ्या अवधिज्ञान रूपसे तीन प्रकारका तथा परार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी वचनरूपताके कारण अनाप्तवचनके रूपमें एक प्रकारका जानना चाहिये। चूंकि मनःपर्यय और केवल ये दोनों ज्ञान सर्वदा सम्यक् ही हुआ करते हैं, कभी मिथ्यारूप नहीं होते। अतः इन दोनोंको अप्रमाणताकी कोटिसे बाहर रक्खा गया है।

## प्रमाण और अप्रमाणरूप सभी ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणकी व्यवस्था

प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान व अवधिज्ञान एवं प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान उस उस ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको एकदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करते हैं, प्रमाणरूप केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको युगपत सर्वदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करता है लेकिन प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही तरहका श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होने व उत्पत्तिमें सांश वचनका अवलम्बन आवश्यक रहनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थके एक-एक अंशको पृथक्-पृथक् कालमें क्रमशः ग्रहण करता हुआ पदार्थको सखण्डभावसे ही ग्रहण किया करता है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञानमें अंशरूपेन अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है, प्रमाणरूप केवलज्ञानमें सर्वात्मना युगपत् अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है परन्तु प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ग्रहण होता हुआ पदार्थके संपूर्ण अंशोंका ग्रहण सखण्ड भावसे होता है क्योंकि प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति तो सांश और क्रमवर्ती प्रमाणरूप आप्तवचनसे तथा अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति सांश और क्रमवर्ती अप्रमाणरूप अनाप्तवचनसे हुआ करती है। आगे वचनकी सांशताके विषयमें विचार किया जाता है।

## वचन सांश होता है

अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे वचन पाँच प्रकारका होता है। वचनके इन पाँचों प्रकारोंमेंसे शब्दके अंगभूत निरर्थक अकारादिवर्ण अक्षर कहलाते हैं, अर्थवान् अकारादि अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोंका अर्थवान् समुदाय 'शब्द' कहलाता है, अर्थवान् शब्दरूप प्रकृतिका संस्कृत भाषामें 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययके साथ संयोग होनेपर पदका[2] निर्माण होता है तथा परस्पर सापेक्ष दो आदि पदोंके निरपेक्ष समूहसे 'वाक्य'का[3] एवं परस्पर

---

१. 'प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थमिति।' —सर्वार्थसिद्धि १-६।

२. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—पाणिनि, अष्टाध्यायी १-४-१४।

३. 'पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।'

—अकलङ्क, अष्टशती, अष्टसहस्री पृ० २८५।

सापेक्ष दो आदि वाक्योंके निरपेक्ष समूहसे 'महावाक्य' का[1] निर्माण होता है। यद्यपि दो आदि महावाक्योंका भी निरपेक्ष-समूह हुआ करता है परन्तु महावाक्योंके ऐसे समूहको भी 'महावाक्य' शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है।

इस कथनसे यह बात निश्चित होती है कि अक्षर शब्दका, शब्द पदका, पद वाक्यका और वाक्य महावाक्यका यथायोग्य अंश होता है। इसी तरह एक आदि महावाक्य भी दो आदि महावाक्योंके समूहरूप महावाक्यके अंश सिद्ध हो जाते हैं। चूंकि वचनके अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपमें पाये जाते हैं अतः प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनों ही समानरूपमें उक्त आधारपर सांश सिद्ध हो जाते हैं।

## वचनकी सांशता ही श्रुतज्ञानमें सांशता-सिद्धिका कारण है

कोई भी ज्ञान चाहे वह प्रमाणरूप हो अथवा चाहे अप्रमाणरूप हो, असंख्यात प्रदेशी अखण्ड आत्माके अखण्ड ज्ञानगुणकी अखण्ड पर्याय ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान तथा अवधिज्ञानको व प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानको निरंश मान लिया गया है। यद्यपि इस प्रकारसे तो प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानको भी निरंश मानना उचित प्रतीत होता है परन्तु प्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान एवं अप्रमाणरूप मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों तरहके श्रुतज्ञानमें यह विशेषता पायी जाती है कि इसकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारके सांश वचनके अवलम्बनसे हुआ करती है इसलिये प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों ही प्रकारके श्रुतज्ञानको सांश मानना ही उचित है।

## वचनकी सांशतासे ज्ञानमें सांशता-सिद्धिका प्रकार

(१) वचनमें वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पायी जाती है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक ऐसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके लिये वचनका प्रयोग किया करता है।

(२) वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थका क्रमशः श्रोता या पाठकको बोध करानेके लिये ही वचनका प्रयोग किया करता है क्योंकि बोले गये वचनको सुनकर श्रोताको तथा लिखे गये वचनको पढ़कर पाठकको क्रमशः वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका बोध हो जाया करता है।

(३) चूंकि ऊपर बतलाये गये प्रकारसे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थ वचनका प्रतिपाद्य होता है और इस प्रकारका वचन-प्रतिपाद्य पदार्थ सांश होता है यह आगे बतलाया जायगा तथा वचन भी सांश होता है यह बतला ही चुके हैं। अतः वक्ता या लेखक द्वारा प्रयुक्त सांश वचनसे प्रतिपादित उक्त प्रकारके सांश पदार्थका श्रोता या पाठकको बोध भी सांशरूपमें ही होगा।

इन कारणोंके बलपर वचनकी सांशताकी सिद्धि होना अयुक्त नहीं है।

## वचनके प्रयोग और उससे पदार्थ प्रतिपादनकी व्यवस्था

ऊपर वचनके जो अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे पाँच भेद बतलाये गये हैं उनमेंसे पद, वाक्य और महावाक्यके रूपमें ही वचन प्रयोगार्ह होता है, अक्षर और शब्दके रूपमें नहीं, क्योंकि निरर्थक अक्षर तो हमेशा शब्दके अविभाज्य अंग ही रहा करते हैं इसलिये उनका प्रयोग स्वतंत्ररूपसे न होकर शब्दके अंगरूपमें ही हुआ करता है तथा अर्थवान् अक्षर और निरर्थक दो आदि अक्षरोंके समुदायरूप शब्द भी संस्कृत भाषामें तो तभी प्रयुक्त होते हैं जब कि वे यथायोग्य 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययसे संयुक्त होकर पदका रूप धारण कर लेते हैं।

---

१. 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'

—साहित्यदर्पण परिच्छेद २ श्लोक १।

इस श्लोकके 'वाक्योच्चयः' पदका विश्लेषण इसीकी टीकामें 'योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः' किया गया है। इस तरह महावाक्यका इस प्रकार लक्षण होता है—

'परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षः समुदायो महावाक्यम्।'

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डके श्रुतज्ञान प्रकरणमें गिनाये गये श्रुतके भेदोंमेंसे आदिके अक्षर, पद और संघात (वाक्य) से आगे जितने भेद हैं वे सब महावाक्यके ही भेद समझना चाहिए।

नोट—इस टिप्पणीमें संघात शब्दका अर्थ वाक्य हमने आप्तमीमांसाकी कारिका १०३ की अष्टसहस्री-टीकाके आधारपर किया है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अक्षर और शब्द कभी प्रयोगार्ह नहीं होते हैं, केवल पद, वाक्य और महावाक्य ही प्रयोगार्ह होते है। पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पदको वक्ता या लेखक किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही प्रयुक्त करता है तथा वाक्य अथवा महावाक्यको वक्ता या लेखक कहीं तो यथायोग्य अनुकूल महावाक्यका अवयव मानकर प्रयुक्त करता है और कहीं आवश्यकतानुसार स्वतंत्ररूपमें प्रयुक्त करता है।

वचनसे होनेवाले पदार्थप्रतिपादनकी व्यवस्था यह है कि शब्दके अंगभूत अक्षर तो हमेशा निरर्थक ही रहा करते हैं। स्वतंत्र अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदायरूप शब्द यद्यपि अर्थवान् होते हैं परन्तु इनका प्रयोग संस्कृत भाषामें तो यथायोग्य सुबन्त अथवा तिङन्त होकर पदका रूप धारण करनेपर ही संभव है। इसलिये शब्दके अंगभूत निरर्थक अक्षरों, अर्थवान् स्वतंत्र अक्षरों एवं दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदायरूप अर्थवान् शब्दोंके विषयमें अर्थप्रतिपादनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त वचनके जो पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद हैं उनका प्रयोग करके ही वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर सकता है। लेकिन इनमेंसे पद हमेशा वक्ता या लेखकके उक्त प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करनेमें ही समर्थ रहता है, वह कभी भी पदार्थके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वक्ता या लेखक एक तो कभी पदका प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता नहीं है और यदि कदाचित् वह उसका ( पदका ) प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता भी है तो वहाँपर भी वह उसका वह प्रयोग किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही करता है इसलिये ऐसे स्थलपर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका बोध करनेके लिये यथायोग्य श्रोता या पाठक द्वारा अन्य अनुकूल पदका आक्षेप नियमसे कर लिया जाता है, क्योंकि पदके स्वतंत्र प्रयोगमें जबतक उसे किसी अनुकूल वाक्यका अवयव नहीं मान लिया जाता तब तक उसमें वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका पूर्णरूपमें प्रतिपादन होना तो दूर रहा, उसमें उक्त पदार्थके अंशका प्रतिपादन होना भी असंभव बात है।

इस विषयमें उदाहरण यह है कि कोई वक्ता या लेखक कदाचित् सिर्फ अस्तित्वबोधक 'है' इस क्रियापदका यदि स्वतंत्र प्रयोग करता है तो जबतक इस क्रिया पदके साथ वक्ता या लेखक द्वारा अपने अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये घडा, कपडा, आदमी आदि किसी अनुकूल संज्ञा पदका प्रयोग नहीं किया जायगा अथवा प्रकरण आदिके आधारपर उक्त प्रकारके संज्ञापदका श्रोता या पाठक द्वारा स्वयं आक्षेप नहीं कर लिया जायगा तबतक उस श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें क्या है ? यह प्रश्न चक्कर काटता ही रहेगा। इसी तरह वक्ता या लेखक द्वारा घडा, वस्त्र, आदमी आदि किसी भी संज्ञापदका स्वतंत्र प्रयोग किये जाने पर श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें नियमसे उत्पन्न होनेवाले प्रश्नका समाधान करनेके लिये 'है' इत्यादि क्रियापदके संबन्धमें प्रयोग या आक्षेपकी यही व्यवस्था लागू होती है।

इस उदाहरणसे यह समझा जा सकता है कि अन्य अनुकूल पदनिरपेक्ष स्वतंत्र पदका प्रयोग यदि कदाचित् कर भी दिया जाय तो भी वह पद उस हालतमें न तो वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करता है और न उस प्रकारके पदार्थके यथायोग्य किसी अंशका प्रतिपादन करता है लेकिन उसी पदको जब किसी अनुकूल पद या पदोंके साथ जोड दिया जाता है तो वाक्यका अवयव बन जानेपर वह तब वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन न करता हुआ भी उस पदार्थके अंशका नियमसे प्रतिपादन करने लग जाता है।

वाक्य और महावाक्य ऐसे वचन हैं कि जिनमें यथावसर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका अथवा उसके अंशका प्रतिपादन संभव है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यमें अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह उस वाक्य अथवा महावाक्यका स्वतंत्र रूपमें ही प्रयोग करता है और वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यमें उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह उस वाक्य या महावाक्यका प्रयोग स्वतंत्र रूपमें न करके किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें किया करता है अथवा यों कहिये कि किसी वाक्य अथवा महावाक्यका कहीं पर किसी वक्ता या लेखक द्वारा यदि स्वतंत्र प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका ही प्रतिपादन होगा और यदि इसी वाक्य अथवा महावाक्यका वक्ता या लेखक द्वारा किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका ही प्रतिपादन होगा।

वाक्यका स्वतन्त्र रूपमें प्रयोग करनेके विषयमें उदाहरण यह है कि मान लीजिये एक व्यक्ति स्वामी है और दूसरा व्यक्ति उसका सेवक है। स्वामी पानी बुलानेरूप पदार्थका मनमें संकल्प करके सेवकको बोलता है—'पानी लाओ ?', सेवक भी इस एक ही वाक्यमें स्वामीके उस मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थको समझकर पानी लानेके लिये चल देता है। इस तरह यहाँपर 'पानी लाओ' यह वाक्य स्वामीके उल्लिखित पदार्थका ही प्रतिपादन कर रहा है तथा 'पानी' और 'लाओ' ये दोनो पद चूंकि 'पानी लाओ' इस वाक्यके अवयव बने हुए हैं अतः ये दोनों पद स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि उक्त दोनों पदोंको उक्त वाक्यसे पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमें प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें फिर वे दोनों ही पद न तो स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका प्रतिपादन करेंगे और न उस पदार्थके किसी अंशका ही प्रतिपादन कर सकेंगे।

स्वतन्त्र रूपसे प्रयुक्त महावाक्य अथवा उसके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त वाक्योंका उदाहरण यह है कि जब स्वामीका मनोगत अभिप्राय रूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ लोटा ले जाकर पानी लाने रूप हो ता वह अपने इस अभिप्रायरूप पदार्थको सेवकपर प्रगट करनेके लिये 'लोटा ले जाओ और पानी लाओ' इस तरह दो वाक्योंके समूहरूप महावाक्यका प्रयोग करता है।

यहाँ पर यह समझा जा सकता है कि 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनों वाक्य मिलकर एक महावाक्यका रूप धारण करके ही स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर रहे हैं तथा 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनो वाक्य जब तक 'लोटा ले जाओ और पानी लाओ' इस महावाक्यके अवयव बने हुए हैं तब तक दोनो ही वाक्य वक्ता या लेखकके उल्लिखित पदार्थके एक-एक अंशका प्रति-पादन कर रहे हैं। यदि इन दोनो वाक्योंको उनके समूहरूप उक्त महावाक्यमें पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमें प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें ये दोनो ही वाक्य स्वतंत्र रूपमें स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पृथक्-पृथक् दो पदार्थोंका प्रतिपादन करने लगेंगे। उस हालतमें ये दोनो वाक्य न तो स्वामीके उल्लिखित महावाक्यके प्रयोगमें प्रतिज्ञात पदार्थके अंशोका प्रतिपादन करेंगे और न पदकी तरह पदार्थके प्रतिपादनमें असमर्थ ही रहेंगे।

अनेक महावाक्योंके समूहरूप महावाक्य अथवा ऐसे महावाक्यके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त महावाक्योंका उदाहरण यह है कि आचार्य उमास्वामीने अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ मोक्षमार्ग और उसके विषयभूत सप्ततत्त्वोंका प्रतिपादन करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थरूप एक महावाक्यकी रचना की है तथा उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशभूत एक विषयका प्रतिपादन करनेके आधारपर उसके दश अध्यायरूप दश अंग बना दिये हैं उस तरह दश अध्यायरूप दश महावाक्योंका समुदायरूप तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ एक महावाक्यके रूपमें आचार्य श्री उमास्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर रहा है तथा उसके अंगभूत दशों अध्याय उस पदार्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि दूसरा कोई व्यक्ति इन दश अध्यायोंमें वर्णित प्रत्येक अध्यायके विषयका स्वतन्त्ररूपसे पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञात करके अलग-अलग दश ग्रन्थोंका निर्माण कर देता है तो उस हालतमें स्वतन्त्ररूपमें निर्मित वे दश ग्रन्थ अपने-अपने विषयका पूर्णरूपमें प्रतिपादन करने लगेंगे।

उपर्युक्त कथनमें एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि प्रयुक्त होने व पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पद, वाक्य और महावाक्यमें ही पायी जाती है व दूसरी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पद हमेशा वाक्यका अवयव होकर ही प्रयुक्त होता है और वह हमेशा पदार्थके अंशका ही प्रतिपादन करता है शेष वाक्य और महावाक्य दोनो ही कहीं तो प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते हैं और कहीं वे प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार ही किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं। वाक्य और महावाक्य जहाँ स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते हैं वहाँ तो वे प्रयोक्ताके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रति-पादन करते हैं और जहाँ किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें प्रयुक्त होते हैं वहाँ वे प्रयोक्ताके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशोंका ही प्रतिपादन करते हैं अथवा यों कहिये कि प्रयोक्ताको जहाँ किसी वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके स्वतन्त्र पदार्थका प्रतिपादन करना होता है वहाँ तो वह उनका प्रयोग स्वतन्त्र रूपमें अलग-अलग ही करता है और जहाँ इनसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना ही प्रयोक्ताका लक्ष्य रहता है वहाँ वह इनका प्रयोग अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें ही करता है।

वचनमें अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यका भेद करके जिस मान्यताका विवेचन किया गया है वह

सांशता जिस प्रकार ऊपर लौकिक वचनोंमें दर्शायी गयी है उसी प्रकार वह सांशता शास्त्रीय वचनोंमें भी दर्शायी जा सकती है। जैसे जैनदर्शनमें वस्तुको नित्य और अनित्य उभय धर्मात्मक माना गया है। इसके विपरीत सांख्य दर्शनमें उसे नित्यधर्मात्मक व बौद्धदर्शनमें उसे अनित्यधर्मात्मक स्वीकार किया गया है। इस तरह जैन दर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँ पर वह 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि उस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है। इसी प्रकार जैन दर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँ पर वह भी 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि इस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। इस तरह जैनदर्शनमें पाये जानेवाले इन दोनों प्रयोगोंमें हमेशा यथायोग्य नित्यानित्यात्मक वस्तुकी अंशात्मक नित्यता व अनित्यताका ही प्रतिपादन होता है। इसके विपरीत सांख्य दर्शनमें वस्तुको चूंकि सर्वथा नित्य माना गया है और बौद्धदर्शनमें उसे चूंकि सर्वथा अनित्य माना गया है अतः सांख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग एक दूसरे वचनका अवयव न हो कर दोनों ही स्वतन्त्र प्रयोग सिद्ध होते हैं। अतः सांख्य और बौद्ध दर्शनोंमें पाये जानेवाले उस-उस प्रयोगसे यथायोग्य पदार्थके रूपमें ही नित्यता अथवा अनित्यताका प्रतिपादन होता है, पदार्थके अंशके रूपमें नहीं।

इस कथनसे एक बात यह भी फलित होती है कि वचनमें अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेदोंके आधारपर जिस सांशताका प्रतिपादन किया गया है वह सांशता प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपसे पायी जाती है। जैनदर्शनमें प्रतिपादित वचनकी यह सांशता ही श्रुत-प्रमाणमें नयोत्पत्तिकी जननी है। आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

## नयोंका विकास

इस लेखके प्रारम्भमें ही हम बतला आये हैं कि नयोंका आधारस्थल प्रमाण होता है। इसके साथ ही जैनागममें स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि नय प्रमाणका अंशरूप ही होता है। यथा—

"नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥"

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ सू० ६ वा० २१

अर्थात् ज्ञानात्मक नय न तो अप्रमाणरूप होता है और न प्रमाणरूप ही होता है किन्तु प्रमाणका एकदेश (अंश) रूप ही होता है।

इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि नयव्यवस्था प्रमाणमें ही होती है, अप्रमाणमें नहीं। और दूसरी यह कि नय हमेशा प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है, वह स्वयं कभी पूर्ण रूप नहीं होता। अप्रमाणमें नयव्यवस्था नहीं होती—इसका खुलासा हम आगे करेंगे। अतः इसे छोड़कर यहाँ पर हम इस बातका स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि नय प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।'

—अ० १ सू० ६ वा० ४

अर्थात् प्रमाणके विषयभूत 'स्व' और 'पदार्थके एक देश (अंश)' का जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है।

इस पद्यमें नयको जो पदार्थके एक देश (अंश) का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है उससे सिद्ध होता है कि नय हमेशा प्रमाणका अंश ही हुआ करता है। सर्वार्थसिद्धिमें आचार्य पूज्यपादने भी लिखा है—

"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः।"

—तत्त्वा० १-६

अर्थात् पदार्थका पूर्णरूपसे ग्राहक प्रमाण होता है और उसके अंशका ग्राहक नय होता है।

इस तरह नय जब प्रमाणका अंश सिद्ध हो जाता है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध हो जाती है कि नयव्यवस्था सांश प्रमाणमें ही होती है, निरंश प्रमाणमें नहीं। इसका कारण भी यह समझना चाहिये कि निरंश ज्ञानमें

ज्ञानका अखण्ड भाव रहनेके कारण अंशोंका विभाजन नहीं हो सकता है। इसमे प्रमाणके पूर्वोक्त पाँच भेदोंमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है क्योंकि इन ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणका अखण्ड भाव ही पाया जाता है और चूंकि श्रुतज्ञानमे पदार्थग्रहणके अंशोंका विभाजन होता है। अतः उसमे नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है जैसा कि पूर्वमे बतलाया जा चुका है, कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमे उस-उस ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि पदार्थका ज्ञान सर्वात्मना न होकर अंशमुखेन ही होता है लेकिन वह ज्ञान होता अखण्डभावसे ही है। इसी तरह केवलज्ञानमे समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण पदार्थका ग्रहण यद्यपि सर्वात्मना होता है तो भी वह ज्ञान चूंकि युगपत् सम्पूर्ण अंशोका एक साथ ही हुआ करता है अतः वह भी अंशोंका भेद रहित अखण्डभावसे ही हुआ करता है। इस प्रकार इन चारों ज्ञानोंमे नयव्यवस्थाकी सिद्धि होना असम्भव बात है। लेकिन श्रुतज्ञानमे इन चारों ज्ञानोकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक साक्षवचनके अवलम्बनसे उत्पन्न होनेके कारण उसमे (श्रुतज्ञानमें) पदार्थका ज्ञान अखण्डभावसे न होकर पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ज्ञान होता हुआ सम्पूर्ण अंशोका ज्ञान हो जाया करता है इसलिये इस ज्ञानमे पदार्थग्रहणका सखण्डभाव रहनेके कारण नयव्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (१-३३-६) मे जो नयका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमे तो स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नयव्यवस्था श्रुतज्ञान ही मे होती है। यथा—

"नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।"

अर्थात् जिसके द्वारा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अंशका ज्ञान किया जाय वह नय कहलाता है।

नय व्यवस्था श्रुतज्ञानमे ही होती है मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे नहीं होती—इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थके निम्नलिखित वार्तिकोंमे भी होती है—

"मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात् ।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः ॥२५॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः ।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य नु ।
श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

—त० श्लो० १-६-२४,२५,२६,२७

इन वार्तिकोंका अर्थ यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमे नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन ज्ञानोमे निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है। अर्थात् ये तीनो ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करनेमे असमर्थ रहते है। केवलज्ञान यद्यपि अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है लेकिन उसके (केवलज्ञानके) ग्रहणमे स्पष्टता (प्रत्यक्षाकारता[1]) पायी जाती है जब नयोके ग्रहणमे परोक्षाकारता ही रहा करती है। इस प्रकार नयोंका उद्भव मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे न होकर श्रुतज्ञानमे ही होता है क्योंकि वह एक तो अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है। दूसरे उसमे परोक्षाकारता[2] पायी जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये दो बाते अपेक्षित है—एक तो प्रमाणकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता और दूसरा परोक्षाकारता। प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धि हेतु निःशेषदेशकालार्थविषयिताके सद्भावका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धि की जाय उसके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका विषय होना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानरूप प्रमाणोमे क्षायोपशमिकज्ञान

१. 'विशदं प्रत्यक्षम्।' —परीक्षामुख २-३।
२. 'आद्ये परोक्षम्।' —तत्त्वार्थसू० १-११।

होनेके कारण चूंकि निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है अतः इनमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिका विरोध किया गया है। इसी प्रकार प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि हेतु परोक्षाकारताका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्था की सिद्धि की जाय उस प्रमाणके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान क्रमशः होना आवश्यक है कारण कि पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान प्रमाण द्वारा यदि युगपत् होता है तो उसमें अंशोंका विभाजन होना असम्भव है। इसका निष्कर्ष यह है कि केवलज्ञानमें निःशेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव रहते हुए भी क्षायिकज्ञान होनेके कारण प्रत्यक्षाकारता आ जानेसे पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका ज्ञान चूंकि युगपत् अखण्ड भावसे ही हुआ करता है। अतः उसमें (केवलज्ञानरूप प्रमाणमें) भी नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है और चूंकि श्रुतज्ञान एक ऐसा प्रमाण है कि जिसमें निःशेषदेशकालार्थविषयिता और परोक्षाकारता दोनो ही बातें पायी जाती है अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा एक तो पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका ज्ञान होता है और दूसरे क्षायोपशमिक व वचनावलम्बी ज्ञान होनेके कारण उसमें (श्रुतज्ञानमें) परोक्षाकारताके आजानेसे पदार्थके उन संपूर्ण अंशोका ज्ञान क्रमशः सखण्डभावसे ही हुआ करता है अतः उसमें नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। स्वामी समन्तभद्रने श्रुतज्ञानको क्रमशः सर्वतत्वप्रकाशक स्वीकार किया है। यथा—

> स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
> भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

—आप्तमीमांसा १०५

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही पदार्थको सर्वात्मना ग्रहण करते है लेकिन केवलज्ञान जहाँ पदार्थको साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्षरूपमें युगपत् अखण्डभावसे ग्रहण करता है वहाँ श्रुतज्ञान उसे असाक्षात् अर्थात् परोक्षरूपमें क्रमशः सखण्डभावसे ही ग्रहण करता है।

तात्पर्य यह है कि पदार्थका जहाँ संपूर्णताके साथ ग्रहण होता है वहाँ पदार्थके सपूर्ण अंशोका ग्रहण होता हुआ भी यदि वह ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होता है तो उसमे पदार्थके वे सपूर्ण अंश युगपत् अखण्डभावसे ही गृहीत होते हैं और यदि वह ग्रहण परोक्षरूपमें होता है तो उसमें पदार्थके वे सपूर्ण अंश क्रमसे एक-एक अंशके रूपमें सखण्डभावसे ही गृहीत होते है।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोके मध्य इतना ही अंतर है कि केवलमें पदार्थके संपूर्ण अंशोका ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होनेके कारण युगपत् अखण्ड भावसे ही हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें पदार्थके संपूर्ण अंशोका ग्रहण परोक्ष-रूपमें होनेके कारण क्रमशः सखण्ड भावसे ही हुआ करता है।

स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि—

> 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
> क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥

—आप्तमीमांसा १०१

अर्थात् हे भगवन् आपके मतमें युगपत् सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् केवलज्ञान और स्याद्वादनयसे संस्कृत क्रमसे उत्पन्न होने वाला सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान दोनों ही प्रमाणरूप माने गये है।

इससे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें उल्लिखित प्रकारका अन्तर स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है।

इस तरह आगमप्रमाणोके आधारपर यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि नयव्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही होती है।

## श्रुतज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका स्पष्टीकरण

ऊपर तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र ६ के व्याख्यान स्वरूप तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके २४ से २७ संख्या तकके वार्तिकोंमें नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका कथन किया है। परन्तु उसका रूप ऐसा होना चाहिये कि वह श्रुतज्ञानके साथ-साथ केवलज्ञानमें तो पायी जाती हो, किन्तु मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञानमें न पायी जाती हो।

केवलज्ञानमें विद्यमान तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।' (१–२९) सूत्रमें प्रतिपादित निःशेष-

देशकालार्थविषयिता ऐसी है कि इसका श्रुतज्ञानमें पाया जाना संभव नहीं है, कारण कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी तरह श्रुतज्ञान भी तो क्षायोपशमिक ज्ञान है और यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके ही 'मतिश्रुतयो-र्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' ( १—२६ ) सूत्र द्वारा मतिज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमें भी उसका निषेध कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार विश्वमें अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता लिये हुए अनन्त वस्तुएँ विद्यमान हैं व इनमेंसे प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर अपने-अपने पृथक् अनन्त धर्मोंको समाये हुए है। विश्वकी इस प्रकार-की सभी वस्तुएँ 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्रके अनुसार अपने-अपने उन अनन्त धर्मोंके साथ केवलज्ञानका विषय तो होती हैं परन्तु 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।' सूत्रके अनुसार मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका विषय नहीं होती हैं।

इससे सिद्ध होता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें जो अनन्तधर्मात्मकता जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत की गयी है उसके आधारपर निष्पन्न ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता श्रुतज्ञानमें स्वीकृत नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रुतज्ञानमें उसका अभाव रहता है। इस तरह प्रकृतमें यह प्रश्न होता है कि, उक्त निःशेषदेशकालार्थविषयिताको छोड़कर ऐसी कौनसी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता है जो केवलज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमें पायी जाकर नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी हो ?

विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु जैनदर्शनकी मान्यतानुसार जिस प्रकार अनन्त-धर्मात्मक है उसी प्रकार वह अनेकान्तात्मक भी है। यहाँपर परस्पर विरोधी दो धर्मोंका एक ही साथ एक वस्तुमें पाया जाना उस वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें जैसे उसके अनन्तधर्म एक साथ रह रहे हैं वैसे ही परस्पर विरोधी दो धर्म भी रह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुकी अनेकान्तात्मकताके कथनमें जो अनेकान्त शब्द आया है उसमें गर्भित अनेक शब्दका अर्थ जैनदर्शनमें 'दो' लिया गया है। इसका कारण यह है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोंमें ही संभव हो सकती है, तीन, चार आदि संख्यात, असंख्यात व अनन्तधर्मोंमें नहीं। और इसका भी कारण यह है कि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक ही धर्म हो सकता है, दो, तीन, चार आदि धर्म नहीं, क्योंकि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक धर्म यदि है तो तीसरा एक धर्म उन दोनोंका प्रतिपक्षी कदापि नहीं हो सकता है अर्थात् तीसरा एक धर्म यदि प्रथम एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो प्रथम एक धर्मके प्रतिपक्षी दूसरे एक धर्मका वह नियमसे सपक्षी हो जायगा, और यदि वह दूसरे एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो उस हालतमें वह प्रथम एक धर्मका नियमसे सपक्षी हो जायगा। यही नियम चौथे, पाँचवें आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्तधर्मोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये। इस अभिप्रायसे ही जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष अनन्त वचनप्रयोगोंके आधारपर सप्तभंगीके विरुद्ध अनन्त-भंगीकी प्रसक्तिको परस्परविरोधी युगल धर्मोंके आधारपर अनन्त सप्तभंगीके रूपमें इष्ट मान लिया गया है। यथा—

'नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुर्न पुनः सप्तैव, वाच्येयत्तत्वाद्वाचकेयत्तायाः। ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति चेत्, न, विधीयमाननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात्, 'प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी वस्तुनि' इति वचनात्। ततो अनन्ताः सप्तभङ्ग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम्।'

—त० श्लोकवा० १-६-५२

अर्थात् शंका पक्ष कहता है कि एक वस्तुमें कथन करने योग्य जब अनन्तधर्म स्वीकार किए गए हैं तो इनका कथन करनेके लिये स्याद्वादियोंके सामने अनन्तसंख्यक वचनमार्गोंकी प्रसक्ति होती है, केवल सात वचनमार्गोंकी नहीं, क्योंकि जितने वाच्य होते हैं उतने ही वाचक हो सकते हैं, हीनाधिक नहीं, अतः सप्तभंगीकी मान्यता असंगत है ?

उत्तर पक्ष यह है कि सप्तभंगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान युगलधर्मोंके विकल्पोंके आधारपर जैन दर्शनमें स्वीकृत की गयी है, अनन्तधर्मोंके विकल्पोंके आधारपर नहीं, कारण कि 'प्रत्येक पर्यायमें सप्तभंगी सिद्ध होती है' ऐसा आगमका निर्देश है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्ममें विधीयमान और निषिध्यमान धर्म युगलकी स्वीकृतिके आधारपर सप्तभंगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभंगीके बजाय अनन्त सप्तभंगीकी स्वीकृति हम स्याद्वादियोंके लिये अनिष्ट नहीं है।

वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है। इन दोनोंमेंसे जैनेतर दर्शनकारोंके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि पृथ्वीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चतुष्टयको वे भी एक साथ स्वीकार करते हैं। परन्तु वे ( जैनेतर दर्शन ) वस्तुको अनेकान्तात्मक स्वीकार

करनेमें हिचकिचाते हैं। इसके विपरीत जैनदर्शनकारोंने वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप स्वीकार किया है। उपर्युक्त प्रकारके अनेकान्तको स्वीकृतिके आधारपर ही जैनदर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। और उसकी अस्वीकृतिके आधारपर ही जैनेतर दर्शनोंको एकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि परस्पर अविरोधी अनन्तधर्मोंकी सत्ता एक साथ एक ही वस्तुमें जैन और जैनेतर दोनों दर्शनोंमें स्वीकार की गयी है। परन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सत्ता एक साथ एक ही वस्तुमे जैनदर्शन तो स्वीकार करता है किन्तु जैनेतर दर्शन नही स्वीकार करते हैं। जैनेतर दर्शनोंमेंसे कोई दर्शन परस्पर विरोधी दो धर्मोंमें यदि एक धर्मको स्वीकार करता है तो द्वितीय धर्मका वह निषेधक हो जाता है और कोई जैनेतर दर्शन यदि द्वितीय धर्मको स्वीकार करता तो प्रथम धर्मका वह निषेधक हो जाता है। जैसे सांख्य दर्शन बतलाता है कि 'वस्तु नित्य है' और बौद्धदर्शन बतलाता है कि 'वस्तु अनित्य है।' परन्तु जैनदर्शन प्रतिपादन करता है कि 'वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है।'

अनेकान्तके अंगभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलके प्रत्येक वस्तुमें अनन्त विकल्प समाये हुए हैं। उनमेंसे अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिये आचार्य श्री अमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमे कतिपय परस्पर विरोधी धर्मयुगलोंकी गणना भी की है। यथा—

'यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तु-वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।'

अर्थात् जो ही वह है वही वह नही है, जो ही एक है वही एक नहीं है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नही है अर्थात् असत् है और जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है—इस प्रकार एक वस्तुके वस्तुत्व ( स्वरूप ) की निष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयका प्रकाशन करना ही अनेकान्त है।

इसका आशय यह है कि विश्वकी अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता ( प्रदेशवत्ता ), गुणरूपता ( स्वभाववत्ता ) और पर्यायरूपता ( परिणमनवत्ता ) को लिये हुए ही अस्तित्वको प्राप्त हो रही है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारको गाथा-संख्या एकके द्वारा यही बात बतलायी है। यथा—

'अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया—'

अर्थात् अर्थ यानी पदार्थ ( वस्तु ) द्रव्यरूपताको लिये हुए है, द्रव्य गुणात्मक होता है और द्रव्य तथा गुण दोनोमे पर्यायरुपता भी पायी जाती है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति ( प्रदेशरचना ) उपलब्ध होती है यही उसकी द्रव्यरूपता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपताके आधारपर अपनी पृथक्-पृथक् प्रकृति (स्वभावशक्ति) हुआ करती है—यही उसकी गुणरूपता है और इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और गुणरूपताके अनुरूप अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विकृति अर्थात् परिणति भी देखी जाती है। यह उसकी पर्यायरूपता है। प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त आकृतिरूप द्रव्यरूपता और प्रकृतिरूप गुणरूपता दोनों ही शाश्वत ( स्थायी ) है तथा विकृतिरूप पर्यायरूपता समय, आवली, मुहूर्त, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त होकर अशाश्वत ( अस्थायी ) है। जैनदर्शनमे इन्हीं तीन बातोंके आधारपर प्रत्येक वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य[1] वाली माना गया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमे द्रव्यपर्यायो और गुणपर्यायोंके रूपमें उत्पाद तथा व्यय एवं द्रव्यत्व तथा गुणत्वके रूपमे ध्रौव्यका सद्भाव जैनदर्शनद्वारा स्वीकार किया गया है।

प्रत्येक वस्तुकी उक्त प्रकारको द्रव्यरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह कदापि दूसरी वस्तुकी नही हो सकती है। अतः इस स्थितिके आधारपर ही जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि 'जो ही वह है वही वह नही है।' इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु कभी दूसरी दूसरे वस्तु नही बन सकती[2] है। यानी जीव पुद्गल आदि अन्य वस्तु नही बन सकता है, वह हमेशा जीव ही रहता है और

१. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' —तत्त्वार्थसूत्र ५-३०।
२. णवि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥
समयसारकी इस गाथाको आदि देकर ७७, ७८ और ७९ संख्याक गाथाओंमें आचार्य श्री कुन्दकुन्दने जो भी विवेचन किया है वह 'जो ही वह है वही वह नहीं है' इस सिद्धान्तके आधारपर ही किया है।

यहाँतक कि एक जीव कभी दूसरे जीवरूप भी परिणत नहीं हो सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार ही विश्वमें विद्यमान वस्तुओंकी नियत[1] परिमाणमें अनन्तानन्त संख्या निश्चित की गयी है।

ऊपर किये गये कथनके आधारपर प्रत्येक वस्तुके निम्न प्रकारसे तीन विकल्प-युगलोंके रूपमें अंश-भेद निर्धारित होते हैं—( १ ) एक द्रव्य उसके गुणोंके रूपमें, ( २ ) द्रव्य और उसकी पर्यायोंके रूपमें और ( ३ ) गुण और उसकी पर्यायोंके रूपमें। इन सभी विकल्प-युगलोंपर जब ध्यान दिया जाता है तो समझमें आ जाता है कि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक गुण विद्यमान रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणकी क्रमवर्ती अनेक पर्यायें हुआ करती हैं। इस आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जो ही एक है वही एक नहीं है अर्थात् अनेक है।'

प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ( अवस्था ) के आधार ही हुआ करता है। इनमेंसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने जो और जितने प्रदेश हैं वह उन्हीं और उतने प्रदेशोंके रूपमें सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके रूपमें वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधार पर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु आकाशके जिन और जितने प्रदेशोंपर स्थित है वह आकाशके उन और उतने ही प्रदेशोंपर सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न आकाशके अन्य प्रदेशोंपर वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है। काल द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार है कि जिन और जितने कालाणुओंसे वस्तु संबद्ध है वह उन और उतने कालाणुओंपर सत् है, उन कालाणुओंसे भिन्न अन्य कालाणुओंपर सत् नहीं है अर्थात् असत् है। व्यवहारकालके आधारपर भी जिस समय वस्तु विद्यमान है वह उस समय सत् है, अन्य कालमें वह असत् है। इसी तरह भावके आधारपर भी वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि कोई भी वस्तु अपनी जिस अवस्थामें विद्यमान है वह उसी अवस्थामें सत् है, उससे भिन्न अन्य अवस्थामें वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने अनेकान्तका लक्षण बतलाते हुए उल्लिखित विकल्पोंके साथ एक चौथा विकल्प यह भी बतलाया है कि जो ही नित्य है वही नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रत्येक वस्तु पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है क्योंकि वह द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको धारण किये हुए है। वस्तुका जहाँ तक द्रव्यरूपता और गुणरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक तो वह ध्रौव्यरूप है और जहाँ तक उसका पर्यायरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक वह उत्पाद और व्ययरूप है। इनमेंसे ध्रौव्य वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद तथा व्यय उसकी अनित्यताके चिह्न हैं।

जिस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए उस अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प-युगल बतलाये हैं उसी प्रकार उन्होंने समयसारकी गाथा १४२ की टीकामें आत्म-तत्त्वका अवलम्बन लेकर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प-युगलोंका प्रतिपादन किया है। इस तरह हम देखते हैं कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकारसे परस्पर विरोधी दो धर्मोंका आश्रय सिद्ध होती हुई अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है। इसका केवलज्ञानद्वारा सर्वात्मना ग्रहण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अतः इस अपेक्षासे केवलज्ञानमें निःशेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है व श्रुतज्ञानद्वारा परस्पर-विरोधी उक्त दोनों अंशोंमेंसे एक-एक अंशका क्रमसे ग्रहण होता हुआ सर्वात्मना ग्रहण सखण्ड भावसे हुआ करता है। अतः श्रुतज्ञानमें भी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। लेकिन मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा इस अनेकान्तात्मक वस्तुका न तो युगपत् अखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है और न क्रमशः सखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है। प्रत्युत अंशमुखेन सामान्यतया वस्तुका ही ग्रहण होता है। अतः इन तीनों ज्ञानोंमें उक्त प्रकारकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुकी परस्पर विरोधी धर्मद्वयात्मकतारूप अनेकान्तात्मकता उस ( वस्तु ) की पूर्णता है। उस वस्तुका इस तरहकी पूर्णताके साथ ग्रहण होना प्रमाणरूप है तथा अंशरूपसे ग्रहण होना नयरूप है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें वस्तुका ग्रहण यद्यपि अंशरूपसे ही होता है परन्तु वह ग्रहण अंशरूपमें विभाजित नहीं हो पाता है क्योंकि उस ग्रहणमें अंशमुखेन वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके अंशका नहीं। जैसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूपमुखसे रूपवान् वस्तुका ही ग्रहण

---

१. ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपततः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः।' आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा समयसार गाथा २ पर किया गया यह व्याख्यान इसी मान्यतापर आधारित है।

होता है वस्तुके एक अंशके रूपमें रूपका ग्रहण नहीं होता। यही कारण है कि अंशमुखेन वस्तुका ग्रहण होता हुआ भी वस्तुके अंशका अंशरूपसे ग्रहण न होनेसे मतिज्ञान निरंश प्रमाण ही मानने योग्य है। यही बात क्षायोपशमिकज्ञानरूप अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इस तरह ये तीनों ज्ञान कभी नयरूपताको प्राप्त नहीं होते है। केवलज्ञानमे वस्तुका ग्रहण सर्वात्मना होता है, इसलिये उसकी प्रमाणरूपता निर्विवाद है। लेकिन उसमे वस्तुके संपूर्ण अंग युगपत् गृहीत होनेके कारण पृथक्-पृथक् रूपमे गृहीत नहीं होते, इसलिये उसमे भी नयरूपताका अभाव सिद्ध हो जाता है। श्रुतज्ञानमें प्रमाणरूपता इसलिये सिद्ध होती है कि उसमे उल्लिखित अनेकान्तरूप पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है लेकिन चूंकि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारसे सांश वचनके आधारपर हुआ करती है। अतः जिस वचनसे अंशी (पूर्ण) रूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे तो प्रमाणरूप सांश वचन जानना चाहिये और जिस वचनसे अंशरूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे नयरूप अंशात्मक वचन जानना चाहिये। तथा इस तरहके प्रमाणरूप और नयरूप वचनोंके आधारपर उत्पन्न होने वाले श्रुतरूप ज्ञानको भी क्रमशः प्रमाणरूप और नयरूप जानना चाहिये।

## अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्थाका निषेध क्यों?

पूर्वमे यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि जिस प्रकार सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे सांशता सिद्ध होती है उसी प्रकार सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे भी सांशता सिद्ध होती है। इसलिये जिस प्रकार प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें भी नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होनेका प्रसंग उपस्थित होता है लेकिन आगमप्रमाणके आधारपर पूर्वमें यह बतलाया जा चुका है कि अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्था नहीं होती है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि सांशवचनके आधारपर उत्पन्न होनेकी समानता रहते हुए भी अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रमाण-रूप श्रुतज्ञानमें ऐसी विशेषता पायी जाती है जो उसमे नयव्यवस्थाका कारण बन जाती है और चूंकि वह विशेषता अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नहीं पायी जाती है, अतः उसमें नयव्यस्थाका निषेध संगत हो जाता है।

वह विशेषता यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान उसके अपने अनन्तधर्मोमेसे प्रत्येक धर्म उस वस्तुमे अपने विरोधी धर्मके साथ ही रह रहा है। जैसे घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटत्वधर्मका सद्भाव पाया जाता है उसी प्रकार उसमे घटत्वधर्मके विरोधी पटत्व आदि धर्मोका अभाव भी पाया जाना है। यही कारण है कि हमे घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटरूपताका ज्ञान होता है उसी प्रकार उसमे पटादि-रूपताके अभावका ज्ञान होना भी स्वाभाविक है। अब जैसा घटरूप वस्तुमें घटरूपताके सद्भाव और पटादिरूपताके अभावका ज्ञान हमे होता है वैसा ज्ञान उस घटरूप वस्तुमे हम यदि दूसरे व्यक्तिको कराना चाहे तो इसके लिये हमें तदनुकूल वचनको या तो मुखसे उच्चरित करना होगा या फिर उसे हस्तसे लिपिबद्ध करना होगा तब कहीं जाकर दूसरा व्यक्ति उच्चरित वचनको तो सुनकर व लिपिबद्ध वचनको पढ़कर ही घटरूप वस्तुके विषयमे हमारा पूर्ण अभिप्राय जान सकेगा। चूंकि यह बात निर्विवाद है कि प्रत्येक वचन शब्दकोष, शब्द व्युत्पत्ति अथवा शब्द परिभाषा आदिका अवलम्बन लेकर प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादक होता है। इसलिये जब हम 'यह घट है' यह वाक्य बोलते हैं तो इससे लक्षित वस्तुमें घटरूपताका प्रतिपादन तो हो जाता है परन्तु इससे उस वस्तुमे पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन कदापि नही हो पाता है। अतः लक्षित वस्तुमे घटरूपताके सद्भावके साथ पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन करनेके लिये 'यह घट है' इस वाक्यके साथ 'पटादि नही है' इस वाक्यका भी प्रयोग करना होगा, तब जाकर ही वचनके श्रोता या पाठकको वह लक्षित वस्तु घटरूपताको लिये हुए है व पटादिरूपताको लिये हुए नहीं है—ऐसा पूर्णता लिये हुए वस्तुका बोध होगा। इस तरह 'यह घट है' यह वाक्य और 'पटादि नहीं है' यह वाक्य दोनों ही 'यह घट है पटादि नही है' इस महावाक्यके अवयव हो जानेपर वस्तुका सही रूपमे प्रतिपादन करते हुए श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्वका सही रूपमें बोध करा सकते है।

यहाँ पर समझनेकी बात यह है कि 'यह घट है पटादि नहीं है' यह महावाक्य वस्तुतत्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादक होने व श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्वका पूर्णताके साथ ज्ञान करानेमे समर्थ होनेके कारण प्रमाणवाक्य है तथा इस महावाक्यके अवयवभूत 'यह घट है' और 'पटादि नहीं है' ये दोनों वाक्य नयवाक्य हैं व इन दोनों वाक्योंके समूहरूप 'यह घट है पटादि नहीं है' इस महावाक्यके जरिये श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्वका पूर्णता लिये हुए ज्ञान प्रमाणज्ञान है व इस महावाक्यके अवयवभूत 'यह घट है' और 'पटादि नही है' इन दोनों वाक्योसे

श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्त्वके एक-एक अंशका ज्ञान नयज्ञान है। यही बात 'वस्तु नित्य है और नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है' इस महावाक्य तथा इसके अवयवभूत 'वस्तु नित्य है' और वस्तु नित्य नही है अर्थात् अनित्य है' इन वाक्योंके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

अब देखना यह है कि अप्रमाणज्ञानमे नयव्यवस्था क्यो नही होती ? तो इसपर ध्यान देनेसे मालूम पड़ता है कि जितनी भी एकान्तवादकी मान्यतायें हैं उनमें जिस एक धर्मको जिस वस्तुमे स्वीकार किया गया है उस वस्तुमे उस धर्मके साथ उस धर्मके विरोधी धर्मको जैसा जैनदर्शनमें स्वीकार किया गया है वैसा उन मान्यताओंमे स्वीकार नही किया गया है। जैसे जैनदर्शन कहता है कि जब वस्तुमे पूर्वोक्त प्रकारसे आकृति, प्रकृति और विकृतिके रूपमे क्रमशः द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता पायी जाती है तो फिर यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता तो शाश्वत होनेसे नित्य है तथा उसकी पर्यायरूपता अशाश्वत होनेसे अनित्य है। लेकिन वस्तुतत्त्वकी यह स्थिति सही होते हुए भी जो दर्शन वस्तुको नित्य मानता है वह उसे अनित्य माननेके लिये तैयार नही है और जो दर्शन वस्तुको अनित्य मानता है वह उसे नित्य माननेके लिये तैयार नही है इसलिये ये दोनो ही एकान्तवादी दर्शन अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार 'वस्तु नित्य है' या 'वस्तु अनित्य है' इन दो वाक्योमेसे एक ही वाक्यमे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर देना चाहते है। लेकिन वास्तवमे बात यह है कि जैसा नित्यरूप या अनित्यरूप वस्तुको वे मानते है वैसा उस वस्तुका पूर्णरूप न होकर अंशमात्र सिद्ध होता है। अतः 'वस्तु नित्य है' और 'वस्तु अनित्य है' ये दोनों वाक्य पृथक् पृथक् रहकर चूंकि वस्तुका पूर्णरूपमे प्रतिपादन कर नही सकते है इसलिये तो इन्हे प्रमाणवाक्य नही कहा जा सकता है और वे एकान्तवादी दर्शन इन वाक्योंको वस्तुके अंशके प्रतिपादक माननेको तैयार नही है। इसलिये इन्हे नयवाक्य भी नही कहा जा सकता है। इस तरह ये दोनों ही वाक्य प्रमाण-वाक्य तथा नयवाक्यकी कोटिसे निकल कर अप्रमाण या प्रमाणासकी कोटिमें ही गर्भित होते है। इन्हे नयाभास इसलिये नही कहा जा सकता है कि एक नयके विषयको दूसरे नयके विषयरूपमे स्वीकार करना या कथन करना ही नयाभासका लक्षण है जो यहाँ पर घटित नही होता है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु नित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है और 'वस्तु अनित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। अब यदि कोई व्यक्ति वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपताको अनित्य तथा पर्यायरूपताको नित्य मानने या कहने लग जाय तो उस हालतमें ऐसी मान्यता या ऐसा कथन ही नयाभास माना जायगा।

इस प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य नयवाक्य है क्योंकि इसमें वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन होता है तथा साख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य प्रमाणाभास है या अप्रमाण है क्योंकि इस वाक्यमे साख्य वस्तुके नित्यतारूप अशका प्रतिपादन करना नही चाहता है और चूंकि वह नित्यतारूप अशसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करना चाहता है, जैसा प्रतिपादन होना असभव है, क्योकि वस्तु मात्र नित्यरूप ही नही है बल्कि नित्य होनेके साथ-साथ वह अनित्य भी है। इसी प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह वाक्य और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है।' यह वाक्य इन दोनोके विषयमें क्रमशः नयरूपता और अप्रमाणरूपताकी ऐसी ही व्यवस्था समझ लेना चाहिये।

## उपसंहार

इस संपूर्ण विवेचनका सार यह है कि विश्वकी संपूर्ण अनन्तानन्त वस्तुओंमेसे प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने इन अनन्त धर्मोंमेसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही प्रत्येक वस्तुमें रह रहा है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको जैनदर्शनमें अनेकान्तात्मक माना गया है। इस अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करना वचनका कार्य है। वचन भी यदि वस्तुके परस्परविरोधी दोनों धर्मोका प्रतिपादन करनेमे समर्थ है तो उसे प्रमाणरूप कहा जायगा और यदि वह परस्पर विरोधी दोनो धर्मोंमेसे एक-एक धर्मका प्रतिपादन करनेमे समर्थ है तो वह नयरूप माना जायगा। इसके विपरीत उक्त प्रकारके अनेकान्तात्मकरूपमे प्रसिद्ध वस्तुके किसी एक धर्मके रूपमें एकान्तात्मक मानकर उसे जिस वचन द्वारा प्रतिपादित किया जायगा वह वचन अप्रमाणरूप माना जायगा, क्योकि वस्तुका जैसा अनेकान्तात्मक स्वरूप है वैसा उस वचनमे प्रतिपादित नहीं होगा और जैसा एकान्तात्मक स्वरूप वस्तुका नही है वैसा उससे प्रतिपादित होगा। जिस वचनसे वस्तुका जो धर्म प्रतिपादित होना चाहिये यदि उससे विपरीत धर्मका जहाँ प्रतिपादन किया

जायगा वहाँ वह वचन नयाभासरूप माना जायगा। इसी तरह वचनसे उक्त प्रकारका जैसा प्रतिपादन वक्ता या लेखक द्वारा किया जायगा वैसा ही उस वचनसे श्रोता या पाठकको वस्तुके विषयमें बोध होगा। इस प्रकार वह बोध भी यथायोग्य प्रमाणरूप, नयरूप, अप्रमाणरूप या नयाभासरूप ही माना जायगा।

इस लेखमें हमने उत्पत्ति और विकासके आधारपर जैनदर्शनके नयवादको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। जैनागममें नयोंका विस्तार करते हुए द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय और व्यवहारनय इस प्रकार दो तरहसे नय-भेदोंका विवेचन पाया जाता है। इनमेंसे नयोंके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद वस्तुतत्त्वकी स्वरूपव्यवस्थाके आधारपर तथा निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद आध्यात्मिक दृष्टिकोणके आधारपर जैनागम द्वारा मान्य किये गये हैं। इनके अलावा जैनागममें और भी अर्थनय तथा शब्दनयके रूपमें नयोंका विवेचन पाया जाता है तथा अर्थनयके नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र व शब्दनयके शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत भेद भी जैनागममें देखनेको मिलते हैं। एवं सभी प्रकारके नयोंके उपभेद भी वहाँपर देखनेको मिलते हैं। इन सबका विस्तारसे विवेचन करनेकी वर्तमानमें अतीव आवश्यकता हो गयी है। कारण कि इस समय जैनसमाजमें जो तात्त्विक विवाद खड़े हो रहे हैं उनका कारण नयोंकी स्थिति को ठीक तरह नहीं समझ पाना ही है। लेकिन चूंकि लेख काफी विस्तृत हो गया है अतः स्वतन्त्र लेख द्वारा ही इन सबका विवेचन करना उचित होगा।

# जैनधर्म और जैनदर्शन : संक्षिप्त इतिवृत्त

[ ई० पू० २७०-३०० ई० ]

पं० नरोत्तम शास्त्री, बसईघियाराम

●

## भूमिका

ई० पृ० २७०-३०० तकका युग भारतीय धर्मोंके विकासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युगमें वैदिक धर्मका क्रियाकाण्ड आध्यात्मिक चिन्तनके रूपमें विकसित होने लगा था। ऐहिक और पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिए कर्मकाण्डके स्थानपर संयम, तप, त्याग, स्वावलम्बन एवं व्रताचरणको महत्त्व दिया जाने लगा था। बौद्ध और जैनागममें धर्मके इस परिवर्तित रूपके अनेक बीजसूत्र तो पाये जाते हैं ही, उपनिषदोंके अध्ययनसे भी धर्मकी बदलती हुई धाराका परिज्ञान होता है। छान्दोग्योपनिषद्में नारद सनत्कुमारके समक्ष अनेक विद्याओंके ज्ञाताके रूपमें प्रश्न करते हैं :—

**सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्। छान्द० ७।१।३**

भगवन्! मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूं, आत्मवेत्ता नहीं। मैंने आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, और हे भगवन्! मैं शोक करता हूं, अतः आप मुझे शोकसे पार कर दीजिए।

कठोपनिषद्में भी यमराजने नचिकेताकी जिज्ञासानुसार आत्मा और पुनर्जन्मका विवेचन किया है। अतः स्पष्ट है कि धर्मका स्वरूप परिवर्तित होने लगा था। मज्झिमनिकायके महासिंहनादसुत्तमें तपोंका विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है। इस ग्रन्थमें तप चार प्रकारके बतलाये गये हैं—(१) तपस्विता (२) रूक्षता (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। तपस्विताके अन्तर्गत नग्न रहना, अंजुलीमें भोजन करना, केशलुञ्च करना, ऊबड़-खाबड़ भूमिपर शयन करना एवं शरीर-इन्द्रियोंका निग्रह करना, लिया गया है। रूक्षतासे शरीरपर धूल जमाये रखना और जुगुप्सासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी हिंसाका तिरस्कार करना अभिप्रेत है। प्रविविक्ततामें एकाकी विहार करनेका अर्थ ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्रमें यज्ञीय धर्मका परिवर्तित रूप दृष्टिगोचर होता है। पापकर्मोंको दूर करनेके लिए यज्ञीय विधानको सम्पादित करनेकी नयी विधि प्रतिपादित की गयी है

**सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकं खमाणा।**
**वोसट्ठकाया सुइ चत्तदेहा महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥**

—उत्तरा० १२।४२

पाँच संवरोंसे संवृत्त, संयमी, परीषहोंको सहन करनेवाले, शरीरमें ममत्वत्यागी एवं आत्मशोधक जीव ही कर्मोंको जय करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

यज्ञके स्वरूपकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए लिखा है—

**तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।**
**कम्मेहा संजम जोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥**

—उत्तरा० १२।४४

तपरूप अग्नि है, जीव अग्निका स्थान है, तीनों योग स्रुवा है, शरीर करीषाग है, कर्म समिधा— इन्धन है और संयमकी प्रवृत्ति शान्तिपाठ है। इस प्रकारके हवनसे—चारित्ररूप अनुष्ठानमें ऋषियों द्वारा प्रशस्त मानी गयी अग्निको प्रसन्न करता हूँ।

स्पष्ट है कि हमारे अभीष्ट युगमें श्रमणधाराके साथ वैदिक धारामें भी अहिंसा और तपको महत्त्व प्राप्त होने लगा था। इसी कारण जैनधर्मके अनुष्ठानमें वैदिक धर्म-तत्त्वोंकी अहिंसामूलक व्याख्याएँ प्रयुक्त होने लगीं थीं।

सम्राट् अशोकके शासनकालसे लेकर नाग-वकाटक युगकी समाप्ति और गुप्त साम्राज्यके उदयके पूर्व तकका समय जैनधर्मके इतिहासकी दृष्टिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ई० पू० १५० के लगभग कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने कुमारी पर्वत[1] पर मुनि सम्मेलन बुलाया था, जिससे ग्रन्थलेखन आन्दोलनको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मथुराके कंकाली टीलासे प्राप्त कुषाणकालीन सरस्वती देवीकी मूर्त्तियोंसे भी उक्त आन्दोलनका समर्थन होता है। डॉ० ज्योतिप्रसादजीने लिखा है[2]

'मथुरासे प्रचारित इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तरभारतके कुन्दकुन्द, शिवार्य, कुमारनन्दि, विमलसूरि, उमास्वामी आदि अनेक निर्ग्रन्थाचार्य ईस्वी सन्‌के प्रारम्भके पूर्व ही ग्रन्थ रचनामें प्रवृत्त हो गये और आगमोंके संकलनकी आवाज बुलन्द करने लगे। अतः प्रथम शती ई० में ही कम-से-कम दक्षिणापथके दिगम्बराचार्योंने अपने अवशिष्ट आगमज्ञानको संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाला तथा आगम परम्पराके आधारसे द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोगके भी ग्रन्थ रचने आरम्भ कर दिये।'

इस निबन्धके प्रारम्भमें ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारोंका परिचय प्रस्तुत करनेके अनन्तर उक्त युगमें पल्लवित सिद्धान्तोंका संक्षिप्त इतिवृत्त अंकित किया जायगा। संघभेद एवं पाटलिपुत्र, मथुरा और वलभी में संकलित श्वेताम्बर आगमोंके सम्बन्धमें भी यहाँ प्रकाश डालना शक्य नहीं है।

## आचार्य परम्परा

ई० पू० ५२७ में भगवान् महावीरके निर्वाणके पश्चात् गौतम गणधर संघनायक[3] हुए। बारह वर्षके पश्चात् उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया और सुधर्माचार्यको संघनायकका पद प्राप्त[4] हुआ। इन्होंने भी बारह वर्षोंतक संघका संचालन किया। अनन्तर जम्बूस्वामीको संघनायकत्व प्राप्त हुआ। इन्होंने अड़तीस वर्षों तक जैनसंघकी सुव्यवस्था की।[5] इन तीन केवलियोंके पश्चात् नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए[6]। इन पाँचोंका सम्मिलित समय एक सौ वर्ष है। अनन्तर विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वज्ञानके धारी[7] हुए। इन पूर्वधारियोंने एकसौ तिरासी वर्षोंतक जैनसंघका संचालन किया। इनके पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच ग्यारह अंगधारी आचार्य हुए[8]। इनका संचालनकाल दो-सौ-बीस वर्ष है। अनन्तर एक-सौ-अठारह वर्षोंमें सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य अंग और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता हुए। इस प्रकार ई० पू० ५२७-५९ ई० तक आचार्योंकी परम्परा चलती रही और जैनधर्मका प्रचार-प्रसार होता रहा। वाङ्मयके रूपमें जो रचनाएँ प्रस्तुत की गयी, उनका विवरण निम्न प्रकार है।

## गुणधराचार्य और उनकी रचना

गुणधर पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व स्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसाय पाहुड'के पारगामी थे। इन्होंने 'पेज्जदोस-पाहुड' नामक ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'कसायपाहुड' भी है। गुणधरने अपने इस ग्रन्थका व्याख्यान

---

१. तेरसमे च वसे सुपवत विजय-चक-कुमारीपवते······कति समणासुविहितानं च—हाथीगुफा-शिलालेख पंक्ति १४-१५।

२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, द्वितीय संस्करण पृ० १३७।

३. ४. ५. तिलोयपण्णत्ति ४।१४७६—१४७७, तथा 'अंतिमजिणणिव्वाणे ··· अट्ठतीसवासमहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो'।
—प्राकृत पट्टावली, जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४, पृ० ७१।

६. णंदी य णंदिमित्तो बिदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
·· ··· ··· ··· हुवेदि वाससदं॥
—तिलोयपण्णत्ति ४।१४८२-१४८४।
The Jaina sources of the history of Ancient India By Dr. J. P. Jain, Poage 702

७. पढमो विसाहणामो पुट्ठिल्लो खत्तिओ जओ णागो···तेसीदी सदं च ताण वासाणि॥ —तिलोय० ४।१४८५-८६।

८. णक्खत्तो जयपालो···पंच इमं वीरतित्थम्मि॥ —वही ४।१४८८।
तथा—प्राकृत पट्टावली गाथा ४-६—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४ पृ० ७२।

नागहस्ति और आर्यमंक्षुको किया था। अर्हद्बलि द्वारा स्थापित संघोंमें एक संघका नाम गुणधर संघ प्राप्त होनेसे इनका समय अर्हद्बलिसे पूर्ववर्ती है। प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका समय वीरनिर्वाण संवत् ५६५ अर्थात् ई० सन् ३८ है। अतः गुणधरका समय इनसे पूर्व सिद्ध है। अब यहाँ यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गुणधरकी परम्पराको पर्याप्त यश अर्जन करनेपर ही 'गुणधरसंघ' की संज्ञा प्राप्त हुई होगी। यदि इस यश अर्जनका काल सौ वर्ष माना जाय तो गुणधरका समय ई० पू० द्वितीय शती सिद्ध होता है।

'पेज्जदोस' में दो शब्द संयुक्त हैं—पेज्ज और दोस। पेज्जका अर्थ प्रेयम् या राग है और दोषका अर्थ द्वेष। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमें राग और द्वेषका निरूपण किया गया है। क्रोधादि कषायोंकी राग-द्वेष परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश सम्बन्धी विशेषताओंका विवेचन ही इस ग्रन्थका मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रन्थ गाथा-सूत्रोंमें लिखा गया है और इसमें कुल २३३ गाथा सूत्र हैं। सूत्रकी परिभाषामें बताया गया है :—

**सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।**
**सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वकहियं च॥**

**—धवला टीका वग्गणाखण्ड भाग १-३६०-३८१**

**अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।**
**सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं॥**

**—सूत्रपाहुड गाथा १**

अर्थात् सूत्र वह है, जिसका कथन गणधर प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वीने किया हो। आचार्य कुन्दकुन्दके मतसे अर्हन्तके द्वारा कहा गया और गणधरों द्वारा ग्रथित सूत्र है।

पेज्जदोसपाहुड या कसायपाहुडमें कुल सोलह अधिकार हैं। पहला अधिकार पेज्जदोसविभत्ति नामका है। इस अधिकारमें संसार परिभ्रमणका कारण कर्मबन्ध बताया है और कर्मबन्धका कारण राग-द्वेष। राग-द्वेषका दूसरा नाम कषाय है। इनके स्वरूप और भेद-प्रभेदोंका इस अधिकारमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। शेष अधिकारोंकी नामावली निम्न प्रकार है।

२. **स्थिति-विभक्ति-अधिकार**—प्रथम अधिकारके प्रकृति विभक्ति, स्थिति विभक्ति आदि छः अवान्तर अधिकार बताये हैं। उनमेंसे प्रकृति विभक्तिका वर्णन प्रथम अधिकारमें किया है। कर्मप्रकृतिका स्वरूप, कारण, एवं भेद-प्रभेद इस अधिकारमें वर्णित है।

३. **अनुभाग-विभक्ति**—कर्मफलदानशक्तिका प्रतिपादन इस अधिकारमें किया है। इसमें प्रदेश, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तक ये तीन अवान्तर अधिकार भी हैं।

४. **बन्ध-अधिकार**—जीवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके निमित्तसे पुद्गल-परमाणुओंका कर्मरूपसे परिणमन होकर जीवके प्रदेशोंके साथ एकक्षेत्ररूपसे बंधनेको बंध कहते हैं। इस अधिकारमें कर्मबन्धका निरूपण किया गया है।

५. **संक्रम-अधिकार**—बँधे हुए कर्मोंका यथासंभव अपने अवान्तर भेदोंमें संक्रान्त या परिवर्तित होनेको संक्रम कहते हैं। इस अधिकारमें बन्धके समान संक्रमके अवान्तर भेदोंका भी वर्णन किया है।

६ **वेदक अधिकार**—मोहनीय कर्मके फलानुभवनका वर्णन इस अधिकारमें किया गया है। उदय और उदीरणाकी व्याख्याएँ इस अधिकारमें की गयी हैं। स्थितिके अनुसार निश्चित समयपर कर्मके फल देनेको उदय कहते हैं और उपाय विशेषसे असमयमें ही निश्चित समयके पूर्व फल देनेको उदीरणा कहते हैं। यथा-आमका समयपर पककर स्वयं गिरना उदय है और पकनेके पूर्व ही उसे तोडकर पाल आदिमें पका देना उदीरणा है। इस अधिकारमें अनेक अनुयोग द्वारोंसे उदय और उदीरणाका विवेचन किया है।

७. **उपयोग-अधिकार**—जीवके क्रोध, मान, मायादिरूप परिणामोंके होनेको उपयोग कहते हैं। इस अधिकार में क्रोधादि चारों कषायोंके उपयोगका वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि एक जीवके एक कषायका उदय कितने समयतक रहता है। कषाय और जीवके सम्बन्धोंका विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विवेचन किया है।

---

१. पंचसये पणसट्ठे अंतिमजिणसमयजादेसु। उप्पण्णा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा॥
अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली। अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो॥

—प्राकृत पट्टावली, गा० १५-१६ जैन सिद्धान्तभास्कर भाग १, किरण ४ पृ० ७१।

८. **चतुःस्थान-अधिकार**—इस अधिकारमें शक्तिकी अपेक्षा कषायोंका वर्णन किया गया है। क्रोध चार प्रकारका है—पाषाणरेखाके समान, पृथ्वीरेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान। जिस प्रकार पाषाणपर खींची गयी रेखा बहुत समयके बाद मिटती है, उसी प्रकार जो क्रोध तीव्र रूपमें अधिक समयतक रहनेवाला हो, वह पाषाण रेखाके तुल्य है। यही क्रोध कालान्तरमें शत्रुताके रूपमें परिणत हो जाता है। पृथ्वी; धूलि और जलरेखाएँ उत्तरोत्तर कम समयमें मिटती हैं, इसी प्रकार क्रोध भी उत्तरोत्तर कम समयतक रहता है तथा उसकी शक्तिमें भी तारतम्य निहित रहता है। उसी तरह अन्य कषायोंका भी निरूपण किया गया है।

९. **व्यञ्जन-अधिकार**—व्यञ्जन शब्दका अर्थ 'पर्यायवाची' शब्दोंका निरूपण करना है। इस अधिकारमें क्रोध के पर्यायवाची रोष, अक्षमा, कलह, विवाद, कोप, संज्वलन, द्वेष, झंझा, वृद्धि और क्रोध ये दस शब्द हैं। गुस्साको क्रोध या कोप कहते हैं; क्रोधके आवेशको रोष, शान्तिके अभावको अक्षमा; स्व और पर दोनोंको जलावे—सन्ताप उत्पन्न करे उसे संज्वलन; दूसरेसे लड़नेको कलह; पाप, अपयश और शत्रुताकी वृद्धि करनेको वृद्धि; अत्यन्त संक्लेश परिणामको झंझा; आन्तरिक अप्रीति या कलुषताको द्वेष एवं स्पर्धा या संघर्षको विवाद कहा है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ कषायके पर्यायवाची शब्दोंका व्याख्या सहित विवेचन किया गया है।

१०. **दर्शनमोहोपशमन-अधिकार**—दर्शनमोहनीय कर्म जीवको अपने साक्षात्कार या यथार्थ प्रतीतिसे रोकता है। अतः उसके उपशम होनेपर कुछ समयके लिए उसकी शक्तिके दब जानेपर जीव अपने वास्तविक ज्ञान-दर्शनस्वरूपका अनुभव करता है, जिससे उसे वचनातीत आनन्दकी उपलब्धि होती है। इस अधिकारमें दर्शनमोहको उपशम करनेकी प्रक्रिया वर्णित है।

११. **दर्शनमोहक्षपण-अधिकार**—दर्शनमोहका उपशम होनेपर भी कुछ समयके पश्चात् उसका उदय आनेसे जीव आत्म-साक्षात्कारसे वंचित हो जाता है। अतः दर्शनमोहका क्षय करना आवश्यक है। प्रस्तुत अधिकारमें दर्शनमोहके क्षयकी प्रक्रिया वर्णित है।

१२. **संयमासंयमलब्धि-अधिकार**—आत्मस्वरूपके साक्षात्कारके पश्चात् जीव मिथ्यात्वरूपी कीचड़से निकल जाता है और विषय-वासनारूपी पंकमें पुनःलिप्त न हो, इस कारण देशसंयमका पालन करने लगता है। इस अधिकारमें देशसंयमकी प्राप्ति, संभावना एवं उसकी विघ्न-बाधाओंका वर्णन किया गया है। आत्मशोधनके मार्गमें अग्रसर होनेके लिए इस अधिकारकी उपयोगिता अधिक है।

१३. **संयमलब्धि-अधिकार**—आत्माकी प्रवृत्ति हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहसे हट कर साम्य—अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंके पालन करनेमे संलग्न हो सके, इस प्रक्रियाका विवेचन प्रस्तुत अधिकारमे किया गया है। आत्मोत्थानका साधन संयम ही है।

१४. **चारित्रमोहोपशमन-अधिकार**—इस अधिकारमें चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमका विधान बतलाते हुए उपशमके भेद-प्रभेदोंका निरूपण किया है।

१५. **चारित्रमोहक्षपण-अधिकार**—चारित्रमोहनीय कर्मको प्रकृतियोंके क्षयका क्रम, क्षयकी प्रक्रियामें होनेवाले स्थिति-बन्ध और स्थिति-सत्त्वोंका विवेचन किया गया है।

१६. **पश्चिमस्कन्ध-अधिकार**—इस अधिकारमें आत्माकी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अवस्थाका चित्रण तथा अघातिया कर्मोंके क्षय करनेके क्रमका निरूपण किया है। गुणस्थानक्रमारोहण द्वारा आत्माकी शुद्धिका निरूपण तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें विधेय कार्योंका कथन विस्तारपूर्वक किया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थमें राग-द्वेष-मोहका विस्तृत विवेचन करनेके लिए कर्मोंकी विभिन्न स्थितियोंका चित्रण किया है। कर्म किस स्थितिमें किस कारणसे आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, उनके इस सम्बन्धका आत्माके साथ किस प्रकार सम्मिश्रण होता है, किस प्रकार फलदान शक्ति उत्पन्न होती है और कितने समय तक कर्म आत्माके साथ लगे रहते हैं, आदि बातोंका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन किया गया है। आत्माको अजर, अमर और अविनाशी ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय सिद्धकर उसके निजस्वरूपको विकृत करनेवाले राग-द्वेष-मोहका सुन्दर विवेचन किया है। ईस्वी पूर्व द्वितीय शतीमें आत्मा, उसमें उत्पन्न होनेवाले विकार एवं विकारोंको दूर करनेकी प्रक्रियाका विवेचन कर्म-सिद्धान्तकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

## धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि तथा उनकी रचनाएँ

गुणधराचार्यके पश्चात् अंग-पूर्वोके एकदेश ज्ञाता धरसेनाचार्य हुए। ये सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप उर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफामें निवास करते थे। ये परवादीरूप हाथियोंके समूहका मदनाश करनेके लिए श्रेष्ठ सिंहके समान थे। अष्टाङ्ग[1] महानिमित्तके पारगामी और लिपिशास्त्रके ज्ञाता थे। वर्तमानमें उपलब्ध श्रुतकी रक्षाका सर्वाधिक श्रेय इन्हींको प्राप्त है। कहा जाता है कि प्रवचन-वत्सल धरसेनाचार्यने अंगश्रुतके विच्छेद हो जानेके भयसे महिमा नगरीमें सम्मिलित दक्षिणापथके आचार्योंके पास एक पत्र भेजा। पत्रमें लिखे गये धरसेनके आदेशको स्वीकार कर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थको ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ विविध प्रकारके चारित्रमें उज्ज्वल और निर्मल, विनयमें विभूषित शीलरूपी मालाके धारी, सेवाभावी, देश-कुल-जातिमें शुद्ध, समस्त कलाओंके पारगामी एवं आज्ञाकारी दो साधुओंको आन्ध्र देशकी वन्या नदीके तटसे रवाना किया। इन दोनों मुनियोंके मार्गमें आते समय धरसेनाचार्यने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान श्वेतवर्णके दो बैलोंको अपने चरणोंमें प्रणाम करते हुए देखा। प्रातः-काल उक्त दोनों साधुओंके आनेपर धरसेनाचार्यने उन दोनोंकी परीक्षा ली और जब आचार्यको उनकी योग्यता पर विश्वास हो गया, तब उन्होंने अपना श्रुतोपदेश देना आरम्भ किया, जो आषाढ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ। गुरु धर-सेनने इन दोनों शिष्योंका नाम पुष्पदन्त और भूतबलि रखा। गुरुके आदेशसे ये शिष्य गिरनारसे चलकर अंकुलेश्वर आये और वहीं उन्होंने वर्षाकाल व्यतीत किया। अनन्तर पुष्पदन्त आचार्य बनवास देशको और भूतबलि तामिल देशकी ओर चले गये।

पुष्पदन्तने जिनपालितको दीक्षा देकर उसके अध्यापन हेतु सत्प्ररूपणा तकके सूत्रोंकी रचना की और उन्होंने उन सूत्रोंको सम्मत्यर्थ भूतबलिके पास भेज दिया। भूतबलिने जिनपालितके पास उन सूत्रोंको देखकर और पुष्पदन्त आचार्यको अल्पायु जानकर महाकर्मप्रकृतिपाहुडका विच्छेद न हो जाय, इस ध्येयसे आगे द्रव्यप्रमाणादि अनुगमोंकी रचना की। इन दोनों आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ षट्खण्डागम कहलाता है। इस ग्रन्थकी सत्प्ररूपणाके १७७ सूत्र पुष्पदन्तने और शेष समस्त सूत्र भूतबलिके द्वारा रचित हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि श्रुतके व्याख्याता धरसेन हैं और रचयिता पुष्पदन्त तथा भूतबलि।

इन आचार्योंके समयके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे तो ज्ञात नहीं है, पर इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतारमें लोहाचार्यके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आरातीय—आचार्योंका उल्लेख मिलता है और तत्पश्चात् अर्हद्बलिका तथा अर्हद्बलिके अनन्तर धरसेनाचार्यका नाम आता है। इन्द्रनन्दिके अनुसार कुन्दकुन्द षट्खण्डागमके टीकाकार हैं। अतः पुष्पदन्त और भूतबलिका समय कुन्दकुन्दसे पूर्व है। विद्वानोंने अनेक पुष्ट प्रमाणोंके आधार पर कुन्दकुन्दाचार्यका समय ई० सन् प्रथम शती सिद्ध किया है, अतएव षट्खण्डागमका रचना प्रथमशतीमें होनी चाहिए।

प्राकृत पट्टावलिमें श्रुतधरोंकी जो परम्परा अंकित है, उसमें भी षट्खण्डागमका रचनाकाल ई० सन् प्रथम शताब्दी आता है। पट्टावलिमें बताया है

> अहिवल्लि माघनन्दि य धरसेणं पुप्फयंत भूतबली।
> अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥

—जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४ पृ० ७३

इस पट्टावलिके अनुसार अर्हद्बलिका समय ई० सन् ३८ है, माघनन्दिका ई० सन् ६६ और धरसेनका ई० सन् ८५ आता है। धरसेनके जीवनकालमें ही षट्खण्डागम लिखा गया है। धरसेन माघनन्दिके समयमें वर्तमान थे, पर पट्टावलिमें माघनन्दिके पट्टके पश्चात् ही धरसेनके पट्टका उल्लेख आया है। धरसेनके अनन्तर बीस वर्ष तक भूतबलि-पुष्पदन्तके कालका निर्देश प्राप्त होता है। यों तो अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि ये पाँचों आचार्य सम समयवर्ती हैं, पट्टावलिमें इनका काल ११८ वर्ष माना गया है। अतः ई० सनकी प्रथम शतीमें इनका परस्परमें साक्षात्कार अवश्य हुआ होगा।

## षट्खण्डागम (छक्खंडागम) सूत्र

इस आगम ग्रन्थमें छः खण्ड हैं—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेदना, वग्गणा, और महाबन्ध।

---

१. तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयरपट्टण-चन्दगुहा-ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण···
—जीवट्ठाण सत्प्ररूपणा, १ पुस्तक पृ० ६७-६८।

२. देखिये—प्राकृत भाषा और साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी, १९६६ ई० पृ० २१२।

इस ग्रन्थका विषय स्रोत बारहवें दृष्टिवाद श्रुतांगके अन्तर्गत द्वितीय पूर्व अग्रायणीयके चयनलब्धि नामक पञ्चम अधिकार के चतुर्थ पाहुड कर्मप्रकृतिको माना जाता है।

१. जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्डमें जीवके गुण, धर्म और नाना अवस्थाओंका सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ प्ररूपणाओंमें वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर नौ चूलिकाएँ हैं, जिनके नाम प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्यस्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-अगति हैं। सत्प्ररूपणाके प्रथम सूत्रमें पञ्चनमस्कारमन्त्रका पाठ है। इस प्ररूपणाका विषय-विवेचन ओघ और आदेश क्रमसे किया गया है। ओघमें आत्मोत्क्रान्तिके द्योतक मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति आदि चौदह गुणस्थानोंका और आदेशमें गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि चौदह मार्गणाओंका विवेचन है। सत्प्ररूपणाके ४० वे सूत्रसे ४५ वें सूत्र तक छह कायके जीवोंका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। जीवोंके बादर और सूक्ष्म भेदोंके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद किये गये हैं। वनस्पति कायके साधारण और प्रत्येक ये दो भेद किये हैं। जीवट्ठाण खण्डकी दूसरी प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगम है। इसमें १९२ सूत्रोंमें गुणस्थान और मार्गणाक्रमसे जीवोंकी संख्याका निर्देश किया गया है। इस सन्दर्भमें गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यस्त राशि आदि गणितकी मौलिक प्रक्रियाओंका उल्लेख भी किया गया है। क्षेत्रप्ररूपणामें ९२ सूत्र हैं और विभिन्न दृष्टियोंसे जीवके क्षेत्रका निरूपण किया गया है। स्पर्शन प्ररूपणामें १८५ सूत्र है। विभिन्न दृष्टियोंसे जीवोंके स्पर्शन क्षेत्रका निर्देश किया गया है। कालानुयोगमें ३४२ सूत्र है। इस प्ररूपणामें एक जीव और नाना जीवोंके एक गुणस्थान और मार्गणामें रहनेकी जघन्य और उत्कृष्ट मर्यादाओंकी कालावधिका कथन किया गया है अन्तर प्ररूपणामें ३९७ सूत्र हैं। इन सूत्रोंमें बताया गया है कि जब विवक्षित गुण गुणान्तररूपमें संक्रमित हो जाता है और पुनः उसकी प्राप्ति होती है तो मध्यके कालको अन्तर कहते हैं। यह अन्तर काल सामान्य और विशेपकी अपेक्षासे दो प्रकारका होता है। सूत्रकारने एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षा एक ही गुणस्थान और मार्गणामें रहनेकी जघन्य और उत्कृष्ट कालावधिका निर्देश करते हुए अन्तर कालका निरूपण किया है। भावानुयोगमें ९३ सूत्र हैं। इनमें गुणस्थान और मार्गणा क्रमसे जीवोंके औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावोंके भेद-प्रभेदों और स्थितियोंका निरूपण किया है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय-कर्मप्रकृतियोंके उदय, उपशम, क्षयोपशमादिकी विभिन्न अवस्थाएँ भी वर्णित है। अल्पबहुत्व प्ररूपणामें ३८२ सूत्र हैं। इस प्ररूपणामें नाना दृष्टियोंसे जीवोंका हीनाधिक संख्याका विवेचन किया है। अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें उपशम सम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानोंकी अपेक्षा प्रमाणमें अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं। इनमें अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टिजीव संख्यात गुणित है। क्षीणकषाय गुणस्थानवाले जीवोंकी संख्या भी इतनी ही है। सयोगकेवली समयकी अपेक्षा प्रविश्यमान जीवोंसे संख्यात् गुणित हैं।

उपर्युक्त आठ प्ररूपणाओंके अतिरिक्त जीवस्थानकी नौ चूलिकाएँ हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामकी चूलिकामें ४६ सूत्र हैं। क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओंमें जीवके क्षेत्र और काल सम्बन्धी जो परिवर्तन बतलाये गये हैं, वे विशेष कर्मबन्धके कारण ही उत्पन्न हो सकते है। इन सभी चूलिकाओंमें कर्मबन्ध, कर्मबन्धका अधिकारी जीव, कर्मका आबाधा काल, कर्मस्थिति, आत्मोत्क्रान्तिके लिए सम्यक्त्वकी आवश्यकता, सम्यक्त्व उत्पत्तिका काल आदिका विस्तृत विवेचन है। इस जीवट्ठाणखण्डमें २३७५ सूत्र हैं और यह सत्रह अधिकारोंमें विभाजित हैं।

२. खुद्दाबंध ( क्षुद्रकबन्ध )—कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे यह द्वितीय खण्ड बहुत ही उपयोगी है। इसमें मार्गणास्थानोंके अनुसार बन्धक और अबन्धक जीवोंका विवेचन किया गया है। इसमें ग्यारह अनुयोग द्वार हैं :—

(१) एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व
(२) एक जीवकी अपेक्षा काल
(३) एक जीवकी अपेक्षा अन्तर
(४) नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय
(५) द्रव्यप्रमाणानुगम
(६) क्षेत्रानुगम
(७) स्पर्शानुगम
(८) नाना जीवोंकी अपेक्षा काल
(९) नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर

(१०) भागाभागानुगम

(११) अल्पबहुत्वानुगम

इस द्वितीय खण्डमें १५८२ सूत्र हैं। इनमें कर्मास्रव, बन्ध, बन्धकी स्थिति, नरकादि गतियोंमें निवास करनेवाले जीवोंके विविध परिणाम आदिका विवेचन किया गया है।

**३. बंधसामित्तविचय ( बन्धस्वामित्वविचय )**—नामक तृतीय खण्डमें बन्धके स्वामीका विचार किया गया है। विचय शब्दका अर्थ विचार, मीमांसा और परीक्षा है। यहाँ इस बातका विवेचन किया है कि कौनसा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणामें संभव है अर्थात् कर्मबन्धके स्वामी कौनसे गुणस्थानवर्ती और मार्गणास्थानवर्ती जीव हैं। इस खण्डमें ३२४ सूत्र हैं। कर्मप्रकृतियोंका बन्ध, उदय, सत्त्व और बन्धव्युच्छित्ति आदिका विस्तृत विवेचन किया है।

**४. वेदनाखण्ड**—इस खण्डमें निक्षेप, नय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय, स्वामित्व, वेदनाविधान, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभाग एवं अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारोंके द्वारा विषयका प्रतिपादन किया है। इस खण्डमें १४४९ सूत्र हैं।

**५ वर्गणा खण्ड**—इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वारोंका प्रतिपादन किया गया। स्पर्शअनुयोगद्वारमें स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान आदि सोलह अधिकारोंमें स्पर्शका विचार किया गया है। कर्म अनुयोग द्वारमें नामकर्म, स्थापना कर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदान कर्म अध-करणकर्म, ईर्यापथकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्मका प्ररूपण है। इस खण्डमें बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधानका भी ७२७ सूत्रोंमें कथन है।

**६. महाबन्ध**—इसका दूसरा नाम महाधवल है। इसकी रचना आचार्य भूतबलिने चालीस हजार श्लोक प्रमाणमें की है। इस खण्डमें चार अधिकार हैं—

(१) प्रकृतिबन्ध अधिकार

(२) स्थितिबन्ध अधिकार

(३) अनुभागबन्ध अधिकार

(४) प्रदेशबन्ध अधिकार

प्रथम अधिकारको सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध और अनुत्कृष्टबन्ध आदि उप-अधिकारोंमें विभक्त कर विषयका विवेचन किया है। स्थितिबन्ध अधिकारके मूल दो भेद हैं—मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थिति-बन्ध। मूल प्रकृति-स्थितिबन्धका स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा द्वारा विवेचन किया है। अनुभागबन्ध अधिकारमें विभिन्न कर्मोंके अनुभागपर विचार किया गया है। कर्म किस-किस रूपमें फल देते हैं और उनका आत्माके साथ किस प्रकार सम्बन्ध रहता है। प्रदेशबन्धमें आत्मा और पौदगलिक कर्मोंके मिश्रणरूप प्रदेश—आत्मक्षेत्रका अनेक दृष्टियोंसे सूक्ष्मता-पूर्वक विवेचन किया है।

षट्खण्डागम जैनागमका एक महान् ग्रन्थ है। इसमें जीवके पारतन्त्र्य सिद्धान्तका विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। कर्म सिद्धान्तका विभिन्न दृष्टियोंसे समझानेका श्लाघनीय प्रयास किया है।

## आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिणभारतके निवासी थे। इनके पिताका नाम करमण्डु और माताका नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कोण्डकुन्दपुर' नामक स्थानमें हुआ था। इस गाँवका दूसरा नाम 'कुरुमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पिदथनाडु नामक जिलेमें है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पतिको बहुत दिनो तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषिको दान देनेके प्रभावसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर गाँवके नामपर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने युवावस्थामें ही विरक्त हो श्रमणदीक्षा धारण कर ली। उनके जीवनकी प्रमुख घटनाएँ निम्न हैं—

( १ ) विदेह क्षेत्रमें स्वामी सीमन्धरके समवशरणमें जाना और वहाँसे आध्यात्मिक सिद्धान्तका अध्ययन कर लौटना।

( २ ) ५९४ मुनियोंके संघका लेकर गिरनारकी यात्रा करना और वहाँ श्वेताम्बर संघके साथ वाद-विवाद होना।

( ३ ) विदेहक्षेत्र जाते समय मार्गमें पिच्छिकाके गिर जानेपर गृध्रपक्षीके पंखोंकी पिच्छिका धारण करना, जिससे गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे प्रसिद्ध होना।

( ४ ) अत्यधिक अध्ययन करनेके कारण गर्दन झुक जानेसे वक्रग्रीवके नामसे प्रसिद्ध होना।

( ५ ) मूलसंघका प्रवर्तन करनेके कारण इनके वंशका कुन्दकुन्दान्वय कहा जाना।

कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमे कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। पुरातन परम्परामे ई० पू० ८ मे ३६ वर्षकी अवस्थामें आचार्यपद प्राप्त करनेका निर्देश किया है। बोधपाहुडके अन्तकी एक गाथा[1] मे इन्होने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य बताया है। एक पट्टावलीके अनुसार ( हार्नले आदिके द्वारा सूचित ) ई० पू० ९२ मे आचार्यपद प्राप्त किया। तीसरी परम्परा ( विद्वज्जनबोधक ग्रन्थमे उद्धृत एक श्लोकके अनुसार ) कुन्दकुन्दको ई० सन् २४३ मे उमास्वातिका समकालीन मानती है। डा० ए० एन० उपाध्येने डॉ० पाठक, प्रो० चक्रवर्ती, स्व० प० नाथूराम प्रेमी और आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारके मतोकी समालोचना कर निष्कर्ष निकाला है कि ई० पू० प्रथम शतीके उत्तरार्ध और ई० सन् प्रथम शतीके पूर्वार्धके मध्य कुन्दकुन्दका समय है[2]।

प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड' और पञ्चास्तिकाय ये पाँच विशाल ग्रन्थ इनके द्वारा विरचित हैं। ये जैनतत्त्वज्ञान को समझनेकी कुञ्जी हैं।

( १ ) प्रवचनसारमें तीन अधिकार हैं—ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकारमें आत्मा और ज्ञानका एकत्व तथा अन्यत्व, सर्वज्ञसिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ, शुद्धोपयोग और मोहक्षयका प्ररूपण किया गया है। ज्ञेयाधिकारमें द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफल, मूर्त और अमूर्तद्रव्योंके गुण, काल आदि द्रव्योके गुण, पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव, पुद्गल एवं शुद्धात्माका कथन किया है। चारित्र अधिकारमें श्रामण्यके चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेदका स्वरूप, युक्त आहार-विहार, उत्सर्ग और अपवादमार्ग, आगमज्ञानका लक्षण एवं मोक्षतत्त्वका कथन किया है।

( २ ) समयसार सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। समय शब्दके दो अर्थ हैं—समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थमे समस्त पदार्थों अथवा आत्माका सार वर्णित हो वह समयसार है। इस ग्रन्थमे शुद्धात्माका बहुत ही सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन किया है। ग्रन्थमे ४३९ गाथाएँ हैं।

( ३ ) पञ्चास्तिकाय—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच बहुप्रदेशी द्रव्योको अस्तिकाय बताया है और १८१ गाथाओंमे इनका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

( ४ ) नियमसार—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नियम—मोक्ष प्राप्तिका मार्ग बताया है और उक्त विषयोका व्यवस्थितरूपसे वर्णन किया है।

( ५ ) अष्टपाहुड—दंसण, चारित्त, सुत्त, बोह, भाव, मोक्ख, लिंग और सील इन आठ प्राभृतोकी रचना की है। इनमे नामानुसार विषय वर्णित हैं। ९१ गाथा प्रमाण बारस अणुवेक्खा नामक रचना तथा दस-भक्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। जैनधर्म और जैनदर्शनके तत्त्वोको जन-मानसके समक्ष प्रस्तुत करनेमे कुन्दकुन्दका स्थान अद्वितीय है।

## शिवार्य और उनकी भगवती आराधना

मूलाराधना या भगवती आराधनाके अन्तमे आयी हुई प्रशस्तिसे[3] अवगत होता है कि आर्य जिननन्दिगणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिगणिके चरणोंमे अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझ कर तथा पूर्वाचार्योंकी रचनाको उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्यने इस ग्रन्थकी रचना की है। मूलाराधना या भगवती आराधनाके रचयिताके नाम शिवनन्दि, शिवकोटि या शिवार्य नाम पाये जाते हैं। शिवकोटिका उल्लेख जिनसेनके आदिपुराणमे पाया जाता है, अत मूलाराधनाके रचयिता जिनसेनके पूर्ववर्ती है। कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमे समन्तभद्रके

---

१. बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ॥ —बोधपाहुड, गाथा ६२।

२. प्रवचनसार, परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई, सन् १९३५ ई०, प्रस्तावना पृ० १०-२५।

३. अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं। अवगमिय पायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१६१॥
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए। आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६२॥

शिवकोटि और शिवायन दो शिष्योंका उल्लेख किया है और इन्हींके अन्वयमें वीरसेन और जिनसेनको बताया है। ग्रन्थके विषय क्रम और भाषाके आधारपर भी यह रचना ई० सन् तीसरी शतीकी प्रतीत होती है।

ग्रन्थमे ४० अधिकार और २१६६ गाथाएँ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओंका निरूपण किया है। सत्रह प्रकारके मरणोंमें पण्डितमरण, पण्डित-पण्डितमरण, और बालपण्डित मरणको श्रेष्ठ माना है। अनियताधिकार संस्कृतिकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसमें अनेक देशोंके रीति-रिवाज, भाषा, साहित्य तथा विहार करनेके नियम-प्रतिनियमोंका विवेचन किया है।

## मूलाचार और उसके संकलयिता वट्टकेर

हमारे गुरुकी आचार सम्बन्धी मान्यताओंको अवगत करनेके लिए मूलाराधनाके समान ही मूलाचारका भी महत्त्व है। इन दोनों ग्रन्थोंमें दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भत्तपइण्णा संथारग, बृहत्कल्पभाष्य, आचारांग प्रभृति अनेक ग्रन्थोंके समकक्ष सन्दर्भ पाये जाते हैं। तुलनात्मक अध्ययन करनेपर आश्चर्यजनक साम्य दिखलायी पड़ेगा। मूलाचार वस्तुतः एक सम्पादित ग्रन्थ है, इसके प्रत्येक अधिकारके आरम्भमें मंगलाचरण किया गया है और ग्रन्थके सभी अधिकारोंका पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थकी रचना न तो किसी एक विद्वान् द्वारा हुई है और न एक समयमें ही। विभिन्न समयपर रची गयी गाथाओंका वट्टकेरने सम्पादन किया है। ग्रन्थका सम्पादनकाल भी तीसरी शतीके बादका नहीं हो सकता है।

इसमें बारह अधिकार और १२५२ गाथाएँ हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, छः आवश्यक, केशलुञ्च, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित-भोजन और एकबार भोजन इस प्रकार २८ मूलगुणोंका निरूपण किया। साधुओंके आचार मार्गको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

## गृद्धपिच्छ या उमास्वामि और उनका तत्त्वार्थसूत्र

आगम ग्रन्थोंमें विकीर्णित जैन प्रमेयोंको संस्कृत सूत्र-ग्रन्थोंकी शैलीमें निबद्ध करनेका श्रेय उमास्वामीको प्राप्त है। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें[1] इन्हें कुन्दकुन्दके वंशका कहा है। यहाँ वंशका अर्थ आम्नाय है, अतः स्पष्ट है कि उमास्वामि कुन्दकुन्दकी परम्परामें हुए थे। धवलाटीकामें वीरसेनने तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता गृद्धपिच्छ आचार्यको बताया है। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दका आम्नायमें उत्पन्न होनेके कारण उमास्वामी गृद्धपिच्छ कहलाये। श्री पं० सुखलालजी संघवी तत्त्वार्थाधिगमभाष्यको स्वोपज्ञ मानते हैं। इस ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उसमें इनके पिताका नाम स्वाति और माताका नाम वात्सी बताया है। ये कौभीषणी गोत्रमें उत्पन्न हुए थे। जन्मस्थान न्यग्रोधिका[2] स्थान था। आगमके अभ्यासके अनन्तर ये भ्रमण करते हुए कुसुमपुर (पटना) नगरमें आये और वहीं तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। इनका समय तीसरी शती है।

तत्त्वार्थसूत्र कणादकी सूत्रशैलीमें रचित जैनदर्शन और जैनतत्त्वज्ञानका सर्वप्रथम संस्कृत-सूत्र ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, ज्ञेय और चरित्रकी मीमांसा की गयी है। तत्त्वविद्या, विश्वज्ञान, प्रमाणविज्ञान, तर्कविज्ञान, नीतिविज्ञान, सृष्टिविद्या, आचार, भूगोल, खगोल और जीवविद्याका ३५७ सूत्रोंमें निरूपण किया है। ये सूत्र दस अध्यायोंमें विभक्त हैं।

## समन्तभद्र और उनकी रचनाएँ

अनेकान्तवादको प्रतिष्ठा करनेवालोंमें समन्तभद्रका नाम अग्रगण्य है। इन्होंने विभिन्न एकान्तवादोंकी समालोचनाकर युक्तियों द्वारा अनेकान्तकी सिद्धि की है। इनका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था। इन्हें कदम्बवंशका राजकुमार अनुमानित किया गया है। इनके पिता उरगपुरके क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदीके तटपर फणिमण्डलके अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धशाली माना गया है। इनका जन्म नाम शान्तिवर्मा था। मुनिदीक्षा धारण करनेके उपरान्त इन्हें भस्मक व्याधि हो गयी थी। ये अपूर्व शास्त्रार्थी विद्वान् थे।

समन्तभद्रके स्थितिकालके सम्बन्धमें दो विचार धाराएँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम विचारधाराके प्रवर्तक आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार[3] हैं। इन्होंने समन्तभद्रके साहित्यके आधारपर इनका समय ईस्वी सन् द्वितीय शती माना है। इस

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, लेख संख्या १०८ तथा तालुकेके नगरका शिलालेख न० ४६।
२. न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि। कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम्। —तत्त्वार्थाधिगमभाष्य प्रश० पद्य ३।
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रस्तावना।

मतका समर्थन डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन और डॉ० महेन्द्रकुमार[2] न्यायाचार्यने भी किया है। दूसरी विचार-धाराके प्रवर्त्तक स्व० पं० नाथूराम प्रेमी,[3] आचार्य सुखलालजी संघवी आदि विद्वान् हैं। इन विद्वानोंने समन्तभद्रका समय ई० सन् छठी शती माना है। उभयपक्षके प्रमाणका अवलोकन करने पर तथा समन्तभद्र-साहित्यका अध्ययन करनेपर इनका समय द्वितीय शतक ही समीचीन प्रतीत होता है।

समन्तभद्रकी ग्यारह रचनाएँ मानी जाती हैं, पर स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र, युक्त्यानुशासन और रत्नकरण्डकश्रावकाचार ये पाँच रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। स्वयम्भूस्तोत्रमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। देवागमस्तोत्र अथवा आप्तमीमांसामें तर्क और आगम परम्पराकी कसौटी पर आप्त-सर्वज्ञदेवकी सिद्धि की है। आप्त-विषयक मूल्याङ्कनमें अभाववादी माध्यमिक, भावैकान्तवादी वेदान्ती व सांख्य, एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा अभाव व भाववादी वैशेषिकका तर्कपूर्वक निराकरण किया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका सप्तभंगी न्याय द्वारा समर्थन किया है। सर्वथा द्वैतवाद, अद्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत प्रभृतिका निरसनकर अनेकान्तात्मकता-की सिद्धि की है। इस ग्रन्थमें ११४ कारिकाएँ हैं।

युक्त्यनुशासनमें महावीरके सिद्धान्तको सर्वोदय दर्शन कहा है। इसमें जैनतत्त्वज्ञानकी सिद्धि की गयी है। रत्नकाण्डश्रावकाचारमें जीवन और आचारकी व्याख्या की गयी है। १५० पद्योंमें रत्नत्रयधर्मका प्रतिपादन किया है। श्रावकाचारको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ परम उपादेय है।

हमारे इस अभीष्ट युगमें जैनधर्म और जैनदर्शनके सिद्धान्तोंका आगम-शैलीमें प्रतिपादन उपलब्ध होता है, पर तर्क द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादनकी परम्परा भी विकसित होने लगी थी। यहाँ सर्व प्रथम धर्मके स्वरूप पर ही विचार किया जायगा।

## धर्मका स्वरूप ( Concept of Religion )

आगम-कालमें धर्मका उद्देश्य आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वका विश्वास कर उसकी उत्क्रान्ति करना था अथवा राग-द्वेषका त्याग कर शुद्ध आत्म स्वरूपको प्राप्त करना था। आगमकालमें धर्मशब्द दो अर्थोंमें पाया जाता है—( १ ) वस्तु[4] स्वभाव और ( २ ) आचार। जिस वस्तुका जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है; जैसे अग्निका स्वभाव उष्ण है और जलका स्वभाव शीतल। अत अग्निका धर्म उष्ण और जलका कर्म शीतल कहलायेगा। यह स्वभावरूपधर्म जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थोंमें पाया जाता है। परन्तु आचाररूप धर्म केवल चेतन आत्मामें ही पाया जाता है। वास्तवमें धर्मका सम्बन्ध आत्मामें है। इसी कारण मूलाराधनामें 'धम्मेण होदि पुज्जो'[5]—रत्नत्रय धर्मसे ही आत्मा पूज्य होती है, कहा है। आचाररूप धर्मके विचार प्रसंगमें आत्मा, परमात्मा, परलोक, विश्व, ईश्वर, जगत्के आधारभूत तत्त्व, पुनर्जन्म, कर्मबन्धन, कर्मबन्धके हेतु और उनसे छुटकारा पानेका उपाय आदि विषयोंका भी निरूपण किया गया है। कुन्दकुन्द आचार्यने प्रवचनसारमें धर्मका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है :—

> चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
> मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ —प्रव० १।७

चारित्रका नाम धर्म है, यह धर्म समभावरूप है तथा यह साम्यभाव राग-द्वेष मोहके अभाव होनेसे प्राप्त होता है। अर्थात् मोह-क्षोभ—उद्विग्नतासे रहित आत्मपरिणति ही धर्म है। क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय भावके उत्पन्न होनेसे विकृति उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा विभावरूपमें परिणत हो जाती है। कषायभावोंके अभावसे साम्यावस्था उत्पन्न हो जाती है और आत्मा आचारको प्राप्त कर लेती है।

धर्मका मूल सम्यग्दर्शन—आत्मद्रव्यका स्वतन्त्र सत्ताका विश्वास है। जो रत्नत्रयरूप धर्म कर्मसे रहित है, वह व्यक्ति दिगम्बरमुद्रा धारण करनेपर भी आत्मकल्याणसे दूर है। धर्म स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति उत्पन्न करता है और इसी प्रवृत्तिके कारण आत्मा धर्मात्मा कहलाता है। बताया है—

---

१. The jaina sources of the history og ancient India, page 148
२. जैनदर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण पृ० २०।
३. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४५-४६।
४. धम्मो वत्थुसहावो—कत्तिगेयाणुपेक्खा गा० ४७६।
५. मूलाराधना गाथा १८५६।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छु फुल्लुसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ —भावपाहुड गा० ७१

आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रको आत्माका स्वधर्म कहा है और यह चारित्र आत्मसमभावरूप है। साम्य या समता तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति सावद्य—पाप व्यापारका त्याग कर देता है। राग-द्वेषसे रहित होनेपर निराकुलताकी प्राप्ति होती है और यही साम्यका रूपान्तर है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ —मोक्षपाहुड गा० ५०

साम्यभावना प्राप्त होनेपर राग-द्वेषरूप मलिनवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं तथा तप और त्यागकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। बाह्य-आभ्यन्तरकी शुद्धि आचार-विचारकी शुद्धिपर आधृत है और आत्मा रत्नत्रय द्वारा कर्मसे मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

आचार्य कुन्दकुन्दने 'दंसणमूलो धम्मो'[1] धर्मका मूल सम्यग्दर्शनको कहा है। जब जीव उपाधि रहित हो शुद्धताका अनुभव करने लगता है, तो उसका कर्मबन्धन टूटने लगता है। वास्तवमें आत्माकी दृढ़ आस्था सम्यग्दर्शन है। आत्माका स्वरूप, आत्माकी खराबियाँ, उन खराबियोंके कारण और उन खराबियोंसे छुटकारा प्राप्त करनेके उपायका विश्वास करना सम्यक्त्व है। उमास्वामिने जीव, अजीव आदि सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यक्त्व स्वभावतः भी उत्पन्न होता है और प्रयाससे भी। सम्यक्त्वको धर्मका मूल कहनेका कारण यह है कि मोक्षमार्गमें तत्त्वज्ञानसे अधिक सम्यक् आस्था उपयोगी है। श्रद्धान या आस्था धर्मकी वह भूमि है जिसपर शील—आचारका महावृक्ष उत्पन्न होता है। यथार्थ श्रद्धानके अभावमें ज्ञान भी कार्यकारी नहीं हो सकता है। ज्ञानको हितावह बनानेका कार्य सम्यग्दर्शन ही करता है। अत कल्याण-अकल्याणका निश्चय सम्यक्त्व द्वारा ही संभव है। इसी तथ्यका उद्घाटन करते हुए कहा है—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ —दंसणपाहुड गा० १५

सम्यग्दर्शनसे ज्ञान सम्यक् होता है, सम्यग्ज्ञानसे पदार्थोंकी उपलब्धि होती है और पदार्थोंकी उपलब्धिसे कल्याण-अकल्याणरूप प्रवृत्ति होती है।

यह सत्य है कि सम्यक्त्वके बिना ज्ञान, तप और चारित्र मोक्षमार्गके कारण नहीं हो सकते हैं। सम्यग्दर्शनकी शक्ति कर्मरजको दूर करनेके लिए उस जलप्रवाहके समान है, जो अपने वेगसे मिट्टीके ढेरको भी प्रवाहित करनेकी क्षमता रखता है। 'दंसणभट्टा ण[2] सिज्झंति' द्वारा आचार्यने उक्त तथ्यकी अभिव्यञ्जना की है।

## आचार

जिस चारित्रको धर्म कहा गया है, वह चारित्र तत्त्वज्ञानसे पुष्ट होता है। आगममें इसे शीलकी संज्ञासे अभिहित किया है। शीलके बिना ज्ञान नहीं और ज्ञानके बिना शीलकी प्रवृत्ति नहीं होती है। ज्ञानी व्यक्ति भी इन्द्रियोंकी अधीनताके कारण संसार परिभ्रमण करते हैं। इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहनेवाले व्यक्ति ही शीलवान् होते हैं और वे ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। मनुष्यकी मन, वचन और शरीर सम्बन्धी प्रत्येक क्रियाका सम्बन्ध शीलके साथ है। शीलके दो अंग है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्तिमूलकका अर्थ है इच्छापूर्वक किसी कार्यमें लगना और निवृत्तिका अर्थ है प्रवृत्तिको रोकना। प्रवृत्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकारको होती है। इसके तीन द्वार हैं—मन, वचन और काय। अशुभ विचारना, ईर्ष्या-द्वेष रखना, अशुभ मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। शुभ सोचना, रक्षाका उपाय विचारना, अन्य व्यक्तियोंकी भलाईका विचार करना शुभ मानसिक प्रवृत्तियां है। इसी प्रकार असत्य भाषण करना कठोर वचन बोलना, निन्दा करना, अशुभ वाचनिक प्रवृत्तियाँ और हित-मित वचन बोलना शुभ वाचनिक प्रवृत्तियाँ हैं। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि कार्य करना अशुभ कायिक प्रवृत्तियाँ और दया, सेवा, सश्रूषा करना शुभ कायिक प्रवृत्तियाँ हैं। प्रवृत्तिका शुभत्व और अशुभत्व कर्त्ताकी भावनापर निर्भर करता है। कर्त्ता जिस प्रकारके भावसे कार्य करता है, प्रवृत्ति भी उसी प्रकारसे शुभ या अशुभ होती है। अत भावनाओंको शुभ रखकर कार्यमें प्रवृत्त होना सदाचार या शील है। संयम, समता और

१. दंसणपाहुड गाथा २।
२. वही, गाथा ३।

सामायिक इस प्रकारकी उत्तम प्रवृत्तियाँ हैं, जो कर्मबन्धनसे मुक्त होनेमें परम सहायक हैं। शीलके परिवारका विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने बताया है—

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—सीलपाहुड गा० १९

जीवदया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप ये शीलके अंग हैं।

आचरण या पालन करनेवालेकी शक्तिके तारतम्यके कारण इसे दो वर्गोंमें विभक्त किया गया है—मुनि-आचार और श्रावकाचार।

## मुनि-आचार

साधु-आचारका निरूपण भगवती आराधना, मूलाचार, शीलपाहुड, प्रवचनसार प्रभृति ग्रन्थोंमें विस्तार पूर्वक पाया जाता है। पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप, पाँच समितियाँ—प्रमाद त्यागकर संयम पूर्वक चलना, बोलना, भोजन ग्रहण करना, वस्तुओंको रखना उठाना एवं मल-मूत्रका त्याग करना; पञ्चेन्द्रियोंका दमन; षट् आवश्यक; केशलुञ्च, नग्नत्व, अस्नान, पृथिवीशयन, अदन्त घर्षण, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एकबार आहार ग्रहण करना ये अट्ठाईस मूलगुण[1] साधुके बतलाये गये हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, अचेल, अरति, चर्या, शय्या, आक्रोश प्रभृति बाईस प्रकारकी परीषहों कष्टोंको भी स्वेच्छापूर्वक साधु सहन करता है। स्वाध्याय, संयम और आत्मनिरीक्षणमें सर्वदा प्रवृत्त रहता है। वासना, तृष्णा, विषयाभिलाषाका त्यागी एवं समस्त प्राणियोंके साथ उसका मैत्री सम्बन्ध रहता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सत्यव्रतधारी मुनि राग-द्वेष-मोह आदि कारणोंसे असत्य वचनका त्याग तो करता ही है, पर उसके लिए अन्य व्यक्तियोंको सन्ताप उत्पन्न करनेवाले सत्य वचन भी त्याज्य है।[2] साधुके लिए आवश्यक विधेयोंमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कार्योत्सर्गको मिलाया गया है। सामायिक[3] में यथाशक्ति समदृष्टि प्राप्त करनेके हेतु जीवन मरण, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट, स्वजन-परिजन, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदिमें राग-द्वेष रहित हो समता बनाये रखनेका प्रयास किया जाता है। वीतरागताकी प्राप्तिके लिए एवं राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियोंको दूर करनेके लिए सामायिक किया जाता है। जिस प्रकार प्रारम्भिक अभ्यासी अक्षरों और शब्दोंकी आकृतियोंको देखकर उसी प्रकारके अक्षर और शब्द लिखने लगता है, उसी प्रकार आत्माभ्यासी वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थंकरोंकी वन्दना, स्तुति एवं भक्ति करता हुआ तद्रूप बननेका प्रयास करता है।

भूल या अपराधका होना साधारण बात है, पर किये गये अपराध या भूलको स्वीकार करना और उसके लिए पश्चात्ताप करना बली आत्माके लिए ही सम्भव है। अतः साधु या मुनि मन, वचन और कायसे किसी भी प्रकारकी भूल होनेपर पश्चात्ताप प्रकट करते हैं और उसके लिए प्रायश्चित्त लेते हैं। प्रत्याख्यान शब्दका अर्थ त्याग है, अतः मुनि मन, वचन और कायसे अशुभ एवं अयोग्य कार्यों और व्यवहारोंका त्याग करता है। तपश्चरणसे आत्मशुद्धि उत्पन्न होती है और कर्मोंकी निर्जरा भी। कायोत्सर्ग शरीरसे ममत्व दूर कराता है तथा वीतरागताकी ओर बढ़ाता है।

साधु स्वावलम्बनका आश्रय ग्रहण करता है और बुद्धि पूर्वक विकार, प्रमाद, कषाय एवं अन्य प्रकारकी मलिन प्रवृत्तियोंका त्याग करता है। आचार्य कुन्दकुन्दने बताया है—

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥

—बोधपाहुड गा० २६

---

१. पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरोद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघस्सणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥ —मूलाचार १।२-३।

२. रागादीहि असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणोत्ति।
सुत्तत्थाण वि कहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥ —वही १।६।

३. जीविदमरणे लाहालाहे संजोय-विप्पओगे य।
बंधुरि सुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥ —वही १।२३।

साधु व्रत और सम्यक्त्वको विशुद्ध कर इन्द्रियसंयमका आचरण करता है। ख्याति, लाभ, पूजा, सम्मान आदि प्राप्तिके लिए कोई भी कार्य नहीं करता और न लोक एवं परलोकमें विषय-भोगोंकी आकांक्षा ही करता है। वह आत्म-स्वरूप तीर्थमें दीक्षा-शिक्षारूप स्नानकर पवित्र होता है।

साधु अपने आचार-विचार दोनोंमें अहिंसाको उतार लेता है। उसकी आवश्यकताएँ इतनी अल्प रहती हैं, जिससे वह न तो किसीसे किसी वस्तुकी याचना करता है और न किसीके सामने दीनताकी वृत्ति प्रकट करता है। उसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता है। जड़-चेतन सभी पदार्थोंके प्रति ममताको दूर कर देता है। वह उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्यरूप दस धर्मोका पालन करता है। अनासक्ति योगके अभ्यासके लिए संसार, शरीर, भोग और कर्मबन्ध आदिके सम्बन्धमें अनुप्रेक्षारूप चिन्तन करता है, बारह भावनाओंके चिन्तनमें वैराग्यभावकी वृद्धि होती है। अनुप्रेक्षा चिन्तनका उल्लेख आगम-साहित्यमें सर्वत्र पाया जाता है। कुन्दकुन्दने बारस-अणुवेक्खा नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा, जिसका विकास कार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें पाया जाता है।

मुनिके अट्ठाईस मूलगुणोंके कथन-प्रसंगमें महाव्रतोंकी रक्षाके हेतु रात्रिभोजन त्याग भी आवश्यक माना गया। रात्रिमें चर्या करना सर्वथा वर्जित बताया —

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ ॥

—मूलाचार ५।२९५

रात्रिमें चर्याके हेतु गमन करनेमें व्रतभंगका दोष आता है। दशवैकालिक[1] और उत्तराध्ययनमें[2] भी त्यागका निर्देश किया है। मूलाराधना और मूलाचारके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि पिण्डशुद्धि-आहारशुद्धि, विहार करनेके नियम, अनगारभावना प्रभृतिका प्रचार हो चुका था। साधु-संस्थाके सुगठनके लिए नियम-उपनियमोंका विकास भी हो चुका था। शील अठारह हजार भेदोंका पालन करना तथा चौरासी लाख[3] उत्तर गुणोंका धारण करना भी विधेय कर्त्तव्योंमें परिगणित हो चुका था।

जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ॥ —मूलाचार ११।१०१७

तीन करण तीन योग, चार संज्ञाएँ—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, पाँच इन्द्रियाँ, दस पृथिव्यादि काय, और दस मुनिधर्मका परस्पर गुणा करनेसे अठारह हजार शीलके भेद निष्पन्न होते हैं। यथा—३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८००० ।

मुनि—आचारकी समीक्षात्मक व्याख्याएँ की गयी हैं। भावपाहुड़में अन्तरंग भावशुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है। भावशून्य व्यक्ति दिगम्बर पद धारण कर भी ले, तो भी उसका कल्याण नहीं हो सकता है।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥—भावपाहुड गा० ५

भावनग्नको महत्त्व दिया है, जो मात्र दिगम्बर होकर परिग्रहमें आसक्त है, वह द्रव्यलिंगी कर्मोकी निर्जरा करनेमें असमर्थ है। अन्तरंग बहिरंग परिग्रहकी आसक्तिका त्याग अत्यावश्यक है।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥—भावपाहुड गा०५६

इस प्रकार साधु-आचारका पूर्ण विकास प्राप्त होता है।

## श्रावकाचार

जैन परम्परामें मुनि-त्यागियोंका प्रथम स्थान है और गृहस्थोंका द्वितीय। हमारे इस काल-खण्डमें श्रावक धर्मका निरूपण कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड और समन्तभद्रके रत्नकाण्डश्रावकाचारमें पाया जाता है। वास्तवमें समग्र और

१. अत्थ गयम्मि आइच्चे, पुरत्था च अणुग्गए। आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥ —दश० ८।२८।
२. चउव्विहे वि आहारे, राईभोयणवज्जणा। संनिहो-संचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥ —उत्तरा० १९।३०।
३. इगवीस चदुर सदिया दस दसगाय आणुपुव्वी य। हिंसादिक्कमकाया विराहणालोयणा सोही ॥ —मूलाचार १०२३।

परिस्थितियोंकी आवश्यकतानुसार श्रावकके मूलगुण तथा अन्य विधि-विधानोंका विकास हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रके दो भेद किये हैं—सागार और निरागार। सागार संयमाचरणका निर्देश करते हुए लिखा है—

> दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
> बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ —चारित्रपाहुड गा० २२

दर्शन, व्रत सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह देशविरत संयमके भेद हैं।

दर्शन प्रतिमामें व्यक्तिकी दृष्टि आत्मोत्थानकी ओर हो जाती है। वह संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होता हुआ अपनी आस्थाको दृढ़ करता जाता है। इसके लिए सम्यग्दर्शन—आत्मा, परलोक एवं जीव और कर्मोंके सम्बन्धकी आस्था—विश्वास परमावश्यक है। परिवार, गृह और धन-सम्पत्तिके रखने पर भी इसका जीवन संयमित बन जाता है। दूसरी व्रत प्रतिमामें साम्य भावकी उपलब्धिके हेतु श्रावक पाँच[1] अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करता है। तीसरी सामायिक प्रतिमामें क्रोधादि विकारोंको जीतनेके लिए साधक नियमतः सामायिक-आत्मध्यान करता है। चौथी प्रोषधोपवासमें तपश्चरणकी शक्तिके विकासके लिए प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास, पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमामें अहिंसाकी साधनाके लिए हरे शाक, फल एवं कन्दमूल आदिके भक्षणका त्याग, छठी रात्रिभोजन त्यागमें रात्रिमें सभी प्रकारके भोजनोंका त्याग; सातवीं ब्रह्मचर्यमें पूर्णतः ब्रह्मचर्यका पालन; आठवीं आरम्भत्यागमें जीविका सम्बन्धी आरम्भोंका त्याग, नवीं परिग्रहत्यागमें परिग्रहके त्यागका अभ्यास; दसवीं अनुमति त्यागमें आरम्भ-परिग्रहके कार्योंमें अनुमति देनेका त्याग एवं ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमामें अपने निमित्तसे बनाये गये भोजनका त्याग करना है।

कुन्दकुन्दाचार्यने तीन गुणव्रतोंमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी तथा शिक्षाव्रतोंमें[2] सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखनाकी गणना की है। समन्तभद्रने गुणव्रत तो कुन्दकुन्दके समान ही बताये हैं, पर देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्यको शिक्षाव्रत बताया है और सल्लेखनाका पृथक् निरूपण किया है। आचार्य उमास्वामिने भी तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें पुण्यास्रवके कारणोंके सन्दर्भमें समन्तभद्रके समान ही श्रावकाचारका प्रतिपादन किया है।

श्रावकके मूलगुणोंका विकास हमारे इस कालखण्ड तक नहीं हुआ है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें मूलगुण-बोधक पद्य[3] प्रक्षिप्त है। अतः यह पद्य न तो प्रकरणसंगत है और न इसका आगे आनेवाले सन्दर्भोंसे औचित्य ही सिद्ध होता है।

## प्रक्षिप्त पद्यकी मीमांसा

जैनवाङ्मयमें श्रावकाचार निरूपणकी दो प्रणालियाँ या प्रक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं। प्रथम प्रणाली है—रत्नत्रय धर्मके वर्णन-प्रसंगमें श्रावकाचारका विवेचन करना और दूसरी प्रणाली है—आरम्भमें ही चारित्रका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका प्रतिपादन करना। यद्यपि दोनों प्रणालियोंका उद्देश्य एक ही है—रत्नत्रय धर्मका प्रतिपादन करना, पर कथन या वर्णन करनेकी शैली भिन्न है। इसे हम विषयकृत भेद न कहकर शैलीगत भेद मान सकते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें प्रथम प्रकारकी शैली अपनायी गयी है। इसके प्रथम परिच्छेदमें सम्यग्दर्शनका, द्वितीयमें सम्यग्ज्ञानका और तृतीयसे सप्तमपर्यन्त सम्यक् चारित्रका निरूपण किया गया है। आचार्यने तृतीय परिच्छेदमें पञ्चाणुव्रत, चतुर्थमें गुणव्रत, पञ्चममें शिक्षाव्रत, षष्ठमें सल्लेखना और सप्तममें एकादश प्रतिमाओंका प्रतिपादन किया है। मूलगुण सम्बन्धी पद्य तृतीय परिच्छेदके अन्तमें पाया जाता है, जहाँ इसकी आवश्यकता नहीं है। यदि यह पद्य ग्रन्थकार द्वारा लिखा गया होता तो इसका स्थान अहिंसाणुव्रतके पूर्व अथवा दर्शन प्रतिमाके विवेचनके पूर्व होना चाहिए।

---

१. पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥ —चारित्रपाहुड गा० २३।

२. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ —चारित्रपाहुड गा० २६।

३. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, परिच्छेद ३ श्लो० ६६।

पापोंमें प्रसिद्ध होनेवाले व्यक्तियोंके नामोंके अन्तमें इस पद्यके निबद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अतएव प्रकरण-सङ्गतिका विचार बिना किये ही इसे यहाँ जोड़ दिया गया है।

जिन आचार-ग्रन्थोंमें अष्टमूलगुणोंका कथन है, उनमें दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकके लिए मूल-गुणोंका पालन निरतिचार रूपसे आवश्यक माना गया है। जिस प्रकार व्रत प्रतिमाधारी श्रावक द्वादश व्रतोंका निरतिचार रूपसे अनुष्ठान करता है, उसी प्रकार दर्शन प्रतिमाधारी मूलगुणोंका। अतएव यदि आचार्य समन्तभद्र मूलगुणोंका प्रतिपादन करते, तो वे नियमतः दर्शन-प्रतिमाधारीके आचरणमें उनका विधान करते। पर इस प्रकारका निरूपण नहीं पाया जाता है। उन्होंने बताया है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार-परि० ७ श्लोक १३७

दोषरहित, सम्यक्दर्शनका धारक, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त, पञ्चपरमेष्ठीका भक्त, तत्त्वपथगृह्य—तत्त्व-व्रतमार्गका अनुगामी दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है।

इस पद्यमें आगत 'तत्त्वपथगृह्य' पदका अर्थ रत्नकरण्डश्रावकाचारके टीकाकार प्रभाचन्द्रने 'मूलगुणधारक' किया है, जो अभिधा और लक्षणा दोनों ही शब्दशक्तियोंके प्रतिकूल है। दूसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्रके समयमें मूलगुणोंकी मान्यताका प्रचार हो गया था। अतः उन्होंने तत्त्वपथका प्रयोग मद्यादि निवृत्तिरूप अष्टमूलगुणके अर्थमें मान लिया है। ग्रन्थकारका तत्त्वपथसे अभिप्राय सामान्य व्रतसे है।

भोगोपभोगपरिमाणके वर्णन प्रसंगमें आचार्य समन्तभद्रने मद्य, मांस और मधु[1] के साथ कन्द-मूल, नवनीत, निम्बकुसुम आदिके त्यागका भी नियमन किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिन ग्रन्थोंमें अष्टमूलगुणोंका विधान पाया जाता है, उनमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतके वर्णनप्रसंगमें पहले त्याग हो जानेके कारण ही मद्य, मांस और मधुके त्याग का विधान नहीं किया गया है। सोमदेव—उपासकाचार, अमितगति-श्रावकाचार, वसुनन्दि-श्रावकाचार, सागारधर्मामृत एवं लाटीसंहिता प्रभृति ग्रन्थोंमें अष्टमूलगुणोंका विवेचन पाया जाता है। इन ग्रन्थोंमें बताया गया है कि जिन पदार्थोंके सेवनमें त्रस जीवोंका घात होता हो, प्रमाद उत्पन्न होता हो या बहुत जीवोंकी हिंसा होती हो, उन पदार्थोंका मद्य, माँस और मधुके समान त्याग कर देना चाहिए। अतएव स्पष्ट है कि जहाँ अष्टमूल गुणोंका निर्देश नहीं किया गया है, वहाँ भोगोपभोग-परिमाण व्रतमें लोकनिन्द्य मद्य-माँसादि पदार्थोंका त्याग करनेका नियमन किया गया है। यदि रत्नकरण्ड श्रावकाचारका मूलगुणविधायक पद्य अंगीभूत होता, तो इस ग्रन्थमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतके कथनमें मद्य, मांसादिके त्यागका पुनः कथन नहीं किया जाता। यह कथन ही उक्त पद्यको प्रक्षिप्त सिद्ध करता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचारके तथाकथित पद्यमें आया हुआ 'आहु' क्रियापद भी विचारणीय है। √ब्रूञ्—√आह + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन='आहु' रूपमें लट् लकार लिट्का प्रतिनिधि है, और वर्तमानके समीपवर्ती भूतार्थका प्रकट करता है। संस्कृतभाषामें लट् लकारमें जहाँ भी लिट् लकारके णलादि प्रत्यय होते हैं, वहाँ क्रियापदमें एक विशेष प्रकारका संश्लिष्ट अर्थ निहित रहता है। इस ग्रन्थमें 'आहु' का प्रयोग [illegible], ८२, ५८, ६९, ७५, ९४ और १२२ वें पद्योंमें आया है। इन सभी पद्योंमें वर्तमानका समीपवर्ती भूतकालिक अर्थ निकलता है। अतएव उपर्युक्त प्रकरण-असंगतिके सन्दर्भमें यह क्रियापद भी इसे अन्यकर्तृक सिद्ध करता है।

हमारे अभीष्ट कालखण्डमें श्रावकाचार ग्यारह प्रतिमाओंके रूपमें ही प्रचलित था। अन्य विधि-विधानोंका प्रचार नहीं हो सका था।

---

१. त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥

—रत्नकरण्ड ४ परि० श्लो० ८४, ८५।

## गुणस्थान सिद्धान्त

गुणस्थान[1] और मार्गणाओं[2] का विवेचन कषायपाहुड और षट्खण्डागममें आया है। जैनाचार्योंका यह स्पष्ट मत है कि पूर्ण सत्यकी प्राप्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञाता-द्रष्टा-चैतन्य आत्माको शुद्धरूपमें प्राप्त कर लेनेपर ही होती है। अतः जीवको आत्मिक उत्क्रान्तिके लिए मिथ्यात्वसे लेकर मोक्षप्राप्ति पर्यन्त कई आध्यात्मिक भूमिकाओंको पार करना पड़ता है, ये भूमिकाएँ ही गुणस्थान कहलाती है। कर्मोंकी पारिस्थितियोंके अनुसार ही जीवके निर्मल या मलिन भाव उत्पन्न होते है। जीवके भावोका सम्बन्ध मोहनीय कर्मके साथ है और उसकी नानावस्थाओंके अनुसार जीवकी चौदह आध्यात्मिक भूमिकाएँ उत्पन्न होती है। मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जीवके मिथ्याभाव उत्पन्न होते है, आत्माकी रुचि या उत्क्रान्ति जीवको रुचिकर नही होती। जीवकी यह अवस्था मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्वकर्मके उदयको हटाकर जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। सम्यक्त्वसे च्युत होकर जबतक मिथ्यात्वको प्राप्त नही करता है, बीचकी स्थिति सासादन गुणस्थानकी है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी मिश्रित स्थिति तृतीय गुणस्थान है। सम्यक् श्रद्धा होनेपर भी संयमकी प्राप्तिके अभावके कारण चतुर्थ गुण स्थानकी स्थिति उत्पन्न होती है। त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी तथा स्थावर प्राणियोकी रक्षामें असमर्थ सम्यग्दृष्टि जीवकी परिणामस्थिति पञ्चम गुणस्थान है। इस गुणस्थानकी सीमा अणुव्रतो तक सीमित रहती है। पूर्ण संयमका अभ्यास करनेपर भी प्रमादके कारण कभी-कभी असावधानी आ जानेसे कुछ दोष लग जानेकी स्थिति प्रमत्तसंयत नामक छठा गुणस्थान है। प्रमादके नष्ट हो जानेपर अस्खलित संयमका पालन करना, ज्ञान-ध्यानमें संलग्न रहना सातवाँ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान है। इस गुणस्थानसे आगे जीवनोत्क्रान्तिके लिए दो प्रकारसे कर्मोंका अभाव किया जाता है—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी द्वारा।

उपशमका अर्थ है—कर्मोंके उदयको दबाना और क्षपकका अर्थ है, कर्मोंको नष्ट करना। उपशम करनेवाला अपने शुभभावोंमें कर्मोंको दबाता जाता है, पर क्षपकवाला अपने शुद्ध भावोंमें कर्मोंको नष्ट करता जाता है। अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानमें ध्यानमग्न हो अपूर्व-अपूर्व परिणामोकी उपलब्धि की जाती है, जीव आत्मिक दृष्टिसे प्रतिक्षण उन्नत होता जाता है। नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें कर्मोंके उपशम या क्षय द्वारा लोभ कषायके अतिसूक्ष्मांशको छोड़कर समस्त कषायभाव उपशान्त या क्षीण हो जाते है। सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थानमें आत्मविशुद्धि ऐसी हो जाती है, जिस प्रकार केशरके रंगे हुए वस्त्रको धो डालनेपर भी उसमें केशरका रंग अतिसूक्ष्म रह जाता है। तथ्य यह है कि इस गुणस्थानमें ध्यानस्थ मुनि कषायभावको अत्यन्त सूक्ष्म कर डालता है। ध्यानस्थ मुनि जब सूक्ष्म कषायको भी दबा देते है, तो उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानकी स्थिति उत्पन्न होती है। कषायके क्षीण होनेपर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानको जीव प्राप्त करता है। इस गुणस्थानकी स्थितिमें मोहनीय कर्मके अभावमें आत्मविशुद्धिकी भावना पूर्णतः आ जाती है। मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे सयोगकेवली नामक तेरहवे गुणस्थानकी स्थिति आती है। इस स्थितिमें आत्मा सर्वज्ञ और जीवन्मुक्त हो जाता है। तीर्थंकर द्वारा धर्मप्रवर्त्तन भी इसी गुणस्थानमें होता है। अनन्तर नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्मको क्षीण करनेके लिए ध्यानस्थ हो मन, वचन और कायके समस्त व्यापारोंको बन्द करना अयोगकेवली गुणस्थान है। इस प्रकार जैनाचार्योंने आध्यात्मिक विकासके तारतम्यको गुणस्थानोंद्वारा प्रकट किया।

## कर्म सिद्धान्त[3]

पुनर्जन्म ( Rebirth ) और कर्म ये दोनो सिद्धान्त समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनोमें समान रूपमे मान्य हैं। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा उसे फल भोगना पड़ता है। इसमें कोई इंकार नही करता। पर जैनदर्शनके अनुसार कर्मका स्वरूप कर्म और आत्माका सम्बन्ध अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा भिन्नरूपमें वर्णित है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कारमात्र ही नही है, किन्तु वह एक वस्तुभूत पदार्थ है, जो राग-द्वेष जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ मिल जाता है। यद्यपि यह पदार्थ भौतिक है, तो भी जीवके कर्म अर्थात् क्रियाके द्वारा आकृष्ट होकर जीवसे बँधता है, अतः वह कर्म कहलाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते है और उस कर्मके

१. संपुणा चोद्दससु गुणट्ठाणसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा पमत्तसंजदा अपमत्तसंजदा·········अजोग केवलि त्ति। —षट्खण्डागम, सत्प्ररूपणा १।१।२७।

२. गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे······चेदि। —वही १।१।४।

३. कदि काओ पयडीओ बंधदि, केवडिकालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं लंभदि वा ण लब्भदि...।—षट्खण्डागम, जीवट्ठाण चूलिका, सूत्र १।१।

क्षणिक होने पर भी उसके संस्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन मे स्वीकार किया गया है कि राग-द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाके साथ एक प्रकारका द्रव्य जीवमे आता है, जो राग-द्वेष रूप भावोका निमित्त पाकर जीवमे बँध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है।

## जीव और कर्मका सम्बन्ध

जैन दर्शनमे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि माना गया है। इस अनादि सम्बन्धका विवेचन करते हुए कुन्दकुन्दने लिखा है—

> जो खलु संसारत्थो जावो तत्तो दु होदि परिणामो।
> परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसुगदि॥
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
> तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो च दोसो वा॥
> जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
> इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

—पचास्थिकाय-बम्बई, वीर० नि० २४३१, गा० १२८-१३०

ससारमें स्थित जीवके रागद्वेषरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन राग-द्वेषरूप परिणामोके निमित्तसे नये कर्म बंधते हैं। कर्मोके उदयसे जीवको देव, मनुष्यादि गतियोमे जन्म लेना पडता है। गतियोमे जन्म लेने पर देह प्राप्त होता है। देहकी प्राप्तिसे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियोसे विषयोका ग्रहण होता है। विषयोके ग्रहणसे राग-द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ससार-चक्रमे परिभ्रमण करते हुए जीवके राग-द्वेषरूप भावोसे कर्म-बन्ध और कर्म-बन्धसे राग-द्वेषरूप भाव उत्पन्न होते रहते हैं।

## कर्म बन्धका कारण

कर्मबन्धके कारण योग और कषाय हैं। कर्मपरमाणुओको आत्माके भीतर लानेका कार्य योग—मन, वचन और कायका परिस्पन्दनरूप क्रिया करती और उसका आत्मप्रदेशोंके साथ बन्ध करानेका कार्य कषाय अर्थात् आत्माके राग-द्वेषरूप भाव करते हैं। पारिभाषिक शब्दावलीमे मन-वचन-कायकी चचलतासे कर्मरूप सूक्ष्म परमाणुओका आत्माके भीतर आना आस्रव कहलाता है और राग-द्वेषरूप कषायोके द्वारा उनका आत्मप्रदेशोके साथ सम्बद्ध होना बन्ध कहलाता है। उदाहरणके लिए योगको वायुकी, कषायको गोदकी, आत्माको दीवालकी और कर्मपरमाणुओको धूलि की उपमा दी जा सकती है। यदि दीवालपर गोदका लेप हो तो वायुके द्वारा उडनेवाली धूलि दीवालपर आकर चिपक जायगी। दीवालके लेपरहित सूखी होने पर धूलि चिपक कर तुरन्त झड जाती है। यहाँ धूलिका हीनाधिक परिमाणमे उडकर आना वायुके वेगपर निर्भर है। वेगके तीव्र होनेमे अधिक धूलि और मन्द होनेमे कम धूलि उडकर आती है। तेल या गोदके लगे रहनेसे दीवाल पर धूलि अधिक समय तक रहती है। इसी प्रकार योगके तीव्र या मन्द होनेसे कर्मपरमाणु हीनाधिक-रूपमे आते है और कषाय—राग-द्वेष भावोके तीव्र या मन्द होनेसे कर्म आत्माके साथ अधिक समय या कम समय तक रहते हैं।

## कर्मबन्धके भेद

कर्मबन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। आनेवाले कर्मपरमाणुओके भीतर जो आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोके घातनेका स्वभाव पडता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते है। स्थितिका अर्थ कालकी मर्यादा है। कर्मपरमाणुओके आनेके साथ ही उनकी स्थिति भी बन्ध जाती है कि ये अमुक समयतक आत्माके साथ बंधे रहेगे। कर्मोके फल देनेकी शक्तिको अनुभाग कहते है। कर्मपरमाणुओमे आनेके साथ ही तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्ति भी पड जाती है। आनेवाले कर्मपरमाणुओके नियत परिमाणमे आत्मामे सम्बद्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहा है।

## कर्मोंके भेद

प्रकृतिबन्धके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद है। ज्ञानावरण आत्माके ज्ञान गुणको ढकता है, इस कर्मके निमित्तसे ही कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी देखा जाता है। दर्शनावरण आत्माके दर्शन गुणको आच्छादित करता है। वेदनीय आत्माको सुख-दुःखका वेदन कराता है। आत्मामे

राग-द्वेष और मोहको उत्पन्न करने वाले कर्मको मोहनीय कहते हैं। इस कर्मके उदयसे आत्माको यथार्थ मार्गकी जानकारी नहीं होती और यदि कदाचित् यथार्थ मार्गका ज्ञान भी हो जाय तो उस मार्गपर यह चलने नहीं देता। मनुष्य, पशु तथा अन्य जीव-जन्तुओंके शरीरमें नियत काल तक रोककर रखनेवाले कर्मको आयुकर्म कहते है। आयु कर्मके उदयको जन्म और उसके विच्छेदको मरण कहा जाता है। नाना प्रकारके शरीर, अंगोपांग आदिकी रचना करनेवालेको नामकर्म कहते है। अच्छे या बुरे संस्कारवाले कुल, वंश आदिमें उत्पन्न करनेवाले कर्मको गोत्रकर्म कहते हैं। मनोऽभिलषित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करनेवाले कर्मको अन्तराय कहा जाता है। इन आठ कर्मोंमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातियाकर्म कहलाते है, क्योंकि ये चारों आत्माके ज्ञान, दर्शन, शक्ति एवं सुखरूप गुणोंको घातते है। शेष चार कर्म अघातिया है। इन समस्त कर्मोंमें मोहनीयकर्म राग, द्वेष और मोहरूप दोषोंको उत्पन्न करनेके कारण नायक माना जाता हैं। कषाय और विकार इस कर्मके उदयके कारण ही उत्पन्न होते हैं। कर्मोंके अवान्तर भेद १४८ बताये है। जीवको अपने शुभाशुभ कर्मोंके उदयके कारण ही विभिन्न प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है, अतः ईश्वरको फलदाता या सृष्टिकर्ता जैनदर्शन नही मानता। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुको आत्मशुद्धिके कारण परमेष्ठी कहा गया है। इन परमेष्ठियोंकी पूजा-अर्चन करनेसे आत्मोत्थानका मार्ग प्राप्त होता है।

## तत्त्वज्ञान ( Metaphysics or Outology )

प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं और ये धर्म धर्मीमें निवास करते है। धर्मीका ही दूसरा नाम द्रव्य है। द्रव्य सत्स्वरूप है, इसमें गुण और पर्यायोंका सर्वदा अस्तित्व पाया जाता है। द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते है। द्रव्यमें उत्पादशक्ति यदि पहले क्षणमें पर्यायको उत्पन्न करती है तो विनाशशक्ति उस पर्यायका दूसरे क्षणमें नाशकर देता है। इस प्रकार उत्पाद और नाश इस विरोधी समागमके द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और स्वभावकी एकरूपता रूप ध्रौव्य परम्पराके कारण त्रिलक्षण है। द्रव्यमें अपने संभाव्य परिणमनोंकी असंख्य योग्यताएँ प्रतिसमय पायी जाती है। जैनदार्शनिक स्वरूपधर्मोंको गुण कहते है और आगन्तुक धर्मोको पर्याय। गुण अविनाशी तथा पर्याय विनाशशील होती है।

यह संसार भिन्न-भिन्न प्रकारके द्रव्योंके संयोगसे बना है। द्रव्योंके गुण विनाशशील नहीं होते, अतः इस दृष्टिसे संसार नित्य है, किन्तु पर्याय बदलती है, अतः इस दृष्टिसे ससार अनित्य है। जैनदर्शनकी यह नित्यानित्यात्मक दृष्टि वेदान्तके नित्यवाद और बौद्धोंके क्षणिकवादका सदोष बतलाती है।

## द्रव्योंके भेद

द्रव्योंको मूलतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है—अस्तिकाय और अनस्तिकाय। जो द्रव्य काय या शरीरके समान आकाश-स्थानको घेरते है, अस्तिकाय कहलाते हैं अथवा शरीरके समान बहुप्रदेशी द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। कालद्रव्य अनस्तिकाय है और शेष द्रव्य अस्तिकाय है।

अस्तिकायके दो भेद हैं—जीव और अजीव। जीव आत्माका दूसरा नाम है। ये दो प्रकारके होते है—संसारी और मुक्त। जो कर्मबन्धनसे रहित हो निर्वाणसुखको प्राप्त कर लिए है वे मुक्त जीव है और जो कर्मबन्धन युक्त हैं और ससारमें जन्ममरणके दुःख उठा रहे हैं, वे संसारी हैं। संसारी जीवके दो भेद है—त्रस और स्थावर। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवोंको त्रस और एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहा है। स्थावर जीव पाँच प्रकारके होते है।

अजीव अस्तिकायके पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये चार भेद है। जो जीव और पुद्गलों-को चलनेमें सहायता देता है, वह धर्मद्रव्य और जो उन्हे ठहरनेमें सहायता देता है, वह अधर्मद्रव्य है। आकाशद्रव्य समस्तपदार्थोंको रहनेके लिए अवकाश—स्थान देता है। आकाश द्रव्यके अभावमें अस्तिकाय द्रव्योंका विस्तृत होना संभव नहीं है। कालद्रव्य वस्तुओंके परिवर्तनमें कारण होता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व और प्राचीनत्व आदि कालके द्वारा ही संभव है।

---

१. दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥—पंचा० गा० १०।

## जीवका स्वरूप

जीवमें ज्ञान, दर्शन रूप चेतनाका पाया जाना आवश्यक है। इसमें चैतन्य सर्वदा वर्तमान रहता है। चैतन्यकी दो प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुख और बहिर्मुख। जब जीव आत्मस्वरूपको ग्रहण करता है, तो उसे दर्शन कहते हैं और जब बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और दर्शन जीवसे कभी पृथक् नहीं होते। यह जीव कर्त्ता, भोक्ता और प्रभु है। जीव अपने भावों, कर्मों या ज्ञान दर्शन रूप परिणामोंका कर्त्ता एवं भोक्ता है। यह अपने उत्थान और पतनका स्वयं उत्तरदायी है, यह अपने कार्योंसे ही बंधता है और अपने कार्योंसे ही बन्धनमुक्त होता है। संसारावस्थामें यह अपने शरीर प्रमाण है। जैनदर्शन जीव बहुत्ववादी है और प्रत्येक जीवकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है।

## पुद्गल

पुद्गल एक पारिभाषिक शब्द है। जिसमें मिलना, बिछुड़ना, बद्ध होना, गलना पाया जाय वह पुद्गल है। इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका रहना आवश्यक है। पुद्गलके चार भेद हैं[1]—स्कन्ध, स्कन्धप्रदेश, स्कन्धदेश और परमाणु। समस्त पिण्डात्मक द्रव्यको स्कन्ध, स्कन्धका अर्ध भाग स्कन्धदेश, स्कन्धदेशका अर्ध भाग स्कन्धप्रदेश और सबसे छोटे अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं। दो या अधिक परमाणुओंके संयोगमें संघात या स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। प्राणियोंके शरीर तथा अन्य जड़पदार्थ अणुओंके संयोगसे निष्पन्न होते हैं। मन, वचन और श्वासोच्छ्वास आदि पुद्गल द्वारा ही निर्मित हैं। बादर और सूक्ष्मरूपमें परिणत स्कन्ध छः प्रकारके होते हैं[2]—(१) बादर-बादर (२) बादर (३) बादर-सूक्ष्म (४) सूक्ष्म-बादर (५) सूक्ष्म और (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। इन छः प्रकारके स्कन्धोंसे तीनों लोक निष्पन्न है। पुद्गलके प्रत्येक परमाणुमें एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श पाये जाते हैं। इस प्रकार तत्त्वज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका विवेचन कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने किया है।

## प्रमाण या तर्कके क्षेत्रमें किये गये विचार

समन्तभद्र और उमास्वामीने प्रमाण, प्रमेय और वस्तुव्यवस्थाके सम्बन्धमें भी विचार प्रस्तुत किये हैं। उमास्वामिने 'तत्प्रमाणे' (१।१०) सूत्र द्वारा पाँच सम्यग्ज्ञानोंको प्रमाण माना है। समन्तभद्रने एक साथ सर्वभासक[3] तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। वास्तवमें आगमयुगमें स्याद्वादनय संस्कृत सर्वभासक तत्त्वज्ञान ही प्रमाण माना जाता था, क्योंकि उस युगमें ज्ञानकी प्रमाणता आत्मशोधन और मोक्षमार्गोपयोगितापर निर्भर थी। लौकिक दृष्टिसे स्वपरको जाननेवाला ज्ञान भी मोक्षमार्गमें अनुपयोगी होनेके कारण मिथ्या कहलाता था। कुन्दकुन्दके समान आचार्य समन्तभद्रने स्व और परको अवगत करनेवाले ज्ञान[4] को प्रमाण बताया तथा ज्ञानकी सत्यता बाह्यार्थ प्राप्तिसे और असत्यता अप्राप्तिसे बतलायी है। कुन्दकुन्द आचार्य भी ज्ञानको स्व-पर प्रकाशक मानते है। अतः आगमयुगमें प्रमाणके स्वरूपपर विचार-विमर्श किया गया और निम्नलिखित दो परिभाषाएँ प्रस्तुत हुई —

१ तत्त्वज्ञानं प्रमाणं—तत्त्वज्ञान ही सच्चा ज्ञान होनेसे प्रमाण है।

२. स्वपरावभासकं ज्ञानं प्रमाणं—स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाणके दो भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान लौकिक

---

१. खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
   इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥—पञ्चास्तिकाय, सोनगढ़ संस्करण, गा० ७८।

२. बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
   ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥—वही, गा० ७६।

३. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
   क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥—आप्तमी० १०१।

४. स्वपरावभासकं यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र पद्य ६३

दृष्टिसे प्रत्यक्ष होनेपर भी परोक्ष माना गया है। प्रवचनसार[1] में बतलाया है कि इन्द्रियाँ अनात्मरूप होनेके कारण पर हैं, अतः उनसे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आत्मिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, इन्द्रियज्ञान नहीं। इसीसे तत्त्वार्थ[2] सूत्रमें मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष और अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है।

तर्क, अनुमान और प्रत्यभिज्ञानका कथन तत्त्वार्थसूत्रके 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधः (१।१३) सूत्रमें पाया जाता है। आचार्य उमास्वामीने ज्ञेय व्यवस्थाके लिए चिन्ता—तर्क, अभिनिबोध—अनुमान और संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान को कार्यकारी बताया है और इन प्रमाणोंको मतिज्ञानके अन्तर्गत सिद्ध किया है।

श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न श्रुतज्ञानको आगम प्रमाण माना गया है। आचार्य समन्तभद्रने ज्ञेय-सिद्धिका निरूपण करते हुए लिखा है कि अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष वक्ता होनेपर तत्त्वसिद्धि हेतु द्वारा एवं आप्त—सर्वज्ञ, वीतरागी और निश्चयज्ञ वक्ता होने पर आगमसे तत्त्वसिद्धि होती है।[3]

अनुमानके परिवार साध्य, साधन, प्रतिज्ञा, हेतु[4], अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तिका भी निर्देश देवागम स्तोत्रमें प्राप्त होता है। प्रमाण, प्रमाणाभास और प्रमाण-फल[5]का कथन भी समन्तभद्र-साहित्यमें पाया जाता है। इन्होंने लिखा है कि स्वरूपकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण है, पर प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्ति पर निर्भर है।[6] स्वरूपकी अपेक्षया न कोई ज्ञान प्रमाण है और न कोई प्रमाणाभास। भावैकान्त और अभावैकान्त पक्षोंका खण्डन कर समन्तभद्रने अभाव प्रमाणका अस्तित्व भी सिद्ध किया। एकान्त रूपमें भावरूप प्रमेयके लिए भावात्मक प्रमाण और अभावरूप प्रमेयके लिए अभाव प्रमाणकी मान्यताकी समीक्षा करते हुए लिखा है—

> भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
> सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥
> कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे।
> प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥

—आप्तमीमांसा ९, १०

समन्तभद्रने नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, पृथक्त्वैकान्त, अपृथक्त्वैकान्त, पुरुषाद्वैत, पुण्यैकान्त, पापैकान्त आदिको समीक्षाकर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। समन्तभद्रने स्याद्वाद सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करते हुए किञ्चित्, कथञ्चित् और कथञ्चन आदिको स्याद्वादका पर्यायवाची कहा है। यह स्याद्वाद सर्वथा एकान्तोंका त्यागकर सप्तभङ्गों और नयोंकी अपेक्षामें हेय और उपादेयका भेदक है।

वास्तवमें अनेकान्तात्मक वस्तुका स्वरूप स्याद्वादके द्वारा ही अवगत किया जा सकता है। इसीके फलितार्थ सप्तभंगीवाद और नयवाद हैं।

स्याद्वादमें विवक्षित धर्ममें इतर धर्मोंका द्योतक या सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्योंके साथ सम्बद्ध रहता है। स्यात् शब्दका अर्थ 'कथंचित्' या किसी अपेक्षामें है। अपेक्षावादका सूचक होनेके कारण 'स्यात्' शब्द अनेकान्तवादके लिए प्रयुक्त है। अतः इस शब्दके प्रयोगके बिना अनेकान्तका प्रकाशन सम्भव नहीं है। वक्ता अनेकधर्मात्मक वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे अपने-अपने दृष्टिकोणसे पृथक्-पृथक् धर्मोंका कथन करते हैं और श्रोता स्याद्वाद सिद्धान्तकी सहायतासे ही वक्ताके अभिप्रायको समझ पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि वस्तु व्यवस्था स्याद्वाद सिद्धान्तसे ही सम्भव है।

## सप्तभंगी और नयवाद

हमारे अभीष्ट कालखण्डमें वस्तुसिद्धि प्रमाण-नयसे मानी गयी है और अनेकान्तवादकी सिद्धि सप्तभंगी और नयवाद द्वारा संभव है। आचार्य कुन्दकुन्दने सर्वप्रथम द्रव्यादेश वश सप्तभंगीका कथन करते हुए लिखा है—

---

१. परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहिं कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥—प्रवचनसार, पाटनी ग्रन्थमाला मारोठ, गा० ५७।

२. आद्ये परोक्षम् १।११, प्रत्यक्षमन्यत् १।१२।

३. वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्। आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥ —आप्तमी० ७८।

४. न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ —आप्त० प० ८०।

५. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ —आप्तमी० १०२।

६. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते ॥ —आप्तमी० ८३।

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥

—पञ्चास्तिकाय गा० १४

(१) द्रव्य 'स्यात् अस्ति', (२) 'स्यात् नास्ति', (३) 'स्यात् अस्ति-नास्ति' (४) 'स्यात् अवक्तव्य' (५) 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' (६) 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' और (७) स्यात् आस्ति नास्ति अवक्तव्य रूप है।

यह सत्य है कि आगम युगमें केवली द्वारा अथवा आरातीय आचार्यो द्वारा निरूपित वस्तुओंकी व्यवस्था सप्तभंगी न्याय द्वारा की गयी, किन्तु दार्शनिक क्षेत्रमे इस सप्तभंगीवादको चरितार्थ करनेका श्रेय आचार्य समन्तभद्रको प्राप्त है। उन्होंने अपनी आप्तमीमांसामें सांख्यको सदेकान्तवादी, माध्यमिकको असदेकान्तवादी, वैशेषिकको सदसदेकान्त-वादी और बौद्धको अवक्तव्यैकान्तवादी बतलाकर मूल चार भंगोंकी व्यवस्था प्रतिपादित की और शेष तीन भंगोंका उपयोग करनेका संकेत किया।

समन्तभद्रने सुनय और दुर्नयका कथन किया। स्याद्वाद द्वारा प्ररूपित अनेकान्तात्मक वस्तुमेसे जब वक्ता या ज्ञाता किसी एक धर्मकी मुख्यतासे कहता या जानता है, तो उस कथन या ज्ञानको नय कहते है[1]। इतर धर्मों या दृष्टियोसे सापेक्ष होनेपर ही नय सुनय कहलाता है और निरपेक्ष होनेपर दुर्नय। निरपेक्ष प्रत्येक नय मिथ्या है, पर सापेक्ष नयोंका समूह मिथ्या नही है। यथा—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

—आप्तमी० पद्य १०८

तत्त्वार्थसूत्रमें उमास्वामीने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत इन सात नयोंका कथन किया है[2]। और ये सातों नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपमे विभक्त है।

तथ्य यह है कि प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है और नयमे जिसकी विवक्षा या अपेक्षा होती है, वही धर्म प्रधान बनता है। वस्तुका अधिगम अर्थात् ज्ञान प्रमाण और नय दोनोके द्वारा होता है। आध्यात्मिक दृष्टिसे नयके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद हैं। निश्चय नयको भूतार्थ और व्यवहार नयको अभूतार्थ कहा गया है[3]। उक्त सात नयोंमेसे नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नयोंकी दृष्टि मुख्यतः द्रव्यपर और पर्यायार्थिक नयोंकी दृष्टि पर्यायपर रहती है। निश्चय परनिरपेक्ष स्वभावका वर्णन करता है। यथा—जीवके रागादि भावोंमें यद्यपि आत्मा उपादान है, स्वयं रागरूप परिणमन करती है, पर ये भाव कर्मनिमित्तक है, अत. इन्हें आत्माका निजरूप नही माना जाता। इस प्रकार निश्चय-नय मूल लक्ष्य या आदर्शका निरूपण करता है, इसकी दृष्टिमें आत्मा शुद्ध ज्ञायक रूप है, बन्ध और रागादि पर है। कुन्दकुन्दने शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्माका निरूपण करते हुए लिखा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥

—समयसार गा० १४

जो नय आत्माको बन्धरहित, अन्यत्वरहित, नियत, अविशेष, असंयुक्त रूपमे जानता है, वह शुद्धनय है।

स्पष्ट है कि समयसारमें निरूपित शुद्धनय मूलतत्त्वका निरूपण करता है। वर्णादि और रागादि व्यवहार नयका विषय है।

आचार्य समन्तभद्रने प्रमाण और नय द्वारा अनेकान्तको भी अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए लिखा है

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र पद्य १०३

---

१. स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः—आप्तमी० पद्य० १०६—स्याद्वादद्वारा गृहीत अर्थके किसी अंशको व्यक्त करना नय है।
२. तत्त्वार्थसूत्र १।३३।
३. समयसार गाथा ११।

अर्थात् प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त सिद्ध होता है और विवक्षित नयदृष्टिसे अनेकान्तमें एकान्तरूप सिद्ध होता है। अनेकान्तके दो भेद हैं—सम्यगेकान्त और मिथ्यैकान्त। एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोंको ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है तथा वस्तुको तत्, अतत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमें अनेकधर्मोंकी मिथ्याकल्पना करनेवाला अर्थशून्य वचनविलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। वस्तुकी वास्तविक जानकारी प्रमाण ओर नय द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार अभीष्ट कालखण्डमें तर्कसिद्धान्त तथा वस्तुव्यवस्थापक अनेकान्त सिद्धान्तका प्ररूपण किया गया है।

समन्तभद्रने आगम प्रतिपादित 'सर्वज्ञसिद्धि' को तर्क द्वारा प्रतिपादित किया है। उन्होंने बताया है कि 'सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरार्थ पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं अनुमेयत्व होनेसे'[1] इस 'अनुमेयत्व हेतु' को उत्तरकालीन सभी दार्शनिकोने एक मतमें स्वीकार किया है। हाँ- जब तर्कस्थापनका युग आया तब अकलंकदेवने 'अनुमेयत्व' के स्थानपर 'प्रमेयत्व हेतु' का प्रयोग किया जो समन्तभद्रकी अपेक्षा अधिक व्यापक है।

१. आप्तमीमांसा कारिका सं० ५।

# णमोकार मन्त्र : पाठालोचन

श्री पं० नवीनचन्द्र शास्त्री

●

## महत्त्व

आचार्योंने विषय-कषाय जन्य अशान्ति और बेचैनीको दूर करनेके लिए मङ्गलवाक्यों या मंगलमन्त्रोंको स्मरण करनेका विधान किया है। वैदिक-धर्ममें गायत्री मन्त्र और बौद्ध-धर्ममें त्रिशरण मन्त्रका जैसा और जितना महत्त्व है, वैसा और उतना ही महत्त्व जैन-सम्प्रदायमें णमोकार मन्त्रका है। प्रत्येक सामाजिक या धार्मिक कृत्यके आरम्भके पूर्व इस महामन्त्रका स्मरण लाभप्रद समझा जाता है। यतः इस मन्त्रमें प्रतिपादित भावना प्रारम्भिक साधकसे लेकर उच्च श्रेणीके साधक तकको शान्ति और श्रेयोमार्ग प्रदान करती है। मन्त्रमें नमस्करणीय पञ्चपरमेष्ठीका स्तवन अथवा स्मरण आशा-तृष्णा-जन्य अशान्तिको दूर करता है। जिससे सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव होता है। आत्मस्वरूपको अवगत करनेमें इस मन्त्रमें प्रतिपादित शुद्ध आत्माएँ विकारग्रस्त प्राणीके समक्ष प्रेरणाप्रद आदर्श मार्ग उपस्थित करती है, जिससे पुण्यास्रव तो होता ही है, साथ ही शुद्धोपयोगकी ओर भी साधककी आत्मशक्ति प्रवृत्त होती है। वीतरागी, शान्त, अलौकिक, दिव्यज्ञानधारी, अनुपम दिव्यआनन्द और अनन्त सामर्थ्यवान आत्माओंका आदर्श सामने रखनेसे मिथ्याबुद्धि दूर हो जाती है, दृष्टिकोणमें परिवर्तन आ जाता है, राग-द्वेषकी भावनाएं निकल जाती है और आध्यात्मिक विकास होने लगता है। अतः आत्मोत्थान एवं पापास्रवके त्यागकी दृष्टिसे इस मन्त्रका स्मरण जाप एवं अनुष्ठान विशेष कल्याणकारी होता है।

णमोकार मन्त्र ऐसा महामंगल वाक्य है जिसमें द्वादशाङ्ग वाणीका सारभूत दिव्यात्मा पञ्चपरमेष्ठीका पावन नाम निरूपित है। पञ्चपरमेष्ठीके इन नामोंके स्मरण, श्रवण, मनन और अनुचिन्तनसे प्रत्येक श्रद्धालु व्यक्ति अपने राग-द्वेष जन्य विकारोंको दूर करनेमें समर्थ होता है। इस महामंगलका स्मरण अनेक प्रकारके दोष और उपद्रवोंको शान्त करता है। अशान्त चञ्चल मन स्थिर और शान्त होता है। जिस प्रकार एक जलते हुए दीपकसे अनेक बुझे हुए दीपकों को जलाया जा सकता है उसी प्रकार पञ्चपरमेष्ठीकी विशुद्ध आत्माओंसे अपनी ज्ञान ज्योतिको प्रज्वलित किया जा सकता है। उनके आदर्शको अपने भीतर प्रविष्ट किया जा सकता है और उन्हींके समान बननेका दृढ़ सङ्कल्प किया जा सकता है।

दर्शन-शास्त्रमें तीन प्रकारके अनुभव बतलाये गये हैं—सहज, इन्द्रियगोचर और आध्यात्मिक या अलौकिक। सहज अनुभव उन व्यक्तियोंको होता है जो भौतिकवादी हैं तथा जिनकी आत्मा विकसित नहीं है। ये क्षुधा-तृषा, मैथुन और मल मूत्रोत्सर्जन आदि प्राकृतिक शरीर सम्बन्धी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही सुख और पूर्तिके अभावमें दुःखका अनुभव करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें आत्मविश्वासकी मात्रा प्रायः नहीं होती है, और ये अपनी समस्त क्रियाओंको शरीर-सुखके हेतु ही पूर्ण करते है। आत्म-विश्वास या आत्मास्थाका ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। णमोकार मन्त्रकी आराधना सहज अनुभवको आत्म विश्वासके रूपमें परिवर्तित कर देती है और शरीर एव आत्माकी उपयोगिता भी व्यक्त हो जाती है।

दूसरे प्रकारका अनुभव प्राकृतिक रमणीय दृश्योंके दर्शन स्पर्शन आदिके द्वारा इन्द्रियोंको होता है। यह प्रथम प्रकारके अनुभवकी अपेक्षा सूक्ष्म है किन्तु इस अनुभवसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द भी ऐन्द्रियिक आनन्द है जिसमे आकुलता दूर नहीं हो सकती। आत्म-विश्वासके अभावमें इन्द्रियगोचर अनुभव भी आकुलताका कारण बनता है। विकारोंकी उत्पत्ति इससे अधिक होने लगती है तथा ये विकार नाना प्रकारके रूप धारणकर मोहक अवस्थामें प्रस्तुत होते हैं जिससे अहङ्कार और ममकारकी वृद्धि होती है। अतएव उस अनुभवजन्य ज्ञानका परिमार्जन भी णमोकार मन्त्रके द्वारा सम्भव

है। इस मन्त्रमें निरूपित वीतरागी आदर्श व्यक्तिको अहम्भावके बन्धनसे मुक्त करता है और उसे वास्तविक स्थितिका परिज्ञान कराता है। जिस प्रकार गन्दा पानी वस्त्र द्वारा छाननेसे निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार णमोकार मन्त्रकी साधनासे सांसारिक अनुभव शुद्ध होकर आत्मिक बन जाते हैं।

तीसरे प्रकारका अनुभव आध्यात्मिक अनुभव है। इस अनुभवसे उत्पन्न आनन्द अलौकिक कहलाता है। सत्सङ्गति, तीर्थाटन, समीचीन ग्रन्थोंका स्वाध्याय, देवार्चन, प्रार्थना एवं मंगल वाक्योंका स्मरण आत्मामें इस प्रकारकी शक्ति प्रादुर्भूत करते हैं जिससे आत्मामें धर्म धारणकी पात्रता आती है बहिरात्म अवस्था दूर हो, अन्तरात्मावस्था प्राप्त होती है। आत्मबल और आत्मविश्वासकी भूमिका इस मंगल मन्त्रका स्मरण है। आचार्य शुभचन्द्रने अपने ज्ञानार्णव ग्रन्थमें समस्त विपत्तियों, विकारों और पापोंसे छुटकारा देने वाला यही मन्त्र बतलाया है। बड़ेसे बड़ा पापी भी इस मन्त्रके स्मरणसे शुद्ध हो जाता है यथा—

> अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किताः।
> अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः॥

—ज्ञानार्णव ३८।४१

भावपूर्वक इस मन्त्रका जाप और स्मरण करनेसे पापी और हत्यारा व्यक्ति भी देव-पर्यायको प्राप्त करता है। शास्त्रकारोंने बताया है कि पवित्र, अपवित्र, सोते-जागते, चलते-फिरते किसी भी अवस्थामें इस मन्त्रका स्मरण करनेसे आत्मा सर्वपापोंसे मुक्त हो जाती है, शरीर और मन पवित्र हो जाते हैं। यह मन्त्र देवोंकी विभूति और सम्पत्तिको आकृष्ट करनेवाला है, मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वशमें करनेवाला है, चतुर्गतिमें होनेवाले सभी तरहके कष्ट और विपत्तियोंको दूर करनेवाला है, आत्माके समस्त पापको भस्म करनेवाला है, मोहका स्तम्भन करनेवाला है, विषयासक्तिको घटानेवाला है, आत्म श्रद्धाको जागृत करनेवाला है और सभी प्रकारसे प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला है। यथा—

> आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यतां
> उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम्।
> स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं
> पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता॥

—णमोकारमन्त्रमाहात्म्य श्लोक २

> कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
> अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः॥

—ज्ञानार्णव—३८।४६

एक उपवास करनेसे आत्मामें जितनी विशुद्धि उत्पन्न होती है, उतनी ही इस मन्त्रके १०८ बार जाप करनेसे। अतः मन्त्रका १०८ बार स्मरण करना एक उपवासको फल प्राप्ति है।

## पाठालोचन

णमोकार मन्त्रमें प्रयुक्त प्रथम पद अर्हन्त है। इस अर्हन्त पदके तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। अरहन्त, अरिहन्त और अरुहन्त। इन तीनों पदोंकी व्याख्या भी आर्ष ग्रन्थोंमें प्राप्त होती है। धवला टीकामें अरिहन्त पाठ आता है, जिसका निर्वचन निम्न प्रकार निबद्ध किया गया है—

'णमो अरिहंताणं' अरिहननादरिहन्ता नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेतवासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च। तस्यारेर्हननादरिहन्ता।

**रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव, बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जन-परिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि। मोहोऽपि रजः भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावोपलम्भात्। किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्म-विनाशाविनाभावित्वात् तेषां हननादरिहन्ता।**

**रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निः-शक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता।**

**—धवला टीका प्रथमपुस्तक पृष्ठ ४२–४४**

अर्थात् अरि—शत्रुओंके नाश करनेसे 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त होती है। नरक, तिर्यञ्च, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेका कारण मोह है और इस मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे अरिहन्त कहलाते हैं।

यहाँ यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि मोहको अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जायगा। पर यह आशङ्का उपयुक्त नही क्योंकि अवशेष सभी कर्म मोहके अधीन है। मोहके अभावमे शेषकर्म अपना कार्य उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। अतः मोहकी ही प्रधानता है।

जब मोहकी प्रधानता है तो मोहके नष्ट होनेपर भी कितने ही कालतक शेष कर्मोंकी सत्ता क्यों बनी रह जाती है? अतः समस्त कर्मोंको मोहके अधीन मानना उचित नहीं?

उपर्युक्त आशङ्का भी ठीक प्रतीत नहीं होती; क्योंकि मोहरूप अरिके नष्ट हो जानेपर जन्म, मरणकी परम्परारूप संसारके उत्पादनकी शक्ति शेष कर्मोंमें नही रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है तथा केवलज्ञानादि समस्त आत्मगुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोहको प्रधान शत्रु कहा जाता है। अतः उसके नाश करनेसे 'अरिहन्त' संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा रज—आवरण कर्मोके नाश करनेसे 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त की जाती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरङ्ग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय-रूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहा जाता है क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्मसे व्याप्त होता है, उनमें कार्यकी मन्दता देखी जाती है; उसी प्रकार मोहसे जिनकी आत्मा व्याप्त रहती है, उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य और मन्दता पायी जाती है।

अथवा 'रहस्यके' अभावसे भी 'अरिहन्त' संज्ञा प्राप्त होती है। 'रहस्य' अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्त-रायका नाश शेष तीन अघातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म-भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है।

दूसरा पाठान्तर अरुहन्त है, जिसका निर्वचन निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—**'अरीन्-रागद्वेषादीन् घ्नन्तीति अरिहन्तारः तेभ्योऽरिहन्तृभ्यः, न रोहन्ति—नोत्पद्यन्ते दग्धकर्मबीजत्वात्—पुनः संसारे न जायन्ते इत्यरुहन्तः तेभ्योऽ-रुहद्भ्यो नमो नमस्कारोऽस्तु।'**

अर्थात् राग-द्वेष रूप शत्रुओंको नाश करने वाले अरिहन्त अथवा जिस प्रकार जला हुआ बीज उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म नष्ट हो जानेके कारण पुनर्जन्मसे रहित अरुहन्त कहलाते है।

अरहन्त शब्दका तीसरा पाठान्तर भी प्राप्त होता है। अरहन्तका अर्थ **'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिक-त्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः।'**

अर्थात् सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकोंमें देवों द्वारा की गयी पूजाएँ देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक हैं। अतः अतिशयोंके योग्य होनेसे अरहन्त कहलाते हैं। अरहन्त अपने दिव्य ज्ञान द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंकी समस्त अवस्थाओंको प्रत्यक्ष रूपसे जानते है। अपने दिव्य दर्शन द्वारा समस्त पदार्थोंका सामान्य अवलोकन करते हैं। उनके वचनोंसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती है।

अब विचारणीय यह है कि उक्त तीनों पाठोंमेसे कौनसा पाठ अधिक समीचीन है ? और इन पाठान्तरोंका क्या कारण है ? और मूलपाठ कौनसा है ?

प्राचीन इतिहास, शिलालेख एवं ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे अवगत होता है कि सबसे प्राचीन पाठ अरहन्त है। खारवेलके शिलालेखकी पहली पंक्तिमे 'नमो अरहंतानं' एवं पन्द्रहवीं पंक्तिमें 'अरहत निसीदिया' पाठ उपलब्ध होते है। इसी प्रकार आचार्य वीरसेन द्वारा उद्धृत एक प्राचीन गाथा 'सिद्ध-सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय-कयंता'[1]—मे भी अरहन्त पाठ उपलब्ध होता है। षट्-खण्डागमके मूलसूत्रोंमे भी अरहन्त पाठ उपलब्ध है। तीर्थङ्कर नामकर्मके बन्धका कारण बतलाते हुए 'अरहतभत्तीए'[2] का निर्देश किया गया है। मूलाराधना नामक ग्रन्थमें 'वंदित्ता अरहंते' (गाथा १) और 'अरहंतसिद्ध चेइयं' (१।४६)मे अरहन्त शब्दका ही पाठ आया है अतः अन्य दो पाठोंकी अपेक्षा अरहन्त पदका पाठ अधिक प्राचीन है और यह अहिंसा संस्कृतिके अनुकूल भी है। 'अरिहन्त' पदमे प्रयुक्त 'अरि' शब्द शत्रुओं या कर्म-शत्रुओंके हन्त—हनन करने वाले निर्वचनमे प्रयुक्त है, पर इस कोटिके मङ्गलमन्त्रमे हन्धातुका प्रयोग अहिंसा संस्कृति-के अनुकूल कदापि नही है। व्यवहारमे देखा जाता है कि भोजनके समय मारना, काटना जैसे हिंसावाची क्रियापद अन्तराय का कारण माने जाते हैं। अत कोई अहिंसक व्यक्ति इन शब्दोका प्रयोग मङ्गलकार्यमे किस प्रकार कर सकेगा। खारवेलके शिलालेखमे अंकित अरहन्त पद प्राचीनताके साथ मंगल अतिशयका भी द्योतक है। मंगल वाक्योका स्मरण सर्वथा कल्याण कामनामे किया जाता है, अत. किसी भी मगल वाक्यमे शत्रु और 'हन्' धातु जैसे पदोका प्रयोग कदापि मागलिक नही माना जा सकता। अतएव गर्भ, जन्म तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँचो कल्याणकोंमे पूजा अतिशयको प्राप्त होनेसे तीर्थङ्कर अरहन्त अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंके नाश होनेसे अनन्त चतुष्टय विभूतिकी प्राप्तिके कारण तीर्थङ्कर अरहन्त कहलाते हैं। अत. साधक विघ्न निवारणार्थ या अभीष्ट कार्य-सिद्ध्यर्थ मांगलिक पदोका प्रयोग ही करेगा। अर्थकी दृष्टिसे पदके महनीय होने पर भी शब्दकी दृष्टिसे महनीयता ही मगलवाक्यका मूलाधार है। मगलवाक्योंमे प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली इस प्रकारकी होनी चाहिए जिससे समस्त ध्वनियां एक साथ ही मगलका नियोजन करें। साधककी दृष्टि सबसे प्रथम शब्दोंपर ही जाती है, तत्पश्चात् अर्थपर। यदि शब्द ही किसी दोषसे दुष्ट हो तो वह मगल वाक्य कल्याण प्राप्तिका साधन नही हो सकता है।

अरहन्त, अरिहन्त और अरुहन्त इन तीन पदोंमे प्रथम पद सर्वाधिक मंगलमय है। इसी कारण अधिकाश हस्तलिखित ग्रन्थोंमे इसी पदका पाठ पाया जाता है। मुद्रित पूजापाठोंमे भी अरहन्त पद ही सर्वाधिक प्रचलित है, यद्यपि आचार्य वीरसेनके समयमे इस महामन्त्रमे प्रयुक्त अरिहन्त और अरुहन्त पाठान्तर भी प्रचलित थे। इन पाठों का कारण हमारी दृष्टिसे निर्वचन शास्त्रका विस्तार है। 'अष्टबीजवन्निःशक्तिकृताघातिकर्मणा हननात्' अर्थात् कर्मबीजके जल जानेके कारण पुनर्जन्मसे रहित अरुहन्त तथा कर्म शत्रुओंको नष्ट करनेके कारण अरिहन्त ये दोनो पाठ अर्थ विस्तार दिखलानेके लिए ही किये गये प्रतीत होते हैं। आचार्य वीरसेनने उसी कारण धवला टीकामे उक्त तीनों पाठोंका निर्वचन प्रस्तुत किया है।

मन्त्र शास्त्रकी दृष्टिसे विचार करने पर उक्त दोनो पाठ उस समय प्रचलित हुए होंगे जब मारण, मोहन, उच्चाटनकी विधियोंका प्रयोग तन्त्रशास्त्रमे प्रचलित हो गया था। बीजाक्षरोंके विश्लेषणसे ज्ञात होता है कि अरिहन्त पदमे प्रयुक्त 'अरि' शब्दमे निहित इकार शक्तिबोधक बीज है और इसका व्यवहार उस शक्तिके लिए किया गया है, जो मारण और उच्चाटनके लिए आवश्यक है। अरहन्तसे अरिहन्त पदका प्रचलन तान्त्रिक प्रभावका परिणाम है, अन्यथा मंगलमय आत्माओंके स्वरूपाकनमे शक्तिबीजका न्यास सम्भव नहीं था। अहिंसा संस्कृति आत्मशोधन पर विशेष बल देती है अत. 'अरि' 'अरु' और 'हन्'का प्रयोग यहाँ सम्भव ही नही। 'अरुहन्त' पदमे उकार मानसिक उद्वेगका द्योतक बीज है। इस बीजका प्रयोग शक्तिस्तम्भन या मोहनके लिए मन्त्रशास्त्रमे किया जाता है। अतएव स्पष्ट है कि उक्त दोनो पाठोका प्रचार तान्त्रिक प्रवृत्तियोंके विस्तारसे ही हुआ है। वास्तवमे इस मन्त्रका मूल पाठ 'अरहन्त' पद है। इसमे 'अ' को कल्याण-बीज कहा जा सकता है। कुलार्णव तन्त्रमे 'अ' कल्याण बीज; 'इ' शक्तिबीज और 'उ' उद्वेग, बीज माना गया है। जब गुप्त कालमे संस्कृतियोका समन्वय हुआ, तो जैन वाङ्मयमे ऐसे बहुतसे तथ्य समाविष्ट हो गये जो वास्तवमे समत्व योगके अनुकूल नही थे। जैनाचार्योंकी यह विशेषता है कि वे अन्य स्थानोसे

१. षट् खण्डागम, धवला टीका, जिल्द १, पृष्ठ ५५।
२. ओघेण-बंध-सामित्त-विचओ सूत्र ४१।

प्राप्त सामग्रीको भी अपनेमें पचा लेते हैं और उस सामग्रीका निर्वचन अपनी मान्यताओंके आधार पर प्रस्तुत करते हैं। श्री जैनसिद्धान्तभवन, आरामें ११ वीं १२ वीं शताब्दीका गायत्री मन्त्रका एक निर्वचन उपलब्ध है जिसमें समस्त मन्त्रकी व्याख्या जैन संस्कृतिके अनुकूल की गयी है और मन्त्रकी प्रत्येक ध्वनिसे पञ्चपरमेष्ठी वाचक शक्तियोंको सिद्ध किया गया है। अतः उक्त तीन पाठोंमेंसे प्रथम पाठ अरहन्त संस्कृत रूप 'अर्हन्त' मूल पाठ है। यही पाठ श्रमण संस्कृतिके अनुकूल भी है।

इस मन्त्रमें प्रयुक्त 'लोए' और 'सव्व' पद अन्त्यदीपक हैं। जिस प्रकार दीपक भीतर रख देनेसे अभ्यन्तरके समस्त पदार्थोंका प्रकाशन करता है, उसी प्रकार उक्त दोनों पद भी अन्य समस्त पदोंके ऊपर प्रकाश डालते हैं। अतः सम्पूर्ण लोकमें निवास करने वाले त्रिकालवर्ती अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको इस मंत्रमे नमस्कार किया गया है। खारवेलके शिलालेखमें 'नमो सवसिधानं' पाठ पाया जाता है। इस पदमें प्रयुक्त सर्व शब्द ही उक्त दोनों पदोंको अन्त्यदीपक सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त प्रमाण है। अतएव णमोकार मन्त्रका संशोधित पाठ निम्न प्रकार होना चाहिए—

"णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥"
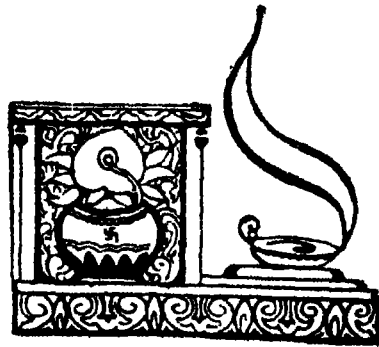
# आत्मा

पं० कमलकुमार जैन, साहित्य-धर्मशास्त्री, व्याकरण-न्याय-काव्यतीर्थ, कलकत्ता

## भूमिका

भारतीय चिन्तकोंने विश्वके समस्त पदार्थोंको जड़ और चेतन इन दो रूपोंमें विभक्त किया है। चेतनमें ज्ञान-दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण पाये जाते है और इसके विपरीत जड़मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि। आत्माके स्वरूपपर उपनिषद्कालमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जैन वाङ्मयमें आत्मचर्चाको कुन्दकुन्दने प्रमुखता प्रदान की है। इस दार्शनिक चर्चाके ऐतिह्य पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वैदिक युगमें आत्माके स्वरूपका उतना अधिक चिन्तन नहीं किया गया। भारतीय दर्शनमें पराविद्या[1], ब्रह्मविद्या[2], आत्मविद्या[3] और मोक्षविद्या[4] इस प्रकार चार विद्याओंके विवेचन विमर्शमें आत्मविद्याका विचार उपस्थित किया गया है। कठोपनिषद्में बताया है कि यह आत्मा संसारके समस्त पदार्थोंसे विलक्षण और नित्य है। आत्माका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको स्वतः अपनेमें होता है। जो आत्म अस्तित्वका विश्वासी है, वही पुण्य-पापपर विश्वास कर सकता है। आत्माके सद्भावके अभावमें लोक-परलोककी व्यवस्था नहीं बन सकती। बताया है—

> न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठोपनिषद् १-२-१८

यह चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मरता है। न यह किसीका कार्य है, और न स्वतः ही अभावरूपमे भाव रूपमें आया है। यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। इतना ही नहीं, इस आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति भी वर्त्तमान है। उपनिषद्कारने आत्मस्वरूपका आगे विश्लेषण करते हुए लिखा है—

> अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
> अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

—कठोपनिषद् १-३-१५

अर्थात् जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और गन्धरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे परे और ध्रुव है; उस आत्मतत्त्वको प्राप्तकर मनुष्य मृत्युके मुखसे छुटकारा प्राप्त करता है।

उपनिषदोंमें वर्णित आत्मा जैनदर्शनमें वर्णित आत्माके स्वरूपके समान ही प्रतीत होती है, पर सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करनेपर मान्यता में अन्तर दिखलायी पड़ता है। उपनिषद्में सुख दुःखकी अवस्था आत्मामें नहीं मानी गयी है, यद्यपि आत्माको सत्, चित् और आनन्दस्वरूप कहा है, पर प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमे आनेवाले सुख दुःख मिथ्या स्वीकार किये गये हैं। जैनदर्शन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा अनादि कर्मसंयोग[5] से आत्माके आनन्दगुणको विकृत रूपमें अनुभव किये जानेकी मान्यता प्रतिष्ठित करता है। कर्म संयोगी आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुण विकृत हो रहे हैं, अतः उसकी आनन्दानुभूति भी स्वरूप-विकृतिके

---

१. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते —मुण्डकोपनिषद् १।१।५।
२. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् —मुण्डकोपनिषद् १।१।५।
३. आन्वीक्षिकीं चात्मविद्याम् —मनुस्मृति ७।४३।
४. मोक्षधर्मप्रवसंकाः —महाभारत शान्ति पर्व ३४०।७३-७४।
५. 'यथा अनादिः स जीवात्मा यथा अनादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिस्स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥' —पञ्चाध्यायी २।३५।

रूपमे अनुभवमें आती है। उपनिषद्मे जहाँ आत्माको ब्रह्मका अंश स्वीकार किया है, वहाँ जैनदर्शनमें आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है। हम इस प्रस्तुत निबन्धमे आत्माके स्वरूप, गुण, अस्तित्व एवं उसकी उपयोगितापर विचार करनेका प्रयास करेंगे।

## आत्मस्वरूप

आचार्य देवसेनने आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये ६ गुण[1] बतलाये हैं। आचार्य नेमिचन्द्रने आत्माकी निम्नलिखित अवस्थाओका विवेचन किया है—

**जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।**
**भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥**

**—द्रव्यसंग्रह प्रथम अधिकार गाथा २**

अर्थात् जीव उपयोगमयी, अमूर्त्तिक, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, ऊर्ध्वगामी एवं सिद्ध और संसारी इन नौ तरहसे जाना जाता है। वास्तवमें जैसे दीपक स्वभावत: प्रकाशात्मक होता है, उसी प्रकार आत्मा स्वभावतः ज्ञानात्मक है। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये आत्माके गुण है। गुण दो प्रकारके होते है—स्वाभाविक और वैभाविक। जलमे शीतलता और अग्निमे उष्णता उनके स्वाभाविक गुण है पर जब अग्निके संयोगमे जलमे उष्णता आ जाती है तो यह उष्णता उसका विभाव गुण बन जाती है। क्योंकि यह उष्णता उसमे परके निमित्तमें आयी है। जब निमित्त हट जाता है, तो उष्णता उसमे हट जाती है। इसी प्रकार आत्माका मूलस्वभाव ज्ञानरूप है। उसके इस ज्ञान गुणको ज्ञानावरणादिकर्म कुछ समयके लिए विकृत कर सकते है, उनका नाश नही। जैनदर्शन ज्ञानके पाच भेद मानता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और अवधिज्ञान। इसमेंसे आदिके चार ज्ञान तो क्षायोपशमिक है—ज्ञानावरणीय कर्मके एक देशक्षय और उपशममे उत्पन्न होते है। क्षायोपशमिक अवस्थामें कर्मका सद्भाव रहता है। मूलत उसका नाश नही होता। पञ्चम केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। यह अपने प्रतिपक्षीके सर्वथा अभावमे प्रकट होता है। इस प्रकार ज्ञान आत्माका नित्य और स्वाभाविक गुण है।

सुख भी आत्माका स्वभाव गुण है। विषयादिकजन्य जो सुख ग्रहण किया जाता है, वह आत्माका निजी गुण नही है, क्योकि यह सुख भी वेदनीय कर्मके निमित्तम होनेके कारण विभावरूप है। वेदनीय कर्मका अभाव होने ही आत्माका स्वाभाविक सुख उत्पन्न हो जाता है। यह सुख अक्षय, अभेद्य और निरतिशय है। इस गुणका कभी नाश नही होता। इसी प्रकार वीर्य या पुरुषार्थ भी आत्माका निजगुण है। आत्मामे अपूर्व शक्ति है। यह शक्ति कर्मके उदयके कारण विकृत रूपमें परिणत भले ही हो जाय, पर इसका अभाव नही हो सकता है। वस्तुत ज्ञान दर्शन और चारित्र तीनो आत्मस्वरूप है—आत्मासे भिन्न नही है। जो व्यक्ति इस साध्यभूत आत्माको प्राप्त करना चाहता है, वह शुद्ध आत्माका चिन्तन करता है तथा रागद्वेष रहित संयम द्वारा आत्मतत्त्वको प्राप्तकर लेता है। आचार्य कुन्दकुन्दने परमार्थतः आत्माको अन्य समस्त भावोसे रहित चैतन्य शक्तिमात्र कहा है। न उस आत्मामे रूप है, न रस है न स्पर्श है, और न गन्ध है। यह संस्थान और संहननसे रहित है। रागद्वेष मोह इस आत्माके स्वरूप नही है। जीवमें न आस्रव है, न वर्ग है, न वर्गणाएँ है, न स्पर्धक है, न अनुभागस्थान है और न संक्लेशस्थान है। यह आत्मा शुद्ध-बुद्ध और ज्ञानमय है। बताया है—

**जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।**
**णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं॥**
**जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।**
**णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥**

**—समयसार गाथा ५०-५१**

## आत्माके प्रदेश

जैनदर्शनकी मान्यता है कि जिस द्रव्यमे एक प्रदेश होता है, उसे एकप्रदेशी और जिस द्रव्यके दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते है, उसे बहुप्रदेशी द्रव्य माना गया है। प्रत्येक जीव तथा धर्म और अधर्म इन तीनों द्रव्योंमे समान असङ्ख्यात प्रदेश है[2] अत ये सभी बहुप्रदेशी द्रव्य है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सम्पूर्ण काल-

१. जीवस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि चेतनत्वममूर्त्तत्वमिति षट्। —प्रथमगुच्छक, आलापपद्धति पृष्ठ १६५-६६।
२. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्। —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ८।

द्रव्य असङ्ख्यात होनेपर भी अस्ति तो है, पर बहुप्रदेशी न होनेके कारण अस्तिकाय नहीं। जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी यह विशेषता है कि यह जितने बड़े शरीरमें अवस्थित रहता है उसीके प्रमाण इसके प्रदेशोंका विस्तार हो जाता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने प्रकाशमान क्षेत्रके सङ्कुचित और विस्तृत होनेपर सङ्कुचित और विस्तृत होता जाता है, उसी प्रकार जीवके प्रदेश भी शरीरके प्रमाण होते रहते है। आचार्य उमास्वामीने इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण प्रदेशोंके सङ्कोचन और विस्तारकी शक्तिके सद्भावके हेतु द्वारा किया है[1]। अतएव एक आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं और इन प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति वर्त्तमान है।

## आत्माका विस्तार

आत्माके आकार या परिमाणके सम्बन्धमें जैनदार्शनिकोंने बड़ी गम्भीरतासे विचार किया है। आत्मा कितना बड़ा है, इसे जाननेकी उत्सुकता सभीका हो सकती है। कुछ दर्शन आत्माका व्यापक और कुछ अणुपरिमाण मानते है। जहाँ आत्माको व्यापक माना गया है, वहाँ उसका अस्तित्व सर्वत्र माना गया है। अणु-परिमाणमें अलात-चक्रवत् आत्माकी स्थिति स्वीकार कर सुखानुभूतिकी समस्याका समाधान प्रस्तुत किया है। जैनदर्शनमें आत्मामें सङ्कोच और विस्तारकी शक्ति मानी गयी है और इस शक्तिके आधारपर उसकी अवगाहना लघु या वृहद् रूपमे प्रतिपादित की है। बताया है कि शरीर द्वारा जितना आकाश-क्षेत्र अवरुद्ध किया जाता है, उतने क्षेत्रको अवगाहना कहते है। यह अवगाहना सबसे छोटी लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवकी होती है, तथा सबसे बड़ी अवगाहना स्वयम्भू-रमण समुद्रमें निवास करने वाले महामत्स्यकी बतायी गया है। हम प्रत्यक्षरूपमें भी सूक्ष्म और स्थूल जीवोंको देखते है। परस्परमें जीवोंकी अवगाहनाके अन्तरका कारण कर्मस्थिति है। कर्मोदयसे जिस जीवको जैसा शरीर मिलता है, उसकी वैसी अवगाहना होती है। आचार्य नेमिचन्द्रने लिखा है—

> अणुगुरु-देह-पमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
> असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥

—द्रव्यसंग्रह गाथा १०।

आशय यह है कि संसारावस्थामें आत्मा शरीरप्रमाण है और मुक्तावस्थामें जिस शरीरसे आत्मा मुक्तिको प्राप्त करती है, उससे कुछ न्यून परिमाणमें स्थित रहती है।

## आत्माकी संख्या

आत्माएं अनन्त है। जैनदर्शन प्रत्येक आत्माको कर्त्ता और भोक्ता मानता है। सभी आत्माएँ अपनी कर्तृत्वशक्तिके कारण व्यवहारनयसे कर्मोका अर्जन करती है और उन कर्मोके फलका उपभोग। निश्चयनयसे सभी आत्माएं अपने शुद्ध चैतन्य भावोंकी कर्त्ता और भोक्ता है। वास्तवमें आत्मद्रव्यका परद्रव्यमें कोई सम्बन्ध नही है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निजनिज सत्तात्मक है। अत. निश्चयदृष्टिसे आत्मा और पर द्रव्यमें कर्तृकर्म सम्बन्ध नही है। आचार्य कुन्दकुन्दने कर्तृकर्माधिकारमे आत्माके अस्तित्वका स्वतन्त्ररूपसे विवेचन किया है और बताया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। कोई भी द्रव्य किसी भी द्रव्यको निश्चयसे प्रभावित नही करता—

> जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥
> णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि॥
> एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
> पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥

—समयसार गाथा ८०–८२

## आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि

जैनदार्शनिकोंने आत्माका अस्तित्व स्वसंवेदन हेतुसे सिद्ध किया है। संसारमें जितनी आत्माएँ हैं, सभी अपने-अस्तित्वका अनुभव करती है। क्योंकि जिस समय जो कुछ कार्य किये जाते है, उस समय इस बातका अनुभव होता है कि हम अमुक कार्य कर रहे हैं। पञ्चाध्यायीकारने आत्माका अस्तित्व सिद्ध करते हुए बताया है—

---

१. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र १६।

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमाश्रतः।
यो नैव स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः।

—पञ्चाध्यायी २।५

अतः स्वसंवेदन हेतु द्वारा आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। संसारके जितने चेतन प्राणी हैं, सभी अपने को सुखी, दुःखी धनी, निर्धन आदिके रूपमें अनुभव करते हैं। यह अनुभव करनेका कार्य चेतन आत्मासे ही हो सकता है। आचार्य प्रभाचन्द्रने आत्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें निम्न अनुमान उपस्थित किया है। यथा—

'श्रोत्रादिकरणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वाद् वास्यादिवत्'[1]

यहाँ श्रोत्रादि हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिकी उपलब्धि क्रियारूप होनेसे किसी भी कारणके द्वारा सम्पादित होती है। हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि यह विपक्षमें घटित नहीं होता है। अतः आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अनुमान द्वारा भी होती है। आचार्य प्रभाचन्द्रने आत्माके अस्तित्वकी सिद्धिके हेतु विकल्पजाल उपस्थित कर तार्किक प्रणालीका अनुसरण किया है। आत्माको ज्ञानस्वभाव सिद्ध करनेके लिए भी तर्क उपस्थित किये गये हैं। चार्वाक दर्शन आत्माको भूतचतुष्टयके संयोगका प्रतिफल मानता है। प्रभाचन्द्रने युक्तियों द्वारा देहात्मवादका खण्डन किया है। जैन महाकाव्योंमें आत्माके अस्तित्वकी सिद्धिके विपक्षमें जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनमेंसे एकाध-का निरूपण कर आत्माके अस्तित्वका प्रतिपादन किया जाता है।

१. शरीर ही आत्मा है[2] इससे भिन्न कोई आत्मा नहीं। यदि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा है और मरने पर यह परलोक चली जाती है तो बन्धु-बान्धवोंके स्नेहसे आकृष्ट हो, वह लौट क्यों नहीं आती? हमें इन्द्रियातीत कोई आत्मा दिखाई नहीं पड़ता। अतः भूतचतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न शक्ति विशेष ही आत्मा है। कारणके अनुसार ही कार्य होता है। जब भूतचतुष्टय जड़ है, तो उनसे उत्पन्न आत्मा भी जड़ कहलायेगी, चेतन नहीं।

२. प्रत्यक्ष द्वारा भौतिक जगत् ही दिखलाई पड़ता है।[3] इन्द्रिय सुखोंके अतिरिक्त अतीन्द्रिय सुखोंकी हमें प्रतीति नहीं होती है। अतएव धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक आदिकी स्थिति कहाँ?

३. यह शरीर ही आत्मा है।[4] इसीसे हम सुख दुःख प्राप्त करते हैं। मरनेके अनन्तर आत्माका अस्तित्व कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता। अतः शरीरसे अलग कोई आत्मा नहीं है।

उपर्युक्त तर्कोंका उत्तर एक ही अनुमान[5] द्वारा दिया जा सकता है। यह सत्य है कि सजातीयसे सजातीयकी उत्पत्ति होती है, विजातीयकी नहीं। यदि भूतचतुष्टय जड़ है तो उससे सजातीय जड़ वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है, चेतन आत्मा नहीं। अतः भूतचतुष्टय द्वारा चैतन्य आत्माकी उत्पत्ति कभी भी सम्भव नहीं। प्रमेयरत्नमालाकारने अनुमान द्वारा खण्डन करते हुए लिखा है कि आत्मा भूतचतुष्टयसे उत्पन्न होती तो उसमें क्रमशः धारण, ईरण, द्रव और उष्णता लक्षण रूप भूतचतुष्टयका अन्वय पाया जाता, पर ये चारों आत्माका स्वभाव नहीं है।

यदि आत्मा भूतचतुष्टयसे उत्पन्न है तो तत्काल उत्पन्न हुए[6] बालकके स्तनपानादिकमें अभिलाषाके अभावका प्रसङ्ग आयेगा। अभिलाषा प्रत्यभिज्ञानके होनेपर होती है और प्रत्यभिज्ञान स्मरणके होनेपर होता है तथा स्मरण धारणारूप अनुभवके होनेपर होता है। इस प्रकार पूर्वकालीन अनुभव सिद्ध होता है। मध्यवर्ती युवावस्था आदिमें भी अभिलाषाकी व्याप्ति सिद्ध है। कितने ही जीवोंको पूर्वभवका स्मरण भी रहता है। अतएव अनादिकालीन चेतन आत्मा कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तिसे सम्पन्न है। इस प्रसंगका विस्तृत विवेचन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है[7]।

---

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णयसागरप्रेस, १९४१ पृष्ठ ११३।

२. परमानन्द महाकाव्य ३।१२४।

३. वही ३।११०।

४. धर्मशर्माभ्युदय ४।६४-६५।

५. नापि पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वमात्मनः सम्भाव्यते; अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगात् धारणेरणद्रवोष्णतालक्षणान्वयाभावाच्च। तदहर्जात-बालकस्य स्तनादावभिलाषाभावप्रसंगाच्च। अभिलाषा हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, तच्च स्मरणे, स्मरणं चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः सिद्धः।

—प्रमेयरत्नमाला—चौखम्बा संस्करण पृष्ठ २९६।

६. तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

—वही पृष्ठ २९७।

७. देखिये प्रमेयकमलमार्त्तण्ड,—निर्णयसागर प्रेस १९४१ पृष्ठ ११०—१२०।

पञ्चाध्यायीमें बताया गया है कि आत्मा जिस शरीरमें जबतक विद्यमान् रहती है तबतक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है और जिस शरीरमें इसका सर्वथा अभाव हो जाता है, वह शरीर तथा जिन पदार्थोंमें इसका सतत् अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीरके रहते हुए भी आत्माके सद्भाव या अभावमें जीवन और मृतका व्यवहार होता है। यह व्यवहार आत्माके आधारपर ही सम्भव है। प्राणशक्ति चेतनका गुण है, अचेतन वस्तुका नहीं। अचेतनमें शक्ति तो पायी जाती है, पर उसे हम प्राणशक्ति नहीं कह सकते। स्वतन्त्र आत्मशक्तिका हमें अहर्निश अनुभव होता रहता है। अत एव आत्माका अस्तित्व प्रमाण सिद्ध है।

## आत्माके भेद

जैन वाङ्मयमें रत्नत्रयके विकास और ह्रासके कारण आत्माओंके तीन भेद किये गये हैं[1]—१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा। बहिरात्मा वे आत्माएं कहलाती है, जो मिथ्यादर्शनसे युक्त हैं। ऐसी आत्माओंका इस संसारसे उद्धार बडी कठिनाईसे होता है। बहिरात्माओंमें भी जिनमें ज्ञानकी अत्यल्पता है उनका मूलनिवास निगोद है। ऐसी भी अगणित आत्माएँ है जो निगोदसे निकलकर भी मिथ्यात्वके कारण विभिन्न योनियोंमें परिभ्रमण कर रहे हैं। जिन आत्माओंमें अन्तरात्मा और परमात्मा रूप पर्याय प्रकट होनेकी योग्यता नहीं उन आत्माओंको अभव्य कहा गया है।

जो बहिरात्माएँ[2] अपनी शक्तिका विकास कर स्वोपार्जित पुण्य और पापके फलस्वरूप सुखदुःखका अनुभवन करती हुई काललब्धिके आ जानेसे अन्तरात्मा पदको ग्रहण करती है, वे कभी न कभी परमात्म पदको भी प्राप्त कर लेती हैं। बहिरात्माकी सबसे बडी पहचान यही है कि वह शरीरको ही आत्मा मानता है। लोक-परलोकका विश्वास नहीं करता और न पुण्य-पापका ही। अतः शक्तिरूपसे रत्नत्रय युक्त होनेपर भी अभिव्यक्तिकी अपेक्षा बहिरात्मामें आत्मश्रद्धाका पूर्ण अभाव रहता है। शुद्ध-बुद्धरूप आत्माकी प्रवृत्तिकी आस्था उसमें प्रादुर्भूत नहीं होती।

अन्तरात्माके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। यह पहले हो लिखा जा चुका है कि अन्तरात्मा बननेकी शर्त आत्मश्रद्धा है। इस श्रद्धाके उत्पन्न होते ही कोई भी आत्मा अन्तरात्मा तो बन जाती हैं, पर रागद्वेप रूप कालुष्यके हीनाधिक्यकी तारतम्यताके कारण उक्त तीन भेद बन जाते है। जो अन्तरात्मा सर्वसावद्यका त्यागी है, जिसने विकार और वासनाओंको जीत लिया है, जिसकी आभ्यन्तरिक शक्ति विकसित हो चुकी है और जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त उत्सुक है, वह उत्तम अन्तरात्मा[3] है। उत्तम अन्तरात्मा समग्र परिग्रहका त्यागी, आत्मस्वरूपका ध्याता, अट्ठाइस मूलगुण धारी मुनि ही हो सकता है। यह सत्य है कि जिसे आत्मानुभूति हो जाती है, वही कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

मध्यम अन्तरात्मा देशव्रती हैं। इन्हे आत्मानुभूतिकी प्राप्ति हो जाती है। श्रद्धा और ज्ञान-चेतना प्रधान होनेके कारण यह अनुभव भी करता है कि मेरा आत्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित निरञ्जन निराकार है। किन्तु राग-द्वेष निवृत्तिरूप चारित्रकी पूर्णता न होनेके कारण मध्यम अन्तरात्मा कहा जाता है। वास्तवमें अन्तरात्माको अपने द्रव्यके शुद्धत्वकी प्रतीति अटल रूपमें रहता है, किन्तु चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम रहनेके कारण पूर्ण चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती।

जघन्य अन्तरात्मा शरीरसे आत्माको भिन्न मानता है। वह सरागवृत्तिके कारण आत्माको आत्मरूपमें जानता हुआ भी चारित्रसे विमुख रहता है। यद्यपि संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। पर रागद्वेषादि जन्य विकृति उसे विचलित करती रहती है। वह सोचता है—

> 'यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
> अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥'

—समाधिशतक श्लोक ३१

---

१. तिपयारो अप्पा मुणहि परु अतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अन्तरसहिउ बाहिर चयहि णिभन्तु। —योगसार, गाथा ६।

२. मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पाण मुणेइ। सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसार भमेइ। —वही गाथा ७।
देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाण मुणेइ। सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसार भमेइ। —वही गा० १०।
देहादिक जे परकहिया ते अप्पाण ण होइ। इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेइ। —वही गा० ११।

३. योगसार, गाथा० १६, १८।

वह अपने आत्मस्वरूपके सम्बन्धमें विचार करता है कि संसारके मोहक पदार्थ स्त्री, पुत्र, धन आदि मुझे भ्रम-वश ही अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। इनमें अपनत्व बुद्धिका कारण मेरी मूर्च्छा है। जब मेरी यह मूर्च्छा दूर हो जायेगी और स्वयं मैं अपनेको शुद्ध बुद्ध परद्रव्योंके संस्कारसे रहित अनुभव करने लगूँगा तब मेरे रागादिकका क्षय होते विलम्ब नहीं होगा। 'सोऽहम्'की प्रवृत्ति रागद्वेष रहित संयमके आचरणके साथ मिलकर जीवको प्रभु बनाती है। जिस प्रकार पित्तज्वरसे पीडित व्यक्ति मधुर दुग्धको कटु रूपमें अनुभव करता है, उसी प्रकार मोहोदयके कारण यह जीवात्मा पर पदार्थोंको अपना मानता है। मूढात्मा परवस्तुओंको अपना समझकर सन्तुष्ट होता है, पर प्रबुद्धात्मा परवस्तुओंको पर और स्वको स्व रूपमें अनुभव करता है। मेरी अब स्थिति स्वात्मानुभूतिकी है। अतः ज्ञानादि पर्याय ही मेरा अपना रूप है, अन्य विकृति रागद्वेषादि नहीं। यथा—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥'

—समाधिशतक श्लोक ६०

अन्तरात्माकी विचारधाराका विश्लेषण समाधिशतकमें बड़े विस्तारके साथ किया गया है। वहाँ बताया है कि जैसे मोटा कपड़ा पहन लेनेसे आत्मा मोटी नहीं होती, महीन कपड़ा पहननेसे सूक्ष्म नहीं होती, जीर्णवस्त्र धारण करनेसे जीर्ण नहीं होती, वस्त्रके फट जानेसे आत्मा नष्ट नहीं होती, रंगीन वस्त्र धारण करनेसे आत्मा रंगीन नहीं होती, इसी प्रकार शरीरके स्थूल, सूक्ष्म, कृष्ण, रक्त आदिके होनेपर आत्मा तत्तद् रूपमें परिणत नहीं होती। शरीरका धर्म आत्म-धर्मसे पृथक् है।

जब आध्यात्मिक गुणस्थानकी भूमिकाओंको पारकर अन्तरात्मा तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है, तो परमात्म पदकी स्थिति आती है। परमात्माके दो भेद हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। सकलपरमात्मा केवलज्ञान-धारी वीतरागी और हितोपदेशी अर्हन् हैं। इन्होंने ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है। अतएव परमात्म पद प्राप्त कर लिया है। परमात्म पदके विरोधी उक्त चारकर्म हैं। जबतक इन कर्मोंका संसर्ग आत्माके साथ रहता है, तबतक परमात्मपद प्राप्त नहीं हो सकता।

निकल परमात्मा अष्टकर्मरहित सिद्ध परमेष्ठी हैं। इनके स्वरूपका वर्णन आचार्य नेमिचन्द्रने निम्न प्रकार किया है—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहि संजुत्ता ॥

—द्रव्यसंग्रह गाथा १४

अर्थात् समस्त कर्मोंका नाश होनेपर अपने शुद्ध स्वभावसे युक्त अष्टगुण सहित सिद्ध निकल परमात्मा होते हैं। अतः आत्मा स्वभावतः ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यमय होता हुआ भी कर्मबन्धके कारण संसारावस्थाको प्राप्त होता है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें इस तथ्यकी व्यंजना बड़ी ही सुन्दर रूपमें की गयी है। वहाँ शंका उत्पन्नकी गयी है कि अनादिकालसे यदि सभी आत्माएं शुद्ध स्वभाववाली है तो तपाचरण करना निष्फल होगा। अनादिसे शुद्ध आत्मामें शरीर ग्रहण और कर्मबन्धनका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः एकान्ततः अनादिकालसे यह आत्मद्रव्य शुद्ध नहीं है। बताया है—

सव्वे कम्म-णिबद्धा संसरमाणा अणाइ-कालम्हि।
पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा सुद्धा धुवं होंति ॥
जो अण्णोण्णपवेसो जीव-पएसाण कम्म-खंधाणं।
सव्व-बंधाण विलओ सो बंधो होदि जीवस्स ॥

—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २०२, २०३

अर्थात् सभी जीव अनादिकालसे कर्मबन्धनसे युक्त हैं और इसी कारण वे संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं। कर्मबन्धनकी चार स्थितियाँ हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। योग और कषायके सम्बन्धसे आत्मामें कर्मबन्धन होता है। शक्तिकी अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्य और अव्याबाधत्व इन आठ गुणोंसे युक्त है। पर अभिव्यक्तिकी अपेक्षा तारतम्य रहनेसे आत्माके

उक्तभेद सम्भव होते हैं। प्रत्येक आत्मामें गुण और पर्याय पाये जाते हैं और प्रत्येक आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। अतएव जो विचारशील साधक हैं, वह चिन्तन करता है—

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥
आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥
एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥

—द्वात्रिंशतिका, श्लोक २४–२६

इस प्रकार चिन्तन करने वाला व्यक्ति अन्तरात्मा बन परमात्मपदको प्राप्त करता है। आत्माका विवेचन नय और निक्षेपकी दृष्टिसे भी किया गया है। तथा भव्य, अभव्य, संयमी, असंयमी आदि आत्माओंके संख्या-परिमाण भी प्रतिपादित किये गये हैं।

# जैनदर्शनमें मानस विचार

श्री राजकुमार जैन, एच० पी० ए० दर्शनायुर्वेदाचार्य
सरदार शहर

●

## मनकी स्थिति

जैनदर्शनमें चित्तवृत्ति या मनोव्यापारका स्वरूप अत्यन्त समुचित रूपमें वर्णित है। मन यद्यपि शरीर स्थित भावविशेष है और उसके संयोजनके कारण ही इन्द्रियव्यापार और तज्जनित ज्ञान होता है। अतः शरीरके साथ उसका घनिष्ठतम सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। किन्तु वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। जैनदर्शनके अनुसार मन-का सम्बन्ध शरीरसे उतना नही है, जितना आत्माके साथ है। मनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह कोई स्वतन्त्र पदार्थ अथवा गुण नही है। वह आत्माकी एक स्थितिविशेष है। मानसप्रवृत्ति एवं तज्जनित ज्ञान भी आत्माकी एक स्थिति विशेष है। मनकी प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नही है, वह पूर्णतः कर्मस्थिति सापेक्ष है। अतः मनके स्वरूप एवं प्रवृत्तिका ज्ञान आत्मा व कर्मज्ञान सापेक्ष है। क्योंकि मनका सम्बन्ध इन्ही दो तत्वोंसे विशेषरूपसे है। शरीरसे मनके सम्बन्धका जहाँ तक प्रश्न है—वह पूर्णतः आत्मापर आधारित है। इस तथ्यको इस प्रकारसे समझा जा सकता है कि आत्माका मूल गुण चैतन्य है। अतः चैतन्ययुक्त अथवा आत्मा युक्त शरीरमे ही मनोऽभिव्यक्ति सम्भावित है। आत्मशून्य शरीरमें चेतना एवं मनका पूर्णतः अभाव रहता है। अतः आत्मयुक्त चेतन शरीरमें ही मनःप्रवृत्ति प्रत्यक्षगम्य है; अन्यत्र नहीं।

## न्याय-दर्शनमें स्वतन्त्र द्रव्यरूप मन

प्रायः देखा जाता है कि शरीरपर मनका एवं मनपर शरीरका प्रभाव पड़ता है। इससे दोनोका प्रभाव एवं प्रवृत्ति अन्योन्याश्रितकी भाँति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त विकृतिजन्य प्रभाव भी एक दूसरेपर परिलक्षित होता है। अतः आत्माकी भाँति शरीरके साथ भी मनका घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। जैनदृष्टिके अनुसार इस तथ्यको अत्यन्त समुचित रूपसे सुस्पष्ट किया गया है। इस विषयमे अन्य दर्शनोके मनका अवलोकन अपेक्षित है। सांख्य दर्शन एवं न्यूनाधिक रूपसे अन्य दर्शन भी मनका स्वतन्त्रत्व स्वीकार करते है। न्यायदर्शनने अपनी द्रव्यव्यवस्था-के अन्तर्गत मनकी भी परिगणना की है। यथा—

'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालादिगात्ममनांसि नव द्रव्याणि।

—तर्कसंग्रह सूत्र २

मनके प्रकरणमे आगे लिखा है—'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ'। तदनुसार मन अणुरूप एवं एक है। इसके विपरीत जैनदर्शन मनका स्वतन्त्र द्रव्यत्व स्वीकार नही करता और उसकी प्रवृत्तिके आधारपर उसका एकत्व नहीं अपितु द्वैविध्य स्वीकार करता है। जैनदर्शनके अनुसार मन दो प्रकारका होता है—चेतनात्मक एवं पौद्गलिक। इसमें प्रथम चेतन मन ज्ञानात्मक होता है और उसके द्वारा वस्तुके स्वरूपका ज्ञान होता है, किन्तु उसमें सहयोगी होता है पौद्गलिक मन। पौद्गलिक मनके अभावमे चेतनात्मक मन अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि पौद्गलिक मन वस्तुके स्वरूपग्रहणमें अवलम्बन होता है। अतः तत्संयोजित चेतन मन उस वस्तुका ज्ञान करता है। अतः कहना न होगा कि दोनोंके संयोगसे ही मानसिक व्यापार संचालित होता है। दोनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव मानसिक क्रियामें बाधा स्वरूप होता है।

## जैनदर्शनमें द्रव्यमन और भावमन

भावमन या ज्ञानात्मक मन चेतन होता है। उसकी उत्पत्ति निर्माण अथवा अभिव्यक्ति पौद्गलिक परमाणुओं द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि पौद्गलिक वस्तुसे उत्पद्यमान वस्तु पौद्गलिक ही होगी। अतः ज्ञानात्मक चेतन मन पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुके मूलभूत स्वाभाविक गुण तज्जनित अन्य वस्तुमें भी विद्यमान रहते हैं। वस्तुका स्वरूपान्तर हो जाता है तब उसके मूल गुणों एवं स्वरूप आदिमें न्यूनाधिक्य सम्भावित है; किन्तु वह मूलगुण उस वस्तुसे सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता। दो या अधिक वस्तुओंका संयोग एक अन्य वस्तुका निर्मापक हो सकता है। एतद्विधनिर्मित उस अन्य वस्तुके गुण भी पूर्व वस्तुओंके गुणसे ही निर्मित होते हैं। उस वस्तुके विघटन करनेपर मूल वस्तु अपने स्वाभाविक गुणोंके साथ ही पाई जाती है। अतः ऐसी स्थितिमें पौद्गलिक परमाणु द्वारा चेतन मनकी निर्मिति या उत्पत्ति भी असंभावित है। क्योंकि न तो उसका विघटन ही किया जा सकता है और न ही उसमें पुद्गलत्व पाया जाता है।

पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञानात्मक चेतन मनको वस्तुके ज्ञानके लिए पौद्गलिक मन सहयोगीके रूपमें कार्य करता है। हमारा मानस चिन्तनमें प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मनके द्वारा पुद्गलों (वस्तुओं)का ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा उसकी प्रवृत्ति असम्भावित है। मानस द्वारा प्रतिपादित चिन्तन कार्यमें जिस प्रकारके भावोंका समावेश होता है, उसी प्रकारके पुद्गलोंको द्रव्यमन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है। अनिष्ट भावोंका चिन्तन अनिष्ट द्रव्योंके ग्रहणका कारण एवं इष्ट भावोंका चिन्तन इष्ट द्रव्योंके ग्रहणका कारण होता है। परिणाम स्वरूप मानसिक भावरूपमें परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलोंसे शरीरकी हानि होती है और मानसिक भावरूपमें परिणत हुए इष्ट पुद्गलोंसे शरीरको लाभ होता है। इसी तथ्यको निम्न शब्दोंमें स्पष्ट किया गया है—

"मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिश्चयरूपं द्रव्यमन अनिष्टचिन्ताप्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्यनिरुद्धवायुवदुपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूपं तस्यानुकूल-चिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिवृत्त्या भेषज-वदनुग्रहं विधत्ते इति।

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा २२०

इस प्रकार शरीरपर मनका प्रभाव पड़ता है और शरीर मानसिक क्रियाओंके परिणामकी अभिव्यक्तिका साधन बन जाता है। मानस भावोंका प्रबल अतिरेक शरीरके बाह्य अवयवोंको अभिभूत करता है, जिनके द्वारा अन्तर्मनकी स्थिति-का आभास होता है। यद्यपि शरीरको प्रभावित करनेवाले भाव विशेष उसके सजातीय पुद्गल ही होते हैं, तथापि उन पुद्गलोंका ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर रहता है। अतः इस प्रक्रियाको 'मानसिक-प्रभाव' कहा जा सकता है। देखने-की शक्तिका नाम ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञेय (दर्शनगम्य) पदार्थको ग्रहण करती है। ज्ञान आत्माका गुण है। फिर भी मनुष्य आँखके बिना देख नहीं सकता। आँखमें विकृति हो जानेपर दर्शन क्रियाका ह्रास या विनाश हो जाता है। उपचार द्वारा विकृति दूर होनेपर पुनः दर्शन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही बात मन और मस्तिष्ककी क्रियाके विषयमें भी लागू होती है। इसी प्रकार साधनभूत शरीरके द्वारा सम्पादित भौतिक क्रियाओंसे मन प्रभावित होता है।

## इन्द्रियाँ, मन और ज्ञान

इन्द्रियाँ और मन विविध ज्ञानके साधन है। संसारके समस्त भौतिक विषयोंका ज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा होता है। जैनदर्शनमें जिस ज्ञानक्रमकी व्यवस्था की गई है, तदनुसार वह ज्ञान पंचविध रूपेण विभाजित किया गया है। यथा-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमेंसे मात्र मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान ही इन्द्रिय और मन जनित होते है। शेष तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय एवं मनोऽतीत है। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनकी सहायतामें होते हैं, तथापि दोनोंमें भिन्नता है। मति द्वारा इन्द्रिय और मनकी सहायता मात्रसे अर्थज्ञान होता है। इसमें नेत्र द्वारा दर्शनकी, कर्ण द्वारा श्रवणकी, नासा द्वारा घ्राणकी, रसना द्वारा रसकी और त्वक् द्वारा स्पर्शनकी प्रतीति मात्र होती है, जो कि पूर्णतः मतिमूलक होती है। इससे आगेकी स्थिति श्रुतज्ञानका विषय है। अर्थात् श्रुतज्ञानको शब्द या संकेतकी और भी अधिक अपेक्षा रहती है। किसी वस्तुका ज्ञान जब उसके देखने मात्रसे हो जाता है तब वह मतिज्ञान है और जहाँ उसी वस्तुका ज्ञान तद्बोधक शब्द या संकेत द्वारा होता है तब वह श्रुतज्ञान होता है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। जैसे तालाबमें डूबे हुए हाथीकी सूँडको देख-कर हाथीका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। इस ज्ञानमें इन्द्रियों द्वारा प्रथम सूँडका ज्ञान मतिज्ञान द्वारा होता है तथा उसके

निमित्तसे होनेवाला वस्तु विशेषका ज्ञान ( हाथीका ज्ञान ) श्रुतज्ञान होता है। 'घट'को देखने मात्रसे जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और तत्पूर्वक घटशब्द या संकेतके द्वारा जो घट ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। इसी तथ्यका स्पष्टीकरण ग्रन्थोंमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

**'संकेतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादि शब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य घटो घटः इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमतः शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति'—**

**—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा १००**

**'श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानं समाधिगम्यवस्तूच्यते विषये विषयिणः उपचारात्'**

**—तत्त्वानुशासनम् २।११**

उपर्युक्त क्रमानुसार वस्तुके स्वरूपज्ञानमें इन्द्रिय मनकी सापेक्षवृत्ति रहती है। वस्तुतस्तु इन्द्रियां मात्र प्रतिनियत अर्थग्राही हैं, किन्तु मन सर्वार्थग्राही है। पाँचो ही इन्द्रियों—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके पाँच ही प्रतिनियत अर्थ हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही अर्थको ग्रहण करती है। इसके विपरीत मन समस्त इन्द्रियोंके सभी विषयोंको ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मनका मुख्य विषय श्रुत है। यथा—'श्रुतमनिन्द्रियस्य'—तत्वार्थसूत्र २।२२। 'पुस्तक' शब्दको सुनते ही या पढ़ते ही मनको 'पुस्तक' वस्तुका ज्ञान हो जाता है। मनको शब्दसंस्पृष्ट वस्तुकी उपलब्धि होती है। चक्षु इन्द्रियको पुस्तक देखने पर पुस्तक वस्तु मात्रका ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर श्रोत्रको उस शब्द मात्रका ज्ञान होता है। किन्तु पुस्तकका 'पुस्तक' यह उच्चारण वाच्यार्थ है। यह ज्ञान इन्द्रियको नहीं होता। इन्द्रियोंमें मात्र विषयकी उपलब्धि-अवग्रहण शक्ति ही होती है। इसमें ईहा, गुण दोष विचारणा, परीक्षा या तर्कशक्ति नहीं होती। मनमें इन्द्रिय जनित ज्ञानसे आगेकी प्रवृत्ति अर्थात् ऊहा-पोह शक्ति होती है। 'नन्दी सूत्र'में इसी विषयका विवेचन निम्न प्रकारसे किया गया है—

**(क) जस्स णं णत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं असण्णित्ति लब्भई—४१**

**(ख) जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं सण्णीति लब्भई—४०**

अर्थात् जिसके इच्छा, ऊहापोह, विचार, गवेषणा, चिन्तन और मीमांसा नहीं है, वह असंज्ञी कहलाता है और जिसके उपर्युक्त समस्त बातें होती है वह संज्ञी ( समनस्क ) कहलाता है।

अतः इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय मति और श्रुत दोनोंमें ही वर्तमानका बोध कराती है। वह केवल पार्श्व वर्ती विषय ही जानती है। मन ईहा गुण-दोष विचारणाके अन्वय-व्यतिरेकी धर्मोंके परामर्शपूर्वक ज्ञानमें तन्मय त्रैकालिकरूपेण अवस्थित रहता है।

नैयायिकोंके मतानुसार मन इन्द्रियसे पृथक् होता है। सांख्य मतानुसार मनका इन्द्रियोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। वे दशकी जगह ग्यारह इन्द्रियाँ मानते है। यथा—

**'एकादशेन्द्रियाणि भवन्ति, पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं पुनर्मनः'**

किन्तु वे मनका विषय इन्द्रियातीत मानते है। मन इन्द्रियके साथ संयोजित होकर इन्द्रियके माध्यमसे ज्ञान प्राप्त करता है। जब तक इन्द्रियके साथ मनका संयोजन नहीं होता, तब तक उस विषयका ज्ञान नहीं हो सकता।

जैनदर्शनमें मनको अन-इन्द्रिय माना गया है। क्योंकि मन इन्द्रियोंकी भाँति मात्र प्रतिनियत अर्थग्राही नहीं है। अतः वह इन्द्रिय नहीं हो सकता। तथापि, वह इन्द्रियोंके विषयोंको उन्हींके माध्यमसे जानता है; अतः कथंचित् इन्द्रियत्वेन ( स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार ) वह इन्द्रिय भी कहा जा सकता है। स्वतन्त्र विषयापेक्षया वह इन्द्रिय नहीं है और उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार इन्द्रिय सापेक्षताकी दृष्टिसे उसमें इन्द्रियत्व विद्यमान है।

इस प्रकार जैन दर्शनमें मनोव्यापार एवं मनःस्थिति विवेचन भी उतने ही व्यापक रूपसे किया गया है जितना कि अन्य दर्शनोंमें। प्रायः सभी दर्शनोंमें इन्द्रियोंको ज्ञानका बाह्य साधन मानकर ज्ञानका अन्तः साधन मनको माना गया है।

●

# अनेकांत और स्याद्वाद

श्री नरेन्द्रकुमार जैन, न्यायतीर्थ, कारंजा

श्रीमत् परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांच्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

अर्थ—परम गम्भीर स्याद्वाद यह जिसका अमोघ लक्षण है ऐसा जिनभगवानका अनेकांत शासन सदैव जयवंत हो !

'एकवस्तुवस्तुत्व.नष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकांतः ।'

एक वस्तुमें वस्तुत्वकी सिद्धि करनेवाले परस्पर विरोधी द्रव्य-पर्याय रूप दो शक्तिधर्मोंका युगपत् एकत्र अविनाभाव अविरोध सिद्ध करना यही अनेकांतका मुख्य प्रयोजन है ।

वस्तु स्वयं अनेकातात्मक, उभयधर्मात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक है ।

वस्तुमें अनंतधर्मोंकी या अनंतगुणोंकी सिद्धि करना यह अनेकांतका मुख्य प्रयोजन नहीं है । अनेकांतमें 'अनेक' शब्द 'उभय' इस अर्थमें अभिप्रेत है ।

वस्तुमें परस्पर विरुद्ध उभयधर्मोंका युगपत् अविरोध सिद्धि करना यही अनेकांतका मुख्य प्रयोजन है ।

## सामान्य-विशेषका सम्बन्ध

सामान्य अपने विशेषोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है उसी प्रकार विशेष भी बिना अन्वयरूप सामान्यके स्वतन्त्र नहीं रहते है । 'अशेषविशेषनिष्ठं हि सामान्यं' सामान्य अपने सम्पूर्ण विशेषोंमें व्यापक एकरूप रहता है । 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्' विशेषरहित सामान्य खरविषाणकी तरह असत् ठहरता है ।

उसी प्रकार विशेष भी अपने सामान्यका अन्वय छोड़कर निरन्वय नहीं रहते है । जहाँ विशेष आविर्भूत होता है उसमें सामान्य निहित ( गूढ ) होता ही है ।

बिना सामान्यके विशेष आविर्भूत नहीं हो सकता है ।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है । सत्-असदात्मक है । नित्य-अनित्यात्मक है । एक-अनेकात्मक है । तत्-अतदात्मक है । द्रव्य-पर्यायात्मक है ।

१. वस्तु सामान्यधर्मसे सदा सत्‌रूप ही रहती है, सामान्यमें कभी असत्‌रूप नहीं होती । सामान्य विरहित कभी नहीं होती या सामान्यसे कभी उत्पाद-व्ययरूप या आविर्भाव तिरोभावरूप नहीं होती ।

२. वस्तु विशेषधर्मसे सदा असत्‌रूप ( उत्पाद-व्ययरूप ) ( आविर्भाव-तिरोभावरूप ) होती है ।

वस्तु सामान्यधर्मसे सदा सत्‌रूप-आविर्भूत ही रहती है तो भी सामान्यका सत्‌पना विशेषके असत्‌पनेके-उत्पादव्ययके बिना नहीं रह सकता। सामान्यका सत्‌पना विशेषके असत्‌पनेकी अपेक्षा अवश्य रखता है ।

सामान्यके सत्‌पनेके बिना विशेषका असत्‌पना नहीं बन सकता। उसी प्रकार विशेषके असत्‌पनेके बिना सामान्यका सत्‌पना बन नहीं सकता । इस प्रकार इनका परस्पर सापेक्षभाव है—अविनाभाव है ।

२. इसी प्रकार वस्तु सामान्यधर्मसे नित्य-अविनाशी है अनादिनिधन है, विशेषधर्मोंसे अनित्य-उत्पाद-व्ययरूप सादि-सांत है ।

३. वस्तु सामान्य धर्मसे सदा एक अखण्ड है और अपने विशेष धर्मोंसे बुद्धिकल्पित खण्डखण्डरूप अनेक है ।

४. सामान्यधर्मसे सदा तत्‌रूप ( एकाकाररूप ) है और अपने विशेषधर्मोंसे अतत्‌रूप ( अनेक आकार रूप ) है ।

इस प्रकार परस्पर विरोधी ( देखनेमें विरोधी ) लेकिन वास्तवमें परस्पर अविरोध रूपसे रहनेवाले इन दो धर्मोंका युगपत् एकत्र अविरोध समन्वय ( अविनाभाव-सापेक्षभाव ) सिद्ध करना यही अनेकांतका मुख्य प्रयोजन है ।

## आलोचना-प्रत्यालोचना

अनेकांतका मर्म ( गूढ रहस्य ) न समझनेवाले शंकराचार्यादि विद्वानोंने अनेकांतको अव्यवस्थित-अनिश्चित कहा है, 'वस्तु है और नहीं भी है' इस प्रकार कहना वह तो व्याघातरूप है ऐसा दोषारोप करते है। लेकिन जैनधर्मके अनेकांतका मर्म समझनेवाले—जैनधर्मके अनेकातका सूक्ष्म अभ्यास करनेवाले ( श्रीयुक्त भांडारकर सरीखे ) कई अनेक विद्वान् भी जैनधर्मके अनेकातकी मुक्तकंठ रूपसे प्रशंसा ही करते हैं ।

जैनधर्मानुयायी होकर भी जो अनेकांतकी अयथार्थ परिभाषा करते है—जैसे कि निश्चय ही मोक्षमार्ग है अथवा व्यवहार ही मोक्षमार्ग है, या उपादान ही कार्यका कारण है अथवा निमित्त ही कारण है, कार्य कुछ नियत होता है और कुछ अनियत भी होता है; इस प्रकारकी परिभाषा ही अनेकातके दोषका कारण बन जाती है । अनेकांतकी यह परिभाषा सदोष है । अनेकांत ऐसा अनिश्चित-अव्यवस्थित, बदतो व्याघातरूप नहीं है । यदि वस्तुको जिसरूपसे 'सत्' माना है उसीरूपसे 'असत्' माना जाता तो वह मानना अव्यवस्थित-अनिश्चितपनाका द्योतक सिद्ध होता । लेकिन अनेकान्तका वैसा स्वरूप नहीं है । अनेकान्तात्मक वस्तुका विवेचन करते समय स्याद्वाद जिस दृष्टिकोणको अपनाता है, वह दृष्टिकोण उस समय यथार्थ होता है, अन्यथा वस्तुका विवेचन ही सम्भव नहीं हो सकेगा ।

वस्तु सामान्यधर्ममें सदा सत्रूप ही रहती है ऐसा सुनिश्चित कथन करना एकांतरूप मान्यता है । उसी प्रकार वस्तु विशेषरूपसे सदा असत्रूप ही है ऐसा सुनिश्चित कथन करना भी एकान्त है ।

दो सुनिश्चित एकांत तत्वोंपर आरूढ ऐसा अनेकान्त सुनिश्चित है सुव्यवस्थित है ।

**अनेकांतोऽप्यनेकांतःप्रमाणनयसाधनः ।**<br>**अनेकांतः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितात् नयात् ॥**

जैनधर्मका अनेकांत सर्वथा अनेकातरूप-व्यभिचरित नही है । प्रमाण और नयसे अनेकात और एकात स्वरूप है ।

दो सुनिश्चित तत्वोंका परस्परसापेक्ष भाव ग्रहण करनेवाले प्रमाण ज्ञानसे वस्तु अनेकान्तात्मक कही जाती है । लेकिन वस्तुके एक-एक सुनिश्चित अंगको ग्रहण करनेवाले नय ज्ञानसे वस्तुका प्रत्येक धर्म एकान्त सुनिश्चित स्वरूप कहा है । वह अनिश्चित अव्यवस्थित नहीं है ।

उसी प्रकार निश्चय यही मोक्षका साक्षात मार्ग है, व्यवहार मोक्षका साक्षात् मार्ग नहीं है, निश्चय सहित व्यवहारको ही व्यवहार मार्ग-पुण्यमार्ग कहा है । निश्चय रहित व्यवहार यह व्यवहार मार्ग भी नहीं है इस प्रकार सुनिश्चित दो एकान्त तत्वों पर आरूढ ऐसा अनेकान्त सम्यक् अनेकान्त है ।

इसके विरुद्ध निश्चय और व्यवहारको समकक्ष मानकर मोक्षमार्ग मानना यह अनैकान्तिक दोषसे दूषित-व्यभिचरित होनेसे सम्यक् अनेकान्त नहीं है ।

जिस प्रकार एक ही पुरुष अपने पुत्रका पिता होता है और वही पुरुष अपने पिताका पुत्र होता है । अर्थात् पितृत्व-और पुत्रत्व इत्यादि अनेक धर्म युगपत् एक ही पुरुषमे भिन्न-भिन्न विवक्षामें रह सकते है । उसमें कुछ भी विरोध नहीं आता है उसी प्रकार द्रव्यदृष्टिसे-सामान्य दृष्टिसे-वस्तु सत्रूप-नित्यरूप-एकरूप-तत्रूप-नित्य शुद्धरूप रहती है ।

उसी समय वही वस्तु विशेष दृष्टिसे, पर्याय दृष्टिसे असत् ( उत्पाद-व्ययरूप ) अनित्य अनेकरूप-अतत्रूप-अशुद्धरूप प्रतीत होती है । 'यदा शुद्धं तदा शुद्धं इति न परीक्षाक्षमं वचः' जीव जब शुद्ध होगा तब उसको शुद्ध कहना यह शुद्ध दृष्टि-द्रव्यदृष्टि नही है । वह तो पर्यायदृष्टि है । अशुद्धदृष्टि ही ह । भेददृष्टि ही है ।

जीव पर्यायरूपसे अशुद्ध रहते हुये भी वह द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है ऐसा कहना-समझना यह द्रव्यदृष्टि-शुद्धदृष्टि है—जीव द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है उसी समय वह पर्याय दृष्टिसे अशुद्ध भी है ।

प्रश्न—यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जीव शुद्ध होगा तब शुद्ध कहो, जब अशुद्ध है तब अशुद्ध कहो एक साथ शुद्ध-अशुद्ध कैसे रह सकते है ?

समाधान—उसका समाधान पंचाध्यायीकार करते हैं—

**नैवं त्वनन्यथा सिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः ।**<br>**विरोधेऽप्यविरोधः स्यात् मिथः सापेक्षतः सतः ॥१५०॥**

यहाँ शुद्धत्व, अशुद्धत्व पर्यायदृष्टिसे अभिप्रेत नहीं है। पर्याय दृष्टिसे युगपत् शुद्ध-अशुद्धत्व मानना अवश्य विरुद्ध है लेकिन द्रव्यदृष्टिसे शुद्धत्व और पर्यायदृष्टिसे अशुद्धत्व युगपत् मानना विरुद्ध नहीं है। इनकी परस्पर अनन्यथासिद्धि है। अविनाभाव है। इनमें परस्पर सापेक्ष भाव है इसलिये दिखनेको विरोध दीखता है लेकिन वास्तविक अविरोध है।

इस प्रकार परस्पर विरोधी दो धर्म युगपत् एकत्र अविरोध रूपसे प्रतीत होते है।

## व्यवहार और निश्चयका समन्वय

कोई कहते है कि निश्चयदृष्टि एकान्त है, पर जब अंशीकी अपेक्षा व्यवहार किया जाता है तो वह एकान्त नहीं है क्योंकि वह वस्तुके एक-एक अंशको दिखलाने वाले विशेषदृष्टिकी तरह विशृंखलित अंशदृष्टि नही है। वह तो अंशीदृष्टि है—द्रव्यदृष्टि है, जो एक साथ पूर्ण वस्तुका विवेचन करती है। सामान्यदृष्टिके ही अंशीदृष्टि-द्रव्यदृष्टि अभेददृष्टि शुद्धदृष्टि निश्चयदृष्टि इत्यादि अनेक नाम हैं। ये सब एकार्थ वाचक हैं। सामान्यमे ही अशेष विशेष समाविष्ट रहते हैं, इसलिये सामान्यदृष्टि अंशदृष्टि या अपूर्णदृष्टि एकान्तदृष्टि नही है वह अंशीदृष्टि-द्रव्यदृष्टि-पूर्णदृष्टि-अनेकान्तदृष्टि है। सामान्य पूर्ण और व्यापक होता है। विशेष अपूर्ण एक अंश व्याप्य होता है। इसलिये सामान्यदृष्टि पूर्णदृष्टि है और विशेषदृष्टि अपूर्णदृष्टि एकान्तदृष्टि है।

अध्यात्मशास्त्रमे द्रव्यदृष्टिमे वस्तुका वर्णन है, इसलिये एकान्तदृष्टि नहीं है वह अनेकान्त है।

व्यवहार शास्त्रमे यद्यपि वस्तुके एक-एक अंशका वर्णन होनेसे वह एकान्त दृष्टि है तो भी उसके साथ 'स्यात्' पद रहता है वह 'एकान्त', 'स्यात्' पदसे विभूषित होता है इसलिये वह वस्तुकी अन्य अंशीदृष्टिका सूचक होनेसे सापेक्ष भाव रखनेमे वह सम्यक् एकान्त है—अनेकान्त है।

अध्यात्म शास्त्रमें व्यवहारको अभूतार्थ-असत्यार्थ जो कहा है इसका अर्थ अभेद वस्तुमे जो भेदकल्पना-अंश-कल्पना है वह यद्यपि बुद्धिकल्पित है, वास्तवमें वस्तु भेदरूप नहीं है प्रयोजनवश उसमे भेद कल्पना आवश्यक-इष्ट है। क्योंकि विना भेदके अभेदका यथार्थ स्वरूप समझना असम्भव है इसलिये वस्तुमे भेद कल्पना बुद्धि कल्पित होने पर भी उसको सर्वथा असत्यार्थ नही कहा है। भेदरूप कथनसे वस्तुको सर्वथा भेदरूप न समझे अथवा वस्तुमे जिस प्रकार वास्तविक अभेद है उसी प्रकार भेद भी वास्तवमे है, ऐसा मिथ्या अनेकान्त न समझे, इसलिये व्यवहारको अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा है। वास्तवमे वस्तुको अभेदरूप ही समझना और भेदको प्रयोजनवश बुद्धिकल्पित लेकिन तावत्काल आवश्यक वक्तव्य समझना—सर्वथा अनावश्यक न समझना यह अनेकान्त सम्यक् अनेकान्त है।

व्यवहारको अभूतार्थ असत्यार्थ कहनेका दूसरा प्रयोजन यह है कि—मोक्षके लिये द्रव्यदृष्टि ही साक्षात् कारण है व्यवहारदृष्टि यह पर्यायदृष्टि होनेसे यदि वह द्रव्यदृष्टि सापेक्ष न हो, सर्वथा एकान्त पर्यायदृष्टि हो तो वह संसारका ही कारण है, मोक्षका कारण नही है इसलिये उसको अभूतार्थ कहा है।

व्यवहारको अभूतार्थ कहनेमे वस्तुमें जो पर्याऐं होती है वे सर्वथा असत्यार्थ है, यह अभिप्रेत नहीं है।

पर्यायदृष्टि यह अंशदृष्टि है—अंशीदृष्टि नही है, अंशीविरहित अंशदृष्टि संसारका ही कारण होती है, मोक्षका कारण कदापि नही हो सकती है। इसलिये उसको अध्यात्मशास्त्रमे हेय कहा है। और अंशीदृष्टि-द्रव्यदृष्टि ही मोक्षके लिये प्रयोजनभूत होनेसे उसको भूतार्थ कहकर उपादेय कहा है।

वहाँ अभूतार्थ असत्यार्थका अभिप्राय, खपुष्पवत् सर्वथा असत् है इसलिये उसको असत्यार्थ कहा, ऐसा नहीं है।

जो निश्चयएकान्तवादी व्यवहारको खपुष्पवत् सर्वथा असत् मानते है उनका अध्यात्म शास्त्रमें भी अत्यन्त निषेध ही किया है।

लेकिन जो निश्चयवादी निश्चयको ही मोक्षके लिये प्रयोजनभूत उपादेय मानते हैं, और व्यवहारको—( निश्चय सापेक्ष व्यवहारको ) तावत्काल उपादेय समझते है, साक्षात् मोक्षके लिये उपादेय नही समझते है तथा व्यवहार-को खपुष्पवत् सर्वथा असत् झूठा भी नही समझते है, वे निश्चयवादी उपरोक्त निश्चयाभासी की तरह मिथ्या एकान्तवादी नही है। वे सम्यक् एकान्तवादी-अनेकान्तवादी ही है।

शब्द प्रयोगका यथार्थ-अभिप्रायार्थ न समझनेसे ही संशय-विरोध आदि दोष उत्पन्न होते हैं, वही संघर्षका मुख्य कारण है।

अयमर्थो नायमर्थो इति शब्दा वदन्ति न।

केवल शब्द यह नहीं कह सकते कि हमारा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है। वक्ताके अभिप्राय जाननेसे ही शब्द प्रयोगका यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

आजकल केवल शब्दार्थसे ही झगड़े चल रहे हैं। परम्परका अभिप्राय समझनेकी दृष्टि ही नहीं है इसलिये निष्कारण संघर्ष हो रहा है। केवल शब्द प्रयोगसे मनमाने अभिप्राय निकालना छोड़कर वक्ताके अभिप्रायको समझकर उसको यथार्थ या अयथार्थ कहनेमें संघर्ष नहीं हो सकता है।

संघर्षका दूसरा कारण कषाय है। कषायभावमें प्रेरित शब्द प्रयोगमें ही संघर्ष होता है। चर्चा तो वीतरागभावसे होनी चाहिये। 'भैया, हम तो इस दृष्टिसे इतना समझते हैं, अधिक तो केवली जाने' इस प्रकारका वीतरागभाव यदि हो तो संघर्षका कारण ही नहीं है।

एकांतदृष्टि ही पक्षपातदृष्टि-सरागदृष्टि है। अनेकांतदृष्टि-सापेक्षदृष्टि-वीतरागदृष्टि है। लेकिन इस अनेकांतदृष्टिमें सापेक्षभाव व्यभिचरित नहीं होना चाहिये। वह सुनिश्चित-सुव्यवस्थित होना चाहिये। निश्चय भी मोक्षमार्ग और व्यवहार भी मोक्षमार्ग इस प्रकारका सापेक्षभाव व्यभिचरित होनेसे सदोष है। वह यथार्थज्ञान न होकर मिथ्याज्ञान कहलाता है।

वस्तु अनेकांतात्मक है इसका अर्थ वस्तुका स्वरूप अनेकांतात्मक है ऐसा नहीं है। वस्तुका स्वरूप (लक्षण) अव्यस्थित-अनिश्चित-व्यभिचरित-अनेकान्तात्मक मानना यह अनैकान्तिक दोष कहलाता है। जैनधर्मका अनेकांत इस प्रकार अनिश्चित-अनेकांतका प्रतिपादक नहीं है।

वस्तु अनेकांतात्मक-सामान्य-विशेषात्मक-अभेद-भेदात्मक होकर भी सामान्य वस्तुका स्वरूप है और विशेष वस्तुका विरूप है। पर्यायको गुणका विकार कहा है।

यद्यपि पर्याय दो प्रकारकी है—१ स्वभाव २ विभाव। विभाव पर्याय तो विकार है ही। स्वभाव पर्यायको जो विकार कहा है उसका प्रयोजन, स्वभाव पर्याय वस्तुका विरूप है यह कहनेका नहीं है। लेकिन स्वभावपर्यायदृष्टि भी एक अंशदृष्टि है वह अंशीदृष्टि नहीं है इसलिये उसको भी विकार कहा है। विकारका अर्थ यहाँ केवल विभावरूप आकार अभिप्रेत नहीं है। आकार फिर चाहे वह स्वभावरूप हो या विभावरूप हो वह आकार ही है—भेदरूप ही है अंशरूप ही है। अंशदृष्टि मोक्षका कारण नहीं होती है। कार्यदृष्टिसे कभी भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कार्यसिद्धिके लिये कारणदृष्टि ही साक्षात् प्रयोजन भूत है। कारणके आश्रयसे ही कार्य सिद्ध होता है।

अध्यात्मशास्त्रमें जो शुद्धपरमात्माका वर्णन है वह कर्मसे अतीत हुये सिद्धपरमात्माका कार्यपरमात्माका नहीं है। कार्यपरमात्माका आश्रय लेनेसे कार्यपरमात्मा नहीं बन सकता। कार्यपरमात्मा बननेके लिये कारणपरमात्माका ही आश्रय लेना आवश्यक है। वही एकमेव मार्ग है। दूसरा मार्ग नहीं है।

यद्यपि प्राथमिक अवस्थामें व्यवहार भाषामें कार्यपरमात्माका—देवगुरु-शास्त्रका आश्रय लेनेका उपदेश दिया है लेकिन उसमें यह अभिप्राय नहीं कि कार्यपरमात्माको देखनेसे कार्यपरमात्मा बनेगा।

कार्यपरमात्मा तो केवल आदर्श है। उसको आदर्श कहनेमें प्रयोजन यह है कि जो कार्य परमात्माका स्वरूप प्रगट है वैसा ही अपने कारण परमात्माका स्वरूप होता है। जैसा मुख वैसा प्रतिबिंब। जैसा गुण वैसा उसका आकार। कारण परमात्मा-सूक्ष्म केवल अनुभवगम्य है। कार्यपरमात्मा दृश्य-अल्पज्ञानगम्य होता है। इसलिये अल्पज्ञ असमर्थ ज्ञानीके लिये प्राथमिक अवस्थामें कार्यपरमात्माका आश्रय लेनेका उपदेश दिया जाता है। जिस प्रकार अपना मुख देखनेके लिये दर्पणमें देखना आवश्यक है। बिना दर्पणके हम अपना मुख देख नहीं सकते। उसी प्रकार प्राथमिक अवस्थामें कार्य परमात्माके बिना कारण परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता। कारण परमात्माके दर्शनके लिये कार्य परमात्माका दर्शन तावत्काल आवश्यक है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं, केवल दर्पणका देखनेसे कार्य सिद्धि होगी। दर्पणमें अपना मुख देखनेसे ही कार्य बनेगा। इसी प्रकार केवल कार्य परमात्माका देखनेसे कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। वह कार्य परमात्मा नहीं बन सकता। कार्यपरमात्मा तो आदर्श समान केवल निमित्तमात्र है। वह तुम्हारी कार्य सिद्धिके लिये कदापि साक्षात् कारण नहीं हो सकता। कार्य परमात्मामें अपने कारण परमात्माका दर्शन लेना ही मुख्य प्रयोजन है। दर्पणमें अपना मुख देखना ही दर्पणमें देखनेका प्रयोजन है। कार्य परमात्मामें अपने कारण परमात्माको देखना ही मुख्य प्रयोजन है। उसीका अवलंबन लेनेका अध्यात्मशास्त्रमें उपदेश है।

कोई कहते हैं कि कार्य परमात्माके दर्शन करते-करते कारण परमात्माका दर्शन हो जायगा लेकिन यह भी संभव नहीं है।

वैसा केवल व्यवहारसे कह सकते हैं, क्योंकि व्यवहारीजनोंको वैसा ही उपदेश देना आवश्यक तथा इष्ट है लेकिन ज्ञानी-मुनि-जनके लिये केवल कार्यपरमात्माके दर्शनसे कार्य नहीं बनेगा। उनको तो यही कहना पड़ेगा कि कार्य-परमात्माकी दृष्टि छोड़कर कारणपरमात्मामें दृष्टि स्थिर करो, तब काम होगा। कार्यपरमात्मापरकी दृष्टि हटानेसे और कारणपरमात्मामें दृष्टि लगानेसे ही कार्य सिद्धि होगी। तब ही स्वयं कार्यपरमात्मा बनेगा।

इस प्रकार निश्चयमें ( कारणमें ) स्थिर होनेके लिये अन्तमें व्यवहारको ( कार्यके आश्रयको ) छोड़ना ही पड़ता है। कार्यका आश्रय लेते-लेते कारणका आश्रय हो जायगा, यह कदापि संभव नहीं है।

लेकिन यह अध्यात्मका तत्त्वज्ञान केवल मुमुक्षु ज्ञानी मुनिके लिये ही प्रयोजनभूत है। व्यवहारको छोड़कर अव्यवहारमें जानेकी जिनकी संभावना नहीं है उनको ही यह उपदेश प्रयोजनभूत है, इष्ट है।

सामान्यजनको यह अध्यात्मका उपदेश इष्ट नहीं है। उनमें भी कोई निकटभव्य अपना कल्याण कर सकता है लेकिन प्रायः उसका यथार्थ अभिप्राय न समझनेसे उसके अधोमार्गमें जानेकी संभावना अधिक होती है। आजकल वही हो रहा है। इसलिये उनके लिये अध्यात्मका उपदेश निषिद्ध ही है। उनके लिये व्यवहार ही शरण है। यही तीर्थंकरोंका तीर्थप्रवृत्ति चलानेका मुख्य उद्देश है। इसलिये उनको 'तीर्थंकर' कहा है। तीर्थका अर्थ घाट ( कांठ, किनारा ) है। जिस प्रकार जमीनपर पाव रखनेके प्रथम घाटका ( किनारेका ) आश्रय लेना आवश्यक है—उसके बिना ऊपर नहीं जा सकते हैं, उसी प्रकार 'तीर्थ' का अर्थ व्यवहारधर्म-पुण्यमार्ग इसका आश्रय लेना आवश्यक है। बिना तीर्थप्रवृत्तिके सहसा निश्चयमें आरूढ़ नहीं हो सकता। लेकिन जो घाटपर ही अटक रहेगा, घाटको छोड़कर कदम नहीं उठाएगा, तो वह जमीनपर जा नहीं सकता। उसी प्रकार यदि वह व्यवहारमें ही अटक रहेगा, व्यवहारको ही निश्चय मानेगा, व्यवहारको छोड़कर आगे कदम नहीं उठाएगा तो वह कदापि मोक्षपर आरूढ नहीं हो सकता।

इसलिये अध्यात्मशास्त्रमें व्यवहार छोड़नेका जो उपदेश है वह आगे बढ़नेके लिये निश्चयमें स्थिर होनेके लियेहै। व्यवहारमें पैर रखकर निश्चयमें पैर नहीं रख सकते। निश्चयमें पैर रखनेके लिये व्यवहारपरका पैर उठाना ही आवश्यक है।

इस प्रकार व्यवहारशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र इनका अभिप्राय समझना आवश्यक है। केवल शब्दार्थ समझनेसे कार्यसिद्धि नहीं होती है।

सम्यक् अभिप्रायपूर्वक शब्द प्रयोग करना और दूसरेके शब्द प्रयोगका सम्यक् अभिप्राय समझना, यही प्रमाण दृष्टि है, यही सम्यक् अनेकांत है।

## निष्कर्ष

जैनधर्मका अनेकांत अनिश्चित-अव्यवस्थित-व्यभिचरित-डामाडौल स्वरूपका नहीं है। वह सुनिश्चित, सुव्यवस्थित दो सापेक्ष एकान्त धर्मोंके आधारपर आरूढ है।

१ वस्तु स्वरूपचतुष्टयसे ( सत् एव ) सदा सत् रूप ही है।

२. और पररूपचतुष्टयसे ( असत् एव ) सदा असत् रूप ही है।

इस प्रकार दो सुनिश्चित एकान्त धर्मोंके आधारपर आरूढ होनेसे जैनधर्मका अनेकांत सुव्यवस्थित सुनिश्चित है।

१. घट घटरूपसे घट ही है।

२. घट पटरूपसे घट नहीं ही है।

इस प्रकार दो सुनिश्चित तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाला अनेकांत सुनिश्चित-सुव्यवस्थित है।

घटमें घटको अस्ति सिद्ध करनेके लिये घटमें पटकी नास्ति मानना आवश्यक है। पटकी नास्ति माने बिना घटमें घटकी अस्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रश्न—यहाँपर कोई अन्यमती कहते हैं कि घटमें केवल घटकी अस्ति माननेसे काम बनेगा। उसमें पटकी नास्ति माननेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—उसका आचार्य समाधान करते हैं कि—

घटमें केवल घटकी अस्ति माननेसे काम नहीं हो सकता। क्योंकि घटकी अस्ति पटकी नास्तिकी अविना-भावि है।

घटमें पटकी नास्ति हो तब ही घटमें घटकी सिद्धि हो सकती है। अन्यथा घटकी अस्ति सिद्ध नहीं हो सकती। घटमें घटकी भी अस्ति हो और पटकी भी अस्ति हो, ऐसा बन नहीं सकता। इसमें सर्वसंकरदोष आता है। युगपत् सब पदार्थोंका प्रसंग आना इसको संकरदोष कहते है। घटमें पटका अभाव माने बिना घटका घटपना सिद्ध नहीं हो सकता।

इस प्रकार घटमें घटकी अस्ति सिद्धि करनेके लिये उसमें पटकी नास्ति मानना नितान्त आवश्यक है। यही अनेकांतका मर्म है।

यह अनेकांतका मर्म न समझनेवाले ही अनेकांतको अनिश्चित वदतोव्याघात कहते हैं।

वास्तवमें एकान्तवाद अनिश्चित-अव्यवस्थित है। वह वस्तुके यथार्थ रूपका—पूर्णरूपका कथन नहीं कर सकता। एकान्तमें ही संशय-विरोध-संकर आदि दोष उत्पन्न होते हैं, जिससे अशान्तिका निर्माण होता है।

अनेकांतवाद यह सुनिश्चित-सुव्यवस्थित है वस्तु के पूर्ण—यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक है। उसमे संशय-विरोध-संकर आदि दोष दूर होते हैं। इसलिये अनेकात ही संशयादि दोषोंको दूर करनेवाला और शान्ति निर्माण करनेवाला होने-से ही जगत्को शरण है।

अनेकांत धर्म ही मंगल है, अनेकांत धर्म ही लोकोत्तम है और अनेकांतधर्म ही शरण है।

"नान्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम" ॥
"जैनं जयतु शासनं"
ॐ शांतिः ! शांतिः ! शांतिः !
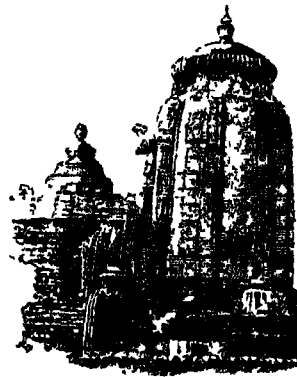
# समयसार दर्शनकी भूमिका

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

स्वाध्याय गृहस्थका नित्य कर्म है। जैन परम्परामें धर्मोपदेशक इसीलिए स्वाध्यायका नियम (व्रत) करनेकी प्रेरणा करते आये हैं। साक्षरता और शिक्षाके प्रचार तथा प्रसारने पूरे देशमें ही स्वाध्यायकी रुचिको बढ़ाया है। फलतः जैन समाजमें इस प्रवृत्तिका और बढ़ना स्वाभाविक है। तथा सुलक्षण भी है, क्योंकि अब प्रथमानुयोग और चरणानुयोगसे भी आगे बढ़कर लोग 'एकत्वकी उपलब्धि'की भी चर्चा करते हैं। छात्रावस्थामें पुण्यश्लोक पूज्य श्री १०८ गणेश वर्णी महाराजके मुखसे समयसारकी चर्चा सुनी थी। यह भी देखा कि अनेक लोग इनसे प्रेरणा पाकर 'समयसारी' हो गये। तथा समाज और संसारसे खो गये। पूज्य श्री बाबा भागीरथजी इनमें अग्रणी थे। उनकी शरीर मुद्रा तथा आचरण ही समयसारको कहते थे। वे मुखसे शायद ही कुछ कहते थे।

सन् ४० में गिरनारजीमें कानजी स्वामीके दर्शन हुए और यह जानकार आनन्द हुआ कि युगके आम्नाय गुरु, प्रातःस्मणीय कुन्दकुन्दाचार्यके स्थान पर रहकर स्वामीजी उनके समयसारमें ही लीन हैं। विगत वर्षोंमें समयसार के स्वाध्याय मण्डलों ( स्टैडी सरकिलस् ) के प्रसारका श्रेय कानजी महाराजको ही है। यदि समयसारको लेकर साम्यवादी और पूंजीवादी राष्ट्रोंके समान दो पक्ष ( एकान्त ) बन गये हैं तो इसमें भी विशेष आश्चर्य नहीं। क्योंकि स्वामी समन्तभद्रजीने कहा ही था—'यह पञ्चम काल है अथवा चित्त मलीन है अथवा श्रोता और वक्ता शब्दका अनर्थ करते हैं। इसीलिए एक मात्र मानने योग्य[1] होनेपर भी जिनशासनकी प्रभुता नहीं दिखाती है।' लोक-सारी अथवा नियमसारी अथवा क्षपणसारी पक्षपतित हो तो आश्चर्य उतना नहीं होगा जितना समयसारीको पक्षपतित देखकर होता है क्यों कि कुन्दकुन्दाचार्यने स्वयमेव समयसारमें ही कहा है 'जो पक्षातीत है वही समयसार है।' तथा 'जिसके परमाणु भर भी रागादि हैं वह आत्माको नहीं ही जानता है, चाहे वह समस्त आगमधारी ही क्यों न हो[2]।'

यदि 'परमाणु भर' राग भी आत्मज्ञानमें बाधक है तो द्वेष, विरोधादि होनेपर क्या अवस्था या दुरवस्था होगी? उसकी कल्पना भी कठिन और भयानक है। जिन राग-द्वेषसे छूटनेके लिए धर्म तथा धर्मकथा है, यदि वे ही धर्मकथामें भी आगये तो हमारा संसार 'वज्रलेपो भविष्यति'के सिवा और क्या होगा? कैसे हम भी कह सकेंगे कि 'झगड़ेकी जड़ तीन?' क्या हमें देखकर दूसरे नहीं कहेंगे? कि 'अब हुई 'झगड़ेके जड़ चार—धन त्रिया धरती व समयसार।' और इस प्रकार अनायास ही समयसारको 'कामभोगबंधकहा' करनेका घृणित पाप भी हम करेंगे। यह सत्य है कि 'शब्द नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है।' किन्तु परमाणु बमकी तरह वे अपनेमें गम्भीर अर्थ और अखण्डित इतिहास लिये रहते हैं। वे अन्तरंग साक्षियोंसे ही सब कह देते हैं। बहिरंग तथा अनुमित साक्षी तो बहुत दूरकी बात हैं। जब शब्दोंकी यह स्थिति है तो ग्रन्थोंके विषयमें तो कहना ही क्या है। वे तरण तारण हैं। समयसारको ही लीजिये। वह स्वयं कहता है कि कब उसका भान हो सकता है। वह यह भी संकेत करता है कि जिसे हम दर्शन आदिका अनुभव समझते-कहते हैं वह शुद्ध कल्पना है। प्रत्येक शब्द, वाक्य, गाथा और

---

१. कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
स्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥ —युक्त्यनुशासनम्

२. परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ २०१ ॥

अधिकार कहता है कि आमूल परिवर्तन करो। पुरानी, मान्यताएँ व्याख्याएँ, उदाहरण, आदि 'सर्व विभक्त एकत्वकी उपलब्धिमे उतने ही उपयोगी है जितना पीतलका बर्तन सिंहनीको दुहनेमें कभी हुआ होगा।

ब्राह्मण संस्कृतिके समान श्रमण संस्कृतिमें ऐसा प्रतिबन्ध तो नही है कि कौन, क्या और कब पढ़े। किन्तु इसका यह तात्पर्य भी नही है कि मूलगुणोंसे भी अछूता व्यक्ति देशव्रती या महाव्रती या क्षीणमोह हो सकता है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'क्रमसे बढी वर्तमान प्रतिमा पूर्व प्रतिमाके साथ होती है[1]।' निर्देशसे स्पष्ट है। अर्थात् समयसारके प्रथम अधिकारकी 'णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो' गाथा द्वारा संकेतित छठा या सातवा गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद ही समयसारका वाचन या चिन्तवन करो ऐसी कोई अलंघ्य मर्यादा तो नहीं है तथापि यह स्पष्ट है कि इन गुणस्थानोंमें चढते-उतरते साधकको ऊपर ही जानेके लिए 'णवि णाणं ण चरित्तं ण दसणं' विकल्पोंसे उठकर 'जाणगो सुद्धो' का अनुभव करना चाहिए क्योंकि इस भूमिकाको पाये बिना, व्रत-समिति-गुप्ति आदि साधनोंमें तल्लीन साधक भी आसानीसे परस्थ रह सकता है। और वह 'अपरमेट्ठिदा' ही रह जा सकता है। तात्पर्य यह कि सफल महाव्रतीको भी क्षीणमोह होनेके लिए अपने आवश्यकों, तपों आदिमें स्पष्ट साधन बुद्धि होनी चाहिये तथा इन्हे साध्य माननेकी गजनिमीलिका नहीं ही होनी चाहिये। अन्यथा साधन सम्पन्न होकर भी 'परमेट्ठिदाभाव' न बन पायेगा। कुन्दकुन्दाचार्यकी दृष्टिमे समयसारका अनुभव होनेके लिए देशविरत होना भी पर्याप्त नही है क्योंकि प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरतकी भूमिकाको प्राप्त करके भी साधु परीषहजय, चारित्र, आदिको ही सब कुछ मानकर चलता रह सकता है जैसा कि समयसारकी उन अन्तरंग-साक्षियोंमे स्पष्ट है, जिनका लक्ष्य साधु परमेष्ठी ही हैं। यथा—

'साधु प्रतिदिन दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सेवन करे। तथा यह भी जाने कि ये तीनो ही निश्चय आत्मा है[2]।'

'मुनि जीवसे भिन्न पौद्गलिक शरीरकी स्तुति करके भी ऐसा मानता है मैने केवली भगवान्की ही स्तुति और वन्दना की है।'[3]

'वे साधु जो निश्चयदृष्टिमे स्थित है उसे ही जितेन्द्रिय कहते है जो इन्द्रियोंको स्वयं जीतकर ज्ञान स्वभावको ही आत्माका ( अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा ) अधिक धर्म मानता है।'[4]

'परमार्थके ज्ञाता उस साधुको ही मोहजेता मानते है जो स्वयं मोहको जीतकर भी आत्माके अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा ज्ञानस्वभावको ही अधिक धर्म मानता है।'[5]

'मोह जेता साधुका जब मोह नष्ट हो जाता है तब उसे निश्चयके वेत्ता क्षीणमोह कहते है।'[6]

'शुद्ध समय ही परमार्थ है वही केवली, ज्ञानी और मुनि है। उस परमार्थकी भूमिकामें स्थित मुनिगण निर्वाणको प्राप्त करते है।'[7]

---

१. स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।'—रत्नकरण्डश्रावकचार, १०६।

२. दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
तांणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

३. इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

४. जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

५. जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

६. जिदमोहस्स तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

७. परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

'निश्चय पदार्थको छोड़कर विद्वान् व्यवहारसे प्रवृत्त होते हैं, किन्तु परमार्थका आश्रय लेनेवाले यतियोंका ही कर्मक्षय होता है।'[1]

'जो मोक्षमार्गमें स्थित तीनों साधुओं ( आचार्य, उपाध्याय और साधु ) पर वात्सल्य करता है, वात्सल्य भावसे ओतप्रोत उस व्यक्तिको ही सम्यक्दृष्टि कहना चाहिये।'[2]

'वे मुनि अशुभ या शुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं जिनके ये ( पूर्वोक्त ) अथवा अन्य अध्यवसान नहीं हैं।'[3]

'व्यवहारनयको निश्चयनय द्वारा प्रतिषिद्ध मानो और निश्चयनयका आश्रय लेनेवाले मुनि निर्वाणको पाते हैं।'[4]

'जब आत्मा अनन्त कर्मफलको छोड़ देती है तभी विमुक्त मुनि ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।'[5]

'जो श्रमण इस प्रकारसे सांख्यमतका प्ररूपण करते हैं, उनके यहाँ प्रकृति ही सब करती है। और आत्मा सर्वथा अकर्त्ता है।'[6]

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि समयसारमें प्रतिपादित स्व-रूप या शुद्धरूपकी ओर सक्रिय होकर बढ़नेका विधान उन महाव्रतियोंके लिए ही है, जो निरतिचार ही नहीं, अपि तु व्यतिक्रम और अतिक्रम रहित व्रत, समिति, गुप्ति, चारित्र और तपके पालनमें लीन हैं। तथा जो हम अविरतोंके लिए मूर्तिमान, व्रत, समिति, गुप्ति, चारित्र और तप रूप प्रतीत होते हैं। किन्तु परमार्थमें न पहुँचने पर व्रत धारण तथा तपश्चरण बालव्रत और बालतप हो सकते हैं,[7] ऐसा कुन्द-कुन्दाचार्य कहते हैं। क्योंकि आत्माको ही निश्चयसे अपना परिग्रह मानने वाला साधक परद्रव्य स्वरूप व्रत-समिति, आदिको अपना स्वरूप कैसे मानेगा[8]। और अन्तमें वे कहते हैं—"इसलिए सागार और अनगार द्वारा ग्रहीत विविध लिंगोंको छोड़कर मोक्षके मार्ग अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें आत्माको लगा दो[9]। अर्थात् गृहस्थ, उदासीन, अविरतकी तो कथा ही क्या है ? समयसारकी भूमिकामें महाव्रती होना भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि 'ण इच्छदि मोक्ख पहे सब्ब लिंगाणि।'

इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थ समयसारके अधिकारी नहीं हैं। अवश्य हैं, किन्तु उसी प्रकार जिस प्रकार शिशुवर्गका छात्र आचार्य परीक्षाके लिए होता है। उन्हें समयसार—दर्शनके मूलाधार 'पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो'को सदैव अपने सामने रखना होगा। क्योंकि 'समय प्रतिबुद्ध व्यक्ति दोनों नयोंकी कथनी को जानता है किन्तु किसी नयके पक्षको पकड़ता नहीं है। उसे निश्चय या व्यवहारका लेशमात्र भी पक्ष नहीं होता

---

१. मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
   परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

२. जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्ह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
   सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

३. एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीनि।
   ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

४. एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
   णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

५. जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं।
   तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

६. एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा।
   तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥

७. परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
   तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

८. को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इयं हवदि दव्वं।
   अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

९. तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारयेहिं वा गहिदे।
   दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

है। क्योंकि समयसार समस्त नयोंके पक्षपातसे रहित है तथा हम संसारी या व्यवहारी अनार्यके समान हैं। और जैसे अनार्यको समझने-समझानेके लिए अनार्य भाषाके विना कार्य नहीं चलता उसी प्रकार परमार्थके उपदेश रूपी व्यवहारके बिना हम संसारियोंके अज्ञानकी पर्त ही नहीं टूटती हैं। अपने चिरन्तन अभ्यासके कारण हम अनजाने ही इस मोक्षमार्गमें भी पक्षपतित हो कर वही सब करने लगते है जो संसार मार्गमें करते हैं। निमित्त और उपादानके अनुपातका हिसाब लगानेमें ही हमारी वीतराग कथा कब विजिगीषु कथा हो गयी, इसका भान ही नही होता है यद्यपि कहते यही हैं कि जीव और पुद्गल दोनोंका परिणाम एक दूसरेके निमित्त मात्र होनेसे होता है।[2]
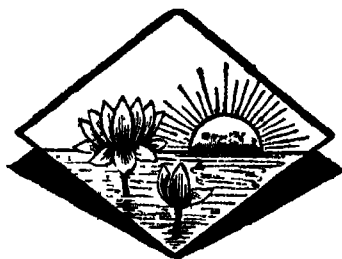
१. दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥
सम्मद्दंसण णाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववेदसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥
२. अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥

# जैनधर्म और ईश्वर

डाक्टर एस०पी० सिंह, एम० ए०, डी० फिल
मगध विश्वविद्यालय, गया

●

जैनधर्म जगत्कर्ता-धर्ता-संहारक ईश्वरको युक्तियुक्त नहीं मानता है। यह सिद्धान्त न्यायदर्शनके विरुद्ध है। नैयायिकके विरुद्ध दी गयी जैन युक्तियोंका विश्लेषण ही यहाँ ईश्वर विषयक जैनदृष्टिकी स्थापनाके लिए पर्याप्त है।

नैयायिक मानता है कि कार्य-स्वभावी जगतको उसके कर्ता बुद्धिमान् कारणकी कल्पना विना नही समझा जा सकता। और वह कर्ता ही ईश्वर है। यह युक्ति जैनदर्शनको इष्ट नहीं है। वह शंका करता है कि कार्य स्वभाव जगतसे नैयायिकका क्या तात्पर्य है? कार्यसे क्या उसका तात्पर्य 'अवयवी' से है या असत् कारणोंकी सह स्थितिसे है? या किसी के द्वारा कृत मानी गयी वस्तुसे है? या परिवर्तन शक्तिसे है? 'सावयवी' की मान्यतामें भी बाधा है। यदि अवयवोंमें सत् अर्थ किया जाय तो अवयवोंमें व्याप्त अवयवी (सामान्य) भी कार्य होकर विनाशशील हो जायगा। किन्तु नैयायिक भी सामान्यको निरवयवी एवं अनन्त मानता है। यदि अवयवीका अर्थ अवयव-युक्त है तो आकाश भी सान्त कार्य हो जायगा, जो कि नैयायिककी अनन्त मान्यताके विपरीत पड़ेगा। पूर्व-असत् कारणोंकी सहस्थिति भी अवयवी नही हो सकती क्योंकि पृथ्वी आदिके परमाणु अनादि अनन्त है इसलिए जगत कार्य नहीं हो सकेगा। यदि कार्यका अर्थ लोकमान्य 'कृत' है तो आकाशमे भी इसकी अनुवृत्ति आयेगी क्योंकि जब कोई भूमि खोदना है तो मानता है कि मैने गड्ढा किया है। यदि कार्यका तात्पर्य 'परिवर्तन-शीलता' है? तो ईश्वर स्वयं कार्य हो जायगा। तब उसका कर्ता दूसरा ईश्वर मानना पडेगा। दूसरे ईश्वरका कर्त्ता तीसरा होगा। और इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। इसके अतिरिक्त जो वस्तु कभी हो और कभी न हो उसे हम कार्य मानते है किन्तु जगत तो सदैव होता रहता है। यदि जगतके वृक्ष नक्षत्रादिको ही कार्य मानोगे तो ईश्वर स्वयं कार्य हो जायगा क्योंकि उसकी इच्छा-क्रिया विभिन्न समयादिमें विभिन्न प्रकारसे कार्य करती है फलतः वह स्पष्ट कार्य हो जायगा।

अब यदि तर्कके लिए हम पूरे जगतको ही कार्य मानलें तो कार्यका कारण अवश्य होना चाहिये। तब जगतका भी कारण अवश्य होगा। किन्तु वह कारण, जैसा कि माना है बुद्धिमान ही होगा, इसका कोई भरोसा नहीं है। मानवीय कारणके समान यदि ईश्वरको बुद्धिमान, माना जायगा तो वह (ईश्वर) भी उतना अपूर्ण हो जायगा जितना मानव होता है। यदि ऐसा माना जाय कि मानव प्रसूत कारणोंके सवथा समान पूरा जगत कार्य नहीं है, केवल कार्यत्व ही समान है तो उदाहरण देना ही निराधार हो जायगा। वाष्प धूम्रके समान होती है किन्तु वाष्पसे अग्निका वैसा अनुमान कोई नही करता है जैसा धूम्रसे किया जाता है। यदि यह कहे कि जगत ऐसा है कि उसे देखते ही किसी कर्त्ता (कारण) का भान होता है तो शंका होगी कि 'कारण भान' से आपका तात्पर्य सीधे ईश्वरकृतसे है या ईश्वर द्वारा कारितसे है। इस प्रकार आप स्वयमेव अन्योन्याश्रय दोषमे फँस जायेंगे।

हम मानलें कि जगतको किसी कर्ता ने बनाया है। तो इस कर्त्ताके शरीर होना चाहिये, क्योंकि बिना शरीरका कोई कर्त्ता नहीं देखा गया है। यदि कहा जाय कि कर्तृत्वके सामान्य अर्थात् बुद्धिमत्ता, को ही कर्त्ता मान लीजिये तो यह असंभव है क्योंकि शरीर रहित बुद्धि नहीं देखी गयी है। यदि आप खेतमे उत्पन्न अंकुरों वगैरका निदर्शन देंगे तो आप देखेंगे कि इनका कर्त्ता बुद्धिमान नहीं होता है। यदि आप अंकुरोंको भी ईश्वर कृत मानेंगे तो चक्रक दोष आयेगा। क्योंकि ईश्वर कर्तृत्व ही तो साध्य है। युक्तिके लिए यदि यही माना जाय कि ईश्वरका भावात्मक रूप ही सृष्टि करता है तो अशरीरी कुम्भकार भी कुम्भ बना देगा क्योंकि दोनोंकी भावात्मक स्थिति समान है। यदि ज्ञान और इच्छा पूर्वक कर्तृत्व मानते है तो वह भी संभव नही है क्योंकि शरीरके बिना ज्ञान और इच्छा आप नही

---

१. यह अंग्रेजी लेखका अनुवाद है।

मानते हैं। क्या ईश्वर शारीरिक या दूसरी क्रियासे जगतका निर्माण करता है? तो यह भी शरीरके बिना असंभव है। यदि आप कहें कि वह सर्वद्रष्टा है तो आप ऐसा मानें किन्तु इससे उसका सर्वसृष्टा होना सिद्ध नहीं होता।

यदि तर्कके लिए यही मान लिया जाय कि अशरीरी ईश्वर अपनी इच्छा और क्रियाके द्वारा जगतकी रचना कर सकता है तो अनेक ऐसी शंकाएँ उठेंगी जिनका समाधान असंभव होगा। यदि वह निजी झकमें जगत बनाता है तो संसारमें प्राकृतिक विधि-विधान ही संभव न होंगे। यदि प्राणीके पुण्य-पापके अनुसार बनाता है तो वह पुण्य-पापके पराधीन हो जायगा और स्वतन्त्र नहीं होगा। यदि दयासे सृष्टि करता है तो जगत्में सुख ही सुख होना चाहिये। इसपर आप कहेंगे कि प्राणीका अदृष्ट (पुण्य-पाप) ही दुखादिकी सृष्टि करते हैं तो अदृष्ट ही ईश्वरका स्थान ले लेगा। यदि क्रीड़ावश जगतकी सृष्टि मानियेगा तो खिलवाड़ी होनेके कारण ईश्वर 'बाल' हो जायगा। यदि भलोंको सुख और बुरोको दण्ड देनेके लिए सृष्टि करता है तो वह रागी-द्वेषी हो जायगा। यदि उसके स्वभावसे सृष्टि मानेंगे तो फिर स्वभाव ही कर्ता होगा, ईश्वरकी क्या आवश्यकता है। हमारे अनुभवके भी परे यह है कि हम उस ईश्वरकी कल्पना करें जो कारण कलापके बिना ही जगत्-कार्य करता है। यदि यही मान लिया जाय कि कोई ऐसा ईश्वर है तो उसके वे विशेषण बेकार हो जायेंगे जिनसे युक्त उसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। जैसे कि कहा जाता है कि वह अनन्त है। किन्तु उसके शरीर नहीं है इसलिए वह ज्ञानेच्छा स्वरूप ही होगा। किन्तु विभिन्न कार्योंको करनेके लिए यह स्वभाव भी विभिन्न रूपमें बदलता होगा। इससे बचनेके लिए यदि परिवर्तन नहीं मानेंगे तो विविध प्रकारकी सृष्टि और संहार ही असंभव हो जायेंगे क्योंकि जनन और विनाश अपरिवर्तित ज्ञानेच्छासे नहीं हो सकते हैं। यदि ज्ञानका लोक सम्मत अर्थ लिया जाय तो परिवर्तन स्वयं सिद्ध है, क्योंकि ज्ञानका स्वरूप ही परिवर्तन है। कहा जाता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु यह कल्पना करना भी कठिन है कि उसे किसी पदार्थका ज्ञान होता होगा क्योंकि उसके इन्द्रियाँ ही नहीं हैं। और इन्द्रियज्ञानके बिना अनुमान ही नहीं हो सकता। कहा जाता है कि ईश्वरको बिना माने जगतका वैविध्य ही नहीं सिद्ध होगा। यह तर्क भी तभी सत्य होता यदि कोई और मान्यता ही न बची होती। किन्तु दूसरी मान्यताएँ हैं, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता बिना माने ही पुण्य-पाप कर्मोंकी मान्यता ही विश्वका वैविध्य सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। यदि एक ईश्वर मानते हैं तो उसकी जाति भी माननी पड़ेगी। यदि बहुतसे ईश्वर होंगे तो उनमें मतभेद तथा संघर्ष भी होंगे। यदि कहें कि यह अकल्पनीय है क्योंकि चीटियाँ और मधुमक्खियाँ भी मिलजुलकर काम करती हैं। तो 'यदि अनेक ईश्वर होंगे तो वे लड़ जायँगे' यह कल्पना यही सिद्ध करेगी कि समस्त गुणोंके रहते हुए भी ईश्वरका स्वभाव अविश्वसनीय है। इस प्रकारसे यह स्पष्ट है कि ईश्वरकी सत्ताकी सिद्धि बेकार है यही ठीक है कि उसको छुट्टी दी जाय[1]।

जैनधर्मके अनुसार न तो जग सृष्टि है और न कोई सृष्टा ही है। संसारके कारण कर्मोंको पूर्ण रूपसे जीत लेनेसे परम शुद्धिको प्राप्त आत्मा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है। जगत् जीतनेके कारण ही वह जिन कहलाता है। तथा जन्म-मृत्युकी परम्परा स्वरूप संसारमें भागने वालोंके लिए आदर्शका काम देता है। परम पुरुषार्थ मोक्षके ज्ञानको स्पष्ट करने वाले आगमोंका समय-समय पर तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादन होता है। तीर्थंकरोंको धर्म प्रवर्तकों या अवतारोंके समान भी कहा जा सकता है। कर्म बन्धनको नष्ट करके तीर्थंकर इसी लोकमें सर्वज्ञताको पाते हैं। पौद्गलिक इच्छा और भोग ही नहीं समाप्त हो जाते हैं अपितु शरीरका कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता है। ऐसे तीर्थंकर लोक वात्सल्यके कारण सद्धर्मका प्रचार करते हैं ताकि संसारमें फँसे जीव उद्धारका मार्ग पा सकें।

उपनिषदोंके चितस्वरूप आत्मतत्वका विश्लेषण चेतना लक्षण जीवके जैन चित्रणके समान है। दर्शन-ज्ञान इसके निजीगुण हैं। जिनकी पौद्गलिक मापोंसे नाप नहीं हो सकती। स्थूलरूपसे यह शरीरबद्ध ही देखा जाता है। स्वतन्त्र कर्ताके रूपमें यह अपने कर्मोंका कर्ता, ज्ञाता और भोक्ता है।

पूरे विश्वमें पुद्गलबद्ध जीव ही देखा जाता है। यही पौद्गलिक संसारकी विशेषता है। तथा बद्ध जीव सिद्ध या शुद्ध जीवसे सर्वथा भिन्न है। प्राणिशास्त्रमें लौकिक जीवोंके विकासके नाम पर भेद किये हैं इसी प्रकार जैनधर्म इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवके भेद करता है। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र पाँच इन्द्रियाँ हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय (स्पर्शन) जीव हैं। ये सूक्ष्म भी होते हैं। कृमि दो (स्पर्शन-रसना) इन्द्रिय जीव हैं। चीटी वगैरह त्रि (स्पर्शन-रसना-घ्राण) इन्द्रिय जीव हैं। मक्खी, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय हैं और पशुपक्षी-मानव पंचेन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रिय जीवमें भी मन सहित (समनस्क) सर्वोपरि है।

---

१. षड्दर्शन समुच्चय गुणरत्न, पृ० ११५-१२४।

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गतिके भेदसे गति चार प्रकारकी है। इन चारों गतियोंसे परे मोक्ष है जिसे पाने पर जन्म-मरणचक्र ही समाप्त हो जाता है। इन्द्रियों और कर्मोंकी पराधीनता समाप्त हो जाती है और आत्माके दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य गुणोंका पूर्ण विकास हो जाता है। मोक्ष जीवका स्थायी स्वभाव है जो कर्मोंके आवरणसे ढँका रहता है।

कर्मोंका आवरण ही संसार है। जीव और अजीव ( पुद्गल )के संयोगसे संसार होता है। जीवसे आकृष्ट पुद्गलका आना आस्रवतत्त्व है। आस्रवसे बन्ध ( अर्थात् जीव पुद्गलका संयोग ) तत्त्व होता है। कर्मोंकी स्थिति ( आयु ) विविध है। जीव-पुद्गलके भेदका भाव होते ही नये कर्म आना रुक जाता है इसे संवर तत्त्व कहते हैं। तथा प्रयत्न करके बद्ध कर्मोंकी समाप्तिको निर्जरा कहते हैं। जिसके होते ही मोक्ष हो जाता है।

इस प्रकार जैनधर्म जगत्के कर्त्ता-धरता-संहारक ईश्वरको नहीं मानता। सारी सृष्टि जीव और अजीवके अनादि, अकृत्रिम संयोगसे बनती है। तथा अजीवका संयोग समाप्त होनेसे प्रकट निजस्वरूप ही मोक्ष है। तथा निज-स्वरूप अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य मय है, जो कि परमात्माका स्वरूप है और जिसे प्रत्येक भव्य प्राणी प्राप्त करता है।

# अमराविक्खेपवाद और स्याद्वाद

डॉ० भागचन्द्र जैन आचार्य, M. A., Ph. D.
अध्यक्ष—पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

●

पालि त्रिपिटकमे दीघनिकायमे बासठ मिथ्यादृष्टियो ( द्वादस मिच्छादिट्ठिट्ठानानि ) के सिद्धान्तोका विवेचन उपलब्ध होता है। ये सिद्धान्त भगवान् बुद्धके उन दार्शनिकोसे सम्बद्ध है जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरके सम्प्रदायसे रहा है। उनमे अमराविक्खेपवाद ऐसा ही एक सम्प्रदाय था।

## स्वरूप-विवेचन

अमराविक्खेपवादमे अमरा नामक मछलियोके समान कोई स्थैर्य नही। उनकी दृष्टिमे प्रत्येक वस्तुके विषयमे उपस्थित किया गया विचार अज्ञानता और अनिश्चिततासे ग्रस्त रहता है[1]। ब्रह्मजालसुत्तमे इसके चार उप-सम्प्रदायोंका उल्लेख मिलता है। प्रथम उपसम्प्रदायके अनुसार 'श्रमण-ब्राह्मण यह नही जानता कि यह कुशल है या अकुशल। उसके मनमे ऐसा विचार आता है कि मै स्पष्टत नही जानता हूँ कि यह कुशल है या अकुशल है। यदि मै यथाभूत जाने बिना यह कह दूँ कि यह कुशल है और यह अकुशल है तो 'यह कुशल है' और 'यह अकुशल है' यह असत्य भाषण भी होगा। और जो मेरा असत्य भाषण होगा, वह मेरा घातक होगा। और जो घातक होगा वह अन्तराय होगा। अत: वह असत्य भाषणके भय व घृणासे न यह कहता है कि 'यह अच्छा है' और न यह कि 'यह बुरा है।' प्रश्नोंके पूछे जानेपर वचनोमे विक्षेप दिखाई देता—स्थिर दृष्टिमे कोई बात नही करता—यह भी मैने नही कहा, वह भी नही कहा, अन्यथा भी नही', ऐसा नही है—यह भी नही, ऐसा नही-नही है—यह भी नही कहा।'

**इध भिक्खवे, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा इदं कुसलं ति यथाभूतं नप्पजानाति, इदं अकुसलं ति यथाभूतं नप्पजानाति। तस्स एवं होति—'अहं खो इदं कुसलं ति यथाभूतं नप्पजानामि, इदं अकुसलं ति नप्पजानामि। अहं च खो पन इदं कुसलं ति यथाभूतं [illegible]जानन्तो, इदं अकुसलं ति यथाभूतं अप्पजानन्तो, इदं कुसलं ति वा ब्याकरेय्यं इदं अकुसलं ति वा ब्याक[illegible] ममस्स मुसा। यं ममस्स मुसा सो ममस्स विघातो। यो ममस्स विघातो सो ममस्स अन्तरायो 'ति। इति सो मु[illegible]वादभया मुसावादपरिजिगुच्छा नेविदं कुसलं ति ब्याकरोति, न पनिदं अकुसलं ति ब्याकरोति। तत्थ तत्थ पञ्हं पुट्ठो समानो वाचाविक्खेपं आपज्जति अमराविक्खेपं—एवं ति पि मे नो; तथा ति पि मे नो; अञ्ञथा ति पि मे नो; नो ति पि मे नो नो नो ति पि मे नो' ति। इदं भिक्खवे, पठमं ठानं यं आगम्म यं आरब्भ एके समणब्राह्मणा अमराविक्खेपिका तत्थ तत्थ पञ्हं पुट्ठा समाना वाचाविक्खेपं आपज्जन्ति अमराविक्खेपं।**[2]

इस सम्प्रदायकी दृष्टिमे जो ज्ञान स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्तिमे बाधक होगा ( सग्गस्स चे 'व मग्गस्स च अन्तरायो[3] ) उसकी प्राप्ति असम्भव है। अमराविक्खेपवादका द्वितीय और तृतीय भेद उपादानभय और अनुयोगभयके कारण कौन कुसल है और कौन अकुसल है इस विषयमे किसी भी प्रकारका उत्तर नही देता।[4]

चतुर्थ सम्प्रदाय संजयबेलट्ठिपुत्तका है जो आत्मविषयक प्रश्नोके उत्तरमे कोई निश्चित उत्तर नही देता। संजयने उत्तर देनेका जो माध्यम बनाया उसके पाँच भंग अधोलिखित है।

---

१. अमराय दिट्ठिया वाचाय विक्खेपो ति अमराविक्खेपो। अपरो नयो। अमरा नाम मच्छजाति, सा उम्मुज्जननिमुज्जनादिवसेन उदके सन्धावमाना गहेतुं न सक्कोति। एवं अय पि वादो इति च इतो च सन्धावति गाहं न उपगच्छति ति अमराविक्खेपो वुच्चति।

—दीघनिकाय, अट्ठकथा-१, ११५।

२. दीघनिकाय, भाग १, पृ० २३-२४।

३. दीघनिकाय अट्ठकथा, भाग १, पृ० ११५।

४. दीघनिकाय, भाग १, पृ० २४-२५।

१. एवं पि मे नो ( मैं ऐसा भी नहीं कहता )।
२. तथापि मे नो ( मैं वैसा भी नहीं कहता )।
३. अञ्ञथा पि मे नो ( अन्यथा भी नहीं कहता )।
४. नो ति पि नो ( ऐसा नहीं है, यह भी नहीं कहता )।
५. नो नो ति पि मे नो ( ऐसा नहीं नहीं है, यह भी नहीं कहता )।

दीघनिकाय अट्ठकथामें उपर्युक्त सिद्धान्तकी दो प्रकारसे व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रथम प्रकारकी व्याख्याके अनुसार प्रथम भंग अनिश्चित रूपसे निषेध करता है ( अनियमित अविक्खेपो )। द्वितीय भंग शाश्वतवादका निषेधक है। तृतीय भंग शाश्वतवादका एकात्मक निषेधक है जो 'अञ्ञथा'से कुछ भिन्न है। चतुर्थ भंग उच्छेदवादका निषेधक है और पंचम भंग "मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व है या नहीं" इसका निषेध करता है।

द्वितीय व्याख्याके अनुसार, प्रथम भंग निश्चित कथनका निषेध करता है, जैसे 'क्या यह अच्छा है" पूछे जानेपर वह उसे अस्वीकार करता है। द्वितीय भंग साधारण निषेधात्मक उत्तरको अस्वीकार करता है, जैसे 'क्या यह अच्छा नहीं है' पूछे जानेपर वह स्वीकार नहीं करता। तृतीय भंग प्रथम और द्वितीय दोनों भंगोंको अस्वीकार करता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ आप कह रहे हैं वह प्रथम व द्वितीय भंगमे भिन्न है। उसे भी तृतीय भंग स्वीकार नहीं करता। चतुर्थ भंग तृतीय भंगको अस्वीकार करता है ( तिविधन पि न होति )। पंचम भंग निषेधका भी निषेध करता है। "क्या वह प्रत्येक वस्तुके अस्तित्वका निषेध करता है" इस प्रश्नके उत्तरमें भी निषेधात्मक स्वर है ( नो नो ते लहिसि )। इस प्रकार अमराविक्खेपवाद किसी भी पक्षपर स्थिर नहीं रहता।

उपर्युक्त भंगोंकी ओर दृष्टिपात करनेपर यह स्पष्ट है कि पंचम भंग निषेधका भी उत्तर निषेधात्मक रूपसे देता है। इसलिए संजयके सिद्धान्तमे प्रथम चार भंगोंका ही मूलतः अस्तित्व है। सामञ्जफलसुत्तमे भी प्रथम चार भंगोंका ही संजयने आधार लिया है। उदाहरणतः —

१—१. अत्थि परो लोको।
२. नत्थि परो लोको।
३. अत्थि च नत्थि परो लोको।
४. नेवत्थि न नत्थि परो लोको।
२—१. अत्थि सत्ता ओपपातिका।
२. नत्थि सत्ता ओपपातिका।
३ अत्थि च नत्थि सत्ता ओपपातिका।
४. नेवत्थि न नत्थि सत्ता ओपपातिका।
३—१. अत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको।
२. नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको।
३. अत्थि च नत्थि च सुकतदुक्कटानां कम्मानं फलं विपाको।
४. नेवत्थि न नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको।
४—१. होति तथागतो परं मरणा।
२. न होति तथागतो परं मरणा।
३. होति च न होति च तथागतो परं मरणा।
४. नेव होति न होति तथागतो परं मरणा।

## अमराविक्खेववाद और स्याद्वादका तुलनात्मक निरूपण

ये चारों भंग जैन दृष्टिसे निम्न प्रकार कहे जा सकते है—

१. स्यादस्ति।
२. स्यान्नास्ति।
३. स्यादस्ति नास्ति।
४. स्यादवक्तव्य।

प्रथम भंग विधिपक्ष, द्वितीय भंग निषेधपक्ष, तृतीय भंग समन्वय पक्ष और चतुर्थ भंग वचनागोचर अतएव अवक्तव्यका प्रतिनिधित्व करता है। इन चारोंका विकास क्रमिक रूपसे हुआ है। प्रथम तीन भंग ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें स्पष्टतः उपलब्ध होते हैं। प्रथम दो भंग तो शायद ऋग्वेदसे भी पूर्वके होंगे। यही कारण है कि नासदीय सूक्तके ऋषिने उनका उल्लेख स्पष्ट न करके सीधे तृतीय भंगका उल्लेख कर दिया—जगतका आदि कारण न सत् है और न असत्।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास[1]॥

प्रस्तुत सूत्रसे प्रतीत होता है कि ऋषिके समक्ष सत् और असत् ये दोनों कोटियाँ उपलब्ध थीं। समन्वयकी दृष्टिसे उन्होंने 'जगत्का आदि कारण सत् भी नहीं और असत् भी नहीं' कहकर एक तीसरी कोटि स्थापित की जिसे अनुभय कहा जा सकता है। जैन दर्शनमें इसे ही स्यादस्ति नास्ति कहा गया है। उपनिषदोंमें ब्रह्मको ही जब परमतत्त्व स्वीकार किया गया तो स्वभावतः आत्मा या ब्रह्मको अनेक विरोधी धर्मोंका केन्द्र बना दिया। हुआ भी यही। इन विरोधी धर्मोंके समन्वय करनेमें ऋषियोंको जब पूर्ण सन्तोष न दिखाई दिया तो उन्होंने चौथा भंग तैयार किया कि ब्रह्म-आत्मा वचनअगोचर-अवक्तव्य है[2]।

इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि उपनिषत् कालमें ये चार भंग बन चुके थे—

१. सत्

२. असत्

३. सदसत्

४. अवक्तव्य

ये चारों भंग जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत प्रथम चार भंगोंके समान ही हैं। अमराविक्खेपवादमें भी ये चारों ही भंग दिखाई देते हैं, जैसा हम पीछे देख चुके हैं।

जैन आगमोंमें भी ये भंग दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतः भगवतीसूत्रमें गौतमके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् महावीरने कहा—

१. आत्मा-स्वके आदेशसे आत्मा है।

२. परके आदेशसे आत्मा नहीं है।

३. तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।

यहाँ एक विशेषता दिखाई देती है। वह यह कि अवक्तव्यको तृतीय स्थान दिया गया है। और तृतीय (अनुभय) कोटि समाप्त कर दी गई है। पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि तृतीय भंगमें जो तदुभय है उसमें विधि और निषेध दोनोंका समन्वय है। यदि ऐसा मानें तो लगता है, जैन आगम युगमें तृतीय व चतुर्थ दोनों भंगोंको एक कर दिया गया। पर बादके आचार्योंने उसे पृथक्-पृथक् करके पुनः चार भंग स्थापित किये। शेष तीन भंग प्रथम चार भंगोंके ही विस्तृत रूप हैं जो जैनोंके अपने हैं।

अमराविक्खेपवाद और जैनोंके स्याद्वादको देखकर कीथ जैसे अनेक धुरन्धर विद्वानोंने संजयको ही स्याद्वादकी पृष्ठभूमिमें खड़ा बताया[3]। जेकोबीने स्याद्वादको संजयके अज्ञानवाद (अनिश्चिततावाद) के विपरीत उपस्थित किया गया सिद्धान्त माना[4]। मियमोतोने इसे बुद्ध द्वारा स्वीकृत अव्याकृतके समकक्ष बनानेका प्रयत्न किया[5]।

ये स्थापनायें सही नहीं दिखाई देतीं। स्याद्वादकी पृष्ठभूमि तैयार करनेमें वास्तविक श्रेय संजयको नहीं है। श्रेय तो उस वेद उपनिषत् और बुद्ध-महावीरकी सामयिक परिस्थितिको है जहाँ प्रथम चार कोटियों द्वारा सिद्धान्तोंका

---

१. ऋग्वेद—१०।१२९।

२. सदासीद्वरेण्यम् मुण्डकोपनिषद्, २-२-१। संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा, श्वेता०, १-८; । यतो वाचा निवर्तन्ते, तैत्तिरीय, २-४,। असद्व्याकृत नामरूपम्, छान्दो० १-१९-१११।

३. He (Sanjaya) seems as an aynostic to have been the first to formulate the four possibilities of existence, non-existence, both and neither...' Buddhist Philosophy, p. 303

४. जैन सूत्र, भाग २, SBF, भाग, ४५, भूमिका— XXVII

५. Buddhism and culture, पृ० ७१।

वर्णन किया जाता रहा है। शीलांकने चतुष्कोटिको माननेवाले चार सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक। जैन-दर्शनके नव पदार्थोंके आधारपर इन्हीं चारोंको ३६३ मतों—सम्प्रदायोंमें विभक्त किया गया। ये सभी सम्प्रदाय मुख्यतः चार प्रकारके प्रश्नोंसे ही सम्बन्ध रखते थे—

१. सति भावोत्पत्तिः को वेत्ति।
२. असति भावोत्पत्तिः को वेत्ति।
३. सदसति भावोत्पत्तिः को वेत्ति।
४. अवक्तव्ये भावोत्पत्तिः को वेत्ति।

ये चारों भंग स्याद्वादके प्रथम चार भंगोंसे समानता रखते हैं। अन्तर इतना ही है कि एक ओर जहाँ क्रियावादी वगैरह दार्शनिक विवादग्रस्त प्रश्नोंमें सन्देह व्यक्त करते हैं या उन्हें अस्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर जैन दर्शन कथञ्चित् दृष्टिको लेकर किसी भी पक्षमें एक निश्चित विचार रखता है।

निग्गण्ठ नातपुत्तके नाम पर पालि त्रिपिटक साहित्यमें भी यह सिद्धान्त स्पष्ट दिखाई देता है। दीघनख परिव्राजक, जो किसी समय पार्श्वनाथ सम्प्रदायमें दीक्षित रहा, तीन प्रकारके भंगोंका प्रतिपादन करता था—

१. सब्बं मे खमति।
२. सब्बं मे न खमति।
३. एकच्चं मे खमति, एकच्चं मे न खमति।

ये तीनों भंग प्रथम तीन भंगोंके समान हैं। इससे यह निश्चित होता है कि अमराविक्खेपवादके आधार पर भगवान् महावीरने स्याद्वाद सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया था। पर तीर्थंकरोंकी परम्परासे प्राप्त स्याद्वादका परिस्थितियोंके अनुसार व्याकृत किया। उन्होंने तात्कालिक दार्शनिक क्षेत्रमें जो तीन या चार भंग उपयोगमें आरहे थे उन्हींमें 'स्यात्' शब्दका नियोजनकर वस्तुके सत्य स्वरूपकी व्यवस्थाका प्रतिपादन किया और प्रत्येक सिद्धान्तका उत्तर एक निश्चित दृष्टिकोणसे दिया। आगेके विकसित साहित्यमें सात भंगों द्वारा सिद्धान्तोंका और भी स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादन मिलता है।

## निष्कर्ष

अमराविक्खेपवादके तुलनात्मक विश्लेषणसे स्पष्ट होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्त अपना पृथक् सम्प्रदाय स्थापित करनेके पूर्व जैन मुनि रहा है[3]। यह मुनि-दीक्षा उसने पार्श्वनाथ सम्प्रदायमें ली होगी। दीघनखपरिव्राजक संजयका भतीजा था[4]। उसने भी संजयका अनुकरण किया होगा। यही कारण है कि उसके सिद्धान्तमें जैनदर्शनका अनेकान्त पक्ष दिखाई देता है। इसलिए अमराविक्खेपवाद अथवा संजयको भगवान् महावीरके स्याद्वाद सिद्धान्तका पुरस्कर्ता नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत सम्भव यह है कि संजय बेलट्ठिपुत्तने चतुष्कोटियों अथवा स्यद्वादकी भंगियोंका वास्तविक तात्पर्य न समझकर तात्कालिक दार्शनिक समस्याओंके सुलझानेमें एक तटस्थ वृत्ति धारण की हो। वास्तवमें 'स्याद्वाद' ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त है, जिसके बीज औपनिषदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं अन्य दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्राप्य हैं। वस्तुकी निष्पक्ष और सत्य मीमांसा अनेक दृष्टिकोणोंका समावेश किये बिना सम्भव नहीं। यही कारण है कि पालि साहित्यमें वस्तु विवेचनके सन्दर्भोंमें सप्तभंगी न्यायके कई भंग-दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं।

●

---

१. सूत्रकृताङ्ग, पृ० २१२।
२. मज्झिमनिकाय, दीघनखसुत्त।
३. अमितगतिश्रावकाचार, ८।
४. Dictionary of Pali Proper names.

# स्याद्वादका सार्वभौमिक आधिपत्य

क्षु० श्री जिनेन्द्र वर्णी

●

## प्रस्तावना

भारतवर्ष सदासे एक दार्शनिक देश रहा है। दर्शनशास्त्रका विषय असीम होनेसे, एक ही कालमें एक ही जिव्हा द्वारा उसका कथन अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा उसका दर्शन असम्भव है। समय-समयपर होनेवाले अनेकों द्रष्टाओं और ऋषियोंने उसके असीम विषयको स्पर्श करनेका तथा कथन करनेका प्रयत्न किया है। उनकी उन-उन दृष्टियोंका बराबर संग्रह होते रहनेसे दर्शन शास्त्रका विस्तार सदा अधिकाधिक होता रहा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसप्रकार बढते-बढते कभी भी इसकी सीमा प्राप्त हो जायेगी। सर्वज्ञ देवके अतिरिक्त उसकी अनन्त सार्वभौमिकता न कोई भी ऋषि आजतक देख सका है और न देख सकेगा। फिर भी जितना कुछ विस्तार इस शास्त्रको आजतक प्राप्त हुआ है उसके लिये, यह सदा उन प्रत्यक्ष-द्रष्टा महर्षियोंका आभारी रहेगा, जिन्होंने कठिन तपस्याओंसे प्राप्त अपने अपरोक्ष अनुभवोंकी अमूल्य देन इसको देकर कृतार्थ किया है।

दर्शन शास्त्रका विषय है, चित अचित रूप इस अखिल विश्वकी जटिल व्यवस्थाका अनुशीलन करके, उसमेंसे अनेकों उपयोगी तथ्योंको खोज निकालना। इसलिये दर्शन शास्त्र भी एक विज्ञान है, आजके भौतिक विज्ञानवत्। आजके वैज्ञानिक युगमें यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं कि वस्तु, चाहे जड हो या चेतन, अनेकों शक्तियों व धर्मोंका संग्रहीत अखण्ड रूप है। उसकी अनन्त शक्तियों व धर्मोंमेंसे अनेक परस्पर सहयोगी है और अनेक परस्पर विरोधी। एक ही अणुमें जहाँ आकर्षण शक्ति विद्यमान है, वहाँ उसमें विकर्षण शक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहाँ संहारकारी शक्ति विद्यमान है, वहीं उसमें स्थित निर्माणकारी शक्ति भी अपना परिचय दे रही है। द्रव्य क्षेत्र काल व प्रयोजनवश उसकी कुछ शक्तियें प्रधान हो जाती है और कुछ गौण। रात्रिके समय मार्ग देखनेके लिये अग्निकी प्रकाशकत्व शक्ति प्रधान होती है और उसकी दाहकत्व आदि शक्तियाँ गौण। इसी प्रकार भोजन पकाते समय उसकी पाचकत्व शक्ति, ईन्धन जलाते समय उसकी दाहकत्व शक्ति और यज्ञ या हवन करते समय उसकी पवित्री-करणत्व शक्ति प्रधान होती है। इसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और प्रयोग विधिके अनुसार एक ही वस्तु कभी उपयोगी हो जाती है, और कभी अनुपयोगी। एक ही औषध किसी एक व्यक्तिको उपयोगी है और दूसरेको अनुपयोगी, किसी एक देशमें उपयोगी है और दूसरे देशमें अनुपयोगी, किसी एक ऋतुमें उपयोगी है और किसी दूसरी ऋतुमें अनुपयोगी और किसी एक विधिसे प्रयोग करनेपर उपयोगी है और दूसरी विधिसे प्रयोग करनेपर अनुपयोगी। उपरोक्त कारण-चतुष्टयको विचित्रतावश वह कदाचित् हानिकारक भी हो जाती है। इसपरसे सिद्ध है कि किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें एकान्त रूपसे कोई एक ही धारण बनाना या बात कह देना योग्य नहीं।

यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वस्तुका यह जटिलरूप सभी द्रष्टाओंको प्रत्यक्ष हो जाये। विभिन्न द्रष्टा उसे विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखते है और इसलिये कुछ उसके किन्हीं एक धर्मोंका प्रत्यक्ष करते है, और कुछ उसके किन्हीं अन्य धर्मोंका। यह भी कोई आवश्यक बात नहीं कि एक धर्म जो एक द्रष्टाके द्वारा देखा जा चुका है वह किसी अन्यके गोचर न हो। एक ही धर्म अनेक द्रष्टाओंका विषय बन सकता है और अनेक धर्म किसी एक दृष्टाके विषय बन सकते है। इसलिये कुछ ऋषि वस्तुके थोडे धर्मोंको देख पाते है और कुछ अधिकको। अतः यह सिद्ध हुआ कि विभिन्न दृष्टाओंके द्वारा प्रत्यक्ष की गई कोई एक ही वस्तु विभिन्नरूप धारण कर लेती है।

दृष्टिभेदके अतिरिक्त विभिन्न दृष्टाओंकी कथन पद्धति व उन उनके समयमें प्रचलित भाषा शैलीकी विभिन्नता भी स्वतः सिद्ध है, जिसके कारण वस्तुका एक ही रूप भाषाभेदसे अनेकरूप हो जाता है। और इस प्रकार एक ही वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला दर्शन शास्त्र, आचार्योंके भेदसे दश प्रधान भागोंमें विभक्त हो गया है—चार्वाक, वैशेषिक,

नैयायिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा या वेदान्त, बौद्ध और जैन। अत्यंत स्थूल रूपसे लेकर इन दस दर्शनोंके क्रमिक विकासके द्वारा, धीरे-धीरे सूक्ष्मताकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें जैनदर्शनको प्राप्त करके भारतका यह दर्शनशास्त्र एक सार्वजनिक व्यापक रूप धारण कर लेता है।

## स्याद्वादकी पृष्ठभूमि-विभिन्न दर्शनोंका संक्षिप्त स्वरूप

चार्वाक दर्शन अत्यन्त स्थूल है। वह केवल इन्द्रियगम्य स्थूल भौतिक जगतको ही देख पाया है, और इसलिये उसका सिद्धान्त भौतिक सुख व उसके भौतिक साधनों तक ही सीमित होकर रह गया है। वैशेषिक दर्शन इससे कुछ आगे बढ़ा है और वस्तुमें गुण, कर्म आदि अनेक सामान्य व विशेष धर्मोंका दर्शन करने लगा है। परन्तु उसकी स्थूल दृष्टि भी वस्तुके किन्हीं संयोगी और क्षणिक धर्मोंको ही देख सकी है, उनके कारणभूत नित्य धर्मोंको नहीं। इन धर्मोंमें भी उसकी दृष्टि अद्वैतताकी प्रतीति न कर सकी और द्रव्यकी सत्ताको उसके धर्मोंकी सत्तासे पृथक् देखती रही। न्याय दर्शनने तर्क व हेतुओं द्वारा वैशेषिक दर्शनका ही समर्थन किया। सांख्य इससे कुछ आगे बढ़ा और विश्व व्यवस्थाकी कार्य-कारण प्रणाली-को खोजता हुआ अन्तमें इस तथ्यपर पहुँचा कि यहाँ चेतन पुरुष और जड़ प्रकृति ये ही दो मूल तत्त्व हैं और यह जगत इन्हीका संयोगी रूप है। यद्यपि जड़ व चेतन दोनों ही तत्त्वोंका अत्यन्त शुद्ध रूप इसने उपस्थित किया, परन्तु व्यष्टिगत दृष्टि होनेके कारण यह समष्टिकी अद्वैत एक महासत्ताके दर्शन न कर सका। योग-दर्शनने ध्यान समाधि आदिके द्वारा संयोगी अविद्या जनित दृष्टिका विच्छेद करके व्यक्तिको निज शुद्धरूपके दर्शन करनेका उपाय बताया। कर्म मीमांसाने पूजा यज्ञादिके द्वारा तथा दैवीमीमांसाने ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा अहंकारविच्छेदपूर्वक विश्वकी एक अद्वैत महासत्ताका धुँधला-सा रूप देखनेका उपाय बताया। ब्रह्ममीमांसा या वेदान्तने इसमें भी आगे बढ़कर ज्ञानके संयममात्रसे व्यक्तिके समस्त द्वैतरूप विकल्पोंको शान्त करके उसे जगतकी चिदचित् रूप एक नित्य अद्वैत महासत्ताका दर्शन कराया। बौद्धने उसी अद्वैत नित्य सत्तामें अपने दृष्टिकोणसे अनित्य अंशको दर्शाया। और इस प्रकार ये सभी दर्शन अपने-अपने दृष्टिकोणोंका प्रचार करने लगे।

यद्यपि निष्पक्ष भावसे देखनेपर सभी दर्शन किसी-न-किसी रूपमें सत्य हैं, परन्तु उन सभीमें एक बहुत बड़ी कमी है, जिसकी तरफ किसीकी भी दृष्टि न गई और वह कमी है असहिष्णुता, जिसके कारण एक दर्शन दूसरेकी दृष्टिका सम्मान करनेके बजाय उसका खण्डन करनेमें ही अपनी महानता मानता है। इसी कमीको जैन दर्शनकार 'एकान्त' नामसे पुकारते हैं। दार्शनिक क्षेत्रके विकास व वृद्धिमें यह इतना बड़ा विघ्न है, कि बड़े-से-बड़ा संकल्प भी इसके आगे हतोत्साह हो जाता है। दर्शनशास्त्रका मूल उद्देश्य है प्रेममयी भावनाओंकी क्रमोन्नति द्वारा व्यष्टिका तथा संगठन द्वारा समष्टिका उत्थान करना। परन्तु उपरोक्त विघ्नके कारण उसके स्थानपर प्राप्त हो जाता है साम्प्रदायिक विद्वेष।

वास्तवमें यह एकान्त भी वस्तु स्थितिका एक धर्म है, जिसका दर्शन भी किन्हीं तत्त्ववेत्ताओंने किया। उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी। अपनी वीतरागता व निष्पक्ष साम्यताके कारण वे एक ही समय वस्तुमें अनेकों विरोधी धर्मोंकी सत्ता देखनेको समर्थ थे। उन्होंने उपर्युक्त चार्वाक आदि दर्शनोंके तथ्योंके अतिरिक्त भी अनेकों नये तथ्य वस्तुमें खोज निकाले, तथा अन्तमें ऐसा निर्धारण करनेको बाध्य हुए कि वस्तुमें ऐसे अनन्तों विरोधी धर्म देखे जा सकते हैं। वे मन ही मन व्यक्तिको इस पक्षपात पूर्ण संकीर्ण दृष्टिपर मुस्कराने लगे। समाजके इस बड़े शत्रुका संहार करनेके लिए एक विचित्र सिद्धान्त उन्होंने दर्शन शास्त्रको दिया, जिसके द्वारा व्यक्ति यदि चाहे तो अनन्तों दृष्टिकोणोंके द्वारा वस्तुके अत्यन्त व्यापक अनन्त धर्मात्मक रूपके दर्शन करके सभी दर्शनोंमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कर सकता है।

## अनेकान्त या स्याद्वाद : स्वरूप और महत्ता

इस महान सिद्धान्तका नाम है अनेकान्त। अन्य सभी दर्शनोंके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि जहाँ सभी दर्शन अपनेसे अतिरिक्त दूसरे दर्शनोंका खण्डन करते हैं, वहाँ यह सभीका संग्रह करके उन्हें एक अखण्ड रूप देनेमें ही दर्शन शास्त्रका सार्थक्य दिखलाता है। इस सिद्धान्तको प्रस्तुत करनेवाला दर्शन ही वस्तुके यथार्थ रूपको उपस्थित करनेवाला सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त है। समस्त दर्शनोंके एकाङ्गी कथनोंको समन्वित करनेकी क्षमता इसी सिद्धान्तमें है।

वस्तुके अनेक धर्मात्मक जटिल स्वरूपका प्रतिपादन किसी एक दृष्टि द्वारा अशक्य होनेके कारण इसकी कथन पद्धतिमें भी विचित्रताका रहना स्वाभाविक है, क्योंकि एक ही स्थानमें विरोधी धर्मोंकी सत्ता सरलतासे सिद्ध नहीं की जा सकती और न समझी जा सकती है। इसे कहने व समझनेके लिये बड़े धैर्य, सहिष्णुता, प्रतिभा एवं संयमकी आवश्यकता

है क्योंकि ये महान गुण विरले व्यक्तियोंमें ही होते हैं इसलिये जनसाधारणके लिये वह अगम्य है। इस कथन पद्धतिका नाम है स्याद्वाद, नयवाद या अपेक्षावाद।

इस पद्धतिसे बोलनेपर एक नय या दृष्टिकी अपेक्षा वस्तुमें जो धर्म सत् है, दूसरे नय या दृष्टिकी अपेक्षा वही असत् है। एक नयमे जो वस्तु नित्य है, दूसरे नयमें वही अनित्य है। यथा घट व रामपात्र आदि अनित्य वस्तुओंमें मिट्टी नित्य है। और इस प्रकार अपने स्वरूपकी अपेक्षा वस्तु सत् है तथा अन्यके स्वरूपकी अपेक्षा असत् है। जातिकी अपेक्षा वह एक है और व्यक्तिकी अपेक्षा वह अनेक। अनेक अवस्थाओंमें अनुस्यूत एकताकी अपेक्षा वह नित्य है और अपनी परिवर्तनशील अवस्थाओंकी अपेक्षा अनित्य है। समष्टिकी अपेक्षा वह सर्वव्यापक है और व्यष्टिकी अपेक्षा देश कालावच्छिन्न है इत्यादि। स्याद्वाद सिद्धान्तकी इस व्यापकताको धैर्यपूर्वक न समझनेके कारण ही कुछ दार्शनिकोंने इसे संशयवाद कहकर छोड दिया है।

इस सिद्धान्तका आश्रय लेने पर संसारका कोई भी दर्शन या वाद असत्य दिखाई न देगा।

असद्भूत व्यवहार नयसे चार्वाक दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टिसे भिन्न सत्ताधारी पदार्थोंमें भौतिक संयोग देखा जाता है, पदार्थकी भीतरी व्यवस्था नही। सद्भूत व्यवहार नयमे वैशेषिक व नैयायिक दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टिमें वस्तुकी भीतरी व्यवस्थाका भेदपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। शुद्ध व्यवहार नयमे सांख्य व योग दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टिमे जगत् व्यापी एक अखण्ड महासत्ताको चेतन और जड इन दो अवान्तर सत्ताओंमे विभाजित करके देखा जाता है। शुद्ध संग्रहनयमे ब्रह्ममीमासा या वेदान्त दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टिसे जगत्को एक अखण्ड नित्य महासत्ताके रूपमें देखा जाता है। इसी प्रकार व्यवहार नयसे कर्म मीमांसा और अशुद्ध निश्चयनयसे दैवीमीमांसा दर्शन सत्य है। ऋजुसूत्र नयमे बौद्धदर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टिमे वस्तुके अखण्ड समष्टिगत रूपका विश्लेषण करके, उसमे प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके अन्तिम विशेष देखे जाते है।....इत्यादि। इन दर्शनोंके अतिरिक्त स्वभाववाद, ईश्वरवाद, कालवाद, नियतिवाद, संयोगवाद उपादानवाद, निमित्तवाद आदि सभी प्रचलितवाद किसी न किसी नय या दृष्टिसे सत्य है। किस दृष्टिसे वे सत्य हैं और किस दृष्टिसे असत्य, यह बात खोजना बुद्धिकी प्रखरता पर निर्भर है। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा भारतके समस्त दर्शनोंके यथार्थ तत्त्वोंको अवगत किया जा सकता है।

स्याद्वाद सिद्धान्तको समझनेमें ही बुद्धिकी यथार्थ परीक्षा है, जो इस तथ्यमे निहित है कि अनेकों दर्शनों और वादोंका निराकरण करनेकी अपेक्षा, उन्हें समझा जाय और यथायोग्य रूपसे उनकी सत्यता सिद्ध की जाये। असत्य कहकर किसी भी दृष्टिका त्याग कर देना आसान है, पर बुद्धि पर जोर देकर उसकी कथंचित् सत्यता खोज निकालना कठिन है, दर्शनशास्त्रको यह स्याद्वाद सिद्धान्तकी अद्वितीय देन है। इतने महान् सिद्धान्तको प्राप्त करके भी यदि विद्वज्जन विभिन्न नयोंके विषयोका एकान्त पक्ष पकड कर एक दूसरेकी दृष्टिका सम्मान करना न सीखें और उनका खण्डन करनेमें ही अपनी बुद्धिकी सार्थकता समझें तो कहना होगा, कि या तो वे स्याद्वादके इस सार्वजनीन सिद्धान्तको समझे नहीं, या उन्हें इस पर विश्वास नही, अथवा समझ कर ओर विश्वास करके भी अन्तरंगके अभिमान तथा पक्षपातकी कटु हठके कारण वे इसका प्रयोग करनेका प्रयत्न नही करते। इस सिद्धान्तके प्रयोग क्षेत्रमें साम्प्रदायिक झगडों व शास्त्रार्थोंको अवकाश ही कहाँ? स्याद्वाद एकान्त हठका निराकरण करना है, परन्तु कथंचित् रूपमे किसी भी वादका निषेध करना नहीं जानता, यही इसकी विशेषता है।

## आचार क्षेत्रमें स्याद्वादका प्रयोग

दर्शनशास्त्र ही नहीं, आचार शास्त्र भी स्याद्वाद सिद्धान्तसे अछूता नही है। आचार शास्त्र प्रयोगात्मक होता है। प्रयोगकी सफलता कभी भी सहसा प्राप्त नही होती, बल्कि अवनत दशासे क्रमपूर्वक उन्नति-पथ पर अग्रसर होते हुए व्यक्तिको अन्तमें उच्चतम दशाकी प्राप्त करने पर होती है। इसलिये प्रयोग क्षेत्रमें क्रमिक प्रगतिके अंशोंमे उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षा अनेकों भूमिकाओंकी प्राप्ति स्वाभाविक है। प्रत्येक भूमिकामे उसके योग्य ही आचारकी प्राप्ति होती है, और उसी दृष्टिसे उसका कथन भी शास्त्रोंमे किया गया है। खींच-तान करके निम्न भूमिकामे ही उच्च भूमिकाके आचारकी सिद्धि करनेका प्रयत्न करना एकान्त है। जैन आचार शास्त्रमें चार प्रधान भूमिकाएँ हैं—अविरती गृहस्थ, व्रती श्रावक, प्रमत्त साधु और अप्रमत्त साधु। इनमेंसे प्रथम दो भूमिकाएँ गृहस्थकी और अगली दो भूमिकाएँ साधुकी है। गृहस्थ दशामे पूर्व संस्कारका प्राबल्य होनेके कारण पर पदार्थोंके आश्रयकी प्रधानता रहती है। इसलिये उसका आचार देव-शास्त्र-गुरुके आश्रित होनेसे व्यवहार प्रधान होता है। परन्तु यह व्यवहार सदा निश्चय सापेक्ष रहता है, क्योंकि उस पराश्रयसे वह सदा अन्तरंगकी ओर झुकनेका ही प्रयत्न करता रहता है। अतः व्यवहार और निश्चयकी

इस मिश्रित दशामें यहाँ व्यवहार प्रबल होनेसे प्रधान और निश्चय निर्बल होनेसे गौण रहता है। दूसरी ओर साधुकी भूमिकामें संस्कारोंकी शक्ति क्षीण हो जानेके कारण, वहाँ देव, शास्त्र, गुरुके आश्रयकी इतनी प्रधानता नहीं रहती। वह स्वतन्त्रतासे अन्तरंगमें स्थिर रहनेको समर्थ है, इसलिये उसकी भूमिकामें निश्चय प्रधान व व्यवहार गौण रहता है। अप्रमत्त दशा निर्विकल्प होनेके कारण वहाँ व्यवहार लुप्तप्राय. हो जाता है और एकमात्र निश्चय या अद्वैत रह जाता है।

इसलिये भूमिकाके अनुसार ही व्यक्तिको आचार शास्त्रका उपदेश आचार्योंने दिया है। प्रथम भूमिका वाले को अन्तिम भूमिका अथवा अन्तिम भूमिका वालेको प्रथम भूमिकाका उपदेश देना उसके लिये हितकरके स्थानमें अहित-कर हो जाता है। जैसे बालकको बड़े व्यक्तिके पीने योग्य औषध पिलाना। अतः कल्याणके इस धार्मिक क्षेत्रमें पक्षपात को छोड़कर इस स्याद्वाद सिद्धान्तका आश्रय लेना ही स्व और पर दोनोंके लिये श्रेयस्कर है।
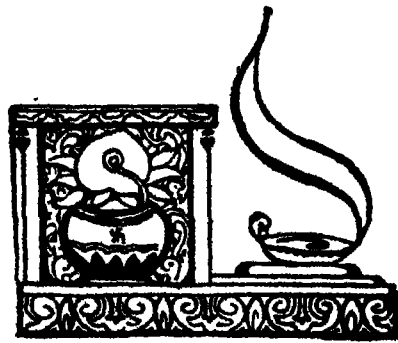
# ज्ञानकी सीमा और सर्वज्ञताकी सम्भावना

डॉ० रामजी सिंह, एम० ए०, पी-एच्० डी०
दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

●

'भारतीय दार्शनिकोंने ज्ञान विकासकी सम्भावनाओंपर पूर्णतया विचार किया है। उनका विश्वास है कि ज्ञानको आवृत्त करनेका कार्य कर्म-संस्कार सम्पन्न करता है। जैसे-जैसे संस्कार विगलित होते जाते हैं, वैसे-वैसे ज्ञानकी तारतम्य अवस्थाएँ प्रकट होती जाती है। इस प्रकार ज्ञानकी एक ऐसी स्थिति भी आती है जहाँ वह पूर्णताको प्राप्त हो जाता है।' इस विचारधाराको आधुनिक विद्वान् अन्धविश्वासपर आधारित मानते हैं, क्योंकि आधुनिक विज्ञान-सम्मत युगमें ज्ञानका विकास इतना अधिक सम्भव नहीं। ज्ञानार्जनके साधन हैं—नित्य श्रुताभ्यास, विशेषज्ञोंसे वार्त्तालाप, विभिन्न स्थानोंका निरीक्षण, मस्तिष्कमें उत्पन्न नाना समस्याओंका चिन्तन। अतः प्रयत्नसे प्राप्त ज्ञान त्रिकालमें भी सर्वज्ञताकी स्थितिको प्राप्त नहीं हो सकता है।

मीमांसक, चार्वाक जैसे पुरातन चिन्तकोंने सर्वज्ञकी सम्भावनाको कपोल-कल्पित ही कहा है। वास्तवमें ज्ञान-विकासका सम्बन्ध विभिन्न क्षेत्रोंमें हमारे व्यक्तिगत जीवन एवं आचरणसे है[1]। जिस व्यक्तिका जीवन-क्षेत्र जितना विकसित होता है, उसका ज्ञान भी उतना हो विकसित पाया जाता है।

## व्यवधान और विकार

जहाँ एक ओर मानव अपने ज्ञान विकासके लिए अबाध गतिसे प्रयत्नशील है, वहाँ अज्ञान और संशयके रूपमें कुछ प्रतिगामी वृत्तियाँ भी उसके ज्ञानक्षेत्रमें व्यवधान उत्पन्न करती हैं। अनुभववाद जहाँ इन्द्रियकी सीमाका उल्लंघन नितान्त निषिद्ध मानता है, वहाँ बुद्धिवाद मानवीय मस्तिष्कको ज्ञानधाराको एक निश्चित सीमामें ही आबद्ध रखता है। इस सिद्धान्तमें उच्चतर ज्ञानके गवाक्षोंकी भी उपेक्षा की गयी है। अतः एक ओर संशयवाद और अज्ञानवाद ज्ञानके विकार हैं तो दूसरी ओर ज्ञानमें जड़ता एवं अप्रगतिशीलताका दोष उत्पन्न होता है। भारतीय चिन्तक संशयको ज्ञानके लिए 'कायरवादी बुद्धि' कहते है क्योंकि मानव-चित्तकी निर्णय-भूमिके सार्वत्रिक अनिश्चयताके कारण बौद्धिक जड़ता एवं निर्णयहीनताको प्रश्रय मिलता है। अज्ञानवाद हमारे ज्ञानके लिए पूर्वनिश्चित सीमाओंका निर्धारण ही नहीं करता, बल्कि ज्ञानके विषयमें मनोविज्ञानकी भ्रान्त धारणाओंको भी उत्पन्न करता है, जिससे ज्ञानविकासकी समस्त सम्भावनाएँ ही अवरुद्ध हो जाती हैं[3]। जैन-दार्शनिक ज्ञानको अवरुद्ध करनेका कार्य ज्ञानावरण नामक अदृष्टको सौंपते है। यह कर्म अपनी शक्तिसे ज्ञानको अवरुद्ध तो करता ही है, साथ ही विकृत भी।

## ज्ञानकी सीमाएँ

ज्ञानकी सीमाकी समस्या अत्यन्त विवादास्पद है। विज्ञानके चमत्कारसे प्रभावित व्यक्तियोंको ज्ञानकी समस्याओंके निर्धारणकी चेष्टा ही एक परम्परागत भ्रामक धर्म-सापेक्षी दार्शनिक विचारधाराका परिणाम दिखलाई पड़ती है। आजके वैज्ञानिक युगमें न तो कोई तत्त्व स्थिर है और न तत्त्वज्ञानकी पूर्णता ही निश्चित है। अतः सत्य तक पहुँचना

---

1. Gustava weigel and Arthur G. Madden 'knowledge ; Its values and limits' Engliwood cliffs 1961 preface.
2. Barua B. M. 'A History of pre Budddistic Indian philosophy. Calcutta University. —1921 page 330-1
3. Ladd. L. T. 'Knowledge : life and Reality,' yab. University. —1931 page 100-1.

ज्ञानकी सीमाओंका निर्धारण करना असम्भव-सा लगता है[1]। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादसे प्रभावित विचारक एक ओर यदि असीम या अन्तिम ज्ञानकी कल्पनाको मिथ्यात्व मानते हैं तो दूसरी ओर अज्ञान-अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सतत प्रयत्नशील रहनेकी आशावादी प्रेरणा भी प्रदान करते हैं। ज्ञान मानवकी प्रवृत्ति एवं समाजके सम्बन्धोंके ऐतिहासिक विकासका सतत उन्मुख सिद्धान्त है। प्रकृतिका कोई रहस्य ऐसा नहीं, जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती[2]।

स्तुति-परक पुराणवादी विचारक मात्रात्मक या प्रकारात्मक दृष्टियोंसे तो ज्ञानकी सीमा स्वीकार करते हैं, पर मूल्यात्मक दृष्टिसे सर्वज्ञताकी सम्भावनापर जोर देते हैं। उदाहरणस्वरूप[3] उपनिषदोंमें जहाँ सर्वज्ञानकी बात कही गयी है, वहाँ मात्राकी दृष्टिसे नहीं मूल्यकी दृष्टिसे कही है। सर्वज्ञानका अर्थ है तत्त्वज्ञान[4]। वास्तववादी दृष्टिकोणसे ज्ञानकी सीमाके प्रश्नका अर्थ हैं कुछ परिमाण या अज्ञेय क्षेत्रको स्वीकार करना। अज्ञेय चिन्त्य एवं अचिन्त्य दोनो ही हो सकता है। अतः ज्ञानकी सीमाका प्रश्न व्यक्ति या समाजके अथवा वास्तविक या सम्भाव्य सीमाका प्रश्न नहीं है और न ऐतिहासिक विकास-क्रमका है। यह प्रश्न असाधारणात्मक योजनाके अनुसार स्वीकृत अज्ञेयताका प्रश्न[5] है। जैनदार्शनिक आत्माका अनन्त चतुष्टय स्वीकार करते है अतः अनन्तज्ञान, आत्माका स्वभाव होनेसे ज्ञानकी सीमाका निराकरण हो जाता है। जैनदर्शनमें ज्ञानकी सीमा मानी गयी है, पर वह परोक्षज्ञानके अन्तर्गत है, प्रत्यक्षज्ञानके नहीं। इस दर्शनमें ऐन्द्रियिकज्ञानके स्तरपर ज्ञानकी सीमा स्वीकार की जा सकती है पर अतीन्द्रिय स्तरपर नहीं। कुन्दकुन्दने ज्ञानकी सर्वव्यापकता सिद्ध करते हुए लिखा है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥

—प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा २३

अर्थात् ज्ञान ज्ञेयका जानता है और आत्मा ज्ञान प्रमाण है। ज्ञेय लोकालोकव्यापी है अतएव ज्ञेयको जाननेका सामर्थ्य रखनेवाला ज्ञान भी सर्वव्यापी है।

कुन्दकुन्दने प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञानकी सीमा भी निर्धारित की है। इस सीमाकी व्याख्या प्रवचनसारके टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यने[6] बहुत ही स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत की है। उन्होंने बताया है कि जो ज्ञान इन्द्रिय, मन, परोपदेश उपलब्धि, संस्कार, प्रकाश आदि निमित्तोंके द्वारा स्वविषयभूत पदार्थको अवगत करता है, वह परोक्ष है और जिसे इन्द्रिय अन्तःकरण आदिकी अपेक्षा नहीं है, वह आत्मस्वभावसे उत्पन्न द्रव्य पर्यायोंका ज्ञाता ज्ञान प्रत्यक्ष है। आचार्य पूज्यपादने अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थमें लिखा है कि इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परोक्ष है[7]। इसका परोक्षताका मुख्य कारण पराधीनत्व है। अतः जहाँ ज्ञानमें पराधीनवृत्ति पायी जाती है, वहाँ वह परोक्ष है और जहाँ परको सहायताके बिना हो आत्मासे प्रतीति होती है, वहाँ वह प्रत्यक्ष कहलाता है। शास्त्रीय परिभाषामें यह ज्ञान आवरणरहित माना गया है। अतः जैनदर्शनकी दृष्टिसे ज्ञानकी दो सीमाएँ निश्चित है— नियत प्रतीति और अनियत प्रतीति। नियतप्रतीति ज्ञानका भी साव्यवहारिक प्रत्यक्षके रूपमें माना गया है, यद्यपि यह कथन औपचारिक है। वस्तुतः तो आत्माके सिवाय अन्य निमित्तसे जितना भी ज्ञान उत्पन्न होगा वह सभी सीमित और परोक्ष कहलायेगा। पूज्यपादने प्रत्यक्षको परिभाषामें लिखा है—

'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।' —१।१२

अर्थात् आत्मासे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाता है।

---

१. डॉ० अजितकुमार सिन्हा कृत निबन्ध 'ज्ञानकी सीमाएँ' —दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९६३ पृ० २३४।

२. डॉ० धीरेन्द्र कृत निबन्धःज्ञानमीमांसाकी नई व्याख्या—दार्शनिक त्रैमासिक अक्टूबर १९६३ पृ० २२६।

३. डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी कृत निबन्धःज्ञानकी सीमाएँ—दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९६३-६४ पृ० २२२।

४. वही २१२।

५. यशदेवशल्य कृत निबन्ध 'ज्ञानकी सीमाएँ' —दार्शनिक त्रैमासिक अप्रैल १९६४, पृ० १०-२।

६. 'यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात्······प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते।'
—प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा ५८ की टीका।

७. अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो······परोक्षमित्याख्यायते।'
—शोलापुर संस्करण पृ० ६४ सूत्र १।११ की टीका।

ज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत सांव्यवहारिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष आता है, जिसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं[1]। सर्वप्रथम विषय-विषयीके सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। इसके बाद उस विषयकी अवान्तर सत्तारूप अवग्रहकी उत्पत्ति होती है। यह अवग्रह ज्ञान सीमित है, एक निश्चित रेखामें उत्पन्न होता है। अवग्रहके पश्चात् ज्ञातविषयमें विशेष आकांक्षाका उत्पन्न होना ईहा है। ईहा ज्ञानमें आकांक्षारूप ज्ञान निर्णयकी ओर झुका रहता है। पश्चात् उत्पन्न होनेवाला निर्णयात्मकज्ञान अवाय कहलाता है। अवायमें इष्ट अंशका निश्चय विवक्षित है जबकि अपायमें अनिष्ट अंशकी निवृत्ति मुख्यतः पायी जाती है। यही अवाय उत्तरकालमें दृढ़ होकर धारणा बन जाता है। इस धारणाके फलस्वरूप ही कालान्तरमें वस्तुका स्मरण होता है। अतएव इन्द्रिय-व्यापार और अर्थालोक आदिकी सीमा अभीष्ट रहनेसे ज्ञानकी भी सीमाएँ बनी रहती हैं।

भारतीय-दर्शनोंमें ज्ञानकी सीमाएँ और सम्भावनाएँ इन्द्रिय और अन्तःकरण की सीमित शक्तिके कारण ही मानी गयी हैं। इन्द्रियदोष और सादृश्य आदिके कारण ज्ञानमें विपर्ययत्व पाया जाता है क्योंकि विपर्यय ज्ञानका विषयभूत पदार्थ विपर्यय कालमें आलम्बनभूत पदार्थमें आरोपित रहता है। सीपमें चाँदीका परिज्ञान निरी कल्पना नहीं है। इस ज्ञानमें सादृश्य, इन्द्रियविकार, क्रियाकी झटिति गति, विषयकी चञ्चलता आदि दोष निहित रहते हैं। इसी कारण ज्ञानमें विपर्ययत्व उत्पन्न होता है। संशयज्ञानमें भी उभय-कोटि स्पर्शता पायी जाती है, जो कि बुद्धिनिष्ठ है। उभय साधारण पदार्थके दर्शनमें परस्पर विरोधी दो विशेषोंका स्मरण होता है, जिसमें ज्ञान दोनों कोटियोंमें झूलने लगता है। अतः निश्चित है कि संशय और विपर्ययज्ञान पूर्वानुभूत विषयके ही होते हैं, अननुभूतके नहीं।

उपर्युक्त ज्ञानमीमांसासे स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तकोंने ज्ञानकी संभावनाएँ किसी निश्चित सीमामें आबद्ध नहीं की है। अनुभूति क्रियाका जैसे-जैसे विकास होता जाता है, ज्ञानकी परिधि विस्तृत होती जाती है। जो ज्ञान क्षयोपशमजन्य है, उसमें तारतम्यका रहना आवश्यक है, पर जो ज्ञान कर्मावरणके क्षयसे उत्पन्न होता है, आत्मस्व-भावस्वरूप है, वह ज्ञान स्वाधीन वृत्तिके कारण अनन्त है। इस अनन्तज्ञानकी उपलब्धि आत्मव्यापारसे ही सम्भव है, इन्द्रियव्यापारसे नहीं।

## सर्वज्ञत्वका अर्थ एवं उसके प्राचीन निर्देश

पाणिनीय[2] व्याकरणके अनुसार 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' के रूपमें व्युत्पत्ति पायी जाती है अर्थात् समस्त विषयोंको अवगत करनेवाला ज्ञान। पालि और प्राकृत व्याकरणोंकी दृष्टिमें भी समस्त द्रव्य और पर्यायोंको जाननेवाले ज्ञानका धारी सर्वज्ञ होता है। यदि वस्तुवाचकताकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो संख्यात्मक और परिमाणात्मक समस्त वस्तुओंका ज्ञाता सर्वज्ञ है। गुणवाचकताकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका अर्थ सारतत्त्वोंका परिज्ञान है, पर सारतत्त्वोंका परिज्ञान भी दो अर्थोंको प्रकट करता है—तत्त्वज्ञता और धर्मज्ञता। मीमांसक सर्वज्ञतासे ज्ञेय अर्थोंकी जानकारी तो ग्रहण करता है, पर धर्मज्ञता उसे अभिप्रेत नहीं। कोई मनुष्य अपने ज्ञानके बलसे धर्मज्ञ नहीं हो सकता। हाँ, तत्त्वज्ञताकी प्राप्तिकी जा सकती है। अतः मीमांसक दर्शनमें समस्त ज्ञेय एवं प्रमेयोंका परिज्ञान चाहे किसीको भी हो जाय, पर वेदका अधिकारी विद्वान् ईश्वरके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। यह ईश्वर अलौकिक व्यक्तित्व सम्पन्न एवं असाधारण होता है।

भारतीय दर्शनके इतिहासमें सर्वज्ञ विचारके तीन विरोधी रहे हैं—वैदिक मीमांसक, भौतिकवादी चार्वाक एवं संशय और अज्ञानवादी। शेष सभी दार्शनिकोंने सर्वज्ञताको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है।

वेदोंकी प्रार्थनात्मक भूमिकामें सर्वज्ञत्वका सिद्धान्त स्वीकार कर देवताओंकी प्रशंसात्मक प्रार्थनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। यद्यपि वेदोंमें सर्वज्ञ शब्द नहीं आया है, पर इसके पर्यायवाची विश्ववेदम्, ( ऋग्वेद, १।२१।१, सामवेद १।१।३) विश्ववित् ( अथर्ववेद १।१३।४, ऋग्वेद १०।९१।३ ) विश्व विद्वान् ( ऋग्वेद ९।४।८५, १०।१२२।२ ) सर्ववित् ( अथर्ववेद १७।१।११ ) विश्वचक्षु ( ऋक्, १०।८१।३ ) विश्वद्रष्टा ( अथर्ववेद ६।१०७।४ ) आदि आये हैं।

उपनिषदोंकी आत्मसत्ता ही सर्वज्ञके अर्थमें व्यवहृत है। बृहदारण्यक ( ४।५।६) में सर्वज्ञको आत्मज्ञ कहा है। 'आत्मानं विद्धि' इसका मूलमन्त्र है। १२० उपनिषदोंमें ३१ बार सर्वज्ञता शब्दका प्रयोग हुआ है।

---

१. विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः।
अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।
विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।
अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा। —सर्वार्थसिद्धि १।१५।

२. आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३.

धर्मशास्त्रके अन्तर्गत धर्मज्ञताके रूपमें सर्वज्ञ शब्द आता है। इन ग्रन्थोंमें धर्मके समस्त सूक्ष्म तत्त्वोंका ज्ञाता सर्वज्ञ माना गया है। बौद्धागम और जैनागममें भी तत्त्वज्ञको ही सर्वज्ञ कहा गया है। इस प्रकार प्राचीन वाङ्मयमें सर्वज्ञका उल्लेख उपलब्ध होता है।

## सर्वज्ञ-सिद्धि, शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर

मीमांसकोंने शास्त्रान्तर्गत षड् प्रमाणोंके अन्तर्गत सर्वज्ञाभाव सिद्धिका प्रबल प्रयास किया है, किन्तु जैन चिन्तकोंने मीमांसकोंके तर्कोंका सयुक्तिक खण्डन कर सर्वज्ञसिद्धि की है। अष्टसहस्री, न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड ग्रन्थोंमे सर्वज्ञचर्चा विशेषरूपसे आयी है। तर्क द्वारा इस चर्चाका सूत्रपात आप्तमीमांसामें समन्तभद्रने किया है। यहाँ मीमांसकका पूर्वपक्ष एवं जैन तार्किकोंका उत्तर पक्ष अवलोकनीय है।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—चूँकि प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय नहीं है और वह केवल संबद्ध वर्त्तमान और प्रतिनियत रूपादि गोचरको जानता[1] है, इस कथनके सम्बन्धमें जैनोंका तर्क है कि योगी प्रत्यक्ष सर्वज्ञताका क्वचित् कदाचित् बाधक होगा अथवा सर्वत्र सर्वदा। यदि क्वचित् कदाचित् बाधक है तो इसमें किसीको आपत्ति नहीं, क्योंकि सर्वज्ञताका ज्ञान सभीको सर्वदा नहीं हो सकता। यदि योगी प्रत्यक्षको सदा सर्वदा बाधक मानते हैं तो यह सदा सर्वदा जाननेवाला तो स्वयं ही सर्वज्ञ हो जायगा। साधारण प्रादेशिक-ज्ञानमे सकल देशवर्त्ती सर्वके ज्ञानका खण्डन नहीं किया जा सकता[2]। प्रत्यक्षकी निवृत्तिसे यदि हम उसका अभाव सिद्ध करें (क्योंकि स्वप्नमें भी हम सर्वज्ञको नहीं देखते) तो यह भी गलत होगा क्योंकि प्रत्यक्ष सर्वज्ञताके ज्ञानका न तो कारण ही है और न व्यापक। प्रत्यक्षके अभावमें भी वस्तु रहती है और प्रत्यक्षकी निवृत्तिमे भी वस्तु विद्यमान रहती है। मीमांसकोंमे दूसरी यह बात भी पूछी जा सकती है कि सर्वज्ञाभाव केवल अपने प्रत्यक्षकी निवृत्तिमे सिद्ध करते हैं या सभीके प्रत्यक्षमे। यदि केवल अपने प्रत्यक्षकी निवृत्ति-से सिद्ध करते हैं, तो यह गलत होगा क्योंकि जिन सूक्ष्म अतीन्द्रिय या दूरस्थ वस्तुओंका हमें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता वे वस्तुएँ भी विद्यमान है। अब यदि यह कहा जाय कि सभीके प्रत्यक्षकी निवृत्तिसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध है तो यह सभीके प्रत्यक्षको जाननेवाला ज्ञान स्वयं सर्वज्ञ होगा। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाणके बलसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(ख) अनुमान प्रमाण—मीमांसकके अनुसार सर्वज्ञत्वकी सिद्धि अनुमानसे सम्भव नहीं है क्योंकि लिङ्ग-लिङ्गी अविनाभाव सम्बन्ध सर्वज्ञके साथ नहीं पाया जाता। सर्वज्ञके साथ स्वभाव और कार्य हेतु दोनों ही असिद्ध हैं[3]। सर्वज्ञताका न तो किसीके साथ कार्यकारण सम्बन्ध सिद्ध है और न उसका स्वभाव ही प्रत्यक्ष गोचर है अतः अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि सम्भव नहीं।

जैन दार्शनिक विकल्पपद्धतिसे तर्क उठाते हुए पूछते हैं कि सर्वज्ञको असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं या उसकी असर्वज्ञता। यदि सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करना अभीष्ट है तो अनुपलम्भ, विरुद्धविधि और वक्तृत्व इन तीनोंमेसे किसे अपना हेतु मानेंगे[4]। अब यदि अनुपलम्भ हेतु माना जाय तो यह कार्य या कारण या व्यापक इन तीनोंमेसे किस सम्बन्धी होगा। यह अनुपलम्भ स्वसम्बन्धी होगा या सर्वसम्बन्धी। माना कि यह स्वसम्बन्धी है तो वह निर्विशेषण होगा या सविशेषण[5]। यदि निर्विशेषण माना जाय तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि सामान्य प्रत्यक्षसे परचित्तका ज्ञान सम्भव नहीं। यदि ज्ञान मान लिया जाय तो दूसरोंके चित्तका भी अभाव हो जायगा। यदि सविशेषण माना जाय तो इससे सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो जायगा, पर इस प्रकार सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाला स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। इसी प्रकार यदि उपलम्भको स्वसम्बन्धी न मानकर सर्वसम्बन्धी माना जाय तो भी उक्त दोष आयेंगे। सर्वत्र और सर्वदा सर्वज्ञाभावको सिद्ध करनेवाला हेतु सर्वज्ञत्वके बिना सम्भव नहीं[6]।

---

१. मीमांसा श्लोकवार्तिक—सूत्र २ पृष्ठ ८१।
   तथा—तत्त्वसंग्रह-कारिका ३१८६।
२. न्यायकुमुदचन्द्र—भाग १ पृष्ठ ८९ तथा तत्त्वसंग्रह, कारिका ३२६१–२।
३. तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ८३१।
४. स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ ३८२।
५. तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ८५०।
६. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ९१ तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २५३-४।

कार्याभावसे भी सर्वज्ञाभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि धर्मादि अशेष पदार्थोंके प्रतिपादक आगमरूप कार्य देखे जाते हैं। मीमांसक आगमको अपौरुषेय मानकर कार्याभावसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करे तो अपौरुषेयत्वकी सिद्धि ही सम्भव नहीं। व्यापकाभावसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञका व्यापक सर्वसाक्षात्कारित्व है, सर्वार्थ-परिज्ञान[1] नहीं। आत्माका स्वभाव सकल पदार्थोंको ग्रहण करनेका है, पर जब प्रतिबन्धक कारण रहते हैं तो सकल पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता। प्रतिबन्धक कारणोंका क्षय जिस-जिस क्रमसे होता जाता है सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति भी उसी क्रमसे होती जाती है। आशय यह है कि समस्त प्रतिबन्धक कारणोंके विगलित होनेपर सर्वज्ञता आ जाती है। विरुद्धविधि ( साक्षात् या परम्परया विरोध ) से भी सर्वज्ञाभाव सम्भव नहीं[2]। पहले हम साक्षात् विरोध पर विचार करते हैं तो वह विरोध क्वचित् कदाचित् है या सर्वत्र सार्वदिक। प्रथम पक्ष सर्वज्ञाभावका साधक नहीं, क्योंकि क्वचित् कदाचित् तो विरोध दिखलाई पड सकता है, यदि द्वितीय पक्ष माना जाय तो इस प्रकारके विरोधको ग्रहण करनेवाला सर्वज्ञ हो जायगा। पर-म्परा विरोध सर्वज्ञके व्यापक कारण या कार्य किसके साथ है? यदि व्यापकके साथ विरोध है तो वह भी क्वचित् कदाचित् है या सर्वत्र सर्वदा है। इन विकल्पोंमें उपर्युक्त तर्क ही लागू है। यदि कारणका विरोध माना जाय तो यह कारण भी क्वचित् कदाचित् वाला है या सर्वत्र सर्वदा का विरोधक है। ये तर्क भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि सर्वज्ञताका कारण है ज्ञानावरणादि कार्योंका प्रक्षय और इसका विरोध है क्षयाभाव। यह क्षयाभाव कहीं किसी आत्मामें तो रह सकता है, पर सर्वत्र सभी आत्माओंमें नहीं रह सकता।

कार्य-विरोध भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि सर्वज्ञका कार्य-विरोध जाननेवाला कोई अल्पज्ञ ही हो सकता है और वह एकाध स्थान पर ही उसके कार्यका विरोध देख सकता है, सर्वत्र नहीं। वक्तृत्वादि हेतुके कारण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि वक्ता होनेके कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं तो यह स्ववचनविरुद्ध है, जिस प्रकार सर्वज्ञ-की असत्ता सिद्ध करनेमें स्ववचनविरोध आता है, उसी प्रकार असर्वज्ञता सिद्ध करनेमें भी। क्योंकि जो यह कहता कि सब असर्वज्ञ है, वह तो स्वयं सर्वज्ञ सिद्ध हो जायगा। वक्ता प्रमाणविरोधी या प्रमाणसङ्गत या सामान्य तीन प्रकारके माने जाते हैं। प्रमाणविरोधी वक्ताको माननेमें तो हमें सिद्ध-साध्यतापत्ति है क्योंकि जो प्रमाणविरोधी बोलता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, यह हमारी मान्यता है। सर्वज्ञ तो प्रमाणसङ्गत और अविरोधी वचन बोलनेवाला होता है। सर्वज्ञके लिए तीन शर्तोंका होना आवश्यक है। (१) वीतरागता (२) हितोपदेशित्व एवं (३) घातिया कर्मविनिर्मुक्तता। जिसमें उक्त तीनों शर्तोंके साथ वक्तृत्व रहता है, वही सर्वज्ञ माना जाता है। सामान्य वक्ता माननेसे हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। यदि कोई कहे कि सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं तो फिर कोई सर्वज्ञ बचा ही नहीं। विपक्षमें व्यतिरेक सिद्ध नहीं है, अतः निषेधका प्रश्न ही निरर्थक है। हाँ, रथ्यापुरुषमें असर्वज्ञत्व एवं वक्तृत्व दोनों गुणोंका समावेशकर व्यतिरेक बना लिया जायगा तो यह कथन भी स्ववचनबाधित है क्योंकि साध्यभूत सब पुरुष हैं और इस समष्टिमें रथ्यापुरुष भी शामिल है, तब व्यतिरेक किस प्रकार बनेगा और बिना व्यतिरेक व्याप्तिके हेतुमें प्रामाणिकता नहीं आती। अतः वक्तृत्व हेतुमें सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरा दोष चक्रक[3] भी आता है क्योंकि वक्तृत्व हेतुमें सर्वज्ञाभाव सिद्ध होनेपर व्यतिरेक सिद्ध होगा और व्यतिरेक सिद्ध होनेपर असर्वज्ञत्व सिद्धि होगी।

अनुपलब्धिके द्वारा सर्वज्ञाभाव नहीं सिद्ध हो सकता। यह अनुपलब्धि किस हेतुसे सिद्ध होगी? सत्तासे, पुरुषत्व से या वक्तृत्वसे। इन तीनों विकल्पोंका प्रयोग हम वेदमें भी कर सकते हैं क्योंकि वेदार्थज्ञ कोई भी उपलब्ध नहीं अतः वेदार्थज्ञकी सत्ता कैसे मानी जायगी? यदि आप वेदार्थज्ञकी सत्ता मानते हैं तो सर्वज्ञकी सत्ता माननी पड़ेगी। जो प्रश्न आपने सर्वज्ञके सम्बन्धमें किये हैं वे ही प्रश्न वेदार्थज्ञके सम्बन्धमें भी हो सकते हैं।

**( ग ) उपमान**—उपमान द्वारा भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उपमानकी प्रवृत्ति सादृश्यसे होती है। सर्वज्ञके सदृश कोई दिखलाई नहीं पड़ता अतः उपमान सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें असमर्थ है। यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञके शरीरके समान सादृश्य तो अनेक स्थानोंपर मिल जाता है तो यह कथन भी गलत है क्योंकि यहाँ सादृश्य शरीरसे नहीं आत्मासे लेना[4] है। सर्वज्ञकी आत्माके समान निरावरण अन्य आत्मा दिखलाई नहीं पडती, अतः उपमान प्रमाण द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना हास्यास्पद है।

---

१. प्रमेयरत्नमाला पृष्ठ ५४, स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ ३७०, तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ ७०।
२. तत्त्वसंग्रह पृष्ठ ८५३; स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ ३८२।
३. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ९३ तथा न्यायविनिश्चय पृष्ठ ५।
४. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ९४। तुलनाके लिए बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृष्ठ १३६; प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ २६५।

( ङ ) आगम—मीमांसक आगम प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है। इस सन्दर्भमें यह विचारणीय है है कि सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेवाला आगम नित्य है या अनित्य। यदि नित्य आगम ( वेद ) को माने तो उसमें असर्वज्ञ प्रतिपादक वचन नहीं उपलब्ध होते[1] हैं। नित्य आगमके सम्बन्धमें भी प्रश्न उपस्थित होते हैं कि वह अनादि है या सादि अनादि आगम तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर सकता है और सादित्व और नित्यके साथ विरोध है अतः नित्यागम द्वारा सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनित्यागमके सम्बन्धमें दो तर्क हैं—वह सर्वज्ञप्रणीत है या असर्वज्ञप्रणीत[2]। यदि सर्वज्ञप्रणीत आगमसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध किया जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। असर्वज्ञप्रणीत आगम द्वारा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें इष्ट सिद्धसाध्यतापत्ति है। क्योंकि असर्वज्ञप्रणीत आगम अप्रमाणित होनेके कारण सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें असमर्थ है[3]।

(च) अर्थापत्ति—अर्थापत्ति भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें असमर्थ है[4]। क्योंकि इसके लिए यह आवश्यक है कि कोई भी कार्य सर्वज्ञके बिना अनुपपन्न दीखना चाहिये किन्तु ऐसी बात नहीं। मीमांसकका यह भी कथन है कि सर्वज्ञ के बिना संसारका कोई भी कार्य बाधित होता हो ऐसी बात नहीं, अतः सर्वज्ञ माननेकी आवश्यकता ही क्या है ? यह तर्क युक्तिसंगत नहीं क्योंकि सर्वज्ञके बिना धर्मोत्पत्ति नहीं हो सकता। धर्मोत्पत्तिका कारण सर्वज्ञोपदेश है। इस तर्कका उत्तर देते हुए मीमांसकने कहा है कि धर्मोत्पत्तिका कारण सर्वज्ञता नहीं सम्प्रदाय विशेषके विस्तारका व्यामोह है। यह उपदेश व्यामोह पूर्वक होता है या सम्यक्ज्ञानपूर्वक। प्रथम कोटिका उपदेश मूल्यशून्य है क्योंकि इस प्रकारके उपदेशकी काई आवश्यकता नहीं। यदि मनु आदिके समान सम्यग्ज्ञान पूर्वक उपदेश माना जाय तो वेदज्ञान शून्यताके कारण उपदेश मे अप्रामाणिकता रहेगी। जैन तार्किकांने उक्तआरोपका उत्तर देते हुए बताया है कि अर्थापत्तिकी प्रवृत्ति उसी स्थल पर होती है जहाँ षड् प्रमाणों द्वारा अर्थको जान लिया जाता है। वेदकी प्रमाणता सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है क्योंकि गुणवान् वक्ताके अभावमे वचनमे प्रामाणिकता नहीं आ सकती[5]।

(छ) अभाव प्रमाण—मीमांसकोंका अभिमत है कि अभाव प्रमाणसे तो सर्वज्ञाभाव ही सिद्ध होगा, सर्वज्ञ नहीं। यदि हम यह मानलें कि सर्वज्ञ है तो वह समस्त कालकी वस्तुओंको अपने-अपने रूपसे जानेगा या वर्त्तमान रूपसे[6] यदि अपने-अपने रूपसे जानें ( भूतको भूत और भविष्यत्को भविष्यत् ) तो वर्तमानमें तत्तद्वस्तुओंका साक्षात्कार नहीं हुआ अतः वह तत्तद्रूपमे वस्तुओंको नहीं जान सकेगा। यदि यह माना जाय कि वर्त्तमानरूपमें भूत भविष्यत्के पदार्थोको भी जानता है तो उसका यह ज्ञान भ्रान्त हो जायगा और भ्रान्त ज्ञानधारी सर्वज्ञ कैसे होगा[7]?

वस्तु सत् है इस ज्ञानमें वस्तुकी सत्ताकी तरहसे प्राक्भाव या प्रध्वंसाभाव प्रतिभासित होते हैं या नहीं। यदि प्रतिभासित होते है तो युगपत् या क्रमसे। यदि युगपत् माना जाय तो गलत होगा क्योंकि जन्ममरण एक साथ असम्भव है। जो वस्तु जिस रूपमे प्रतिभासित होती है, उसका उसी रूपमे ग्रहण होता है जैसे नीली वस्तुका नीले रूपमे। अतः सर्वज्ञ यदि प्राग्भाव ( अतीत ) या प्रध्वंसाभाव ( अनागत ) दोनोंको युगपत् देखता है तो यह भी असमीचीन है क्योंकि दोनोंका एक साथ रहना सम्भव नहीं।

दोनोंकी प्रतीति क्रमिक होती है या अक्रमिक ! क्रमिक प्रतीति सम्भव नहीं; क्योंकि अतीत अनागत अनन्त हैं। अतः उनका ज्ञान अनन्त कालमे भी परिसमाप्त नहीं होता, फिर सर्वज्ञता किस प्रकार सम्भव है[8]?

उपर्युक्त तर्कोका उत्तर देते हुए जैनदार्शनिकोंने लिखा है कि अभावकी प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ प्रमाण पञ्चकको निवृत्ति पायी जाती है। 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्' द्वारा वस्तुके सद्भावको ग्रहण कर और प्रतियोगीका स्मरण होने पर ही अभावकी प्रवृत्ति देखी जाती है। जब सर्वज्ञका सद्भाव ही गृहीत नहीं तो उसका स्मरण

---

१. 'हिरण्यगर्भप्रकृत्य स सर्ववित् स लोकवित्' यह वचन अर्थवाद है—न्यायसूत्र २।१।६४। न्यायभाष्य पृष्ठ १५६।

२. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ९५।

३. वही पृष्ठ ९५-९६।

४. तत्त्वसंग्रह—कारिका ३२१८।

५. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २५० तथा तत्त्वसंग्रह कारिका ३२२३-२८।

६ न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ८८।

७. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २५० तथा स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ ३८८।

८. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृष्ठ ८९।
तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २५०-५१।

कैसे आ सकेगा ? क्योंकि अभाव प्रमाणके लिए यह एक आवश्यक शर्त है कि प्रतियोगीका स्मरण होना चाहिये। सर्वज्ञ अदृष्ट प्रतियोगी है, तब उसका अभाव कैसे सम्भव है ? दूसरी बात यह भी है कि अभाव दो प्रकारका होता है—प्रसज्यप्रतिषेध और पर्युदास। प्रथममे आत्यन्तिक निषेध है और द्वितीयमे सापेक्षिक। अब यदि प्रसज्यप्रतिषेध अभावसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहे तो उसमे अत्यन्ताभाव अवस्तुरूप होनेसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही हो सकता। यदि पर्युदास अभावसे सर्वज्ञका निषेध करे तो उससे तो उसका सद्भाव ही सिद्ध होगा और उस पक्षमे भी दो हेतु हो सकते है—प्रमाण पञ्चक रहित और अन्य। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो उसमे भी दो विकल्प उत्पन्न होते है—सर्वथा प्रमाण पञ्चक रहित और निषेध विषय सम्बन्धी प्रमाण पञ्चक रहित। प्रथम विकल्पका पर्यायान्तर तो प्रमेय सिद्धि का अभाव है क्योंकि प्रमाणके अभावमे प्रमेयकी सिद्धि नही हो सकती। यदि इसके प्रयोग द्वारा सर्वज्ञाभाव सिद्ध किया जायगा तो प्रमाणकी कल्पना व्यर्थ हो जायगी। द्वितीय पक्षमे भी अनेक दोष आते है। अतः मीमासक द्वारा कल्पित अभाव प्रमाण सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमे पूर्णतया असमर्थ है[1]।

## सर्वज्ञत्व विचार पर आरोप एवं उनकी समीक्षा

सर्वज्ञता सम्बन्धी ज्ञान-युद्ध वस्तुतः बौद्धिक प्रखरताका एक अद्भुत अध्याय है। भारतीय चिन्तकोंने ज्ञान विकासकी सीमाओपर अत्यधिक प्रामाणिक रूपमे विचार किया है। मीमासक, जैन एवं बौद्ध दार्शनिकोंने इस चर्चामें विशेष रूपसे योगदान किया है। पर भारतके दर्शनक्षेत्रको गौरवास्पद है कि अतीन्द्रिय ज्ञान विकासकी सीमाएँ चरमकोटिके रूपमे स्वीकार की गयी है। अनन्तज्ञानत्वको कल्पना ही सर्वज्ञसिद्धिका बीज है। सर्वज्ञताके सम्बन्धमे जो आरोप प्रस्तुत किये गये है अथवा किये जाते है, उनपर विचार करना परमावश्यक है। हम यहाँ संक्षेपमे मीमासा प्रस्तुत करते है।

## (क) सर्वज्ञताकी प्रकृतिपर आरोप

(अ) यदि सर्वज्ञताका अर्थ सभी वस्तुओंका क्रमिक ज्ञान है तो यह असम्भव है क्योंकि संसारकी समस्त वस्तुओंका कालकी अपेक्षा कभी लोप नही हो सकता, अत. ज्ञान सर्वदा अपूर्ण ही बना रहेगा[2]।

उपर्युक्त तर्कका उत्तर जैनदार्शनिकोंका बहुत ही समीचीन है, क्योंकि वे केवलज्ञानको क्रमिक नही मानते, युगपद् मानते है। युगपद् ज्ञानमे अपूर्णताका प्रश्न ही नहीं आता।

(आ) यदि सर्वज्ञका ज्ञान युगपत् होता है तो निम्नलिखित कठिनाइयाँ उपस्थित होती है—

( १ ) युगपत् ज्ञान होनेसे सर्वज्ञ विरोधी वस्तुओंकी अनुभूति एक ही ज्ञानानुभूतिसे करेंगे तो असंगति दोष आयेगा[3]।

दार्शनिकोका अभिमत है कि हम व्यवहारमे अनेक विरोधी वस्तुओंका एक साथ साक्षात्कार करते है। एक ही निविड अन्धकारमे प्रकाशकी किरणें देखते है, काले बादलोके बीच विद्युत देखते है; अतः विरोधी वस्तुओंको एक साथ जाननेमे असंगति दोष नही आ सकता। जहाँ ज्ञान सावरण होता है, वहाँ पर भी विरोधी वस्तुओंकी अनुभूतियाँ एक साथ देखी जाती है, फिर निरावरण ज्ञानमे विरोधी वस्तुओंकी अनुभूतियाँ एक साथ माननेमे किसी प्रकारकी बाधा नही आ सकती है।

( २ ) युगपद् ज्ञान सम्बन्धी दूसरी आपत्ति यह है कि यदि सर्वज्ञ केवल ज्ञान द्वारा एक क्षणमे ही समस्त भूत भविष्यत्को जान लेता है तो अन्य समयमे उसे अन्य किसी वस्तुका ज्ञान शेष ही नही रहता है। अतएव वह अचेतन जैसा हो जायेगा। चूंकि अब उसे कुछ जानना ही शेष नहीं है।

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि सर्वज्ञका ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। उसमें जानने रूप क्रिया नहीं होती, बल्कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुओंके प्रतिबिम्ब स्वयं पड़ते हैं। जिस प्रकार दर्पणमे दर्पणके समक्ष आनेवाली वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती है, उसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण सर्वज्ञके ज्ञानमें भी पड़ते रहते है। ज्ञानका कार्य जानना है। पर जो ज्ञान पूर्णतया निरावरण हो चुका है, उसमे जाननेकी क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, पदार्थ ही स्वयं झलकते रहते है। अतएव त्रैकालज्ञ होने पर भी सर्वज्ञके ज्ञानमे जडत्व नही आता।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र भाग १ पृ० ९६-९७ तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० २६७-६८।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० २५४।

३. वही पृ० २५४।

३. सर्वज्ञ रागद्वेषादिकका साक्षात्कार करता है अतएव वह स्वयं ही रागद्वेषादिकसे पूर्ण हो जायगा। दुःखी व्यक्तिको देख उसके मनमें करुणा जागृत होगी और दुराचारियोंके राचारको देखकर क्रोध। इस प्रकार उसकी वीतरागता स्थिर नहीं रह सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि पदार्थोंके साथ आसक्ति रहनेसे अन्य अनेक दोष भी उत्पन्न होंगे।

उक्त आरोप भी निराधार है। सर्वज्ञका ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियसे जब सम्बन्ध ही नहीं तो इन्द्रियासक्तिका प्रश्न ही क्या? सर्वज्ञ संसारके समस्त बाह्य कार्योंसे मुक्त है। उसे जीवनमुक्तकी संज्ञा दी गयी है। इस स्थितिमें उसके ज्ञानपर पड़ने वाले वस्तुओंके प्रतिबिम्ब उसके मनमें विकार कैसे उत्पन्न कर सकेंगे। वास्तवमें सर्वज्ञ त्रिकालवर्ती पदार्थोंका साक्षात् ज्ञाता है, दृष्टा है पर आसक्त नहीं। जिस वीतरागताने उसके कर्मावरणको विगलित कर ज्ञानावरोधक आवरणको दूर किया है, वह वीतरागता मोम जैसी कोमल नहीं है जो बाह्य वस्तुओंके संसर्गसे पिघल जाय। तथ्य यह है कि सर्वज्ञका ज्ञान हमारे ज्ञानसे बहुत विलक्षण है, हम उसके खण्डनमें अपनी ज्ञानगम्य उक्तियोंको लगाते है, यही भूल है।

४. यदि सर्वज्ञके ज्ञानमें अनादि अनन्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तो उनकी अनादिता और अनन्तता नष्ट हो जायेगी।

इस तर्कके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जो पदार्थ जैसे है वे वैसे ही ज्ञानमें प्रतिभासित होते है। किसी-के स्वभावको अन्यथा नहीं किया जा सकता और न अन्यरूपमें बदला जा सकता है। सर्वज्ञका ज्ञान निरावरण अतीन्द्रिय है अतः उसमें अतीत अनागत और वर्तमान पदार्थ अपने-अपने रूपमें प्रतिभासित होते है। वस्तु स्वभाव जैसा है, उसे उस रूपमें स्वीकार करना ज्ञानके सत्यको स्वीकार करना है। केवलज्ञानमें ऐसी क्षमता है जिससे वह अतीत अनागत और वर्तमान कालीन पर्यायोंको अपने-अपने स्वभावरूपमें ग्रहण करता है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है। द्रव्यमें निवास करने वाले गुणोंमें विकार उत्पन्न होनेसे पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें, प्रत्येक समयमें कोई न कोई पर्याय अवश्य उत्पन्न होती है और केवलज्ञानमें वे समस्त पर्याय स्वयमेव प्रतिभासित होती है, न इसके लिए सर्वज्ञको प्रयास करना है और न द्रव्योंको पर्यायोंको। वस्तु स्वभावको समझ लेनेपर उक्त समस्याओंका समाधान स्वयमेव हो जाता है[1]।

## (ख) वक्तृत्व सम्बन्धी आरोप

सर्वज्ञताके साथ वक्तृत्वका विरोध है। जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं, यथा रथ्या पुरुष।

उक्त तर्क भी निराधार है। वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वमें कोई विरोध नहीं है। देखा जाता है कि ज्ञानवृद्धिके साथ-साथ वक्तृत्वमें प्रकर्षता उत्पन्न होती है। यदि यह कहा जाय कि वक्तृत्वका सम्बन्ध विवक्षामें है और जहाँ विवक्षा है, वहाँ सर्वज्ञता नहीं। यह तर्क भी असमीचीन है। क्योंकि वक्तृत्व और विवक्षामें अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। यतः सुषुप्त या मूर्छित व्यक्तिमें विवक्षाका अभाव होनेपर भी वचनप्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। और इसके विपरीत मूर्ख एवं मन्द-बुद्धिमें विवक्षाधिक्य रहने पर भी वक्तृता नहीं पायी जाती[2]।

उक्त तर्कका उत्तर संक्षेपमें यही है कि वीतराग वक्ताके साथ पूर्वोक्त दोष घटित नहीं होता। सर्वज्ञ केवल ज्ञानबलसे पदार्थोंका ज्ञाता नहीं, उसकी सर्वज्ञता ही वीतरागतासे उत्पन्न हुई है। संयम एवं साधनासे आत्मिक विकास-कर क्रमशः रागद्वेषोंको क्षीण किया है, तदनन्तर घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे केवलज्ञान उपलब्ध हुआ है अतः इस ज्ञानके साथ विवक्षाका कोई सम्बन्ध नहीं।

## (ग) अन्य यौक्तिक आरोप

१. हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं। अतः अनुपलम्भ प्रमाण द्वारा उसका अभाव मान लेना चाहिये। इस युक्तिका एक सहज उत्तर यह है कि जब सब प्रमाणोंके आधार पर सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध हो जाती है तो अनुपलम्भ किसको माना जायगा—अपनेको या सबोंको। यदि प्रश्नकर्ता या संशयकर्ताको यह अनुपलम्भ है तो कोई बात

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये—
प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके उक्त प्रकरण।

२. मीमांसाश्लोकवार्तिक श्लोक १५८–६१, स्याद्वादसिद्धि पृष्ठ २६ तथा जैनदर्शन पृष्ठ ३०६—१०।

नहीं, संसारमें उनके द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थोंका अस्तित्व रह सकता है। पर यदि संशयकर्त्ता यह कहता है कि सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है तो सबके ज्ञानोंको जाननेवाला स्वयं ही सर्वज्ञ हो गया[1]।

२. यह कहा जाता है कि समस्त संसारमें हम एक भी सर्वज्ञ नहीं देखते, अतः हम कैसे सर्वज्ञको स्वीकार करें। यह प्रश्न भी हास्यास्पद है। क्योंकि हमारा अज्ञान प्रमाण नहीं बन सकता। यह तो वैसा ही हुआ जैसे कोई कहे कि गाँधीजी अहिंसाका मर्म नहीं जानते, क्योंकि अभी हमें उन जैसा व्यक्ति दिखलाई नहीं पड़ता है[2]।

३. आगम वर्णित साधनोंसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है और फिर सर्वज्ञके द्वारा आगमका प्ररूपण होता है अतः दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष होनेसे सर्वज्ञ असिद्ध है।

उपर्युक्त कथनपर विचार करनेसे ज्ञात होगा कि सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका कारण पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थका आचरण। तथा पूर्व सर्वज्ञका ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे। इस प्रकार सर्वज्ञ और आगमका सम्बन्ध बीजाङ्कुर न्यायके समान है। जहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति होती है वहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। सर्वज्ञ और आगमकी अनादि सन्तति ही उक्त दोषका परिहार है।

४. यदि सर्वज्ञको धर्मी बनाकर भावात्मक हेतु दिया जाय तो असिद्ध दोष आयेगा और अभावात्मक हेतु दिया जाय तो विरुद्ध। और दोनोंको सर्वज्ञका धर्म माना जाय तो अनैकान्तिक।

इस आशंकाका समाधान जैन न्यायग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे किया गया है। वहाँ बताया है कि सर्वज्ञको नहीं 'कश्चिदात्मा'को धर्मी बनाते हैं, अतः असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक दोष नहीं आते। हम कह सकते हैं—"कोई आत्मा सर्वज्ञ होगा, क्योंकि पूर्ण ज्ञान आत्माका स्वभाव है और उसके प्रतिबन्धक कर्मादिकका क्षय होता है[3]।"

५. सर्वज्ञके साधक एवं बाधक दोनों प्रमाण नहीं मिलते। अतः संशय स्वाभाविक है। यह तर्क भी प्रमाण संगत नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका अभाव त्रिकाल एवं त्रिलोकमें कौन बता सकता है। यह अभाव तो जो स्वयं सर्वज्ञ होगा, वही कह सकेगा। अतः जो यह कहता है कि कहीं और कभी कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, उसका अर्थ है कि कमसे कम वह व्यक्ति तो अवश्य ही सर्वज्ञ है।

## निष्कर्ष

सर्वज्ञसिद्धिके सन्दर्भमें प्रमुख रूपसे ५ तर्क दिये जाते हैं—

१. आत्माका स्वभाव अनन्तज्ञानमय है। ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मोंके नष्ट होते ही ज्ञानस्वभावता उत्पन्न होती है। निरावरण ज्ञानके होते ही त्रिकालवर्त्ती पदार्थोंका स्वाभाविक प्रतिबिम्ब पड़ता है।

२. सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं जो पदार्थ अनुमानके द्वारा जाने जा सकते हैं वे किसीके प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं। जैसे अग्नि आदि पदार्थ।

यहाँ समन्तभद्र द्वारा दिया गया अनुमेयत्व हेतु मीमांसककी दृष्टिसे सदोष है क्योंकि मीमांसक समस्त पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे नहीं मानता। उसके यहाँ आगमसे समस्त पदार्थोंकी जानकारी सम्भव बनायी गयी है। सर्वज्ञविरोधी मतोंमें दो ही मत प्रधान हैं—मीमांसक और चार्वाक इन दोनों मतोंकी दृष्टिसे अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है। चार्वाक भी अनुमानको प्रमाण नहीं मानता और अनुमान प्रमाणसे सिद्ध वस्तु उसकेलिए अमान्य है। अतः समन्तभद्रने सर्वप्रथम तर्कद्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि तो अवश्य की, पर विपक्षियों द्वारा उनका अनुमेयत्व हेतु अमान्य ही रहा। जैनन्याय आकाशके चन्द्रमा अकलङ्कने इस कमीका अनुभव किया और उन्होंने अनुमेयत्व हेतुके स्थानपर प्रमेयत्व हेतुका प्रयोग किया। यह हेतु वादी प्रतिवादी दोनों द्वारा मान्य है। मीमांसक और चार्वाक दोनों ही प्रमेय स्वीकार करते हैं। भले ही उनकी मान्यता प्रमेयके सम्बन्धमें जैन नैयायिकोंसे भिन्न हो। इस प्रकार सर्वज्ञके सम्बन्धमें दार्शनिकोंने पर्याप्त विचार किया है।

३. 'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्'। अकलङ्कने इस हेतुका प्रयोगकर सर्वज्ञकी सत्तामें बाधा उत्पन्न करनेवाले प्रमाणोंको असम्भव कहा है। इस हेतुको लक्ष्यकर आचार्य विद्यानन्दने लिखा है कि ६ प्रमाणोंसे यदि सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाय तो उसे कौन रोक सकता है। हेमचन्द्रने भी 'बाधकाभावाच्च' कहकर उसका समर्थन किया है।

---

१. स्याद्वादसिद्धि—पृष्ठ ३० तथा अर्हत् सर्वज्ञसिद्धि श्लोक १६-१८।

२. स्याद्वादसिद्धि—पृष्ठ २९।

३. विशेष जाननेके लिए —जैनदर्शन पृष्ठ ३१३-१४ तथा अर्हत् सर्वज्ञसिद्धिका उक्त प्रकरण।

४. ज्ञानमें तारतम्यका रहना ही सर्वज्ञके अस्तित्वका बीज है। ज्ञानका मात्राभेद ही उसकी पूर्णताकी ओर संकेत करता है। कुछ तार्किक ज्ञानातिशयमें न्यूनाधिकता देखकर भी उसकी पूर्णतामें विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं कि नेत्रेन्द्रियमें कितना ही प्रकर्ष क्यों न हो, वह रूपको ही जान सकती है, रस और शब्दको नहीं। ज्ञानका विकास एक निश्चित अवस्थामें ही हो सकता है। अतः सर्वज्ञ जैसा पूर्णज्ञान किसीको नहीं हो सकता।

जैन तार्किकोंने सर्वज्ञके ज्ञानको इन्द्रियज्ञानकी प्रकर्षताका फल नहीं माना है। बल्कि उसे अतीन्द्रिय ज्ञान माना है। अतीन्द्रिय ज्ञानमें उक्त तर्क लागू नहीं हो सकते हैं।

५. ज्ञानकी सर्वसंग्राहकतामें सर्वज्ञताकी सम्भावना—ज्ञानके अन्तर्गत सब कुछ है क्योंकि उसकी प्रकृति सर्व-संग्राहक है। वास्तवमें ज्ञानकी सीमा हमारी अपनी सीमा है। इसलिए तो उसका विकास क्रमशः होता ही रहता है। मानवीय ज्ञानसे पर पदार्थ अज्ञात रह सकते हैं पर वे अज्ञेय नहीं क्योंकि अज्ञातको भी अज्ञातरूपसे जानना ज्ञान ही तो है। इसीलिए संशयवादके लिए कोई गुञ्जाइश नहीं। इन्द्रियप्रत्यक्षकी सीमा ज्ञानकी सीमा नहीं है, इसीलिए जिसका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, उसका ज्ञान होगा ही नहीं, यह भ्रान्त धारणा है। ज्ञानके विषयमें कोई भी सीमा बाँधना ज्ञानके उच्चतर गवाक्षों—कल्पना, चिन्तन, कर्तव्यानुभूति, बौद्धिक एवं सौन्दर्यानुभूति आदिकी उपेक्षा कर अपनेको झुठलाना है।

ऐसे ही व्यक्तियोंको सर्वज्ञताका विचार अन्धविश्वासपूर्ण मालूम पड़ेगा जिनमें ज्ञानकी स्वनिर्मित संकुचित एवं परम्परासे प्रतिष्ठित सीमाओंके उल्लंघनका बौद्धिक साहस नहीं है। जिन्हें ज्ञानकी असीम शक्तिका विश्वास है और जो अतीन्द्रिय ज्ञानकी मौलिकताओंसे सुपरिचित है, उनकी दृष्टिमें सर्वज्ञका ज्ञान कपोलकल्पित नहीं।

तथ्य यही है कि अज्ञात सभीके लिए अज्ञेय नहीं होता। जबतक हम स्वयं अज्ञानके अनन्त अन्धकारमें अपनी व्यवस्थाओंकी कड़ियोंमें आबद्ध रहनेका दुर्भाग्यपूर्ण निश्चय करते रहते हैं, तभी तक हमारा ज्ञान बौना रहता है। ज्यों-ज्यों मानव-ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करता जायगा, अज्ञान एवं अज्ञानके आवरण भी स्वयं दूर होते जायेंगे। आजके चिन्तकोंके लिए उक्त ज्ञान-मीमांसा उपादेय होगी और सामने नये तथ्य प्रस्तुत होंगे।
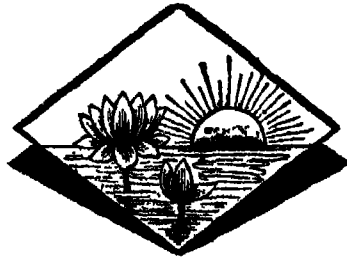
# सर्वज्ञता

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०, बौद्ध-दर्शनाचार्य,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

●

## निर्वचन और व्युत्पत्ति

'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वज्ञ शब्दका अर्थ है सबको जाननेवाला। सर्वज्ञ शब्दमें जो सर्व शब्द है उसका तात्पर्य त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंसे है। जो त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंको युगपत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ कहलाता है। यहाँ सर्वज्ञ शब्दका यही विशेष अर्थ विवक्षित है, सामान्य अर्थ नहीं। सामान्य अर्थमें सर्वज्ञ शब्दका प्रयोग हम कई प्रकारसे कर सकते हैं। कोई व्यक्ति कई विषयोंको जानता है तो हम उसके विषयमें कहते हैं कि वह तो सब विषयोंका ज्ञाता है। जो व्यक्ति सब शब्दोंका ज्ञान रखता है उसे भी सामान्यसे सर्वज्ञ कहा जासकता है—

तत्र यः सर्वशब्दज्ञः स सर्वज्ञोऽस्तु नामतः।

—तत्त्वसं० ३१३०

अथवा भावाभावस्वरूप जगत्को सर्व शब्दसे कहा जासकता है, इस दृष्टिसे भावाभावरूप जगत्को संक्षेपसे जाननेवाला भी सर्वज्ञ माना जासकता है—

भावाभावस्वरूपं वा जगत् सर्वं यदोच्यते।
तत्संक्षेपेण सर्वज्ञः पुरुषः केन वार्यते॥

—तत्त्वसं० ३१३२

अथवा जिन-जिन पुरुषोंने जितने-जितने पदार्थ बतलाए हैं, जैसे कि सांख्योंने २५, नैयायिकोंने १६ और वैशेषिकोंने ७ पदार्थ माने हैं, उन पदार्थोंको सर्व मानकर सामान्यसे उन पदार्थोंको जाननेवाला भी सर्वज्ञ माना जासकता है—

पदार्था यैश्च यावन्तः सर्वत्वेनावधारिताः।
तज्ज्ञत्वेनापि सर्वज्ञः॥

—तत्त्व सं० ३१३४

इस प्रकार हम सर्वज्ञ शब्दका सामान्य अर्थ भी कर सकते हैं। लेकिन यहाँ सर्वज्ञ शब्दका उक्त सामान्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

## दर्शनोंका वर्गीकरण

सामान्यरूपमे भारतीय दर्शनोंका विभाग वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शनोंमें किया जाता है। वेदकी परम्परामें विश्वास रखनेवाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छह दर्शन वैदिक दर्शन हैं। तथा वेदको प्रमाण न माननेवाले चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीन दर्शन अवैदिक दर्शन हैं। वैदिक दर्शनोंमें केवल मीमांसा ही ऐसा दर्शन है जो सर्वज्ञको नहीं मानता है। शेष पाँचों वैदिकदर्शन सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। अवैदिक दर्शनोंमें चार्वाक सर्वज्ञको नहीं मानता है, शेष जैन और बौद्ध दर्शन सर्वज्ञमें विश्वास रखते हैं। इस प्रकार न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त, बौद्ध और जैन ये सात दर्शन सर्वज्ञवादी दर्शन हैं, तथा चार्वाक और मीमांसा ये दो दर्शन सर्वज्ञाभाव-वादी दर्शन हैं।

## सर्वज्ञविषयक जिज्ञासा और इतिवृत्त

मनुष्य विचारशील प्राणी है। इसी विचारशीलताके कारण प्रत्येक पदार्थके विषयमें जिज्ञासाका होना स्वाभाविक है। आत्माका स्वरूप क्या है, परलोक है या नहीं, कोई सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नोंका उचित समाधान वह खोजना चाहता है। जो पदार्थ हमारे दृष्टिगोचर होते हैं उनके विषयमें कोई शंका या विवादका प्रश्न नहीं उठता है। जो पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हैं उन्हींको लेकर विवाद होता है। यही कारण है कि आत्मा, परलोक, ईश्वर, मोक्ष आदिके विषयमें प्राचीन कालसे विवाद चला आता है। सर्वज्ञ भी उन्हीं अतीन्द्रिय पदार्थोंमेंसे एक है। अतः सर्वज्ञके विषयमें भी विवाद होना स्वाभाविक है। इस विवादका समाधान भी सर्वसम्मत नहीं हो सकता है। क्योंकि दर्शनशास्त्रमें अपनी-अपनी दृष्टि, रुचि या भावनाके आधार पर ही किसी पदार्थका समर्थन या निषेध किया गया है।

प्राचीनकालमें सर्वज्ञताका सम्बन्ध मोक्षके साथ था। प्रश्न यह था कि मोक्षके मार्गका कोई साक्षात्कार कर सकता है या नहीं ? मोक्षमार्गको धर्म शब्दसे भी कहते थे। अतः विवादका विषय यह था कि धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं ? कुछ लोगोंका कहना था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको कोई भी पुरुष प्रत्यक्षसे नहीं जान सकता है। इस कारण उन्होंने सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध किया। दूसरे लोगोंका कहना था कि धर्मका साक्षात्कार सम्भव है। धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष होता है। अतः उन्होंने धर्मज्ञताका समर्थन किया। इस प्रकार पहले सर्वज्ञताको धर्मज्ञताके अर्थमें ही लिया जाता था।

चार्वाक और मीमांसा सर्वज्ञाभाववादी दर्शन है। चार्वाक शरीरसे अतिरिक्त आत्माको नहीं मानते हैं और प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी नहीं मानते हैं। अतः उनके यहाँ सर्वज्ञके सद्भाव या असद्भावका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। मीमांसा दर्शन स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता स्वीकार करता है। अतः यहाँ सर्वज्ञके होने या न होनेका प्रश्न उपस्थित होता है।

## मीमांसादर्शन और सर्वज्ञता

मीमांसकोंने मुख्यरूपसे पुरुषमें धर्मज्ञताका निषेध किया है, सर्वज्ञताका नहीं। उनका कहना है कि धर्म और अधर्मका ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है ( धर्मे चोदनैव प्रमाणम् ) धर्म और अधर्मके अतिरिक्त शेष समस्त पदार्थोंको यदि कोई जानता है तो इसमें मीमांसकोंको कोई आपत्ति नहीं है।

**धर्मज्ञत्वनिषेधश्चेत् केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानानः पुरुषः केन वार्यते ॥** —तत्त्वसं ३१२८

मीमांसकोंने वेद प्रतिपादित अर्थको धर्म ( चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ) बतलाकर कहा है कि धर्म जैसे अतिसूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान वेदके द्वारा ही सम्भव है। इनमें पुरुषका ज्ञान साक्षात् प्रवृत्ति नहीं कर सकता। शबर स्वामीने शाबर भाष्यमें लिखा है—वेद भूत, वर्तमान और भावी तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है। चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्। ( शाबर भाष्य १-१-२ )। पुरुष राग, द्वेष और अज्ञानसे दूषित होते हैं। आत्मामें पूर्णज्ञान और वीतरागताका विकास सम्भव नहीं है जिससे वह अतीन्द्रियदर्शी और प्रामाणिक हो सके। मीमांसकों द्वारा पुरुषको धर्मज्ञ न माननेका मुख्य कारण वेदको अपौरुषेय मानना है और वेदको अपौरुषेय माननेका कारण पुरुषका रागादि दोषोंसे दूषित होना है। यदि वेदको पौरुषेय माना जाय तो उसमें प्रामाणिकता नहीं आसकती; क्योंकि पुरुषके दोष पुरुषकृत वेदमें भी आसकते हैं।

कुमारिलने कहा है—शब्दमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन है। किन्तु शब्दमें निर्दोषता दो प्रकारसे आती है—एक तो गुणवान् वक्ता होनेसे और दूसरे वक्ताके अभावसे। क्योंकि वक्ताके अभावमें आश्रयके विना दोष सम्भव नहीं है।

**शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम् ।**
**तदभावः क्वचित्तावत् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥**
**तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् ।**
**यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषाः निराश्रयाः ॥**

—मीमांसाश्लोक० चोदना, ६२, ६३

इस प्रकार शब्दकी प्रमाणताका आधार निर्दोषता है। चूंकि कोई निर्दोष और पूर्णज्ञानी वक्ता सम्भव नहीं है अतः वेदमें जो निर्दोषता और प्रामाणिकता है वह अपौरुषेय होनेके कारण ही है। निर्दोषता और ज्ञानका पूर्ण विकास न माननेका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि विकासकी भी एक सीमा होती है, विकास सीमित ही हो सकता है, असीमित नहीं। कोई व्यक्ति आकाशमें उछलनेके अभ्यास द्वारा दश या बीस हाथ ही तो उछल सकता है। ऐसा नहीं है कि वह उछल कर एक योजन ऊँचा चला जावे।

दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥

जो पुरुष प्रज्ञा, मेधा आदिके द्वारा सातिशय देखे जाते हैं वे कम या अधिक अतिशयके द्वारा ही सातिशय हो सकते हैं, न कि अतीन्द्रिय अर्थके दर्शनसे। यदि कोई बुद्धिमान् पुरुष सूक्ष्म अर्थोंको देखनेमें समर्थ होता है तो वह अपने स्वभावका उल्लंघन न करके ही वैसा हो सकता है—

येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधाबलैर्नराः।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन्।
स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान् नरान्॥

इस प्रकार कुमारिलने धर्मज्ञका निषेध करके सर्वज्ञका भी निषेध किया है। क्योंकि उसे भय था कि यदि पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध हो गई तो धर्मके विषयमें वेदका ही जो एकमात्र अधिकार है उसका आधार ही समाप्त हो जायगा।

मीमांसकोंने वेदको त्रिकालदर्शी बतलाकर सर्वज्ञका अभाव सिद्ध किया है। इसके विपरीत बौद्ध, जैन आदि दार्शनिकोंने पुरुष विशेषको सर्वज्ञ सिद्ध किया है। प्राचीन बौद्ध दार्शनिकोंने बुद्धको धर्मज्ञ ही माना है किन्तु उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकोंने बुद्धको धर्मज्ञके साथ सर्वज्ञ भी बतलाया है।

## सर्वज्ञता और बौद्धदर्शन

बौद्धधर्मके प्राचीन ग्रन्थोंसे ऐसा विदित नहीं होता है कि बुद्ध सर्वज्ञ थे। बुद्धके समयमें न तो स्वयं बुद्धने अपनेको सर्वज्ञ कहा है और न उनके अनुयायियोंने उनके लिए सर्वज्ञ शब्दका प्रयोग किया है। व्यावहारिक होनेके कारण बुद्धका प्रधान लक्ष्य धर्मका उपदेश देना था, शुष्क तर्कके द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वोंकी व्याख्या करना नहीं। इसीलिए यह जगत् नित्य है या अनित्य? जीव तथा शरीर एक है या भिन्न? इत्यादि प्रश्नोंको वे अव्याकृत (अनिर्वचनीय) कह कर टाल देते थे। इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्ध धर्मज्ञ थे, सर्वज्ञ नहीं। उन्होंने दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका साक्षात्कार किया था और उनका उपदेश दिया था। इसीलिए जब कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही एकमात्र अधिकार सिद्ध किया तो धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्मज्ञताका साक्षात्कार मानकरके प्रत्यक्षसिद्ध धर्मज्ञताका समर्थन किया है।

धर्मके उपदेष्टाको ज्ञानवान् होना आवश्यक है, क्योंकि अज्ञपुरुषके द्वारा धर्मका उपदेश माननेमें विसंवाद की पूरी-पूरी संभावना रहेगी। और ऐसी स्थितिमें श्रोताजन उसकी बातपर कैसे विश्वास करेंगे और कैसे उसका पालन करेंगे। इसलिए उपदेष्टामें धर्मसे सम्बन्धित आवश्यक बातोंके ज्ञानका हमें विचार करना चाहिए, उसमें सारे कीड़े मकोड़ों की संख्याके ज्ञानका हमारे लिए क्या उपयोग है?

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलंभनशंकिभिः॥
तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥

—प्रमाणवार्तिक १।३१,३२

जो उपाय सहित हेय और उपादेय तत्त्वका ज्ञाता है वही हमें प्रमाणरूपसे इष्ट है, न कि जो सब पदार्थोंका ज्ञाता है वह प्रमाण है। बुद्धने हेय तत्त्व दुःख, उसका उपाय समुदय (दुःखका कारण), उपादेय तत्त्व निरोध (मोक्ष) और उसका

उपाय मार्ग ( अष्टांग मार्ग ) इन चार आर्य सत्योंका साक्षात्कार कर लिया था। इसीलिए बुद्ध और बुद्धके वचन प्रमाण हैं। मुख्य बात इष्ट तत्त्वको जाननेकी है। कोई व्यक्ति दूरकी वस्तुको जाने या न जाने, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। दूरकी वस्तु न जाननेसे उसकी प्रमाणतामें कोई बाधा नहीं आती है। यदि दूरदर्शीको प्रमाण माना जाय तो गृद्धोंकी भी उपासना करना चाहिए।

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे॥

—प्रमाणवार्तिक १।३३, ३४

इससे यही सिद्ध होता है कि धर्मकीर्तिने बुद्धको धर्मज्ञ ही माना है, सर्वज्ञ नहीं। किन्तु धर्मकीर्तिके प्रमाण-वार्तिकके भाष्यकार प्रज्ञाकरगुप्तने बुद्धको धर्मज्ञके साथ सर्वज्ञ भी सिद्ध किया है और बतलाया है कि बुद्धकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं। आत्माके वीतराग हो जानेपर उसमें सब पदार्थोंका ज्ञान संभव है। वीतरागताकी तरह सर्वज्ञताके लिए प्रयत्न करनेपर सब वीतरागोंमें सर्वज्ञता भी हो सकती है। जो वीतराग हो चुके हैं वे थोड़ेसे प्रयत्नसे ही सर्वज्ञ बन सकते हैं।

ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्॥
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते।
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात्॥
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञस्य सिद्धिरवारिता॥

—प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३२९

आचार्य शान्तरक्षित भी धर्मज्ञताके साथ सर्वज्ञताका समर्थन करते हैं और सर्वज्ञताको सभी वीतरागोंमें मानते हैं। उन्होंने बतलाया है कि नैरात्म्यका साक्षात्कार कर लेनेपर नैरात्म्यके विरोधी दोषोंकी स्थिति नहीं रह सकती है, जैसे कि प्रदीपके सद्भावमें तिमिरकी स्थिति नहीं रहती है। अतः नैरात्म्यके साक्षात्कारद्वारा दोषोंका अभाव हो जानेपर सर्व आवरणोंके दूर हो जानेसे सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति होती है। वीतरागमें आवरणोंके नाश हो जानेसे इस प्रकारकी शक्ति रहती है कि वह जब चाहे तब किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है।

प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्।
तद्विरुद्धतया दीप्ते प्रदीपे तिमिरं यथा॥ ३३३८॥
साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः।
सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः॥ ३३३९॥
यद् यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥ ३६२८॥

—तत्त्वसंग्रह

शान्तरक्षितने यह भी बतलाया है कि सर्वज्ञके सद्भावका बाधक कोई भी प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उसके साधक प्रमाण विद्यमान हैं। ऐसी स्थितिमें मूर्ख लोग सर्वज्ञके विषयमें क्यों विवाद करते हैं—

तस्मात् सर्वज्ञसद्भावबाधकं नास्ति किंचन॥ ३३०७॥
ततश्च बाधकाभावे साधने सति च स्फुटे।
कस्माद्विप्रतिपद्यन्ते सर्वज्ञे जडबुद्धयः॥ ३३१०॥

—तत्त्वसंग्रह

न्याय और वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी दर्शन हैं। वे ईश्वरको संसारकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण मानते हैं। ईश्वर संसारकी रचनामें निमित्त कारण तभी हो सकता है जब उसे समस्त कार्योंके समस्त कारकोंका ज्ञान हो। उनका

ईश्वर अनादि और अनन्त है। इसलिए उसमें सर्वज्ञता भी अनादि और अनन्त है। अन्य जीवात्मा भी योगाभ्यासके द्वारा सर्वज्ञ हो सकते हैं। सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है और योगदर्शन ईश्वरवादी है। किन्तु योगदर्शनका ईश्वर न्यायदर्शनके ईश्वरकी तरह सृष्टिका कर्ता नहीं है। क्योंकि वहाँ तो सारा कार्य प्रकृति ही करती है। सांख्य और योग-दर्शनमें भी सर्वज्ञका स्वीकार किया गया है। इनकी सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति है और प्रयत्नके द्वारा वह प्राप्त हो सकती है। वेदान्त दर्शनमें ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है जो सच्चिदानन्दमय और व्यापक है। ब्रह्मको चिदात्मक अर्थात् ज्ञानात्मक होनेके कारण उसमें अनन्त ज्ञानका सद्भाव सदा और सर्वत्र बना ही रहता है। अतः वेदान्तदर्शनमें भी अनन्तज्ञान स्वरूप (सर्वज्ञस्वरूप) ब्रह्मकी सिद्धि मानी गई है।

## जैन दर्शन और सर्वज्ञता

जैनदर्शनने प्रारम्भसे ही त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंके प्रत्यक्ष दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी है और सभी जैन दार्शनिकोंने एक स्वरमें उस सर्वज्ञताका समर्थन किया है। जैनदर्शनमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञतामें भेद बतलाकर उनमें मुख्य गौणभाव नहीं बतलाया गया है। यहाँ धर्मज्ञता तो पूर्ण सर्वज्ञताके अन्तर्गत स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ऋषभनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर सर्वज्ञ हुए हैं। महावीरके समयमें उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते आदि प्रत्येक अवस्थामें ज्ञानदर्शनवाला सर्वज्ञ कहते थे। पाली त्रिपिटकोंमें बुद्धके समकालीन पूर्णकाश्यप, अजितकेशकम्बल, निगंठनातपुत्र ( महावीर ) आदि धर्मप्रवर्तकोंकी चर्चा पाई जाती है। उस समय लोगोंमें यह चर्चा थी कि महावीर अपनेको सर्वज्ञ कहते हैं और उन्हें हर समय ज्ञानदर्शन विद्यमान रहता है। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है—**य सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद् यथा ऋषभवर्धमानादिरिति।**

—न्यायबिन्दु ३।१३१

इस प्रकार जैनदर्शनमें चौबीस तीर्थंकर तो सर्वज्ञ हुए ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य असंख्य आत्माओंने भी चार घातिया कर्मोंका नाश करके सर्वज्ञताको प्राप्त किया है। और भविष्यमें भी कोई भी भव्यजीव द्रव्य क्षेत्र, काल और भावके अनुसार कर्मनाश होनेपर सर्वज्ञ हो सकता है।

जितना जैन आगम है उसमें त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंके ज्ञाताके रूपमें सर्वज्ञका प्रतिपादन किया गया है। सबसे पहले हम षट्खण्डागममें इस बातको देखते हैं—**सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी**………**सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।**

—षट् खं० पयडि० सू० ७८

आचारांगसूत्रमें भी इसी प्रकार सर्वज्ञका प्रतिपादन किया गया है—**से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी**………**सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।**

—आचारांग २।३ पृ० ४२५

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें आगमिक शैलीमें आत्माकी सर्वज्ञताको सुन्दररूपसे सिद्ध किया है। उन्होंने सर्व प्रथम केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्योंको जाननेवाला बतलाकर यह भी कहा है कि जो अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जान सकता है और जो सबको नहीं जानता वह अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरहसे कैसे जान सकता है।—

> **जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।**
> **अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥**
> **जो ण विजाणादि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।**
> **णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥**
> **दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।**
> **णवि जाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥**

—प्रवचनसार १।४७–४९

आचार्य उमास्वामीने भी तत्त्वार्थसूत्रके प्रारंभमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।' इस मंगल श्लोकके द्वारा विश्व तत्त्वोंके ज्ञाताकी वन्दना करके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इस सूत्रके द्वारा केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको बतलाया है, जिसका सम्बन्ध सर्वज्ञतासे है। इस प्रकार जैनाचार्योंने आगममें सर्वज्ञके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है।

## आत्मज्ञ और सर्वज्ञ

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए सर्वज्ञ होनेकी क्या आवश्यकता है ? मोक्षका सम्बन्ध आत्मासे है। अतः मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए आत्मज्ञ होना ही पर्याप्त है। उपनिषदोंमें भी आत्मज्ञको ही सर्वज्ञ बतलाया गया है—'यः आत्मवित् स सर्ववित् ।' इस प्रश्नका समाधान निम्नप्रकारसे किया गया है—जो एकको जानता है वह सबको जानता है। 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।' आचा० सू० १।२३। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेके नाते उसका सम्बन्ध समस्त ज्ञेयोंसे है। अतः अनन्त द्रव्योंके ज्ञायकस्वरूप आत्माको जानना ही सबको जानना है। आत्मज्ञ होनेसे सर्वज्ञता स्वतः प्राप्त हो जाती है। उपनिषदोंमें भी आत्माके साक्षात्कार पर विशेष जोर दिया गया है। जगत्के समस्त प्रिय पदार्थोंसे सबसे प्रिय पदार्थ आत्मा है। संसारकी समस्त वस्तुएँ अपने लिए प्यारी नहीं होतीं किन्तु आत्माके लिए प्यारी होती हैं। पुत्र पुत्रके लिए प्यारा नहीं होता किन्तु आत्माके लिए प्यारा होता है। पत्नी पत्नीके लिए प्यारी नहीं होती किन्तु आत्माके लिए प्यारी होती है। इस प्रकार सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है। इसलिए आत्माका प्रत्यक्ष करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, तथा निदिध्यासन करना चाहिए। क्योंकि आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे तथा निदिध्यासनसे सब कुछ जाना जा सकता है। 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति'।

—बृह० उप० २।४।५

इससे यही प्रतीत होता है कि आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। आत्माका जानना मुख्य है और आत्माको जाननेसे सबका जानना स्वयं प्राप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारमें बतलाया है कि केवली भगवान् व्यवहारनयसे समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं परन्तु निश्चयनयसे वे आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं। यहाँ कोई भ्रमवश ऐसा न समझ ले कि कुन्दकुन्दने केवलज्ञानीको मात्र आत्मज्ञानी माना है। उनके मतसे आत्मज्ञ और सर्वज्ञ ये दोनों शब्द विभिन्न दृष्टिकोणोंसे एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। क्योंकि उन्होंने यह भी तो बतलाया है कि जो सबको नहीं जानता वह एकको नहीं जान सकता और जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जान सकता। बात यह है कि सर्वज्ञ शब्दमें सब पदार्थ मुख्य हो जाते हैं और आत्मा गौण हो जाती है। तथा आत्मज्ञ शब्दमें आत्मा मुख्य हो जाती है और शेष सब पदार्थ गौण हो जाते हैं। निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है और व्यवहारनयसे सर्वज्ञ है। आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है, सर्वज्ञतामेंसे आत्मज्ञता फलित नहीं होती; क्योंकि मोक्षार्थी आत्मज्ञताके लिए प्रयत्न करता है, सर्वज्ञताके लिए नहीं। अध्यात्म शास्त्रमें आत्मज्ञानके ऊपर ही विशेष बल दिया गया है और इसीलिए आत्मज्ञ होना मनुष्यका आध्यात्मिक और नैतिक कर्तव्य है। जो आत्मज्ञ है वह सर्वज्ञ तो है ही। इस प्रकार आत्मज्ञ और सर्वज्ञमें कोई विरोध नहीं है। इसीलिए कुन्दकुन्दने नयभेदसे केवलीको आत्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों कहा है।

## जैन न्याय और सर्वज्ञसिद्धि

जैन दर्शनके इतिहासमें यह प्रथम अवसर है जब आचार्य समन्तभद्रने आगमिक परम्परागत सर्वज्ञताको तार्किकता के आधारसे सिद्ध किया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य समन्तभद्रके समयमें चमर, छत्र, समवसरणादि बाह्य-विभूतियोंको और देवोंका आगमन, आकाशमें गमन आदि चमत्कारोंको ही तीर्थंकर होनेका मुख्य चिह्न माना जाने लगा था। परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्रको यह बात अच्छी नहीं लगी। क्योंकि उक्त अतिशयोंके प्रभावमें आप्तकी असली विशेषतायें जनताकी दृष्टिसे ओझल होती जाती थीं। इसलिए उन्होंने आप्तमीमांसामें बतलाया है :—

हे भगवन्, हम आपको इसलिए पूज्य नहीं मान सकते हैं कि आपके पास देव आते हैं, विमानादिकी सहायता के बिना आपका आकाशमें गमन होता है तथा चमर छत्रादि अष्ट प्रातिहार्योंके रूपमें और समवसरणादिके रूपमें बहिरंग विभूतियोंके आप स्वामी हैं, क्योंकि ये बातें तो मायावियोंमें भी पाई जाती हैं। मंत्र-तंत्रादि जानने वाले भी मायाके द्वारा इस प्रकारके अतिशय उत्पन्न करते हुए देखे जाते हैं। यदि हम उक्त बातोंके कारण आपको पूज्य मानें तो मायावी अर्थात् रागी, द्वेषी और मोही जनोंको भी हमें पूज्य मानना चाहिए।

आगे आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हम आपको इसलिए भी महान् नहीं मान सकते हैं कि आपमें क्षुधा, तृषा, जरा, अपमृत्यु आदिका अभावरूप अन्तरङ्ग अतिशय और शरीरमें स्वेद नहीं होना, छाया नहीं पड़ना, मलमूत्रका नहीं होना आदि बहिरंग अतिशय पाया जाता है। क्योंकि यद्यपि उक्त दोनों प्रकारका अतिशय दिव्य (अलौकिक) और सत्य है, फिर भी उक्त प्रकारका अतिशय देवोमें भी पाया जाता है। यदि केवल उक्त अतिशयके कारण हम आपको पूज्य मानें तो देवोंको भी पूज्य मानना चाहिए।

तीर्थकृत् या तीर्थंकर होनेके कारण भी हम आपको पूज्य नही मान सकते हैं। जिसने संसारसे पार उतरने रूप तीर्थ (धर्म मार्ग)का प्रवर्तन किया हो वह तीर्थकृत् कहलाता है। 'तीर्थं संसारनिस्तरणोपायं करोतीति तीर्थकृत्।' जिस प्रकार आपमें तीर्थकरत्व पाया जाता है उसी प्रकार कपिल, सुगत आदिमें भी तो पाया जाता है। उनके अनुयायी उन्हें भी तीर्थंकर शब्दसे अभिहित करते हैं। अतः यदि हम तीर्थकृत् होनेके कारण आपको पूज्य मानें तो कपिल, सुगत आदिको भी पूज्य माननेमें क्या आपत्ति है।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥

— आप्तमीमांसा का० १, २, ३

अतएव उन्होंने बतलाया कि आप्त वही हो सकता है जो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो तथा जिसके वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हों। इस प्रकार उन्होंने आगममान्य सर्वज्ञताको तर्ककी कसौटीपर कसकर दर्शनशास्त्रमें सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण किया।

आचार्य समन्तभद्रने युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि निम्न प्रकारसे की है :—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम, रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी पुरुषके प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि ये हमारे अनुमेय होते हैं। जो पदार्थ अनुमेय होता है वह किसीको प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे पर्वतमें अग्निको हम अनुमानसे जानते हैं किन्तु पर्वत पर स्थित पुरुष उसे प्रत्यक्षसे जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पदार्थ किसीके अनुमानके विषय होते हैं वे किसीके प्रत्यक्षके विषय भी होते हैं। चूंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको हम अनुमानसे जानते हैं अतः उनको प्रत्यक्षसे जाननेवाला भी कोई अवश्य होना चाहिए। और जो पुरुष उनका प्रत्यक्षसे जानने वाला है वही सर्वज्ञ है।

उक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि कोई सर्वज्ञ अवश्य है। किन्तु जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि वह सर्वज्ञ कौन हो सकता है तो इसका समाधान यही है कि जिसने अपनी आत्मामेंसे दोष और आवरणोंको दूर कर दिया है वह निर्दोष और निरावरण हो जाने पर सर्वज्ञ बन जाता है। हमारे ज्ञानके ऊपर ज्ञानावरण कर्मका आवरण पड़ा हुआ है और जब ज्ञानावरण कर्मके पूर्णनाशसे वह आवरण सर्वथा दूर हो जाता है तो अनन्त पदार्थोंको जानने वाला अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) प्रकट हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या किसी आत्मामें सम्पूर्ण दोषों और आवरणोंकी हानि सम्भव है? इसके उत्तरमें आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि किसी आत्मामें दोष (राग, द्वेष और मोह) और आवरण (ज्ञानावरणादि अष्टकर्म) की पूर्ण हानि होती है, क्योंकि दोष और आवरणकी हानिमें अतिशय देखा जाता है। अर्थात् किसीमें इनकी हानि कम देखी जाती है, दूसरेमें उससे अधिक और तीसरेमें उससे भी अधिक हानि देखी जाती है। इस प्रकार हानिमें प्रकर्ष पाया जाता है। अतः कोई ऐसी अवस्था भी अवश्य होना चाहिए जहाँ हानिका परम प्रकर्ष हो अर्थात् सम्पूर्ण हानि हो। जिस प्रकार सोनेको आगमें तपानेसे उसमें मिले हुए मैलके जल जाने पर सोना शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी मैलके जल जाने पर आत्मा शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण अपने पूर्ण रूपमें प्रकाशमान हो जाते हैं :—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी आत्मामें दोष और आवरणोंकी पूर्ण हानि सम्भव है और यह आत्मा चार घातिया कर्मोंका पूर्णरूपसे नाश करके सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है।

यहाँ पुनः प्रश्न हो सकता है कि किसी आत्मामें दोष और आवरणोंकी हानिका पता हमको कैसे चलेगा। इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि हमें किसीके वचनोंको आँख बन्द करके नहीं मान लेना चाहिए किन्तु पहले उनकी परीक्षा करना चाहिए और परीक्षाके बाद ठीक प्रतीत हों तो उन्हें मानना चाहिए। जिसके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी हों उसे निर्दोष माननेमें क्या आपत्ति है। इसीलिए समन्तभद्रने कहा है :—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

यहाँ 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व' हेतुसे निर्दोषताकी सिद्धि की गई है। और समस्त अर्हन्तोंको युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् होनेसे निर्दोष सिद्ध किया है। चूँकि उनके द्वारा अभिमत तत्त्वोंमें प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती है इसलिए उनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी हैं।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रने युक्तिके द्वारा सर्वज्ञताको सिद्ध किया है और उनके परवर्ती अकलंक, विद्यानन्द प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य आदि प्रख्यात दार्शनिक आचार्योंने समन्तभद्रकी शैलीमें ही सर्वज्ञका पूरा-पूरा समर्थन किया है।

अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें लिखा है :—

आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसका ज्ञान ज्ञानावरणसे आवृत रहता है, अतः उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता। किन्तु जब ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस ज्ञानमें समस्त पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है। अकलंकदेवने सर्वज्ञसाधक अनेक प्रमाण बतलाकर जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतुका प्रयोग किया है वह है सर्वज्ञके बाधक प्रमाणोंकी असंभवताका पूर्ण निश्चय होना। सर्वज्ञकी सत्तामें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है अतः उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध होती है।

अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्। —सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सर्वज्ञाभाववादियोंने सर्वज्ञके विषयमें जो बाधक प्रमाण दिए हैं वे प्रमाण न होकर प्रमाणाभास हैं और सर्वज्ञवादी दार्शनिकोंने उनका यथास्थान निराकरण किया है।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें बतलाया है :—

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके॥

—अष्टस० पृ० ५०

अर्थात् आत्माका स्वभाव जाननेका है और जाननेमें जब कोई प्रतिबन्ध न रहे तब वह ज्ञेय पदार्थोंमें अज्ञ (न जाननेवाला) कैसे रह सकता है। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है तो कोई रुकावट न होनेपर वह दाह्य पदार्थको जलायेगी ही। उसी प्रकार ज्ञस्वभावरूप आत्मा प्रतिबन्धके अभावमें सब पदार्थोंको जानेगी ही।

आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें (पृ० २५५) लिखा है :—

कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत् तत् साक्षात्कारि। यथा अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

अर्थात् कोई आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला है। क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करनेका है और उसमें प्रतिबन्धक कारण नष्ट हो गए हैं। जिस प्रकार चक्षुका स्वभाव रूपको साक्षात्कार करनेका है और रूपके साक्षात्कार करनेमें प्रतिबन्धक कारणों (तिमिरादि) के अभावमें चक्षु रूपका साक्षात्कार अवश्य करती है। उसीप्रकार ज्ञानके प्रतिबन्धक कारणाके अभावमें आत्मा भी समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करती है।

इस प्रकार कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि आचार्योंने एक स्वरसे त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके ज्ञायकके रूपमें सर्वज्ञका आगम और युक्तिसे समर्थन किया है।

## निष्कर्ष

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है। वह आत्माको अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यमय मानता है। संसारी अवस्थामें आत्माके गुण कर्मोंसे आवृत होनेके कारण अपने असली रूपमें प्रकट नहीं हो पाते हैं। आत्माको कर्मरूपी

मैलसे मुक्त करके अपने शुद्धस्वरूपमे स्थित करना ही जैनदर्शनका लक्ष्य है। आत्मा कर्मोंके नाश हो जानेपर सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है। सर्वज्ञ होनेसे उसके वचनोंमे अज्ञानजन्य असत्यता नही रहती है। और वीतराग होनेसे राग, द्वेष, लोभादिजन्य असत्यता भी नही रहती है। तभी वह अन्य जीवोंको मोक्षमार्गके उपदेश देनेमे समर्थ होता है। इसी-लिए आचार्य समन्तभद्रने आप्तका लक्षण निम्नप्रकार किया है :—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

—रत्नकरण्ड श्रा० ५

अर्थात् आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए। बिना इसके आप्तता हो नहीं सकती।

यद्यपि वर्तमानमे कोई सर्वज्ञ नही है, किन्तु इतने मात्रसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता। सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना कोई आसान काम नही है, क्योंकि त्रिकाल और त्रिलोकमे सर्वज्ञका अभाव सर्वज्ञ बने बिना नही किया जा सकता। सर्वज्ञका होना असभव भी नही है। हमे ज्ञानका उत्कर्ष बराबर दृष्टिगोचर होता है। किसीको काला अक्षर भैस बराबर है तो कोई आचार्य या एम० ए० है। कोई एक विषयका ज्ञाता है तो कोई दो, तीन, चार आदि कई विषयोका ज्ञाता भी है। जब ज्ञानका प्रकर्ष पाया जाता है तब उसका परम प्रकर्ष भी संभव है। अत. आत्माको ज्ञानस्वभाव माननेपर निरावरण अवस्थामे अनन्तज्ञान या सर्वज्ञताका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असंभव नही है।

जैनदर्शनके अनुयायियोको सर्वज्ञकी शास्त्रोक्त तथा युक्तिसिद्ध त्रिकालज्ञताको स्वीकार करना आवश्यक भी है, क्योंकि सर्वदर्शी भगवान् महावीरके प्रामाण्यसे ही परम्परागत आचार्योंके वचनोकी प्रामाणिकता मानी जाती है। विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके प्रारभमे विस्तारसे बतलाया है कि परपर गुरुप्रवाहकी प्रामाणिकता शास्त्रकी प्रामाणिकतामे हेतु है। परपर गुरुप्रवाहके मूलमे परम गुरु सर्वज्ञ वीतराग है। और उन्हीके आधारपर जैनदर्शन-का प्रामाणिक और स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि हम सर्वज्ञके विषयमे शंका करने लगें या सर्वज्ञका अर्थ केवल आत्मज्ञ करने लगें अथवा सर्वज्ञका अभाव बतलाने लगे तो समस्त जिनवाणी एक कथा-कहानीके अतिरिक्त क्या रहेगी। अत हमे सर्वज्ञकी सत्ता अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥

# देवागमका मूलाधार : एक चिन्तन

प्रो० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य-शास्त्राचार्य, एम० ए०
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

●

### सम्बन्ध-सूत्र

देवागम, जिसे आप्तमीमांसा भी कहा जाता है, स्वामी समन्तभद्र और जैन वाङ्मयकी असाधारण दार्शनिक कृति है। इसपर विभिन्न कालोंमें अनेक व्याख्याकारों द्वारा विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हैं[1]। वर्तमानमें इसकी तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। एक भट्ट अकलङ्कदेवकी देवागम-विवृति ( अष्टशती-देवागम-भाष्य ), दूसरी विद्यानन्दरचित देवागमालंकृति अष्टसहस्री-आप्तमीमांसालंकृति ) और वसुनन्दिकृत देवागमवृत्ति। आदिकी दो व्याख्याएँ गम्भीर, प्रमेय-बहुल और असाधारण कोटिकी हैं। तीसरी व्याख्या उक्त व्याख्याओं जैसी तो नहीं है, पर हाँ, कारिकाओं-का अर्थ समझनेके लिए पर्याप्त उपयोगी है।

प्रस्तुत निबन्धमें विचारणीय है कि जैन दर्शनकी इस असामान्य कृति देवागमकी आधार-शिला एवं मूल प्रेरणा-स्रोत क्या है ?

## विद्यानन्दके उल्लेख

आचार्य विद्यानन्दका जैन परम्परामें सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियोंको वाङ्मयकी प्रतिनिधि एवं आप्त-वचन जैसा माना जाता है। इन विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें किये गये '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' आदि मंगल-पद्य द्वारा स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिए की थी। उनके उन उल्लेखोंको यहाँ प्रस्तुत करके उनपर विचार किया जाता है। वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :

( १ ) **शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसित कृतिः····।**

—**अष्टस० आदिमङ्गल श्लो० १, पृ० १**

( २ ) **शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।'**

—**अष्टस० पृ० २९४**

( ३ ) **श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य**
**प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।**
**स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।**

—**आप्तप० का० १२३, पृ० २६५**

( ४ )···**इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुंगवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनलक्षणो वा लक्षणीयः प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभि-र्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।**

—**आप्तप० का० १२०, पृ० २६१-६२**

इन उल्लेखोंसे विदित है कि तत्त्वार्थशास्त्र ( तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र ) के आरम्भमें जिन '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार ( आ० उमास्वामी ) ने की है उन्हीं विशेषणों ( गुणों ) की मीमांसा ( सोपपत्ति विचारणा ) स्वामी ( समन्तभद्र ) ने आप्तमीमांसामें की है।

---

१. देवागम, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली।

तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र आप्तमीमांसाकी रचनाका मूलाधार है। विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं··· स्वामिमीमांसितं तत्', 'शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य···तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्' जैसे स्पष्ट अर्थगर्भ पद विशेष ध्यातव्य हैं। इन पदों द्वारा आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध रूपमें घोषित किया गया है।

विद्यानन्दने अपने कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित एवं पुष्ट किया है जिसमें अकलङ्कदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्रपर किये गये अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकारने देवागमादिमङ्गल पूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों बातें स्वयं आपन्न हो जाती है; क्योंकि उनमेंसे एककी भी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नहीं है। निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पद्धति-मङ्गल-विधानपूर्वक शास्त्रकरण)का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचनाका उपक्रम किया है। इससे सहज ही सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकारमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों हैं। अकलङ्कका वह प्रतिपादन इस प्रकार है :

'देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धा-गुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्[1]।'

—अष्टश० अष्टस० पृ० २।

विद्यानन्दने अकलङ्कदेवके इस प्रतिपादन और अपने उपर्युक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ० ३) में समन्वय भी किया है और इस प्रकार उन्होंने अपने कथनको पूर्व परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है।

## 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण

विद्यानन्द और अकलङ्कके उपर्युक्त उद्धरणोंसे जहाँ यह प्रकट है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें सृजित हुई है वहाँ विद्यानन्दके ही उक्त उल्लेखोंपरसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मङ्गलाचरण मानते हैं। तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छरचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही अभिप्रेत है[2]। इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है[3]। परन्तु कुछ विद्वान् विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय *अर्थविपर्यास* करके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिका बतलाते हैं[4]। उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम स० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय।

यहाँ उनकी स्थापनाओंपर भी सूक्ष्म और गहराईके साथ विचार किया जाता है। उनकी वे स्थापनाएँ ये हैं—

१. आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि सूत्रकार शब्द केवल आ० उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति-स्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानन्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था।

३. अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की।

---

१. 'ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन'—अष्टस० टि० पृ० २।

२. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं···यतं तदारम्भे परमेष्ठिनामाख्यानं विधीयत इति चेत्, तल्लक्षणयोगत्वात्।···तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः।'—त० श्लो० पृ० २।
(ख) दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पाठते सति।

३. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६–७, १०–११।

४. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' के कर्त्ता पूज्यपाद-देवनन्दि' शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ पृ० ५६३।

## समीक्षा

प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य तो यह है कि विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्त्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्त्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उनके नामसे या ग्रन्थनामसे या केवल 'तदुक्तं' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। इस सम्बन्धमें हमने विद्यानन्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर ३३ अवतरण भी उदाहरणार्थ दिये हैं[1], जिनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्रलक्षण 'सूत्रं हि सचुक्तिकं चोच्यते....' उन्होंने कहींसे उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभीष्ट है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रपना है। उससे यह अभिप्राय कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उन्हें अन्य लेखक भी शास्त्रकार या सूत्रकार शब्दसे अभिप्रेत हैं।

दूसरी स्थापनाके समर्थनमें जो यह कहा गया है कि उक्त मङ्गल-श्लोकको व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होनेसे वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल-पद्य नहीं है वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याख्येय ग्रन्थके मंगलाचरणकी भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नामके चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मंगलाचरण उपलब्ध हैं। पर उनके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें उन मंगलाचरण-पद्योंका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया। फिर भी वे मंगलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए। श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्र मूलके साथ जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञ भाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार रचित माना जाता है[2]। अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे सूत्रकारकृत असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानन्दको यदि उक्त मङ्गलस्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे...' आदि सोत्थानिकावाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उस (मङ्गल-स्तोत्र) का ही यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम पूछना चाहते हैं कि लेखकने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल उस प्रसङ्गोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है, जिसमें अनुपपत्तिकारने आपत्ति उठाई है कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और न कोई प्रतिपाद्य विशेष, तब प्रथम सूत्रकी रचना असंगत है? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए विद्यानन्द कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेताकी स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष भी है और प्रतिपाद्यविशेष भी। और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होनेवाले ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्माकी मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा होनेपर सूत्रकार द्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है। विद्यानन्दका वह पूरा स्थल इस प्रकार है।

'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

> प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
> सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥
> सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
> श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥
> तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम् ।

—त० श्लो० पृ० ४

विद्यानन्दने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे,' 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है वे वहीं हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रमें अभिहित हैं—उसीका यहाँ उन्होंने

---

१. पूर्वोक्त लेख, अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ पृ० २२९-३० ।

२. विशेषके लिए देखें, हमारा उल्लिखित लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृ० २३२ ।

अनुवाद ( दोहराना ) किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' यह पद देकर तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र ( सूत्रकार )ने उक्त विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति करनेके बाद ही आदि सूत्र रचा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख स्थापनाकार के अभिप्रायके रंचमात्र भी साधक न होकर उनके लिए स्ववधाय कृत्योत्थापनरूप हैं उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यान स्वरूप आप्तमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गई है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रका विद्यानन्दके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक नहीं हैं, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरण संगत अर्थ है—प्रयत्नारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें। परन्तु इस सीधे अर्थको अंगीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले'का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टज्ञानमें वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे। यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति ( सर्वार्थसिद्धि ) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धि-व्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थान पर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्धरूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार, न कि वृत्तिकार, रचित स्वीकार करते थे। और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ० (गृद्धपिच्छ) उमास्वामी ही अभिप्रेत थे।

अतः विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्टसहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया······आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधे···प्रोत्थानारम्भकाले··· शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं···' 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।' आदि उल्लेखोंसे असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार' से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आ० गृद्धपिच्छ विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं। इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र या निःश्रेयसशास्त्रसे उन्हें उन्हींका तत्त्वार्थसूत्र अभिप्रेत है व्यापक या अन्य अर्थमें उनका उन्होंने प्रयोग नहीं किया।

विद्यानन्दके उपर्युक्त उल्लेखोंके अलावा उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार उमास्वामीकृत बतलाने वाला एक अति स्पष्ट एवं अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। वह निम्न प्रकार है—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममङ्गलतया प्रथममुक्तत्वात्।'

—गोम्मट० जीव० मन्दप्र० टी० पृ० ४

यह उल्लेख सातसौ-आठसौ वर्ष प्राचीन गोम्मटसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाके रचयिता सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य अभयचन्द्र ( १२ वीं-१३ वीं सदी ) का है। इसमें उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें उक्त मंगल-स्तोत्रको गृद्धपिच्छाचार्यका लिखा है और उसे तत्त्वार्थशास्त्र ( तत्त्वार्थसूत्र ) के आरम्भमें उनके द्वारा रचा गया बतलाया है। उसे देवनन्दि पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्तिका नहीं कहा। इससे स्पष्ट है कि आजसे सातसौ आठसौ वर्ष पूर्व भी वह गृद्धपिच्छाचार्य रचित तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलस्तोत्र माना जाता था। इस उल्लेखकी एक बात और उल्लेखनीय है। वह यह कि प्राचीन समयमें तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रको ही कहा जाता था और उससे तत्त्वार्थसूत्र लिया जाता था।

# चक्षुकी अप्राप्यकारिता : पुनर्मूल्याङ्कन

श्री गोपीलाल अमर, एम० ए०
अनुसन्धित्सु, सागर विश्वविद्यालय

## सन्निकर्ष या प्राप्यकारिता

भारतीय दर्शनमें सन्निकर्ष ( Connection ) शब्दका अपना महत्त्व है। उसे लेकर काफी बारीक और विस्तृत पक्ष-विपक्ष रखे गये हैं। सन्निकर्ष इन्द्रिय[1] ( Organ of Sense ) और पदार्थ ( Matter ) का वह सम्बन्ध ( Connection ) है जिसके होनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है[2]। इस सम्बन्धके दो रूप हैं : बद्ध ( Combining ) और स्पृष्ट ( Touching )। बद्ध सम्बन्ध होनेपर इन्द्रियमें कुछ समयके लिए विकार ( Modification ) आ जाता है, जैसे बहुत ठंडे पानीमें बद्ध होकर ( पड़कर ) हाथ कुछ देरके लिए विकृत ( ठिठुर ) हो जाता है। स्पृष्ट सम्बन्ध होनेपर इन्द्रियमें विकार नहीं आता, जैसे शब्दसे स्पृष्ट होकर ( शब्दको सुनकर ) कान विकारपूर्ण नहीं होता[3]।

इस सम्बन्धमें सभी दर्शन एकमत नहीं हैं कि पदार्थसे सभी इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होता है और वह भी अपने दोनों रूपोंमें। सांख्य[4], न्याय[5], वैशेषिक[6] और जैमिनीय[7] आदि दर्शन सभी इन्द्रियोंके दोनों सन्निकर्ष मानते हैं। बौद्धदर्शन स्पर्शन, रसना और नासिकाका ही सन्निकर्ष मानता है, नेत्र और कर्णका नहीं[8]। जैनदर्शन स्पर्शन, रसना और नासिकाके दोनों और कर्णका सिर्फ स्पृष्ट सन्निकर्ष मानता है, नेत्रका कोई भी नहीं[9]। अनिन्द्रिय अर्थात् मनका सन्निकर्ष सांख्य[10] और वेदान्तदर्शन ही मानते हैं, अन्य कोई दर्शन नहीं।

## नेत्रकी प्राप्यकारिता

सबसे अधिक मनोरंजक, पर उलझा हुआ कथन नेत्रके सन्निकर्षका है। दर्शनशास्त्रमें यह कथन नेत्रकी प्राप्याप्राप्यार्थकारिताके नामसे प्रसिद्ध है। जैन और बौद्ध दर्शन मानते हैं कि नेत्रका न तो बद्ध सन्निकर्ष है और न स्पृष्ट संन्निकर्ष। इसके विरुद्ध, शेष सभी दर्शन नेत्रके सन्निकर्षको एकमतसे मानते हैं[11] और भौतिकविज्ञान द्वारा भी उन्हींकी पुष्टि होती है। जैन और बौद्ध दर्शनोंकी इस मान्यताके अर्थात् नेत्रकी प्राप्यकारिताके विरुद्ध दार्शनिक आपत्तियाँ प्रस्तुत करना, यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है, यहाँ तो मैं उसके विरुद्ध कुछ वैज्ञानिक आपत्तियाँ प्रस्तुत करूँगा।

---

१. ज्ञानेन्द्रियसे तात्पर्य है।
२. 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः सांव्यवहारिकम्'—परीक्षामुख, परिच्छेद २, सूत्र ५।
३. न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारः जैनदर्शन, ( १९६६ ), पृ० २६९।
४. सांख्यसूत्र, १, ८७।
५. न्यायसूत्र, ३, १, ३३-५३।
६. प्रशस्तपादभाष्य कन्दलीटीका, पृ० २३।
७. शाबरभाष्य, १, १, १३।
८. अभिधर्मकोश, १, ४३।
९. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५। तत्त्वार्थसूत्र १,१९।
१०. योगभाष्य, १, ७।
११. 'प्रश्न यह है कि प्रत्यक्षत्वका नियामक तत्त्व क्या है, जिसके कारण कोई भी बोध या ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है? इसका जवाब भी दर्शनोंमें एकविध नहीं। नव्य शाङ्कर वेदान्तके अनुसार प्रत्यक्षत्वका नियामक हैं प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्यका अभेद, जैसा कि वेदान्तपरिभाषा ( पृ० २३ )में सविस्तर वर्णित है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसक दर्शनके अनुसार प्रत्यक्षत्वका नियामक है संन्निकर्षजन्यत्व, जो सन्निकर्षसे, चाहे वह सन्निकर्ष लौकिक हो या अलौकिक, जन्य है, वह सब प्रत्यक्ष। जैन-दर्शनमें प्रत्यक्षके नियामक दो तत्त्व हैं। आगमिक परम्पराके अनुसार तो एक मात्र आत्ममात्र सापेक्षत्व ही प्रत्यक्षत्वका नियामक ( सर्वार्थ०, १, १२ ) है। जबकि तार्किक परम्पराके अनुसार उसके अलावा इन्द्रियमनोजन्यत्व भी प्रत्यक्षत्वका नियामक फलित होता है—प्रमाणमी०, १, २०। वस्तुतः जैनतार्किक परम्परा न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनानुसारिणी ही है।' प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ० ११४।

## नेत्रका स्वरूप

विषयको स्पष्टता और आसानीसे समझनेके लिए यह जान लेना उचित होगा कि नेत्र क्या है। नेत्र एक ऐसी इन्द्रिय है जो पदार्थका ज्ञान उससे निकली हुई किरणोंको ग्रहण करके कराती है। इसके मुख्य भागोंका परिचय निम्न प्रकार है—

( १ ) **कॉर्निया या नेत्रपटल** ( Cornea )—यह एक प्रकारकी पारदर्शक झिल्ली है और आँखके गोलकके सामने, स्क्लेरोटिक ( Sclerotic ) के एक भागके रूपमे स्थित रहती है।

( २ ) **स्क्लेरोटिक** ( Sclerotic )—यह भी एकप्रकारकी झिल्ली है जो चारों ओरसे, कॉर्निया सहित आँखको ढके रहती है। इसके पीछेकी ओर एक छिद्र होता है जो दृष्टि नाडी ( Optic Nerve ) का मार्ग है।

( ३ ) **आइरिस** ( Iris )—कॉर्निया और खेदार तल ( Crystalline Convex ) के बीचमे स्थित यह एक अपारदर्शक तनुपट ( Opaque Diaphragm ) है जिसे हम पुतली ( Pupil ) कहते है। यह कम प्रकाशमे फैलती है और अधिक प्रकाशमे सिकुडती है, जिससे भीतर जानेवाला प्रकाश अधिक या कम किया जा सकता है।

( ४ ) **एक्वस ह्यूमर** ( Aqueous Humour )— एक पारदर्शक द्रव ( Transparent Liquid ) के रूपमे यह नेत्रपटलके पीछे और खेदार तलके सामने होता है। आइरिस इसे दो भागोंमें विभाजित करता है।

( ५ ) **रवेदार लेंस** ( Crystalline Lens )—आइरिसके ठीक पीछे रहनेवाला यह एक उभयोत्तल ( Double Convex Lens ) लेंस है जो एक पारदर्शक झिल्लीसे ढका रहता है।

( ६ ) **विट्रियस ह्यूमर** ( Vitreous Humour )—यह अंडेके भीतरके सफेद भागके समान पारदर्शक होता है और रवेदार लैंसके पीछेके भागमे पूरे गोलेमे भरा रहता है।

( ७ ) **दृष्टिपटल या रेटिना** ( Retina )—यह भी एक झिल्ली है जो प्रकाशके प्रभावको ग्रहण करती है। ग्रहण करनेके बाद वह प्रकाशके प्रभावको दृष्टि-नाडी ( Optic Nerve ) के द्वारा मस्तिष्कको पहुँचाती है। इस प्रकार दृष्टिपटल और दृष्टिनाडीका कार्य प्रकाशके प्रभावको मस्तिष्क तक पहुँचानेका है।

( ८ ) **कोरायड** ( Choroid )—एक झिल्लीके रूपमे यह दृष्टिपटल और स्क्लेरोटिकके बीचमे स्थित रहती है। इसके भीतरकी ओर एक काला पदार्थ होता है जो आँखके भीतर आयी हुई अनावश्यक किरणोको शोषित कर लेता है।

## नेत्रमें प्रकाशकी किरणोंका प्रवेश

नेत्रका स्वरूप जाननेके अनन्तर यह स्पष्ट होता है कि उसका कार्य एक केमरेके समान है। दोनोंकी कार्य-प्रणालीकी समानता हम, यहाँ देखेंगे —

| केमरा | आँख |
|---|---|
| (१) प्रकाश आनेके लिए सामनेकी ओर छिद्र रहता है जो प्रकाशकी उचित मात्राके लिए छोटा-बडा किया जा सकता है। | प्रकाशको प्रवेश देनेके लिए सामनेकी ओर उभरा हुआ भाग चक्षुपटल रहता है जो प्रकाशकी मात्राके लिए अपने आप छोटा-बडा होता रहता है। |
| (२) एक टोपी द्वारा छिद्रमेसे प्रकाशका प्रवेश नियंत्रित किया जा सकता है। | आँखकी पुतलियो द्वारा प्रकाशका प्रवेश नियंत्रित होता रहता है। |
| (३) केमरा प्रकाशरोधक होता है जिसका भीतरी भाग प्रकाशके परावर्तनके लिए काला कर दिया जाता है। | कोरायडको भीतरकी ओरसे ढके रखने वाला एक काला पदार्थ प्रकाशकी किरणोंको शोषित करता रहता है। |
| (४) कई लेंस होते है, जिनके पीछेके परदेपर यथार्थ किन्तु उल्टा और छोटा प्रतिबिम्ब बनता है। | रवेदार लेंस और विट्रियस ह्यूमरसे एक्वस ह्यूमर प्रकाशकी किरणोंको केन्द्रित करती है जिससे रेटिनापर यथार्थ किंतु उल्टा और छोटा प्रतिबिम्ब बनता है। |
| (५) प्रतिबिम्ब रजत लवणोंसे आच्छादित एक प्लेटपर बनता है जिसे डेवलप करनेसे चित्र स्थायी बन जाता है। | प्रतिबिम्ब दृष्टिपटलपर बनता है जिसका प्रभाव दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्कपर पहुँचाया जाता है। |

## नेत्र स्वयंमें लगे अञ्जनको क्यों नहीं देखता

नेत्रको प्राप्यकारिताके विरुद्ध प्रथम तर्क दिया जाता है कि यदि वह प्राप्यकारी है तो उसे स्वयंमें लगे हुए अञ्जनको देख लेना चाहिए। परन्तु यह तर्क नेत्रकी बनावट जान लेनेपर व्यर्थ सिद्ध होता है। नेत्रको बनावट कुछ इस प्रकारकी होती है कि दूरकी वस्तुसे आती हुई समानान्तर प्रकाशकी किरणोंसे उसका प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल पर ही बनता है, इसके विपरीत वस्तु यदि पासमें हुई तो उसका प्रतिबिम्ब रेटिनापर न बनकर उसके सामने बनेगा जिससे वस्तु स्पष्ट दिखाई न देगी। किन्तु मनुष्य दूर अथवा पासकी सब वस्तुओंको साफ-साफ देख सकता है। इसका कारण यह है कि लेंसके ऊपर लचकदार पट्टे ( Muscles ) के द्वारा लेंसका फोकस कम या अधिक होता रहता है जिससे, वस्तुके दूर या पास रहने पर भी उसका प्रतिबिम्ब सदा दृष्टिपटल पर ही पड़ता है। आँखोंके लेंसकी यह शक्ति स्वतःसमायोग शक्ति ( Self accommodating Power ) कहलाती है। इसी शक्तिके कारण आँखके लेंसका फोकस अन्तर कम या अधिक होता जाता है। साधारण केमरेमे आँख इस दृष्टिसे भिन्न है। साधारण केमरामे प्लेटपर स्पष्ट प्रतिबिम्ब बनानेके लिए लेंसको आगे-पीछे सरकाकार उसका फोकस प्लेटपर लिया जाता है। उम्र अधिक होनेपर आँखकी स्वतःसमायोजन शक्ति कम होती जाती है जिससे वृद्ध व्यक्तियोंको अक्षर पाससे साफ-साफ दिखाई नहीं देते।

## शाखा और चन्द्रमाका दर्शन एक साथ नहीं

दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि चक्षु प्राप्यकारी होती तो वह वृक्षकी शाखाओं और उनमेंसे झाँकते हुए चन्द्रमाको एक साथ न देख पाती। यह तर्क प्रकाश-किरणोंकी गतिके विषयमें अज्ञानताकी सूचना देता है। चन्द्रमाकी किरणोंके और शाखाकी किरणोंके हमारी आँख तक पहुँचनेके समयमें इतना सूक्ष्म अन्तर है कि उसे हम यन्त्रकी सहायताके विना समझ ही नहीं सकते। प्रकाशका वेग प्रति सेकण्ड १८६००० मील है।

## चुम्बकके समान नेत्र भी पदार्थसे अछूता रहता है

यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार चुम्बक पदार्थसे दूर ( अस्पृष्ट ) रहकर भी उसे अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार नेत्र भी पदार्थसे अस्पृष्ट रहकर भी उसे जान लेता है क्योंकि चुम्बककी भाँति नेत्र भी एक करण है। लेकिन यह समझना मुश्किल न होगा कि चुम्बक ( Magnet ) के चारों ओर उसकी शक्ति ( Magnetic power ) के कण व्याप्त रहते हैं। यही कण पदार्थको अपनी योग्यताके अनुसार अपनी ( चुम्बककी ) ओर खींचते हैं। उसी प्रकार नेत्रके गोलकपर भी किरणें निरन्तर आवर्तित-परावर्तित होती रहती हैं जो हमें पदार्थका ज्ञान कराती है। प्रकाशके स्रोत और हमारी आँखके बीचका स्थान इस प्रकार कम्पन करता है कि प्रकाशका संवेदन हमारी आँखपर पहुँच जाता है। वैज्ञानिक प्रकाशको प्रायः कम्पनात्मक मानते है।

## काँच आदिका व्यवधान

एक तर्क यह है कि नेत्र अभ्रक, काँच और स्फटिक आदिसे व्यवहित पदार्थोंका भी ज्ञान कराता है, जबकि प्राप्यकारी स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ उनके स्पर्श आदिका ज्ञान नहीं करा पाती। इस तर्कसे नेत्रको प्राप्यकारितामें कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि प्रकाशकी किरणे, आवर्तित ( Refrected ) रूपमें ही सही, लेकिन नेत्रतक पहुँचती अवश्य हैं। जब प्रकाशकी किरणें एक माध्यममेंसे होती हुई दूसरे माध्यमकी सतहपर गिरती है, तब वे दो भागोंमे विभाजित हो जाती हैं। प्रथम भाग वह है जो परावर्तनके नियमोंके अनुसार प्रथम माध्यममे लौट जाता है। यदि दूसरे माध्यमका धरातल समतल, चिकना और चमकदार हो तो परावर्तित प्रकाश अधिक मात्रामे एक ही दिशामे लौट जाता है और यदि दूसरे माध्यमका धरातल खुरदरा हो तो प्रकाशकी किरणें इधर-उधर परावर्तित हो जाती है। इस प्रकारके परावर्तित प्रकाशको फैला हुआ प्रकाश ( विस्तरित प्रकाश ) कहते हैं, जिसके कारण पदार्थ दिखते है। और उक्त किरणोंका दूसरा भाग वह है जो कुछ विशेष नियमोंके अनुसार दूसरे माध्यममे प्रवेश करता है। प्रकाशका यह भाग वर्तितप्रकाश (Refrected light) कहलाता है।

## नेत्र तेजोद्रव्य नहीं है

यह तर्क भी दिया जाता है कि उष्ण स्पर्श और भास्वररूपके अभावमे नेत्रको तेजोद्रव्य नहीं माना जा सकता अतः वह प्राप्यकारी भी नहीं हो सकता। प्रथम तो, तेजोद्रव्य न होनेसे नेत्रकी प्राप्यकारितामें कोई बाधा नही पड़ती,

दूसरे, नेत्रमें तेजोद्रव्य और भास्वररूपका अभाव नहीं है। यह प्रयोगसिद्ध तथ्य है कि जीवित शरीरमें इतनी उष्णता ( तेजोद्रव्य ) है कि उससे एक छोटा-मोटा बल्ब जलाया जा सकता है। अतः शरीरका एक अङ्ग होनेके नाते नेत्रमें भी उष्णता ( तेजोद्रव्य ) है। भास्वररूप भी उसमें अपने ढंगका स्पष्टतः देखा जा सकता है और यदि भास्वररूपका अर्थ प्रकाश किया जाय तब तो नेत्र और भास्वररूपका कार्यकरण सम्बन्ध है ही।

## दूर-पासका अन्तर न रहेगा

यह तर्क कि नेत्रको प्राप्यकारी माननेपर दूर-पासका अन्तर न रहेगा, ठीक उल्टा है। कितना स्पष्ट है कि दूर के पदार्थकी किरण नेत्र तक देरसे पहुँचेगी जब कि पासके पदार्थकी जल्दी। यह दूसरी बात है कि इस देर-जल्दीके अन्तर को, अतिसूक्ष्म होनेसे, हमारा मस्तिष्क पकड़ नहीं पाता, यन्त्रोंकी सहायतासे वैसा भी होता है।

## संशय और विपर्ययका ज्ञान न हो सकेगा

एक तर्क यह भी है कि नेत्र प्राप्यकारी होगा तो वह सामान्य पदार्थोंकी भाँति विशेष पदार्थोंका भी ज्ञान कराने लगेगा, जिससे उन दोनों प्रकारके पदार्थोंके ज्ञानोंमें कोई अन्तर न रह सकेगा, फलतः किसी भी असत्य ज्ञानको न संशय कहा जा सकेगा और न विपर्यय। यह तर्क ठीक उल्टा है। वास्तवमें नेत्र सामान्य और विशेष, दोनों प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान कराता है और वह ज्ञान किन्हीं कारणोंसे संदेहपूर्ण हो तो उसे संशय कहा जाना चाहिए और यदि उल्टा हो तो विपर्यय कहा जाना चाहिए।

## बिलाव आदि अन्धकारमें क्यों देख सकते हैं

यह तर्क कि नेत्रके लिए ज्ञान करानेमें प्रकाशकी अनिवार्यता नहीं, तभी तो प्रकाशके अभावमें भी बिलाव आदि देख सकते हैं, उचित नहीं। जिस प्रकार किसी-किसी कैमरेमें प्रकाशका भी इन्तजाम होता है उसी प्रकार बिलाव और उल्लू आदिकी आँखोंमें भी प्रकाशका स्वाभाविक प्रबन्ध रहता है।

## योग्यता ही कारण है

पदार्थका ज्ञान नेत्र अपनी योग्यतासे ही कराता है, प्राप्यकारितासे नहीं, यह तर्क भी अपूर्ण है क्योंकि पलक बन्द हो जानेपर या पट्टी बाँध दिये जानेपर भी नेत्रमें योग्यता तो कायम रहती है पर प्राप्यकारिताके अवरुद्ध रहनेसे वह ( नेत्र ) पदार्थका ज्ञान नहीं करा पाता।

## निष्कर्ष

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचनके प्रकाशमें भी जैन तार्किकों द्वारा दिये गये तर्क अखण्डित है। वैज्ञानिक प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि चक्षु लेन्सपर पदार्थका चित्र अंकित हो जाता है और यह चित्र ज्ञानचेतनाको आन्दोलित करता है, जिससे पदार्थकी प्रतीति होती है। यही कारण है कि नेत्रके बन्दकर लेनेपर भी चिरिन पदार्थोंकी अनुभूति पाठक मानस प्रत्यक्ष द्वारा करता रहता है।

यह ठीक है कि दार्शनिकोंके विचारकालतक वैज्ञानिक प्रक्रिया समक्ष नहीं आई थी, इस कारण आचार्योंने उन समस्त दृष्टिकोणोंकी समीक्षा नहीं की। डॉ० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है—

'आजका विज्ञान मानता है कि आँख एक प्रकारका कैमरा है। उसमें पदार्थोंकी किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं। किरणोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे ज्ञानतन्तु उद्बुद्ध होते हैं और फिर चक्षु उन पदार्थोंको देखता है। चक्षुमें आये हुए प्रतिबिम्ब का कार्य केवल चेतनाको उद्बुद्धकर देना है। वह स्वयं दिखाई नहीं देता। इस प्रणालीमें यह बात तो स्पष्ट है कि चक्षुने योग्य देशमें स्थित पदार्थको ही जाना है, अपनेमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको नहीं। पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़नेकी क्रिया तो केवल स्विचको दबानेकी क्रियाके समान है, जो विद्युत शक्तिको प्रवाहितकर देना है। अतः इस प्रक्रियामें जैनोंके चक्षुको अप्राप्यकारी माननेके विचारमें कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती'।[1]

स्पष्ट है कि चक्षुके अप्राप्यकारित्वके सिद्धान्तपर पुनः विचार किया जाना अत्यावश्यक है। पुरानी धारणाओंमें विज्ञानकी नयी खोजोंने नये दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं।

---

१. जैनदर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला काशी, सन् १९६६, पृ० २७१।

●

# चतुर्थ खण्ड

## साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति

साहित्य, इतिहास,
पुरातत्त्व
और संस्कृति

•

# आचार्य वीरसेन और उनकी धवलाटीका

श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

## प्रास्ताविक

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा विरचित षट्खण्डागमपर कई टीकाओंके लिखे जानेका निर्देश आचार्य इन्द्रनन्दीने अपने श्रुतावतारमें किया है[1]। परन्तु उन समस्त टीकाओंमें आचार्य वीरसेन द्वारा विरचित प्राकृत-संस्कृत मिश्रित बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण 'धवला'[2] नामकी टीका उपलब्ध है। इसे केवल टीका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि टीका या निर्वचनिकाओंमें स्वतन्त्र चिन्तन या सिद्धान्त स्थापनको अवकाश नहीं रहता। प्रस्तुत टीकामें निर्वचनिकाओंके गुण-धर्मोंके साथ भाष्य, चूर्णि, वृत्ति एवं व्याख्या-गुण-धर्म भी विद्यमान हैं। आचार्य वीरसेनने प्रश्नोत्तरशैलीको अपनाकर नवीन निर्वचनोंके साथ मौलिक चिन्तनको भी स्थान दिया है। कतिपय स्थल तो दर्शन, धर्म, कर्मसिद्धान्त एवं सांस्कृतिक उपकरणोंकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और परम्परानुमोदित सिद्धान्तोंपर आधृत होनेपर भी मौलिकताकी श्रेणीमें परिगणित किये जा सकते हैं।

आचार्य वीरसेनका बुद्धि-वैभव अत्यन्त अगाध और पाण्डित्यपूर्ण है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्यका अध्ययन-अनुशीलन कर इस विशाल टीकाका प्रणयन किया है। मूल ग्रन्थका ऐसा कोई वर्ण्य विषय नहीं, जिसका विशद विवेचन इस टीकामें न किया गया हो।

## आचार्य वीरसेन

आचार्य वीरसेन सिद्धान्तके पारंगत विद्वान् थे। गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयोंका भी तलस्पर्शी पाण्डित्य उन्हें प्राप्त था। हरिवंशपुराणमें बताया गया है कि आचार्य वीरसेन कविचक्रवर्ती हैं। यथा—

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः। वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥

—हरि० १।३९

---

१. (क) पद्मनन्दी मुनि विरचित बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका, जो प्रथम तीन खण्डोंपर लिखी गई थी।—(इ० श्रु० १६०-६१)। इस टीकाका उल्लेख इस धवलामें ३०-४० स्थलोंपर आया है—यथा पु० ३ पृ० १९, २४, २५, ३६, १२४, १२७, १३४, २०१, २६३, ३३७, ३३८, ३३९। पु० ४ पृ० १५६, १८४, ३९०, ४०३। पु० ७ पृ० १४५, २८५, ३७२। पु० ९ पृ० ४८, ५६। पु० १० पृ० ४८३। पु० १२ पृ० १५४। पु० १३ पृ० १८, २६२, २९३, २९९। पु० १४ पृ० ५४, ३७४, ३७५।

(ख) श्री शामकुण्ड द्वारा छठे खण्ड (महाबन्ध) को छोड़ दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थोंपर प्राकृत-संस्कृत और कर्णाटक भाषामिश्रित बारह हजार श्लोक प्रमाण पद्धति रची गयी (इ० श्रु० १६२-६४)।

(ग) तुम्बुलूर नामक आचार्यने छठे खण्डके बिना दोनों ग्रन्थोंपर कर्णाटक भाषामें चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक व्याख्या तथा छठे खण्डपर सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका लिखी। —इ० श्रु० १६४-६७।

(घ) तार्किक श्री समन्तभद्र द्वारा षट्खण्डागमके पाँच खण्डोंपर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण संस्कृतभाषामय टीका लिखी।

—इ० श्रु० १६७-६९।

(ङ) गुरुपरम्परासे प्राप्त दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थोंको शुभनन्दी और रविनन्दी मुनियोंसे सुनकर बप्पदेव गुरुने छठे खण्डको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंपर व्याख्याप्रज्ञप्ति लिखी है। —इ० श्रु० १७१-७४। व्याख्याप्रज्ञप्तिका उल्लेख धवला टीकामें दो बार आया है। —पु० ९ पृ० ३५ और पु० १० पृ० ३१८।

२. यह 'धवला' सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय द्वारा १६ जिल्दोंमें प्रकाशित है।

जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्षके लोगोंको जीत लिया है तथा जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं, ऐसे श्रीवीरसेन स्वामी-की निर्मल कीर्त्ति प्रकाशित हो रही है ।

वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेनने अपने आदिपुराण एवं जयधवला-प्रशस्तिमें उनकी कविवृन्दारक कहकर स्तुति की है । उन्होंने कहा है—

भट्टारक पदवीको प्राप्त श्री वीरसेन स्वामी साक्षात् केवलीके समान समस्त विद्याओंके पारगामी थे । उनकी भारती[1]—दिव्यवाणी भारती—भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाके समान षट्खण्डमें अस्खलित थी अर्थात् जिस प्रकार षड्खण्ड पृथ्वी पर भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाका अबाध गतिसे पालन किया जाता था, उसी प्रकार आचार्य वीरसेनकी वाणीका भी संचार छह खण्डरूप षट्खण्डागम नामके परमागममें प्ररूपित सब ही विषयोंमें निर्बाध रूपसे मान्य है । उन्होंने मूलग्रन्थमें आये हुए विषयोंकी बहुत ही स्पष्ट व्याख्या की है, जिसका खण्डन कोई नहीं कर सकता है । चक्रवर्ती भरतकी आज्ञा जहाँ सम्पत्ति—लक्ष्मीवानोंको प्रसन्न करनेवाली थी, वहाँ वीरसेनकी मधुरवाणी समस्त प्राणियोंको प्रमुदित करनेवाली थी । भरतकी आज्ञाका संचार यदि अपने द्वारा आक्रान्त समस्त पृथिवीपर था तो उनकी वाणीका संचार अपनी कुशाग्र बुद्धिसे आक्रान्त समस्त विषयोंमें—सिद्धान्त, न्याय एवं व्याकरण आदि शास्त्रोंमें था । उनकी स्वाभाविक प्रज्ञा—अदृष्ट और अश्रुत पदार्थोंको अवगत करने रूप योग्यताको देखकर विज्ञजनोंको सर्वज्ञके विषयमें आशंका नष्ट हो गई थी । यतः जब एक व्यक्ति आगम द्वारा इतना बड़ा ज्ञानी हो सकता है, तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानधारी सर्वज्ञ समस्त पदार्थोंका एक ही कालमें ज्ञाता हो सकता है[2] ।

आदिपुराणमें बताया है—'वे[3] अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें, जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियोंमें श्रेष्ठ है, लोकव्यवहार और काव्यस्वरूपके महान् ज्ञाता है तथा जिनकी वाणीके समक्ष औरोंकी तो बात ही क्या स्वयं सुरगुरु बृहस्पतिकी वाणी भी सीमित—अल्प जान पड़ती है। सिद्धान्तग्रन्थ षट्खण्डागमके ऊपर उपनिबन्ध—निबन्धात्मक टीका रचनेके कारण जिनका यश सर्वत्र वर्तमान है । वीरसेन सिद्धान्त,[4] छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण शास्त्रमें निपुण थे ।

श्री डॉ० हीरालाल जैनका अनुमान[5] है कि वीरसेनके विद्यागुरु एलाचार्य और दीक्षागुरु आर्यनन्दी थे । इनकी शाखाको पञ्चस्तूपान्वय कहा गया है ।

## आचार्य वीरसेनका स्थितिकाल

आचार्य वीरसेनका स्थितिकाल विवादास्पद नहीं है । क्योंकि वीरसेनाचार्यके शिष्य जिनसेनने अपूर्ण जय-धवला टीकाको शक संवत् ७५९ की फाल्गुण शुक्ला दशमीको पूर्ण किया है । अतः इस तिथिके पूर्व ही वीरसेनाचार्यका समय होना चाहिए और उनकी धवला टीकाकी समाप्ति इससे बहुत पहले होनी चाहिए । यह टीका जयतुंगदेवके राज्यमें समाप्त हुई थी । राष्ट्रकूट नरेशोंमें जयतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी है, पर इनमेंसे प्रथम जयतुंग गोविन्द तृतीय थे, जिनके शिलालेख शक संवत् ७१६—७३५ के मिले हैं । अतएव यह अनुमान लगाना सहज है कि धवला टीका भी

---

१. प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ —जय० ध० प्रशस्ति ।

२. अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोग्गत्तं पण्णा णाम । —धवला पु० ९ पृ० ८१ । प्रज्ञा यहाँ औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणा-मिकीके भेदसे चार प्रकारकी निर्दिष्ट की गई है । इस प्रज्ञाके विद्यमान रहनेसे ही आप्तपुरुष उन्हें प्रज्ञाश्रमण कहते थे । यथा—
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयः । श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ —जय० प्रशस्ति ।

३. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः ॥
लोकवित्त्वं कवित्वञ्च स्थितं भट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मनःसरसि स्थेयात् मृदुपादकुशेशयम् ॥ —आदि पु० प्र० प० ५५-५७ ।

४. सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ··· । —धवला प्रशस्ति गा० ५ ।

५. धवलाटीका प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना पृ० ३९ ।

समाप्ति इन्हीं गोविन्द तृतीयके समयमें हुई है। श्री डॉ० हीरालाल जैनने धवला टीकाकी प्रस्तावनामें अनेक प्रमाणोंके उपरान्त धवला टीकाका समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ सिद्ध किया है। आपने लिखा है कि जब जयतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय ( अमोघ वर्ष ) राजगद्दीपर आसीन हो चुका था, धवला टीका समाप्त हुई[1]।

अतएव स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेनका समय विक्रम संवत्‌की नवमी शती है।

## धवला टीका रचनेका हेतु

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ज्ञात होता है कि बप्पदेव द्वारा सिद्धान्तग्रन्थोंकी टीका लिखे जानेके उपरान्त कुछ वर्षोंके पश्चात् एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोंके ज्ञाता हुए। आचार्य वीरसेनने एलाचार्यसे सिद्धान्त विषयका अध्ययन किया। वीरसेन गुरुकी अनुज्ञा प्राप्तकर वाटग्राम बड़ौदा आये और वहाँ आनतेन्द्र द्वारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। यहाँ उन्हें बप्पदेवकी व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका प्राप्त हुई। इस टीकाके स्वाध्यायसे वीरसेनने अनुभव किया कि सिद्धान्तके अनेक विषयोंका निर्वचन छूट गया है तथा अनेक स्थलोंपर विस्तृत सिद्धान्तस्फोटन सम्बन्धी व्याख्याएँ भी अपेक्षित हैं। छठे खण्डपर व्याख्या लिखी ही नहीं गयी है। अतएव एक नयी विवृत्ति लिखनेकी परमावश्यकता है। फलस्वरूप आचार्य वीरसेनने व्याख्याप्रज्ञप्तिसे प्रेरणा प्राप्तकर 'धवला' एवं 'जयधवला' नामक टीकाएँ लिखीं।

## धवलाटीकाकी विशेषता

धवलाटीका टीका होनेपर भी एक स्वतन्त्र सिद्धान्त-ग्रन्थ है। इस टीकाकी शैलीगत विशेषताएँ तो हैं ही, पर विषय विवेचनकी दृष्टिसे यह टीका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य वीरसेनने प्रसंगवश इस टीकामें सांस्कृतिक उपकरणोंका भी समावेश किया है। निमित्त, ज्योतिष एवं न्यायशास्त्रकी अगणित सूक्ष्म और विशेष बातें पायी जाती हैं। इस टीकामें दो मान्यताओंका उल्लेख उपलब्ध होता है—दक्षिण-प्रतिपत्ति और उत्तर-प्रतिपत्ति[2]। दक्षिण प्रतिपत्तिको आचार्य प्रमाण मानते हैं और उत्तर प्रतिपत्तिको क्लिष्ट, वाम एवं आचार्याननुमोदित। टीकामें उक्त दोनों प्रतिपत्तियोंका विवेचन करते हुए लिखा है कि तिर्यञ्च दो मास और मुहूर्त्त पृथक्त्वके ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयमको तथा मनुष्य गर्भसे लेकर आठवर्ष और अन्तर्मुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयमको प्राप्तकर सकते हैं[3]। इस उपदेशको आचार्यपरम्परागत होनेसे उन्होंने दक्षिण प्रतिपत्ति या ऋजु बतलाया है। इसके विपरीत तिर्यञ्च तीन पक्ष, तीन दिन और अन्तर्मुहूर्त्तके ऊपर सम्यक्त्व, संयमासंयमको तथा मनुष्य आठ वर्षके ऊपर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम को प्राप्त कर सकते हैं। इस उपदेशको परम्परागत न होनेसे उत्तर प्रतिपत्ति या अनृजु कहा गया है[4]।

टीकाकी प्रामाणिकताके लिए वीरसेनने आचार्य सम्मत परम्पराके अनुसार ही विवक्षित विषयका प्रतिपादन किया है। यदि उन्हें कहीं किसी आचार्यका अभिप्राय सूत्र-विरुद्ध या आचार्य परम्पराके विरुद्ध दिखलाई पड़ा है, तो उन्होंने उसे अग्राह्य घोषित किया है। उदाहरणार्थ द्रव्यप्रमाणसूत्र ७की व्याख्यामें प्रमत्तसंयतोंका प्रमाण ५९३९८२०६ बतलाया गया है। इसपर वहाँ आशंका की गई है कि सूत्रमें जब उनका प्रमाण कोटि पृथक्त्व ही निर्दिष्ट किया गया है, तब ऐसी अवस्थामें उसे एक निश्चित संख्यामें कैसे गिनाया गया? इस शंकाके उत्तरमें वहाँ कहा गया है कि हमने इसे

---

१. वही, प्रथम पुस्तक प्रस्तावना पृ० ४०-४१।

२. के वि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरियपरंपरागयमिदं जं वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउं आइरियपरम्परा-अणागदमिदि णायव्वं।.........एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि।

—धवलाटीका खण्ड १, भाग २ पृ० ९२-९४।

३. एत्थ बे उवदेसा—तं जहा—तिरिक्खेसु बेमास-मुहुत्त-पुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुस्सेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो।

—धवला पु० पृ० ३२।

४. ( क ) तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुस्सेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदित्ति। एसा उत्तरपडिवत्ती। उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराए णागयमिदि। —धवला पु० ५, पृ० ३२।

( ख ) एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिणपडिवत्ती हवदि। —वही पु० ३ पृ० ९४।

( ग ) एसा दक्खिणपडिवत्ती। एत्तो उत्तरपडिवत्तिं वत्तइस्सामो। —वही ३।९८, ९९।

आचार्यपरम्परागत जिनोपदेशसे जाना है[1]।

यदि वीरसेनको कही किसी आचार्यका व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध दिखा है, तो उसे उन्होंने अप्रमाण बताया है। यथा—परिकर्ममे राजुके अर्धच्छेदोंकी संख्या द्वीपसागर संख्या और जम्बूद्वीपके अर्धछेदोंसे एक अधिक निर्दिष्ट की गयी है। इस व्याख्यानको सूत्रविरुद्ध बतलाकर उसे अग्राह्य कहा है[2]।

## विषय-विवेचन

जहाँ उन्हे आचार्यपरम्परागत उपदेश तो प्राप्त नही हुआ, किन्तु गुरुका उपदेश प्राप्त रहा है वहाँ उन्होंने उसके भी आधारसे विषयका विवेचन किया है[2]।

यदि उन्हे कहीपर उक्त दोनों ही प्रकारका उपदेश नही प्राप्त हुआ तो वहाँ उन्होंने आवश्यक समक्ष युक्तिके बलसे भी सूत्रके अनुकूल विषयकी व्यवस्था की है और वैसी ही वहाँ घोषणा भी कर दी है। जैसे—

द्वीप-समद्रोंकी संख्याके विषयमे आचार्योका मतभेद रहा है। आ० वीरसेन स्वामी ज्योतिषीदेवोंकी संख्या लानेके लिये स्वयंभूरमण समुद्रकी बाह्य वेदिकाके आगे भी पृथिवीका अस्तित्व स्वीकार कर ( पु० ११, पृ० १७-१९ भी द्रष्टव्य हैं ) वहाँ यथायोग्य राजुके संख्यात अर्धच्छेदोंके पतनको अनिवार्य समझते है। वे कहते है कि उक्त राजुके अर्धच्छेदोंके प्रमाणकी परीक्षाविधि अन्य आचार्योंकी उपदेशपरम्पराका अनुसरण नही करती है। यह तो केवल तिलोयपण्णत्ति-सुत्तके अनुसार ज्योतिषी देवोंके भागहारको उत्पन्न करनेवाले सूत्रके आश्रयसे युक्तिके बलपर हमने प्ररूपणा की है। इस सम्बन्धमे उन्होने दो उदाहरण अन्य भी है—( १ ) जैसे सासादन आदि गुणस्थानगत जीवोंकी संख्या लानेमे अन्तर्मुहूर्त शब्दमे अवस्थित 'अन्तर' शब्दको सामीप्य अर्थका वाचक मानकर मुहूर्तमे अधिककालको भी अन्तर्मुहूर्त ही स्वीकार करते हुए असंख्यात आवली प्रमाण अवहारकालका उपदेश किया है। ( देखिये पु० ३ पृ० ६८-७० ) ( २ ) आयत चतुरस्र लोकका उपदेश[3] ( पु० ४, पृ० ११-२२ देखिये )।

## सूत्रविरोध-समन्वय

धवलाकारको ऐसे भी कुछ प्रसंग प्राप्त हुए है। जब परस्पर सूत्रोंमे भी विरोध देखा गया है। ऐसे प्रसंगोंपर प्राय. उन्होने सूत्रकी आशातनासे भयभीत रहनेवाले आचार्योंसे परस्पर विरोधी दोनों ही सूत्रोंके व्याख्यानकी प्रेरणा की है। यथा—

क्षुद्रकबन्धके अन्तर्गत अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके ७४वे सूत्रमे सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवोंसे वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण विशेष अधिक कहकर तत्पश्चात् सूत्र ७५ मे निगोद जीवोंको उन वनस्पतिकायिक जीवोंसे विशेष अधिक निर्दिष्ट किया है। इसपर शकाकारने निगोद जीवोके वनस्पतिकायिक जीवोंसे भिन्न न होनेके कारण—उक्त वनस्पतिकायिकोंके ही अन्तर्गत होनेसे—इस सूत्र ( ७५ ) को निष्फल बतलाया है। इसके परिहारमे श्री वीरसेन स्वामी कहते है कि तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है, तथा बहुतसे सूत्रोंमे—सूत्र-पुस्तकोंमे—वनस्पतिकायिक जीवोंके अल्पबहुत्वको कह देनेके बाद उसके आगे निगोद जीवोंको विशेष अधिक कहने वाला वह सूत्र नही पाया जाता है, और वह बहुतसे आचार्योंको सम्मत भी है। फिर भी वह सूत्र ही नही है, ऐसा अवधारण करना उचित नही है। ऐसा तो वही कह सकता है जो श्रुतकेवली या केवली हो। परन्तु वर्तमान कालमे वे दोनो तो नही हैं है, साथ ही उनके पाससे सुनकर आनेवाले आचार्यादि भी उपलब्ध

---

१. ( क ) एत्तियं होदि त्ति कधं णव्वदे ? आइरियपरंपरागमजिणोवदेसादो। —वही ३।८९।
( ख )···· होंति त्ति कधं जाणिज्जदे ? आइरियपरंपरागयअविरुद्धोवदेसादो जाणिज्जदि। —वही ३।२०१।
( ग ) कधमेदं णव्वदे ? आइरियपरंपरागदुवदेसादो। —वही ४।३१।
( घ ) ण, गुणिदकम्मंसिए उक्कस्सेण एगो चेव समयपबद्धो वड्ढदि, हायदि त्ति आइरियपरंपरागयउवएसादो। —वही १०।२१५।
( ङ ) आइरियपरंपरागदुवदेसादो वा णव्वदे जहा सच्चयादो एत्थ विज्झादिदव्वमसंखेज्जगुणमिदि। —वही १०।२८३।
तथा—१०।७५, ११८, ४४४, ४।१५६, ४।३६० एवं ४।१८४।

२. कम्मट्ठिदि त्ति वुत्ते सव्वेसिं कम्माणं ट्ठिदीओ घेप्पंति आहो एक्कस्स चेय ट्ठिदी घेप्पदि ? सव्वकम्माणं ट्ठिदीओ ण घेप्पंति, किंतु एक्कस्सेव कम्मट्ठिदी घेप्पदि। कुदो ? गुरूवदेसादो। तत्थ वि दंसणमोहणीयस्स चेय उक्कस्सट्ठिदीए सत्तरिसागरोवमकोडाकोडिमेत्ताए गहण कादव्वं, पाहण्णियादो, पु० ४, पृ० ४०२-३।
और भी देखिये—पु० १० पृ० ६५, ७४, १०६, ३०४, ३०६, ३८६, ४४५, ४८२ तथा पु० १३ पृ० २९८, ३०४, ३१४, ३१६, ३२०।

३. एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूवमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरिओवदेसपरंपराणुसारिणी, केवल तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा, प्रतिनियत-सूत्रावष्टम्भबलविजृम्भितगुणप्रतिपन्नप्रतिबद्धासंख्यातावलिकावहारकालोपदेशवत् आयत चतुरस्रलोकसंस्थानोपदेशवद् वा।
—पु० ४, पृ० १५७।

नहीं है। इसलिये सूत्रकी आशातनासे डरकर दोनों ही सूत्रोंको स्थापनीय मानते हुए उनका व्याख्यान करना चाहिये। इसपर आगे भी शंका-समाधान चालू रखते हुए अन्तमें उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि सूत्रमें बादर-निगोद-प्रतिष्ठित और उनसे अप्रतिष्ठित जीवोंका नाम जो वनस्पति नहीं निर्दिष्ट किया गया, इसके लिये गौतमसे पूछो। हमने तो गौतमका अभिप्राय कह दिया है कि वे बादर-निगोदप्रतिष्ठित और उनसे अप्रतिष्ठित जीवोंकी निगोद संज्ञाको स्वीकार नहीं करते[1]।

इसके पूर्व वहाँ भागाभागानुगम अनुयोगद्वारमें भी यही समस्या उनके सामने रही है। वहाँ ३ सूत्र[2] ऐसे आये हैं जहाँ सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवोंके साथ-साथ सूक्ष्मनिगोदजीवोंका निर्देश भी अलगसे किया गया है। वहाँ सूत्र ३४की व्याख्यामें शंका उपस्थित की गई है कि भागाभागसे सम्बद्ध कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनके अभिप्रायसे सब निगोद जीव वनस्पतिकायिक ही सिद्ध होते हैं, उनसे वे भिन्न नहीं सिद्ध होते, क्योंकि, वहाँ उक्त तीनों सूत्रोंमें केवल सूक्ष्म-वनस्पतिकायिक जीवोंका ही निर्देश किया गया है, निगोद जीवोंका निर्देश वहाँ अलगसे नहीं किया गया। ऐसी अवस्थामें उन सूत्रोंसे इन सूत्रोंका विरोध होना अनिवार्य है। इसके उत्तरमें आचार्य वीरसेन स्वामीने कहा है कि यदि ऐसा है तो यह सूत्र है और यह सूत्र नहीं है, इसका कथन उपदेश पाकर वे करें जो आगममें निपुण है। हम इस प्रसंगमें कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि इसके सम्बन्धमें हमें उपदेश प्राप्त नहीं है[3]।

दूसरा भी एक प्रसंग देखिये—वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृति-अनुयोगद्वारके सूत्र[4] १२० में मनुष्यगतिप्रायोग्यानु-पूर्वीके भेदोंकी संख्या निर्दिष्ट की गई है। इस सूत्रके व्याख्यानमें कुछ आचार्योंका अभिप्राय तो यह है कि ऊर्ध्वकपाट (लोक) छेदनमें निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहुल्यरूप तिर्यकप्रतरोंको श्रेणीके असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना-भेदोंसे गुणित करने पर प्राप्त राशि प्रमाण मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वीके भेद हैं[5]। और दूसरोंका मत यह है कि पैंतालीस लाख योजनोंके राजुप्रतरके अर्धच्छेद करनेपर पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र जो अर्धच्छेद प्राप्त होते हैं उतने मात्र मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीके भेद हैं[6]।

इसपर धवलाकार कहते हैं कि यहाँ उपदेश प्राप्तकर यही व्याख्यान सत्य है और दूसरा असत्य है, इसका निर्णय करना चाहिये। ये दोनों ही उपदेश सूत्रसिद्ध है, क्योंकि आगे उन दोनों ही उपदेशोंके आश्रयसे पृथक्-पृथक् अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है[7]। (देखिये सूत्र १२४-२७ और १२८-३२)।

इस पर शंका उठाई गई है कि विरुद्ध अर्थोंका प्ररूपक सूत्र कैसे हो सकता है? इसके समाधानमें श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं कि तुम्हारा कहना सत्य है, जो सूत्र है वह अविरुद्ध अर्थका ही प्ररूपक होता है। किन्तु यह सूत्र नहीं है, 'सूत्रके समान भी सूत्र होता है' इस उपचारसे उसे सूत्र माना गया है। कारण यह कि सूत्र तो वही होता है जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदसपूर्वीके द्वारा कथित हो। सो भूतबलि भट्टारक न तो गणधर हैं, न प्रत्येकबुद्ध हैं, न श्रुतकेवली है, और न अभिन्न-दसपूर्वी हैं। इसीलिये वह सूत्र नहीं हो सकता है।

---

१. एत्थ परिहारो वुच्चदे—होदु णाम तुम्मेहि वुत्तस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो, णिगोदाणमुवरि वणप्फदिकाइयाणं पढणस्सुवलंभादो, बहुएहि आइरिएहि संमदत्तादो च। किंतु एदं सुत्तमेव ण होदि त्ति णावहारणं कादुं जुत्तं। सो एवं भणदि जो चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा। ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि, ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि संपहि उवलब्भंति। तदो थप्पं काऊण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायणभीरूहि आइरिएहि वक्खाणेयव्वाणि। × × × बादरणिगोदपदिट्ठिद-अपदिट्ठिदाणमेत्थ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा? गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अहिप्पाओ कहिओ। —पु० ७, पृ० ५४०-४१।

२. सुहुमवणप्फदिकाइया सुहुमणिगोदजीवा सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? ॥२६॥ सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? ॥३१॥ सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडिओ भागो? ॥३४॥

३. णिगोदा सव्वे वणप्फदिकाइया चेव, ण अण्णे; एदेण अहिप्पाएण काणि वि भागाभागसुत्ताणि ट्ठिदाणि। कुदो? सुहुमवणप्फदिकाइयभागा-भागस्स तिसु वि सुत्तेसु णिगोदजीवणिद्देसाभावादो। तदो तेहि सुत्तेहि एदेसिं सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं तो उवदेसं लद्धूण इदं सुत्तं इदं चासुत्तमिदि आगमणिउणा भणंतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था, अलद्धोवदेसत्तादो। —पु० ७, पृ० ५०६-७।

४. मणुसगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ पणदालीसजोयणसदसहस्सबाहल्लाणि तिरियपदराणि उड्ढकवाडच्छेदणणिप्फण्णाणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ ॥१२०॥

५. पु० १३ पृ० ३७८–३८१।

६. पु० १३ पृ० ३८१।

७. एत्थ उवदेसं लद्धूण एदं चेव वक्खाणं सच्चमण्णं असच्चमिदि णिच्छओ कायव्वो। एदे च दो वि उवएसा सुत्तसिद्धा। कुदो? उवरि दो वि उवदेसे अस्सिदूण अप्पाबहुगपरूवणादो। —पु० १३ पृ० ३८१।

आगे उन्होंने उसकी अप्रमाणताकी आशंकाको दूर करते हुए अपना अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है— हमारा तो अभिप्राय यह है कि प्रथम प्ररूपित अर्थ ही भला है, न कि दूसरा। इसका कारण यह है कि प्रथम तो सूत्रमें 'पणदालीसलक्खजोयणबाहल्लाणं लिरियपदराणं' ऐसा षष्ठ्यन्त निर्देश नहीं है, दूसरे उस अवस्थामें ऊर्ध्वकपाटछेदन-का निर्देश व्यर्थ हो जाता है, तीसरे किन्हीं सूत्रपोथियोंमें दूसरे अर्थके आश्रयसे अल्पबहुत्व पाया भी नहीं जाता है[1]।

## विरुद्ध उपदेशका प्रसंग

इसी प्रकार जहाँ उनके सामने किसी एक ही विषयमें सम्बद्ध परस्पर विरुद्ध दो उपदेश रहे हैं तब भी उन्होंने कुछ कहनेके लिये अपनी असमर्थता दिखलाई है। जैसे—

कुछ आचार्योंका मत रहा है कि चतुर्थ कालमें ७५ वर्ष और ८।। माह शेष रहनेपर भगवान् वर्धमान स्वामी गर्भमें आये। और यह निर्विवाद सिद्ध है कि वे उक्त चतुर्थकालमें ३ वर्ष ८।। माह शेष रह जानेपर निर्वाणको प्राप्त हुए। इस प्रकार इस उपदेशके अनुसार उनकी आयु पूरे ७२ वर्ष प्रमाण सिद्ध होती है[2]। दूसरे कितने ही आचार्योंका अभिमत है कि उनकी आयु ७१ वर्ष ३ माह और २५ दिनकी थी[3]।

उपर्युक्त दोनों ही मतोंके अनुसार धवलाकारने भगवान् वर्धमानके कुमारकाल, छद्मस्थकाल और केवलि-कालकी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की है। इस प्रसंगमें जब वीरसेन स्वामीसे यह पूछा गया कि इन दोनों उपदेशोंमें यथार्थ कौन है, तब उन्होंने यही कहा है कि एलाचार्यका वत्स—उनका शिष्य मैं वीरसेन—अपनी जीभको त्रास नहीं देना चाहता—इस विषयमें मैं कुछ भी कहनेकी स्थितिमें नहीं हूँ, क्योंकि, इसके विषयमें मुझे कुछ उपदेश प्राप्त नहीं है, तथा उक्त दोनों उपदेशोंमेंसे किसी एकमें कुछ बाधा भी नहीं दिखती है। यह अवश्य है कि उन दोनोंमें यथार्थ कोई एक ही हो सकता है सो उसे जानकर कहना चाहिये[4]।

## अन्य ग्रन्थोंके निर्देश

यह हम पहिले ही लिख चुके हैं कि धवलाकारके सामने जो साहित्य रहा है उसका उन्होंने गहरा अध्ययन किया था, और यह उस अध्ययनका ही परिणाम है जो उनके द्वारा विषयकी पुष्टिके लिये धवलामें जहाँ-तहाँ विविध ग्रन्थोंके उद्धरण दिये गये हैं। उनके सामने जो प्राचीन सूत्र-पोथियाँ रही हैं उनका परिशीलन भी उन्होंने इतना गहरा किया था कि उनसे पूर्ववर्ती अध्येताओंको उन्हें गुरु मानना पड़ा तथा उनके सहारेसे वे उक्त पोथियोंके अध्ययनमें विशेषता भी प्राप्त कर सके थे[5]।

---

१. विरुद्धाणं दोण्णमत्थाणं कधं सुत्तं होदि त्ति वुत्ते सच्चं, जं सुत्तं तमविरुद्धत्थपरूवयं चेव। किंतु णेदं सुत्तं, सुत्तमिव सुत्तमिदि एदस्स उवयारेण सुत्तत्तब्भुवगमादो। किं पुण सुत्तं? सुत्तं गणहरकहियं × × ॥३४॥ ण च भूदबलिभडारओ गणहरो पत्तेयबुद्धो सुदकेवली अभिण्णदस-पुव्वी वा जेणेदं सुत्तं होज्ज। × × अम्हाणं पुण एसो अहिप्पाओ जहा पढमपरूविदअत्थो चेव भद्दओ, ण बिदियो त्ति। कुदो? पणदालीस × × गुणिदाओ त्ति सुत्ते संबंधुज्जोवछट्ठिअंतणिद्देसाभावादो, णिरत्थयउड्ढकवाडच्छेदणयणिद्देसादो वा केसु वि सुत्तपोत्थएसु बिदियमत्थमस्सिदूण परूविदअप्पाबहुआभावादो च। —पु० १३, पृ० ३८१-८२।

२. पण्णारसदिवसेहि अट्ठहि मासेहि य अहियं पंचहत्तरिवासावसेसे चउत्थकाले ७५।८।१५ पुप्फुत्तरविमाणादो आसाढजोण्हपक्खछट्ठीए महावीरो बाहत्तरिवासाउओ ति-णाण-हरो गब्भमोइण्णो। —पु० ९, पृ० १२०।

३. अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरिवासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिदाउअं परूवेंति ७१।३।२५। —पु० ९, पृ० १२१।

४. (क) दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं। तं जाणिय वत्तव्वं। —पु० ९, पृ० १२६।

यही बात उन्होंने जयधवलामें भी उक्त प्रसङ्गपर उन्हीं शब्दोंमें व्यक्त की है। देखिये जयधवला (कसायपाहुड) १, पृ० ८१-८२।

शक राजाकी उत्पत्ति और राज्यकालके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारका मतभेद रहा है। वहाँ धवलाकारने कहा है—एदेसु तिसु एक्केण होदव्वं। ण तिण्णं उवदेसाण सच्चत्तं, अण्णोण्णविरोहादो। तदो जाणिय वत्तव्वं। —पु० ९, पृ० १३३।

(ख) एदमप्पाबहुगं सोलसवदिय-अप्पाबहुएण सह विरुज्झदे, सिद्धकालादो सिद्धाणं संखेज्जगुणत्त फिट्टिदूण विसेसाहियत्तप्पसंगादो। तेणेत्थ उवएसं लहिय एगदरणिण्णओ कायव्वो। —पु० ९, पृ० ३१।

विशेष उपदेशभेदके लिये देखिये पु० १६ में परिशिष्ट नं० ५।

५. पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः॥ — उ० ध० प्रशस्ति।

इन सूत्र-पुस्तकोंमें आ० वीरसेनके समयमें ही पाठभेद हो चुका था। इसका संकेत उन्होंने धवलामें अनेक स्थानोंपर स्वयं भी किया है। यथा—

किन्हीं सूत्रपुस्तकोंमें देवायुकी बन्धव्युच्छित्ति अप्रमत्तकालका संख्यातवां भाग बीतनेपर होती है, ऐसा उल्लेख है; और किन्हींमें उक्त कालका संख्यातबहुभाग बीतनेपर उसकी बन्धव्युच्छित्ति होती है, ऐसा भी उल्लेख पाया जाता है।[1]

धवलामें ग्रन्थान्तरोंके जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं उनमें कुछ तो ग्रन्थ या ग्रन्थकारके नामनिर्देश पूर्वक उद्धृत किये गये हैं, पर बहुतसे उस नामनिर्देशके बिना ही उद्धृत किये गये हैं। जो नामनिर्देशके साथ उद्धृत हैं वे इस प्रकार हैं—

१. गृद्धपिच्छाचार्य प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र[2], २. तत्त्वार्थभाष्य,[3] ३. सन्मतिसूत्र,[4] ४. सत्कर्मप्राभृत,[5] ५. पिंडिया,[6] ६. तिलोयपण्णत्ति,[7] ७ व्याख्याप्रज्ञप्ति,[8] ८. पंचास्तिप्राभृत,[9] ९. जीवसमास,[10] १०. पूज्यपादविरचित सारसंग्रह,[11] ११. प्रभाचन्द्रभट्टारक[12] ( ग्रन्थकार ), १२. समन्तभद्रस्वामी[13] ( ग्रन्थकार ) १३. छेदसूत्र,[14] १४. सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत[15] १५. मूलतंत्र,[16] १६. योनिप्राभृत[17] और १७. सिद्धिविनिश्चय[18]

इनके अतिरिक्त षट्खण्डागमके अन्तर्गत विविध अनुयोगद्वार—जैसे संत सूत्र ( पु० २, पृ० ६५७ ), वर्गणासूत्र ( पु० १, पृ० २९० ), वेदनाक्षेत्रविधान ( पु० ४, पृ० ९४ ), चूलिकासूत्र ( पु० ६, पृ० ११८ ) और वर्गणासूत्र ( पु० १, पृ० २९० ) इत्यादि, उसी षट्खण्डागमके छठे खण्डस्वरूप महाबन्ध ( पु० ७, पृ० १९५ ) तथा कसायपाहुड ( पु० १, पृ० २१७ ) व उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्र ( पु० ९, पृ० १७७), उच्चारणा ( पु० १०, पृ० १४५ ) उच्चारणाचार्य ( पु० १०, पृ० १४४ ), निक्षेपाचार्य ( पु० १०, पृ० ४५७ ), महावाचक आर्यनन्दी ( पु० १६, पृ० ५७७ ), आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण ( पु० १६, पृ० ५१८ ) और नागहस्ती ( पु० १५, ३२७ ) आदिका उल्लेख तो जहाँ तहाँ बहुतायतसे हुआ है। कारण यह है कि आ० वीरसेन स्वामीने जैसे षट्खण्डागमका आद्योपान्त अध्ययनकर उसके ऊपर प्रस्तुत धवला टीका लिखी है वैसे ही कसायपाहुड व उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्र आदि समस्त साहित्यका अध्ययनकर उसके ऊपर २० हजार

---

१. (क) अप्पमत्तद्धाए संखेज्जदिभागे गदे देवाउअस्स बंधवोच्छेदो। अप्पमत्तद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु देवाउअस्स बंधो वोच्छिज्जदि त्ति केसु वि सुत्तपोत्थएसु उवलब्भइ। तदो एत्थ उवएसं लद्धूण वत्तव्वं। —पु० ८, पृ० ६५.

( ख ) केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्संतरं छम्मासा। —पु० ५, पृ० १०६।

( ग ) अद्धाणं पुण एत्तो अहिप्पाओ अद्धा पढमपरूविदअत्थो चेव भद्दओ, ण बिदियो त्ति। कुदो? केसु वि सुत्तपोत्थएसु बिदियमत्थिदूण परूविदअप्पाबहुआभावादो च। —पु० १३ पृ० ३८२।

( घ ) केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाढो। —पु० १४ पृ० १२७।

२. पु० ४ पृ० ३१६, पु० १ पृ० २३६ व २५८; पु० १३ पृ० ७७; पु १४ पृ० १३।
३. पु० १ पृ० १०३।
४. पु० १ पृ० १५; पु० ९ पृ० २४३, २४४।
५. पु० १ पृ० २१७, २२१; पु० ११ पृ० २१।
६. पु० २ पृ० ७८८।
७. पु० ३ पृ० ३६; पु० ४ पृ० १५७।
८. पु० ३ पृ० ३५; पु० १० पृ० ३१८।
९. पु० ४ पृ० ३१५, ३१७।
१०. पु० ४ पृ० ३१५।
११. पु० ९ पृ० १६७।
१२. पु० ९ पृ० १६६ ( तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि-प्रमाणव्यपाश्रय ··स नयः )।
१३. पु० ९ पृ० ६७ समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम्—स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।
१४. पु० ११ पृ० ११५।
१५. पु० ९ पृ० ३१८; पु० १५ पृ० ४३।
१६. पु० १३ पृ० ९०।
१७. पु० १३ पृ० ३४९।
१८. पु० १३ पृ० ३५६।

श्लोक प्रमाण जयधवला टीका भी लिखी है। इसीसे निश्चित है कि इन दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थों और उनसे सम्बद्ध समस्त साहित्यके तो वे गम्भीर अध्येता रहे ही है।

धवलामें अनेक स्थलोंपर ऐसे भी उद्धरण वाक्य बहुतायतसे उपलब्ध होते हैं जिनसे सम्बन्धित ग्रन्थ या ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख वहाँ नही किया गया है। इन अवतरण वाक्योमेसे जितने कुछ इतर ग्रन्थोंमे प्राप्त हो सके हैं उनका उल्लेख प्रत्येक पुस्तकमें तुलनात्मक टिप्पणोके अन्तर्गत कर दिया गया है। ये वाक्य मुख्यतासे इन ग्रन्थोंमे उपलब्ध होते हैं—

१. आचारागनिर्युक्ति, २ मूलाचार, ३ प्रवचनसार, ४. सन्मतिसूत्र, ५. पचास्तिप्राभृत, ६. दशवैकालिक, ७. भगवती आराधना, ८. अनुयोगद्वार, ९ चारित्रप्राभृत, १०. स्थानागसूत्र, ११. शाकटायनन्यास, १२. आचारागसूत्र, १३. लघीयस्त्रय, १४ आप्तमीमासा, १५ युक्त्यनुशासन, १६. विशेषावश्यकभाष्य, १७ सर्वार्थसिद्धि ( उद्धृत गाथा ), १८. सौन्दरानन्द, १९. धनजयनाममाला व अनेकार्थ नाममाला, २० भावप्राभृत, २१ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २२. नन्दिसूत्र, २३. समवायाग, २४. आवश्यकसूत्र, २५. प्रमाणवार्तिक, २६. साख्यकारिका और कर्मप्रकृति ( श्वे० ) आदि।

उसमे उद्धृत गाथासूत्रोमेंसे सर्वाधिक गाथाये गोम्मटसारमे उपलब्ध होती है, तथा कुछ त्रिलोकसार, जंबूदीपपण्णत्ति और वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थोमे भी उपलब्ध होती हैं। परन्तु ये ग्रन्थ धवलाके पश्चात् रचे गये है, यह निर्विवाद है। अतः वहाँसे उनके धवलामें उद्धृत किये जानेका प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

दोनो सिद्धान्तग्रन्थोमेंसे २३३ गाथापरिमित कषायप्राभृत गाथासूत्रोमे और समस्त षट्खण्डागम प्रायः गद्य-सूत्रोमे रचा गया है। 'प्रायः' कहनेका अभिप्राय यह है कि इसमें कुछ गाथासूत्र भी उपलब्ध होते है। यथा—वेदनाखण्डमे ( देखिये प्र० १२ का परिशिष्ट ), वर्गणाखण्डके अन्तर्गत स्पर्शअनुयोगद्वारमे २, प्रकृतिअनुयोगद्वारमे १७ और बन्धन अनुयोगद्वारमे ९; समस्त ८ + २ + १७ + ९ = ३६। परन्तु इसकी प्रस्तुत धवला टीकामें यत्र तत्र उद्धृत जो सैकडो गाथासूत्र पाये जाते हैं उनमेसे कुछ तो ग्रन्थान्तरोमे उपलब्ध होते है, पर अधिकाश गाथासूत्रोंका अभी पता नही है कि वे किस-किस ग्रन्थके हैं व किनके द्वारा रचित है[२]। वैसे तो बहुत-से गाथासूत्र आचार्यपरम्पराको प्रवाहस्वरूपसे प्राप्त होते रहे है; जिनमेसे कितनेक गाथासूत्रोको अपना कर विविध ग्रन्थकारोंने अपने ग्रन्थोका अग बना लिया है। यही कारण है जो अनेक गाथासूत्र समानरूपमे विविध ग्रन्थोमे—जैसे षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, मूलाचार, भगवती-आराधना, तिलोयपण्णत्ति, प्रवचनसार, गोम्मटसार, नन्दिसूत्र, दशवैकालिक, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति और आवश्यक-निर्युक्ति आदिमे—उपलब्ध होते है[३]।

## गणित विषयक निर्देश

षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ करणानुयोगसे सम्बन्ध रखते है। गणितकी प्रमुखता होनेसे इस अनुयोगको गणितानुयोग भी कहा जाता है। मूल षट्खण्डागममे जहाँ गणितसे सम्बद्ध विषयकी सूचना मात्र सूत्रमें की गई है वहाँ उस विषयका विशेष व्याख्यान आ० वीरसेन स्वामीने अतिशय कुशलताके साथ विस्तार पूर्वक किया है। उन्होने युक्तिबलसे स्वयंभूरमण समुद्रके बाह्य भागमे भूमिके अस्तित्वको मानकर वहाँ जो राजुके सख्यात अर्धच्छेदोके पतनकी सिद्धिकी है, यह उनकी महान् गणितज्ञताका ही परिणाम है। धवलामे उन्होने जहाँ तहाँ बहुत-से गणितसूत्रोका उपयोग किया है, वे भी उनकी असाधारणगणितज्ञताको सूचित करते है। उन्होने प्रसंगानुसार जिन गणित सूत्रों को धवलामें उद्धृत किया है वे किन ग्रन्थोके रहे है, यह अभी अन्वेषणीय है। ऐसे गणितसूत्र वहाँ बहुत पाये जाते है। उनम कुछ इस प्रकार देखे जा सकते है—पु० ३ पृ० ४६, ४९, ९४, ३४२, पु० ४ पृ० २० २१, ४२, ५१, ५७, १४६, १५९, १६९, २००, २०१,

१. प्राकृत-संस्कृतभाषामिश्रा टीका विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवला च कषायप्राभृतके चतसृणा विभक्तीनाम्।।
विंशतिसहस्रग्रन्थरचनया संयुता विरच्य दिवम्।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जय [ जिन ] सेन गुरुनामा ॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्।
जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥ —इन्द्र श्लो० १८२–८४।

२. जैसे देखिये धवला पु० ८, पु० ८, ११ से १६ तक प्रत्येक और २४ आदि पृष्ठपर उद्धृत गाथा सूत्र।

३. इसके लिये देखिये प्रत्येक पुस्तकके, विशेषकर प्रथम और नौवीं पुस्तकके अन्तमें दिये गये परिशिष्टोंमेंसे अवतरण-गाथा-सूची नामक परिशिष्ट।

२०९, २२१; पु० ५ पृ० १९३; पु० ६ पृ० १५८; पु० १० पृ० ९०, ९१, ९२, १५०, २०३, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६२, ४७५, ४८५; पु० ११ पृ० १२४, २४१; इत्यादि।

धवला पु० ३ ( द्रव्य प्रमाणानुगम )का अनुशीलन कर उसके आधारसे गणितके अधिकारी विद्वान् श्री डॉ० अवधेशनारायण सिंह जीने जो धवलाके गणितसे सम्बद्ध एक लेख अंग्रेजीमें लिखकर भेजा था वह पु० ४ की प्रस्तावनामें तथा उसका हिन्दी अनुवाद पु० ५ की प्रस्तावनामें मुद्रित है। उन्होंने जो धवलाके अन्तर्गत गणितभागकी प्रशंसा की है वह उनके ही शब्दोंमें इस प्रकार है—

इस प्रकार भारतवर्षीय गणित शास्त्रके इतिहासकारोंके लिये धवला प्रथम श्रेणीका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो जाता है, क्योंकि उसमें हमें भारतीय गणितशास्त्रके इतिहासके सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण समय, अर्थात् पांचवीं शताब्दीसे पूर्व की बातें मिलती हैं। विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि धवलाकी गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूर्वकी है। उदाहरणार्थ—धवलामें वर्णित अनेक प्रक्रियायें किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थमें नहीं पाई जातीं, तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलताका आभास भी है जिसकी झलक पश्चात्के भारतीय गणित शास्त्रसे परिचित विद्वानोंको सरलतासे मिल सकती है। इतना होने पर भी धवला टीकामें उल्लिखित अनेक गणित सिद्धान्त मौलिक हैं। गणित विषयकी दृष्टिसे इस टीकाकी उपयोगिता अत्यधिक है।

## निष्कर्ष और मूल्याङ्कन

यह पूर्वमें लिखा जा चुका है कि नवीन विषयोंके विवेचनकी दृष्टिसे धवला टीकाका मूल्य किसी भी तार्किक ग्रन्थसे कम नहीं है। इसमें ग्रहीतग्राही ज्ञानको प्रामाण्य माना गया है। आचार्य वीरसेनकी दृष्टिमें ज्ञानमें अप्रमाणता का कारण संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका उत्पन्न होना है, जिस ज्ञानमें तीनों अज्ञानोंकी निवृत्ति रहती है, वह ज्ञान प्रमाण होता है[1]। इसी प्रकार अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानोंके निर्वचन भी नवीन रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं। उपयोगके स्वरूप विवेचनमें सामान्यपदसे आत्माका ग्रहणकर दर्शनोपयोगका स्वरूप आभ्यन्तर प्रवृत्ति और ज्ञानोपयोगका स्वरूप बाह्य प्रवृत्ति बतलाया है[2]। संक्षेपमें इसका मूल्य निम्न सूत्रोंमें अंकित किया जा सकता है।

१. पूर्वाचार्योंकी मान्यताओंका पुष्टीकरण।
२. पारिभाषिक शब्दोंके व्युत्पत्ति मूलक निर्वचनोंका विवेचन।
३. नवीन दार्शनिक मान्यताओंका सयुक्तिक प्रतिपादन।
४. मिश्रित भाषाका प्रयोग कर अपने युग तकको भाषा मूलक प्रवृत्तियोंका निरूपण।
५. पाठक शैली द्वारा विषयोंका विशदीकरण।
६. संख्याओं, सूत्रों एवं गणित विषयक मान्यताओंका स्पष्टीकरण।
७. भंग और विकल्प जालका विस्तार कर विषयका वितत भिन्नकी प्रक्रिया द्वारा उत्थापन।
८. मूल सूत्रोंमें प्रयुक्त प्रत्येक पदका पर्याप्त विस्तार और सन्दर्भोंका विशदीकरण।
९. प्रश्नोत्तरों द्वारा विषयका स्फुटीकरण तथा तल पर्यन्त विषयका निरूपण।
१०. शंकाओं और उत्तरोंके सन्दर्भमें पाठान्तरोंका संकेतीकरण।
११. पूर्वाचार्योंके सन्दर्भोंको उद्धृत कर ऐतिहासिक तथ्योंका प्रतिपादन।
१२. स्वकथनके पुष्टिकरणके हेतु अन्य आचार्योंके वाक्य या मान्यताओंका प्रस्तुतीकरण।
१३. विरोधी विषयोंमें गुरुपरम्पराका अनुसरण कर निर्णयका प्रतिपादन।
१४. श्रुतके बहुभागको विस्मृति गर्भसे निकाल वाङ्मयरूपमें निबद्धीकरण।
१५. सूत्रकारके वशानुवर्तित्व रहने पर भी स्वतन्त्ररूपसे कर्म सिद्धान्त एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंका निरूपण।

---

१. न गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम्, सर्वात्मना अगृहीतग्राहिणो बोधस्यानुपलम्भात्। न च गृहीतग्रहणमप्रामाण्यनिबन्धनम्, संशयविपर्ययानध्यवसायजातेरेव अप्रमाणत्वोपलम्भात्। —धवला टीका खण्ड ५, भाग १–३ पृ० २१९।

२. अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्भुवगमादो। —वही, खण्ड ५, भाग–१–३ पृ० २०७।

# गद्यचिन्तामणि परिशीलन

पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

●

## प्रास्ताविक

गद्यचिन्तामणिमें लोककथाश और अलंकृत काव्यशैलीका समन्वय पाया जाता है। यह व्यञ्जनाप्रधान अलंकृत काव्यशैलीके परिवेषमें रचित गद्यकाव्य है। इसमें कविके अप्रतिम कल्पनावैभव, वर्णनपटुता एवं मानव-मनोवृत्तियों के मार्मिक चित्रण उपलब्ध हैं। सरसता और प्रवाह-माधुर्यकी दृष्टिसे भी यह कृति सफल है। कलावादी कवियोंके काव्योंके समान ही शब्द-क्रीडा-कुतूहल, भावभंगिमाओंके रमणीय चित्रण, आनुप्रासिक समासान्त पदावली एवं विरोधाभास और परिसंख्याके चमत्कार भी पाये जाते हैं। डॉ० ए० बी० कीथने लिखा है—

'Another Jain offort to ribal the kadambari is seen in the Gadyachintamani of odayadeva, alias vadibhsimha, a lion to the elephents counter disputants He was a Digambear Jain, pupil of Puspa-sena, whom he louds in the usual exaggerated Style and his work deals with the legend of Jivak or Jivandhara, which is also the topic of the Jivandharachampu. His imitation of Bana is flagrant, including an ettort to improve on the advice gives by the sage Shukanasa to the young Chandra pida' [1]

अर्थात् कादम्बरीसे प्रतिस्पर्द्धा करनेका दूसरा प्रयत्न ओडयदेव ( वादीभसिंह ) के गद्यचिन्तामणिमें परिलक्षित होता है। उनका उपनाम वादीभसिंह था। ये एक दिगम्बर जैन थे और पुष्पसेनके शिष्य थे, जिनकी प्रशंसा इन्होंने अपनी रचनामें अत्युक्तिपूर्ण शैलीमें की है। इनकी रचनाका सम्बन्ध जीवक अथवा जीवन्धरके उपाख्यानसे है जो जीवन्धर-चम्पूका भी प्रतिपाद्य विषय है। इन्होंने बाणका अनुकरण किया है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। मनीषी शुकनास द्वारा युवक चन्द्रापीडको दिये गये उपदेशको अधिक सुन्दर रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न भी सम्मिलित है।

डॉ० कीथके उपर्युक्त अभिमतसे यह स्पष्ट है कि गद्यचिन्तामणिका प्रणयन कादम्बरीके अनुकरणपर किया है, पर इस कथाकृतिके अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि इसमें अलंकृत शैलीके रहनेपर भी कृत्रिमता नहीं आने पायी है। कादम्बरीके वर्णनोंमें आडम्बरपूर्ण कृत्रिमता है, पर गद्यचिन्तामणिमें स्वाभाविकताका समावेश पाया जाता है। दीर्घसमास समस्यन्त पदोंका प्रयोग किये जानेपर भी लम्बे पद नहीं आये हैं, जिनमें पाठकका मन नहीं ऊबता है। वह वर्णन और दृश्योंकी लम्बी कतारमें उपमानों और अप्रस्तुतोंके रंगीन प्रयोगों द्वारा सरसता बनाये रखने में पूर्ण सफल रहा है।

## रचयिता

इस गद्यकाव्यके रचयिता महाकवि ओडयदेव[2] वादीभसिंह हैं। डॉ० शेषगिरिरावका अभिमत है कि कवि कलिंग ( तेलुगदेशके ) के गंजाम जिलेका निवासी था। गंजाम जिला मद्रासके उत्तरमें था, पर अब इसे उड़ीसामें सम्मिलित कर दिया गया है। वहाँ पर ओडय और गाडय ये दो जातियाँ निवास करती हैं। कवि वादीभसिंह ओडय जातिके सरदार कुमार थे, इनका ओडयदेव भी नाम मिलता है। उड़ीसाकी प्रचलित लोककथाओंमें आज भी जीवन्धरकी कथा पायी

---

1. History of Sanskirt Literature by keeth, London, 1941 Page 331

२. श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः। स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः।
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः। गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

—गद्यचिन्तामणि, प्रशस्ति, पृ० २७०, श्रीरंगम् १९१६ ई०।

जाती है। कविके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इन्होंने अपने गुरुका नाम पुष्पसेन[1] बतलाया है। समयके सम्बन्धमें निम्नलिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं—

( १ ) ई० ७७०–८६० ई० की मान्यता।

( २ ) विक्रमकी ११वीं शतीके प्रारम्भकी मान्यता।

( ३ ) ११वीं शतीके उत्तरार्धकी मान्यता।

( ४ ) १२वीं शतीकी मान्यता।

प्रथम मान्यताके पोषक श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री[2] और प्रो० दरबारीलाल[3] कोठिया है। आप दोनों विद्वानोंने अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण देकर उक्त समय सिद्ध किया है। दूसरी मान्यताके समर्थक विद्वानोंमें स्व० पं० नाथूराम प्रेमी[4] और टी० एस० कुप्पुस्वामी[5] प्रमुख हैं। तीसरी मान्यताके प्रवर्तक पं० के० भुजबली शास्त्री[6] हैं, आपने शिलालेखीय प्रमाणोंके आधारपर वादीभसिंहका समय ११वीं शतीका उत्तरार्ध सिद्ध किया है। चौथी मान्यता संस्कृत-साहित्यके इतिहास-लेखक एम० कृष्णमाचारीयर[7] की है।

उपर्युक्त अभिमतोंपर विचार करने तथा कविकी कृतियोंका अवलोकन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विद्वानोंने पर्याप्त ऊहापोह किया है। सभी पक्ष-विपक्षीय मान्यताएँ सप्रमाण है तथा परस्परमें एक दूसरेके द्वारा खण्डित है। अतः उनपर विचार करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं[8]। हमारी अपनी मान्यता भी प्रथम मान्यतासे मिलती-जुलती है। अतः वादीभसिंहका समय वि० सं० की नवी शती होना चाहिए।

अभी तक कविकी क्षत्रचूडामणि, स्याद्वादसिद्धि और गद्यचिन्तामणि ये रचनाएँ उपलब्ध हैं। हम इनमेंसे गद्यचिन्तामणिका ही परिशीलन प्रस्तुत करेंगे।

## कथावस्तु

जीवन्धरस्वामीके जीवनवृत्तको ग्यारह लम्बोंमें विभक्त किया है। बताया गया है कि हेमांगद देशकी राजधानी राजपुरीमें महाराज सत्यन्धर राज्य करते थे। ये अपनी महारानी विजयामें अत्यासक्त थे, अतः राज्यका भार मन्त्री काष्ठागारको सौंप रनिवासमें विषय क्रीडा करने लगे। कृतघ्न काष्ठागारने राज्यतृष्णाके वशीभूत होकर राज्यपर अपना अधिकार कर लिया। सत्यन्धर क्षात्र धर्मका पालन करते हुए रणभूमिमें काम आये। महाराजकी रानी विजया गर्भिणी थी। महाराजने पहले ही वायुयानके समान आकाशमें उड़नेवाला मयूर-यन्त्र नामका विमान बनवाया था। उन्होंने महारानीको उस विमानमें बैठाकर उसे आकाशमें उड़ा दिया। विमान अपनी गतिसे उड़ता हुआ एक श्मशान भूमिमें जाकर उतरा। समय पूरा हो चुका था, अत. विजयाको वहीं पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र अत्यन्त ओजस्वी और तेजस्वी था। रानी पुत्रव्यवस्था करके तपस्वियोंके आश्रममें आकर रहने लगी और पुत्रको राजानामांकित अंगूठी पहनाकर श्मशानके एक हिस्सेमें रख दिया। उस नगरीके सेठ गन्धोत्कटको उसी दिन पुत्र प्राप्त हुआ, पर थोड़ी देरके अनन्तर उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः मृतसंस्कारके लिए उसे वहाँ लाया गया। वहाँ सेठको एक तेजस्वी बालक मिला, उसने उसे उठा लिया। पासमें छिपी विजयाने पुत्रको आशीर्वाद दिया—'जीव'। इस शब्दोच्चारणके अनुसार शिशुका नाम जीवक या जीवन्धर रखा गया।

गन्धोत्कट सेठने अपनी पत्नीसे कहा—'तुमने भूलसे जीवित पुत्रको मृत समझ लिया था, लो इस भाग्यशाली बालकका भरण-पोषण करो। पुत्र प्राप्तकर सेठानी सुनन्दा बहुत प्रसन्न हुई और जीवन्धरका संवर्द्धन करने लगी। कुछ

---

१. श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्मम सदा हृदि सन्निदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुंगवतामुपैति॥ —वही १।६।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, मा० चं० ग्र० बम्बई, प्रस्तावना, पृ० १११।

३. स्याद्वादसिद्धि, माणिक० ग्रन्थ० बम्बई, सन् १९५० ई०, प्रस्तावना पृ० ११।

४. जैनसाहित्य और इतिहास, बम्बई, सन् १९५६ ई०, पृ० ३२४–३२८।

५. गद्यचिन्तामणि, श्रीरंगम्, सन् १९१६ ई०, प्रस्तावना पृ० ७–८।

६. जैनसिद्धान्तभास्कर, आरा, भाग ६ किरण २ पृ० ७८–८७ तथा भाग ७ किरण १ पृ० १–८।

७. History of Classical Sanskrit Literature, Madras, 1937 Page477.

८. विशेष जाननेके लिए भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होनेवाली गद्यचिन्तामणिकी प्रस्तावना देखिए।

दिनोंके उपरान्त सेठकी पत्नी सुनन्दाको एक पुत्र और हुआ जिसका नाम नन्द रखा गया। कुमार जीवन्धरकी पाँच वर्षकी अवस्थामें विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया गया। उन्होंने आर्यनन्दि गुरुसे समस्त विद्याओंका अभ्यास किया। आर्यनन्दी-ने ही जीवन्धरको उसके कुलका परिचय कराया और बताया कि अब काष्ठागारसे अपना राज्य प्राप्त कर लेना चाहिए, पर इस कार्यमें जल्दी करनेकी आवश्यकता नहीं। अभी एक वर्षतक युद्ध न करना श्रेयस्कर है।

जीवन्धरने नन्दगोपकी गायोंको भीलोंसे छुड़ाया और अपने मित्र पद्मके साथ नन्दगोपकी पुत्री गोविन्दाका विवाह सम्पन्न कराया। जीवन्धरने वीणावादनमें गन्धर्वदत्ताको पराजित कर उसके साथ विवाह सम्पन्न किया।

वसन्त ऋतुमें जलक्रीडा सम्पन्न करनेके लिए कुमार जीवन्धर नगरवासियोंके साथ गया। वहाँ वैदिकों द्वारा घायल किये गये एक कुत्तेको उन्होंने णमोकार मन्त्र सुनाया, जिससे उसने यक्ष-पर्याय प्राप्त की। कुत्तेके जीव उस यक्षने अपने ज्ञानबलसे उपकारीको जान लिया, अत: वह जीवन्धरके समक्ष अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने आया और समय पड़नेपर सेवा करनेका वचन देकर चला गया। इस उत्सवमें गुणमाला और सुरमञ्जरी नामकी दो सखियाँ भी सम्मिलित हुईं। उन्होंने स्नानीय चूर्ण तैयार किया था। परीक्षाके अनन्तर कुमारने गुणमालाके चूर्णको श्रेष्ठ सिद्ध किया, इससे सुरमञ्जरी रूठकर घर चली आयी और उसने कुमारके साथ विवाह करनेका अनुबन्ध किया। स्नानकर उत्सवसे लौटते हुए गुण-मालाको काष्ठागारके मदोन्मत्त हाथीने घेर लिया। जीवन्धर कुमारने हाथीसे उसकी रक्षा की। गुणमालाका जीवन्धर कुमारके साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

हाथीको ताडित करनेके कारण काष्ठागार कुमारसे बहुत रुष्ट हुआ और उसे दरबारमें पकड़ कर बुलाया। उसने कुमारके बधका आदेश दिया, पर यक्षका स्मरण करनेसे कुमारकी प्राण-रक्षा हुई। यक्षने कुमारको चन्द्रोदय पर्वत पर ले जाकर उन्हें तीन मन्त्र दिये और एक वर्षमें राजा होनेकी भविष्यवाणी की। वहाँसे चलकर कुमार एक वनमें आया और उसने जिनेन्द्र स्तवन द्वारा वृष्टिकर दवाग्निको शान्त किया तथा चन्द्रप्रभा नगरीके धनमित्रकी पुत्री पद्माके साथ विवाह सम्पन्न किया।

चन्द्रप्रभानगरीसे चलकर दक्षिण देशके सहस्रकूट चैत्यालयमें आया और अपने स्तुतिबलसे चैत्यालयके बन्द किवाडोंको खोला तथा क्षेमपुर नगरीके सेठ सुभद्रकी पुत्री क्षेमश्रीके साथ विवाह सम्पन्न किया। अनन्तर कुमारने माया नगरीके राजा दृढमित्रकी पुत्री कनकमालाके साथ विवाह सम्पन्न किया।

कुमार दण्डकारण्यमें अपनी माता विजयाका दर्शन करता है और उसे अपने मामाके यहाँ भेज देता है। सागर-दत्तकी कन्या विमलाके साथ विवाह सम्पन्न करता है। इसके पश्चात् कुमार जीवन्धर सुरमञ्जरीको प्रभावित करता है और उसके साथ उनका विवाह भी हो जाता है।

इसके पश्चात् कुमार जीवन्धरने धरणीतिलक नगरीके राजा गोविन्दराजसे सैन्य सहायता प्राप्तकर काष्ठा-गारसे युद्ध किया। काष्ठागार युद्धमें मारा गया और जीवन्धर कुमारको राज्यपद प्राप्त हुआ। कुमारने अपने धर्मभाई नन्दको युवराजपद दे दिया और कुमारका विवाह लक्ष्मणाके साथ सम्पन्न हो गया।

जीवन्धर अपनी आठ पत्नियों सहित वनक्रीडाके लिए गये। वहाँ एक वानर-वानरीके प्रेम-कलहको देखकर उनके मनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। राजधानीमें लौटनेपर उन्होंने गन्धर्वदत्ताके पुत्र सत्यन्धरको राज्य-भार प्रदान किया और स्वयं दिगम्बरी दीक्षा धारण करली। नाना प्रकारकी परीषहोंको सहन किया और घोर तपश्चरण द्वारा कर्मोंकी निर्जरा कर निर्वाणपद प्राप्त किया।

## कथावस्तुका गठन

कथावस्तुमें रमणीयताके साथ व्यापकता भी है। कथाका आयाम विस्तृत होनेपर भी घटनाओं और कथानकोंमें अन्विति पायी जाती है। कथानकके समस्त अंग समानरूपसे विकसित हैं। कथाका आरम्भ विलास-वैभवसे होता है और समाप्ति वैराग्यमें। राजकुमारका श्मशान भूमिमें जन्म ग्रहण करना, गन्धोत्कटको मृत पुत्रके संस्कारके समय जीवन्धर कुमारका प्राप्त होना, आर्यनन्दीके सम्पर्कसे वास्तविक स्थितिका परिज्ञान प्राप्त करना, नन्दगोपकी गायोंको भीलोंसे छुड़ाकर लाना, घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ताको परास्त करना, श्वानको णमोकार मन्त्र सुनाना तथा उसके प्रभावसे यक्ष योनिको प्राप्त करना, सुरमञ्जरीका रूठ जाना, दण्डकारण्यमें महारानी विजयासे मिलना, वनक्रीडाके समय वानर-वानरीके प्रेम-कलहका दर्शन करना प्रभृति कथानक मर्मस्पर्शी है। कथावस्तुमें रोचकता और गत्यात्मकता पायी जाती हैं। इस कथाकाव्यमें घटी हुई घटनाएँ एक-दूसरीका सहज परिणाम है। इतना सत्य है कि वर्णन चमत्कारोंकी योजनाके कथानक गठनमें शिथिलता उत्पन्न की है। अलङ्कृतियोंकी बहुलताके कारण कार्यव्यापार कथानककी धुरी नहीं बन पाये

है। काष्ठांगारका राजविद्रोह नाटकीय है। बहुत समय तक उसके अन्तस्में द्वन्द्व चलता है, पश्चात् तर्कका आधार ग्रहण कर वह अपने आप असत्कार्यको सम्पादित करता है।

इस कथावस्तुमें मृत पुत्रके स्थानपर कुमार जीवंधरकी प्राप्ति सबसे बड़ी नाटकीयता है। यह एक प्रकारसे विधिका विचित्र व्यंग्य है कि गन्धोत्कटकी पत्नी सुनन्दा अपने मृतपुत्रको जीवित समझ लेती है और कुमार जीवन्धरका लालन-पालन करती है। इस धर्मकथामें भी कविने निम्नाङ्कित लोककथातत्त्वोंका समावेश किया है—

१. प्रेमका अभिव्यपुट—इस कृतिमें गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, सन्तान-माता, मित्र, आदिके प्रेमका सजीव चित्रण किया गया है। कविने लिखा है—एकदा तु तमेकान्ते प्रान्ते निवसन्तमन्तेवासिनमालोक्याचार्यः प्रज्ञाप्रश्रयबलेन इंलया संजातां विद्यापरिणतिं विमृशन् करतलसंस्पर्शेन सादरं सम्भाष्य निरवसानव्यसनप्रसूनदायिसंसृतिलताच्छेदकुठारं निरतिशयपरमानन्दपदप्राप्तिसाधनं सम्यक्त्वधनं समर्पयितुमस्मै…'। 'वत्स, वन्दमानविद्याधर मुकुटताडितपादपीठ-कण्ठोत्कमहिमा।'[1]

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि आर्यनन्दीका कुमार जीवन्धरके प्रति अपार वात्सल्य है। वे उसके राज्य प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। उनका कुमारके प्रति पुत्रवत् प्रेम है।

२. स्वस्थश्रृंगारिकता—इस कथा-कृतिमें श्रृंगारका रूप परम्पराओंकी पृष्ठभूमिमे चित्रित हुआ है। सत्यन्धर की विलासी प्रकृतिके अतिरिक्त अन्यत्र—'विषयेषु समस्तेषु कामं सफलयन्सदा'[2] नियन्त्रितरूपमे श्रृंगार सेवनका निर्देश किया है। सर्वत्र कविने राग या अत्यधिक कामासक्तिकी निन्दा की है। उसका अभिमत है—'स्ववैभवं स्वशौर्यं स्ववीर्यं स्वपौरुषं स्ववेदनमप्येकपद एव व्युदस्य दास्यमप्यभ्युपगच्छति। रागान्धो ह्यखिलेन्द्रियेणाप्यदर्शनादन्धादपि महानन्धः।'[3] स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमे इन्द्रियदासता नेत्रहीनता है। जो व्यक्ति कामनाओं और इच्छाओंके नियन्त्रणपूर्वक विषय-सुखोंका सेवन करता है वही जीवनमे यथार्थ सुख पाता है। लौकिकदृष्टिसे उसीका जीवन सफल माना जाता है।

## ३. मूलप्रवृत्तियोंका निरन्तर साहचर्य

मनुष्यका प्रत्येक कार्य मूलवृत्तियोंके द्वारा संचालित होता है। मूल वृत्तियाँ वे कहलाती हैं, जिनका जीवनके साथ अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्ध है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, काम, क्रोध, मद, लोभ, माया, लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा आदि ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक व्यक्तिका जीवन किसी-न-किसी प्रकार सदैव संचालित होता रहता है। गद्यचिन्तामणिमें आरम्भमे ही पुत्रैषणा वित्तैषणाका द्वन्द्व होने लगता है। पलायन ( Escape ) की वृत्ति परिवारपर संकट उत्पन्न होते ही उपस्थित होती है। सत्यन्धर महारानी विजयाको मयूरयन्त्रमें बैठाकर वंशरक्षाके हेतु वहाँसे उड़ा देते हैं और विजया श्मशान भूमिमें जीवन्धरको जन्म देती है तथा बुद्धिमानी पूर्वक कुमारके भरण-पोषणका प्रबन्ध कर देती है। युयुत्सा ( combat ) का आरम्भ काष्ठांगारसे होता है और समाप्ति जीवन्धरमें। कथाका तनाव भावना-ग्रंथियों ( Emotional complexes ) के बीच बढ़ता है। आर्यनन्दीसे अपना परिचय प्राप्त करते ही जीवन्धरके मनमें काष्ठांगारसे युद्ध करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। वे शक्ति अर्जनके हेतु परिभ्रमण करते हैं और अन्तमें अपने मामासे सहायता प्राप्तकर काष्ठांगारको यम-अतिथि बनाते हैं। मूलवृत्तियोंमें संग्रहवृत्ति ( Instinct of collection ) भी प्रधान है। कुमार जीवन्धरने आठ युवतियोंसे विवाह किया, उनके इस कार्यमें एक साथ विधायकवृत्ति ( Constructiveness ) आत्मगौरव ( Self-assertion ), कामप्रवृत्ति ( Sex instinct ) एवं सन्तान-कामना ( Parental instinct ) मिश्रितरूपमे पायी जाती है। सहानुभूति ( Sympathy ) की प्रवृत्ति आर्यनन्दी, नन्दगोप, जीवन्धर एवं गोविन्दराज प्रभृतिमें वर्तमान है। कथासूत्रके संचालनमें इस प्रवृत्तिका योगदान भी कम नहीं है। काष्ठांगारके दुष्ट हाथीसे गुणमालाकी रक्षा करनेमें सहानुभूतिके अतिरिक्त अन्य प्रवृत्ति कार्य नहीं कर रही है। इसी प्रकार श्वानको णमोकार मन्त्र सुनानेमें भी सहानुभूतिके कारण ही जीवन्धर प्रवृत्त हुए हैं। सुरमञ्जरीके साथ जीवन्धरकी विवाह-प्रवृत्तिमें कई मूलवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार कवि वादीभसिंहने मूलवृत्तियोंका पात्रोंके जीवनमें न्यास किया है और उनके शीलको सीधी रेखामें अंकित न कर आरोहावरोह क्रममें उपस्थितकर कथाकृतिकी दृष्टिसे सफलता प्राप्त की है। तथ्य यह है कि

---

१. गद्यचिन्तामणि लम्ब १, पृ० ५५-५६।

२. वही, लम्ब ४ पृ० १२३।

३. वही, लम्ब ७, पृ० १६७।

प्रौढ़ और अलंकृत गद्य रहनेपर भी शीलगठन सम्बन्धी वृत्तियों और तत्त्वोंका विश्लेषण एवं मानव-मानवेतर प्रकृतियोंका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

## ४. धर्म-श्रद्धा

वादीभसिंहने अपने पात्रोंके आचार-व्यवहार द्वारा धार्मिक श्रद्धाका विकास दिखलाया है। धर्मश्रद्धा ही सात्त्विक बुद्धिका निर्माण करती है। जीवन्धरके हृदयमें अपार धर्मश्रद्धा है। वे सहस्रकूट चैत्यालयके सम्मुख बैठ श्रद्धा-भक्ति पूर्वक भगवान्‌की स्तुति करते हैं—

तरन्ति संसारमहाम्बुराशिं यस्यादनावं प्रतिपद्य भव्याः।
अखण्डमानन्दमखण्डितश्रा श्रीवर्धमानः कुरुताज्जिनो नः॥

यदीयपादामृतमेवनेन हरन्ति संसारगरं मुनीन्द्राः।
स एष सन्तापतनुर्जिनो नः ससारतापं शकलीकरोतु॥

—गद्यचि० पृ० १५२-१५३

भक्ति करते समय जीवंधरके हृदयमें कितना आनन्द और विश्वास है, यह निम्न पंक्तियोंसे स्पष्ट है।

'विहिताञ्जलिरधिकमक्तिर्मक्तिभरनिगलविगलित इव कथञ्चिद्गलाद्गलति सकलवाङ्मयातिवर्तिकीर्तेभंगवतः सस्तवे, संस्तवनौत्सुक्याङ्कुरानुकारिरोमाञ्चं मुञ्चति शरीरे, शारदारविन्द इव मकरन्दबिन्दुभिरानन्दाश्रुजालैः प्लाविते लोचनयुगले, अचलितमूर्तिरतुलतूर्तिः कर्तव्यमपश्यन्नवश्येन्द्रियस्त्रिकरणशुद्धिस्त्रिःपरीत्य श्रीपीठाग्रस्थितिरारचय्य······।

—गद्य० पृ० १५२

उपर्युक्त उद्धरणसे धार्मिक श्रद्धा प्रवाहित होती हुई परिलक्षित हो रही है। जीवनको गहन अटवीको श्रद्धा और आस्था द्वारा ही पार किया जाता है।

## ५. कुतूहल और मनोरञ्जन

अलंकृत कथा रहने पर भी गद्यचिन्तामणिमें कुतूहलवृत्ति पायी जाती है। इसके कारण लोकप्रचलित विश्वासों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओंका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। काष्ठागारके राजविद्रोहमें भी कुतूहल है और जीवन्धर द्वारा राज्य प्राप्त किये जानेमें भी। सबसे अधिक कौतूहल तो उस समय जाग्रत होता है, जब हम विलास-क्रीडामें प्रवृत्त जीवन्धरको दीक्षित होते देखते हैं। एक क्षण पहले जो विषयरसके समुद्रमें डुबकी लगा रहा है, दूसरे क्षण उसे ही हम दिगम्बर साधुके रूपमें प्राप्त करते हैं। प्रत्येक विचार-शील पाठक इस परिवर्तनके हेतुका अन्वेषण करता है और अपनी जिज्ञासाको वानर-वानरीके प्रेमकलहके साथ सम्बद्ध कर लेता है; परन्तु वास्तवमें मनोविज्ञान और जैनविज्ञान इस समाधानको स्वीकार करनेको तैयार नहीं, उनके समाधानके लिए चारित्रिक विश्लेषण अपेक्षित है। जीवन्धरके परिभ्रमण, उनके द्वारा कन्याओंको अपने रूप-यौवनके साथ आन्तरिक गुणोंसे प्रभावित करना, बौद्धिक और शारीरिक परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना, प्राकृतिक और अप्राकृतिक कार्योंका सम्पादन करना, सुरमञ्जरीको कुमार द्वारा कामदेवके मन्दिरमें ले जाना और वहाँ उसके द्वारा जीवन्धरवरप्राप्तिकी याचना किये जाने पर उनका प्रकट होना आदि कथांश कुतूहल-खनि है।

मनोरञ्जन भी इस कथामें आद्यन्त व्याप्त है। गन्धर्वदत्ताको घोषवती वीणा बजाकर अधीन करना संगीत शास्त्रका ही इतिवृत्त उपस्थित नहीं करता, बल्कि घोषवती वीणाका भी इतिहास सामने आ जाता है। यह घोषवती अपने इसी रूपमें वसुदेव हिण्डी, कथासरित्सागर, भास कविके नाटकोंमें भी पायी जाती है। उदयन भी इसी वीणासे वासवदत्ताको अपने अधीन करता है। मनोरञ्जनके साधन कामतत्त्व, क्रीडातत्त्वकी व्यंजनात्मक व्याख्या भी की गई है। इस कृतिमें कलासौन्दर्य एवं सरस उपदेश नीतिवाक्यों द्वारा समन्वित हो रुचिर पदयोजना प्रस्तुत करते हैं। वर्णनोंके अलंकृत होनेके साथ रसवती कथाका आयोजन किया गया है। 'जीवक' या जीवन्धरकी कथा लोकसाहित्यमें पायी जाती है और वहींसे यह अभिजात्य साहित्यमें आयी है। हाँ, अभिजात्य साहित्यकी कथामें कई घटनाएँ नयी शैली से जोड़ी गयी हैं। मनोरञ्जन तत्त्व तो कथाका प्राण होता है, इसके बिना कोई भी कथाकृति सफल नहीं मानी जाती है। कल्पना और पौराणिकता मिलकर मनोरंजनका सृजन करती है।

## गद्यकाव्यके आलोकमें गद्यचिन्तामणि

गद्यकाव्यकी अनेक विशेषताओंमेंसे सबसे प्रमुख विशेषता सामान्य लोककथाको काव्यकी आभासे उद्दीप्त करना है। इसके लिए अपार शब्दभाण्डार, अलंकार और कल्पनाओंकी अपूर्व सूझ, वर्णनकी तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति, संगीतात्मक भाषा एवं भावपक्षकी तरलता अपेक्षित होती है। जो गद्यकाव्यरचयिता उक्त गुणोंसे समवेत रहता है, उसीका गद्य-काव्य काव्यश्रेणीमें परिगणित किया जाता है। वादीभसिंहके पास केवल शाब्दी क्रीड़ा ही नहीं है, बल्कि जीवनको ज्योंका त्यों चित्रित करनेकी शक्ति भी है। हाँ यह सत्य है कि बाण जैसी शाब्दी कलाबाजी इनके पास नहीं है, फिर भी उत्कृष्ट कवित्वका परिचय प्राप्त होता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर गद्यकाव्यकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

महारानी विजया अपने पुत्र जीवन्धरको संवर्द्धनके हेतु अन्यको सौंप दण्डकारण्यमें चली जाती है। कविने सद्यप्रसूत पुत्रसे बिछुड़ी माँके करुण हृदयका चित्रण अत्यन्त सजीवरूपमें प्रस्तुत किया है। प्रत्येक शब्द करुणा और हृदयकी मार्मिक व्यथाका प्रतीक है। ऐसा अनुभव होता है कि कविने उपमान औचित्यपर तो ध्यान दिया ही है, साथ ही वैदर्भी शैलीका प्रयोग कर वर्णनको मूर्तिक रूप प्रदान किया है। यथा—

सा च तत्र सन्तापकृशानुकृशतरा कृशोदरी करेणुरिव कलभेन धेनुरिव वत्सेन श्रद्धेव धर्मेण श्रीरिव प्रश्रयेण प्रज्ञेव विवेकेन तनुजेन विप्रयुक्ता विगतशोभा सती विमुक्तभूषणा तापसवेषधारिणी करुणाभिरिव मूर्तिमतीभिर्मुनिपत्नी-भिरुपलाल्यमाना मनसि जिनचरणसरोजमात्मजवृद्धिं च ध्यायन्ती समुचितव्रतशीलपरित्राणपरायणा पाणितलविलूना-भिर्मरकतहरिताभिर्दूर्वामुष्टिभिर्मोदयन्ती नन्दनाभिवर्धनमनोरथविनोदाय मुनिहोमधेनुवत्सानवात्सीत्।

—गद्य० पृ० ४७

उपर्युक्त उद्धरणमें माताके हृदय और शरीरकी रम्याकृति प्रस्तुत की गयी है। छोटे-छोटे पदोंमें कविने महद्भाव की योजना की है। इस सन्दर्भके सभी विशेषण और उपमान सटीक हैं। महारानीको 'तापसवेषधारिणी करुणा' कह कर कविने व्यंग्य द्वारा मातृ-वात्सल्य, कृतघ्नियों द्वारा समाजको दिये जाने वाले कष्ट, विधिका विचित्र कार्यव्यापार एवं पराधीनता-विवशी आदि कई भावोंको एक साथ अभिव्यक्त किया है। भावपक्षकी दृष्टिसे उक्त गद्यखण्डका अत्यधिक मूल्य है। सुबन्धुके समान ही उक्तिवैचित्र्यके साथ प्रत्येक पदमें अर्थगर्भत्व भी पाया जाता है।

कुमार जीवन्धर अपने राज्यको प्राप्त करनेके लिए काष्ठांगार पर आक्रमण करते हैं। इस अवसर पर काष्ठांगार का रौद्र रूप दर्शनीय है। सन्दर्भके अध्ययनसे ऐसा मालूम पड़ता है कि रौद्ररस स्वयं मूर्तिमान रूप धारण कर प्रस्तुत हो गया है। सुचिन्तित कार्यमें विघ्न-बाधा आने पर मनुष्यका रौद्ररूप धारण करना स्वाभाविक है। कविकी पदावली और विराट् कल्पना एक साथ मिलकर नये जगत्का निर्माण करनेमें संलग्न है। यथा—

आह्वानक्षण एव क्षीणतराहङ्कारः स रुष्टः काष्ठाङ्गारः क्रोधवेगस्फुरदोष्ठपुटतया निकटवर्तिनो निजाह्वानकृते कृता-गमान् कृतान्तदूतानिव स्वान्तसन्तोषिभिः सान्त्वयन्वचोभिः नातिचिरभाविनरकावरुथभवद्व्रतममप्रत्ययमिवात्मानं प्रति-प्रहर्तुकाममागत करालं कालमेघाभिधानं करिणमारुह्य रोषाशुशुक्षणिविजृम्भमाणशोणेक्षणतीक्ष्णार्चिश्छटाच्छलाद् गतया सहार्चिषि निमज्य निजस्वामिद्रोहाभावं बिभावयितुं सत्यापयन्निव सत्यन्धरमहाराजतनयाभिमुखमभीयाय।

—गद्य० पृ० २१८

उक्त गद्यखण्डके आधारपर काष्ठाङ्गारकी क्रोधमूर्तिका चित्राङ्कन भी किया जा सकता है।

कवि जिस समय किसी उत्सव या विलास दृश्यका चित्रण करता है, उस समय उसकी शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट एवं प्रगाढ़ हो जाती है। दीर्घकाय समास, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रमयता दृष्टिगोचर होती है। शब्दोंका प्रयोग भी विषयोंके अनुकूल कठोर या मृदुल रूपमें पाया जाता है। यहाँ उदाहरणार्थ जीवन्धरके जन्मोत्सवको उपस्थित किया जाता है। यथा—

यस्मिंश्च जातवति जातपिष्टातकमुष्टिवर्षपिञ्जरितहरिन्मुखमुन्मुखकुब्जवामनहठाकृष्यमाणनरेन्द्राभरणं प्रणयभरप्रवृत्तवारयुवतिवर्गवल्गनरणितमणिभूषणनिनदभरितहरिदवकाशं निर्मर्यादमदपरवशपण्ययोषिदाश्लेषकुञ्जमान-राजवल्लभं वर्धमानमानसपरितोषपरस्परपरिरब्धपार्थिवभुजान्तरसंघट्टविघटितहारपतितमौक्तिकस्थपुटितास्थानमणि-कुट्टिमतटं कुड्मलितसाविदल्लनिरोधसंलापनिरङ्कुशप्रविष्टाशेषजानपदजनितसंबाधं सादरदायमानकनकमणिमौक्ति-कोर्वीद्रसमुद्घाटितकपाटरत्नकोशप्रविशदचकितकोकलुप्यमानवस्तुसार्थमर्थिगणगवेषणावेक्षानिर्गतानेकशतप्रतीहारानीतवनीपक-

लोकमुक्तोकहर्षविहितमहार्हजिममहामहमहमहमिकाप्रविष्टविशिष्टजनप्रस्तूयमानस्वस्तिवादं सौवस्तिकसंबंधीयमानमङ्गलाचारमाचारचतुरपुराणपुरन्ध्रीपरिषदभ्यर्च्यमानगृहदैवतं···वर्धिष्यसे वा ।

—गद्य० पृ० ४२-४३

उपर्युक्त गद्यखण्डमे दृश्योंका स्वाभाविक विनियोग और सामाजिकगत प्रभाव पूर्णरूपेण समाहित है। गद्यमें भावावेश भी निहित है। समस्यन्त पदावलीके रहने पर भी शैलीकी सरलता स्वतः सौन्दर्यका संचार कर रही है। वादीभसिंहने वर्णनोंको कलात्मकता देनेका पूरा प्रयास किया है और इस प्रयासमे उन्हें सफलता भी मिली है। कथानकों के सन्दर्भमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय सूर्यास्त, चन्द्रोदय, यात्राएँ, जिनालय, स्वयंवर प्रभृतिका अलंकृत वर्णन किया गया है। कविने प्रतीकों द्वारा भी भावाभिव्यञ्जनामें सहायता ग्रहण की है। बताया है—

**'पुत्रि रात्रावतीतायां दयितां हंसीमपहाय राजहंसः क्वचिद्गत्वा संगतश्च पुनरदृष्टः। ततः संगंस्यसे त्वमपि जामात्रा। धात्रीसकलुलभस्तव वल्लभः सुते, स्वाभिप्रायं प्रायेण केनापि व्याजेन।**

—गद्य० पृ० १६१

यहाँ हंस पतिका प्रतीक है और हंसिनी वल्लभाका। रात्रिके अवसरपर स्वप्नमे देखे हंस-हँसीके संयोग, वियोग और पुनर्मिलनसे पति-पत्नीके संयोग, वियोग और पुनर्मिलनकी अभिव्यंजना की गयी है। यदि प्रतीकोंके अर्थ-गर्भत्वमें प्रवेश किया जाय तो ये ही प्रतीक जीवन्धरके वैराग्य और मुक्ति प्राप्तिके व्यञ्जक भी है। स्पष्ट है कि कवि वादीभसिंहने इस काव्यमे अलंकृत गद्यकाव्यके समस्त गुणोंका नियोजन किया है। निस्सन्देह गद्यचिन्तामणि अलंकृत गद्यकाव्य है और पूराका पूरा प्रौढ़ गद्यमे लिखा गया है। दो तीन स्थलोंपर कुछ पद्य भी दिये गये हैं जो स्तुति आदिके रूपमें आवश्यक प्रतीत होते है। गद्यचिन्तामणिके विशिष्ट गुणोंकी चर्चा करते हुए इसके प्रथम पुरस्कर्ता श्री कुप्पु स्वामीने बड़ी सुन्दर पंक्तियाँ लिखी है—

**'अस्य काव्यपथे पदानां लालित्यं श्राव्यः शब्दसंनिवेशः निरर्गला वाग्वैखरी सुगमः कथासारावगमश्चित्त-विस्मापिकाः कल्पनाश्चेतःप्रसादजनको धर्मोपदेशो धर्माविरुद्धा नीतयो दुष्कर्मणो विषयफलावाप्तिरिति विलसन्ति विशिष्टगुणाः'[1]।**

अर्थात् इनके काव्यपथमें पदोंकी सुन्दरता, श्रवणीय शब्दोंकी रचना, अप्रतिहत वाणी, सरल कथासार, चित्तको आश्चर्यमें डालनेवाली कल्पनाएँ, हृदयमें प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश, धर्मसे अविरुद्ध नीतियाँ और दुष्कर्मके फलकी प्राप्ति आदि विशिष्टगुण सुशोभित है।

श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास तथा उल्लेख आदि अलकारोंकी पुटने गद्यकी शोभामें चार चाँद लगा दिये है। बाणने श्री हर्षचरितमे आदर्श गद्यके जिनगुणोंका वर्णन किया है[2] वे नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, स्पष्ट श्लेष, स्फुट रस, और अक्षरकी विकट बन्धता गद्यचिन्तामणिमे सबके सब अवतीर्ण है।

अटवीमे झाड़-झंखाड़ोंका कोई व्यवस्थित क्रम नही रहता, परन्तु मनुष्यकृत उद्यानमे पुष्पित-पल्लवित लताओ, हरे-भरे वृक्षों और आवश्यकतानुसार निर्मित पादपकेदारिकाओंका एक व्यवस्थित सुन्दर क्रम रहता है जिसमे उसकी शोभा निखर उठती है। गद्य और पद्य काव्यमे भी कवि अपनी वर्णनीय वस्तुओंको इस सुन्दर क्रमसे सजा-सजाकर रखता है कि वह एकदम सहृदय मनुष्योके हृदयको आह्लादित करनेवाली हो जाती है। हम प्रतिदिन देखते है कि प्राचीमे सूर्योदय हो रहा है, आकाशमें रात्रिके समय असंख्य तारोंके साथ उज्ज्वल चन्द्रमा चमक रहा है, कलकल करती हुई नदियाँ बह रही हैं, वनके हरेभरे मैदानोंमें हरिणोंके झुण्ड चौकडियाँ भर रहे हैं, मकानके छज्जोंपर बैठे कबूतरोंको पकड़नेकी घातमे बिल्ली दुबक कर बैठी हुई है, पूंछ हिलाता और लीद करता हुआ घोड़ा हिन-हिना रहा है और बिजलीकी कौंधसे बच्चे तथा स्त्रियाँ भयभीत हो रही है। पर उन सब दृश्योंमें आह्लाद कहाँ? दर्शकके हृदय मे रस कहाँ उत्पन्न होता है? किन्तु यही सब वस्तुएँ जब किसी कुशल कविकी लेखनी रूपी तूलिकाके द्वारा सजा कर रख दी जाती है तो काव्य बन जाती है और श्रोताओंके हृदयमे एक अजीबसा रस उत्पन्न करने लगती है। गद्य-चिन्तामणिमे भी कविने इन सब चीजोंको ऐसा सँभाल कर रक्खा है कि देखते ही हृदय आनन्दसे भर जाता है। कवि

१. गद्यचिन्तामणि प्रस्तावना।
२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥ —हर्षचरित।

जहाँ स्त्री पुरुषोंका आनखशिख वर्णन करता हुआ उनके बाह्य सौन्दर्यका वर्णन करता है वहाँ उनकी आभ्यन्तर पवित्रता का भी वर्णन करता चलता है। 'राजा सत्यन्धरका पतन उनकी विषयासक्तिका परिणाम है', यह बतला कर भी कवि उनकी श्रद्धा और धार्मिकताके विवेकको अन्ततक जागृत रखता हैं। युद्धके मैदानमें भी वह सल्लेखना धारण कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

## प्रकृति-चित्रण

संस्कृत साहित्यमें प्रकृति वर्णनके लिये महाकवि भवभूतिकी प्रसिद्धि है। परन्तु जब हम गद्यचिन्तामणिका प्रकृति वर्णन देखते हैं तब कहीं उससे भी अधिक आनन्दका अनुभव होता है। निर्मल अन्तरीक्षमें फैली हुई चाँदनी, रात्रिका घनघोर अन्धकार, सूर्योदय, सूर्यास्त, लहराता हुआ समुद्र, प्रातःकालका मन्द-शीतल और सुगन्धित समीर, पक्षियोंका कलरव, हरे भरे कानन, आकाशमें छाई हुई श्यामल घनघटा, दावानल और उसके बीचमें रुके हुए हाथियोंके झुण्ड, जन-जनके मानसमें आनन्द उत्पन्न करने वाला वसन्त, मेघवृष्टिके बाद बहता हुआ पानीका प्रवाह, ग्रीष्मके रूक्ष दिन और पावसके सरस दिन इन सबका कविने जितना शानदार वर्णन किया है उतना हम अन्यत्र नहीं पाते। सबके उद्धरण देना इस अल्पकाय लेखमें सम्भव नहीं हैं फिर भी कुछ पङ्क्तियाँ उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर सक रहा हूँ। देखिये, छटवें लम्भमें जीवन्धर कुमार एक तपोवनसे आगे चलकर कतिपय काननोंको दृष्टिगोचर कर रहे हैं।

'विहितप्रगेतनविधिस्ततो विनिर्गत्य सान्द्रतरिरन्धकारितपरिसराणि, कणदलिकदम्बकचलितशिखर-कुसुमतुङ्गतरुमहस्राणि, विश्रङ्खलखेलत्कुरङ्गखुरपुटमुद्रितसिकतिलस्थलाभिरम्याणि, स्वच्छसलिलसरःसमुन्मिषत्कुमुद-कुवलयमनोज्ञानि, विमलवनापगापुलिनपुञ्जितकलहंसरसितरञ्जितश्रवणानि, दृप्यच्छाकरशृङ्गकोटिविघटनविषमित-तुङ्गकच्छानि, विचित्रसुमनःपरिमलमांसलसमीरसंचारसुरभीकृतानि, कानिचित्काननानि नयनयोरुपायनीचकार।'

## रस-परिपाक

शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं तो रस उसकी आत्मा हैं। साहित्यमे शृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस है। भरत मुनिने वात्सल्य नामक दशवाँ रस भी माना है। इन सभी रसोंका गद्यचिन्तामणिमे अच्छा परिपाक हुआ है। कथानायक जीवन्धर कुमारकी गन्धर्वदत्ता आदि आठ नई नवेली वधुएँ है। उनके साथ पाणिग्रहणके बाद शृङ्गारका अच्छा परिपाक हुआ है। पर खास बात यह है कि कविने उस शृङ्गार वर्णनमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने दी है। नवमलम्भमें जीवन्धर कुमार एक जर्जरकाय वृद्धका रूप बनाकर जब सुरमञ्जरीके घर पहुँचते हैं और 'कुमारी तीर्थकी प्राप्तिके लिये घूम रहा हूँ' इन शब्दोंके द्वारा अपने आगमनका प्रयोजन बताते है तब मानों हास्यका झरना ही फूट पड़ता है। वे अपने दिव्य संगीतसे सुरमञ्जरीको प्रभावित कर तथा मनचाहा वर प्रदान करनेका प्रलोभन दे अनङ्गगृहमें ले जाते है और अनङ्गप्रतिमाके सामने सुरमञ्जरीके द्वारा चिरकाङ्क्षित जीवन्धरके प्राप्त होनेकी प्रार्थना की जाती है तथा छिपे हुए बुद्धिषेणके द्वारा 'लब्धो वरः'का उच्चारण होने पर जब जर्जरशरीर वृद्ध, जीवन्धर कुमारके वेषमें प्रकट होता है तब रोनी मुद्रावाले मनहूस पाठक भी एकबार खिल-खिला उठते है। विजया माताके चित्रणमें तथा द्वितीय लम्बमे भीलों द्वारा गोपोंकी गायोंके चुरा लिये जाने पर कविने जो गोपोंकी बसतिका वर्णन किया हैं तथा माताओंके अभावमें भूखसे पीड़ित गायोंके दुधमुहे बछड़े जब गोपियोंके स्तनों पर अपने मुख लगा देते हैं तब करुण रसका परिपाक सीमाके बाँधको लाँघ जाता है। और वज्रादपि कठोर मनुष्य के नेत्रोंसे शोकके गरम-गरम आँसू निकल पड़ते हैं। काष्ठाङ्गारकी क्रूरता जब हितावह मार्गका प्रदर्शन करनेवाले धर्मदत्त आदि सचिवोंका वध करती है तथा अपने उपकारी राजा सत्यन्धरको मार कर अपनी कृतघ्नताका परिचय देता है तब रौद्ररस अपनी रुद्रतासे सत्पुरुषोंके हृदयमें भय उत्पन्न कर देता है। गन्धर्वदत्ता तथा लक्ष्मणाके स्वयंवरके बाद जीवन्धर कुमारने युद्धोंमें जो अपनी शूरता दिखाई है और काष्ठाङ्गारको मारनेके बाद भी उसके परिवारको राज महलमें ही रहनेकी उदारता प्रदर्शित की है उससे वीररसका उत्तम परिपाक हुआ है। चतुर्थ लम्बमें वनक्रीडासे लौटते समय काष्ठाङ्गारका अशनिघोष हाथी रुष्ट होकर गुणमालाके प्रति झपटा चला आ रहा है। भयसे भीत हो उसके सखा साथी तथा शिबिकाके वाहक भी भाग गये है और भयसे काँपती हुई गुणमाला एक वृद्धा धायके पीछे खड़ी-खड़ी अनाशंसित मृत्युकी प्रतीक्षा कर रही है''''यह भयानक रसका कितना स्पष्ट वर्णन है। श्मशानमें जलती हुई चिताओं और उनकी लपटमें जलते हुए नरशवोंका वर्णन बीभत्स रसका दृश्य सामने रखता है तो लक्ष्मणाके स्वयंवरमें जीवन्धर कुमार के द्वारा सहसा चन्द्रकवेधका होना अद्भुत रसको उपस्थित कर देता है। अन्तिम लम्बमें वनपालके द्वारा वानरीके हाथसे

सालफल छीन लिया जाता है। इस दृश्यको देखकर जीवन्धरके मुखसे निकल पड़ता है—'मद्यते बनपालोऽयं काष्ठाङ्गारयते हरिः' और उनका हृदय संसारकी दशा देख वैराग्यसे सराबोर हो जाता है। मुनिराजके मुखसे धर्मोपदेश होता है और जीवन्धर स्वामी सब राज्यपाट छोड़ दैगम्बरी दीक्षा धारण कर लेते हैं। यह सब शान्तरसका परम परिपाक है। इस तरह गद्यचिन्तामणिमें अङ्गीरस शान्तरस है और अङ्गरूपमें शेष आठ रस स्थान-स्थान पर अपनी गरिमा प्रकट कर रहे हैं। विजयाके चरित्र चित्रणमें वात्सल्य रस भी अपनी आभा दिखला रहा है।

## अन्य कवियोंका प्रभाव

छद्मस्थ लेखक कितना ही पण्डितप्रकाण्ड क्यों न हो पर उसका ज्ञान सीमित ही रहता है। ज्ञानकी इस सीमित दशामें उसकी दृष्टि आगे पीछे दौड़ती है और वह जहाँ तहाँ बिखरी हुई ज्ञानसामग्रीसे अपनी ज्ञाननिधिको बढ़ा लेना चाहता है। यही कारण है कि परवर्ती लेखकोंकी कृतियों पर पूर्ववर्ती लेखककी कृतियाँ प्रायः अपना प्रभाव या आदर्श छोड़ती है। गद्यचिन्तामणि तथा क्षत्रचूडामणिको देखनेसे लगता है कि काव्यके विषयमें इनपर भी पूर्ववर्ती कालिदास, बाण, सुबन्धु तथा दण्डी आदिका प्रभाव है तो धर्म और दर्शनके विषयमें समन्तभद्र, पूज्यपाद, शिवार्य और अकलंकका प्रभाव परिलक्षित है। यहाँ विभिन्न ग्रन्थोंके तुलनात्मक उद्धरण लेखवृद्धिके भयसे नहीं दे रहा हूँ।

## वासवदत्ता और गद्यचिन्तामणि

संस्कृतगद्यलेखकोंमें सुबन्धु कालकी दृष्टिसे प्रथम गद्यलेखक माने जाते हैं। आपकी 'वासवदत्ता' राजकुमार कंदर्पकेतु और वासवदत्ताकी प्रेमकथा है। कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है फिर भी कविने अपने काव्यकौशलसे उसे अलंकृत और विस्तृत किया है। वासवदत्ताका श्लेष संस्कृतसाहित्यमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। बाणने इसकी आलोचनामें लिखा है कि वासवदत्ताके द्वारा कवियोंका गर्व निश्चित ही गल गया था[1]। यह सब होने पर भी कथाकी अत्यल्पता और अलंकारोंकी भरमारने उसके सौन्दर्यका घात किया है परन्तु गद्यचिन्तामणिमें हम यह बात नहीं देखते। उसकी कथा रोचक और उत्तम घटनाओंसे युक्त है। जिस प्रकार किसी शुभ्रवदना युवतीके शरीरपर परिमित और उज्ज्वल अलंकार शोभा देते हैं उसी प्रकार गद्यचिन्तामणिकी सरस गद्यधारापर सारगर्भित अलंकार सुशोभित हो रहे हैं। आखिर अलंकार अलंकार ही है, प्राण नहीं।

## कादम्बरी और गद्यचिन्तामणि

बाणभट्टका संस्कृतगद्यलेखकोंमें कालकी दृष्टिसे दूसरा नम्बर है। इनके हर्षचरित्र और कादम्बरी—ये दो ग्रन्थ अत्यन्त गौरवको प्राप्त हैं। इनके देशाटनने इनका अनुभव बढ़ाया था। आप राजा हर्षवर्धनके संमान्य कवि थे। आपकी सरस और उज्ज्वल गद्यशैलीसे वादीभसिंह प्रभावित जान पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि इनके उक्त ग्रन्थोंसे ही वादीभसिंहको गद्यचिन्तामणि लिखनेकी प्रेरणा मिली होगी। परन्तु कादम्बरीकी अल्पकाय कथा लम्बायमान विशेषण-बहुल गद्योंमें उलझी हुई जान पड़ती है। बाणने विन्ध्याटवी, राजद्वार, इन्द्रायुध अश्व, अच्छोद सरोवर, महाश्वेता तथा कादम्बरी आदि जिस किसीका भी वर्णन किया है उसे विशेषणोंकी तहमें इतना तिरोहित कर दिया है कि पाठकको उसकी बड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भाषाके द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होना चाहिये न कि उसका तिरोभाव। वेबरने बाणकी शैलीकी आलोचना करते हुए लिखा है कि 'यह[2] एक भारतीय जंगल है। इसमें यात्री जबतक स्वयं झाड़ियोंको काटकर मार्ग न बनावे, तबतक उसके लिये मार्ग मिलना असंभव है। इसके बाद भी अप्रचलित शब्दोंके रूपमें भयंकर जंगली पशु उसको भयान्वित करते हुए प्राप्त होते हैं'।

परन्तु गद्यचिन्तामणिमें हम यह बात नहीं देखते। कविने उसके भाषाके प्रवाहको उतना ही प्रवाहित किया है जिससे रसवृक्ष सींचा तो गया है परन्तु डुबाया नहीं जा सका है।

## दशकुमारचरित और गद्यचिन्तामणि

संस्कृत साहित्यमें दण्डी कवि अपने पदलालित्यके लिये प्रसिद्ध हैं इनका 'दशकुमारचरित' यह एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें दश कुमारोंका चरित्र चित्रण है जिनमें अपहार वर्मा आदिका चरित्र इतनी घटनाओंसे भर दिया है

---

१. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया। शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥ —हर्षचरित।

१. देखो, संस्कृतसाहित्यका इतिहास पृष्ठ १५६ (रामनारायणलाल इलाहाबाद)

कि पाठकको उसका अवधारण करना भी कठिन हो जाता है। ग्रन्थके प्रारम्भमें भाषाका जो प्रवाह प्रदर्शित है वह उत्तरोत्तर क्षीण होता गया है और अन्तमें तो सिर्फ कथानकका अस्थिजाल ही शेष रह गया है। परन्तु गद्यचिन्तामणिमें इस बातका ध्यान रक्खा गया है। इसका कथानक पौराणिक होनेपर भी कविने उसे काव्यकी ललितवेषभूषामें ही प्रस्तुत किया है और भाषाके प्रवाहको महानदीके प्रवाहके समान प्रारम्भसे लेकर अन्ततक अखण्डधारामें प्रवाहित किया है।

## गद्यचिन्तामणिका शब्द-वैभव

पद्यमें नपेतुले शब्द रहते हैं। अतः लेखकका शब्दभाण्डार सीमित होनेपर भी वह अपने कार्यमें सफल हो जाता है। परन्तु गद्यकाव्यमें लेखकका शब्दभाण्डार जबतक अपरिमित नहीं होता तबतक उसे अपने कार्यमें सफलता नहीं मिलती। शब्दोंकी पुनरुक्तता लेखककी शाब्दिक दरिद्रताको सूचित करती है और रसके प्रतिकूल शब्दविन्यास भुक्त ग्रासके साथ दांतोके नीचे आये हुए कंकड़के समान खटकने लगता है। शब्दोंकी पुनरुक्ततासे बचनेके लिये गद्यलेखकको नये-नये शब्द गढ़ना पड़ते हैं। वादीभसिंहको भी गद्यचिन्तामणिकी शाब्दिक सुषमा सुरक्षित रखनेके लिये नये-नये शब्द गढ़ना पड़े हैं। जैसे चन्द्रमाके लिये यामिनीवल्लभ, निशाकान्त, सूर्यके लिये नलिनसहचर, इन्द्रके लिये बलनिषूदन, पृथिवीके लिये अम्बुधिनेमि, और मुनिके लिये यमधन आदि। ऐसे शब्दोंके अर्थ समझनेके लिये मात्र शब्द-कोषके सहारे संस्कृत पढ़ने वाले कठिनाईका अनुभव करते है। परन्तु जो काव्यविषयक पठन-पाठनमें अभ्यस्त हैं उनके लिये कुछ भी कठिनाई नहीं रहती। गद्यचिन्तामणिमें कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो अन्यत्र प्रयुक्त नहीं है।

इस प्रकार वादीभसिंह और उनकी रचनाओंसे न केवल जैन संस्कृत साहित्य किन्तु समग्र भारतीय संस्कृत साहित्य अत्यन्त गौरवान्वित हुआ है।
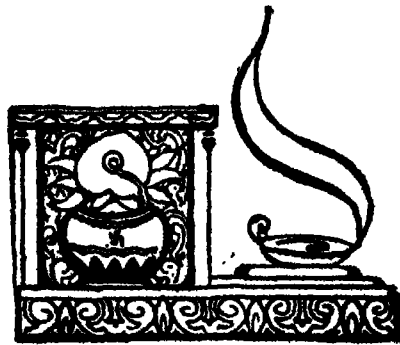
# महाकवि धनपाल और उनकी तिलकमञ्जरी

डॉ० हरीन्द्रभूषण एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

●

धनपाल कविके सरस वचन और मलयगिरिके सरस चन्दनको अपने हृदयमें रखकर कौन सहृदय तृप्त नहीं होता ?[1]

संस्कृत भाषाके गद्यकाव्यका प्रतिनिधित्व करनेवाले तीन महाकवि प्रसिद्ध हैं दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट। इन *तीन प्रौढ गद्य लेखकोंके अतिरिक्त वादीभसिंह और धनपाल भी उक्त कवित्रयीकी* पंक्तिमें स्थान प्राप्त करने योग्य हैं।

धनपाल संस्कृत और प्राकृत भाषाके समानरूपसे अधिकारी विद्वान् हैं। इनकी गद्य और पद्य बद्ध रचनाओंमें 'तिलकमञ्जरी' शब्द-सौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य, अलङ्कारनैपुण्य, वर्णन-वैचित्र्य, रस-रमणीयता और भावप्रवणताके कारण लगभग एक सहस्र वर्षोंसे विद्वज्जगतका मनोरञ्जन करती चली आ रही है। इस सफल कृतिका प्रणेता होनेके कारण ही धनपाल 'सिद्ध-सारस्वत'[2] की उपाधिसे अभिहित हैं।

## कविका जीवन परिचय और काल निर्णय

कविने तिलकमञ्जरीके प्रारम्भिक पद्यों[3] में अपना एवं अपने पूर्वजोंका परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त प्रभावक चरित ( प्रभाचन्द्राचार्य ) के 'महेन्द्रसूरि प्रबन्ध', 'प्रबन्ध-चिन्तामणि ( मेरुतुंग ) के 'महाकवि धनपाल प्रबन्ध', सम्यक्त्वसप्ततिका ( सिंघतिलक सूरि' ), भोजप्रबन्ध ( रत्नमन्दिर गणि ), उपदेश कल्पवल्ली ( इन्द्रहंस गणि ), कथा-रत्नाकर ( हेमविजय गणि ), आत्मप्रबोध ( जिनलाभ सूरि ), उपदेश प्रासाद ( विजयलक्ष्मी सूरि ) आदि ग्रन्थोंमें भी *कविका परिचय उपलब्ध है*[4]।

धनपाल उज्जयिनीके निवासी थे और ब्राह्मणवर्गमें उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह 'देवर्षि' मध्यदेशीय साकाश्य नामक ग्राम ( वर्तमान फरुखाबाद जिलामें 'संकिस' नामक ग्राम ) के मूल निवासी थे और उज्जयिनीमें आ बसे थे। इनके पिता सर्वदेव वेद-वेदाङ्गके ज्ञाता और क्रियाकाण्डमें पूर्ण निष्णात विद्वान् थे। सर्वदेवके दो पुत्र—धनपाल और शोभन थे तथा सुन्दरी नामकी एक कन्या भी थी।

धनपाल वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण आदिके निष्णात विद्वान् थे। इनका विवाह धनश्री नामक कुलीन कन्याके साथ हुआ था।

कहा जाता है कि धनपालके अनुज शोभनने महेन्द्रसूरिके निकट जैन दीक्षा धारण कर ली थी। धनपाल कट्टर वैदिक थे, पर अपने अनुजसे प्रभावित होकर उन्होंने भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।[5]

धनपाल मालवदेशके अधिपति धाराधीश मुञ्जराज ( वि० सं० १०३१-१०७८ ) तथा उनके भ्रातुष्पुत्र भोज-

---

१. वचनं श्रीधनपालस्य चन्दनं मलयस्य च।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः॥
—तिलकमञ्जरी 'परागटीका, प्रकाशक—लावण्यविजय सूरीश्वर ज्ञानमन्दिर, बोटाद ( सौराष्ट्र )। ( संकेत-तिलक० पराग० ) प्रस्तावना पृ० २४ पर उद्धृत पद्य।

२. समस्यामर्पयामास 'सिद्धसारस्वतः कविः'—प्रभावकचरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला ईस्वी सन् १९४०।

३. तिलकमञ्जरी, पद्य नं० ५१, ५२, ५३।

४. तिलक० पराग०, प्रस्तावना पृ० २६।

५. देखिए—प्रबन्धचिन्तामणि ( धनपाल प्रबन्ध ) और प्रभावकचरित ( महेन्द्रसूरि प्रबन्ध )।

राजके सभा पण्डित थे। भोजराजका राज्यारोहण वि० सं० १०७८ है। अतः धनपालका समय निश्चितरूपसे विक्रमकी ११ वीं शती है[1]।

## रचनाएँ

धनपालने प्राकृत भाषामें पाइयलच्छीनाममाला[2], ऋषभपंचाशिका[3] और वीरथुई[4] निबद्ध की हैं। इनमेंसे नाममालाकी रचना अपनी छोटी बहन सुन्दरीके लिए विक्रम सं० १०२९ में धारा नगरीमें की है। यह प्राकृत भाषाका पर्यायवाची शब्दकोश है। संस्कृत अमरकोशके समान उपयोगी और लोकप्रिय है।

सत्यपुरीय-महावीर-उत्साह, श्रावकविधिप्रकरण और शोभन स्तुति आदि कृतियाँ भी इनकी बतायी गई हैं। तिलकमञ्जरी संस्कृत भाषाका प्रौढ कथाग्रन्थ भी इनके द्वारा विरचित है।

## धनपालका साहित्यिक व्यक्तित्व

संस्कृत साहित्यके पुरातन तथा आधुनिक विद्वान् इस बातसे पूर्ण सहमत हैं कि धनपालने बाणकी गद्यशैली का सफल प्रतिनिधित्व किया है। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र तो धनपालके पाण्डित्यसे अत्यन्त प्रभावित थे। जिनमण्डन गणिकृत 'कुमारपालप्रबन्ध' में कहा गया है कि एक समय हेमचन्द्रने धनपालकी ऋषभ पञ्चाशिकाके पद्यों द्वारा भगवान् आदिनाथकी स्तुति की। राजा कुमारपालने उनसे प्रश्न किया कि—'भगवन्? आप तो कलिकालसर्वज्ञ हैं फिर दूसरोंकी बनाई गई स्तुतिके द्वारा क्यों भगवान्‌की भक्ति करते हैं'। इसपर हेमचन्द्र बोले—'कुमारदेव! मैं ऐसी अनुपम भक्ति भावनाओंसे ओतप्रोत स्तुतियोंका निर्माण नहीं कर सकता'।[5]

हेमचन्द्रने अपनी रत्नावली नामक देसीनाममालामें प्रसिद्ध कोशकारोंका उल्लेख करते समय धनपालको सबसे प्रथम स्थान दिया है।[6]

संस्कृत साहित्यके योरोपीय विद्वान् एवं प्रसिद्ध समालोचक श्री कीथ महोदयने लिखा है कि—'धनपालने बाणका सफल अनुकरण किया है। समरकेतुके प्रति तिलकमञ्जरीके प्रेमका वर्णन करनेमें उनका स्पष्टरूपसे यही लक्ष्य रहा है कि कादम्बरीके समान अधिकाधिक चित्र खींचे जा सकें।[7] श्री बलदेव उपाध्याय, एच० आर० अग्रवाल, डा० रामजी उपाध्याय और वाचस्पति गैरोला प्रभृति संस्कृतके आधुनिक विद्वान् भी कीथ महोदयके कथनका पूर्ण समर्थन करते हैं।[8]

आर्यासप्तशतीमें लिखा है कि—'प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति' अर्थात्—अधिक प्रौढ़ता प्राप्त करनेके लिए सरस्वतीने मानो बाणका शरीर धारणकर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि गोवर्धनकी इस उक्तिको ध्यानमें रखकर ही मुञ्जदेवने, बाणके समान सिद्धसारस्वत धनपालको 'सरस्वती' की उपाधि प्रदान की थी[9]। कहा जाता है कि मुञ्जदेवका धनपालपर अत्यन्त स्नेह था। वे उन्हें अपना 'कृत्रिम पुत्र' मानते थे।

राज्याश्रयमें रहनेपर भी धनपाल अत्यन्त निर्भीक एवं स्वाभिमानी थे। उन्होंने राजाके कोपकी भी उपेक्षा करके सदैव उचित मार्गका अवलम्बन किया। भोजराज द्वारा, तिलकमंजरीके नायकके रूपमें अपनेको प्रतिष्ठित किए जाने की इच्छा व्यक्त करनेपर धनपालने कहा था—

---

१. तिलक० पराग० प्रस्तावना पृ० २६।

२. गे ऑगेब्यूलर द्वारा सम्पादित होकर गोएटिंगन (जर्मनी)से सन् १८७९ ई० में प्रकाशित। गुलाब भाई लालभाई द्वारा संवत् १९७३ में भावनगरसे प्रकाशित। सं० बेचरदास दोशी द्वारा संशोधित संस्करण बम्बईसे प्रकाशित।

३. सन् १८९० में काव्यमालाके सातवें भागमें प्रकाशित।

४. देवचन्द्र लालभाई ग्रन्थमाला बम्बईकी ओरसे सन् १९३३ ई० में प्रकाशित।

५. 'श्रीकुमारदेव! एवंविधसद्भूतभक्तिगर्भां स्तुतिरस्माभिः कर्तुं नशक्यते'।

६. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन—'प्राकृत साहित्यका इतिहास', पृ० ६५५।

७. 'संस्कृत साहित्यका इतिहास'—कीथ (अनुवादक डॉ० मंगलदेव शास्त्री) पृ० ३९१।

८. बलदेव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्यका इतिहास, १९४५, पृ० २९८।
एच० आर० अग्रवाल, 'Short History of Sanskrit Literature' लाहौर, पृ० १५६।
डॉ० रामजी उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास' पृ० १७५।
वाचस्पति गैरोला—'संस्कृत साहित्यका इतिहास' पृ० ६१४।

९. 'श्री मुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणिभृता व्याहृतः' —तिलकमञ्जरी पद्य नं० ५३।

'राजन् ! जिस प्रकार खद्योत और सूर्यमें, सरसों और सुमेरुमें, कांच और काञ्चनमें, धतूरे और कल्पवृक्षमें महान् अन्तर है उसी प्रकार तिलकमञ्जरीके नायक और आपमें ।'[1]

धनपालका हृदय अत्यन्त दयार्द्र था। एक समय मृगयाके प्रसङ्गमें भोजराज द्वारा मारे गये मृगको देखकर उन्होंने राजाको संबोधित करते हुए कहा था—

रसातलं यातु तवात्र पौरुषं कुनीतिरेषा शरणो ह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो हहा महाकष्टमराजकं जगत्' ॥

अर्थात्—हे राजन् ! इस प्रकारका आपका पौरुष रसातलको चला जाय। निर्दोष और शरणागतका वध कुनीति है। बलवान् भी जब दुर्बलको मारते हैं तो यह बड़े दुःखकी बात है, मानो समस्त जगत् ही अराजक हो गया। कहा जाता है कि धनपालके ये वचन सुनकर भोजराजने आजीवन मृगया छोड़ दी थी।[2]

इसी प्रकार, एक समय यज्ञमंडपमें यूप ( स्तंभ ) से बंधे छाग ( बकरे ) के करुण क्रन्दनको सुनकर धनपालने कहा था कि—

'यूपं कृत्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥
'सत्यं यूपं तपो ह्यग्निः, कर्माणि समिधो मम ।
अहिंसामाहुतिं दद्यादेवं यज्ञः सतां मतः ॥

अर्थात्—यदि यज्ञ करके पशुओंको मारकर और खूनका कीचड़ बनाकर स्वर्गमें जाया जाता है तो फिर नरकमें कैसे जाया जाता है ? ज्ञानी जनोंका यज्ञ तो वह है जिसमें सत्य यूप हो, तप अग्नि हो, कर्म समिधा हो और अहिंसा जिसकी आहुति हो। कहते हैं राजाने धनपालके ये वचन सुनकर अपनेको जैनधर्ममें दीक्षित किया था।[3]

धनपाल महान् गुणग्राही थे। अनेक अवसरोंपर भोजराजको झिड़कियाँ देकर सावधान करते रहनेके अतिरिक्त उन्होंने अनेक बार उनके गुणोंकी प्रशंसा भी की है—

'अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः, क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः ।
एकत्र जन्मनि कृतं तदनेन यूना, जन्मत्रये यदकरोत् पुरुषः पुराणः ॥

अर्थात्—उसने अपने जन्ममें पृथ्वीका उद्धार किया, शत्रुओंके वक्षस्थलको विदीर्ण किया और अनेक बलशाली राजाओंकी राजलक्ष्मी ( विष्णुके पक्षमें बलिनामक राजाकी राजलक्ष्मी ) को आत्मसात् किया। इस प्रकार इस युवकने वे काम इस ही जन्ममें कर डाले जो पुराण पुरुष विष्णुने तीन जन्मोंमें किए थे। कहा जाता है कि भोजराजने इस पद्यको सुनकर धनपालको एक स्वर्ण कलश भेंट किया था[4]।

तिलकमञ्जरीको अग्निमें स्वाहा कर देनेके कारण धनपाल भोजराजसे रूठकर, धारा नगरीको छोड़ अन्यत्र चल दिए। कुछ दिनोंके पश्चात् उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। भोजने उन्हें पुनः सादर निमंत्रित किया और उनसे कुशल क्षेम पूछा। धनपालने निवेदन किया—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥'

अर्थात्—हे राजन् ! इस समय हमारा और आपका घर बिल्कुल समान है, क्योंकि दोनों ही 'पृथुकार्तस्वरपात्र' ( गम्भीर आर्तनादका पात्र तथा विपुल स्वर्णपात्र वाला ) है, दोनों ही 'भूषितनिःशेषपरिजन' है ( अलङ्कार हीन परिजन वाला तथा जिसके सारे परिजन आभूषणोंसे युक्त हैं ) और दोनों ही 'विलसत्करेणुगहन' ( धूलिपूर्ण और हाथियोंसे सुसज्जित ) है।

यह श्लोक श्लेषालङ्कारके अत्यन्त सुन्दर उदाहरणके रूपमें आज भी विद्वज्जनोंमें पर्याप्त प्रसिद्ध है। साथ ही

१. प्रबन्धचिन्तामणि, ( महाकवि धनपाल प्रबन्ध )।
२. वही।
३. वही।
४. वही।

यह धनपालके स्वाभिमानकी ओर पूर्ण सङ्केत करता है[1]।

भोजराजने सरस्वतीकण्ठाभरणमें लिखा है—'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः' अर्थात् बाण, जितना गद्य बनानेमें कुशल हैं उतना पद्य बनानेमें नहीं। धनपालकी यह विशेषता है कि वे समान रूपसे गद्य और पद्य, दोनोंकी प्रौढ़ रचना करनेमें समर्थ थे। हेमचन्द्रने अपनी अभिधानचिन्तामणि, काव्यानुशासन और छन्दोऽनुशासनमें धनपालके अनेक सुन्दर पद्योंका उल्लेख किया है। १४ वीं शताब्दिकी रचना (सूक्तिसङ्कलन) 'शार्ङ्गधरपद्धति' में धनपालकी अनेक सूक्तियोंका उल्लेख है[2]।

इसी प्रकार मुनिसुन्दरसूरिने 'उपदेशरत्नाकर' में और वाग्भट्टने अपने 'काव्यानुशासन' में अनेक स्थानोंपर धनपालके पद्योंका उल्लेख किया है। 'कीर्तिकौमुदी' एवं 'अमरचरित' के रचयिता मुनि रत्नसूरि और 'पञ्चलिङ्गीप्रकरण' के कर्ता श्रीजिनेन्द्रसूरिने धनपालके काव्यकी प्रशस्ति गाई है[3]।

संस्कृत विद्वानोंमें यह कहा जाता रहा है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' अर्थात्—बाणके अनन्तर समस्त संस्कृत साहित्य बाणके उच्छिष्ट (त्यक्त वस्तु) के समान है। बाणकी प्रशस्तिमें लिखे गए ये पद्य—

'कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः' —श्रीचन्द्रदेव (शार्ङ्गधरपद्धति ११७)

'शुष्कं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वानावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः॥' —कीर्तिकौमुदी १.१५.

'बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य,
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति।' —कीथका इतिहास पृ० १९७

इस बातके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि बाणकी अप्रतिम गद्यरचना 'कादम्बरी' को देखकर किसी कविका साहस नहीं होता था कि वह बाणके मार्गपर चलकर उनकी गद्यरचनाशैलीको आगे बढाये। यही कारण है कि बाणके पश्चात् लगभग ३०० वर्षोंतक कादम्बरीकी समानता करनेवाली कोई उत्कृष्ट गद्यरचना उपलब्ध नहीं है।

महाकवि धनपाल ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने कवियोंके हृदयसे, बाणके भय-व्यामोहको दूर किया और अपनी तिलकमञ्जरीको कादम्बरीकी श्रेणिमें बिठानेका प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चात् वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि), सोड्ढल (उदयसुन्दरीकथा), वामनभट्टबाण (वेम-भूपालचरित—हर्षचरितके अनुकरणपर) आदि कवियोंने बाणकी शैलीपर रचनायें लिखीं[4]।

तिलकमञ्जरीकी रचनाके लगभग एक शताब्दिके पश्चात् पूर्णतल्लगच्छीय श्री शान्तिसूरिने इस ग्रन्थपर १०५० श्लोकप्रमाण टिप्पणीकी रचना की जो कि पाटनके जैन भण्डारकी प्रति[5] के अन्तमें दिए गए निम्न श्लोकसे प्रमाणित है—

'श्रीशान्तिसूरिरिह श्रीमति पूर्णतल्ले गच्छे वरो मतिमतां बहुशास्त्रवेत्ता।
तेनामलं विरचितं बहुधा विमृश्य संक्षेपतो वरमिदं बुध टिप्पितं भोः॥

इस ग्रन्थपर श्रीविजयलावण्यसूरिने (विक्रम संवत् २००८ मे प्रकाशित) पराग नामक एक विस्तृत टीका लिखी है[6]।

धनपाल, विक्रमकी ११वीं शताब्दिके संस्कृत और प्राकृत भाषाके उत्कृष्ट विद्वान् थे। गद्य और पद्य दोनोंकी रचनापर उनका समान अधिकार था। शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, वशीभूतके समान उनकी लेखनीका अनुगमन करते थे। उन्होंने बाणको गद्यशैलीकी परम्पराको निबाहते हुए, गद्यकाव्यको कुछ और सरल और सरस बनाकर उसे जनताके अधिक निकट पहुँचानेका प्रयत्न किया। निःसन्देह, धनपाल अपने इस ऐतिहासिक कार्यके लिए संस्कृत साहित्यके इतिहासमें अमर रहेंगे। किसी कविका यह कथन धनपालके लिए अत्यन्त उचित प्रतीत होता है—

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि (महाकवि धनपालप्रबन्ध)।
२. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्यका इतिहास, पृ० ६५५।
३ तिलकमञ्जरी पराग० प्रस्तावना पृ० २८।
४ बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० २६८।
५. पाटणके 'संघवीपाडा जैनभण्डार'की १७५ वीं प्रति (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज नं० ७६—'पाटन जैन भण्डार केटलाग' प्रथम भाग, पृ० ८७)।
६. तिलकमञ्जरी, श्री शान्तिसूरिरचित टिप्पणी तथा श्री विजयलावण्यसूरि रचित टीका (पराग) के साथ प्रकाशित। प्रकाशक—श्री विजयलावण्यसूरीश्वरज्ञानमन्दिर, बोटाद, सौराष्ट्र, वि० सं० २००८।

'तिलकमञ्जरीमञ्जरिसम्भारिलोकद्विपश्चिदलिजालः ।
जैनारण्येऽसालः कोऽपि रसालः पपाल धनपालः ॥'[1]

## तिलकमञ्जरी

धनपालका यश तिलकमञ्जरीकी रचनाके कारण सर्वाधिक है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्वके विश्लेषणप्रसंग-में पुरातन और नवीन आलोचकोंके जितने मत उपस्थित किये गये हैं, वे सभी तिलकमञ्जरीके अध्ययनसे ही निस्यूत हुए हैं। वास्तवमें महाकवि धनपालको इस एक ही कृतिने अमर बना दिया है। कथाकाव्यके समस्त गुणोंका समावेश इस कृतिमें सुन्दर रूपसे किया गया है।

इस कथाकाव्यमें विद्याधरी तिलकमञ्जरी और समरकेतुकी प्रणयगाथा चित्रित की गई है। इस ग्रन्थकी रचना-का उद्देश्य कविने स्वयं ही इस प्रकार लिखा है—'समस्त वाङ्मयके ज्ञाता होनेपर भी जिनागममें कही गई कथाओंके जानने के उत्सुक निर्दोष चरितवाले सम्राट् भोजराजके विनोदकेलिए, मैंने इस चमत्कारसे परिपूर्ण रसोंवाली कथाकी रचना की' ( तिलकमञ्जरी पद्य नं ५० )

कहा जाता है कि तिलकमञ्जरीकी समाप्तिके पश्चात् भोजराजने स्वयं इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढ़ा। ग्रन्थके चमत्कारसे प्रभावित होकर भोजराजने धनपालसे यह इच्छा व्यक्त की कि उन्हें इस काव्यका नायक बना दिया जाय। इस कार्यके उपलक्षमें कविको अपरिमित धनराशि उपहारमें प्रदान किये जानेका आश्वासन भी दिया गया, किन्तु धनपालने ऐसा करनेसे अस्वीकार कर दिया। इस पर भोजराज अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और तत्काल, उन्होंने वह समस्त रचना अग्नि-देवको भेंट कर दी। इस घटनासे धनपाल अत्यन्त उद्विग्न हुए। उनकी नौ वर्षकी बाल-पण्डिता पुत्रीने उनके उद्वेगका कारण जानकर, उन्हें धीरज बँधाया और तिलकमञ्जरीकी मूलप्रतिका स्मरण करके उसका आधा भाग पिताको मुँहसे बोलकर लिखा दिया। धनपालने शेष आधे भागकी पुनः रचना करके तिलकमञ्जरीको सम्पूर्ण किया।[2]

यद्यपि समस्त कथा गद्यमें कही गयी है किन्तु ग्रन्थके प्रारम्भमें विभिन्न छन्दोंमें ५३ पद्य हैं। इनमें मंगला-चरण, सज्जन-स्तुति एवं दुर्जननिन्दा, कविवंश परिचय आदि उन सभी बातोंका वर्णन है जिनका शास्त्रीय दृष्टिसे गद्यकाव्य के प्रारम्भमें वर्णन होना आवश्यक है।[3] इन पद्योंमें धनपालने अपने आश्रयदाता सम्राट्, उसके परमारवंश एवं पूर्वजों ( श्रीवैरिसिंह, श्रीहर्ष, सीयक, सिंधुराज, वाक्पतिराज ) का भी वर्णन किया है।

## तिलकमञ्जरी और कादम्बरी : तुलनात्मक विश्लेषण

कादम्बरी और तिलकमञ्जरीमें अनेक प्रकारसे समानता है। सच बात तो यह है कि तिलकमञ्जरीकी रचना ही कादम्बरीके अनुकरण पर हुई है। तिलकमञ्जरीकी कविप्रशस्तिमें जितना आदर धनपालने कादम्बरीकार बाणको दिया, उतना किसी अन्य दूसरे कविको नहीं। अपनेसे पूर्ववर्ती प्रायः सभी कवियोंका यशोगान, धनपालने एक-एक पद्यमें किया है किन्तु बाणका दो पद्योंमें ( तिलकमञ्जरी पद्य नं० २६,२७ )।

शास्त्रीय दृष्टिकोणसे तुलना करनेपर दोनों कथाओंमें अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है। कविकल्पित होनेसे कादम्बरी भी कथा है और तिलकमञ्जरी भी।[4] जैसे कादम्बरीमें मुक्तकादि चारों प्रकारके गद्यका प्रयोग होनेपर भी 'उत्कलिकाप्राय' गद्यकी बहुलता है उसी प्रकार तिलकमञ्जरीमें भी[5]।

कादम्बरीका नायक चन्द्रापीड, अनुकूल एवं धीरोदात्त है। तिलकमञ्जरीका नायक समरकेतु भी अनुकूल एवं धीरोदात्त है[6]। कादम्बरीकी नायिका गन्धर्वोंके कुलमें उत्पन्न कादम्बरी, विवाहके पहले परकीया एवं मुग्धा तथा विवाह

१. तिलक० पराग०, प्रस्तावना—पृ० १६।
२. प्रबन्धचिन्तामणि ( धनपालप्रबंध )।
३. 'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके। आदौ पद्यैर्नमस्कारःखलादेर्वृत्तकीर्तनम्।……कवे-र्वंशानुकीर्तनम्। अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्' —साहित्यदर्पण, ६.३३२–३३४।
४. आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्धकल्पना कथा' —अमरकोश।
५ 'वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च। भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्च चतुर्विधम् ॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्। अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ॥'
६. 'अनुकूल एकनिरतः' —साहित्यदर्पण ६,३३०,३३१।
'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ —साहित्यदर्पण।

के पश्चात् स्वकीया एवं मध्या है। इसी प्रकार तिलकमञ्जरीकी नायिका, विद्याधरी तिलकमञ्जरी पहले परकीया एवं मुग्धा तथा पश्चात् स्वकीया एवं मध्या है। कादम्बरी, पूर्वार्द्धमें तथा कुछ उत्तरार्द्धमें 'पूर्वराग विप्रलम्भशृङ्गार' तथा शेष उत्तरार्धमें 'करुण विप्रलम्भशृङ्गार' प्रधान रस है। तिलकमञ्जरीमें केवल 'पूर्वराग विप्रलम्भशृङ्गार' ही प्रधानरस है। कादम्बरी और तिलकमञ्जरी दोनोंकी पाञ्चाली रीति और माधुर्य गुण है[1]।

दोनों कथाओंका प्रारंभ पद्योंसे होता है। इन पद्योंके विषय—सज्जनदुर्जन-स्तुतिनिन्दा, कविवंशवर्णन आदि भी समान हैं। इन पद्योंमें बाणने 'कथा' के संबंधमें अपने विचार प्रकट किए हैं। धनपालने भी इन प्रारंम्भिक पद्योंमें गद्य, कथा और चम्पूके संबंधमें अपनी धारणा स्पष्टकी है[2]। दोनों कथाओंमें गद्यके बीचमें क्वचित्-कदाचित् पद्योंका प्रयोग किया गया है[3]।

कादम्बरी तथा तिलकमंजरीके कथानकमें भी यत्रतत्र समानता दिखाई देती है। कादम्बरीमें—उज्जयिनीके राजा तारापीड़ और उनकी पत्नी विलासवती, निःसंतान होनेके कारण अत्यन्त दुःखी है। विलासवतीने महाभारतके इस कथनको सुन रखा था कि—'सन्तानहीन जनोंको मृत्युके पश्चात् पुण्यलोक नहीं मिलता, क्योंकि पुत्र ही अपने माता-पिताको 'पुम्' नामक नरकसे रक्षा करता है[4]।'

तिलकमञ्जरीमें—अयोध्याके राजा मेघवाहन और उनकी पत्नी मदिरावती, अनपत्यताके कारण दुःखी है। इसी प्रकरणमें, गुरुओंके द्वारा राजाको इस प्रकार संबोधित किया गया है—'हे विद्वान्! अन्य प्रजाजनोंकी रक्षासे क्या लाभ, पहले 'पुम्' नामक नरकसे अपनी रक्षा तो कीजिए[5]।'

पुत्रोत्पत्तिके निमित्त, दोनों कथाओंमें समान रूपसे देवताओंकी पूजा, ऋषिजनोंकी भक्ति आदिका विधान बतलाया गया है।

तिलकमञ्जरीके, अयोध्या नगरीके बाहर उद्यानमें सुशोभित शक्रावतार नामक सिद्धायतन (जैनमन्दिर) की तुलना, कादम्बरीके उज्जयिनीके महाकाल मन्दिरसे की जा सकती है। भोजराजने धनपालसे, अपनेको तिलकमञ्जरीका नायक बनानेके साथ-साथ 'शक्रावतारके स्थानपर महाकाल' यह परिवर्तन करनेकी इच्छा भी प्रकट की थी।

कादम्बरीमें जैसे लौकिक एवं दिव्य कथानकका संमिश्रण है उसी प्रकार तिलकमञ्जरीमें भी लौकिक एवं अलौकिक पात्रोंके कथानकका संयोजन किया गया है। विद्याधरी तिलकमञ्जरी, ज्वलनप्रभ नामका वैमानिक, नन्दीश्वर नामका द्वीप उसमें रतिविशाला नामकी 'नगरी' सुमाली नामका देव, तथा स्वयंप्रभा नामकी उसकी देवी, क्षीरसागरसे

---

१. कादम्बरी—कल्पलताटीका (हरिदास सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य) 'साहित्य दर्पण' का स्वरूपनायकादिनिरूपण तथा तिलकमञ्जरी (पराग टीका) की प्रस्तावना।
'परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा। कन्यात्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ॥
प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा।
परिणयात् परन्तु स्वकीया मध्या च मन्तव्या' —'साहित्य दर्पण'।
'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ'
'श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः। दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते'।
'यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये। विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥
'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते'।
'समस्तपञ्चषपदो बन्धो पाञ्चालिका मता' —साहित्य दर्पण।

२. कादम्बरी पद्य नं० ८,९, तथा तिलकमञ्जरी—पद्य नं० १५,१६,१७,१८।

३. कादम्बरी-'स्तनमधुस्नातं…' शुक प्रशंसा प्रकरणः (पूर्वभाग-कथामुख)
'दूरं मुक्तालतया…' मदनाकुलमहाश्वेतावस्था प्रकरण (पूर्वभाग-कथा)
तिलकमंजरी—'यस्य दोष्णि स्फुरदंशौ…' 'लतावनपरिक्षिप्ते…' } मेघवाहन-
'अन्तर्दग्धागुरुधूपा…' 'दृष्ट्वा वैरस्य वैरस्य…' } नृपवर्णन प्रसङ्ग।
आढ्योऽपिदरिद्रमध्यसरणि…' रानी मदिरावतीका वर्णन
'विपर्यव विरता विभावरी…बन्दिगान।

४. 'अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः' कादम्बरी—अनपत्यताविचारो प्रकरण।

५. 'अखिलमपि तत्प्रायेण जीवलोकसुखमनुभूय, केवलमात्मजाङ्गपरिष्वङ्गनिर्वृतिं नाध्यगच्छत'
विद्वन्! किमपरैस्त्रातैः, आत्मानं त्रायस्व पुन्नाम्नो नरकात्'। —तिलकमञ्जरी मेघवाहनराज प्रकरण पृ० ७८–८०

मिकला चन्द्रातप नामका हार, प्रियंगु सुन्दरी नामकी देवी वेताल आदि, तिलकमञ्जरीमें अलौकिकताका प्रतिनिधित्व करते हैं।

शैलीकी दृष्टिसे भी दोनों कथाओंमें पर्याप्त समानता है। प्रत्येक घटना तथा वर्णनको विविध शब्दार्थालङ्कारोंसे बोझिल बनाकर कहना, जैसा कादम्बरीमें है वैसा ही तिलकमञ्जरीमें भी। वैसे तो बाण सभी अलङ्कारोंके प्रयोगमें प्रवीण हैं किन्तु 'परिसंख्यालङ्कार' पर उनका विशेष अनुराग है। राजा शूद्रक तथा तारापीडके वर्णनमें उनके परिसंख्यालङ्कारका चमत्कार देखिए—'यस्मिंश्च राजनि जितजगति परिपालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराः, रतेषु केशग्रहाः.....' ( शूद्रक वर्णन )—'यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम् .. (तारापीडवर्णन)।

धनपाल भी परिसंख्यालङ्कारके अत्यधिक प्रेमी है। मेघ वाहन राजाके वर्णनमें प्रयुक्त परिसंख्यालङ्कार कादम्बरीके उपर्युक्त परिसंख्यालङ्कारसे अत्यन्त समानता रखता है—'यस्मिंश्च राजन्यनुवर्तितशास्त्रमार्गे प्रशासति वसुमतीं धातूना सोपसर्गत्वम्, इक्षूणां पीडनम्, पाक्षिणा द्विव्यग्रहणम्, पदानां विग्रहः, तिमीनां गलग्रहः, गूढचतुर्थकानां पादाकृष्टः, कुकविकाव्येषु यतिभ्रंशदर्शनम्, उदधीनामवृद्धिः, निधुवनक्रीडासु तर्जनताडनानि, प्रतिपक्षक्षयोद्यतमुनिकथासु कुशास्त्रश्रवणम्, शारीणामक्षप्रसरदोषेण परस्परं बन्धवधमारणानि, वैशेषिकमते द्रव्यप्राधान्यं गुणानामुपसर्जनभावो बभूव।' ( तिलक० पराग पृ० ६७–६८ )

बाणका परिसंख्यालङ्कारके पश्चात् दूसरा प्रिय अलङ्कार विरोधाभास है जिसके सैकड़ो उदाहरण कादम्बरीमें प्राप्त है। धनपाल भी विरोधाभासके लिखनेमें परम प्रवीण प्रतीत होते है—( मेघवाहन राजाका वर्णन है )—'सौजन्यपरतन्त्रवृत्तिरप्यसौजन्ये निषण्णः, नलप्रथुप्रभोऽप्यनलप्रथुप्रभः, समिद्व्यतिकरस्फुरितप्रतापोऽप्यकृशानुभावोपेतः, सागरान्वयप्रभवोऽप्यमृतशीतलप्रकृतिः, शत्रुघ्नोऽपि विश्रुतकीर्तिः, अशेषशक्त्युपेतोऽपि सकलभूभारधारणक्षमः, रक्षितानिर्लक्षिततपोवनो....आतुचतुराश्रमः'—( तिलक पराग० ६२–६३ )

## तिलकमञ्जरीकी विशेषताएँ

बाणने कादम्बरीमें कथाके सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'निरन्तरश्लेषघना सुजातय' ( काद० पद्य ९ )—अर्थात् गद्यकाव्यरूप कथाको श्लेषालङ्कारकी बहुलतामें निरन्तर व्याप्त होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि धनपालके समयमें कथाकी 'निरन्तरश्लेषघनता' के प्रति लोगोकी अरुचि हो चली थी। यही कारण है कि धनपालने तिलकमंजरीमे ( पद्य न० १६ ) मे लिखा है कि—'नातिश्लेषघना श्लाघा कृतिर्लिपिरिवाश्नुते'—अर्थात् अधिक श्लेषोंके कारण घन ( गाढ बन्धवाली ) रचना, श्लाघाको प्राप्त नही करती। उन्होने यह भी लिखा है कि—'अधिक लम्बे और अनेक पदोंसे निर्मित समासकी बहुलतावाले प्रचुर वर्णनोंमे युक्त गद्यसे लोग घबडाकर ऐसे भागते है जैसे व्याघ्र को देखकर। ( तिलक० पराग० पद्य नं० १२ )। उसका यह भी कहना है कि—'गोष्ठीमतिका अनुसरण कर लिखा गई, निरन्तर गद्य सन्तानवाली कथा श्रोताओको काव्यके प्रति विरागका कारण बन जाती है अतः रचनाओमे इसकी ओर अधिक ध्यान होना चाहिए' ( तिलक० पद्य नं० १७,१८ )

धनपालने उपर्युक्त प्रकारसे, गद्यकाव्यकी रचना के सम्बन्धमें जो मत प्रकट किया है, तिलकमंजरी मे उसका उन्होंने पूर्णरूपसे पालन किया है। दूसरे शब्दोमें हम कह सकते है कि, तिलकमञ्जरीने, कादम्बरीको परम्पराको सुरक्षित रखते हुए भी गद्य काव्यको एक ऐसा नया मोड दिया है जहाँ वह विद्वानोंके साथ जन साधारणके निकट भी पहुँचनेका प्रयत्न करता दिखाई देता है।

पन्यास दक्षविजय गणिने दशकुमार, वासवदत्ता और कादम्बरीमें तिलकमञ्जरीको विशेषता बताते हुए लिखा है कि[1] दशकुमार चरितमें पदलालित्यादि गुणोंके होनेपर भी कथाओकी अधिकताके कारण सहृदयके हृदयमे व्यग्रता होने लगती है। वासवदत्तामे, प्रत्येक अक्षरमें श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि अलङ्कारोके कारण कथाभाग गौण तथा अरोचक है। यद्यपि कादम्बरी उन दोनोंमे श्रेष्ठ है तथापि तिलकमञ्जरी कादम्बरीसे भी श्रेष्ठ है, इस बातमें थोडी-सी भी अत्युक्ति नही। उदाहरणार्थ—

१—पुण्डरीकके शापमे चन्द्ररूप चन्द्रापीडके प्राणोंके निकल जानेका वर्णन करनेसे कादम्बरीकी कथामे आपाततः अमङ्गल है और इस कारण करुण विप्रलम्भ शृङ्गार उसका प्रधान रस है, किन्तु तिलकमञ्जरीमें प्रधानरस पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ शृङ्गार है।

---

१ तिलक० पराग० —प्रस्तावना, पृ० १४-१६।

२—कादम्बरीमें अगणित विशेषणोंके आडम्बरके कारण कथाके रसास्वादमें व्यवधान पड़ता है। तिलकमञ्जरी में तो परिगणित विशेषण होनेके कारण वर्णन अत्यन्त चमत्कृत होकर कथाके आस्वादको और अधिक बढ़ा देता है।

३—कादम्बरीके वर्णन-प्रधान होनेके कारण, उसमें प्रत्येक वर्णनके उचित विशेषणोंके गवेषणमें व्यस्त बाणभट्टने कहीं-कहींपर शब्द-सौन्दर्यकी उपेक्षाकी है, जब कि तिलकमञ्जरीमें सर्वतोमुख काव्योत्कर्ष उत्पन्न करनेके इच्छुक धनपालने परिसंख्यादि अलङ्कारवाले स्थलोंमें भी प्रत्येक पदमें शब्दालङ्कारका उचित समावेश किया है। जैसे अयोध्या वर्णनके प्रसंगमें—'दयापशब्दः शत्रुसंहारे, न वस्तुविचारे। गुरुविनाशशासनो भक्त्या, न प्रभुशक्त्या। वृद्धस्यागशीलो विवेकेन, न प्रज्ञोल्लेखेन। अवनितापहारी पालनेन, न लालनेन। अकृतकाक्षण्यः करचरणे, न शरणे'। यहाँ श्लेषानुप्राणित परिसंख्यालङ्कारमे भी प्रत्येक वाक्यमें अन्त्यानुप्रास सुशोभित है।

इसी प्रकार 'सतारकाबर्न इव वेतालदष्ट्रिभिः, सोल्कापात इव निशितप्रासवृष्टिभिः' यहाँ युद्धस्थलके वर्णनमे उत्प्रेक्षाके साथ भी।

इसी प्रकार 'सगराम्बय प्रभवापि···अहतचतुराश्रमः' इस पूर्वोक्त विरोधाभासके साथ भी।

इसी प्रकार, वैताढ्यगिरिके वर्णनमें—'मेदकल्पपादपाकीर्णपरिगतमपि न मेदकल्पपादपाकी परिगतम्, वनगजाकीसङ्कुलमपि न वनगजाकासंकुलम्' यहाँ विरोधाभासके साथ यमक भी।

इसी प्रकार, मेघवाहन राजाके वर्णनमें—'दृष्ट्वा वैरस्य वैरस्यमुज्झिताक्षो रिपुव्रजः। यस्मिन् विश्वस्य विश्वस्य कुलस्य कुशलं व्यधात्'। अतिशयोक्तिके साथ यमक भी।

४. तिलकमञ्जरीमें, सर्वत्र श्रुत्यनुप्रासके द्वारा सुश्रव्यता उत्पन्न की गई है।

५. कादम्बरीमें अन्य स्थानोंपर उपलब्ध ही शब्द बार-बार सुनाई पड़ते है किन्तु तिलकमञ्जरीमें 'तनीमेण्ठ-लञ्चा-लाकुटिक-लयनिकागल्वर्क' प्रभृति अश्रुतपूर्व एवं अपूर्व शब्दोंके प्रयोगसे कविने विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है।

धनपालने तिलकमञ्जरीके प्रारम्भिक सत्रह पद्योंमें कवि-प्रशस्ति लिखी है। इसमें जिन कवियों तथा रचनाओं की प्रशंसाकी गई है वे निम्नप्रकार हैं—

रघुवंश और कौरववंशकी वर्णनाके आदिकवि वाल्मीकि एवं व्यास, कथासाहित्यकी मूल जननी 'बृहत्कथा', वाङ्मय वारिधिके सेतुके समान 'सेतुबन्ध' महाकाव्यके निर्माणसे लब्धकीर्ति प्रवरसेन, स्वर्ग और पृथ्वी ( गाम् ) को पवित्र करने वाले गङ्गाके समान पाठककी वाणी ( गाम् ) को पवित्र करने वाली, पादलिप्त सूरिकी 'तरङ्गवती कथा', प्राकृत-रचनाके द्वारा रस बर्षाने वाले महाकवि जीवदेव, अपने काव्य-वैभवसे अन्य कवियों की वाणीको म्लान कर देने वाले कालिदास, अपने काव्य-प्रतिभा रूप बाणसे ( अपने पुत्र पुलिन्दके साथ ) कवियोंको विमद करने वाले तथा कादम्बरी और हर्षचरितकी रचनासे लब्धख्याति बाण, माघमासके समान कपिरूप कवियोंको पदरचना ( कपिके पक्षमें पैर बढ़ाना ) में अनुत्साह उत्पन्न करने वाले महाकवि माघ, सूर्यरश्मि ( भा-रवि ) जैसे प्रतापवान् कवि भारवि, प्रशमरसकी अद्भुत रचना 'समरादित्य-कथा' के प्रणेता हरिभद्रसूरि, अपने नाटकोंमें सरस्वतीको नटीके समान नचाने वाले कवि भवभूति, 'गौडवध' की रचनासे कविजनोंकी बुद्धिमें भय पैदा करने वाले कवि वाक्पतिराज, समाधि और प्रसादगुणके धनी यायावर-कवि राजशेखर, अपनी अलौकिक रचनासे कवियोंको विस्मय उत्पन्न करने वाले महेन्द्रसूरि, मदान्धकवियोंके मदको चूर्ण करनेवाले 'ललितत्रैलोक्यसुन्दरी' के कथाकार कवि रुद्र तथा सहृदयाह्लादक शक्तियोंके रचयिता रुद्रतनय कवि कर्दमराज।'

धनपालकी यह कवि प्रशस्ति तथा इसके साथ, अपने आश्रयदाता वाक्पतिमुञ्ज तथा भोजके वंश एवं पूर्वजोंकी प्रशस्तिके रूपमें लिखे गए पद्य, साहित्य और इतिहास, दोनों दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। धनपाल की कविप्रशस्ति संबंधी पद्य, आजतक विद्वज्जनोंमें बड़े आदरके साथ स्मरण किए जाते हैं।

तिलकमञ्जरी, ११वीं शताब्दिके सांस्कृतिक एवं सामाजिक इतिहासकी दृष्टिसे आलोचनीय ग्रन्थ है। इसमें तत्कालीन समाज एवं कला-कौशलका बड़े ही आकर्षक ढंगसे चित्रण किया गया है।[१] यह ग्रन्थ जैन कथासाहित्य तथा जैन संस्कृतिकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है।

---

१. वाचस्पति गैरोला, 'संस्कृत साहित्यका इतिहास' पृ० ९३४।

# अपभ्रंश दोहा साहित्य : एक दृष्टि

श्री बाबू रामबालक प्रसाद, एम० ए०, साहित्यरत्न

•

## उत्थानिका

विश्व भाषा परिवारोंमें भारोपीय कुल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारोपीय कुलमें भारतीय आर्य भाषाओंका अन्य भाषाओंकी अपेक्षा मानव हृदयकी समस्त संवेदनाओंके चित्रणकी दृष्टिसे एक विशिष्ट स्थान है। आर्य भाषाओंके विकास-क्रममें अपभ्रंश अंतिम एवं सीमान्त भाषा है जिससे आजकी सभी नव्य भारतीय भाषाएँ उत्पन्न, विकसित, पोषित और सम्वर्द्धित हैं। अपभ्रंशकी महत्ता इस बातसे मानी जा सकती है कि वह पाँचवी सदीके पूर्वार्द्ध मे ६०० वर्षों तक भारतकी राष्ट्र-भाषा थी और लगभग एक हजार वर्ष तक अबाध गतिसे उसमे साहित्यकी सर्जना होती रही। अनवरत शोध और अनुसन्धानके फलस्वरूप अबतक अपभ्रंशका जो साहित्य उपलब्ध हो सका है उसमें गद्य और नाटकका नितान्त अभाव है। किन्तु उसका काव्य-भाग इतना प्रौढ़ और समृद्ध है कि अध्येताओंको अध्ययन, अनुशीलन और शोधके लिए प्रभूत सामग्री प्राप्त हो जाती है और अभावकी ओर दृष्टि नही जाती। अपभ्रंशके कवि और दार्शनिकोंने गद्य और दृष्टिकाव्यकी सर्जना-की ओर कदम क्यो नहीं उठाया यह अलगसे खोज करनेका विषय है। प्रस्तुत निबन्धकी चिन्तन-सीमासे यह बाहरकी बात होगी।

## काव्यविधाका वर्गीकरण

अपभ्रंशकी समस्त काव्य-श्री को हम तीन भागोंमे विभक्त कर सकते है :—( १ ) प्रबन्ध काव्य, ( २ ) खण्ड काव्य और ( ३ ) मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य मुख्यत: कथा और आख्यानोंका काव्य हैं। डा० कोचड ने छोटे-छोटे कई कथा-काव्योंका खण्ड काव्यकी श्रेणीमें परिगणित किया है। डा० देवेन्द्रकुमार जैनने काव्य-विभाजनके कुछ विशेष वैज्ञानिक दृष्टिकोणको अपनाते हुए पुराण-काव्य और चरित-काव्य नामक दो उप विभागोंमे प्रबंध-काव्यको विभक्त किया है। संभव है और अधिक साहित्य उपलब्ध हो जाने पर विभाजनका स्वरूप वैज्ञानिक आधारपर कालान्तरमें सुनिश्चित हो जाय। इसके अन्तर्गत पउमचरिउ, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, करकंडचरिउ आदि उल्लेखनीय है। खंड काव्य अपने नामसे ही सुस्पष्ट है। इसके अन्तर्गत 'सन्देश रासक' नामक एक ही खंड काव्य प्राप्त है जिसमें एक विरहिणी नायिका अपने प्रवासी पतिके पास एक पथिकके माध्यमसे अपना प्रेम-पत्र प्रेषित करती है। मुक्तक काव्योंके हमे दो रूप गोचर होते हैं। एक गेय मुक्तकोंका दूसरा दोहा मुक्तकोंका। गेय मुक्तकोंके भी विचारकी सुविधाके लिए कई विभाग किए गए है; जिनपर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट नहीं है। इन गेय मुक्तकोंके अन्तर्गत चर्चरी, उपदेश रसायन रास, काव्य-स्वरूप कुलकम् आदिका उल्लेख किया जाता है।—दोहा-काव्यके, विषयकी दृष्टिसे, दो विभाग किए जाते हैं। एक दोहा-कोश और दूसरा स्फुट। प्रस्तुत निबंधमें इन्हीं दोनों विभागोंपर विचार करनेका प्रस्ताव है।

## दोहाकाव्यका वैशिष्ट्य

भारतीय इतिहासका मध्ययुग धार्मिक आन्दोलनका महत्वपूर्ण युग रहा है। सभी सम्प्रदायोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक विचारधाराएँ परिलक्षित होने लग जाती हैं। प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्तिका स्वर अधिक ऊँचा है। दोहा काव्यके विषयमें भी यही कहा जा सकता है। दोहा-कोश विभागके अन्तर्गत दोहोंका जो विपुल साहित्य प्राप्त होता है उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही विचारधाराएँ समान रूपमे मिलती हैं। 'सावयधम्म दोहा' प्रवृत्तिमूलक भावनाओंसे अनुप्राणित है। उसमें श्रावकोंके धर्माचरण, इहलोक-परलोक-साधन निमित्त भव्य और निर्मल आचार, चित्तसंयम, श्रद्धा आदिका सरस और सुन्दर शैलीमें निरूपण है। किन्तु परिमाणमें निवृत्तिमूलक साहित्य दोहोंमें बहुत अधिक

पाया जाता है। परमात्मप्रकाश, योगसार, दोहा पाहुड, बौद्धगान और दोहा आदि सभी निवृत्तिमूलक साहित्य हैं। इनमें शरीर—अशरीर, जीव,—आत्मा, विषय-सुख—आत्म सुख,पाप-पुण्य, आदि पर विशदरूपेण विचार किया गया है। आत्म-ज्ञान क्या है, कैसे उसकी प्राप्तिसे मानव-जीवन धन्य हो जाता है, उस आत्म-ज्ञान और आत्मानुभूतिके सामने कैसे सभी शास्त्रोंका पठन-पाठन व्यर्थ है इसपर प्रकाश डाला गया है। शिव और शक्तिका निवास अपने ही अंदर है। बाहरमें उसकी तलाश व्यर्थ है। जब अभ्यन्तरके देवताकी साधन-बलसे अनुभूति हो जाय तब भीतर भी देवता और बाहर भी देवता; कौन पूजा करे और किसकी पूजा हो, एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तीर्थ, व्रत, जप, माला, तिलक, साधुवेष, मुंडित मुण्ड आदि सभी बाहरी उपकरण व्यर्थ ही नहीं आडम्बर मात्र हैं। इनसे मानव जीवनकी कोई भी समस्या हल नहीं होती। उसके उद्धारके निमित्त आत्मानुभूति ही एकमात्र साधन है। योगकी महिमापर अत्यधिक जोर दिया गया है। मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे शुभ और अशुभ कर्मोंका पुण्यमय और पापमय संस्कारोंका भार अपने स्कन्धोंपर वहन करता आ रहा है। उन कर्म और संस्कारोंके सम्पूर्ण क्षेत्रके लिए योग ही एक मात्र साधन है। इसी साधनके सुप्रभावसे अन्तस्थ शिवके दर्शन हो सकते हैं जिससे जीवन धन्य हो सकता है। उसके पश्चात् कुछ जानने या पानेकी तुच्छ आकांक्षा नहीं रह जाती। इन तत्त्वोंपर आगे चलकर प्रत्येक रचनासे सोदाहरण विचार किया जायगा।

अपभ्रंश-मुक्तक-काव्यमें जो स्फुट दोहे पाये जाते हैं उनका भी एक निश्चित मूल्य है। अपभ्रंशके कवियोंको राजाओंके दरबारमें सम्मानित स्थान प्राप्त होने लग गए थे। दरबारके कवि तरुण कवि नहीं, बल्कि प्रौढ़ पूर्ण अभ्यस्त होते थे। उनकी रचनाओंसे यह प्रमाणित हो जाता है। राजाओंके रंजनके लिए उनके द्वारा रचित अपभ्रंश स्फुट दोहोंमें श्रृङ्गार और वीर रसके दोहोंकी प्रधानता है। उनमें नीति और सुभाषितके भी बड़े अच्छे-अच्छे दोहे प्राप्त होते है। हेमचन्द्रके व्याकरणमें इस प्रकारके स्फुट दोहे बहुत अधिक पाए जाते हैं। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणिक नियमोंके उदाहरणके लिए अपने पूर्ववर्ती या समकालीन रचनाओंसे इन दोहोंको उद्धृत किया है। परमात्मप्रकाश, योगसार, दोहा-पाहुड़से लिए गए अनेक दोहे पाए जाते हैं। फिर भी स्फुट दोहोंमें ऐसे बहुत है जिनका मूल स्रोत खोज लेना आसान नहीं।

ऊपरकी कंडिकाओंमें अपभ्रंश साहित्यके अन्तर्गत विशाल और समृद्ध दोहा-साहित्यके सामान्य परिचयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंशके कवियोंने मानव जीवनके सभी आवश्यक और उपयोगी विषयोंपर दोहा छंदमें रचना की है। वे रचनाएँ अपने आपमें इतना महत्वपूर्ण और प्रभूत हैं कि वे अकेले स्वतन्त्ररूपसे शोध और अनुशीलनके विषय हैं। अब नीचे की कंडिकाओंमें प्रत्येक प्रमुख ग्रन्थोंसे कुछ रचनाओंको लेकर विषयपर प्रकाश डाला जायगा। इससे दोहोंके मूल्यांकनमें सुविधा होगी। पाठक देख सकेंगे कि अपभ्रंशके कवि मानव कल्याणमें कितने विरत थे। परवर्ती हिन्दीके नवजागरण युगमें इन्हीं रचनाओंके आधारपर संत-काव्य, श्रृंगारसंबंधी सतसईके दोहे, नीति संबंधी वृन्दके दोहे, रहीमके दोहे, आदि भी परम्पराएँ स्थापित हुई।

## प्रवृत्तिमूलक दोहा-साहित्य

### मनुष्य जन्मकी दुर्लभता

संसारमें नाना शुभाशुभ कर्म करते हुए मनुष्य जीवन व्यतीत कर देता है। मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है, इसका उसे अन्दाज नहीं हो पाता। यदि हो जाता, तो शायद वह अशुभ कर्मोंसे बहुत दूर रहता। मनुष्य जन्म उतना ही दुर्लभ है जितना समुद्रमें गिरे हुए समिला ( काठका कील ) के जूड़ेके छिद्रको पाना।

> जिम समिलहं सायर-गयहं दुल्लहु जूवह रंधु।
> तिम जीवहं भव-जल-गयहं मणुयत्तण-संबंधु ॥ —सावयधम्म दोहा

गुरुके उपदेशसे ही जीवन सफल हो सकता है। वे बड़े भाग्यशाली हैं जिन्हें गुरुकी कृपा प्राप्त है। गुरु-वचनके अनुसार चलनेसे मनुष्य शिवपत्तनमें पहुँच जाता है; जिसे गुरु उपदेश प्राप्त नहीं है या जो उपदेशके अनुसार आचरण नहीं करता वह मनुष्यरूपमें एक हिंसक जन्तु ही रह जाता है।

> मग्गहं गुरु-उवएसियहं णर सिव-पट्टणि जंति।
> तें विणु बग्घहं वणयरहं चोरहं पिडि णिवडंति ॥ —सावयधम्म दोहा

भोगकी लालसाको जितना प्रज्वलित किया जाय वह उतनी ही प्रज्वलित होती है। प्रबृद्ध इन्द्रियोंका यही पर-धर्म है जो गीतामतानुसार भयावह है। यह पर-धर्म उतना ही भयावह है जितना दूध पिलाकर मोटा किया गया साँप।

भोगहं करि परिमाणु जिय इंदिय म करि सदप्प।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्प॥ —सावयधम्म दोहा

श्रावकोंके अनेक धर्म बतलाए गए हैं—जैसे, पात्रमें दान, व्रत, उपवास, विषयकषायसे अलग रहना, शुद्ध आहार, आदि। जन्मना कोई व्यक्ति ब्राह्मण हो या शूद्र, यदि वह ऊपर बताए धर्मोंका पालन करता है तो वह अवश्य ही श्रावक हो सकता है। क्या श्रावकके सिरपर दूसरा कोई चिह्न लगा रहता है।

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु व कोइ।
*सो सावउ किं सावयहं अण्णु वि सिरि मणि होइ॥* —सावयधम्म दोहा

गृहस्थ आश्रम अन्य सभी आश्रमोंका पोषक है। इसलिए दान-धर्म गृहस्थोंके अन्य सभी धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है। इसके बिना गृहस्थ की न कल्पना की जा सकती है और न उसकी कोई सार्थकता ही है। पक्षियोंके भी रहनेके स्थान होते है पर उन्हें दान-धर्मसे युक्त कोई गृहस्थ नहीं कह सकता।

अह गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ। —सावयधम्म दोहा
तो गिहत्थु पक्खि वि हवइ जें घरु ताह वि होइ॥

एक दूसरे दोहेमें दानकी महिमा बतलाते हुए कहते है कि दानरूपी जलसे धर्मरूपी वृक्ष यदि सींचा जाय तो वह वृक्ष कौन कौन-सा उत्तम फल नहीं देगा। जरुरत केवल इतना ही है कि उस वृक्षको मिथ्यात्वकी आगसे बचाया जाय नहीं तो उसके जल जानेका डर है।

किं किं देइ ण धम्म तरु दाण सलिल सिंचिउ।
अइ मिच्छत्तहुयासणहु रक्खिज्जइ उज्झंतु॥ —सावयधम्म दोहा

पाँच इन्द्रियोंके पाँच धर्म—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। यदि इन्द्रियोंको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो समूचा जीवन वासनाकी तृप्तिमे ही व्यतीत हो जायगा। अपरिग्रह और संयम कुछ भी नहीं बन पाएगा जिनके बिना जीवन-भार बन जाता है। इन इन्द्रियोंमेंसे एक भी यदि स्वतन्त्र होकर वासनामे लग जाय तो जीवन दूभर हो जाता है। यदि सभी स्वतन्त्र हो जायें तो फिर क्या पूछना है।

एक्कु वि इंदिउ मोक्कलउ पावेइ दुक्खसयाइं।
जसु पुणु पंचवि मोक्कला तसु पुच्छिज्जइ काइं॥ —सावयधम्म दोहा

पिशुनता महा अधर्म है। इससे दो व्यक्तियोंका पारस्परिक मेल और प्रेम-भाव नष्ट हो जाता है। पिशुन-व्यक्ति उस चूहेकी भाँति है जो बहुमूल्य वस्तु कुतर तो देता है पर उसे फिर जोड़ नहीं सकता।

विहडावइ ण उ संघडइ पिसुण परायउ णेहु।
टालइ रयहु ण उत्तरिउ उंदुरू को मंदेहु॥ —सावयधम्म दोहा

भक्ति निष्काम ही अच्छी होती है। निष्काम भक्तिसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। ईश्वरोपासना यदि सकाम हुई भोगकी कामना बनी रही तो भक्तिरूपी अमूल्य रत्नको कौडीके मूल्यमें बेच देना हुआ। ऐसे सकाम भक्ति करने वालेको जन्मान्धवत् ही समझना चाहिए।

दाणच्चणविहि जो करिवि इच्छइ भोयणि बंधु।
विक्कइ सुमणि वराडियइ सो जाणहु जच्चंधु॥ —सावयधम्म दोहा

अन्तमें कहा गया है कि मनुष्य जीवनको यदि सफल बनाना है तो इससे विषयोंके भोगोंसे कोसो दूर रखना होगा। जो मनुष्य अपने जीवनको भोगोंकी तृप्तिमें लगाता है उसका आचरण ठीक उसी प्रकारका है जो केवल ईंधनकी लकड़ीके लिए कल्पवृक्षको काट डालता है; अथवा जो केवल धागेके लोभमे पिरोए हुए मणि-रत्नोंको तोड़कर छिन्न-छिन्न कर देता है; अथवा जो लोहेके लोभमे सागर पार कराने वाली नौकाका ताड़-फोड़ कर देता है :—

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण।
इंधण कज्जे कप्पयरू मूलहु खंडित तेण॥
दुल्लहु लहिवि णरत्तणउ विसयहं तोसिउ जेण।
पट्टोलयतग्गत्थयइ सुरयणु फोडिउ तेण॥
दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण।
लोह कज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण॥ —सावयधम्म दोहा

## निवृत्तिमूलक दोहा-साहित्य

पाहुड दोहाके रचयिता श्री मुनिरामसिंहने बड़े ही सद्भाव और प्रेमके साथ सांसारिकतामें फँसे हुए मनुष्योंको मोह-निद्राको तोड़नेके लिए अध्यात्मवादका उपहार प्रस्तुत किया है। जड़वाद, मिथ्यात्व और रूढ़िवादिताके गढ़पर निरन्तर गोलाबारीकर उसे ध्वस्त कर दिया है और उसके भग्नावशेषपर आत्मवादका भव्य-भवन निर्मित किया है। उनके आक्रोशपूर्ण आक्रमणमें एक अनुपम आत्मीयता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। उपहारकी यही सफलता है। बिना प्रेम और आत्मीयताके उपहार कोई भेज ही कैसे सकता है। नीचे उनके कुछ दोहे उद्धृत किये जाते हैं जिनसे उनके निर्मल विचारों के निकट पहुँचनेमें सुविधा होगी—

मनुष्य नानाविध जगज्जालमें पड़ा हुआ अनेकानेक कर्म करता है। किन्तु अपने उद्धारके लिए—अपने मोक्षके लिए क्षण भर भी आत्म-चिन्तन नहीं करता। यदि मनुष्य स्वयं चिन्ता न करे तो दूसरा उसके लिए कौन चिन्ता करेगा—कैसे उसका उद्धार होगा :—

धंधइं पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु॥ —पाहुडदोहा

इसी प्रकार पुत्रकलत्रमें मोहित होकर लक्ष-लक्ष योनियोंमें वह परिभ्रमण करता हुआ आने कबसे दुःख सहता आ रहा है—

जोणिहं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु।
पुत्त कलत्तहं मोहियउ जाम ण बोहि लहंतु॥ —पाहुडदोहा

संसारके गोरख-धंधेमें पड़े हुए ऐसे गृहस्थोंको वे कहते हैं कि इस प्रकार भूसा कूटनेसे क्या लाभ, हे मूढ़ ! तू घर और परिजनका छोड़कर शिवकी निर्मल भक्ति कर।

मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहुं तुस कंडि।
सिवपइ णिम्मलि करहि रइ घरु-परियणु लहु छंडि॥ —पाहुडदोहा

गृहस्थोंके अतिरिक्त वे उन साधुवेषधारियोंके विषयमें कहते हैं कि जिस प्रकार सर्प विषका त्याग नहीं करता सिर्फ निर्मोक (केंचुल) का त्याग करता है उसी प्रकार ये साधुजन भोगके भावका परित्याग नहीं करते; केवल बाहरी चिह्न धारण कर लेते हैं—

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ॥ —पाहुडदोहा

जो मुनि विषय-सुखका त्याग तो कर देता है; पर मनमें उन सुखोंकी अभिलाषा बनाए रखता है वह केवल केश-लुंचन, शारीरिक तप आदिका कष्ट ही सहन करता है, उसे मोक्ष नहीं मिल पाता। वह फिर संसारमें ही भ्रमण करता फिरता है।

जो मुणि छंडवि विसय सुह पुणु अहिलासु करेइ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ॥ —पाहुडदोहा

विषय-सुखकी प्रकृतिके संबंधमें वे कहते हैं कि ये सुख तो सिर्फ दो दिनके लिए हैं। परिणाममें तो वे दुःखद ही हैं। अतः हे जात्र ! तू भूलकर भी इस सुखमें न पड़—तू कुल्हाड़ीसे अपनेको ही न काट—

विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पाखंधि कुहाडि॥ —पाहुडदोहा

आत्मवादकी प्रतिष्ठामें वे कहते हैं कि आत्मा न गोरा है, न सावला है, और न वह स्थूल अंग ही है। जाति भेदक आधारपर बाह्य समाजका संघटन भी उपयुक्त नहीं है। तत्वतः न कोई ब्राह्मण है, न वैश्य, न क्षत्रिय और न शूद्र। पुरुष ज्ञानमय विशुद्ध आत्मा है और कुछ नहीं—

णवि गोरउ णवि सामलउ णवि तुहुं एक्कु वि वण्णु।
णवि तणु अंगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु॥
हउ वरु बंभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि एहउ जाणि विसेसु॥ —पाहुडदोहा

शरीरके अन्दर रहनेवाले इस आत्माको पहचान लेनेके बाद बाहरके देवता व्यर्थसे प्रतीत पड़ने लगते हैं। अन्दर भी देवता और बाहर भी देवता; फिर किसकी वन्दना करें—

वंदहु वंदहु जिण भणइ को वंदउ हलि इत्थु।
णिय देहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु॥ —पाहुडदोहा

योगकी साधना सूक्ष्मकी अर्थात् आत्माकी साधना है। स्थूल शरीर उस साधनाका एकमात्र साधन है। इस नाशवान् शरीरके सहारे ही योगी अचल समाधि एवं अक्षय शान्ति प्राप्त करता है। फिर भी शरीर और आत्मा, गीताकी शब्दावलीमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दो है; एक नहीं। यदि भूलवश एक मान लिया गया तो परिणाम यह होगा कि निर्वाण अलभ्य ही रह जायगा।

जोइय भिण्णउ झाय तुहुं देहहं ते अप्पाणु।
जइ देहु वि अप्पउ मुणहि णवि पावहि णिव्वाणु॥ —पाहुड दोहा

मनका जब तक द्वैतभाव मिटता नहीं, जब तक मनकी भ्रान्ति जाती नहीं तब तक अद्वैत भावकी स्थिति प्राप्त नहीं होती; अक्षय, निरामय और परम गतिमें लयकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मामें लीन हुआ नहीं जाता।

मनको सहज अवस्थाकी ओर जानेसे रोक लिया जाय और उसे आत्मामें लीन कर दिया जाय तो मन स्वयं विनष्ट हो जाता है, उसकी वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं।

अक्खइ णिरामइ परमगइ अज्ज वि लउ ण लहंति।
भग्गी मणहं ण भंतडी तिम दिवहडा गणंति॥
सहज अवत्थहिं करहुलउ जोइय जंतउ वारि।
अक्खइ निरामइ पेसियउ सइं होसइ संहारि॥ —पाहुड दोहा

जब मनुष्यका दृष्टि-कोण आत्मवादी हो जाता है, जब उसे आत्माके दर्शन हो जाते है तब सारा जगत उसे आत्ममय दीखता है। वह जहाँ भी दृष्टि दौड़ाता है उसे उसीका जल्वा नजर आता है। उसका चित्त इतना निर्मल रहता है कि वहाँ सन्देह, भ्रान्ति और शंका कुछ रहती ही नहीं। उसे किसीसे कुछ पूछनेकी आवश्यकता ही नही रहती।

अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ॥ —पाहुड दोहा

जैसा कि इसके नामसे ही विदित है, परमात्मप्रकाशमे निरंजन, आत्मा, आत्मज्ञान, जीव, जीवकी मोहदशा, इन्द्रियसुख बनाम आत्म-सुख, शिवतत्व, शिवतत्वसे विमुख जीवनकी व्यर्थता, सिद्धिके लिए भाव की शुद्धता, अद्वैत भावकी उपासना, सृष्टि की क्षणभंगुरता योग और योगी, मुक्त अम्बरमे अर्थात् शून्यमे योगीका निवास आदि विषयोंपर सरल और सरस भाषामें बड़े ही सुन्दर ढंगसे वर्णन किया गया है। इसमे तर्कको प्रधानता नहीं है। कविने सर्वत्र अपनी अनुभूतिसे काम लिया है जिसके फलस्वरूप कथन अतीव प्रभावोत्पादक बन सका है। नीचे दिए हुए दोहोसे काव्यका संक्षिप्त परिचय हो जाता है।

### निरंजनकी परिभाषा

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु॥ —परमात्मप्रकाश

### परमात्माकी परिभाषा

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि॥

### देह और आत्मा

देहहँ पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि॥ —परमात्मप्रकाश

मूर्ख आत्म-स्वरूपको न जानकर बाहरकी ओर दृष्टि लगाता है और बाह्य जगतको ही अपना स्वरूप भ्रमवश मान लेता है।

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु॥

× ×

जणणी जणणु वि कंतु घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु॥ —परमात्म प्रकाश

आत्मा विशुद्ध ज्ञानमात्र है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुछ नहीं।

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु।
पुरिसु णउ णउ इत्थि णवि णाणउ मुणइ असेसु॥ —परमात्म प्रकाश

## आत्माकी महिमा

दूसरोंके ध्यानसे क्या लाभ—यदि एक आत्माका ही ध्यान किया जाय तो क्षण-मात्रमें ही परमपदकी प्राप्ति हो जा सकती है—

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुए अण्णेण।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण॥ —परमात्मप्रकाश

आत्माके ध्यानसे मुनिजन जिस अनन्त सुखका लाभ करते हैं उस सुखको करोड़ों रमणियोंके साथ रमण करनेवाला इन्द्र भी नहीं पा सकता।

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु॥ —परमात्म प्रकाश

अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिवका निवास समरसताको प्राप्त चित्तमें है। वह शिव देवता, मन्दिर या पत्थरमें नहीं है—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति॥ —परमात्म प्रकाश

विषयासक्तिमें कितने दिन बीत गए; कुछ लाभ नहीं हुआ। यदि शिवसे मिला जाय, शिवको प्राप्त किया जाय तो निश्चय ही अचल मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।

विसयासत्तउ जीव तुहुं कित्तिउ कालु गमीसि।
शिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइं मुक्खु लहीसि॥ —परमात्मप्रकाश

जब मन परमेश्वरसे मिल जाता है तब दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। दोनोंकी समरस अवस्थामें यह पता नहीं चलता कि कौन किसकी उपासना करे। तात्पर्य यह कि उपास्य और उपासक दोनों एक हो जाते हैं।

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाहं पुज्ज चडावउ कस्स॥ —परमात्मप्रकाश

योगी साधना करते-करते मोहको विनष्ट कर लेता है। उसका मन भी मर जाता है अर्थात् मनकी सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है, उनका निरोध हो जाता है। स्वास और प्रस्वास भी समाप्त हो जाते हैं। क्रिया करते समय साधक योगी ईडा और पिंगला, जिनसे स्वास-प्रस्वासकी क्रिया होती है, छोड़कर सुषुम्नामें प्राण संचालित करता है। सुषुम्नामें प्राण-चालनके समय ईड़ा और पिंगलाकी क्रिया आप ही आप बंद हो जाती है। इसीको साँस और निःस्वासका टूटना कहते हैं। प्राण-चालनके समय योगी कूटस्थ ( भ्रूमध्य ) में वास करता है। योगकी शब्दावलीमें यही अम्बर है, यही शून्य है। योगी यहाँ वास करते हुए शुद्ध ज्ञान मय आत्माका नमन और ध्यान करता है।

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु।
केवल णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहं णिवासु॥ —परमात्म प्रकाश

योगसारमें भी परमात्मप्रकाशके ही विषय प्रतिपादित हुए हैं। उसमें भी आत्माके ध्यानपर अत्यधिक जोर दिया गया है जिससे मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है। उसकी भाषा सरल, सुन्दर और प्रेषणीयताके गुणसे ओतप्रोत है। सबसे बड़ी बात जो परमात्म-प्रकाश और योगसारके दोहोंके प्रति आकर्षण पैदा करती है वह यह है कि इन दोहोंमें कृत्रिमता कुछ भी नहीं है, जो कुछ कहा गया है वह निजी तपस्या और आत्मानुभूतिके आधारपर कहा गया है जिससे कथनमें अत्यधिक सच्चाई है और वह बरबस मनको हर लेता है। योगसारके दोहे नीचे उद्धृत किए जाते है ताकि पाठक उनका भी रसास्वादन कर सकें :—

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ तो संसार भमेहि॥
अप्पा-दंसणु एक्कु परू अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहं कारण जोइया णिच्छइँ एहउ जाणि॥ —योगसार

## शृंगार और जीवनभोग सम्बन्धी दोहे

स्फुट दोहोंकी भी संख्या बहुत अधिक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्फुट दोहे शृंगार और वीररस पर खूब मिलते हैं। नीति और उपदेशपर भी बहुत दोहे लिखे गए हैं। यदि इन सभी दोहोंको एक जगह संकलित कर दिया जाय तो अध्ययनकी एक बहुत महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती है। पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे इन स्फुट दोहोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते है।

एक प्रेमिका अपने प्रियतमके साथ जा भी न सकी, उसके वियोगमे प्राणोंका विसर्जन भी न कर सकी; अब, उस प्रवासी प्रियतमके पास प्रेमपाती भेजनेमें भी उसे लज्जाका अनुभव हो रहा है :—

जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ वियोइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंतो पहिअ पियासु॥ —हेमचन्द्र

एक प्रियतमा अपनी लाचारीका जिक्र करते हुए कहती है कि हे-सखि, सुरतके समय मै अपने प्रियतमके मुख कमलको ही देखती रह गई। उनके मुखकी छवि कुछ ऐसी थी कि मेरा ध्यान किसी दूसरी ओर गया ही नही। मुख देखते-देखते रात बीत गई, उनके साथ आलिङ्गन और चुम्बनका अवसर ही नही मिला।

अङ्गहिं अङ्गु न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिय जो अन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥ —हेमचन्द्र

एक विरहिणीकी विरहदशाका वर्णन है। प्रियतमने जाते समय अपनी प्राणवल्लभाको एक अवधि दी थी कि मैं इतने दिनोंके अन्दर लौट आऊँगा। अवधिके दिनोंको वह प्रतिदिन अंगुलियोपर गिनती थी। गिनते-गिनते नखमे उसकी अंगुलियाँ जर्जरित हो गई है।

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥१॥ —हेमचन्द्र

प्रवासी नायकोंके लिए पावसकी रात कितना कष्टप्रद होती है। हृदयमें एक तरफ विरहिणी नायिकाकी याद सालती है और दूसरी ओर आकाशमे काले-काले बादलोंका गर्जन। नायक जब सोचने लगता है कि इस घन-गर्जनसे विरहिणी कितना कष्ट पाती होगी तो उसके हृदयका अपना कष्ट और अधिक बढ़ जाता है।

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति पवासुअहं विसमा संकडु एहु॥ —हेमचन्द्र

एक विरहिणी नायिकाकी अभिलाषा देखिए। उसका पति उससे दूर है। वह कहती है, यदि मै अपने पति को प्राप्त करलूँ तो एक अभूतपूर्व कौतुक करूँ। जैसे मिट्टीके नए कसोरेमें जल प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार पतिके मिलने पर मै उसके रोमरोममे प्रवेश कर जाऊँगी। स्यात् इस प्रकार अंगीकृत हो जानेसे उसे पुन: विरहके मर्मान्तक कष्ट नहीं सहने पड़ेंगे।

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइसीसु॥

एक नव विवाहित दम्पतिका चित्रण है। दुल्हा अपनी नव विवाहिता दुल्हनको ब्याह कर घर लाया है। अपनी नववधूके मुख कमलको देखनेके लिए वह व्यग्र है। दुष्ट दिन उसके मार्गका कंटक है। उसका एक मात्र मनोरथ यही है कि यह दुष्ट दिन कैसे जल्दसे जल्द समाप्त हो जायगा और रात आएगी ताकि वह उसके चन्द्र-वदनको देख सकेगा।

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव-वहु-दंसण-लालसउ वहइ मनोरह सोइ ॥

एक नायिकाने अपने जीवनसे निद्राको बिल्कुल समाप्त कर दिया है। वह कहती है कि जब मेरा प्रियतम मेरे साथ रहता है तो उस समय मेरी आँखोंमें नींद आती ही नहीं। फिर ऐसे ही, जब वह मुझसे दूर चला जाता है तब भी मेरी आँखोंकी निद्रा गायब रहती है। यह दोनों ही दशा कितनी स्वाभाविक है।

पिय-संगमि कउ निद्दडी पिअहों परोक्खहों केम्ब।
मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्ब न तेम्ब ॥

विरहके दावानलसे झुलस कर एक धन्या इतना कृशकाय हो गई है कि जब वह चलती है तब वह अपने हाथ को ऊपर उठा लेती है ताकि तनकी कृशताके कारण उसका वलय कही गिर न जाय। उसको हाथ उठाकर चलते हुए देखकर ऐसा भान होता कि वह विरहरूपी समुद्रका थाह लगा रही है। पानीका थाह हाथ उठाकर ही लगाया जाता है।

वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥

## वीररस सम्बन्धी दोहे

अपभ्रंशमे वीररसकी जो रचनाएँ मिलती हैं वे अपने आपमे एक विचित्र परम्पराकी हैं। उनमे रसके उद्रेकके लिए भाव हृदयको आलोडित करते है। प्रतिक्रिया अभ्यन्तरमे शुरू होती है। रसकी इस प्रक्रियाके लिए उसे बाह्य उपमानोकी किञ्चित् मात्र भी अपेक्षा नही है। नीचे कुछ दोहे दिए जाते हैं जिनमे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

एक नायिका कहती है कि हे प्रिय! हम उस देशमे चलें जहाँ हमे खंगका व्यवसाय अर्थात् युद्ध प्राप्त हो सके। वीर योधा है उनको अपनी जीविकाके लिए, अपनेको रण-कौशलमे दक्ष बनाए रखनेके लिए युद्ध चाहिए। जिस देशमे युद्ध प्राप्त नही है वहाँ वे दुर्बल हो जायेंगे।

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिँ देसहिँ जाहुं।
रण दुब्भिक्खेँ भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥

एक नायिका कहती है कि जब मेरे पतिकी उपमा सिंहसे दी जाती है तब मुझे संकोच होता है। मेरे स्वाभिमानको कुछ धक्का-सा लगता है; क्योंकि सिंह सदा ऐसे हाथिओंको मारता है जिसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं रहता; किन्तु मेरे पति तो ऐसे हाथिओको मारते हैं जिनकी रक्षाके लिए उनके पीछे बहुतसे पदरक्षक रहा करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मेरे पति रण-स्थलमे प्रतिपक्षियोंसे रक्षित हाथी पर वार करते हैं।

कंतु जु सीहहों उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥

## सूक्ति और नीति सम्बन्धी

समुद्र तृणको अपने ऊपर धारण करता है और रत्नोंको अपने तलमे। जैसे स्वामी अच्छे भृत्यको छोड़ देता है और खलका सम्मान करता है।

सायरू उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं ॥

गुणसे धन नही, बल्कि यशकी प्राप्ति होती है। लेकिन प्रारब्धसे बँधा हुआ मनुष्य वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है। सिंहको देखिए, एक कौडीमे भी उसको कोई नही खरीदता और हाथी लाखों रुपएमे बिकता है।

गुणेहिँ न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिँ घेप्पन्ति ॥

मनुष्य वृक्षसे फलको ग्रहण करता है और कटु पल्लवोंको छोड़ देता है। किन्तु वृक्ष एक सज्जनकी भाँति उन पल्लवोंको छोड़ नहीं देता, वरन् अपने अंकमें धारण करता है।

वच्छहें गृण्हइ फलइँ जणु कडु-पल्लव वज्जेइ।
तो वि महद्दुम सुअणु जिवँ ते उच्छङ्गि धरेइ ॥

दुर्जन ऊपर चढ़कर स्वयं नीचे गिरता है और अपने स्वजनोंको भी घायल करता है; जैसे गिरि-शिखरसे गिरा हुआ शिलाखंड स्वयं चूर होता है और नीचेके जीव-जन्तुओंको भी विनष्ट कर डालता है।

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ।
जिहं गिरि-सिङ्गहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥

जो अपनी प्रशंसा नहीं करता और दूसरोंके गुणको प्रगट करता है ऐसे सज्जन कलियुगमें दुर्लभ हैं। मैं अपनेको उन पर न्योछावर करता हूँ।

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु।
तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥

साधु महात्मा वृक्षोंसे भोजनके रूपमें फल और वस्त्रके रूपमें वल्कल प्राप्त करते हैं। अच्छे स्वामीसे भोजन भी मिलता है, वस्त्र भी मिलता है और इनके अतिरिक्त सम्मान भी मिलता है। यहाँ जड़ वृक्ष बुरे स्वामीका प्रतीक है। वह निर्वाहके लिए सब कुछ देता है; पर सम्मान नहीं जो मानवी गुणोंके विकासके लिए परमावश्यक है। ऐसे लोगोंके विरुद्ध बड़ा सुन्दर प्रहार है।

तरुहुँ वि वक्कलु फलु मुणिवि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउं आयरू भिच्चु गृहन्ति।

बड़प्पनके लिए प्रायः सभी लोग तड़फड़ाते रहते हैं। लेकिन वह ऐसे नहीं मिलता। वह मुक्त हाथसे मिलता है अर्थात् दान देनेसे मिलता है।

साहु वि लोउ तडफ्फडइ बड्डत्तणहो तणेण।
वड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थि मोकलडेण ॥

हम थोड़े हैं, शत्रु लोग अधिक हैं, ऐसा कायर लोग ही कहा करते हैं। हे मुग्धे! जरा आकाशको तो देखो, कितने सितारे प्रकाश फैला रहे हैं। तात्पर्य यह कि बहुतसे सितारोंके रहते हुए भी केवल एक चन्द्रमा ही प्रकाश फैलानेमें समर्थ रहता है।

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥

पुत्र वही है जो अपने पिताके वैरीसे बदला चुका लेनेमें समर्थ हो। यदि वह नहीं चुका सकता हो तो ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाभ और उसके मर जानेसे ही क्या हानि है!

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

महर्षि व्यास कहते हैं कि जो महाभाग नित्य प्रति अपनी माताके चरणोंमें नेह लगाता है उसको प्रतिदिन गंगा-स्नानका फल प्राप्त होता है।

वासु महारिसि एँउ भणइ जइ सुइ सत्थु पमाणु।
मायहँ चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गंगा-ण्हाणु ॥

ऐसे ऐसे सुन्दर नीतिके दोहे अपभ्रंशमें भरे पड़े हैं। जो अपने आपमें सुभाषितके समान मधुर और प्रेरणाप्रद हैं। विस्तार-भयसे अधिक उदाहरण देना संभव नहीं है।

●

# पण्डित [1]आशाधरके द्वारा उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

●

## प्रास्ताविक

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके ग्रन्थकार पं० आशाधरने अपनी टीकाओंमें अन्य ग्रन्थोंसे इतने अधिक उद्धरण प्रमाणरूपमें दिये हैं कि उनके संकलनसे एक बृहत् ग्रन्थ तैयार हो सकता है। ये उद्धरण केवल जैन-ग्रन्थोंसे ही नहीं लिये गये हैं किन्तु जैनेतर ग्रन्थोंसे भी लिये गये हैं। और उनके अवलोकनसे प्रकट होता है कि आशाधरका अध्ययन बड़ा विशाल था, उन्होंने समुपलब्ध जैन और जैनेतर ग्रन्थोंका अच्छा अध्ययन किया था और कोई ऐसा विषय नहीं था जिसका उन्होंने अध्ययन नहीं किया था। जैनाचार, अध्यात्म, दर्शन, काव्य, साहित्य, कोष, राजनीति, कामशास्त्र, आयुर्वेद आदि सभी विषयोंके वह प्रकाण्ड पण्डित थे और इनमेंसे अनेक विषयोंपर उन्होंने पाण्डित्यपूर्ण प्रौढ ग्रन्थोंकी रचना की थी, जिनमेंसे अनेक ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं। जहाँ तक हम जानते हैं उनके पश्चात् दिगम्बर जैन परम्परामें उनके जैसा बहुश्रुत विद्वान् और ग्रन्थकार दूसरा नहीं हुआ। उनके द्वारा रचित टीकाएँ केवल उस-उस विषयका व्यापक अध्ययन करनेवालोंके ही लिये उपयोगी नहीं हैं, किन्तु इतिहासका अनुशीलन करनेवालोंके लिये भी उपयोगी है। अतः उनके टीकाग्रन्थोंमें उल्लिखित ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंका परिचय सर्वप्रथम कराया जाता है।

उनके अनगारधर्मामृतकी टीका इस दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है अतः मुख्यरूपसे उसीके आधारसे उक्त कार्य किया जाता है।

## १. आचार्य कुन्दकुन्द

पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, बारह अणुवेक्खा आदि कुन्द-कुन्द प्रणीत ग्रन्थोंसे अनेक उद्धरण दिये हैं और 'तथा चोक्तं प्रवचनसारचूलिकायाम्' (पृ० ३२६) 'तथा चोक्तं समयसारे' (पृ० ५८६) लिखकर प्रवचनसार और समयसारका तो स्पष्ट रूपसे नामोल्लेख भी किया है। किन्तु उनके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्दका नामोल्लेख मेरी दृष्टिमें नहीं आ सका। हाँ, बारह अणुवेक्खाकी गाथा उद्धृत करते हुए (पृ० १३२) 'यत्स्वामिका' लिखा है।

## २. मूलाचार

मूलाचारका उपयोग अनगारधर्मामृतकी रचनामें विशेषरूपसे हुआ प्रतीत होता है। उससे अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। एक स्थानपर तो (पृ० ५५४) 'उक्तञ्च मूलाचारे' लिखकर स्पष्ट रूपसे उसका नामोल्लेख किया है।

## ३. भगवती आराधना

मूलाचारकी तरह भगवतीआराधना भी साधु-विषयक आचारका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अतः आशाधरजीने अनगारधर्मामृतकी टीकामें उसका तथा उसके टीका-टिप्पणोंका उल्लेख बहुतायतसे किया है। आराधनाशास्त्र (पृ० १६१) मूलाराधना और आराधना नामसे इस ग्रन्थका उल्लेख मिलता है।

---

१. आशाधरजीके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये श्रीनाथूरामजी प्रेमीका 'जैन साहित्य और इतिहास' देखें।

## ४. भ० आराधनाके टीका-टिप्पण

भ० आराधनाकी टीकाओंमें उपलब्ध प्राचीन टीका[1] अपराजिताचार्य विरचित है। इस टीकाका नाम श्रीविजयोदया है। आशाधरने एक[2] स्थानपर इस टीकाको श्रीविजयाचार्यविरचित भी कहा है। आशाधरजीने भी भगवती आराधनापर मूलाराधनादर्पण नामकी टीका रची है। अपनी इस टीकामें भी उन्होंने अनेक स्थलोंपर अपराजितसूरिका उल्लेख श्रीविजयाचार्य नामसे किया है। इससे प्रतीत होता है कि विजयोदया टीकाके कारण शायद अपराजितसूरि श्रीविजयाचार्य नामसे ख्यात हो गये थे; क्योंकि अपनी टीकाकी प्रशस्तिमें उन्होंने अपना नाम केवल अपराजितसूरि दिया है।

किन्तु 'श्रीविजयोदया' का अर्थ होता है—श्रीविजयसे जिसका उदय—उत्पत्ति हुई है। इस अर्थके अनुसार अपराजितसूरिका नाम श्रीविजय भी हो सकता है।

आशाधरजीने दो स्थलोंपर ( पृ० ६७४–६७५ ) मूलाराधनाके एक टिप्पणका भी उल्लेख किया है और विजयोदया टीकासे उसमें मतभेद भी बतलाया है। अपने मूलाराधनादर्पणमें भी आशाधरजीने दो टिप्पणोंका स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है। उनमेंसे एक टिप्पण जयनन्दीका और एक टिप्पण श्रीचन्द्रका बतलाया है। यथा—'बाणवामोऽभूव इति जयनन्दी' ( भग०, आ० पृ० १७५६ ) 'श्रीचन्द्रटिप्पणके त्वेवमुक्तम्'—पृ० ७९३।

[3]भग०-आ० गाथा ५६७ में आगत 'किमिरागकंबल'का अर्थ करते हुए पं० आशाधरजीने उसके तीन व्याख्यानों का उल्लेख किया है। उनमेंसे एक व्याख्यान तो संस्कृत टीकाका है और यह संस्कृत टीका अपराजित सूरिकी टीका है दूसरा व्याख्यान 'टिप्पन' का है और तीसरा व्याख्यान प्राकृत टीकाका है। इस व्याख्यान्से प्रकट होता है कि आशाधरजीके सन्मुख यह प्राकृत टीका उपस्थित थी। इस टीका तथा टिप्पणोंकी खोज होना चाहिये।

## ५. समन्तभद्राचार्य

स्वामिसमन्तभद्राचार्यका नामोल्लेख स्वामी नामसे अनगारधर्मामृत तथा सागारधर्मामृतकी टीकाओंमें किया गया है और 'स्वामिसूक्त' कहकर उनके रत्नकरण्डश्रावकाचारसे कई पद्य उद्धृत किये गये हैं। अनगारधर्मामृत ( २-१६ ) में 'आजकलके लोगोंको आप्तका निर्णय कैसे हो' इस प्रश्नका समाधान करते हुए आशाधरजीने कहा है कि शिष्टोंके गुरु-परम्परासे आगत उपदेश आदिसे आधुनिकजन भी आप्तका निर्णय कर सकते हैं। टीकामें 'शिष्टाः'का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'शिष्टा आप्तोपदेशसम्पादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयः।' अर्थात् आप्तके उपदेशमें जिन्होंने शिक्षा-विशेष प्राप्त की अथवा आप्तके उपदेशके विषयमें जिन्होंने शिक्षा-विशेष सम्पादित की। समन्तभद्राचार्यने 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरणके द्वारा आप्तकी मीमांसा की है, यह बात विद्वानोंसे सुज्ञात है। और वह मीमांसा आप्तके उपदेशको लेकर की गई है। अतः 'आप्तोपदेशसम्पादितशिक्षाविशेष' से स्वामिसमन्तभद्रका प्रमुख रूपसे ग्रहण सर्वथा उचित है। शायद इसीसे आशाधरजीने रत्नकरण्डश्रावकाचारसे आप्तके स्वरूपका प्रतिपादक श्लोक उद्धृत करते हुए 'आगम' जैसे पूज्य और और प्रामाणिक शब्दसे उसका उल्लेख किया है।

[4]सागारधर्मामृतकी टीकामें भी मूलगुण ( २-३ ) व्रतोंके अतिचार ( ४-६४, ५-२० ) तथा छठी प्रतिमाके ( ७-१५ ) प्रकरणोंमें स्वामी समन्तभद्रके मतभेदोंका उल्लेख रत्नकरण्डश्रावकाचारके पद्योंको उद्धृत करके किया है।

## ६. पञ्चसंग्रह

प्राकृत पञ्च-संग्रह नामक एक अतिमहत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थको अनेकान्त वर्ष ३, कि० ३ के द्वारा प्रकाशमें लानेका श्रेय पं० परमानन्दजीको है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित था। इसका सम्पादन पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्रीने किया है और भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे इसका प्रकाशन हो गया है। इस पंचसंग्रहकी छै गाथाएँ पं० आशाधरजीने अपने मूलाराधनादर्पणमें ( भग० आरा०, पृ० १८२८-२९ ) 'तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहे' लिखकर उद्धृत की हैं। अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकमें भी ( पृ० ५०७, ५०८ और ६०३ ) जो गाथाएँ उद्धृत हैं वे पञ्चसंग्रहकी हैं। अतः यह पञ्चसंग्रह अकलंकदेवसे भी प्राचीन है।

---

१. 'एतद् व्याख्यानं विस्तरतोऽपराजितसूरिविरचितमूलाराधनाटीकायामस्मत्कृते च मूलाराधनादर्पणाख्ये तन्निबन्धे द्रष्टव्यम्।' —पृ० १६६।
२. 'एतच्च श्रीविजयाचार्यरचितसंस्कृतमूलाराधनाटीकायां···। —पृ० ६७३।
३. भगवती आराधना उक्त टीकाओंके साथ शोलापुरसे प्रकाशित हुई है।
४. सागार धर्मामृतका स्वोपज्ञ संस्कृत टीकाके साथ सर्वप्रथम प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ( अब काशी ) से हुआ था।

अन० ध० की टीका ( पृ० ४६५ ) में भी आशाधरजीने शतकके प्रदेशबन्धका उल्लेख करते हुए उससे एक उद्धरण दिया है जो प्राकृत भाषामें है। पञ्चसंग्रहके एक प्रकरणका नाम 'शतक' है और उसपर एक प्राकृत टीका भी है किन्तु उसमें यह वाक्य नहीं है। शतककी श्वेताम्बर चूर्णिका भी नहीं है तब क्या शतकपर कोई अन्य प्राकृत टीका भी थी ? यह अन्वेषणीय है।

## ७. पद्मचरित

अन० ध० टी० ( पृ० ५९ ) में 'धर्म नाना दुरवस्थाओंसे घिरे हुए मनुष्यका उद्धार करता है' इस विषयमें तीन उदाहरण दिये हैं। एक उदाहरण सगर चक्रवर्तीका है, दूसरा मेघवाहन विद्याधरका है और तीसरा श्रीरामका है। और लिखा है कि सगर चक्रवर्तीकी तथा शेष दोनोंकी कथाएँ पद्मचरितसे जान लेना चाहिये।
यथा—एषा कथा द्वे उत्तरे च पद्मचरितादुज्ञातव्याः।

यह पद्मचरित[1] वही है जिसका हिन्दी अनुवाद पद्मपुराणके नामसे अति प्रसिद्ध है और जिसके कर्ता आचार्य रविषेण हैं। उन्होंने इस ग्रन्थको वीर नि० सम्वत् १२०३ में अर्थात् वि० सं० ७३३ में रचकर सम्पूर्ण किया था।

आशाधरजीने अन० ध० टी० ( पृ० २७४ ) तथा सागारधर्म टी० ( पृ० १०२ ) में 'रामायण' नामसे भी उसका उल्लेख किया है। सागारधर्मामृत (४–२६) में रात्रिभोजनत्याग व्रतका माहात्म्य बतलानेके लिये लक्ष्मण और वनमालाकी जो कथा दी है वह रविषेणके पद्मचरित ( ३६ वां पर्व ) में है। किन्तु आशाधरजीने वनमालाके द्वारा लक्ष्मणसे शपथ करानेका जो उल्लेख किया है वह उसमें नहीं है। इसी तरह अन० धर्मा० ( ४–११२ ) की टीकामें जो सीताके जीवन सम्बन्धी घटनाएँ बतलाई हैं वह सब भी पद्मचरितमें हैं। और दोनों टीकाओंमें 'रामायणे किल ह्येवं श्रूयते' और 'रामायणाच्चिन्त्या' लिखकर रामायणका ही उल्लेख किया है। दिग० जैन परम्परामें तो पद्मचरित ही रामायण है, अन्य कोई रामायण नामका ग्रन्थ नहीं है। अतः रामायण नामसे पद्मचरितका ही उल्लेख आशाधरजीने किया है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु वनमाला वाली प्रतिज्ञा करानेकी बातका उल्लेख उसमें न होनेसे यह सन्देह होता है कि रामायण क्या पद्मचरितसे भिन्न कोई है ?

## ८. भट्टाकलंकदेव

जैन परम्परामें भट्टाकलंक एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान हुए हैं। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थवार्तिक नामका महान ग्रन्थ रचा है तथा न्यायशास्त्रमें लघीयस्त्रय आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। अन० धर्मा० टी० (पृ० १६९) में आशाधरजीने 'तथा चाहुर्भट्टाकलंकदेवाः' लिखकर उनके लघीयस्त्रयसे चार श्लोक उद्धृत किये हैं। तथा इष्टोपदेशकी टीकामें भी एक श्लोक उद्धृत किया है।

## ९. भगवज्जिनसेनाचार्य

महापुराणके रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्यका स्थान जैनाचार्योंमें अतिमहत्त्वपूर्ण है। उनका महापुराण एक आकर ग्रन्थ है। उसमें श्रावकोंके आचार तथा विधि-विधानका महत्त्वपूर्ण वर्णन है। आशाधरजीने अपने धर्मामृतके दोनों भागोंकी टीकाओंमें 'आर्ष' जैसे आदरणीय शब्दसे महापुराणका जगह-जगह उल्लेख किया है और उससे अनेक श्लोक उद्धृत किये है। सागारधर्मामृत ( १–१८ ) के टिप्पणमें 'उक्तं चार्षे भगवज्जिनसेनपादैः' लिखकर महापुराणसे पूजाके भेदोंके लक्षणवाले अनेक श्लोक उद्धृत किये है। और उन्हींके आधारपर अपने पूजा लक्षणोंकी रचना की है जो शब्दशः महापुराणके श्लोकोंके साथ मिलती है। ( २-३ ) में अष्टमूलगुणोंके वर्णनमें महापुराणका मत पृथक् दिया है।[2] ( २-२१ ) में दीक्षान्वय क्रियाका वर्णन भी महापुराणका ही ऋणी है। उसके टिप्पणमें भी म० पु० के अनेक श्लोक उद्धृत है। ( २-

---

१. रविषेणका पद्मचरित हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे तीन भागोंमें प्रकाशित।

२. 'महापुराणमते तु' लिखकर आशाधरजीने उसके टिप्पणमें नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है—

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥

चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें भी 'उक्तं च महापुराणे' कहकर उक्त श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु महापुराणके मुद्रित संस्करणोंमें उक्त श्लोक नहीं है। पर इसके विपरीत ३८ वें पर्वमें मधु-मांसका त्याग, पञ्च उदुम्बरोंका त्याग और हिंसादि पापोंका त्याग इनको गृहस्थका सार्वकालिक व्रत कहा है। अतः उक्त कथन चिन्त्य है ?

५८ ) के टिप्पणमें भी 'धर्म्यविवाहविधिरार्षे यथा' लिखकर, महापुराणमें प्रतिपादित विवाहविधि सम्बन्धी अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। इस तरह सागारध०के दूसरे अध्यायमें पाक्षिक श्रावकका बहुत-सा वर्णन महापुराणका ऋणी है।

अन० ध० टी० में भी अनेक स्थलोंपर उनका उल्लेख मिलता है। तीसरे अध्यायके आठवें श्लोककी टीकामें भगवज्जिनसेनाचार्य आदिको मेघकी उपमा दी है क्योंकि वे विश्वके उपकारक हैं।

यथा—'सन्तः शिष्टा भगवज्जिनसेनाचार्यादयो मेघा जलदा इव विश्वोपकारकत्वात्'।

चौथे अध्यायके ११२वें श्लोकमें सुलोचना और जयकुमारके तथा वज्रजंघ और श्रीमतीके पूर्वानुरागका उल्लेख किया है। उसकी टीकामें लिखा है कि ये दोनों कथाएँ महापुराणसे जान लेना। सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें अनशन तपमें बाहुबलिका उल्लेख किया है। उसकी टीकामें 'बाहुबलिचर्या आर्षे यथा' लिखकर महापुराणसे दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें बतलाया है कि तपस्यामें लीन बाहुबलिके शरीरको लताओंने वेष्ठित कर लिया और वामियोंसे निकलते हुए सर्पोंसे वहाँका दृश्य अति भयानक हो उठा।

आठवें अध्यायके ३९वें श्लोकमें नामस्तवका स्वरूप बतलाया है कि एक हजार आठ सार्थक नामोंसे चौबीस जिनोंकी स्तुति करना नामस्तव है। उसकी टीकामें महापुराणके पच्चीसवें पर्वमें आगत जिनसहस्रनामस्तवनका उल्लेख करके आदि और अन्तका एक-एक श्लोक उद्धृत किया है। इस तरह आशाधरजीने महापुराणका[1] यथेष्ट उपयोग अपने धर्मामृतकी रचनामें किया है।

## १०. विद्यानन्द

अकलंकदेवके पश्चात् जिनसेनाचार्यके समयमें विद्यानन्द एक महान दार्शनिक हो गये हैं। इन्होंने अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान ग्रन्थोंकी रचना की है। पं० आशाधरजीने अन० धर्मा० टीका (पृ० ७३) में 'तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके' लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है।

## ११. अमृतचन्द्र सूरि

कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारके आद्य टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरिके नामसे प्रत्येक स्वाध्यायप्रेमी सुपरिचित है। उन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामसे एक श्रावकाचार भी लिखा है और तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके टीकाग्रन्थोंके आधारपर तत्त्वार्थसार रचा है। ये सब ग्रन्थ हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित हो चुके हैं। आशाधरजीने सागारधर्मामृतकी टीकामें उनके पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। तथा अन० ध० टी०में ( पृ० १६० ) स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारसे 'भयाशास्नेहलोभाच्च' आदि श्लोक उद्धृत करके पुरुषार्थसिद्ध्युपायका श्लोक उद्धृत करनेसे पहले लिखा है—'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्'। अर्थात् स्वामी समन्तभद्रके उक्त श्लोकके अनुसार ही ठाकुर ने भी यह श्लोक कहा है।

तथा पृ० ५८८ पर लिखा है—

'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम्'। अर्थात् यह कथन विस्तारमें ठाकुर अमृतचन्द्र विरचित समयसारकी टीकामें देखना चाहिये। आशाधरजीने अपनी इस टीकामें अमृतचन्द्रके समयसारकलश तथा तत्त्वार्थसारके भी कई पद्य उद्धृत किये हैं।

## १२. गुणभद्राचार्य

भगवज्जिनसेनाचार्यके प्रधान शिष्य गुणभद्राचार्य थे। जब जिनसेन अपने महापुराणको अधूरा ही छोड़कर स्वर्गवासी हो गये तो उन्होंने ही उत्तरपुराणकी रचना करके उसे सम्पूर्ण किया था। उनका आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ तो भर्तृहरिके नीतिशतक और वैराग्यशतकसे टक्कर लेता है। उसमें अमूल्य उपदेश और शिक्षाएँ भरी हुई हैं।

पं० आशाधरजीने अन०ध० की टीकामें (पृ० ६३३म) 'यदाहु. श्रीमद्गुणभद्रदेवपादा.' लिखकर उनके आत्मा[2]-नुशासनसे एक पद्य उद्धृत किया है। इष्टोपदेशकी अपनी टीकामें उन्होंने आत्मानुशासनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं।

---

१. महापुराण मूल हिन्दी टीकाके साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे दो भागोंमें प्रकाशित।

२. जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।

## १३. पण्डित सोमदेव

सोमदेवके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू और अध्यात्मतरंगिणी। अपने यशस्तिलक-चम्पूकी अन्तिम प्रशस्तिमें इन्होंने लिखा है कि 'चैत्र सुदी १३ शक सम्वत् ८८१ (वि० सं० १०१६) में यह काव्य समाप्त हुआ।

नीतिवाक्यामृत राजनीतिका ग्रन्थ है और यशस्तिलकमें यशोधर महाराजका चरित्र अंकित करते हुए राजनीति, धर्म और दर्शनकी बड़ी प्रौढ़ चर्चा की गई है। इसके अन्तिम तीन आश्वासोंमें तो श्रावकाचारका बड़ा ही पांडित्यपूर्ण और अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण विवेचन है। जिससे प्रतीत होता है कि सोमदेव केवल महाकवि ही नहीं थे किन्तु दर्शनशास्त्रमें निष्णात होनेके साथ ही साथ वे जैनाचारके भी प्रकाण्ड पण्डित थे।

आशाधरने अपनी सागारधर्मामृतकी टीकामें सोमदेवका कई जगह उल्लेख किया है तथा उनके उपासकाध्ययनसे[1] अनेक उद्धरण भी दिये हैं। पहले और दूसरे अध्यायके पादटिप्पणमें अनेक श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको 'उपासकाध्ययनादिशास्त्रमतानुसारिभिः' लिखकर सोमदेवकृत उपासकाध्ययनके मतका अनुसरण करनेवालोंके द्वारा मान्य अष्टमूल गुण बतलाया है। जिससे प्रकट होता है इन आठ मूलगुणोंकी मान्यताका प्रचलन सोमदेवके समयसे हुआ है।

इसी तरह चौथे अध्यायमें अणुव्रतोंके अतिचारोंका वर्णन करते हुए 'सोमदेवपण्डितस्तु' लिखकर सोमदेवके मान्य अतीचारोंका उल्लेख किया है।

अनगारधर्मामृतकी टीका (पृ० ६७३,६८४) में भी 'सोमदेवपण्डितैः' लिखकर उनके उपासकाध्ययनसे कई श्लोक उद्धृत किये हैं तथा (पृ० १७१ और २८९ पर) 'यन्नीतिः' लिखकर उनके नीतिवाक्यामृतसे भी उद्धरण दिये हैं।

## १४. श्रीमद् रामसेन

अनगारधर्मामृतकी टीका (पृ० ६३३) में आशाधरजीने 'श्रीमद्रामसेनपूज्यैरप्यवाचि' लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो तत्त्वानुशासनका है। यह ग्रन्थ छोटा होनेपर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और मा० ग्र० बम्बईसे तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हुआ था। अब तो पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारके हिन्दी भाष्य तथा विस्तृत प्रस्तावनाके साथ वीरसेवामन्दिरकी ओरसे प्रकाशित हो गया है। प्रस्तावनामें रामसेनके समयादिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्रकाशमें आई है। तत्त्वानुशासनको देखनेसे प्रकट होता है कि वे एक अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे।

## १५. चारित्रसार[2]

श्रवणबेलगोलकी जगद् विख्यात गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके प्रतिष्ठाता और गंगराज्यके सेनापति तथा मंत्री चामुण्डरायने चारित्रसार नामका एक छोटा-सा ग्रन्थ रचा है, जिसमें मुनि और श्रावकके आचारका सुन्दर संकलन है। आशाधरजीने अपने धर्मामृतकी रचनामें जिन श्रावकाचारोंका उपयोग किया है उनमें चारित्रसारका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। सागारधर्मामृतके अ० ७, श्लोक १५ की टीकामें आशाधरजीने 'अस्मिन् चारित्रसारादिशास्त्रानुसारिणि ग्रन्थे' लिखकर अपनी इस कृतिको स्पष्टरूपसे चारित्रसार आदिका अनुसरण करनेवाला बतलाया है। तथा अनगार-धर्मामृत (पृ० ६५३) में 'चारिसारमतानुसारिणः सूरयः' लिखकर चारित्रसारके मतका अनुसरण करनेवाले आचार्योंका मत दिया है। इससे प्रतीत होता है कि चारित्रसारमें प्रतिपादित मतको बड़े-बड़े आचार्य तक अनुसरण करते थे। संभवतया इसीसे आशाधरजीने भी अनगारधर्मामृतके आठवें और नौवें अध्यायोंकी टीकामें (पृ० ५६४,६०६,६०७,६५४,६५५, ६६०,६६१, ६६९ आदि) 'उक्तञ्च चारित्रसारे' लिखकर खूब उद्धरण दिये हैं।

अन० ध० टी० (पृ० ६३८) में 'उक्तं च सिद्धान्तसूत्रे' लिखकर एक उद्धरण इस प्रकार दिया है—

'आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुसिरं बारसावत्तं चेदि।'

यह षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत कर्म अनियोगद्वारका २८ वा सूत्र है। इस उद्धरणको देखकर मेरा यह विचार हो गया था कि आशाधरजीने षट्खण्डागमको भी देखा था। किन्तु यह उद्धरण ठीक इसीरूपमें चारित्रसारमें

---

१. भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित।

२. यह चारित्रसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रथमबार प्रकाशित हुआ था।

है। और आशाधरजीने उसे वहाँसे ज्योंका त्यों उद्धृत किया है। अत: मुझे अपने उक्त विचारको बदलना पड़ा; क्योंकि सिवाय इस एक उद्धरणके सिद्धान्तसूत्रोंका अन्य कोई उद्धरण या उल्लेख उनके ग्रन्थोंमें मैंने नहीं देखा।

## १६. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती चामुण्डरायके समकालीन थे। उनके लिये उन्होंने गोम्मटसार ग्रन्थकी रचना की थी। जीवकाण्ड और कर्मकाण्डके अन्तमें गोम्मटरायके नामसे चामुण्डरायका ही जयकार किया गया है। उन्हीके नामपर ग्रन्थको गोम्मटसार संज्ञा नेमिचन्द्राचार्यने दी थी। (अनेकान्त वर्ष ४, कि० ३ में डा० उपाध्येका 'गोम्मट' शीर्षक लेख)।

आशाधरने नेमिचन्द्राचार्य तथा उनके किसी ग्रन्थका तो नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु अन० धर्मा० टी० में (पृ० १९३, २३३, २३५, २६४,) 'तथा चागम' लिखकर कुछ गाथाएँ उद्धृत की है जो गोम्मटसार जीवकाण्ड और त्रिलोकसार की है। उनके लिये 'आगम' शब्दका प्रयोग किया जाना उनकी प्रामाणिकता और पूज्यताका सूचक हैं।

## १७. द्रव्यसंग्रह

नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव रचित द्रव्यसंग्रह अति प्रसिद्ध छोटा-सा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन० ध० टी० में इससे अनेक उद्धरण दिये गये हैं। एक स्थानपर ता (पृ० ११८) 'तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहेऽपि' लिखकर उससे एक गाथा उद्धृत की है।

## १८. आचार्य अमितगति

विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें आचार्य अमितगति एक बहुश्रुत ग्रन्थकार हो गये है। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमें एक अमितगति श्रावकाचार और एक संस्कृत पञ्चसंग्रह भी हैं। आशाधरजीने उनके इन दोनो ग्रन्थोंसे अनेक उद्धरण अपनी टीकामें दिये है। सागारधर्मामृतके तीसरे अध्यायके प्रथम श्लोककी टीकाके टिप्पणमें जो लेश्याका कथन करनेवाले बहुतसे श्लोक है, वे सब संस्कृत पंचसंग्रहसे लिये गये हैं। इसी तरह श्रावकाचारसे भी यत्र-तत्र अनेक श्लोक उद्धृत किये गये है। इसी तरह अन० धर्मा० टी० (पृ० ६०५) में तो 'एतदेव अमितगतिरप्यन्वा-ख्यात्' लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है जो श्रावकाचारके आठवें परिच्छेदका ६५वा श्लोक है। इस अध्यायमें सामायिकादि षट्कर्मोंका सुन्दर वर्णन है। और अनगारधर्मामृतके भी आठवें अध्यायमें षडावश्यकोंका वर्णन है। अतः उसकी टीकामें अमितगतिश्रावकाचारके आठवें अध्यायसे उद्धृत श्लोकोंकी बहुतायत है।

## १९. आचार्य वसुनन्दि

यो तो वसुनन्दि नामके अनेक आचार्य हुए हैं। किन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन वसुनन्दिश्रावकाचार तथा मूला-चारकी आचारवृत्तिके रचयिता आचार्य वसुनन्दिसे हैं। इनका समय डा० उपाध्येने वि० की बारहवी शताब्दी निश्चय किया है। वे अमितगतिसे पीछे हुए है क्योंकि इन्होंने अपनी आचारवृत्तिमें अमितगतिके पंचसंग्रह तथा सुभाषित रत्नसन्दोहसे अनेक पद्य उद्धृत किये है।

आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें वसुनन्दिश्रावकाचारसे पहली प्रतिमाके स्वरूपको बतलानेवाली गाथा उद्धृत करके 'इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं' लिखकर वसुनन्दिका मत दिया है। और अनगारधर्मामृतकी टीकामें तो उनकी आचारवृत्ति नामक मूलाचार टीकाका जगह-जगह उल्लेख मिलता है।

यथा—'आचारटीकामतसंग्रहार्थमुक्तम्' (पृ० ३३८)। 'अस्य आचारटीकायां बहुधा व्याख्यातम्' (पृ० ३४४)। बीजप्ररोहयोग्य यवादिकमित्याचारटीकायाम् अंकुरितमिति तु तट्टिपणके।··· ''कणो यवगोधूमादीनां बहि-रवयव इत्याचारटीकायाम् तण्डुलादीति तु तट्टिपणके। कुण्डः शाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयव इत्याचारटीकायाम्। बाह्ये पक्वोऽभ्यन्तरे चाऽपक्व इति तु तट्टिप्पणके।'—(पृ० ३५८)। 'उक्तं च मूलाचारटीकायां स्थितिभोजनप्रकरणे'—(पृ० ३५९)। एक जगह तो लिखा है—'एतच्च भगवद् वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओ णदं जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यम्।' (पृ० ६०५)।

उक्त उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि वसुनन्दिकी आचारवृत्ति टीकापर कोई टिप्पण भी था और उन दोनोंके अर्थमें मतभेद था। वह टिप्पण किसी शास्त्रभाण्डारमें अवश्य होना चाहिये।

## २०. पद्मनन्दि आचार्य

अमितगतिके पश्चात् और कुन्दकुन्दके टीकाकार जयसेनसे पहले पद्मनन्दि नामके एक आचार्य हुए हैं इनकी पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका नामकी कृति प्रसिद्ध है। आशाधरने अन० धर्मा० टी० में ( पृ० ६७३ पर ) 'श्रीपद्मनन्दि-पादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे' लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो वस्त्रधारणमें दोष बतलाते हुए मुनियोंके दिगम्बर रहनेके समर्थनमें है।

## २१. प्रभाचन्द्र आचार्य

पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीका ( पृ० ६०८ ) में 'यथाहुः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डक-टीकायाम्' लिखकर रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकासे एक उद्धरण दिया है। यह रत्नकरण्ड तो समन्तभद्राचार्य रचित प्रसिद्ध रत्नकरण्डश्रावकाचार ही है। इसकी टीका प्रभाचन्द्रने बनाई है। प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्य हुए हैं किन्तु उनमें विख्यात प्रभाचन्द्र प्रायः वही माने जाते हैं जिन्होंने अकलंकदेवके लघीयस्त्रयपर न्यायकुमुदचन्द्र तथा माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रोंपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक प्रख्यात तार्किक ग्रन्थ रचे हैं। उनके अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें एक रत्नकरण्ड टीका भी है। आशाधरजीके 'श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादाः' पदसे व्यक्त होता है कि उनका प्रभाचन्द्राचार्यके प्रति बहुमान था। इस बहुमानताका कारण रत्नकरण्डकी टीका तो नहीं हो सकती, किन्तु उक्त दो महान कृतियाँ हो सकती हैं और उसपरसे ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त तार्किक ग्रन्थोंके रचयिता प्रभाचन्द्रको ही रत्नकरण्डकी टीकाका भी रचयिता मानते थे। सम्भवतया इसीसे उनके प्रति इतने आदर सूचक शब्द प्रयुक्त किये हैं। किन्तु दोनोंके एककर्तृत्वमें सन्देह किया जाता है और उसका कारण है रत्नकरण्ड टीकामें आचार्य सोमदेवके उपासकाध्ययन, वसुनन्दि श्रावकाचार तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके उद्धरणोंका पाया जाना। तार्किक प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका उत्तरार्ध है। अधिक-से-अधिक बारहवींके प्रथम चरण तक खींच सकते हैं। किन्तु वसुनन्दि और पद्मनन्दि दोनों ही विक्रमकी बारहवीं शतीके ग्रन्थकार हैं अतः रत्नकरण्डटीकाके रचयिता प्रभाचन्द्र किसी भी तरह बारहवींके उत्तरार्धसे पहले नहीं हो सकते और इसलिये उसके तार्किक प्रभाचन्द्र होनेमें सन्देह ही है।

यहाँ तक आशाधरजीके द्वारा स्मृत उन ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंका विवेचन किया गया है जिनसे विद्वान प्रायः सुपरिचित हैं और जो ग्रन्थ प्रकाशमें भी आ चुके हैं। नीचे कुछ ऐसे ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है जो प्रायः अनुपलब्ध हैं और भाण्डारोंमें जिनको खोजनेकी आवश्यकता है।

## २२. मंत्रमहोदधि

अन० ध० टीकामें ( पृ० २५२ पर ) आशाधरजीने एक गाथा उद्धृत की है और उसे मंत्रमहोदधिकी बतलाया है। यथा—

'खंधो खंधो पसणइ लुंचइ सीसं ण याणए किंपि।
गयचेयणो हु विकवइ डक्कं ओपइ अह ण ओपइ ॥'
'इत्यादीनि मंत्रमहोदधौ शाकिन्या कथितानि'

इससे प्रकट होता है कि मंत्रमहोदधि नामका ग्रन्थ प्राकृत गाथाओंमें है और महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थकी खोज होना चाहिये।

## २३. प्रतिक्रमणशास्त्र

अन० ध० टी० में ( पृ० २२८ ) प्रतिक्रमणशास्त्रोक्त भावनापंचकका उल्लेख है। यह प्रतिक्रमणशास्त्र कौन है और यह उपलब्ध है या अनुपलब्ध, इस विषयमें हम कुछ कहनेमें असमर्थ हैं।

## २४. इन्द्रराज

अन० ध० टी० ( पृ० ४०२ ) में 'यथेन्द्रराजः' लिखकर नीचे लिखी, एक गाथा उद्धृत की है—

अवहट्टुं अहुदकं संकुइयं झियय लरयक्खण्णं।
जो य इविलेयलवियं विहस्सए हसिकं हुट्टं ॥

'यथेन्द्रराजः' से पहले 'इहास्मिन्नागमप्रसिद्धे हृत्पङ्कजे द्रव्यमनसि' लिखा है। जिससे प्रकट होता है कि इन्द्रराजकी उक्त गाथा आगम प्रसिद्ध द्रव्यमनके अस्तित्वके समर्थनमें दी गई है। अतः उक्त गाथा इन्द्रराज नामके किसी जैन विद्वानके द्वारा रचित ग्रन्थकी ही होनी चाहिये।

## २५. क्रियाकाण्ड

अन० ध० टी० ( पृ० ६०५ ) 'तथैव चान्वाख्यातं क्रियाकाण्डेऽपि' लिखकर क्रियाकाण्ड नामके ग्रन्थसे एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सामायिककी विधिका वर्णन है। इससे यह क्रियाकाण्ड नामका ग्रन्थ संस्कृतमें रचा गया था, यह सिद्ध होता है। किन्तु आगे पृ० ६५४ पर 'क्रियाकाण्डेऽपि' लिखकर उससे एक प्राकृत गाथा उद्धृत की गई है। अतः यह क्रियाकाण्ड संस्कृत और प्राकृतका कोई संकलन जान पड़ता है।

## २६. संस्कृत क्रियाकाण्ड और प्राकृत क्रियाकाण्ड

पृ० ६५३ पर टीकामें 'प्राकृतक्रियाकाण्डचारित्रसारमतानुसारिणः सूरयः प्रणिगदन्ति' लिखकर आशाधरजीने प्राकृतक्रियाकाण्ड नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है तथा इसी पृष्ठ पर आगे 'केचित्पुन संस्कृतक्रियाकाण्डमतानुसारिणः सूरयः प्राहुः' लिखकर संस्कृत क्रियाकाण्ड नामक ग्रन्थका निर्देश किया है और दोनों क्रियाकाण्डोंसे उद्धरण भी दिये हैं। जिनसे प्रकट होता है कि दोनोंमें मतभेद भी है। आगे पृ० ६५४ पर भी संस्कृतक्रियाकाण्डसे दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो मैंने ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनकी सूचीमें संस्कृत क्रियाकाण्ड नामक ग्रन्थका नाम देखा है किन्तु प्राकृतक्रियाकाण्डका नाम भी अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। इन ग्रन्थोंके प्रकाशमें न आनेतक यह भी निर्णय होना शक्य नहीं है कि क्रियाकाण्ड नामक ग्रन्थ इन संस्कृत और प्राकृत क्रियाकाण्डोंसे भिन्न है या अभिन्न है। लगता तो मुझे ऐसा है कि क्रियाकाण्डके नामसे जो उद्धरण संस्कृतमें दिया गया है वह संस्कृत क्रियाकाण्डका हो सकता है और जो उद्धरण क्रियाकाण्ड नामसे प्राकृत गाथाका है वह प्राकृत क्रियाकाण्डका हो सकता है इन क्रियाकाण्डोंके प्रकाशमें आनेकी बहुत आवश्यकता है इससे जैनाचारके सम्बन्धमें बहुतसा नया प्रकाश पड़नेकी सम्भावना है।

## २७. सिद्धचक्र महाकाव्य

आशाधरजीने जिन अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी, उनमेंसे कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ अभीतक अनुपलब्ध हैं। उन्हींमें एक सिद्धचक्र महाकाव्य भी है। अन० ध० टी० पृ० ६३३ पर 'एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्यं सिद्धचक्रमहाकाव्ये' लिखकर आशाधरने उसका एक पद्य उद्धृत किया है। नीचे हम उस पद्यको उद्धृत करते हैं, उसमे पाठक जान सकेंगे कि उक्त महाकाव्य कितना सरस और शान्तरससे ओत-प्रोत है।

> परमसमयसाराभ्यासमानन्दसर्प-
> त्सहजमहसि सायं स्वे स्वयं स्वं विदित्वा।
> पुनरुदयदविद्यावैभवाः प्राणचार-
> स्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति॥

## २८. ज्ञान दीपिका

आशाधरने अपने सागारधर्मामृतकी टीकाके आरम्भमें लिखा है कि इस टीकामें विस्तारके भयसे जो समर्थन आदि नहीं कहा है वह इस ग्रन्थकी ज्ञानदीपिका नामक पंजिकामें देख लेना।

अन० ध० टी० में भी दो स्थानों पर ( पृ० ९२ तथा ९८ ) विस्तारके लिये ज्ञानदीपिकाको देखनेका निर्देश किया है। इससे प्रकट होता है कि धर्मामृत ग्रन्थकी उपलब्ध संस्कृत टीकाकी रचनासे पहले उन्होंने ज्ञानदीपिका नामक पंजिकाकी रचना की था और उसमें विवक्षित बातोंका कथन बहुत विस्तारसे किया था। पता नहीं, यह ज्ञानदीपिका किस अन्धकारमें पड़ी हुई अपने जीवनके शेष दिन बिता रही है अथवा बिता चुकी है।

यह तो हमने केवल उन जैन ग्रन्थकारों और जैन ग्रन्थोंका विवरण दिया है जिनका नामोल्लेख किया गया है। इनके अलावा भी उद्धरणोंकी छानबीन करनेसे अनेक ग्रन्थोंका पता चलता है और अनेकोंका पता नहीं चलता। प्राकृत

पद्योंकी अनुक्रमणिका तो वीरसेवामन्दिर दिल्लीके द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। उसके अन्तमें ऐसे प्राकृत पद्योंकी तालिका दी गई है, जो विविध ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं किन्तु उपलब्ध ग्रन्थोंसे उनके मूलका पता नहीं चलता कि वे किस ग्रन्थके हैं। ऐसे प्राकृत पद्य अनगारधर्मामृतकी टीकामें भी अनेक हैं। जिससे प्रकट होता है कि हमारी शास्त्र सम्पत्ति कितनी लुट चुकी है।

संस्कृत पद्योंकी ऐसी कोई अनुक्रमणिका अभी तक नहीं बनी है और अन० धर्मा० टी० में उनकी बहुतायत है। उनकी भी छानबीन करनेसे प्रकट होता है कि प्राकृतको तरह अनेक संस्कृत ग्रन्थोंका भी उपयोग पं० आशाधरजीने अपनी टीकाकी रचनामें किया है।

उद्धरणोंकी सरसरी खोजसे जिन ग्रन्थोंको हम जान सके हैं उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

१. **इष्टोपदेश**—यह पूज्यपाद रचित है। टीकाके साथवीरसेवा मन्दिर देहलीसे प्रकाशित हुआ है।

२. **समवसरणस्तोत्र**—यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे सिद्धान्तसारादिसंग्रहके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता विष्णुसेन हैं। इनके इस स्तोत्रमे 'गम्भीरं मधुरं' आदि एक पद्य है जो आचारसारमें पाया जाता है सम्भवतया आचारसारसे ही वह समवसरणस्तोत्रमें लिया गया है। यदि ऐसा है तो विष्णुसेन आचारसारके रचयिता वीरनन्दि और आशाधरके मध्यमें विक्रमको तेरहवीं शताब्दीमें किसी समय हुए हैं।

३. **प्रमेयरत्नमाला**—अन० ध० टी० ( पृ० ५२८ ) में इसका मंगलाचरण उद्धृत है। इसके कर्त्ता आचार्य अनन्तवीर्य हैं उन्होंने प्रभाचन्द्र रचित प्रमेयकमलमार्तण्डके पश्चात् इसकी रचना की थी, अतः उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध प्रतीत होता है।

४. **आप्तस्वरूप**—अन० ध० टी० ( पृ० ६४ ) में अष्टादशदोषसूचक तीन पद्य उद्धृत हैं। ये तीनों पद्य आप्तस्वरूपके हैं। आप्तस्वरूप माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित सिद्धान्तसारादि संग्रहमें प्रकाशित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह छोटासा प्रकरण प्राचीन है। इसके उद्धरण अन्यत्र भी मिलते हैं। सोमदेव उपासकाचारके अन्तर्गत कुछ श्लोक हैं जो आप्तस्वरूपमें भी हैं। बिना विशेष अनुसन्धानके यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल उपासकाचार है या आप्तस्वरूप।

**द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र**—यह माइल्ल धवलकी रचना है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे नयचक्रसंग्रहमें प्रकाशित है। इस ग्रन्थके दो पद्य अन० ध० टी० में ( पृ० १७० ) उद्धृत हैं।

**चन्द्रप्रभचरित**—चन्द्रप्रभचरित आचार्य वीरनन्दिकी कृति है। उससे आशाधरजीने एक उद्धरण इष्टोपदेश की अपनी टीकामें लिया है। वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें वीरनन्दिके चन्द्रप्रभचरितका स्मरण किया है और पार्श्वनाथचरितकी रचना वि० सं० १०८२ में हुई थी।

यह तो केवल दि० जैन ग्रन्थकारोंका विवरण है जो अपूर्ण है। इनके सिवाय अन्य ग्रन्थकारोंकी भी एक लम्बी तालिका है जिनमे हेमचन्द्राचार्यका योगशास्त्र, रुद्रटका काव्यालंकार, संन्यासविधि, वाग्भट, भवभूतिका उत्तररामचरित, मनुस्मृति, माघकाव्य आदि अनेक ग्रन्थ है।

इस सबसे प्रकट है कि आशाधरजी सभी विषयोंके निष्णात विद्वान् थे। उनके पश्चात् दि० जैन परम्परामें इस कोटिका दूसरा विद्वान् नहीं हुआ।
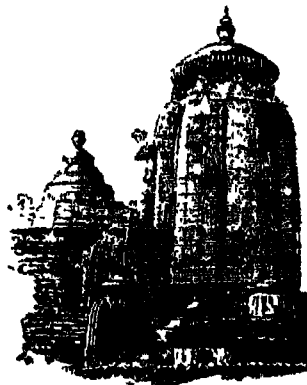
# कन्नड़भाषा का लोकोपयोगी जैन साहित्य

विद्याभूषण सिद्धान्ताचार्य पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

## प्रास्ताविक

कन्नड साहित्यकी सार्वभौलिक चेतना जीवन-शोधनसे आरम्भ होती है। इस साहित्यकी व्यापकताकी परिधि-रेखाएँ कावेरी और गोदावरीके सुरम्य अंचलके साथ मैसूर, श्रवणबेलगोल एवं मूडबिद्रीके सांस्कृतिक प्रदेशोका स्पर्श करती हैं। कर्नाटक प्रदेशकी धरती कन्नड साहित्यकी धडकनोसे स्पन्दित थी। उसमे उगनेवाले पौधोमे भावनाओंके सुगन्धित पुष्प विकसित होते थे, जिन्हे देखकर प्रत्येक सहृदय कल्पनाप्रधान व्यक्ति झूमने लगता था। धरती और साहित्यके अपूर्व सामञ्जस्यकी यह विकासरेखा सामाजिक चेतनाको उद्बुद्ध करनेमे सक्षम थी। कन्नड स्वाभाविक काव्य प्रयोग प्रवीण लोगोंका देश था, धरतीके कण-कणमे काव्यके उच्छ्वासोका मन्द संगीत उमडता था। अत. जिस साहित्यका प्राचीन इति-वृत्त इतना गौरवमय हो, जिसका स्वर्णिम अतीत विकासकी चेतनामे अँगडाइयाँ ले रहा हो, उसका वर्त्तमान स्वरूप किसी साहित्यकी उपादेयताको सशक्त बनानेके लिए निश्चयत मान्य और पूज्य है। जैन कवियोंकी अमरलेखनी इस मेदिनीको कई शतक तक रसप्लावित करती रही है। गंग, राष्ट्रकूट, पल्लव और चोलोंमे वीररसकी काव्यधारासे साम्राज्याधिपत्यकी भावनाका उद्रेक हुआ है। कन्नड साहित्यका क्रमबद्ध इतिहास जैन कवियोंकी कृतियोमे ही आरम्भ होता है।

९ वी शतीमें राष्ट्रकूट राजा नृपतुंगके राज्यकालमे कन्नडसाहित्य-भवनका भव्य निर्माण कविचक्रवर्ती पंपके काव्यसे होता है। महाकवि पंप कन्नड साहित्यके ओजस्वी कवि हैं। इनकी कलाकृतियाँ स्निग्ध, पवित्र, उदात्त और रम्य वातावरणकी अलौकिक देन है। कविराजमार्गसे श्रीविजय कवीश्वर, पण्डित चन्द्र और लोकपाल आदि कवियोंका तथा विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु एवं दुर्विनीत आदि गद्यकारोंका नामोल्लेख उपलब्ध होता है[1]। कवि पंपने अपने पूर्ववर्ती कवियोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

> श्रीमत् समन्तभद्र। स्वामिगलं जगत् प्रसिद्ध परमेष्ठी;।
> स्वामिगल पूज्यपाद। स्वामिगल पदंगलीगे शाश्वत पदम् ॥

अर्थात् समन्तभद्र, कवि परमेष्ठी और पूज्यपादका स्मरण किया है। समन्तभद्रने मूडबक हल्ली गाँवमें तपस्या की थी। पूज्यपादका जन्म स्थान कर्णाटक प्रदेशका कोल्लागालपुर और ननिहाल 'मुदिगुडपेबग्राम' था। इस कथनकी पुष्टि देवचन्द्रके ग्रन्थ राजवलिकथेसे भी होती है।

आदिपंपका समय ई० स० ९४१ है। इन्होने आदिपुराण और भारत ग्रन्थोकी रचना चम्पू शैलीमें की है। कल्पनाकी उडान, मनोरम दृश्योका चित्रण और काव्य परम्पराओके निर्वाहके साथ इनके काव्योमें, आचार एवं धार्मिक-तत्त्वोंकी प्रचुरता भी पायी जाती है। काव्यसुधाधाराको प्रवाहित करनेवाले ओड्य्य ( ई० सन् ११७० ), नयसेन ( १२वी शती ), जन्न ( सं० ११७०-१२३५ ई० ), पौन्न, कर्णपार्य, नेमिचन्द्र (१२ वी शती), गणवर्मा, बन्धुवर्मा, रत्नाकर वर्णी ( सन् १५५१ ई० ) एवं मंगिरस प्रभृति जैन कवियोका नाम बडे आदरके साथ लिया जाता है।

जीवनभोग, ऐश्वर्य, शृंगार, वीर, त्याग, वीभत्स आदि विविध विषयो और भावोंका निरूपण करनेवाले

---

१. परम श्री विजय विजयकवीश्वर; पंडितचन्द्र लोकपाल दिगल।
निर्रतिशय वस्तु विस्तर। विरचनेलक्ष तदाद्य काव्यचक्कंदु ॥
विमलोदय नागार्जुन। समेत जयबंधु दुर्विनीता दिगली।
क्रमदोलनेग लिय गप्पा। श्रणपदु गुरुता प्रतीतियेंते टकोंडर ॥

—कविराजमार्ग

साहित्यके साथ कन्नड़की उर्वरभूमिने लोकोपयोगी साहित्यका उत्पादन भी प्रचुर परिमाणमें किया है। जैनकवियोंने कन्नड़ भाषाको साहित्यिक रूप प्रदान किया है और उन्हींके द्वारा सर्वप्रथम काव्य ग्रन्थोंका प्रणयन भी हुआ है।

## लोकोपयोगी साहित्य

यह सत्य है कि कन्नड़ साहित्यका आरम्भ धर्मके अञ्चलसे होता है। धर्ममें मानवके अतीतका मधुमय इतिहास निहित रहता है। धर्मके पौराणिक पक्षमें ही अतीत की गाथा किसी न किसी रूपमें मिलती है। यदि हम समस्त वाङ्मय पर दृष्टिपात करें तो हमें अवगत होगा कि धर्म और साहित्य एक दूसरेसे इत्यधिक सम्बद्ध है। ये एक ही पिताकी सहोदर सन्तान है। जिस प्रकार दो भाई एक दूसरेके स्वभाव और रूपादिमें भिन्न होते हुए भी बहुत सी बातोंमें एक सूत्रमें भी बंधे रहते हैं तथा एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, उसी प्रकार साहित्य और धर्म अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए भी एक साथ सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

लोकोपयोगी साहित्यका आधार सर्वदा धर्मभावना या धार्मिक-चेतना ही होती है। जनकल्याणकी प्रवृत्तिका उद्गम स्थल धर्म, सदाचार, नीति या परकल्याण सम्पन्न करनेकी प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्तिके फलस्वरूप लोकोपयोगी साहित्यका प्रादुर्भाव होता है। सामाजिक आदर्शों तथा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मूल्योंकी अभिव्यञ्जना लोकोपयोगी साहित्यमें बिना किसी आवरणके पायी जाती है। अतः सामाजिक आवश्यकताओं और जीवन मूल्योंका समन्वय उपयोगी साहित्यमें ही संभव है। कतिपय विचारकोंने लोकोपयोगी साहित्यको ज्ञान और शक्तिका साहित्य कहा है। अथर्ववेदके अभिचार सूक्तोंसे इस साहित्यका सम्बन्ध जोड़ देनेपर विचार और भावना की सीमाका यह अतिक्रमण नहीं कर सका है। अतएव लोकोपयोगी वह साहित्य है जिसमें सौन्दर्य, उपयोगिता, आवश्यकता और यथार्थता इन चारोंका समवाय हो। साहित्य शब्दका प्रयोग सर्वथा लावण्य एवं आन्तरिक भावाभिव्यक्तिके लिए होना है।

## आधारतत्त्व

इस साहित्यकी मूल प्रेरिका शक्ति ऐहिकता है। जब मानव समाज विकसित होने लगता है और उसका विस्तार इतना अधिक व्यापक हो जाता है कि वह एक देशमें आबद्ध नहीं रह सकता, तब लोकमंगलकी प्रेरणासे लोकोपयोगी साहित्यका प्रणयन होने लगता है। प्रत्येक भाषाके लोकोपयोगी साहित्यका आधार 'ऐहिकता' या 'लोकमंगल' होता है। मानव अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए लोकमंगलकारी साहित्यका प्रणयन करता है। सकल प्रयोजनोंकी पूर्ति इसी साहित्यसे होती है।

आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, छन्द, व्याकरण, कोष, अलंकार, वास्तुशास्त्र, एवं संहिता विषयक वाङ्मय लोकोपयोगी साहित्यके अन्तर्गत है। कन्नड भाषाके जैन कवियोंने उक्त समस्त विषयों पर ग्रन्थ रचनाकर लोकमंगल किया है। कलाका बहुमूल्य उद्देश्य जीवनकी सर्वाङ्गीण सन्तुष्टि है, जो उक्त प्रकारके लोकोपयोगी साहित्य द्वारा प्राप्त की जाती है।

## आयुर्वेद या वैद्यक

सर्वाधिक प्रिय जीवन है, इस जीवनकी रक्षाके हेतु अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन विभिन्न भाषाओंमें किया गया। ललित साहित्यके समान ही जीवनी शक्तिको वृद्धिगत करनेवाला साहित्य भी उपादेय है। आयुर्वेदका विषय अष्टाङ्ग प्रधान है, जिसमें रोगोंके निदान, परीक्षण आदिके पश्चात् स्वास्थ्य और शक्ति सम्पन्न करनेके नियम वर्णित है। उपयोगी होनेके साथ यह साहित्य लोकप्रिय भी है। यहाँ जैन कवियों द्वारा कन्नड भाषामें विरचित वैद्यक ग्रन्थोंका परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. **खगेन्द्रमणिदर्पण**—इसका रचयिता मंगराज प्रथम है। कविका काल लगभग ई० सन् १३६० है। यह होयसल राज्यांतर्गत मुगुलियपुरका स्वामी था। इसके गुरु पूज्यपाद थे। इसकी पत्नीका नाम कामलता था। कविके तीन पुत्र थे। सुललितकविपिकवसन्त, विभुवंशललाम, कविजनैकमित्र, अगणितगुणनिलय, अखिलविद्याजलनिधि, पंचगुरुपदाम्बुजभृंग आदि इसकी उपाधियाँ थी।

खगेन्द्रमणिदर्पणमें १६ अधिकार हैं। इसमें स्थावर विषोंकी प्रक्रियाँ और प्रायः सब प्रकारके विषोंकी चिकित्सा लिखी है। कविके कथनानुसार यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थसे संग्रहीत है। ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। यह मद्रास विश्वविद्यालयकी ओरसे प्रकाशित हो चुका है। हिन्दीमें यह अनुवाद करने योग्य है। 'भारतीय ज्ञानपीठ' वाराणसी का लक्ष्य इस ओर अवश्य जाना चाहिये।

२. कल्याणकारक—इसका रचयिता जगद्दल सोमनाथ है। कविका काल लगभग ई० सन् ११५० है। विचिता कवि इसकी उपाधि थी। यह वैद्यक ग्रन्थ पूज्यपादकृत कल्याणकारकका भाषान्तर है। कविका मत है कि वाहट, सिद्धसार, चरकादि वैद्यक ग्रन्थोंसे पूज्यपादका यह कल्याणकारक उत्कृष्ट एवं इसकी चिकित्सा मद्य-मांस-मधुसे वर्जित है। यह सुन्दर वैद्यक ग्रन्थ अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। मैसूरमें इसके प्रकाशनकी व्यवस्था हो रही है।

३. गोवैद्य—इसका रचयिता कीर्तिवर्म है। कविका काल लगभग ई० सन् ११२५ है। यह चालुक्यवंशीय महाराज त्रैलोक्यमल्लका पुत्र था। त्रैलोक्यमल्लने १०४४ से १०६८ तक राज्य किया है। कवि कीर्तिवर्म त्रैलोक्यमल्लकी जैन धर्मानुयायिनी रानी केतल देवीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। केतल देवीने सैकड़ों जैन मन्दिर बनवाये थे। साथ ही साथ जैन धर्मकी प्रभावनाके लिये अनेक कार्य किये थे। इस गोवैद्यमें पशुओंके नाना प्रकारके रोगोंका और उनकी चिकित्साका विस्तारपूर्वक वर्णन है। कविकीर्तिचंद्र, वैरिकरिहरि, कंदर्पमूर्ति, सम्यक्त्वरत्नाकर, बुधभव्यबान्धव आदि इसकी कई उपाधियाँ थीं। कविके गुरु देवेन्द्रमुनि थे। यह ग्रंथ अप्रकाशित है।

४. बालग्रहचिकित्सा—इसका रचयिता देवेन्द्रमुनि हैं। कविका काल लगभग ई० सन् १२०० है। यह ग्रंथ प्रायः वाक्यरूपमें है। इसमें बालकोंकी जो ग्रहपीडा होती है, उसकी चिकित्सा बतलायी गयी है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

५. अकारादिवैद्यनिघंटु—इसका रचयिता अमृतनन्दी है। कविका काल लगभग ई० सन् १३०० है। इस वैद्यनिघंटुमें संस्कृत शब्दोंके कन्नड पर्याय शब्द दिये गये हैं। ग्रंथ अप्रकाशित है।

६. अश्ववैद्य—इसका रचयिता बाचरस है। कविका काल लगभग ई० सन् १५०० है। बाचरस चौण्डराजका पुत्र था। भुजनैक बान्धवउसकी उपाधि थी। इस अश्ववैद्यमें ३५ वृत्त एवं थोडा गद्य है। इसमें अश्वोंकी चिकित्सा बतलायी गयी है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

७. वैद्यसाङ्गत्य—इसका रचयिता साल्व है। कविका काल लगभग ई० सन् १५५० है। इसके पिता धर्मचन्द्र एवं गुरु विजयकीर्ति थे। तौलव-हैव-कोंकण देशका स्वामी, कविसरोवरराजहंस, जिनधर्मध्वज, त्रिभुवनकठारित्रिनयन, सम्यक्त्वचूडामणि, जिनदेवरथयात्राप्रभावक आदि उपाधियोंसे समलंकृत वसुदानमेरु साल्वमल्ल ही कवि साल्वका आश्रयदाता था। ललित पद्यमय यह सुन्दर वैद्यक ग्रंथ प्रकाशनीय है।

८. वैद्यामृत—इसका रचयिता श्रीधरदेव है। कविका काल लगभग ई० सन् १५०० है। इसने अपनेको 'जगदेकमहामंत्रवादी' बतलाया है। यह वैद्यामृत चंपूरूप है। इसमें २४ अधिकार है। ग्रंथमें अनेकत्र चिकित्सा-विधानके साथ मंत्र भी कहे गये है। ग्रंथ सुन्दर है। इसके प्रकाशनकी आवश्यकता है।

९. हयसारसमुच्चय—इसका रचयिता पद्मण पण्डित है। कविका काल ई० सन् १६२७ है। इसका पिता देवरस कनकपुरका निवासी था। वह ग्रंथ मैसूर नरेश चामराजकी आज्ञासे रचा गया है। इसमें २० अध्याय है। इस हयसारसमुच्चयमें अश्वोंकी आकृति, लिंग, भेषज आदि कहे गये है। ग्रंथ कन्द पद्योंमें है।

१० अकारादिनिघन्टु—इसका रचयिता लक्ष्मण पंडित है। कविका काल लगभग ई० सन् १७७५ है। इसमें मुख्यतः संस्कृत वैद्यक शब्दोंके पर्याय शब्द दिये गये हैं।

## ज्योतिष

१. जातकतिलक—इसका रचयिता श्रीधराचार्य है। कविका काल १०४९ है। जैन ब्राह्मण एवं बेलुवल नाडान्तर्गत नरिगुंदका निवासी था। कविका कहना है कि विद्वानोंकी प्रेरणासे ही मैंने इस जातकतिलकको रचा। कन्नडमें यह सर्व प्रथम ज्योतिष ग्रन्थ है। इस बातका कवि बाहुबलिने भी समर्थन किया है। मालूम होता है कि श्रीधराचार्य-चालुक्य नरेश आहवमल्ल ( १०४२–१०६८ ) के शासनकालमें मौजूद था। कविकी गद्यपद्य-विद्याधर और बुधमित्र उपाधियाँ थीं।

जातकतिलक कन्द वृत्तोंमें रचा गया है। इसमें २४ अधिकार है। यह सुन्दर ग्रन्थ मैसूर विश्वविद्यालयकी ओरसे प्रकाशित हो चुका है। मैं इसका विशेष परिचय 'जैन सिद्धान्त-भास्कर' मे दे चुका हूँ। यह हिंदी भाषामें अनुवाद करने योग्य है। 'भारतीय ज्ञानपीठ' वाराणसी अथवा 'जीवराजग्रन्थमाला' सोलापुरका लक्ष्य इस ओर अवश्य होना चाहिए।

२. रट्टमत—इसका रचयिता रट्ट या अर्हद्दास है। कविका काल लगभग ई० सन् १३०० है। यह गंग मारसिंह के चमूपति काडमरसका वंशज है। काडमरस बड़ा वीर था। बारेन्दुरके जीतनेवाले महाराज मारसिंहका तलकाडु नामका किला था। इस किलेको किसी चक्रवर्तीकी सेनाने घेर लिया था। मारसिंहकी आज्ञासे काडमरसने बड़ी बहादुरीके साथ

चक्रवर्तीकी सेनाको भगा दी, ध्वजा गिरा दी और बारह सामन्तोंको परास्त किया। इससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने काडमरसको २५ ग्रामोंकी एक जागीर पारितोषिकमें दे दी। इस काडमरसकी पंद्रवीं पीढीमें नागकुमार नामका व्यक्ति हुआ। कवि रट्ट या अर्हद्दास इसी नागकुमारका पुत्र था।

यह रट्टमत ग्रंथ समग्र नहीं मिला है। उपलब्ध भागमे वर्षाके चिह्न, आकस्मिक लक्षण, शकुन, वायु, बक, गोप्रवेश, भूकंप, भूजातफल, उत्पातलक्षण, परिवेषलक्षण, इंद्रधनुर्लक्षण, संवत्सरफल, ग्रहद्वेष, प्रथमगर्भलक्षण, द्रोणसंख्या, विद्युल्लक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण, मेघोंके नाम कुल-वर्ण-ध्वनि विचार, देशवृष्टि, मासफल, नक्षत्रफल एवं क्रांतिफल आदि कहे गये हैं। शक १४ वी शताब्दीमें भास्कर नामके आध्र कविने इस ग्रथका तेलुगु भाषामे अनुवाद किया था। ग्रन्थ सुन्दर तथा उपादेय है।

३. नरपिंगलि—इसका रचयिता माधवदेव है। कविका काल लगभग ई० सन् १६५० है। प्रायः इसका नाम अर्हद्दास भी रहा। इसका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। यह नरपिंगलि ग्रंथ कंद पद्योंमे रचा गया है। इसमे शकुन शास्त्रसे सम्बन्धित विषय कहे गये हैं। ग्रंथ अप्रकाशित है।

४. जिनेन्द्रमाले—इसका रचयिता अज्ञात है। यह ग्रंथ १५० कंद पद्योंमें रचा गया है। पद्योंके अंतमें अनेकत्र जिनपदभृंग यह शब्द मिलता है। ग्रंथ प्रकाशित है।

## पाकशास्त्र

१. सूप शास्त्र—इसका रचयिता मंगरस तृतीय है। कविका काल ई० सन् १५०९ है। यह होयसल देशांतगत होसवृत्ति प्रांतके कल्ल हल्लिका निवासी था। इसका पितामह माधव और पिता महामण्डलेश्वर चेंगाल्व नरेशका सचिवकुलोत्पन्न, उद्धवकुलचूडामणि, होसवृत्तिका महाप्रभु, कल्लहल्लिका विजयभूपाल था। इसके गुरु ( लघु ) प्रभेंदु थे। प्रभुराज और प्रभुकुलरत्नदीप इसकी उपाधियाँ थीं।

सूपशास्त्र वार्धक षट्पदिमें है। इस ग्रंथमें ६ अध्याय एवं ३५६ पद्य है। इसमें पिष्टपाक, कलमान्न पाक, शाकपाक इत्यादि कहे गये हैं। यह संस्कृत पाकशास्त्रोंके आधारपर रचा गया है। इस बातको कविने अपनी रचनामें स्वयं कहा है। ग्रंथ सुन्दर है, यह मैसूर विश्वविद्यालयकी ओरसे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

## कोष

१. रत्नकन्द—इसका रचयिता महाकवि रन्न है। कविका जन्म ई० सन् ९४९ मे मुदुवोलल नामक ग्राममें हुआ था। यह वैश्य वर्णका था। इसके पिताका नाम जिनवल्लभेन्द्र और माताका अब्बलब्बे था। कविरन्न, कविचक्रवर्ती, कविकुञ्जरांकुश, उभयभाषाकवि आदि इसकी पदवियाँ थीं। यह राजमान्य कवि था। राजाकी ओरसे सुवर्णदण्ड, चंवर, छत्र, हाथी आदि इसके साथ चलते थे। महाकवि रन्नके गुरु अजितसेनाचार्य और पोषक सुप्रसिद्ध जैन मन्त्री चामुण्डराय थे।

यह रन्नकंद पूर्ण उपलब्ध नहीं है। इसका प्रत्येक कंद पद्य प्रायः कविरन्न पदसे समाप्त होता है। जब यह महाकवि रन्नकी कृति है, तब कृतिके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

२. वस्तुकोष—इसका रचयिता नागवर्म द्वितीय है। कविका काल लगभग ई० सन् ११४५ है। यह जैन ब्राह्मण था। इसके पिताका नाम दामोदर था। वह चालुक्य नरेश जगदेकमल्लका सेनापति और महाकवि जन्नका गुरु था। कन्नड साहित्यमे इसकी 'कवितागुणोदय' के नामसे प्रसिद्धि थी। अभिनव शर्ववर्म, कविकर्णपूर और कवितागुणोदय, ये इसकी उपाधियाँ थीं। वाणिवल्लभ, जन्न, साल्व, आचण्ण, देवोत्तम आदि कवियोंने इसकी स्तुति की है।

वस्तुकोष कन्नडमें प्रयुक्त संस्कृत शब्दोंका अर्थ बतलानेवाला पद्यमय कोष है। वररुचि, हलायुध, भागुरि, शाश्वत, अमरसिंह आदिके ग्रंथ देखकर इसकी रचना की गयी है। इसमें एकार्थ काण्ड, नानार्थक काण्ड और सामान्यकाण्ड इस प्रकार तीन काण्ड हैं। १८ सर्ग हैं। यह सुन्दर ग्रंथ मद्रास विश्वविद्यालयकी ओरसे प्रकाशित है।

३. संजीवन—इसका रचयिता शृंगार कवि है। कविका काल लगभग ई० सन् १६०० है। इसका पिता बोम्मरस है। मालूम होता है कि यह बोम्मरस रसिवालिका स्वामी था। नामसे पता लगता है कि कविने कोई काव्य भी रचा होगा।

यह संजीवन-कोष वार्धक षट्पदिमे है। इसमें कुल ३५ पद्य है। इस कोषमे कन्नड शब्दोंका कन्नड अर्थ दिया गया है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

४. नानार्थ रत्नाकर—इसका रचयिता देवोत्तम है। कविका काल लगभग ई० सन् १६०० है। इसने अपनेको 'द्विजवंशार्णवपूर्णचन्द्र' लिखा है।

नानार्थरत्नाकरमें संस्कृत शब्दोंके नानार्थ दिये गये हैं। इसमें १६९ वृत्त हैं। कविने स्वयं अपने ग्रंथकी प्रशंसा की है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

## व्याकरण

१. भाषा-भूषण—वस्तुकोषका रचयिता नागवर्म द्वितीय ही इसका भी रचयिता है। कविका काल, परिचयादि वस्तुकोषके परिचयमें दिया गया है।

भाषाभूषण एक उत्कृष्ट व्याकरण ग्रंथ हैं। मूलसूत्र एवं वृत्ति संस्कृतमें है और उदाहरण कन्नडमें। उपलब्ध कन्नड व्याकरणोंमें—जो कि संस्कृत सूत्रोंमें है—यह सबसे पहला और उत्तम व्याकरण है। इसीको आदर्श मानकर सन् १६०४ में भट्टाकलंकने कन्नडका शब्दानुशासन नामका बृहद् व्याकरण संस्कृतमे रचा है। ग्रन्थ प्रकाशित है।

२. शब्दमणिदर्पण—इसका रचयिता केशिराज है। कविका काल ई० सन् १२६० है। यह सूक्तिसुधार्णवके कर्त्ता मल्लिकार्जुनका पुत्र, होयसलवंशीय राजा नरसिंहके कटकोपाध्याय सुमनोबाणका दौहित्र और महाकवि जन्नका भानजा है।

यह शब्दमणि दर्पणकन्नड भाषाका सुप्रसिद्ध व्याकरण है। इसकी जोड़का विस्तृत और स्पष्ट व्याकरण कन्नड़में दूसरा नहो है। इसकी रचना पद्यमयी है। इसीलिये कविने स्वयं ही इसकी वृत्ति भी लिख दी है। संज्ञा, सन्धि, विभक्ति, कारक, शब्दरीति, समास, तद्धित, आख्यान-नियम, अव्यय-निरूपण, निपात-निरूपण इन दश परिच्छेदोंमें ग्रंथ विभक्त है। इसमे सूत्र और वृत्ति दोनों संस्कृतमें हैं।

३. शब्दानुशासन—इसका रचयिता भट्टाकलंक है। कविका काल ई० सन् १६०४ है। इसके गुरु मूलसंघ, देशीय गण, पुस्तक गच्छ, कुंदकुन्दान्वयके चारुकीर्ति पंडिताचार्य थे। बिलिगिके एक शासनमें कविकी गुरुपरम्परा विस्तारसे दी गयी है। भट्टाकलंक प्राकृत, संस्कृतादि कई भाषाओंका पण्डित था। कविने स्वयं अपनी बड़ी प्रशंसा की है।

इस शब्दानुशासनमे ४ पाद ५९२ सूत्र हैं। इन सूत्रोंके लिये भाषामंजरि नामक वृत्ति एवं मंजरीमकरंद नामक व्याख्यान है। सूत्र, वृत्ति और व्याख्यान तीनों संस्कृत भाषामें है। यह शब्दानुशासन नागवर्मकृत भाषाभूषणसे विस्तृत एवं प्रौढ है। इसी प्रकार इसमें शब्दमणिदर्पणमे विषय अधिक है। इसमें संदेह नहीं है कि यह व्याकरण ग्रंथ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कन्नड भाषाके अभ्यासियोंके लिये ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है।

## अलंकार

१. काव्यावलोकन—इसका रचयिता नागवर्म द्वितीय है। कविका परिचय पहले दिया जा चुका है। यह एक अलंकार ग्रंथ है। इस ग्रंथमें संक्षेपमें व्याकरण भी दिया गया है। इसमें सूत्रोंको पद्यरूपमे रचकर लक्ष्यके लिये पूर्व कवियों-की कृतियोंसे उदाहरण दिये गये हैं।

२. रसरत्नाकर—इसका रचयिता साल्व है। कविका परिचय वैद्यसागत्यके परिचयमें पहले दिया जा चुका है। यह रसप्रक्रिया प्रतिपादक ग्रंथ है। इसमे शृंगारप्रपंचादि चार आश्वास है। इसमे लक्ष्यके लिये महाकवि पंप, रन्न, नेमिचंद्रादि पूर्वकवियोंके ग्रंथोंसे पद्य उदाहृत हैं। यह सुन्दर ग्रंथ मद्रास विश्वविद्यालयकी ओरसे प्रकाशित हो चुका है।

## छंद

१. छंदस्सार—इसका रचयिता गुणचन्द्र है। कविका काल लगभग ई० सन् ६५० है। इसने केदार भट्टके वृत्तरत्नाकरका अनुसरण किया है। कविका विशेष परिचय नहीं मिलता है। इस ग्रंथमे संज्ञाप्रकरण, मात्राछंदोलक्षण, समवृत्त प्रकरण आदि ५ अध्याय है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

## गणित

१. व्यवहार गणित—इसका रचयिता राजादित्य है। कविका काल लगभग ई० सन् ११२० है। इसके राज-वर्म, भास्कर, बाच, बाचय्य, बाचिराज आदि कई नाम है। गणितविलास, ओजेबेडंग, पद्यविद्याधर इसकी उपाधियां थीं। इसका जन्मस्थान हूविनबागे है तथा पत्नी कनकमाला थी। कविके गुरु शुभचंद्र, माता बसंता और पिता श्रीपति थे। मालूम होता है कि पिता पुत्र दोनों आस्थान पण्डित थे।

यह व्यवहारगणित गद्य-पद्यात्मक है। सूत्रोंको पद्यरूपमे लिखकर टीका और उदाहरण दिये गये हैं। ग्रंथ आठ अधिकारोंमे विभक्त है। प्रत्येक अधिकारको 'हार' संज्ञा दी गयी है। कवि कहता है कि यह ग्रंथ सिर्फ पांच दिनोंमे लिखा

गया है। इसमें सहजत्रयराशि, व्यस्त नामराशि, सहजपंचराशि, व्यस्त पंचराशि, सहजसप्तराशि, व्यस्तसप्तराशि आदि अनेक विषय हैं।

राजादित्य कन्नडमें सर्वप्रथम गणितशास्त्रका प्रणेता है। इसने गणितशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी विषयोंको अपने इस ग्रंथमें समाविष्ट किया है। इस शास्त्रको सुलभ शैलीमें पद्यरूपमें लिखना आसान काम नहीं है। फिर भी कविने सूत्र और उदाहरणोंको ललित पद्योंमें सुलभ रीतिसे बतलाया है। इससे मालूम होता है कि राजादित्य गणित-शास्त्रका विशेषज्ञ ही नहीं, प्रौढ कवि भी था। इस व्यवहारगणितके अतिरिक्त इसके इस विषयके क्षेत्रगणित, व्यवहार रत्न, जैनगणित सूत्रोदाहरण, चित्रहसुगे, लीलावति नामक ग्रंथ भी मौजूद हैं। ये सभी ग्रंथ प्रकाशनीय हैं।

गणितशास्त्रके उपर्युक्त ग्रंथोंके अतिरिक्त चंद्रम ( लगभग ई० स० १६५० ) का गणितसार और दैवज्ञवल्लभ ( लगभग ई० स० १७०० ) का महावीराचार्यकृत गणितसारका कन्नड व्याख्यान भी उल्लेखनीय हैं। बल्कि दैवज्ञवल्लभने गणितसार पर आंध्र या तेलुगु भाषामें भी एक व्याख्यान लिखा है।

इस प्रकार लोकोपयोगी कन्नड जैन साहित्यका संक्षिप्त परिचय है। विस्तारसे लिखनेपर इस सम्बन्धकी एक पोथी ही तैयार हो सकती है। आशा है विद्वानोंको खासकर कन्नड भाषासे अनभिज्ञ विद्वानोंको यह लेख विशेष रुचिकर प्रतीत होगा।

# महाकवि रइधूकृत 'अणथमिउकहा'

प्रो० डॉ० राजाराम जैन, एम० ए० पी०-एच० डी०
आरा

●

## वर्ण्य विषय

महाकवि रइधूने स्वामी समन्तभद्र एवं कार्तिकेयकी विचारधारासे अनुप्राणित होकर रात्रिभोजन त्याग सम्बन्धी एक लघु रचना लिखी है जिसका नाम 'अणथमिउकहा' है। इसमें पद्धडिया-छन्द पद्धतिकी कुल ३४ पक्तियाँ अथवा १७ पद्य हैं जिनमेंसे प्रथम दो पद्योंमे कविने जिन भगवान एवं जिनवाणीको नमस्कार कर ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा की है। तत्पश्चात् रात्रिभोजनके दोषोंकी चर्चाकर १६वें पद्यमें उसे 'श्रावकधर्मका मूलव्रत' बताया है और अन्तमे उसे 'शाश्वत सुखको प्रदान करानेवाला' कहा है। प्रस्तुत रचना सन्धिकालीन अपभ्रंश भाषामें निबद्ध है तथा ऐसा आभास होता है कि रविषेणकृत पद्मपुराणमें वर्णित रात्रिभोजनत्याग सम्बन्धी प्रकरणका उसने गम्भीर अध्ययनकर इसे अंकित किया था।

'अणथमिउकहा' की भाषा बडी ही सरल एवं विषय-प्रतिपादनकी शैली बडी ही सरस एवं मार्मिक है। लौकिक उपमाओंके माध्यमसे कविने उसे हृदयग्राह्य बना दिया है। रइधूने 'रात्रिभोजनत्याग' के लिए 'अणथमिउ ( अनस्तमित ) जैसे सुन्दर शब्दको चुना है। यही 'अणथमिउ' शब्द अपने परवर्ती विकसित 'अनथऊ' के रूपमें ब्रज, बुन्देलखण्ड एवं बघेलखण्डमें आज भी सर्वत्र प्रचलित है।

## रचना परिचय

उक्त रचनाकी एक हस्तलिखित प्रति डॉ० हीरालालजी जैनके पास सुरक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन उसीके आधार पर प्रस्तुत है। उसमें आदि अथवा अन्तमें कोई भी प्रशस्ति-वाक्य नहीं। अतः कब और कहाँ उसकी प्रतिलिपि हुई, यह कहना असम्भव है, फिर भी उसकी लिपिको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसे लगभग ३५० वर्ष प्राचीन होना चाहिए। रचनाके अन्तिम पद्यमें उसने अपना नामोल्लेख[1] किया है। इससे कृतिके रइधूकृत होनेमें कोई सन्देह नहीं। मूल-प्रतिकी भ्रष्टता अथवा प्रतिलिपिकके प्रमादसे प्रस्तुत रचनाके पद्य क्र० सं० ७ एवं १६ त्रुटित है। अतः उनका आनुमानिक प्रासंगिक भाव ( यथास्थान ) कोष्ठकमें दे दिया गया है।

## ग्रन्थकार

प्रस्तुत 'अणथमिउकहा' के प्रणेता महाकवि रइधू[2] ( वि० सं० १४५०–१५३६ ) अपने समयके समर्थ लेखकोंमे से थे। उन्होंने लगभग तेईस रचनाओंका प्रणयन किया है जो प्रायः सभी अप्रकाशित है। उन्हींमेंसे एक रचना 'अणथमि-उकहा' भी है। रइधूकी सबसे बडी रचनाओंमें मेहेसरचरिउ, सम्मइचरिउ, हरिवंशपुराण, सिद्धान्तार्थसार, श्रीपालचरिउ, पउमचरिउ प्रभृति हैं जिनमे प्रत्येकमें लगभग तीन-तीन सौसे अधिक कडवक है। 'अणथमिउ' अथवा एक-दो रचनाओंको छोड अन्य सभी रचनाएँ विशालकाय हैं जो चारों अनुयोगोंपर विस्तृत प्रकाश डालती हैं।

रइधूने अपनी परवर्ती रचनाओंमे स्वयंकृत पूर्ववर्ती प्रायः सभी रचनाओंके सविशेषण उल्लेख किये हैं। इस कारणसे उनकी लगभग सभी रचनाओंका क्रम ज्ञात हो जाता है, किन्तु आश्चर्य है कि 'अणथमिउ' का किसी भी उपलब्ध रचनामें उल्लेख नहीं। कब, कहाँ और किसके निमित्त इस रचनाका प्रणयन हुआ, यह कहना कठिन है, किन्तु ऐसा लगता है कि यह रचना कविने अपने कविकालके प्रारम्भमें प्रयोगावस्थामें लिखी होगी। हमारा अनुमान है कि अपने

---

१. एय भणइ रइधू सासय सुक्खु। ( पद्य १७ )

२. महाकवि रइधूके व्यक्तित्व एवं कृतित्वके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारीके हेतु 'भिक्षुस्मृति ग्रन्थ' ( कलकत्ता १९६१ ई० ) एवं हजारीमल स्मृति ग्रन्थ ( ब्यावर, १९६५ ई० ) में प्रकाशित मेरे शोध निबन्ध देखें।

अन्य ग्रन्थोंके रूपविस्तारके आगे यह कृति स्वयं ही कविकी दृष्टिमें नगण्य प्रतीत हुई होगी, अतः उसने अपनी परवर्ती किसी भी रचनामें उसका उल्लेख नहीं किया।

## काव्यसौन्दर्य

'अणथमिउकहा' रात्रिभोजनत्यागसे सम्बद्ध होनेके कारण यद्यपि धार्मिक कृति है तो भी इसमें काव्यतत्त्वोंकी कमी नहीं है। इस लघुकायकृतिमें निम्नांकित काव्यगुण प्राप्त होते हैं :—

१. प्रबन्ध-पद्धति—महाकवि रइधूकी यहाँ यह प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने मुक्तकके वर्ण्य विषयको प्रबन्धात्मकता प्रदान की है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविने काव्यात्मकता उत्पन्न करनेके निमित्त निशिभोजन कथाओंसे प्रबन्ध एवं आचारमूलक ग्रन्थोंसे आचारसिद्धान्त ग्रहणकर दोनोंका सम्मिश्रण किया है। यदि कविको केवल सिद्धान्तका निरूपण करना ही अभीष्ट होता तो वह पद्धड़िया छन्दमें प्रणयन न कर दोहा छन्दमें ही उसका प्रणयन करता। पर कविको कोरा सिद्धान्त क्लिष्ट मुक्तक शैलीमें निबद्ध करना अभीष्ट नहीं। वह रात्रिभोजनका त्याग प्रबन्धके माध्यमसे जनसामान्यके समक्ष प्रस्तुत करना चाहता है। काव्यका प्रत्येक मर्मज्ञ इस तथ्यसे सुपरिचित है कि मुक्तक रचनाकी अपेक्षा प्रबन्ध-पद्धतिकी रचना अधिक सरस एवं सुरुचिकर होती है और पाठकको अपनी ओर अधिक आकृष्ट करती है। आख्यानमूलक साहित्यका सूत्रपात उक्त आकर्षणके कारण ही हुआ है। जब आचार्योंने यह अनुभव किया कि सिद्धान्त-विषय जनताको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पा रहा है तब उन्होंने कथाओंका आधार ग्रहणकर आख्यानोंके माध्यमसे ही सिद्धान्तोंकी शिक्षा देना प्रारम्भ किया। कवि रइधूने भी इसी तथ्यका अनुभव किया एवं प्रबन्ध-पद्धतिका अवलम्बन ग्रहणकर अपनी उक्त कृति लिखी। काव्यसौन्दर्यकी दृष्टिसे यह पद्धति मुक्तककी अपेक्षा अधिक सरस एवं हृदयावर्जक है।

२. उचित उपमानोंके प्रयोग—प्रस्तुत कृतिका द्वितीय काव्यमूल्य यह है कि कविने इस छोटीसी रचनामें भी लगभग ८–१० उपमानोंका प्रयोग किया है। उपमान औचित्यकी दृष्टिसे उनका जितना मूल्य हैं उससे कहीं अधिक मूल्य विषयके स्पष्टीकरणसे है। वास्तविकता यह है कि जहाँ आख्यानात्मक प्रबन्ध रचनामें उपमान आते हैं वहाँ रस एवं सन्दर्भ की दृष्टिसे उनके औचित्यपर विचार किया जाता है, पर जिस कृतिमें आख्यानका सूत्र नहीं रहता है उस कृतिमें प्रेषणीयता को सशक्त बनानेके लिए कवि या लेखक उपमानोंका प्रयोग करता है। महाकवि रइधूने तथ्यको प्रेषणीय बनानेके लिए ही उपमानोंका प्रयोग किया है।

वर्ण्य प्रसंगमें कविने रात्रिभोजनके त्यागके बिना व्यक्तिके व्यक्तित्वको उसी प्रकार सारहीन कहा है जिस प्रकार 'दन्तविहीन गज[१]', 'सम्यग्दर्शनहीन तपस्वी[२]', 'शीलविहीन नारी[३]', 'दान बिना श्रावक[४]' एवं 'इन्द्रियनिग्रह बिना मुनि[५]' का पद सुशोभित नहीं होता। काव्यतत्त्वकी दृष्टिसे 'दन्तविहीणु करि' का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। कवि सम्प्रदाय ही नहीं बल्कि प्रत्यक्षरूपमें गजकी शक्ति एवं पराक्रम और सौन्दर्यादिकी अनुभूति उसके दाँतोंसे ही होती हैं। दाँत टूट जानेपर गजका सामर्थ्य क्षीण माना जाता है। भले ही कोई कुशल महावत चित्रकारी या अन्य उपकरणों द्वारा किसी गजका पर्याप्त शृंगार कर दे, शोभावर्धक उपकरणोंसे उसे सजा दे, किन्तु यदि वह गज दन्तविहीन है तब सहस्र प्रयत्नोंके अनन्तर भी वह वास्तविक शोभाको प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार पूजा, पाठ, स्वाध्याय एवं संयम आदि धार्मिक क्रियाओंके सम्पादन करने पर भी रात्रिभोजन करनेवाला व्यक्ति यथार्थ संयमी नहीं माना जा सकता। कविने इस सन्दर्भमें एक उपमान बहुत ही मर्मस्पर्शी प्रयुक्त किया है और वह है 'धनलोभीका प्रेमी होना।[६]' धनलोभ एवं प्रेम दोनों विरोधी गुण हैं। जहाँ लोभ है वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ प्रेम है वहाँ लोभ नहीं क्योंकि प्रेमका निर्वाह, उदारता, सहिष्णुता जैसी कोमल वृत्तियोंके सत्तासमवायमें ही होता है। प्रेमी व्यक्ति स्वार्थ एवं लालच जैसी संकीर्ण वृत्तियोंसे दूर हट जाता है। इसी कारण काव्यमें लोभको प्रेमगलीका अवरोधक कहा गया है। महाकवि रइधू काव्यके इस सिद्धान्तसे सुपरिचित हैं कि प्रेमका मार्ग त्यागी और निस्वार्थी व्यक्तिके लिये ही है, स्वार्थी एवं लोभीके लिये नहीं। अतः इस अर्थगर्भत्वयुक्त उपमानके द्वारा कविने रात्रिभोजन त्यागके महत्त्वको प्रकट किया है।

कविका एक अन्य उपमान हैं 'पुत्रके बिना कुलका शोभाहीन होना[७]।' इस उपमानमें कविने काव्यसिद्धान्तके साथ लोकमर्यादाका भी निर्वाह किया है। लौकिक सुखोंमें पुत्रसुखको[८] सर्वाधिक उपादेय माना गया है। लोकमें पुत्रैषणा,

---

१–७. देखिये, अणथमिउ पद सं० १–४।

८. तुलना कीजिये .—
न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि॥

लोकैषणा एवं वित्तैषणा इन तीन आकांक्षाओंको सर्वोपरि माना गया है। कवि रइधूकी दृष्टिमें कुलकी शोभा पुत्र द्वारा ही है क्योंकि गृहस्थीका वास्तविक अधिकारी तो वही होता है। इसी विचारधाराको कविने अपनी एक अन्य रचना सुकोसल-चरिउमें इस प्रकार व्यक्तकी है :—

बिणुपुत्तें कुलमरु को धरई। इहणीय पवड्ढण को करई॥ —सुको० ४। १८। १

कविने इसी जीवन तथ्यको ग्रहणकर बताया है कि जिस प्रकार पुत्रके बिना कुल सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार व्यक्ति 'अणत्थउ' के बिना सदाचारी नहीं हो सकता[1]।

इसी सन्दर्भमें प्रयुक्त कविका एक अन्य उपमान भी महत्त्वपूर्ण है। कवि मानवताका मानदण्ड निश्छल व्यवहार को मानता है। इसी कारण उसने कहा है कि शठता करनेवाले व्यक्तिका पुरुषत्व जिस प्रकार शोभित नहीं हो सकता है उसी प्रकार रात्रिभोजन करनेवाले व्यक्तिका धार्मिक आचरण भी शोभित नहीं।[2] इस प्रकार कविने उपमानों द्वारा विषय-को प्रेषणीय बनाया है।

**३. उदाहरणों द्वारा विषयका स्पष्टीकरण**—कविने अपने विषय-प्ररूपणको सशक्त बनानेके लिये उपमानोंके साथ उदाहरणोंका भी प्रयोग किया है किन्तु उसके ये उदाहरण आख्यानमूलक नहीं हैं। उसने तीन मकार एवं पंच उदुंबर फलोंके त्यागको रात्रिभोजनके त्यागके बिना अपूर्ण ही माना है।[3] उसका संकेत संयम एवं इन्द्रियनिग्रहके हेतु विषयासक्ति के त्यागका है। उसने १५ वें पद्यमें" सुरेसु णरेसरु सो णरु होइ" पद द्वारा काव्यात्मक चमत्कारके साथ रात्रिभोजनके त्याग-का महत्त्व प्रस्तुत किया है। कवि बतलाना चाहता है कि विवेकपूर्वक की गई छोटी सी साधना भी महद् फल देने वाली होती है। रात्रिभोजन त्याग कोई बहुत बड़ी साधना नहीं है, परन्तु इसके द्वारा संयम और अहिंसाका पाठ प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति सुरेश्वर और नरेश्वर जैसे मनोवांछित पदोंको प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, कविका विश्वास है कि यह साधना 'सुसासय सुक्खु' ( शाश्वत सुख ) को प्रदान करती है। इस प्रकार कविने संकेतों द्वारा विषयकी पुष्टि की है।

**४. नीति एवं सिद्धान्त-प्ररूपणकी दिशामें भी विषय-प्ररूपणके वैशिष्ट्यके कारण रसाभासोंका संयोजन**—कविकी प्रस्तुत कृति धार्मिक है। उसने रात्रिभोजनका गर्हित चित्रण भी प्रस्तुत किया है। इस चित्रणके द्वारा आरम्भमें बीभत्स रसकी अनुभूति होती है पर विभाव, अनुभाव एवं संचारियों द्वारा पुष्ट न होनेके कारण यह बीभत्सरस रसाभासमें परिणत हो जाता है। पाँचवें पद्यमें कविने राक्षस, भूत, पिशाच आदिका रात्रिमें भ्रमण दिखलाकर भयानक रसकी स्थिति भी उत्पन्न करना चाही है पर स्थायी भाव भय संचारियों तक नहीं पहुँच पाया है। फलतः जलमें उत्पन्न बुदबुदोंके समान विलीन होकर भाव शबलकी स्थिति ही उत्पन्न कर सका है भावकी स्थिति नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि भाव स्थायित्वको प्राप्त न होकर अग्निके स्फुलिङ्गके समान अत्यल्प प्रकाश उत्पन्न कर विलीन हो गए हैं। इस सन्दर्भमें पद्य सं० ५,६ एवं ७ को विशेषरूपसे ग्रहण कर सकते हैं। कविका ८वाँ पद्य तो वास्तवमें रात्रिभोजीको भयभीत ही नहीं कर देता अपितु आतंकित भी कर देता है। जब यहाँ इस बातकी जानकारी प्राप्त होती है कि रात्रि भोजन करनेसे कुष्ठ जैसी भयंकर व्याधि उत्पन्न होती है तो शायद ही कोई सहृदय भावुक रात्रिभोजनकी ओर प्रेरित होगा। यद्यपि तथ्य पुराने हैं पर कविने 'नद्यः नवघटे जलम' के समान पद्मपुराणोक्त[4] तथ्योंको यहाँ काव्यरूपमें प्रस्तुत किया है।

**५. दार्शनिक तर्कपद्धतिकी अपेक्षा काव्यात्मक अर्थापत्ति एवं अर्थान्तरन्यासके प्रयोग**—कवि रात्रिभोजनको

---

असावनालोक्य कुलाङ्कुरं मम स्वभोगयोग्याश्रयभङ्गशङ्किनी।
विशोषयत्युच्छ्वसितैरसंशयं मदन्वयश्रीः करकेलिपङ्कजम्॥
नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना।
प्रतापलक्ष्मी बलकान्तिशालिना बिना न पुत्रेण च भाति नः कुलम्॥
क यामि तत्कि नु करोमि दुष्करं सुरेश्वरं वा कमुपैमि कामदम्।
इतीष्टचिन्ताचयचक्रचालितं क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम्॥

—धर्मशर्माभ्युदय सर्ग २।७१–७४।

तथा
बिना सुपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः।
गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे॥ —सागारधर्मामृत २।११।

१–२. अणथमिउकहा पद्य० ४।

३. वही, पद्य० ११.

४. दे० पद्मपुराण प्र० भा० भारतीय ज्ञानपीठ काशी ( जुलाई १९५८ ) १४।२६७–३०८।

बुराइयों और हानियोंको एक दार्शनिकके रूपमें उपस्थित नहीं कर रहा हैं। वह मूलतः काव्यरचयिता है। अतः उसकी तथ्य निरूपणकी प्रवृत्ति भी काव्यात्मक अर्थापत्ति पर ही आधृत है। वह काव्यके परिवेशमें तर्क प्रस्तुत करता है कि रात्रिभोजी अनन्त जीवोंकी हिंसा करनेके कारण दरिद्र, दीन, अनाथ एवं परिवारहीन रहता है[1]। उसने यहाँ केवल साध्य प्रस्तुत किया है साधन नहीं। उसका साध्य है 'दरिद्र' 'दीनता' और 'अनाथवृत्ति।' यदि इस साध्यको सिद्ध करनेके लिये केवल रात्रिभोजन साधन माना जाय तो पाठककी जिज्ञासावृत्ति शान्त नहीं हो सकती। उनके मनमें एक महान प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या रात्रिभोजनमें इतना दोष हैं जिससे दीन, अनाथादि हो जानेके फल प्राप्त होते हैं। कविने इसी जिज्ञासाको शमन करनेके लिये अर्थापत्ति अलंकारका प्रयोग किया है और बताया है कि 'रात्रिभोजनका उक्त फल 'अनन्तजीववधसम्भवात्' हेतु द्वारा होता हैं और यह हेतु अर्थापत्तिके रूपमें छिपा है। इस प्रकार महाकवि रइधूने 'इस अल्पकाय रचनामें भी काव्यतत्त्वोंका नियोजन किया है।

यहाँ कविकी उक्त लघुकृतिको सानुवाद उपस्थित किया जा रहा है :—

## सानुवाद कृति[2]

णवेप्पिणु सामिय देवजिणिंदु, सुणाण-पयासण गणहर-विंदु।
णिरुवम-दव्व-पयट्ठहं खाणि, तहा पुण वंदमि जिणवर-वाणि ॥१॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानको प्रकाशित करने वाले स्वामी जिनेन्द्रदेव एवं गणधर-वृन्दको नमस्कार करके तत्पश्चात् निरूपम द्रव्य एवं पदार्थोकी खानि स्वरूप जिनवाणीको मैं (महाकवि रइधू) वन्दना करता हूँ ॥१॥

पयासमि पुणु अणथमिउ अणाह- सुणंत सु सावय एक्कु-मणाह।
सुणेप्पिणु चित्ति धरेउ झडित्ति, जु तुट्टइ पावह-पासि तडित्ति ॥२॥

अर्थ—फिर भव्यजनोंके ( हितके ) लिये मैं 'अणथमिउ' ( नामक ग्रन्थ ) की रचना करता हूँ। हे भव्य-श्रावकों, ( उसे ) एकाग्रचित्त होकर सुनो, सुनकर शीघ्र ही चित्तमें उसे धारण करो, क्योंकि इससे पापोंका जाल तड़से टूट जाता है ॥२॥

ण सोहइ जिम करि दंत-विहूणु, ण सोहइ दंसण विणु तव-खीणु।
ण सोहइ सुव विणु जिम कुल-गेह, ण सोहइ जिम धणु-लुद्धउ णेह ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार दाँतोंके बिना हाथी सुशोभित नहीं होता, जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना कृश-काय तपस्वी सुशोभित नहीं होता, जिस प्रकार पुत्रके बिना कुल, गृह सुशोभित नहीं होता, ( तथा ) जिस प्रकार धन-लोलुप स्नेह सुशोभित नहीं होता ॥३॥

ण सोहइ जिम णर-णारि असीलु, ण सोहइ णरु पुणु जेम सठीलु।
ण सोहइ विणु[3] तउ संजमु दाणु, जि भव्वु, तहा अणथमिय-विहूणउ सव्वु ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार शीलके बिना नर-नारी सुशोभित नहीं होते और जिस प्रकार शठता करनेसे पुरुष सुशोभित नहीं होता, जिस प्रकार तप, संयम (एवं) दानके बिना भव्य, ( श्रावक ) सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार 'अणथउ' के बिना कोई भी सुशोभित नहीं होता ॥४॥

ण दिट्ठि पसारु[4] रयणिहि होइ, महातमु पसरइ इथु तिलोइ।
सुर-रक्कस-भूय-पिसाय-अणेय, भमंति[5] सुधरि-पुरि वासिय पेय।
जि भुंजहि रत्तिहि मूढ अयाण, ति माणव पुण तिरियंच समाण[6] ॥५॥

अर्थ—रात्रिमें दृष्टिका प्रसार तो होता नहीं तथा इस त्रिलोकमें ( सर्वत्र ) महान्धकार व्याप्त हो जाता है।

---

१. अणथमिउकहा पद्य सं० ८

२. प्रस्तुत रचनाका प्रकाशन सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है।

३. मूल प्रतिमें 'बउ' पाठ है।

४. मूलप्रतिमें 'णरयणिहि' पाठ है।

५. मूलप्रतिमें 'जमंति' पाठ है।

६. इस पद्यमें ५-६ पंक्तिके मध्यमें एक-दो पंक्तियाँ नष्ट हो गई हैं ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि विषय एवं अर्थकी संगति अनुकूल नहीं बैठती।

अनेक देव, राक्षस, भूत, पिशाच ( तथा ) प्रेत घरों-घरों, नगरों-नगरोंमें वास करते हुए घूमते रहते हैं। ( ऐसी स्थितिमें भी ) जो अज्ञानी-मूर्ख रात्रिमें भोजन करते हैं वे मनुष्य ( तो ) फिर तिर्यञ्चके समान ( ही ) हैं।

जि केइय दीवउ बालिवि खंति, तिमइं[1] मीसिउ गासु गिलिंति[2]।
मक्खिय[3] कीडिय किंपि ण यंति, भमंति[4] मरंति जि णरयहं जंति ॥६॥

अर्थ—जो कोई दीपक जलाकर ( भोजन ) खाते हैं, उस समय मक्खी, कीड़े व इल्लियाँ आती हैं, घूमती हैं एवं मर जाती हैं ( ऐसी स्थितिमें ) वे माँस-मिश्रित कौर ही निगलते हैं और नरकको जाते हैं ॥६॥

महीयलि भासिय णिंद जि कम्मु, अबंभ जि चोरिय पमुह सत्थम्मु[5]।
..........................' तिरयणिहि भोयणु बुह किम तिट्ठु ॥७॥

अर्थ—इस पृथिवी तलपर शास्त्रोंमें कहे गये कुशील, चोरी आदि प्रमुख जो भी निन्दनीय कर्म हैं........ ( रात्रिभोजन उससे भी अधिक निन्दनीय कर्म है ? ) फिर भी रात्रिभोजनमें विद्वान् लोगोंकी तृष्णा क्यों ? ॥७॥

जि रोय दलिद्दिय दीण अणाह, णि कुट्ठ गलिय कर-चरण सबाह।
दुहग्गि जि परियणु-वग्गु अणेऊ, सुरयणिहि भोयण फलु जि मुणेऊ ॥८॥

अर्थ—दरिद्रता, दीनता, अनाथवृत्ति तथा अत्यन्त पीडा देने वाले कोढ़से हाथ-पैरोंका गल जाना, परिजन-वर्गका स्नेहहीन हो जाना ( आदि ) ये सभी दुःखाग्निरूप बाधाएँ रात्रिभोजनके ही फल समझो ॥८॥

घड़ी दुइ वासरु थक्कइ जाम, सुभोयणु सावय भुंजहिं ताम।
दिवायरु तेऊ णि मंदउ होइ, सकोच्चहि चित्तहो कमलु जि सोइ ॥९॥

अर्थ—जब दो घड़ी दिन रह जाय तब श्रावक भोजन कर लेता है क्यों कि सूर्यके मन्द होने पर हृदयका कमल भी बन्द हो जाता है ॥९॥

पंडिट्टहिं भोज्जु ण रयणिहि कज्जु, समुच्छइ तत्थ जि जीवह गज्जु।
सुजाणवि एम अणट्ठहो मूलु, सुवज्जउ[6] रयणिहि भोयणु कोलु ॥१०॥

अर्थ—विद्वान्को रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए ( क्योंकि ) उसमें अनेकों जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अनर्थका मूल जानकर रात्रिभोजनके लोलुपजन इसे छोड़ दें ॥१०॥

मकारय तिण्णि जि पंच फलाइं, जि कंद जि मूल जि विविह सकाइं।
ण भक्खइ चक्खइ मक्खणु जो जि, विसुद्धउ धरइ अणाथमिउ सो जि ॥११॥

अर्थ—मद्य, माँस एवं मधु रूप तीन मकार एवं बड़, पीपल, पाकर, कठूमर तथा गूलर रूप पाँच प्रकारके उदम्बर फलों एवं कंदमूल जैसे विविध मलिन शाकों और मक्खनको जो न खाता है या न चखता है, वह विशुद्ध रात्रि-भोजन-त्याग व्रतको धारण करता है ॥११॥

ण अप्पु रयणिहि भुंजइ भव्वु, ण अण्णह उवएसइ गय-गव्वु।
मणम्मि ण अणुमणइ गय-दोसु, हवेइ सुसावउ सच्छ-अमोसु ॥१२॥

अर्थ—(भव्यजन) रात्रिमें न स्वयं खाय और गर्वहीन होकर न दूसरेको ( खानेका ) उपदेश दे। दोष विहीन होकर मनमें उसका विचार ( भी ) न करे। ( इस प्रकार वह ) सच्चा एवं अमर्ष सुश्रावक कहलाने लगता है ॥१२॥

घड़ी दुइ णिम्मलु गालिउ तोउ, समुच्छइ णहुइ जीवह जोउ।
सुफासुय दोपहरइ जिणउत्तु अणोणिसि उण्हु भणइ जिणसुत्तु ॥ १३ ॥

अर्थ—छाना हुआ जल दो घड़ी तक निर्मल ( प्रासुक ) रहता है। उसके बाद उसमें पुनः जीव उत्पन्न होने

१. मूलप्रतिमें 'तमहं' पाठ है।
२. मूलप्रतिमें 'जि लिति' पाठ है।
३. मूलप्रतिमें 'णभक्खिय' पाठ है लेकिन उससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता।
४. मूलप्रतिमें 'वमंति' पाठ है।
५. मूलप्रतिमें 'सकम्मु' पाठ है।
६. मूलप्रतिमें 'सुव्वंडउ' पाठ है।

एवं मरने लगते हैं। प्रासुक किया गया जल दो प्रहर पर्यन्त निर्मल रहता है ऐसा जिन भगवान्‌ने कहा है तथा उष्णोदक एक दिनरात तक निर्मल रहता है, ऐसा जैनसूत्रोंमें कहा है ॥१३॥

जु पालइ अणथमियउ सुविसुद्धु, सुलंघिवि पंचिंदियमणजुत्तु ।
पुणु सद्दहइ जु चेयण भाउ, खवेइ सुवि अज्जिउ चिरभव पाउ ॥१४॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों एवं मनको यत्नपूर्वक साधकर जो विशुद्ध रात्रिभोजन त्याग व्रतको सुखपूर्वक पालता है तथा जो आत्मस्वरूपका श्रद्धान करता है वह चिरकालसे अर्जित भवरूपी पापोंका क्षय करता है ॥१४॥

सुरेसु णरेसुरु सो णरु होइ, मणिट्ठिय सुक्खइ भुंजिवि सोइ ।
विणासिय अट्ठ जि कम्म पयंड, सुसासय सुक्ख लहेइ अखंड ॥१५॥

अर्थ—और वह भव्य ( मरकर ) सुरेश्वर अथवा नरेश्वर होता है तथा मनोवाञ्छित सुखका भोग करता है। प्रचण्ड आठकर्मोंका नाशकर वह अखण्ड शाश्वत सुखको प्राप्त करता है ॥१५॥

जो सावयधम्महो मूलु पउत्तु, सुकीजइ अणथमियउ जिणउत्तु ।
... .... ....' धरीजइ दंसणु दिढ णियचित्ति ॥१६॥

अर्थ—जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित श्रावकधर्मका मूल जो रात्रिभोजन त्याग व्रत कहा गया है उसे करो (वह श्रावकाचारका प्रवेशद्वार है उस व्रतका पालन करते हुए ) अपने चित्तमे दृढ सम्यग्दर्शन धारण करो ॥१६॥

जु णारि-णरु कुवि सुणइ जु एउ, जु पढइ पढावइ किय मणणेउ ।
पय भणइ रइधू सासय सुक्खु, लहेइ सुमणवंछित फल तक्खु ॥१७॥

अर्थ—जो कोई भी नर-नारी इस ( अणथमिउकहा ) को सुनता है, तथा अपने मनमे ( अत्यन्त ) स्नेह पूर्वक इसे पढता-पढाता है, वह तत्काल ही मनोवाञ्छित फलको प्राप्तकर शाश्वत सुखको प्राप्त करता है ऐसा ( महाकवि ) रइधूका कथन है ॥१७॥

# मोहन बहुत्तरी

कुन्दनलाल जैन एम० ए० ( संस्कृत-हिन्दी ), एल० टी०, साहित्यशास्त्री, दिल्ली

●

## प्रति परिचय

मोहन बहुत्तरीकी प्रति दि० जैन मन्दिर मठके कूँचा धर्मपुरा, दिल्लीके शास्त्रागारमे उपलब्ध हुई है। यहाँ इस लघुकाय ग्रन्थकी दो प्रतियाँ प्राप्त हैं। मूलप्रति, जिसपरसे यह प्रतिलिपि की गयी है, वि० सं० १७८५ की लिखित है। इस निबन्धमे दूसरी प्रतिका उपयोग पाठभेदके लिए किया गया है। प्रतियाँ दोनो ही सुवाच्य है, पर लिपिकारका प्रमाद दोनो ही प्रतियोमे वर्तमान है। प्रथम प्रतिमे २४वाँ छन्द छूट गया है। द्वितीय प्रतिमें प्रतिलिपिका समय निर्दिष्ट नही है, किन्तु रचयिताके 'ढोर' गोत्रका उल्लेख किया है। दोनो ही पाण्डुलिपियाँ अच्छी स्थितिमे हैं।

## कृति-परिचय

इस रचनामे कुल ७३ पद्य है, जिनमे २४ सवैये इकतीसा, ७ सवैये तेईसा, १५ छप्पय, ५ कुण्डलियाँ, १ चौपाई, १ सोरठा और २० दोहे है। रचना विशुद्ध आध्यात्मिक है। परिमार्जित और ओजपूर्ण भाषामे इस कृतिको कविने निबद्ध किया है। रचनामे प्रवाह इतना अधिक है कि पाठक आरम्भ करनेके उपरान्त अन्त किये बिना नही रहता। अद्यावधि यह रचना सर्वथा अज्ञात थी, क्योकि विभिन्न स्थानोसे प्रकाशित होनेवाली ग्रन्थ सूचियोमे इसका नामाङ्कन नही पाया जाता है। अत अप्रकाशित इस अज्ञात रचनाका परिचय प्राप्त करा देना जैन हिन्दी साहित्यके लिए एक देन होगी।

## वर्ण्य विषय

प्रारम्भमे कविने जिनवन्दनका महत्त्व प्रतिपादित किया है और बतलाया है कि मानस्तम्भके दर्शनसे अहकारका विनाश, वेदीके दर्शनसे निर्वेदी पद—शाश्वतिक सुखको प्राप्त करनेकी योग्यता, भगवान्‌के निकट जानेसे करोडो क्लेशोका विनाश एव वीतरागी प्रभुके दर्शनसे सासारिक वैभव-ऐश्वर्यकी प्राप्तिके अनन्तर वीतरागताकी प्राप्ति होती है। प्रभु-वन्दनसे आत्मा निर्मल हो जाती है और सम्यक्त्व प्राप्तिके साधन उपलब्ध हो जाते है। यह आत्मा मोहके कारण अशुद्ध है, इस मोहके दूर होते ही अध्यात्मवादी दृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है। जीवनका सबसे बडा लक्ष्य स्वरूपकी उपलब्धि है और इसका साधन रत्नत्रय है। जीवनके सामान्य धरातलपर आत्मसिद्धिके उपकरण प्राप्त नही किये जासकते है। अतएव कविने जीवनके लक्ष्यका वर्णन करते हुए बतलाया है कि हमारा लक्ष्य भिखारीसे भगवान् बनना है, अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन आदिकी प्राप्ति करनी है। हमारी आत्मामे अनन्त शक्ति है किन्तु वर्तमानमे उसकी वीर्य-शक्तिपर आवरण होनेके कारण, वह दुर्बल प्रतीत हो रही है। अनन्त सुखकी विपरीत परिणतिके कारण ही अभिव्यक्ति नही हो रही है। साधक विचार करता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्षका मार्ग है। मैने न तो सम्यक्त्व पाया और न आत्म-साधनाके लिए कारणभूत भाव चारित्र ही धारण किया। भोजनत्याग रूप तपश्चरण करना भी चाहा तो भी कषायोकी निर्जरा करनेमे असमर्थ रहा। मैने अनेक ग्रन्थोका स्वाध्याय भी किया पर विवेकी बुद्धि प्राप्त नही हुई, जिससे कर्म-शृखला टूट न सकी।

जब यह प्राणी अपने किये कर्मोकी आलोचना करनेमे प्रवृत्त होता है, तो इसे ज्ञात होता है कि मैने स्वयं पाप किये, अन्य प्राणियोको पापके उपदेश दिये, अन्य व्यक्तियो द्वारा किये गये पापोंकी अनुमोदना की। मन, वचन और क्रियाओको शुद्ध नही किया, अतः द्रव्यहिंसा और भावहिंसामे सर्वदा प्रवृत्त रहा।

दान, पूजा, तप आदि भी आत्मशुद्धिके लिए नही किये गये, बल्कि इन कार्योका लक्ष्य भी संसारको प्रसन्न करना ही रहा। इसी कारण अनादिकालसे संसारमे परिभ्रमण करना पडा। अपनी साधनाकी श्रद्धा, निष्ठा और आस्थाको

भूलकर कुगुरुओं द्वारा बतलाये गये मार्गमें मैं भटक गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मेरा मन सरोवरमें उठानेवाली लहरोंके समान निरन्तर चंचल ही बना रहा और कषायभाव निरन्तर मुझे उद्विग्न करते रहे। राग-द्वेष-मोहकी परिणतिने मेरे मनकी स्वच्छता और पवित्रताको सर्वदा दूर किया, जिससे मैं अपना पुरुषार्थ भूल गया हूँ और परवस्तुको ही अपना मान रहा हूँ।

इस आत्माका कर्मोंके साथ उसी प्रकार सम्बन्ध है, जैसे व्यञ्जनोंके साथ लवणका। लवण व्यञ्जनोंको सुस्वादु तो बनाता ही है साथ ही उसके संयोगसे हो व्यञ्जनोंमें व्यञ्जनत्व आता है। इसी प्रकार जीवमें भी विकार परिणति द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोहरूप परिणामोके निमित्तसे पुद्गल परमाणु स्वतः कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। जीव अपने चैतन्य रूप भावोंसे स्वतः परिणत होता है, पुद्गल कर्म निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल परस्पर लवण-व्यञ्जनके समान एक दूसरेके परिणमनमें निमित्त होते हैं। तथ्य यह है कि कविने बताया है कि अनादि कालीन कर्म परम्पराके निमित्तसे आत्मामे राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है, जिससे मन वचन और कायमें परिस्पन्दन होता है तथा राग, द्वेषरूप प्रवृत्तिके परिमाण और गुणके अनुसार पुद्गलद्रव्यमे परिणमन होता है और वह आत्माके कार्माण—वासनामय सूक्ष्मकर्म शरीरमे आकर मिल जाते है। इस प्रकार कर्मोंसे रागादिभाव और रागादिभावोंसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है।

कविकी दृष्टिमें आत्मोत्थानका साधन शास्त्रज्ञान ही है, क्योंकि तीर्थंकरोंकी वाणी शास्त्रोंमें निबद्ध है। जो व्यक्ति इस वाणीका अध्ययन-मनन कर विवेक-वि-ति प्राप्त करता है वही स्वाध्याय द्वारा जड-चेतनका भेदज्ञान प्राप्तकर लेता है। यह प्राणी अनुभव करता है कि शरीर, सुन्दर वस्त्राभूषण, दिव्य रमणी, सुन्दर पुस्तकें; भव्य प्रासाद, मनमोहक उपकरण आदि पदार्थ स्वभावतः जड हैं, इनका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी, मोही प्राणी मोहके कारण ही अपने साथ बँधे हुए शरीरको और नहीं बंधे हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादिको अपना समझता है तथा यह मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावोंके संयोगके कारण अपनेको रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी समझता है, पर वास्तवमें यह बात नहीं है। निश्चयत, इस आत्माको कोई भी विकृत करने वाला नहीं है, यह ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप अनन्त आनन्दका भण्डार है।

कवि जिनवाणीके यथार्थ ज्ञाताकी विशेषता और उसका महत्त्व बतलाता हुआ कहता है—

> उपदेश कानधरै देशपर कानधरै हरै मोहमल फल गुरु सीख मानी कौ।
> पाप पुण्यहीन होय आप ही मलीन होय भव दुख भी न होइ साँचे सरधानीकों॥
> छिनमें पवित्र होइ सबही सौं मित्र होइ थिर जैसे चित्र होय सुखसिवकानीकों।
> लहै मोखलछी राग-द्वेषको विपच्छी उरधारै गति अच्छी जो सुपछी जिनबानीकों॥

कविके उक्त कथनसे स्पष्ट है कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त करनेका एकमात्र ध्येय कषायोंको जीतना, इन्द्रियोंको वश करना, सहिष्णुता धारण करना; विपत्तियोंमें धैर्य रखना; शक्त्यनुसार परोपकार करना; मीठे और कोमल वचन बोलना; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग करना है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्तकर अपना कल्याण नहीं करता है, विषयोके अधीन रहता है, उसे धिक्कार है। ज्ञानी व्यक्तिका कार्य कषायों और वासनाओंको जीतना है। नाना शास्त्रोंके अध्ययनका फल आत्मचिन्तन है, आचार-विचारको पवित्र करना है और है स्वानुभूतिकी प्राप्ति। जिस प्रकार आँखका कार्य पदार्थोंको देखना है, अन्यथा उसका होना न होना समान है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानका ध्येय आत्मोन्नति करना है तथा अपने आचरणको विकसित कर स्व-पर विवेक प्राप्त करना है। जिस ज्ञान द्वारा स्व-पर विवेक प्राप्त नही होता, वह कोरा ज्ञान है, उसके रहते हुए भी जीव अज्ञानीके समान है। कारण स्पष्ट है कि ज्ञान मोक्षका हेतु है, ज्ञानके विना व्रता-चरण, नियम, शील, जप-तप आदिका पालन करना भी निष्फल है। सच्चा विवेक ही आत्मानुभूतिका कारण है।

ज्ञानकी महिमा इसीलिए है कि इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगके अवसर पर जीव मोहोदयके आनेपर भी अवि-चलित रहे। बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर पुरुषार्थहीनताके कारण मोहोदय तो होता है, पर सम्यग्ज्ञानी इसमे चलायमान नही होता। उसे संसारका स्वरूप ज्ञात रहता है, अतः धीरता और शान्तिपूर्वक आनेवाले उपसर्गोंको सहन करता है। मान-अपमान, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदिका प्रभाव उसके ऊपर नहीं पड़ता।

कविने १२ वें पद्यमें धर्मका मूल मुनिव्रतको कहा है। मुनि अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुणोंको धारणकर अपनी आत्माका उत्थान करते हैं। संयम ही आत्मोद्धारका कारण है और पूर्ण संयमकी प्राप्ति मुनि अवस्थामें ही होती है। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि समस्त बाह्य क्रियाओंसे सम्बन्ध छूट जाता है और आत्मा स्वावलम्बी बन जाती है। इन्द्रिय और मनकी अधीनता, जिसके कारण सभी प्राणियोंको स्वावलम्बनकी प्रवृत्तिसे वंचित

रहना पड़ता है, मुनिपदमें वह अधीनता दूर हो जाती है। यह विश्वास हृदयमें उत्पन्न हो जाता है कि मैं स्वतन्त्र द्रव्य हूँ और मेरा सम्बन्ध देहादि परवस्तुओंसे नहीं है। मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपने स्वरूपकी प्राप्तिके लिए होना चाहिए। स्वावलम्बन प्राप्तिके लिए तीन बातोंका रहना परमावश्यक है—

१. सहिष्णुता—संयोगी पर द्रव्यको दूर करनेके लिए कष्टसहिष्णुता, तपश्चर्या और उपवास द्वारा आत्मशोधन और परद्रव्योंके प्रति निराकुलता।

२. अपने स्वरूपका दृढ़ विश्वास और उसके विकासके हेतु पर पदार्थोंके सहयोगका अभाव, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका सर्वथा इष्ट-अनिष्ट करनेमें असमर्थ है, की प्रतीति।

३. पुरुषार्थके मार्गमें गतिशील होना, प्राणी अपने उत्थानका स्वयं ही उत्तरदायी है, की प्रतीति और तदनुकूल आचरण।

कविने जीवन-विकासके लिए तर्क और श्रद्धा दोनोंकी आवश्यकतापर जोर दिया है। श्रद्धा जीवनको सरस बनाती है तो तर्कप्रखर। तर्कमें श्रद्धाका समन्वय और श्रद्धामें तर्कका समन्वय अपेक्षित है। तर्ककी आवश्यकता अन्धविश्वासको दूर करनेके लिए है और श्रद्धाकी आवश्यकता जीवनकी आधार-शिलाको सुदृढ़ बनानेके लिए है। तर्कशील व्यक्ति तर्ककी उड़ानमें कहीं इतना ऊँचा न उड़ जाय, जिससे धरतीसे उसका सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो जाय, इस भयके निराकरणके लिये तर्कके साथ श्रद्धाका संयोग आवश्यक है; इसी प्रकार श्रद्धालु श्रद्धा-भक्तिके प्रवाहमें जिस किसीकी बातपर श्रद्धा न करने लगे, इसके लिए तर्कका मेल भी कार्यकारी है।

कविने सत्य-श्रद्धाके उत्पन्न होनेपर मिथ्यात्व-अन्धकारके विनाशकी सुन्दर चर्चा की है। देव, गुरु और शास्त्रका श्रद्धान करनेसे मिथ्याभाव दूर होता है, आत्माको सुख-शान्ति प्राप्त होती है। सम्यक्त्व या समरसताके उत्पन्न होते ही जीवको प्रकाशपथ प्राप्त हो जाता है और निज प्रतीति होने लगती है।

कविने ३४वें पद्यसे ३५वें पद्य तक शुभोपयोगके साधन भगवत् पूजन, गुरुसेवा, दान, व्रत, उपवास, शील आदिके पालन करनेकी आवश्यकतापर जोर दिया है। कविने व्यवहारनयकी दृष्टिसे बताया है कि संसारमें सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति शुभोदयके बिना नहीं हो सकती है। देवपूजा, गुरुभक्ति और पात्र दान शुभोपयोगके कार्य हैं इनके सम्पादित करनेसे अधिक सुख सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। भगवत् जिनेन्द्रकी पूजा पाप, दुःख, संकट, रोग आदिको दूर करती है। प्रभु-भक्तिसे मनकी विशुद्धि होती है, जिससे शुभास्रवका बन्ध होता है। पूजा-भक्ति राग-भाव होनेपर भी मनकी चंचलताको दूर करती है। यह उपासना साधनमय है, दीनता भरी याचना नहीं है। भक्तिसे भाव विशुद्ध होते हैं, आध्यात्मिक शक्तिका विकास होता है और कषायें मन्द होती हैं।

कविने ४०वें पद्यमें श्रुतज्ञानीकी स्थितिका चित्रण किया है। श्रुतज्ञानी निश्चय और व्यवहार दोनों ही मार्गोंका अवलम्बन ग्रहण करता है। वह चारित्रकी दृढ़ताके अभावके कारण एक मार्गपर स्थिर नहीं हो पाता। उसकी स्थिति उस पक्षीके समान होती है, जो फलोंसे आच्छादित वृक्षकी कभी किसी डालपर बैठता है और कभी किसी डालपर। वह शाखाओंका ही परिवर्तन करता है, वृक्षका नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति चारित्रकी न्यूनताके कारण कभी निश्चयपर स्थिर होता है और कभी व्यवहार पर। परन्तु इन दोनों मार्गोंको छोड़ अन्यत्र नहीं जाता है अर्थात् मिथ्यामार्गका अवलम्बन नहीं करता है।

आगेके पद्योंमें कविने बारह भावनाओंका स्वरूप प्रतिपादित किया है तथा आत्मोत्थानके लिए भावनाओंको आवश्यक माना है।

कविने २५वें छन्दमें ढोंगी और आडम्बर युक्त व्यक्तियोंकी हँसी उड़ायी है। प्रायः समस्त पद्योंमें जिनशासनकी महत्ता प्रतिपादित की है।

## काव्य-सौन्दर्य

यह कृति काव्यकलाकी दृष्टिसे भी सुन्दर है। कविने शब्दालंकारोंमें अनुप्रास, यमक और श्लेषका सुन्दर प्रयोग किया है। ८वें पद्यमें 'स' तथा 'न' वर्णोंकी पुनः पुनः आवृत्ति एवं उनका सहज सुलभ प्रयोग मनको मुग्ध कर देता है। ४४वें पद्यमें 'कानन' शब्दका प्रयोग यमक और श्लेषालंकारके रूपमें पूर्ण श्रुतिमाधुर्य उत्पन्न कर रहा है। 'कानन'—कानोंसे सुन, 'कानन'—वन गये और 'कानन कीनी एक'—ध्यान न दिया, इस प्रकार तीन अर्थोंमें प्रयोग किया गया है।' थलसाल देखे भूलसाल न रहत' ( पद्य १ ) में 'साल' शब्दकी अनुप्रास छटा बरबश अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती है। इस प्रकार 'कोटिकै निकट गए कोटिक कलेश कटै' में ट कार और क कारकी आवृत्ति कर्कश शब्दोंमें भी माधुर्यका सूत्रपात

कर रही है। काव्य-चमत्कारकी दृष्टिसे यह पद्य महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार 'मानै आनदेव आनदेव कोऊ देवरिद्धि जानै' (पद्य २) में 'आनदेव पदकी आवृत्ति श्रुतिमाधुर्यके साथ चमत्कारकी योजना भी करनेमें समर्थ है।

४८ वें पद्यमें उपमा और रूपक अलंकारकी कुशलता पूर्वक योजना की गयी है। पंचपरावर्तनशील संसारको समुद्रका रूपक देकर भावोंका स्पष्टीकरण किया है। कविने बताया है कि इस संसार समुद्रका कर्मरूपी जल कभी नहीं सूखता; मनुष्य, तिर्यञ्च आदि चारों गतियाँ मगर, मच्छ हैं; मोहरूपी भँवरचक्र कभी स्थिर नहीं होते; और इसमें नो-कर्मादिक युक्त बहुतसे जीव भरे पड़े रहते हैं। अतः इस प्रकारके भयंकर, विराट् संसार-समुद्रसे पार होनेके लिए गुरूपदेश रूपी पोतकी आवश्यकता है। रूपकका प्रयोग बहुत ही सुन्दर और सफल है।

कविने इस आध्यात्मिक कृतिमें वीर शान्तरसका सुन्दर परिपाक किया है। वीररसकी स्थिति केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं है, भाव भी वीरताका प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि ज्ञान-सामन्तकी शक्तिका तथा मोहसेनाके परास्त होनेका चित्रण करता हुआ कहता है—

> सांचीमति सिद्ध भई मिथ्यामति दूर गई आकी त्रुटि लाई जैसी कारी कर हरी रहै।
> आत्मा सुभट बल फोरिकै प्रगट भई ज्ञानके हकारै मोहसेना थरहरी है।
> विषैको आचार अनाचारको विचार मिटो भयो वीतराग सत्ता परहरी है।
> मोख सुखवासी लोकालोकको विकासी ऐसी लोक कै सिखर धर्मधुजा फरहरी है ॥२२॥

स्पष्ट है कि कविने अध्यात्मभावोंका विस्तार वीररसके रूपमें किया है। काव्यचमत्कारकी दृष्टिसे उक्त पद्य अपूर्व है। सरसता और प्रवाहमयता पूर्णरूपमें वर्तमान है। धार्मिक मुक्तकोंमें कविने काव्य-प्रतिभाका परिचय दिया है। इन पद्योंमें विषय प्रतिपादनकी कुशलता एवं अर्थानुकूल भाषागत सौन्दर्य समाविष्ट है। कलापक्ष सर्वत्र भावपक्षका सहायक होकर आया है। उपर्युक्त पद्यमें आया हुआ 'धर्मधुजा' पद रूपक बनकर अर्थ चमत्कारका सृजन कर रहा है।

## कवि परिचय

इस कृतिके रचयिता कवि मोहनदास है। इन्होंने इस रचनामें आरम्भिक ५३ पद्य तो अपनी अन्तरंग बुद्धिसे रचे हैं और शेष २० छन्द कवि शिरोमणि बनारसीदासके भावोंको ग्रहण कर। यह कविकी ईमानदारी और निश्छलता का द्योतक है। कविने स्वयं लिखा है—

> धुरके त्रेपन कवित आदि मोहनने कीना।
> तहँ परमारथ अधिक बुधि अपनी फल लीना।
> ता पीछै उगणीस-बीस बीजे कवित बनाए।
> भव चंपै मन दीखि नाम बानारसि पाये।

कविके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें हमें जानकारी प्राप्त नहीं है। पर उक्त कथनसे इतना स्पष्ट है कि कविका समय बनारसीदासके पश्चात् और इस कृतिकी प्रतिलिपिमें अंकित वि० सं० १७८५ से पूर्व है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि सं० १७८५ में श्री हुकमचन्दके अध्ययन हेतु भागचन्द यति (जति) ने लिखी है।

कविने बनारसीदासका उल्लेख किया है और बनारसीदासका समय वि० सं० १६४३-१७०१ है। अतः मोहनदासका समय सं० १६४३-१७८५ के मध्य कभी भी होना चाहिए। यदि यह अनुमान कर लिया जाय कि बनारसी-दासके भावोंका अनुसरण उनकी रचनाओंके ख्यात हो जाने पर ही किया गया होगा तो कविका समय अठारहवीं शतीका मध्य भाग माना जा सकता है।

मोहनदास श्रीमाल जातिके दिगम्बर जैन थे। उनका गोत्र ढोर था। बनारसीदासकी ससुराल खैराबादमें अर्थमल नामक व्यक्तिके यहाँ थी, ये भी ढोर गोत्रीय श्रीमाल थे। अर्थमलने वि० सं० १६८० में समयसारकी राजमल्लीय टीका लिखवाकर बनारसीदासको भेंट की थी, जिससे बनारसीदासको सत्यकी प्रतीति हुई।

कवि दि० जैन धर्मानुयायी है, इसका सबल प्रमाण कवलाहार और स्त्रीमुक्तिका खण्डन करना ही है। कविने लिखा है—

> 'कवलाहार जो केवली मुनि उपकरन सुधारि।
> पुरुषाकार बिन सिधि कही तिनकी संगतिवार ॥६०॥
> प्रतिमालेप रसाभरण मूल निषेधी जेह।
> वीतरागकौं रोग यहि उनसों कैसो नेह ॥६१॥

मोहनदासकी अन्य रचनाओंकी जानकारी नहीं है। इस कृतिके अवलोकनसे इतना स्पष्ट सिद्ध होता है कि मोहनदास प्रतिभाशाली कवि है। कविता उसके वशवर्ती है। आध्यात्मिक भावोंको काव्य-उपकरणोंमें निहितकर सरल और सरस रूपमें भावाभिव्यञ्जनाकी क्षमता उन्हें प्राप्त है। कविकी अन्य रचनाएँ अवश्य होंगी, और वे शोध-खोजकी अपेक्षा रखती हैं।

●

# मध्यकालमें विहारमें जैनधर्मकी स्थिति : संक्षिप्त इतिवृत्त

प्रो० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आरा

●

## उपक्रम

मध्यकाल ई० सन् छठी शतीसे बारहवीं शतीतक माना जाता है। साहित्यमें इस युगको टीका और भाष्य युग कहा गया है। इस काल खण्डमें विहारको पुण्यभूमिमें जैनधर्मको राज्याश्रय नहीं प्राप्त हुआ और न कोई महान् प्रभावशाली उपासक ही हुआ। अतः यह निश्चित है कि मध्यकालमें इस धर्मका प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र राजस्थान, केरल, आंध्र प्रभृति प्रदेशोंमें होता रहा तथा इन्हीं स्थानोंमें बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य, चिन्तक एवं लेखक भी उत्पन्न हुए। इतना होनेपर भी विहारकी पुण्यमयी तीर्थभूमिका आकर्षण प्रत्येक जैनधर्मानुयायीके हृदयमें बना रहा। फलतः बुद्धिजीवी आचार्य और लेखकोंके अतिरिक्त जनसाधारणने भी राजगिर, चम्पा, वैशाली, सम्मेदशिखर एवं गया प्रभृति स्थानोंकी यात्राएँ कीं। बुद्धिजीवी यात्री तो अपने ज्ञान और आचारको परिमार्जित करनेके हेतु वर्षों विहारकी भूमिमें निवास करते थे। साधकोंने अपनी अन्तिम साधनाएँ भी इसी भूमिमें सम्पन्न की है। साहित्य-प्रणेताओंको प्राचीन साहित्यसे सामग्री उपलब्ध हुई, पर उन्होने विहारकी वास्तविक स्थितिका अंकन करनेके हेतु यहाँके विभिन्न प्रदेशोंके रहन-सहन, आचार-विचार, राजनैतिक-आर्थिक सम्बन्ध एवं श्रद्धा-विश्वासोंका अध्ययन-अनुचिन्तन किया। जैनधर्मके कई उपासक यात्राएँ करते हुए यहाँ आये और उन्होंने यहाँ मन्दिर, चैत्य एवं चरणचिन्ह आदि पवित्र स्मारक स्थापित किये। तीर्थङ्करोंकी चरणरजसे पवित्र मगध, मिथिला, अंग एवं सन्ताल प्रदेशकी पावनभूमि विशेषरूपसे आकर्षणका केन्द्र रही।

## अभिलेखीय एवं पुरातत्त्वावशेषीय प्रमाण

विहारकी मध्यकालीन जैनधर्मकी स्थितिका परिज्ञान अभिलेख, मूर्तिलेख एवं पुरातत्त्वावशेषोंसे भी होता है। नालन्दा—बड़ागाँवके जैनमन्दिरमें पालवंशी राजा राज्यपालके समय (ईस्वी दसवीं शती पूर्वार्द्ध)का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें बताया गया है कि मनोरथका पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थवन्दना करता हुआ यहाँ पर आया[1]। भागलपुर (चम्पापुरी) एवं गयाके जैनमन्दिरोंमें स्थित जटाजूटवाली आदि तीर्थङ्करकी प्रतिमाएँ छठी और सातवीं शतीमें विहारकी जैनधर्म विषयक उन्नतिकी सूचना देती हैं। इन प्रतिमाओंके दर्शनसे ऐसा ज्ञात होता है कि इनकी रूपाकृतिका यथार्थ अंकन रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) के आधारपर हुआ है। अथवा यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रविषेणने इन प्रतिमाओंके पश्चात् ही इस प्रकारके चित्रण उपस्थित किये हैं।[2]

पुरातत्त्व सम्बन्धी एक अन्य प्रमाण आरा जिलेके चौसा नामक स्थानसे प्राप्त आदिनाथ तीर्थङ्करकी धातुमयी प्रतिमा भी है। यह मूर्त्ति खड्गासन मुद्रामें है। इसके अंगोकी आकृति, केशविन्यास एवं प्रभावलयकी शोभाके आधारपर इसे आठवीं-नवमी शतीका माना गया है। अन्य प्रतिमाएँ भी चौसासे प्राप्त हैं, ये सभी सातवीं-आठवीं शतीकी प्रतीत होती हैं। इस सामग्रीके आधारपर इतना निश्चित है कि छठी शतीसे नवम शती तक जैनधर्मका प्रचार और प्रसार विहारके विभिन्न भूखण्डोंमें वर्तमान था। राजगिरके वैभारपर्वतकी तलहटीमें स्थित सोनभण्डार नामक गुफाके अभिलेखोंसे प्रकट

१. श्री चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ६५६।

२. वातादधूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यान-वह्निसक्तस्य कर्मणः॥ —पद्मपुराण ३।२८८।

× × ×

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुताशुमान्॥ —वही ४।५।

होता है कि ईस्वी सन्‌की चौथी शतीमें ही राजगिर तीर्थस्थान घोषित हो गया था। मुनि वैरदेव (वीरदेव)ने यहाँ पर साधना-सिद्धिके हेतु दो गुफाएँ बनवायी थीं। अभिलेखमें वीरदेवको—'श्रीमद्वीरदेवशासनाम्बरावभासनसहस्रकर'—भगवान् महावीरके शासनरूपी आकाशको प्रकाशित करनेवाला सूर्य कहा है। वीरदेवका सम्बन्ध दक्षिणभारतके कन्नड़ प्रान्तसे भी था। अतः स्पष्ट है कि वीरदेवने दक्षिण भारतसे आकर राजगिरमें निवास किया था और पूर्वी भारतको अपने प्रभावसे प्रभावित किया था।

गया जिलेके कोलुहा पहाड़के चढ़ावके अन्तमें पत्थरों द्वारा निर्मित एक विशाल प्राकार भग्नावस्थामें वर्तमान है, इसके मध्यमें एक सरोवर है। इस सरोवरकी खुदाईसे जो प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनसे बिहारमें मध्यकालीन जैन-धर्मके सम्बन्धमें अनेक तथ्य ज्ञात होते हैं। सरोवरके उत्तरकी ओर चढ़नेपर पार्श्वनाथ मन्दिर और पार्श्वनाथ चबूतरा है। इस चबूतरेसे कुछ आगे बढ़नेपर एक कूट है, जिसके ऊपर एक रमणीय समतल भूमि है। इसके बीचमें एक गर्त है; जो यज्ञकुण्ड कहलाता है। इसके चारों ओर एक शिलालेख अंकित है। यह शिलालेख पढ़नेमें नहीं आता; पर इसके जो पद पढ़े जा चुके हैं उनमें 'जनसौन' पद विचारणीय है। इस पदसे ऐसा अनुमान होता है कि यह स्थान महापुराणके रचयिता जिन-सेनाचार्य (ई० सन् ९वीं शती) की सभा भूमि रहा है। 'जनसौन' जिनसेन शब्दका अपभ्रंश रूप है। इस कथनकी पुष्टि वहाँ पर स्थित ऊँचे रंगमंचसे भी होती है तथा इसका दक्षिण पार्श्ववर्ती चबूतरा शिष्यमण्डल या साधुवर्गके बैठनेका स्थान ज्ञात होता है।

कतिपय विद्वान् महापुराणके रचयिता जिनसेनका जन्मस्थान पटनाको मानते हैं।[1] जन्मस्थानके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है, पर भद्रिलपुर (भौंडिल), पाटलिपुत्र और चम्पामें उनके निवास करनेके सम्बन्धमें अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं।

इस युगमें मानभूम और सिंहभूम जिलोंमें भी जैनयात्रियों और जैनाचार्योंने अनेक जैनमन्दिर और मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करायी थी। बलरामपुर (पुरुलियासे तीन मील कसायी नदीके तटपर) के बैजनाथ मन्दिरमें मध्यकालकी कई दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ दीवालोंपर अंकित हैं। अनुमान है कि यह मन्दिर किसी जैनमन्दिरको चौकी पर ही बनाया गया है। दारिका नामक (चेचोगढ़के खण्डहरोंसे तीन मील दक्षिण) गाँवके बाहर कृष्ण पाषाणकी एक मूर्ति है, इस पर पद्मासन बैलका चिह्न है। इस जिलेके डलमा नामक पहाड़की तलहटीमें सुवर्णरेखा नदीके तटपर डलमी या दमापुर डलमी नामक पुराने नगरके खण्डहर उपलब्ध हैं[2]। यहाँ ९-१० वीं शतीमें जैनधर्मानुयायिओंकी बहुत आबादी थी। डलमीसे उत्तर-पश्चिम दस मील देवली गाँवमें एक वृक्षके नीचे अरहनाथकी तीन फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। इस प्रतिमाके मस्तक-के दोनों ओर छः-छः नग्न जैनमूर्त्तियाँ अंकित हैं। यह मन्दिर सातवीं-आठवीं शतीमें वर्तमान था।

मानभूम जिलेका पाकबीर स्थान जैन इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर एक सरोवरके तटपर कुछ ऊँचाई पर एक बड़े मैदानमें चारों ओर चार मन्दिरोंके पत्थर एवं ईटोंके ढेर हैं। मन्दिरोंके शिखर आज भी अपना गौरव व्यक्त कर रहे हैं। यहाँ पाँच हाथकी एक खड्गासन मूर्त्ति है, जो बहुत शान्त और सुन्दर है। गाँववाले इस मूर्त्तिकी पूजा भैरोंके नामसे करते हैं। यहाँ पर सातवीं-आठवीं शतीकी महावीर और पार्श्वनाथकी प्रतिमाएँ भी बड़ी मनोज्ञ हैं। पद्मावतीकी मूर्त्ति भी लगभग डेढ़ हाथ ऊँची उपलब्ध है। इस मूर्त्तिके ऊपर पार्श्वनाथकी प्रतिमा अंकित है। यह पद्मावती-की प्रतिमा ग्यारहवीं-बारहवीं शतीकी होनी चाहिए। यहाँसे थोड़ी दूर पर एक छप्परके नीचे आदिनाथकी खड्गासन चौबीसी मूर्त्तियों सहित प्राप्त है। आकृति और पाषाणके आधारपर इसका समय नवम शती सम्भव है। पाकबीरसे एक मीलकी दूरी पर पंवा गाँव है, यहाँ नदीके तटपर एक टीला है, इस टीले पर एक वृक्षके नीचे दो खण्डित और दो अखण्डित-सी जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हैं। अखण्डित प्रतिमाओंमें एक ऋषभनाथकी तीन हाथकी खड्गासन मूर्त्ति है, इस मूर्त्तिके दोनों ओर चौबीसी प्रतिमाएँ अंकित हैं। यहाँ पर एक ऐतिहासिक पाषाण है, जिस पर दो हाथका एक वृक्ष अंकित है, इसके ऊपर एक पद्मासन जैनमूर्त्ति है, उसके दोनों ओर दो इन्द्र हैं। वृक्षके ऊपर एक बालक शाखापर बैठा है, नीचे माता-पिता

---

1. Sri Jinasenacharya, author af the Mahapurana which has sixty thousand slokas, was born in Patna and belonged to his line.

—P. C. Roy Choudhary : Jainism in Bihar, Patna 1959. Page 86,

2. The influence of the Jainas in the district of Singhbhum in also borne out by many existing ancient relics at Benusagar and other areas. The ruins of the temples and the piecas of ancient sculpture ...... to the 7th century.

—A. D. Jainism in Bihar, Page 64

बने हैं। माताकी गोदमें बालक है, पिता यज्ञोपवीत पहने हुए है। नीचे आसनमें सात गृहस्थोंका अंकन किया गया है। इस मूर्तिके अवलोकनसे स्पष्ट है कि जिनसेनाचार्य द्वारा प्रतिपादित यज्ञोपवीतकी मान्यताका समर्थन इसमें किया है। अतएव स्पष्ट है कि मध्यकालमें सिंहभूम और मानभूम जिलोंमें जैनधर्मकी स्थिति बहुत अच्छी थी।

पुरातत्त्वावशेषोंके अतिरिक्त मानभूम जिलेमें अन्य भी कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे मध्यकालमें जैनधर्मकी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इस जिलेमें ब्राह्मण जातिके जो व्यक्ति निवास करते हैं, वे दो वर्गोंमें विभक्त हैं—पश्चिमीय ब्राह्मण और पूर्वी ब्राह्मण। पश्चिमीय ब्राह्मण अपनेको वर्धमान महावीरकी जातिका या उनका अनुयायी बतलाते है। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी ब्राह्मण राजस्थान अथवा गुजरातसे यात्रा करते हुए यहाँ पहुँचे थे और मध्यकालमें वहीं बस गये थे। कहा जाता है कि ई० सन् १०२३ में राजेन्द्र[1] चोलदेवके सेनापतित्वमें राज्य विस्तारके हेतु चोल सैनिकोंने बंगालके राजा महीपालपर आक्रमण किया था। सैनिकोंने मानभूमके जैनमन्दिरोंको ध्वंस किया था। यहाँसे प्राप्त अवशेष मध्यकालीन हैं, जिनसे इस जिलेकी मध्यकालीन जैनधर्मकी स्थितिका बोध प्राप्त होता है।

पुरुलिया के पास बलरामपुर और बोरम ग्राममें ११ वी शती के मूर्ति अवशेष प्राप्त हैं, इन कलाकृतियोंके अवलोकनसे मध्यकालीन जैनधर्मकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। सिंहभूम जिलेमें रहनेवाली सराक—श्रावक जातिके व्यक्ति जैनधर्मानुयायी थे। मध्यकालमें इस जिलेमें कई जैन मन्दिरोंका निर्माण किया गया था। आज भी इस जिले के अनेक स्थानोंमें जैन पुरातत्त्वावशेष प्राप्त है। सम्राट् खारवेलके प्रयासोंके फलस्वरूप छोटा नागपुर के आस-पास प्राचीन समयमें ही जैनधर्म और जैनदर्शनका पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार हुआ था। फलतः ८–९ वीं शती तक इस जिलेमें जैन धर्मानुयायियोंकी स्थिति बनी हुई थी। ग्यारहवीं शतीमें यहाँ जैनधर्मका ह्रास आरम्भ हुआ[2]। राजनैतिक स्थितिकी उलट-फेरके कारण जैनमन्दिरोंका ध्वंस किया गया। जैनधर्मानुयायियोंपर अत्याचार हुए, जिससे वे विघटित हो गये। जैन यात्रियोंका आना-जाना भी कम हो गया तथा मानभूम और सिंहभूम दोनों ही जिलोंमें जैनधर्म सदाके लिए निर्वासित हो गया। जो लोग यहाँ रह गये, वे भी इधर-उधर छितरा गये तथा सराक नामसे प्रसिद्ध हुए।

भागलपुर जिलेमें मध्यकालमें जैनधर्मके समृद्ध होनेके अनेक प्रमाण उपलब्ध है। सुलतानगंजमें गंगाके तटपर अजगवीनाथके मन्दिरके ठीक सामने एक मस्जिदके अवशेष वर्तमान है। यह मस्जिद जैनमन्दिरके परिवर्त्तनमें बनायी गयी है। इसकी दीवालोंके पाषाणखण्डों पर उत्कीर्ण कई जैन मूर्त्तियाँ आज भी उपलब्ध हैं। पथार घाटी हिल पर ७–८वीं शतीकी चित्रकारी है, इस पहाड़ीको चौरासी मुनि कहते है। ६–७ वीं शतीमें यहाँ की गुफाएँ जैनमुनियोंका आवास स्थान थी। भागलपुरसे ३१मील दक्षिण एक छोटा-सा पहाड़ है, जिसे मन्दारगिरि कहते है। उत्तरपुराणमें इसी स्थानको वासुपूज्य तीर्थङ्करका निर्वाणस्थान भी बताया है।[3] इस पहाड़ पर दो प्राचीन जैनमन्दिर है, जिनका जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा है। बड़े मन्दिरकी दीवालकी चौड़ाई सात फीट है, जो छठी-सातवीं शतीकी स्थापत्य कलाका प्रमाण है। पहाड़के बड़े मन्दिरमें वासुपूज्य स्वामीके श्यामवर्णके चरणचिह्न हैं। ये चरण भी पर्याप्त प्राचीन हैं, पाषाण एवं शिल्पकी दृष्टिसे ई० सन् आठवीं-नौवीं शतीके अवश्य हैं। पहाड़के छोटे मन्दिरमें तीन चरणपादुकाएँ भी मध्यकालीन है। चम्पापुरकी प्राचीन सामग्री भी मध्यकालकी समृद्धिकी सूचना देती है। इस स्थानसे ही जटा-जूटवाली आदिनाथकी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है।

नवादा जिलेका गुणावा स्थान गौतम गणधरकी तपस्या भूमि होनेके कारण पवित्र है। यहाँके दिगम्बर जैनमन्दिरमें वासुपूज्य स्वामीकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जिसकी प्रतिष्ठा वैशाख शुक्ला चतुर्थी शनिवार वि० सं० १२६८ (ई० सन् १२११) में सारंगपुर निवासी दाताप्रसाद-भावसिंह भार्या अमरादेने करायी है[4]। वेदी नवीन है, पर उसमें विराजमान कई प्रतिमाएँ प्राचीन है; जिनकी प्रतिष्ठा मध्यकालमें विभिन्न समयोंपर पधारे हुए यात्रियोंक द्वारा सम्पन्न हुई है। यहाँके

1. There is a theory that the Chola soldiers on their way to the expedition under Rajendra Choladeva and on the return back of the defeating Mahipala of Bengal near about 1023 A. D. has destroyed many of the Jaina temples and images in Manbhum district.
—Jainism in manbhum. आचार्य भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, तृतीय खण्ड पृ० २५। सिंहभूम जिले के पुरातत्त्वावशेष उड़ीसा म्यूजियममें स्थित हैं और मानभूमके पटना म्यूजियममें।

२. विशेष जाननेके लिए देखिए—आचार्य भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, तृतीय खण्ड, पृ० २४–२६।

३. अथमन्दरशैलस्य सानुस्थानविभूषणे।
वने मनोहरोद्याने पल्यङ्कासनमाश्रितः॥
मासे भाद्रपदे ज्योत्स्ने चतुर्दश्यापराह्णके।
विशाखायां ययौ मुक्ति चतुर्नवतिसंयतैः॥—उत्तरपुराण ५८।५२–५३।

४. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ६२५।

जैनमन्दिरमें वासुपूज्य और महावीर तीर्थङ्करोंकी प्रतिमाएँ श्वेताम्बर आम्नायकी हैं। चौबीस स्थानोंपर पृथक्-पृथक् चौबीस भगवानोंके चरणचिह्न भी उक्त आम्नायके अनुसार ही प्रतिष्ठित हैं। चरणचिह्न प्राचीन नहीं हैं, पर मन्दिरके अन्य उपकरण मध्यकालीन प्रतीत होते हैं।

राजगिरमें उपलब्ध पुरातत्त्वसे भी मध्यकालीन जैनधर्मकी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। मनियार मठके पासके पुराने कुएँकी सफाई करते समय सप्तफण मण्डलयुक्त पार्श्वनाथकी मूर्त्ति उपलब्ध हुई थी। इस मूर्त्तिके अभिलेखको काशीप्रसाद जायसवालने पढ़ा था और उन्होंने बतलाया था कि यह लेख पहली शताब्दीका है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचलका उल्लेख है[1]। एम० ए० स्टीन साहबने लिखा है—'वैभारगिरिपर जो जैनमन्दिर बने हुए हैं, उनके ऊपरका हिस्सा तो आधुनिक है, किन्तु उनकी चौकी जिनपर वे बने हुए हैं, प्राचीन है[2]।

आद्रिस बनर्जीने बताया है कि सातवीं शताब्दीतक वैभारगिरिपर जैन स्तूप विद्यमान था तथा गुप्तकालकी कई जैनमूर्त्तियाँ भी वर्तमान थीं। सोनभद्र गुहामें यद्यपि गुप्तकालीन लेख हैं, पर इस गुफाका निर्माण गुप्तकालके पहले ही हुआ होगा[3]।

विपुलाचलके तीन मन्दिरोंमेंसे मध्यवाले चन्द्रप्रभ स्वामीके मन्दिरमें एक मूर्त्ति गुप्तकालीन है। तीसरे उदयगिरिपर तीर्थंकर महावीरकी खड्गासन प्रतिमा निस्सन्देह पाँचवीं शतीकी है। चौथे स्वर्णगिरि और पाँचवें वैभारगिरिकी कुछ मूर्त्तियाँ भी सातवीं-आठवीं शतीकी हैं। राजगिरिके पर्वतोंपर कतिपय खण्डित मूर्त्तियाँ भी उपलब्ध हैं, जो छठी शतीसे दशवीं शतीके मध्यकी हैं। इस प्रकार राजगिरिके पुरातत्त्वसे बिहारमें स्थित जैनधर्मके इतिहासपर प्रकाश पड़ता है। उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके यात्रियोंने यहाँ आकर मन्दिरोंका निर्माण और मूर्त्तियोंकी प्रतिष्ठा करायी थी।

मिथिला, दरभंगा और मुजफ्फरपुर स्थानोंमें भी मध्यकालमें जैनमन्दिर और मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। मिथिला नगरीने १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थंकर नमिनाथको जन्म देकर जैनधर्मके प्रसारके लिए बीज वपनकर दिया था। उत्तराध्ययनके 'नमिप्रव्रज्या' अध्ययनमें मिथिलाके वैभवका सुन्दर चित्रण आया है, इससे इस नगरीकी भौतिक समृद्धि अवगत की जा सकती है। मध्यकालमें यहाँ जैनधर्मानुयायियोंकी संख्या अवश्य थी, हाँ दसवीं शतीके उपरान्त उत्तर बिहारमें जैनधर्म केवल इतिहासकी वस्तु रह गया है। दक्षिणी बिहारमें मध्यकालकी अन्तिम शताब्दियाँ भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु उत्तर बिहार जैनधर्मके अनुयायियोंसे शून्य हो गया था।

पटना जिला मध्यकालमें जैनधर्मकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। यहाँके कमलदहक्षेत्र (सुदर्शन स्वामीका निर्वाण स्थल) को सातवीं सदीके आस-पास मान्यता प्राप्त हुई है। सुदर्शनका आख्यान भी सातवीं शतीके पश्चात् ही प्रचारमें आया है। जैनागमोंके संकलनके हेतु सम्पादित हुई प्रथम संगीतिके अनन्तर ही जैनोंने पाटलिपुत्रका महत्त्व समझा है। स्थविरावली चरितमें पाटलिपुत्रके निर्माणकी जो कथा आई है,[4] उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि छठी-सातवीं शतीमें पाटलिपुत्रको विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

शाहाबाद जिलेका पुरातत्त्व भी जैनधर्मके इतिहासपर प्रकाश डालता है। इस जिलेके मसाढ नामक स्थानके मूर्त्ति-लेखोंसे ज्ञात होता है कि कुछ राठौरवंशी जैन यात्रा करते हुए ई० सन् १३८९ में यहाँ आये और उन्होंने आदिनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथकी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करायी। यह प्रतिष्ठा मसाढ ( महासार ) के राजनाथदेवके राज्यकालमें काष्ठासंघके गुरु कमलकीर्त्तिने करायी थी[5]। इस स्थानकी प्राचीनताके सम्बन्धमें कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मध्यकालमें यात्रियोंका आवागमन रहनेसे शाहाबाद भी जैनधर्मके अनुयायियोंके लिए आकर्षणका केन्द्र था।

---

1. Journal of the Bihar and Orissa Rec. Soc. Vol XXII ( June 1935 )
2. Archaeological Survey of India Vol I ( 1871 ) PP. 25-26
3. Indian Historical quarterly XXII PP. 205-210
4. बताया गया है कि भद्रपुरमें पुष्पकेतु राजा रहता था, इसकी पत्नीका नाम पुष्पवती, पुत्रका पुष्पचूल और कन्याका नाम चूला था। रानी गंगतटवर्ती प्रदेशमें निवास करने लगी। वहाँ पर एक जलजन्तुके मस्तकपर पाटल बीजके गिर जानेसे वृक्ष उत्पन्न हो गया। ज्योतिषियोंने इस वृक्षको देखकर इस स्थानके महत्त्वका वर्णन किया। राजा उदायीको जब यह सूचना मिली तो उसने पाटलद्रुमके पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण सीमापर एक नगर बसाया, जो पाटल वृक्षसे वेष्टित होनेके कारण पाटलिपुत्र कहलाया। राजाने इस नगरमें जैनमन्दिर, गज-अश्वशाला युक्त राजमहल निर्मित कराया। —स्थविरावली चरित।

५. (i) सं० १४४३ ज्येष्ठ सुदी ५, गुरो महासारस्य च।
 (ii) राजनाथ देवराज्ये काष्ठसंघे आचा—
 (iii) र्यं कमलकीर्त्तिजयसरङ्गाचार्ज।
 (iv) ········ वपुमल।

इस प्रकार अभिलेखों एवं पुरातत्त्वावशेषोंसे मध्यकालीन जैनधर्मकी स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। जैनोंकी आबादी उत्तरोत्तर क्षीण होती गई, पर बाहरसे आनेवाले यात्रियोंने बिहार भूमिको प्राचीनकालके समान ही तीर्थ बनाये रखनेका उपक्रम किया।

## वाङ्मयमें वर्णित बिहार

मध्यकालीन जैनवाङ्मयमें बिहारका सजीव चित्रण पाया जाता है, जिससे इस प्रदेश की मध्यकालीन स्थितिका सहजमें परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैन लेखकोंने बिहारके बाहर जन्म ग्रहण कर भी बिहार की भूमिका आँखों देखा जैसा चित्रण किया है। अतः इस युगके इतिवृत्तको अवगत करनेके लिए साहित्यिक वर्णनों पर विचार करना परम आवश्यक है।

वसुदेवहिंडिमें मगधजनपद की समृद्धिके वर्णनके साथ जैनधर्मके अभ्युदयपर भी प्रकाश डाला गया है। बताया है कि इस जनपदमें घने छायादार वृक्ष है, जो पुष्प और फलोंकी समृद्धिसे युक्त है। तालाब एवं पुष्करणियाँ कमल, कुमुद, कुवलय आदि नाना प्रकारके पुष्पोंसे मण्डित है। इस जनपदमें पथिकोंको किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता। यहाँ की राजधानी राजगिर नगरी है, जो खात और परकोटासे सुशोभित है। नगरीमें चौड़े और विशाल राजमार्ग हैं। यहाँके बाजार और अट्टालिकाएँ अपनी समृद्धिसे अमरपुरीको भी तिरस्कृत करती है। श्रमण और ब्राह्मण बड़े सौहार्द और प्रेमके साथ निवास करते है। नगर-वासी दया, दान शील और संयमसे युक्त है। जैन मन्दिर अपनी पवित्रता और भव्यतासे जनसमूहको आकृष्ट करते हैं। रथ, तुरंग, गज, धन, धान्यकी प्रचुरताके कारण प्रजा सुखी और शान्त है, सभी धर्मका सेवन करते हैं। यहाँ 'गुणसिलय' नामका चैत्य है, जहाँ धर्मगुरु आकर ठहरते हैं। इस चैत्यके प्रांगणमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप सात तत्त्वोंका उपदेश दिया गया है। अनेक भव्यव्यक्ति इस उपदेशको सुनकर संसारके विषय-कषायोंमें विरक्त हो आत्मसाधनामें प्रवृत्त होते हैं। इस नगरीके ऋषभदत्त सेठने यहीं पर गुरुके समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। प्रजा जिज्ञासुके रूपमें प्रश्न करती है—

**'तं एवं ताव तित्थयरदंसणं दुल्लभं दंसणाउ वि दुल्लभं वयणं तं पि सोऊण कम्मगरुययाए कोइ न सद्दहइ, जो य कम्मविसुद्धीय सद्दहेज्जा सो संजयियव्वे निरुच्छाहो भवेज्जा'।**[1]

अर्थात् प्रथम तीर्थङ्करका दर्शन दुर्लभ है, दर्शन हो भी जाय तो उनका प्रवचन सुनना और दुर्लभ है। प्रवचन सुननेपर भी कर्मक्लिष्टताके कारण कर्मका श्रद्धान होना कठिन है। कर्मशुद्धि होने पर श्रद्धान प्राप्त हो जानेसे भी संयम धारणके प्रति कम ही व्यक्तियोंका उत्साह देखा जाता है। जो संयमी बनकर आत्मशुद्धि करते है, वे धन्य है। जीवनका चरम लक्ष्य तप, त्याग और संयम रूप साधना ही हैं।

संघदासका उक्त कथन बिहारकी छठी शतीकी जैनधर्मकी स्थिति पर पूरा प्रकाश डालता है। यद्यपि संघदासने पूर्ववर्ती आख्यानोंको सूत्ररूपमें ग्रहण किया है, पर लेखकने अपने समयकी यथार्थ स्थितिका चित्रण किया है। वसुदेवहिंडिके उक्त वर्णनको यदि प्रतीकात्मक मान लें तो बिहारमें अपचीयमान जैनधर्मकी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। छठी शती में राजगिरमें जैनमन्दिर और चैत्य समृद्ध रूपमें अवस्थित थे। हमारे इस कथनकी पुष्टि—**'चेइयपायवं च कप्परुक्खं पिव नयण-मणहरं'**[2] वाक्यांशसे होती है।

वसुदेवहिंडीमें कथाका आरम्भ भी मगधकी भूमिसे ही होता है। लेखककी मगध, अंग, कलिंग और विदेह जन-पद बहुत ही प्रिय है। इन प्रदेशोंके विभिन्न पात्रोंकी मनः स्थितियोंके साथ इनके नगर, ग्राम, सरोवर एवं नदियोंका भी चित्रण किया गया है। प्रसंगवश धार्मिक स्थितिके साथ राजनैतिक और सामाजिक स्थितियोंपर भी प्रकाश डाला गया है। चम्पामें सार्थवाह-व्यापारी अधिक निवास करते थे। व्यापारके हेतु ये ताम्रलिप्ति और वैजयन्तीके बन्दरगाहोंमें अपने यानसे

---

(i) सं० १४४१ समये ज्येष्ठ सुदी ५, गुरो
(ii) राजनाथदेव प्रवर्द्धमाने महासारस्य काष्ठसंघे मथुरान्वये
(iii) पुष्करगणे मतिय भज कमलकीर्तिदेव
(iv) जैसवल वेसल सगचर्ज ··· ··· ···
(v) पुत्र लखम देवबम ··· ··· ···
(vi) यन मतिह ··· ··· ···

—जैनशिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, लेख संख्या ५८६।

१. वसुदेवहिण्डी, प्रथमांश, पृ० ५।
२. वही, पृ० ५।

जाते थे। बिहारके अरण्य प्रदेशोंमें चोर और लुटेरे निवास करते थे, जो यात्रियोंको लूट लेते थे। धार्मिक स्थिति आजकी अपेक्षा सरल थी। कोई भी व्यक्ति किसी भी गुरुका उपदेश सुन सकता था। कट्टरता और धार्मिक विद्वेष आरम्भ हो चुका था। कतिपय जैन व्यापारी बौद्ध या अन्य धर्मावलम्बियोंको अपनी कन्या नहीं देते थे। जातिबन्धन कड़ा नहीं था, व्यवसाय और जन्म दोनों ही आधारपर जाति-व्यवस्था व्यवहारमें लायी जाती थी। ब्राह्मण अश्वमेधयज्ञ छोड़ने लगे थे तथा श्रमण कर्मकी ओर जनताका झुकाव आरम्भ हो गया था[1]।

जैनधर्मानुयायियोंकी संख्या उत्तरोत्तर घटने लगी थीं। धर्मगुरुओंका आगमन राजगिर, चम्पा, मिथिला, कुसुमपुर प्रभृति स्थानोंमें होता रहता था। ये धर्मगुरु जनसाधारणको नैतिक सदाचारकी शिक्षा देते थे।

छठीं शतीमें बिहारमें जैनधर्म एवं उसके अनुयायियोंकी स्थितिपर विमलसूरि द्वारा विरचित प्राकृत-ग्रन्थ पउमचरियं से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है[2]। 'वसुदेव-हिण्डी' और 'पउमचरियं' के उद्धरणोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा अवगत होता है कि 'पउमचरियं' के समयमें मगध जनपदकी स्थिति बहुत ही सुदृढ़ थी, पर मगधसे जैन-धर्मानुयायी इधर-उधर छितराने लगे थे। आचार्यों और गुरुओंका आगमन मगधमें होता रहता था। बताया गया है—'मगध जनपद गाय, भैंस अश्व, गज, आदिकी समृद्धिसे युक्त था। इसके बड़े-बड़े कोष्ठागार मणि, सुवर्ण, रत्न, मोती तथा प्रचुर धान्यसे भरे पूरे थे। यहाँके लोग विभिन्न विज्ञानोंमें विचक्षण थे, निवासी धर्मात्मा तथा कर्त्तव्यपरायण थे। यह जनपद, नृत्य और सङ्गीतसे सर्वदा मुखरित रहता था। नर, नर्त्तक, छत्रधारी एवं बाँसपर नाचनेवाले नर—अपने कलाकौशलका परिचय दिया करते थे। नाना प्रकारके भोज्य पदार्थोंसे अतिथियोंका सत्कार किया जाता था। इत्र और पुष्प यहाँके निवासियोंको अधिक प्रिय थे। विवाह, वार्षापन आदि उत्सव सर्वदा सम्पन्न होते रहते थे। ये प्रदेश चारों ओर सरोवरों, झीलों और उद्यानोंसे व्याप्त रहनेके कारण बहुत ही रमणीय दिखलाई पड़ते थे, पर राज्यके आक्रमण, संक्रामक रोग, चोर, दुर्भिक्ष आदिसे रहित होनेके कारण यह जनपद सभी प्रकारसे सुखका आगार था। पूजन, अर्चन, स्तवन आदि कार्योंमें जनता संलग्न रहती थी।

इस काव्य ग्रन्थमें वर्णित अद्ध बर्बरों[3] के अत्याचारोंसे ऐसा अनुमान होता है कि मिथिलामें श्रमणधर्म और जिनायतनोंका विध्वंस आरम्भ हो चुका था। विमलसूरिने पौराणिक आख्यानमें भी अपने समयकी स्थितिका चित्रण किया है। यही कारण है कि एक ओर मगध और तिरहुतकी समृद्धिका चित्रण है तो दूसरी ओर वहाँ होनेवाले उपद्रवोंका भी।

डॉ० मोतीचन्द्रने लिखा[4] है—'छठी शतीमें जैनसाधु केवल धर्म प्रचारके लिए ही विहार यात्रा नहीं करते थे। वे जहाँ जाते थे, उन स्थानोंकी भलीभाँति जाँच पड़ताल भी करते थे। इसे जनपद-परीक्षा कहते थे। जपपद दर्शनसे साधु पवित्रताका बोध करते थे। इस प्रकारकी बिहार-यात्राओंसे वे अनेक भाषाएँ सीख लेते थे। उन्हें जनपदोंको अच्छी प्रकारसे देखने भालनेका भी अवसर मिलता था। इस ज्ञानलाभका फल उनके शिष्य वर्गको भी मिलता था। अपनी यात्राओंमें जैन-भिक्षु तीर्थङ्करोंके जन्म, निष्क्रमण एवं केवली होनेके स्थानों पर भी जाते थे।

जैन-मुनियोंकी इस सञ्चरणशील प्रवृत्तिका दर्शन भाष्य और चूर्णियोंमें भी प्राप्त होता है। चूर्णियोंकी रचना गुप्त कालके पश्चात् ही हुई है। इन ग्रन्थोंमें संकलित सामग्रीसे राजगिरके गुणसिलय' चम्पाके 'पूर्णभद्र' आमलकप्पाके 'अम्बसाल' एवं वणिय ग्रामके हि 'दुइपलास' चैत्योंके सम्बन्धमें पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ये चैत्य व्यन्तरायतन थे। उनमें व्यन्तरोंकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित रहती थी। जैन-श्रावक भी लौकिक अभ्युदयकी प्राप्तिके लिए इन यक्ष आयतनोंकी उपासना करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्राने राजगिर नगरके बाहर स्थित यक्षआयतनोंको अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमाके दिन विपुल अशन, पान आदिके द्वारा पूजा अर्चना की। भद्रा की इच्छा पूर्ण हुई और उसने अपने पुत्रका नाम 'देवदिन्न' रखा।

पूर्णभद्र चैत्यके सम्बन्धमें बताया गया है कि यह प्राचीन दिव्य और सुप्रसिद्ध था। यह वेदिका सहित, सछत्र,

---

१. अत्थि मगहाजणवओ धणधन्नसमिद्धदाणसङ्घियगइवसकुलबहलगामसततसन्निमहिओ, छायापुप्फफलभोजतरुगणसमग्गवणसंडमंडिओ कमल-कुमुदकुवलयसोहिततलागपुक्खरिणिवप्पसाहीणकमलानिलओ। ··· ···
रायगिहं नाम नयरं दूरावगाढवित्थय सलिलखातोवगूढवढतरतुंगपराणीयमवदयागारपरिगयं, बहुविहनयणाभिरामजलमारगसय ··· ···
रायमग्गं। —वसुदेवहिंडि, प्रथमांश पृ० २।

२. पउमचरियम्— प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी २।१–२० पृष्ठ ८–६।

३. वही २७।१–४१ पृष्ठ २२५–२२७।

४. सार्थवाह, राष्ट्रभाषा परिषद् पटना प्रथम संस्करण १९५३ पृष्ठ १६४।

सध्वज, लोममय प्रमार्जन युक्त, गोबर आदिसे लिपा हुआ, चन्दन कलश, तोरण और मालाओं सहित तथा अगुरु आदि धूपसे सुगन्धित रहता था। यह चैत्य नट, नर्त्तक, स्तोत्रपाठक, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, ज्योतिषी और चित्र दिखलाकर आजीविका सम्पादन करने वालोंका आश्रय-भूत था। यहाँ कर्मकाण्ड आदि कार्य भी सम्पन्न होते थे। इस प्रकारके चैत्योंमें ही जैन साधु आकर ठहरते थे[1]।

उपर्युक्त यक्ष आयतनोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि मध्यकालमे तीर्थङ्करोंकी उपासनाके साथ लौकिक अभ्युदय-की प्राप्तिके लिए यक्षोंकी पूजा अर्चा भी किसी प्रकार मान्य थी। जैन साधु उपदेश देनेके लिए इन आयतनोंको ही सार्वजनीन स्थानके रूपमें चुनते थे, क्योंकि इन आयतनों में साधारण जनता अधिक संख्यामें एकत्र होती थी, फलतः इन धर्मगुरुओंको धर्मदीक्षा देनेकेलिए अधिक अवसर प्राप्त होते थे। जिनलोगोंकी श्रद्धा विचलित हो जाती थी, उन्हे भी ये साधु धर्ममार्ग में स्थिर करते थे। छठी और सातवी शतीमे यक्ष आयतनोंका अधिक प्रचार था। वैदिक धर्ममे मान्य इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि इन आयतनोंके अधिपति यक्ष थे। श्रमण धर्मके साथ संघर्ष और विद्रोह आरम्भ हो चुका था। इस विद्रोहकी गन्ध हमें उत्सव और त्योहारोंके अवसर पर सम्पादित किये जानेवाले इन्द्रमह, स्कन्दमह, यक्षमह, और भूतमह विधानोंमें मिलती है। इसमे सन्देह नहीं कि छठी शतीमें बिहारकी भूमिमें श्रमण और वैदिक परम्परा एक साथ पल्लवित होती दिखलाई पड़ती है। इन दोनों परम्पराओका मिलन स्थान यक्षायतन थे।

सातवीं शतीके संस्कृत पद्मचरितमे बिहार प्रदेशके जैन इतिवृत्तपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है[2]। हर्षके शासन-कालमे वैशाली, मगध, मुंगेर, भागलपुर (चम्पापुर) एवं गया प्रभृति स्थानोमे जैनधर्मकी अच्छी स्थिति थी। तीर्थङ्करोंके मन्दिर बनाये जा रहे थे तथा आचार्यलोग पुण्य-भूमियोमे विहारकर धर्मका प्रचार कर रहे थे। आठवी शतीके आचार्य जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमे मगध-अङ्ग और मिथिलाका सजीव चित्रण किया है। इस चित्रणसे प्रादेशिक समृद्धि-के साथ धर्मानुयायिओंकी स्थितिपर भी प्रकाश पडता है। इसी शताब्दिके आचार्य हरिभद्रने अपने 'समराइच्च कहा'[3] नामक ग्रन्थमे कुसुमपुर ( पटना ) कोल्लाकसन्निवेश, चम्पा, मिथिला, छिति प्रतिष्ठित ( राजगिर ) आदिका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। धनाढ्य एवं सेठ साहुकार जैनायतनोका निर्माण कराते थे और देवस्थानोंकी सेवा पूजामे जो धन व्यय किया जाता था, उस धनको सार्थक समझते थे। अंग, कलिङ्ग और मगध इन तीनों प्रदेशोंमें श्रमणधर्म की अच्छी स्थिति थी। धर्मगुरुओंका प्रवचन निरन्तर होता रहता था जिससे साधारण जनता श्रमण धर्मको समझकर आत्मोत्थान की प्रेरणा ग्रहण करती थी। दशमी शतीमे हरिषेणाचार्य द्वारा लिखित बृहत्कथाकोषसे अवगत होता है कि राजगिरमे जैन और बौद्ध मतावलम्बियोंके बीच विवाद आरम्भ हो चुका था। जिनदत्त और मित्रश्रीके आख्यानसे यह सङ्केत प्राप्त होता है कि जैनधर्मकी मान्यता मध्यम वर्गके बीच ही थी। सार्थवाह, शिल्पी, कृषक एवं सम्भ्रान्त वर्गके व्यक्ति श्रमण धर्मानुयायी थे। इनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ होने हुए भी ये धर्मोत्थानके हेतु उत्सव आदिमे विशेष व्यय करते हुए दिख-लायी नहीं देते थे। बुद्ध संघ और पद्मश्रीके आख्यानसे धार्मिक विद्वेष की भावना भी प्रकट होती है। मगध, जो कि, जैनधर्मानुयायिओंका गढ था, शनैः शनैः अपने प्रभुत्वको खो रहा था। ग्यारहवी शताब्दिमें उत्तर बिहारसे जैन-धर्मानु-यायी समाप्त हो रहे थे। यही कारण है कि ग्यारहवी शतीके पश्चात् रचे गये साहित्यमें मिथिला एवं वैशालीका वर्णन बहुत कम आया है। मिथिला और चम्पाका सांस्कृतिक महत्त्व तेरहवी और चौदहवीं शताब्दिके साहित्यमें पाया भी जाता हैं, पर वैशालीका कहीं भी नही। मगध और राजगृहके उल्लेख उत्तरकालीन साहित्यमे भी प्राप्त होते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि राजगिरमे जैनधर्मके उपासक न रहे, तो भी बाहरसे पहुँचने वाले यात्रियोंके कारण राजगिरका महत्त्व बना ही रहा। हाँ, उत्तर बिहारके सम्बन्धमें बारहवी शताब्दिके पश्चात् रचे गये साहित्यमें प्रायः वर्णन नहीं आते।

कवि [4]अर्हद्दासने ( बारहवी शतीका अन्त और तेरहवीका प्रारम्भ ) अपने मुनिसुव्रत काव्यमे राजगिरकी जिस समृद्धिका चित्रण किया है, वह समृद्धि सातवी, आठवी शताब्दिके रूपका चित्रण करता है। यद्यपि कवि अर्हद्दास बिहारके रहनेवाले हैं, पर उनके द्वारा किया गया नगर ग्रामादिकका वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कविके इस वर्णनसे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँकी राजनैतिक स्थिति अशान्त थी तथा विभिन्न धर्मानुयायिओंके बीच सौहार्द समाप्त हो रहा था। श्रमण धर्मानुयायी मगधमे भी इधर-उधर बिखरने लगे थे, पर धर्मगुरुओंका आना-जाना अभी भी चालू था।

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, भाग ? किरण ? पृष्ठ ९७–१०४ ( जैनागम साहित्यमें यक्ष शीर्षक निबन्ध) तथा Yakshas—by A. k. Kumarswami Page 12, 22 तथा निशीथचूर्णि—उद्देश्य ११; बृहत्कल्पभाष्यसूत्रवृत्ति—भाग ४ पृष्ठ ६६७।

२. पद्मचरित-रविषेण-भारतीय ज्ञानपीठ काशी, खण्ड १ कथा उत्थानिका।

३. समराइच्चकहा—भावनगर संस्करण पृष्ठ १३०, २४३, ३७१, ६०५, ७३७, ७८१, ८४६, ९७१।

४. मुनिसुव्रतकाव्य, जैनसिद्धान्त भवन, आरा संस्करण, सर्ग १, श्लोक २३–५४

विविध तीर्थकल्प ( अनुमानतः तेरहवीं शतीका प्रथम पाद )में वैभारगिरि ( राजगिर ), मिथिला चम्पापुर और पाटलिपुत्रको विशिष्ट रूपमें जैन तीर्थभूमिकी श्रेणीमें मान्यता प्रदानकी गयी। इस ग्रन्थके संकलयिता जिनप्रभसूरिने मिथिलाका बहुत ही ज्वलन्त चित्रण किया है। यहाँके केलोंके वन, दही-चूड़ा, वन बगीचे आदि यथार्थ रूपमें वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखकने स्वयं मिथिलाका दर्शन करनेके पश्चात् ही मिथिलाका चित्रण किया है—

सिरिमल्लि-नमिजिणाणं पयकमं पणमिऊण सुरपणयं।
मिहिलामहापुरीए कप्पं जंपेमि लेसेण॥

इहेव भारहेवासे पुव्वदेसे विदेहानाम जणवओ, संपइकाले तीरहुत्तिदेसो त्ति भणइ। जत्थ पइगेह महुरमंजुल-फलभारोणयाणि कयलीवणाणि दीसंति। पहिया य चिविडयाणि दुद्धसिद्धाणि पायसं च भुंजंति पए पए वावीकूव-तलाय नईओ अ महुरोदगा, पागयजणा वि सक्कयभासविसारया अणेगसत्थपसत्थ अइ निउणा य जणा।[1]

उपर्युक्त साहित्यिक प्रकाशमें बिहारकी पुण्यभूमिका सम्बन्ध जैनधर्म और जैनदर्शनके साथ मध्यकालमें घनिष्ठ प्रतीत होता है। यहाँ मन्दिर और मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाओंके साथ मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग आदि दर्शनोंकी विस्तृत समीक्षाएँ अनेकान्तवादकी पृष्ठभूमिमें जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। वीर कविने जम्बूस्वामिचरित (अपभ्रंश)मे मगध देशकी स्थितिका विवेचन करते हुए धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितिका भी निर्देश किया है। निस्सन्देह मध्यकालमें बिहार-की भूमिने जैन लेखकोंको साहित्य प्रणयनके लिए प्रेरणा प्रदान की है :—

अत्थि एत्थु धण-कणय-समिद्धउ, मगहदेसु महियलि सुपसिद्धउ।
धम्माचार जुत्तु निद्दसणु, पंडवनाहु व भारहभूसणु।
विसयसारु वण्णिज्जइ हंसु व किं न तरुणियणमंडलफंसु व।

—सन्धि १, कड़वक ६, १८ तथा द्वितीय सन्धि।

इस प्रकार मध्यकालमें जैनधर्म और जैनदर्शनकी स्थिति ह्रीयमान होती हुई भी कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। पी० सी० रायचौधरीने अपनी 'Jainism in Bihar' पुस्तकमें लिखा है—

"Older shrines of the middle ages with numerous jain images, are also found but tney are no longer used for worship."—Page 94.

बिहारकी महत्ताके सम्बन्धमें इसी ग्रन्थकी भूमिकामें श्री प्रकाशजीने लिखा है—

Bihar has been the centre of our ancient history for centuries. It has been the birth place and has served as a stage for the activities of great heroes in every department of human endeavour-art, science, literature, philoshophy, religion, stetesmanship and war.'

—Introduction, Paga ii.

अतः संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि मध्यकालमें जैन-उपासकोंका विघटन आरम्भ होनेपर भी सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिसे इस प्रदेशका मूल्य-अतुलनीय है।

---

१. विविधतीर्थकल्प, प्रथम संस्करण, सिंघी सीरिज पृष्ठ ३२।

# जैन शतक साहित्य

अगरचन्द नाहटा, सिद्धान्ताचार्य, बीकानेर

●

## पृष्ठभूमि

जैन विद्वानों, लेखकों और कवियोंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओंके अतिरिक्त राजस्थानी, ब्रजभाषा, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल और तैलगु प्रभृति लोक-भाषाओंमें भी अगणित उच्चस्तरीय ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघुकाव्य, सुभाषित, स्तोत्र आदि पद्यबद्ध रचनाओंके साथ-साथ गद्यमें भी चरित, कथा, प्रबन्ध प्रभृति अनेक रचनाएँ निबद्ध की हैं। रसात्मक ललित साहित्यके अतिरिक्त जीवनपयोगी ऐसे सहस्रों ग्रन्थोंका सृजन जैन साहित्यकारों द्वारा हुआ है, जिनका महत्त्व और उपयोगिता जैनधर्मके सिद्धान्तोंको अवगत करने तक ही सीमित नहीं है। जीवनके विविध क्षेत्रोंके लिए लिखा गया उपयोगी साहित्य आवश्यकताओं और एषणाओंकी पूर्तिमें सहायक होनेपर भी जीवनको समुन्नत बनानेके क्षेत्रमें भी उपादेय है। वास्तवमें जैन लेखकोंने जीवनके विविध क्षेत्रोंका अध्ययन-अनुशीलन कर सर्वजनोपयोगी व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत प्रभृति विषयक ग्रन्थोंका प्रणयन कर मानव समाजको बहुमूल्य हीरक समर्पित किये हैं। आज जैन साहित्यके बृहद् इतिहासकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह इतिहास कई जिल्दोंमें पूर्ण होगा; क्योंकि अद्यावधि अधिकांश ग्रन्थराशि अमुद्रित और अप्रकाशित पड़ी हुई ग्रन्थागारोंकी आलमारियोंमें बन्द पड़ी है। इधर कई शोधकर्त्ताओंने विभिन्न भाषाओंमें निबद्ध जैन साहित्यके कतिपय पहलुओंपर शोधकार्य प्रस्तुत किये हैं, जिनसे जैन साहित्यकी महत्ता सामने आयी है।

संख्यावाचक साहित्य रचनेकी परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। साहित्यकार अपनी कृतिका नामकरण वर्णित विषय अथवा लिखित पद्य संख्याके आधारपर करता है। यों तो नामकरणके कई सिद्धान्त प्रचलित हैं, पर स्थूलरूपसे कृति-नामकरणके दो ही आधार हैं। जैन लेखकोंकी रचनाओंके नामकरण अष्टक, दशक, द्वादशी, त्रयोदशी, षोडशी, पच्चीसी, बीसी, इकत्तीसी, द्वात्रिंशिका, शतक आदि रूपमें पर्याप्त संख्यामें मिलते हैं। विधाकी दृष्टिसे इस नामकरणरूपमें लिखित साहित्यमें निम्नलिखित विशेषताएँ समाविष्ट रहती हैं—

१. वर्ण्य विषयको सीमित पद्योंमें निबद्ध करना।

२. एक विषयके साथ अन्य विषयोंके विवेचनको अनुस्यूत करना।

३. प्रबन्धात्मक सन्दर्भोंकी अपेक्षा सूक्ति-नीति या भक्तिकी प्रमुखताका रहना।

४. दृष्ट और उपज्ञात साहित्यका समन्वितरूपमें निरूपण करना।

५. जीवनकी दुर्बलताओं और उच्छृङ्खलताओंका दूर करनेके हेतु घटित धार्मिक या नैतिक संविधानका सीमित पद्योंमें निबद्ध करना और पाठकोंके समक्ष बिना किसी बन्धनके अनेक भावनाओंका प्रस्तुतीकरण।

६. प्रत्येक पद्यका स्वतन्त्र और अर्थकी दृष्टिसे अपनेमें पूर्ण रहना।

संस्कृत साहित्यमें कवि भर्तृहरि द्वारा विरचित नीति, वैराग्य और शृंगार शतक पाये जाते हैं। प्राकृतगाथा-सप्तशती भी प्राचीन रचना है। सांस्कृतिक या स्तोत्रात्मक साहित्यमें दुर्गासप्तशती प्रसिद्ध है। जैन कवियोंने भी प्रचुर रचनाएँ संख्यापरक लिखी हैं। ठाणांगमें वर्णित संख्याएँ तथा वहाँ पर उन संख्याओंके अनुसार विषयकथन संख्यामूलक साहित्यका पोषक है।

जैन लेखकों द्वारा लिखित संस्कृत भाषामें केवल शतकोंकी संख्या साठसे भी अधिक है। प्राकृत भाषामें भी दस-पन्द्रह शतक ग्रन्थ पाये जाते हैं। हिन्दी, राजस्थानी और कन्नड भाषामें रचित लगभग पचास शतक हैं। कन्नडके

जैन कवि रत्नाकरने[1] अपने शतकोंमें जिनेन्द्र भगवान्‌की सम्बोधनकर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा आदिके कारण होनेवाली जीवकी दुर्दशाका वर्णन करते हुए आत्मतत्त्वकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। अनादिकालीन राग-द्वेषोंके आधीन हो यह जीव उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहता है। जब इसे रत्नत्रयकी उपलब्धि हो जाती है, तो यह इस गम्भीर संसार समुद्रसे पार हो जाता है। कवि रत्नाकरके रत्नाकराधीश्वर शतक, अपराजित-शतक और त्रैलोक्येश्वर शतक ये तीन शतक प्रसिद्ध हैं। प्रथम शतकमें जिस प्रकार वैराग्य, नीति और आत्मतत्त्वका निरूपण किया है, उसी प्रकार द्वितीय शतकमें अध्यात्मतत्त्व, आत्मामें रहनेवाली विकारी और स्वाभाविक परिणतियोंका विश्लेषण किया गया है। त्रैलोक्य शतकमें त्रिलोकका आकार-प्रकार, लोककी लम्बाई-चौड़ाई और विस्तार आदि का कथन किया है। ये तीनों ही शतक काव्यकलाकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन मनीषियोंने पद्यके अतिरिक्त गद्यमें भी कतिपय शतकोंकी रचनाएँ की हैं। उदाहरणार्थ महोपाध्याय समय-सुन्दर और उमेदचन्द्रको लिया जा सकता है। महोपाध्यायजीने विचारशतक, विशेषशतक, विसंवादशतक और समाचारी-शतक इन चार शतक ग्रन्थोंकी रचना संस्कृत गद्यमें की है। उमेदचन्द्रका प्रश्नोत्तरशतक भी संस्कृत गद्यमें निबद्ध रचना है। इनकी शतक संज्ञा पद्यसूचक न होकर विषय या प्रश्नोत्तरसूचक है। 'शतपदी' नामक अंचलगच्छीय ग्रन्थद्वय भी इसी श्रेणीके हैं।

जैनसाहित्यमें एक अन्य प्रकारके शतक भी उपलब्ध हैं, जिनका नामकरण पद्य या विषय अथवा प्रश्नोत्तर संख्यापर आधारित नहीं है। यह संज्ञा अर्थोंकी सूचक है, अतः 'अर्थ संख्या'के आधारपर भी कतिपय शतकोंकी रचना सम्पन्न की गया है। इन शतकोंको 'शतार्थी' कहा गया है। 'शतार्थी' शतक भी जैन लेखकोंके अनेक उपलब्ध हैं, जिनमेंसे तीन-चार प्रकाशित हो चुके हैं।

इस निबन्धमें संस्कृत भाषामे रचित जैन कवियोंके शतकोंका परिचय अकारादि क्रमसे दिया जा रहा है। आज संख्या-सूचक साहित्य-विधा भी लोकप्रिय विधा है, इसमें प्रतिपादित विचार और भाव प्रबन्ध-साहित्यमें प्रतिपादित भाव और विचारोंसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

१. **अन्योक्ति शतकम्**—विषय नामसे स्पष्ट है। इसकी रचना दर्शनविजयने की है। हीरालाल हंसराजने सं० १९९४ में इसे प्रकाशित भी कर दिया है। अपने विषय और ढंगकी यह उल्लेखनीय जैन कृति है।

२. **आचरणा शतक**—बृहत् टिप्पणिकामें उल्लेखित (दि० जैन ग्रन्थावली पृ० १५८।)

३. **आभाण शतकम्**—यह भी अपने ढंगकी एक ही जैन रचना है जिसमें आभाणक अर्थात् कहावतोंका संग्रह व प्रयोग किया गया है। इसके रचियता हैं तपा० कल्याणविजयशिष्य धनविजय। आगमोदय समिति, सूरतसे सं० १९८३ में प्रकाशित ईर्यापथिकी षटत्रिंशिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। १०८ श्लोकोंका यह शतक सं० १६९९ के पौष मासमें राजनगर के निकटवर्ती उष्मापुरमें रचा गया।

४. **उपदेश शतकम्**—इसकी रचना संवत् १७९३ में तपागच्छीय विजयविमलने की। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण एवं केसरविजय भण्डार, बढ़वाणामें होनेका उल्लेख 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' पृष्ठ ६५९ एवं जैन ग्रन्थावली २०८ में पाया जाता है।

५. **उपदेश शतक**—स्थानकवासी मुनि घासीलालजीने १०१ श्लोकोंका ४ स्तवकका यह काव्य बनाया है जो हिन्दी अनुवाद सहित बीकानेरके मेरुदास जेठमल सेठियाने सं० १९८७ में प्रकाशित किया है।

६. **उपदेश शतक**—जेसलमेर भण्डारमें इसकी प्रति है। इसे धर्मोपदेश या जिनोपदेश शतक भी बतलाया गया है।

७. **उपदेश शती**—१०२ श्लोकोंकी इस रचनाकी १६ वीं शताब्दीकी लिखित प्रति हमारे संग्रहमें है। प्रथम श्लोकमें चन्द्रपुत्र गुरुको नमस्कार किया है और रचनाका दूसरा नाम सूक्तमुक्तावली भी बतलाया है। अन्तिम पद्यमें कविका नाम स्पष्ट नहीं है। पर यह चन्द्रपुत्रका शिष्य ही होगा। आदि और अन्तके एक-एक पद्य नीचे दिये जा रहे हैं :—

आदि— प्रणिधाय महाधारं नत्वा चन्द्रप्रभं गुरुं।
उपदेशशतीं वक्ष्ये, सूक्तमुक्तावलीमिमां ॥ १ ॥

---

१. सन् १५५७ ई० में कवि वर्णीने कन्नडके शतकत्रयकी रचना की है। इनके प्रत्येक शतकमें १२८ पद्य हैं, जो सामान्यतः शतक कहे गये हैं।

अन्त— इत्थं स्वयोपदेशाम, स्व शती कलित बीरसुरीम बीरसुरीम ।
मुधाद भूरिबुधै बुधपा, वाच्यमानापि चित्रकृत ॥ १०२ ॥

८. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहासके पृष्ठ ४३१ मे मेरुतुंग रचित महापुरुष चरित्रका अपर नाम भी उपदेसशती लिखा है। जैन ग्रन्थावली पृष्ठ २०८ मे इसका नाम उपदेशशतक छपा है।

९. ऋषभ शतक—इसकी रचना तपागच्छीय कवि हेमविजयने सं० १६५६ खम्भातमें की है और इसका संशोधन लाभविजय गणिने किया। जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहासके पृष्ठ ५८५ मे इसका उल्लेख मिलता है।

१०. कालविचार शतक—जैन ग्रंथावली पृष्ठ २०८ इसका उद्दृणि है।

११. कुमारविहारशतक—सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरिके शिष्य रामचन्द्र सूरिने महाराजा कुमारपालसे बनवाये हुए कुमारविहारनामक मंदिरकी प्रशस्तिके रूपमे इसकी रचना की है। आत्मानंद सभा, भावनगरसे यह प्रकाशित हो चुका है।

१२. छन्द शतक—हर्ष कीर्ति सूरि रचित इस ग्रन्थकी प्रति दिगम्बर जैन शास्त्र भण्डारकी सूची ४ के पृ० ३०९ में पाया जाता है।

१३. जिन शतक—सुप्रसिद्ध समन्तभद्राचार्य रचित ११६ श्लोकोका यह शतक नरसिंहभट्ट रचित संस्कृत टीका और पं० लालाराम रचित भाषानुवाद सहित सन् १९१२ मे पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा काशीसे प्रकाशित हो चुका है। इसका अपर नाम स्तुति विद्या भी है। इसके कुछ पद्य चित्र काव्यके रूपमें बनाये गये है। जैन चित्र काव्योमें सम्भवतः यह पहली रचना है। इसका नया संस्करण श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यके अनुवाद और पं० जुगलकिशोर मख्तारकी प्रस्तावना सहित वीरसेवामन्दिर दिल्लीसे प्रकाशित हुआ है।

१४. जिन शतक—जम्बू रचित यह शतक कवि दयाशंकर रविशंकरके अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। निर्णयसागर प्रेमसे सन् १९१४ मे छपा एवं जैन शाला, खम्भातसे प्रकाशित हुआ है। काव्यमाला भाग ७ मे भी यह सन् १९०७ मे छप चुका है। यह ४ परिच्छेदोमें विभक्त है। इस पर शान रचित संस्कृत वृत्ति भी उपलब्ध है।

१५. ज्ञान शतक—पं० हीरालाल हंसराज रचित (प्रति० पाटण भण्डार)

१६. तपोटर्पिमतकुट्टना शतक—र० जिनप्रभ सूरि, प्रति जैसलमेर भण्डार

१७. दृष्टान्त शतक—मलधारी नरेन्द्रपुत्रसूरि रचित १२१ श्लोकोंका यह शतक अवचूरि सहित भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूनामे है। इसकी ८ पत्रोकी प्रति १५वी शताब्दीकी लिखी हुई पंचपाठ शैलीमे है। प्रतिलिपि हमारे संग्रहमे है।

१८ दृष्टान्त शतक—लोकागच्छीय केशवजीके शिष्य तेजसिंहने इसकी रचना संवत् १७९८ के आस-पास की है। यह रचना बहुत लोकप्रिय हुई फलतः इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके है। विजय भूपेन्द्र सूरिने संवत् १९८३ थरादमें इसकी संस्कृत टीका बनाई। जो कि पत्राकार स० १९८८ भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य समिति आहोरसे प्रकाशित हो चुकी है। गुजराती अनुवाद सहित सरस्वती भण्डार, अहमदाबादमें छपा है। हिन्दी विवरण सहित श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलियासे सं० २०१२ मे छपा है।

१९. अज्ञातकर्तृक दृष्टांत शतक—एक और भी मिलता है। उ० जैन ग्रन्थावली।

२०. देशना शतक—कच्छके आठ कोटि सम्प्रदायके मुनि रत्नचन्द्रजीने प्राकृत गाथाओकी संस्कृत छायाके रूपमे संकलित करके गुजराती अनुवादके साथ सं० १९९४ मे प्रकाशित करवाया। वास्तवमे प्राकृत ग्रन्थमें ८८ गाथाओकी उन्हे कोई रचना मिली थी जिसमे कुछ पद्य बढाकर १०२ पद्य बना दिये। और साथ ही संस्कृतमे उन गाथाओंकी छाया भी बना दी। डा० मोहनलाल सुन्दरजी देशाई वे गड़लीसा कच्छ द्वारा यह प्रकाशित हुआ है।

२१-२२-२३. धनशतकत्रय—१५ वी शताब्दीके माण्डवगढके खरतरगच्छीय मंत्रीमंडलके भ्राता धनदराजने शतकत्रयकी रचना की, जिसमेसे यह यह नीति धनदम १०३ पद्योंका है वह शतक सं० १४९० के बैशाख सुदिमें मण्डप दुर्गमे रचा गया है। काव्यमालाके १३वी गुच्छकमे तीनो शतक छप चुके है।

२४. नीति दीपक शतक—लिंबडी सम्प्रदायके कान्हजी स्वामीने सोम प्रभाचार्यके सिन्दूरप्रकरणका सहारा लेकर इस शतककी रचना की है। १००१ श्लोकोंका यह शतक हिन्दी अनुवाद सहित भैरुदान जेठमल सेठिया बीकानेरसे सं० १९८२ में छप चुका है।

२५. नेमिशतक—उ० जैन ग्रन्थावली, प्रति पाटण भण्डारमे है।

२६. पूर्व विज्ञप्ति शतक—अ० जैन ग्रन्थावली पृष्ठ २०९।

२७. प्रतिमा शतक—श्लोक १०४ उपाध्याय यशोविजयने इसकी रचना सोपाय टीका एवं भावप्रभसूरिकी लघुकृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

२८. प्रश्न शतक—सं० १३२४ कच्छप्रहगच्छके नरचन्द्र उपाध्यायने ज्योतिष विषयक इस ग्रन्थकी रचना की है।

२९. प्रश्न शतक—जैसलमेर भण्डार सूचीमें एक प्रश्नशतकका उल्लेख है। रचयिताका नाम नहीं दिया गया है। पाटण भण्डारकी प्रतिमें जिनवल्लभसूरिका नाम दिया गया है।

३०. भाव शतक—महोपाध्याय समयसुन्दरजीने संवत् १६४१ में इसकी रचना १०१में श्लोकोंमें की है। अवचूरी सहित इसका श्लोक परिमाण ४५० श्लोकोंका है। समय सुन्दरजीकी यह सर्वप्रथम और महत्वकी रचना है। इसमें गूढार्थ है। प्रतिलिपि हमारे संग्रहमें है।

३१. भाव शतक—तपागच्छीय कवि हेमविजयने १०३ श्लोकोंमें इसकी रचना की। भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीयूट, पूनामें ८ पत्रोंकी इसकी प्रति है। प्रतिलिपि हमारे संग्रहमें है। हेमविजय कमलविजयके शिष्य थे और १७वीं शताब्दीमें हुए।

३२. भावना शतक—स्थानकवासी शतावधानी मुनि रतनचन्दजीने १२ भावनाओंके सम्बन्धमें इसकी रचना की है। गुजराती विस्तृत विवेचनके साथ यह ग्रन्थ बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है। सं० १९६२ की दीवालीको बम्बईके निकटवर्ती थानगढ़मे इसकी रचना हुई है। मूलमें १२ भावना सम्बन्धी १०० श्लोक पूर्ण होनेके बाद परिशिष्टमें ४ भावनाओंके ४ अष्टक और दे दिये गये हैं। इस ग्रन्थका प्रचार भी अच्छा हुआ। ४ वर्षोंमें ३ आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं।

३३. भावना शतक—एक प्राचीन भी मिलता है। उल्लेख जैन ग्रथावली पृ० २१०।

३४ भावार्थ शतक—उल्लेख जैन ग्रन्थावली पृ० २१०

३५. विद्वत् शतक—उल्लेख जैन ग्रन्थावली पृ० २१०

३६. विनेयहित शतक—( वृत्तिसह )—उल्लेख जैन ग्रन्थावली पृ० २१०

३७. वीतरागशतक— ,, ,, ,,

३८. व्याख्यानविधिशतक— ,, ,, ,,

३९. वैराग्य शतक—इन्द्रनन्दीसूरि रचित इस शतककी संवत् १५६० की लिखी हुई तीन पत्रोंकी एक मात्र प्रति हमारे संग्रहमें है।

४० वैराग्य शतक—स्थानकवासी मुनि उमेदचन्दजीके शिष्य विनयचन्दजीने इसकी रचना की। इसका प्रथम भाग विस्तृत विवेचनके साथ दिल्लीसे प्रकाशित हुआ है।

४१. वैराग्य शतक—पद्मानन्द कवि रचित १०३२ श्लोकोंका यह शतक "काव्यमाला" भाग ७ मे छप चुका है। पद्मानन्द श्रेष्ठि धनदवका पुत्र था जिसने नागौरमें जिनवल्लभसूरिके उपदेशसे नेमिनाथ मंदिर बनाया था।

सिक्तः श्री जिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतैः।
श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः।
श्रेष्ठीश्रीधनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्याङ्गजः।
पद्मानन्दशतं (इति) व्यधत्त सुधियामानन्दसंपत्तये ॥१०२॥

देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्डसे प्रकाशित सटीक वैराग्य शतकादि ग्रंथ पंचकम्मे भी यह पुनः पत्राकार रूपमें सं १९९७ में छप चुका है।

४२. श्रृंगार शतक—श्लोक १२१—जिनवल्लभसूरि ( १२ वीं शती ) प्रति इन्दौर खरतर गच्छीय भण्डारमें है।

४३. संदेह शतक—उल्लेख जैन ग्रन्थावली पृ० २११।

४४. संवाद शतक—उल्लेख ,, पृष्ठ २११।

४५. संवेग शतक—,, ,, पृष्ट २१०।

४६. सद्भाव शतक—यह भी भावशतक और ऋषभशतकके रचियता हेमविजयकी रचना है। इसका उल्लेख जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहासके पृ० ५८५ में पाया जाता है।

४७. समाधि शतक—सुप्रसिद्ध पूज्यपाद रचित समाधितन्त्रका यह दूसरा नाम है। हिन्दी और गुजराती अनुवाद सहित यह प्रकाशित हो चुका है।

४८. **समाधि शतक**—जैसलमेर भण्डार सूची पृ० २६६ मे इसका कर्ता सोमसेन सूरि लिखा है।

४९. **साधु गुण शतक**—उल्लेख जैन ग्रन्थावली पृ० २११।

५०. **साम्य शतक**—अभयसिंह सूरि शि० रचित ताडपत्रीय प्रति पाटण भण्डार (१३०३ लि० प्रति)

मुनि पुण्यविजयजी संपादित पाटण, भण्डार सूचीमे, कर्ता अभयदेवशिष्य विजयसिंह एवं श्लोक ८३ होनेका उल्लेख है। कागजकी प्रति है।

५१. **सिद्धान्त शतक**—लोकागच्छीय तेजसिंहने सवत् १७९८ मे इसकी रचना की।

५२. **सुबोध रत्न शतक**—माणिक्य मुनिने इसकी रचना की है।

५३. **सोम शतक**—सुप्रसिद्ध सोमप्रभसूरिके 'सिन्दूर प्रकरणका यह अपर नाम है। इन ५३मे ५-७ संदिग्धसे लगते है। प्रतियां देखकर निर्णय करना है। इनके अतिरिक्त भी बहुतसे शतक काव्य उपलब्ध एवं प्रकाशित है।*

शतक काव्योका एक सग्रह ग्रथ प्रकाशित होना चाहिये। फुटकर रचनाये प्राप्त करके अध्ययन करनेमे बडी असुविधा होती है। जैन शतक साहित्य विशाल एव विविध पूर्ण है। उसका भी मूल्याकन तो दूरकी बात, पर पूरी खोज भी नही हो पाई। अत खोज एव प्रकाशनकी प्रेरणा देनेके लिये ही यह लेख लिखा गया है।

*सं० १९८२ में प्रकाशित मुद्रित जैन श्वेताम्बरादि ग्रन्थ नामावलि नामक ग्रन्थमें मुद्रित शतकोंके कई और भी नाम हैं पर वे किस भाषाके है, इसका उल्लेख नहीं किया गया, देखकर निर्णय करनेके लिए अभी उनके नाम इस लेखमें सम्मिलित नहीं किये गये हैं।

# राजस्थानके जैन ग्रन्थागारोंमें संग्रहीत सचित्र एवं कलात्मक पाण्डुलिपियाँ

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

## उत्थानिका

राजस्थानके जैन ग्रंथ संग्रहालय देशकी अमूल्य निधि हैं। इसमें साहित्य एवं कलाके अमूल्य रत्न छिपे हुए हैं। अभीतक बहुत कम विद्वानोंने इसके मूल्यको परखा एवं जाना है। इसलिये इन भण्डारोंमें संगृहीत साहित्यका अभीतक सही मूल्यांकन नहीं हो सका है। और यही कारण है कि साहित्यके किसी भी क्षेत्रमें इनका उल्लेख नहीं मिलता। इन संग्रहालयोंमें जैनाचार्यों, मुनियों एवं लेखकोंकी कृतियाँ तो उपलब्ध होती ही हैं किन्तु जैनेतर विद्वानों द्वारा निबद्ध साहित्य भी प्रचुर संख्यामें मिलता है। काव्य, चरित, कथा, पुराण, रास, फागु, वेलि, बारहमासा, गीत आदिके रूपमें जैन विद्वानोंने भारतीय साहित्यकी महती सेवा की है। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी राजस्थानी भाषामें अपार साहित्य लिखकर उनके प्रचार एवं प्रसारमें अपना अपूर्व योग दिया है। साहित्यिक विषयोंके समान उन्होंने भारतीय चित्रकलाकी श्रीवृद्धिकी ओर भी अपना यथेष्ट ध्यान दिया और कितनी ही पाण्डुलिपियोंमें चित्रकलाके उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत किये। इन्होंने चित्रकला क्षेत्रमें भी संयमका पालन किया और ऐसे चित्रोंको कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जिससे समाज एवं देशमें अनैतिकता फैलती हो। इसीलिये उन्होंने ग्रन्थोंकी कथावस्तुके आधारपर ही इस क्षेत्रमें प्रवेश किया और उसीमें भारतीय कलाकी विभिन्न शैलियोंके चित्र प्रस्तुत किये।

राजस्थानके इन जैन संग्रहालयोंमें ताडपत्र, कागज, एवं कपडा इन तीनोंपर ही पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती हैं। किसी किसी ग्रन्थागारमें काष्ठ पट्टपर भी चित्र मिलते हैं, लेकिन उनकी संख्या अधिक नहीं है। ताडपत्रीय सचित्र प्रतियाँ राजस्थानके केवल जैसलमेरके ग्रन्थ भण्डारोंमें मिली हैं, जिनका विस्तृत परिचय मुनि पुण्यविजयजीने 'जैसलमेरनी चित्र समृद्धि' पुस्तकमें दिया है। कागजपर सचित्र प्रतियाँ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही भण्डारोंमें पर्याप्त संख्यामें मिलती हैं। श्वेताम्बर भण्डारोंमें कल्पसूत्रकी अधिक संख्यामें सचित्र प्रतियाँ मिली हैं, जिनका विस्तृत परिचय पुस्तक रूपमें प्रकाशित भी हो चुका है। लेकिन दिगम्बर भण्डारोंमें उपलब्ध सचित्र पाण्डुलिपियोंपर अभी बहुत कम प्रकाश डाला गया है। तथा संभवतः पुस्तकाकार रूपमें अभी कोई रचना सामने नही आयी है, इसलिये प्रस्तुत लेखमें ऐसी ही कुछ सचित्र पाण्डुलिपियोंपर प्रकाश डाला जा रहा है।

## महावीर भवन ग्रन्थागार

महावीर भवन जयपुरके संग्रहालयमें महाकवि पुष्पदन्त द्वारा विरचित आदिपुराणकी एक प्राचीन पाण्डुलिपि है जिसका लेखनकाल संवत् १४९१ है। इस ग्रन्थके १४ वें पत्रपर सोलह स्वप्नोंका १०'×२॥' आकारका एक चित्र है। ये सोलह स्वप्न वे ही हैं जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी माता मरुदेवीका उनके गर्भमें आनेपर आये थे और जिसके आधारसे एक महापुरुषके जन्म होनेको पहिले ही सूचना मिल गयी थी। चित्रका रंग अच्छा है। ५५० वर्ष पहिलेका चित्र होनेपर भी उसके रंग-विन्यासमें कोई अधिक अन्तर नही आया है। इस प्रतिमें चित्रोंके लिये और भी स्थान छूटे हुये है लेकिन संभवतः उन्हें लिपि करानेवालेके द्वारा कभी पूरा नही कराया जा सका।

महाकवि पुष्पदन्त ( १० वीं शताब्दी ) के आदिपुराणकी एक सचित्र प्रति जयपुरके ही दि० जैन तेरह पंथी बडा मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें संग्रहीत है। प्रस्तुत पाण्डुलिपिमें ११½"×५" आकारके ३४४ पत्र हैं। लेखन काल संवत् १५९७ ( सन् १५४० ) फागुन सुदी १३ है। यह प्रति देहलीमें चौधरी राइमल्लके द्वारा लिखवायी गयी थी।

चित्रकार थे श्री हरिनाथ कायस्थ एवं इनका परिवार। उस समय देहली पर बादशाह साहि आलमका शासन था। ग्रंथके अन्तमें लिपिकारने एक विस्तृत प्रशस्ति लिखी है।

प्रस्तुत पाण्डुलिपिमें ५०० से भी अधिक चित्र है। चित्र सभी आकारके है। कितने ही चित्र पूरे पृष्ठके हैं तथा कितने ही पृष्ठके एक भागपर चित्रित है। चित्रोकी भूमि लाल रंगकी है तथा उसपर श्वेत, नीले, पीले, हरे एवं चमेली जैसे रंगोमें चित्र तैयार किये गये है। डा० मोतीचन्दके शब्दोंमें इन चित्रोपर मानवीय आकृतियोके चित्रणमें पश्चात् कलाका प्रभाव भी स्पष्ट दिखलाई पडता है। चित्र बडे सुन्दर एवं आकर्षक है तथा उनका कथाप्रवाहपर अच्छा प्रभाव पडता है। कथाका पूरा परिचय इन चित्रोके आधारपर खडा किया जा सकता है। उनकी चित्रकला कोणयुक्त है तथा उसमे धनुषके समान आँखे, नोकदार नाक, उभरी हुई छाती, पतली कमर तथा कानों तक फैली हुई आँखोंकी नोंक है। पुरुष एवं स्त्री दोनोकी पोशाक साधारण हैं तथा उसमे अल्प ही विविधता है। महिलाओकी वेशभूषामे चोली, चैक वाली साडी स्कर्ट एवं चद्दर है। इनके आभूषणोमे मानव हृदयके आकार वाला मुकुट, गोल ईयरिंग, ऐठे हुये तारकी चूडियाँ, चूडामणि, नैकलेस तथा ललाटपर गोल तिलक देखनेको मिलेगा। पुरुषोकी वेशभूषामे पगडी, दुपट्टा, चौखानेकी धोती आदि मुख्य वस्त्र है।

आदिपुराणकी यह एक विशाल चित्रित प्रति है। इसमे लडाईके, सेनाके साज-सज्जाके, युद्धके समय नदी पार करनेके कितने ही चित्र है। सैनिक अपनी पूरी लडाईकी ड्रेसमे दिखलाई पडते है तथा वे घोडे, हाथी, रथमें सवार है अथवा पदाति है। राज दरवार, पुत्र जन्म, विवाह एवं मुनिदीक्षा, तपस्यामें लीन रहते हुये तथा अहार लेते हुयेके कितने ही चित्र है। भरतकी विजय यात्रा तथा भरत बाहुबलि द्वन्द्व युद्धके भी चित्र दर्शनीय है। इस पाण्डुलिपिके प्रथम चित्रमें महाकवि पुष्पदंत सरस्वतीका आराधना करते हुये दिखलाये गये है।

इस प्रकार प्रस्तुत पाण्डुलिपिको चित्रकलाके साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। इसके अध्ययनसे १५ वी एवं १६ वी शताब्दियोमे पश्चात् चित्रकलाके प्रभावसे भारतीय चित्रकलामें जो परिवर्तन हुये वे भी इन चित्रोमे स्पष्ट देखे जा सकते है।

आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराणकी एकमात्र सचित्र पाण्डुलिपि जयपुरके बडे मंदिरके शास्त्र भण्डारमें संग्रहीत है। यह प्रति सवत् १६५० मे समाप्त हुई थी और इसके पश्चात् ही इसपर चित्र बनने लगे थे। कही-कही चित्रोंके लिए स्थान छोडा हुआ है लेकिन या तो श्रावक अथवा चित्रकार की मृत्युके कारण वे पूरे नही हो पाये। फिर भी इसमे २०० से अधिक चित्र हैं कुछ ऐसा चित्र है जिसमे रंग नही भरा जा सका। चित्रोपर राजस्थानी शैलीका अधिक प्रभाव है और उसीके समान उनकी वेश भूषा है। दोनो आदि पुराणोके चित्रोमे काफी अन्तर है और ऐसा लगता है कि चित्रित ग्रंथ आमेर अथवा सागानेरमे ही तैयार किया गया हो। उस समय आमेर दरबारमें जो मुगल वेशभूषा थी उसीका प्रभाव इसमे प्रदर्शित किया गया है।

आदिपुराणके अतिरिक्त दि० जैन भण्डारोमें जिन सचित्र पाण्डुलिपियोकी सबसे अधिक संख्या है वह है यशोधर चरित। महाराजा यशोधरके जीवनपर आधारित इस काव्यका समाजमें एक समय सर्वाधिक प्रचार रहा है इसलिये इसकी सचित्र प्रतियाँ भी अधिक संख्यामें उपलब्ध होती है। इस ग्रंथका सचित्र पाण्डुलिपिया जयपुर, मौजमाबाद एवं नागौरके शास्त्रभण्डारोमें उपलब्ध हुई है। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

## मौजमाबाद ग्रन्थागार

मौजमाबादके शास्त्र भण्डारमे लेखकने यशोधर चरित्रकी एक समय तीन सचित्र प्रतियाँ देखी थी, लेकिन कुछ समय बाद जब पुन. उन प्रतियोंको देखनेका अवसर प्राप्त हुआ तो उस दो ही देखनेको मिली। उनममे एक प्रति महाकवि पुष्पदन्त द्वारा रचित जसहरचरिउकी है। तथा दूसरी महाकवि रइधूकृत जसहरचरिउकी है। पुष्पदन्त विरचित जसहरचरिउकी प्रति प्राचीन है, तथा वह संवत १६८३ जेष्ठ शुक्लके दिन आमेरमें नेमिनाथ चैत्यालयमे लिखी गयी थी। प्रतिका अन्तिम पत्र कही इधर-उधर होनेके कारण प्रतिलिपि करवानेवाले तथा चित्रकारका परिचय प्राप्त नही हो सका है। इस प्रतिमें सब मिलाकर ७१ चित्र हैं जो सभी आकारके है।

सभी चित्र राजस्थान शैलीके विशेषत. आमेरशैलीके है। स्त्रियोके वस्त्रोमें बदनपर चोली, कमरमे लहँगा तथा सिरपर रंगीन ओढनी है। उस समय लम्बी चोटी रखनेकी प्रथा थी। हाथोमे चूडियोंके अतिरिक्त एक लटकता हुआ आभूषण भी है। स्तनोसे निचला भाग प्राय: खुला है। ललाटपर टीका सा है। वस्त्र झीने कम एवं मोटे अधिक है। स्त्री एवं पुरुष दोनोके कानोमे कुण्डल है। नाक नोकदार है। पुरुषोका बदन नग्न है उसपर रंगीन दुपट्टा पडा हुआ

है। स्त्रियोंके समान पुरुषोंके भी गलेमें हार है। धोती पहिने हुये हैं लेकिन वह चुस्त एवं पजामेनुमा है। सभी चित्र अच्छे हैं। चित्रोंकी भूमि लाल रंगकी है और फिर उसपर विविध रंगका उपयोग किया गया है।

मौजमाबादके शास्त्र भण्डारमें ही जैसा कि ऊपर कहा गया है एक और सचित्र प्रति है। यह महापण्डित रइधूकी कृति है जो १५ वीं शताब्दीके अपभ्रंशके उत्कृष्ट विद्वान थे। प्रस्तुत प्रतिमें ७२ पत्र हैं। अन्तिम पत्र उपलब्ध नहीं होनेसे प्रतिके लेखन कालका निश्चित पता नहीं लग सका है लेकिन प्रति प्राचीन है और वह १६ वीं शताब्दी से बादकी नहीं है। इसमे सब मिलाकर ४० चित्र है लेकिन छोटे हों या बड़े एक पत्र पर एक ही चित्र है।

प्रस्तुत पाण्डुलिपिमें चित्रोंकी शैलीको हम अपभ्रंशकी शैली कह सकते हैं। स्त्रियोंकी वेशभूषामें चोली और लहंगा है। हाथोंमें कंगन तथा पैरोंमें कड़े है। बालोंका जूड़ा बना हुआ। आँखें बहुत छोटी बतलायी गयी हैं। इसी तरह पुरुष केवल एक धोती तथा सिरपर टोपीसी लगाये हुए है। वैसे चित्र प्राचीन हैं लेकिन उनमे उतनी सजीवता एवं कलात्मकता नहीं दिखाई देती। फिर भी चित्र अच्छे हैं। और १६वीं शताब्दीमे देशमें चित्रकला किस स्टेजपर थी यह उनसे अच्छी तरह जाना जा सकता है।

यशोधर चरितकी तीसरी पाण्डुलिपि जयपुरके पं० लूणकरणजी पांड्याके शास्त्रभण्डारमें है। यह भट्टारक सकलकीर्त्ति विरचित है जो १५ वीं शताब्दीके भट्टारक विद्वान् थे। पाण्डुलिपिका लेखन काल संवत् १७८८ है। चित्रोंकी कलम बहुत बारीक है। इस प्रतिमें उतने अधिक चित्र नहीं हैं जितने मोजमाबाद वाली प्रतियोंमें हैं फिर भी इसमें ३० चित्र हैं। कुछ चित्र पृष्ठोंके पूरे आकारके है। रंग एवं कलम दोनों ही अच्छे हैं। चित्रों की तैयारी जयपुर में ही हुई थी। इसलिये नवीन होने पर भी चित्रकलाकी दृष्टिसे अधिक अच्छे हैं।

यशोधर चरित्रकी चौथी प्रति जयपुरके पार्श्वनाथ मंदिरके शास्त्रभण्डारकी है। इसमें ५५ पत्र हैं तथा पत्रोंका आकार १२ × ५॥ है। यह प्रति नवीन है तथा २०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हैं।

प्रथम चित्रमें स्वयं भ० सकलकीर्त्ति भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार करते हुये दिखलाये गये हैं। सकलकीर्ति मुनि अवस्थामे हैं। शरीरसे सुडौल, सुन्दर और स्वस्थ हैं। सामनेसे सिरके बाल उठे हुये हैं। दाहिने हाथकी बांहोंमें पिच्छी लटक रही है तथा पास ही कमण्डलु रखा हुआ है।

चित्र राजस्थानी कलाके हैं। स्त्रियाँ अत्यधिक झीने वस्त्र पहिने हुये है। हाथोंमें १०-१० चूड़ियाँ हैं। कानोंमें कुण्डल, नाकमे नथ तथा ललाट पर टीका है। वेणी लटकी हुई न होकर डण्डेके समान बंधी हुई है। गलेमें सोने एवं हीरे पन्नेके हार पड़े हुये हैं। लहंगा और ओढनी उनका मुख्य वस्त्र है। पुरुषोंकी पोशाकमें जयपुरी पोशाक है। अंगरखी, पगडी, चूडीदार पाजामा, कानोंमें कुण्डल, हाथोंमें कड़े तथा गलेमें माला है। उनके कपड़े रंग विरंगे है उस समय तक भारतमें कितने ही तरहके कपड़े बनने लगे थे। सैनिकोके अस्त्र शस्त्रोंमें ढाल, तलवार एवं एक हाथमें डण्डा है। लेकिन प्रारम्भके पृष्ठोंके चित्रोंमें जो आकर्षण हैं वह आगेके पृष्ठोंके कुछ चित्रोंमे नहीं है इसका मुख्यकारण रंगकी ताजगी है। चित्रोंकी भूमि लालरंगकी न होकर काले एवं गेरुमें दी है। कहीं-कहीं नीले रंगकी भी भूमि बतलायी गयी है।

## राजस्थानके अन्य ग्रन्थागार

यशोधर चरितकी एक और प्रति लेखकने नागौर गादीके वर्तमान भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्त्तिजीके पास देखी थी। यह पाण्डुलिपि भी चित्रकलाकी दृष्टिसे अच्छा है। चित्र राजस्थानी शैलीके हैं तथा उनका रंग एवं कलम दोनों ही अच्छे हैं।

जयपुरके दि० जैनमन्दिर तेरहपंथी बडाके शास्त्र-भण्डारमें भक्तामरस्तोत्रकी एक सचित्र पाण्डुलिपि है। इसमें ४८ पद्योंमें ४८ चित्र हैं। सभी चित्र श्लोकोंमें निबद्ध उसके भावों पर आधारित हैं। प्रत्येक चित्रमें श्री मानतुंगाचार्य स्तवन करते हुए बतलाये है। वे युवा एवं चमकते हुये व्यक्तित्ववाले हैं। चित्रमें प्रयुक्त विविध रंग अच्छे एवं कलापूर्ण है। प्रति १८वीं शताब्दीकी है। सारा स्तोत्र सचित्र ही प्रकाशित होने योग्य है। यह पाण्डुलिपि संवत् १८८३ की लिखी हुई है।

भक्तामर स्तोत्रकी ही एक सचित्र प्रति भरतपुरके शास्त्रभण्डारमे है। यह प्रति जयपुरवाली प्रतिसे २३ वर्ष पूर्व लिखी हुई है। इसमें चित्रोंकी वही शैली परम्परा एवं रंग आदि है जो जयपुरवाली प्रतिमें है। लेकिन इसके चित्रोंका रंग न इतना गहरा है और न सजीव है फिर भी सभी चित्र अच्छे है तथा कलाकारने खूब परिश्रम किया है। ऐसा मालूम होता है कि पहिले भरतपुरवाली प्रति तैयार की गई और उसके पश्चात् उसके आधारपर जयपुरवाली पाण्डुलिपि तैयार की गई।

अभी कुछ वर्ष ही पूर्व लेखकको बूंदी निवासी श्री केशरीमलजी गंगवालके पास सचित्र गुटका देखनेको मिला था। गुटकाका लेखनकाल संवत् १८४६ है। इसमें संस्कृत एवं हिन्दीकी छोटी बड़ी रचनाओंका संग्रह है। सचित्र कृतियोका नाम निम्न प्रकार है :—

१. पञ्च कल्याणक—चित्र संख्या ६०
२. दशलक्षण जयमाल— ,, १६
३. न्हवण पूजा— ,, १२
४. आदिपुराण कथा ( भाउ विरचित ) ,, २० लेखन काल सं० १८२०।

सभी चित्र कलाकी दृष्टिसे अच्छे एवं आकर्षक है। बूंदी शैलीके ये चित्र राजस्थानी शैलीके अन्तर्गत है। इन चित्रोंमे सामाजिक रीति-रिवाजोंके भी चित्र है। जिससे तत्कालीन सामाजिक रिवाजोंका पता लगता है। सभी सचित्र ग्रंथ प्रकाशित होने योग्य है।

उक्त सचित्र ग्रंथोंके अतिरिक्त राजस्थानके दि० जैन भण्डारोंमे और भी सचित्र पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती है। इनमें डूंगरपुर, अजमेर एवं बसवाके शास्त्रभण्डारोंके कुछ ग्रन्थ उल्लेखनीय है। बसवाके शास्त्रभण्डारमें सचित्र एवं स्वर्णाक्षरोंमे लिखी हुई कल्पसूत्रकी प्रतियाँ बहुत ही कलापूर्ण एवं वर्णनीय है।

काष्ठपट्टियोपर भी इन भण्डारोंमे कलात्मक चित्र मिले है। जयपुरके दि० जैनमन्दिर ठोलियोंके शास्त्र-भण्डारमें एक लकडीके पुट्ठे पर २४ तीर्थकरोंके रंगीन चित्र है। चित्रोंकी वेशभूषा, भाव, एवं आकृति सभी कलापूर्ण हैं और उनमें तत्कालीन कलाकारोंके कलाज्ञानका अच्छी तरहसे पता चलता है। इसी तरह अन्य भण्डारोंमें भी अनेक कलात्मक सामग्री संग्रहीत है लेकिन शास्त्रभण्डारोंके व्यवस्थापकोंको इस ओर उदासीनताके कारण उनपर विद्वानों द्वारा अच्छी तरह प्रकाश नही डाला जा सका है।
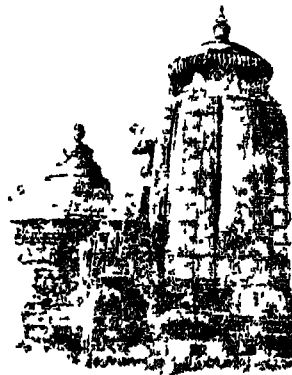
# धारा और उसके जैन सारस्वत

पं० परमानन्द शास्त्री, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली

●

## धाराका इतिवृत्त

भारतके सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहासमें धारा नगरीको सर्वाधिक गौरव प्राप्त है। इस नगरीको कब और किसने बसाया, इसके प्रामाणिक उल्लेख अभी भी अन्वेषणीय हैं। एपिग्राफि इण्डिका जिल्द १ भाग ५ के निम्न पद्य-से ज्ञात होता है कि धारा नगरीको परवार या परमारवंशी राजा वैरिसिंहने अपनी तलवारकी धारसे शत्रुकुलको मारकर बसाया था।

> जातस्तस्माद् वैरिसिंहोऽत्र नाम्ना कोको ब्रूते वज्रट् स्वामिनं यम्।
> शत्रो वर्गं धारयासे निहत्य, श्रीमद्धारा सूचिता येन राज्ञा ॥

कहा जाता है कि वैरिसिंहने धाराको बसाने आदिका यह कार्य सन् ९१४ से ९४१ ई० (वि० सं० ९७१-९९८) में किया है। दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनने अपना दर्शनसार वि० सं० ९९० में धारामें निवास करते हुए वहाँ के पार्श्वनाथ चैत्यालयमें माघ सुदी दशमीके दिन समाप्त किया है[1]। इस ग्रन्थमें एकान्तादि पाँच मिथ्यात्वों; द्रविड़, यापनीय काष्ठा, माथुर और भिल्लसंघोंकी उत्पत्तिका कथन उनके सैद्धान्तिक उल्लेखोंके साथ किया गया है। दर्शनसारके प्रणयनसे यह स्पष्ट है कि धारानगरी वि० सं० ९९० के पूर्व बसाई जा चुकी थी। यह नगरी कितने वर्ष पूर्व बसाई गई थी, इस सम्बन्धमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, पर इतना माना जा सकता है कि देवसेन द्वारा 'दर्शनसार' की रचना सम्पन्न होने के समय वैरिसिंहका ही शासन रहा हो।

धारानगरी संस्कृत विद्याका केन्द्र रही है। भोज जैसे संस्कृत-प्रेमी सम्राट् और उनके कविमण्डलने संस्कृत कविताओं द्वारा भारतमें सर्वत्र ख्याति प्राप्त कर ली थी। जैन वाङ्मय और संस्कृतिकी दृष्टिसे भी इस नगरीका महत्त्व अत्यधिक है। इतिहास और साहित्यसे अवगत होता हैं कि इस नगरीके आस-पासके प्रदेशोंमें जैनियोंकी वस्ती एवं मन्दिर-मठ वर्तमान थे। अतः मुनि, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी एवं मनीषी विद्वान् वहाँ निरन्तर विचरण करते रहते थे। दशवीं शतीसे लेकर चौदहवीं शती तक इस नगरीमें अनेक मान्य आचार्य और सारस्वतोंने निवास किया है और वाङ्मयका प्रणयन भी। अनेक ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों एवं उनके भीतर आनेवाले उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि यह नगरी कई शतकों तक जैन विद्वानों-का केन्द्र रही है। धारा, माडु, मालवा और उज्जैन जैनधर्मके प्रचार केन्द्र रहे हैं। भव्य और जिज्ञासुओंने इस नगरीकी पवित्र भूमिमें आचार्योंकी चरणरजमें बैठकर अपनी आत्माको पवित्र किया है। अनेक प्रथित एवं प्रभावशाली ग्रन्थकारोंने अपने अस्तित्वसे धाराको अलंकृत किया है और राजदरबारोंमें होनेवाले शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त की है। और कई आचार्य तो तत्कालीन राजाओंसे पूजित तथा उनके नवरत्नोंमें प्रथित रहे हैं। वहाँ अनेक संघों और गण-गच्छोंके आचार्य रहते थे। और उनके सांनिध्यमें अनेक शिष्य दर्शन, सिद्धान्त, काव्य और व्याकरणादिका पठन-पाठन करते थे, और विद्याध्ययन द्वारा अपने जीवनको आदर्श बनानेका प्रयत्न करते थे। वहाँ 'शारदा-सदन' नामका एक बड़ा विद्यापीठ था, जिसमें विविध देशोंके विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। स्वयं पं० आशाधरजीने धारामें ही व्याकरण और न्यायशास्त्रका पं० महावीरसे अध्ययन किया था। राज्यकी ओरसे अनेक विद्यालय और पाठशालाएँ चलती थीं, जिनमें सैकड़ों छात्र शिक्षा

---

१. पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥ —दर्शनसार।

प्राप्त करते थे। उस समय धारा विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजातमञ्जरी'से ज्ञात होता है कि—धारामें चौरासी चौराहे थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्वानों और कलाविदोंकी भीड़ रहती थी[1]। इन सब कार्योंसे उस समयकी धारा नगरीको विशालता, महानता और श्रीसम्पन्न होनेका उल्लेख मिलता है।

धारामें यवनोंका अधिकार होजाने पर उन्होंने धार्मिक विद्वेषवश हिन्दुओंके ऐतिहासिक स्थानों और देव-मन्दिरोंके साथ जैनियोंके भी अनेक देवस्थान तोड़ दिये गये, उनके पाषाणोंसे उन्हीं स्थानोंमें मस्जिदोंका निर्माण कराया गया, मूर्तियोंको तोड़ा या खण्डित किया गया। और उनके साहित्यको नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। और अनेक बहुमूल्य हस्त-लिखित ग्रन्थोंको पानी गर्म करनेके लिये हम्मामोंमें जला दिया गया। इसीसे आजकल उज्जैन, धारा, काठमांडू और मालव-देशमें यत्र-तत्र खण्डहरों और जंगलोंमें अनेक जैनमूर्तियाँ खण्डित अखण्डित दशामें उपलब्ध होती हैं। जो वहाँ जैन-धर्मके अस्तित्व और प्रतिष्ठाकी द्योतक हैं।

इस छोटेसे लेखद्वारा धारा और उसके समीपवर्ती स्थानोंमें विहार करनेवाले दिगम्बर जैन साधुओंने समय-समय पर जो ग्रन्थ रचनाएँ लिखीं तथा अन्य श्रावकोंकी प्रेरणासे विद्वानोंने जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया, उन सबका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस लघुकाय निबन्धमें १०वीं शतीसे १३वीं शती तकका साहित्यिक इतिवृत्त अंकित करनेका प्रयास किया जाता है।

## सारस्वत और उनका वाङ्मय

धारानगरीमें १०-१५ प्रसिद्ध साहित्यकार जैन विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने जैन वाङ्मयका प्रणयन कर जैनविद्याके क्षेत्रमें उल्लेखनीय कार्य किया है। किसी भी नगरीका महत्त्व वहाँ निवास करनेवाले सारस्वतोंसे ही होता है। अतीतकी समुज्ज्वल परम्पराका निर्वाह इन मान्य आचार्योंकी अमर लेखनीसे ही सम्भव है। जो नगरी तलवार और कलम दोनोंको समान रूपसे प्रश्रय देती है, उसका इतिहासमें गौरवपूर्ण स्थान निहित रहता है। धारामें जैन विद्याके ज्ञाता कवि और साहित्यकारोंने जन्म तो ग्रहण किया ही है, पर ऐसे भी कई विद्वान् लेखक हैं जिनका जन्म किसी अन्य नगरीमें हुआ है, पर ग्रन्थ-रचनाका श्रेय इसे ही प्राप्त है। यहाँ कालक्रमानुसार ग्रन्थकारोंका परिचय उनकी रचनाओंके उल्लेखपूर्वक उपस्थित किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकालमे धारा नगरीने दि० जैन वाङ्मयके प्रणयनमें अपूर्व सहयोग प्रदान किया है। इसके राजा, महाराजा, सेठसाहूकार विद्वानोंको सम्मान प्रदान करते थे, जिसके फलस्वरूप यहाँ विद्वानोंका जमघट रहता था।

१. देवसेनके—वि० संवत् ९९० में धारामें पार्श्वनाथ मन्दिरमें 'दर्शनसार'के रचे जानेका ऊपर उल्लेख किया गया है। इसके सिवाय, 'आलापपद्धति', 'नयचक्र', 'तत्त्वसार' और 'आराधनासार' आदि कृतियाँ भी इन्हीं देवसेनकी कही जाती है, वे सब धारामें ही रची गईं या अन्यत्र, यह कृतियोंपरसे कुछ ज्ञात नहीं होता। इनके सम्बन्धमें अन्वेषण होना आवश्यक है।

२. आचार्य महासेन—लाड बागडसंघके, पूर्णचन्द्र थे, आचार्य जयसेनके प्रशिष्य और गुणाकरसेनसूरिके शिष्य थे। सम्भव है आचार्य महासेनके गुरुजनोंके विहारसे भी धारानगरी पवित्र हुई हो। महासेन सिद्धान्तज्ञ, वादी, वाग्मी, कवि और शब्दब्रह्मके विचित्र धाम थे। यशस्वियों द्वारा सम्मान्य, सज्जनोंमें अग्रणी और पापरहित थे। यह परमारवंशी राजा मुंजद्वारा पूजित थे। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपकी सीमास्वरूप थे, और भव्यरूपी कमलोंको विकसित करने-वाले बान्धव—सूर्य थे। तथा सिन्धुराजके महामात्य श्री पर्पटके द्वारा जिनके चरणकमल पूजे जाते थे[2]। और उन्हींके

---

१. चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने............सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविद्यसहृदयकलाकोविदरसिकसुकविसंकुले............।

—पारिजातमञ्जरी।

२. श्रीलाट-वर्गटनभस्तलपूर्णचन्द्रः शास्त्रार्णवान्तगसुधीस्तपसां निवासः।
कान्ताकलावपि न यस्य शरैर्विभिन्नं, स्वान्तं बभूव स मुनिर्जयसेननामा ॥१॥
तीर्णागमाम्बुधिरजायत तस्य शिष्यः श्रीमद्गुणाकरगुणाकरसेनसूरिः।
यो वृत्तबोधतपसा यशसा च नूनं, प्रापत्परामनुपमामुपमां मुनीनां ॥२॥
तच्छिष्यो विदिताखिलोरुसमयो वादी च वाग्मी कविः,
शब्दब्रह्मविचित्रधामयशसां मान्यां सतामग्रणीः।
आसीत् श्रीमहासेनसूरिरनघः श्रीमुंजराजार्चितः
सीमा दर्शनबोधवृत्ततपसां भव्याब्जिनीबांधवः ॥३॥
श्रीसिन्धुराजस्य महत्तमेन श्रीपर्पटेनार्चितपादपद्मः।
चकार तेनाभिहितः प्रबन्धं स पावनं निष्ठितमङ्गजस्य ॥४॥

अनुरोधवश 'प्रद्युम्नचरित'की रचना विक्रमकी ११वीं शताब्दीके मध्यभागमें हुई है।

महासेनसूरिका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दीका मध्यभाग है; क्योंकि धाराधिप मुञ्जके दो दानपत्र वि० सं० १०३१ और वि० सं० १०३६ के प्राप्त हुए हैं। आचार्य अमितगति द्वितीयने इन्हीं मुञ्जदेवके राज्यकालमें वि० सं० १०५० पौष शुक्ला पञ्चमीके दिन सुभाषितरत्नसन्दोहकी रचना की है। जैसा कि उस ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्ति पद्यसे प्रकट है :—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे,<br>
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके (१०५०)।<br>
समाप्ते पञ्चम्यामवति धरिणीं मुञ्जनृपती,<br>
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२॥

इससे मुञ्जका राज्य सं० १०३१ से १०५० तक तो सुनिश्चित ही है और कितने समय तक रहा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर यह ज्ञात होता है कि तैलपदेवने सं० १०५० या १०५४ के मध्यवर्ती समयमें मुञ्जका वध किया था। चूंकि महासेन मुञ्जद्वारा पूजित थे, और वे सम्भवतः वहाँ ही निवास करते थे। अतएव उक्त ग्रंथ उन्हींके राज्यकालमें रचा गया है।

मुञ्जकी मृत्युके बाद कुछ समय राज्य शासन राजा सिन्धुलने, जो सुप्रसिद्ध राजा भोजके पिता थे, किया था। इनकी मृत्यु गुजरात नरेश सोलंकी राजा चामुंडरायके साथ युद्धमें वि० सं० १०६६ से कुछ पूर्व हुई थी। महासेनने अपनी कृतिमें कोई रचनाकाल नहीं दिया। और न उनकी अन्य रचनाओंका ही पता चल सका।

३. माथुर संघके आचार्य अमितगति (द्वितीय)—जो माधवसेन सूरिके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य थे। ये अमितगति वाकपतिराज मुंजकी सभाके रत्न थे[1]। ये बहुश्रुत विद्वान थे। आपकी रचनाएँ विविध विषयोंपर उपलब्ध हैं—सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, आराधना, उपासकाचार, सामायिकपाठ और भावनाद्वात्रिंशतिका। अमितगतिने अपना पंचसंग्रह वि० सं० १०७३ में मसूतिकापुर (वर्तमान मसूद विलोदा) में, जो धाराके समीप है, बनाया था। इन सब उल्लेखोंसे सुनिश्चित है कि अमितगति धारानगरी और उसके आस-पासके स्थानोंमें रहे थे। उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाएँ धारामें या उसके समीपवर्ती नगरोंमें बनाई हैं। बहुत संभव है कि आचार्य अमितगतिके गुरुजन भी धारा या उसके समीपवर्ती स्थानोंमें रहे हों। अमितगतिने सं० १०५० से १०७३ तक २३ वर्षके कालमें अनेक ग्रंथोंकी रचना वहाँ की है।

४. मुनि श्रीचन्द्र—जो लालबागड़ संघ और बलात्कारगणके आचार्य श्रीनन्दीके शिष्य थे। वे धाराके निवासी थे। उन्होंने अपना 'पुराणसार' वि० सं० १०८० में बनाकर समाप्त किया है[2]। रविषेणके पद्मचरित' की

---

१. तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमयः शिष्यः सतामग्रणी,<br>
श्रीमान्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणोऽभवत्।<br>
शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निर्धूतमोहद्विषः,<br>
श्रीमन्माधवसेनसूरिरभवत्क्षोणीतले पूजितः। ९१७॥<br>
कोपारातिविघातकेऽपि सक्रमः सोमोऽप्यदोषाकरो,<br>
जैनोऽप्युग्रतरस्तपो गतभयो भीतोऽपि संसारतः।<br>
निष्कामोऽपि समिद्धमुक्तिवनितायुक्तोऽपि यः संयतः<br>
सत्यारोपितमानसो धृतकृपोऽप्यर्च्यः प्रियोऽप्यप्रियः ॥९१८॥<br>
दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजबन्धोः।<br>
शमदमयममूर्तिश्चन्द्रशुभ्रामकीर्तिः।<br>
अमितगतिरभूत्तस्य शिष्यो विपश्चिद्।<br>
विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रम् ॥९१९

—सुभाषितरत्नसन्दोह।

२. धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चकैः।<br>
श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।<br>
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगता श्रीनन्दिशिष्यो बुधः।<br>
कुर्वे चारुपुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामा मुनिः॥<br>
श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे (अशीत्य) धिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानं समाप्तं। —देखो पुराणसारप्रशस्ति।

टीकाको भी उन्होंने वि० सं० १०८७ में धारा नगरीमें राजा भोजदेवके राज्यकालमें बनाकर समाप्त किया है[1]। तीसरी कृति महाकवि पुष्पदन्तके उत्तरपुराणका टिप्पण है, जिसे उन्होंने, सागरसेन नामके सैद्धान्तिक विद्वानसे महापुराणके विषम-पदोंका विवरण जानकर और मूल टिप्पणका अवलोकन कर, वि० सं० १०८० में राजाभोजके राज्यकालमें रचा है[2]। चौथी कृति 'शिवकोटिकी भगवती आराधनाका वह टिप्पण है जिसका उल्लेख पं० आशाधरजीने अपने 'मूलाराधनादर्पण' में नं० ५८६ की गाथाकी टीका करते हुए किया है। मुनि श्रीचन्द्रकी ये सभी कृतियाँ धारामें ही रची गई है। उक्त टीकाप्रशस्तियोंमें मुनि श्रीचन्द्रने सागरसेन और प्रवचनसेन नामके दो सैद्धान्तिक विद्वानोंका उल्लेख किया है जो धारा निवासी थे। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय धारामें अनेक जैन विद्वान और मुनि निवास करते थे।

५. **आचार्य माणिक्यनन्दी**—दर्शनशास्त्रके तलदृष्टा विद्वान थे, और त्रैलोक्यनन्दीके शिष्य थे। धाराके निवासी थे और वहाँ दर्शनशास्त्रका अध्यापन करते थे। उनके अनेक शिष्य थे। जिनका परिचय इस लेखमें कराया जायगा। उनकी एक मात्र कृति परीक्षामुख' नामका एक न्यायसूत्र ग्रन्थ है जिसमें कुल २०७ सूत्र हैं। ये सूत्र सरल, सरस और गंभीर अर्थ द्योतक हैं। माणिक्यनन्दीने आचार्य अकलंकदेवके वचनसमुद्रका दोहन कर जो 'न्यायामृत' निकाला है[4] वह उनकी दार्शनिक प्रतिभाका संद्योतक है। इस सूत्रग्रंथपर उनके शिष्य प्रभाचन्द्रने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विस्तृत टीका लिखी है। आचार्य लघु अनन्तवीर्यने भी 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी टीका लिखी है। इससे उस सूत्र ग्रन्थ की महत्ताका सहज ही आभास हो जाता है।

माणिक्यनन्दीके अनेक विद्याशिष्योंमेंसे यहाँ सिर्फ दो शिष्योंका ही परिचय ज्ञात हो सका है। उनमें नयनन्दी उनके प्रथम विद्याशिष्य थे। उन्होंने अपने 'सकलविधिविधान' नामक काव्यमें माणिक्यनन्दीको महापण्डित बतलानेके साथ-साथ उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाण जलसे भरे और नयरूप चंचल तरंग समूहसे गंभीर, उत्तम सप्तभंगरूप कल्लोल-मालासे भूषित, जिनशासनरूप निर्मल सरोवरसे युक्त और पंडितोंका चूडामणि प्रकट किया है[5]। नयनन्दिने अपनी प्रथम कृति 'सुदर्शनचरित्में अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए निम्न विद्वानोंका उल्लेख किया है—पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी और त्रैलोक्यनन्दी। ये सब विद्वान माणिक्यनन्दीसे पूर्ववर्ती हैं। संभवत. इन नन्द्यन्त नामवाले विद्वानोंकी परम्परा धारा या धाराके समीपवर्ती स्थानोंपर रही हो; क्योंकि माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र तो धाराके ही निवासी थे। और माणिक्यनन्दीके गुरु प्रगुरु भी यदि धाराके निवासी रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

६. **नयनन्दी और प्रभाचन्द्र**—ये दोनों समसामयिक विद्वान थे, और दोनों ही माणिक्यनन्दीके शिष्य थे। नयनन्दीने अपनेको प्रथम विद्याशिष्य लिखा है, इसलिये प्रभाचन्द्रसे पहले उनका परिचय दिया जाता है।

मुंजके बाद जब धारामें राजा भोजका राज्य हुआ, तब उसके राज्य शासनके समय धाराका उत्कर्ष अपनी चरम सीमापर पहुँच गया था। चूंकि राजा भोज विद्याव्यसनी, वीर और प्रतापी राजा था। इसलिये उस समय धाराका सरस्वती-सदन खूब प्रसिद्ध हो रहा था। अनेक देश-विदेशोंके विद्यार्थी उसमें शिक्षा पा रहे थे। अनेक विद्वान और कवि वहाँ रहते थे।

नयनन्दी आचार्यकुन्दकुन्दकी परम्परामें होने वाले त्रैलोक्यनन्दीके प्रशिष्य और माणिक्यनन्दीके प्रथम विद्या शिष्य थे। उन्होंने अपनी कृति सुदर्शनचरित्रकी प्रशस्तिमें जो गुरुपरम्परा दी है वह महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत नयनन्दी राजा भोजके

---

१. लाडबागडश्रीप्रवचनसेनपंडितात्पद्मचरिततस्सकर्ण्यों (तमाकर्ण्य ?) बलात्कारगणश्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येणश्रीचन्द्रमुनिना श्रीमद्विक्रमादित्य-संवत्सरे समाशीत्यधिकवर्षसहस्रे श्रीमद्धारायां श्रीमतो राज्ये भोजदेवस्य··· । एवमिद पद्मचरितटिप्पणं श्रीचन्द्रमुनिकृतं समाप्तमिति ।

२. श्रीविक्रमादित्य-संवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराण-विषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणं अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बलात्कारगणश्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्य-विजयिनः श्रीभोजदेवस्य। —उत्तरपुराणटिप्पणप्रशस्ति ।

३. एक अज्ञातकर्तृक टिप्पणका उत्थानिकामें उन्हें धारानिवासी बतलाया है। 'धारानगरीवास्तिनिवासिन.श्रीमाणिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षामुखाख्यप्रकरणमारचयाम्बभूवुः।' —अनेकान्त वर्ष १० किरण—११-१२।

४. अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता ।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ —प्रमेयरत्न०, पृ० २।

५. पच्चक्ख-परोक्ख पमाण-णीर, णय-तरल-तरंगावलि-गहीर ।
वर-सत्तभंगि-कल्लोल-माल, जिण-सासणि-सरि-णिम्मल-सुसाल ।
पंडिय-चूडामणि विबुहचंद, माणिक्कणंदि उप्पण्णु कंदु । —जैनग्रंथप्रशस्तिसंग्रह भाग १ पृ० २६।

राज्यकालमें हुए हैं। उन्होंने वहींपर विद्याध्ययन कर ग्रन्थ रचना की है। इनके दीक्षागुरु कौन थे, और यह कहाँके निवासी थे, उनका जीवन-परिचय क्या है? यह कुछ ज्ञात नहीं होता। कवि काव्यशास्त्रमें निष्णात थे, साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंशभाषाके विशिष्ट विद्वान थे। छन्दशास्त्रके परिज्ञानी थे। कविने अपना 'सुदंसणचरिउ' परमारवंशी राजा भोजके राज्यमें वि० सं० ११०० में बनाकर समाप्त किया था[1]

'सुदसंणचरिउ' अपभ्रंश भाषाका एक खण्ड काव्य है, जो महाकाव्योंकी श्रेणीमें रखने योग्य है। जहाँ ग्रन्थका चरित भाग रोचक और आकर्षक है वहाँ वह सालंकार काव्य-कलाको दृष्टिसे उच्चकोटिका है। कविने उसे निर्दोष और सरस बनानेका पूरा प्रयत्न किया है। ग्रन्थकारने स्वयं लिखा है कि रामायणमें राम और सीताका वियोग तथा शोक जन्य व्याकुलताके दर्शन होते है, और महाभारतमें पाण्डव तथा धृतराष्ट्रादि कौरवोंके परस्पर कलह एवं मारकाटके दृश्य अंकित मिलते है। तथा लोकशास्त्रमें भी कौलिक, चार, व्याध आदिकी कहानियाँ सुननेमे आती है, किन्तु इस सुदर्शन चरितमें ऐसा एक भी दोष नही है, जैसा कि उसके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

रामो सीय-विओय-सोय-विहुरं संपत्तु रामायणे,
जादं पाण्डव-धायरट्ठ सददं गोत्तं कली-भारहे।
डेडा-कोलिय-चोर-रज्जु-णिरदा आहासिदा सुद्दये,
णो एक्कं पि सुदसंणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं॥

कविने काव्यके आदर्शको व्यक्त करते हुए लिखा है कि रस और अलंकारसे युक्त कविकी कवितामें जो रस मिलता है वह न तरुणिजनोंके विद्रुम समान रक्त अधरोंमें, न आम्रफलमें, न ईखमें, न अमृतमें, न हाला (मदिरा) मे, न चन्दनमें और न चन्द्रमामें ही मिलता है[2]।

प्रस्तुत ग्रन्थमें सुदर्शनके निष्कलंक चरितकी गरिमाने उसे और भी पावन एवं पठनीय बना दिया है। ग्रन्थमे १२ सन्धियाँ है जिनमे सुदर्शनके जीवन परिचयको अंकित किया गया है। परन्तु कथा काव्यमे कविकी कथनशैली, रस और अलंकारोकी पुट, सरस कविता, शान्ति और वैराग्यरस तथा प्रसंगवश कलाका अभिव्यंजन, नायिकाके भेद, ऋतुओं-का वर्णन और उनके वेष-भूषा आदिका चित्रण, विविध छन्दोंकी भरमार, लोकोपयोगी सुभाषित, और यथास्थान धर्मोप-देशादिका विवेचन इस काव्य-ग्रन्थकी अपनी विशेषताके निदर्शक है और कविकी आन्तरिक भद्रताके द्योतक हैं। ग्रंथमें पंचनमस्कारमंत्रका फल-प्राप्त करने वाले सेठ सुदर्शनके चरित्रका चित्रण किया है।

कविकी दूसरी कृति 'सयलविहिविहाणकव्व' है, जो विशाल काव्य है जिसमे ५८ संधियाँ प्रसिद्ध है, परन्तु १६ संधियाँ उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थके त्रुटित होनेके कारण जाननेका कोई साधन नहीं है। प्रारम्भकी दो-तीन संधियोंमे ग्रन्थके अवतरण आदिपर प्रकाश डालते हुए १२ वीं मे १५ वीं संधितक मिथ्यात्वके काल मिथ्यात्व और लोक मिथ्यात्व आदि अनेक मिथ्यात्वोंका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए क्रियावादि और अक्रियावादि भेदोंका विवेचन किया है। परन्तु खेद है कि १५ वीं सन्धिके पश्चात् ३२ वीं सन्धितक १६ सन्धियाँ आमेर भण्डारकी प्रतिमे नही है। हो सकता है कि वे लिपिकर्ता को न मिली हों।

ग्रन्थकी भाषा प्रौढ है और वह कविके अपभ्रंशभाषाके साधिकारित्वको सूचित करती है। ग्रन्थान्तमें सन्धि-वाक्य भी पद्यमे निबद्ध किये है।

मुणिवरणयणंदिसण्णिबद्धे पसिद्धे,
सयलविहिविहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे।
समवसरणसंसि सेणिए संपवेसो।
भणिउ जणमणुज्जो एस संधीतिइज्जो ॥३॥

---

१. णिवविक्कमकालहो ववगएसु एयारहसंवच्छर-सएसु, तहि केवलिचरिउ अमयच्छरेण।
णयणंदी विरयउ वित्थरेण। —सुदसणचरिउ।

२. णो संजादं तरुणिअहरे विद्रुमारत्तसोहे।
णों साहारे भमिय भमरे णेव पुंडिच्छुडंडे।
णो पीयूसे हले खिहिणे चन्दणे णेव चन्दे,।
सालंकारे सुकइभणिदे जं रसं होदि कव्वे॥

ग्रन्थकी ३२ वीं सन्धिमें मद्य-मधुके दोष और उदंबरादि पंच फलोंके त्यागका विधान और फल बतलाया गया है। ३३ वीं संधिमें पंच अणुव्रतोंका कथन दिया हुआ है और ३६ वीं संधिमे अणुव्रतोंकी विशेषताएँ बतलाई गई हैं। और उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंके आख्यान भी यथास्थान दिये हुए हैं। ५६ वी संधिके अन्तमे सल्लेखना ( समाधिमरण ) का स्पष्ट विवेचन किया गया है और विधिमे आचार्य समन्तभद्रके सल्लेखनाके कथन-क्रमको अपनाया गया है। इससे यह काव्य ग्रंथ गृहस्थोपयोगी व्रतोका भी विधान करता है। इस दृष्टिसे भी इस ग्रंथकी उपयोगिता कम नहीं है।

छन्द शास्त्रकी दृष्टिसे इस ग्रन्थका अध्ययन और प्रकाशन आवश्यक है। क्योंकि ग्रंथमे ३०-३५ छन्दोका उल्लेख किया गया है जिनके नामोंका उल्लेख प्रशस्तिसंग्रहकी प्रस्तावनामे किया गया है[१]।

ग्रन्थकी आद्य प्रशस्ति इतिहासकी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। उसमे कविने ग्रन्थ बनानेमे प्रेरक हरिसिंह मुनिका उल्लेख करते हुए अपनेसे पूर्ववर्ती जैन जैनेतर और कुछ समसामयिक विद्वानोंका भी उल्लेख किया है। जो ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। सम-सामयिक विद्वानोंमे, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र और श्रीकुमारका, जिन्हे सरस्वतीकुमार कहते थे, नाम दिये है।

कविवर नयनन्दीने राजा भोज, हरिसिंह, आदिके नामोल्लेखके साथ-साथ बच्छराज, और प्रभु ईश्वरका उल्लेख किया है और उन्हे विक्रमादित्यका माडलिक प्रकट किया है। यथा—

जहि बच्छराउ पुण पुहइ वच्छु, हुंतउ पुहु ईसरु सूदवच्छु।
होएप्पिणु पत्थए हरियराउ, मंडलिउ विक्कमाइच्च जाउ ॥ —संधि २, पत्र ८

इसी संधिमे चलकर अंबाइय और काचीपुरका उल्लेख किया है, कवि इस स्थान पर गए थे। इसके अनन्तर ही वल्लभराजका उल्लेख किया है, जिसने दुर्लभ जिन प्रतिमाओका निर्माण कराया था, और जहाँ पर रामनन्दी, जयकीर्ति और महाकीर्ति प्रधान थे। जैसा कि ग्रन्थकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है :—

'अंबाइय कंचीपुर विरत्त, जहिं भमइं भव्व भत्तिहिं पसत्त।
जहिं वल्लहराएँ वल्लहेण, काराविउ कित्तणु दुल्लहेण।
जिणपडिमालंकिउ गच्छमाणु, णं केण विणंमिउ सुरविमाणु।
जहिं रामणंदि गुणमणि णिहाणुं, जयकित्ति महाकित्ति वि पहाणु।
इय तिण्णि वि परसिमय-मई-मयंद, मिच्छत्त-विडविमोडण गइंद।'

उक्त पद्योमे उल्लिखित रामनन्दी कौन है, और उनकी गुरु परम्परा क्या है और जयकीर्ति महाकीर्तिसे इनका क्या सम्बन्ध है ? यह अज्ञात है। ये तीनों विद्वान् भी नयनन्दीके समकालीन हैं। रामनन्दी आचार्य थे। इनके शिष्य बालचन्दने कविसे सकलविधिविधान बनानेका संकेत किया था। ऐतिहासिक दृष्टिसे इन विद्वानोके सम्बन्धमे विचार करना आवश्यक है। प्राकृत श्रुतस्कन्धके कर्ता ब्रह्म हेमचन्द्रके गुरु भी रामनन्दी है। ये दोनों भिन्न-भिन्न विद्वान है, या अभिन्न है, यह विचारणीय है।

७. प्रभाचन्द्र—माणिक्यनन्दीके अन्य विद्याशिष्योमे प्रभाचन्द्र प्रमुख रहे है। वे उनके 'परीक्षामुख' नामक सूत्र-ग्रंथके कुशल टीकाकार भी है। और दर्शन साहित्यके अतिरिक्त वे सिद्धान्तके भी विद्वान् थे। आचार्य प्रभाचन्द्रने उक्त धारा नगरीमे रहते हुए केवल दर्शनशास्त्रका अध्ययन ही नही किया, प्रत्युत धाराधिपभोजके द्वारा प्रतिष्ठा पाकर अपनी विद्वत्ताका विकास भी किया। साथ ही विशाल दार्शनिक ग्रन्थोके निर्माणके साथ अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। प्रमेयकमलमार्तण्ड ( परीक्षामुखटीका ) नामक विशाल दार्शनिक ग्रंथ सुप्रसिद्ध राजा भोजके राज्यकालमे ही रचा गया है। और न्यायकुमुदचन्द्र ( लघीयस्त्रयटीका ), आराधना-गद्य कथाकोश, पुष्पदन्तके महापुराण ( आदिपुराण-उत्तरपुराण ) पर टिप्पण-ग्रंथ, समाधितंत्र[२]टीका ये सब ग्रन्थ राजा जयसिंहदेवके राज्यकालमे रचे गये है। शेष ग्रंथ प्रवचन-सरोज-भास्कर, पंचास्तिकाय-प्रदीप, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रटीका, शब्दाम्भोजभास्कर और तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण तथा प्रतिक्रमणपाठटीका, ये सब ग्रन्थ कब और किसके राज्यकालमे रचे गये है यह कुछ ज्ञात नही होता।

ये प्रभाचन्द्र वही ज्ञात होते है जो श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४ के अनुसार मूलसंघान्तर्गत नन्दीगणके

---

१. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ प्रस्तावना।

२. 'मूडबिद्रीके मठकी समाधितन्त्र ग्रन्थकी प्रतिमें पुष्पिकावाक्य निम्न प्रकार पाया जाता है—'इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन समाधिशतकटीका कृतेति'।

भेदरूप देशीयगणके गोल्लाचार्यके शिष्य एक अविद्धकर्ण कौमारव्रती पद्मनन्दी सैद्धान्तिकका उल्लेख है जो कर्णसंस्कार होनेसे पूर्व ही दीक्षित हो गये थे, उनके शिष्य और कुलभूषणके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका उल्लेख पाया जाता है जिसमें कुलभूषणको चारित्रसागर और सिद्धान्तसमुद्रके पारगामी बतलाया गया है, और प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर तथा प्रथित तर्क-ग्रंथकार प्रकट किया है। इस शिलालेखमें मुनि कुलभूषणकी शिष्य परम्पराका भी उल्लेख निहित है।

> अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
> कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सज्ज्ञाननिधिः सधीरः॥
> शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
> चन्द्राख्योमुनिराजपंडितवरः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः।
> तस्य श्रीकुलभूषणाख्यसुमुनेश्शिष्यो विनेयस्तुतः।
> सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेवमुनिपस्सिद्धान्तविद्यानिधिः॥

श्रवणबेलगोलके ५५वें शिलालेखमें मूलसंघ देशीय गणके देवेन्द्र सैंद्धान्तिकके शिष्य, चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दी और इन्हीं गोपनन्दीके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका उल्लेख भी किया गया है, जो प्रभाचन्द्र धाराधीश्वर राजा भोजद्वारा पूजित थे और न्यायरूप कमलसमूहको विकसित करने वाले दिनमणि, और शब्दरूप अब्जको प्रफुल्लित करने वाले रोदोमणि ( भास्कर ) सदृश थे। और पण्डित रूपी कमलोंको विकसित करने वाले सूर्य तथा रुद्रवादिदिग्गज विद्वानोंको वश करनेके लिये अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे[1]।

दोनों ही शिलालेखोंमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र एक ही विद्वान जान पड़ते हैं। हाँ, द्वितीयलेख (५५) में चतुर्मुखदेवका नाम नया जरूर है, पर यह संभव प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रके दक्षिणदेशसे धारामें आनेके पश्चात् देशीयगणके विद्वान चतुर्मुखदेव भी उनके गुरु रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि गुरु भी तो कई प्रकारके होते हैं—दीक्षागुरु विद्यागुरु आदि। एक-एक विद्वानके कई-कई गुरु और कई-कई शिष्य होते थे। अतएव चतुर्मुखदेव भी प्रभाचन्द्रके किसी विषयमें गुरु रहे हों, और इसलिये वे उन्हे समादरकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आपत्तिकी बात नहीं, अपनेसे बड़ेको आज भी पूज्य और आदरणीय माना जाता है।

अब रही समयकी बात, सो ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डको राजा भोजके राज्यकालमें बनाया है। राजा भोजका राज्यकाल संवत् १०७० से ११९० तकका बतलाया जाता है। उसके राज्यकाल के दो दानपत्र संवत् १०७६ और १०७९ के मिले हैं।

आचार्य प्रभाचन्द्रने देवनन्दीकी तत्त्वार्थवृत्तिके विषम-पदोंका एक विवरणात्मक टिप्पण लिखा है। उसके प्रारम्भमें अमितगतिके संस्कृत पंचसंग्रहका निम्न पद्य उद्धृत किया है :—

> वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता।
> वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः॥

अमितगतिने अपना यह पंचसंग्रह मसूतिकापुरमें, जो वर्तमानमें 'मसीदविलौदा' ग्रामके नामसे प्रसिद्ध है, वि० सं० १०७३ में बनाकर समाप्त किया है। अमितगति धाराधिप मुंजके सभारत्न भी थे। इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्रने अपना उक्त टिप्पण वि० सं० १०७३ के बाद बनाया है। कितने बाद बनाया है, यह बात अभी विचारणीय है।

न्यायविनिश्चयविवरणके कर्ता आचार्य वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित शक सं० ९४७ ( वि० सं० १०८२ ) में बनाकर समाप्त किया है। यदि राजा भोजके प्रारम्भिक राज्यकालमें प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड बनाया होता, तो वादिराज उसका उल्लेख अवश्य ही करते। पर नहीं किया इससे यह ज्ञात होता है कि उस समयतक प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना नहीं हुई थी। हाँ, सुदर्शनचरितके कर्ता मुनि नयनन्दीने, जो माणिक्यनन्दीके प्रथम विद्याशिष्य थे और

---

१. श्रीधाराधिप-भोजराजमुकुट-प्रोताश्म-रश्मिच्छटा-
च्छायाकुंकुम-पंक-लिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणिः
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणिः श्रीमान् प्रभाचंद्रमा॥१७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादि-गजांकुशः॥१८॥ —जैन शिलालेखसंग्रह भा० १ पृ० ११८।

प्रभाचन्द्रके समकालीन गुरुभाई भी थे, अपना 'सुदर्शनचरित' वि० सं० ११०० में बनाकर समाप्त किया था। उसके बाद सकलविधिविधान नामका काव्य-ग्रन्थ बनाया, जिसमे पूर्ववर्ती और समकालीन अनेक विद्वानोंका उल्लेख करते हुए प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख किया है परन्तु उसमे उनकी रचनाओंका कोई उल्लेख नही है। इससे स्पष्ट है कि प्रमेयकमल-मार्तण्डकी रचना सं० ११०० के बाद किसी समय हुई है। और न्यायकुमुदचन्द्र सं० १११२ के बादकी रचना है क्योंकि जयसिंह राजा भोजके (सं० १११०) के बाद किसी समय उत्तराधिकारी हुआ है। न्यायकुमुदचन्द जयसिंहके राज्यमे रचा गया है। इससे प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११वी शताब्दीका उत्तरार्ध और १२वी शताब्दीका पूर्वार्ध होना चाहिये।

आश्रम[1] नामके नगरमे स्थित मुनिसुव्रत नामके चैत्यालयमे धाराके राजा भोजके माडलिक श्रीपाल मण्डलेश्वर (माडलिक सामन्त) थे, और उनके भाण्डागार (कोपाध्यक्ष) तथा अनेक नियोगाधिकारी राजश्रेष्ठी सोम या सोमचन्द नामके सज्जन थे, जिनके निमित्त श्री नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकने २६ गाथात्मक लघुद्रव्यसग्रहकी रचनाकी थी। बादमे उसे पल्लवित कर बृहद्द्रव्यसंग्रह बनाया गया। और इस ग्रथकी एक विस्तृत संस्कृत टीका ब्रह्मदेवने की, जिसमें सोमराजश्रेष्ठीके प्रश्नोका उत्तर भी सम्मिलित है। अर्थात् वह टीका उन्हीके निमित्त रची गई है। जैसाकि उसके उत्थानिका वाक्यसे प्रकट है—

'अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजा-भोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तीसम्बन्धिनः श्रीपालमहा-मण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्न-सुखामृत-रसास्वाद-विपरीत-नरकादिदु खभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्न-सुख-सुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवर-पुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्-विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याऽधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'

इस उत्थानिकासे ग्रन्थकार, टीकाकार और सोमराजश्रेष्ठी तीनो ही समकालीन जान पडते है[2]।

सन् ११९२ (वि० सं० १२४९) म शहाबुद्दीन गौरीने पृथ्वीराजका कैदकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया, और अजमेर पर भी अधिकार कर लिया। तब आशाधरजीके पिता वगैरह माडलगढको छोडकर धारामे आये होगे। उस समय उनकी अवस्था अधिक नही थी। सम्भवत. वे किशोर ही रहे होगे; क्योकि उन्होने व्याकरण और न्यायशास्त्र धारामे आकर ही पण्डित महावीरसे पढे थे। उनकी जाति 'बघेरवाल' थी, जिसका निकास राजस्थानके बघेरा नामक गाँवसे हुआ था। यह ग्राम किसी समय बडा सम्पन्न नगर रहा होगा। वहाँके मन्दिरमे १२ वी १३ वी शताब्दीकी मूर्तियाँ विद्यमान है। यद्यपि अब बघरा[3] मे बघेरवाल नही रहते वे आस-पासके नगरोमे आबाद है, परन्तु शान्तिनाथका मूर्तिके दर्शन करने बराबर आते रहते है। धारामे आज भी बघेरवालोके अनेक घर है, एक पुराना जिनमन्दिर है, उसका शास्त्रभण्डार भी बघेरवालोके ही हाथमे है, उसमे सस्कृत प्राकृतके १००-५० ग्रथ है जो उनकी समझके बाहर है।

८. आशाधरजी—आशाधरजीके पिताका नाम सल्लखण और माताका श्रीरत्नी था। पत्नीका नाम सरस्वती और पुत्रका नाम छाहड था। पुत्रको पं० आशाधरजीने प्रशस्तिमे 'रजितार्जुनभूपतिम्' अर्थात् जिसने राजा अर्जुन वर्माको प्रसन्न किया, लिखा है। इसस स्पष्ट है वह किसी राज्यके उच्च पदपर प्रतिष्ठित था।

मालवनरेश अर्जुनवर्माका भाद्रपद सुदी १५ बुधवार स० १२७२ का एक दान-पत्र मिला है, उसके अन्तमे लिखा है—"रचितमिदं महासन्धि० राजा सलखणसमतेन राजगुरुणा मदनेन।" यह दान-पत्र महासन्धि विग्रहिक मन्त्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीके राज्यमे आशाधर नालछेमे रहे थे। राजगुरु मदन भी वही है जिन्हे आशाधरने काव्य-शास्त्र पढाया था। इससे ज्ञात होता है कि उक्त राजा सलखण ही सम्भव है कि आशाधरके पिता सल-खण हो। जब आशाधरका परिवार धारामे आया था उस समय परराष्ट्र मंत्री बिल्हण कवीश थे। सम्भव है उनके बाद अपनी योग्यताके कारण सलखणने भी उक्त पद प्राप्त कर लिया हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नही है।

आशाधरजी धारासे 'सलखणपुर' सं० १२८२ के आस-पासमे गये थे। और वे उस समय गृहस्थाचार्यके पद पर प्रतिष्ठित थे। क्योकि उन्होने वहाँ निर्मित 'रत्नत्रयविधि' मे अपनेको 'गृहस्थाचार्यकुञ्जरः' बतलाया है। और उस समय वे पाक्षिक श्रावकके व्रतोका अनुष्ठान करते थे। वहाँ परमारवंशी देवपालके राज्यमे मल्हके पुत्र नागदेवकी धर्मपत्नीके

---

१. आश्रम नामका यह नगर मालवाकी 'तोमस' नदीके किनारे बसा हुआ था।

२. देखो, शोधकण, नामका मेरा लेख अनेकान्त वर्ष १७, किरण ४ पृ० १६६।

३ बघेरा ग्राम नदीके मध्यमें बसा हुआ है, उसके आगे पीछे दोनों ओर नदी है। यहाँ 'बघेरो टोला है। यही बघेरवालोंका उत्पत्तिका स्थान है, वह बहुत पुराना है। उसके भूगर्भमें जैन संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण चीजें दबी पड़ी ह।

लिये, जो उक्त राज्यमें चुंगी व टैक्स विभागमें कार्य करता था, संवत् १२८२ में संस्कृत गद्यमें 'रत्नत्रयविधि' नामकी कथा लिखी थी[1]। रचना संवत्‌की दृष्टिसे यह सबसे पुरानी जान पड़ती है। और बादको वे जैनधर्मके प्रचारकी दृष्टिसे नलकच्छ पुरमें रहने लगे थे। वहाँके नेमिनाथ मन्दिरमे रहकर उन्होंने निम्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं :—

प्रमेयरत्नाकर—( स्याद्वादविद्याका विमलप्रासाद ) भरतेश्वराभ्युदयकाव्य स्वोपज्ञटीका सहित, राजीमती-विप्रलम्भ, अमरकोषटीका, काव्यालंकारटीका, अष्टांगहृदय टीका, आराधनासारटीका, अनुपलब्ध हैं। शेष रचनाएँ उपलब्ध हैं। रत्नत्रयविधान ( १२८२ ) अध्यात्मरहस्य, इष्टोपदेशटीका, भूपालचतुर्विंशति टीका, जिनयज्ञकल्प सटीक ( १२८५ ) त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र ( सं १२९२ ), सहस्रनामस्तवन सटीक, मूलाराधना टीका, नित्यमहोद्योत, क्रियाकलाप-टीका, सागारधर्मामृत सटीक ( १२९६ ) अनगारधर्मामृत सटीक ( १३०० ), धर्मामृतस्वोपज्ञपंजिका। आशाधरजी को इन सब कृतियोंमेंसे सिर्फ पाँच रचनाओंमें समयका उल्लेख मिलता है। शेष रचनाएँ उनके मध्यमें किसी समय रची गई हैं। कविको सभी रचनाएँ प्रौढ़ और गंभीर अर्थकी द्योतक हैं। इससे स्पष्ट है कि विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमें धारा जैन धर्मका केन्द्र बनी हुई थी। उस समय आस-पासके प्रान्तोंमें जैन धर्मके प्रचारक विद्वान और साधुजन विचरण करते थे।

पं० आशाधरजीके अनेक शिष्य थे, उनमें तीनका उल्लेख मिलता है। देवचन्द, विनयचन्द्र और मदनोपाध्याय। आशाधरजीकी समस्त रचनाएँ धारा नरेश अर्जुन वर्मा, देवपाल, और जैतुंगिदेवके राज्यकालमें रची गई हैं।

९. कविदामोदर—वि० सं० १२८७ मे दामोदर नामके एक विद्वान् कवि गुर्जरदेशसे चलकर मालवदेशमें आये और वहाँके सलखणपुरको देखकर सन्तुष्ट हुए। उन्होंने वीर जिनके चरणोंमें नमस्कार किया, और स्तुति की। उस समय सलखणपुरमें कमलभद्र नामके संयमी रहते थे, जो कामके बाणोंका विनष्ट करनेके लिये तपश्चरण करते थे। अष्टमदोंके विनाश करनेमें वीर और बाईस परीषहोंके सहनेमें धीर थे। कर्म-शत्रुओंका नाश करनेवाले तथा भव्यरूपी कमलोंको सम्बोधन करनेवाले सूर्य थे। कषाय और तीन शल्योंके विनाशक, धीमन्त, संत और संयमके निधान थे। उसी सलखणपुरमें मल्हके पुत्र नागदेव रहते थे जो निरन्तर पुण्यार्जन करते थे। वहीं संयमी, गुणी और सुशील रामचन्द्र रहते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय उस नगरमें अच्छे धर्मात्मा लोगोंका निवास था। वहीं पर खंडेलवाल कुलभूषण, विषयविरक्त, भव्यजनबांधव, केशवके पुत्र इन्दुक या इन्द्रचन्द्र रहते थे, जो जिन धर्मके धारक थे और जिनभक्तिमें तत्पर, तथा संसारसे उदासीन रहते थे। उन्होंने नेमिजिनकी स्तुतिकर भव्य नागदेवको शुभाशिष दी। तब नागदेवने कहा कि राज्य परिकरसे क्या, मनहारी हय-गजसे क्या, जब कि माया, मद, पुत्र, कलत्र, मित्र सभी इन्द्र धनुषके समान अनित्य है। निर्मलचित्त भव्योंके मित्र नागदेवने कहा, हे दामोदर कवि, ऐसा काम कीजिये जिससे धर्ममें न हानि हो। मुझे नेमिजिन-चरित्र' बनाकर दीजिये, जिससे गंभीर भवसे आज तरजाऊं, और मेरा जन्म सफल हो। तब कविने नागदेव के अनुरोधसे नेमिजिनका चरित्र देवपालके राज्यमें बनाया।

देवपाल मालवेका परमारवंशी राजा था और महाकुमार हरिश्चन्द्र वर्माका, जो छोटी शाखाके वंशधर थे, द्वितीय पुत्र था। क्योंकि अर्जुन वर्माके कोई सन्तान नहीं थी अतः उस गद्दीका अधिकार इन्हें ही प्राप्त हुआ था। इसका अपर नाम 'साहसमल्ल' था। इसके समयके ३ शिलालेख और एक दानपत्र मिला है। एक विक्रम संवत् १२७५ ( सन् १२१८ ) का हरसोडा गाँवसे[2] और दो लेख ग्वालियर राज्यसे मिले हैं। जिनमें एक वि० सं० १२८६ और

---

१. साधो मंडितवागवंशसुमणेः सज्जेनचूडामणेः। माळाख्यस्य सुतः प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् ॥१॥
यः शुल्कादिपदेषु मालवपतेः नात्राति युक्तं शिवं। श्रीसल्लक्षणयास्वमाश्रितवसः का प्रापयतः श्रियं ॥२॥
श्रीमत्केशवसेनायवर्यवाक्यादुपेयुषा। पाक्षिकश्रावकीभावं तेन मालवमंडले ॥३॥
सल्लक्षणपुरे तिष्ठन् गृहस्थाचार्यकुंजरः। पंडिताशाधरो भक्त्या विज्ञप्तः सम्यगेकदा ॥४॥
प्रायेण राजकार्येऽवरुद्धधर्माश्रितस्य मे। भाद्रं किंचिदनुष्ठेयं व्रतमादिश्यतामिति ॥५॥
ततस्तेन समीक्ष्यो वै परमागमविस्तरं। उपदिष्ट सतामिष्टस्तस्यायं विधिसत्तमः ॥६॥
तेनान्यैश्च यथाशक्तिर्भवभीतैरनुष्ठितः। ग्रंथो बुधाशाधरेण सद्धर्मार्थमथो कृतः ॥७॥
विक्रमार्कव्यशीत्यग्रद्वादशाब्दशतात्यये। दशम्यां पश्चिमे ( भागे ) कृष्णे प्रथतां कथा ॥८॥
पत्नी श्रीनागदेवस्य नंद्याद्धर्मेण नायिका। यासीद्रत्नत्रयविधिं चरतीनां पुरस्सरी ॥९॥

—रत्नत्रयविधिप्रशस्ति।

२. इंडियन एण्टीक्वेरी जि० २०, पृ० ३११।

दूसरा वि० सं० १२८९ का है[1]। मांधातासे वि० सं० १२९२ भादों सुदी १५, सन् १२३५ का २९ अगस्तका दानपत्र भी मिला है[2]। यह उसका अन्तिम दानपत्र जान पड़ता है; क्योंकि जब सं० १२९२ ( सन् १२३५ ) में आशाधरने त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र बनाया, उस समय उनके पुत्र जैतुगिदेव का राज्य था[3]। संभव है इसी वर्ष देवपालकी किसी समय मृत्यु हुई हो और इसीलिये जब आशाधरने सागारधर्मामृत सटीक वि० सं १२९६ मे नलकच्छपुरके नेमिनाथ चैत्यालयमें बनाया, उसमे राजाका कोई उल्लेख नहीं किया, क्योंकि उस समय जैतुगिदेवका राज्य था।

कवि दामोदरने सलखणपुरमें रहते हुए पृथ्वीधरके पुत्र रामचन्द्रके उपदेश एवं आदेशसे, तथा मल्हपुत्र नागदेवके अनुरोधसे नेमिनाथचरित्र वि० स० १२८७ मे परमार वंशी राजा देवपालके राज्यमे बनाकर समाप्त किया था। कविका वंश मेडेत्तम था, और पिताका नाम कवि माल्हण था, उसने दल्हका चरित्र बनाया था। कविके ज्येष्ठ भ्राताका नाम जिनदेव था उस समय उक्त नगरमे मुनि कमलभद्र भी विद्यमान थे।

मालवाके शास्त्रभंडारो और मन्दिरोके मूर्ति लेख सकलित होनेपर धारा सम्बन्धित जैन इतिवृत्तमें और भी विस्तार हो सकता है। आशा है, अन्वेषक विद्वान इसपर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

१. इंडियन एण्टीक्वेरी जि० २० पृ० ८३।

२ इंडियन एण्टीक्वेरी जि० ९, पृ० १०८-१३।

३. प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे। श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थेम्नावन्तीमवत्यलम्॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्। ग्रन्थोऽयं द्विनवद्व्येकविक्रमार्कसमात्यये॥ —त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रप्रशस्ति।

# आगरामें निर्मित जैन वाङ्मय

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

## आगराकी भूमिका महत्त्व

आगराकी पुण्य भूमिको साहित्य-सृजन, प्रतिलिपि अङ्कन एवं ग्रन्थोंको भाषा-वचनिकाएँ सम्पादित करनेका गौरव प्राप्त है। इस पुण्य भूमिने कवि, गद्यलेखक एवं जैन विद्याके जानकार व्यक्तियोंको जन्म तो दिया ही, साथ ही ऐसे अनेक व्यक्तियोंको भी आश्रय प्रदान किया, जो किन्हीं दूसरे स्थानोंमें जन्म प्राप्त किये थे। इस भूमिने संस्कृतके महाकवि पण्डित राजमल्ल एवं कवि बनारसीदास, पण्डित रूपचन्द, भगवतीदास, धर्मदास और जगजीवन आदि हिन्दी कवियोंको साहित्य सेवाके लिए आमन्त्रित किया है। आगराकी इस भूमिने लगभग दो सौ वर्षों तक अकबर और औरङ्गजेबके साम्राज्यकालमें जैन हिन्दी साहित्यका नेतृत्व किया है। यदि हम आगराको साहित्य सेवाको हिन्दी जैन साहित्यके इतिहाससे पृथक् कर दें तो उसका मूल्य ही शून्य हो जाय। हम सर्वप्रथम आगरामें प्रस्तुत को गयी गोम्मटसारकी सुमतिकीर्त्तिसूर्य विरचित टीकाकी प्रतिलिपिके अन्तमें अङ्कित पुष्पिकाको उपस्थित करते हैं, जिससे स्पष्ट होगा कि आगराका समाज कितना साहित्य-प्रेमी और उदार था। पुष्पिकामें बताया है—

'अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्यात् संवत् १६२१ वर्षे भाद्रपद सुदी १५ दिने आगरानामनगरे पातिसाहश्रीमुद्गलअकबरजलालदीनराज्ये श्रीमत्काष्ठसंघे माथुरगच्छे पुष्करान्वये भट्टारकश्रीमलयकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीवादीभकुम्भस्थलविदारणैकसिंहश्रीगुणभद्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीसर्वगुणगरिष्ठभानुकीर्त्तिदेवास्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये वांसलगोत्रे साधुश्रीगिणा तद्भार्या खिमाइ तत्पुत्राश्चत्वारः। प्रथमपुत्र चाऊ, तस्य भार्ये द्वे प्रथम भार्या.................. तत्पुत्रचिरंजीवरिखभदास। द्वितीयभार्या मांढणदे। साह श्याम द्वितीयपुत्र राऊ तृतीयपुत्र पदार्थ चतुर्थ पुत्र देऊ एतेषां मध्ये साधुश्रीरिषभदासेन पुष्पांजलिव्रतोद्यापनार्थं एतद् ग्रन्थं लिखापितम्।'[1]

पुष्पिकासे स्पष्ट है कि ऋषभदासने पुष्पाञ्जलिव्रतके उद्यापन हेतु उक्त ग्रन्थकी प्रतिलिपि करायी थी। आगराका समाज साहित्यमें विशेष रूपसे रुचि लेता था, इसी कारण वहाँ नवीन ग्रन्थोंका प्रणयन होनेके साथ पुरातन आचार्योंकी कृतियोंकी प्रतिलिपियाँ भी सम्पन्न करायी जाती थीं।

## संस्कृत वाङ्मयका निर्माण

सुदूर इतिहासके सम्बन्धमें हमारी जानकारी बहुत सीमित है। पर विक्रम संवत् १६३२ चैत्र कृष्णा अष्टमी पुनर्वसु नक्षत्रमें कवि राजमल्लने जम्बूस्वामीचरित नामक प्रबन्धकाव्यका प्रणयन किया है। इस काव्यके आरम्भमें बताया गया है कि अर्गलपुर ( आगरा ) में अकबर बादशाहका राज्य था। कविका अकबरके प्रति जजियाकर और मद्यकी बन्दी करनेके कारण आदरभाव था। कविने इस काव्यको अग्रवाल जातिमें उत्पन्न गर्गगोत्री साहु टोडरके लिए रचा है। ये साहु टोडर अत्यन्त उदार, परोपकारी, दानशील और विनय आदि गुणोंसे सम्पन्न थे। कविने इस सन्दर्भमें साहु टोडरके परिवारका पूरा परिचय दिया है। उन्होंने मथुराकी यात्रा की थी और वहाँ जम्बूस्वामी क्षेत्रपर अपार धन व्यय करके ५०१ स्तूपोंकी मरम्मत तथा १३ स्तूपोंका जीर्णोद्धार कराया था। इन्हींकी प्रार्थनासे कविने आगरामें निवास करते हुए इस चरित ग्रन्थकी रचना की है।

इस काव्यमें १३ सर्ग और २४०० पद्य हैं। कथामुख वर्णनमें आगराका बहुत ही सुन्दर चित्रण है। वहाँके भवन, अट्टालिकाएँ, बाजार एवं निवासी कितने समृद्धशाली थे, इसका परिज्ञान उक्त वर्णनसे हो जाता है। यहाँ ऐतिह्य परिज्ञानके लिए कतिपय पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे कविको वस्तुवर्णनक्षमताके साथ उसकी काव्यकलाका भी आभास प्राप्त हो जाएगा।

---

१. प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, पृष्ठ ९७।

अथाधिपानामिव राजपत्तनं महानिहास्ति नगराधिपाधिपः ।
येनाधिछन्नं मनुतेस्म भूपतिः समस्तवस्त्वाकर आगराख्यया ॥
यदीयशालः सुविशालतामयो दिवं दिदृक्षुः सुरनिम्नगामिव ।
शिलोच्चयोत्तुम्बरमंबरं नयन् वपुस्तदुच्चैः पदमारुरोहयत् ॥
यदभ्रमभ्रं लिहसौधमंडलीशिरःस्खलद्वारहयाद्वहर्पतिः ।
पदं चकारोत्तरदक्षिणायने स भीतभीतोऽत्र यतस्तिरोहति ॥

—जम्बूस्वामिचरित १।३२–३४

उक्त पद्योसे अवगत होता है कि आगराके भवन बहुत ही उन्नत थे। उनकी अट्टालिकाएँ आकाशका स्पर्श करती थीं। विशाल परकोटे नगरको आवृत किये हुए थे। सूर्य अपने अश्वोंके स्खलनके भयसे इस नगरके ऊपरसे गमन करनेमें भयभीत रहता था। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि सूर्य अपने इसी भयके कारण उत्तरायण और दक्षिणायनको प्राप्त होता है। इस वर्णनमेंसे काव्य चमत्कारको पृथक् भी कर दिया जाय तो भी नगरकी समृद्धिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती। यह सत्य है कि अकबरके समयमें आगरा नगर भारतके समस्त नगरोंमें श्रेष्ठ एवं समृद्धशाली था।

इस काव्यकी कथावस्तु जम्बूस्वामीके जीवनसे सम्बद्ध है। कथावस्तु दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है, पूर्वभव और वर्त्तमान जन्म। पूर्व भवावलिमें भावदेव और भवदेवके जीवनवृत्तोंका अंकन है। इस आख्यानमें जीवनके उत्थान और पतनकी कथा सम्मिलित है। कविने विद्युच्चरचोरका आख्यान भी वर्णित किया है। आरम्भके चार परिच्छेदोंमें वर्णित सभी आख्यान पूर्वभवावलिसे सम्बन्धित है। पञ्चम परिच्छेदसे जम्बूस्वामीका इतिवृत्त आरम्भ होता है। जम्बूकुमारके पिताका नाम अर्हद्दास था। जम्बूकुमार बड़े ही पराक्रमशाली और वीर थे। इन्होंने एक मदोन्मत्त हाथीको वशमें किया, जिससे प्रभावित होकर चार श्रीमन्त सेठोंने अपनी कन्याओंका विवाह उनके साथ कर दिया। जम्बूकुमार एक मुनिका उपदेश सुन विरक्त हो गये और वे दीक्षा लेनेका विचार करने लगे। चारों स्त्रियोंने अपने मधुर हाव-भावों द्वारा कुमारको विषय भोगके लिए आकर्षित करना चाहा, पर वे मेरुके समान अडिग रहे। नवविवाहिताओंका कुमारके साथ नानाप्रकारसे रोचक वार्त्तालाप हुआ और उन्होने कुमारको अपने वशमें करनेके लिए पूरा प्रयास किया, पर अन्तमें वे कुमारको अपने रागमें आबद्ध न कर सकी और उन्होने जिन-दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण किया तथा केवलज्ञान और निर्वाण पद प्राप्त किया।

इस कथावस्तुको कविने बहुत ही सरस बनाया है। वर्णन सन्दर्भोंको पूर्णतया सरस और चमत्कारपूर्ण बनाया है। अनुष्टुप् पद्योंमें भी कविने काव्यचमत्कार उत्पन्न करनेमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने दी है। कवि युद्धक्षेत्रका वर्णन करता हुआ वीरता और रौद्रताका मूर्त्त रूप ही प्रस्तुत कर देता है। यहाँ उदाहरणार्थ कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते है—

प्रस्फुरत्स्फुरदस्त्रौघा भटाः संदर्शिता परे ।
औत्पातिका इवानीला सोल्का मेघाः समुत्थिताः ॥
करवालं करालाग्रं करे कृत्वाऽभयोऽपरः ।
पश्यन् मुखरसं तस्मिन् स्वसौन्दर्यं परिजज्ञिवान् ॥
कराग्रं विधृतं खड्गं तुलयन्कोऽप्यमाक्रटः ।
प्रमिमित्सुरिवानेन स्वामीसत्कारगौरवम् ॥

—जम्बूस्वामिचरित ७।१०४-१०६

कविने इस सन्दर्भमें दृश्य बिम्बकी सुन्दर योजना की है। समरमें भास्वर अस्त्र धारण किये हुए योद्धा इस प्रकारके दिखलाई पड़ते है, जिस प्रकार उत्पात कालमें नीले मेघ उल्कासे परिपूर्ण परिलक्षित होते हैं। यह निमित्त शास्त्रका नियम है कि उत्पात कालमें टूटकर पड़ने वाली उल्काएँ अनियमित रूपसे झटिति गति करती हैं और वे नीले मेघोंके साथ मिलकर एक नया ही रूप प्रस्तुत करती है। कविने इसी बिम्बको अपने मानसमें ग्रहणकर दीप्तिमान् अस्त्रोंसे परिपूर्ण योद्धाओंकी आभाका चित्रण किया है। द्वितीय पद्यमें हाथके अग्रभागमें धारण किये गये करवालमें योद्धाओंको रोषपूर्ण अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है। इस कल्पनाको भी कविने चमत्कृत रूपमें प्रस्तुत किया है।

योद्धा वीरतापूर्वक युद्ध कर रहे है। उनकी शक्तिके समक्ष शत्रुदल निर्वीर्य होता जा रहा है। नगरवीथियाँ जनसमूहसे रहित हो रही हैं। चारों ओर जम्बूकुमारका विजयगान सुनाई पड़ रहा है। जनताद्वारा किया गया विजयघोष

धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि महासमुद्रकी बेलासे उत्पन्न तरंगें अब शनैः-शनैः शान्त हो रही हैं। पौरांगनायें सौध-वातायनसे पुष्पाञ्जलिकी वर्षा कर रही हैं। कवि राजमल्लने उक्त दृश्यका चित्रण भी निम्नाङ्कित रूपमें प्रस्तुत किया है—

शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः।
कल्लोलैरिव वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः॥
पुरांगनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोऽञ्जलयोऽपतन्।
सौधवातायनस्थाभिस्तद्दृष्टिपातैः समं प्रभोः॥ —जम्बूस्वामीचरित ७।११४-११५

एकादशसर्गमें सूक्तियोंका सुन्दर समावेश किया गया है। कवि कहता है कि जिनके पास भोजन पचानेका सामर्थ्य है, उनके पास भोजन नहीं और जिनको यह सामर्थ्य नहीं उनके पास पर्याप्त भोजनसामग्री है। भोजनसामग्री और शक्ति इन दोनोंके प्राप्त होनेपर भी व्यक्ति दुर्भाग्यवश उपभोग नहीं कर पाता। कविने लिखा है—

दुर्लभं चैकतश्चैकं वस्तुजातं स्वभावतः।
भोक्तुं शक्तिर्न केषांचिद्यथास्त्यपि भोजने॥
परेषां भोजनं नास्ति भोक्तुं शक्तिस्तु वर्तते।
द्वयं प्राप्य न भुंजीत यः स दैवेन वञ्चितः॥ —जम्बूस्वामिचरित ११।७-८

लोभका उदाहरण देते हुए कविने एक ऊँटका दृष्टान्त निबद्ध किया है। बताया है कि एक दिन एक ऊँट घूमता हुआ एक कुएँके तटवर्ती वृक्षके निकट पहुँचा। अपनी लम्बी गर्दनसे उसकी सुस्वादु पत्तियोंका आस्वादन करने लगा। पत्तियोंके हिलनेके कारण उस वृक्षके ऊपर स्थित एक मधु-छत्तेसे मधुकी कतिपय बूँदें उसके मुखमें जाने लगीं। उस रसास्वादनसे वशीभूत हो, वह मनमें विचारने लगा कि यदि उसकी ऊँची शाखाकी स्वादिष्ट पत्तियाँ प्राप्त हो जायें, जिनमें मधु भरा हुआ है, तो कितना अच्छा हो। यह निश्चय कर लोभाविष्ट हो ऊँची शाखाकी पत्तियोंको तोड़नेका प्रयास करने लगा। वह अपने इस प्रयासमें असफल हो गया और किञ्चित भूल हो जानेसे कूपमें गिर गया तथा पञ्चत्वको प्राप्त हो गया। इसी प्रकार जो व्यक्ति अधिक पानेकी लालसासे श्रमका त्याग करता है, वह उस मूर्ख ऊँटके समान कष्ट प्राप्त करता है।

उक्त उदाहरण विद्युच्चरचोरने जम्बूस्वामीको संसारमें आसक्त बनानेके लिए प्रस्तुत किया है। जम्बूस्वामीने भी उक्त उदाहरणका उत्तर प्रत्युदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है जिसमें संसारके भोगोपभोगको स्वप्नके समान अस्थिर बतलाया है। इस सर्गमें विद्युच्चरचोर और जम्बूस्वामीका संवाद बहुत ही मार्मिक रूपमें प्रस्तुत हुआ है। महाकाव्यके अन्यतम अंग संवादकी दृष्टिसे यह सर्ग बहुत सफल है। कविने चारों भार्याओंके संवाद भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें मानवके अन्तर्द्वन्द्व, आत्मचिन्तन, पुण्यपापके फल, अन्तस्तलकी निगूढ़ भावनाओंके घात प्रतिघात एवं कार्योंमें मस्तिष्क एवं हृदयके समन्वय को पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है। पात्रोंके चरित्र भी साङ्गोपाङ्ग रूपसे उपस्थित किये गये हैं। प्रबन्धकाव्यके इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार, वर्णन-संवाद और भावाभिव्यञ्जन ये चारों ही अवयव सन्तुलित रूपमें गुम्फित किये गये हैं। अतः आगरानगरने सत्रहवीं शताब्दिमें जम्बूस्वामिचरितम् जैसा प्रबन्ध काव्य प्रदान किया है—जिसमें बुद्धि; राग, तथा कल्पनातत्त्वका समन्वय, अनुभूतिका सन्तुलन, भाव और भाषाका एकीकरणलय और तालकी मधुरता एवं भावगाम्भीर्य सर्वत्र वर्त्तमान है।

कविकी अन्य तीन रचनाओंमें 'पञ्चाध्यायी' अपूर्ण है। 'लाटीसंहिता' और 'अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड' की रचना वैराटनगरमें हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि जम्बूस्वामिचरितकी रचनाके उपरान्त कविको आगरा छोड़ना पड़ा और वैराटनगरमें रहकर उसने अपनी साधना आरम्भ की। यही कारण है कि जम्बूस्वामिचरितकी रचनाके ९ वर्ष उपरान्त लाटीसंहिताका प्रणयन किया। जम्बूस्वामिचरितके कई पद्य लाटीसंहितामें अक्षरशः अथवा कुछ परिवर्त्तनके साथ उपलब्ध होते हैं। अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड लाटीसंहिताकी उत्तरवर्त्ती रचना है और कविने अपने अन्तिम जीवनमें पञ्चाध्यायी[1] को लिखा। बीचमें ही आयु समाप्त हो जानेसे यह ग्रंथ अपूर्ण रह गया।

## हिन्दी वाङ्मयका निर्माण

जैन हिन्दी साहित्यके निर्माण केन्द्रोंमें आगरा, अजमेर, ग्वालियर, जयपुर आदि स्थान प्रमुख हैं। १८ वीं

१. वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित अध्यात्मकमलमार्त्तण्डकी भूमिकामें श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने लाटीसंहिता और पञ्चाध्यायीके समानान्तर पद्योंको भूमिकामें उद्धृत किया है।

और १९ वीं शताब्दिमें हिन्दी जैनसाहित्यके प्रमुख ग्रन्थोंका प्रणयन आगराकी पुण्यभूमिमें होता रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इन शताब्दियोंमें आगरेकी जनतामें अपूर्व साहित्य अनुराग था। यही कारण है कि कचौड़ी वाला पण्डित बनारसीदासजीके पास जाकर मृगावती और मधुमालतीकी कथाएँ सुना करता था। महाकवि बनारसीदास जब इन कथाग्रन्थोंका वाचन प्रस्तुत करते तो दस-बीस काव्य रसिक व्यक्ति काव्यसुधाका पानकर तृप्त होते थे और उन्हें आशीर्वाद देते थे[1]।

उक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि आगरेकी साधारण जनतामें भी काव्यके प्रति परमास्था थी।

महाकवि बनारसीदासने नाटकसमयसारके अन्तमें जो पद्य दिये हैं, उनसे उनके समयके रूपचन्द, चतुर्भुज बैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, जगजीवन और कुँवरपालका निर्देश प्राप्त होता है। कविने लिखा है—

नगर आगरा मांहि विख्याता। कारन पाइ भए बहु ज्ञाता॥
पञ्चपुरुष अति निपुन प्रवीने। निसिदिन ज्ञानकथा रसभीने॥१०॥
रूपचन्द पण्डित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतीय भगौतीदास नर, कौंरपाल गुनधाम॥११॥
धर्मदास ए पंच जन, मिलि बैसे एक ठौर।
परमारथ चरचा करैं, इन्हके कथा न और॥१२॥

साहित्य-विधाकी दृष्टिसे आगराकी उर्वर भूमिने जैन हिन्दी साहित्यको महाकाव्य, खण्डकाव्य, नीतिकाव्य, पदकाव्य एवं अन्य स्फुट रचनाओंको जन्म दिया है। हम यहाँ सुविधाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम महाकवि बनारसी द्वारा उल्लिखित रूपचन्द (पाण्डेय), धर्मदास आदि कवियोंके व्यक्तित्व और कृतित्वके आधारपर काव्य-मूल्याङ्कन प्रस्तुत करेंगे।

## पण्डित रूपचन्द या रूपचन्दपाण्डेय और इनका वाङ्मय

पण्डित रूपचन्द और पाण्डेय रूपचन्द दोनों एक नहीं दो भिन्न व्यक्ति हैं। महाकवि बनारसीदासने इन दोनोंका ही उल्लेख किया है। नाटक समयसारकी प्रशस्तिमें रूपचन्दपण्डित कहा है और अर्धकथानकमें पाण्डेय रूपचन्द कहा गया है। इन्होंने अपने गुरुका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तब बनारसी और भयौ। स्यादवाद परिनति परिनयौ।
पांडे रूपचन्द गुरु पास। सुन्यौ ग्रन्थ मन भयौ हुलास॥
फिर तिस समै बरस द्वै बीच। रूपचन्द कौं आई मीच।
सुनि-सुनि रूपचन्दके बैन। बानारसी भयौ दिढ़ जैन॥

—अर्धकथानक, पद्य ६३४–६३५

उक्त उद्धरणसे भी ऐसा अवगत होता है कि रूपचन्द और पाण्डेय रूपचन्द भिन्न व्यक्ति हैं। पाण्डेय रूपचन्द महाकवि बनारसीदासके गुरु हैं और रूपचन्दने अपना परिचय दिया है। उनके अनुसार आपका जन्म स्थान कुरु देशमें स्थित सलेमपुर था। आप अग्रवाल वंशके भूषण, गर्गगोत्री थे। आपके पितामहका नाम भामह और पिताका नाम भगवानदास था। भगवानदासकी दो पत्नियाँ थीं जिनमें प्रथमसे ब्रह्मदास नामक पुत्रका जन्म हुआ और दूसरी पत्नीसे पाँच सन्तानें हुईं—हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द और रूपचन्द। यह रूपचन्द ही पाण्डेय रूपचन्द हैं। भट्टारकीय पण्डित होनेके कारण इनकी पाण्डेय उपाधि थी। ये जैन सिद्धान्तके ममज्ञ विद्वान् थे और शिक्षार्जन हेतु उन्होंने बनारसकी यात्राकी थी। महाकवि बनारसीदासने उन्हीं रूपचन्दको अपना गुरु बताया है और पाण्डेय शब्दमें[4] उल्लेख किया है।

महाकवि बनारसीदासको व्यवसायके हेतु आगराकी यात्रा करनी पड़ी थी। व्यापारमें असफल होनेके कारण आगरामें बनारसीदासका समय काव्य रचना लिखने और विद्वानोंकी गोष्ठीमें सम्मिलित होनेमें बीतता था। संवत् १६९२ में इनके

---

१. अर्धकथानक, पद्य ३३५-३६।

२. बनारसीविलास, नानूरामस्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर, भूमिका पृष्ठ २८।

३. विशेष जाननेके लिए देखिये—अनेकान्त, वर्ष १०, किरण २ (अगस्त १९४९)पाण्डेय रूपचन्द और उनका साहित्य शीर्षक निबन्ध पृष्ठ ७७।

४. आठ बरसको हुओ बाल। विद्या पढ़न गयो चटसाल॥
गुरु पांडे सौं विद्या सिखै। अक्खर बाँचै लेखा लिखै॥ —अर्धकथानक पृष्ठ १०।

गुरु पाण्डेय रूपचन्दका आगरामें आगमन हुआ।[1] इन्होंने आगरामें तिहुना नामक मन्दिरमें डेरा डाला। उनके आगमनसे बनारसीदासको पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। यहीं इन्हीं पाण्डेय रूपचन्दसे कविने गोम्मटसार ग्रन्थकी व्याख्या सुनी थी।[3] संवत् १६९४ में पाण्डेय रूपचन्दकी मृत्यु हो गयी।

आदरणीय स्व० पं० श्री नाथूराम प्रेमीने भी रूपचन्दको पाण्डेय रूपचन्दसे भिन्न माना है। कवि बनारसीदासने अपने नाटक समयसारमें अपने जिन पाँच साथियोंका उल्लेख किया है, उनमें एक रूपचन्द भी हैं, जो पाण्डेय रूपचन्दसे भिन्न हैं। बनारसीदास इन रूपचन्दके साथ भी परमार्थकी चर्चा किया करते थे। इनके सम्बन्धमें विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

परमार्थी दोहाशतक, गीतपरमार्थी और पञ्चकल्याण मङ्गल ये तीनों ग्रन्थ रूपचन्द कृत है, पाण्डेय रूपचन्द्रकृत नहीं, क्योंकि हस्तलिखित प्रतियोंमें कर्त्ताका नाम केवल रूपचन्द ही उपलब्ध होता है। अध्यात्मसवैया, खटोलनागीत और स्फुटपद भी रूपचन्दकृत ही हैं।

पाण्डेय रूपचन्दकी समवशरण पूजा अथवा केवलज्ञानकल्याण चर्चा ग्रन्थ उपलब्ध है। इन्होंने इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें अपना पूर्ण परिचय भी दिया है। पाण्डेय रूपचन्द्र संस्कृतके विज्ञ थे अतः उनकी श्रावकप्रायश्चित्त और शील-कल्याणकोद्यान ये दोनों संस्कृत रचनाएं भी मानी जा सकती हैं।

एक समस्या यहाँ और उत्पन्न होती है। वह है बनारसीदासके नाटक समयसारके टीकाकार रूपचन्द्रकी टीकाका रचनाकाल संवत् १७९८ है। यदि स्व० श्री प्रेमीजीके अनुमानके अनुसार ये रूपचन्द बनारसीदासके मित्र हैं, तो आयुकी समयसीमा इतनी अधिक बढ़ जाती है जिससे समस्याका समाधान नहीं हो पाता। बनारसीदासका जन्म संवत् १६४३ है। यदि उनके मित्रको उनसे दस वर्ष छोटा भी मान लिया जाय, तो रूपचन्दका जन्म संवत् १६५३ आयेगा। इस प्रकार १४५ वर्षकी आयु टीकाके समय रूपचन्दकी रही हो, यह कैसे सम्भव है? अतएव हमे टीकाकार एक तीसरे ही रूपचन्द प्रतीत होते है, जो आगराके ही निवासी थे। यद्यपि नाहटाजी नाटकसमयसारके टीकाकार महामहोपाध्याय रूपचन्दको मानते हैं, जो बीकानेरके निवासी थे। पर हमारी दृष्टिसे ये रूपचन्द आगराके निवासी हैं। इनके द्वारा प्रतिलिपि की गयी कुछ हस्तलिखित रचनाएँ मोतीकटरेके जैनमन्दिरमें पायी जाती हैं। रूपचन्दने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओंका प्रणयन आगराकी साहित्यभूमिमें किया है। यहाँ कतिपय रचनाओंका सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

रूपचन्दका परमार्थीदोहाशतक या दोहापरमार्थ नामका १०१ दोहोंका संग्रह उपलब्ध है। ये सभी दोहे अध्यात्मविषयक हैं। कविने विषयवासनाकी अनित्यता, क्षणभंगुरता, और असारताका सजीव चित्रण किया है। प्रत्येक दोहेके प्रथम चरणमें विषयजनित दुःख तथा उसके उपभोगसे उत्पन्न असन्तोष और दोहेके दूसरे चरणमें उपमान या दृष्टान्त द्वारा पूर्वकथनकी पुष्टि की गयी है। प्रायः समस्त दोहोंमें अर्थान्तरन्यास पाया जाता है। यथा—

> विषयन सेवत हउ भले, तृष्णा तउ न बुझाइ।
> जिमि जल खारा पीवतइ, बाढ़इ तिस अधिकाय॥ ४॥
> विषयन सेवत दुःख बढ़इ, देखहु किन जिय जोइ।
> खाज खुजावत ही भला पुनि दुःख इनउ होय॥ ९॥
> सेवत ही जु मधुर विषय, करुए होंहि निदान।
> विषफल मीठे खात के, अंतहि हरहिं पराण॥ ११॥

विषय-सुखोंकी निस्सारता दिखलानेके पश्चात् कवि सहज सुखका वर्णन करता है, जिसके प्राप्त होते आत्मा निहाल हो जाता है। यह सहजसुख स्वात्मानुभूतिरूप है। जिस प्रकार पाषाणमें सुवर्ण, पुष्पमें गन्ध, तिलमें तैल व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक घटमें विद्यमान है। जो व्यक्ति जड़ चेतनका परिज्ञानी है, जिसने दोनों द्रव्योंके स्वभावको भली प्रकार अवगत कर लिया है, वही व्यक्ति ज्ञानदर्शन-चैतन्यात्मक स्वपरिणतिका अनुभव कर सहजसुखको प्राप्त कर सकता है। कविने सहजसुखको विवेचित करते हुए लिखा है—

---

१. सोलह सै बानवे लौं कियौ नियत रसपान। पै कवीसुरी सब सब भई, स्याद्वाद परवान।
अनायास इस ही समय नगर आगरे थान। रूपचन्द पंडित गुनी, आयौ आगम जान। —अर्धकथानक पृष्ठ ५७, पद्य ६२९-६३०।

२-३. तिहुना साहु देहरा किया। तहां आइ तिन डेरा लिया।
सब अध्यातमी कियो विचार। ग्रन्थ बचायौ गोम्मटसार। ६३१॥ —अर्धकथानक पृ० ५८।

४. अर्धकथानक पद्य ६१५।

चेतन सहज सुख ही बिना इहु तृष्णा न बुझाइ।
सहज सलिल बिन कहहु, क्यउ उसन प्यास बुझाइ ॥ ३० ॥

२. गीतपरमार्थी अथवा परमार्थगीत—यह एक छोटी-सी कृति है। उसमे कुल सोलह पद्य है और सभी पद्य आध्यात्मिक है। जीवको सम्बोधन कर उसे राग, द्वेष, मोहसे पृथक् रहनेकी चेतावनी दी गयी है। आत्माका वास्तविक स्वरूप सत्‌चित् आनन्दमय है। इस स्वरूपको जीव अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण भूल जाता है और रागद्वेषरूप विकृतिको ही अपना निजरूप मान लेता है। इस विकारसे दूर रहनेके लिए कवि निरन्तर चेतावनी देता रहता है। पहला पद निम्न प्रकार है—

चेतन हो चेत न चेतऊ काहिन हो।
गाफिल होइ व कहा रहे बिधिवस हो ॥
...... ........................चेतन हो ॥ १ ॥

अध्यात्मसवैया—१०१ कवित्त और सवैया छन्दोका यह संग्रह है। जैन सिद्धान्त भवन, आराकी हस्तलिखित प्रतिमे इसे रूपचन्दशतक कहा गया है। समस्त छन्द आध्यात्मपूर्ण है। जीवन, जगत और जीवकी वर्तमान विकृत अवस्थाका चित्रण इन सवैयोमे पाया जाता है। कविने लिखा है कि यह जीव महासुखकी शैयाका त्यागकर क्षणिक सुखके प्रलोभनमे आकर संसारमे भटकता है और अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता है। मिथ्यात्व—आत्मानुभवमे बहिर्मुख प्रवृत्तिका निरोध समतारसके उत्पन्न होनेपर ही उत्पन्न होता है। यह समता आत्माका निजी पुरुषार्थ है। जब समस्त परद्रव्योंके संयोगको छोड आत्मा स्वरूपमे विचरण करने लगता है तो समतारसकी प्राप्ति होती है। कविने इस समता रसका विवेचन निम्न प्रकार किया है—

भूल गयौ निज सेज महासुख, मान रह्यो सुख सेज पराई।
आस हुतासन तेज महा जिहि सेज अनेक अनत जराई ॥
कित पूरी भई जु मिथ्यामति की हति भेद विज्ञान घटा जु सराई।
उमर्‌यौ ममिता रसमेघ महा, जिह वेग हि आस हुतास सिराई ॥ ८२ ॥

यदि आत्मा मिथ्यात्वस्थितिको दूरकर ममता रसका पान करने लगे तो उसे अपनेमे परमात्माका दर्शन हो सकता है। क्योंकि कर्म आदि परसयोगी हैं। जिस प्रकार दूध और पानी मिल जानेपर एक प्रतीत होते है, पर वास्तवमे उनका गुणधर्म पृथक् पृथक् है। जो व्यक्ति द्रव्य और तत्त्वोंके स्वभावको यथार्थरूपमे अवगतकर निजीरूपका अनुभव करता है, उसका उत्थान स्वयमेव हो जाता है। यह सत्य है कि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक उस आत्मतत्त्वकी प्राप्ति निजानुभूति से ही होती है और उसीमे मिथ्यात्वका क्षय भी होता है। कविने उक्त तथ्यपर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। वह कहता है—

काहू न मिलायौ जाने करम संजोगी सदा,
छीर नीर पाइयौ अनादि ही का धरा है।
अमिल मिलाय जड़ जीव गुन भेद न्यारे,
न्यारे पर भाव परि आप ही मे धरा है।
काहू भरमायौ नाहि भर्‌यौ भूल आपन ही,
आपने प्रकास कै विभाव भिन्न धरा है।
साचौ अविनासी परमातम प्रगट भयौ,
नास्यौ है मिथ्यात वस्यौ जहाँ ग्यान धरा है ॥ ९५ ॥

४ खटोलनागीत—खटोलनागीत छोटीसी कृति है। इसमे कुल तेरह पद्य है। यह रूपक काव्य है। कविने बताया है कि ससाररूपी मन्दिरमे एक खटोला है, जिसमे क्रोधादि चार पग है (पावा) है। काम और कपटका सिरा है और चिन्ता और रतिकी पाटी है। यह अविरतिके बानोसे बिना हुआ है और उसमे आशाकी अडवाइन लगायी गयी है। मनरूपी बढईने विविधकर्मोकी सहायतासे उसका निर्माण किया है। जीवरूपी पथिक इस खटोलेपर अनादिकालसे लेटा हुआ मोहकी गहरी निद्रामे सो रहा है। पाँच पापरूपी चोरोने उसकी संयमरूपी सम्पत्तिको चुरा लिया है। मोह निद्राके भङ्ग न होनेके कारण ही यह आत्मा निर्वाण सुखसे वञ्चित है। वीतरागी गुरु या तीर्थङ्करके उपदेशसे यह कालरात्रि समाप्त हो सकती है और सम्यक्त्वरूपी सूर्यका उदय हो सकता है। कविने इस प्रकार शरीरको खटोलाका रूपक देकर आध्यात्मिक तत्त्वोका विवेचन किया है। पद्य बहुत ही सुन्दर और काव्यचमत्कारपूर्ण है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

मवरति मंदिर पौढियो, खटोला मेरो कोपादिक पग चारि।
काम कपट सीरा दोऊ चिन्ता रति दोउ पाटि ॥ १ ॥
अविरति दिढ़ बानजि बुनो, मिथ्या माई विसाल।
आशा आडवाइनि दई, शंकादिक वसु माल ॥ २ ॥

× × ×

रागद्वेष दोउ गडुवा, कुमति सुकोमल सौरि।
जीवपथिक तँह पौढियो, पर परिणति संग गौरि ॥ ४ ॥

५. स्फुट पद—रूपचन्दके स्फुट पद लगभग ६०–७० की संख्यामें उपलब्ध हो चुके हैं। ये भी पद भक्तिरससे पूर्ण हैं। कविने अपने आराध्यकी भक्ति करते हुए उसके रूपलावण्यका विवेचन किया है। कवि एक पदमें अपने आराध्यके मुखको अपूर्व चन्द्रमा बतलाता है और इस अपूर्व चन्द्रमाको तर्कद्वारा पुष्टि करता है—

प्रभु मुख चन्द अपूरब तेरौ।
संतत सकल कला परिपूरन,
पारें तुम तिहुँ जगत उजेरौ ॥ प्रभु० ॥ १
निरूप राग निरदोष निरंजनु,
निरावरनु जड जाड्य निवेरौ ॥
कुमुद विरोध कर्सा कृत सागर,
अहि निसि अमृत अवै ज घनेरौ ॥ प्रभु० ॥ २ ॥
उदै अस्त बन राहतु निरन्तर,
सुर नर मुनि आनन्द जनेरौ ॥
रूपचन्द इमि नैनन देखति,
हरषित मन चकोर भयो मेरो ॥ प्रभु० ॥ ३ ॥

६. पञ्चमङ्गल या मङ्गलगीतप्रबन्ध—इस रचनासे प्रायः सभी लोग सुपरिचित हैं। कविने तीर्थंकरके पञ्च-कल्याणकोंकी गाथा काव्यरूपमें निबद्ध की है।

इस प्रकार कवि रूपचन्दने आगराकी साहित्यभूमिमें एकाग्रचित्त हो उक्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ जैन वाङ्मयके लिए प्रदान की। इनके समस्त साहित्यका विस्तृत परिचय प्रस्तुत करना तो यहाँ शक्य नहीं है, पर अति संक्षिप्त मीमांसा ही प्रस्तुत कर विराम लेना पड़ रहा है।

## महाकवि बनारसीदास और उनके द्वारा रचित वाङ्मय

महाकवि बनारसीदासका जन्म विक्रम संवत् १६४३ में माघ शुक्ल एकादशीको जौनपुरमें हुआ था, पर इनका काव्यक्षेत्र आगरा नगर है। कविने विक्रम, संवत् १७०१ तक काव्य रचना लिखी। आगराकी पुण्यभूमिमें 'बनारसीविलास' की रचना कविने की है, जिसका संग्रह दीवान जगजीवनने किया है। जिनसहस्रनाम, ज्ञानबावनी, वेदनिर्णयपञ्चाशिका, तिरसठशलाकापुरुषोंकी नामावलि, मार्गणा विधान, कर्मप्रकृतिविधान, कल्याणमन्दिरस्तोत्रपद्यानुवाद, साधुवन्दना, मोक्षपैडी, कर्मछत्तीसी, ध्यानबत्तीसी, अध्यात्मबत्तीसी, ज्ञानपच्चीसी, शिवपच्चीसी, भवसिन्धुचतुर्दशी, अध्यात्मफाग, सोलह तिथि, तेरह काठिया, अध्यात्मगीत, पञ्चपदविधान, शारदाष्टक, नवदुर्गाविधान नामनिर्णयविधान, नवरत्नकवित्त, अष्टप्रकारी-पूजा, दशदानविधान, दशबाल, पहेली, प्रश्नोत्तर दोहा, प्रश्नोत्तरमाला, अवस्थाष्टक, षट्दर्शनाष्टक, चातुर्वर्ण, अजितनाथके छन्द, शान्तिनाथ स्तुति, नवसेनाविधान, नाटक समयसार सिद्धान्तके पाठान्तर कलशोंका पद्यानुवाद, फुटकर कवित्त, गोरखनाथके वचन वैद्यलक्षणादि कवित्त, परमार्थवचनिका, उपादाननिमित्तकी चिट्ठी, निमित्त उपादानके दोहे अध्यात्म पदपङ्क्ति, अर्धकथानक, नाममाला और नाटकसमयसार ग्रन्थोंकी रचना की है। काव्यविधाकी दृष्टिसे बनारसीदास-के साहित्यको निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

---

१. 'अध्यातम बत्तीसिका', 'पवडी' 'फाग धमाल'।
कीनी 'सिन्धुचतुर्दशी' फूटक कवित्त रसाल ॥
'शिवपच्चीसी' भावना 'सहस अठोत्तर नाम'।
'करमछत्तीसी' झूलना' अन्तर रावन राम ॥

१. आत्मकथा काव्य ।
२. पद साहित्य ।
३. रूपक काव्य ।
४ रहस्यवादी काव्य ।
५. सूक्तिकाव्य ।
६ भक्तिकाव्य ।
७. लघुकाव्य अथवा एकार्थकाव्य ।

१—आत्मकथा लिखना अन्य काव्योंकी अपेक्षा कठिन है। लेखक निर्भीक होकर सामान्य जगत्के धरातलसे ऊपर उठकर ही आत्मकथाकाव्य लिख सकता है। इस काव्यकी प्रमुख विशेषता तटस्थरूपसे घटनाओंका यथार्थ निरूपण करना है। महाकवि बनारसीदासने अर्धकथानक नामक कथाकाव्य लिखा है। इसमें अपने समयके अनेक ऐतिहासिक तथ्योंके साथ मुसलमानी राज्यशासनका जीता-जागता चित्रण भी खींचा है। कविने सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकताका ऐसा अंकन किया है, जिससे यह आत्मकथा काव्य आधुनिक आत्मकथाओंसे किसी भी बातमें कम नहीं है। लेखकने अपने दोष एवं त्रुटियोंको भी सत्य एवं ईमानदारीके साथ ज्योंका त्यों रख दिया है। उसने अपने चारित्रिक दोषोंपर परदा डालनेका प्रयास नहीं किया। इसमें पचपन वर्षोंका इतिवृत्त वर्णित है। भाषा मध्यदेशकी बोली है। इसमें आडम्बरका अभाव है।

यह कथाकाव्य अत्यन्त ही रोचक, औपन्यासिक शैलीमें लिखा गया है। कवि बनारसीदास सच्चे अर्थमें कवि थे। उन्हें जीवनमें कभी सफलता प्राप्त नहीं हुई। आगराकी भूमिने कविको अर्थ तो नहीं दिया पर सरस्वतीका कृपापात्र अवश्य बनाया। सरस्वतीके इस लाडलेने ६७५ दोहा और चौपाइयोंमें अपनी आत्मकथा लिखकर हिन्दी साहित्यके समक्ष एक नयी विधाको जन्म दिया है।

२—मानव अनुभूति वासना और विचारोंसे जीवित है। जीवनकी विस्तृत भूमिकाके रूपमें अनुभूतिका आलोक है और अनुभूतियोंमें श्रेष्ठ है आत्मानुभूति इसमें सारा ध्यान खिंचकर एक बिन्दुपर आ अटकता है जहाँ दुःख नहीं, छिपाव नहीं, संकोच नहीं। व्यक्ति बाह्यसे विमुख हो अन्तस्की ओर जब तक नहीं मुड़ता है, मन इधर उधर भटकता रहता है। मन एक बार जब आत्मोन्मुख हो जाता है, तो फिर भागनेका उसे अवकाश नहीं रहता। कविवरने मनको इसी सन्तोषकी ओर ले जानेका सङ्केत किया है। इनके पद साहित्यको हम तीन वर्गोंमें मख्य रूपसे विभक्त कर सकते हैं—

(क) **भक्तिसम्बन्धी पद**—प्रार्थना, आत्मनिवेदन, गुणगाथा एवं प्रबन्धात्मक रूपमें तीर्थङ्करोंके गुणगान।

(ख) **आध्यात्मिक पद**—आत्मशोधन एवं विकार और वासनाओंको दूर करनेके हेतु आत्माकी वास्तविक स्थितिका चित्रण।

(ग) **रहस्यवादी पद**—आत्माके शुद्ध रूपमें स्वयंको मिला देने या आत्माके शुद्ध रूपको प्राप्त करनेके हेतु कषाय और वासनाओंका विवेचन।

इस संदर्भमें कविने तृष्णा एवं विकार आदिकी पूर्ण भर्त्सना की है। कविका विश्वास है कि परिग्रहका बीज लोभ है और परिग्रहके बढ़नेसे मोह उत्पन्न होता है और मोह बढ़नेसे तृष्णा बढ़ती है—तृष्णासे असन्तोष और असन्तोषसे दुःख होता है। इस भावनाका अंकन कविने निम्न पदमें किया है—

**रे मन ! कर सदा सन्तोष।**
**जातैं मिटत सब दुःख दोष ॥ रे मन० ॥ टेक ॥**
**बढ़त परिग्रह मोह बढ़ावत, अधिक तृष्णा होय।**
**बहुत ईंधन जरत जैसे, अगनी ऊँची ज्योति रे ॥ रे मन० ॥**
**लोभ, लालच मूढ़ जन सों कहत कञ्चनदान।**
**फिरत आरत नहिं विचारत, धरम धनकी हान ॥ रे मन० ॥**

---

बरनी आँखें दोइ विधि, करी 'बचनिका' दोइ।
'अष्टक' 'गीत' बहुत किए कहाँ कहा ली सोइ ॥
सोलह सै बानवै लौं कियो नियत रसपान।
पै कबीसुरी सब भई स्यादवाद परवान ॥ —अर्धकथानक पद्य ६२६-६२९।

नारकिनके पाँव सेवत सकुच मानत संक।
ज्ञानकरि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रंक ॥ रे मन० ॥

३—आध्यात्मिक रूपक काव्योंके लघु आख्यानोंमें क्षमा, क्रोध, उत्साह एवं सहानुभूति आदि नैसर्गिक पात्रोंकी योजना कर जीवनके प्रकाश और अन्धकार पक्षकी मौलिक उद्भावना की है। इन काव्योंमें मानव हृदयकी दुर्बलताओं और शक्तियोंको इतना टटोला और परखा गया है, जिससे रूपकोंमें तात्त्विक अभिव्यञ्जना रहने पर भी नीरसता नहीं आने पायी है। आत्मिक विधान स्वस्थ और सन्तुलित रूपमें मानस-शोधनके लिए प्रेरणा तो देता ही है, साथ ही जीवनको कर्त्तव्यमार्गकी ओर भी गतिशील करता है। कवि बनारसीदासके नाटक समयसार, बरवह, सोलहतिथि, तेरह काठिया, ज्ञानपच्चीसी, अध्यात्मबत्तीसी, मोक्षपैड़ी, शिवपच्चीसी, भवसिन्धुचतुर्दशी एवं ज्ञानबावनी आदि ग्रन्थ उक्त अभिधाके अन्तर्गत है।

नाटक समयसारमे ७२६ पद्य है। कविने आत्मतत्त्वका निरूपण नाटकोंके पात्रोंका रूपक देकर किया है। इसमें सात तत्त्व अभिनय करने वाले है, यही कारण है कि इसका नाम 'नाटक समयसार' पड़ा है। मङ्गलाचरणके उपरान्त सम्यक्दृष्टिकी प्रशंसा, अज्ञानी और ज्ञानीका विभिन्न अवस्थाएँ, सम्यक्दर्शनकी महत्ता, आत्मजागृति, आत्माकी अनेकता, मनकी विचित्र दौड़, एवं सप्तव्यसनोंका सच्चा स्वरूप, प्रतिपादित करनेके साथ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका काव्य रूपमें निरूपण किया है। कवि रूपक द्वारा अज्ञानी जीवकी स्थितिका मार्मिक चित्रण करता हुआ कहता है—

काया चित्रसारीमें करम परजंक भारी, माया की संवारी सेज चादर कलपना ॥
शैनकरे चेतन अचेतनता नींद लिए, मोह की मरोर यहै लोचनको ढपना ॥
उदै बल जोर यहै श्वासको शबद घोर, विषै सुखकारी जाकी दौर यहै सपना ॥
ऐसी मूढ़ दशामें मगन रहे तिहुंकाल, धावे भ्रम-जालमें न पावे रूप अपना ॥

तेरह काठियामे कवि बनारसीदासने भौतिक जीवनको पशु जीवन बताया है। और मानव बननेका मार्ग इस कृतिमे वर्णित हैं। जिस प्रकार लुटेरे, चोर, बदमाश आदि देशमे उपद्रव मचाते है उसी प्रकार तेरह काठिया आत्मामें उपद्रव—विकृति उत्पन्न करते है। जुआ, आलस्य, शोक, भय, कुकथा, कौतुक, कोप, कृपणबुद्धि, अज्ञानता, भ्रम, निद्रा, मद, और मोह य तेरह आत्मामे विकार उत्पन्न करते हैं। विभावपरिणतिके कारण शुद्ध बुद्ध और निरञ्जन आत्मतत्त्वमें पर पदार्थोंके संयोगसे विकृति उत्पन्न हो जाती है। जबतक आत्मामे विभाव परिणति, पर पदार्थ रूप प्रवृत्ति करनेकी क्षमता रहती है, तबतक उक्त तेरह धूर्त आत्माके निजीधन, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यको चुराते हैं। कविने उक्त तेरह धूर्तोंका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

भवसिन्धुचतुर्दशीमें संसारकी विडम्बनाओंसे पृथक् रहनेकी ओर संकेत करते हुए परमार्थ चिन्तन अथवा तत्त्वान्वेषणकी ओर प्रवृत्त होनेकी बात कही है। प्रायः देखा जाता है कि उच्चतर अभिव्यक्तिसे वञ्चित मानव जीवन ऐन्द्रिय उपभोगमे ही डूबा रहता है। भौतिक संघर्षके कारण जीवन नौका आध्यात्मिकताकी ओर गतिशील नहीं हो पाती। रागवश मानव स्वभावतः विषम परिस्थितियोंसे आहत रहता है और उसे आत्मसुखरूपिणी स्थिति नहीं मिल पाती। शरीर और मन दोनों ही अस्वस्थ रहते हैं तथा कुत्सित लालसाएँ जीवनरसको सुखा देती है। कविने इस कृतिमें समुद्र, अग्नि आदिकी उपमाएँ संसारको देकर विषयका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया है।

कवि कहता है—

कर्म समुद्र विभाव जल, विषय कषाय तरङ्ग।
बड़वानल तृष्णा प्रबल, ममता धुनि सर्वङ्ग ॥

४—कवि बनारसीदासने कतिपय पद और काव्य रहस्यवादी रूपमें निबद्ध किये है। कवि हिंडोलनेका रूपक देकर आध्यात्मिकवादका सुन्दर विवेचन करता है। उसने बताया है कि मनके अनुपम महलमें सुरुचि रूपी सुन्दर भूमि है, उसमे ज्ञान और दर्शनके अचल खम्भे और चरित्रकी मजबूत रस्सी लगी है। यहाँ गुण और पर्यायको सुगन्धित वायु प्रवाहित होती है और निर्मल विवेकरूपी भौंरे गुंजार करते हैं। व्यवहार और निश्चयनयकी डण्ठी लगी है। सुमति की पटली बिछी है तथा उसमें छ द्रव्योंकी ६ कील लगी हैं। कर्मोंका उदय और पुरुषार्थ दोनों मिलकर धक्के देते है, जिससे शुभ और अशुभकी लहरें उत्पन्न होती हैं। संवेग और संवर दोनों सेवा करते है और व्रत ताम्बूलके बीड़े देते हैं।

इस प्रकारकी अवस्थामें आनन्दरूप चेतन अपने आत्मसुखकी समाधिमें निश्चल विराजमान है। धारणा, समता, क्षमा और करुणा ये चारों सखियाँ चारों ओर खड़ी हैं। सकाम और अकाम निर्जरा रूपी दासियाँ सेवा कर रही हैं। सातों नयरूपी सौभाग्यवती सुन्दरियाँ नूपुरकी मधुर झङ्कार कर रही हैं। गुरु वचनका मधुर राग अलापा जा रहा है। सत्य श्रद्धानुरूपी बादलोंकी घटाएँ गर्जन-तर्जन करती हुई बरस रही हैं। आत्मानुभव रूपी बिजली जोरसे चमकती है और शीलरूपी शीतल वायु बह रही है। तपस्याके जोरसे कर्मोंका जाल विच्छिन्न हो रहा है और आत्मा शुद्धानुभूतिमें संलग्न हो शुद्ध भावके हिंडोलेपर झूल रहा है। कविने उसी हिंडोलेका रहस्यवादी रूपमें चित्रण किया है। कवि का कहना है कि—

'पिय मोरे घटमें पिय माही, जल तरङ्ग ज्यों दुविधा नांहि।
पिय मो कर्त्ता मैं करतूति, पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥

कविने सूक्ति, भक्ति और लघु काव्योंमें भक्तिभावना, नामकीर्त्तन, विवेक-विरति आदिका चित्रण किया है। इस प्रकार आगरा नगरने मूर्धन्य जैन कविको काव्य रचनाके लिए प्रेरितकर महनीय कार्य सम्पन्न किया है।

## जगजीवन और उनका वाङ्मय

आगरा निवासी जगजीवन अग्रवाल जैन थे। इनका गोत्र गर्ग था। इनके पिताका नाम अभयराज और माताका नाम मोहनदे था। ये अभयराज जाफरखांके दीवान थे, जो बादशाह शाहजहांका पाँचहजारी उमराव था। जगजीवन अध्यात्म शैलीके कवि हैं। पण्डित हीरानन्दने विक्रम संवत् १७०१ में समवशरण विधानकी रचना की है। इस रचनामें जगजीवनका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

अब सुनि नगरराज आगरा, सकल सोभ अनुपम सागरा।
साहजहाँ भूपति हैं जहाँ, राज करैं नयमारग तहाँ ॥
ताकौ जाफरखाँ उमराउ, पंच हजारी प्रकट कराउ।
ताकौ अगरवाल दीवान, गरग गोत सब विधि परवान ॥
संघही अभैराज जानिए, सुखी अधिक सब करि मानिए।
वनितागण नाना परकार, तिनमैं लघु मोहनदे सार ॥
ताकौ पूत पूत सिरमौर, जगजीवन जीवनकौ ठौर।
सुंदर सुभगरूप अभिराम, परम पुनीत धरम धन धाम ॥

जगजीवनने[1] संवत् १७०१ में बनारसीविलासका सम्पादन किया था। इनके अबतक पैंतालिस पद भी उपलब्ध हो चुके हैं। इनके पदोंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१ प्रार्थना एवं स्तुति-परक
२ आध्यात्मिक
३. सांसारिक प्रपञ्चके विश्लेषण-मूलक

यहाँ उदाहरणके लिए एक पदकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—कविने सांसारिक प्रपञ्चको बादलकी छाया माना है और छायाका रूपक देकर पुरजन, परिजन, इन्द्रिय-विषय, राग-द्वेष-मोह, सुमति-कुमति, सभीकी व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा—

जगत सब दीसत घनकी छाया ॥
पुत्र कलत्र मित्र तन संपति
उदय पुद्गल जुरि आया।
अब परनति बरषागम सो हैं,
आश्रव पवन बहाया ॥ जगत० ॥१॥

---

१. समय जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयौ। ज्ञानिन की मंडलीमें जिसकौ विकास है।
—अर्धकथानक प्रेमीजी द्वारा उद्धृत पृ० ८२, प्रथम संस्करण।

इन्द्रियविषय लहरि तडता है
देखत जाय बिलाया।
राग दोष वसु पकति दीरघ
मोह गहल घरराया ।। जगत० ।।२।।
सुमति विरहनी दुख दायक है,
कुमति संजोग ति भाया।
निज संपति रतनत्रय गहि कर
मुनि जन नर मन भाया ।।
सहज अनंत चतुष्टय मंदिर
जगजीवन सुख पाया ।। जगत० ।।३।।

## धर्मदास और उनका आगरासे सम्बन्ध

धर्मदास बनारसीदासके साझेमें जवाहरातका व्यवसाय करते थे। कवि बनारसीदासने स्वयं अपने अर्धकथानक में लिखा है—

यह लखि कियौ सीरको संच। दी पूंजा मुद्रा सै पंच ।।
धरमदास बानारसि यार। दोऊ सीर करहिं व्योपार।

—अर्धकथानक पद्य ३५४

एक अन्य उद्धरणसे भी अवगत होता है कि धर्मदास बनारसीदासके साथ आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे[1]। इनकी रचनाओंके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, पर इतना सत्य है कि धर्मदास निश्चय कथनीके पण्डित थे और बनारसीदासके साथ इनकी आध्यात्मिक चर्चा हुआ करती थी। शास्त्र प्रवचन द्वारा ये आगराकी जनताको निश्चयनयकी चर्चा सुनाया करते थे और श्रोता आध्यात्मिक रसमें मग्न हो आनन्दमें झूमते थे।

## कुँवरपाल और उनका साहित्य

कुँवरपाल बनारसीदासके अभिन्न मित्र थे। इन्होंने सूक्तिमुक्तावलीका पद्यानुवाद बनारसीदासके साथ मिलकर किया है। इस पद्यानुवादमें उनकी काव्य प्रतिभाका परिचय प्राप्त होता है। सोमप्रभने संस्कृत भाषामें सूक्तिमुक्तावली की रचनाकी थी। इसीका पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद इन्होंने बनारसीदासके साथ मिलकर प्रस्तुत किया है। यह समस्त काव्य मानव जीवनको परिष्कृत करनेवाला है। कविने संस्कृत ग्रन्थका आधार ग्रहण कर भी अपनी मौलिकताको अक्षुण्ण रखा है। वह समस्त दोषोंकी खनि अहङ्कारको मानता है। मनुष्य 'अहं' प्रवृत्तिके अधीन होकर दूसरोंकी अवहेलना करता है। अपनेको बड़ा और दूसरेको तुच्छ या लघु समझता है। समस्त दोष इस एक ही दुष्प्रवृत्तिमें निवास करते हैं। कवि कहता है कि इस अभिमानसे ही विपत्तिकी सरिता कलकल ध्वनि करती हुई चारों ओर प्रवाहित होती है। इस नदीकी धारा इतनी प्रखर है जिसमें यह एक भी गुणग्रामको अपने पूरमें बहाये बिना नहीं छोड़ती। 'अहं' भाव विशाल पर्वतके तुल्य है। कुबुद्धि और माया उसकी गुफाएँ हैं। हिंसक बुद्धि धूम्ररेखाके समान है और क्रोध दावानलके तुल्य है। कवि कहता है—

जातैं निकस विपति सरिता सब, जगमें फैल रही चहुँ ओर।
जाके ढिंग गुणग्राम नाम नहिं; माया कुमति गुफा अति घोर ।।
जहँ वध बुद्धि धूमरेखा सम; उदित कोप दावानल जोर।
सो अभिमान पहार पठंतर, तजत ताहि सर्वज्ञ किशोर ।।

## कवि सालिवाहन और उनका वाङ्मय

कवि सालिवाहन भदावर प्रान्तके कञ्चनपुर नगरके निवासी थे। कविके पिताका नाम रावत खगरसेन और गुरुका नाम भट्टारक जगभूषण था। इन्होंने विक्रम संवत् १६९५ में आगरामें रहकर जिनसेनाचार्य कृत संस्कृतके

१. धर्मदास ये पंचजन मिलि बैसे इक ठौर। परमारथ चरचा करैं इनके कथा न और ।।

हरिवंश-पुराणका हिन्दीमें पद्यानुवाद उपस्थित किया है। हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि कविने उक्त, दोहा-चौपाई-बद्ध रचना आगराकी साहित्य-भूमिमें ही सम्पन्न की है।

संवत् सोरहिसे तहाँ भये तापरि अधिक पचानवै गये।
माघ मास किसन पक्ष जानि सोमवार सुभवार बखानि॥
……भट्टारक जगभूषण देव गनधर मादृस वाकि जु एह।
……नगर आगिरै उत्तम थानु साहिजहाँ तपै दूजो भानु॥
………वाहनकरी चौपई बन्धु हीन बुधि मेरी मति अंधु।

## कवि नन्द और उनका वाङ्मय

कवि नन्द आगरा निवासी गोयल गोत्री अग्रवाल थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६७० में यशोधरचरितभाषा-चौपाईकी रचना की है। कविने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

अग्रवार है वंश गोसना थानकौ, गोइलगोत प्रसिद्ध चिहनुता ठावकौ।
माता चंदा नाम पति मैरों भन्यौ, परि हाँ नन्द कही मनमोद सुगुन-गनुना गन्यौ॥

यशोधरचरितमें कविने प्रबन्धात्मकताका पूरा निर्वाह किया है। काव्यतत्त्वकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है।

## कवि हीरानन्द और उनका वाङ्मय

हीरानन्दने जगजीवनकी प्रेरणासे पञ्चास्तिकायसारका दो महीनोंमें पद्यानुवाद आगराकी भूमिमें सम्पन्न किया था। इस पद्यानुवादमें कविकी काव्य सम्बन्धी योग्यताका परिचय प्राप्त होता है। यह अनुवाद विक्रम संवत् १७११ में पूर्ण हुआ है। कविने लिखा है।

सुख दुःख दोसे भोगता, सुख दुःख रूप न जीव।
सुख दुःख जाननहार है, ग्यानसुधारस पीव॥३२१॥
संसारी संसारमें, करनीकौ करै असार।
सार रूप जानै नहिं, मिथ्यापनको टार॥३२४॥

## कवि बुलाकीदास और उनका वाङ्मय

बुलाकीदासका जन्म आगरेमें हुआ था। ये गोयलगोत्री अग्रवाल दिगम्बर जैन श्रावक थे। इनके पूर्वज बयाना (भरतपुर) में रहते थे। इनके पितामह श्रवणदास बयाना छोड़ आगरेमें बस गये थे। उनके पुत्र नन्दलालको सुयोग्य देखकर पण्डित हेमराजने उनके साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया था, जिसका नाम जैनी था। हेमराजने अपनी इस कन्याको बहुत ही सुशिक्षित किया था। बुलाकीदासका जन्म इसी जैनीके उदरसे हुआ था। उन्होंने अपनी माताकी प्रशंसामें लिखा है—

'हेमराज पंडित बसै तिसी आगरे ठाइ।
गरग गोत गुन आगरौ सब पूजै जिस पाइ॥
उपगीता कै देहजा 'जैनी' नाम विख्याति।
सीलरूप गुन आगरी प्रीति नीतिकी पाँति॥
दीनी विद्या जनक नैं कीनी अति व्युत्पन्न।
पंडित जापै सीखलैं धरनीतल में धन्न॥'

कविकी 'पाण्डवपुराण' नामक एक ही रचना उपलब्ध है। यह रचना उसने अपनी माताके आग्रहसे लिखी है।

## भैया भगवतीदास और उनका वाङ्मय

भैया भगवतीदास आगरा निवासी कटारिया गोत्री ओसवाल जैनी थे। इनके दादा दशरथ साहु और पिता लालजी थे। इनकी रचनाओंसे अवगत होता है कि जिस समय ये काव्य-रचना कर रहे थे, उस समय आगरा दिल्ली-

शासनके अन्तर्गत था, जहाँ औरङ्गजेब शासन करता था[1]। भैया भगवतीदासने छोटी-मोटी कई रचनाएँ लिखी हैं। इनकी रचनाओंका संग्रह ब्रह्मविलासके नामसे विक्रम संवत् १७५५ में किया गया है[2]। द्रव्यसंग्रह और अहिछितिपार्श्वनाथस्तुतिका[3] रचनाकाल विक्रम संवत् १७३१ है।

औरङ्गजेबका शासन विक्रम संवत् १७१५–१७६४ रहा है। अतः भैया भगवतीदास इसी अवधिके मध्य विद्यमान रहे हैं। ब्रह्मविलासमें एक पद्य मिलता है जिसमें कविने केशवदासकी रसिकप्रिया नामक शृंगाररसपूर्ण रचनाके लिए खेद प्रकट किया है। कविने लिखा है—

> बड़ी नीत लघु नीत करत है, बाय सरत बदबोय भरी।
> फोड़ो बहुत फुनगणी मंडित सकल देह मनु रोगदरी॥
> शोणित हाड़ मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी-घरी।
> ऐसी नारि निरखिकरि केशव ? 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी॥

कविके उपनाम 'भैया', 'भविक' और 'दासकिशोर' मिलते हैं। इनकी ब्रह्मविलासमें संग्रहीत रचनाओं की संख्या ६७ है। इनकी रचनाओंको काव्यविधाकी दृष्टिसे निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. पद-साहित्य
२. आध्यात्मिक रूपक काव्य
३. एकार्थ काव्य
४. प्रकीर्णक काव्य

१—इनके पदसाहित्यको[4] १. प्रभाती, २. स्तवन, ३ अध्यात्म, ४. वस्तुस्थितिनिरूपण, ५. आत्मालोचन एवं ६. आराध्यके प्रति दृढ़तर विश्वास विषयोंमें विभाजित किया जा सकता है। वस्तुस्थितिका चित्रण करते हुए बताया है कि यह जीव विश्वकी वास्तविकता और जीवनके रहस्योंसे सदा आँखें बन्द किये रहता है। इसने व्यापक विश्वजनीन और चिरन्तन सत्यको प्राप्त करनेका प्रयास नहीं किया। पार्थिव सौन्दर्यके प्रति मानव नैसर्गिक आस्था रखता है। राग-द्वेषोंकी ओर इसका झुकाव निरन्तर होता रहता है, परन्तु सत्य इससे परे है। विविध नामरूपात्मक इस जगत्से पृथक होकर प्रकृत भावनाओंका संयमन, दमन और परिष्करण करना ही व्यक्तिका जीवन-लक्ष्य होना चाहिये। इसी कारण पश्चात्तापके साथ सजग करते हुए वैयक्तिक चेतनामें सामूहिक चेतनाका अध्यारोप कर कवि कहता है—

> अरे तैं जु यह जन्म गमायो रे, अरे तैं॥
> पूरब पुण्य किये कहुँ अति ही, तातैं नरभव पायो रे।
> देव धरम गुरुग्रन्थ न परसे, भटकि भटकि भरमायो रे॥अरे०॥१॥
> फिरि तोको मिलिबो यह दुरलभ दश दृष्टान्त बतायो रे।
> जो चेतै तो चेत रे भैया, तोकों कहि समुझायो रे॥ अरे० ॥२॥

आत्मालोचन सम्बन्धी पदोंमें कविने रागद्वेष, ईर्ष्या, घृणा, मद, मत्सर आदि विकारोंसे अभिभूत हृदयकी आलोचना करते हुए गूढ़ अध्यात्मकी अभिव्यञ्जना की है।

२. आध्यात्मिक रूपक काव्यके अन्तर्गत कविकी चेतनकर्मचरित्र, शतअष्टोत्तरी, पञ्चेन्द्रियसंवाद, मधुबिन्दुक चौपाई, स्वप्नबत्तीसी, द्वादशानुप्रेक्षा आदि रचनाएँ प्रमुख हैं। चेतनकर्मचरितमें कुल २९६ पद्य हैं। कल्पना अरूप भावना, अलङ्काररस, उक्तिसौन्दर्य और रमणीयता आदिका समवाय पाया जाता है। भावनाओंके अनुसार मधुर अथवा परुष वर्णोंका प्रयोग इस कृतिमें अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। विकारोंको पात्र कल्पनाकर कविने इस

---

१. जम्बूदीप सु भारतवर्ष। तामें आर्य क्षेत्र उत्कर्ष॥
तहाँ उग्रसेनपुर थान। नगर आगरा नाम प्रधान॥
नृपति तहाँ राजै औरंग। जाकी आज्ञा वहै अभंग॥ —ब्रह्मविलास पृष्ठ ३०५।

२. संवत सत्रह से इकतीस, माघसुदी दशमी शुभदीस।
मंगलकरण परमसुखधाम, द्रवसंग्रह प्रति करहु प्रणाम॥ —ब्रह्मविलास पृष्ठ ५५।

३. सत्रह सो इकतीसकी सुदी दशमी गुरुवार।
कार्तिक मास सुहावनो पूजे पार्श्वकुमार॥ —वही, पृष्ठ १०८।

४. विशेष जाननेके लिए 'हिन्दी जैनसाहित्य परिशीलन' भाग १ पृष्ठ ८२–८३।

चरित काव्यमें आत्माकी श्रेयता और प्राप्तिका मार्ग प्रदर्शित किया है। कुबुद्धि एवं सुबुद्धि ये दो चेतनकी भार्याएँ हैं। कविने इस काव्यमें प्रमुख रूपसे चेतन और उनकी पत्नियोंके वार्तालाप अङ्कित किये हैं। सुबुद्धि चेतन आत्माकी कर्मसंयुक्त अवस्थाको देखकर कहने लगी—'चेतन ! तुम्हारे साथ यह दुष्टोंका संग कहाँसे आ गया ? क्या तुम अपना सर्वस्व खोकर भी सजग होनेमें विलम्ब करोगे ? जो व्यक्ति जीवनमें प्रमाद करता है, संयमसे दूर रहता है वह अपनी उन्नति नहीं कर सकता।'

चेतन—'हे महाभागे ! मैं तो इस प्रकार फँस गया हूँ जिससे इस गहन पङ्कसे निकलना असम्भव-सा लग रहा है। मेरा उद्धार किस प्रकार हो इसकी मुझे जानकारी नहीं।'

सुबुद्धि—'नाथ ! आप अपना उद्धार स्वयं करनेमें समर्थ हैं। भेद-विज्ञानके प्राप्त होते ही आपके समस्त परसम्बन्ध विगलित हो जायेंगे और आप स्वतन्त्र दिखलायी पड़ेंगे।'

कुबुद्धि—'री दुष्टा ! क्या बक रही है ? मेरे सामने तेरा इतना बोलनेका साहस ! तू नहीं जानती कि मैं प्रसिद्ध शूरवीर मोहकी पुत्री हूँ।'

कविने इस सन्दर्भमें सुबुद्धि और कुबुद्धिके कलहका सजीव चित्रण किया है और चेतन द्वारा सुबुद्धिकी सहायता किये जानेपर कुबुद्धि रूठकर अपने पिता मोहके यहाँ चली जाती है और मोहको चेतनके प्रति उभाड़ती है। मोह युद्धकी तैयारी कर अपने राग-द्वेष रूपी मन्त्रियोंसे साहाय्य प्राप्त करता है और अष्टकर्मोंकी सेना सजाकर सैन्य सञ्चालनका भार मोहनीय कर्मको देता है। दोनों ओरकी सेनाएँ रणभूमिमें एकत्र हो जाती हैं। एक ओर मोहके सेनापतित्वमें काम, क्रोध आदि विकार और अष्टकर्मोंका सैन्यदल है। दूसरी ओर ज्ञानके सेनापतित्वमें दर्शन, चरित्र, सुख वीर्य आदिकी सेनाएँ उपस्थित हैं। मोहराज चेतनगढ़पर आक्रमण करता है, पर ज्ञानदेव स्वानुभूतिकी सहायतासे विपक्षीदलको परास्त कर देता है। कविने युद्धका बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

सूर बलवंत मदमत्त महामोह कं, निकसि सब सैन आगे जु आये।
मारि घमासान महाजुद्ध बहुक्रुद्ध करि, एक तैं एक साते सवाए॥
वीर सुविवेकने धनुष ले ध्यानका, मारिकै सुभट सातों गिराए।
कुमुक जो ज्ञानकी सैन सब संग धसी, मोहके सुभट मूर्छा सवाए॥
रणसिंगे बजहिं कोऊ न भजहिं, करहिं महा दोऊ जुद्ध।
इत जीव हंकारहिं, निजपर वारहिं करहै अरिन को रुद्ध॥

शतअष्टोत्तरीमें कविने आत्मज्ञानका सुन्दर उपदेश अङ्कित किया है। अत्यल्प कथानकके सहारे आत्मतत्त्वका पूर्ण परिज्ञान करा देनेमें कविको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। सुबुद्धि, माया, मोह, चेतन आदि पात्रोंका मानवीयकरण चमत्कारपूर्ण है। पञ्चेन्द्रियसंवाद भी इसी कोटिकी उत्तम रचना है। मधुबिन्दुक चौपाई प्रतीकात्मक रूपक काव्य है।

३. एकार्थ काव्यके अन्तर्गत अनित्य पंचाशिका जैसी रचनाएं परिगणित हैं। अनित्यपंचाशिकामें जीवनकी नश्वरता और अपूर्णताकी अनुभूति उपस्थित की गयी है। काल्पनिक और वास्तविक जीवनकी गहन व्याख्या, जीवनकी विभिन्न समस्याओंके उद्घाटन और समाधान, नरभवकी दुर्लभता आदिका सुन्दर चित्रण किया गया है। इस प्रकार भैया भगवतीदासने आगराकी भूमिमें महत्त्वपूर्ण वाङ्मयका प्रणयन किया है।

इनकी वहिर्लापिका और अन्तर्लापिका जैसी रचनाएँ पद-साहित्यके अन्तर्गत आ सकती हैं। इस दिशामें कविकी तुलना हम अमीरखुसरोसे कर सकते हैं।

कविकी अक्षरबत्तीसिकाकी मलिक मुहम्मद जायसीके अखरावटसे तुलना की जा सकती है। दोनों ही रचनाओं-में भाव और शैलीकी दृष्टिसे पर्याप्त साम्य है। दोनों ही रचनाओंमें व्रजभाषा, एवं अरबी, फारसीके प्रचलित प्रयोग तथा खड़ी बोलीका प्राचीन रूप पाया जाता है। वर्णिक और मात्रिक छन्दोंका व्यवहार सफलतापूर्वक किया गया गया है। श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि शाब्दिक अलङ्कारोंके साथ उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग आदिका भी प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है।

## जगतराम और उनका वाङ्मय

जगतरामका दूसरा नाम जगराम भी पाया जाता है। इनके पिताका नाम नन्दलाल एवं पितामहका नाम माईदास था। ये सिंहल गोत्री अग्रवाल थे। पहले ये पानीपतमें निवास करते थे, पर बादमें आकर आगरामें रहने

लगी। आगरा उस समय साहित्यका केन्द्र था। जगतरामका साहित्यिक जीवन विक्रम संवत् १७२०-४० रहा है। १७२२ में इन्होंने पद्मनन्दिपञ्चविंशतिभाषाकी रचना आगरेमें सम्पन्न की थी। इसके पश्चात् सम्यक्त्वकौमुदीकथा और आगम-विलासकी रचना की। इनके लगभग १२२ पद भी प्राप्त हैं। अधिकांश पद प्रार्थना और भक्तिपरक हैं। कुछ पदोंमें जैनाचारका भी विश्लेषण किया गया है। आध्यात्मिक पदोंमें मिथ्यात्व, रागद्वेष एवं क्रोधादि विकारोंका सुन्दर विश्लेषण हुआ है। कवि मानव जीवनके सुधारका साधक प्रभुनामस्मरणको मानता है। उसका विश्वास है कि भगवन्नामस्मरणसे विषय-कषाय जन्य कष्ट दूर हो जाता है और सुगुरुके शिक्षारूपी अमृतके पानसे भवभ्रमण नष्ट होता है। कविने कहा है—

जतन बिन कारज बिगरत भाई।
प्रभु सुमरन तें सब सुधरत है.
तामैं क्यौं अलसाई ॥ जतन० ॥१॥
बिचै लीनता दुख उपजावत,
लागत जहाँ ललचाई ॥
चतुरनकी व्यौहार नय जहाँ,
समझ न परत ठगाई ॥ जतन० ॥२॥
सतगुरु शिक्षा अमृत पीवौ
भव करम कठोर लगाई ॥
ज्यौ अजरामर पद कौ पावौ,
जगतराम सुखदाई ॥ जतन० ॥३॥

## द्यानतराय और उनका वाङ्मय

द्यानतराय आगरा निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जातिके गोयल गोत्रमें हुआ था। इनके पूर्वज लालपुरसे आकर आगरामें बस गये थे। इनके पितामहका नाम वीरदास और पिताका नाम श्यामदास था। इनका जन्म विक्रम संवत् १७३३ मे हुआ और विवाह संवत् १७४८ में। उस समय आगरामें मानसिंहजीकी धर्मशैली थी। कवि द्यानत-रायने उनसे लाभ उठाया। कविको पण्डित बिहारीदास और पण्डित मानसिंहके धर्मोपदेशसे जैनधर्मके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। उन्होंने संवत् १७७७ मे श्री सम्मेदशिखरकी यात्रा की थी। इनका महान् ग्रन्थ धर्मविलासके नामसे प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें ३३३ पद, पूजाएँ, एवं ४५ विषयोंपर फुटकर कविताएँ संग्रहीत हैं। कविने इसका संकलन स्वयं विक्रम संवत् १७८० में किया है। काव्यविधाकी दृष्टिसे द्यानतविलासकी रचनाओंको निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. पद
२. पूजापाठ
३. रूपक काव्य
४. प्रकीर्णक काव्य

१—इनके पदसाहित्यको १. बधाई २. स्तवन ३. आत्मसमर्पण, ४. आश्वासन ५. परत्वबोधक एवं ६. सहजसमाधिकी आकाङ्क्षा इन ६ श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। बधाई सूचक पदोंमें तीर्थङ्कर ऋषभनाथके जन्म समयका आनन्द व्यक्त किया है। प्रसंगवश प्रभुके नख शिखका वर्णन भी किया गया है। अपने इष्ट देवके जन्मसमय-का वातावरण और उस कालकी समस्त परिस्थितियोंको स्मरण कर कवि आनन्दविभोर हो जाता है—और हर्षोन्मत्त हो गा उठता है—

माई आज आनन्द या नगरी ॥ टेक ॥
गजगमनी शशिवदनी तरुनी, मंगल गावति हैं सगरी ॥ माई० ॥
नाभिराय घर पुत्र भयो है, किये हैं अजाचक जाचकरी ॥ माई० ॥
'द्यानत' धन्य कूख मरुदेवी, सुर सेवत जाके पगरी ॥ माई० ॥

कविके पदोंकी प्रमुख विशेषता यह है कि तथ्योंका विवेचन दार्शनिक शैलीमें न कर काव्यशैलीमें किया गया

है। 'रे मन भज-भज दीनदयाल, जाके नाम लेत इक छिनमे कटे कोटि अघजाल' जैसे पदों द्वारा नामस्मरणका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

२. प्रकीर्णक काव्यमे उपदेशशतक, दानबावनी, व्यवहारपच्चीसी, पूर्णपञ्चाशिका आदि प्रधान हैं। उपदेशशतकमे १२१ पद्य है। कविने आत्मसौन्दर्यका अनुभवकर उसे संसारके समक्ष इस रूपमे उपस्थित किया है जिससे वास्तविक आन्तरिक सौन्दर्यका परिज्ञान सहजमे हो जाता है। यह कृति मानव हृदयको स्वार्थ सम्बन्धोकी संकीर्णतासे ऊपर उठाकर लोककल्याणकी भावभूमिपर ले जाती है, जिससे मनोविकारोका परिष्कार हो जाता है। कविने आरम्भमे इष्ट देवको नमस्कार करनेके उपरान्त भक्ति और स्तुतिकी आवश्यकता, मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी महिमा, गृहवासका दु:ख, इन्द्रियोकी दासता, नरक-निगोदके दु:ख, पुण्य-पापकी महत्ता, धर्मका महत्त्व, ज्ञानी-अज्ञानीका चिन्तन, आत्मानुभूतिकी विशेषता, शुद्ध आत्मस्वरूप एवं नवतत्वस्वरूप आदिका-सुन्दर विवेचन किया है। भवसागरसे पार होनेका कविने कितना सुन्दर उपाय बताया है—

सोचत जात सबै दिनरात, कछु न बसात कहा करिये जी।
सोच निवार निजातम धारहु, राग विरोध सबै हरिये जी॥
यौं कहियं जु कहा कहिये, सु वहै कहिये करुना धरियेजी।
पावत मोख मिटावत दोष, सु यौं भवसागर कौ तरिये जी॥

कविने इसी ग्रन्थमे समताका महत्त्व बतलाते हुए कितने सुन्दर रूपमे कहा है—समदृष्टि आत्मरूपका अनुभव करता है। उसे अपने अन्तस्‌की छवि मुग्ध और अतुलनीय प्रतीत होती है। अत: वह आध्यात्मिक समरसताका आस्वादन कर निश्चिन्त हो जाता है। कविने कहा है—

काहेको सोच करै मनमूरख, सोच करै कछु हाथ न ऐहै।
पूरब कर्म सुभासुभ संचित, सो निहचै अपनो रस दैहै॥
ताहि निवारनको बलवंत, तिहूँ जगमाहिं न कोउ लखै है।
तातै हि सोच तजौ समता गहि, ज्यौं सुख होइ जिनंद कहै हौ॥

धर्मविलास या द्यानतविलासके अतिरिक्त अन्य दो ग्रन्थ भी कविके पाये जाते है। 'आगमविलास' तथा 'भेदविज्ञान और आत्मानुभव'। आगमविलासमे कविकी ४६ रचनाएँ सङ्कलित है। उसका सङ्कलन उनकी मृत्युके पश्चात् पण्डित जगतराय द्वारा किया गया है। कहा जाता है कि द्यानतरायकी मृत्युके पश्चात् उनकी रचनाओको उनके पुत्र लालजीने आलमगंज वासी किसी झाझ नामक व्यक्तिको दे दिया। पण्डित जगतरायने रचनाएँ नष्ट न हो जॉय, इस आशयसे उन्हे एक गुटकेमे सग्रहीत कर दिया। आगमविलासके प्रारम्भमे १५२ सवैया छन्दोमे सैद्धान्तिक विषयोकी चर्चा है। अत सैद्धान्तिक विषयोकी प्रधानताके कारण ही इस रचनाका नाम आगमविलास रखा गया है।

'भेदविज्ञान और आत्मानुभव' यह कविकी एक अन्य रचना है। कविने इसमे जीवद्रव्य और पुद्गलादि पर द्रव्योका विवेचन किया है। कविका विश्वास है कि आत्मतत्त्वरूपी चिन्तामणिके प्राप्त होते ही समस्त इच्छाए पूर्ण हो जाती है। आत्मतत्त्वके उपलब्ध होनेसे विषयरस, नीरस प्रतीत होने लगते है। कविने लिखा है—

मैं एक शुद्ध ज्ञानी निर्मल सुभाव ज्ञाता,
दृग ज्ञान चरनधारी, थिर चेतना हमारी।

× × × ×

अब चिदानन्द प्यारा, हम आपमें निहारा॥

---

१. 'द्यानतविलास या धर्मविलास' जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा फरवरी १९१४ मे प्रकाशित।

२. द्यानतका सुत लालजी चिट्ठे ल्याओ पास।
सो ले झाझूको दिए आलमगंज सुवास॥१३॥
तासे पुनसे सकल ही चिट्ठे लिए मगाय।
मोती कटले मेल है, जगतराम सुख पाय॥१४॥
तब मन माँहि विचार पोथी कीन्हीं पकठी
जोरि पढै नर नारि धर्म ध्यानमें थिर रहै॥१५॥
संवत सतरह सै चौरासी माघ सुदी चतुर्दशी मानी।
तब यह लिखत समापत कीन्हीं मैनपुरीके माहि नवीनी॥१६॥ —गुटकाके अंतमें संग्रहीत।

कवि धार्मिक प्रवृत्तिका लेखक है, पर व्यवहार और काव्यतत्त्वोंकी रचनामें कमी नहीं आने पायी है। निम्न पद्यमें कविने संसारका कितना सजीव चित्रण किया है, यह दृष्टव्य है—

> रुजगार बनै नाहिं धनतौं न घर माहिं
>
> खानेकी फिकर बहु नारि चाहै गहना।
>
> देनेवाले फिरि जाँहि मिलै तो उधार नाहिं
>
> साझी मिलै चोर धन आवैं नाहि कहना।
>
> कोऊ पूत ज्वारी भयौ घर माहिं सुत थयौ,
>
> एक पूत मरि गयौ ताको दुःख सहना।
>
> पुत्री वर जोग भई ब्याही सुता जम लई,
>
> एते दुःख सुख जाने तिसै कहा कहना॥

## भूधरदास और उनका वाङ्मय

कवि भूधरदास आगराके निवासी थे। इनको जाति खण्डेलवाल थी। इनका समय अनुमानतः सत्रहवीं शतीका अन्तिम भाग या अठारहवीं शतीका प्रारम्भिक भाग है। इनके द्वारा रचित पार्श्वपुराणकी प्रतिका लिपिकाल १७५४ विक्रम संवत् है। अतः इनका समय निश्चित रूपसे अठारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध है। स्वर्गीय प्रेमीजीने इनकी काव्यकलाके सम्बन्धमें लिखा है—

'हिन्दीके जैनसाहित्यमें पार्श्वपुराण ही एक ऐसा चरित्र ग्रन्थ है जिसकी रचना उच्च श्रेणीकी है, जो वास्तवमें पढ़ने योग्य है और जो किसी संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थका अनुवाद करके नहीं, किन्तु स्वतन्त्ररूपमें लिखा गया है।' कविकी निम्नलिखित तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं—

१. पार्श्वपुराण—यह एक महाकाव्य है। इसकी कथा बड़ी ही रोचक और आत्मपोषक है। किस प्रकार वैरकी परम्परा प्राणियोंके अनेक जन्म जन्मान्तरोंतक चलती रहती है, यह इसमें बड़ी ही खूबीके साथ बतलाया गया है। पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर होनेके ९ भवपूर्व पोदनपुर नगरके राजा अरविन्दके मन्त्री विश्वभूतिके पुत्र थे। उस समय इनका नाम मरुभूति और इनके भाईका नाम कमठ था। विश्वभूतिके दीक्षा लेनेके अनन्तर दोनों भाई राजाके मन्त्री हुए। जब राजा अरविन्दने वज्रकीर्तिपर चढ़ाई की तो कुमार मरुभूति इनके साथ युद्धक्षेत्रमें गया। कमठने राजधानीमें अनेक उत्पात मचाये और अपने छोटे भाईकी पत्नीके साथ दुराचार किया। जब राजा शत्रुको परास्त कर राजधानीमें आया तो कमठके कुकृत्यकी बात सुनकर उसे बड़ा दुःख हुआ। कमठका काला मुँहकर गदहेपर चढ़ा, सारे नगरमें घुमाया और नगरकी सीमाके बाहर कर दिया। आत्म प्रताड़नासे पीड़ित कमठ भूताचल पर्वतपर जाकर तपस्वियोंके साथ रहने लगा। मरुभूति कमठके इस समाचारको प्राप्तकर भूताचलपर गया और वहाँ दुष्ट कमठने उसकी हत्या कर दी। इसके बाद कविने आठ जन्मोंकी कथा अंकित की है। नवें जन्ममें काशीके विश्वसेन राजाके यहाँ पार्श्वनाथका जन्म होता है। पार्श्व आजन्म ब्रह्मचारी रहकर आत्मसाधना करते हैं। वे तीर्थङ्कर बन जाते हैं। कमठका जीव उनकी तपस्यामें विघ्न उत्पन्न करता है। पर पार्श्वनाथ अपनी साधनासे विचलित नहीं होते। केवल प्राप्ति हो जानेपर वे प्राणियोंको धर्मोपदेश देते हैं और अन्तमें सम्मेदाचलसे निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इस महाकाव्यमें महाकाव्योचित वस्तुव्यापार वर्णन, चरित्रचित्रण, इतिवृत्त और भावाभिव्यञ्जन पाये जाते हैं। घटनाविधान और दृश्ययोजनाओंको कविने पूरा विस्तार दिया है। पार्श्वनाथका चरित्र हिंसापर अहिंसाकी विजय है। क्षमाका पीयूष, क्रोध और वैरको सुधा बना देता है। क्रोध और उत्पातके स्वरूपको बदल देता है। प्रतिशोध और वैरकी भावनाका अन्त हो जाता है।

२. जैनशतक—इस रचनामें १०७ कवित्त, सवैये, दोहा और छप्पय हैं। कविने वैराग्य जीवनके विकासके लिए इस रचनाका प्रणयन किया है। वृद्धावस्था, संसारकी असारता, कालसामर्थ्य, स्वार्थपरता, दिगम्बर मुनियोंकी तपस्या, आशा-तृष्णाकी नग्नता आदि विषयोंका निरूपण बड़े ही अद्भुत ढंगसे किया है। कवि जिस बातको प्रतिपादित करना चाहता है उसे स्पष्ट और निर्भय होकर प्रतिपादित करता है। नीरस और गूढ़ विषयोंका निरूपण भी सरस एवं प्रभावोत्पादक शैलीमें किया गया है। कल्पना, भावना और विचारोंका समन्वय सन्तुलितरूपमें हुआ है। आत्म-सौन्दर्यका दर्शनकर कवि कहता है कि संसारके भोगोंमें लिप्त प्राणी अहर्निश विचार करता रहता है कि जिस प्रकार

भी सम्भव हो, उस प्रकार मैं धन एकत्र कर आनन्द भोगूँ। मानव नाना प्रकारके सुनहले स्वप्न देखता है, और विचारता है कि धन प्राप्त होनेपर संसारके समस्त अभ्युदयजन्य कार्योंको सम्पन्न करूँगा और उसकी धनार्जनकी यह अभिलाषा मृत्युके कारण अधूरी ही रह जाती है। यथा—

चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज सरे जियराजी।
गेह चिनाय करूं गहना कछु ब्याहि सुता सुत बाँटिय भाजी॥
चिन्तत यों दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगाजी।
खेलत खाल खिलारि गये, रहि जाइ रुपी शतरंजकी बाजी॥

३. पद साहित्य—महाकवि भूधरदासकी तीसरी रचना पद साहित्य है। इनके पदोंको स्तुतिपरक, जीवके अज्ञानावस्थाके परिणाम और विस्तार सूचक आराध्यकी शरणके दृढ़विश्वास सूचक, अध्यात्मोपदेशी, संसार और शरीरसे विरक्ति उत्पादक, नामस्मरणके महत्त्व द्योतक और मनुष्यत्वके पूर्ण अभिव्यञ्जक—इन सातों प्रकारके पदोंमें शाब्दिक कोमलता, भावोंकी मादकता, और कल्पनाओंका इन्द्रजाल समन्वितरूपमे विद्यमान है। उनके पदोंमें रागविरागका गंगा यमुनी संगम होने पर भी शृङ्गारिकता नही है। कई पद सूरदासके पदोंके समान दृष्टिकूट भी हैं। 'जगत् जन जुआ हार चले' पदमे भाषाकी लाक्षणिकता और काव्योक्तियोंकी विदग्धता पूर्णतया समाविष्ट है। 'सुनि ठगनि माया! तें सब जग ठग खाया' पद कबीरके 'माया महा ठगिनि हम जानी' पदसे समकक्षता रखता है। इसी प्रकार भूधरदासके कई पद सूरदासके पदोंकी भी स्मृति दिलाते हैं।

## नथमल बिलाला और उनका वाङ्मय

कवि नथमल बिलाला आगराके रहनेवाले थे। इन्होंने विक्रम संवत् १८२७ मे 'वराङ्गचरितभाषा'की रचना करनेवाले अटेर निवासी पाण्डेय लालचन्द्रको सहायता प्रदान की थी[१]। नथमलके पिताका नाम शोभाचन्द्र था। और गोत्र बिलाला। ये प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित प्रसिद्ध है—

१. सिद्धान्तसारदीपक ( विक्रम संवत् १८२४ )
२. जिनगुणविलास
३. नागकुमारचरित ( विक्रम संवत् १८३४ )
४. जीवन्धरचरित ( विक्रम संवत् १८३५ )
५. जम्बूस्वामिचरित

इन प्रसिद्ध साहित्य-सेवियोंके अतिरिक्त १७ वीं शतीमे १९ वीं शतीतक आगरामे अन्य कवि एवं विद्वान् और भी हुए हैं। कवि बनारसीदासने जिस चतुर्भुज बैरागीका उल्लेख किया है, उनके सम्बन्धमे कवि खरगसेनके त्रिलोक-दर्पणमे एक निर्देश मिलता है। अवगत होता है कि वे उदासीन पण्डित थे और आगरासे लाहौरमें जाकर वहाँके जिज्ञासुओंको आत्मरसका पान कराते थे। देवेन्द्रकीर्तिगुरुपूजाकी प्रशस्तिमे ज्ञात होता है कि आगरा निवासी किसी बनारसीदासके पुत्र जीवनदासको भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके प्रति पहले कुछ अश्रद्धा थी, किन्तु सूरतके चातुर्मास्यमें आपकी विद्वत्ता देखकर वे आपके शिष्य बन गये थे। ये जीवनदास व्यापारके हेतु सूरतमें गये थे। इस प्रशस्तिसे जीवनदासकी विद्वत्ता एवं दृढ़ आस्था भी व्यक्त होती है। उल्लेख निम्न प्रकार है—

ज्याको पिता बनारसी आगराको वासी
सुरत शहरमें उदीमके लीयते।
वराकके मुनिंद आये रहे बरखाकाल माहे
वन्दना नही कीनेही देखी परिग्रहतें॥

---

१. तब भाषा रचना विषे कीनों हम उपयोग।
पै सहाय बिन होय नहीं तबहिं मिल्यौ इक जोग॥
नन्दन सोभाचन्द कौ नथमल अति गुनवान।
गोत बिलाला गगनमें उग्यो चन्द समान॥
नगर आगरौ तज रहै, हीरापुरमें आय।
करत देखि इस ग्रन्थकौ कीनौ अधिक सहाय॥

शुद्धज्ञानसो निहार शुधं काळमन विचार
काय मन वचनसो चिदानंद कहेते ।।
ऐसे देवेन्द्रकीर्ति जिवनदास करत विनती
संभाळ लेवो परभवमें मोह निकट आवते ।। —भट्टारक सम्प्रदाय लेख संख्या १६१

इस प्रकार आगराकी भूमि साहित्य-सेवामे संलग्न रही है। यहाँ महाकाव्य, खण्डकाव्य, रूपक काव्य, पदकाव्य आदि जैनकवियों द्वारा लिखे गये हैं। गुरु गोपालदासको जन्म देनेवाली भूमि सामान्य नहीं हो सकती है। साहित्यिक वातावरणकी परम्पराका रहना आगराकी गौरव अभिव्यञ्जनाके लिए पर्याप्त प्रमाण है। मैं आगराकी इस समृद्ध वाङ्मय-परम्पराको प्रणाम करता हूँ। परन्तु आगराकी यह सांस्कृतिक भूमि वर्तमानमें अपनी समृद्ध परम्पराके निर्वाहसे प्रायः दूर है। गुरु गोपालदासको ही नहीं, राजमल्ल, बनारसीदास, भूधरदास आदिको भी आगराकी भूमि विस्मृत कर चुकी है। हमें आशा है कि आगरा अपने विगत साहित्यिक गौरवको प्राप्त करनेकी दिशामें गतिशील होगा।

# जैन वाङ्मयमें शलाकापुरुष कृष्ण

श्रीरञ्जनसूरिदेव, साहित्य-दर्शनाचार्य
सं० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका, पटना

●

## प्रास्ताविक

साहित्यके अध्ययनके साथ उसमे चित्रित पात्रोंके व्यक्तित्वका अध्ययन-मनन करना साहित्यकी आत्माका परिज्ञान करनेके लिए आवश्यक है। काव्य या साहित्यके लिए पात्रोंका चरित्र ही विशेषरूपसे उपयोगी होता है। काव्यके भवन निर्माणमे यदि घटनाएँ ईंटोंका काम देती हैं, तो पात्र उन ईंटोंको जोड़नेवाले सीमेंट हैं! साहित्यकार पात्रोंके चरित्र द्वारा ही अपने विचारो और सिद्धान्तोका प्रतिपादन करता है। पात्रोंको विभिन्न स्थितियोंमें रखकर ही जीवनके संघर्षको दिखलानेका प्रयास किया जाता है। अतएव जैनवाङ्मयके प्रकाशमे श्रीकृष्णके चरित्रका अध्ययन करनेसे उनके व्यक्तित्वके साथ जैनवाङ्मयकी विशेषताएँ भी प्रस्तुत होंगी। इसमे सन्देह नहीं कि सात्त्विक, राजसी और तामसी वृत्तियोंके अध्ययनमें जैनसाहित्य विशेष उपयोगी है। इस साहित्यमे पात्रोंके अनुरंजित चरित्र वर्णित नहीं है, बल्कि यथार्थकी भूमिपर पात्रोंको प्रतिष्ठितकर जीवन-संघर्षोंकी व्याख्याएँ की गयी है।

भारतीय वाङ्मयमें राम और कृष्ण ऐसे दो व्यक्तित्व हैं, जिनका चित्रण सभी धर्म और सम्प्रदायके साहित्यमें पाया जाता है। राम मोक्षगामी और मर्यादा पुरुषोत्तम है तो कृष्ण अद्भुत राजनीतिज्ञ, नेता एवं महापुरुषके गुणोंसे मण्डित हैं। जैनवाङ्मयमे कृष्णका चरित्र कमसे कम पचास ग्रन्थोंमें अंकित है। कवियोंने उनके शीलका अंकन कर मानवीय मनोवेग, भावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य और प्रयोजन आदिका सफल चित्रण किया है।

जैनसाहित्यमें श्रीकृष्णकी गणना नारायणोंमे की गयी है। इनको शलाकापुरुष कहा है। 'शलाका' शब्दका अर्थ नाप या प्रमाण बोधक वस्तु है। प्राचीन समयमें चुनावके समयभी 'शलाका'का व्यवहार किया जाता था। यहाँ शलाका पुरुषसे ऐसे महत्त्वशाली गण्यमान व्यक्तियोंको ग्रहण किया गया है, जो समाजमें गणनीय थे, जिनका अस्तित्व समाजके लिए आवश्यक माना जाता था। जिन व्यक्तियोके व्यक्तित्वके आधारपर समाजका मूल्याङ्कन किया जाता था, ऐसे व्यक्तियोंको जैनवाङ्मयमे शलाकापुरुष कहा गया है। शलाकापुरुषोंकी संख्या प्रत्येक कल्पकालमें ६३ होती हैं। कृष्ण नारायणकोटिके शलाकापुरुष हैं। नारायणोंके गुण-धर्मोंमें बताया गया है कि नरकसे निकलकर आनेवाले व्यक्तियोंको यह पद प्राप्त नहीं हो सकता है। यह पद महान् शक्तिशाली किसी उत्तम गतिसे चलकर आनेवाले व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। इनके सात प्रकारके आयुध होते है, जिनकी महारत्न संज्ञा दी गयी है।

( १ ) सुनन्दक नामका खड्ग, ( २ ) पाञ्चजन्य शंख, ( ३ ) शार्ङ्ग नामका धनुष, ( ४ ) सुदर्शन नामका चक्र, ( ५ ) कौस्तुभ-मणि, ( ६ ) अमोघा-शक्ति एवं ( ७ ) कौमुदी गदा।

श्री कृष्णको भी उक्त सातों अस्त्र प्राप्त थे, ये शक्तिशाली, राजनीतिज्ञ एवं समाजशास्त्रके महान् पण्डित थे।

## कृष्णचरितका विकास और तत्सम्बन्धी रचनाएँ

जैनवाङ्मयमें कृष्णचरितके बीज जैनागमोंमे पाये जाते है। ठाण अंगमें कृष्णके शरीर और आयुका वर्णन करते हुए लिखा है—

> **कण्हे णं वासुदेवे दस धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसवाससयाइं सव्वाउयं पालइत्ता····**
>
> **—ठाणांग, १०।९९९ सुत्तागम खण्ड १, पृ० ३०८**

दस सहस्र कृष्णकी आयु और दस धनुष प्रमाण शरीरकी ऊँचाई बतायी गयी है। उपर्युक्त उद्धरणसे कृष्णकी आयु और शरीरकी उन्नतिका ही निर्देश प्राप्त होता है। उनके आत्मिक और बौद्धिक गुणोंकी जानकारी प्राप्त नहीं होती।

समवाय अंगमें नववासुदेवोंकी निदानभूमियाँ, निदानकारण, प्रतिपक्षियों, माताओंकी नामावली और पूर्वमें किये गये पुण्यकार्योंके सम्बन्धमें उल्लेख आये हैं। अतः इसी सन्दर्भसे कृष्णका परिचय भी प्राप्त होता है। यह सत्य है कि उक्त दोनों ग्रन्थोंमें कृष्णचरित्रके सम्बन्धमें इतनी अल्प सामग्री है कि उसके आधारपर जीवनवृत्त नहीं लिखा जा सकता है। केवल परिवार, आयु, शरीर एवं पूर्वकालमें की गयी साधनाओंका ही निर्देश उक्त दोनों आगम ग्रन्थोंमें उपलब्ध है।[1]

आगम ग्रन्थोंमें कृष्णचरितकी स्पष्ट रेखा नायाधम्मकहाओके[2] पञ्चम अध्ययनमें पायी जाती है। इस अध्ययनमें द्वारिका नगरीका भी सुन्दर वर्णन आया है। यह नगरी नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी समृद्धियुक्त थी। विशाल स्वर्णिम प्राकारसे वेष्टित थी एवं उसके चारों ओर बड़े-बड़े दरवाजे थे। उसमें गगन-स्पर्शी प्रासाद शोभायमान थे। उसके विशाल बाजार नाना प्रकारके बहुमूल्य हीरा, पन्ना, मणि, माणिक्य, नाना प्रकारके वस्त्राभूषण एवं कला-कौशलपूर्ण वस्तुओंसे मण्डित थे। यहाँके निवासी राज्यकी सुव्यवस्थाके कारण सुखी-सम्पन्न और न्याय-नीति परायण थे।

परम प्रतापी महाराज श्रीकृष्ण इसके सम्राट् थे।[3] उनके शासनकालमें प्रजा सुखी तो थी ही, साथ ही वे शत्रुओंके मानरूपी पर्वतका मर्दन करनेके लिए वज्रके समान थे। इस आख्यानमें कृष्णकी वीरता, नेतृत्व-शक्ति एवं प्रजाके प्रति अनुराग स्पष्ट व्यक्त होता है। उन्होंने दीक्षा ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत थावच्चाकुमारको अपनी मधुरवाणी द्वारा समझाते हुए कहा—'कुमार दीक्षा एक उत्कृष्ट आत्मोद्धारका पथ है, पर अभी आपकी आयु इसके योग्य नहीं है। अभी यौवनावस्था है, अतः सांसारिक भोगोपभोगोंको उचित परिमाणमें भोग करो। गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपनी माताको सन्तुष्ट कीजिए और भार्याओंका भरण-पोषण कीजिए। गृहस्थाश्रमका पालन-पोषण करना भी कर्त्तव्य कर्मोंमें परिगणित है। मेरे राज्यमें रहते हुए आपको कोई कष्ट हो तो बतलाइये। मैं उस कष्टको पूर्णतया दूर करनेका प्रयास करूँगा[4]।'

श्रीकृष्णके इस सहानुभूतिपूर्ण कथनको सुनकर कुमारने कहा—'महाराज! मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। आप मेरी इतनी चिन्ता करते हैं, आप मेरे परम हितैषी हैं। पर सत्य यह है कि मेरी जरा, मरण और जन्मके दुःखके कष्टसे कोई रक्षा करनेवाला नहीं। मेरी आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। यदि संयम नहीं धारण करूँगा, तो मेरा उद्धार किस प्रकार होगा? मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि वृद्धावस्था मेरे यौवन-लावण्यको निगलनेके लिए सामने प्रस्तुत है। यदि आप जरासे मेरी रक्षा कर सकें और मृत्युके मुखमें जानेसे मुझे रोक सकें, तो मैं दीक्षा ग्रहण करनेका अपना विचार छोड़ दूँ।'

श्रीकृष्ण—'कुमार आपकी बातें तर्क पूर्ण हैं। जरा, जन्म और मरणसे रक्षा करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, यह कष्ट तो कर्म नष्ट करने पर ही दूर हो सकता है'।

कुमार—'प्रभो! मैं इसी जन्म-मरणके दुःखसे छुटकारा प्राप्त करनेके लिए संयम धारण करना चाहता हूँ। अब आप अपनी अनुमति दीजिए।'

कृष्ण—'कुमार! आपका संकल्प यदि स्थिर है तो आप अवश्य दीक्षा ग्रहण कोजिए। जीवनकी शुद्धिका साधन तपश्चरण, संयम और ध्यान ही है। अतः आप इस शुभ कार्यमें विलम्ब मत कीजिए।'

---

१. समवायांग—२५७।५१ २६१।६०, २६२।६० सुत्तागम खण्ड १, पृ० ३८०-३८१, प्रश्नव्याकरण अधर्मद्वार ४; अंतोगड्दसाओ १, पृ० ३, ३।८ पृ०; उत्तराध्ययन २२।१०।१८, २५, ३१; तिलोय० ४।१४३२।

२. तेणं कालेण २ बारवई नाम नयरी होत्था पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा नवजोयणविच्छिण्णा दुवालसयजोयणायामा धणवइमइनिम्माया चामीयरपवरपगारा नाणामणिपंचवण्णकविसीसगसोहिया··· । नायाधम्मकहाओ, पूना संस्करण पृ० ६८।

३. तत्थ···कण्हे नाम वासुदेवे राया परिवसइ। से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाण दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं···वही पृ० ६८-६९।

४. जाव संपरिवुडा जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स भवणवरपडिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ पडिहारदेसियणं मग्गेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ २ करयल जाव वद्धावेइ २ तं महत्थं ३ पाहुडं उवणेइ २ एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया। मम एगे पुत्ते थावच्चापुत्ते नामं दारए इट्ठे जाव संसारभउव्विग्गो भीए इच्छइ अरहओ अरिट्ठनेमिस्स जाव पव्वइत्तए। अहं णं निक्खमणसक्कारं करेमि। इच्छामि णं देवाणुप्पिया। थावच्चापुत्तस्स निक्खममाणस्स छत्तमउडचामराओ य विदिन्नाओ। तए णं कण्हे वासुदेवे थावच्चागाहावइणि एवं वयासी—अच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिए! सुनिव्वुयवीसत्था। अहं णं सयमेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणसक्कारं करिस्सामि। तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणीए सेणाए······। नायाधम्मकहाओ, पूना संस्करण पृ० ७०–७१

कृष्ण अपनी राजसभामें आये और घोषणा की कि थावच्चाकुमार दीक्षा ले रहा है। उसके साथ जो भी मुमुक्षु दीक्षा धारण करना चाहे, वह दीक्षा ले सकता है। मुमुक्षुओंके परिवारके भरण-पोषणका भार मेरे ऊपर रहेगा। अतः संयम धारण करनेकी जिनकी इच्छा हो, वे निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व होकर दीक्षा ग्रहण करें। कृष्णने अपनी घोषणाके अनुसार थावच्चाकुमारके दीक्षा ग्रहण करनेके उत्सवकी तैयारी की। इस अवसरपर अन्य एक सहस्र व्यक्तियोंने दीक्षा धारण की। कृष्णने अपनी घोषणानुसार दीक्षा धारण करनेवालोंके परिवारोंकी पूरी व्यवस्था सम्पन्न की।

उपर्युक्त सन्दर्भसे कृष्णकी प्रजावत्सलता, स्नेह एवं धर्मप्रेम प्रकट होता है। 'नायाधम्मकहाओमें कृष्णके व्यक्तित्वका विकास वर्त्तमान है। शरीरकी अपेक्षा उनके आत्मिक गुणोंका विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। णायधम्म-कहाओके १६वें अध्ययनमें कृष्णचरितका वर्णन आया है।

कथा और पुराण साहित्यपर विचार करनेपर सर्वप्रथम हमारा ध्यान वसुदेवहिण्डीपर जाता है। इस ग्रन्थमें कृष्णचरितका अति संक्षिप्तरूप निबद्ध है। इस ग्रन्थमें कृष्ण जन्मकी कथा दी गयी है और कंस वधसे सन्दर्भका अन्त हुआ है।

प्राकृत भाषामें निबद्ध विमलसूरिका 'हरिवंसचरियं' प्राचीन कृष्णचरित है। इस ग्रन्थमें कृष्ण, पाण्डव और तीर्थंकर अरिष्टनेमिका जीवनवृत्त विस्तारपूर्वक आया है। हरिवंशके अन्य चरित भी इस ग्रन्थमें वर्णित हैं। संस्कृत भाषामें जिनसेन प्रथमका हरिवंशपुराण सबसे पहला संस्कृत चरित है, जिसमें विस्तारपूर्वक कृष्णका जीवनवृत्त अंकित किया गया है। उत्तरपुराणमें गुणभद्रने भी कृष्णचरितका प्रतिपादन किया है। चउप्पन्नमहापुरिसचरियंमें शीलंकाचार्यने कृष्णका इतिवृत्त अंकित किया है। शुभचन्द्राचार्यकृत पाण्डवपुराणमें भी कृष्णचरित समाविष्ट है।

अपभ्रंश भाषामें हरिभद्रकृत णेमिणाहचरिउ, लक्ष्मणकविकृत णेमिणाहचरिउ, महाकवि धवलकृत हरिवंश-पुराण, पुष्पदन्तकृत महापुराण, श्रुतकीर्त्ति कृत हरिवंशपुराण, यशःकीर्तिकृत पाण्डवपुराण एवं हरिवंशपुराण, महाकवि स्वयंभूकृत रिट्ठणेमिचरिउ, दामोदरकृत णेमिणाहचरिउ, महाकवि रइधूकृत हरिवंशचरिउ आदि ग्रन्थोंमें कृष्णचरित विस्तार पूर्वक वर्णित है।

हिन्दी भाषामें रचित कवि खुशालचन्द, नेमिचन्द, ब्रह्मजिनदास आदि कवियोंके हरिवंशपुराणोंमें कृष्णचरितका वर्णन पाया जाता है।

कन्नड भाषामें कर्णपार्यके नेमिनाथचरित, नेमिचन्द्रके अर्धनेमिपुराणमें कृष्णचरितका अंकन हुआ है। महाकवि पंपके विक्रमार्जुनविजयमें भी कृष्णचरित पाया जाता है। इसी प्रकार मराठी, गुजराती, तमिल और तेलगुमें भी हरि-वंशपुराणके अनुवादरूपमें अथवा हरिवंशचरितपर आधारित मौलिक रचनाके रूपमें कृष्णचरितका प्रणयन किया गया है। हिन्दी भाषामें नेमिनाथचउपईके रूपमें कई रचनाएँ पायी जाती हैं, जिनमें कृष्णइतिवृत्तको स्थान दिया गया है।

यह सत्य है कि रामके चरितके समान ही कृष्णचरितपर भी जैन विद्वानोंने अनेक रचनाएँ निबद्ध की हैं।

## कृष्णका जीवन-वृत्त

जैनकथा और पुराण साहित्यमें कृष्णका जीवन-परिचय विस्तारपूर्वक पाया जाता है। बताया गया है कि कृष्णके पिता वसुदेव नाना कलाओं, शास्त्रों और शस्त्रविद्यामें अत्यन्त प्रवीण थे। वे अपने गुण और कलाओंका प्रदर्शन करते हुए सौर्यपुरमें कंस आदिको शस्त्रविद्या एवं समरविद्याकी शिक्षा देते हुए निवास करने लगे। एक समय वे अपने कंसादि शिष्योंके साथ राजगृहमें गये। वहाँ जरासंधकी घोषणा सुन उन्होंने सिंहपुरके स्वामी सिंहरथको युद्धमें परास्त कर जीवित पकड़ लिया, इससे जरासन्ध उनसे बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवद्यशाका विवाह उनके साथ कर देना चाहा। वसुदेवने जरासन्धसे निवेदन किया कि आप अपनी इस कन्याका विवाह मेरे शिष्य कंसके साथ कर दीजिए। फलतः जरासन्धने अपनी कन्याका विवाह कंसके साथ कर दिया। कंसके साथ वसुदेव मथुरा लौट आये। यहाँ कंसने अपनी बहिन देवकीका विवाह वसुदेवके साथ कर दिया। अतिमुक्तक मुनि द्वारा देवकीका पुत्र तुम्हारे पतिको मारेगा, इस भविष्यवाणीको सुन कंसकी स्त्री जीवद्यशा बहुत घबड़ाई। कंसने निवेदनकर वसुदेवसे यह वचन ले लिया कि देवकीका प्रसव मथुरामें पितृगृहमें ही होगा। समय पाकर देवकीको मथुरामें ही छः पुत्र उत्पन्न हुए; जिन्हें इन्द्रकी आज्ञासे नैगमदेव सुभद्रिल नगरके सुदृष्टि सेठके घर पहुँचाता रहा और उसके मृतक पुत्रोंको देवकीके पास छोड़ता रहा। कंस देवकीके मृतपुत्रको देख प्रसन्न होता। इस प्रकार देवकीके छहों पुत्रोंका सुभद्रिल नगरमें लालन-पालन होता रहा।

अनन्तर देवकीको सातवाँ गर्भ रहा। यह गर्भस्थ बालक अत्यधिक तेजस्वी था और सात मासमें ही भाद्रपद

शुक्ला द्वादशीको कृष्णका जन्म हुआ। वसुदेव उसे गुप्त रूपसे यमुना पारकर अपने विश्वासपात्र नन्दगोपको सौंप आये और उनकी स्त्री यशोदाकी पुत्रीको ले आये। कंसको जब अवगत हुआ कि देवकीको कन्या उत्पन्न हुई है, तो उसे आश्चर्य हुआ और उस कन्याकी नाक चिपटी कर उसे छोड़ दिया।

श्रीकृष्ण नन्द और यशोदाका प्यार प्राप्त कर वृद्धिगत होने लगे। उनका बाल्यकाल बहुत ही आश्चर्यकारी था। उनके कार्य-व्यापार बड़े-बड़े व्यक्तियोंको आश्चर्यचकित करते थे। कंसको एक दिन निमित्तज्ञानीसे ज्ञात हुआ कि उसका वध करनेवाला गोकुलमें संवर्द्धित हो रहा है। इस समाचारने कंसको व्याकुल कर दिया और वह शत्रुको प्राप्त करनेके लिए बेचैन हो गया। कृष्णको मारनेके लिए कंसने विविध प्रयत्न किये। मल्लयुद्धके लिए कंसने कृष्णको मथुरा बुलाया। वसुदेव कंसके इस कार्यसे बहुत चिन्तित हुए और उन्होंने सौर्यपुरसे समुद्रविजयादि नौ भाइयोंको मथुरा बुलाया। बलभद्र और श्रीकृष्णका कंसके मल्लोंके साथ युद्ध हुआ, जिसमें उन्होंने उन मल्लोंको यमलोक पहुँचा दिया। अब कंस स्वयं युद्ध करनेके लिए समक्ष प्रस्तुत हुआ, तो कृष्णने अनायास ही उसको भी समाप्त कर दिया।

कृष्ण कंसवधके उपरान्त अपने माता-पिता तथा समुद्रविजय आदिसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। सुकेतु विद्याधरने कृष्णके साथ अपनी पुत्री 'सत्यभामा' का विवाह कर दिया।

जीवद्यशाके करुण विलापसे द्रवीभूत हो जरासन्धने यादवोंको नष्ट करनेके लिए अपने भाई अपराजितको भेजा, जिसे कृष्णने अपने बाणोंसे धराशायी कर दिया। जब जरासन्धको अपने भाईके वधका समाचार प्राप्त हुआ तो बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने सौर्यपुर पर आक्रमण किया। यादव भी अपनी रक्षाकी तैयारी करने लगे। जब जरासन्धकी सेना विन्ध्याटवीमें आयी, तो एक देवी द्वारा कृत्रिम चिताओंको जलता हुआ देखकर उसे यादवोंके विनाशका निश्चय हो गया और वह वहींसे राजगृह लौट गया।

एक समय कृष्णने अष्टम उपवासकर पञ्चपरमेष्ठीका ध्यान किया। उनके परिणामोंकी विशुद्धिसे इन्द्रका आसन कम्पित हुआ। अतः इन्द्रने गौतमदेवको समुद्रको शीघ्र ही दूर हटा देनेका आदेश दिया। गौतमदेवने इन्द्रकी आज्ञाका पालन किया। कुबेरने उस स्थानपर द्वारिका नगरीकी रचना की तथा कृष्णको नारायण संज्ञा ज्ञापित की।

एक दिन द्वारिका नगरीमें नारदका आगमन हुआ। वे कृष्णके अन्तःपुरमें गये, उस समय सत्यभामा अपने शृंगारमें दत्तचित्त थी, अतः वह नारदका स्वागत-सत्कार करना भूल गयी। फलतः नारदका मनोभाव बदल गया और उन्होंने सत्यभामाका मानभंग करनेका निश्चय किया तथा वे एक अनिन्द्य सुन्दरीकी खोजमें निकल पड़े। वे कुण्डिनपुरमें स्थित राजा भीष्मके अन्तःपुरमें पहुँचे। वहाँ रुक्मिणीको देखकर उन्होंने भविष्यवाणी की कि यह द्वारिकाधीशकी पटरानी होगी। कृष्णके रूप-सौन्दर्य और गुण वर्णन द्वारा उन्होंने रुक्मिणीका ध्यान कृष्णकी ओर पूर्णतया आकृष्ट किया। कृष्णका मन रुक्मिणीकी ओर आकृष्ट करनेके लिए उन्होंने रुक्मिणीका एक चित्रपट भी ले लिया, जिसे द्वारिकामें आकर कृष्णको भेंट किया। कृष्ण रुक्मिणीका चित्र देखते ही आसक्त हो गये। इधर रुक्मिणीकी अवस्था भी बुरी थी। वह भी दिनरात कृष्णका नाम जपने लगी। जब रुक्मिणीकी बुआको प्रेमाकर्षणका समाचार मिला तो उसने एक गुप्तपत्र श्रीकृष्णके पास भेजा, जिसमें रुक्मिणीके उद्धार करनेकी बात लिखी गयी। पत्रानुसार कृष्ण और बलभद्र कुण्डिनपुर पहुँचे और नागदेवकी पूजाके बहाने उद्यानमें आयी हुई रुक्मिणीको हरकर द्वारिका ले आये। युद्धमें शिशुपालको मार गिराया और रुक्मिणीके भाई रुक्मीको बन्दी बनाकर द्वारिका ले आये। रुक्मिणीके साथ कृष्णका विधिवत् विवाह हो गया।

सत्यभामा और रुक्मिणीमें सापत्न्यभावके कारण ईर्ष्या रहती थी। दोनोंको पुत्र उत्पन्न हुए। रुक्मिणीके पुत्रको पूर्वभवका वैरी धूमकेतु नामका असुर हरणकर ले गया और खदिरा अटवीमें तक्षशिलाके नीचे दबा दिया। मेघकूट नगरका राजा कालसंवर विद्याधर अपनी स्त्रीके साथ वहाँ विहार करके आया और उस बालकको अपने घर ले गया। उसका नाम प्रद्युम्नकुमार रखा गया। पुत्रका हरण होनेसे रुक्मिणीको महान् कष्ट हुआ। उसने घोर विलाप किया। अकस्मात् वहाँ नारदजीका आगमन हुआ। उन्होंने चक्रवर्ती पद्मरथ द्वारा सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें सुने गये प्रश्नोत्तरोंको कह सुनाया और बताया कि प्रद्युम्न बड़ा होनेपर स्वयं ही चला आयगा। इससे रुक्मिणीको सान्त्वना प्राप्त हुई। सत्यभामाके पुत्रका नाम भानुकुमार रखा गया।

अनन्तर श्रीकृष्णका जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारीके साथ विवाह सम्पन्न हुआ। जाम्बवतीसे शम्ब नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

द्वारिकामें यादवोंके बढ़ते हुए प्रभावको सुनकर जरासन्धका क्रोध पुनः भड़क उठा और वह युद्ध करनेके लिए उद्यत हो गया। दोनोंने एक दूसरेके प्रति अपने दूत भेजे और दोनों ओरकी सेनाएँ रणभूमिमें सन्नद्ध हो गईं। युद्ध आरम्भ

हो गया और दोनों ओरके शूर समर-भूमिमें काम आने लगे। अनेक वीर योद्धाओंने वीरगति प्राप्त की। कृष्णने जरासन्धको मार डाला। इस पराक्रमपूर्ण कार्यसे कृष्णका यश सर्वत्र व्याप्त हो गया। कृष्ण नारायणके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। अनेक विद्याधरोंने वसुदेवके साथ आकर कृष्णको नमस्कार किया। कवि जिनसेनने सन्दर्भका बहुत सुन्दर चित्रण किया है :—

अत्रान्तरे सुरैस्तुष्टैस्तस्मिन्नुद्घुष्टमम्बरे।
नवमो वासुदेवोऽभूद्वसुदेवस्य नन्दनः॥
निहतश्च जरासन्धस्तच्चक्रेणैव संयुगे।
प्रतिशत्रुर्गुणद्वेषी वासुदेवेन चक्रिणा॥ —हरिवंशपुराण ५२।१७-१८

× × ×

नानाविद्याधराधीशा नानाप्राभृतपाणयः।
आनकेन सहायान्ति ते नारायणभक्तितः॥ —हरिवंशपुराण ५२।२२

कृष्णने दिग्विजय यात्रा की। उन्होंने मागध देवोंको जीतकर अपना सेवक बनाया। लवण समुद्र, सिन्धुनदी और विजयार्ध पर्वतके म्लेच्छ राजाओंको अपने अधीन किया तथा उनसे नमस्कार कराया। उन्होंने गङ्गा नदीके मध्यमें स्थित विद्याधरोंको वश किया तथा भरतार्धके समस्त राजाओंको पराजित कर अपनी विजय दुन्दुभि बजायी। नारायणके साथ अर्धचक्रीके रूपमें एक हजार वर्ष तक पृथ्वीका पालन करते रहे। कौरव और पाण्डवोंके युद्धमें भी उनका सहयोग रहा। कृष्णकी आठ पटरानियाँ और सोलह हजार साधारण पत्नियाँ थीं।

कृष्णके चचेरे भाई तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे, जो अत्यन्त बलवान् और तेजस्वी थे। विवाहके समय की जानेवाली पशुहिंसाको देखकर विरक्त हो गये और तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश दिया तथा अन्तमें निर्वाणपद प्राप्त किया।

## कृष्णका व्यक्तित्व

वे नीलकमलके समान नीलवर्ण, दस धनुष उन्नत, विशाल वक्षस्थल, दाढ़ी-मूँछरहित मुख, मृदुल शरीर, वज्रके समान सुदृढ़ अस्थिबन्धन, अर्गलाके समान दृढ़ और लम्बी भुजाएँ, चमकीले नेत्र, वज्रतुल्य कठोर एवं उग्र अंग-प्रत्यंगसे विभूषित थे। श्रीकृष्णके शरीर-वैभवसे ही उनका महत्त्व प्रकट होता है। आचार्य गुणभद्रने श्रीकृष्णकी शरीर-सम्पत्तिका वर्णन करते हुए लिखा है—

घनघुसपरिधामो बद्धकेशो विकूर्चः सहजमसृणगात्रश्चित्तवृत्तिप्रवीणः।
सततकृतनियोगाद्गोपमल्लैरमल्लैरविकलजयलम्भः सर्वसम्भावितांशः॥
स्थिरचरणनिवेशो वज्रसारास्थिबन्धो भुजपरिघविधायी मुष्टिसम्माव्यमध्यः।
कठिनपृथुलवक्षाः स्थूलनीलाग्रितुङ्गस्त्रिगुणितमूर्तिदर्पसर्पाद्रोक्ष्यः॥
उत्कलितचलितनेत्रो निष्ठुराबद्धमुष्टिः परिगतकरणौघो मंक्षु संचारदक्षः।
भृशमशनिरिवोग्रो नन्दसूनुः स्थितः सन् भयमवहदसह्यं प्रेतनाथस्य चोच्चैः।

—उत्तरपुराण ७०।४८८-९०

स्पष्ट है कि कृष्ण महामानव नारायण हैं। उनका शरीर, रूप और बल भी अतुलनीय है। इनके शौर्य-पराक्रम-अतुलनीय है। इनके शौर्य-पराक्रमका विकास आरम्भसे ही परिलक्षित होने लगता है। जब वे कंसके निमन्त्रणपर मथुरा नगरीमें पधारे तो वहाँ मदोन्मत्त गज उनको मारनेके लिए पहलेसे ही तैयार किया गया था। उसकी चिंघाड़से ही जन-समूह मूच्छित हो जाता था। परन्तु जब यह दुर्दमनीय गज श्रीकृष्णके समक्ष आया तो उन्होंने उसका एक दाँत तोड़ लिया और दाँतसे मार-मारकर उस गजको भयभीत कर भगा दिया। कृष्णने अत्यन्त निर्भयता और शूरवीरता सहित चापूर आदि मल्लोंको परास्त कर दिया। इस सन्दर्भमें उनके व्यक्तित्वके निम्नलिखित गुण अभिव्यक्त होते हैं—

१. निर्भयता ओर निशङ्कतापूर्वक शत्रुका सामना करना।
२. अतुल पराक्रमके साथ अडिग साहसका समावेश।
३. उत्साहपूर्वक रङ्गभूमिमें योद्धाओंके साथ मल्लयुद्ध करनेकी क्षमता।
४. अपरिमित आत्मविश्वास।
५. लोककल्याणार्थ दुराचारी और समाजविध्वंसकारी तत्त्वोंको नष्ट करनेका संकल्प।
६. विनयशीलताके साथ विरोधी गुण अहङ्कारका स्वाभिमान रक्षाके रूपमें समावेश।

७. कर्त्तव्यकार्यके सम्पादन हेतु सदैव तत्परता।
८. स्फूर्ति, चंचलता और राजनीतिज्ञताका समन्वय।
९. सहजरूपमें अनुशासनकी प्रवृत्ति।
१०. स्वपद और मानमर्यादाकी रक्षाके लिए कूटनीतिका सृजन।
११. षड्यन्त्र निर्माणमें प्रवीणता।
१२. कार्यसिद्धिके लिए प्रयत्नशीलता।
१३. रणनीतिकुशलताके साथ सफल राजनीतिज्ञता।
१४. संगठनशक्तिकी प्रमुखता।
१५. उदाराशयता और आध्यात्मिकताका समावेश।
१६. अस्त्र-शस्त्र संचालनमें प्रवीणताके साथ सैन्य-संचालनमें भी निपुणता।
१७. दयालुता और कर्त्तव्यपरायणता।

कृष्णके व्यक्तित्वमें परिवारकी देख-भालका गुण समाविष्ट है। उन्होंने अपने सहोदर अनुज गजसुकमालके विवाहके लिए स्वयं कन्याका चुनाव किया था। अरिष्टनेमिका विवाह भी उन्होंने स्थिर किया था। कृष्णका बलदेवके साथ बड़ा ही सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था।

## कृष्णके व्यक्तित्वमें प्रमुख शीलतत्त्व

### १. शरणागतरक्षक

श्रीकृष्णके चरितकी एक विशेषता शरणागतकी रक्षा करना भी है[1]। राजा पद्मनाभ स्त्रीवेष धारणकर जब कृष्णको शरणमें आया तो उन्होंने अभयदान देकर उसे क्षमा कर दिया। इससे कृष्णके हृदयकी उदारता और विशालताका पता लगता है। अपराधी दीन बनकर जब शरणमें आ जाय, तो वीर पुरुष उसकी अवश्य रक्षा करते हैं।

### २. मृदुता और दयालुता

श्रीकृष्णका आचार-व्यवहार अत्यन्त नीतिनिपुण और सरल है। उनका हृदय मृदु और सानुक्रोश है। उनकी दयालुताका एक उदाहरण अंतगडदसामें आया है। कहा जाता है कि एक बार वे तीर्थंकर अरिष्टनेमिके दर्शन करने हाथी पर सवार हो जा रहे थे। सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे सुसज्जित थे और छत्र-चँवर धारण किये हुए थे। सैनिक समुदाय भी साथमें था, जब वे द्वारावतीसे निकले तो उन्होंने देखा कि एक जीर्ण, जराजर्जरित पुरुष ईंट ढो रहा है। ईंटोंका ढेर विशाल था, उसे ढोना उस वृद्ध व्यक्तिके लिए असम्भव-सा था। अतः कृष्ण हाथी परसे उतर कर नीचे आये और उन्होंने स्वयं इटोंका ढोना आरम्भ किया। कृपालु कृष्णको ईंट ढोते देखकर सड़कके अन्य व्यक्ति भी इस कार्यमें जुट गये और कुछ ही समयमें समस्त ईंटें राजपथसे अलग कर दी गयीं[2] इस आख्यानसे कृष्णकी प्रजावत्सलता, दयालुता, सेवावृत्ति आदि गुणोंपर प्रकाश पड़ता है।

### ३. अतिमानवीय कार्योंका सम्पादन

कृष्णमें अपरिमित शक्ति थी। वे आश्चर्यमें डालनेवाले अलौकिक कार्य बातकी बातमें सम्पन्न कर डालते थे। एक बारकी घटना है कि भीम आदि पाण्डवोंने नौका द्वारा गंगा पार की। कौतुकी भीमने नौका छिपा दी और जब कृष्ण वहाँ आये तो उन्होंने कहा कि हम लोगोंने तैरकर गंगाको पार किया है, आप भी इसी प्रकार गंगा पार कर डालिए। श्रीकृष्ण भीमके कथनको सत्य समझ गये और उन्होंने घोड़ों-सारथी सहित रथको एक हाथ पर उठा लिया तथा एक हाथ और दोनों जंघाओंसे गंगाको पार कर दिया[3]। उनके इस अलौकिक कार्यको देख लोग आश्चर्य चकित रह गये।

---

१. दत्त्वाऽभयमभयं तस्य शरणागतभीहरः। विससर्ज निजं स्थानं स्थाननाभादिमेदिनम्॥
कृष्णा कृष्णपदं नत्वा क्षेमदानपुरस्सरम्। मायुक्तं विनयं योग्यं पञ्चस्वपि यथाक्रमम्॥ —हरिवंशपुराण ५४।५१-५२।

२. अंतगडदसा वर्ग ३ अ० ८ पृ० १८-१६।

—हरिवंश० ५४।६७।

३. रथमुद्धृत्य हस्तेन साश्वसारथिमच्युतः। आलुदन्नभिबोरीर्णस्तां जङ्घाभ्यां भुजेन च॥

कृष्णने कुपूतनाको बचपनमें मारा[1]। अंजनगिरिके समान भयंकर शकट रूपधारिणी पिशाचिनीको एक ही लातसे वशमें कर लिया। उपद्रवकी अधिकताके कारण यशोदाने कृष्णके पैरमें रस्सी कसकर बाध दी। उसी दिन शत्रुकी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्षका रूप धारण कर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगी, पर कृष्णने उस दशामें भी दोनो देवियोंको गिरा दिया। छठी देवीने दुष्ट बैलका रूपधारण कर कृष्णको मारनेका प्रयास किया, पर उन्होंने उसकी गर्दन पकड़कर नष्ट कर दिया। सातवी देवीने पाषणोंकी वर्षाकर कृष्ण और गोकुलको नष्टकर डालना चाहा, किन्तु कृष्णने गोवर्धन पर्वत उठाकर गोकुलकी रक्षा की[2]। इस प्रकार कृष्णके लोकोत्तर कार्योंका चित्रण कर उनके अतिमानवीय रूपका अंकन किया गया है।

### ४. जितेन्द्रियता और अनासक्तिभाव

कुमारके समान अन्यन्त निर्विकार अथवा अत्यन्त कोमल हृदयको धारण करनेवाले कृष्ण, क्रीडाओंके समय अतिशय यौवन उन्मादमे भरी एवं प्रस्फुरित वक्षस्थलवाली गोपकन्याओंको उत्तम रासों द्वारा क्रीडा कराते थे। वे रास-क्रीडाओंके समय गोपबालाओंके लिए अपने हाथकी अंगुलियोंके स्पर्शसे होनेवाला सुख उत्पन्न कराते थे, परन्तु स्वयं अत्यन्त निर्विकार रहते थे। जिस प्रकार उत्तम अंगूठीमें जड़ा हुआ श्रेष्ठमणि स्त्रीके हाथकी अंगुलिका स्पर्श करता हुआ भी निर्विकार रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गोपललनाओकी हस्तागुलियोंका स्पर्श करते हुए भी निर्विकार रहते थे[3]।

स्पष्ट है कि कृष्ण रासलीला करते हुए भी अनासक्तयोगी थे, उनके मनमे किसी भी प्रकारका विकारभाव उत्पन्न नही होता था।

## निष्कर्ष

कृष्णके चरितसे ज्ञात होता है कि वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, और यशस्वी पुरुष थे। जैन वाङ्मयमें उन्हें ओघबली, अतिबली, महाबली, अप्रतिहत और अपराजित कहा गया है। उनके शरीरमें अपार बल था, वे अपनी शक्तिसे वज्रको चुटकीसे चूर्ण कर डालते थे। उनमे ईर्ष्या, मात्सर्य और कालुष्यभावका अभाव था। यद्यपि तीर्थंकर नेमिनाथको विरक्त कराने इनकी ईर्ष्या ही प्रधान हेतु थी, किन्तु तीर्थंकरके प्रति अटूट भक्तिभाव भी उनमें दिखलायी पड़ता है। वे कान्त, शान्त, सुभग और सौम्य थे। सुशील होनेके साथ अप्रमादी थे। प्रत्येक कार्यको समयपर सम्पन्न करते थे। उनमे अपूर्व दूरदर्शिता थी।

प्राय: समस्त पुराण, कथा और काव्य ग्रन्थोंमें कृष्णका उदात्त चरित प्रस्तुत किया गया है। उनके जीवन दर्शन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। कृष्णने सदा पुरुषार्थ और साहसपर विश्वास किया है और इन्हीको जीवनकी सफलता का साधन माना है। जो व्यक्ति निर्भीकभावसे पुरुषार्थ करनेमें अग्रसर रहता है, सफलता उसके चरणोंको चूमती है। जीवनका सत्य अहिंसा, वीरता और सहिष्णुताके समन्वयमें समाविष्ट है। आदर्श मानव बननेसे ही विघ्न-बाधाएँ दूर होती है और व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है। इसमे सन्देह नही कि राजनैतिक पक्ष कृष्ण का बहुत ही उदात्त है। धार्मिक और सामाजिक तथ्योंके स्थानपर कूटनीतिज्ञताको भी स्थान दिया गया है। अत: संक्षेप मे कृष्णमें एक कुशलराजनीतिज्ञ, कर्मयोगीके गुण पाये जाते है। जैन कवियो और लेखकोंने उनके इसी रूपका प्रधानता चित्रण किया है।

●

---

१. कुपूतना पूतनभूतमूर्त्ति : प्रपाययन्ती सविषस्तनौतम्। स देवताधिष्ठितनिष्ठुरास्यो व्यरीरटच्चूचुकचूषणेन ॥

वही ३५।४२।

२. कुदेवपाषाणमयातिवर्षैरनाकुलो व्याकुलगाकुलाय दधार गोवर्धनमूर्ध्वमुच्चैः स भूधर भूधरणो दोर्भ्याम्।

—वही ३५।४८।

३. सबालभावान्सुकुमारभावस्तथैवमुद्भिन्नकुचाः कुमारः।
सुयौवनोन्मादभराः सुरासैररीरमत्केलिषु गोपकन्याः ॥
कराङ्गुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो सुमुद्रिकानद्धमणिर्यथाध्यैः ॥

—हरिवंश० ३५।६५-६६।

# गुरुजीका प्रिय चन्द्रप्रभचरित : एक अनुशीलन

प्रो० अमृतलाल शास्त्री, वाराणसी

बीसवीं शताब्दीके मूर्धन्य विद्वान् गुरु गोपालदासजी बरैयाने सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक विशिष्ट ग्रन्थोंके साथ जिन साहित्यिक ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन किया था, उनमें उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य मुख्य है, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय रहा है।

## १. रचयिता

प्रस्तुत महाकाव्यके रचयिता महाकवि श्रीवीरनन्दी हैं, जो आचार्य अभयनन्दीके शिष्य और विबुध गुणनन्दीके प्रशिष्य थे। विबुध गुणनन्दीके गुरुका नाम भी गुणनन्दी है, पर उन्हे 'विबुध' उपाधि प्राप्त नहीं थी[1]।

### (क) विद्वत्ता

वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे। उन्होंने अपने अप्रतिम प्रतिभाबलसे समस्त वाङ्मयको आत्मसात् कर लिया था। वे जहाँ कुशल वक्ता एवं सफल सिद्धान्तवेत्ता थे वहाँ वे निष्णात दार्शनिक एवं तर्कशास्त्री भी थे। उनके निर्णय मान्य होते थे। उनकी युक्तियाँ एवं शास्त्रप्रमाण अकाट्य होते थे। इसी कारण उनका यश सर्वत्र प्रसृत था।

### (ख) प्रभाव

अभयनन्दीके शिष्य होनेके नाते वीरनन्दी और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती सतीर्थ रहे, फिर भी सिद्धान्त-चक्रवर्ती उनसे प्रभावित थे। उन्होंने अपनी कृति—गोम्मटसार कर्मकाण्डमें वीरनन्दीका तीन बार[2] उल्लेख किया तथा उन्हे गुरुकल्प माना है। मङ्गलाचरणके प्रसङ्गोंमें उनका बार-बार स्मरण करना उनके प्रभावका स्पष्ट द्योतक है। विशिष्ट दार्शनिक और कवि श्रीवादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें नामोल्लेख पूर्वक इनकी कृतिकी सराहना[3] की है। कविवर दामोदरने अपनी कृति चन्द्रप्रभचरितमें उन्हे 'कवीश' बतलाया है और वन्दन[4] भी किया है। पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनके प्रारम्भमें उनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्दसे भी पहले किया है और उनके काव्यको सूक्तियों एवं सद् युक्तियोंसे युक्त बतलाया है[5]। पण्डितप्रवर आशाधरने उनके चन्द्रप्रभचरितसे एक

---

१. चन्द्रप्रभचरित, अन्तिम प्रशस्ति श्लो० १ से ५।

२. जस्स पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥४३६।
णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥७८५॥
णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहद्धिभवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥८९६॥

३. चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१।३०॥

४. चन्द्रप्रभजिनेशस्य चरितं येन वर्णितम्।
तं वीरनन्दिनं वन्दे कवीशं ज्ञानलब्धये ॥१।१९॥ —जैनग्रन्थप्रशस्ति सं० पृ० ७० से उद्धृत।

५. श्रीवीरनन्दिदेवो धनञ्जयासगो हरिश्चन्द्रः।
व्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सदुक्तियुक्तीनि ॥
—'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह पृ० १२७ से उद्धृत।

श्लोक[1] उद्धृत करके उससे सागारधर्मामृतके न्यायोपात्त—इत्यादि श्लोक ( १।११ ) में दिये गये कृतज्ञता गुणका समर्थन किया है।

जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदयके प्रणेता महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके निर्माणकी रूपरेखा चन्द्रप्रभचरितको सामने रखकर बनाई। चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदयकी मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणोंके आश्रयकी सूचना, दार्शनिकचर्चा एवं धर्मदेशना आदिको देखकर कोई भी सहृदय यह जान सकता है कि हरिचन्द्रने वीरनन्दीके महाकाव्यको अथसे इति तक एकाधिक बार ध्यानसे देखा था। धर्मदेशनाके कतिपय पद्योंके चरण-के-चरण मिलते हैं[2]।

यदि अनुक्रम तथा भावकी समानतापर ध्यान दिया जाये तो लगभग आधी दिव्यदेशना दोनोंकी एक जैसी ही है। अतः यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि वे भी वीरनन्दीसे प्रभावित थे।

## २. कृति

### (क) प्रास्ताविक

चन्द्रप्रभचरितमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभका चरित निबद्ध है। इसकी कथावस्तुका मुख्य आधार आचार्य गुणभद्र भदन्तका उत्तरपुराण है, जिसके ५४वें पर्वमें चन्द्रप्रभके ७ भवोंका वर्णन है। पर्वके अन्तमें केवल एक ही अनुष्टुप्में गुणभद्रने क्रमशः उन ७ भवोंके नाम भी बड़ी कुशलतासे दिये हैं—

श्रीवर्मा १ श्रीधरो देवो २ ऽजितसेनो ३ ऽच्युताधिपः ४।
पद्मनाभो ५ ऽहमिन्द्रो ६ ऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः ७ प्रभुः॥

वीरनन्दीने भी उत्तरपुराणके इस क्रमके अनुसार चन्द्रप्रभचरितमें सातों भवोंका उल्लेख किया है—

यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः।
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः॥

उत्तरपुराणके उक्त श्लोकमें न केवल वीरनन्दीको, बल्कि पण्डित आशाधर[3] और दामनन्दीको[4] भी प्रभावित किया है।

वीरनन्दीके समक्ष उत्तरपुराणके साथ पुन्नाटसंघी जिनसेनका हरिवंशपुराण भी रहा है, क्योंकि चन्द्रप्रभचरितकी कुछ बातोंका साम्य हरिवंशपुराणसे भी मिलता है।

प्रस्तुत महाकाव्यमें चन्द्रप्रभके पाँच कल्याणकोंमेंसे केवल जन्म और मोक्ष—इन दोकी मितियाँ दी गई हैं। जन्मकल्याणककी मिति पौष कृष्णा एकादशी दी गई है जो दोनों पुराणोंके अनुरूप है, पर मोक्षकल्याणककी मिति भाद्रपद शुक्ला सप्तमी दी गई है जो केवल हरिवंशपुराणके ही अनुकूल है। उत्तरपुराणमें फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गई है। चन्द्रप्रभके समवसरणमें विक्रियाऋद्धिधारियोंकी संख्या १४००० चौदह हजार बतलाई गई है जो उत्तरपुराणके अनुरूप है। हरिवंशपुराणमें १०४०० दसहजार चारसौ लिखी है। ये ऐसे प्रसङ्ग हैं जो बतलाते हैं कि वीरनन्दीने उत्तरपुराणके साथ हरिवंश आदि पुराण-ग्रन्थोंका भी दोहन करके अपने महाकाव्यकी रचना की थी। लगता है इसीलिए वीरनन्दीने किसी पुराणविशेषका नाम न लेकर 'पुराणसागरे'[5] जैसे शब्दोंद्वारा पुराणसामान्यका उल्लेख किया है।

कृतिके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि इसके कर्ताने जैनपुराण, जैन महाकाव्य, सिद्धान्तशास्त्र, दार्शनिक साहित्य और व्याकरणके साथ जैनेतर महाकाव्य—रघुवंश और किरातार्जुनीय आदिका भी परिशीलन किया था।

---

१. विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्॥४।३८॥

२. तुलना कीजिए—चन्द्रप्र० १८-२ तथा धर्मश० २१ ८, च०च० १८-७८ तथा ध० श० २१-९०, च०च० १८-८८ और ध०श० २१-६६।

३. श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः।
पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽभूद्योऽव्याच्चन्द्रप्रभः स नः॥ —त्रिषष्टिस्मृति० १०।

४. श्रीवर्मा श्रीधरः स्वर्गेऽजितसेनोऽच्युतः सुरः।
पद्मनाभोऽहमिन्द्रो यस्तं वन्देऽहं शशिप्रभम्॥ —पुराणसारसंग्रह ८३।

५. चन्द्रप्रभचरित १।१०।

### (ख) परिचय

इसमें १८ सर्ग हैं। प्रारम्भके १५ सर्गोंमें चरितनायकके पिछले ६ भवों और अन्तके ३ सर्गोंमें वर्तमान भवका शिक्षाप्रद जीवनवृत्त वर्णित है। वर्तमान भवके केवल गर्भकल्याणका १६वें, जन्म, तप तथा ज्ञान इन तीन कल्याणकोंका १७वें तथा मोक्ष कल्याणकका वर्णन अन्तिम १८वें प्रस्तुत किया गया है। उनकी दिव्य देशना भी इसी अन्तिम सर्गमें दी गई है। महाकाव्योचित अन्यान्य विषयोंका प्रासङ्गिक वर्णन भी अलंकृत संस्कृत भाषामें यथास्थान दिया गया है। इसके अठारहों सर्गोंके कुल श्लोकोंकी संख्या १६९१ है। प्रशस्तिके ६ श्लोक अलग हैं। सभी सर्गोंके अन्तिम श्लोकोंमें 'उदय' शब्द आया है, अतः यह महाकाव्य 'उदयाङ्क' कहलाता है। चन्द्रप्रभके साथ 'उदय' का मेल भी ठीक बैठता।

### (ग) रचनाकाल

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने जिस गोम्मटसार कर्मकाण्डमें वीरनन्दीका उल्लेख किया है, उसकी रचना चामुण्डरायकीजो, गङ्गवंशीय राजा रायमल्लके प्रधानमन्त्री व सेनापति थे, प्रेरणासे की गई थी। चामुण्डरायने चैत्र शुक्ला पञ्चमी रविवार २२ मार्च सन् १०२८ में श्रवण-बेलगोल (मैसूर प्रदेश) में गोम्मटस्वामीकी मनोज्ञ मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी, अतः वीरनन्दीका भी यही समय सन् १०२८ है।

### (घ) एक मर्मस्थल

प्रस्तुत महाकाव्यके दूसरे सर्गमें प्रसङ्गतः तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनोंकी मीमांसा की गई है। इस सन्दर्भमें कुछ ऐसी भी युक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो खोजने पर अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें भी उपलब्ध नहीं हो सकीं। इस स्थलके श्लोक श्लिष्ट नहीं हैं फिर भी कुछ क्लिष्ट हैं। इस दृष्टिसे यह गूढ स्थल एक मर्मस्थल है।

इस प्रकरणमें जीव आदि तत्त्वोंके विषयमें तत्त्वोपप्लव, सांख्य, नैयायिक, बौद्ध और मीमांसक आदि दर्शनोंकी मान्यताओंको पूर्व पक्षके रूपमें प्रस्तुत करके उनका निरसन किया गया है।

भारत वर्ष दार्शनिकोंकी लीलाभूमि रहा है। भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक दर्शन बहुत पुराना है। इसका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है। इस दर्शनकी दृष्टिसे पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्माको स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं (आकाश नहीं); जीव भूतचतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न होता है, जो देहके साथ उत्पन्न होकर उसीके साथ नष्ट हो जाता है और केवल प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। तत्त्वोपप्लव दर्शन, चार्वाक दर्शनसे उत्पन्न हुआ एक नवीन दर्शन है। यों, यह दर्शन स्थूल दृष्टिसे चार्वाक दर्शन समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाये, तो उससे भिन्न है, यद्यपि उत्पन्न उसीसे हुआ है। भिन्नताका कारण मान्यताका भेद है। चार्वाक दर्शन भूतचतुष्टयरूप चार तत्त्व, किसी-न-किसी रूपमें जीवतत्त्व और अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंको न मानकर भी प्रत्यक्ष प्रमाणको स्वीकार करता है, जबकि तत्त्वोपप्लव दर्शन किसी भी तत्त्व और किसी भी प्रमाणको नहीं मानता। इस दर्शनकी दृष्टिसे सर्वत्र बाधा-ही-बाधा (उपप्लुत) है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने उक्त दोनों दर्शनोंकी अपनी अष्टसहस्रीमें पृथक्-पृथक् समालोचना की है। महाकवि वीरनन्दीने चन्द्रप्रभचरितमें प्रथमतः तत्त्वोपप्लव दर्शनकी मान्यताको पूर्व पक्ष बनाया है—

'जीव' नामका ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध हो। 'जीव' पदार्थकी सत्ता जब किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, तो उसका अभाव ही मानना होगा, और उसका अभाव माननेपर अजीव पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि जीव और अजीव पदार्थोंका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। जैसे स्थूल और सूक्ष्म का व्यवहार। स्थूल व्यवहार तभी होता है, जब कोई सूक्ष्म हो, और सूक्ष्म व्यवहार भी तभी होता है, जब कोई स्थूल हो। इसी तरह जीव व्यवहार अजीवको जानकर और अजीव व्यवहार जीवको जानकर किया जाता है। और जब जीव पदार्थ ही सिद्ध नहीं है, तो उसके बन्ध और मोक्ष आदि धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं? क्योंकि धर्मी—पदार्थके होने पर ही उसका धर्म—स्वभाव या गुण सिद्ध होता है, न कि उसके अभावमें। अतः जीव, अजीव, बन्ध और मोक्ष आदि सभी तत्त्व बाधित हैं। ऐसी स्थितिमें वे शास्त्रोंमें ही छिपे रहें तो अच्छा है। अन्यथा ज्यों-ज्यों विचार किया जायगा त्यों-त्यों पुराने सड़े-गले वस्त्रकी भाँति उसमें सैकड़ों उलझनें उपस्थित हो जायेंगी। गला हुआ पुराना कपड़ा तभी तक सुन्दर प्रतीत होता है, जब तक उसकी तह न खोली जाये। तह खोलने पर तो उसकी सैकड़ों धज्जियाँ दृष्टि-गोचर होने लगती हैं, और वे आपसमें उलझने भी लगती हैं, और फिर टूटने[1]।

---

१. च० च० २–४४, ४५, ४६, ४७।

## सांख्यों, नैयायिकों और बौद्धोंकी मान्यता

सांख्य, नैयायिक और बौद्ध जीव तत्त्वको स्वीकार करके भी उसके स्वरूपके विषयमें अन्यथा निरूपण करते हैं। सांख्य जीवके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इसे वे पुरुष कहते हैं। पर इसे वे कूटस्थ नित्य अर्थात् सर्वथा नित्य मानते है, और मानते है अकर्त्ता। उनकी दृष्टिसे प्रकृति (अजीव) कर्त्री है और पुरुष (जीव) भोक्ता है। नैयायिक जीवकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। पर उनकी मान्यता है कि जीव स्वयं ज्ञानवान् नही है, ज्ञानके समवायसे ज्ञानवान् है। वे गुण-गुणीमे समवाय सम्बन्ध मानते हैं। 'बौद्ध लोग जीवको चित्तकी सन्ततिरूप मानते हैं—ज्ञानकी सन्तान ही जीव है'[1]—

## समालोचना

'जीव नही है' यह तत्त्वोपप्लव वादियोका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे खण्डित है। ऐसी अवस्थामे 'क्योकि उसकी उपलब्धि नही होती' यह हेतु देकर कौन अपना परिहास करावेगा? 'अनुपलब्धि' हेतु देकर जीवका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता, क्यों जगत्मे जितने भी जन्तु हैं, उनमे जीवकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है—प्रत्येक जीवके साथ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ लगी हुई है, और इसीलिए उन्हे सुखावस्थामे 'मै सुखी हूँ' तथा दु खावस्थामे 'मै दुःखी हूँ'—इस प्रकारका स्पष्ट आभास होता है। यदि यह कहो कि 'ज्ञान स्वसंवेदी—अपनेको जाननेवाला नहीं, क्योकि उसे दूसरा ज्ञान जानता है, अत वह वेद्य है। जैसे कलश आदि अपनेका नही जानते, वैसे ज्ञान भी अपनेको नही जानता, क्योकि अपनेमेमे क्रिया नही होती। जिस प्रकार नट नृत्यकलामे कितना ही कुशल क्यो न हो, पर वह स्वयं अपने ही कन्धेपर चढकर नृत्य नही कर सकता। इसी प्रकार ज्ञान कितना ही निर्मल हो किन्तु वह अपनेको नही जान सकना।' ठीक नही, क्योकि अपनेमे क्रिया देखी जाती है। देखिये न, दीपक, चन्द्र और सूर्य आदि अपनेको भी प्रकाशित करते है। दीपक आदि अपनेको प्रकाशित करनेसे यदि प्रकाश्य हैं, तो अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण प्रकाशक भी। इसी प्रकार ज्ञान अपनेको जानता है, अत वेद्य है और अन्य पदार्थोंको जानता है, अत वेदक भी। यदि ज्ञान अस्वसंवेदी हो तो वह चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थको नही जान सकता। यदि यह कहा कि 'पहले ज्ञानका दूसरा ज्ञान जान लेता है, अतः पहला ज्ञान पदार्थोंको जान लेता है।' तो यह भी ठीक नही, क्योकि उत्तरोत्तर जितने भी ज्ञान होंगे, वे सब अगले-अगले ज्ञानके वेद्य ही तो होगे। पूर्व-पूर्व ज्ञानको उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञान जानकर उन्हे पदार्थोंको जानने योग्य बनाते रहेगे, ऐसा माननेपर तो अनवस्था दोषकी बेल पूरे आकाशमे फैल जायगी—आकाशकी तरह उसका भी अन्त नही आयेगा। उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञानोको यदि स्वतः अस्वसंवेदी ही मानते हैं, तो वे पूर्व-पूर्व ज्ञानको नही ही जान सकेंगे। ऐसी अवस्थामे पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान अप्रत्यक्ष ही बना रहेगा। उसके अप्रत्यक्ष रहनेसे विषयकी भी वही गति होगी—वह भी अप्रत्यक्ष बना रहेगा। यदि परोक्ष ज्ञानमे भी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करते हो तो एक मनुष्यने जिस पदार्थको जाना है, उसकी जानकारी दूसरेको भी हो जानी चाहिए। इसलिए युक्ति बलसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके सिद्ध हो जानेपर तत्त्वोपप्लव वादियोंको प्रत्यक्ष बाधा क्यो नही होगी? यदि तुम स्वसंवेदन प्रत्यक्षके आधारपर गर्भसे मरण पर्यन्त जीवकी सत्ताको मानकर भी यह पूछो कि 'गर्भसे पहले और मरणके बाद उसकी सत्ता कैसे सिद्ध मानी जा सकती है?' तो सुनो, जो पदार्थ सत् हो और जिनकी उत्पत्ति किसीसे न हुई हो, वे सब निश्चित ही अनादि और अनन्त होते है। जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु। जीवकी उत्पत्तिका हेतु कोई नही है—वह किसीसे उत्पन्न नही हुआ, यह असिद्ध है, ऐसा भी नही कह सकते; क्योंकि उसकी उत्पत्तिका कोई हेतु सिद्ध नही हैं। यदि यह कहा जाये कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—ये चार भूत उसकी उत्पत्तिमे हेतु है, तो दो विकल्प उठते हैं—(१) चारों भूत मिलकर जीवकी उत्पत्तिमे हेतु है, (२) या एक-एक करके? वे दोनों ही तरह जीवकी उत्पत्तिमे हेतु नहीं हो सकते। क्यो? सुनिये—यदि चार भूतोमेंसे किसी भी एकको जीवकी उत्पत्तिमे हेतु मान लिया जाये तो जीवमे उसकी संख्याका प्रसंग आयेगा—जिस भूतसे जीवकी उत्पत्ति होगी, उसके प्रत्येक कणमे जीवोत्पादनकी शक्ति होगी या समुदाय मे? यदि प्रत्येकमे, तो जितनी संख्या कणोंको होगी, उतनी ही जीवोकी संख्या होगी। किन्तु किसी भी एक शरीरमे अनेक जीवोकी उत्पत्ति मानना ठीक नही, क्योकि सभी जीवोकी अलग-अलग इच्छाएँ उत्पन्न होगी, फलत उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए सभी जीवोमे महाभारत छिडा रहेगा। यदि इस संख्याके प्रसंगसे बचनेके लिए किसी एक या चारो भूतोंके कण-समुदायमे जीवोत्पादनकी शक्ति मान ली जाये, तो यह भी ठीक नही, क्योकि चाहे एक भूतके कण हो चाहे चारोके, वे सब-के-सब अचेतन है, और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नही सकती। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जो अचेतनमे चेतनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमे सहायक हो। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमे उपादान और निमित्त—ये दो कारण होते है। उनमें उपादान

---

१. च० च० २–४६।

कारण सदा सजातीय ही होता है, यह नियम है। घड़ेकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी है और कपड़ेकी उत्पत्तिमें तन्तु। मिट्टी घड़ेकी सजातीय है और तन्तु कपड़ेके। इन सजातीय उपादान कारणोंका घड़े और कपड़ेमें सदा अन्वय बना रहता है, जिसे हम देखते ही हैं। अतः चारों भूत चूंकि जीवके सजातीय नहीं, विजातीय हैं, इसलिए उन्हें जीवकी उत्पत्तिमें उपादान कारण नहीं मान सकते। उन चारोंका जीवमें अन्वय भी तो हम नहीं देखते। यदि यह कहा जाये कि 'सींग यद्यपि बाणका सजातीय नहीं है, फिर भी उससे बाण बनाया जाता है, अतः सजातीय ही उपादान कारण होता है, यह नियम कहाँ रहा ? वह तो व्यभिचरित हो जाता है।' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सींग पुद्गल है और बाण भी पुद्गल है, अतः दोनों सजातीय ही हैं, न कि विजातीय। चारों भूत अचेतन हैं और जीव-चेतन, अतः जीवकी उत्पत्तिमें वे सजातीय नहीं, विजातीय हैं। यदि विजातीय भूतोंसे भी जीव उत्पन्न हो जाये तो जलसे पृथिवीकी भी उत्पत्ति हो जाये, और फिर ऐसी अवस्थामें आपके चार भूत तत्त्व भी सिद्धि नहीं हो सकते। पृथिवी आदि चार भूतोंको छोड़कर कोई पदार्थ जीवकी उत्पत्तिमें उपादान कारण नहीं है, जिससे भूतसमुदायको उसकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जीवकी उत्पत्तिमें भूतसमुदाय सहकारी कारण है; क्योंकि जीवकी उत्पत्ति में यदि कोई उपादान कारण सिद्ध हो जाता तो भूतसमुदायका उसमें सहकारी कारण कल्पित किया जा सकता था। उपादानके बिना सहकारी कारण कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। यदि यह कहो कि जीवकी उत्पत्तिमें उसका शरीर उपादान कारण है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आत्मामें उपादानरूप शरीरका स्वभाव नहीं देख पड़ता। उपादान कारणमें यदि कोई विकार उत्पन्न हो तो उसका प्रभाव कार्यपर अवश्य ही पड़ता है, किन्तु शरीरके ज्यों-के-त्यों बने रहनेपर भी जीवमें विकार देखा जाता है। यदि शरीर उपादान कारण होता तो उसके अविकृत रहने पर जीवको भी अविकृत रहना चाहिए। उपादानका धर्म उपादेयपर अपना प्रभाव अवश्य ही डालता है। यदि शरीरको उपादान और आत्माको उपादेय मानते हैं, तो आत्मामें शरीरका कोई धर्म अवश्य देख पड़ना चाहिए, किन्तु नहीं देख पड़ता—शरीर आँखोंसे देख लिया जाता है किन्तु आत्मा आँखोंसे कभी नहीं देखा जा सकता; शरीरमें अनेक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं देखे जाते, शरीरके बलमें न्यूनता देखनेपर भी आत्माके बलमें अधिकता देखी जाती है। अतः शरीर आत्माका उपादान कारण नहीं माना जा सकता। घट आदि पदार्थोंके जो मिट्टी आदि उपादान कारण हैं, उनमें यह बात नहीं देखी जाती कि मिट्टी आदि उपादान कारणमें विकार होनेपर भी घट आदिमें विकार न हो। अतः अनुमानबाधा भी आपके पक्षपर व्याघ्रीकी तरह क्रूर दृष्टि डाल रही है। चवालीसवें श्लोकमें तत्त्वोपप्लववादीने कहा था कि जीव पदार्थकी कोई प्रमाणसिद्ध सत्ता नहीं है।' उसके 'जीव नहीं है—इस पक्षमें चौवनवे इकसठवें श्लोकतक प्रत्यक्ष—स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे बाधा दिखलाई गई। उसके पश्चात् बासठवें श्लोकसे बहत्तरवें श्लोकतक अनुमान बाधा दिखलाई गई। स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त जीवकी सत्ता सिद्ध होती है और 'जीव अनादि और अनन्त है; क्योंकि वह सत् पदार्थ है, और उसकी उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थसे नहीं है, जैसे भूतचतुष्टय।'—इस अनुमानसे जीवकी अनादिता और अनन्तता सिद्ध होती है और इसलिए यही अनुमान पूर्व पक्षीके पक्षमें बाधा उपस्थित करता है। जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए तत्त्वोपप्लववादीने जो अनुपलम्भ ( 'अनुपलम्भात्'—उपलब्धि न होनेसे यह ) हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका सद्भाव सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि जीव तथा भूतोंमें एकता नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं—जीवका स्वरूप चेतन और भूतोंका स्वरूप अचेतन है। जीव और भूतोंका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिभास होनेसे पृथ्वी आदि चारों भूतोंको पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है, इसी प्रकार जीवका भी तो भूतोंसे भिन्न प्रतिभास होता है। अतः उसे भी भूतोंसे भिन्न मानना चाहिए। जीव और भूतोंमें भेद सिद्ध करनेवाले उनके भिन्न लक्षण पाये जाते हैं। इस प्रकार जीवकी सिद्धि होती है[1]।

सांख्य आत्माको सर्वथा नित्य मानते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता प्रत्यक्षसे ही खण्डित हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे यह सदैव अनुभव करता है कि उसकी आत्मा कभी सुखकी अवस्थाको और कभी दुःख की अवस्थाको प्राप्त होती है—उसकी सुख-दुःखकी अवस्था बदलती रहती है। आत्मा द्रव्य है और सुख-दुःख आदि उसकी पर्यायें हैं। गुण और पर्यायोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं। पर्यायोंके परिवर्तनका प्रभाव द्रव्यपर भी पड़ता है। अतः पर्यायोंकी अनित्यताके कारण द्रव्य भी कथञ्चित् अनित्य ठहरता है। अतः उसे सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं। सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ जीवसे भिन्न नहीं हैं। यदि इन अवस्थाओंको जीवसे भिन्न माना जाये तो 'ये अवस्थाएँ—पर्यायें इस जीवकी हैं' इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। यदि कहा जाये कि पर्यायोंके साथ जीवका समवाय

१. चन्द्रप्रभच० २-५४ से २-७२।

सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वैशेषिक लोग समवायको सर्वथा नित्य मानते हैं। सर्वथा नित्य होनेसे वह किसीका उपकार नहीं कर सकता। फलतः समवाय सम्बन्धसे भी पर्यायोंके साथ जीवका सम्बन्ध नहीं हो सकता। उपकारके आधारपर ही सम्बन्धोंकी व्यवस्था की जाती है। जब समवाय उपकार नहीं कर सकता, तो वह द्रव्य और पर्यायोंके बीच कैसे माना जा सकता है? अच्छा, थोड़ी देरको यह मान भी लें कि समवाय उपकार करता है, तो उपकार तो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है' अतः वह अनित्य है, और समवाय नित्य है। ऐसी स्थितिमें उपकारको समवायसे भिन्न मानना होगा। भिन्न मान लेनेपर 'यह उपकार समवायका है' यह कैसे सिद्ध होगा? यदि प्रस्तुत समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए दूसरे समवायको माना जाये; तो फिर यह प्रश्न होगा कि दूसरे समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध कैसे होगा? इसके उत्तरमे यह कहा जाय कि तीसरा समवाय मान लिया जायगा, तो फिर वही प्रश्न होगा। फलतः अनवस्था हो जायगी। इसलिए यह सिद्ध है कि सुख-दुःख आदि पर्यायोंके साथ जीवका कथञ्चित् अभेद है। और इसीलिए यह निश्चित है कि वह परिणमनशील है। ऐसी अवस्थामें जीव कूटस्थ नित्य कैसे हो सकता है? 'सुख-दुःख आदि पर्यायें आत्मासे भिन्न हैं', इस सिद्धान्तके खण्डनसे आत्माको जड मानने वालोंका भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि चेतन स्वरूप सुख-दुःख परिणामोंके साथ उसका अभेद संभव है।

सांख्योंका, जीवको अकर्त्ता मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि अकर्त्ता माननेसे कर्मबन्धका अभाव हो जायगा। यदि जीव अच्छे-बुरे कर्म नही करेगा तो उसे पुण्य-पापका बन्ध कैसे होगा? अच्छे काम करनेसे पुण्य बन्ध होता है और बुरे काम करनेसे पापबन्ध। जीवको अकर्त्ता माननेसे बन्ध नहीं होगा, और बन्धके न होनेपर मोक्ष कैसे होगा?' आत्मा भोक्ता है—यह कहकर सांख्योने स्वयं ही यह स्वीकार कर लिया कि वह 'भुक्ति' क्रियाका कर्त्ता है, किन्तु फिर भी उसके कर्तृत्वको छिपाते हुए उन्हें संकोच क्यों नहीं होता? आत्माको कर्त्ता माने बिना उसे भोक्ता नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि प्रधान—प्रकृतिके बन्ध आदि होते हैं, तो यह भी युक्तिसङ्गत नही; क्योंकि वह अचेतन है। अचेतनको न बन्ध होता है और न मोक्ष। इसलिए आत्माको अकर्त्ता मानना पाप है, पाप ही नही महापाप है[1]।

बौद्धोंका मत है कि केवल चित्तसन्तान—ज्ञानधारा ही आत्मा है, यह भी असङ्गत है; क्योंकि वह सन्तान-सन्तानि—क्षणोंसे भिन्न नहीं है। यदि उसे सन्तानियों (क्षणों)से भिन्न कहा जाये तो प्रश्न उठता है कि वह सन्तान नित्य है या क्षणिक? अगर उसे नित्य कहें तो क्षणिकवादियोंकी यह मान्यता कि 'सब क्षणिक है' समाप्त हो जाती है। और यदि सन्तानको क्षणिक मानें तो क्षण-पक्षमे जो कृतनाशादि दूषण प्राप्त होते है वे सब दूषण सन्तानको क्षणिक माननेमे भी प्राप्त होते है। अर्थात् जो सन्तान क्षण अच्छे-बुरे कर्म करेगा, वह दूसरे क्षणमे तो रहेगा नही, फलतः जो दूसरे क्षणमे उत्पन्न होगा, वह उसके फलको भोगेगा। ऐसी अवस्थामे करनेवाले सन्तानक्षणको कृतनाश और न करनेवाले भोक्ता सन्तानक्षणको अकृताभ्यागमका दोष लगेगा[2]।

कुछ (नैयायिक वैशेषिक आदि) दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं, किन्तु उनका यह मानना भी ठीक नही, क्योंकि उसकी व्यापकता सिद्ध नही होती। शरीरमे ही आत्माका सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है, शरीरके बाहर नही[3]।

अत. प्रमाणके आधारपर जीव अनादि, अनिधन, नित्य, शरीरप्रमाण, अच्छे-बुरे कर्मोंका कर्त्ता तथा उसके फलका भोक्ता और चेतनास्वरूप सिद्ध होता है। इस प्रकार जीवको सत्ता सिद्ध हो जानेपर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले अन्य अजीवादि पदार्थ भी सिद्ध हो जाते हैं, और उन सभी पदार्थोंके सिद्ध हो जाने पर यह निश्चित हुआ कि तत्त्वोपप्लववादीका कहना ठीक नहीं[4]।

## उपसंहार

इस तरह यह काव्य-कृति होते हुए भी इसमे ऐसी अनेक सैद्धान्तिक प्ररूपणाएँ भी उपलब्ध है जो जैनधर्मके आदर्शको प्रस्तुत करती है। जैन वाङ्मयका कोई भी अङ्ग हो, चाहे वह काव्य हो, चाहे दर्शन और चाहे आचार, सबका उद्देश्य जनसाधारणको धर्म-बोध करानेका रहा है। प्रस्तुत कृतिमें भी उसके कर्त्ताने इसी उद्देश्यसे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभके चरित्रके मिससे और काव्य-रसके माध्यमसे जैन तत्त्व-देशनाका निबन्धन किया है। इसमें काव्यके वे सभी गुण भी विद्यमान हैं जो एक महाकाव्यमे होना चाहिए। इसीसे आ० वीरनन्दिकी यह महत्त्वपूर्ण रचना गुरुजीके लिए अत्यन्त प्रिय रही है।

●

---

१. च० च० २—७४ से २—८३
२. च० च० २-८४, ८५, ८६।
३. च० च० २-८७।
४. च० च० २-८८, ८९।

# विद्यानुवादाङ्गमें वर्णित मातृकाएँ : स्वरूप, उपयोग और महत्त्व

पं० ज्योतिषचन्द्र शास्त्री, धौलपुर

●

## प्रास्ताविक

साधारणतः वर्णोंको पृथक्-पृथक् अथवा वर्णमालाको समुदित रूपमें मातृका कहा जाता है[1]। वर्णमालात्मक मातृका ध्वनियोंको साधनाके क्षेत्रमें उपयोगी नहीं माना गया है। अतः मन्त्रशास्त्रमे मातृकाओंके चार भेद बताये गये हैं[2]—(१) केवल मातृकाएँ, (२) बिन्दुसंयुक्त मातृकाएँ (३) विसर्गसंयुक्त मातृकाएँ, और (४) उभयात्मक मातृकाएँ। हमारे समक्ष केवल मातृकाओंका प्रयोग हो आता हैं। इन मातृकाओंमें सामान्यतः महत् शक्ति नहीं रहती है। हाँ, प्रयोगविशेषसे इन केवल मातृकाओं द्वारा भी कार्यसाधनकी क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

मन्त्रशास्त्रमें बिन्दुसंयुक्त—अनुस्वार या अनुनासिक युक्त, विसर्गयुक्त और उभयात्मक मातृकाएँ उपयोगी मानी गयी हैं और इन्हीं मातृकाओंसे यन्त्र-मन्त्रका गठन भी होता है। मातृकाओंकी अद्भुत शक्तिके उचित और उपयुक्त विधि-प्रयोग द्वारा आश्चर्यकारी कार्योंको सम्पन्न किया जाता है। वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा यह सिद्ध है कि मातृकाओंमें परमाणुरूप अद्भुत शक्ति निहित है। प्रयोग द्वारा देखा जा सकता है कि एक मसृण काँचके ऊपर सूक्ष्म धूलिरेणु-समूह पड़ा हुआ है। यदि इस काँचके पास बैठकर कोई बेला ( वायलिन ) पर एक गत बजाये तो शब्दतरंगोंसे आकृष्ट होकर धूलिरेणु शनैः-शनैः एक सुन्दर आकृतिमें परिणत हो जाते हैं। प्रयोग द्वारा यह भी सिद्ध है कि मातृकाध्वनियोंमें केवल आकर्षणकी शक्ति ही नहीं है, अपितु किसी भी वस्तुके कर्मपरिवर्त्तनकी भी क्षमता है। विज्ञानके क्षेत्रमें रेडियमका उदाहरण भी मातृकाध्वनियोंके शक्ति-परिज्ञानके लिए दिया जाता है। रेडियमका कार्य तापविकरण करता है। ताप किसी भी वस्तुके अणुओंका अस्त-व्यस्त भावसे स्पन्दन-मात्र है ( Irregular mole culaquiver )। अतः जिस वस्तुके कणोंमें कम्पन होता है, वह वस्तु हमारी अनुभूतिमें गर्म प्रतीत होती है। रेडियमके अणु क्रमशः फटते रहते हैं और फटते हुए अणु रेडियमके भीतरसे भीषण वेगमे बाहर निकलकर आते हैं तथा कतिपय अणु रेडियमके अन्यान्य अणुओंको धक्का (Collision) देकर कम्पा देते है, जिससे अणु परस्परमें घर्षित होकर ताप या शक्तिकी अभिव्यक्ति करते है। मातृकाओंमें जो स्पन्द (Vibration) रहता है, वह वायुको कम्पित करता है और इस कम्पनके फलस्वरूप शब्दाणु भी अपने वेगके कारण अवमाणुओंमें परिणत हो जाते हैं तथा अन्यान्य अणुओंसे घर्षित होकर शक्तिका सृजन करते हैं, इस शक्ति द्वारा लौकिक-अलौकिक कार्य सम्पादित होते हैं। मातृकाध्वनियोंसे यन्त्र-मन्त्रोंका गठन किस प्रकार किया जाता है, इसका विवेचन भी

---

१. अकारादिक्षकारान्ता वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृकाः।
सृष्टिन्यास-स्थितिन्यास-संहृतिन्यासतस्त्रिधा ॥ —जयसेन प्रतिष्ठापाठ श्लो० २७६।

२. चतुर्धा मातृका प्रोक्ता केवला बिन्दुसंयुता।
सविसर्गा सोभया च रहस्यं श्रृणु कथ्यते ॥
विद्याकरी केवला च शोभया वृद्धिकारिणी।
\+ \+ \+
सविसर्गा पुत्रदा च सबिन्दुर्वित्तदायिनी ॥ —तन्त्रसार, मातृकाविलासमें उद्धृत पृ० ६३।
अकारादिक्षकारान्ता मातृका वर्णरूपिणी।
चतुर्दशस्वरोपेता बिन्दुत्रयविभूषिता ॥ —परात्रिंशिका टि० पृ० १९४।
—मातृकाविलास पृ० ८९,९९।

विद्यानुवादांगमें आया है। यह ग्रन्थ मन्त्रशास्त्रकी दृष्टिसे तन्त्रसार, तन्त्रालोक, तन्त्रसद्भाव, पारात्रिंशिका जैसा ही उपयोगी है, इसमें मन्त्र-यन्त्रविद्या सम्बन्धी प्रचुर सामग्री संकलित है। शक्ति और बीजोंका विवेचन भी इस ग्रन्थमें आया है। हम यहाँ केवल मातृकाओंका निरूपण ही प्रस्तुत करते हैं।

## मातृकाओंका स्वरूप

'अ' से 'क्ष' पर्यन्त समस्त वर्ण अमृतमय है, जो व्यक्ति इन मातृकाध्वनियोंका यथार्थ प्रयोग करना जानता है, वह अल्प समय और अल्पशक्तिसे महत्तम कार्यका सम्पादन कर सकता है। मातृकाओंका प्रत्येक वर्ण किसी विशेष आकृति, शक्ति और मूर्त्तिसे युक्त है। जो साधक मातृकाओंकी शक्तिमें अवगत होकर उनका स्वशरीरकी शक्तिके साथ संयोजन सम्पन्न करता है, वह साधक जीवनमें सफलता प्राप्त कर लेता है। विद्यानुवादमें निरूपित प्रत्येक मातृकाका स्वरूप निम्न प्रकार है—

अ[1]—हेमवर्ण, कुंकुमगन्ध, लवणस्वाद, वृत्तासन, गजवाहन, जम्बूद्वीपके समान विस्तृत, चतुर्मुख, अष्टबाहु, कृष्णलोचन, जटा-मुकुटधारी, श्वेतवर्ण-मौक्तिक आभरण, अतिबली, गम्भीर और पुल्लिङ्ग।

आ[2]—श्वेतवर्ण, पद्मासन, अहिवाहन, शंख-चक्र-पद्मांकुशधारी, द्विमुख, अष्टबाहु, अहिभूषण, महाद्युति, त्रिशत्सहस्रयोजनविस्तीर्ण एवं स्त्रीलिङ्ग।

इ[3]—हेमवर्ण, चतुरस्रासन, कूर्मवाहन, वज्रायुध, एक योजन विस्तीर्ण, द्विगुणित-आयामोत्सेध, कषायस्वादु, वैडूर्य-वर्ण-अलंकृत, मन्दरस्वर, क्षत्रियवर्ण और नपुंसकलिङ्ग।

ई[4]—श्वेतवर्ण, कुवलयासन, वराहवाहन, मन्दगमन, अमृतरस, सुगन्धित, द्विभुज, पद्मधारी शतयोजनविस्तीर्ण द्विगुणोन्सेध, दिव्यशक्तिधारी और स्त्रीलिङ्ग।

उ[5]—धूम्रवर्ण, कोणासन, कोकवाहन, द्विभुज, मुद्गलगदायुध, कठोर गन्ध, कटुस्वादु, शतयोजन-विस्तीर्ण द्विगुणोत्सेध, वश्याकर्षण और स्त्रीलिङ्ग।

ऊ[6]—त्रिकोणासन, उष्ट्रवाहन, रक्तवर्ण, कषायरस, निष्ठुरगन्ध, द्विभुज,शूलधर, शतयोजन विस्तीर्ण और नपुंसकलिङ्ग।

---

१. वृत्तासनं गजवाहनं हेमवर्णं कुंकुमगन्धं लवणस्वादुं जम्बूद्वीपविस्तीर्णं चतुर्मुखं अष्टबाहुं कृष्णालोचनं जटामुकुटधारिणं सितवर्णं मौक्तिकाभरणं अतीवबलि-गम्भीरं पुंल्लिङ्गं अकारस्य लक्षणं।
—विद्यानुवाद, पाण्डुलिपि पत्र ४ अमर पृष्ठ
तुलनाके लिए—चामीकरनिभः शूलगदागजद्भुजाष्टकः। चतुरास्योऽतिकायः स्यादकारः कूर्मवाहन ॥
—शारदातिलकतन्त्र टीका पृ० ३५९

२. पद्मासनं गलव्यालवाहनं सितवर्णं शंखचक्रपद्मांकुशधारिणं द्विमुखं अष्टहस्तं अहिभूषणं शोभनादिमहाद्युतिं त्रिशत्सहस्र-योजनविस्तीर्णं स्त्रीलिङ्गं आकारस्य महात्म्यं।
—विद्यानुवाद पाण्डुलिपि पत्र ४, अपर पृष्ठ
तुलना—पाशाङ्कुशकरा श्वेता पद्मसंस्थेमवाहना। पष्ट्यूर्ध्वयोजनमिता स्यादा मौक्तिकभूषण ॥
—शारदातिलक तन्त्र टीका पृ० ३५९

३. कूर्मवाहनं चतुरासनं हेमवर्णं वज्रायुध एकयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायाममुत्सेधं कषायस्वादं वज्रवैडूर्य-वर्णालंकृतं मन्द-स्वरं नपुंसकं क्षत्रियं इकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानुवाद पाण्डुलिपि ४ पत्र, अपरपृष्ठ
तुलना—पीतं कराब्जकुलिशपरशुं वैरिनाशनम्। द्वयेकयोजनमानं स्यादिकारं कच्छपस्थितम् ॥ शारदा० पृ० ३५९

४. कुवलयासनं वराहवाहनं मन्दगमनं अमृतरसं सुगन्धं द्विभुजं फलपद्मधारिणं श्वेतवर्णं शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणोत्सेधं दिव्यशक्तिधारिणं स्त्रीलिङ्गं ईकारस्य माहात्म्यं। —विद्या० पाण्डुलिपि पत्र ५, पूर्वपृष्ठ
तुलना—दशयोजनदीर्घार्द्धनाहासौ हंसवाहना। ई स्यात्पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या सितानना ॥
—शारदा० पृ० ३५९

५. स्त्रीकोणासनं कोकवाहनं द्विभजं मद्गलगदायुधं धूम्रवर्णं कठोरकटुस्वादुं शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणोत्सेधं कठोरगन्धं वश्याकर्षणं उकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पाण्डुलिपि पत्र ५ पूर्वपृष्ठ

६. त्रिकोणासनं उष्ट्रवाहनं रक्तवर्णं कषायरसं निष्ठुरगन्धं द्विभुजं फल-शूलधरं, नपुंसकं शतयोजनविस्तीर्णं ऊकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पाण्डुलिपि पत्र ५ पूर्व पृष्ठ।
तुलना—गदाङ्कुशकरं काकवाहनं कृष्णभूषणम्। योजनद्विसहस्राणां मानमुद्वयमक्षरम् ॥
—शारदातिलकतन्त्र टीका पृ० ३५६।

ऋ[1]—उष्ट्रस्वभाव, उष्ट्रस्वर, शतयोजनविस्तीर्ण, द्विगुणायाम, उष्ट्ररस, नागाभरण, और सर्वविघ्नकारक।

ॠ[2]—पद्मासन, मयूर वाहन, कपिलवर्ण, चतुर्भुज, शतयोजनविस्तीर्ण, द्विगुणायाम, मल्लिकागन्ध, मधुरस्वादु, स्वर्णाभरण और नपुंसक लिङ्ग।

ऌ[3]—हयस्वभाव, हयस्वर, हयरस, शतयोजनविस्तीर्ण, द्विगुण-आयाम, शूरवाहन, चतुर्भुज, मुसल-कुन्तक-पद्म-कोदण्डधारी, कुवलयासन, कुण्डलाभरण, सर्वविघ्नकारक और नपुंसक लिङ्ग।

ॡ[4]—मणि-मौक्तिक-यज्ञोपवीत, कुण्डलाभरण, द्विभुज, मल्लिकागन्ध, पञ्चाशद्योजनविस्तीर्ण, द्विगुण-आयाम, क्षत्रियवर्ण, उच्चाटन, कुन्तक-पद्म-हस्त और नपुंसक लिङ्ग।

ए[5]—जटा-मुकुटधारी, मौक्तिकाभरण, यज्ञोपवीतयुक्त, चतुर्भुज, शंख-चक्र-परशु-पद्म-हस्त, दिव्य स्वादु, सुगन्धित, सर्वप्रिय, शुभलक्षण, वृत्तासन और नपुंसक लिङ्ग।

ऐ[6]—त्रिकोणासन, गरुडवाहन, त्रिभुज, त्रिशूल-गदायुध, अग्निवर्ण, निष्ठुरगन्ध, क्षीरस्वादु, घर्घरस्वर, दशयोजनविस्तीर्ण, द्विगुण-आयाम और वश्याकर्षण।

ओ[7]—वृषभवाहन, तप्तकाञ्चनवर्ण, सर्वायुधसम्पन्न, लोकालोकव्याप्त, महाशक्ति, त्रिनेत्र, द्वादशसहस्रबाहु, पद्मासन, महाप्रभु, सर्वदेवपूज्य, सर्वमन्त्रसंसाधक, सर्वलोकपूजित, सर्वशान्तिकर, सर्वानुग्रहकारक, क्षिति-जल-पवन-अग्नि-आकाशमय शरीर, सूर्य-चन्द्रादि कार्य करनेमें समर्थ, सर्वाभरणभूषित, दिव्य-स्वादु, सुगन्धित, सर्वरक्ष, शुभद, स्थावर-जंगमादि जीवोंपर दयालु, अव्यय और पञ्चाक्षरगर्भित।

---

१. उष्ट्रस्वभावं उष्ट्रस्वरं शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं उष्ट्ररसं नागाभरणं सर्वविघ्नं ऋकारस्य माहात्म्यम्।
विद्यानु० पाण्डुलिपि पत्र ५ पूर्व पृष्ठ।

२. पद्मासनं मयूरवाहनं कपिलवर्णं चतुर्भुजं शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं मल्लिकागन्धं मधुरस्वादु हेमाभरणं नपुंसकं ॠकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ पूर्व पृष्ठ।
तुलना—पाशशक्तिभुजं रक्तं वह्निबिम्बस्थितोष्ट्रगम्। उक्तप्रमाणं कालघ्नम् ॠवर्णद्वयं भवेत्॥
—शारदा० पृ० ३५९।

३. हयस्वभावं हयस्वरं हयरसं शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं शूरवाहनं चतुर्भुजं मुसलकुन्तकपद्मकोदण्डहस्तं कुवलयासनं कुण्डलाभरणं सर्वविघ्नकारिणं नपुंसकं ऌकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ पूर्वपृष्ठ।

४. मणिमौक्तिक-यज्ञोपवीतं कुण्डलाभरणं द्विभुजं मल्लिकागन्धं पञ्चाशद्योजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं नपुंसकं क्षत्रियं उच्चाटनं कुन्तपद्महस्तं ॡकारस्य माहात्म्यम्। —वही, पत्र ५, पूर्व पृष्ठ।
तुलना—चतुरस्राब्जहंसस्थं पुष्परागसमप्रभम्। पाशवज्रकरं रौद्रं ऌयुग्मं स्याच्चिरावनम्॥
—शारदा० पृ० ३५६

५. जटामुकुटधारिणं मौक्तिकाभरणं यज्ञोपवीतोपेतं चतुर्भुजं शंखचक्रपरशुपद्महस्तं दिव्यस्वादुं सुगन्धितं सर्वप्रियं शुभलक्षणं वृत्तासनं नपुंसकं एकारस्य माहात्म्यं। —विद्यानु० पत्र ५ अपर पृष्ठ।
तुलना—गदाकलारिपद्माढ्यकरं हारविभूषणम्। चक्रवाकस्थितं श्याममेकारं तु महद्भवेद्।
—शारदा० पृ० ३५६।

६. त्रिकोणासनं गरुडवाहनं त्रिभुजं त्रिशूलगदायुधं अग्निवर्णं निष्ठुरगन्धं क्षीरस्वादुं घर्घरस्वरं दशयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं वश्याकर्षणशक्तिः ऐकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ अपरपृष्ठ।
तुलना—नवकुन्दनिभा शूलवज्रबाहा द्विपास्थिता। कोटियोजनमाना स्यादैमूर्तिः कवितांकरी॥
—शारदातिलक तन्त्रटीका, पृ० ३५९।

७. वृषभवाहनं तप्तकाञ्चनवर्णं सर्वायुधसम्पन्नं लोकालोकव्याप्तं महाशक्तित्रिनेत्रं द्वादशसहस्रबाहुं पद्मासनं महाप्रभुं सर्वदेवतापूज्यं सर्वमन्त्रसंसाधकं सर्वलोकपूजितं सर्वशान्तिकरं सर्वानुग्रहं विग्रहं क्षितिजल पवनहुताशनं यजमानाकाश-सूर्यचन्द्रादिकार्यकरणतत्परं सर्वाभरणभूषितं दिव्यस्वादुं सुगन्धं सर्वरक्षं शुभदं स्थावरजंगमादिसर्वजीवदयापरं अव्ययं पञ्चाक्षरगर्भितम्—ओकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ अपर पृ०।
तुलना। चिन्मयं सर्वगं शान्तं द्विसहस्रकरोज्ज्वलम्। पीतं गोवृषसंस्थं स्यादोरूपं श्रीकरात्मकम्॥
—शारदातिलक पृ० ३५९।

औं[1]—वृत्तासन, कोकवाहन, कुंकुमगन्ध, पीतवर्ण, चतुर्बाहु, वज्रपाशधारी, कषायस्वादु, श्वेतमाल्यादि-आभरण युक्त, स्तम्भनशक्तिसम्पन्न, शतयोजनविस्तीर्ण और द्विगुण-आयाम।

अं[2]—पद्मासन, श्वेतवर्ण, नीलोत्पलगन्ध, कौस्तुभाभरण, द्विभुज, पद्मपाशायुध, सुन्दरयज्ञोपवीतधारी, प्रसन्नमति, मधुरस्वादु, शतयोजनविस्तीर्ण और द्विगुण आयाम।

अः[3]—त्रिकोणासन, पीताम्बर, कुंकुमगन्ध, धूम्रवर्ण, कठोरस्वर, निष्ठुर दृष्टि, क्षारस्वादु, द्विभुज, शूलायुध, निष्ठुरगति, अशोभनाकृति, शुभकर्मशासक, और नपुंसकलिङ्ग।

क[4]—चतुरस्रासन, चतुर्दन्त, गजवाहन, पीतवर्ण, सुगन्धमाल्यानुलेपन, स्थिरगति, प्रसन्नदृष्टि, द्विभुज, वज्र-मुसलायुध, जटा-मुकुटधारी, सर्वाभरणभूषित, सहस्रयोजनविस्तीर्ण, दशसहस्रयोजनोत्सेध, क्षत्रिय-वर्ण, इन्द्रादि देवताओंके स्तम्भक-शान्तिक-पौष्टिक-वश्याकर्षणशक्तिसम्पन्न एवं पुल्लिङ्ग।

ख[5]—पिंगल-वाहन, मयूर ग्रीववर्ण, द्विभुज, तोमर-शक्तियुक्त, कालयज्ञोपवीत, सुस्वर, त्रिशद्योजनविस्तीर्ण, आकाशगामी, क्षत्रिय वर्ण, सुगन्धमाल्यानुलेपन, आग्नेयकर्मसिद्धिदायक, मनोरथसिद्धिदायक, अणिमादि विभूतियुक्त और पुल्लिङ्ग।

ग[6]—हंसवाहन, पद्मासन, माणिक्याभरण, श्वेतवस्त्र, सुगन्धमाल्यानुलेपन, कुंकुम-चन्दनप्रिय, क्षत्रिय वर्ण, पुँल्लिङ्ग, सर्वशान्तिकर, शतयोजनविस्तीर्ण, सर्वाभरणभूषित, द्विभुज, फलपाशधारी अमृतस्वादु और प्रसन्नदृष्टि।

घ[7]—उष्ट्रवाहन, उल्लूकासन, द्विभुज, वज्रगदायुध, धूम्रवर्ण, सहस्रयोजनविस्तीर्ण, हंसस्वर, कठोरगन्ध, क्षारस्वादु, महाबल, उच्चाटन-छेदन-मोहन-स्तम्भनकारी, पञ्चाशतयोजनविस्तीर्ण, नपुंसक, क्षत्रियवर्ण, सर्वशान्तिकर और महावीर्य।

---

१. वृत्तासनं कोकवाहनं कुंकुमगन्धं पीतवर्णं चतुर्बाहुं वज्रपाशधारिणं कषायस्वादुं श्वेतमाल्यादिलेपनं स्तम्भनशक्ति शतयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं औकारस्य महात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ अपर पृ०।
तुलना—तप्तहेमनिभा पाशचक्रबाहुर्विभूतिदा। योजनानां सहस्रेण स्यादौवर्णमितौजसा॥ शारदा० पृ० ३५९

२. पद्मासनं सितवर्णं नीलोत्पलगन्धं कौस्तुभाभरणं द्विभुजं पद्मपाशायुधं सुभगं यज्ञोपवीतधारणं प्रसन्नमति-मधुरस्वादुं शतयोजनविस्तीर्णं अंकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ अपरपृ०।
तुलना—नवकुङ्कुमसच्छायः पद्मस्थो रक्तभूषणः। चतुर्भुजः स्यादंवर्णः श्रीकरो रिपुनाशकः। —शारदा० पृ० ३५९।

३. त्रिकोणासनं पीताम्बरं कुङ्कुमगधं धूम्रवर्णं कठोरस्वरं निष्ठुरदृष्टि क्षारस्वा[दुं] द्विभुजम् शूलायुधं निष्ठुरगति अशोभना-कृति नपुंसकं शुभकर्मशासनं, अःकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ५ अपर पृ०
तुलना—वज्रशूलकरं क्षुद्र (युद्ध) फत्कं खरवाहनम्। सहस्रयोजनमितं स्वरान्तं द्विभुजं स्मरेत्।
—शारदा० पृ० ३५९।

४. चतुरस्रासनं चतुर्दन्तं गजवाहनं पीतवर्णं सुगन्धं माल्यानुलेपनं स्थिरगति-प्रसन्नदृष्टि द्विभुजं वज्रमूसलायुधं जटामुकुट-धारिणं सर्वाभरणभूषितं सहस्रयोजनविस्तीर्णं दशसहस्रयोजनोत्सेधं पुल्लिङ्गं क्षत्रियं इन्द्रादिदेवतास्तम्भनशान्तिक-पौष्टिकवश्याकर्षणकार्यकारकं ककारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ६ पूर्व पृ०।

५. पिंगलवाहनं मयूरग्रीववर्णं द्विभुजं तोमरशक्तिहस्तं व्यालयज्ञोपवीतं सुस्वरं त्रिशद्योजनविस्तीर्णं आकाशगामिनं क्षत्रियं सुगन्धमाल्यानुलेपनं आग्नेयपुरकर्मचिन्तितमनोरथसिद्धिकरं अणिमादिदैवतं पुलिङ्गं खकरस्य माहात्म्यम्।
—वही, पत्र ६ पूर्वपृष्ठ।

६. हंसवाहनं पद्मासनं माणिक्याभरणं इंगिलीकवर्णाढ्यं श्वेतवस्त्रं सुगन्धमाल्यानुलेपनं कुंकुमचन्दनप्रियं क्षत्रियं पुल्लिङ्गं सर्वशान्तिकरं शतयोजनविस्तीर्णं सर्वाभरणभूषितं द्विभुजं फलपाशधरिणं यक्षादिदैवतं, अमृतस्वादुं प्रसन्नदृष्टिं एकारस्य महात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ६ पूर्व पृष्ठ
तुलना—योजनानां सहस्रेण मितः कृष्णो विभीषणः। पाशाङ्कुशकरः पद्मे फणिसंस्थोऽरुणप्रभः॥
गकारः सर्वभूषः स्यात् शतयोजनसंस्थितः। —शारदा० पृ० ३५६।

७. उष्ट्रवाहनं उल्लूकासनं द्विभुजं वज्रगदायुधं धूम्रवर्णं सहस्रयोजनविस्तीर्णं हंसस्वरं कठोरगन्धं क्षारस्वादुं महाबलं उच्चाटन-छेदन-भेदन-स्तम्भनकरं पञ्चाशत्योजनविस्तीर्णं नपुंसकं रौद्रशक्तिं क्षत्रियं सर्वशान्तिकरं महावीर्याधिदैवतं घकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु० पत्र ६ पूर्वपृष्ठ।

इ —सर्पासन, दुष्टस्वर, दुर्दृष्टि, दुराचारी, कोटियोजनविस्तीर्ण, सहस्रयोजनोत्सेध कार्यशासक, रात्रिप्रिय, षड्भुज, मूसल-गदा-शक्ति-मुष्टि-भुशुंडी-परशुहस्त, नपुंसक और यमादिदैवत।
च[2]—हंसवाहन, श्वेतवर्ण, सहस्रकोटियोजनविस्तीर्ण, हीरक-वैडूर्य-मुक्ताभरणभूषित, चतुर्भुज, शुभचक्रफल-पद्मधारी, जटामुकुटधारी, सुस्वर, सुमन-प्रिय और यक्षादि दैवत।
छ[3]—मकरवाहन, पद्मासन, महाघंटास्वर, उदयार्कप्रभ, सहस्रयोजन विस्तीर्ण, आकर्षणादिरौद्रकर्मकरं, श्यामवर्ण, दिव्याभरणभूषित एवं गरुडदेवता।
ज[4]—शूद्रवर्ण, पुँल्लिङ्ग, चतुर्भुज, परशुपाश-पद्म-वज्रहस्त, अमृतस्वादु, जटामुकुटधारी, मौक्तिक-हीरक-भूषण, वश्याकर्षण, सत्यवादी, सुगन्धप्रिय, शतपद्मतुल्य और वरुणादि दैवत।
झ[5]—पुँल्लिङ्ग, वैश्यवर्ण, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-पुरुषार्थ युक्त, वश्याकर्षण, कुबेरदेवता, द्विभुज, शंख-चक्र युक्त, मौक्तिकवज्राभरण भूषित, सत्यवादी, पीतवर्ण पद्मासन, सुगन्धित, और अमृतस्वादु।
ञ[6]—काकवाहन, कृष्णवर्ण, दूतकर्मा, नपुंसकलिङ्ग, शतयोजनविस्तीर्ण, चतुर्भुज, त्रिशूल परशु-गदायुधसहित, महाक्रूरस्वरयुक्त भयंकर, शीघ्रगति, व्यभिचार-कर्मयुक्त, क्षारस्वादु, शीघ्रगमन, रौद्रदृष्टि और यमदेवता।
ट[7]—वृत्तासन, कपोतवाहन, कपिलवर्ण, द्विभुज, वज्रगदायुध, शतयोजन विस्तीर्ण, मृदुस्वर, मन्दगन्धयुक्त, शीतल स्वभाव, व्यालयज्ञोपवीत और चन्द्रदेवता।
ठ[8]—चतुरस्रासन, गजवाहन, शंखतुल्य, द्विभुज, वज्र-गदायुध, जम्बूद्वीपप्रमाण, अमृतस्वादु, पुँल्लिङ्ग, रक्षा-स्तम्भन-मोहन-कार्यसिद्धिदायक, सर्वाभरण भूषित और क्षत्रिय।

---

तुलना—उष्ट्रोलूखलसंस्थः स्याद् गदावज्रकरो मितः। योजनानां सहस्रेण द्विभुजो चः सितेतरः॥

—शारदा॰ पृ॰ ३६०।

१. सर्पासनं दुष्टस्वरं दुर्दृष्टि दुर्गन्धं दुराचारी-कोटियोजनविस्तीर्णं सहस्रयोजनोत्सेधं कार्यशासनं रात्रियं षड्भुजं मुसल-गदाशक्तिमुष्टि-भुशंडी-परशुहस्तं नपुंसकं यमादिदैवतं इकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु॰ पत्र ६।
तुलना—कोटियोजनदीर्घार्द्धनाहं कृष्णं ज्वलत्प्रभम्। द्विभुजं काकवाहं स्यात् ङार्णं क्षुद्रफलप्रदम्॥

२. शोभनं हंसवाहनं श्वेतवर्णं शतकोटिसहस्रं कोटियोजनविस्तीर्णं वज्रवैडूर्यमुक्ताभरणभूषितं चतुर्भुजं शुभचक्रफलपद्मधरं जटामुकुटधारिणं सुस्वरं सुमनःप्रियं ब्राह्मणीयक्षादिदैवतं चकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानु॰ पत्र ६।

३. मकरवाहनं पद्मासनं महाघण्टास्वरं उदयार्कप्रभं सहस्रयोजनविस्तीर्णं आकर्षणादिरौद्रकर्मकरं सुमनसुगन्धं श्यामवर्णं दिव्याभरणभूषितं चतुर्भुजं चक्रवज्रशक्तिगदायुधं सर्वकार्यसिद्धिकरं गरुडदैवतं छकारस्य माहात्म्यम्।

—वही॰ पत्र ६ अपरपृष्ठ।

४. शूद्रं पुल्लिङ्गं चतुर्भुजं परशुपाशपद्मवज्रधरं अमृतस्वादुं जटामुकुटधारिणं मौक्तिकवज्राभरणभूषितं वश्याकरणं सत्यवादि सुगन्धप्रियं शतपद्मसन्निभं वरुणादिदैवतं जकारस्य माहात्म्यम्। —वही पत्र ६।

५. पुरुषं वैश्यं धर्मार्थकाममोक्षवश्याकर्षणं कुबेरादिदैवतं द्विभुजं शंखचक्रहस्तं मौक्तिकवज्राभरणभूषितं सत्यवादी-पीतवर्णं पद्मासनं सुगन्धि-अमृतस्वादुं झकारस्य माहात्म्यम्। —विद्या॰ पत्र ६।
तुलना—जझौ च कोटिमानौ स्तः चतुर्बाहू सितप्रभौ। योजनानां सहस्रैः स्यात् सम्मितं काकवाहनम्॥

—शारदा तिलक टीका, पृ॰ ३६०।

६. काकवाहनं गन्धं कृष्णवर्णं दूतकर्मा नपुंसकं शतयोजनविस्तीर्णं चतुर्भुजं त्रिशूल-परशुनिष्ठुरगदायुधं महाक्रूरस्वरं सर्व-जीवभयंकरं शीघ्रगति व्यभिचारकर्मणा युक्तं क्षारस्वादुं शीघ्रगमन रौद्रदृष्टि यमदैवतं ञकारस्य माहात्म्यम्।

—विद्यानुवाद पत्र ६, अपर पृष्ठ।

तुलना—विद्वेषकरणं ञार्णं कृष्णवर्णं भुजद्वयम्। क्रौञ्चस्थो द्विभुजष्टः स्यान्नागलक्षो महाध्वनिः॥

—शारदा॰ पृ॰ ३६०।

७. वृत्तासनं कपोतवाहनं कपिलवर्णं द्विभुजंवज्रगदायुधं शतयोजनविस्तीर्णं पुल्लिङ्गं मृदुस्वरं मन्दगन्धिलं, लवणस्वादु शीतलस्वभाव व्यालयज्ञोपवीत चन्द्रदैवतं टकारस्य महात्म्यम्। —विद्यानु॰ पत्र ६।

८. चतुरस्रासनं गजवाहनं शंखसन्निभं, द्विभुजं वज्रगदायुधं जम्बूद्वीपप्रमाणं अमृतस्वादुं पुंलिङ्गं, रक्षा-स्तम्भन-मोहन-कार्यसिद्धिकरं सर्वाभरणभूषितं क्षत्रियं दैवतं ठकारस्य माहात्म्यम्। —वही पत्र ६।

ड[1]—चतुरस्रासन, शंखतुल्यवर्ण, जम्बूद्वीपप्रमाण, क्षीरामृतस्वादु, पुंल्लिङ्ग, द्विभुज, रक्षास्तम्भनमोहकारी, कर्पूर-गन्ध, सर्वाभरणभूषित, शुभस्वर और कुबेर देवता।

ढ[2]—चतुरस्रासन, मोहनसन्निभ, जम्बूद्वीपप्रमाण, पुंल्लिङ्ग, अष्टभुज, परशु-पाश-वज्रमुशल-भिण्डपाल-मुद्गर आयुध युक्त, सुस्वादु, सुस्वर, महाध्वनियुक्त, रक्तवर्ण, उर्ध्वमुख दुष्टनिग्रह-शिष्टप्रतिपालक, शतयोजन विस्तीर्ण, सहस्रयोजनावृत्त, तदर्ध परिणाह, जटामुकुटधारी, सुगन्धित और महसत्त्व युक्त।

ण[3]—त्रिकोणासन, व्याघ्रवाहन, शतसहस्रयोजन आयाय, इसके अर्धयोजन प्रमाण विस्तार, षड्भुज, तोमर-भुशुंडि-भिण्डपाल-परशु-त्रिशूलधारी, कठोरगन्ध, शापानुग्रहशक्तियुक्त, कृष्णवर्ण, रौद्रदृष्टि, क्षारस्वादु, नपुंसकलिङ्ग और वायुदेवता।

त[4]—पद्मासन, गजवाहन, शौर्याभरण, शतयोजन विस्तीर्ण, पचास योजन आयाम, चम्पकगन्ध, चतुर्भुज, परशुपास-पद्म-शंख युक्तहस्त, पुंल्लिङ्ग, मधुरस्वाद, सुगन्धप्रिय और चन्द्रदेवता।

थ[5]—वृषभवाहन, अष्टभुज, शक्ति-तोमर-परशु-धनुर्दण्ड-पाश-गदायुक्त, कृष्णवर्ण, कृष्णवस्त्र, जटामुकुटधारी, कोटि योजन आयाम, इससे अर्धयोजन प्रमाण विस्तार, क्रूरदृष्टि, कठोरगन्ध, अस्तूराक्षप्रिय, सर्वकामना साधक और अग्निदेवता।

द[6]—महिषवाहन, कृष्णवर्ण, त्रिमुख, षड्भुज, गदा-मुशल-भुशुंडि-तोमर आयुधयुक्त, कोटियोजन आयाम, अर्धकोटियोजन विस्तार, दिगम्बर, लोहाभरणयुक्त, ऊर्ध्वदृष्टि, सर्पयज्ञोपवीत, नपुंसक, और यमदेवता।

ध[7]—पुंल्लिङ्ग, कषायवर्ण, त्रिनेत्र, चार योजन विस्तीर्ण, रौद्रकार्य, षड्भुज, चक्रपाशगदाभुशुंडि-मुशल-वज्रशरासनायुध युक्त, कृष्णवर्ण, कृष्णसर्पयज्ञोपवीत, जटामुकुटधारी, रौद्रदृष्टि और नैऋत्य देवता।

न[8]—कृष्ण वर्ण, नपुंसक, त्रिशूल, मुद्गरास्त्र, ऊर्ध्वकेश, चर्मधारी, रौद्रदृष्टि, कठोरस्वादु, कृष्णसर्पप्रिय, काकस्वर, शतयोजनोत्सेध, तिल-तैलादि प्रिय एवं यमदेवता।

---

१. चतुरस्रासनं शंखसन्निभं जम्बूद्वीपप्रमाणं क्षीरमृतस्वादुं, पुल्लिङ्गं द्विभुजं पद्मधरं रक्षा-स्तम्भनमोहनकरं कर्पूरगन्धं सर्वाभरणभूषितं शुभस्वरं कुबेरदैवतं डकारस्य माहात्म्यम्। —विद्या० पत्र ७ पूर्व पृष्ठ।

२. चतुरस्रासनं मोहनसन्निभं जम्बूद्वीपप्रमाणं पुंल्लिङ्गं अष्टभुजं परशुपाशवज्रमुशलभिण्डपालमुद्गरचापहलनाराचयुधं सुस्वादुं सुस्वरं महाध्वनि-सिंहनादं रक्तवर्णं ऊर्ध्वमुखं······। —विद्या० पत्र ७,
(तुलनाके लिए देखिए—शारदातिलक टीका पृ० ३६०।

३. त्रिकोणासनं व्याघ्रवाहनं शतसहस्रयोजनायामन्तर्द्धविस्तारं षड्भुजं शशितोमर-भुशुंडि-भिण्डपालपरशु-त्रिशूलधरं कठोर-गन्धं शापानुग्रहं कृष्णवर्णं रौद्रदृष्टि-क्षारस्वादुं नपुंसकं वायुदैवतं णकारस्य माहात्म्यम्।
—विद्यानुवाद पत्र ७ पूर्व पृष्ठ।

४. पद्मासनं गजवाहनं शौर्याभरणं शतयोजनविस्तीर्णं तदर्द्धायामं चम्पकगन्धं चतुर्भुजं परशुपाशं पद्मशंखहस्तं पुंल्लिङ्गं चन्द्रादिदेवतापूजितं मधुर-स्वादुं सुगन्धप्रियं तकारस्य माहात्म्यम्। —विद्या० पत्र ७

५. वृषभवाहनं अष्टभुजं शक्ति-तोमर-परशु-धनुर्दण्डपाशगदाचक्रधरं कृष्णवर्णं कृष्णवस्त्रं जटामुकुटधारिणं कोटियोजनायामं तदर्द्धविस्तारं········। —वही पत्र ७।

६. महिषवाहनं कृष्णवर्णं त्रिमुखं षड्भुजं गदामुशल-भुशुंडिवज्रतोमरधरं···········दकारस्य महात्म्यं।
—विद्यानुवाद पत्र, ७।

७. पुंल्लिङ्गं कषायवर्णं त्रिनेत्रं चतुरायतयोजनविस्तीर्णं रौद्रकार्यकारणं षड्भुजं चक्रपाशगदा········नैऋतदैवतं धकारस्य माहात्म्यं। —वही पत्र ७।

८. कृष्णवर्णं नपुंसकं त्रिशूलमुद्गरास्त्रं उर्ध्वकेशं व्याघ्रचर्मधारिणं रौद्रदृष्टिः कठोरस्वादुं कृष्णसर्पप्रियं काकस्वरं शतयोज-नोत्सेध······नकारस्य शक्तिः। —वही पत्र ७।
तुलनाके लिए देखिए। —शारदातिलक टीका पृ० ३६०।

प[1]—अग्निवर्ण, पुँल्लिङ्ग, चमेलीपुष्पगन्ध, दससिर, बीसभुज, अनेकायुध, कोटियोजनविस्तीर्ण, द्विगुणित आयाम, गरुडवाहन, पद्मासन, स्वर्णाभरणभूषित, सर्पयज्ञोपवीत, सर्वदेवपूजित, सर्वदुष्टविनाशक, शक्तियुक्त, और चन्द्रदेवता।

फ[2]—विद्युत्तेज, पुँल्लिङ्ग, पद्मासन, सिंहवाहन, दसकरोड़ योजन आयाम, इससे आधा विस्तार, द्विभुज, परशु-चक्रधर, केतकीगन्ध, सिद्ध-विद्याधरपूजित, मधुरस्वाद, दुष्टग्रहविनाशक, दिव्यशक्तिधारी और ऐशान देवता।

ब[3]—अरुणवर्ण, दसकोटियोजनोत्सेध, तदर्द्धविस्तार, मौक्तिकाभरण, यज्ञोपवीतधारी, दिव्याभरणभूषित, अष्टभुज, शंख-चक्र-गदा-मुशल-शरासनतोमरायुधयुक्त, हंसवाहन, कुवलयासन, बदरीफलस्वादु, घनस्वर, चम्पकगन्ध, वश्याकर्षण शक्तिसम्पन्न और कुबेर देवता।

भ[4]—नपुंसकलिङ्ग, दससहस्रयोजनोत्सेध, तदर्द्धपरिवृत्त, निष्ठुरस्वर, रूक्षस्पर्श, कठोरस्वादु, शीघ्रगति, ऊर्ध्वमुख त्रिनेत्र, चतुर्भुज, चक्र-शूल-गदा-शक्तिधारी, त्रिकोणासन, व्याघ्रवाहन, लोहिताक्ष, उर्ध्वकेश, विकृत रूप, रौद्रकान्ति, सिद्धिकर और नैऋतदेवता।

म[5]—उदित होते हुए सूर्यके समान वर्ण, अनन्तयोजनप्रभाशक्ति, सर्वव्यापी, अनन्तमुख, अनन्तबाहु, भूम्याकाश-सागरपर्यन्तदृष्टि, सर्वकार्यसाधक, सर्वगन्धमाल्यानुलेपन, धूप-चरु-अक्षतप्रिय, सर्वदेवतारहस्य समवेत प्रलयाग्निशिखिद्योति, सर्वनायक, पद्मासन और अग्निदेवता।

य[6]—नपुंसकलिङ्ग, भूम्याकाशदिशाविशेषव्यापी, अरूपी, शीघ्रमन्दगति, प्रमोदी, व्यभिचारकर्मप्रिय, प्रलयाग्निके समान तीव्रज्योति, अनन्तबाहु, सर्वलोकप्रिय, हरिणवाहन, वृत्तासन, अंजनवर्ण महामधुरध्वनि और वायव्य देवता।

र[7]—नपुंसकलिङ्ग, सर्वव्यापी, द्वादशादित्यके समान प्रभा, कोटियोजन आयाम, सर्वहवनप्रिय, रौद्रशक्ति, पञ्च-सायक, परविद्याछेदनसम्पन्न, स्तम्भन-मोहनकर्मसम्पादनतत्पर, जम्बूद्वीपविस्तृति, मेघवाहन और त्रिकोणासन।

ल[8]—पीतवर्ण, चतुर्भुज, वज्र-चक्र-शूल-गदायुधयुक्त, गजवाहन, स्तम्भन-मोहनकर्ता, जम्बूद्वीपविस्तार, मन्दगतिप्रिय, लोकालोकपूजित, सर्वजीवधारी, चतुरस्रासन, पृथ्वीजय, और इन्द्रदेवता।

व[9]—श्वेतवर्ण, बिन्दुसहित, मधुर-क्षाररस, नपुंसक, मकरवाहन, पद्मासन, वश्याकर्षण, निर्विष, शान्तिकारक और वरुण देवता।

---

१. अग्निवर्णं पुल्लिङ्गं जातिपुष्पगन्धं दशशिरं विंशतिभुजं अनेकायुधं मद्रापरं कोटियोजनविस्तीर्णं द्विगुणायामं त्रिकोटि योजनशक्ति गरुडवाहनं पदमासनं सर्वाभारणभूषितं सर्पयज्ञोपवीतं सर्वदैवतापूजितं सर्वदैवात्मकं सर्वदुष्टविनाशमल-यानिलं चन्द्राधिदैवतं पकारस्य माहात्म्यम्। —विद्यानुवाद पत्र ७ अपरपृष्ठ।

२. विद्युत्तेजं पुँल्लिङ्गं पद्मासनं सिंहवाहनं दशकोटीयोजनायामं तदर्द्धविस्तारं द्विभुजं परशुचक्रकेतकीगन्धं⋯फकारस्य माहात्म्यं। —वही पत्र ७ अपरपृष्ठ।

३. इंगिल्किाभं दशकोटियोजनोत्सेधं तदर्द्धविस्तारं मौक्तिकाभरणं...। —वही, पत्र ७।

४. नपुंसकं दशसहस्रयोजनोत्सेधं तदर्द्धपरिवृत्तं निष्ठुरस्मणं मरूक्षं कठारस्वादं गमनकारी-ऊर्ध्वमुखं त्रिनेत्रं चतुर्भुजं चक्रशूल-गदाशक्तिधरं त्रिकोणासनं...। —वही पत्र ७।

५. उदयादित्यप्रभं अनन्तयोजनप्रभाशक्ति सर्वव्यापी अनन्तमुखं, अनन्तबाहुं....। —वही, पत्र पूर्वपृष्ठ।

६. नपुंसकं भूम्याकाशदिशाविशेषसर्वव्यापी अरूपी शीघ्रमन्दगामी....। —वही, पत्र ८ पूर्वपृष्ठ।

७. नपुंसकं सर्वव्यापी द्वादशादित्यप्रभं ज्वालामालं कोटियोजनद्युति....। —वही पत्र, ८ पूर्वपृष्ठ।

देखिये—तुलनाके लिए शारदातिलकटीका पृ० ३६०-३६१।

८. पीतवर्णं चतुर्भुजं वज्रचक्रशूलगदायुधं गजवाहनं स्तम्भनमोहनकर्त्तारं जम्बूद्वीपविस्तारं मन्दगतिप्रिय महात्मनं लोकालोकपूजितं सर्वजीवधारिणं चतुरस्रासनं पृथ्वीजयं इन्द्रदैवतं लकारस्य महात्म्यम्।

—विद्यानुवाद पत्र ८, पूर्वपृ०।

९. श्वेतवर्णं बिन्दुसहितं मधुरं क्षाररसं, त्रिकल्पेन नपुंसकं मकरवाहनं पद्मासनं वश्याकर्षण निर्विषं शान्तिकरं वरुणाधि-दैवतं वकारस्य माहात्म्यम्। —वही, पत्र ८।

श[1]—रक्तवर्ण, दससहस्रयोजनविस्तीर्ण, तदर्द्धपरिणाह, चन्दनगन्धयुक्त, मधु स्वादु, मधुररस, चक्रवाक-वाहन, कुवलयासन, चतुर्भुज, शंख-चक्र-फल-पद्म-हस्त, प्रसन्नदृष्टि, सुगन्धप्रिय, रक्तहारसुशोभित, जटा-मुकुटधारी, वश्याकर्षण-शान्तिक-पौष्टिककर्मसम्पादक, और विद्याधर-चन्द्रादिदेवता।

ष[2]—पुल्लिङ्ग, मयूरशिखाके तुल्यवर्ण, द्विभुज, फण-चक्रधारी, प्रसन्नदृष्टि, शतसहस्रयोजन-आयाम, तदर्ध परिणाह, आम्लरस, शीलगन्ध, कूर्मासन, कूर्मवाहन, दृष्टिप्रिय, सर्वाभरणभूषित, स्तम्भन-मोहनकारी और इन्द्रदेवता।

स[3]—पुल्लिङ्ग, श्वेतवर्ण, चतुर्भुज, वज्र-चक्र-शंख-गदायुधधारी, शतसहस्रयोजनप्रमाण, मधुरस्वर, मौक्तिक-वज्रवैडूर्याभूषणभूषित, सुगन्धमाल्यानुलेपन, सिताम्बरप्रिय, सर्वमन्त्रगणपूजित, महामुकुटधारी, आकर्षण-शक्ति सम्पन्न, हंसवाहन, और कुबेर देवता।

ह[4]—नपुंसक, सर्वव्यापी, श्वेतवर्ण, सितगन्धप्रिय, श्वेतमाल्यानुलेपन, श्वेतवस्त्रप्रिय, सर्वमन्त्राग्रणी, सर्व-देवतापूजित, महाद्युति, अनेकमुद्रा-आयुधयुक्त, अचिन्त्यगतिसम्पन्न, मनोरथपूरक, सर्वदेवाकर्षक, सर्वाकल्याणप्रद, एवं अतीत-वर्तमानत्रैलोक्यकालदर्शी।

क्ष[5]—पुँल्लिङ्ग, पीतवर्ण, जम्बूद्वीपप्रमाणविस्तार, संख्यात-द्वीप-समुद्रव्यापी, अष्टबाहु, वज्रपाशभुशुंडि-भिंडपालगदाशंखचक्रायुधयुक्त, गजवाहन, चतुरस्रासन, सर्वाभरणभूषित, जटामुकुटधारी, सर्वलोक-पूजित, सुगन्धमाल्यप्रिय, सर्वरक्षाकारक, सर्वप्रिय, सकलमन्त्रप्रिय और रुद्राग्निदेवपूजित।

## मातृकाओंकी उपयोगिता और रहस्य

मातृकाएँ वस्तुतः वर्णमालाका सूक्ष्म विचार हैं। इनके उच्चारणके प्रयत्न और स्थानका सम्यक् विवेक प्राप्त होनेसे मातृकाओंकी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मातृकाओंके अवैध उच्चारणमे प्राण-प्रयत्नविशेषका सौष्ठव नष्ट हो जाता है। समरसता ( Harmonicfunction ) के स्थान पर विरसता ( Discordant function ) की सृष्टि होती है। अतः विद्यानुवादमे मातृकाओके स्वरूप-विवेचनके साथ उनकी उपयोगिता, रहस्य एवं उपयोगमे लानेकी प्रक्रिया विस्तारपूर्वक वर्णित है। ध्वनियों या मातृकाओंकी उत्पत्ति भाषावर्गणासे होती है, प्रत्येक मातृकाकी भाषावर्गणा भिन्न है, प्रत्येकके परमाणु रूप, रसादिको अपेक्षा भी दूसरी मातृकासे भिन्न रहते है। अतः जो स्वरूप पहले बतलाये गये हैं, उनका उपयोग अपने शरीरस्थित विद्युत्कणोंके स्वरूप-निर्धारणके आधारपर किया जाता है।

वर्णके अनुसार मातृकाओंके विवेचन-सन्दर्भमे बताया है[6] कि श्वेतवर्णकी मातृकाएँ श्वेत वर्णके अणुवाले व्यक्तिको धन प्राप्त कराती है। आशय यह है कि श्वेतवर्ण की मातृकाओमे निर्मित मन्त्रोंकी साधनासे धनलाभ होता है, किन्तु मन्त्रशास्त्रके प्रक्रियानुसार साधकके शरीरमे भी श्वेतवर्णके विद्युत्कणोंका रहना आवश्यक है। आकर्षण, स्तम्भन और मोहनके लिए पीतवर्णकी मातृकाएँ उपयोगी होती है। हरित और कृष्णवर्णकी मातृकाएँ व्यभिचार या अभिचार सम्बन्धी कार्योंकी सिद्धि देती हैं। ई ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ङ ञ ण न म प द ए ऐ ओ औ विकल्पसे स्त्रीलिङ्ग हैं; ज य म विकल्पसे नपुंसक और शेष मातृकाएँ पुंल्लिङ्ग संज्ञक है। नपुंसक मातृकाएँ ई प ऌ ॡ ओ; पीताक्षर ऋ ॠ प ण प द

---

१. रक्तवर्णं दशसहस्रयोजनविस्तीर्णं तदर्द्धपरिणाहं चन्दनगन्धं मधुस्वादुं मधुररसं चक्रवाकारूढं कुवलयासनं चतुर्भुजं, शंख-चक्र-फल-पद्महस्तं प्रसन्नदृष्टि सुमनासं सुगन्धं धूपप्रियं रक्तहारं, शोभनाभरणं, जटा-मुकुटधारिणं, वश्याकर्षणं, शान्ति-पौष्टिककर्त्तारं उदितोदितविद्याधरं चन्द्रादिदैवतं शकारस्य माहात्म्यम्। —वही पत्र ८ अपर पृ०।

२. पुल्लिङ्गं मयूरशिखवर्णं द्विभुजं फणचक्रधारिणं प्रसन्नदृष्टि शतसहस्रयोजनायामं तदर्द्धपरिणाहं अम्लरसं शीलगन्धं दृष्टिप्रियं सर्वाभरणभूषितं स्तम्भन-मोहन-कारिण इन्द्रादिदैवतं सकारस्य माहत्म्यं। —वही, पत्र ८।

३. पुंल्लिङ्गं श्वेतवर्णं चतुर्भुजं वज्रचक्रशंखगदायुधं शतसहस्रयोजन् प्रमाणं······सकारस्य माहात्म्यम्।

—वही पत्र ८।

४. नपुंसकं सर्वव्यापी सितवर्णं सितगन्धप्रियं सितमाल्यानुलेपनं सिताम्बरप्रियं···। —वही पत्र ८-९।

५. पुँल्लिङ्गं पीतवर्णं ···सकल मन्त्रप्रियं रुद्राग्निदेवपूजितं क्षकारस्य माहात्म्यम्। —वही पत्र ९।

देखिये, तुलनाके लिए—शारदातिलक पृ० ३६१।

६. श्वेताक्षरं धनार्थं पीताक्षरमाकृष्टिस्तम्भनमोहनार्थं कृष्णाक्षरं हरिताक्षरञ्च व्यभिचारकरं·········।

—विद्यानुवाद पत्र ९ द्वितीय वर्ग।

मातृकाओंके साथ मिलकर कष्टकर होते हैं। मृदु साधनामें सफलता नहीं मिलती। हाँ, जहाँ क्रूरसाधना अपेक्षित होती है, वहाँ उक्त मातृकाएँ उपयोगी सिद्ध होती हैं। 'अ' मातृका 'आ' को प्रतिषेधक है, परन्तु जब 'अ' मातृका बिन्दु सहित व्यवहारमें लायी जाती है, तो शान्ति, पौष्टिक, वश्य और आकर्षण सम्बन्धी कार्य सम्पादित होते हैं। उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ निर्विष हैं और इनका उपयोग अभिचारके लिए किया जाता है। 'अं' मातृका अत्यन्त शक्तिशाली है, इसका उपयोग उच्चाटनके लिए किया जाता है। 'ख' निर्विष है और निर्विष अन्यमातृकाओंके साथ मिश्ररूपमें वश्याकर्षणके लिए इसका उपयोग किया जाता हैं। 'ष' वश्याकर्षणके लिए प्रयोगमें लाया जाता है। 'च' और 'छ' मातृकाएँ निर्विष, शान्ति-पौष्टिक कार्योंको सिद्धिके लिए व्यवहारमें लायी जाती हैं। 'ज' और 'स' मातृकाएँ निर्विष करती हैं और विकल्पसे इनका उपयोग स्तम्भन और अभिचारके लिए किया जाता है। 'ञ' मातृका आकर्षण करती है। 'ट' कार वश्य; 'ण' कार अभिचार; 'त' और 'थ' शान्ति-पौष्टिक; 'द' और 'ध' अभिचार; 'न' अभिचार; 'प' और 'फ' शान्तिक-पौष्टिक कार्य; 'ब' और 'भ' स्तम्भन, 'म' सवकर्मसिद्धि, 'ल' कार स्तम्भन, मोहन और वशीकरण; 'व' निर्विषीकरण; 'श' कार शान्तिक, पौष्टिक, वश्याकृष्टि; 'ष' स्तम्भन-मोहन; 'स' कार वाचासिद्धि; 'ह' कार सर्वकर्मसिद्धि एवं 'क्ष' कार संयोगी मातृकाओंके सम्बन्धानुसार सिद्धि-असिद्धि करता है। मातृकाओंके संयोगोंका परिज्ञान अत्यावश्यक है। विरोधी गुणवाली मातृकाओंका संयोग करनेसे अनिष्टफल प्राप्त होता है।

## मातृकाओंसे बीजाक्षर-निर्माणविधि

मातृकाओंके उपयोग-प्रसंगमें बीजाक्षरोंके निर्माणकी चर्चा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। विद्यानुवादमें मातृकाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया गया है—हल् और अच्—स्वर। हल्—व्यञ्जनोंका साधारण बीज और स्वरोंको 'शक्ति' कहा जाता है। साधारण बीजोंका स्वभावगुणधर्मानुसार शक्तिके साथ संयोग होनेसे मन्त्रबीजोंकी निष्पत्ति होती है। अभिचार, मोहन; स्तम्भन और वश्याकर्षणके हेतु भिन्न-भिन्न साधारण बीजोंके साथ भिन्न-भिन्न शक्तियोंका संयोग किया जाता है। साधनाके हेतु समस्त मातृकाओंका विभाजन पञ्चभूतात्मक वर्णोंमें भी किया गया है और बीज तथा शक्तिके परिज्ञानके लिए यह वर्गज्ञान आवश्यक भी माना गया है। जो व्यक्ति मातृकाओंको अवगतकर बीजाक्षरका निर्माण करता है, वह मन्त्रशास्त्रमें प्रवीणता प्राप्त कर सकता है।

वायुवर्ग—अ आ ए क च ट त प य ष
अग्निवर्ग—इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्ष
पृथ्वीवर्ग—उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल क
जलवर्ग—ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व स
आकाशवर्ग—ऌ ॡ क्ष ङ ञ ण न म श ह

मन्त्रबीजोंके निर्माणके समय वायुवर्ग और अग्निवर्गके वर्णोंमें मित्रता मानी गयी है। वायुवर्ग और आकाशवर्गके अक्षरोंमें शत्रुता; पृथ्वीवर्ग और जलवर्गके वर्णोंमें मित्रता एवं जलवर्ग और अग्निवर्गके वर्णोंमें शत्रुता रहती है। अतः बीजनियोजनके समय मित्रवर्गके वर्णोंका नियोजन होना चाहिए। मन्त्रशास्त्रमें सारस्वतबीज, मायाबीज, शुभनेश्वरी बीज, पृथिवी बीज, अग्निबीज, प्रणवबीज, मारुतबीज, जलबीज और आकाशबीज आदि अनेक भेद हैं। विद्यानुवादमें मातृका ध्वनियोंकी अचिन्त्य शक्तिका प्रतिपादन किया है। प्रत्येक ध्वनिमें त्रिलोक और शरीरके समान स्फटक, व्यापक और संहारक तत्त्व विद्यमान हैं। क्रोध, मान; माया और लोभ आदि विकार आत्माको मलिन करते हैं; पर मातृकाध्वनियोंके सम्यक् प्रयोगसे व्यक्ति आत्मिकदृष्टिसे भी विकास उत्पन्न कर सकता है। मातृकाध्वनियाँ समस्त ज्ञान-विज्ञानकी कुञ्जी हैं। सम्पूर्ण वाङ्मयात्मक जगत् वाचक वर्णोंके अधीन है। अतः व्यञ्जनों और स्वरोंके मित्रत्वपूर्ण सहयोग द्वारा मन्त्र बीजोंका गठन करना चाहिए।

गठित मन्त्रबीजोंका कथन करते हुए लिखा है[1]— ह्रीं अं ह्रीं मृत्युनाशक; ह्रीं आं ह्रीं आकर्षण; ह्रीं ईं ह्रीं पुष्टिकर; ह्रीं ईं ह्रीं आकर्षण; ह्रीं ओं ह्रीं वलयकर; ह्रीं ओं ह्रीं उच्चाटन; ऋ शोभन, ॠ मोहन; ऌ विद्वेषण; ॡ उच्चाटन; ए वश्य; ऐ पुरुष वश्यकर; ओं लोकवश्य; औं राजवश्य और अं; गजवश्य; अः मृत्युनाशन; 'कं विषबीज, खं स्तम्भन; गं गणपति; घं स्तम्भन; ङं असुर; चं सुरबीज; छं लाभ और मृत्युनाशन; जं मृत्युनाशन; झं चन्द्रबीज; ञं

---

1. बीजाक्षरसामर्थ्यं ह्रीं अं ह्रीं मृत्युनाशनम्…… । —विद्यानुवाद, पाण्डुलिपि पत्र १० चतुर्थ प्रकरण।

मोहकबीज; टं शोभनबीज और चित्तकलङ्ककारी; ठं चन्द्रबीज, विष और मृत्युनाशक; डं गरुडबीज; ढं कुबेरबीज; तं अष्ट-वसुधाबीज; थं यमराजबीज; दं दुर्गाबीज; धं सूर्यबीज; नं ज्वरबीज; पं भद्रबीज, फं विष्णुबीज; बं ब्रह्मबीज; भं भद्रकाली बीज; मं मालाग्निरुद्रबीज; यं वायुबीज; रं अग्निबीज; लं इन्द्रबीज; वं ऋणबीज; शं लक्ष्मीबीज; षं सूर्यबीज; सं सारस्वतबीज; हं शिवबीज और क्षं नृसिंहबीज है। इन बीजोंकी उपयोगिताका निरूपण करते हुए विद्यानुवादमें बताया है—"एतान्य-क्षराणि पृथक् पृथक् माध्यन्ते ह्रींकारमध्ये अकारमादिंकृत्वा क्षकारपर्यन्तं लिखित्वाक्षरमणिं स्थापयित्वा जपे क्रियमाणे सर्वकार्यसिद्धिर्भवति"। अर्थात् ह्रींकारके मध्यमें अकारसे लेकर क्षकार पर्यन्त वर्णबीजोंके नियोजनकर मन्त्रजाप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है।

इसी ग्रन्थके द्वितीय परिच्छेदके पञ्चम वर्गमें बीजकोष प्रकरणके अन्तर्गत बीजोंका विस्तार पूर्वक विवेचन आया है, जिसके आधार पर विभिन्न कार्योंके लिए बीजाक्षरोंका चयन किया जाता है। लक्ष्मी, माया, सुधा, महाशक्ति, निरोधक, प्रतिषेधक, आयु-वर्द्धक और आयुक्षीणक बीजोंका कथन किया गया है। मात्रा, वर्ण और अक्षर इन तीनोंका स्वरूप, शक्ति, क्रम एवं संयोग-सम्बन्ध जन्य वीर्य-शक्तिका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया गया। यह प्रकरण मन्त्रशास्त्रके लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि व्याकरणशास्त्र और साहित्यशास्त्रके लिए भी उपयोगी है। शब्द वाच्यार्थके साथ लक्ष्य और व्यंग्य अर्थोंके जिस सामर्थ्यको व्यक्त करता है, वह सामर्थ्य वस्तुतः बीजोंमें निहित है। प्राण, प्रयत्न और प्रवाहके सम्बन्धसे आनुषङ्गिक और पारिपार्श्विक अर्थोंको अभिव्यञ्जना काव्यग्रन्थों और विशेषतः अलंकारशास्त्रके अध्ययनके लिए अत्यन्त उपयोगी है। व्यञ्जना जितने अर्थका स्पर्श करती हैं, वह सम्बन्धजन्य मातृकाकी बीजशक्ति पर अवलम्बित है। भावों और विचारोंकी गम्भीर भूमिका निर्देश भी किया गया। 'नाद' शक्ति बीजोंमें कितने अंशमें प्रविष्ट है और इस नादशक्तिसे कौनसा कार्य सम्पन्न किया जा सकता है, इसका भी विवेचन किया गया है।

मातृकाध्वनियोंकी उपयोगिताके हेतु, ज्योतिषशास्त्रानुसार उनके नक्षत्र भी वर्णित हैं। मन्त्रसाधनामें मातृ-काओंकी उक्त स्वरूपमूर्त्तियोंके साथ नक्षत्रमैत्रीका विचार भी आवश्यक होता है। जिस मन्त्रकी मैत्री जिस व्यक्तिके साथ रहती है वह मन्त्र उतना ही अधिक कार्यकारी होता है।

## मातृकाओंके नक्षत्र

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| अश्विनी | — | अ, आ | स्वाति | — | ड |
| भरणी | — | इ | विशाखा | — | ढ, ण |
| कृत्तिका | — | ई, उ, ऊ, | अनुराधा | — | त, थ, द |
| रोहिणी | — | ऋ ॠ, ऌ ॡ | ज्येष्ठा | — | ध |
| मृगशिरा | — | ए | मूल | — | न, प, फ |
| आर्द्रा | — | ऐ | पूर्वाषाढा | — | ब |
| पुनर्वसु | — | ओ, औ | उत्तराषाढा | — | भ |
| पुष्य | — | क | श्रवण | — | म |
| आश्लेषा | — | ख, ग | धनिष्ठा | — | य, र |
| मघा | — | घ, ङ | शतभिषा | — | ल |
| पूर्वाफाल्गुनी | — | च | पूर्वभाद्रपदा | — | व, श |
| उत्तराफाल्गुनी | — | छ, ज | उत्तराभाद्रपदा | — | ष, स, ह |
| हस्त | — | झ, ञ | रेवती | — | अं, अः |
| चित्रा | — | ट, ठ | | | |

## राशियाँ

मातृकाओंकी राशियाँ एवं ग्रहोंका भी उल्लेख विद्यानुवादमें पाया जाता है। यह उल्लेख भी मातृकाओंकी उपयोगिताओंसे सम्बन्ध रखता है। क्योंकि मन्त्रकी राशि और साधककी राशिमें मैत्रीभाव होना आवश्यक है, शत्रुभावके मन्त्र सिद्ध नहीं होते और सिद्ध हो जाने पर विपरीत फल देते हैं। अतः राशियोंका कथन भी किया गया है।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| मेष | — | अ, आ, इ, ई | तुला | — | क, ख, ग, घ, ङ |
| वृष | — | उ, ऊ, ऋ | वृश्चिक | — | च, छ, ज, झ, ञ |
| मिथुन | — | ॠ, ऌ, ॡ | धनु | — | ट, ठ, ड, ढ, ण |
| कर्क | — | ए, ऐ | मकर | — | त, थ, द, ध, न |
| सिंह | — | ओ, औ | कुम्भ | — | प, फ, ब, भ, म |
| कन्या | — | अं, अः, श, ष, स, ह | मीन | — | य, र, ल, व |

प्रमाणमञ्जरीने मन्त्रराजतन्त्रकी टीकामें विद्यानुवादकी अपेक्षा राशियोंका स्वरूप कुछ भिन्न रूपमें प्रतिपादित किया है। यथा

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| मेष | — | अ, आ, इ, इ, ई | तुला | — | ट, ठ, ड, ढ |
| वृष | — | उ, ऊ, ऋ, ॠ | वृश्चिक | — | ण, त, थ, द |
| मिथुन | — | ऌ, ॡ, ए, ऐ | धनु | — | ध, न, प, फ |
| कर्क | — | ओ, औ, क, ख | मकर | — | ब, भ, म, य |
| सिंह | — | ग, घ, ङ, च | कुम्भ | — | र, ल, व, श |
| कन्या | — | च, छ, ज, झ | मीन | — | ष, स, ह, क |

## ग्रहस्वरूप

मातृकाओंमें ग्रहोंका भी विभाजन किया गया है। प्रत्येक वर्णका अधिष्ठाता कोई न कोई ग्रह अवश्य है।

| | | |
|---|---|---|
| सूर्य | — | अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः |
| चन्द्र | — | य र ल व |
| मंगल | — | क ख ग घ ङ [ क्ष ] |
| बुध | — | ट ठ ड ढ ण |
| गुरु | — | त थ द ध न [ श, ष, ह क ] |
| शुक्र | — | च छ ज झ ञ |
| शनि | — | प फ ब भ म |

देखिये—विद्यानुवादाङ्ग पत्र ११, १२ पाण्डुलिपि।

## मातृकाओंका महत्त्व

विद्यानुवादमें मातृकाओंका महत्त्व स्वीकार करते हुए बताया है कि मातृकाएँ शक्तिपुञ्ज है। शक्ति मातृकाओंसे भिन्न नहीं है। जो व्यक्ति मन्त्र-बीजोंमें निबद्धकर इन मातृकाओंका व्यवहार करता है, वह आत्मिक और भौतिक दोनों प्रकारकी शक्तियोंका विकास कर लेता है। तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें शक्तिव्यूह पाया जाता है, जिसे इलेक्ट्रोन कहते हैं। मातृकाओंके इलेक्ट्रोनोंसे अन्य पदार्थोंमें स्थित शक्तिव्यूह (Constituting forces or causelstress) सातिशय-रूपमें व्यक्त होते है। प्राणकोषका संचालन और ह्रास-वृद्धि भी इन्हीं इलेक्ट्रोनोंके कारण होती है। मातृकाएँ बीजाक्षरों और पल्लवोंके साथ मिलकर आकर्षण और विकर्षणोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ हो जाती हैं। मातृकाएँ बीजोंमें निबद्ध होकर वात्सल्यका सृजन भी करती हैं, जिससे किसी भी पदार्थमें टूट-फूटकी क्रिया उत्पन्न होती है, यह क्रिया ही शक्तिका आधार स्रोत है और इसीसे मन्त्र-जाप द्वारा चमत्कारी कार्य उत्पन्न किये जाते हैं। वर्तमान विज्ञान भी यह बतलाता है कि बीजमन्त्रोंमें निहित शक्तिव्यूह हमारी इन्द्रियोंको उत्तेजित कर देता है और यह उत्तेजना जलतरंगकी अनुरणनध्वनिके तुल्य क्रमशः मन्द, तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतरर होती हुए कतिपय क्षणों तक रणन करती रहती है। इसी प्रकार बीजोंका घर्षण ही शक्ति-व्यूहका संचार करता है। इसी कारण आचार्यने कहा[1] है कि दुष्टवर्ण मन्त्रमें प्रयुक्त होकर कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं करा सकते हैं। सिद्धिका साधन नक्षत्र, राशि और ग्रह परिशुद्ध बीज हैं, इन्हीं बीजों द्वारा चमत्कारपूर्ण भौतिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं।

---

१. न दुष्टवर्णप्रायश्चेन्मन्त्रः सिद्धिं प्रयच्छति। इत्युक्तौ वर्णयोगोऽत्र परेषां वर्ण्यते मतम्॥ —विद्या० पत्र १२।

मन्त्र-बीजोंके वर्णनमें वश्य, आकर्षण और उच्चाटनमें 'हुँ'का प्रयोग; मारणमें 'फट्'का प्रयोग; स्तम्भन, विद्वेषण और मोहनमें 'नमः'का प्रयोग एवं शान्ति और पौष्टिकके लिए 'वषट्' पल्लवका प्रयोग किया जाता है। मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' शब्द रहता है। यह शब्द पापनाशक, मंगलकारक तथा आत्माकी आन्तरिक शान्तिको उद्बुद्ध करनेवाला बताया है। मन्त्रके बीजाक्षरोंको शक्तिशाली बनानेके लिए उसकी समस्त विधियोंका निर्वाह करना अत्यावश्यक है। दिशा, आसन, वस्त्र एवं अन्य उपकरणोंका विचारकर मन्त्रसिद्धि करनी चाहिए। इस ग्रन्थमें मातृकाओं द्वारा ही अग्नियन्त्र, जलयन्त्र, नाभियन्त्र, अष्टकर्मयन्त्र, जलमण्डल, अग्निमण्डल, माहेन्द्रमण्डल, तीर्थङ्करयन्त्र, विजयन्त्र, जययन्त्र, हंसयन्त्र, सूंसयन्त्र, कुलिकयंत्र महापद्मयन्त्र, कर्कोटयन्त्र, रक्षायन्त्र, महारक्षामण्डल, स्तम्भन यन्त्र, विद्यायन्त्र, परविद्याछेदनयन्त्र, पिशाचादिमोचनयन्त्र, कामचाण्डालीयन्त्र प्रभृति शताधिक यन्त्र और मण्डलोंका निर्माण किया गया है। मातृकाएँ समस्त द्वादशाङ्ग वाणीका मूल हैं, मन्त्रशास्त्र और यन्त्रशास्त्रका पल्लवन इन्हींके द्वारा होता है। अतः व्याकरण, साहित्य, मन्त्र, यन्त्र प्रभृति समस्त वाङ्मयका मूलाधार मातृकाएँ हैं। इनका महत्त्व द्वादशाङ्गश्रुतकी दृष्टिसे भी कम नहीं है। वाणीका समस्त व्यापार मातृकाओं द्वारा ही सम्पादित होता है। जिन यन्त्रोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सभी शक्तिकूट हैं और उनमें शक्तिव्यूह (constituent forces) निहित हैं।

# प्रद्युम्नचरितकी प्रशस्तिमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री

श्री रामवल्लभ सोमानी, जयपुर

प्रद्युम्नचरित नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ आमेर शास्त्र-भंडारमें संग्रहीत है। उक्त भंडारकी प्रशस्तिसंग्रह नामक पुस्तकमें इसका संक्षिप्त वर्णन पृ० १३२ से १३८ तक[1] दिया हुआ है। इसमें इस ग्रंथकी ३ प्रतियाँ संग्रहीत हैं। पहली प्रतिमें पत्रसंख्या १७५ और साइज १२×५" है। दूसरी प्रतिमें पत्रसंख्या १७१ और साइज ११×४॥" है और तीसरी प्रतिमें पत्रसंख्या ९५ साइज ११॥×५" है। इस ग्रंथकी प्रशस्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है और इसमें दो ऐतिहासिक सूचनाएँ हैं। (१) परमार बल्लालके सम्बन्धमें और (२) गुहिल राजा भल्लिलके सम्बन्धमें।

## परमार राजा बल्लाल

परमारोंकी वंशावलियोंमें इस राजाका उल्लेख अवश्य नहीं है किन्तु गुजरातके राजा कुमारपालकी कई प्रशस्तियोंमें मालवेके राजा बल्लालको मारनेका उल्लेख है। अतएव इस सम्बन्धमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। कीलहार्न ने इसे अज्ञातवंशीय माना है। श्री सी० वी० वैद्यने इसे परमार राजा जयवर्माका एक विरुद मात्र माना है। इस प्रशस्ति के मिल जानेसे इस राजाके सम्बन्धमें उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त हो गई है। इससे वैद्यकी यह मान्यता भी खंडित हो जाती है कि यह जयवर्माका विरुद था।

वस्तुतः परमार राजा नरवर्माके समयसे ही मालवाकी स्थिति बड़ी संकटपूर्ण हो गई थी। अजमेरके चौहान और गुजरातके सोलंकी दोनों ही इसे जीतना चाहते थे। चौहान राजा अजयराजने मालवापर आक्रमण[2] कर परमारोंको हराया, किन्तु गुजरातके सोलंकियोंके आक्रमणसे इनकी शक्ति अत्यधिक क्षीण हो गई। चालुक्य जयसिंहने यशोवर्माको बन्दी बना लिया और मालवाका अधिकांश भाग उसके अधिकारमें आ गया। यह घटना वि० सं० ११९०–९२ के लगभग[3] सम्पन्न हुई। इसके बादका मालवाका इतिहास अंधकारमय है। इसी समय इंगोदाके वि० स० ११९० के एक दानपत्रके अनुसार गुहिल[4] राजाओंने 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि भी धारण करली जो इस बातको स्पष्ट करती है कि परमारोंकी शक्ति उस समय नहीं के बराबर रह गई थी। वि०सं० १२०१ में कुमारपाल और अर्णोराजके मध्य[5] युद्ध हुआ। इस समयकी विकट परिस्थितिका लाभ उठाकर मालवेमें बल्लालने परमारोंका खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया प्रतीत होता है।

इस प्रशस्तिमें बल्लालके पिताका नाम रणधीर दिया हुआ है। यह परमार राजा उदयादित्यका पुत्र था।

---

१. प्रशस्तिसंग्रह पृ० १३२ से १३८, अनेकान्त वर्ष १४ किरण ३-४ पृ० ११८ से ११९, वीरसेवामंदिरसे प्रकाशित 'प्रशस्तिसंग्रह' की प्रशस्ति संख्या १५।

२. अरली चौहान डाइनेस्टी पृ० ३८-३९।

३. 'नवपदलघुवृत्ति' नामक ग्रन्थकी प्रशस्तिमें सिद्धराजको अवन्ति नाथ वर्णित किया है, जो वि० सं० ११९२ को है।
—हिस्ट्री आफ नोर्दर्न इंडिया फ्राम जैन सोर्सेस पृ० ११२।

४. इंडियन ऐंटी क्वेरी vol VI।

५. इपि ग्राफिआ इंडिका भाग ८ पृ० २००, अरली चौहान डाइनेस्टी पृ० ५२ और भारतके प्राचीन राजवंश भाग १ पृ० १५०-५१। इस घटनाका वि० सं० १२०१ के सिद्धेश्वरके दानपत्रमें उल्लेख है। इसमें कुमारपालको शाकम्भरी भूपाल वर्णित किया है यथा—
'परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरनिजभुजविक्रमरणांगणविनिर्जितशाकंभरीभूपालश्रीमत्कुमारपालदेव · · ·'

बल्लालके सम्बन्धमें इस प्रशस्तिमें एक सूचना और मिलती है कि यह अर्णोराजका बैरी था।[1] द्वयाश्रयकाव्यसे पता चलता है कि दोनों शासकोंने सम्मिलित होकर गुजरातके राजापर आक्रमण किया था। अतएव यह घटना इसके पूर्वकी होना चाहिए। वस्तुतः अर्णोराजको हराने और मालवाके विजय कर लेनेसे इसकी स्थिति बड़ी सुदृढ़ हो गई थी। चौहानोंके इतिहासमें इसका उल्लेख नहीं है। किन्तु यह सही प्रतीत होता है कि गुजरातके राजासे लड़नेके लिए अर्णोराजने अपना बैरी होते हुए भी बल्लालको अपनी ओर मिला लिया था क्योंकि वि०सं० १२०१ में उसने नाडोल और आबूके शासकोंको इसी प्रकार मिलाया था, जो अब कुमारपालके पक्षमें हो चुके थे।

द्वयाश्रयकाव्यके अनुसार[2] बल्लालको कुमारपालने हरानेके लिये अपने-अपने सामंत राजाओंको नियुक्त किया था, जिनके नाम हैं विजय और कृष्ण। किन्तु दोनों ही बल्लालसे मिल गये थे अतएव उसने आबूके राजा यशोधवलको लगाया था[3] जिसने इसका शिरोच्छेदन कर दिया था। यह घटना वि०सं० १२०८ में सम्पन्न हुई थी अतएव उक्त प्रशस्ति वि०सं० १२०१ और १२०८ के मध्यकी होनी चाहिए।

## गुहिलराजा वल्लिल

मेवाड़के गुहिल राजाओंके अतिरिक्त डूंगरपुर और बाँसवाड़ामें भी गुहिल राजा छठी शताब्दीसे ही राज्य कर रहे थे। इनकी शाखा भिन्न थी और मेवाड़के गुहिलोतोंसे इनका कुछ भी सम्बन्ध रहा प्रतीत नहीं होता है। इनका प्राचीनतम[4] लेख राजा पद्दु ( पदु ) का है जो ७वीं शताब्दीका है। केशरियाजी नामक स्थानसे राजा भेत्रिका एक दानपत्र मिला है और इसके पास कल्याणपुरसे दो अन्य दानपत्र गुहिलराजा भावहित और बाभट्टके मिले हैं जो ७–८वीं शताब्दी के हैं। इसी प्रकार एक अन्य शिलालेख इस क्षेत्रसे राजा केदर्षिदेवका ८वीं शताब्दीका मिला है। इस क्षेत्रकी प्राचीनता यहाँसे प्राप्त शिव और जैन मूर्त्तियोंसे सिद्ध हो चुकी है। प्रसिद्ध केशरियाजीका दिगम्बर जैन मंदिर, जो राजस्थानके ही नहीं उत्तरी भारतके प्राचीनतम दिगम्बर जैन मंदिरोंमेंसे है, इसी क्षेत्रमें है। यहाँ गुहिलवंशी राजाओंके इतने अधिक दानपत्र मिलनेसे ज्ञात होता है कि इसके समीप स्थित ब्राह्मणवाड़में भी इन्हींके शाखाके लोग राजा रहे होंगे। इस प्रशस्तिके अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री अब तक गुहिलवंशी शासकोंकी ब्राह्मणवाड़के सम्बन्धमें प्राप्त नहीं हुई है। बल्लालके समयमें ये अवश्यमेव मालवाके राजाके अधीन थे। इस प्रकार इस प्रशस्तिसे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय उस क्षेत्रमें दिगम्बर जैन धर्मका अच्छा प्रभाव था। अब तक केसरिया क्षेत्रसे दिगम्बर जैनोंकी प्राचीनता सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। मैंने अन्यत्र प्रकाशित मेरे लेख "चीत्तड़ और दिगम्बर जैन सम्प्रदाय"[5] में मेवाड़में दिगम्बरोंकी प्राचीनता पर काफी अधिक विस्तृत प्रकाश डाला है। इस प्रशस्तिसे इस क्षेत्रमें जैनोंके प्रभावकी महत्त्वपूर्ण सूचना मिली है। आशा है कि विद्वान् लोग इस क्षेत्रसे और सामग्री एकत्रित करनेकी चेष्टा करेंगे। प्रशस्तिका कुछ ऐतिहासिक भाग इस प्रकार है :—

### घत्ता

आलसु सकिकम्लहि हियउ ममेक्कहिं मज्झु वयणु इय दिट्ठु करहि।
हउं मुणिवरवंसे कहमि विसेसें कव्वु किंपि तं सुहुं करहिं ॥१॥
ता मलधारि देउ मुणि-पुंगमु णं पच्चक्ख धम्मु उवसमुं दमु।
माहवचंद आसि सुपसिद्धउ जो खम-दम-जम-णियम-समिद्धउ।

१. प्राच्यं च बल्लालमयुक्त पारातो वार पारीण नृपैरपाच्यैः।
प्रतीच्यराट् पाणिनिपीडनार्थमुदीच्यराष्नीत्यतिदिव्यमंयो ॥२॥ —द्वयाश्रयकाव्य XVI पृ० २६६।

२. रक्षोभिपञ्चभिर्दोमानिभि रौलपिभिर्वृतः।
श्रीमतैः श्रीमतैश्चामुं बल्लालोदपंतोऽभ्यगात्।
शर्मावत्याभिजित्याभ्यां क्षौखावत्येन चैघते।
कृत्यो विभेद सामन्तौ नाम्ना विजयकृष्णको। —९७-९८ द्वयाश्रय XIX।

३. अचलेश्वरमंदिरकी प्रशस्ति श्लोक १५ आबूके वस्तुपाल तेजपालके मंदिरकी प्रशस्ति ३५।

४. इपीग्राफिआ इंडिकाvol ३४ अंक २ में प्रकाशित।

५. शोधपत्रिका वर्ष १६, अंक २-३ में प्रकाशित।

तासु सीसु तव-तेय-दिवायरु वय - तव - णियम - सील - रयणायरु ।
तक्क - लहरि - झंकोलिय परमउ वर - वायरण - पवर - पसरिय पउ ।
जासु भुवण दूरंतरु वंकिवि ठिउ पच्छण्णु मयणु आसंकिवि ।
अमयचंदु णामेण भडारउ । सो विहरंतु पत्तु बुह-सारउ ।
सरिसर - णंदण - वण - संछण्णउ मढ - विहार - जिणभवण रवण्णउ ।
बम्हणवाडउ णामें पट्टणु । अरि - णरणाह - सेण दल वट्टणु ।
जो भुंजइ अरिण खय कालहो । रणधोरियहो सुअहो बल्लालहो ।
जासु भिच्चु दुज्जणु-मण-सल्लणु खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु
तहिं संपत्तु मुणीसरु जावहिं भव्वलोउ आणंदिउ तावहिं ॥

# जैन इतिहास और उसकी समस्याएँ

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०; पी-एच० डी०, लखनऊ

●

## प्रास्ताविक

'इतिहास' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ—'इति-ह-आसीत्' ( ऐसा हुआ ), अथवा 'इति-इह-आसीत्' ( यहाँ ऐसा हुआ ) किया गया है।[1] यह अर्थ करते हुए आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन स्वामी ( ९ वीं शती ई० ) ने इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नायको इतिहास शब्दका पर्यायवाची सूचित किया है।[2] इस प्रकार, परम्परया अनुश्रुति ( लिखित या मौखिक ) के आधारपर अतीत घटनाओं एवं व्यक्तियोंका जो व्यवस्थित एवं क्रमिक इतिवृत्त, वृत्तान्त या विवरण है उसीका नाम इतिहास है। आजके युगमें भी, जबकि इतिहासशास्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान एवं अति विकसित और समृद्ध अध्ययनीय विषय बन गया है, 'इतिहास' शब्दका मूल एवं सामान्य अर्थ यही किया जाता है। पूर्वकी अपेक्षा अवश्य ही अब उसकी दृष्टि कहीं अधिक विशाल एवं उदार बनगई है, उसका क्षेत्र भी कहीं अधिक व्यापक होगया है और उसकी विधा एवं पद्धति भी बहुत कुछ वैज्ञानिक, व्यवस्थित एवं सुनिश्चित हो गई हैं। उसके लिये सर्वथा पक्षपात रहित, तथ्यप्रधान, वस्तुपरक, कालानुक्रमिक, ठोस प्रमाणों पर आधारित, नपातुला सानुपातिक एवं वर्ण्य विषयका यथार्थ परिचायक होना अभीष्ट माना जाता है। कल्पनाके लिये उसमें कोई गुन्जायश नहीं होती, अतिशयोक्ति, और पूर्वाग्रह या कदाग्रह उसके भारी दोष समझे जाते हैं, अनुमान भी—वह चाहे कितना ही युक्ति-युक्त हो—एक सीमा तक ही क्षम्य होता है। इतिहासके लिये यह पहली शर्त है कि वह यथासंभव पूर्णतया प्रामाणिक एवं सत्यार्थका प्रतिपादक हो। ध्यातव्य है कि अबसे ग्यारहसौ वर्ष पूर्व होने वाले आचार्य जिनसेनका भी इस विषयमें यही मत था—वह इतिहासके लिये 'आर्ष' होना अर्थात् ऋषियों ( पूर्णतया प्रामाणिक वीतराग विज्ञों ) द्वारा प्रणीत होना आवश्यक मानते थे और सर्वथा सत्यार्थका प्ररूपक होनेसे उसे 'सूक्त' संज्ञा देते थे।[3]

## इतिहासका विषयक्षेत्र और उसकी व्यापकता

जहाँ इतिहासके विषयक्षेत्रकी व्यापकताका प्रश्न है, जिनसे भी लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व हुए आचार्य कौटिल्यने अपने सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रको इतिहासके अंग घोषित कर दिये थे। स्वयं जिनसेनने भी अपने इस कथन द्वारा कि 'धर्मके अनुशासनसे वह ( इतिहास ) धर्मशास्त्र भी कहलाता है,[4] इतिहासके अन्तर्गत मनुष्योंके लौकिक क्रियाकलापोंके साथ ही साथ उनके समस्त लोकोत्तर, अध्यात्मिक, या आजकी भाषामें—सांस्कृतिक क्रियाकलापोंका भी समावेश कर दिया था। और इस प्रकार इन प्राचीन भारतीय मनीषियोंने इतिहासकी अपनी परिभाषाओं द्वारा उसके वर्तमान युगीन स्वरूपका बहुत कुछ आभास दे दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि इतिहासप्रणयन निरुद्देश्य नहीं होता—उसका लक्ष्यय मानव समाजका श्रेय एवं उन्नयन होता है। इतिहासके पृष्ठोंमें चित्रित पूर्वपुरुषोंके चरितोंसे, अतीतकालीन व्यक्तियों एवं व्यक्तिसमूहोंके उत्थान-पतनसे, उनके गुणादोषोंसे, अतीत घटनाओंके विश्लेषण एवं कार्यकारण सम्बन्धोंसे तथा युग-युगान्तरमें सञ्चित मानवी अनुभवोंसे यदि आनेवाली पीढ़ियाँ कोई सबक़ नहीं लेतीं, स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त नहीं करतीं, उनकी सहायतासे अपनी विषम परि-

---

१. 'इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः'
—जिनसेन : आदिपुराण, पर्व १, श्लो० २५, ( भा० ज्ञानपीठ, काशी, द्वि० सं०, १९६३ ) पृ० ८

२. 'इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत्, अथवा—
'इतिवृत्तम् ऐतिह्यम् आम्नायश्चेति नामत्रयम्' —वही।

३. 'ऋषिप्रणीतमार्षं स्यात् सूक्तं सूनृतशासनात्' —वही, प० १, श्लो० २४, पृ० ८।

४. 'धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्' —वही।

स्थितियोंका समाधान नहीं खोज निकालतीं और अपना वर्तमान एवं भावी पथ प्रशस्त करनेमें उससे सहायता नहीं प्राप्त कर पातीं तो वह उक्त इतिहासका दोष है—वह इतिहास निरर्थक हो जाता है। मात्र क्षणिक मनोरंजन इतिहासका उद्देश्य नहीं है, मात्र तात्त्विक जानकारीकी बढ़ोतरी भी पर्याप्त नहीं है। वह तो सच्चे अर्थोंमें ज्ञानवर्द्धक होना चाहिये, ऐसे ज्ञानका प्रदायक होना चाहिये जो सम्यक् हो, हमारे वर्तमान जीवनमें उपादेय हो, प्रयोजनभूत हो और उसे ऊपर उठानेमें सहायक हो।

अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंने प्राचीन भारतीयोंपर यह लांछन लगाया है कि उनमें ऐतिहासिक बुद्धिका अभाव था। उपर्युक्त प्रमाणोंसे इस लांछनका बहुत कुछ निरसन हो जाता है। तथापि इस विषयमे भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन भारतके लोग इतिहास और पुराणको प्रायः अभिन्न मानते थे। ब्राह्मण परम्पराके साहित्यमें तो पुराणके लिए 'इतिहास-पुराण' संयुक्तपदका प्रयोग भी बहुधा हुआ है, भले ही उसका महत्त्व प्रदर्शित करनेके लिये कहीं-कहीं उसे अथर्ववेदका अंग सूचित किया तो कभी-कभी उसे पंचमवेद भी घोषित कर दिया। जिनसेनस्वामी भी इतिहास और पुराण-को पर्यायवाची मानते थे और 'स्वयं पुरातन होनेके कारण, प्राचीन कवियोंके आश्रयसे प्रसरित हुआ होनेके कारण अथवा पुराण पुरुषोंका पुण्य चरित होनेके कारण' उसे पुराण संज्ञा देते थे[1]। उनके पूर्व, हरिवंशकार जिनसेन सूरि पुन्नाट (७८३ ई०) ने भी पुराणको ही इतिहास मानकर उसका निरूपण किया, यद्यपि—'बद्धमूलं, सुविख्यातं, बहुशाखा-विभूषितम्, महारम्भिः द्योतितस्य, आगमप्रमाणाधारित, आदि विशेषणों द्वारा उसकी ऐतिहासिकता, पूर्वपरंपरा एवं प्रमाणिकताको भी सूचित कर दिया[2]। पद्मपुराणकार रविषेण (६७६ ई०) ने भी पुराण और इतिहास में भेद नहीं किया, किन्तु उन्होंने भी 'बुधपङ्क्तिक्रमायातं चरितं' पद द्वारा उसकी ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता एवं अविच्छिन्न धारा-को सूचित कर दिया[3]। बौद्ध परंपरामे पुराण शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता किन्तु उसकी जातककथाएँ उसका पौराणिक साहित्य ही है। उस परंपरामें महावंश, दीपवंश, दिव्यावदान, अशोकावदान, ललितविस्तरा प्रभृति कई अर्धपौराणिक-अर्धऐतिहासिक ग्रन्थ भी रचे गये किन्तु उनमेसे अधिकांशकी रचना सिंहल आदि भारतेतर देशोंमे हुई है। बौद्ध पौराणिक प्रसंगोंका प्रारंभ प्रायः इस पदसे होता है—'मैंने ऐसा सुना' या 'ऐसा सुना गया है', बिल्कुल वैसे ही जैसे कि ब्राह्मणीय पौराणिक साहित्यका आधार 'अनुश्रुति' सूचित किया गया है। महाभारतयुद्ध के उपरान्त नैमिषारण्यमें एक यज्ञके अवसरपर सूतने ऋषियोंको परंपरा अनुश्रुतिसे प्राप्त पुराण सुनाया था। तबसे वह पुराण परंपरा चलती रही और शनैः शनैः उक्त अनुश्रुतिने अति विस्तृत और बहुधा अतिविकृत रूप लेकर १८ महापुराण, १८ लघुपुराण तथा अन्य अनेक पुराणों को जन्म दे दिया। अनुश्रुतिका अर्थ ही है 'ऐसा सुना गया' अथवा 'परंपरासे ऐसा सुनते चले आये हैं'।[4] जैन परंपरा में भी पुराणरूपी इतिहासका मूलाधार परंपरया अनुश्रुति ही थी। इतना विशेष है कि जैन पुराणकारोंने गाथानिबद्धनामा-वलियों, संक्षिप्त कथासूत्रों और पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्यको अपना प्रधान आधार बनाया, मात्र मौखिक अनुश्रुति पर ही वे अवलम्बित नहीं रहे। ये आधार अपेक्षाकृत ठोस थे, किन्तु इनका भी मूलाधार द्वादशांगवाणीका प्रथमानुयोग नामक विभाग था और उसका सार भगवान महावीरके निर्वाणके कई सौ वर्ष बाद तक मौखिक द्वारसे ही प्रवाहित होता रहा था।

यह समस्त भारतीय पुराण साहित्य—जैन, ब्राह्मणीय और बौद्ध—प्रायः सर्वथैव धार्मिक था, धर्माश्रित था और धार्मिक उद्देश्यसे ही रचा एवं प्रचारित किया गया। वह उद्देश्य भी शुभ था और किन्हीं अंशोंमें मानवचरित्र उन्नायक भी था। परंपरासे प्राप्त प्राग्ऐतिहासिक काल सम्बंधी ऐतिहासिक अनुश्रुतियोंका भी उसके द्वारा अपूर्व संरक्षण हुआ और अनेक सांस्कृतिक परंपराओंको भी उसने जीवित रक्खा। पार्जीटर आदि कतिपय विद्वानोंने ब्राह्मणीय पुराणोंका परीक्षण एवं विश्लेषण करके उनमेंसे शुद्धप्रमाणाधारित इतिहास कालके पूर्वके अतिप्राचीन भारतीय इतिहासका निर्माण करनेका भी स्तुत्य प्रयत्न किया है। बौद्ध जातक कथाओं आदिका भी उपयोग बुद्धपूर्व कालके इतिहासके निर्माणमें यदा कदा किया गया है। किन्तु खेद है कि जैन पौराणिक साहित्यका वैसा उपयोग अभीतक नहो किया गया—वह अभी ऐसे प्रयत्नोंकी प्रतीक्षामें हैं। तथापि यह भी सत्य है कि यह समस्त भारतीय पौराणिक साहित्य अपने मूलरूपमे ऐतिहासिक होते हुए भी, तथ्य अतथ्यके मिश्रण, विचित्र विचित्र कपोल कल्पनाओं, अतिशयोक्तियों एवं धार्मिक अंधविश्वासोके अयुक्ति-

---

१. वही, प० १, श्लो० २१-२३, पृ० ७-८।

२. हरिवंशपुराण, सर्ग १, श्लो० ४९-५५, (भा० ज्ञा० पीठ, काशी, १९६२), पृ० ६।

३. पद्मपुराण, पर्व १, श्लो. २१, (भा० ज्ञा० पीठ काशी १९५८), पृ० ३।

४. देखिए—एफ० ई० पार्जीटर एन्शेन्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन,

युक्त समावेशके कारण शुद्ध ऐतिहासिक नहीं बना रह सका। अत्यन्त सीमित एवं आंशिक रूपमें ही वह इतिहास कहा जा सकता है।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय साहित्यमें कल्हणकी राजतरंगिणी ( ११ वीं शती ) को छोड़कर प्रायः अन्य कोई तथ्यप्रधान, कालानुक्रमिक व्यवस्थित इतिहास ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। कतिपय पट्टावलियों, गुर्वावलियों, स्थविरावलियों, श्रुतावतार कथाओं, ग्रन्थप्रशस्तियों, कुछ एक ऐतिहासिक पुराणचरित्रों तथा अर्धऐतिहासिक काव्यनाटकादिको छोड़कर प्राचीन भारतीय इतिहासके साहित्यिक साधन स्रोत प्रायः नगण्य हो हैं। ११ वीं शतीके उपरान्त अवश्य ही अनेक ऐतिहासिक प्रबंध, काव्य, नाटक, ख्यात, रासे तथा अन्य ऐतिहासिक रचनाएँ लिखी गई। मुसल्मान विद्वानोंने भी अपने शासकों, धर्म और जातिके अनेक इतिहास ग्रन्थ लिखकर भी इस प्रवृत्तिको परोक्ष रूपमें प्रोत्साहित किया। किन्तु भारतवर्षमें आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतिके शुद्ध इतिहास ग्रन्थोंका प्रणयन पश्चिमी प्रभावसे १९ वीं शतीमें ही प्रारंभ हुआ और गत सौ-डेढ़सौ वर्षोंमें वह शनैः शनैः अत्यन्त विकसित हो गया है, स्वयंमें एक विज्ञान बन गया है और साथ ही कला भी। उसके साधनस्रोतोंकी खोज शोध, परीक्षण विश्लेषण और उपयोग वैज्ञानिक होता है तो उक्त सामग्रीका प्रस्तुतीकरण स्वयंमें एक कला है।

पश्चिमी जगत्में इतिहास प्रणयनका प्रारंभ सर्वप्रथम यूनानियोंने किया—५ वीं-४थी शती ईसापूर्वका यूनानी विद्वान् हेरोडोतस इतिहासका जनक कहा जाता है। तदन्तर यूनानी भाषामें अनेक इतिहास ग्रन्थ रचे गये। यूनानका पराभव और रोमन साम्राज्यका उत्थान प्रायः समकालीन घटनाएँ हैं और यूनानके प्रभावसे ही रोमनोंने इतिहास ग्रन्थ लिखने प्रारंभ किये। प्राचीन चीनी लोग भी इतिहास प्रेमी थे और ईस्वी सन्के प्रारंभके पूर्व ही उन्होंने अपने इतिहास लिखने प्रारंभ कर दिये थे, जिनका प्रवाह कई सौ वर्षतक निरन्तर चला। ७वीं शती ई० में इस्लामके उदयके साथ-साथ अरब जातिका उत्थान हुआ और इस जातिने भी इतिहास प्रणयनको पर्याप्त विकसित किया। १२वीं शती ई० के अन्तके लगभग मुसल्मानोंने भारतके उत्तरापथमें अपनी राज्यसत्ता जमाई और उनके मुल्ला मौलवियोंने अपने शासकोंकी राजनीतिक तवारीखें लिखनी चालू रक्खीं। उनकी ये तवारीखें ( इतिहास ) उद्देश्य विशेषसे लिखी जानेके कारण एकांगी, पक्षपातपूर्ण, अतिशयोक्ति एवं धर्मान्धताकी पुट लिये हुए सिद्ध हुईं, तथापि उनके आधारसे भारतके मुस्लिम शासकों और उनके शासनकालका इतिहास पर्याप्त सुगमताके साथ निर्माण किया जासका।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि इतिहाससे अतीतका विवरण तो होता है किन्तु वह राजनीतिक घटनाओंकी कालानुक्रमणिका मात्र नहीं होता। यदि इतिहासको केवल राजाओं और सामन्त सरदारोंका, राजनीतिज्ञों, राजपुरुषों और प्रशासकोंका तथा उनकी मूर्खताओं एवं असफलताओंका, उनके युद्धों, विजयों और पराभवोंका ही लेखा मान लिया जाय—जैसा कि मध्यकालीन इतिहासोंमें प्रायः पाया जाता है—और उसमें जनसामान्यका, उसकी प्रवृत्तियों, समस्याओं और आकांक्षाओंका, तथा समय-समयपर होनेवाले और जनमानसको आन्दोलित करनेवाले सामाजिक, आर्थिक, भाषयिक, कलात्मक, धार्मिक एवं अन्य सांस्कृतिक आन्दोलनोंका कोई मूल्यांकन न हो तो वह यथार्थ इतिहास नहीं है, इतिहासाभास है। यूनानी इतिहासकार पालीबायसकी उक्ति है कि 'यदि इतिहासमेंसे कारण कार्यकी, सिद्धान्त और उद्देश्यको तथा लक्ष्यप्राप्त्यर्थ उपयुक्त साधनोंको अपनानेकी व्याख्या सर्वथा निकाल दी जाय तो जो बच रहता है। वह मात्र ऐसी दृश्यावली रह जाती है जो न तो शिक्षाप्रद ही होती है और न स्थायी महत्त्वकी हो, भले ही, थोड़ी देरके लिये वह हमारा कुछ मनोरंजन कर दे।' इतिहासके द्वारा ही मनुष्य युग-युगके संचित अनुभवोंका सदुपयोग करनेमें समर्थ होता है। अतएव इतिहासको निर्जीव नीरस घटनावलि या कालानुक्रमणिका मात्र न होकर, समाज और उनकी संस्थाओं, आचार-विचारों एवं प्रवृत्तियोंके स्वरूप तथा विकासकी अन्तःझाँकी प्रस्तुत करनेमें समर्थ होना चाहिये। यथार्थ इतिहास तो मानवके निरन्तर अदम्य प्रयत्न एवं अध्यवसायका सजीव चित्रण होता है अतः मनुष्योंके ऊपर तथा उनके द्वारा जिन विभिन्न शक्तियों और कारणोंकी क्रिया प्रतिक्रियाएँ होती हैं उन सबका समन्वय एवं संश्लेषण इतिहासको प्रस्तुत करना चाहिये। इतिहासके न्यायालयमें किसी व्यक्ति, जाति या राष्ट्रका मूल्यांकन उसकी यौद्धिक विजयों, शक्ति या वैभव विस्तार अथवा आर्थिक या दुनियाकी सफलताओंके आधार पर ही नहीं होता, वरन् उनके उन कार्यकलापों द्वारा होता है जो उन्होंने मानव मस्तिष्क, बुद्धि और ज्ञानके विकासके हितमें किये हैं, मानवजातिको सुखी बनानेके लिये किये हैं, उसकी मानवीय क्षमताओंको प्रस्फुटित एवं चरितार्थ करनेके लिये किये हैं और भावी सन्ततिके हृदयोंको आशान्वित करने, उनके मार्गको प्रशस्त बनाने और मानवी सभ्यताकी प्रगतिको वेगवान बनानेके लिये किये हैं। अस्तु, जाति विशेषका इतिहास उसका सम्पूर्ण अतीत जीवन चरित्र होता है जिसमें उसकी राजनीतिक, आर्थिक

सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रगतिका सर्वतोमुखी सांगोपांग चित्रण होता है। कालके पथपर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए उसने जो ऊँच-नीच देखे हैं, जो-जो मोड़ लिये हैं, विश्वको सुखशान्ति और मानवके उत्थानमें जो कुछ योगदान दिये हैं—उन सबका निष्पक्ष, संवेदनशील, क्रमिक विवरण इतिहास प्रदान करता है। और यह ऐतिहासिक विवेचन विश्लेषणात्मक भी होता है और संश्लेषणात्मक भी।

स्पष्ट है कि इतिहासके साधन स्रोत अत्यन्त विस्तृत, विपुल एवं विविध हैं। अतीतसे सम्बंधित कोई भी तथ्य, कोई भी पदार्थ या कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो कहीं न कहीं इतिहासके किसी न किसी अंग या अंशका प्रमाणाधार न बन सके। इतिहासकारके लिये कोई भी चीज उपेक्षणीय या महत्त्वहीन नहीं होती।

सामान्यतया किसी राष्ट्र या देश, राज्य या राज्यवंश, अथवा शासक या शासनकालके आश्रय एवं शीर्षकसे तत्तत् इतिहास लिखे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्वके इतिहास भी लिखे गये हैं। इन राजनीति प्रधान इतिहासोंमें राजनीतिक कालानुक्रमणिकाके ढाँचेका अवलम्बन तो लिया जाता है और राजनीतिक गतिविधि तथा उसके पुरस्कर्ताओंके कार्य-कलापोंका प्रमाणिक विवरण दिया ही जाता है किन्तु उसके साथ-साथ कालावधि विशेषमें उक्त भूखण्ड विशेषके निवासियोंकी सभ्यता एवं संस्कृतिका, तथा जन-जीवनको स्पर्श करनेवाली समस्त परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, घटनाओं, कृतियों आदिका भी सम्यक् निरूपण करनेका प्रयत्न किया जाता है। विशेष महत्त्वकी राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक क्रान्तियों और आन्दोलनोंके भी स्वतन्त्र इतिहास लिखे जाते हैं। धर्मों और सांस्कृतिक परम्पराओंके भी इतिहास लिखे जाते हैं और प्रत्येक धर्म एवं संस्कृतिकी ऐतिहासिक व्याख्याएँ भी की जा रही हैं। इतना ही नहीं, विविध ज्ञान विज्ञानके अन्तर्गत प्रत्येक विषयका अपना-अपना इतिहास है। आज तो कोई अध्ययनीय विषय ऐसा नहीं है जिसका अध्यापन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम उक्त विषयके उद्गम और विकासका इतिहास न बताया जाता हो। शिक्षाकी यह ऐतिहासिक पद्धति आज व्यापक हो गई। वस्तुतः प्रत्येक वस्तुका अपना कुछ न कुछ इतिहास है, जो कुछ भी वर्तमान है वह अपने सम्पूर्ण अतीतका ही परिणाम है—पूर्व पर्यायोंमें ही वर्तमान पर्यायके बीज विद्यमान थे, उन सबका विकसित रूप ही वर्तमान पर्याय है। अतएव उसके वर्तमान स्वरूपको समझनेके लिये उसके अतीतका ज्ञान एवं मूल्यांकन अनिवार्यतः आवश्यक है। उसके इतिहासकी सम्यक् जानकारी द्वारा उसके वर्तमान स्वरूप एवं स्थितिको समझकर ही उसके भविष्यका निर्माण भले प्रकार किया जा सकता है। बिना उसकी क्षमताओं, गुणदोषों, अन्तर्निहित शक्तियों और प्रेरणाओं, उसकी आशाओं और आकांक्षाओंकी जानकारीके उसके वर्तमान एवं भावी अस्तित्वका औचित्य खतरेमें रहता है।

## जैन इतिहासके स्रोत और उपकरण

उपर्युक्त पृष्ठभूमिमें यह सरलतासे समझमें आ सकता है कि 'जैन इतिहास' कोई कपोलकल्पित, निरर्थक या उपेक्षणीय विषय नहीं है। 'जैन इतिहास' का अभिप्राय है 'जैनधर्म और संस्कृतिका तथा उसके अनुयायियोंका इतिहास'। यह परंपरा विशुद्ध भारतीय होते हुए भी अत्यन्त प्राचीन है, कदाचित् समस्त वर्तमान धार्मिक परम्पराओंमें प्रायः सर्व-प्राचीन है और कमसे कम इस देशमें अनेक युगोंमें उसका अत्यन्त व्यापक प्रसार एवं प्रभाव रहा है। इसने अनेक ऊँच-नीच भी देखे हैं। इसकी सांस्कृतिक समृद्धि भी विपुलता, व्यापकता एवं श्रेष्ठता सभी दृष्टियोंसे प्रथम कोटिकी है। और आज भी यह परंपरा जीवित है, सजीव और सप्राण है। अतएव उसका इतिहास भी उसी अनुपातमें पर्याप्त दीर्घकालीन विस्तृत, विविध एवं महत्त्वपूर्ण है।

इस जैन इतिहासके अनेक विभाग एवं अंग हैं, यथा जैनधर्मके मौलिक मन्तव्योंके प्राग्ऐतिहासिक आदिम स्रोत जो-जो प्रकृत्याश्रित पाषाणयुगीन आदिम सभ्यताओंके विश्वासोंमें खोजे जा सकते हैं; सिन्धुघाटी आदिकी प्राग्वैदिक एवं प्राग्ऐतिहासिक नागरिक सभ्यताओंमें श्रमण (जैन) परम्पराके अस्तित्वके चिन्ह; ब्राह्मणीय वैदिक आर्य संस्कृति (के साथ श्रमणसंस्कृति) की टक्कर तथा उनकी पारस्परिक क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ; उत्तर वैदिककालका श्रमण पुनरुद्धार और औपनिषदिक परा विद्या या आत्मविद्याका जैन अध्यात्मके साथ कार्यकारण अथवा आदान-प्रदान; अनुश्रुतिगम्य प्राचीन भारतीय इतिहासके निर्माणमें ब्राह्मणीय पौराणिक अनुश्रुतियोंके साथ जैन पौराणिक अनुश्रुतियोंका समन्वयात्मक उपयोग, तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृतिको अन्तिम तीन तीर्थंकरों-अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर, जो तीनों ही ऐतिहासिक मान्य किये गये हैं—की देन उनके समकालीन इतिहासके परिप्रेक्ष्यमें। महावीरोत्तर कालमें जैनसंघके संगठन, व्यवस्था, मतभेद, शाखा-प्रशाखाओं अथवा सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायोंमें विभाजनका इतिहास और उनमेंसे प्रत्येक शाखा, उपशाखा, सम्प्रदाय, पन्थ आदिका उसके उदयसे लेकर वर्तमान पर्यन्तका क्रमिक प्रामाणिक इतिहास। जैन सिद्धान्त एवं तत्त्वज्ञान, जैन दार्शनिक

विचारधारा, जैन अध्यात्म, जैन आचारशास्त्र तथा जैनोंकी धार्मिक क्रियाओं, प्रथाओं, मान्यताओं, विश्वासों आदिके विकासका इतिहास। जैन साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञानकी विविध विषयक एवं विभिन्न भाषयिक प्रवृत्तियोंका इतिहास। जैनोंको संगीत, चित्र, मूर्त्त, स्थापत्य आदि विभिन्न ललितकलाओंका सोदाहरण सांगोपांग इतिहास। जैन तीर्थों, सांस्कृतिक एवं कलाकेन्द्रोंका इतिहास। जैनपर्वों और त्यौहारोंका इतिहास। जैन धर्मानुयायी जातियोंका इतिहास। जैन जनोंके सामाजिक संगठन, आर्थिक दशा एवं लौकिक स्थितिका इतिहास। जैन नरेशों, सामन्त सरदारों, राजनीतिज्ञों, शासकों प्रशासकों, सेनानायकों और योद्धाओंका इतिहास। देशकी राजनीति और स्वातन्त्र्य संग्राममें तथा नवराष्ट्र निर्माणमें जैनजनोंके योगदान का इतिहास, इत्यादि।

इनमेंसे प्रत्येक अंगका इतिहास निर्माण करनेके लिये पर्याप्त सामग्री अभी भी प्रकाशमें आ चुकी है और नित्य आती जा रही है। यह अवश्य है कि वर्तमान जैनोंकी अति सीमित संख्या और अपने इतिहासके प्रति अनभिरुचि, बल्कि एक प्रकारकी उदासीनता, के कारण जो सामग्री अभीतक भी प्रकाशमें आ चुकी है उसका भी उपयोग तो क्या एकत्रीकरण भी नहीं हुआ है। उसे एकत्र करके ही उसका संकलन और इतिहास निर्माणमें उसका उपयोग संभव है।

जैन इतिहासके ये विपुल एवं विविध उपकरण या साधन-स्रोत दो वर्गोंमे विभाजित किये जा सकते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक साधनोंमें सम्पूर्ण उपलब्ध एवं ज्ञात जैनसाहित्यका, समस्त उपलब्ध जैन कलाकृतियों एवं पुरातत्त्वावशेषोंका और समस्त विद्यमान या ज्ञात जैन शिलालेखों, मूर्तिलेखों, यंत्रलेखों, मुद्राओं, ध्वज-चिन्हों, सांस्कृतिक प्रतीकों आदिका समावेश होता है। विभिन्न जैन परम्पराओंकी पट्टावलियों, गुर्वावलियों विज्ञप्तिपत्रों, यादियों, वैयक्तिकपत्रों, आलेखों आदिका उसमे समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त समस्त जैनतीर्थों एवं पुरातन केन्द्रों के प्रामाणिक स्थलपरिचय एवं भौगोलिक विवरण और विभिन्न प्रदेशीय एवं विभिन्न जातीय जैनजनोंके रीतिरिवाजों, प्रथाओं, विशिष्टताओं आदिके विस्तृत सर्वेक्षण भी आवश्यक हैं। जैनधर्मके अनुयायी या उसके प्रश्रयदाता अथवा उसके प्रति विशेषरूपसे सहिष्णु रहे राज्यवंशों, नरेशों, राजपुरुषों आदि के सामान्य राजनीतिक इतिहाससे समर्थित इतिवृत अंशत: आन्तरिक एवं अंशत: बाह्य सामग्रीके अन्तर्गत आते हैं। बाह्य स्रोतोंमें वैदिक, बौद्ध, शैव, वैष्णव, लिंगायत, सिक्ख, ईसाई, मुसल्मान आदि समस्त भारतीय धर्मों और पन्थोंके साहित्यमें प्राप्त जैन सम्बन्धी उल्लेख या संकेत और उन धर्मों पर जैन प्रभावोंकी छापके प्रमाण आते हैं। साहित्य एवं कलाके क्षेत्रमें जैनेतर साहित्य एवं कलाका ज्ञान तुलनात्मक मूल्याङ्कनकी दृष्टिसे आवश्यक है। विदेशी-प्राचीन यूनानी, रोमन, चीनी, तिब्बती, हिन्द एशियाई आदि पूर्वी एशियाई, अरबी, फारसी तथा विभिन्न युरोपीय पर्यटकों तथा लेखकोंके भारतसम्बन्धी विवरणोंमें प्राप्त जैनसम्बन्धी उल्लेख या संकेत भी एक महत्त्वपूर्ण बाह्य स्रोत है जैसा कि मध्यकालीन मुसल्मानी तवारीखें तथा अन्य जैनेतर भारतीय ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। १८ वीं शतीके अन्तके लगभगसे लेकर वर्तमान पर्यन्त पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों और प्राच्यविदों द्वारा जैन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, धर्म, संस्कृति आदिमे सम्बन्धित समस्त गवेषणाओं, अन्वेषणों आदि का पूर्ण विवरण, यथासंभव अपने मूल रूपमे, एक अन्य मूल्यवान बाह्य स्रोत है जो कथंचित् अभ्यन्तरिक भी है। इन सबके अतिरिक्त एक जैन इतिहासकारके लिये विश्व इतिहासके परिपेक्ष्यमें सम्पूर्ण भारतवर्ष एवं बृहत्तरभारतके राजनैतिक भूगोल एवं राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहासका सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है।

जैन इतिहासकी जो स्थूलरूपरेखा ऊपर सूचित की गई है और उसके विविध उपकरणोंका भी जो स्थूल संकेत किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि जैन इतिहासकी समस्या यदि अत्यन्त जटिल नहीं है तो कुछ आसान भी नहीं है। इस समस्याके अनेक पहलू हैं, यथा सामग्रीकी सतत एवं अध्यवसायपूर्वक खोज, उसका एकत्रीकरण, सम्यक् विश्लेषण, साव-धानतापूर्वक जाँचपड़ताल एवं तुलनात्मक परीक्षण, प्रमाणसिद्ध तथ्यावलीका सुनियोजित वर्गीकरण और तदनन्तर उसके आधारपर जैन इतिहासके विभिन्न अंग-उपांगोंका प्रेरणाप्रद एवं रोचक शैलीमें उपयुक्त निर्माण। इनमेंसे प्रत्येक पहलूके भी अपने-अपने अनेक पहलू हैं। इनके अतिरिक्त, जैनेतर विद्वानोंके पूर्वाग्रहों, रूढ़ विश्वासों, और कभी-कभी यदि पक्षपात या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष द्वेषके कारण नहीं तो अनभिज्ञता अथवा प्रमाद जन्य उपेक्षा या उदासीनताके निमित्तसे बन गई धारणाओंका निरसन करना भी पर्याप्त दुष्कर है। स्वयं जैनोंके अपने सम्प्रदायिक मनोवृत्ति जन्य विचारों, विश्वासों और मतभेदोंका मुकाबला करना भी कम कष्टसाध्य नहीं है। जैन इतिहासकारके सम्मुख ये अनेक-विध समस्याएँ आकर खड़ी हो जाती हैं और इनमेसे कोई कोई तो ऐसी होती हैं कि जिनके समाधानमें पर्याप्त धैर्य, सहनशीलता, श्रम और समयकी अपेक्षा होती है।

## निष्कर्ष

अस्तु, जैन इतिहासका क्षेत्र कितना व्यापक है, उसका विस्तार कितना गम्भीर है, उसकी समस्याएँ कितनी जटिल हैं और उसके निर्माणमें कितने अध्यवसाय और सावधानीकी आवश्यकता है यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। एक व्यक्तिके वशका यह रोग नहीं है। संभवतया एक जीवनकाल भी इसके लिये पर्याप्त नहीं है। किन्तु यदि किसी साधनसम्पन्न संस्थाके आश्रयसे समर्थ विद्वानोंकी एक टीम इस कार्यमें जुट जाय तो कार्यके सम्पन्न होनेमें विशेष कठिनाई भी नहीं है। कई जिल्दोंमें यदि यह बृहत् जैन इतिहास निर्माण हो जाय तो न केवल वह जैनजगतमें नवीन प्राणप्रतिष्ठा करनेमें समर्थ होगा—न केवल उनकी कूपमंडूक जैसी संकीर्ण मनोवृत्तियों एवं छोटी-छोटी-सी बातको लेकर होने वाले पारस्परिक वैरविरोधोंको दूरकरके उन्हें उनके अतीत गौरवका सम्यक् भान करायेगा, उन्हें उनके स्वरूप, वर्तमान क्षमताओं एवं स्थायी मूल्योंका अहसास करायेगा तथा उनकी परंपराके भविष्यको सुरक्षित करेगा और प्रशस्त बनायेगा, वरन् वर्तमानकालीन एवं अनागत प्रबुद्ध विश्वमानवमें उनके तथा उनकी सांस्कृतिक परंपराके प्रति समादर उत्पन्न करेगा। भारतवासियोंके इतिहासके निर्माणमें तथा इस देशके समग्र सांस्कृतिक विकासमें जैन परंपरा की महत्त्वपूर्ण देनोंका तथा उसके अस्तित्वके औचित्यका सही मूल्याङ्कन तभी हो सकेगा। अतएव यह महान कार्य केवल जैनोंकी दृष्टिसे ही परमावश्यक नहीं है, भारतीय इतिहास एवं विश्व इतिहासकी दृष्टिसे भी परम उपादेय है।
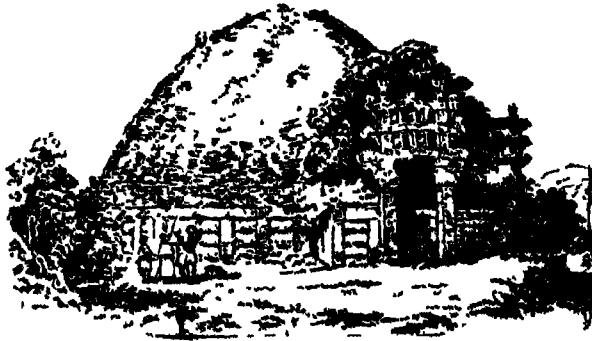
# जैनधर्मका प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण

शशिकान्त, एम० ए०, डी० आर०, लखनऊ

●

## उत्थानिका

उड़ीसा प्रदेशमें भुवनेश्वरके पास उदयगिरि-खण्डगिरिकी पहाड़ियोंमें कुछ प्राचीन गुफायें हैं जिनका निर्माण ईसा पूर्व दूसरी शतीमें किया गया था। पूर्वी भारतमें इस प्रकार पहाड़मेंसे काटकर बनाई गई गुफाओंका ये अबतक ज्ञात सर्वप्राचीन उदाहरण हैं। इनमेंसे अधिकांशमें मौर्य सम्राट अशोकके अभिलेखोंसे मिलती-जुलती ब्राह्मी लिपिमें लेख है। इन अभिलेखोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उदयगिरिपर हाथीगुम्फाके मुख-भागपर उत्कीर्ण १० पंक्तियोंका 'आर्य महाराज महामेघवाहन चेतिराजवंशवर्धन कलिङ्गाधिपति श्री खारवेल'का लेख है जिसमें उसके राज्यकालके १३ वर्षोंका क्रमिक विवरण है।

इस लेखका संशोधित पाठ मैं 'जैन सन्देश शोधांक ६' (पृ० २२१-२२५) में दे चुका हूँ और इसका विशद विवेचन मैंने अपनी पुस्तक 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी हाथीगुम्फा इन्सक्रिप्शन ऑफ खारवेल'में किया है जो अभी प्रकाशनाधीन है। जैन इतिहासकी दृष्टिसे इस लेखका विशेष महत्त्व है और उस महत्त्वका संक्षिप्त परिचय देना यहाँ अभीष्ट है क्योंकि इस पहलूपर अभी तक नगण्य-सा प्रकाश ही डाला गया है।

## हाथी गुम्फा अभिलेखके महत्त्वपूर्ण उल्लेख

इस लेखमें तीन घटनाओंके समयका उल्लेख है। यथा वर्ष १०३ में कलिंग-नगरीमें नन्दराज द्वारा तनसुलियवाट नहरका निकालना, वर्ष ११३ में तमिल देशोंके संघका गठन, और वर्ष १६५में द्वादशाङ्ग मध्य-कल (श्रुत) की व्युच्छित्ति। ऐतिहासिक घटनाओंके तारतम्यकी दृष्टिसे यह काल-निर्देश महावीर निर्वाणकी काल-गणनाके अनुसार किया गया प्रतीत होता है। उक्त काल-गणनाके प्रयोगका यह अभिलेख प्रथम पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है।

लेखका प्रारम्भ 'नमो अरहंतानं, नमो सव सिधानं'से होता है। पंच नमस्कार मंत्रका यह प्राचीनतम लिखित रूप है। 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'का जैनोंमें वही महत्त्व और लोकप्रियता है जो 'बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि'का बौद्धोंमें और गायत्री मंत्रका वैदिकोंमें। इस उल्लेखसे यह भी पुष्ट होता है कि शुद्ध पाठ 'अरहंत' है न कि 'अरिहंत'।

'अरहंत'की प्राचीनतम लिखित व्याख्या भी इसी लेखकी पंक्ति १४ में मिलती है। यह व्याख्या 'पखिणसंसितेहि' है जिसका संस्कृत रूपान्तर 'प्रक्षिप्त-संसृताः' होगा। इसका अर्थ है कि अरहंत वह है जिसने आवागमन छोड़ दिया है।

निम्नलिखित गाथामें आचार्यकुन्दकुन्दने भी अरहंतकी इस प्रकार व्याख्या की है—

**जर-वाहि-जम्म-मरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च। हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो॥**

मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघका निर्देश भी इस लेखमें मिलता है। खारवेल स्वयंको 'उवासग' (उपासक, श्रावक) कहता है और यह व्याख्या भी करता है कि श्रावक वह है जो व्रतोंका पालन करता है और पूजामें रत रहता है। यह भी संकेत है कि व्रतोंके पालनसे दिव्य तेजकी प्राप्ति होती है।

जीव और देह (अर्थात् पुद्गल अजीव)के द्वैतका भी उल्लेख है। खारवेलका यह कथन कि उसका जीव देहपर आश्रित है, जैन दर्शनमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता और जीव-अजीवके पारस्परिक सम्बन्धोंकी धारणासे पूरी तरह मेल खाता है।

'श्रमण'का व्याख्या 'सुविहित' की गई है। आचार्य कुन्दकुन्दने जैन साधुकी जो विशेषता निम्नलिखित गाथामें बताई है वह सुविहितकी ही व्याख्या है—

**देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो। अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥**

जैन साधुओंके चार प्रकारोंका भी यहाँ उल्लेख है। सर्व प्रथम श्रमणका उल्लेख है जो मात्र आत्म-साधना करते थे और संसारसे पूर्णतः अलिप्त थे। उनके बाद ज्ञानी और तपस्वी-ऋषिका उल्लेख है। ज्ञानी श्रुतके ज्ञाता थे और तपस्वी-ऋषि तप-साधना पर विशेष बल देते थे। अन्तमें संघयनका उल्लेख है। ये संघनायक थे अतः सांसारिक मामलोंसे पूरी तरह अलिप्त नहीं रह सकते थे और इसीलिए उन्हें सबसे अन्तमें उल्लिखित किया गया।

लगभग १७२ वर्ष ईसा पूर्व, अपने राज्य-कालके १३ वें वर्षमें खारवेलने जैन-साधुओंकी एक सभा बुलाई। इस सभाकी जानकारीका स्रोत एकमात्र यही अभिलेख है, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंकी साहित्यिक अनुश्रुतियाँ इसके विषयमें मौन हैं। सम्भवतः इस सभाका उद्देश्य संघ-भेदको रोकने और दोनों सम्प्रदायोंमें तात्त्विक विवादों पर समझौता करानेका एक महत् प्रयास था। संघ-भेदके पोषक दोनों ही सम्प्रदायोंके परवर्ती साहित्यकारोंने इस समझौतेके प्रयासको भुला देना ही यथेष्ट समझा प्रतीत होता है और इसीलिए उसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की। ईस्वी सन्‌के प्रारम्भके लगभग भी मथुरामें आरातीय यतियों या यापनियोंके रूपमें एक वर्ग ऐसा था जो संघ-भेदको गर्हित समझता रहा। ऐसा सम्भव है कि उस वर्गने इस सभाकी स्मृतिको जीवित रक्खा हो परन्तु उसका साहित्य उपलब्ध नहीं है।

यह सभा विजयचक्र नामक प्रशासकीय खण्डमें कुमारीपर्वतपर, जो उदयगिरिका प्राचीन नाम था, आयोजित की गई थी। इसमें सभी दिशाओंसे आये ३५०० साधुओंने भाग लिया था। पर्वतके ऊपर अरहंतकी निषिद्याके समीपका प्राग्भार सभा-स्थल था। यह प्राग्भार रानी सिन्धुला द्वारा निर्मित निषिद्यासे सटा हुआ था। रानी सिन्धुलाकी निषिद्या मंचपुरी गुफाकी ऊपरी मंजिलपर रही प्रतीत होती है जो कि हाथी गुफाके सम्मुख दक्षिण-पूर्वको स्थित है। हाल ही में पुरातात्त्विक खुदाईसे हाथीगुफाकी छतपर एक पूजा-गृहके अवशेष भी प्रकाशमें आये हैं जो सम्भवतः अरहन्त निषिद्याके प्रतीक हैं। इस प्रकार मंचपुरी और हाथीगुफाके बीचके स्थलको सभा-स्थलसे चीन्हा जा सकता है।

सभा-मंडपके सम्मुख एक वैडूर्य मंडित चौकोर स्तंभ स्थापित किया गया था। यह मानस्तंभका प्रतिरूप रहा प्रतीत होता है। सभा-मंडपकी रचना समवसरणके अनुरूप की गई प्रतीत होती है। इस सभामें द्वादशांगकी वाचना की गई थी। साहित्यमें 'वाचना'का प्रयोग ऐसी सभाओंके लिए भी किया गया है।

दोनों ही सम्प्रदाय इस बारेमें एकमत हैं कि केवली-प्रणीत समस्त श्रुत द्वादशाङ्ग रूप था। खारवेलने भी इसका उल्लेख 'चोयठ अंगं' अर्थात् ४ + ८ = १२ अंग ही किया है और इस प्रकार इस अनुश्रुतिका सर्व प्रथम लिखित प्रमाण इसी लेखमें प्राप्त होता है। श्रुतको व्युच्छित्तिका उल्लेख इस लेखमें महावीर निर्वाणके १६५ वें वर्षमें किया गया है जो भी दोनों ही सम्प्रदायोंकी साहित्यिक परम्पराओंसे मेल खा जाता है। इस सभाका उद्देश अवशिष्ट श्रुतको संकलित और संरक्षित करना रहा प्रतीत होता है। कुछ ही दशक पूर्व बौद्धों द्वारा बुद्ध-वचनोंके संकलनका ऐसा ही एक प्रयत्न मौर्य सम्राट अशोकके संरक्षणमे मगधमें किया जा चुका था।

## निष्कर्ष

इस लेखसे यह भी ज्ञात होता है कि जैनोंमें पूजाकी परिपाटी उस समय भी प्रचलित थी। चार प्रकारके पूजा,-गृहोंका उल्लेख इस लेखमे है :—काय-निषिद्या अर्थात् अरहंतके अवशेषोंपर निर्मित निषिद्या जैसी कि खारवेलने स्वयं बनवाई थी, निषिद्या या चैत्य जो साधुओंके निवास स्थानका ही एक अंग होता था जैसा कि रानी सिन्धुलाने बनवाया था, टूप या स्तूप जिसकी खारवेलने मथुरामें बन्दना की थी और संनिवेश जहाँ जिन प्रतिमा विराजमान होती थी और जिसकी खारवेलने मगधमें पूजा की थी।

इस लेखसे यह भी ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व ४२४ मे भी कलिंगमें जैनोंमें मूर्ति पूजाका प्रचलन था, क्योंकि उस समय नन्दराजा जिन प्रतिमाको कलिंगसे मगध उठा लाया था और उसे उसने अपनी राजधानीमें प्रतिष्ठित किया था।

यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा उस समय जैनोंका एक तीर्थ-राज था ,जहाँ खारवेलने स्तूपकी पूजा की थी और 'सव-गहणं' नामक उत्सव किया था। 'सव-गहणं' का शुद्ध रूप' सर्व-ग्रहणम्' हो सकता है जिसका अर्थ सब कुछकी प्राप्ति या सब कुछका त्याग, दोनों ही हो सकते है। दूसरा अर्थ सन्दर्भकी दृष्टिसे अधिक उपयुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त उत्सवके समय भरके लिये उसने अपनेको सांसारिक कार्योंसे स्वेच्छासे अलग कर लिया था।

इस लेखमें चार चिह्न उत्कीर्ण मिलते है जिनमेंसे स्वस्तिक और नन्द्यावर्त जैनधर्मसे सबंधित है। इनका उल्लेख अष्ट-प्रातिहार्योंमें आता है।

साथकी गुफाओंमें जो लेख हैं उनसे यह भी ज्ञात होता है कि उस कालमें जैन साधुओंके आवासके लिए पहाड़ काट कर गुफायें बनाई जाती थी।

उपर्युक्त विवरणसे विदित होगा कि इस लेखमें जैनधर्म, संघ, साहित्य और इतिहासके विषयमें महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं और उनके लिए यही प्राचीनतम लिखित आधार है, अतः जैन इतिहासकी दृष्टिसे इसका महत्व अप्रतिम है।

●

# कंकाली टीला (मथुरा) की जैन-कलाका अनुशीलन

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी
अध्यक्ष भारतीय संस्कृति और पुरातत्त्व-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

●

## कंकाली टीले का महत्त्व

भारतके जिन क्षेत्रोंको जैनधर्म-परक कलाके उदय एवं उत्थानका गौरव प्राप्त है। उनमें मथुराका विशेष स्थान है। वर्तमान मथुरा नगरके बाहर पश्चिमकी ओर 'कंकाली टीला' नामक स्थान है। इसे 'जैन टीला' भी कहा जाता है। 'कंकाली टीला' नाम पड़नेका कारण यह है कि कालान्तरमें यहाँ कंकाली देवीकी पूजाका केन्द्र स्थापित हो गया।

कंकाली टीलाका महत्त्व भारतीय पुरातत्त्वके प्रख्यात विद्वान् कनिंघमको १८७१ ई० में ज्ञात हुआ। उन्होंने टीलेके पश्चिमी किनारेकी खुदाई करवाई। उस खुदाईमें उन्हें बहुसंख्यक जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं। उनमेंसे कई पर लेख थे। प्रतिमाओंके अतिरिक्त उन प्राचीन जैन इमारतोंके खम्भे, सिरदल आदि भी मिले जिनका निर्माण यहाँ विभिन्न समयोंमें हुआ। कनिंघमको ईंटोंकी बनी दीवालें भी मिलीं। वहाँ प्राप्त शिला-लेखोंके आधारपर, जिनपर शक-संवत्में ५ से लेकर ९८ वर्षतक खुदे हुए थे, कनिंघमने अनुमान लगाया कि ईस्वी पहली-दूसरी शतीमें कंकाली टीलाकी भूमिपर एक विशाल जैन स्तूप विद्यमान था।

## टीलेसे प्राप्त कलावशेष

कनिंघमके बाद लखनऊ संग्रहालयके अधीक्षक श्री फ्यूररने १८८९ से १८९१ तक कंकाली टीलेकी विस्तृत खुदाई कराई। इस बार जो प्राचीन अवशेष मिले उनकी संख्या काफी बड़ी थी। खुदाईके विवरणके आधारपर केवल एक वर्षके उत्खननमें ही ७३७ कलाकृतियाँ प्राप्त हुईं। ये सभी लखनऊके राज्य-संग्रहालयमें भेज दी गईं। फ्यूररको कंकाली टीलामें ४७ फुट व्यासका ईंटोंका एक स्तूप तथा दो प्राचीन जैन मन्दिरोंके अवशेष भी मिले। दुर्भाग्यसे इन इमारतोंके फोटो या रेखाचित्र अब प्राप्त नहीं हैं।

अभिलेखों तथा प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट ज्ञात हुआ है कि मथुराके इस भूभाग पर ईसासे कई शती पहलेसे लेकर ई० ११वीं शतीतक जैन स्तूपों, मंदिरों एवं विविध मूर्तियोंका निर्माण होता रहा। इतने लम्बे समय तक वास्तु तथा मूर्तिकलाके विकासका केन्द्र होनेके कारण कंकाली टीलाका क्षेत्र निस्संदेह असाधारण महत्त्व रखता है। फ्यूररके समय यहाँसे खुदाईमें प्राप्त भगवान् मुनिसुव्रत[1] की एक प्रतिमाके लेखपर 'देव निर्मित' स्तूपका उल्लेख है। यह मूर्ति ईस्वी दूसरी शतीकी है। उस समयके कलाकारोंको इस स्थानपर विद्यमान जैन स्तूपकी असाधारण श्रेष्ठ निर्माण-कलाको देखकर यह भ्रम हुआ होगा कि उसकी रचना मानव कारीगरोंके द्वारा न होकर देवताओं द्वारा की गई होगी। इसी कारण लेखमें मुनिसुव्रतनाथजी की मूर्ति—प्रतिष्ठापनाके स्थानको 'थूपे देवनिर्मिते' (देवताओं द्वारा निर्मित स्तूपमें) कहा गया है। जिनप्रभसूरि द्वारा रचित 'तीर्थ कल्प' नामक ग्रंथमे मथुराके इस देव निर्मित स्तूप की चर्चा मिलती है। इस ग्रंथके अनुसार यह स्तूप प्रारम्भमें सोनेका बना हुआ था और उस पर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। इस स्तूपका निर्माण कुबेरा देवी नामक महिला द्वारा सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथजीके सम्मानमें कराया गया था। बादमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथजीके समयमें इस स्तूपको ईंटोंसे आवेष्टित किया गया। स्तूपके बाहर एक पाषाण-मंदिर भी बनवाया गया। 'तीर्थकल्प' में आगे यह लिखा गया है कि भगवान् महावीरकी ज्ञान-प्राप्तिके तेरह सौ वर्ष बाद बप्पभट्ट सूरिने स्तूपकी मरम्मत करवाई। यह कार्य ईस्वी आठवीं शतीके मध्यमें पूरा

---

१. बूलर, स्मिथ आदि विद्वान् लेखमें 'अरनाथ' नाम पढ़ते थे। इन पंक्तियोंके लेखकने शुद्ध पाठ 'मुनिसुव्रत' पढ़ा, जिनके सम्मानमें इस प्रतिमाकी प्रतिष्ठापना की गई। ले०—

हुआ। इसके बाद ११वीं शती तक जैनधर्मके प्रसिद्ध केन्द्रके रूपमें कंकाली टीलाका महत्त्व रहा। मुस्लिम शासन-कालमें मथुराके अन्य कलाकेन्द्रों की तरह कंकाली टीला पर स्थित इमारतोंकी भी बरबादी की गई। अधिकांश प्रतिमाएँ खण्डित कर दी गई। कितनी ही मूर्तियोंको नष्ट होनेके भयसे जलाशयोंमें डाल दिया गया। मथुराके अनेक पुराने कुओंकी तथा यमुना-तलहटीकी सफाई कराते समय अनेक कलापूर्ण प्राचीन अवशेष मिले हैं।

कंकाली टीलेसे प्राप्त अधिकांश सामग्री अब लखनऊके राज्यसंग्रहालयमें सुरक्षित है। बहुसंख्यक कृतियाँ मथुराके पुरातत्व संग्रहालयमें हैं। अन्य विविध कलाकृतियाँ भारतके दूसरे संग्रहालयोंमें या विदेशोंमें चली गई हैं। फ्यूररके समयमें प्राप्त कलाकृतियोंपर विसेंट स्मिथ द्वारा लिखित एक सचित्र ग्रंथ प्रकाशित किया था। इस ग्रंथमें मूर्तियों, अभिलेखों तथा इमारती पत्थरोंका संक्षिप्त विवरण उपलब्ध है, जो निस्संदेह बहुत उपयोगी है। परन्तु प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टिसे विभिन्न मूर्तियोंका विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

तीर्थंकरोंकी विविध प्रतिमाओंके अतिरिक्त अनेक पार्श्व एवं शासन देवों की भी प्रतिमाएँ बड़ी संख्यामें मिली हैं। अनेक अभिलिखित प्रतिमाएँ चार प्रमुख तीर्थंकरोंको एक-एक दिशामें प्रदर्शित करती हैं। इन्हें 'सर्वतोभद्रिका' कहा जाता है। अनेक कलापूर्ण आयागपट्ट भी मिले हैं, जो प्रायः वर्गाकार हैं। इसके मध्यमें प्रायः तीर्थंकर विराजमान दिखाए गए हैं। उनके चारों ओर स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, श्रीवत्स, भद्रासन, वर्धमानक्य, मंगल घट, दर्पण तथा मत्स्य-युगल अंकित किए गए हैं। इन आठ चिह्नोंको 'अष्ट मंगल द्रव्य' कहा जाता है। एक आयागपट्ट पर आठ दिशाओं की प्रतिनिधि आठ देवियोंको मंडल-नृत्य करते हुए प्रदर्शित किया गया है। अन्य आयागपट्टों पर वेदिका सहित तोरणद्वार तथा अन्य अलंकरण आलेखित हैं। अधिकांश आयागपट्टों पर ब्राह्मीमें लेख खुदे हैं। इन लेखोंसे पता चलता है कि आयागपट्टोंका निर्माण वणिकों, नर्तकों आदिके द्वारा कराया गया था। एक लेखमें दानदात्रीके रूपमें वसु नामक गणिका की पुत्री लवणशोभिकाका नामोल्लेख है। ईस्वी पहली-दूसरी शतीमें इस प्रकारके आयागपट्टोंकी स्थापनाका कार्य बहुत पुण्यकारी समझा जाता था। मथुराके अतिरिक्त कौशाम्बीमें भी ऐसे कई सुन्दर आयागपट्ट मिले हैं।

## टीलेसे प्राप्त कुषाणकालीन कला सामग्रीका वैशिष्ट्य

कुषाण-कालमें जिन मूर्तियोंका निर्माण कंकाली टीलाकी भूमिपर हुआ उनमें कई विशेष महत्त्वकी हैं। एक प्रतिमा देवी सरस्वती की है। उन्हें ऊँचे आसनपर आसीन दिखाया गया है। उनका दायाँ हाथ अभय मुद्रामें है तथा बाएँ हाथमें वे पोथी लिए हैं। सरस्वतीके अतिरिक्त देवी आर्यवती, नैगमेश, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियोंकी प्रतिमाएँ भी मिली हैं।

कुषाण तथा गुप्त कालमें निर्मित विविध तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे उत्कृष्ट कोटिकी हैं। तीर्थङ्करोंको पद्मासन या खड्गासनमें अंकित किया गया है। शास्त्रीय विधानोंके अनुसार उनके त्रिविध लाञ्छनों आदिका कुशलताके साथ चित्रण मिलता है। गुप्तकालीन तीर्थङ्कर मूर्तियोंमें शारीरिक सौन्दर्यके साथ आध्यात्मिकताका भाव आँकित है, जो कहीं-कहीं अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

जैन स्तूपके चारों ओर कलात्मक तोरण-द्वारोंके सहित वेदिकाका निर्माण किया जाता था। कंकाली टीलाकी खुदाईसे शक-कुषाणकालीन वेदिकाके बहुसंख्यक अवशेष मिले हैं। इनमें अनेक आकर्षक मुद्राओंमें खड़ी हुई स्त्रियोंकी प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हें स्नान या प्रसाधन करते हुए, वीणा-बांसुरी आदि बजाते या नृत्य करते हुए प्रदर्शित किया गया है। इन मूर्तियोंको देखकर तत्कालीन लोकके सरस जीवनका अनुमान लगाया जा सकता है। सुरुचिपूर्ण सौंदर्य तथा आनन्दके प्रति समाजकी सहज आस्था थी। मानव जीवन प्रकृतिके उल्लासमय वातावरणमें अपनेको कृतार्थ मानता था। कलाका जो उदात्त रूप इन कृतियोंके माध्यमसे हमें उपलब्ध है वह इस बातका परिचायक है कि ऐहिक तथा पारलौकिक तत्त्वोंका सामंजस्य मानव जीवनके उन्नयनके लिए आवश्यक माना जाता था। कंकाली टीलासे प्राप्त बहुसंख्यक अभिलेख इस बातकी भी जानकारी देते हैं कि प्राचीन समाजमें महिलाओंका महत्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक तथा सामाजिक हितके अनेक कार्योंमें वे पुरुषोंसे पीछे न थीं, बल्कि कई दिशाओंमें वे अपना अग्रगण्य स्थान बनानेमें सफल हो सकीं थीं।

●

# जैनचित्रकला : संक्षिप्त सर्वेक्षण

श्रीमती सौ० सुशीलादेवी जैन, भोलाभवन, महाजन टोली नं० १, आरा

●

## प्रस्तावित

जीवनके विविध अनुभवोंका मूल्य चित्रोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है। यही कारण है कि धर्मका गम्भीर मर्मज्ञता और एक निष्ठ उपासनाको चित्रकलाने प्रधान रूपसे आश्रय बनाया है। प्राचीन उपलब्ध चित्रोंमें सौन्दर्यानुभूतिके साथ आत्मिकरस, साम्प्रदायिक मान्यताएँ एवं नवजागरणके सन्देश देनेवाले धार्मिक चित्रोंकी ही अधिकता है। यद्यपि कला शास्त्री जैनचित्रकलाको पृथक् स्थान नहीं देते, पर जैनचित्रोंको भावव्यञ्जना और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति साधारण चित्रकलाकी अपेक्षा भिन्न है। श्री नानालाल 'चिमनलाल मेहताने जैनचित्रकलाके सम्बन्धमें लिखा है—'परन्तु इतना अवश्य है कि जैनचित्रोंमें एक प्रकारका निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डॉ० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रोंकी परम्परा अजन्ता, एलौरा, बाघ, सित्तन्नवासलके भित्तिचित्रोंकी है। समकालीन सभ्यताके अध्ययनके लिए इन चित्रोंसे बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोगमें आती हुई चीजें, आदिके सम्बन्धमें अनेक बातें ज्ञात होती है[1]। स्मिथ और ब्रूलरने भी जैनचित्रकलाकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—'जैनचित्रोंमें एक नैसर्गिक अन्तः प्रवाह गति, डोलन और भाव निदर्शन विद्यमान है[2]।

कुमारस्वामीके अतिरिक्त अन्य कलामर्मज्ञ विद्वान् जैनचित्रकलाका गुजरातीकला, पश्चिमीय कला या पश्चिम भारतीय शैली नामकरण करते हैं। पर साराभाई नवाबने इसे पश्चिमी जैनकलाकी संज्ञासे अभिहित किया है। यह संज्ञा कुछ अंशोंमें ठीक प्रतीत होती है। निस्सन्देह जैन चित्रकलाका ध्येय अत्यन्त व्यापक और उच्च है। आकृति, मुखमुद्रा और विविध गतिभंगियोंमें अन्तर न होने पर भी भावाभिव्यञ्जनामें मौलिक अन्तर है। शृंगारिक वातावरण रहनेपर भी निर्वेदकी अभिव्यक्ति होती है। अतः जैनचित्रकलाको राजपूत और गुजरात कलमका प्रतिफल न माननेपर भी कतिपय नवीनताएँ अवश्य निहित हैं।

जैनाचार्योंने अपने हाथोंमें जैनधर्मके सिद्धान्त और आख्यानोंको स्पष्ट करनेके लिए चित्रोंका निर्माण किया है तथा जैन राजाओंने अपनी कलाप्रियताका परिचय देनेके लिए लक्ष्मीका सदुपयोग कर मन्दिरों, गुफाओं और ग्रन्थोंमें कुशल चित्रकारों द्वारा अपने आम्नायके अनुसार चित्रोंका निर्माण कराया है। इस प्रकार धर्माश्रय पाकर जैनचित्रकलामें आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्योंकी अभिव्यञ्जना की गयी है।

## चित्रकलाके निर्देश

जैनचित्रकला भी बौद्ध चित्रकलाके समान प्राचीन है। उदयगिरि और खण्डगिरिकी गुफाओंमें ई० पू० प्रथम शतीकी चित्रकारी उपलब्ध होती है[3]। जैनागम ग्रन्थोंमें चित्रशालाओंके निर्देश उपलब्ध होते हैं। नायाधम्मकहाओमें धारणी देवीके शयनागारका वर्णन आया है। जिसमें प्रासादके अधोभागको लताओं, पुष्पवल्लियों और उत्तम चित्रोंसे अलंकृत करनेका निर्देश किया गया है।[4] इसी ग्रन्थमें मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवनमें एक रम्य चित्रशाला बनवाने-

---

१. भारतीय चित्रकला पृ० ३३।

२. Smith, History of fine art in India and Ceylon P. 133.
Percy Brown, Indian painting pp. 38, 51

३. Motichandra, jaina Miniature, Painting from western India, p. 10
—Umakant P. shah, studies in Jain Art p. 27.

४. अब्भितरओ पसत्तसुविलियचित्तकम्मे नाणाविहपंचवण्णमणिरयण कोट्टिमतले···।
—नायाधम्मकहाओ, पूना संस्करण, सन् १९४० ई०, पृ० ३; ११६।

का उल्लेख आया है। इस चित्रशालाकी भित्तियों पर हाव-भाव और विलासपूर्ण चित्राङ्कन किया गया था। इस सन्दर्भमें एक चित्रकारकी चित्रपटुताका कथन करते हुए बताया है कि उसे किसी भी प्राणी या वस्तुके एक अंग या अंशविशेषको देखकर उस प्राणी या वस्तुका सर्वाङ्गीण चित्र बनानेकी क्षमता प्राप्त थी। अपने इस कौशलका प्रदर्शन करनेके हेतु उसने राजकुमारी मल्लिका का पर्देके भीतरसे केवल पादाङ्गुष्ठ देखकर उसकी सर्वाङ्ग भावपूर्ण आकृति अंकित कर दी। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहन का चित्र चित्रशाला में देखा तो उसके मनमें चित्रकार और राजकुमारी के सम्बन्धमें संशय उत्पन्न हुआ। फलतः उसने चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। परन्तु जब जाँच-पड़तालके अनन्तर उसे यह मालूम हुआ कि यह केवल चित्रपटुताका परिणाम है, और कुछ नहीं तो उसकी कूंची तथा रंगों के बॉक्सको तोड़-फोड़कर उसे निर्वासित कर दिया।[1] इसी ग्रन्थमें मणियार श्रेष्ठि नन्दकी चित्रशालाका भी वर्णन आया है,[2] जिसमें काष्ठकर्म, पुस्तकर्म एवं लेप्यकर्म (मिट्टी के खिलौने) के उल्लेख भी प्राप्त हैं। बृहत्कल्प भाष्य एवं आवश्यक टीकामें चित्रकार, चित्रकला और चित्रशालाओं के सम्बन्धमें अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। इन संकेत स्थानोंके अध्ययन से बलपूर्वक कहा जा सकता है कि चित्रोंमें रंगसंयोजन के औचित्य के साथ भावोंकी सजीव अभिव्यक्ति पर भी ध्यान दिया गया है।

जैनवाङ्मयमें राजकुमार, राजकुमारियों, श्रेष्ठिपुत्रों एवं अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियोंकी शिक्षाके अन्तर्गत चित्रकला को प्रमुख स्थान दिया गया है। रविषेणाचार्यने अपने संस्कृत पद्मचरित (पद्मपुराण) में केकया या केकयीकी कलाशिक्षाके सन्दर्भमें उसकी चित्रकला पटुताका सुन्दर चित्रण किया है। बताया है कि केकयी शुष्क और द्रव दोनों प्रकारके चित्र बनाने में पटु थी। शुष्क चित्र नानाशुष्क और वर्जित भेदसे दो प्रकारके होते हैं। चन्दनादि द्रव पदार्थोंसे बनाये जानेवाले चित्र आर्द्रचित्र कहलाते हैं। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों द्वारा पृथ्वी जल तथा वस्त्र आदिके ऊपर चित्र सम्पन्न करना और आकृतियोंको भावपूर्ण सजीव चित्रित करना चित्राङ्कन पटुताके लिए अपेक्षित है[3]। चित्रोंके साथ पुस्तकर्म और भूतिकर्मकी शिक्षाका भी निर्देश किया है, ये दोनों कलाएँ भी चित्राङ्कनके निकट हैं। भूतिकर्मके अन्तर्गत बेलबूटा खींचना, सुई द्वारा कपड़ों पर विभिन्न पशु-पक्षियोंकी आकृतियोंका अंकन एवं काष्ठादि खण्डों पर रेखाकृतियोंका अंकन करना परिगणित है। पुस्तकर्मके तीन भेद हैं[4] क्षय, उपचय और संक्रम। लकड़ी, पत्थर आदि पदार्थोंको छील-छालकर खिलौने और चित्र तैयार करना क्षयजन्य पुस्तकर्म है। लकड़ी या अन्य किसी ठोस पदार्थपर मिट्टी या कपड़ा आदि लगाकर खिलौने तैयार करना उपचय जन्य पुस्तकर्म है। इस कलाके अन्तर्गत लकड़ी, हाथी दाँत एवं पाषाण की चित्रकारी भी ग्रहण की गयी है। साँचे आदि गढ़कर विभिन्न आकृतियोंका सम्पादन करना संक्रम जन्य पुस्तकर्म है। यह पुस्तकर्म यन्त्र, सच्छिद्र एवं निश्छिद्र आदिके भेदसे कई प्रकारका होता है। वैडूर्य, हीरक, मोती प्रभृति रत्नोंके ऊपर भी चित्राङ्कन किये जाते थे। इसी ग्रन्थके अन्य सन्दर्भोंमें भी चित्रकलाका उल्लेख आया है।

'वरांगचरितमें' जिनालयके विभागोंका वर्णन करते हुए चित्रशालाका कथन किया है[5]। जिनालयमें एक चित्रशाला रहती थी। रथोंको चित्रित करनेका भी निर्देश किया गया है[6]। आदिपुराणमें बताया गया है कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेवने अपने पुत्र अनन्तविजयको चित्रकलाकी शिक्षा दी थी[7]। इसी ग्रन्थमें वज्रजंघ और श्रीमतीके पटचित्रोंका भी वर्णन आया है। पण्डिता धाय श्रीमतीके पटको लेकर महापूत जिनालयकी चित्रशालामें पहुँची थी। श्रीमतीका चित्रपट कलाकी दृष्टिसे अपूर्व था। इसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई समानुपात प्रमाण थी। रस और भाव दोनोंही इस चित्रमें रमणीयता पूर्वक अंकित किये गये थे[8]। चित्रमें आकृतिके साथ अनेक गुप्त और रहस्यपूर्ण विषयोंका भी सन्निवेश किया गया था[9]। स्वयंप्रभाके जीवनवृत्तको बड़ी चतुराईके साथ निबद्ध कर विभिन्न भावावलियोंकी अभिव्यञ्जना की गयी थी। रेखाओंके सन्तुलनके साथ रंगों और अनुकूलभावोंका अंकन भी बड़ी कुशलताके साथ किया गया था। कपोलों और गण्डस्थलोंपरकी गयी चित्रकारी अनेक रहस्यपूर्ण आन्तरिक भावावलियोंको प्रकट करती थी।[10] हरिवंशपुराणमें केशरके रससे नाना प्रकारके चित्र बनाये जानेका निर्देश आया है। इस निर्देशसे चित्रकलाकी समृद्धिका आभास प्राप्त होता है।[11]

---

१. वही, पृ० १०६-१०७; ८।७८।
२. तए णं नदे पुरत्थिमिल्ले वणसंडे एगे महं चित्तसभं करावेइ २...चिट्ठंति। —वही, पृ० १४२; १३।६६
३. पद्मपुराण, भारतीयज्ञानपीठ काशी संस्करण, २४।३६-३७ ४. पद्मपुराण २४।३८-४०।
५. प्रेक्षासभावल्यभिषेकशालाः स्वाध्यायसंगीतकपट्टशालाः। —वरांग० २२।६७।
६. सुवर्णकक्षोपहितान् गजेन्द्रान् रथांश्च नानाकृतिचित्रवर्णान् ॥ —वही, २।५८।
७. अनन्तविजयायाख्यद् विद्यां चित्रकलाश्रिताम्। नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥ —आदिपुराण १६।१२१।
८. आ० पु० ७।११९-१२२। ९. वही, १६।१२२-१२६।
१०. कपोलफलके चास्याः फलिनीफलतालिपि। लिखन्यालेख्यरूपाणि नाट्यमत्र निदर्शितं ॥ —वही ७।१३४।
११. गुहाकाश्चित्ररूपाणि चिन्वते कौङ्कुमै रसैः। चित्रकर्मरता चित्रां स्वामाचिक्यासको यथा ॥ —हरिवंशपुराण ५१।४१।

## वर्गीकरण

चित्रकलाका वर्गीकरण विषय, शैली एवं कालक्रम आदिके आधारपर किया जाता है। परन्तु जैनचित्रकलामें धर्माश्रमकी प्रधानताके कारण उक्त प्रकारका वर्गीकरण सम्भव नहीं है। अतएव इसे निम्नलिखित विभागोंमें विभक्त कर सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जायगा।

१. गुहान्तर्गत भित्तिचित्र, २. चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र, ३. ताड़पत्र चित्र, ४. कर्गलचित्र, ५. पटचित्र, ६. धूलिचित्र, ७. फुटकर ललितचित्र, ८. काष्ठचित्र, ९. लौकिक चित्र।

## १. गुहान्तर्गत भित्ति-चित्र

ई० सन् के पूर्व भी गुफाओंमें जैनचित्राङ्कन पाया जाता है। मध्यप्रान्तके अन्तर्गत सरगुजा जिलेमें रामगिरि नामकी पहाड़ी है। इसकी प्रधान चौखटपर एक अत्यन्त सुन्दर भावपूर्ण चित्र अंकित है।[1]

ई० सन् ६००-६८५ के पल्लववंशीय राजा महेन्द्रवर्मके द्वारा निर्मित पदुकोटा स्थित सित्तन्नवासल्लीय गुहान्तर्गत भित्तिचित्र जैनकलाके अद्भुत निदर्शन हैं। यहाँके चित्रोंमें भाव आश्चर्य ढंगसे स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ बिल्कुल सजीव मालूम पड़ती हैं। समस्त गुफा कमलोंसे अलंकृत है। सामनेके खम्भोंको आपसमें गुंथी हुई कमलनालकी लताओंसे सजाया गया है। छतपर तालाबका दृश्य अंकित है, जिसमें हाथियों, जलविहंगमों, मछलियों, कुमुदिनी और पद्मोंकी शोभा निराली है। तालाबमें स्नान करते हुए दो व्यक्ति एक गौर और दूसरा श्यामवर्णके चित्रित किये गये है। इसी गुफाके एक स्तम्भपर एक नर्तकीका सुन्दर चित्र है, इस चित्रमें चित्रित नर्तकीकी भावभंगिमा अतीव सुन्दर है। नर्तकीके कमनीय अंगोंका सन्निवेश चित्रकारने बड़ी खूबीके साथ किया है। यह मंडोदक चित्र है। इस चित्रके सम्बन्धमें यह अनुमान किया गया है कि इसमें तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उनकी रानीको युगलके रूपमें चित्रित किया गया है।

इस गुफाका द्वितीय चित्र भी भावपूर्ण है।

एलोराके कैलाशनाथ शैव मन्दिरमें राजद्वार पर भट्टारक सम्प्रदायके जैनमुनिके किये जानेवाले स्वागतका चित्रण किया गया है। जैनमुनि पालकीमें आसीन है और इसमें पीछे चार व्यक्ति तथा आगे एक व्यक्ति लगा हुआ है, ये पाँचों पालकीको धारण किये हुए हैं। पालकी पर छत्र भी लगा है, पालकीके आगे पाँच योद्धा अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो चल रहे है। बाईं ओर स्वागतके लिए आती हुई सात स्त्रियाँ और उसी प्रकार सुसज्जित सात योद्धा दिखलायी पड़ते है। योद्धाओंके पीछे उपरकी ओर छत्र भी लगा हुआ है। स्त्रियाँ सिरोंके उपर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किये हुई हैं। उनकी वेश-भूषा दक्षिणी है। इस चित्रमें चित्रित मुखाकृतियाँ, नेत्र, श्मश्रु एवं केशविन्यास आदि सजीव और आकर्षक है। एलोराके इन्द्रसभा[2] नामक शैलमन्दिरमें भी रंगीन भित्तिचित्रोंके चिह्न विद्यमान हैं। पर समयके प्रभावके कारण ये छिन्न-भिन्न और धुँधले हो गये है, जिससे उनके इतिवृत्तको उपस्थित करना शक्य नहीं।

## २. चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र

१०-११ वीं शतीके दक्षिण भारतके जैनमन्दिरोंकी भित्तियों पर चित्रकलाके सुन्दर नमूने उपलब्ध होते हैं। तिरूमलाईके एक जैनमन्दिरमे आकाशमें मेघोंके बीच उड़ते हुए किंपुरुष और देव दिखलाये गये हैं। देव पंक्तिबद्ध होकर समवसरणकी ओर जा रहे हैं; साथमें गन्धर्व और अप्सराएँ भी हैं। एक देव पुरुषोंके बीचमें स्थित है श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएँ पंक्तिबद्ध अवस्थित हैं। एक चित्रमें दिगम्बर मुनि आहार देने वाली महिलाको धर्मोपदेश देते हुए चित्रित किये गये है। एक अन्य चित्रमें परस्पर सम्मुख बैठे हुए दो मुनिराज चित्रित है। एक देव त्रिनेत्र और चतुर्भुज अंकित है। ये सभी चित्र काली भित्ति पर नाना रंगोंसे बनाये गये है। रंगोंकी चटक अजन्ताके चित्रोंके समान है। व्यक्तियोंकी नाक और ठुड्डीका अंकन कोणात्मक है और एक आँख मुखाकृतिसे बाहर की ओर निकली हुई है। मूडबिद्रीके चन्द्रनाथ चैत्यालयके खम्भों पर कमल तथा अन्य प्रकारकी नक्काशी की गयी है, जिससे प्राचीन कलाभिरुचिका परिज्ञान होता है। श्रवणबेलगोलाके जैनमठमें भित्तिके ऊपर पार्श्वनाथ समवसरणका चित्रण किया गया है। नेमिनाथकी दिव्यध्वनिका भी चित्रण सुन्दरता पूर्वक सम्पन्न हुआ है। लेश्याचित्र भी सुन्दर हैं, फलसे लदे वृक्षके नीचे छः व्यक्तियोंको खड़ाकर चित्रकारने उनकी भावनाओंका स्पष्ट चित्रण किया है। इस मठके चित्रोंमें अन्य कई धार्मिक उपदेशोंके दृष्टान्त प्रदर्शित किये गये हैं। एक मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर ( तृतीय ) के दशहरा दरबारका चित्र अंकित है[3]। इस चित्रमें सामन्ती प्रथाओंका स्पष्ट अंकन पाया जाता है।

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये—विशाल भारत नवम्बर, १९४७—'जैनाश्रित चित्रकला' शीर्षक निबन्ध।

२. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० ३६४। ३. वही, पृ० ३६५।

## ३ ताड़पत्र-चित्र

११ वीं शतीके उपरान्त भित्ति चित्रोंने पाण्डुलिपियोंका स्थान ग्रहण किया। फलतः पाण्डुलिपियाँ सचित्र तैयार होने लगीं। पाण्डुलिपियोंके चित्रणकी दो प्रणालियाँ हैं—प्रथम प्रणालीमें चित्रों द्वारा विषयको समझानेका प्रयास किया गया है और द्वितीय प्रणालीमें ग्रन्थके सौन्दर्य वृद्धिके लिए या अन्य हृदयगत भावनाओंको स्फुट करनेके लिए चित्रोंका अंकन किया जाता है। ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारतके मैसूर राज्यान्तर्गत मूडबिद्री एवं उत्तर भारतमें पाटन (गुजरात) के ग्रन्थागारोंमें पायी गई हैं। षट्खण्डागमकी ताडपत्रीय प्रतियाँ मूडबिद्रीमें उपलब्ध हुई है। धवलाकी ई० सन् १११३ के आस-पासकी प्रतिके पाँच ताड़पत्र सचित्र हैं। इनमेंसे दो ताड़पत्र तो पूरे चित्रित हैं, दो के मध्य भागमें लेख हैं और दोनों ओर चित्र हैं तथा एक पत्रके दोनों किनारों पर चक्राकृतियाँ बनी हुई हैं। जिन पत्रोंके मध्यमें लिपि और दोनों ओर चित्र हैं, उनमेंसे प्रथम पत्र पर बेलबूटे और गोल आकृतियाँ हैं। परन्तु दूसरे पत्रमें दाईं ओर खड्गासन नग्न मूर्त्तियाँ हैं, जिनके सम्मुख दो स्त्रियाँ नृत्यकी भावमुद्रामें स्थित हैं। इनके केशोंका जूड़ा चक्राकार और पुष्पमालासे युक्त है तथा उत्तरीय दाहिनी कंधेके नीचे और बायेंके ऊपर फैला है। पत्रके बायीं ओर पद्मासन जिन मूर्त्ति है। सिंहासन पर पशुओंके चित्र बने हुए हैं। मूर्त्तिके दोनों ओर दो मनुष्य चित्रित हैं उनके पार्श्वमें एक खड्गासन और दूसरी कमलासीन हँसयुक्त देवीकी मूर्तियाँ हैं। पूर्णतः चित्रित पत्रोंमें पद्मासन जिनमूर्ति और उसके दोनों ओर खड़े देव, चमर, चक्रोंकी आकृतियाँ चित्रित है। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक चतुर्भुजी देवीकी भद्रासन मूर्त्ति चित्रित है। दोनों किनारोंके चित्रोंमें गुरु अपने सम्मुख हाथ जोड़कर बैठे हुए श्रावकोंको धर्मोपदेश दे रहे हैं। द्वितीय पत्रके मध्य भागमें पद्मासन जिनमूर्त्ति और उनके दोनों ओर सात-सात साधु नाना प्रकारके आसनों पर विभिन्न हस्तमुद्राओंमें आसीन हैं। इन चित्रोंपर दाक्षिणात्य चित्रकलाका पूर्ण प्रभाव हैं।[1]

दक्षिणकी चित्रकलामें श्री जैनसिद्धान्तभवन, आरामें स्थित तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसारकी ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ भी चित्र कलाकी दृष्टिसे गणनीय हैं। इन दोनों प्रतियोंमें मन्दिर, सुमेरु, लोक, अधोलोक, उर्ध्वलोक; कमल, मृदंग, वीणा आदिके सुन्दर चित्रण अंकित हैं। चित्रकारने कूंचीके स्थान पर लौह लेखनीको स्थान दिया है। खचित चित्रोंमें केवल काले रंगका ही उपयोग किया गया है। मन्दिरका चित्र कई आकृतियोंमें प्राप्य है, शिखरका घंटा सहित चित्रण किया है। मन्दिरमें प्रवेश करते ही जन समूहके अतिरिक्त देव और अप्सराएँ नृत्यमुद्रामें परिलक्षित होती हैं। त्रिलोकसारमें संदृष्टियोंको चित्रोपम शैलीमें अँकित किया गया है। प्रायः प्रत्येक पत्रके मध्य भागमें चित्राङ्कन है। हांसिये पर कमल या चक्रकी आकृतियाँ अंकित हैं। गोलस्तम्भ, मृदंगके चित्र सजीव हैं। इन दोनों ग्रन्थोंकी चित्रशैली दक्षिण भारतकी है। चित्रोंमें आज भी ताजगी है; इनकी रेखाएँ एवं मध्य भागका घुमावदार वलय विशेष रूपसे रमणीय है।

पाटनके संघवी-पाडाके ग्रन्थागारकी निशीथ-चूर्णिकी ताडपत्रीय प्रति ( ई० १०९४–११४३ ई० ) अलंकरणात्मक चित्रोंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। खम्भातके शान्तिनाथ जैनमन्दिरमें स्थित णायाधम्मकहाओ ( सन् ११२७ ई० ) की प्रतिमे तीर्थंकर महावीरका पद्मासन चित्र चमरवाहकों सहित उल्लेख्य है। इसी प्रतिमें चतुर्भुजी सरस्वतीदेवीका त्रिभंग चित्र सुन्दर हैं। देवीके ऊपरके दोनो हाथोंमें कमलपुष्प तथा निचले हाथोमें अक्षमाला और पुस्तक हैं। पासमें हंस भी चित्रित है। देवीकी मुखछवि, अंगोंका हाव-भाव और विलास पूर्ण अंकन विशेषरूपसे श्लाघ्य है।

बड़ौदाके अन्तर्गत छाणीके ग्रन्थागारकी ओघनिर्युक्तिकी ताड़पत्रीय ( सन् ११६१ ई० ) प्रतिके चित्र उल्लेखनीय हैं।

सुबाहुकथासंग्रह ( १२८८ ई०) की पाण्डुलिपिमें २३ ताडपत्र-चित्र हैं,[2] जो सभी महत्त्वपूर्ण हैं।

## ४. कर्गलचित्र

कर्गलीय सचित्र पाण्डुलिपियोमें सबसे प्रसिद्ध कल्पसूत्रकी प्राचीन पाण्डुलिपि है। इसमें ३१ चित्र है और उसीके साथ जुड़ी हुई कालकाचार्य कथामें अन्य १३ चित्र हैं। प्रतिके हासियोंपर अलंकरण किया गया है। इनमें हाथियों हंस-पंक्तियों, पुष्प पंक्तियों एवं कमल-पंक्तियोंके चित्रांकन सुन्दर हैं। पाटन भण्डारकी सुपासणाहचरियं (सन् १४२२ई०) की प्रति में ३७ चित्र है, इनमें ६ पूरे पत्रोमें और शेष पत्रोंके अर्ध एवं तृतीय भागमें चित्र अंकित हैं। इन चित्रोंमें सरस्वती मातृस्वप्न, विवाह, समवशरण, देशना आदिके चित्र सुन्दर हैं। बड़ौदाके नरसिंहजी ज्ञानभण्डारकी कल्पसूत्र (वि० सं० १५२२) की प्रतिमें ८ चित्र है, इसमें ऋषभदेवका राज्याभिषेक, भरत बाहुबलि-युद्ध, माताके स्वप्न, कोशाका नृत्य आदिके दृश्य

१. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० ३६६।
२. Motichandra: Jaina Miniature Painting from western India, Ahamdabad, 1949, PP. 15–30

चित्रित हैं। आकृतियोंमें पश्चिमीय शैली परिलक्षित होती है। अहमदाबादके देवसेन पाड़ाकी कल्पसूत्रकी प्रतिमें २५ चित्र हैं, इन चित्रोंमें नाट्यशास्त्रमें वर्णित विविध नृत्यमुद्राओंका अंकन पाया जाता है। एक चित्रमें चण्डकौशिक सर्पको तीर्थंकर महावीर उपदेश देते हुए अंकित किये गये हैं। इन चित्रोंपर ईरानी और मुगल शैलीका प्रभाव है।

जैनसिद्धान्त भवनमें जैन रामायण, भक्तामर, समवशरणपूजा, त्रिलोकसारपूजा आदि कई कर्गलीय पाण्डुलिपियाँ सचित्र हैं। जैन रामायणमें प्रत्येक पृष्ठ पर कथांश है, उसे चित्रों द्वारा व्यक्त किया गया है। समस्त राम कथा चित्रोंमें है, चित्रोंकी संख्या लगभग २०० है। सभी चित्रोंकी अनुपम कला है; वस्त्र, आभूषण एवं उपकरणोंके अंकनमें सूक्ष्मकला-का परिचय दिया गया है। अलंकरणके लिए पृष्ठ संख्या भी चित्रोंमें ही अंकित की गयी है। मोर, मृग, सिंह, अश्व, कमल, चक्र आदिके चित्र सूक्ष्म तूलिका द्वारा स्वर्ण रंगसे चित्रित किये गये हैं। चित्रोंमें मुँहपर पट्टी बाँधे हुए साधु भी चित्रित हैं, जिससे स्थानकवासी सम्प्रदायकी मान्यताओंका परिचय प्राप्त होता है।

भक्तामरकी प्रतिमें ५२ चित्र हैं। ४८ काव्यों पर आधृत ४८ चित्र हैं और शेष चारचित्रोंमें जन्माभिषेकका चित्र सुन्दर है। भगवान् आदिनाथका पाण्डुकशिला पर अभिषेक सम्पन्न किया जा रहा है। इन्द्र, उपेन्द्र, देव, मनुष्य, नारियाँ, अप्सराएँ अपनी विविध वेश-भूषामें चित्रित की गई हैं। अंग-प्रत्यंगका चित्रण बहुत ही स्पष्ट कला पूर्ण ढंगसे सम्पन्न हुआ है। इस चित्रमें कलश, हाथी पर भगवान्का जुलूस एवं अगणित नर-नारियोंका आवागमन चित्ताकर्षक है। एक चित्रमें भगवान् आदिनाथका वैराग्य चित्रित किया है। वैराग्यका दृश्य और नीलाञ्जनाका विलयन कलात्मक है। समव-शरण और त्रिलोकसार पूजाओंमें मुनिराज, तीर्थंकर, धर्मोपदेशसभा, अभिषेक यात्रा आदिके चित्र सुन्दर है। पूजाविधि-योंके भी चित्र दिये गये हैं। वेदिकाओं पर मण्डनविधि भी अंकित है।

दिल्लीके शास्त्रभण्डारमें पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश महापुराणकी सचित्र पाण्डुलिपि है। इसमें तीर्थंकरोंकी जीवन-घटनाओंसे सम्बद्ध सैकड़ों चित्र हैं। नागौर एवं जयपुरके ग्रन्थागारोंमें यशोधरचरितकी सचित्र पाण्डुलिपियाँ है। नागौरकी प्रतिके चित्र कलाकी दृष्टिसे विशेष मनोरम है। जयपुरके भण्डारोंमें और भी कई सचित्र पाण्डुलिपियाँ हैं, जिनका परिचय डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवालने इसी ग्रन्थमे अन्यत्र प्रस्तुत किया है। नागपुरके ग्रन्थागारकी सुगन्धदशमी कथा की सचित्र पाण्डुलिपि, जिसका प्रकाशन चित्रों सहित भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे हो चुका है, उल्लेख्य है। इसमें ६७ चित्र है, इनके रंग चटकीले है। नर-नारियोंकी आकृतियाँ सावधानी पूर्वक अंकित की गई है। वेश-भूषामे पुरुषोंकी पगड़ियाँ छज्जेदार है और चोगे टिहुनों तक लटकते है। चित्रोंका समय ई० सन् १८ वीं शती है और इनकी तुलना जैनसिद्धान्त भवनके भक्ता-मरके चित्रोंसे की जा सकती है। राजपूत और मुगलकलाका समन्वित रूप इनमें पाया जाता है। इन चित्रोंमें द्वितीय चित्र हंसवाहिनी चतुर्भुजी शारदाका है। इसके दो हाथोंमें वीणा है, तीसरा हाथ वीणाके तारोंपर है और चौथा ऊपरको उठा है। देवीके पीछे चामर ग्राहिणी मुद्रामें अनुचरी है, जिसके बायें हाथमें आरती है। सम्मुख लालरंगका चोगा पहने एक पुरुष उनकी आराधना कर रहा है। इन चित्रोंमे आठवाँ चित्र कथा प्रारम्भकी पृष्ठभूमिके रूपमें आया है। इसमें हरे रंगकी पृष्ठभूमिके मण्डपके नीचे मुनि विराजमान हैं, उनके सामने राजपुरुष हाथ जोड़े खड़ा है। मन्दिरकी गुम्बज लालरंग की है और नीचे बेंगनी रंगका वितान है। मुनि गौरवर्णके हैं, उनके हाथमें पीछी और सामने कमण्डलु है। राजाका अंगरखा गहरे लाल रंगका है। चित्रके निचले भागमें रानी एक ओर कड़वी तूंबी लिये स्थित है, सामने काटनेके लिए औजार रखा है और दूसरी ओर रानी मुनिको उसका आहार करा रही है। चित्रकी पृष्ठभूमि लालरंगकी है और ऊपर बैगनी रंगका वितान है। इस चित्रके आगे समस्त कथावस्तु चित्रोंमें अंकितकी गयी है। भावनाएँ सम्यक् रूपमें व्यक्त हुई हैं। श्री डॉ० हीरालालजी जैनने प्रकाशित प्रतिमे चित्रोंका परिचय भी प्रस्तुत किया है।

## ५. पटचित्र

पटचित्रोंका उल्लेख आदिपुराण, हरिवंशपुराण और पद्मपुराणमें आया है। प्रेमी, प्रेमिकाएँ अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिए चित्रपट ( कपड़े पर चित्र ) बनाकर अपने अनुचरोंको पटचित्र सहित जिनालयोंमें भेजती थीं। अतः पटचित्र बनानेकी परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। श्री अगरचंद नाहटाके संग्रहमें चिन्तामणि नामक एक पटचित्र साढे उन्नीस इंच लम्बा और साढ़े सत्तरह इंच चौडा वि० सं० १४१० का है! इसमें पद्मासन पार्श्वनाथ, धरणेन्द्र और पद्मावती सहित चित्रित हैं। एक पटचित्र साराभाई नबाबके संग्रहमे और दूसरा डा० कुमारस्वामी के संग्रहमे भी है। इन पटोंकी चित्रकला सामान्य है, इनका उपयोग मन्त्र साधना या अन्य प्रकारकी उपासनाके लिए किया जाता था।

## ६. धूलिचित्र

धूलिचित्रके अन्तर्गत पूजा-पाठोंके माड़ने, चौक पूरने, यन्त्र निर्माण करने एवं चावलके पुञ्जों द्वारा साथिया या

अन्य प्रकारकी आकृति बनानेकी कला है। जैनसिद्धान्त भवन आराके ग्रन्थागारमें इन्द्रध्वज पाठके अन्तमें तथा दशलक्षणादि व्रतोद्यापनके अन्तमें अनेक प्रकारके माड़नोंके चित्र दिये गये हैं। दशलक्षण व्रतोद्यापनके समय तीन प्रकार के माड़ने बनाये जाते हैं—प्रथम प्रकारके माड़नेमें गोलाकार दस वलय बनाये गये हैं, प्रत्येक वलयमें दस-दस आठ पांखुडीके मनोरम कमलोंके चित्र हैं। कमल नीले, पीत, रक्त और गुलाबी रंगके बनाये गये हैं। कमलोंके मध्यमें बनी कर्णिकाएँ स्वर्णिम वर्ण की हैं और उनमें पीतपराग दिखलाया गया है। दूसरे प्रकारमें गोल आकृतिके दस बिन्दु एक ही घेरेमें चित्रित किये गये हैं, मध्यमें एक पाण्डुक शिला अथवा छोटे आकारकी वेदी चित्रित है। वेदिकाके ऊपर तीर्थंकर प्रतिमा चित्रित है, जिसके ऊपर छत्र, पृष्ठ भागमें प्रभावलय, वाम पार्श्वमें चमर और दक्षिणपार्श्वमें यक्ष-यक्षिणीके चित्र हैं। तीसरे प्रकारमें एक कलशके ऊपर कोई गोल स्थायीके आकारकी वस्तु है, जिसपर सिंहासनका चित्र है, सिंहासनपर तीर्थंकरकी नीलवर्णकी प्रतिमा चित्रित है। प्रतिमाके ऊपर छत्रत्रय सुशोभित है, छत्रत्रयको स्वर्णिम रंगसे चित्रित किया गया है। इसी ग्रन्थमें ढाई द्वीप, तेरह द्वीप एवं त्रिलोकके रंगीन चित्र भी अंकित है। ये चित्र भी माड़ने तैयार करनेके हेतु नक्शेके रूपमें अंकित किये गये है। चित्रोंकी चमक और चटक ताजी है, रंगोंका संयोजन उचित रूपमें किया गया है। षोड़शकारण व्रतके उद्यापनके माड़ने भी तीन-चार प्रकारके बनाये गये है। इन माड़नोंमें कमलोंकी विभिन्न आकृतियाँ दर्शनीय हैं षोड़शदल और अष्टदल गुलाबी रंगके दिखलाये गये है, वास्तवमें ये सब माड़ने बनानेके माडल चित्र हैं। इन माड़नोंको चावल और रंगसे बनानेकी प्रक्रिया वर्णित हैं। त्रिलोकाकृतिमे अधोलोकका चित्रण विभिन्न रंगोंके संयोगसे चित्रभूमिको पंचरंगीरूपमें अंकित कर किया है। प्रत्येक भूमिका पृथक्-पृथक् रंग दिखलाया है, रत्नप्रभा भूमिकी कान्ति गहरे-हरे नीले और पीलेरंगसे निर्मित की गयी है। शर्करा प्रभाको भूरे और मटमैले रंगोंके मिश्रणसे चित्रित किया है। बालुकाप्रभा भूमिको हल्के पीत-श्वेत वर्णके मिश्रणसे; पंकप्रभाको श्वेत-कृष्ण वर्णके मिश्रणसे; धूमप्रभाको गहरे कृष्णवर्णसे और महातमको कृष्ण-नीलवर्णके संयोगसे बनाया गया है। यह मांड़ना चित्रकलाकी दृष्टिसे पर्याप्त आकर्षक है।

## ७. फुटकर ललित चित्र

फुटकर ललित चित्रोंके अन्तर्गत रथयात्रा जुलुस, सभाओंके शास्त्रार्थ सन्दर्भ, तीर्थंकरों या अन्य महापुरुषोंकी बारात, दीक्षाकल्याणक, समवशरण प्रभृतिके चित्र आते हैं। जैनसिद्धान्त भवन आरा के ग्रन्थागारमें एक "जैन चित्र पुस्तक संग्रह" है, जिसमें लगभग १३५ चित्र संग्रहीत है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथकी वरयात्राका चित्र बहुत ही सुन्दर है। नेमिनाथके जीवनवृत्त सम्बन्धी अन्य चित्र भी उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा शंख वादनका दृश्य तथा गिरनार पर्वत पर उनके द्वारा तपश्चरण किये जानेका निर्देश सम्बन्धी चित्र भी कलाकी दृष्टिसे श्लाघ्य है। समवशरण भूमिमें आकाशमार्गसे आनेवाले विद्याधर, कल्पवासी देव और ज्योतिषीदेवोंके चित्र और उनके विमानोंके चित्राङ्कन सुन्दर है। आकृतियोंमें चित्रकारने अनुपातका पूरा ध्यान रखा है। अष्टमंगलद्रव्य और माताके सोलह स्वप्नोंके चित्र फुटकर रूपमें पृथक्-पृथक् पृष्ठोंपर अंकित हैं। मयूर, अश्व, मृग, हँस, सिंह, वृषभ, वृक्ष, लताएँ, सरोवर, कमल युक्त सरोवर, जलपूर्ण सरोवर, जल रहित अथवा शुष्क सरोवर, अग्निज्वाला एवं रत्नराशिके चित्र विशेष महत्वके हैं। मुनियों, तीर्थंकरों, क्षातभूमियों, जिनालयों एवं नन्दीश्वर द्वीपके चित्र भी सुन्दर हैं। जैनसिद्धान्तभवनके प्रांगणमें एक समवशरणका साङ्गोपाङ्ग चित्र है, दूसरा माताके सोलहस्वप्नोंका, तीसरा चन्द्रगुप्तके स्वप्नोंका और चौथा पावापुरीके जलमन्दिरका चित्र है। यद्यपि ये चित्र आधुनिक ही हैं, पर अतीव सुन्दर है और मुगल कलाका चरम निदर्शन हैं।

## ८. काष्ठ चित्र

जैनशास्त्रभण्डारोंमें काष्ठके ऊपर भी चित्र अंकित किये जानेके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। काष्ठपट्टियाँ ताडपत्रों की प्रतियोंको सुरक्षित रखनेके लिए बनायी जाती थीं। एक २७ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा काष्ठ चित्र मुनि जिनविजय जीको जैसलमेरके ज्ञानभण्डारसे प्राप्त हुआ है। इस काष्ठके मध्यमें जैनमन्दिरकी आकृति है, जिसमें जिनमूर्तिके दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर कोष्ठकमें दो उपासक अंजलिमुद्रामें स्थित हैं, दो व्यक्ति डिंडिम बजा रहे हैं और दो नर्तकियाँ नृत्य कर रही हैं। ऊपरकी ओर आकाशमें एक किन्नरी उड़ रही है। बायें प्रकोष्ठमें तीन उपासक हाथ जोड़े खड़े है और एक किन्नर आकाशमे उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्रके दोनों ओर व्याख्यान सभाएँ हो रही हैं। एक सभामें आचार्य जिनदत्तसूरि विराजमान है और उनके सम्मुख पं० जिनरक्षित अवस्थित है। इसमें अन्य उपासक और उपासिकाएँ भी है। दाहिनी ओरकी भाषण सभामें जिनदत्त गुणचन्द्राचार्यसे विचार-विमर्श कर रहे है। जैसलमेरके भण्डारमें ३० इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा एक और काष्ठचित्र है, जिसमें वादिदेवसूरि और कुमुदचन्द्रके बीच हुए

शास्त्रार्थ सम्बन्धी घटनाओंको चित्रित किया गया है। सारा भाई नवाबके संग्रहमें १२ वीं शतीका ३०" × २३" काष्ठचित्र है, जिसमें भरत और बाहुबलीके युद्धका चित्र अंकित किया गया है। इसमें गज, सिंह, कमल आदिके सुन्दर चित्र हैं। वि० सं० १४५६ की सूत्रकृताङ्ग वृत्तिकी ताड़पत्रीय प्रतिका २७३" × ३" का काष्ठचित्र है, जिसमें महावीरकी जीवन घटनाएँ अंकित है। वि० सं० १४२५ मे लिखित धर्मोपदेश मालाका ३५३" × ३३" का काष्ठचित्र है, जिसमें पार्श्वनाथकी जीवन घटनाएँ चित्रित है।

## ९. लौकिकचित्र

जैन शास्त्रभंडारोंमें कुछ ऐसे चित्र भी उपलब्ध है, जो धार्मिक क्षेत्रसे बाहर केवल स्वच्छन्द हास-विलास, मनोविनोद, निर्बन्ध, रसक्रीड़ा एवं उन्मुक्त आत्माभिव्यक्तिके क्षेत्रमें अपने सौन्दर्यसे जनमनको आप्लावित करते है। ऐसे चित्र जैनकलाकारोंकी कूँचोंके ही प्रतिफल है। जैनसिद्धान्त भवन, आरामें एक 'नेत्र स्फुरण' चित्र है, जिसमें बड़ी ही बारीकीसे भौंह, पुतलियों, तारिकाओं एवं पलकोंके चित्राङ्कन किये गये है। कलाकी दृष्टिमें यह चित्र बहुत ही सुन्दर है। पाँच प्रकारके रंगोंका उपयोग किया गया है और 'नेत्र स्फुरण' शीर्षक देकर शकुनोंका विश्लेषण किया है। इस चित्रके अतिरिक्त अन्य आठ-दस चित्र पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, नर्तकियों एवं बेलबूटोंके है, इस प्रकारके चित्रोंमें 'नवग्रह' सम्बन्धी चित्र भी उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार जैनचित्रकला सर्वाङ्ग पूर्ण है। अभी तक समस्त ग्रन्थागारोंका अन्वेषण न होनेसे सम्पूर्ण तथ्य सामने नही आ पाये है। उपलब्ध चित्रोंकी निम्नलिखित सौन्दर्य सम्बन्धी विशेषताएँ दृष्टव्य है :—

१. रूप, रंग, आकार और सज्जाका समन्वयन।
२. धार्मिक भावनाओंकी सफल अभिव्यक्ति।
३. भक्तोंके द्वाराकी जानेवाली भक्तिका साङ्गोपाङ्ग रूपाङ्कन।
४. प्राचीन सम्बन्धों और धारणाओंका प्रस्तुतीकरण।
५. पृष्ठभूमियोंका अलंकरण।
६. अन्तर्वृत्तियोंका उद्‌घाटन।
७. आख्यान सम्बन्धी चित्रोंमें प्रणयलीलाओं, नाना प्रकारके संवेदनों एवं विविध प्रकारकी मनोदशाओंकी अभिव्यञ्जना।
८. कमल पंखुडियोंकी मृदुलता और कमनीयताका यथार्थ अंकन।
९. भावोंका चित्रण और तदनुकूल रसोंका सृजन।
१०. स्थित-जनित लघुताका गतिशील रेखाओं द्वारा मूर्तीकरण।
११. हाथोंकी मुद्राओं और आँखोंकी चितवनोंसे हृदयगत विभिन्न भावनाओंका चित्रण।
१२. अटूट, प्रवाहमय और भव्य रेखाओं द्वारा सजीव, सशक्त और सौन्दर्यपूर्ण अंकन।
१३. रूप भावना और आकृति सौन्दर्यका औचित्य।
१४. अंगुलियोंकी गति एवं विभिन्न हस्तमुद्राओं द्वारा विनय, दान, आशा, निराशा प्रभृतिकी अभिव्यक्ति।
१५ भवन, पशुओं और मनुष्योंके आलेखमें सजीवता।

# भारतीय मूर्त्तिकलाके विकासमें जैनोंका योगदान

कवि श्री नीरज जैन, सतना

## कलावशेषोंपर विहंगम दृष्टि

हमारे देशमें मूर्तिकलाके अवशेष तथा प्रमाण आजसे सवा दो हजार वर्ष पूर्व—तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व—से मिलना प्रारम्भ होते हैं। इसी समयसे ही हमें जैन स्थापत्य तथा मूर्तियाँ भी बड़ी संख्यामें प्राप्त होती हैं[1]। अवशेषोंमें यहाँ हम तीन हजार वर्ष ईसा पूर्वके हरप्पा तथा मोहन जो-दडोके अवशेषों की गणना नहीं कर रहे हैं क्योंकि अभी तक उस कलाका न तो पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ा जा सका है और न उस कालकी लिपि ही पढ़ी जा सकी है[2]। फिर भी देश की उस 'सिंधु घाटी सभ्यता' नामक प्राचीनतम सभ्यताके उपलब्ध अवशेषों पर भी यदि हम विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि पशुओंमें एक विशाल स्कंध युक्त वृषभका अंकन तथा एक जटाधारी योगीका अंकन[3] वहाँ प्राप्त हुए हैं। यह बुद्धके जन्मसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की निर्मिति है अतः वृषभ तथा जटा जूटके कारण हम उसे प्रथम जैन तीर्थंकर आदि नाथका अंकन अनुमान कर सकते हैं। इन अवशेषोंमें जो मूर्तिखण्ड प्राप्त हुए हैं, उनमे एक टोरसो (सिर विहीन मूर्तिखण्ड) दिगम्बर भी प्राप्त हुआ है जो खड्गासन है तथा स्पष्ट ही जैन मूर्तिसे मिलता जुलता है।

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्वके कालको, यदि हम, वर्तमान प्रमाणोंके अनुसार, भारतीय मूर्ति कलाके उद्भवका प्रारम्भ मानें[4] तो हमें ज्ञात होता है कि भारतीय मूर्ति कलाके उद्भव और विकासकी इस यात्रामें जैन कलाकारोंका उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण योगदान प्रारम्भसे ही रहा है। और भारतीय मूर्ति कलाकी कोई ऐसी परम्परा या कोई ऐसी विधा नहीं है, जिसका सम्पूर्ण और सही प्रतिनिधित्व जैन कलावशेषोंमें प्राप्त न होता हो। यह बात केवल विविधता पर ही नही, बहुलता पर भी लागू होती है। उत्तर से दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम तक प्रायः समस्त देशमें प्रायः प्रत्येक कालका प्रतिनिधित्व करने वाले जैन शिल्पावशेष इतनी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हैं कि उनके माध्यमसे भारतीय मूर्तिकलाका सर्वांगीण अध्ययन किया जा सकता है; नागरी लिपिके क्रमिक विकासका अध्ययन किया जा सकता है, गुर्वावली तथा गच्छ और गण परम्परामें अनेक नये नाम जोड़े जा सकते हैं और जैन कथा साहित्य के कतिपय सर्वथा नवीन आख्यानोंका उद्घाटन किया जा सकता है। यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि 'पत्थरोंसे सिर टकरा कर' इन उपलब्धियोंकी प्राप्तिके लिये जो अध्यवसाय और श्रम किया जाना चाहिए उसका शतांश भी अभी नहीं किया गया है।

यही स्थिति अप्रकाशित जैन साहित्य तथा अप्रसिद्ध जैन चित्रकलाकी भी है। साहित्यमें तो मेरी गति नहीं है पर इतना मैं कह सकता हूँ कि 'सित्तन्न वासल्ल' के जैन मन्दिरों की अनुपम चित्रकारी, एलौरा की जैन गुफा इन्द्र सभा-की विस्मृतप्राय चित्रसम्पदा और 'जिन कांची' आदि अनेक स्थानोंकी जैन चित्रकला जब प्रकाशमें लाई जायगी तब, भारतीय चित्रकलाका इतिहास नये सिरेसे लिखनेकी आवश्यकता पड़ेगी। इस लेखमें केवल मूर्त्तिकलाका ही संक्षिप्त परिचय देकर मुझे संतोष करना है।

## मौर्य एवं शुंग काल

भारत पर सिकन्दर महान्‌के आक्रमण (३२६ ईसा पूर्व) के उपरान्त उत्तर भारतमें प्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य स्थापित हुवा। इस साम्राज्यका सबसे प्रतापी राजा सम्राट् अशोक (२७३-२३२ ईसा पूर्व) हुआ। अशोक यद्यपि बौद्ध

१. उड़ीसा की खण्डगिरि गुफाएं तथा मथुरा के कंकाली टीला के अवशेष।
2. "Some Survivals of the Harappa Culture" by T. G. Aravamuthan. Page 1. तथा— भारतीय कलाको बिहारकी देन (डा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह) पृष्ठ ३६।
3. Some Survivals of the Harappa Culture. 55.
४. Classical Indian Sculpture by Chintamoni Car.

धर्मानुयायी था परन्तु जीवनके अन्त समयमें उसके द्वारा जैनधर्म अंगीकार कर लिये जानेके उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं। जैनधर्म, साहित्य और कलाको अशोकका संरक्षण प्राप्त होनेका भी उल्लेख आता है।[1] अशोकके पौत्र सम्प्रतिने तो न केवल जैनधर्म धारण किया वरन् देश भरमे तथा देशके बाहर अफगानिस्तान तक उसका प्रचार भी किया। बिहारमें जो इतिहास प्रसिद्ध जैन राजा हुए, उनमें श्रेणिक ( बिम्बसार ), अजातशत्रु, चेटक, जितशत्रु, नन्दवर्द्धन, चन्द्रगुप्त और सम्प्रतिके नाम उल्लेखनीय हैं।[2]

यद्यपि इस कालमें बौद्ध मठ, बिहार, स्तूप, और स्तम्भ ही अधिकतर निर्मित किये गए तथा जैन और शैव निर्माण बहुत अल्प ही हुए परन्तु फिर भी इस कालके जैन कलाके कुछ बहुत शानदार अवशेष खण्डगिरि, उदयगिरिकी गुफाओंमें, बिहारमें पटनाके आस पास, तथा मथुरामें प्राप्त किये गए हैं। खण्डगिरि उदयगिरिको जैन गुफाओंका निर्माता सम्राट् खारवेल अशोक की ही तरह महान् प्रतापी, धार्मिक और यशस्वी सम्राट् था। हाथी गुफाके शिलालेखके अनुसार सम्राट् खारवेलने अपने राज्यके बारहवें वर्षमें मगध पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और भगवान् जिनेन्द्र की वह प्रसिद्ध प्रतिमा पुनः प्राप्त की जिसे कभी राजा नन्द उठाकर लाया था और जो "कलिंग जिन" नामसे प्रसिद्ध थी।[3] इस प्रकार ईसाके बहुत पहिले जैन मूर्तियोंका न केवल अस्तित्व सिद्ध होता है बल्कि उनकी लोक प्रसिद्धि भी सिद्ध होती है।

जैन कलाकार इस कालमें अपने आराध्य तीर्थङ्करोंकी एक-से-एक मनोज्ञ और सुन्दर मूर्तियाँ बनाने लगे थे। यद्यपि वैदिक पीठ और तोरण पूजाके माध्यमोंका अंकन मथुराके जैन स्तूपमे भी मिला है परन्तु तात्कालिक तीर्थंकर प्रतिमाओंकी भी वहाँ कमी नहीं है। मथुरामें तो जैन तीर्थंकर प्रतिमाओंके निर्माणकी यह शृंखला उत्तरोत्तर विकसित होती हुई गुप्तकालमें हमें एक अद्भुत रूपमें दिखाई देती है। देशके अनेक भागोंमे, दूर-दूर तक, मथुराके स्थानीय लाल बलुवा पत्थरसे मथुरामें ही बनी हुई प्रतिमाएँ इतनी अधिक मात्रामे प्राप्त हुई हैं, जिनसे लगता है कि या तो इन प्रतिमाओंका निर्माण किसी बृहद् और सुनियोजित धार्मिक अनुष्ठान अभियानके अंतर्गत हुआ होगा या फिर मथुरामे व्यापारिक दृष्टिकोणसे ये मूर्तियाँ बनाकर देश-देशान्तरको भेजी जाती थी। शुंग कालमें मथुरामे जिस अद्भुत शिल्पका निर्माण हुआ हैं उसमे जैन आयाग पट्ट तथा कतिपय तीर्थंकर मूर्तियाँ उस कालको समूची निर्मितिमे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आयाग पट्टके मध्यमे तीर्थंङ्करका अंकन करके चारों ओर स्वस्तिक, नंद्यावर्त, धर्मचक्र, मीन युगल, स्वस्तिक, कलश तथ्य अनेक प्रकारके लता वृक्षोंका जो मनोहारी संयोजन मथुराके कलाकारने किया है अथवा उसकी कुशल और प्रवण छेनीसे तीर्थङ्कर मूर्तियोंपर देवत्व और वीतरागताके जो भाव अवतरित हुए हैं उससे वहाँके कलाकारके सौंदर्यबोध और भावांकनकी क्षमताका प्रमाण मिलता है।

लगभग उसी कालकी निर्मित खण्डगिरि उदयगिरिकी गुफाओमे भी तात्कालिक विकसित और एक सर्वथा सुनियोजित जैन मूर्तिकलाके दर्शन हमे होते है। वहाँ 'कलिंग जिन' की पुनर्स्थापनाका महोत्सव मनाते हुए सम्राट् खारवेल और उनकी राज महिषीका उल्लास पूर्ण अंकन तो दर्शनीय ही बन पड़ा है। उसके अतिरिक्त पूजनकी सामग्री लेकर जाते हुए राज पुरुषो तथा क्रीड़ा रत बालकों आदिका अंकन भी सुन्दर हुवा है। तीर्थङ्कर प्रतिमाओके परिकरमे शासन देवियोंका आयुध, वाहन आदिके साथ बनाया जाना भी खण्डगिरिकी अपनी विशेषता है। पुरातत्त्वमें शासन देवियोका प्राचीनतम अस्तित्व संभवतः यही प्राप्त होता है। इस स्थानकी सामग्री की शोध कराकर उसे प्रकाशमे लानेकी बड़ी आवश्यकता है। इस दिशामें स्व० बाबू छोटेलालजीका कार्य अधूरा पड़ा हुवा है जिसे आगे बढाया जाना चाहिए। लोहानीपुर ( पटना ) से प्राप्त कतिपय तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ भी जो अब पटना संग्रहालयमें संकलित हैं, इस कालका अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

## गुप्तकालीन मूर्तिकला

कला और संस्कृतिके विकासमे गुप्तकाल ( चौथी, पाँचवीं और छठी शताब्दी ईस्वी ) को इस देशका 'स्वर्ण काल' कहा जाता है। स्थापत्य, शिल्प, चित्रांकन और साहित्य रचनाका जो कार्य इस कालमें हुआ वह उसके बाद उतनी विशिष्ट कलात्मक और मौलिक शैलीमे फिर कभी नहीं हो सका।

इस कालमे भी कलाकी किसी भी शाखाके विकास और निर्माणमें जैनोंका योगदान कम नहीं रहा। चित्रांकन तथा साहित्य निर्माणके अलावा शिल्पके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है इसकालमें जैनधर्मकी स्थिति, देशमें प्रायः हर

1. Jainism in Bihar" by P. C. Rai Chaudhuri PP. 66.

२. वही पृष्ठ २।

३. वही पृष्ठ ६८।

कुण्डलपुर ( म० प्र० ) के बड़े बाबा ( भ० महावीर )
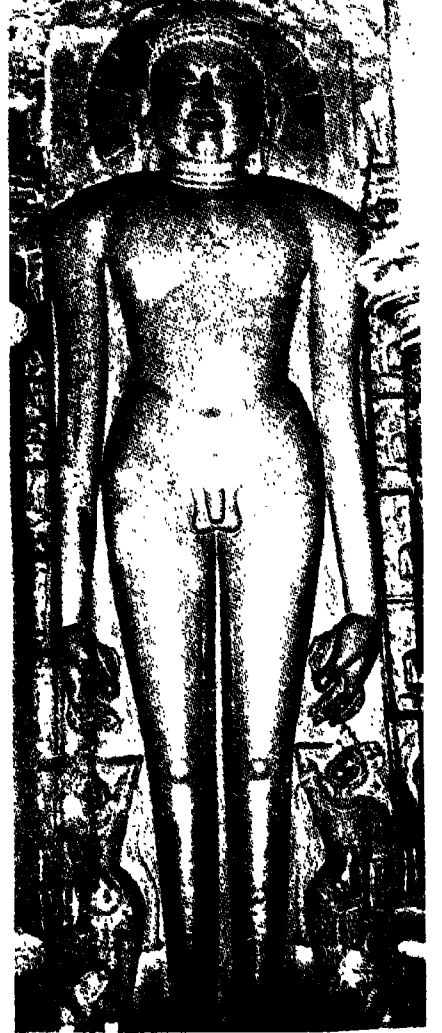
१४ फुट उत्तुङ्ग मूलनायक
श्री शान्तिनाथ ( खजुराहो ) ११वीं शती
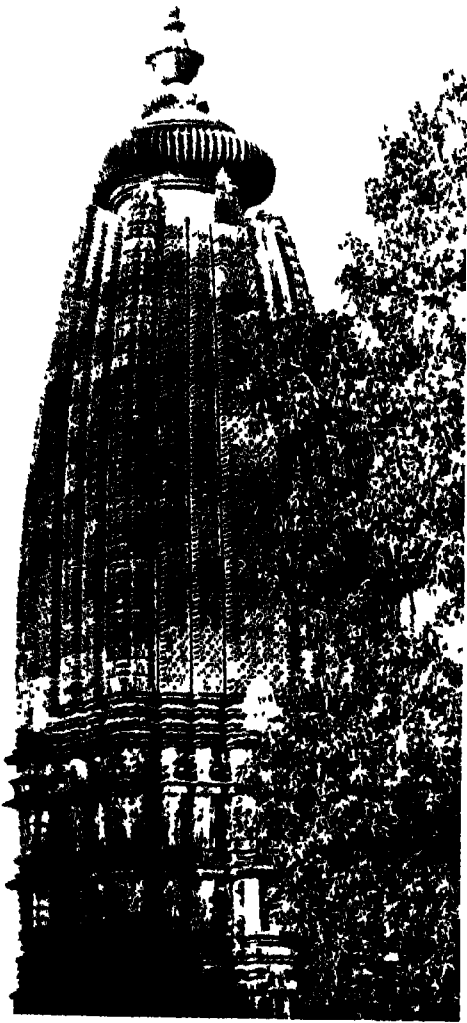
श्री आदिनाथ मन्दिर, खजुराहो ( ११वी शताब्दि )

देवगढके मन्दिर न० ३१ मे यमुना और प्रमाधिकाएँ

जगह अच्छी थी। जगह-जगह नागर शैलीके ऊँचे-ऊँचे शिखर बंद मंदिरोंका निर्माण हुआ। इन मंदिरोंके शिखर नीचेकी ओरसे उत्तरोत्तर संकीर्ण होते हुए ऊपर आकर एक मंगल कलशके रूपमें परिवर्तित हो जाते थे। जैनोंके प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथकी तपस्या भूमि और निर्वाण स्थली कैलाश थी। अतः ये शिखर उसीकी अनुकृति रूपमें निर्मित किये जाते थे। नाग वंशियों द्वारा अपनी राज्य सीमाके प्रतीक रूपमें नागर शैलीके मंदिरोंके प्रवेश द्वार पर गंगा और यमुनाका अंकन प्रारम्भ किया गया था। राज्य चिह्न होनेके कारण जैनोंने इस पद्धतिको भी अपनाया[1]।

भुमरा और नचनाके शिव तथा पार्वती मन्दिर पूर्व गुप्तकालके अच्छे उदाहरण माने जाते हैं। इन्हीं मन्दिरोंके पार्श्वके, उसी कालमें सोरा पहाड़की जैन गुफाओं तथा उनमें स्थित मनोहर तीर्थंकर प्रतिमाओंका निर्माण हुआ तथा सिद्धनाथकी जटाजूट युक्त सुन्दर जैन मूर्तियाँ अस्तित्वमें आईं। सोरा पहाड़की मूर्तियोंके इन्द्र और विद्याधर युगल अपनी सुन्दरता और सुघड़ताके कारण गुप्तकालके उत्तम प्रतिनिधि हैं, तथा वहाँसे प्राप्त भगवान् पारसनाथकी सप्त फणावलि युक्त उत्थित पद्मासन प्रतिमा—जो अब रामवन (सतना) के तुलसी संग्रहालयमें स्थित है—उस कालकी प्राणवान् कलाका एक समर्थ उदाहरण है।

उत्तर तथा मध्यभारतमें गुप्तकालके अवशेषोंमें देवगढ़, राजघाट वाराणसी, मन्दसौर और पवाया आदि अनेक स्थानोंसे प्राप्त सामग्रीकी गणना की जाती है। देवगढ़में यद्यपि मध्ययुग का शिल्प ही अधिक मिला है तथापि वहाँकी कतिपय मूर्तियाँ और एक दो मन्दिर निश्चित ही गुप्तकालकी रचना है[2] ये मूर्तियाँ सज्जाकी विविधता तथा कलाके अंकनमें गुप्तकालीन कलाके मानकी रक्षा करती हैं। राजघाटसे प्राप्त धरणेन्द्र-पद्मावती सहित पारसनाथ प्रतिमा भी कलाकी दृष्टिसे उत्कृष्ट मानी गई है। यह मूर्ति भारतकला भवन काशीमें संकलित है।

## दक्षिणका योगदान

प्रसिद्ध लेखक और पुरातत्त्व अन्वेषक श्री० टी० एन० रामचन्द्रनके मतानुसार 'दक्षिणमें जैनधर्मके प्रचार-प्रसारका इतिहास द्रविड़ोंको आर्य सभ्यताका पाठ पढ़ानेका ही इतिहास है।' इस महान् अभियानका प्रारम्भ तीसरी शती ईसा पूर्वमें आचार्य भद्रबाहुका दक्षिण यात्रासे हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य इस यात्रामें साथ रहा और उसी समयसे जैन कला और साहित्यकी गतिविधियाँ दक्षिणमें परिलक्षित होती हैं[3]।

आचार्य भद्रबाहुके उपरान्त कालकाचार्य और विशाखाचार्य द्वारा भी दक्षिणकी यात्रा की गई। पैठनके राज दरबारमें कालकाचार्यका बड़ी मान्यता था। यह पैठन प्रतिष्ठानके नामसे प्रसिद्ध था और यहीं चतुर्थकालमें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथका प्रतिमा स्थापित किये जानेका उल्लेख पद्मपुराणमें आता है। पैठनमें सातवाहन राजाओं द्वारा निर्मित दूसरी शती ईसा पूर्वका स्थापत्य उपलब्ध है। छठवीं शताब्दि ईस्वीमें कवि रविकीर्ति द्वारा अइहोलमें विशाल जैन मन्दिरका निर्माण हुआ। चालुक्याके राज्यकालमें इसी समय अइहोल तथा बदामीमें अन्य भी अनेक मन्दिरों, मूर्तियों तथा गुफा मंदिरोंका निर्माण हुआ है। अइहोलमें रविकीर्तिके शिलालेखमें इस राज्याश्रयका उल्लेख है। यहाँकी विशाल अम्बिका मूर्तिभी कलाकी दृष्टिसे उल्लेखनीय है।

कर्नाटकमें जैनकलाके लिये स्वर्ण युगका प्रारम्भ तो गंग वंशके राज्यकालसे हुआ। इस राज्यवंशकी स्थापना छठवीं शती ईस्वीके प्रारम्भमें हुई। कहा जाता है कि इसकी स्थापनामें जैनाचार्य सिंहनंदिका बड़ा हाथ था और वंशके प्रथम राजाको उनका परामर्श भी प्राप्त था। उसी गंगवंशका तीसरा राजा दुर्विनीत (६०५-६५० ई०) हुआ जो आचार्य पूज्यपादका बड़ा भक्त था। दुर्विनीतके पुत्र मदकरने तो जैनधर्मको राज्यधर्म ही घोषित कर दिया।

इसी वंशमें राजमल्ल प्रथम (८१७-८२८ ई०) हुआ जिसने अरकाट जिलेमें वल्ली मलई ग्राममें एक विशाल जैन गुफा और कुछेक मंदिरोंका निर्माण किया। इस राजवंशके दीर्घ राज्यकालमें दक्षिणमें अनेक जगह समय-समय पर जो मूर्तियाँ मंदिर और गुफाएँ निर्मित हुई हैं वे दक्षिण भारतमें जैनकलाके एक सुनियोजित और क्रमिक विकासकी साक्षी हैं। यह राजवंश जैनधर्मके प्रति इतना आस्थावान और श्रद्धालु था कि इसके एक प्रतापी राजा मारसिंह तृतीय (९६१-९७४ ई०) द्वारा अंतमें सल्लेखना मरण अंगीकार करनेका उल्लेख मिलता है। इसी मारसिंहके स्वनामधन्य सेनापति श्रीचामुण्डराय हुये जिनके द्वारा श्रवणबेलगोलाकी अद्भुत गोम्मटेश्वर प्रतिमा का निर्माण हुवा[4]।

१. श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, 'अंधकार युगीन भारत' पृष्ठ १७७–७८।
२. मन्दिर नं० ५ की कला तथा देवगढ़की कतिपय तीर्थंकर मूर्तियाँ और कुछ अम्बिका प्रतिमाएँ देखनेसे यह बात सिद्ध होती है।
३. श्री टी० एन० रामचन्द्रन् 'Jain Monuments of India' pp. 16.
४. श्री टी. एन. रामचन्द्रन् Jain monuments of India" P. 18.

दसवीं शताब्दी ईस्वीके अंतिम चरणमें निर्मित भगवान बाहुबलिकी यह विशाल एवं सौम्य प्रतिमा ५७ फीट उत्तुंग है। इस मूर्तिमें केवल आकारमें ही ऊँचाई नहीं है वरन् शरीर—सौष्ठव, अनुपात, कला और भाव-व्यंजनाकी ऊँचाइयाँ भी जितनी इस महान-मूर्तिने पाई हैं उतनी अन्यत्र देखनेमें नहीं आतीं। अपनी उसी महानता और विशिष्टताके कारण यह प्रतिमा संसारके आश्चर्योंमें गिनी जाती है तथा भारतीय मूर्तिकलामें जैन कलाकारोंका यह संभवतः सबसे निराला, बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण योगदान है।

## कतिपय विशाल-प्रतिमाएँ

बाहुबलिकी विशाल खड्गासन मूर्तियोंकी स्थापना दक्षिण भारतकी अपनी विशेषता रही है। अइहोल और बदामीकी गुफाओं तथा मंदिरोंमें छठवीं सातवीं शताब्दिमें निर्मित बाहुबलिकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। आठवीं, नवमी और दसवीं शताब्दीमें एलौराकी महान जैन गुफाओंका तक्षण हुवा जो जैन कलाका एक अद्वितीय उदाहरण है। यहाँ भी बाहुबलिकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ हैं[1]। उत्तरकालमें भी बाहुबलिकी स्थापनाकी यह परम्परा वर्तमान रही है जिसके प्रमाणमें हम कारकलकी ४२ फुट ऊँची तथा वेनूरकी ३५ फुटकी उन प्रतिमाओंको ले सकते हैं जिनका निर्माण क्रमशः १४३२ और १६०४ ईस्वीमें हुवा।

उत्तर भारतमें बाहुबलिकी स्थापना प्राचीन कालमें प्रायः नहीं हुई। खजुराहो, देवगढ़, बिलहरी, तेवर, आदिमें जहाँ उनका अंकन हुवा भी वहाँ प्रायः छोटी छोटी मूर्तियां बनाकर ही संतोष कर लिया गया, परन्तु प्रायः इन सभी स्थानोंपर सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथकी मूर्ति अथवा तीनों चक्रवर्ती तीर्थंकरों—शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ—की एकत्र प्रतिमाएँ, एकसे एक बढ़कर विशाल और सुन्दर बनाई गईं। उन मूर्तियोंके संदर्भ में अहार, देवगढ़, खजुराहो, बानपुर, बजरंगगढ़, ऊन, ग्वालियर आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें अहार क्षेत्रपर ११३५ ईस्वीमें स्थापित १४ फुट उत्तुंग, भगवान शांतिनाथकी चमकदार पालिशसे युक्त प्रतिमा सर्वाधिक सुन्दर और आकर्षक है। इसे 'उत्तर भारतका गोमटेश्वर' कह सकते हैं।

विशाल प्रतिमाओंका यह वर्णन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक इसमें कुण्डलपुर (दमोह म० प्र०) की विशाल पद्मासन प्रतिमाका उल्लेख न कर दिया जाय। भव्य आसन और सौम्यरूपमे विराजमान १४ फुट ऊँची यह मूर्ति जटा जूट युक्त भगवान आदिनाथकी प्रतिमा है। सिंहासनस्थ यक्ष गोमुख, और यक्षी चक्रेश्वरी भी इसीकी साक्षी हैं पर तीन सौ वर्ष पूर्व इस मंदिरके जीर्णोद्धारके समय, सिंहासनके सिंह युगलसे प्रभावित होकर, एक तत्कालीन शिलालेखमें इसे महावीरके नामसे माना गया है तबसे यह मूर्ति महावीर रूपमें ही पूजी जारही है। वैसे तो देशमें अनेक स्थानोंपर इससे भी विशाल पद्मासन प्रतिमाएँ हैं परन्तु कलाका जो सबल और अविस्मरणीय प्रभाव तथा वीतरागताकी जो अपूर्व अनुभूति इस प्रतिमासे प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। इसका निर्माण पूर्व मध्यकालमें हुआ।

## मध्यकाल

आज देशमें जितने भी शिल्पावशेष उपलब्ध होते हैं उनमेंसे अधिकांशका निर्माण मध्यकालमें ही हुआ है। देशके इतिहासमें यह समय एक सर्वव्यापी धार्मिक चेतनाका काल था और इस कालमें प्रायः समूचे देशमें जो धार्मिक अनुष्ठान, मंदिर निर्माण और प्रतिमा प्रतिष्ठाएँ हुई उनके खंडित अखंडित साक्ष्य आज हमारे चारों ओर बिखरे पड़े हैं। केवल बौद्धधर्मको छोड़कर, इस कालमें शैव, जैन, वैष्णव और शाक्त धर्मावलम्बियों द्वारा अपने-अपने आराध्य देवताओं की प्रचुरता पूर्वक स्थापना की गई। बड़े-बड़े मंदिर ही नहीं बने बल्कि अगणित मंदिरोंके समूह और नगरके नगर भी निर्मित हुए। देवगढ़, खजुराहो, तिरुपरुत्तिकुनरम, हलेबिड, आबू, कोणार्क, एलौरा मूडबिद्री चित्तौर आदि ऐसे ही स्थान हैं। इस कालमें कलाके विकास और प्रचार प्रसारके इस दौरमें भी जैनोंका योगदान कम नहीं है। ऐलौरा की इन्द्र सभा नामक जैन गुफाकी दो मंजिला बनावट, उसमें अंकित पारसनाथ, बाहुबलि, इन्द्र और अम्बिकाकी सविशेष प्रतिमाएँ तथा उसकी योजना बद्ध सज्जा सहज विस्मरणीय नहीं है। देवगढ़में तो मध्यकालकी जैन-कला-सम्पत्तिका जो कोष भरा पड़ा है उसकी खोज खबर लेनेमें भी अभी एक युग लगेगा। यहाँ धरणेन्द्र पद्मावतीके सैकड़ों युगल मूर्तिखण्ड तथा अम्बिकाके विविध रूपोंकी अनेक मूर्तियाँ और प्रायः सभी शासन देवियोंकी एकसे एक बढ़कर सुन्दर स्वतंत्र मूर्तियाँ जैन कला की उत्कृष्टता सौन्दर्य बोध और सूक्ष्मतर कल्पना शक्तिका परिचय देतीं आज भी यत्र तत्र बिखरी पड़ी हैं।

1. R. S, Gupte and B. D. Mohajan "Ajanta and Ellora" P. 222-23

खजुराहो में जैन कलाकारके महत्त्वपूर्ण योगदानका मूल्यांकन करना अधिक आसान है क्योंकि वहाँ एक ही केन्द्रमें शैव, वैष्णव और शाक्ति मंदिरोंके समूह भी पाये गये हैं। इनमें विशालताकी दृष्टिसे कंधरियामहादेवका मंदिर सबसे बड़ा है परन्तु जैन समूहका पारसनाथ मंदिर खजुराहोके मंदिरोंमें अपनी विशेषता रखता है। बाह्य भित्तियों पर निर्मित अप्सरा और यक्षिणी मूर्तियोंमें उस मंदिरने खजुराहोमें अद्वितीय प्रसिद्धि पाई है[1]। इन मूर्तियोंका आकार समूचे खजुराहोके किसी भी मंदिरकी मूर्तियोंके आकारसे बड़ा है। हास्य, लास्य, नृत्य, शृङ्गार, युद्ध, राग-रंग, क्रीड़ा तथा शोक, अवाल, क्षुधा आदिके साथ भजन, पूजन, अर्चना, स्तुति, शास्त्रार्थ, प्रवचन आदिके नाना अभिप्रायोंके माध्यमसे खजुराहोके मूर्ति कलाकारने कलाकारकी भावनाको इस मंदिरकी भित्तियोंपर बड़ी सफलतापूर्वक व्यंजित किया है। शास्त्रीय दृष्टिसे देखें तो दिक्पाल, द्वार पाल, गंगा-जमुना, अष्ट मातृकाएँ, नवगृह, सोलह विद्या देवियाँ, चौबीस शासन देवियाँ और अनगिनते यक्ष यक्षिणियाँ खजुराहोके इन पारसनाथ और आदिनाथ मंदिरोंमें अंकित है। पारसनाथ मंदिरकी तीन चार अप्सरा प्रतिमाएँ तो अनेक देशी-विदेशी विद्वानोंकी सम्मतिमें समूचे खजुराहोकी अद्वितीय, अनुपम और अनमोल निधि हैं।

शान्तिनाथ मन्दिरमें मूलनायक की १४ फुट ऊंची प्रतिमाके अतिरिक्त धरणेन्द्र पद्मावतीकी सर्व सुन्दर युगल मूर्ति तथा सत्ताईस नक्षत्रोंका शिलांकन उल्लेखनीय है। घंटाई मन्दिर भी अपनी बारीक कलाकारीके लिए प्रसिद्ध है।

तिरुपरुत्तिकुनरममें भी शिवकांची, विष्णुकांची और जिनकाचीका एकत्र वैभव देखकर हम जैन कलाका महत्त्व सहज ही आंक लेते हैं।[2] आबूके संगमर्मर निर्मित जैन मन्दिर तो अपनी अनेक विलक्षणताओंके कारण बहुश्रुत हैं ही। संगमरमर की सूक्ष्मसे-सूक्ष्म कटाई और रंगबिरंगी पच्चीकारी तथा बड़े बड़े खम्भोंके आधारपर विशाल सभाकक्ष आबूकी विशेषता है। छतों, मेहराबों और तोरणोंकी संयोजनामें तो वहांके कलाकारकी छैनी और अधिक संतुलित, और अधिक चमत्कार पूर्ण हो उठी है। बड़े महत्त्व की बात यह है कि कलाके इन सभी आडम्बरोंके मध्य भी वीतराग जिनेन्द्रकी सादगीपूर्ण सौम्य मुद्राके अवतरणमें भी आबूके कलाकारको बराबरकी सफलता प्राप्त हुई है। चौदहवीं शताब्दीमें आबूमें डिजाइनों, जालियों और पच्चीकरीके जो नमूने इन जैन कला आराधकोंने प्रस्तुत किये थे उनकी समानता कर पानेमें ताजमहलका कलाकार भी सक्षम नहीं हो सका।

उत्तरकालमें जब भारतीय मूर्तिकलाकी आराधना दक्षिणमें विशेष रूपसे हुई तब वहाँ भी जैन कलाकार पीछे नहीं रहा है। पर जब कलाका ह्रास इस देशमें हुवा तो जैन कलाका भी ह्रास होता गया। न फिर भी आज जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनके सहारे यह कहा जा सकता है कि भारतीय कलाके विकासमें ही नहीं प्रसारमें भी जैनोंका योगदान प्रचुर एवं महत्त्वपूर्ण रहा है।

1. Stella Kramrisch is quote by Kanwarlal in 'Khajuraho' Page 66.
2. Shri T, N. Ramchandran "Tiruparuttikunaram and its Temples"

# 'मैथिलीकल्याण' नाटकमें प्रतिपादित संस्कृति

प्रोफेसर रामनाथ पाठक 'प्रणयी' एम० ए० (द्वय), साहित्य-व्याकरणायुर्वेदाचार्य,
एच० डी० जैन कालेज, आरा ( बिहार )

●

## प्रास्ताविक

'मैथिलीकल्याण' नाटकके रचयिता महाकवि हस्तिमल्ल हैं। ये वत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे और इनके पिताका नाम गोबिन्दभट्ट था। ये दक्षिणभारतके निवासी थे। 'कर्णाटककवि चरिते' के अनुसार कवि हस्तिमल्लका समय वि० सं० १३४७ है। पर श्री वासुदेव पटवर्द्धनने विचारोपरान्त इनका समय ई० सन् १२५० के आसपास निर्धारित किया है[1]।

कविको 'उभय-भाषा-कविचक्रवर्ती' कहा गया है। इनके द्वारा विरचित चार नाटक और एक पुराण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। हम इस प्रस्तुत निबन्धमें केवल मैथिलीकल्याण नाटकमें प्रतिपादित भारतीय संस्कृतिका विवेचन करेंगे। इस नाटककी कथावस्तु अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका प्रधान आख्यान राम और सीताका विवाह-विषयक है। कविने मध्य-कालीन संस्कृतिका सुन्दर विवेचन किया है।

## नाटकके आधारपर संस्कृतिका स्वरूप और उसके तत्त्व

नाटकके प्रारम्भिक और अन्तिम पद्यसे संस्कृतिके स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। कविको संस्कृतिका वह व्यापक रूप अभीष्ट है, जिसमें समाजकी समग्र साधना, आकांक्षा, सौन्दर्य चेतना एवं जीवनोपभोग निहित हों। कविने आरम्भमें "प्रतिहतविपदाम्"[2] पद द्वारा संस्कृतिके उस स्वरूपकी ओर संकेत किया है, जिसकी साधनामें वैयक्तिक और सामाजिक जीवन भद्र बन जाता है। कविका 'रामभद्र' पदवी उक्त तथ्यकी पुष्टि करता है। अन्तिम पद्यमें कविने ज्ञानाराधन, समता, साधुता और मानव-वात्सल्यको स्थान देकर एक साथ संस्कृति और सभ्यता दोनोंका समन्वय कर दिया है। संस्कृतिका सम्बन्ध आन्तरिक अलङ्करणसे है और सभ्यताका सम्बन्ध बाह्य अलङ्करणसे। यही कारण है कि नाटकका प्रारम्भ वसन्तोत्सवसे होता है। आनन्द, उल्लास, सहानुभूति एवं संयम जीवनको सांस्कृतिक बनानेमें अनुपम कारण है। कविने लिखा है—

"निखिलशास्त्रतीर्थावगाहपवित्रीकृतधिषणस्य, मध्यलोकधिषणस्य, निःशेषनिःपीतधर्मामृतरसायनस्य,…… ……सत्यवाक्य…………सुभाषितरत्नभूषण………।[3]

उपर्युक्त उद्धरणसे ज्ञात होता है कि कवि समाजका घटक व्यक्तिको मानता है और व्यक्तिको सुसंस्कृत होनेके लिए शास्त्रज्ञान और धर्मज्ञान आवश्यक है। यतः ज्ञानी होनेके साथ शीलवान् व्यक्ति ही आदर्श जीवनकी स्थापना कर सकता है। सामाजिक इस प्रकारके व्यक्तिसे अनुप्राणित हो स्व-संस्कार करते हैं। इसी कारण कविने 'मध्यमलोक धिषण' पद द्वारा व्यञ्जना शक्तिसे मध्यममार्गी होनेका संदेश दिया है। अतः एव उक्त वर्णनके प्रकाशमें संस्कृतिकी परिभाषा निम्न प्रकार है—

"आत्मा, शरीर और मनको शास्त्रज्ञान, आचार, सहिष्णुता, सत्यवचन एवं त्याग द्वारा सुसंस्कृत बनाना संस्कृति है।" यहाँ संस्कृतिका अर्थ पर्याप्त व्यापक है। केवल आत्म शोधनको ही कविने संस्कृतिमें अन्तर्भूत नहीं किया है। जीवन-भोग भी संस्कृतिके अंग हैं, पर जब उपभोगकी सीमा टूट जाती है तब जीवनभोग असंस्कृतिके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। उत्सव, जल विहार, क्रीड़ाएँ, प्रेम व्यापार एवं पारस्परिक आदान-प्रदानकी क्रियाएँ संस्कृतिके उपांग हैं। श्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूने अनेक मान्य ग्रन्थोंके आधारपर संस्कृतिकी जो परिभाषा निबद्ध की है, वह कवि हस्तिमल्ल

---

१. 'अञ्जनापवनंजयं नाटकं सुभद्रा नाटिका च' का Introduction Page 14 —माणिक० ग्रन्थ० बम्बई १९५०।
२. मैथिली कल्याणम्—१।१ ३. वही, सूत्रधार का कथन पृष्ठ २।

द्वारा विवेचित परिभाषामें समाविष्ट है। लिखा है—'संसारभरमें जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।' 'अथवा मन आचार अथवा रुचियोंकी परिवृति या शुद्धि संस्कृति है'[1]।

श्री 'दिनकर' ने लिखा है 'संस्कृति जिन्दगीका एक तरीका है और यह तरीका सदियोंसे जमा होकर उस समाजमें छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं ?···संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवनको व्यापे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकासमें अनेक सदियोंके अनुभवोंका हाथ है'[2]।

प्रस्तुत नाटकमें कविने सीता और रामके पाणिग्रहणको, जो कि असत्प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् सम्पन्न हुआ है, भारतीय संस्कृतिका मूर्धन्य रूप माना है। कवि सीताको आदर्श नारी और रामको आदर्श पुरुष मानकर उन दोनोंके संयोगको तपश्चरणके समान भद्रताका साधन समझता है। उसने सीताके पूर्व जितने विशेषणोंका प्रयोग किया है, उनमें 'कृतिनी[3]' पद विचारणीय है। इस पदका अर्थ कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता है। जो नारी अपने सांसारिक कर्त्तव्योंके प्रति जागरूक रहेगी, वही श्लाघ्य होगी। इसी प्रकार कविने रामको 'लोकोत्तर[4]' कहा है और साथ ही यह भी बताया है कि इस प्रकारके लोकोत्तर जामाताको कोई नारी बिना तपस्याके नहीं प्राप्त कर सकती है। कविके इस कथनका विश्लेषण करने पर अवगत होता है कि राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' तो हैं ही, साथ वे अपने दायित्वके प्रति भी अत्यधिक सावधान हैं। अतः जीवनकी समस्त अच्छाइयाँ, जो कि संस्कृतिके प्राण हैं, कर्त्तव्य और दायित्वके संतुलनसे ही प्राप्त होती हैं।

## कवि द्वारा विवेचित सांस्कृतिक तत्त्व

१. आत्मसंस्कार—विकारी प्रवृत्तिके परिष्कारके रूपमें।

२. सामाजिक जीवन—गृह, परिवार, वाहन, भाण्ड, उत्सव, विनोद, वेश्यालय, धारायन्त्र, प्रमद-वन, कामदेवायतन एवं पारस्परिक सम्बन्धोंके रूपमें।

३. रीति-रिवाज—गृह-शान्ति, स्वयम्वर, विवाह-विधि, डिंडिमवादन प्रभृति अनेक रूपमें।

४. गृहस्थजीवन—पतिपत्नीके कर्त्तव्य और दायित्व उनकी विलासमयी चेष्टाएँ, स्नेह एवं सेवा भावना।

५. शिक्षा-साहित्य—

६. वेशभूषा—वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन-सामग्री आदि।

७. ललितकला—संगीत, गीत, नृत्य आदि।

## आत्म-संस्कार

नाटकके शृंगार-प्रधान होनेपर भी आत्म-बोध-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री वर्त्तमान है। वसन्तोत्सवके समय कामदेवायतनमें राम और सीता परस्पर मिलते हैं और एक दूसरेके अनिन्द्य रूपको देखकर आत्म विभोर हो जाते हैं। राम सोचते हैं 'प्रिया हि नाम जनस्य सम्मोहिनी[5] विद्या' अर्थात् प्रेयसीका रूप-चिन्तन, नाम-स्मरण सम्मोहिनी विद्याके समान है। उनके हृदयमें सीताकी प्राप्तिके लिए द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है। पर वही राम अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ते हैं और कह उठते हैं—

> क्व विषयेषु विवेकसहं मनः, स्मृतिविमोहजडाः क्व च कामिनः।
> वदसि मह्यमनात्मवते कथं—कथय तुम्यमविप्लुतचेतसे। —मैथिली, अंक २।२६

अर्थात् राम विदूषकसे कहते हैं कि इस समय मेरी प्रवृत्ति अनात्मवत् हो रही है और तुम शान्तमन हो, अत-एव मेरे लिए कर्त्तव्य मार्गका निर्धारण करो। कहाँ तो विषयोंमें विवेकी मन और कहाँ सुधबुधको खोनेवाली कामियोंकी प्रवृत्ति। इस द्वन्द्वावस्थामें शान्तिका उपाय वही व्यक्ति बतला सकता है, जिसका मन विकार रहित हो।

तात्पर्य यह है कि वासना और कषायकी प्रवृत्तियाँ जब असन्तुलित हो उठती हैं तो व्यक्ति अनात्मवत् (स्वच्छन्द) हो जाता है। प्रवृत्तियोंका नियन्त्रित रहना तथा संयम और विवेक द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंको मर्यादित रखना आत्मभाव है।

कवि हस्तिमल्लकी दृष्टिमें भोग प्रेय अवश्य हैं पर श्रेयका मार्ग प्रेयकी इसी गलीसे होकर आगे बढ़ता है।

---

१. संस्कृतिके चार अध्याय—प्रस्तावना पृष्ठ—१। २. वही—परिशिष्ट क, पृष्ठ ६५३।

३.–४. अगति कृतिनी सीता श्लाघ्या भृशं कुलयोषिता, रघुपतिरभूयस्या लोकोत्तरः सदृशः पतिः।
किमकृत तपस्तस्या माता वधूवरमीक्षितुम्, तदिति च मुदा पौरस्त्रीणां भवन्ति मिथः कथाः। —मैथिली, अंक ५।४८।

५. मैथिली कल्याण—पृष्ठ ८३।

धर्म विहित प्रेम वरेण्य है, काम इसी धर्मके नियन्त्रणमें गतिशील होनेपर जीवनको सुसंस्कृत बनाता है। नाटककारका 'विषयेषु विवेकसहं मनः' पद विशेषरूपसे विचारणीय है। उसने आत्मसंस्कारका तथ्य बहुत थोड़ेमें ही निरूपित कर दिया है। विषयोंके प्रति मनका विवेकी रहना, काम भोगोंको नियन्त्रित करनेके लिए परमावश्यक है। श्रेयकी प्राप्ति 'अविप्लुत चित्त' से ही हो सकती है। चित्त शान्त तभी होता है जब वह प्रेमकी ओर अनुधावित होनेवाली प्रवृत्तियोंको आत्माभिमुख करता है।

राम प्रेयसीरूप सीताके चिन्तनमें जब अधिक तन्मय हो जाते हैं तो उनके मनमें अशान्तिका ज्वारभाटा उत्पन्न हो जाता है। वे घबड़ाकर अपने मित्र विदूषकसे कर्त्तव्यके सम्बन्धमें परामर्श करते हैं। पूछते हैं—'वयस्य किमत्र कर्त्तव्यम्।' विदूषक धैर्य-धारण करनेकी सम्मति देता है। इस संदर्भमें निबद्ध रामकी विचार-धारा धैर्यसे दूर रहने पर भी विवेकसे दूर नहीं है। वासनाके रहने पर भी मन कलुषित नहीं है। यही तो कविकी संस्कृति बुद्धि है।

## सामाजिक जीवन

हस्तिमल्लने गृह और हर्म्योंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। राजा-महाराजाओंके भवन मणिमाणिक्योंसे सुसज्जित रहते थे। कविने बताया है कि हर्म्योंके पृष्ठभागमें चन्द्रकान्तमणियाँ जटित हैं, जिससे सुधाकरका उदय होते ही, उनसे जलधारा निःसृत होने लगती है और वह धारा ऐसी प्रतीत होती है मानो हिमालयसे गंगा ही निकल रही है[१]।

प्रस्तुत नाटकमें सौधका भी वर्णन है। यह राजप्रासाद जैसा होता था। हस्तिमल्लने बताया है कि इसमें गवाक्षजाल निहित रहते थे, जिससे सूर्यकी किरणें छन-छनकर प्रविष्ट होती थीं। जब ये किरणें वासगृहमें प्रविष्ट होती थीं तो रत्ननिर्मित दीवालें भास्वरित हो जाती थीं। सौध सबसे बहुमूल्य और रम्य भवन होता था। इसमें गृहदीर्घिका एवं धारागृह आदि भी निहित रहते थे। नाटककारने सौधोंमें जटित मणिमाणिक्यका भी विवेचन किया है और बताया है कि रात्रिका अन्धकार बहुमूल्यमणियोंके प्रकाशसे ही दूर हो जाता था। इस प्रकारके भवनका नाम सौधरत्न प्रदीप गृह रखा है। यद्यपि इस गृहका विशेष चित्रण उपलब्ध नहीं होता है पर इतना स्पष्ट है कि मणिमाणिक्यके प्रकाशके कारण इसमें सदा मध्याह्न-जैसा ही प्रतीत होता था।

साधारण व्यक्तियोंके गृह सुखप्रद अवश्य होते थे, पर उनमें बहुमूल्य पाषाण अथवा अन्य विलासमयी सामग्री सन्निहित नहीं रहती थी। गृहोंमें गृहोपवन भी रहते थे, जिस प्रकार राजा-महाराजाओंके यहाँ प्रमदवन-रहते थे, उसी प्रकार साधारण व्यक्तियोंके यहाँ गृह-वाटिका। इस नाटकमें[३] कन्या गृहोंका भी उल्लेख है। धनी या राजाओंके यहाँ कन्याओंके लिए पृथक् भवनोंकी व्यवस्था रहती थी। कन्याएँ अपनी सखियोंके साथ इन भवनोंमें आमोद-प्रमोद करती थीं। समृद्ध व्यक्तियोंके यहाँ दोला[४]-गृहकी भी योजना थी। दोलागृहोंमें बच्चों और स्त्रियोंके साथ धनीमानी व्यक्ति भी दोलारोहण क्रिया द्वारा मनोरञ्जन करते थे।

## उत्सव एवं विनोद

हृदयके आहलाद एवं उमङ्गको व्यक्त करनेके लिए नाटककारने अनेक उत्सवोंकी योजना की है। ऋतुराज वसन्तके प्राकृतिक सौन्दर्यको देखकर जन-मानस मुग्ध हो जाता है और संगीतकी वीणा झंकृत होने लगती है।

महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्र नाटकमें वसन्तोत्सवके अवसरपर संगीतकी सुन्दर योजना प्रदर्शित की है[५]। नाटककार हस्तिमल्लने वसन्त श्री का तो जीता जागता वर्णन किया है। वसन्तोत्सवके आते ही जड़-चेतन आनन्द-विभोर हो जाते हैं। उद्यान कुसुमित होने लगते हैं। कलिकाएँ प्रेमियोंके आह्वान-हेतु अपना नया रूप प्रदर्शित करती हैं। जलकेलि, दोलोत्सव आदिके लिए जनमानस विभोर हो जाता है। इस सन्दर्भके अवलोकनसे ऐसा ज्ञात होता है कि नाटककारने वात्स्यायनके कामसूत्रका अध्ययनकर मदनमहोत्सवकी योजना प्रस्तुत की है। वात्स्यायनने लिखा है 'सुवसन्तो मदनोत्सवः तत्र नृत्य-गीत-वाद्यप्रायः क्रीडाः'[६]

वसन्तके अवसरपर मधुकर तो मयूरोंके समान नृत्य करते हैं। प्रासादोंकी भित्तियाँ पिष्टातक-चूर्णसे सुगन्धित हैं। उद्यानमें पुष्पित अशोक कामिनियोंके पादप्रहार सहन करनेके लिए अक्षम है। मृदङ्ग-वादन कानोंमें अमृत घोल रहा है। नर्तकियोंके नृत्य विलासियोंकी तो बात ही क्या, त्यागियोंके मनमें भी प्रणय-व्यापार उत्पन्न कर रहे हैं। कविने गीतकी मधुर ध्वनिका चित्रण करते हुए लिखा है—

---

१. मैं० क० अ० २ पृष्ठ २७। २. मैं० क० अ० ४ श्लोक ६।
३. मै० क० अं ३ पृ० ४०। ४. वही पृ० ४०। ५. वही, प्रथम अंक पृ० १५।
६. माल० अंक २ पृष्ठ २०१। ७. कामसूत्र जयमङ्गला टीका—१।४।४२।

साकंकारमनिष्ठुराक्षरपदं प्रव्यक्तवर्णक्रमम्,
पूर्णांगं सलयं कलानियमितं प्रस्पष्टतानश्रुति;
तत्काकोचितगंभवस्तुरचितां भासादर्कि च मुधा-
माश्रित्यैव हि गीतमेतदधुना गीतं सुकण्ठ्यानया । —मै० क० अ० १।२६

कविने वसन्त ऋतुका भी सुन्दर चित्रण किया है। विकसित होनेवाली आम्रमञ्जरी मदनाराधनके लिए नर-नारियोंके चित्तमें विशेष उत्कण्ठा उत्पन्न करती है। इसी कारण प्रथम मुकुलित मञ्जरियोंको लेकर वसन्तोत्सव भी के दर्शनार्थ सम्भ्रान्त और निर्भ्रान्त व्यक्ति उद्यान-परिभ्रमणके हेतु जाते हुए दोख पड़ते हैं[1]।

## दोलोत्सव

वसन्तोत्सवके साथ कविने दोलोत्सवका भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है[2]। सीता अपनी सखियोंके साथ दोला क्रीडा करती है। इस दोलाको पुष्पमालाओंसे अलंकृत किया जाता है। तथा नाना प्रकारके बहुमूल्य पदार्थ और मणि-माणिक्य भी दोलामें जटित किये जाते हैं। दोलाक्रीडाके लिए दोलागृह पृथक् रहते हैं।

महाकवि कालिदासके मालविकाग्निमित्र और रघुवंशमें दोलाक्रीडाका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। ऐसा अवगत होता है कि हस्तिमल्लने इन ग्रन्थों तथा रत्नावली जैसे ग्रन्थोंसे अवश्य प्रेरणा प्राप्त की होगी।

## मदनपूजोत्सव

मदनपूजा भारतका प्राचीन उत्सव है। प्रत्येक नगरके बाहर उद्यानमें कामदेवका मन्दिर रहता था, जिस मन्दिरमें शंख, पद्म, धनु और बाणयुक्त कामदेवको मूर्ति स्थापित रहती थी। मूर्तिके चक्षु ईषत्कुञ्चित रहते थे। रति, प्रीति, शक्ति और उज्ज्वला नामक चार भार्यायें भी मूर्तिके साथ अङ्कित रहती थीं। कवि हस्तिमल्लने सीता द्वारा कामदेवके मन्दिरमें मदनकी पूजा करायी है। इस मदन पूजाका निर्देश विष्णुधर्मोत्तर ब्रह्मवैवर्त[4] एवं हर्षके नाटकोंमें विस्तारपूर्वक मिलता है। रत्नावलीमें आया है कि रानी वासवदत्ता अशोकवृक्षके तले कामदेवकी पूजा करती है और इसके अनन्तर अपने पति उदयनके पादपद्मोंकी। मालतीमाधवमें भी वसन्तोत्सवके अवसरपर मदनपूजाका निर्देश आया है कि चन्दन, अगरू कस्तूरी, कुंकुम, अवीरचूर्ण मदनको पूजनके अवसरपर अर्पित करना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तरमें चैत्र त्रयोदशीको मदनपूजाका निर्देश आया है। तिथि[5] तत्त्व नामक ग्रंथमें पूजनके अवसरपर पढे जानेवाले मन्त्र, विधि एवं पूजन सामग्रीका भी विवेचन है। पूजनके लिए चैत्र त्रयोदशी ही विधेय तिथि मानी गयी है। नाटककार हस्तिमल्लने[6] कामदेवके मन्दिर और उनकी पूजन विधिका वर्णन किया है।

इस नाटकमें वन-विहार, जलक्रीडा, पुष्पावचय आदिका भी वर्णन पाया जाता है।[7]

## वस्त्र, आभूषण एवं प्रसाधन-सामग्री

वस्त्र और आभूषणोंका सम्बन्ध सभ्यताके साथ संस्कृतिसे भी है। मानवकी मनोवृत्ति भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके साथ शरीरको सुन्दर बनानेकी ओर भी रहती है। यों तो सौन्दर्यका साधन स्वस्थ शरीर ही है। पर वेषभूषाका महत्त्व भी कम नहीं है। मैथिलीकल्याण नाटकमें वेषभूषाके अन्तर्गत जिन वस्त्रोंके प्रयोगका वर्णन किया है, उनसे तत्का-लीन सांस्कृतिक सुरुचिका प्रमाण मिल जाता है। नाटकमें चीनपट, कौशेय, क्षौम, नीलकौशेय आदिका प्रयोग पाया जाता है। कौशेय एक प्रकारका रेशमी वस्त्र था। डा० मोतीचन्द्रने बताया है कि कौशेयका सर्वप्रथम प्रयोग शतपथ ब्राह्मणमें पाया जाता है। पाणिनिने एक सूत्रमें[8] कौशेयका प्रयोग किया है। नाटककार हस्तिमल्लने नीलकौशेयका भी प्रयोग किया है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कौशेय एक ऐसा रेशमी वस्त्र था, जो कई प्रकारके रँगोसे रँगकर तैयार किया जाता था। इसी कारण पीत कौशेय, नील कौशेय आदि भेद उपलब्ध होते हैं। श्री मोतीचन्द्रने निःसन्देह रूपसे कौशेयको रेशमीवस्त्र माना है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें रेशमी वस्त्रोंका निर्देश किया गया है। धनी-मानी राजा-महाराजा इन वस्त्रोंका उपयोग करते थे।[9] हस्तिमल्लने वेशभूषा और प्रसाधन-सामग्रीमें क्षौम वस्त्रोका भी उपयोग बतलाया है। नाटकके चतुर्थ अङ्कके

---

१, मै० क० पृ० ६-७। २. मै० क० प्रथमाक पृ० १०। ३. मालवि० अंक ३ पृ० २०१।

४. चन्दनागुरुकस्तूरी कुङ्कुमद्रवसंयुतम्। आवीरचूर्णं रुचिरं गृह्यतां परमेश्वर ॥ —ब्रह्मवैवर्त।

५. नमो माराय कामाय देव-देवाय मूर्तये। ब्रह्माविष्णु शिवेन्द्राणां मनः क्षोभकराय वै ॥
कामदेवस्त्रयोदश्यां पूजनीयो यथाविधि, रतिप्रीतिसमायुक्तो अशोकमणिभूषितः। —तिथितत्त्व।

६. मै० क० अंक १६। कृतमकरध्वजपूजोपस्थानः —वही, पृष्ठ—१०। रअणाचुण्ण णिवसिय······वही, पृष्ठ १०।

७. पुष्पावचयकंसख जलकेलिदोहलेण, वही पृ० ६।

८. अष्टाध्यायी ४।३।४२। ९. कौ० अर्थ०, अ० ४, १३।१७४–७५।

आरम्भमें कश्मीरी वस्त्रोंका भी निर्देश किया है[1]। चीनपटका प्रयोग भी हस्तिमल्लने किया है। संदर्भको देखनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि चीनसे आये हुए रेशमी वस्त्र विलासी व्यक्तियोंके उपयोगमें आते थे[2]।

हस्तिमल्लने वारविलासिनियों तथा नाटककी नायिका सीताके जिस वेशभूषाका चित्रण किया है, उसमें अश्लीलता नामकी कोई चीज नहीं है। मध्यकालमें अंग-प्रत्यंगोंको आच्छादित करनेकी परम्परा विकसित हो चुकी थी। इसी कारण अवगुण्ठनका प्रचार हुआ था कि वासनाको आमन्त्रित करनेवाले अंग-प्रत्यंगोंका आच्छादन किया जाय। नाटकके चतुर्थ अंकमें अवगुंठनका निर्देश कई स्थानोंपर आया है। अत: स्पष्ट है कि वस्त्रधारणका उद्देश्य परिवर्तित हो चुका था[3]।

आभूषणोंमें काञ्चीदाम[4], मणिनुपूर[5], मुक्ताहार[6], वलय[7], केयूर[8], रसना[9], हार-लता[10], मणि-माला[11], मुद्रा[12] आदिके उपयोग किये जानेका वर्णन पाया जाता है। स्त्रियाँ कण्ठाभूषणके रूपमें मुक्तावली, पुष्पमाला, हारलता; मणि-माला आदिको धारण करती थीं मुक्तावली मोतियोंकी एक लडीकी माला होती थी और हार-लता एक लम्बा हार होता था जिसमें मध्य भागमें हीरे या अन्य बहुमूल्य रत्न जटित रहते थे। हारयष्टि भी मोतियोंकी ही बनायी जाती थी। चन्द्र-हारमें मुक्ता, चन्द्रकान्तमणि एवं अन्य रत्न जटित रहते थे। हस्तिमल्लने मणिहारोंका[13] जो निर्देश किया है उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि मणिहार स्वर्णका बनाया जाता था और बीच-बीचमें मणियाँ जटित रहती थी। मणियोंकी विशेषताके कारण ही इसे मणिहार कहा गया है। चूडामणि[14] आभूषणका निर्देश भी नाटकमें आया है। नारियाँ इस आभूषणको मस्तकपर धारण करती थी। कर्णावतंस पुष्पोंके होते थे। 'स्रस्तकर्णावतंस,[15] पदसे ज्ञात होता है कि पुष्पोंको कानोंमें धारण करनेकी प्रथा प्रचलित थी। अवतंस झुमकेके समान होते थे।

प्रसाधन सामग्रीमें कवरी बन्धनके कई रूप उपलब्ध होते हैं। वास्तवमें शृंगारके क्षेत्रमें वेणीका सजाया जाना एक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। कस्तूरी[16] द्वारा अंगराग करना, चन्दन लेप[17], कुङ्कुमलेप[18], हरिचन्दन तिलक[19], गोशीष तिलक[20] सुगन्धित पुष्पाक धारण करना[21], केशोंको सुगन्धित चूर्ण[22] द्वारा सुगन्धित करना, नवमल्लिका[23], मृणाल[24] आदि अनेक प्रकारके पदार्थोंका निर्देश आया है। इसी प्रकार कान्ता-कपोलोंपर पत्रभंग रचना, वियोगजन्य सन्ताप, शीतो-पचार ग्रीष्म-सन्ताप निवारण आदिके लिए जिन पदार्थोंका उपयोग किया जाता था उनका भी उल्लेख किया है।

## विवाहविधि

हस्तिमल्लने वरवधूके प्रेमाकर्षणका सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। राम जब जनकपुरके उपवनमें दोलाक्रीडा एवं मदनपूजा करती हुई सीताको देखते हैं तो वे भाव विभोर हो सीताके लावण्यकी प्रशंसा करते हैं। उन्हें सीता संसार की सर्वाधिक सुन्दरी प्रतीत होती है[25]। वे कहते हैं कि जब कामदेव जलकर भस्म हो गया है तो वह मुझे क्यों कष्ट दे रहा है[26]। यौवन भी इतना अधिक दुर्दान्त नहीं है कि वह मुझे व्यथित कर सके। ऐसा लगता है कि सीताका निश्छल वात्सल्य ही मेरे मनको व्यथित कर रहा है। इसी कारण मुझे विरहव्यथा कष्ट दे रही है। रामके समान ही सीता भी व्यथित है। उसे उनके अभावमें एक क्षण भी असह्य प्रतीत होता है। अत: जब कंचुकी सीताके पास रामका समाचार लेकर पहुंचता है तो सीता केतकीकुसुमगर्भित पत्र पर वक्षस्थलके हरिचन्दनसे अपना संदेश लिखकर देती है[27]। उस संदेशको पढ़कर रामको परम संतोष होता है। इस प्रकार कविने आरम्भमें उभयत्र आकर्षण एवं विरहकी स्थितिका चित्रण किया है।

जनक सीताके स्वयम्वरमें वज्रावर्तक धनुषके तोडनेका प्रण उपस्थित करते हैं। वे उपस्थित राजाओंसे निवेदन करते हैं कि जो इस धनुषको तोड देगा, उसीके साथ सीताका विवाह सम्पन्न होगा। उपस्थित राजा धनुष तोड़नेका

---

१. मै० क०, पृ० ६०। २. मै० क०, अंक १, श्लो० १९।

३. भट्टिदारिए एअ विसतंतुदुउलवासिणी मुणालाभरण दारिणी ·····मै० क० ६६।
शीत: कपोलार्पणदानयोग्य: चन्द्रातप: स्वच्छ दुकूलवासो ···· मै० क० ४।८।

४. ५. मृदुतरणत्कांचीदामक्वणन्मणिनूपुरम् · मै० क० प्रथमांक-२४। ६. मोत्तहारा ··मै० क० पृष्ठ ६०।

७-८ प्रकाएवलय केयूरतामागतम् मै० क० ३।३९। ९. मै० क० पृष्ठ ६०-६१। १०. कंठालंबिणी हारलदा मै० क० पृ० ३१।

११. नचैते हारायसंर्णिर्मणिमालास्फुर्टामम: । मै० क० ४।३।

१२. अंगुलिमुद्दीया मै० क० पृष्ठ-१६। १३. विचलितर्मणिहारम्···मै० क० १।२८। १४. चूडामणिकिरण ··मै० क० पृ० ६१।

१५. मै० क० १।२८। १६-१७ मै० क० ३।१०। १८. मै० क० ३।२२। १९. मै० क० पृष्ठ ६०-६१।

२०. मै० क० पृ० ६६। २१. मै० क० पृष्ठ–१०। २२. मै० क० पृष्ठ ८। २३-२४ मै० क० पृ० ६६।

२५. मै० क० १२७। २६. मै० क० २।५।

२७. दंसणमेत्तं कुरिओ सज्झवेहिं सदा अपल्लविओ,पस्स सुहेण कुसुमिओ अपि पाम फलेज्जई कुसुमसरो। —मै० क० ३।४०।

प्रयास करते हैं पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती। राम सरलता पूर्वक उस वज्रावर्तधनुषको तोड़ देते हैं और जनक अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रामके साथ सीताका विवाह करनेको प्रस्तुत होते हैं कि इसी बीच शेष ईर्ष्यालु राजा रामसे संघर्ष करना शुरू कर देते हैं किन्तु लक्ष्मण उन सभी राजाओंको पराजित कर देते हैं। सीता रामके साथ ब्याही जाती है। जनक महाराज रत्नजटित भृङ्गारमें जल लेकर राम और सीताके हाथों पर जलधारा देते हैं तथा सीताका हाथ रामके हाथमें समर्पित कर देते हैं। वे आशीर्वाद देते हैं—

उर्वी पाकभिदुं गुर्वी रत्नाकरमेखलाम्
राम प्रभवते दत्ता सा त्वाऽसौ भवते मया। —मै० क० ५।४६

वैतालिक तथा अन्य लोग संगीतका सृजन करते हैं। चारो ओरसे पिष्टातक चूर्णको वर्षाकी जाती है और जनक रामसे पूछते हैं कि हे महानुभाव मैं आपको और क्या भेंट दूँ।

त्वया बांधवमस्माभिर्लब्धमद्य सुदुर्लभम्।
नृपेन्द्र प्रियमस्माकमाशास्यं किमतः परम्। —मै० क० ५।४९

## शिक्षा और साहित्य

स्त्री और पुरुष दोनो ही शिक्षित होते थे। सीता सुशिक्षित होनेके कारण ही रामके पास अपना सन्देश भेजती है। और राम उस सन्देशके वाच्य अर्थमे संतुष्ट होकर लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ प्राप्त करते हैं। शिक्षाका प्रचार केवल राजाओंके ही यहाँ नहीं था। साधारण जनतामें भी शिक्षाका प्रचार था। विट, सामाजिक जन, नाट्यनृत्य आदि की शिक्षा प्राप्त करते थे। कलावती नामकी सीताकी महत्तरिका काव्यकला, संगीत, नृत्य, चित्र आदिमें प्रवीण थी। वह सुन्दरी तो थी ही साथ ही अनेक प्रकारके ज्ञान-विज्ञानमें भी पटु थी। कविने लिखा है—

पउडिच्चउला कव्वेसु कलासु उत्तला अ सअलासु,
णेत्तविलोभणलच्छी अणंगदोत्तम्मि अहिऊआ। —मै० क० १।६

राजकुलमे रहनेवाली प्रायः समस्त नारियाँ संगीतसे परिचित होती थी। कविने लिखा है—'संगीतविदग्धा हि प्राया राजकुलपरिचिता स्त्रियः।' मै० क० पृ० ७६।

कविने बताया है कि काम्भोज भाषामें लिखित गीत अत्यन्त रमणीय होते हैं[1]। यहाँ यह विचारणीय है कि काम्भोज भाषा कहाँ प्रचलित थी और उसका क्या रूप था। शक्ति सगम तन्त्रमें[2] पञ्जाबसे लगाकर म्लेच्छ देशके दक्षिण पूर्व पर्यन्त कम्बोज देश था। आजकल यह अफगानिस्तानका एक भाग है और इसकी अव-स्थिति गान्धारके निकट मानी जाती है। कम्बोजमे ख्मर और अनामकी नामकी भाषाएँ प्रचलित थी। पर आजकल ख्मर ही यहाँकी भाषा है। और यही आदिम भाषा मानी गयी है। कविने गीतके जिस सौन्दर्यकी ओर संकेत किया है। वह सौन्दर्य पैशाची प्राकृतमें आ सकता है। सर्जार्ज ग्रियर्सनने पैशाचीका आदिम स्थान उत्तर-पश्चिम पञ्जाब और अफगानिस्तान माना है। यहींसे इस भाषाका विस्तार अन्यत्र हुआ है। इनकी यह भी मान्यता है कि पिशाच, शक और यवनोंके मेलकी एक जाति थी, जिसका निवास-स्थान सम्भवतः भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशमें रहा है। उन्हींकी बोलीका आधार पैशाची प्राकृत है। हार्नलेका मत है कि पैशाची द्राविड-भाषा परिवारमें उत्पन्न हुई है अतः इसका मूल स्थान विन्ध्यके दक्षिणमे होना चाहिए।[1]

इस प्रकार मैथिलीकल्याण नाटकमे समाज, संस्कृति, एवं साहित्यका चित्रण आया है। अन्तःपुरमे कुब्ज, वामन, मूक, बधिर, बर्बर, किरात आदि भृत्यके रूपमे नियुक्त किये जाते थे। हस्तिमल्लके अन्य नाटकोंमें भी सांस्कृतिक सामग्री प्रचुर परिमाणमे आयी है। वाराणसी, मिथिला, साकेत आदि नगरियोंका सजीव चित्रण किया गया है।

●

---

१. मै० क० १ १७।
२. कांभोजिभाषा ( निर्वर्ण्य ) अहो आभिजात्यं गीतस्य। मै० क० पृ० १२।
३. पाञ्चाल देशमारभ्य म्लेच्छाद्दक्षिणपूर्वतः, कम्बोजदेशो देवेशः वाजिराशिपरायणः। —संगमतन्त्र।
४. प्राकृत भाषा और साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी १९६६. पृ० ६०-६१।